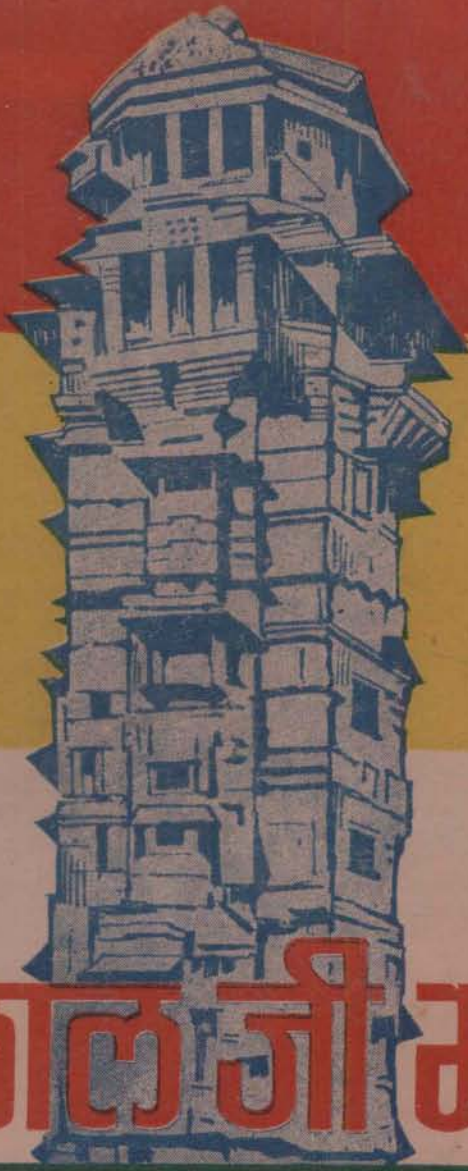


पूज्य
प्रवर्षक

श्री

अम्बा लाल जी महाराज



परस्परोपग्रहो जीवानाम्

अमिनन्दन ग्रन्थ



पूज्य गुरुदेव श्री
अम्बालाल जी महाराज
के भागवती दीक्षा के

गरिमामय पचास वर्ष की
सम्पन्नता पर
प्रकाशित



पूज्य प्रवर्तक

श्री अम्बालाल जी महाराज

अभिनन्दन ग्रन्थ

संपादक—सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

सम्पादन

□ प्रधान सम्पादक

श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

□ प्रबन्ध सम्पादक

श्रीचन्द सुराना 'सरस'

□ सम्पादक मण्डल

श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री
डॉ० नरेन्द्र भानावत
श्री अगरचन्द जी नाहटा
श्री बलबन्तसिंह मेहता
श्री ब्रजमोहन जावलिया

□ प्रकाशक

पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज
अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति
लक्ष्मी मार्केट, आमेट (चारभुजा रोड)

□ प्रकाशन

२ अप्रैल १९७६, चैत्र शुक्ला ३ वि० सं० २०३३

समायोजन

□ परामर्शदाता मण्डल

आचार्य श्री आनन्द ऋषि जी
राष्ट्रसंत उपाध्याय अमरमुनि जी
मरुधरकेसरी प्र० मुनि श्री मिश्रीमल जी
मालवकेसरी मुनि श्री सौभाग्यमल जी
बहुश्रुत श्री मधुकर मुनि जी
अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि जी
पं० मुनि श्री जितविजय जी

□ सम्प्रेरक

श्री मदनमुनि 'पथिक'
महासती श्री प्रेमवती जी

□ संयोजक

श्री भूरालाल जी सूर्या
श्री मदनलाल जी पीतल्या
श्री ऊँकारलाल जी सेठिया

□ मुद्रक

श्रीचन्द सुराना के लिए
दुर्गा प्रिंटिंग वर्क्स, आगरा-४

प्राप्ति केन्द्र :

- धर्म ज्योति परिषद्, १५७, राजेन्द्र नगर, भीलवाड़ा (राजस्थान)
- मेवाड़भूषण श्रावक समिति, सोजत्या भवन, सिंघट बाड़ियों की सहरी, उदयपुर

मूल्य : पचास रुपये मात्र

स म र्प ण

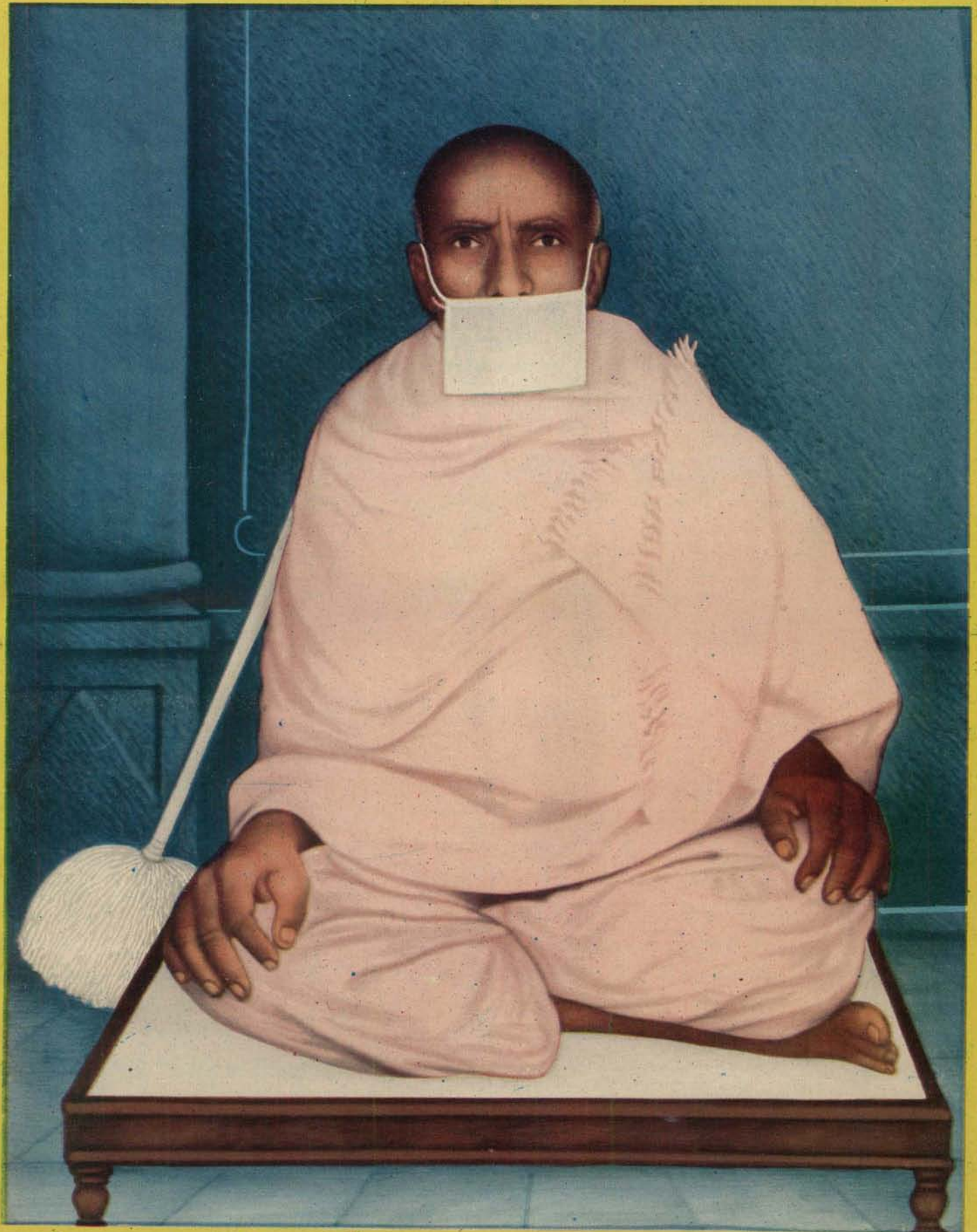


संयम - सुमेरु के
उत्तुंग शिखर पर
अवस्थित हो
आत्मा के
अनन्त सौंदर्य रस के
अनुपान की उत्सुक,
अतः

तद् - प्रेरित
अर्ध - शतक
संवत्सर पर्यन्त
अविराम
विराम यात्रा के पथिक
आचरण - निरत
चरण युगल
को

मानस - मानसरोवर के तट पर
निर्बाध - पल्लवित
श्रद्धा - वल्लरी
स - पत्र
स - पुष्प
अपित
समर्पित

—'कुमुद'



मेवाड़संघ शिरोमणी :-

पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज



उप-राष्ट्रपति, भारत
नई दिल्ली
VICE-PRESIDENT
INDIA
NEW DELHI

२५, नवम्बर १९७५

प्रिय महोदय,

आपका पत्र दिनांक १० नवम्बर, १९७५ का प्राप्त हुआ, धन्यवाद ।

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि आप मुनि श्री अम्बालाल जी के (संयम जीवन के) इकावनवें वर्ष के प्रवेश के उपलक्ष में सार्वजनिक अभिनन्दन करने जा रहे हैं और इस अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भी भेंट किया जायेगा । मैं अभिनन्दन समारोह की सफलता के लिये अपनी हार्दिक शुभ कामनायें भेजता हूँ ।

आपका,
—ब० दा० जत्ती



RAJ BHAVAN
BANGLORE

२२ नवम्बर, १९७५

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज के संयम पर्याय के पचास वर्ष के पूर्ण होने के उपलक्ष में उनकी सेवाओं के लिये उनका अभिनन्दन किया जा रहा है और उस अवसर पर एक अभिनन्दन ग्रन्थ भी समर्पित किया जा रहा है । इस अवसर पर मैं उनको अपनी श्रद्धांजलि अर्पित करता हूँ और अभिनन्दन समारोह की सफलता के लिये अपनी शुभ कामनायें भेजता हूँ ।

—मोहनलाल सुखाड़िया
[राज्यपाल, कर्नाटक]



कृषि तथा सिंचाई मंत्री, भारत सरकार
नई दिल्ली

४ सितम्बर, १९७५

प्रिय महोदय,

पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज अपने दीक्षा-जीवन के पचास वर्ष पूर्णकर इक्यावनवें वर्ष में प्रवेश कर रहे हैं। उनके सम्मान में इस अवसर पर उन्हें एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जा रहा है, यह आपके पत्र दिनांक २५-८-१९७५ से माननीय कृषि एवं सिंचाई मंत्री, श्री जगजीवन रामजी को ज्ञात हुआ।

माननीय मंत्री जी की शुभ कामना है कि समारोह सफल हो एवं मुनि श्री अम्बालाल जी दीर्घायु हों और समाज व राष्ट्र की सेवा करते रहें।

भवदीय
धर्मचन्द्र गोयल
विशेष सहायक



मुख्यमंत्री, राजस्थान
जयपुर

१५-९-१९७५

मुझे यह जानकर प्रसन्नता हुई कि जैन श्वेताम्बर स्थानकवासी श्रमण संघ के प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज के दीक्षा जीवन के ५१वें वर्ष में प्रवेश करने के अवसर पर अभिनन्दन ग्रन्थ को एक सार्वजनिक समारोह में उन्हें भेंट किया जायेगा।

मुझे बताया गया है कि मुनि श्री अम्बालाल जी मेवाड़ ही नहीं भारत के अनेक प्रदेशों में पद यात्रा कर धर्मोपदेश करते रहे हैं। मैं प्रारम्भ से ही जैन सन्तों के त्याग-मय जीवन का प्रशंसक रहा हूँ। मेरी मान्यता है कि वर्तमान में जैन धर्म के प्रचारकों का जीवन एक आदर्श कर्मनिष्ठ जीवन होता है। परन्तु यह प्रश्न अवश्य विचारणीय है कि जैन धर्मावलम्बी अपने जीवन में किस सीमा तक इन उपदेशों को उतार सके हैं।

मैं श्री अम्बालाल जी महाराज के दीर्घ एवं स्वस्थ जीवन की कामना करता हूँ तथा आपके अभिनन्दन ग्रन्थ की सफलता चाहता हूँ।

—हरिदेव जोशी

स्व० निरंजननाथ आचार्य

बी-६, एम. एल. ए. क्वाटर्स,
एम. आई. रोड-जयपुर
दिनांक २८ अक्टूबर, १९७४

पूज्य गुरुदेव श्रद्धेय श्री अम्बालालजी महाराज साहब के संयमी जीवन के पचास वर्ष सम्पन्न होने के उपलक्ष में अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रहा है, इसकी प्रसन्नता है।

गत चातुर्मास में पूज्य गुरुदेव का कई बार मुझको स्नेहिल और आध्यात्मिक सान्निध्य मिला। उनके व्यक्तित्व में नैतिकता की महक और वर्चस्व में सरलता की सौरभ है। पास बैठने पर सहसा ही शान्ति एवं पावनता की अनुभूति होती रही है। लगता था जैसे उनके पथिक को विश्राम सघन आम्रवृक्ष की छांह में मिल गई हो। आप लोग धन्य हैं जिनके हाथों पूज्य गुरुदेव की गरिमा, तेजस्विता, साधना, तप और त्याग को उजागर करने का दायित्व आया है।

इस शुभावसर पर मैं पूज्य गुरुदेव का अभिनन्दन करता हूँ—विश्वास है कि उनका दीर्घ जीवन संतप्त मानव को मार्गदर्शन करेगा; पूज्य गुरुदेव का सबसे प्रिय श्लोक जिससे वे सदा प्रेरणा लेते रहे हैं यहाँ उद्धृत करता हूँ—

“जीवन्तु मे शत्रुगणा सदैव, येषां प्रयत्नेन निराकुलोहम्
यदा यदा मां भजते प्रमादस्तदा स्तदा मां प्रतिबोधयन्ति।”

भवन्निष्ठ

—निरंजननाथ आचार्य

ओंकारलाल बोहरा
भूतपूर्व सदस्य-लोकसभा

उदयपुर,

पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज साहब से बाल्यावस्था से ही मेरा घनिष्ठ सम्पर्क रहा है। उनके सद-सम्पर्क में मैंने सदैव आत्मीय वातावरण की अनुभूति की है।

मैं उनके अभिनन्दन के बारे में क्या लिखूँ, मेरा सारा परिवार ही श्रद्धा और भक्ति के साथ उनके प्रति अनुरक्त है। मैं उनके दीर्घायु और स्वस्थ जीवन की मंगल कामना करता हूँ। इस अवसर पर मेरा शत-शत अभिनन्दन !

—ओंकारलाल बोहरा

यशपाल जैन
दिल्ली

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज की भागवती दीक्षा के पचास वर्ष पूर्ण होने पर उन्हें एक अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है। मैं इस आयोजना का स्वागत करता हूँ और उसकी सफलता के लिये अपनी मंगल कामनाएँ अर्पित करता हूँ। निर्मल आत्माओं के प्रति मेरे मन में गहरी श्रद्धा रहती है। स्वामी श्री अम्बालालजी महाराज साहब ऐसे ही सन्त पुरुष हैं। सरलता, सौम्यता आदि गुणों से आप ओत-प्रोत हैं। उन्होंने समाज की एवं शिक्षा क्षेत्र में जो सेवाएँ की हैं, वे निस्संदेह अभिनन्दनीय हैं।

मैं स्वामी श्री अम्बालालजी महाराज साहब का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ और प्रभु से कामना करता हूँ कि वे दीर्घायु हों, स्वस्थ रहें और अपने साधुचरित्र से समाज और राष्ट्र का मार्गदर्शन करते रहें।

—यशपाल जैन

जवाहरलाल मुणोत
बम्बई

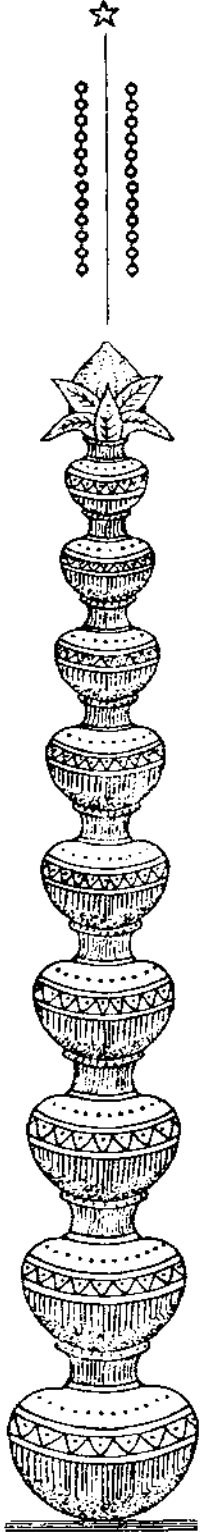
दिनांक १८ जनवरी, १९७५

श्रमण संघ के प्रवर्तक सन्त रत्न पं० गुस्देव श्री अम्बालालजी महाराज साहब की सेवा में उनके तपस्वी जीवन के ५१वें वर्ष में प्रवेश पर, अभिनन्दन-ग्रन्थ का आयोजन नितान्त स्पृहणीय और प्रशंसनीय है। प्रकट है कि स्वयं सन्त शिरोमणि इस प्रकार के अभिनन्दन में कोई रुचि नहीं रखते। संभवतः वे इसका विरोध भी करते होंगे, परन्तु ये अभिनन्दन जैन समाज को नई प्रेरणा, नव स्फूर्ति और नव उद्बोधन के लिये अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होते हैं।

इस दीर्घ-तपःपूत साधक को दीर्घतर संयम जीवन की श्रद्धायुक्त प्रार्थनाओं के साथ मेरे साधुवाद !

—जवाहरलाल मुणोत

प्रकाशकीय



पाठकों के हाथों में अभिनन्दन ग्रन्थ सौंपते हुए हमें बड़ी हर्षानुभूति हो रही है। जब कार्य प्रारम्भ किया, तो हमारे सामने लक्ष्य को छोड़कर कोई साधक सामग्री उपलब्ध नहीं थी।

हमें सर्वप्रथम अर्थ-प्रबन्ध करना था। हमने ज्यों ही समाज के सामने यह प्रश्न रखा तो सहयोग के लिए सैकड़ों हाथ हमारी तरफ बढ़ गये, किन्तु वे कुछ सम्पन्न लोगों के हाथ थे। समाज का सामान्य वर्ग भी इस कार्य में अपना यथाशक्ति सहयोग देना चाहता था। यह श्रद्धा का प्रश्न था और हम किसी का जी नहीं दुःखाना चाहते थे। तो हमने व्यक्तिशः अर्थ-प्राप्ति का लक्ष्य छोड़कर श्रावक संघों को सदस्य बनाना प्रारम्भ किया और कुछ ही समय में हमें यथेष्ट अर्थ प्राप्ति ही गई। साधन सुलभ हो गये।

एक कार्य पूरा होने पर हमें बड़ा सन्तोष हुआ। जहाँ तक अभिनन्दन ग्रन्थ के निर्माण और प्रकाशन का प्रश्न था हम लगभग निश्चित थे।

सम्पादन का कार्य मुनि श्री 'कुमुद' जी के समर्थ एवं सुयोग्य हाथों में सौंपकर हमें बड़ी खुशी हुई।

क्रान्तदृष्टा विद्वदरत्न श्री सोभाग्य मुनि जी "कुमुद" सम्पूर्ण मेवाड़ संघ की आशाओं के केन्द्र हैं, इन्हीं की मौलिक प्रेरणा ने इस सारे आयोजन को अंकुरित कर पल्लवित, पुष्पित और फलित किया।

हमें प्रसन्नता है कि मुनि श्री ने अपने व्यस्त समय में से समय निकाल कर प्रस्तुत कार्य को बड़ी सु-योग्यता के साथ सम्पन्न किया। व्यस्त एवं अस्वस्थ होते हुए भी वे दिन-रात इस कार्य में जुटे रहे।

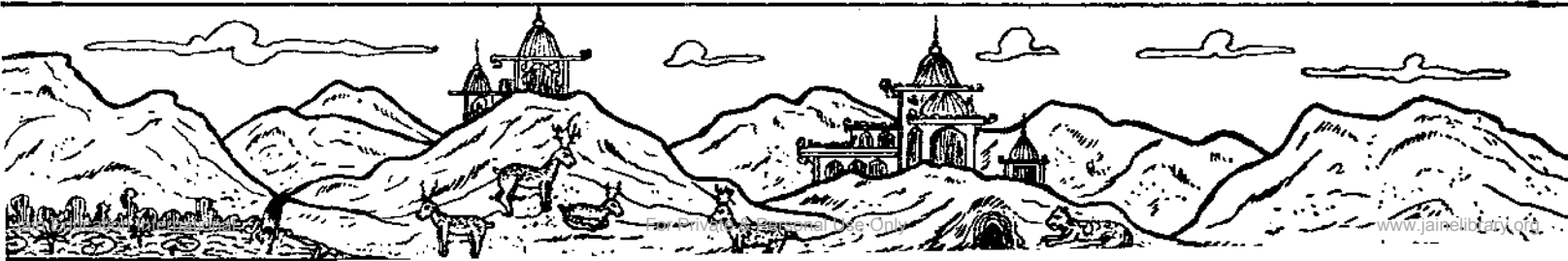
प्रकाशन व्यवस्था का भार हमने आगरा निवासी प्रसिद्ध साहित्य सेवी श्री श्रीचन्दजी सुराना पर डाल दिया।

श्री सुराना जी ने बड़ी हार्दिकता, निष्ठा और लगन के साथ ग्रन्थ प्रकाशन के कार्य को देखा—लेखों का वर्गीकरण, संशोधन, सम्पादन से लेकर ग्रन्थ कलात्मक सुसूचितपूर्ण, आकर्षक एवं शुद्ध रूपेण प्रकाशित करने का श्रेय एकमात्र श्री सुराना जी को ही है।

साथ ही हम उन समस्त श्रावक संघ, सामाजिक कार्यकर्त्ता, विज्ञान एवं लेखकों, सम्पादकों के प्रति हार्दिक आभार ज्ञापित करते हैं, जिन्होंने हमें प्रत्यक्ष या परोक्ष यत्किंचित भी सहकार किया है और इस महनीय कार्य में सहयोगी बने।

विनीत

अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति



संस्कृत



अभिनन्दन, स्वरूप और विश्लेषण

प्रत्येक स्थूल का भौतिक सत्य कुछ सूक्ष्म हुआ करता है। सूक्ष्म तो फिर सूक्ष्म ही है, उसे तत्काल पा लेना संभव ही नहीं; और यह असंभवता ही स्थूल की जननी है।

सूक्ष्म को ढूँढना होता है, फिर वह चाहे वस्तुपरक हो या भाव-परक।

सूक्ष्म तक पहुँचने की प्रक्रिया ने विज्ञान को जन्म दिया, जो आज जन-जीवन के भौतिक पक्ष का एक आवश्यक अंग बन चुका है।

मानव अन्तर्मोदी दृष्टि रखने वाला एक विलक्षण प्राणी है। अनन्त काल से वह स्थूल के आधारभूत सूक्ष्म को ढूँढता-खोजता चला आ रहा है।

हमारे शास्त्र इस बात के साक्षी हैं कि मानव की शोध-प्रधान दृष्टि ने अनेक परोक्ष तथ्यों को उद्घाटित ही नहीं किया, अपितु उनके अन्तःस्थल में पहुँचकर उन्हें ठीक-ठीक पहचाना भी।

श्री गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से हजारों प्रश्न पूछे, वे उनकी स्थूल से सूक्ष्म तक पहुँचने की चिरन्तन मानवीय आकांक्षा के परिचायक हैं।

पाठकों के हाथों में एक अभिनन्दन ग्रन्थ है। यों अभिनन्दन ग्रन्थ कुछ सी पृष्ठों का संगठन मात्र है। किन्तु फलित स्थूल मात्र के आधारभूत किसी सूक्ष्म की तरह इसकी तह में भी कुछ सूक्ष्म छुपा हुआ है।

जहाँ तक पदार्थात्मक सूक्ष्मत्व का प्रश्न है, अन्य पदार्थों की तरह इसमें भी कोई विशेषता नहीं मिलती, किन्तु इसके साथ जो भावात्मक चेतना जुड़ी हुई है वह अवश्य इन्द्रियगम्य नहीं होकर संवेदनात्मक मानस प्राप्य एक सूक्ष्म तत्त्व है।

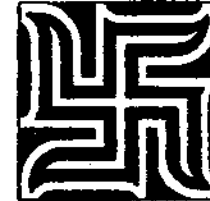
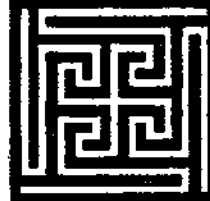
पाठक उस सूक्ष्म तक पहुँचें, मात्र यही अभिप्रेत है। अभिनन्दन के किसी भी समायोजन का मूल वह श्रद्धा होती है जो किसी श्रद्धेय के प्रति चुपचाप किसी मानस में स्थान बना लिया करती है।

मानव-मन लोक जीवन के सामान्य संस्कारों में जैसा कि उसका निर्माण होता है, अधिकतर स्पर्धात्मक, विद्रोहात्मक तथा संशयात्मक होता है।

अनायास ही मन किसी को स्वीकार करले, प्रायः मन को ऐसी तैयारी नहीं हुआ करती।

सामान्य एवं असामान्य ऐसे कई कारण प्रायः उपस्थित ही रहते हैं कि मन कभी-कभी अपने अति निकट्य में भी विद्रोहात्मक हो उठता है; ऐसी स्थिति में कोई किसी को स्वीकार करे उसे श्रद्धेय और बन्धनीय कहे, यह एक विलक्षण बात होगी।

ऐसी विलक्षणताएँ कभी-कभी होती हैं।



प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ भी एक ऐसी विलक्षणता का मूर्त स्वरूप है जिसके पीछे अमूर्त चेतना का परम रमणीय रूप सक्रिय है।

श्रद्धेय अभिनन्दनीय हो जाता है किन्तु क्यों ? क्योंकि वह श्रद्धेय है।

श्रद्धा जिसे ग्रहण करती है वह अवश्य आकर्षक होता है।

मन की गुणात्मक योग्यता ही अपने से अधिक सौन्दर्यात्मक विशेषताओं का अंकन कर श्रद्धेय की स्थापना कर पाती है।

यह मैं इसलिए कह रहा हूँ कि ऐसा मेरे मन ने किया।

व्यक्तित्व: ऐसा अनेक बार होता है, किन्तु यही क्रम एक से अनेक तक व्यापक हो उमरने लगता है तो वह श्रद्धेय व्यक्तित्व सार्वजनिक अभिनन्दन का पात्र बन जाता है।

समारोह या समूहगत अभिनन्दन उस सूक्ष्मत्व की सार्वजनिक अभिव्यक्ति है, जो अन्तः की तरंगायमान तरल स्पन्दनाओं पर संचरण विचरण करता है।

अभिनन्दन क्यों ?

अभिनन्दन क्यों ? यह एक प्रश्न है। जीवन की सर्जनात्मक ऊर्जा की किसी भी स्फुरणा पर "क्यों" तो आकर खड़ा हो ही सकता है और यह भी सत्य है कि "क्यों" कहीं भी अनर्थक नहीं होता; यहाँ भी नहीं है।

"क्यों" अपने आपमें एक समीकरण है, किन्तु उसका समाधान कभी-कभी बड़ा विकट हो जाया करता है। कारण स्पष्ट है। 'क्यों' घनात्मक नहीं होकर ऋणात्मक है। प्रश्न अपने आप में ऋण स्वरूप होकर भी उसका समाधान घन में है।

घन यौगिक प्रक्रिया है। जुड़कर जो कुछ बन जाता है वह समाधान होता है।

एक नहीं, अनेक मन किसी श्रद्धेय से श्रद्धात्मक तादात्म्य स्थापित कर जी रहे हों और वे यौगिक हो (जुड़कर) अभिव्यक्ति देते, तो, वह सार्वजनिक अभिनन्दन बन जाता है।

अभिनन्दन को कभी-कभी सार्वजनीनता देनी पड़ती है। विभिन्न फूलों को एक धागे में डालकर माला रचने की तरह। श्रद्धा को व्यापक रूप देने पर उसका घनत्व अपनी सघनता की स्पष्ट प्रतीति कराता है। और अश्रद्धा पर श्रद्धा की विजय का उद्घोष भी करता है।

वर्तमान लोक-जीवन के ह्रासोन्मुखी परिणमन के अनेक कारण हो सकते हैं किन्तु एक प्रबलतम कारण अन्याय का आदर भी स्पष्ट है। अनय-सम्मान ने भौतिक आग्रहों को यों दबा दिया है कि आज उसके नीचे शील-सौजन्य, नीति धर्म और राष्ट्रीयता आदि सभी सिसक रहे हैं।

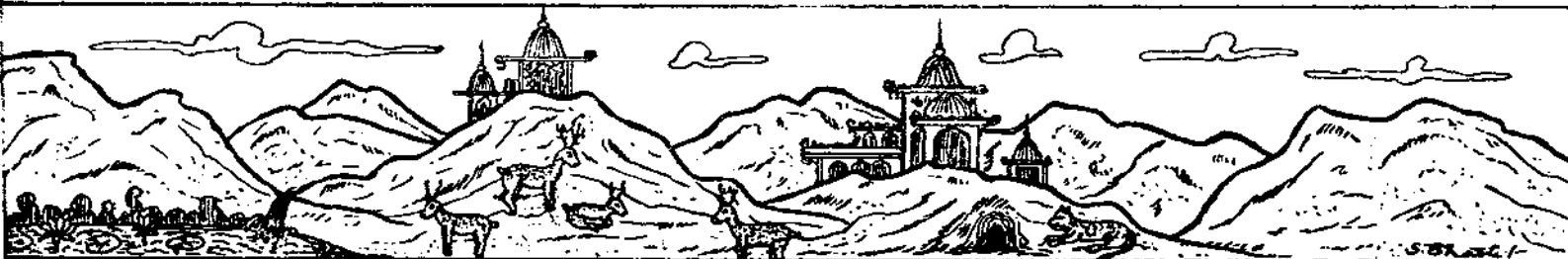
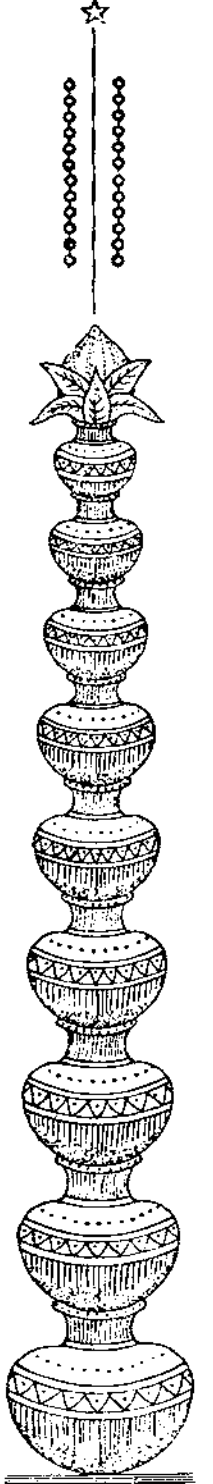
अनय-सम्मान ने सम्पूर्ण मानवता को विश्वयुद्ध के कगार पर लाकर खड़ा कर दिया है, ऐसा लगता है मानों लपटें उठने ही वाली हैं और विश्व स्वाहा: का ग्रास होने को है, वारण असम्भव लगता है फिर भी प्रयास आवश्यक है। अभी समय है, सब कुछ बचा लेने का।

यदि विश्व चेतना में एक नई लहर आ जाए "अनय का प्रतिकार और नय का सम्मान। भोग का अनादर त्याग का आदर और प्रतिष्ठा।"

सम्मान उन वास्तविकताओं का जो विश्व चेतना के दीप को स्नेह से पूरती हैं।

सम्मान उन स्फुरणाओं का, जो अन्तः के किसी कोने से प्रस्फुटित होकर समस्त विश्व-जीवन को अपने से आप्लावित करदे।

सम्मान उन कृतियों का, जिनसे मानवता का सौन्दर्य समलंकृत होता है।



सम्मान जब व्यक्ति के किसी भीतिकवादी पक्ष को उजागर करता सामने आता है, तो यह मानवता का ही नहीं, उस व्यक्ति के मौलिक स्वरूप का भी अपमान है जो उसमें स्थित होकर भी कमी उभर नहीं सका ।

इसके विपरीत यदि मानव के किसी आत्मिक सौन्दर्य का अभिनन्दन किया जाय तो वह सम्मान किसी व्यक्ति का नहीं होकर मानवता के उन चिरन्तन-मूर्तियों का होता है जिनसे विश्व सर्वदा दीप्तिवन्त हुआ है । ऊर्जस्विल रहा है ।

पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज का अभिनन्दन, उपर्युक्त चिन्तन के सन्दर्भ में अनय-पूजा के विरुद्ध नय-पूजा का एक विमम्र प्रयास है । भोगवाद के विरुद्ध त्याग-प्रतिष्ठा का सबल उपक्रम है ।

पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज, जिन्होंने विगत पचास वर्षों के सुदीर्घ समय से संयम, स्नेह, सारल्य सहानुभूति आदि व विश्वशान्ति के उन आधारभूत तथ्यों को आत्मसात् कर रखा है, जिन पर अभी तक विश्व जीवित रहा ।

त्याग, तप और करुणा की आज विश्व को सर्वाधिक आवश्यकता है । पूज्य गुरुदेव श्री में ये तत्त्व एक रूप हो उठे हैं । अम्बा (अम्मा) करुणा, वत्सलता, स्नेह-सौजन्य का पर्याय बन चुका है ।

मैं विगत पच्चीस वर्ष से इनके साथ हूँ, निकट से मैंने अध्ययन किया, इन्हें देखा, परखा इनकी मौलिक श्रेष्ठता में मुझे कहीं खोट दिखाई नहीं दी ।

मैं मानता हूँ—गुरुदेव श्री बहुत बड़े विद्वान् नहीं हैं, किन्तु सरलता और समता के क्षेत्र में बड़े-बड़े विद्वान् भी इनके समक्ष नगण्य हो जायेंगे ।

गत पन्द्रह वर्ष से ये मेवाड़ के स्थानकवासी धर्मसंघ का संचालन कर रहे हैं । श्रमण संघ के प्रवर्तक पद को निभा रहे हैं । इन और ऐसे ही कई अन्य कारणों से कई विपरीत प्रसंग इनके सामने उभर आये होंगे । किन्तु ये नहीं उलझे, ये स्वस्थ रहे, आज भी हैं । सबके भी और सबसे अलग भी । यहाँ मैं जीवन परिचय नहीं दे रहा हूँ । मैं उस क्यों, को समाधान दे रहा हूँ जो अभी सामने था ।

समग्र मानवता का सम्बल उन व्यक्तियों में भी तो रहा हुआ है जो जल-कमलवत् भीतिकता के विष से निर्लिप्त है ।

यदि हम ऐसे भी किसी निर्लिप्त पुष्प को उठाकर शोध चढ़ाएँ तो यह उस पुष्प का सम्मान भले ही कहलाए हमारा अपना अलंकरण भी उसी में रहा हुआ है ।

अभिनन्दन ग्रन्थ आवश्यकता और उपादेयता

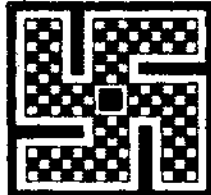
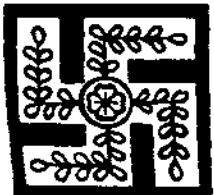
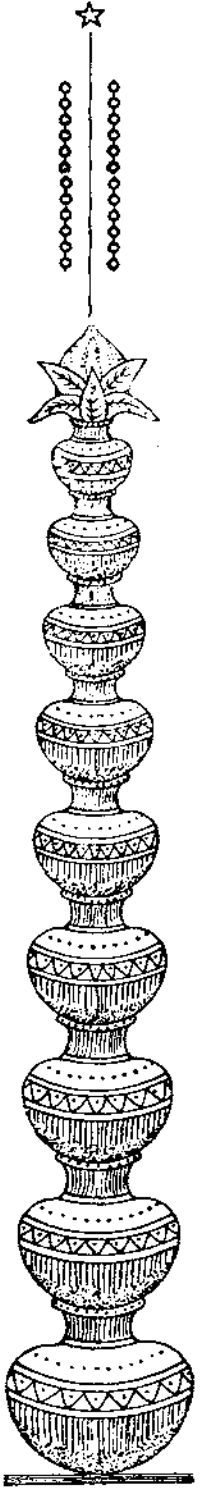
श्रद्धा एक होती है—झाड़ू-फानूस में दीप एक होता है किन्तु दीप की ज्योति कई पहलुओं से चमकती है । श्रद्धा की अभिव्यक्ति भी कई तरह से होती है । धार्मिकों में भक्ति के अनेक रूप विख्यात हैं ही ।

अभिनन्दन ग्रन्थ का निर्माण अभिनन्दन की वह साहित्यिक विधा है, जो कुछ वर्षों पूर्व चली, किन्तु उपयोगी और सशक्त प्रक्रिया होने से निरन्तर विकास पाती जा रही है ।

सामूहिक अभिनन्दन के उपक्रम को स्थायित्व देने के प्रयास ने मन्दिर-मठ समाधियाँ, स्तम्भ, छत्रियों आदि के निर्माण की प्रेरणा दी, ये सभी स्थापित स्मारक एवं कीर्ति-निकेतन जो हैं, सो है वे मानव को स्मृति दे सकते हैं । किन्तु किसी व्यक्ति के विराट व्यक्तित्व और उसके जीवन दर्शन का बोध वहाँ दुर्लभ है । इनके स्थान पर अभिनन्दन ग्रन्थ जहाँ अभिनन्दनीय के इतिवृत्त का बोध तो देता ही है, साथ ही अपने में इतनी विस्तृत ज्ञान राशि समेटे रहता है कि युग-युग तक मानव उसका अवगाहन कर अपनी वृत्ति और कृति को ऊर्ध्वमुखी बना सके ।

इधर आये दिन धर्म-दर्शन नीति एवं संस्कृति के क्षेत्र में बड़ा विस्तृत शोधकार्य हुआ । शोधप्रबन्ध के रूप में प्रतिवर्ष जो विराट साहित्य तैयार होता है, अभिनन्दन ग्रन्थ तथा स्मृति ग्रन्थों ने ऐसे शोधप्रबन्धों का आम जनता के निकट लाने में तथा उन्हें चिरकाल स्थायित्व देने में बड़ा योग दिया ।

इस दृष्टि से भी अभिनन्दन ग्रन्थ की उपयोगिता किसी अन्य प्रयत्न से अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है ।



भारतवर्ष का वह भाग जिसे 'राजस्थान' कहते हैं तथा राजस्थान का भी वह भाग जिसे 'मेवाड़' कहते हैं। शौर्य-मक्ति और संयम के क्षेत्र में अपना अद्वितीय गौरव रखता है। एक ओर शौर्य और वीरता के अमर प्रतीक चित्तौड़ और हल्दीघाटी मेवाड़ के गौरव की श्रीवृद्धि कर रहे हैं तो दूसरी तरफ जैन और वैष्णवों के सर्वोच्च कहलाने वाले धार्मिक तीर्थों से मेवाड़ मंडित है।

क्षेत्रीय महत्त्व के इन पार्थिव उपादानों से भी अधिक मेवाड़ का गौरव उन पुरखाओं पर इठलाता है, जिन्होंने चन्द वर्षों के भोग और वैभव पूर्ण जीवन बिताने के स्थान पर आध्यात्मिक-नैतिक तथा राष्ट्रीय मूल्यों की रक्षा करते हुए हँसते-हँसते मृत्यु तक का वरण कर लिया।

वे हजारों सन्नारियाँ, जो अपने शील गौरव की वैजयन्ती लहराती हुई हँसती-हँसती चिताओं में उतर गईं केवल मेवाड़ की थीं।

त्याग-वैराग्य और वीरता की यहाँ परम्पराएँ चलती रही हैं।

कोई आये और देखें, मेवाड़ के इतिहास को कि वास्तव में मेवाड़ क्या है? मेवाड़ के शौर्य-त्याग और बलिदान का इतिहास केवल राणावंश के चन्द विश्रुत राणाओं के इतिवृत्त के साथ ही पूरा नहीं हो सकता। मेवाड़ का इतिहास प्रत्येक मेवाड़ी की परम्परा में समाया हुआ है, यह अलग बात है कि केवल राणा या चन्द राजवाड़ों के कुछ विशिष्ट व्यक्तियों को छोड़कर अन्य वंशानुवंशों को न सुना गया, न शोधा गया और न समझा गया।

मेवाड़ की धार्मिक परम्पराएँ भी सामाजिक राजनैतिक परम्पराओं के समान बड़ी समृद्ध हैं।

यहाँ का राज धर्म "शैव" होने पर भी मेवाड़ में धर्म-सहिष्णुता और समन्वय का आदर्श सर्वदा मान्य रहा। अन्य परम्पराओं के समान जैनधर्म भी मेवाड़ में अनेक सफलताओं के साथ न केवल फलता-फूलता रहा, अपितु मेवाड़ के सांस्कृतिक एवं साहित्यिक उन्नयन में भी सदा अग्रहस्त रहा है।

मेवाड़ में अनेक 'जैन मन्दिर' और तीर्थों की स्थापना के साथ शुद्ध वीतराग मार्गीय आत्माराधक साधुमार्गीय परम्परा भी बराबर विकसित होती रही। इतना ही नहीं, पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज के शिष्यानुवंश से पल्लवित हुई मेवाड़ सम्प्रदाय का इस प्रदेश में इतना बड़ा प्राबल्य रहा कि यत्र-तत्र-सर्वत्र उनकी गरिमा का गान अनुगुञ्जित हो रहा है, आज भी मेवाड़ में इस सम्प्रदाय के हजारों अनुयायी दूर-दूर तक गावों कस्बों में फैले हुए हैं।

मेवाड़ के जैन जगत में यह सम्प्रदाय अपना प्रमुखतम स्थान रखता है। मैंने अनुभव किया कि इतने बड़े भूखण्ड पर विस्तृत इतने बड़े समुदाय का नेतृत्व जिन महान् सन्तों ने किया, निश्चय ही उनमें कुछ अप्रतिम विशेषताएँ होंगी। मैं स्वयं इस परम्परा में दीक्षित हूँ तो मेरा सोचना अहैतुक नहीं था। मैंने ऐतिहासिक महान् सन्तों पर शोध करना प्रारम्भ किया तो वस्तुतः कई ऐसे त्यागी-तपस्वी और तेजस्वी चरित्र मिले कि मैं चकित रह गया।

मैं कई दिनों से इच्छुक था कि इन महापुरुषों का, जिनका परिचय मिला है व्यवस्थित रूप से कहीं प्रकाशित कर दिया जाये, किन्तु कोई अवसर नहीं मिल रहा था।

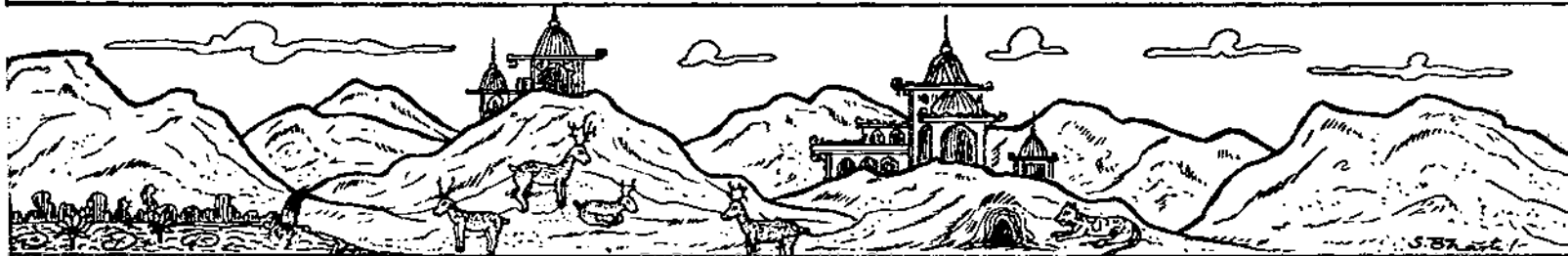
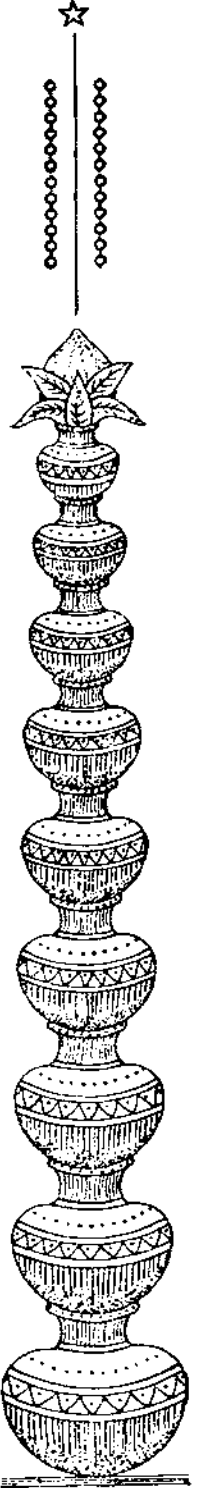
अचानक गत वर्ष गुरुदेव की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती का विचार उपस्थित हुआ। मैंने देखा कि सैकड़ों गुरुभक्त कार्यकर्ता भी इस उत्सव के लिए उत्सुक हैं तो मैंने सोचा कि क्यों नहीं इस उत्साह को साहित्यिक दिशा में मोड़ दिया जाये। विचार कार्यकर्ताओं तक पहुँचे और सभी ने स्वागत किया और अभिनन्दन ग्रन्थ का कार्य प्रारम्भ हो गया।

चिरन्तन उपादेयता तथा सामयिक आवश्यकता ही अभिनन्दन ग्रन्थ के निष्पादन के मूल हैं।

अभिनन्दन ग्रन्थ : एक परिचय

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ में छह खण्ड हैं। अभिनन्दनीय वृत्त के रूप में गुरुदेव श्री का जीवन परिचय है। और उसके पश्चात् हैं, श्रद्धार्चन एवं वन्दनाएँ स्नेह सित्त भावनाशील मानस का शब्द साक्ष्य।

गुरुदेव श्री का जीवन क्रम कोई अधिक घटना-प्रधान नहीं रहा, और जीवन के जो कुछ विशेष अनुभव हैं भी, तो उनके पीछे पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज, जिनकी पवित्र छत्रछाया में प्रवर्तक श्री का निर्माण हुआ उन्हीं का सर्वाधिक प्रभाव रहा।



पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज बड़े तेजस्वी वक्ता और प्रभावशाली आचार्य थे और गुरुदेव श्री बराबर उन्हीं की सेवा में बने रहे ।

राम की तरह पूज्य श्री थे तो गुरुदेव हनुमान की तरह केवल सेवा में रहे । जैसे सेवा ही हनुमान का परिचय है । ऐसे ही गुरुदेव का भी जीवन परिचय का शब्द केवल 'सेवा' है । घटनाएँ जो बनती हैं वे सीधी स्वामी के साथ जुड़ती जाती हैं, सेवक का तो केवल सेवा ही कर्तव्य बना रहता है ।

घटनाओं की विविधता नहीं होने पर भी मुझे मेरे सम्पर्क में आने से पूर्व की तथा बाद की जितनी बातें मिलीं बिना किसी अतिशयोक्ति के यथासंभव तटस्थ भाव से लिख देने का प्रयास किया है ।

मुझसे पूर्व की जो घटनाएँ हैं, उन्हें पाना बड़ा कठिन रहा । प्रवर्तक श्री ने कभी भी एक साथ बैठकर अपना परिचय देने का प्रयास ही नहीं किया । कई बार पूछने पर और कई तरह के प्रसंग चलाकर कुछ बातें निकलवा पाया ।

इन सारे कारणों से जीवनवृत्त में वैविध्य और वैचित्र्य की कमी अवश्य है । किन्तु जितना परिचय दे पाया यदि पाठक उस पर भी ठीक-ठीक मनन करें तो उससे गुरुदेव श्री के अन्तर व्यक्तित्व का परिचय मिल सकता है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ में 'मेवाड़ और उसके दमकते हीरे' नामक जो द्वितीय खण्ड है, उसमें मेवाड़ के सर्वांगीण स्वरूप का परिचय देते हुए मेवाड़ सम्प्रदाय के पूर्वाचार्यों और विशिष्ट मुनियों का परिचय देने का प्रयास है ।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के शिष्य श्री छोटे पृथ्वीराज जी महाराज से इस परम्परा का सम्बन्ध है ।

मैंने बहुत प्रयास किया कि क्रमशः जितने 'मुनि हुए' उनका ठीक-ठीक परिचय मिले, किन्तु पूज्य श्री रोडीदास जी महाराज (रोड़जी स्वामी) से पूर्व के केवल नाम मात्र उपलब्ध हैं और कुछ भी परिचय नहीं मिल पाया ।

श्री रोड़जी स्वामी के बाद से अब तक का जितना परिचय पट्टावलियों, स्तवनों और अनुश्रुतियों के आधार पर मिला, वह ज्यों का त्यों दिया । जिसके जितने प्रमाण मिल पाये उन्हें भी ग्रन्थ में उद्धृत कर दिया है ।

इतिहास रखने की परिपाटी नहीं होने से आज हमें ऐतिहासिक तथ्यों के लिए बहुत भटकना पड़ रहा है ।

मेवाड़ खण्ड में मेवाड़ के अन्य गौरवशाली व्यक्तित्वों का विस्तृत परिचय आना चाहिए था किन्तु मेवाड़ में एक तो इस दिशा में बहुत कम शोध हुई । दूसरा, जो इस विषय में थोड़ा काम करते भी हैं, तो ऐसे व्यक्तियों ने उतनी रुचि नहीं ली जितनी मैं चाहता था । फिर भी जितना नवीन मिल पाया उतना लिया है ।

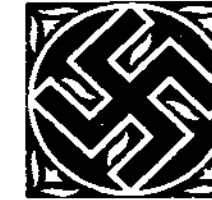
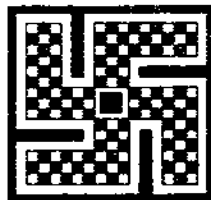
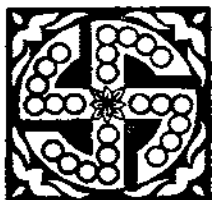
तीसरा खंड 'जैन तत्त्व विद्या' से सम्बन्धित है । सागर की भाँति असीम जैन तत्त्व विद्या (जैनोलोजी) का जितना आलोडन किया जाय उतना ही अमृत और अमूल्य मणियाँ मिलने की निश्चित सम्भावना है । विद्वान् लेखकों ने विविध विषयों का आलोडन कर जो विद्यामृत हमें दिया है, उससे बहुआयामी जैन विद्या का एक परिचय प्राप्त हो जाता है, जो रुचिकर भी है, ज्ञानवर्धक भी ।

चतुर्थ खंड में, "जैन साधना, साहित्य और संस्कृति" पर १७ उच्च कोटि के लेख हैं । 'साधना और साहित्य' विषय पर पर्याप्त सामग्री मिली है, पर जैन संस्कृति पर अनुशीलनात्मक एवं चिन्तन प्रधान लेख नहीं प्रायः आये । जो आये वे कुछ 'स्तर' के नहीं लगे, इसलिए सांस्कृतिक लेखों का अभाव स्वयं मुझे भी खटकता रहा ।

ग्रन्थ के इतिहास और परम्परा नामक पाँचवें खण्ड में भगवान् ऋषभदेव से भगवान् महावीर तक और उनके बाद मणधर, श्रुतकेवली और स्थविरपरम्परा पर क्रमगत दृष्टि से लिखा गया है । इस सारे लेखन कार्य में सर्वाधिक उपयोग श्री हस्तिमल जी महाराज (मारवाड़ी) द्वारा लिखित "जैनधर्म का मौलिक इतिहास" प्रथम और द्वितीय भाग का किया गया ।

ये दोनों प्रकाशन जैनधर्म के इतिहास को प्रामाणिक रूप से प्रस्तुत करने में बड़े सार्थक सिद्ध हुए हैं, ऐसा मेरा विश्वास है ।

कुछ निबन्ध विषय, भाषा और शैली की दृष्टि से निश्चय ही बड़े उत्तम और विद्वद्गम्य हैं तो कुछ निबन्ध भाषा-शैली और विषय-वस्तु की दृष्टि से सामान्य भी हैं ।



विनम्र समाज सेवी, प्रगतिशील विचारक, कर्मठ कार्यकर्ता
दानवीर सेठ श्री ऊंकारलाल जी सेठिया

सन वाड़



अध्यक्ष

श्री वर्धमान स्थानकवामी जैन श्रावक संघ, सनवाड़

मनोनीत अध्यक्ष :—
अम्बागुरु अभिनन्दन समारोह, कोशीथल

गम्भीर तात्त्विक निबन्धों के साथ सामान्य विषय-वस्तु का संयोजन हमें जान बूझकर करना पड़ा । हम यह अच्छी तरह समझते हैं कि जिस धरती पर इस ग्रन्थ का विमोचन होने जा रहा है वहाँ के घरापुत्रों में से अधिक तो सामान्य ग्राही ही हैं ।

ग्रन्थ का सर्वाधिक सदुपयोग हो, इस दृष्टि से इसमें वैशिष्ट्य और सामान्य का समन्वित प्रयास है ।

छठे 'काव्य-कुसुम' खण्ड में कुछ पुरानी ढालें, कुछ अन्य ऐसी सामग्री है जिनका ऐतिहासिक महत्त्व है । गुरुदेव श्री के नित्य स्मरणीय पद भी हैं ।

मेरे सहयोगी

मैं बहुत ही व्यस्त वातावरण ओड़कर चलने वालों में से हूँ । प्रवचन, विहार, साधवाचार सम्बन्धी कार्यों के उपरान्त जो समय मिल पाया है उसमें भी अनेक बाधाएँ प्रायः बनी रहती हैं । ऐसी स्थिति में ग्रन्थ सम्पादन, लेखन जैसे कार्य को सम्पन्न करना मेरे लिए तो कम से कम बड़ा कठिन था, किन्तु फिर भी कार्य हुआ तो यह श्रेय मेरे समस्त सहयोगियों का है ।

श्री पूज्य मुनि श्री महाराज जो पिछले एक वर्ष से गुरुदेव श्री की सेवा में हैं मुझे बराबर प्रेरित करते रहे । श्री इन्द्रमुनि जी, श्री मगन मुनिजी का अविस्मरणीय सहयोग रहा ।

श्री मदन मुनिजी की प्रारम्भ से ही बड़ी जोरदार प्रेरणा रही । सामग्री उपलब्ध कराने में भी इन्होंने सहयोग किया ।

श्री दर्शन मुनिजी ने सेवा-सम्बन्धी कार्य कर सहयोग दिया । परम विदुषी महासती जी श्री प्रेमवती जी के प्रेरणात्मक सहयोग को मैं विस्मृत नहीं कर सकता ।

यह लिखते हुए बराबर मुझे याद आ रही है पूज्य मरुधर केसरी मिश्रीमल जी महाराज की, जिनके प्रेरणात्मक आशीर्वाद से मेरी सक्रियता बनी रही ।

स्नेही साथी तपस्वी श्री रजत मुनिजी को मैं नहीं भूल सकता, जो बराबर प्रगति के विषय में जानकारी लेते रहे और प्रेरणा देते रहे ।

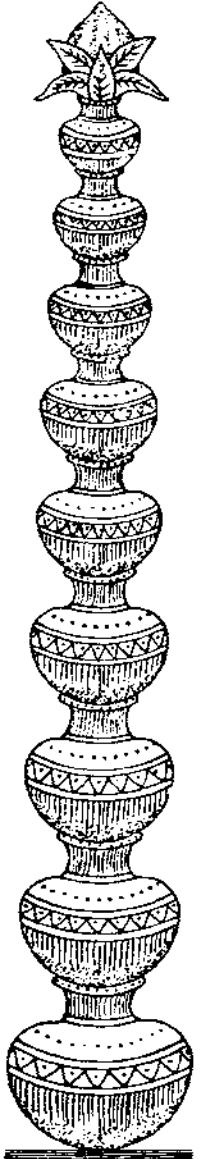
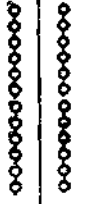
सम्पादक मण्डल में से जिनका मुझे भरपूर सहयोग मिला, उनमें समर्थ विद्वान श्री देवेन्द्र मुनिजी शास्त्री, श्री श्रीचन्द्रजी सुराणा 'सरस' और डा० श्री नरेन्द्र जी भानावत हैं ।

श्री देवेन्द्र मुनिजी ने "जितना सहयोग चाहिए उतना लीजिये" लिखकर मेरी प्रेरणाओं में नवीन स्फुरणाएँ भर दीं ।

डा० भानावत ने अच्छी सामग्री उपलब्ध कराकर सहयोग दिया तो श्री 'सरस' जी को तो आप इस सारे कार्य में 'सर्वेसर्वा' ही मान लीजिये, सामग्री उपलब्ध कराने से लेकर संयोजन एवं मुद्रण साज-सज्जा तक उनका सहयोग पूरी तरह मेरे साथ रहा ।

अन्त में मैं अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति तथा अभिनन्दन समारोह समिति के पदाधिकारियों, कार्यकर्ताओं को साधुवाद देता हूँ जिन्होंने समय-समय पर उपस्थित हो, यथा समय कार्य सम्पन्न हो जाये इस लक्ष्य से भावपूर्ण आग्रह किये । और यह ग्रन्थ अभिनन्दन समारोह की शोभा बढ़ाने योग्य बन सका...आशा है विद्या-रसिक पाठकों के मन को भी चिर कालिक परितुष्टि मिलती रहेगी, बस यही शुभाशा...।

—मुनि 'कुमुद'



अनुक्रमणिका

प्रथम खण्ड

अभिनन्दनीय वृत्त एवं श्रद्धार्चन

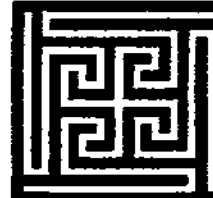
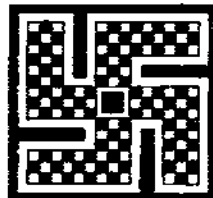
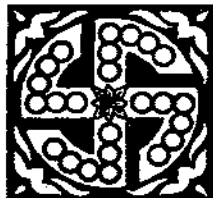
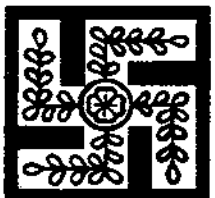
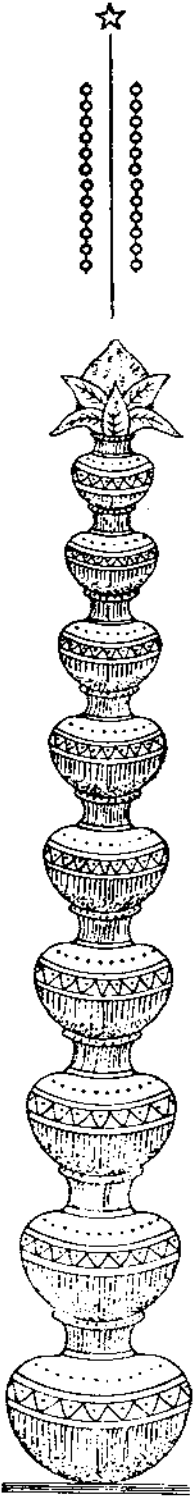
अभिनन्दनीय वृत्त नक्षत्रों की भाषा में जीवन की अन्तर्यात्रा गुरुदेव श्री के सुवचन	श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद' मदनमोहन जैन 'पवि' सौभाग्य मुनि 'कुमुद' सौभाग्य मुनि 'कुमुद'	१ १६ २१ २४ ३०
गुरुदेव के गुरुभ्राता, शिष्य परिवार : एक परिचय श्रमण संघ की महान् विभूति :	श्री देवेन्द्र मुनि, शास्त्री श्री शान्ति मुनि	३६ ३६
प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज मेवाड़ प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज रचनात्मक प्रवृत्तियों के धनी :	मदनलाल जैन बी० ए० एल० एल० बी० डा० नरेन्द्र भानावत, एम० ए०, पी-एच० डी०	४१ ४३
पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री अभिनन्दन: एक ज्योतिवाही साधक का		

आशीर्वचन एवं शुभकामना

आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि महधरकेसरी मुनिश्री मिश्रीमल जी राष्ट्र संत उपाध्याय अमर मुनि जी अध्यात्म योगी श्री पुष्कर मुनिजी प्रवर्तक श्री सूर्यमुनिजी	४४ ४४ ४५ ४६ ४६	प्रवर्तक श्री विनय-ऋषि जी मालवकेसरी श्री सौभाग्यमल जी महाराज पं० मुनि श्री कस्तूरचन्द जी महाराज शासनसेवी श्री वृजलाल जी महाराज मेवाड़ भूषण श्री प्रतापमल जी महाराज	४६ ४७ ४७ ४७ ४७
---	----------------------------	--	----------------------------

श्रद्धार्चन एवं वन्दना

श्री हीरा मुनि 'हिमकर' मदन मुनि 'पथिक' साध्वी श्री चारित्र प्रमा साध्वी श्री कुसुमवती साध्वी श्री उमराव कंवर 'अर्चना' श्री रंग मुनि श्री ईश्वर मुनि	[गद्य भाग] ४८ ४८ ४८ ४८ ५० ५० ५१	मुनि श्री सुमेरचन्द जी मुनि श्री उदयचन्द जी साध्वी श्री विमलवती जी राजेन्द्र मुनि शास्त्री साध्वी श्री चन्द्रावती जी महासती श्री शीलवती जी साध्वी श्री पुष्पवती जी	५२ ५२ ५२ ५३ ५४ ५४ ५४
---	--	--	--



मुनि श्री इन्द्रमल जी
साध्वी श्री प्रेमवती जी
आर्या श्री उगमवती जी
श्री दर्शनराय जी महाराज
गोदूलाल मांडोत 'निर्मल'
देलवाड़ा स्थानकवासी श्री संघ
शंकरलाल कोठारी
सागरमल कावडिया
देवेन्द्र कुमार हिरण

५५ मंवरलाल पगारिया
५५ मगवतीलाल तातेड
५७ रोशनलाल सिधवी
५७ धर्मज्योति परिषद
५८ रणजीतसिंह सोजेर्या
५८ सोहनलाल सूरिया
५८ ऊंकारलाल सेठिया
५९ हरखलाल लोडा
५९

५९
५९
५९
६०
६०
६१
६१
६१

[पद्य भाग]

गुरु प्रशस्ति : (काव्य)

—सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

पूज्य प्रवर्तक पंचकम्

—पं० श्रीधर शास्त्री

अभिनन्दन

—मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज

श्रद्धा सुमन

—चन्द्रसिंह चौधरी, एम.ए.

वंदामि

—उमेश मुनि 'अणु'

विरल विभूति

—मुनि श्री महेन्द्र कुमार 'कमल'

श्रद्धा के सुमन

—सुकुन मुनि

परमल अम्बेश

—घोर तपस्वी रजत मुनि

गुरुदेव श्री को वन्दना

—चन्द्रसिंह चौधरी एम० ए०

जगभूषण श्री अम्ब्रमुनि

—विजय मुनि 'विशारद'

श्री अम्ब मुक्ताष्टक

—अभय मुनि

हो कोटिशः वन्दन

—बालकवि सुभाष मुनि

देखा, ऐसा संत नहीं

—श्री गणेश मुनि शास्त्री

गुण-रत्नाकर

६३ —प्रकाश मुनि 'प्रेम'

मधुर आनन्द-सम जीवन जिनका

६८ —जिनेन्द्र मुनि

दो कवित्त

६९ —भक्त 'राव'

भक्ति सुमनाचंन

७० —कविरत्न श्री चन्दन मुनि

गौरव-गीत

७० —मगन मुनि 'रसिक'

गुण-सागर सद्गुरु

७१ —शिरोमणिचन्द्र जैन

जन-जन की हूरना सब पीर

७१ —मुनि सुरेश 'प्रियदर्शी'

चरण वन्दना करो

७२ —श्री आनन्द मुनि

श्रद्धा-सुमन-पंचक

७३ —मुनि नरेन्द्र 'विशारद'

अभिवन्दना

७४ —विनय मुनि 'विधु'

श्री अम्बालाल जी महाराज साहिव

७५ —बहुश्रुत श्री मधुकर मुनि

भावजलि

७६ —मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'

अवसर अभिनन्दन का

७७ —सौ० लीला सुराना 'आगरा'

७७

७८

७८

७९

८१

८३

८३

८४

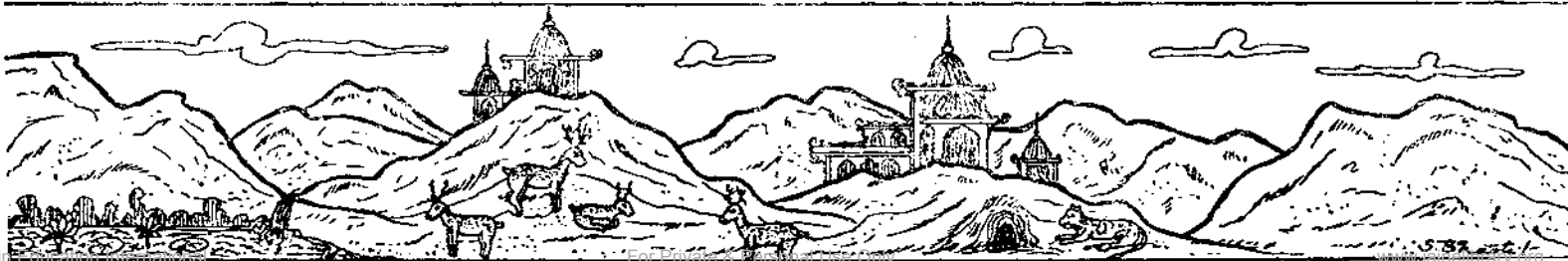
७५

८५

८६

८७

८८



द्वितीय खण्ड

मेवाड़ और उसके दमकते हीरे

१. मेवाड़ : एक भौगोलिक विशेषण	—डा० बसन्तसिंह	८६
२. मेवाड़ की लोक-संस्कृति में धार्मिकता के स्वर	—डा० महेन्द्र भानावत	९२
३. वीरों, सन्तों और भक्तों की भूमि—मेवाड़	—श्री हीरा मुनि 'हिमकर'	१००
४. मेवाड़ में जैन धर्म की प्राचीनता	—रामवल्लभ सोमानी	१०५
५. मेवाड़ और जैन धर्म	—श्री बलवन्तसिंह मेहता	१०८
६. मेवाड़ राज्य की रक्षा में जैनियों का योगदान	—डा० देव कोठारी	११३

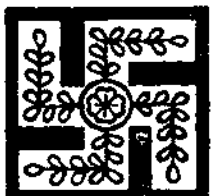
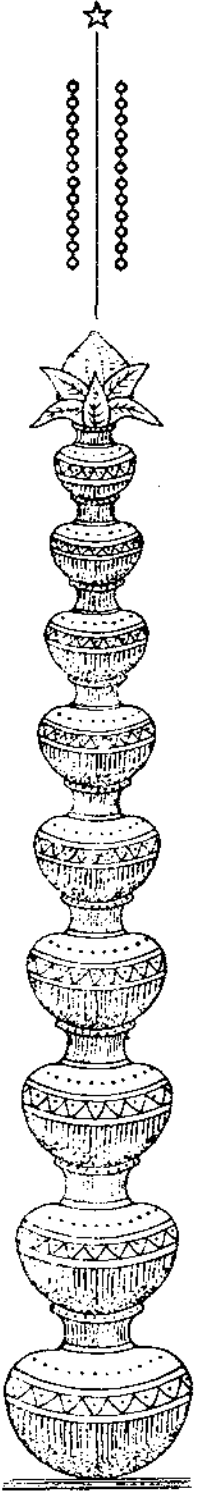
परम्परा का इतिहास

७. मेवाड़ सम्प्रदाय के ज्योतिर्मय नक्षत्र	—श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'	१२४
१ घोर तपस्वी पूज्य श्री रोड़ जी स्वामी	१२६	
२ आचार्य प्रवर श्री नृसिंहदास जी महाराज	१३८	
३ पूज्य आचार्य श्री मानजी स्वामी	१४४	
४ तपस्वीराज श्री सूरजमल जी महाराज	१५१	
५ कविराज श्री रिषभदास जी महाराज	१५३	
६ श्री बालकृष्ण जी महाराज	१५६	
७ कलाकार श्री गुलाबचन्द्र जी महाराज	१६०	
८ आत्मार्थी श्री वेणीचन्द जी महाराज	१६१	
९ आचार्य श्री एकलिंगदास जी महाराज	१६३	
१० पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज	१६८	
११ परमश्रद्धेय श्री जोधराज जी महाराज	१८०	
१२ सरल हृदय श्री भारमल जी महाराज	१८१	
१३ परम श्रद्धेय श्री मांगीलाल जी महाराज	१८३	
१४ मेवाड़-सम्प्रदाय की साध्वी परम्परा	१८७	
१५ प्रवर्तिनी श्री सरूपों जी और उनका परिवार	१९०	
८. जैन साहित्य और संस्कृति की भूमि : मेवाड़	—डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल	१९४
९. मेवाड़ का प्राकृत, संस्कृत एवं अपभ्रंश साहित्य	—डॉ० प्रेम सुमन जैन	१९९
१०. प्राचीन भारतीय मूर्तिकला को मेवाड़ की देन	—डा० रत्नचन्द्र अग्रवाल	२०८
११. मेवाड़ का एक जैन भील नेता : मोतीलाल तेजावत	—श्री शोभालाल गुप्त	२१६
१२. मेवाड़ में वीरवाल प्रवृत्ति	—श्री नाथूलाल चण्डालिया	२२०
१३. स्वतन्त्रता संग्राम में मेवाड़ के जैनियों का योगदान	—डा० भंवर सुराणा	२२३

तृतीय खण्ड

जैन तत्त्व विद्या

आत्मतत्त्व : एक विवेचन	—डा० हुकुमचन्द संगवे	२२५
कर्म-सिद्धान्त : मनन और मीमांसा	—साध्वी श्री संघमित्रा	२३०
लेश्या : एक विवेचन	—डा० महावीर राज भेलड़ा	२४१
गुणस्थान-विश्लेषण	—श्री हिम्मतसिंह सरूपारिया	४४२



जिनशासन का हार्द
भारतीय चिन्तन में—मोक्ष और मोक्ष मार्ग
भगवान महावीर का तत्त्ववाद
आधुनिक विज्ञान और जैन मान्यताएँ
स्वाध्याय का सही अर्थ
अनेकान्त दर्शन—अहिंसा की परमोपलब्धि
आगमकालीन नय-निरूपण
जैनागमों में मुक्ति-मार्ग और स्वरूप
ब्राह्मण व श्रमण परम्परा के सम्बन्ध में स्थितप्रज्ञ
और बीतराग
जैनदर्शन में अजीव द्रव्य

—श्री सूरजचन्द शाह 'सत्यप्रेमी' 'डांगोजी'	२५७
—श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री	२५६
—मुनि श्री नथमल जी	२७०
—डा० नन्दलाल जैन	२७७
—प्रो० दलमुख मालवणिया	२८६
—डा० अमरनाथ पाण्डेय	२८७
—श्रीचन्द गोलेचा : कन्हैयालाल लोढा एम० ए०	२८६
—मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'	२६८
—श्री भंवरलाल सेठिया एम० ए०	३२१
—आचार्य श्री आनन्द ऋषिजी	३३६

चतुर्थ खण्ड

जैन साधना, साहित्य और संस्कृति

जैन साधना-पद्धति
जैन योग, उद्गम, विकास, विश्लेषण, तुलना
श्रमणाचार : एक अनुशीलन
जैन-साधना में तप के विविध रूप
जैनश्रमण : वेशभूषा—एक तात्त्विक विवेचन
विश्व धर्मों के परिप्रेक्ष्य में जैन उपासक का—
साधना पथ: एक तुलनात्मक विवेचन
सलेखना : एक श्रेष्ठ मृत्युकला
जैन परम्परा में उपाध्याय पद
जैन आगम और प्राकृत :
भाषा विज्ञान के परि-प्रेक्ष्य में एक परिशीलन
जैन न्याय के समर्थ पुरस्कर्ता : सिद्धसेन दिवाकर
जैन योग के महान व्याख्याता : हरिभद्र सूरि
जैन आगमों के भाष्य और भाष्यकार
आचार्य हेमचन्द्र : जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व
राजस्थान के प्राकृत श्वेताम्बर साहित्यकार
राजस्थानी जैन साहित्यकार
जैन आयुर्वेद साहित्य : एक समीक्षा
जैन संस्कृति के प्रमुख पर्वों का विवेचन

—डा० मुक्ताप्रसाद पट्टेरिया	३३६
—डा० छगनलाल शास्त्री	३४८
—आर्या चन्द्रावती	३६०
—गोटूलाल मांडोट 'निर्मल'	३७१
—ओंकारलाल सेठिया	३८१
—वसन्तकुमार जैन शास्त्री	३८६
—मालवकेशरी मुनि श्री सौभाग्यमल जी	४०४
—मुनि श्री रूपचन्द्र जी 'रजत'	४१६
—श्रीमती शान्तिदेवी जैन	४२३
—देवेन्द्रमुनि शास्त्री	४३५
—प्रो० सोहनलाल पटनी एम० ए०	४४०
—अध्यात्म योगी श्री पुष्कर मुनिजी	४४३
—अभयकुमार जैन एम० ए०, बी० एड०	४५२
—देवेन्द्र मुनि शास्त्री	४५६
—रमेश कुमार जैन	४६३
—कविराज राजेन्द्र प्रसाद भटनागर	४६३
—श्री गोटूलाल मांडावत	४७६

पंचम खण्ड

इतिहास और परम्परा

जैन परम्परा : एक ऐतिहासिक यात्रा

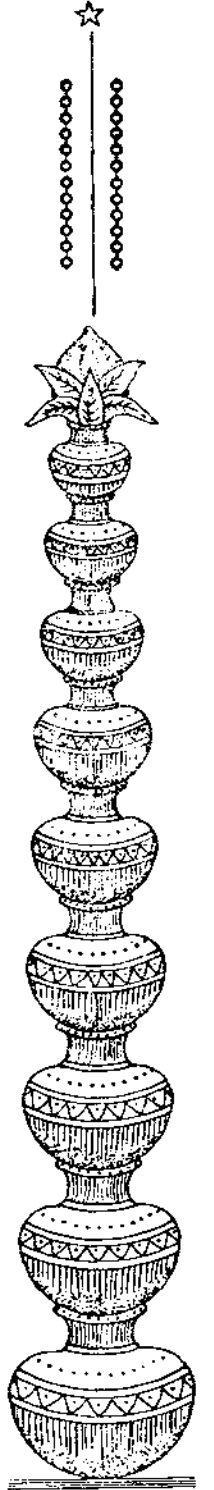
योगिक युग

तीर्थंकर युग

भगवान ऋषभदेव,

भगवान शान्तिनाथ

भगवान अरिष्टनेमि	४६०
भगवान नेमिनाथ के धर्मशासन के कुछ दिव्यरत्न	
गजसुकुमार, ढंढणमुनि, थावच्चापुत्र	४६२
भगवान पाश्वनाथ	४६३
भगवान महावीर	४६४



केवलिकाल

प्रधान शिष्य श्री इन्द्रभूति गौतम ५१२
 भगवान महावीर के प्रथम पट्टधर 'आर्य सुधर्मा' ५१४
 वैराभ्य रत्नाकर श्री जम्बूस्वामी ५१५

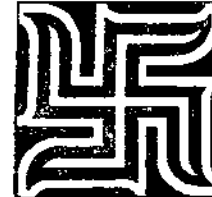
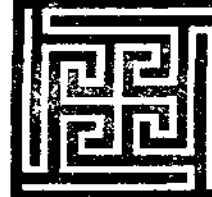
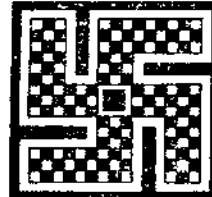
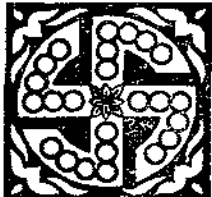
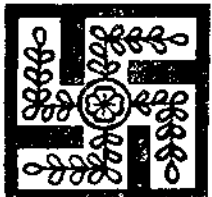
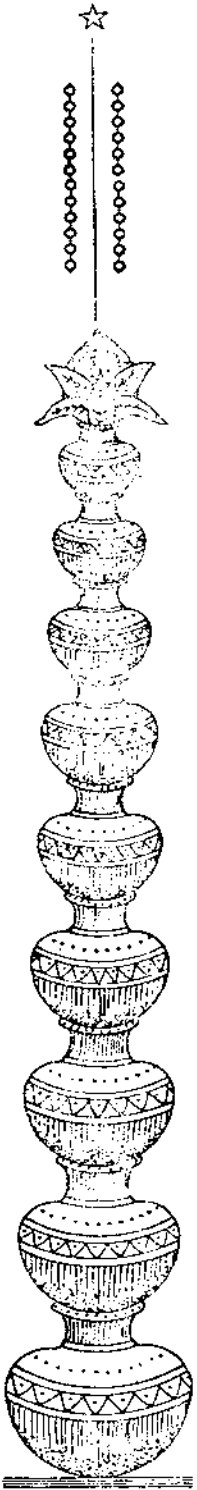
पूर्वधर काल

श्री प्रभव स्वामी ५१६
 आचार्य शय्यंभव ५१६
 आचार्य श्री यशोभद्रस्वामी ५२०
 आचार्य श्री संभूतिविजय ५२१
 आचार्य श्री भद्रबाहु ५२१
 आचार्य श्री स्थूलभद्र ५२१
 आचार्य महागिरि ५२३
 आचार्य सुहस्ति ५२३
 आचार्य वलिस्सह ५२३
 आर्य इन्द्रविजय ५२३
 आर्य आर्य दिव्य ५२३
 आर्य वज्रस्वामी ५२३
 आर्य वज्रसेन ५२४

आर्य रथ ५२४
 आर्य मुखगिरि ५२४
 दिगम्बर मत का उदय ५२४
 आर्य फल्गुमित्र ५२५
 आचार्य रक्षित ५२५
 आर्य नागस्वामी ५२६
 आर्य महील अणगार ५२६
 चैत्यवास : आचार्य शैथिल्य का पर्याय ५२६
 आचार्य देवद्विगणी क्षमाश्रमण ५२७
 अवक्रमण युग ५२८
 उत्क्रांति युग ५२९
 लोकाशाह का आलोक ५२९
 स्थानकवासी (साधुमार्गी) परम्परा का अभ्युदय ५३२
 श्री जीवराज जी महाराज ५३२
 श्री धर्मसिंह जी महाराज ५३२
 पूज्य श्री लवजी ऋषिजी ५३३
 पूज्य श्री धर्मदामजी महाराज ५३३
 धर्मदास जी महाराज और मेवाड़-परम्परा ५३५

षष्ठ खण्ड**काव्य-कुसुम**

पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज के स्मरणीय पद ५३७
 पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज की कुछ रचनाएं ५४३
 पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज रचित—श्री रोड़जी स्वामी का गुण ५४८
 पूज्य श्री मानजी स्वामी विरचित—पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज के गुण ५५०
 श्रावक चतुर्भुज द्वारा रचित—पूज्य श्री मानजी स्वामी के गुण ५५५
 कविराज श्री रिषवदास जी महाराज के कुछ पद ५५६
 रिषवदास जी महाराज-कृत—तात्त्विक चर्चा ५५६
 छोटी पट्टावली ५६१



पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज अभिनन्दन-
ग्रन्थ प्रकाशन समिति को आर्थिक सहयोग देने वाले

श्री संघ और श्रीमानों की स्वर्णिम नामावली



५०१)	श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ	पाटन
५०१)	" "	चैनपुरा
५०१)	श्रीमान् डालचन्द जी जैन	शम्भुगढ़
५०१)	श्री वर्धमान स्था. जैन श्रावक संघ	सधरेव
५०१)	" "	कालेसरिया
५०१)	" "	त्रिलेश्वर
५०१)	" "	भीटा
१००१)	" "	रायपुर
१००१)	" "	बदनोर
१००१)	" "	कोशीथल
५०१)	" "	बोराणा
५०१)	" "	लसाणी
५०१)	" "	ताल
५०१)	श्रीमान् हीरालालजी महता	बदनोर
५०१)	श्री वर्धमान स्था. जैन श्रावक संघ	भीम
५०१)	" "	शम्भुगढ़
५०१)	" "	आसीद
५०१)	" "	शिवपुर
५०१)	" "	थाणा
५०१)	" "	चान्दरास
५०१)	" "	नाथड्यास
५०१)	" "	झडोल
५०१)	" "	सहाड़ा
५०१)	" "	मोखुणदा
५०१)	" "	नान्दशा
५०१)	" "	डेलाना
१००१)	" "	लाखोला
५०१)	" "	आरणी
५०१)	" "	राशमी

५०१)	श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ	भीमगढ़
५०१)	" "	डिण्डोली
५०१)	" "	लांगच
५०१)	" "	सिधपुर
५०१)	" "	मिस्रूण्ड
५०१)	" "	आमेट
५०१)	श्रीमान् मँरूलालजी ईश्वरलालजी सांखला	रामथली
५०१)	श्रीमान् मिलापचन्दजी सम्पतलालजी महता	रेलमगरा
५०१)	श्री वर्धमान स्था. जैन श्रावक संघ	गणेशपुरा
५०१)	" "	भगवानपुरा
५०१)	" "	करजालिया
५०१)	" "	जूणदा
५०१)	" "	जीतावास
५०१)	श्रीमान् छगनलाल जी ओसवाल	तारावट
५०१)	श्री व. स्था. जैन श्रावक संघ	जेतगढ़
५०१)	" "	खेजड़ी
१००१)	श्रीमान् भीमराज जी पृथ्वीराज जी कोठारी	दोवड़
५०१)	श्री व. स्था. जैन श्रावक संघ	आकड़ सादा
५०१)	श्रीमान् भगवती लाल जी तातेड़	ईगला
५०१)	श्री व. स्था. जैन श्रावक संघ	केरिया
५०१)	" "	सांगावास
५०१)	श्रीमान् मदनलाल जी पीतल्या	देवगढ़
१०००१)	श्री धर्म ज्योतिपरिषद् मोलेला शाखा कार्यालय से सम्बन्धित श्री संघ	
१००१)	श्री वर्धमान स्था. जैन श्रावक संघ	राजाजी का करेड़ा
५०१)	" "	रेलमगरा
५०१)	" "	थामला
५०१)	" "	सरदारगढ़
५०१)	" "	कुंवारिया
५०१)	" "	मोही
५०१)	" "	कांकरोली
५०१)	" "	घोइन्दा
१००१)	" "	खमणोर
५०१)	" "	गड़वाड़ा
५०१)	" "	पलाणा कला
५०१)	" "	सिन्दु
५०१)	" "	देलवाड़ा
५०१)	" "	खेमली
५०१)	" "	चन्देसरा
५०१)	" "	देबारी
५०१)	" "	डबोक

५०१)	श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ	डूंगला
६०२)	" "	मंगलवाड़
१००६)	" "	मादसोड़ा
५५१)	" "	मंडपिया
५०१)	" "	बानसेन
१००१)	" "	सनवाड़
६५१)	" "	फतह नगर
५०१)	" "	जासभा
६०१)	" "	आकोला
५०१)	श्रीमान् नाथूलाल जी गोखरू	मावली स्टेशन
५०१)	श्री व. स्था० जैन श्रावक संघ	घाँसा
५०१)	" "	आयड़
५०१)	" "	काबरी
५०१)	" "	जोर
५०१)	" "	गलवा
५०१)	" "	बिणोल
१००१)	" "	नाथद्वारा
५०१)	" "	राज्यावास
५०१)	" "	बनेडिया
५०१)	" "	पाखण्ड
५०१)	" "	फलीचड़ा (कु'चोली)
५०१)	" "	जेवाणा
५०१)	" "	सासेरा
५०१)	" "	लडपचा
७५१)	" "	गवारड़ी (चराणा)
१००१)	श्रीमान् तुलसीराम जी समदाणी	फतहनगर
५०१)	श्री व. स्था० जैन श्रावक संघ	दरोली
५०१)	" "	महाराज की खेड़ी
५०१)	" "	रुण्डेड़ा
५०१)	" "	इन्टोली
५०१)	श्री व. स्था० जैन श्रावक संघ	सूरपुर
५०१)	" "	करूंकड़ा
५०१)	" "	किला चित्तौड़
५०१)	श्री स्थानकवासी जैन संघ	चित्तौड़गढ़
५०१)	श्री व. स्था० जैन श्रावक संघ	पनोरिया
५०१)	" "	खांखला

५०१)	श्री मगनबाई धर्मपति सरदारमलजी सराफ	जोधपुर
५०१)	श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ	खेरोदा
५०१)	" "	मावली
५०१)	" "	नवाणिया
५०१)	" "	जबरकिया
५०१)	श्रीमान् गेरीलाल जी घासीलाल जी कोठारी	सेमा
५०१)	श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ	पोटला
६०६)	" "	बल्लम नगर
३०१)	" "	सोनियाणा
५०१)	" "	भूपालगंज
५०१)	श्रीमान् सेठ मोतीलाल जी हुक्मीचन्द जी चोरडिया चक्की वाला	इन्दौर

नोट—जिस क्रम से रसीदें कटीं उसी क्रम से नामावली दी गई है ।

उक्त सभी सहयोगदाता श्री संघों, एवं धर्मप्रेमी उदार महानुभावों को हम हार्दिक धन्यवाद के साथ उनके सद्सहयोग का आदर करते हैं ।

मंत्री

—अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, आमेट

परम श्रद्धेय मेवाड़ संघ शिरोमणि
पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज का
आदर्श जीवन वृत्त एवं श्रद्धार्चन, शुभकामनाएं, वन्दनाएं

प्रथम खण्ड

अभिनन्दनीय
वृत्त एवं
श्रद्धार्चन



□ श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

[कवि, लेखक एवं राजस्थान के प्रभावशाली विद्वान संत]

अभिनन्दनीय वृत्त

[प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज की गरिमा मंडित जीवनरेखा]

जीवन की आन्तरिक गहराई में जाना समुद्र के अन्तराल में प्रवेश करने के समान है। समुद्र की खाह पाना कठिन है, ऐसे ही किसी जीवन को सम्पूर्ण रूप से परख पाना कठिन ही नहीं, लगभग असम्भव है।

अनेकानेक छोटी-बड़ी घटनाओं, कदाचित् परस्पर विरोधी उपक्रमों से निमित्त जीवन वस्तुतः एक पहेली है। उसे समझ पाना अपने आप में एक पेचीदा कार्य है और वह भी एक ऐसे व्यक्ति के लिये बड़ा कठिन है जो उस आलोच्य जीवन के प्रति नितान्त स्नेहास्पद हो।

एक शिष्य गुरु के जीवन को ईमानदारी पूर्वक अंकित कर सके, इसमें प्रायः सन्देह रहता है। किन्तु शिष्य यदि अपनी शिष्यत्व की भूमिका से हटकर तटस्थ सत्ता के परिप्रेक्ष्य में गुरु को देखने का यत्न करे तो इसमें कोई सन्देह नहीं कि सैकड़ों अन्य लेखकों की अपेक्षा वह गुरु को अधिक अच्छी तरह स्पष्ट पा सकता है।

मैं अपनी इस दूसरी सत्ता को अच्छी तरह समझने में प्रयत्नरत हूँ किन्तु साफल्य कितना पा सकूंगा, यह अभी कहने की स्थिति में नहीं हूँ।

गरिमा मय मेवाड़

विश्व के अनेक देश भारत के प्रति असूयाग्रस्त हैं। इसका कारण मात्र प्रवर्तमान राजनैतिक परिस्थितियाँ ही नहीं हैं, भारत की भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं सामाजिक उपलब्धियाँ ही इतनी विविध, विशाल तथा गौरवास्पद हैं कि इसके प्रति कोई सहिष्णु रह पाए तो सचमुच आश्चर्य होगा। एक तरफ हिमाच्छादित विस्तृत उत्तुंग शिखरावली तो दूसरी ओर असीम जल-राशि का उमड़ता सैलाब।

इन दोनों के मध्य नदियों, नगरों, मैदानों, वनों व पहाड़ों-पर्वतमालाओं, लहलहाते खेतों आदि विविधताओं से परिपूर्ण यह भारतवर्ष देवताओं को भी अपने बीच खींच ले तो क्या आश्चर्य !

सचमुच भारत अपने आप में सुन्दर सुहावना एवं परिपूर्ण व्यवस्थित भूखण्ड है, जिसकी तुलना किसी अन्य स्थान से केवल आंशिक रूप से ही हो सकती है, सम्पूर्णतया नहीं।

राजस्थान भारत का कलेजा है। भारत जो है, उसको सबसे अधिक बनाने का श्रेय राजस्थान को है। राजस्थान की मिट्टी में एक तेज दमकता है, जो दिल्ली के सिंहासन को नई आभा दे सकता है, राष्ट्र के लिये न्यौछावर हो सकता है, धर्म राष्ट्र और संस्कृति की रक्षा में प्राणपण से जुट सकता है।

मेवाड़ राजस्थान के ही एक प्रदेश का नाम है। उदयपुर, भीलवाड़ा, चित्तौड़ इन तीन मण्डलों में अधिकतर मेवाड़ का हिस्सा आ जाता है। स्वतन्त्रता से पूर्व मेवाड़ की अपनी अलग राज्यसत्ता थी। संस्कृति, भाषा, पहनावा, सिक्का, पैमाना, नाप-तौल आदि इसके अपने थे। यहाँ बहुत पहले से गहलोतवंशीय वीर क्षत्रियों का राज्य चला आ रहा था, जो अपने गौरव में भारत के सभी क्षत्रियों में सर्वदा श्रेष्ठ रहे हैं। यहाँ के शासक महाराणा कहलाते थे। महाराणा अपनी आन-बान-शान के पक्के, दिलेर और जबरदस्त लड़ाका होते थे।



राणा वंश में महाराणा सांगा, महाराणा प्रताप, महाराजा राजसिंह आदि कुछ ऐसे जबरदस्त व्यक्तित्व हो चुके हैं, जो सचमुच बेजोड़ हैं। राणा-परम्परा में कुछ वीरांगनाएँ भी ऐसी हो चुकी हैं, जिन पर मेवाड़ ही नहीं विश्व का नारी वर्ग गर्व कर सकता है। ऐसी सन्नारियों में पत्नी और मीरों का नाम सर्वोपरि है।

प्राकृतिक दृष्टि से मेवाड़ एक सम्पन्न प्रदेश है। अरावली पर्वतमाला मेवाड़ की सीमा बनाती हुई दूर तक निकल गई है। मेवाड़ के चारों तरफ और कहीं-कहीं मध्य में भी पहाड़ों की छटा बड़ी सुहावनी है। पहाड़ों के आस-पास दूर-दूर तक लम्बे-चौड़े प्रदेश में प्रायः सभी तरह की खेती होती है। खेती मेवाड़ का मुख्य व्यवसाय है।

मेवाड़ अधिकतम गाँवों में बसा हुआ है; शहर भी हैं, किन्तु कम।

मेवाड़ में विकास आधुनिक युग की दैन है। मुगलों के निरन्तर आक्रमणों से मेवाड़ सदियों तक उजड़ता रहा। फलतः इसका समुचित विकास नहीं हो सका। आन-शान की रक्षा में मेवाड़ ने गौरव तो पाया किन्तु खुशहाली नहीं पा सका। अंग्रेजों के शासन में मेवाड़ कुछ जम सका। उसके बाद सुखाडिया सरकार के हाथों यह विकास के पथ पर बढ़ा।

धर्मप्रियता मेवाड़ की रग-रग में है। मेवाड़ संघर्ष की छाया में पला, तलवारों में रहा, बर्छी-भालों में इसने जीवन बिताया, किन्तु अधर्म के लिए नहीं, धर्म के लिए।

मुगलों से लम्बे संघर्ष के पीछे किसी भूमि के टुकड़े का प्रश्न नहीं था। प्रश्न था धार्मिकता और सामाजिकता का। मुगलों को बेटियाँ देना हिन्दू अधर्म समझते हैं, सभी हिन्दुओं का यह निश्चय है। किन्तु मुगलों की जबरदस्त शक्ति से कोई टकराना नहीं चाहते थे, लेकिन मेवाड़ी टकरा गये और टकराते ही रहे। अन्तिम समय तक लोहा लेते रहे। किन्तु मुगलों को डोला नहीं भेजा। यह इनके धर्म का प्रश्न था।

धर्म मेवाड़ के जन-जीवन का प्राण-तत्त्व है। मेवाड़ी इसकी उपेक्षा नहीं कर सकता। वह धास की रोटी खा सकता है। विशाल सेनाओं से टक्कर ले सकता है। किन्तु वृन्दावन से आये श्रीनाथ-विग्रह को वापस नहीं भेज सकता। किसी चंचल कुमारी की लाज रखने से मुख नहीं मोड़ सकता।

मेवाड़ कटकर या लुटकर भी मुस्कुराने वाला तत्त्व है, बशर्ते कि वह केवल धर्म के नाम से हो।

धर्म के मौलिक संस्कारों के तीव्रग्रह ने ही यहाँ कई धार्मिक प्रतिभाओं का सृजन किया जो विश्वविश्रुत है।

जिस महान मुनि-व्यक्तित्व का परिचय देने में बैठा हूँ, यह भी मेवाड़ की एक मौलिक कृति है।

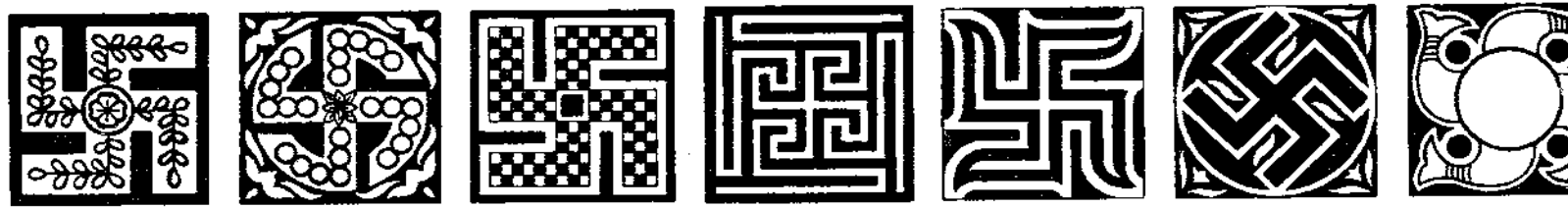
उदयपुर जिले में थामला एक ग्राम है, जो मावली जंक्शन से लगभग ६ मील पूर्वोत्तर में है। पूज्य श्री अम्बालालजी महाराज का यहीं जन्मस्थान है। मैदानी इलाके में बसा हुआ थामला न बहुत बड़ा और न छोटा किन्तु एक मँझला अच्छा-सा गाँव है। मेवाड़ राज्य के समय यहाँ चौहान क्षत्रिय राज्य करते थे। चौहान अपनी अद्भुत वीरता के लिये सदा ही प्रसिद्ध रहे हैं।

जन्म और बाल्यकाल

थामला के जैन ओसवाल महाजन समाज में सोनी गोत्रीय सज्जनों का बहुत पहले से प्रमुख स्थान रहा है। अपने व्यवसाय में तो ये सज्जन बड़े-चढ़े थे ही, राज्यसत्ता में भी इनका अग्रगण्य स्थान था। आर्थिक दृष्टि से यह वर्ग प्रायः सम्पन्न ही रहा। आज भी वह सम्पन्नता परिलक्षित होती है। आम्नाय की दृष्टि से ये सभी स्थानकवासी जैन मेवाड़ सम्प्रदाय के अनुयायी थे। किन्तु जब मेवाड़ में तेरापथ के उद्भव के साथ ही धर्म-परिवर्तन का दौर चला तो उसमें अधिकतर सोनी-परिवार तेरापथ के अनुयायी हो गये, किन्तु कुछ ऐसे भी थे, जिन्होंने इस धर्म-परिवर्तन के प्रवाह का हड़तापूर्वक मुकाबला कर अपनी स्थिरता—हड़ता का परिचय दिया।

पूज्य श्री अम्बालालजी महाराज का ऐसे ही एक सोनी-परिवार में जन्म हुआ, जो अपनी सुदृढ़ धार्मिकता के लिये प्रसिद्ध था।

आस-पास के अधिकतर विपरीत प्रभावों, विरोधी पारिवारिक-जनों के मध्य भी अपनी स्वीकृति को स्थायी रखना आसान बात न थी। किन्तु धर्मप्रिय श्री किशोरीलालजी तथा श्रीमती प्यारबाई के लिये यह सहज हो गया। क्योंकि वे धर्म के मामले में किसी के हस्तक्षेप और प्रवाह को अनावश्यक ही नहीं, अनुपयोगी भी समझते थे।



श्री किशोरीलालजी और श्री प्यारवाई को हमने प्रत्यक्ष नहीं देखा। अतः उनके जीवन की मौलिक विशेषताओं का साधिकार वर्णन करने की स्थिति तो नहीं है, किन्तु फल से वृक्ष का अनुमान लगाये जाने के समान पुत्र से माता-पिता को कुछ-कुछ तो पहचाना ही जा सकता है।

जिनकी सन्तान पूज्य जी अम्बालालजी महाराज जैसी पवित्र चरित्र-सम्पन्न सन्तान हो, उन माता-पिता का चरित्र अवश्य ही उत्तम होगा, यह सहज विश्वास है।

विपरीत धार्मिक परिस्थितियों में भी स्वधर्म के प्रति उनकी प्रगाढ़ता उनके दृढ़ चरित्र को प्रकट करती है। साथ ही पारिवारिक मेलजोल को इस कारण बिगड़ने नहीं देना एक अलग विशेषता है जो इन्हें व्यवहारकुशल और मधुर स्वभावी होना सिद्ध करती है। व्यावसायिक चातुर्य तो था ही, जो उन्हें संस्कारों से मिला था। कुल मिलाकर माता-पिता धर्मनिष्ठ, चरित्रवान, दृढ़ आस्तिक और चतुर थे।

विक्रम सम्बत् १९६२ ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया मंगलवार को प्यारवाई ने एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। प्रथम पुत्र का स्वागत तो हादिकता के साथ होता ही है। बच्चे का नाम हम्मीरमल रखा गया। यह नाम केवल छह वर्ष रहा।

शामला से मावली

सेठ किशोरीलालजी सोनी के एक और भाई थे गमेरमलजी। उन्होंने अपना निवास-स्थान मावली बनाया था। उनका निःसन्तान ही देहावसान हो गया। उनकी पत्नी रामीवाई एकाकी रह गईं। वह एक बार शामला गईं। उनको अपना एकाकीपन खल रहा था। छह वर्ष के छोटे से हम्मीरमल को देखा तो मावली ले जाने की हठ करने लगीं। माता-पिता छोटे से बच्चे को भेजने के लिए राजी नहीं थे, किन्तु ज़िद के कारण वह उनको उठा लाई और पुत्रवत् प्यार बरसाने लगीं।

हम्मीरमल का अम्बालाल के रूप में नया नाम-संस्करण कर दिया। हम्मीरमल नाम भुला दिया गया। उसके साथ ही शामला लगभग दूर पड़ गया। कमी-कभार जाना हो जाता, वह भी प्रसंगवश, अन्धथा मावली ही अब जीवन-निर्माण का स्थल बन गया। पाठशाला में भी भर्ती हुए। तेरह वर्ष की उम्र में उस समय की उच्च कक्षा 'अपर' उत्तीर्ण कर अम्बालाल जी ने अपनी शिक्षा सम्पूर्ण कर ली।

दादी के प्यार भरे नेतृत्व, लालन-पालन में अम्बालाल का यह समय बड़ा सुखमय बीता।

संस्कारों की खाद जीवन-पौधे का निर्माण करने में बड़ा उपयोगी हिस्सा अदा करती है। बच्चा कैसा बनेगा? इस प्रश्न का उत्तर उसके संस्कारों में मिल सकता है। अन्यत्र नहीं।

अम्बालाल जहाँ स्कूल में साक्षरता प्राप्त कर रहा था, साथ ही उसको कुछ ऐसे संस्कार भी मिल रहे थे, जो किसी बहुत बड़े सद्भाग्य के बिना सम्भव नहीं हो सकते।

अम्बालाल के रिश्ते में एक मामी थी, बड़ी धर्मप्रिय और थडालु। वह यद्यपि गृहस्थ थी किन्तु साध्वाचार-सी स्थिति में रहती थी। वर्ष में दो बार अपने हाथों से लूँचन करती, चारों स्कन्ध का पालन करती, केवल दरी पर सोती, बहुत त्यागवृत्ति से रहती थी वह। उसका भी इस बच्चे से बड़ा ही प्यार था। अम्बालाल भी समय मिलते ही उसके पास चला जाता।

मामी उसे बराबर त्याग-वैराग्य का सन्देश देती रहती। जीवन का महत्त्व त्याग में है, भोग में नहीं। यह बात मामी कई तरह से उसे बताया करती थी।

अम्बालाल धीरे-धीरे ऐसे संस्कार पाने लगा, जिनमें श्रद्धा और संयम का बीज पल सके।

अविध्यवाणी

हस्तरेखा या देह-चिह्न भावी का कुछ परिचय दे सकते हैं, यह विवादास्पद हो सकता है, किन्तु इन्हें आधार बनाकर कही गई बातें काकतालीय न्यायवत् ही सही सिद्ध हो जाएँ तो कम से कम यह तो सिद्ध कर ही देती हैं कि यह विषय एकदम तो निस्सार नहीं है। एक चारण वृद्ध को अम्बालाल का अचानक हाथ या देह-चिह्न विशेष दिखाई दिया। तदनुसार उसने जो कुछ कहा—उस पर आज अवश्य आश्चर्य है। उसने अम्बालाल को लगभग बारह वर्ष की वय में



उसकी दादी को यह बात कही कि यह बच्चा सन्त या शासक—दो में से एक होके रहेगा। तब इस बात को कोई सत्य मानने के लिए तैयार नहीं था। इतना ही नहीं, इस कथन को मनोरंजन का विषय बनाकर विस्मृत-सा कर दिया गया।

राज्य-सेवा में

अम्बालाल जब 'अपर' पद चुका तो किसी समुचित कार्य में लग जाना चाहता था। दादी चाहती थी कि यहीं कोई धन्धा शुरू किया जाए। किन्तु अम्बालाल कहीं बाहर किसी सुयोग्य नेतृत्व में काम करना चाहता था।

सद्भाग्य से लक्ष्मीचन्दजी देपुरा मिल गये। ये श्रेष्ठ राज्य कर्मचारी थे। बच्चे की योग्यता और इच्छा को परख कर अपने साथ ले गये और रामपुरा में दाणी के रूप में नियुक्त कर दिया। रामपुरा मेवाड़ का ब्यावर की तरफ का अन्तिम नाका है। वह महत्वपूर्ण चौकी थी। अच्छी मुस्तींदी से वहाँ का कार्य सँभाला।

लक्ष्मीचन्दजी देपुरा, जो इन्स्पेक्टर थे, बड़े खुश थे। राजवर्गीय लोगों में अम्बालालजी प्रशंसा पाने लगे तो मोतीलालजी देपुरा इन्हें बागीर ले गये। वहाँ मुहरीर के पद पर काम किया।

हीरालालजी चिचाणी 'शिशुहितकारिणी सभा', मेवाड़ में गिरदावल के पद पर थे, बड़े ही ख्याति प्राप्त कार्यकर्ता थे। अम्बालाल जी को सुयोग्य समझकर उन्होंने अपने पास बुला लिया और अपने निर्देशन में कार्य दिया। इस कार्य के अन्तर्गत भीलवाड़ा, जहाजपुर, मॉडलगढ़, चित्तौड़ आदि परगनों के कई ठिकानों में बड़ी समझदारीपूर्वक काम किया।

दुर्घटना से बचे

जीवन कभी-कभी मृत्यु के मुख में पहुँचकर आश्चर्यजनक ढंग से बच जाया करता है। ऐसी घटनाएँ अम्बालालजी के जीवन में भी बनीं। तैरना आता नहीं था। किन्तु बच्चों के साथ पीछोला चले गये। उनके साथ पानी में उतर गये। गहराई में जाते ही डूबने-उबरने लगे। जीवन और मृत्यु जुड़ने ही वाले थे कि कुछ व्यक्ति, जो स्नान कर रहे थे, ने देख लिया और उन्होंने बाहर निकाल कर एक तरह से इन्हें नया जीवन प्रदान किया।

एक बार थामला में अम्बालाल जी तीन मंजिल की ऊँचाई से गिर गये, बचना कठिन था, किन्तु सद्भाग्य की बात थी कि ये एक व्यक्ति के ऊपर जा गिरे। उसे भी चोट लगी, किन्तु ये बच गये।

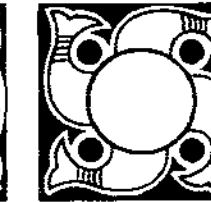
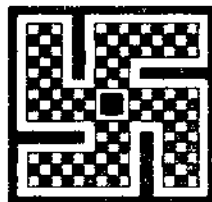
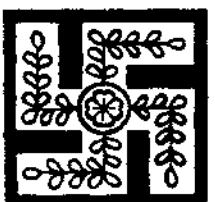
कुछ दिन व्यापार भी

पहले माताजी की और बाद में पिताजी की मृत्यु ने एक ऐसी स्थिति पैदा कर दी कि इनका राज्य सेवा में रहना असम्भव हो गया। फलस्वरूप इन्हें सब कुछ छोड़कर माहोली आ जाना पड़ा। थामला की जिम्मेदारियों का वहन करना भी एक आवश्यकता थी। एक छोटा साई था—रंगलाल, उसे सक्षम बनाने का भी प्रश्न था। अम्बालाल जी मावली-थामला में रहकर अपने सभी तरह के उत्तरदायित्व को निभा रहे थे। फिर भी आर्थिक दृष्टि से कुछ न कुछ करते रहने को जी चाहता था। सुयोग भी मिल गया। मादसोड़ा वाले श्री खूबचन्द जी व्होरा ने इन्हें अपनी दुकान फतहनगर बुला लिया। ईमानदारी इन्हें जन्मजात मिली थी। व्यावहारिक प्रतिभा भी ठीक थी। थोड़े समय में वहाँ इन्होंने अपनी विश्वासपात्रता का अच्छा परिचय दिया। खूबचन्द जी अपने घरेलू एवं व्यावसायिक प्रायः सभी कार्यों में इन पर ही निर्भर करते थे। सद्ब्यवहार और चातुर्य से प्रायः सभी प्रभावित थे। यद्यपि व्यावसायिक क्षेत्र में इनका अधिक टिकाव नहीं हुआ, किन्तु वह थोड़ा समय भी नैतिकतापूर्ण और चरित्रनिष्ठ रहा।

गुरु-समागम

जब कुछ नया होने को होता है तो अचानक अनपेक्षित संयोग मिल जाया करते हैं। हथियाना मादसोड़ा से चार मील पर गाँव है। वहाँ कोई शादी थी। जाता तो कानमलजी को था जो खूबचन्दजी के बड़े पुत्र थे, किन्तु उन्होंने सहज ही आग्रह कर लिया साथ में चलने का। अम्बालालजी चाहते हुए भी इन्कार नहीं कर सके। दोनों हथियाना पहुँच गये।

संयोग की बात थी। उसी दिन मेवाड़ प्रसिद्ध सन्त-रत्न पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज साहब अपने शिष्य



श्री भारमल जी महाराज सहित हथियाना पधारें थे। उन्हें भी बहुत अच्छे शकुन हो रहे थे। किन्तु रहस्य रहस्य ही था। श्री भारमल जी महाराज श्री अम्बालाल जी के ममेरे भाई होते थे। यह बहुत ही संक्षिप्त रिश्ता था और वहाँ अवकाश में थे। अतः इसी छोटे-से रिश्ते को याद कर अम्बालालजी श्री भारमलजी महाराज के पास पहुँच गये। बातें चलीं, भारमलजी महाराज ने पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज को बताया कि यह मेरा ममेरा भाई है। पूज्यश्री ने सहज ही कह दिया—“तो, अम्बालालजी! सच्चे भाई बन जाइये!” वस इसी एक वाक्य ने अम्बालालजी के मन पर जादू-सा असर कर दिया। अम्बालालजी अब एक अनजानी नई दिशा में सोचने लगे। दिन भर मनोमंथन चलता रहा। अन्ततो-गत्वा एक दृढ़ निश्चय उत्तर आया—संयम लेना।

पूज्यश्री के सामने मन को स्पष्ट खोलने हुए अम्बालालजी ने अपने विचार प्रकट किये। पूज्यश्री को यह कल्पना तक न थी कि मेरा एक वाक्य इसको यों मोड़ देगा। पूज्यश्री ने संयम की कठोरता, परिषर्हों की भीषणता और संयम में आने वाली विधन-बाधाओं का विस्तृत वर्णन करते हुए आग्रह किया कि जो कुछ निश्चय किया जाए वह किसी लहर में बहकर न हो। निश्चय के पूर्व बहुमुखी चिन्तन से वस्तुस्थिति का, साधन और सामर्थ्य का विस्तृत विचार कर लेना चाहिए।

पूज्यश्री जिन बातों की तरफ सोचने को कह रहे थे, अम्बालालजी पहले ही सब कुछ सोच चुके थे। मंथन तो पहले ही चुका था, अब तो केवल तैयार मक्खन था, जो पूज्यश्री के सम्मुख रखा गया था।

बात अब केवल बात नहीं थी, दृढ़ निश्चय था। वह छुप भी नहीं सकता था और न छुपाना था। तेजी से चारों तरफ यह हवा फैल गई। कानमलजी ने पुनः भादसोड़ा चलने का आग्रह किया किन्तु दृढ़ निश्चयी अम्बालालजी टस से मस नहीं हुए।

कानमलजी वोहरा ने सारे समाचार माहोली दादी को लिख भेजे। भाई रंगलालजी और कुछ सज्जन हथियाना पहुँचे। घर ले जाने के कई यत्न किये, किन्तु उन्हें भी सफलता नहीं मिली। एक बार भादसोड़ा भी कई लोग आये और इन्हें जबरन उठा ले जाने का प्रयत्न करने लगे, किन्तु वे सफल न हो सके।

त्याग के मार्ग पर

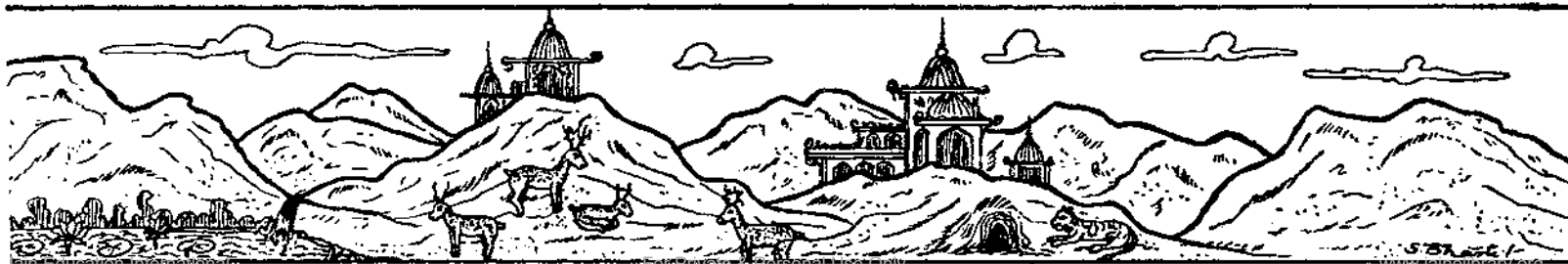
जैन मुनि का जीवन त्याग की पराकाष्ठा का जीवंत प्रतीक होता है। उसमें पूर्णता पाना एकाएक सम्भव नहीं होता। दीर्घ अभ्यास व सुदृढ़ मानसिक संबल के बिना जैन मुनित्व की साधना सध जाए, यह सम्भव नहीं।

वैराग्यमूर्ति अम्बालालजी को साधुत्व का संपुष्ट अवलम्बन मिलना अभी कठिन लग रहा था। किन्तु साधना का सम्बन्ध केवल वेश से तो है नहीं। सचित्त जल का त्याग करके अन्य आरम्भादि के त्याग कर दिये। प्रतिदिन दधा-व्रत करना और भिक्षा से आहार लाना प्रारम्भ कर दिया। त्याग के इस प्रकट स्वरूप से जैन समाज तो प्रभावित था ही, सैकड़ों अजैन भी बहुत प्रभावित होकर धन्य-धन्य कहते थे।

बावीस मील का सफर

“श्रेयांसि बहुविधानि भवन्ति महतामपि” श्रेष्ठ कार्यों में प्रायः विधन आया ही करते हैं। वैरागी अम्बालाल जी के प्रखर त्याग की सर्वत्र चर्चा फैल चुकी थी। माहोली में दादी ने सुना तो छोटे भाई रंगलाल को प्रेरित कर साथ में कुछ और सम्बन्धियों को भेजकर अम्बालालजी को घर लाने की बात बना ली। तब अम्बालालजी आकोला थे। यहीं पर सब दल बनाकर पहुँचे और अम्बालालजी को जबरदस्ती उठाकर लकड़ों में डालकर माहोली ले आये। माहोली में अम्बालालजी अब इनके पूर्ण शिकजे में थे। वैराग्य के लिए कई अन्धविश्वासपूर्ण टोटके किये जाने लगे। उन अज्ञानियों को यह विश्वास कैसे हो गया कि बाल कटाने से या अन्य बाह्य क्रिया से मानसिक स्तर पर पनपने वाला वैराग्य भी हट सकता है? समझदारों की बुद्धि में तो यह बैठता ही नहीं। अमित लोगों ने सब कुछ किया, किन्तु वह नहीं हो सका, जो उन्होंने सोचा। अम्बालालजी अपना निश्चय नहीं बदल सके।

खमनौर (हल्दीघाटी) में कोई निकट के सम्बन्धी हैं, उन्होंने समझाने का दायित्व लिया और अम्बालालजी



को खमनौर ले गये। किन्तु हल्दीवाटी तो वीरभूमि ठहरी। वहाँ किसी का वीरत्व हट पाए, यह तो सम्भव नहीं था, फिर चाहे वह वीरत्व त्याग का हो या रण का!

एक दिन अम्बालालजी ने एक सुहृद् निश्चय किया और किसी को बिना बताये ही खमनौर छोड़ दिया। बावीस मील चले होंगे, सनवाड़ पहुँच गये। पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज वहीं विराजमान थे। जहाँ चाह वहाँ राह! उत्साह होता है तो शक्ति और साधन आ जुटते हैं।

महाराणा के चंगुल में

अम्बालालजी खमनौर से नदारद हो गये। माहोली खबर पहुँची। अधिक दूँढ़ने की आवश्यकता न थी, अम्बालालजी के गन्तव्य को सभी जानते थे। सनवाड़ पूज्यश्री की सेवा में वे पाये गये। पारिवारिक-जनों में फिर नई हैरानी व्याप्त हो गई। हाथ आये अम्बालालजी फिर चले गये। कुछ लोगों ने सोचा—अम्बालालजी संसार में रह पाएँ, यह सम्भव नहीं, किन्तु दादी का मोह अभी थमना नहीं चाहता था। उसने अब एक नया ही रास्ता ढूँढ़ लिया, अम्बालालजी को रखने का। दो भाइयों को साथ लेकर बुढ़िया उदयपुर पहुँची। तत्कालीन महाराणा फतहसिंह जी बग्घी में बैठ-धूमने को निकले ही थे कि वह बग्घी के सामने जाकर खड़ी हो गई। महाराणा के पृच्छने पर एकमात्र सहारा अम्बालालजी के संयम लेने के आग्रह को उसने प्रकट बता दिया। बुढ़िया ने कहा—अम्बालाल साधु बन जाएगा तो मेरा कोई सहारा न रहेगा, वही मेरा एकमात्र आधार है। आप बचाएँ! महाराणा ने कर्मचारियों को अम्बालालजी को उदयपुर ले आने का आदेश दे दिया।

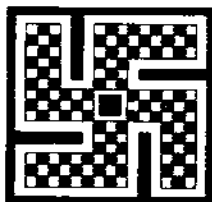
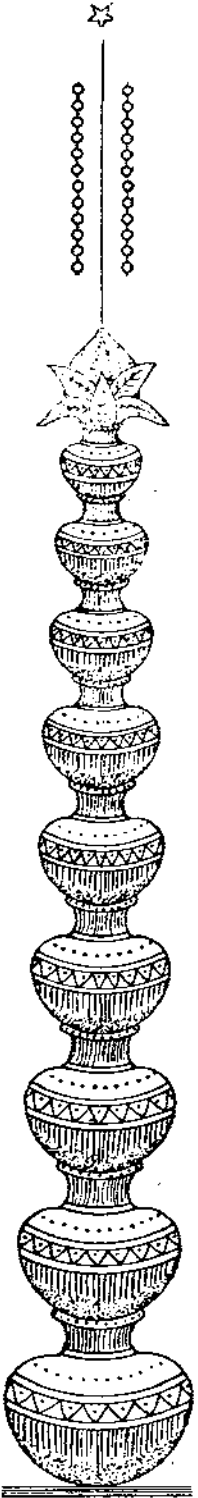
आदेश स्वयं महाराणा का था। अतः पूर्ण होने में अब कोई संशय नहीं रहा। माहोली थाने में आदेश पहुँचते ही पुलिस के दल ने 'हिन्दू' गाँव में, जहाँ पूज्यश्री विराज रहे थे और अम्बालालजी त्याग-वैराग्यपूर्वक ज्ञानाभ्यास कर रहे थे, अम्बालालजी को हस्तगत कर लिया और माहोली लेकर चले आये। माहोली में थाना ही अम्बालालजी का निवास था। भोजन दादी के वहाँ पहुँचकर लेते, वहाँ भी पुलिस का कड़ा पहरा रहता था। लगभग एक माह माहोली थाने में अम्बालालजी को ठहराया गया। इस बीच कई तरह के परिषह पुलिस वालों ने दिये। वे यह चाहते थे कि लिख दो कि दीक्षा नहीं लूँगा। किन्तु अम्बालालजी इसके लिए बिल्कुल तैयार नहीं थे। कभी धोवन पानी नहीं मिलता तो प्यासे ही रह जाते।

माहोली थाने में रहते हुए इन्हें सामायिक करने में भी कठिनाई का सामना करना पड़ता था। किसी से बात करना तो दूर, मिलने तक की सख्त मनाई थी। एक माह के बाद उदयपुर पहुँचने का आदेश पाकर पुलिस इन्हें उदयपुर ले गई और महाराणा के सामने प्रस्तुत कर दिया।

महाराणा से सीधी बातचीत

महाराणा फतहसिंहजी बड़े जबरदस्त व्यक्तित्व के धनी, ओजस्वी और स्पष्टवक्ता थे। उनके आसपास एक आतंकपूर्ण वातावरण छाया रहता था। बड़े से बड़े प्रखर व्यक्ति भी उनके सामने आने में कांपते थे। कहते हैं, एक बार लार्ड कर्जन उदयपुर आया और उसके पास कई शिकायतों का पुलिन्दा था जो महाराणा के सामने बड़े जोरदार ढंग से पेश करना चाहते थे। किन्तु महाराणा के प्रभावशाली व्यक्तित्व का उसके मन पर ऐसा असर हुआ कि वह पुलिन्दा केवल सहायक के बस्ते में ही बन्द रह गया।

ऐसे प्रभावशाली नर-नाहर महाराणा फतहसिंहजी के सामने अम्बालालजी को प्रस्तुत किया गया तो सभी को विश्वास था कि महाराणा की एक ही हुँकार से यह अपना विचार बदल देंगे। किन्तु ऐसा कुछ हुआ नहीं। महाराणा ने अम्बालालजी से कई धार्मिक प्रश्न किये। संयम का हेतु पूछा, गृहस्थाश्रम की विशेषता प्रकट की। अम्बालालजी ने निर्भयतापूर्वक सभी प्रश्नों का यथोचित उत्तर देकर दीक्षित होने का हृद् निश्चय प्रकट किया तो महाराणा ने एक नया प्रसंग रखा। व्यापार के लिये यथावश्यक धन और कुछ विशेष अधिकार देने का लालच भी दिया। किन्तु अम्बालालजी दृढ़तापूर्वक इन्कार कर गये। अन्त में महाराणा ने कहा—“हम तुम्हें यदि दीक्षा लेने की आज्ञा ही न दें तो?” इस पर



दृढ़ निश्चयी अम्बालालजी ने कहा कि मैं भोजन का परित्याग कर दूंगा। महाराणा अम्बालालजी के दृढ़ निश्चय को देख कर बड़े प्रभावित हुए और अपनी रोक हटा दी।

साम्प्रदायिकों का आग्रह

उदयपुर के कुछ साम्प्रदायिक तत्त्वों को जब अम्बालालजी के दृढ़ निश्चय का पता चला तो उन्होंने कुछ और ही योजना बना डाली।

महाराणा के प्रतिबन्ध के उठते ही, वे अम्बालालजी को अपने मान्य गुरुजी के पास पहुँचाने का भरपूर प्रयत्न करने लगे। इसी उद्देश्य से उन्होंने इन्हें एक साम्प्रदायिक पाठशाला में भर्ती करा दिया। किन्तु अम्बालालजी तो अपनी गुरु-धारणा में एकान्त दृढ़ थे, अवसर मिलते ही बिना ही कोई सूचना दिये सनवाड़, जहाँ पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज विराजमान थे, पहुँच गये।

स्वीकृति और दीक्षा

अब यह लगभग निश्चय हो चुका था कि अम्बालालजी दीक्षित होंगे ही। महाराणा से मुक्ति मिलने पर पारिवारिक प्रतिबन्ध भी ढीला हो चुका था। समाज के समझदार वर्ग ने भी परिवार को और मुख्यतया दादी को समझाने में अब प्रमुख हिस्सा लिया। फलतः रुकावट हल हो गई। स्वीकृति मिलते ही अम्बालालजी में एक नये उत्साह का संचार हो गया। संयम के लिए उत्सुक मन को निर्बाध योग मिलने पर प्रसन्नता-होना तो स्वाभाविक ही था।

हमारे चरित्रनायक का वैराग्य नकली और कच्चा वैराग्य नहीं है। आत्मा के धरातल से उठी हुई एक लौ थी जो अपने लिए समुचित मार्ग ढूँढ़ रही थी। ज्योंही समुचित मार्ग मिला, वह तीव्रता से जगमगाने लगी।

भादसोड़ा में ही दीक्षा-महोत्सव होने वाला था। किन्तु तत्कालीन भींडर रावजी (ठाकुर), जो भादसोड़ा पर अपना दखल रखते थे, के असहयोग से वहाँ दीक्षा होना असम्भव देखा। मंगलवाड़, जो भादसोड़ा से दस मील पर स्थित अच्छा-सा कस्बा है, का संघ भी आग्रहशील था। अतः दीक्षा-महोत्सव वहीं करना निश्चित किया गया। वैरागी अम्बालालजी एक दिन भी व्यर्थ खोना नहीं चाहते थे। न वे किसी बड़े आडम्बर के आकांक्षी थे। फिर भी संघ ने अपने सामर्थ्यानुसार समायोजन किया ही।

संवत् १९८२ में मार्गशीर्ष मास के शुक्लपक्ष की अष्टमी सोमवार को अम्बालालजी का अभीष्ट मनोरथ सफल हो गया।

पानी तीखा है

जैन मुनि की चर्या एक ऐसी अद्भुत चर्या है, जिसे देखकर प्रत्येक व्यक्ति आश्चर्य-चकित होता है। संयम और परीषह दोनों ही उसको तेजस्वी एवं प्रभावशाली बनाते हैं।

कोई मुमुक्षु संयमी रहे और उसे परीषह नहीं हों, ऐसा तो ही नहीं सकता। कब क्या परीषह आ जाए, संयमी जीवन के लिए कोई अनुमान नहीं किया जा सकता।

पूज्य श्री धर्मदासजी महाराज प्रथम बार भिक्षा (गोचरी) को गये तो किसी ने उन्हें राख बहरा दी। जाएँ भोजन के लिए और बहरादे राख तो क्या यह कम अपमान है? किन्तु मुनि ऐसे अवसर पर समभाव रहा करते हैं। यदि मन में द्वेष आ जाए तो उन्होंने भिक्षा-परीषह को जीता ही नहीं।

श्री अम्बालालजी महाराज भी जब मुनि बनने के बाद पहली बार गोचरी गये तो किसी ने मिर्ची मिला पानी बहरा दिया। स्थान पर लाकर उसी का अनुपान करने लगे। पानी देखकर पूज्यश्री ने कहा—“कहो अम्ब मुनि! पानी तीखा है? तुम्हें बुरा तो नहीं लग रहा है? संयम में साधना है तो 'सम' रहना, अभी तो परीषह का प्रारम्भ है।”

“गुरुदेव! पानी तो तीखा है, पर मन तो मेरा मीठा ही रहा! मैं बड़े से बड़े परीषह को सहने के लिए तैयार हूँ, आपकी कृपा से सब सह जाऊँगा।” नये मुनिजी ने कहा।

बड़ी दीक्षा भादसोड़ा में

नव दीक्षित मुनि जघन्य सात दिन, मध्यम चार मास, उत्कृष्ट छह मास संयम की लघु भूमिका में रहा करते



है। यह लघु भूमिका जैनेन्द्रीय संयम-साधना का प्रारम्भिक रूप रहता है। तत्पर संयमार्थी प्रायः सातवें दिन ही संयम की परिपूर्ण भूमिका स्वरूप छेदोपस्थानीय में स्थित हो जाते हैं। श्री अम्बालालजी महाराज भी सातवें दिन संयम की इस उन्नत भूमिका को पा गये। यह समायोजन भादसोड़ा में हुआ।

एक ऐतिहासिक स्मृति

मेवाड़ का गौरव जैसे भारत में सर्वोपरि है, जैन-जगत में मेवाड़ का जैन सम्प्रदाय भी उसी पक्ष के अनुरूप सर्वदा श्रेष्ठ रहा है। यह निविवाद सत्य है कि सम्प्रदाय के तत्कालीन साधु-समुदाय में पूज्य श्री मोतीलालजी म० जो उस समय आचार्य पद पर तो थे नहीं फिर भी सम्प्रदाय में इनका स्थान महत्त्वपूर्ण था। वे मेवाड़ की गौरवास्पद स्थिति के अनुरूप अपनी सुदृढ़ संयम-साधना के प्रति पूर्ण सजग थे। मेवाड़ सम्प्रदाय के ही कुछ मुनियों के साथ पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज का कुछ बातों को लेकर मतभेद हो गया था। मुनि-मार्ग के पथिकों का अनैक्य अहैतुक या तुच्छाधारित तो हो नहीं सकता, उसके पीछे कुछ गम्भीर कारण थे। पूज्यश्री की शास्त्रसम्मत एक स्पष्ट विचारधारा थी। वे संयम की पवित्रता के जर्बर्दस्त पक्षधर थे। जहाँ कहीं उन्हें उस पवित्रता की उपेक्षा नजर आई, वे चुप नहीं रह सकते थे। मतभेदों का मूल कारण यह भी था।

मतभेद मनभेद तक पहुँच रहा था। पारस्परिक कलह मेवाड़ के धर्मोपासकों के लिये बड़ा हानिप्रद होने लगा। मेवाड़ का जैन संघ तथा उसके अग्रगण्य बड़ी चिन्ता में थे। मुनियों का पारस्परिक अनैक्य समाज के विकास में सँकड़ों बाधाओं को जन्म दे रहा था। प्रधान हितचिन्तक श्रावक-श्राविका इस अनैक्य का कोई समाधान चाहते थे। बहुत विस्तृत विचार-विमर्श हुआ।

प्रधान श्रावकों ने इस अनैक्य को समाप्त करने का दृढ़ निश्चय कर समुचित कदम उठाया। फलतः आयड़ में मेवाड़ के श्रावकों की एक महत्त्वपूर्ण बैठक हुई। दोनों पक्ष के मुनिराज भी वहाँ उपस्थित थे। संघ ने अपनी पीड़ा सन्तों के सामने रखी। गुस्थियाँ गहरी थीं। किन्तु सुलझाना उससे भी ज्यादा आवश्यक था।

श्री फोजमलजी कोठारी, श्री गहरीलाल जी खिमेसरा की उपस्थिति में विचारों का आदान-प्रदान हुआ। लम्बे समय से विचारों में जो दरारें थीं उनको पाटना आसान न था। किन्तु वात्तावरण का ऐसा असर था कि मुनिवृन्द को समाधान के निकट पहुँचना ही पड़ा।

समाधान केवल ऐसे ही नहीं करना था कि सब की चुप; समाधान युक्तियुक्त आवश्यक था।

पूज्य मोतीलालजी महाराज सत्य को स्पष्टता तो देना चाहते ही थे, साथ ही मुनि-जीवन अपनी शास्त्रसम्मत मर्यादा के अधीन बरने, यह उनका अपना आग्रह था।

हर्ष का विषय है कि युक्तियुक्त शास्त्रसम्मत समाधान सिद्ध हुआ और संघ में हर्ष छा गया।

गुरुदेव कहा करते हैं कि आयड़ की यह बैठक मेवाड़ के श्रावकसंघ की अद्भुत शक्ति का मूर्तरूप था। चतुर्विध संघ में श्रावक समाज कितना और कैसा महत्त्व रखता है, इसका परिचय मुझे इस बैठक से मिला।

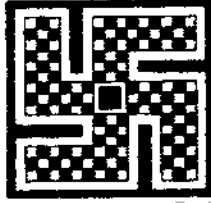
जहाँ से मिला वहीं से लिया

जिज्ञासा व्यक्ति के विकास का मनोवैज्ञानिक उपादान है। जिसमें यह जागृत है, उसमें निमित्त मिल ही जाया करते हैं।

निमित्त की खोज से अधिक उपादान की जागृति आवश्यक होती है। जिसका उपादान जागा है, उसे निमित्त मिला है। यह अनुभव सिद्ध तथ्य है। नव-दीक्षित मुनि श्री अम्बालालजी म० दीक्षित होकर अध्ययन की ओर प्रवृत्त हुए।

पूज्य श्री मोतीलालजी म० ने मुनिश्री की हार्दिक आकांक्षा को पहचान कर शास्त्राभ्यास की तरफ प्रेरित किया। प्रारम्भ में स्तोक (शोकड़ा) ज्ञान का आलम्बन लिया। जैन सिद्धान्त के अध्ययन के लिये स्तोक ज्ञान एक ऐसी सड़क है जो अभ्यासी को गम्भीर तत्त्वज्ञान तक पहुँचा देती है।

अल्प बुद्धि वाले साधारण अभ्यासी भी स्तोक-ज्ञान द्वारा सिद्धान्तवादी हो जाया करते हैं। शास्त्र रूपी ताने को खोलने में स्तोक ज्ञान चाबी का काम करता है।



स्तोक ज्ञान साधना के साथ मुनिश्री ने पूज्यश्री के सान्निध्य में शास्त्रवाचन भी प्रारम्भ कर दिया ।

सं० १९८३ का पूज्य श्री का चातुर्मास अर्थात् नवदीक्षित मुनिश्री का प्रथम चातुर्मास जयपुर हुआ । दीक्षा को केवल नौ माह हुए थे, पूज्यश्री ने आज्ञा दी—“मध्याह्न को सभा में शास्त्रवाचन करो !”

जयपुर की परिषद् कोई तुच्छ परिषद् तो थी नहीं ! भँवरीलालजी मूसल, गट्टूलालजी, गुलाबचन्दजी जैसे शास्त्रज्ञ श्रावक तथा गुमानबाई, सिरैबाई जैसी विदुषी श्राविकाएँ जहाँ उपस्थित रहती हों, वैसी परिषद् में निर्दोष शास्त्र-वाचन करना कसौटी पर चढ़ने जैसा था केवल नौ माह से दीक्षित मुनि के लिये तो और कठिन परीक्षा की घड़ी थी । किन्तु मुनिश्री अनुत्तीर्ण नहीं हुए । बड़े चातुर्य तथा साहस के साथ शास्त्र-वाचन करते रहे ।

श्री भँवरीलालजी से शास्त्रों की वाचना भी लिया करते । मूसलजी कितनी भक्ति और प्रेम से बाँचनी देते थे, उसका वर्णन करते हुए आज भी गुरुदेव उनके प्रति कृतज्ञ हो उठते हैं ।

सं० १९८४ का चातुर्मास जोधपुर था । वहाँ लच्छीरामजी सांड अच्छे शास्त्रज्ञ थे । मुनिश्री ने उनसे भी शास्त्र ज्ञान प्राप्त किया ।

इसी तरह मुनिश्री ने श्री भैरोदानजी सेठिया आदि कई विद्वान् शास्त्रज्ञ श्रावकों से शास्त्रज्ञान प्राप्त किया । जिज्ञासा जब बलवती होती है तो छोटे-बड़े ऊँच-नीच के सारे भेद गौण हो जाया करते हैं ।

यह तीव्र जिज्ञासा का ही परिणाम था कि श्रावकों से भी शास्त्रवाचन लेने में कभी संकोच नहीं किया ।

वह अनेकता भी मधुर थी

गुरुदेव ने बताया कि जब हमारा जोधपुर चातुर्मास था उसी वर्ष जैन दिवाकरजी महाराज तथा पूज्यश्री कानमल जी महाराज (मारवाड़ी) के भी चातुर्मास वहीं थे ।

तीनों न केवल अलग-अलग स्थानों में ठहरे थे, व्याख्यान भी तीनों के भिन्न-भिन्न स्थानों में होते थे । किन्तु परस्पर ऐसा अद्भुत प्रेम था कि देखते ही बनता । जब परस्पर मिलते तो सगे माद्यों से भी अधिक स्नेह प्रकट होता । कोई किधर भी व्याख्यान में जाए, कोई टोकाटोकी नहीं थी, न निन्दा विकथा थी । न आरोप-प्रत्यारोप, चारों माह सन्तों और संघ में बड़े प्रेम की गंगा बही । उसी वर्ष श्री आनन्दराजजी सुराणा के श्रम तथा सभी मुनिराजों के सदुपदेश से जोधपुर की जनता ने प्रतिवर्ष पर्युषण में बाजार बन्द रखने का क्रांतिकारी ऐतिहासिक निश्चय किया, जो अब तक चल रहा है ।

यद्यपि उस समय अलग-अलग सम्प्रदायें थीं, आचार्य भी अपने अलग-अलग थे । किन्तु परस्पर जो आत्मीयता रही, वह आज भी याद आती है । सचमुच वह अनेकता भी मधुर थी ।

बीकानेर में

भारत में जैसे वाराणसी, उज्जैन, कश्मीर आदि सरस्वती के केन्द्र माने जाते हैं, उसी तरह बीकानेर जैन विद्या का सरस्वती-केन्द्र रहा है । विद्या और लक्ष्मी के सुपात्र सेठ अगरचन्द भैरुदान सेठिया जैसे शासन-सेवी ने बीकानेर के गौरव को पल्लवित करने में बड़ा योग दिया ।

पूज्यश्री के जोधपुर के सफल चातुर्मास की कीर्ति-सुवास बीकानेर पहुँच चुकी थी । बीकानेर संघ साग्रह विनय कर पूज्यश्री को बीकानेर ले गया, गुरुदेव श्री भी साथ थे । गुरुदेव बताया करते हैं कि वहाँ ज्ञानाभ्यास का बड़ा अच्छा सुयोग मिला । सेठियाजी के विशाल पुस्तकालय में शास्त्रों का सुन्दर संकलन देखा । वहाँ सं० श्री चांदमलजी महाराज (बड़े) विराज रहे थे । बड़ा प्रेममय मधुर-मिलन रहा ।

संघर्ष टल गया

सं० १९८५ वें वर्ष का चातुर्मास सादड़ी (मारवाड़) था । मारवाड़—सादड़ी गोडवाड़ प्रान्त का प्रमुख क्षेत्र है । एक हजार के लगभग मूर्तिपूजक समाज के घर होंगे । स्वा० जैन समाज के तीन सौ घर हैं । पूरे गोडवाड़ प्रान्त में



मूर्तिपूजक-समाज का बाहुल्य है। स्थानकवासी समाज अल्पता में है। किन्तु मूर्तिपूजक-समाज के कुछ कट्टर तत्त्वों को स्थानकवासियों का थोड़ा अस्तित्व भी खटकता था। वे येन-केन-प्रकारेण उपद्रव पर उतारू थे।

संवत्सरी का पवित्र दिन था। सायं प्रतिक्रमण का समय, मूर्तिपूजकों के कुछ शरारती तत्त्व स्थानक के बाहर कणियां चौकड़ी मचाने लगे, चिल्लाने लगे। प्रतिक्रमण में आये श्रावकों में उत्तेजना की लहर फैल गई। वे प्रतीकार को उतारू हो गये।

परिस्थिति की गम्भीरता को देख पूज्यश्री ने श्रावकों को सम्बोधित करते हुए कहा—“संवत्सरी का पवित्र दिन है, इसका सन्देश है—‘क्षमा’, आज यह परीक्षा की घड़ी है, कहीं फेल नहीं हो जाएँ।” गुरुदेव बताया करते हैं कि पूज्यश्री के इस सन्देश से श्रावकों ने बड़े धैर्य का परिचय दिया। शरारती थककर चले गये। किन्तु उन्हें उन्हीं के समाज के समझदार, सभ्य व्यक्तियों से जबरदस्त उपालम्भ मिला।

प्रतिक्रमण तुम सुनाओ

पूज्यश्री एकलिंगदासजी महाराज ऊँठाला (वल्लभनगर) में अस्वस्थ हो गये थे। सभी शिष्य-समुदाय सेवा में था। सायं प्रतिक्रमण के समय पूज्यश्री, मुनि श्री अम्बालालजी महाराज को ही प्रतिक्रमण कराने की आज्ञा देते। पूज्यश्री कहते—अम्बालालजी पूर्ण विधि के साथ स्पष्ट उच्चारण करते हुए प्रतिक्रमण कराते हैं। इनकी वाणी में मिठास भी है।

मुनिश्री अपनी साधना में अप्रमत्त भाव से प्रवृत्त होते। यही इनकी सर्वदा विशेषता रही है।

सबल आश्रय में समुचित विकास

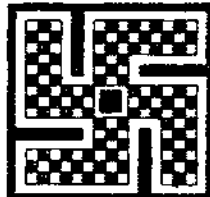
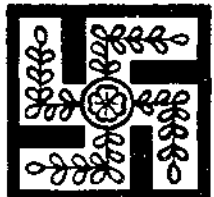
पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज जिनके पवित्र सान्निध्य में जीवन-यात्रा चल रही थी, सबल व्यक्तित्व के धनी, सफल प्रवक्ता तथा उग्र विहारी थे। भ्रमण उनके जीवन का प्रमुख अंग था। यही कारण है कि मुनिश्री का प्रारम्भिक जीवन ही दीर्घ विधरण से शुरू हुआ और वह निरन्तर बढ़ता ही गया।

पूज्यश्री के पवित्र सहवास में बम्बई, मनमाड, जयपुर, जोधपुर, बीकानेर, अहमदाबाद, आदि कई क्षेत्रों का विस्तृत प्रवास किया। इस विस्तृत प्रवास के कई खट्टे-मीठे अनुभव हैं और जब वे उन्हें सुनाने लगते हैं तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि सचमुच ‘सही दिशा में जीवन का सही निर्माण’ इतना आसान नहीं है, जितना कि कहा सुना जाता है। वस्तुतः जीवन-निर्माण एक ऐसी लम्बी प्रक्रिया है, जो उपयुक्त दिशा में सतत जागरूकता के साथ बढ़ने से ही सफल हो सकती है।

पत्थर के बदले प्यार

सं० १९८७ श्रावण कृष्ण २ को पूज्य आचार्य श्री एकलिंगदासजी महाराज का स्वर्गवास हो चुका था। वर्ष भर मेवाड़ भ्रमण कर सं० १९८८ का चातुर्मास पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज (जो चरितनायक के गुरु हैं) के साथ भादसोड़ा किया। बम्बई के सेठ वीरचन्द्र थोबण, अमृतलाल भाई, जीवनलाल कोठारी आदि अग्रगण्य श्रावकों का अत्याग्रह था। अतः पूज्यश्री ने बम्बई की तरफ विहार की स्वीकृति दे दी। अपने गुरुदेव के साथ मुनिश्री भी बम्बई की ओर चल पड़े। भादसोड़ा से क्रमशः विहार कर निम्बाहेड़ा (नबाब) आये, एक शरारती मुस्लिम छोकरे ने मुनिश्री के सिर में पत्थर की दे मारी। रक्तस्राव होने लगा, घाव गहरा था। (छोटा-सा निशान अभी भी मौजूद है)। पत्थर-प्रहार को सुनते ही समाज में सन्नाटा छा गया। नगर में सनसनी फैल गई। अग्रगण्य कार्यकर्ता जिनमें गौरीलालजी प्रमुख थे, अपराधी को पकड़ने में सफल हो गये। अपराधी को वे पुलिस के सुपुर्द करने ही वाले थे, किन्तु पहचान के लिये उसे पहले मुनिश्री के सामने लाये। छोकरा काँप रहा था। मुनिश्री ने कहा—बच्चा तो यही है, किन्तु आप इसे क्या करना चाहते हैं ?

जनता ने कहा—“पुलिस के हवाले !” मुनिश्री बोले—“नहीं, ऐसा नहीं होगा ! आप इसे मुक्त कर दीजिये !” मुनिश्री ने हड़ता के साथ कहा—“यदि आपने इसे किसी तरह कष्ट दिया तो मुझे उपवास करना होगा।”



मुनिश्री का यह अद्भुत सन्देश सुनकर कार्यकर्ता और जनता दंग रह गये। उनके सामने उस बालक को मुक्त करने के अलावा और कोई चारा नहीं था। बालक ज्योंही मुक्त हुआ, मुनिश्री के पाँव पकड़कर अपने कुकर्म पर रोने लगा। मुनिश्री ने उसे प्यार देकर विदा किया। इसी को तो कहते हैं कवि की भाषा में—“जिन्दगी हर मरहले पर मुस्कुराती ही रही है।”

मेवाड़ से बाहर

पाठक जान ही चुके हैं, कि पूज्यश्री के साथ मुनिश्री का बम्बई की तरफ प्रस्थान हुआ। उस वर्ष का चातुर्मास बम्बई ही रहा। इसके बाद का वर्षावास अहमदनगर था। गुरुदेव बताया करते हैं कि वहाँ श्री शान्ताकुँवरजी जैसी विदुषी महासतीजी तथा कई विद्वान् श्रावकों से प्रायः तत्त्व-चर्चा होती रहती और यों चातुर्मास व्यतीत हो गया। सं० १९६१ का चातुर्मास मनमाड रहा। एक माई (चुन्नीलालजी लोढा) ने अपनी सारी सम्पत्ति संघ को समर्पित कर दी।

पूज्यश्री अभी और दूर-दूर विचरण करना चाहते थे। किन्तु हमारे चरितनायक के गुरुदेव पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज को मेवाड़ के चतुर्विध संघ ने आचार्य पद देना निश्चित कर लिया था। संघ का आग्रह अवरिहार्य था। फलतः मनमाड के बाद फिर मेवाड़ आना हुआ।

एक यह भी दृश्य देखा

गुरुदेव बताया करते हैं कि मनमाड से जब हम मेवाड़ में आये तो घासा में मेवाड़ सम्प्रदाय का चतुर्विध संघ एकत्रित होकर पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज से आचार्य पद स्वीकार करने का आग्रह करने लगा। किन्तु गुरुदेव ने निःसंकोच स्पष्ट इन्कार कर दिया। एक तरफ संघ पद देने को आतुर था, दूसरी तरफ गुरुदेव बराबर मनाही कर रहे थे।

पूज्यश्री की यह अद्भुत निस्पृहता देखकर मैं दंग रह गया। उस अनुभव के साथ आज के पदाग्रह के वातावरण की तुलना करता हूँ तो मन को एक चोट-सी लगती है। कहाँ आज का पदाग्रह और कहाँ वह निस्पृहता !

उस वर्ष का चातुर्मास सनवाड़ रहा। सं० १९६३ ज्येष्ठ शुक्ला २ को सरदारगढ़ में पूज्यश्री को विवश कर आचार्य पद दे दिया गया था। संघ में एकता के सुन्दर वातावरण की सृष्टि हुई। हमारे चरितनायक ने इस सारे कार्यक्रम में प्रमुख भूमिका अदा की।

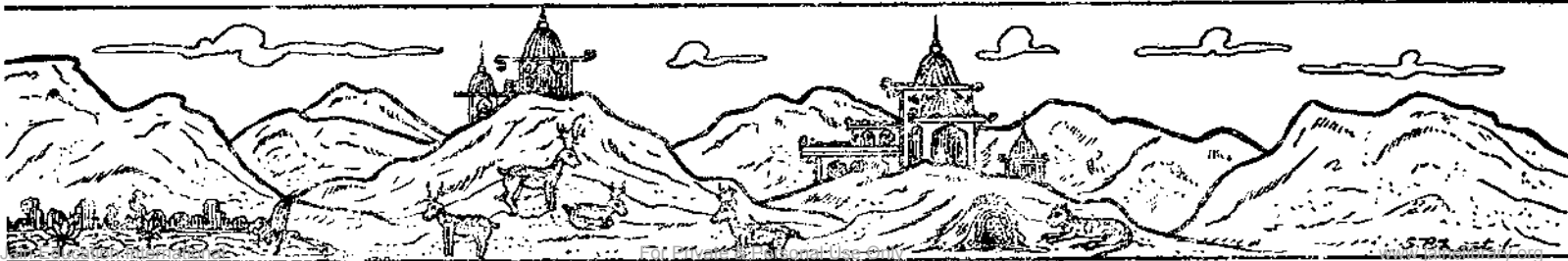
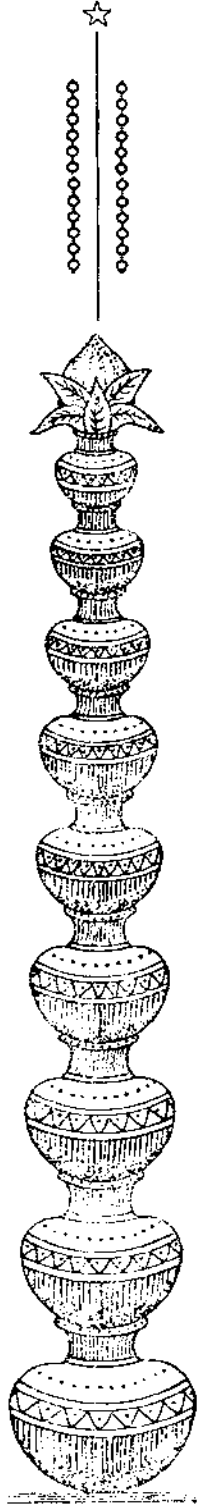
समर्पित जीवन

किसी युग में मेघकुमार मुनि ने प्रतिज्ञा की थी—“मैं इन दो आँखों की देखभाल करूँगा। शेष सारा शरीर सेवा में समर्पित है।” आगमों के प्रमाण से इसे हम जान पाये। किन्तु श्री अम्बालालजी के रूप में इस आदर्श को हम देख पाये हैं। इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है। जिसने भी इनसे साक्षात्कार किया है, प्रत्येक व्यक्ति निःसंकोच कहेगा—“श्री अम्बालालजी के रूप में हम सेवा को मूर्तिमन्त देख रहे हैं।”

अपने आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को किसी आराध्य में विलीन कर देना, समर्पण की पराकाष्ठा है। तथा वह मुनिश्री में स्पष्ट पाई गई। अपना अलग कुछ नहीं, सब कुछ उन्हीं का और उन्हीं के लिये, जिनको 'गुरु' स्वीकार कर लिया।

छाया की तरह पूज्यश्री के निरन्तर साथ रहने वाले श्री अम्बालालजी महाराज पूज्यश्री की उपस्थिति में ही नहीं, उनके स्वर्गस्थ होने के बाद तक भी जो भी महस्व का कार्य सम्पन्न हुआ, उसे गुरु का ही मानते रहे, आज भी ऐसा ही मानते हैं।

जहाँ पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज वहीं श्री अम्बालालजी महाराज; मेवाड़ ही नहीं भारत भर के हजारों परिचितों मक्तों में से किसी ने कभी भी यह जानने का प्रयास नहीं किया कि अम्बालालजी महाराज कहाँ हैं? सभी का दृढ़ निश्चय था—जहाँ गुरु वहीं शिष्य। जहाँ पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज वहीं अम्बालालजी महाराज सहभावी पर्याय की तरह सर्वदा पूज्यश्री की सेवा में बने रहे।



देलवाड़ा, आकोला, बदनीर, कौशीथल, राजकरेड़ा, अजमेर, मोही, बल्लमनगर, खेरीदा, राजकरेड़ा, गोविन्द-गढ़, जड़ील, राशमी, आकोला, मादसोड़ा और कपासन पूज्यश्री के साथ चातुर्मास होते रहे ।

सादड़ी सम्मेलन में

सामाजिक अनेकता समाज को वर्षों से खोखला बना रही थी । साम्प्रदायिक कलह वातावरण को विषाक्त बना रहे थे । ऐसे समय में संघ में ऐक्य का नारा बुलन्द हुआ । वर्षों के श्रम के उपरान्त सादड़ी सम्मेलन निश्चित हुआ । दूर-दूर से सन्त मुनिराज प्रतिनिधिगण पधारे थे इस सम्मेलन में । मेवाड़ सम्प्रदाय का जो प्रतिनिधि-मण्डल सम्मेलन में पहुँचा, उसका नेतृत्व श्री अम्बालालजी महाराज कर रहे थे । सम्मेलन में सामाजिक समस्याओं पर गहराई तक विचार-विमर्श हुआ । ऐक्य के मार्ग में अनेकों बाधाएँ थीं । किन्तु प्रबुद्ध मुनिराजों ने एक-एक कर समस्त बाधाओं पर विजय पाई और श्रमण-संघ स्थापित कर संघ-ऐक्य की पताका लहरा दी । विशाल संघ की ऐक्य संरचना में श्री अम्बालालजी महाराज का आदि से अन्त तक भरपूर सहयोग रहा । जीवन का बहुत बड़ा हिस्सा सम्प्रदाय के अधीन व्यतीत करने के बावजूद भी गुरुदेव श्री एकता के सच्चे उपासक हैं । इसका प्रमाण इनका अब तक भी श्रमण-संघ में सम्मिलित रहना है । सादड़ी सम्मेलन के अवसर पर संघ में सम्मिलित कई सम्प्रदायों आज फिर से अपने घेरे में पहुँच चुकी हैं, किन्तु गुरुदेव आज भी दृढ़ता के साथ संघ में हैं और सम्पूर्ण एकता की बात किया करते हैं ।

साम्प्रदायिक साथियों ने अलग होने का आग्रह भी किया होगा, किन्तु ये तिलमात्र नहीं हिले । ये कहा करते हैं कि साधु कहकर भी नहीं बदल सकता तो हमने तो हस्ताक्षर किये हैं, उनसे कैसे हटें ?

संघ में कुछ समस्याएँ हो सकती हैं । उनका समाधान संघ में रहकर करने का यत्न करें, यह उचित है ।

उस वर्ष का चातुर्मास खमणौर किया और उसके बाद मोलेला ।

पूज्यश्री स्थानापन्न

मोलेला चातुर्मास तक पूज्यश्री का विचरण चला । तदनन्तर पूज्यश्री पाँच वर्ष देलवाड़ा स्थानापन्न विराजे । श्री अम्बालालजी महाराज उपर्युक्त सारे चातुर्मास और मध्य व चरणकाल में तो साथ थे ही, देलवाड़ा भी पूज्यश्री की सेवा में पाँचों वर्ष सेवा की अडिग आस्था लिये टिके रहे ।

श्रावक संघ तो यह जान ही चुके थे कि अम्बालालजी महाराज का अलग से विचरण न हुआ, न होगा, फिर भी यदि कोई संघ अपने क्षेत्र के लिये गुरुदेव हेतु विशेष प्रार्थना भी करता तो उसे निराशा ही मिलती, क्योंकि गुरु और शिष्य में से न कोई भेजना ही चाहते थे, न जाना ही ।

संवत् २०१५ श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज का स्वर्गवास हो गया । श्री अम्बालालजी महाराज के लिये यह वज्रपात-सी घटना थी । ऐसे कठिन समय में श्री अम्बालालजी महाराज ने न केवल अपने को ही सम्माला अपितु गुरु-विद्योग से पीड़ित मेवाड़ की हजारों जनता को आत्मिक सम्बल प्रदान किया ।

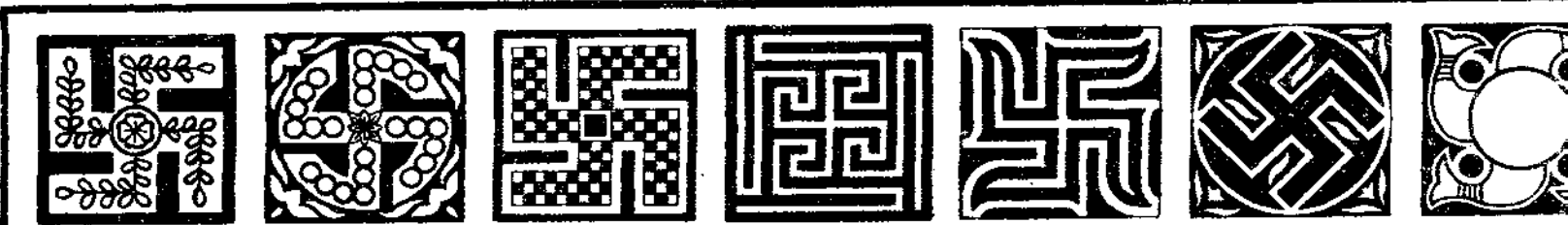
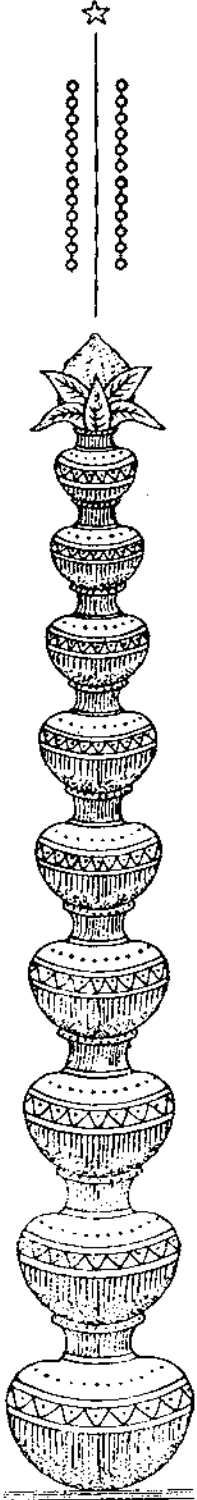
देलवाड़ा से प्रस्थान

लगातार पाँच वर्ष देलवाड़ा में गुरु-सेवा का अमृत पान कर अपने गुरुदेव श्री भारमलजी महाराज सहित श्री अम्बालालजी महाराज और अन्य शिष्य-गण कुल ठाणा ने प्रस्थान किया तो देलवाड़ा के भक्तिमान आवाल वृद्ध नर-नारियों की आँखें छलछला आईं । उस वर्ष कौशीथल वर्षावास हुआ और उसके बाद देवगढ़ ।

मुसलमानों की प्रतिज्ञा

सेवा ही जिनके जीवन का मन्त्र हो, उन्हें तो केवल सेवा चाहिए । पूज्यश्री के स्वर्गवास के बाद गुरुदेव श्री भारमलजी महाराज का नेतृत्व पा गये । मुनिश्री उन्हीं की सेवा में तल्लीन हो गये ।

“कवहुँ-कबहुँ इन जग मँह, अनहोनी घटि जायँ ।” —कभी-कभी अप्रत्याशित घटनाएँ घट जाया करती है । बदनीर में आगामी चातुर्मास के लिये कई आग्रह चल रहे थे । वयोवृद्ध गुरुदेव श्री भारमलजी महाराज ने राजकरेड़ा को



स्वीकृति प्रदान की। वह नगर धन्य हो गया। इधर बदनीर के मुस्लिम समाज ने मस्जिद में एकत्रित होकर एक प्रतिज्ञा पत्र लिखा जिस पर सबों ने हस्ताक्षर किये।^१ उसमें, बकरा ईद पर जब मुस्लिम समाज में आमतौर पर हिंसा होती है, हिंसा न करने की प्रतिज्ञा थी और वह प्रतिज्ञा-पत्र गुरुदेव के चरणों में प्रस्तुत कर दिया तथा चातुर्मास की मांग रखी। बड़ा उपकार देख गुरुदेव ने चातुर्मास की स्वीकृति बदनीर संघ को दी। गुरुदेव श्री भारमलजी महाराज से अलग चातुर्मास का यह प्रसंग आया और उसी वर्ष श्रावण कृष्णा अमावस्या को राजकरेड़ा में भद्रमना गुरुदेव श्री भारमलजी महाराज का स्वर्गवास हो गया। जीवन भर सेवा में रहने के उपरान्त अन्तिम समय की यह दूरी आज भी मुनिश्री के कोमल मन में कसक पैदा कर दिया करती है। बदनीर चातुर्मास के उस महान् उपकार के समक्ष यह कसक यद्यपि कोई महत्त्व नहीं रखती, किन्तु गुरु के साथ अनन्य भाव से रमने वाले के लिये उसे भुलाना आसान नहीं होता। उस समय स० २०१८ चल रहा था।

अगले वर्ष का चातुर्मास रायपुर तथा उसके बाद देलवाड़ा वर्षावास हुआ।

अजमेर को

सादड़ी में अधिक श्रम कर जिस संघ रूपी कल्पवृक्ष को खड़ा किया था, वह किन्हीं साम्प्रदायिक कारणों से अब तक जर्जर-सा होने लग गया था। सादड़ी में बड़ी उमंगों के साथ संघ में मिले कुछ साथी बिछुड़ गये, कई आन्तरिक असन्तोष जता रहे थे। कुछ समस्याएँ वास्तव में थीं। कुछ खड़ी करदी गई थीं। ऐसी स्थिति में संघ के नवीनीकरण की महती आवश्यकता प्रतीत होने लगी। उस आवश्यकता को देन अजमेर सम्मेलन (द्वितीय) था।

प्रतिनिधि मुनिराजों का समागम हुआ। गुरुदेव मन्त्रीपद पर थे, वे भी अजमेर पहुँचे।

बड़ी विस्तृत चर्चाएँ चलीं, गण-व्यवस्था प्रारम्भ की गई। मन्त्रीपद प्रवर्तक के रूप में परिवर्तित किया। कई और भी महत्त्वपूर्ण निर्णय लिये गये। किन्तु ऐसा लगा, वातावरण में ऐक्य के प्रति जैसी उमंग चाहिए, वैसी नहीं थी। मनोवृत्ति कुछ ऐसी लग रही थी कि संघ में और बिखराव नहीं आने पाये, ऐसा कुछ कार्य हो जाना चाहिए। केवल रक्षात्मक रुचि ही वहाँ देखने में आई, जो किसी भी संघ के लिये परिपूर्ण नहीं हो सकती। गुरुदेव भी जो मन्त्री थे, यहीं से प्रवर्तक कहलाने लगे। पूरे सम्मेलन के कार्यक्रमों में प्रवर्तक श्री का आत्मिक सहयोग रहा। उस वर्ष व्यावर चातुर्मास किया।

अभय गंगा

बीतराग सत्पुरुषों का उपदेश "सर्व जग जीवजोणी रक्खणट्टाए दयट्टाये।"—सभी जीवों की रक्षा और

१. प्रतिज्ञा-पत्र की प्रतिलिपि

श्री

अनुनय पत्र

दि० १३-४-६५

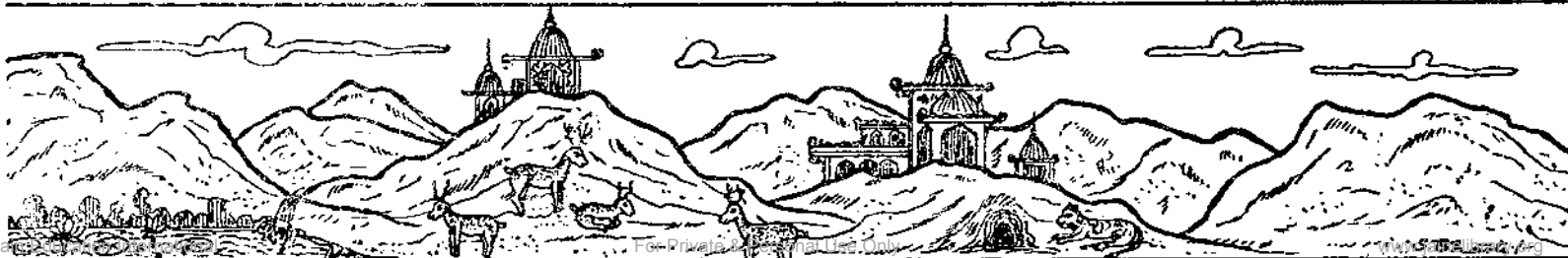
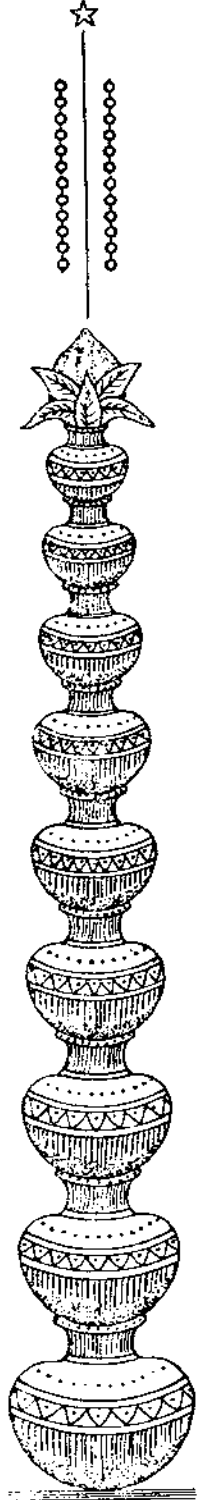
परम पूज्य महामहिम श्रद्धेय श्री अम्बालालजी महाराज साहब
प्रवास बदनीर

हम मुस्लिम धर्मावलम्बी नगरवासी बदनीर की हार्दिक आकांक्षा है कि आज हमारे महान् धार्मिक पर्व ईद के दिन प्रतिवर्ष की भाँति आज का दिन मनाया है इस अवसर पर भगवान महावीर का जन्म-दिवस जो कि आज है इस अवसर को मनाने के लिये हमने हिंसा नहीं करके जयन्ति मनाने का संकल्प किया। इसी प्रकार यदि श्रीमान् ने बदनीर इस वर्ष चातुर्मास फरमाया तो हम विदवास दिलाकर प्रतिज्ञा करते हैं कि बकरा ईद के दिन कभी हिंसा नहीं कर आज के संकल्प को बराबर निभायेंगे।

दस्तखत—

—दिलावरखाँ, रमजूखाँ, अकबरखाँ, अलिखाँ, रमजानअली, सुलेमान, नूरखाँ, गफूर मौहम्मद, मांगुखाँ, रमजुद्दीन अलाबक्ष, इमाहुद्दीन, अजाबक्ष, रमजानखाँ, नजीरखाँ, खाजूखाँ, खाजु, बसीरखाँ, अमराव, महबूब, लालखाँ, समसुद्दीन।

नोट—कुछ हस्ताक्षरों को पढ़ नहीं सके।



दया के लिये होता है। जैन मुनि उन्हीं के अनुचर हैं। उनके उपदेशों में दया और करुणा की धारा बहे तो आश्चर्य ही क्या ?

ब्यावर चातुर्मास में प्रवर्तक श्री विविध अवसरों पर करुणा का ऐसा संदेश दिया कि नागरिकों में जीव दया का नया वातावरण तैयार हो गया। पर्युषण और दीर्घ तप के अवसर पर कल्लालय नितान्त बन्द ही नहीं रहे, कल्ल को लाये गये पशुओं को बचाकर उन्हें अभयालय में पहुँचा दिया। चातुर्मास भर में लगभग चार सौ जीवों को अभय-गंगा में नहला दिया गया।

ब्यावर के इतिहास में जीव दया का यह प्रसंग अनुपम था। इसके बाद वाला चातुर्मास बदनीर हुआ।

संघ ऐक्य बना रहा

सं० २०२३ में दो श्रावण थे। चातुर्मास में जब अधिक मास हो तो संवत्सरी कब करना ? इस विषय पर सादड़ी सम्मेलन में अच्छी तरह निर्णय लिया जा चुका था। किन्तु आग्रह बड़े भयंकर हुआ करते हैं।

सादड़ी में संवत्सरी पर जितना स्पष्ट और सर्वसम्मत निर्णय लिया उतना ही जब-जब इसके विधिवत् पालन का अवसर आया, यह अस्पष्ट और उलझावपूर्ण बनाया जाता रहा। जोधपुर चातुर्मास के अवसर पर भी ऐसे प्रवर्तन चल रहे थे किन्तु संघ ने बहुत ही स्पष्टता के साथ श्रमण संघ के नियमानुसार भाद्रपद मास में संवत्सरी मनाई। उस अवसर पर जोधपुर संघ ने जो संघ-प्रेम प्रकट किया, वह सर्वदा याद रहेगा। श्री माधोमलजी लोढा (मन्त्री श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ) जैसे कर्मठ कार्यकर्ता संघ-ऐक्य के प्रबल पक्षधर बने रहे। उन्होंने श्रमण-संघ के निर्णय का समर्थन ही नहीं किया, अपितु सारे संघ को एक साथ रखकर एकता और प्रशासन का सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत किया। सखेद लिखना पड़ रहा है कि अभी कुछ दिनों पूर्व ही श्री लोढाजी का देहावसान हो गया। अब उनकी और अधिक आवश्यकता थी। किन्तु काल को कौन टाल सकता है ?

लोढाजी जैसे दस-बीस व्यक्तित्व समाज के मंच पर आ जाए तो आज भी समाज की निराशा कट सकती है।

कल्पवृक्षोद्गम

जोधपुर से नागौर तक विचरण कर गुरुदेव मेवाड़ की ओर मुड़े। भूपालगंज (भीलवाड़ा) संघ का चातुर्मास हेतु तीव्र आग्रह था। सोजत होकर सादड़ी पधारे। वहाँ एक मकान को लेकर संघ में कड़ा संघर्ष था। मुकदमे चल रहे थे। गुरुदेव के सदुपदेश से टंटा टूट गया। चातुर्मास भूपालगंज रहा।

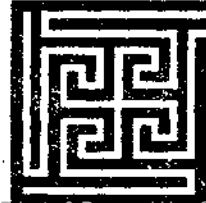
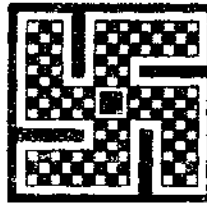
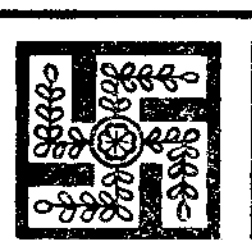
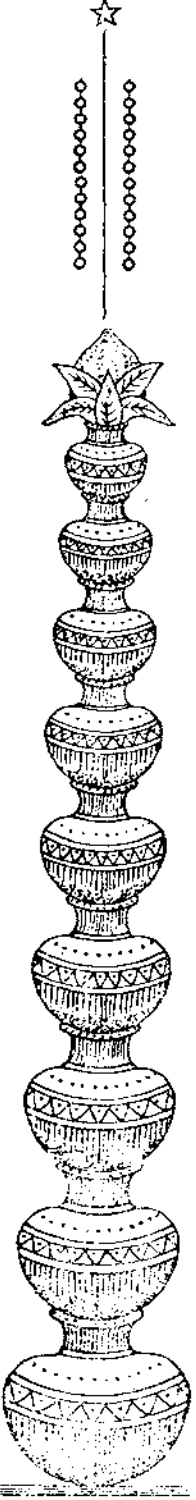
समाज में किसी सेवा-संस्था की बड़ी कमी अनुभव की जाती रही थी। भूपालगंज में गुरुदेव श्री के सान्निध्य में धर्मज्योति परिषद् के रूप में इस कमी की पूर्ति करने का प्रयास सफल हुआ। धर्मज्योति परिषद् मेवाड़ प्रान्त की एक ऐसी सेवा-संस्था है, जिसे कल्पवृक्ष कह सकते हैं। पिछले कई वर्षों से यह संस्था सेवार्त है।

लोकप्रिय सन्त

एक कहावत है—

जात पाँत कलु जानै न कोई। हरि को भजे सो हरि का होई ॥

जो धर्मानुरागी है, वही धर्मी है; जो सन्त-प्रेमी है, वही सन्त है; इसमें जाति-भेद कहीं नहीं। रेलमगरा-श्रावक संघ, जहाँ केवल आठ स्थानकवासी परिवार हैं, चातुर्मास का भरपूर आग्रह लेकर आया। सामान्यतया उनकी जो भी विनती सुनता मुस्कुराकर रह जाता। घरों की अल्पता, सीमित साधनों को देख किसे भी चातुर्मास की स्वीकृति की सम्भावना नहीं हो पाती थी। किन्तु गुरुदेव, जोकि स्थूल से हटकर सूक्ष्म के द्रष्टा हैं, कि भावोन्मियों को देखकर स्वीकृति प्रदान करने में तनिक भी नहीं हिचकिचाये। रेलमगरा-चातुर्मास की सार्वजनीनता को आप इससे आंक सकते हैं कि अनुयायियों के इतने कम घर होने पर भी व्याख्यानो में सँकड़ों की भीड़ बनी रहती थी। हजारों दर्शनार्थियों के आवा-गमन को रेलमगरा की जनता ने हार्दिक स्नेह के साथ सँभाला। धर्मज्योति परिषद् के विशाल अधिवेशन के अवसर पर सँकड़ों अर्जन स्वयंसेवक अपनी हार्दिक सेवाएँ दे रहे थे। बलि बंदी के कार्यक्रमों में जैनों से अधिक अर्जनों का उत्साह



दिखाई दिया। विहार के अवसर पर मीलों तक जैन ही नहीं अजैन भी साथ थे। बिछुड़ने का गम उन्हें अधिक सता रहा था। धर्म क्रियाओं में जैनों के साथ अजैनों ने भी भाग लिया। उपवास, तैले, पाँच और अठ्ठाई तक की तपश्चर्याएँ अजैनों में भी हुई। धर्म की यह सार्वभौम दृष्टि बड़ी आह्लाददायिनी थी।

अभिनन्दन एक कर्मठ सन्त का

मरुधरकेसरी श्री मिश्रीलालजी महाराज भारत-विश्रुत एक कर्मठ सन्त हैं। मारवाड़ की अनेक शिक्षण तथा सेवा संस्थाएँ इनकी देन हैं। व्यवहार में बड़े प्रखर होकर भी केसरीजी हृदय से मधुर तथा बुद्धि से बड़े दूरदृष्टा हैं। मारवाड़ी भाषा के अच्छे कवि और आला दर्जे के साहित्यकार हैं। केसरीजी का गुरुदेव के प्रति बड़ा हार्दिक स्नेह, दोनों की मैत्री अगाध है। उनकी दीक्षा-स्वर्णजयन्ती पर चतुर्विध संघ ने उनके अभिनन्दन का समायोजन किया और प्रवर्तक श्री को निमन्त्रण मिला तो मुनि-मण्डल सहित गुरुदेव ने सोजत पहुँचकर अपने परम मित्र तथा अग्रज का हार्दिक अभिनन्दन किया। वहाँ मरुधरा के कई सन्त सतीजी से मिलने का सुन्दर सुयोग मिल गया। उस वर्ष पुनः मेवाड़ पहुँचकर भाद-सौड़ा चातुर्मास किया।

विग्रह भंग और चातुर्मास

भादसौड़ा से इंगला की तरफ प्रवास हुआ। वहाँ सामाजिक एकता भंग थी। तड़ थी और वह भी भयंकर। गुरुदेव श्री के सदुपदेश से एकता बनी और उसी वर्ष वहाँ चातुर्मास भी हो गया। संघ ने सेवा का अच्छा लाभ उठाया। इसके बाद का चातुर्मास कोशीयल हुआ।

संस्कार निर्माण की तरफ

इंगला चातुर्मास के बाद सांडेराव सम्मेलन का समायोजन था। उधर होकर गुरुदेव श्री मेवाड़ पधारे और मोलेला चातुर्मास किया। मगरा प्रान्त में सांस्कारिक परिवर्तन की बड़ी आवश्यकता को स्वीकार कर उस तरफ कुछ करने का गुरुदेव का इशारा हुआ। धर्मज्योति परिषद् ने अपना शाखा कार्यालय स्थापित कर पूरे प्रदेश में पन्द्रह जैन शालाओं की स्थापना कर दी। एक बहुत सुन्दर पुस्तकालय भी मोलेला में स्थापित हुआ। अनेकों उपकारों के साथ गुरुदेव ने पूरे मगरा प्रान्त का प्रभावशाली विचरण किया।

मुनिद्वय अभिनन्दन-समारोह में

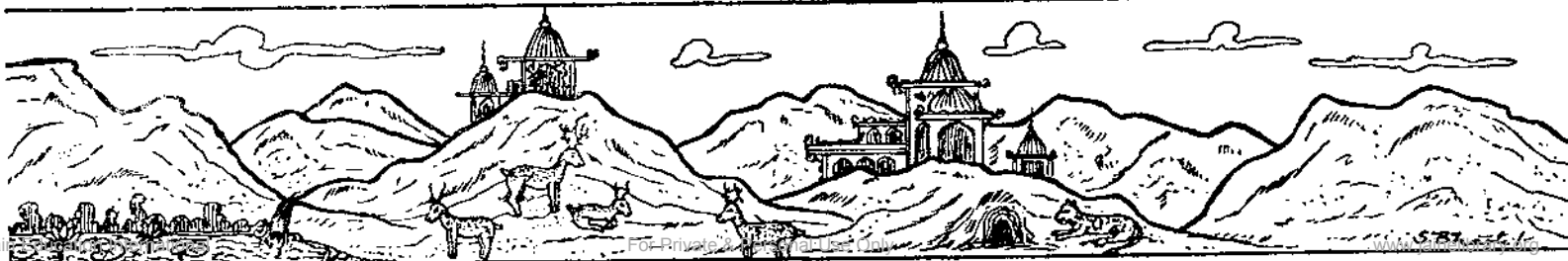
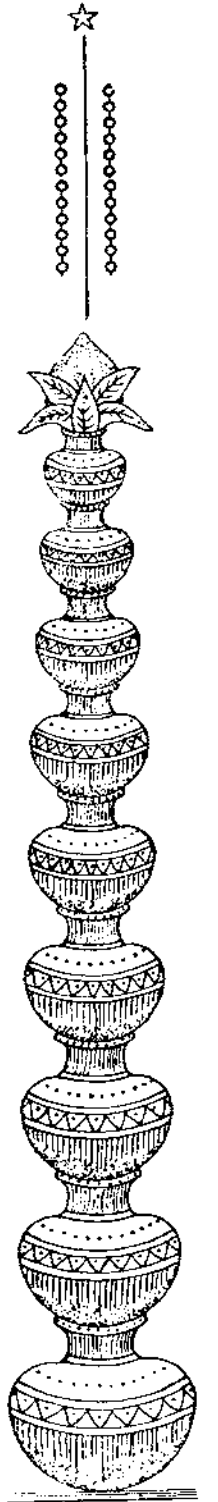
मारवाड़ में जयमल्लजी महाराज की सम्प्रदाय का अपना विशिष्ट स्थान है। समाज को इस सम्प्रदाय से कई रत्न मिले। वर्तमान में यह सम्प्रदाय संघ में सम्मिलित है।

स्वामीजी श्री ब्रजलालजी महाराज, पण्डित रत्न श्री मिश्रीमलजी महाराज 'मधुकर' इसी सम्प्रदाय की देन हैं। दोनों मुनिराज मरुधरा के रत्न और जैन समाज के सितारे हैं। गुरुदेव श्री से इनका भी प्रगाढ़ प्रेम व्यवहार चला आया है। इनके अभिनन्दन की योजना पर निमन्त्रण मिला। तब स्वास्थ्य बराबर नहीं था। फिर भी आत्मीयता का समादर कर गुरुदेव व्यावर पधारे और अपने आत्मीय-जनों का अभिनन्दन कर हर्षित हुए। उस वर्ष आमेर चातुर्मास किया।

साम्प्रदायिक सौहार्द

मेवाड़ के तेरापथी क्षेत्रों में आमेर का अपना महत्वपूर्ण स्थान है। तेरापथ समाज के २५० से अधिक परिवार रहते हैं। स्थानकवासी लगभग ३०-४० होंगे। किसी जमाने में आमेर साम्प्रदायिकता का बड़ा गढ़ था। इसका प्रमाण पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज की ढाल से लगता है। ढाल रोड़जी स्वामी के जीवन पर बनी है। पद्य है :—

आमेर स्वामी पधारिया जी
उत्तर्या हाटां के मांय।



परीषो तो दीदो अति गणो
पारणो कीदो लावे लाय जी।
श्री रोड़जी स्वामी में गुण गाणां।

पाठक इससे समझ सकते हैं कि आमेट में कैसा वातावरण था !

जब आमेट संघ चातुर्मास के लिये आया तो कई हितचिन्तक विरोधों की आशंका से चातुर्मास के लिये असहमत थे, किन्तु गुरुदेव ने स्वीकृति दी। कहना होगा कि प्रस्तुत चातुर्मास में आशंकाएँ ही व्यर्थ सिद्ध नहीं हुई, अपितु साम्प्रदायिक सौहार्द का एक नया वातावरण बना। स्थानीय अजैन समाज ने भी इस चातुर्मास को बड़ी भक्ति-भावना के साथ लिया। जैनशाला स्थापना, पुस्तकालय स्थापना जैसे रचनात्मक कार्यों के साथ चातुर्मास बड़ा सफल सम्पन्न हुआ। चातुर्मास के अन्तिम मास—कातिक—में ही सनवाड़ संघ चातुर्मास की विनती लेकर उपस्थित हो गया और यथासमय उसे स्वीकृति भी मिल गई।

भेद मिटते ही गये

बनास नदी के किनारे बसा पहुँना एक सुन्दर क्षेत्र है। एक मकान को लेकर बोहरा परिवार में समाज के बीच विवाद खड़ा हो गया। विवाद पहुँना तक ही नहीं रहा, १०० क्षेत्रों तक व्याप्त हो गया। सम्बन्ध-विच्छेद की स्थिति चल रही थी। इस स्थिति को तीन वर्ष हो गये थे। बड़ा धुटनपूर्ण वातावरण था। गुरुदेव श्री का चातुर्मास उठते ही उधर ध्यान गया और उभय-पक्ष के आग्रह से गुरुदेव पहुँना पधारे। लगभग २० दिन ठहरकर प्रस्तुत विवाद की कई उलझनों को सुलझाने में अपना अमूल्य साहित्य प्रदान किया। फलतः सारा विवाद न्यायोचित तरीके से सुलझाकर एकता स्थापित हो गई।

जासमा में भी कई वर्षों का विवाद था। इसी तरह गिलूड में भी तड़ थी। आकोला में भी भेद चल रहा था। गुरुदेव श्री के पुण्य प्रताप और इनका पवित्र साहित्य पाकर सारे विवाद मिटकर सर्वत्र प्रेम की गंगा बहने लगी। यह चातुर्मास सनवाड़ हुआ।

विरोध का सामना विनोद से

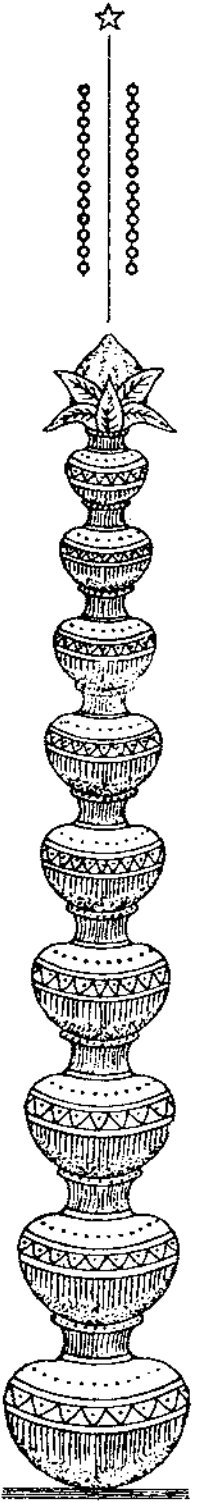
लगभग विगत एक सदी से साम्प्रदायिकता के विषय ने स्थानकवासी जैन समाज को बड़ी कठिन स्थिति में डाल रखा है। दुःख की बात तो यह है कि ज्यों-ज्यों साम्प्रदायिकता का विरोध होता जा रहा है, त्यों-त्यों यह विकराल रूप लिए बढ़ती जा रही है।

साम्प्रदायिकता का परिचायक मूल लक्षण यह है कि अपने मान्य साधुओं के दोषों को ढँकना तथा जो अपने लिये अमान्य साधु हैं उनमें यदि कोई दोष है तो उसकी घोषणाएँ करते फिरना और यदि उनमें कोई दोष नहीं है तो उन पर दोषारोपण कर उन्हें जलील करने की साजिश करना।

सम्प्रदाय के पक्ष में यह बात स्वीकार करते हैं कि इनका अस्तित्व पिछली कई सदियों से था, किन्तु साथ ही यह भी मानना होगा कि ऐसा रागद्वेष उन विगत कई सदियों में हर्षित नहीं था। प्रायः सभी तरफ के साधु विभिन्न साम्प्रदायिक क्षेत्रों में बिचरा भी करते थे और वर्षावास भी किया करते थे, किन्तु अपना पक्ष बनाने की तुच्छ लालसा प्रायः उनमें नहीं थी। साम्प्रदायिक सौहार्द का एक सुन्दर वातावरण व्याप्त था तब, किन्तु अब वैसी स्थिति नहीं रही।

प्रायः देखने में आता है कि परम्परागत किसी अन्य क्षेत्र में चातुर्मास का अवसर मिलते ही प्रायः स्वाग्रही साधु अपनी ऊँचाई तथा अन्य की बुराई करने में लग जाते हैं। गहराई तक श्रम करने के कारण प्रायः कुछ तत्व साथ हो ही जाया करते हैं। फलतः क्षेत्र की शान्ति भंग हो जाती है।

एक ही क्षेत्र में कई पक्ष खड़े होकर टकराने लगते हैं। सम्प्रदायों के साथ साधुओं का बँटवारा कर लिया जाता है। फूटफूँटी का सा आजाय छा जाया करता है तीव्र साम्प्रदायिकता की इस बीमारी से कई क्षेत्र कराह रहे हैं, किन्तु कोई उपचार करना नहीं चाहता।



सनवाड़ मेवाड़ सम्प्रदाय का एक पुरातन मान्य क्षेत्र रहा तथा आज भी है। किन्तु मेवाड़ के समस्त क्षेत्रों के समान भारत भर के सन्त सती समाज में से जो भी इधर आते रहे, मेवाड़ की आम जनता के समान सनवाड़ भी सर्वदा स्वागत करता रहा। लाभ उठाता रहा।

विगत कुछ वर्षों से सनवाड़ के शुद्ध वातावरण में साम्प्रदायिकता की एक जहरीली हवा प्रवेश पाने लगी। फलतः वातावरण इतना शुद्ध नहीं रहा, जैसा चाहिए। विगत कुछ वर्षों में कुछ ऐसे उदाहरण भी सामने आने लगे, जो सनवाड़ और मेवाड़ की गरिमा के अनुकूल नहीं थे। गड़बड़ बढ़ती जा रही थी, ऐसा लगा तो गुरुदेव श्री ने चातुर्मास कर स्थिति सुधारना उचित समझा।

चन्द विरोधी तत्त्व, चातुर्मास प्रारम्भ नहीं हुआ उसके पहले से सक्रिय हो उठे। आरोपों का वाक्-जाल फैलाने लगे और यह क्रम चातुर्मास में बहुत दूर तक चला भी। किन्तु गुरुदेव की शान्तिप्रियता, समाज के कर्मठ कार्य-कर्त्ताओं की सजगता से वे एक-एक कर अपने सारे कार्यक्रमों में असफल होते गये।

सनवाड़ बड़ा गरिमायुक्त क्षेत्र है। इसकी शानदार परम्परा रही है। धर्मसाधना और सेवा में इसका अपना एक अलग कीर्तिमान है। कुछ शारती तत्त्वों के उपरान्त क्षेत्र का जन-सामान्य धर्मप्रिय, गुणानुरागी तथा सहनशील और शान्तिवादी है। संघ में कई ऐसे कर्मठ और उत्साही कार्यकर्त्ता हैं, जो ओछेपन से कोसों दूर हैं।

प्रस्तुत चातुर्मास में पैसठ अठाइयों की रिकार्ड साधना तो हुई ही, पच्चीस सौ व्यक्तियों को मदिरा-मांस छुड़ाने की महान योजना को मूर्तरूप ही नहीं मिला, इसे काफी प्रगति भी मिली। बलिदान-विरोधी बिल की पूर्व भूमिका के रूप में यहाँ कार्य हुआ।

महावीर स्वाध्याय केन्द्र का बीजारोपण हुआ। प्रवचनों में सर्वधर्मानुयायी केवल सनवाड़ के ही नहीं, फतह-नगर तक के भी विशाल संख्या में लाभ उठाते थे। विहार के समय हजारों नागरिकों ने जब आर्द्र हृदय से गुरुदेव श्री को विदाई दी तब वह दृश्य अवर्णनीय बन गया।

प्रस्तुत चातुर्मास में गुरुदेव श्री के उपदेशों का जैन समाज पर ही क्या, अजैन वर्ग पर भी बड़ा सुन्दर प्रभाव रहा। यहाँ बड़ी संख्या में खटीक समाज रहता है। प्रायः वे व्याख्यान श्रवण का लाभ उठाया करते थे। दानवीर सेठ श्री ऊंकारलालजी सेठिया के शुभ प्रयत्नों के फलस्वरूप समस्त खटीक समाज के पंचों ने स्थानक में एकत्रित होकर वर्ष भर में चौरासी दिन जीवहिंसा के त्याग किये। इस महान उपकार के उपलक्ष में श्रीमान् सेठिया जी की तरफ से खटीकों के श्मशान में चट्टें लगाई गईं तथा वहाँ निम्न लेख अंकित कर दिया गया—

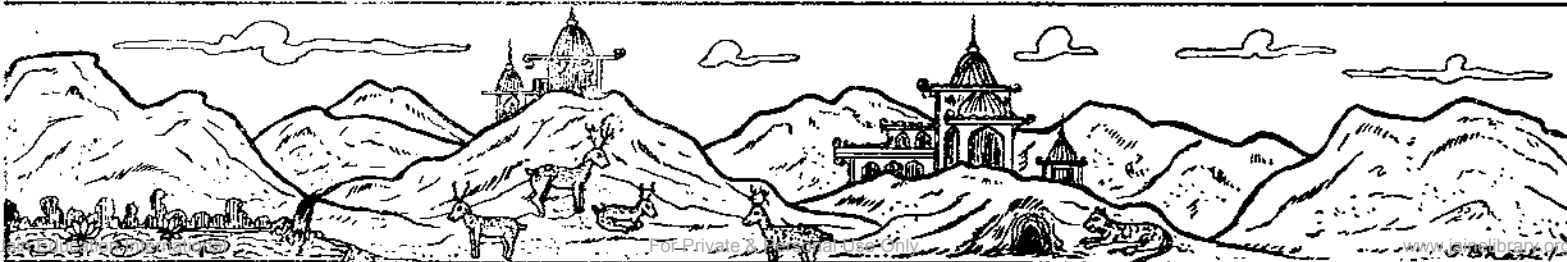
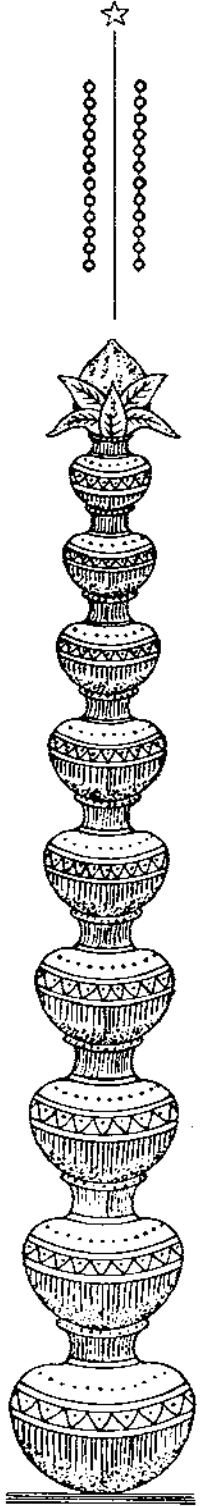
“समस्त खटीक समाज द्वारा वर्ष के ८४ दिनों (ग्यारस, चतुर्दशी, अमावस्या, पूर्णिमा, राम-नवमी, महावीर जयन्ति, जग्माष्टमी, निर्जला ग्यारस, पर्युषण) में जीव हिंसा बन्द करने के उपलक्ष में शा० भैरूलाल ऊंकारलाल सेठिया द्वारा श्मशान निर्माण।
संवत् २०३१, आवण वदी १।

उदयपुर चातुर्मास

सनवाड़ के यशस्वी चातुर्मास के बाद, आसपास के कई क्षेत्रों में गुरुदेव श्री का प्रभावशाली विचरण हुआ, कई उपकार भी सम्पन्न हुए। घासा में प्रान्तीय युवकों को समाज सुधार के विषय में एक बैठक हुई जिसमें समाज सुधार सम्बन्धी उत्तम विचारणा हुई।

सारे प्रान्त में एक नया वातावरण बनाने में यह बैठक बड़ी सफल रही।

इस वर्ष होली चातुर्मास उदयपुर रहा। राजस्थान बलिबन्दी बिल इस अवसर पर विधानसभा में पेश होने वाला था, उसमें कुछ अड़चनें खड़ी हो रही थीं। कार्यकर्त्ता यहाँ सेवा में पहुँचे, गुरुदेव श्री ने अपने विशिष्ट सन्देश द्वारा अड़चनें समाप्त करवा दीं; फलतः बलिबन्दी बिल निर्विवाद रूप से विधानसभा में सफल हो गया। होलीचातुर्मास के अवसर पर ही उदयपुर संघ ने अपने चातुर्मास के हेतु तीव्र आग्रह प्रस्तुत कर दिया, देलवाड़ा संघ उससे पहले ही चातुर्मास



की विनती लेकर आ पहुँचा था, अन्ततोगत्वा आयड़ में उदयपुर संघ की विनती स्वीकार हुई। उदयपुर संघ इस सफलता से नये उल्लास से भर गया। गुरुदेव श्री ने आसपास के क्षेत्रों में अपना विचरण प्रारम्भ रखा।

डूंगला में जैन शिक्षण शिविर का समायोजन हो रहा था। जनता की हार्दिक इच्छा को महत्त्व देकर गुरुदेव श्री डूंगला पधारे। यहाँ आये हुए बच्चों और अध्यापकों को अपनी मंगल वाणी द्वारा प्रबोध दिया।

गुरुदेव श्री के सान्निध्य में यह शिविर कई विशेषताओं के साथ सम्पन्न हुआ।

यथासमय गुरुदेव श्री अपने शिष्यों सहित उदयपुर नगर में चातुर्मासार्थ प्रविष्ट हुए। उदयपुर की धर्मप्रिय जनता ने बड़े उत्साहपूर्वक भावभीना स्वागत किया।

उदयपुर का यह चातुर्मास कई दृष्टियों से बड़ा महत्त्वपूर्ण रहा।

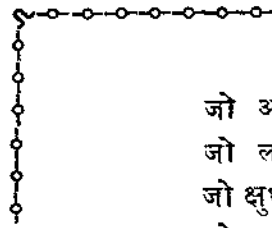
पर्युषण में कलखाने बन्द रहे।

नवरात्रि के अवसर पर होने वाले बलिदान बन्द रहे। राजस्थान सरकार द्वारा पारित प्रस्ताव की कार्यान्विति का कार्य स्थानीय कार्यकर्ताओं ने बड़ी मुस्तैदी के साथ किया। इतना ही नहीं, दूरवर्ती कई गाँवों में कार्यकर्ताओं ने पहुँच कर बलिबन्दी के कार्य को भूत स्वरूप देने का भगीरथ प्रयत्न किया।

सांवात्सरिक महापर्व पर पञ्चीस सौ पौषध की अभूतपूर्व साधना सम्पन्न हुई। पूरे चातुर्मास भर में कई तरह से सुन्दर तपाराधना चलती रही।

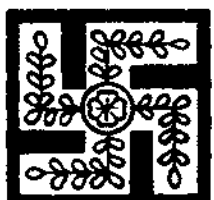
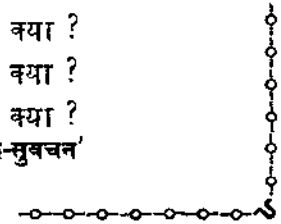
यह चातुर्मास जनसम्पर्क तथा धर्मप्रचार की दृष्टि से बड़ा प्रशंसनीय रहा।

गुरुदेव श्री की विदाई दी, उस अवसर पर दश सहस्र से अधिक जैन जैनेतर जनता का समूह उपस्थित था। उदयपुर के लिये इतना बड़ा चल समारोह ऐसा कहा जाता है कि 'अभूतपूर्व' था।



जो आग को न बुझा सके वह नीर क्या ?
जो लक्ष्य को न भेद सके वह तीर क्या ?
जो क्षुधा को तृप्त न कर सके वह क्षीर क्या ?
जो स्वयं को न जीत सके वह वीर क्या ?

—'अम्बागुरु-सुवचन'



□ मदन मोहन जैन 'पवि' कानोड़
[राजस्थान के प्रसिद्ध ज्योतिर्विद]

नक्षत्रों की भाषा में

मेवाड़संघ शिरोमणि पू० श्री अम्बालाल जी
महाराज का फलित चक्रम्

॥जन्मांक चक्रम्॥



जन्म—संवत् १९६२ ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया
पुनर्वसुनक्षत्र राशि मिथुन,
स्वामी बुध

परिचय

जन्म राजस्थान में उदयपुर जिला, ग्राम थामला में हुआ। माता प्यारबाई, पिता श्री किशोरजी सोनी, औसवाल कुल में बड़े साजन मान्यता प्राप्त के यहाँ अवतीर्ण हुये। १३ वर्ष की अवस्था में प्रेत लगने से एक भ्राता की मृत्यु। पिता व भ्राता की एक ही दिन मृत्यु हुई। पिता ने पुत्रवियोग में प्राण दे दिये। एक भ्राता वर्तमान में मौजूद हैं। भारमलजी महाराज की प्रेरणा से संसार-मुक्ति की भावना जाग्रत हुई। शिक्षा

मावली में हुई। ६ वर्ष की उम्र तक थामला ही रहे। कान में मोती व मोतियों की माला पहनने का शौक था। बाल्यकाल में पितृ-निघन हो गया। नौकरी की। मोहरिर, गिरदावर भी रहे।

दीक्षा की भावना बलवती देखकर मेवाड़ महाराणा स्व० फतहसिंह जी के पास परिवार वाले पहुँचे। दीक्षा भावना में विघ्न पहुँचाने का भरसक प्रयत्न किया। दरबार ने एक माह तक जेल में रखा। जैनियों से वार्ता पर भी प्रतिबन्ध लगा दिया गया। मुहपति सिपाही ने फाड़ दी। पक्का निश्चय पाकर महाराणा ने छोड़ दिया।

संवत् १९६२ मृगशिर, शुक्ला अष्टमी को मेवाड़ पूज्य स्व० श्री मोतीलाल जी महाराज के पास दीक्षा ग्रहण की। दीक्षास्थल मंगलवाड़, जिला चित्तौड़ रहा।

फलित

सिंह लग्न में आपका जन्म हुआ है। इसी शुभ लग्न में जैनाचार्य श्री तुलसी, गुरु नानक, जनरल मानेकशाह का भी जन्म हुआ है। इस लग्न वाले क्रान्तिकारी, शान्तिकारी रहे हैं।

केन्द्र में बुध राज्यस्थ होने से सर्वारिष्ट योग भंग हुआ है। बुध केन्द्रवर्ती श्री स्व० शास्त्री जी, पृथ्वीराज चौहान, सुभाषचन्द्र बोस, "पवि" सिक्ख धर्म संस्थापक गुरु नानक के था। तुला का मंगल पराक्रम श्री आचार्य तुलसी के भी हैं। डा० दार्शनिक राधाकृष्णन, सिकन्दर, के भी त्रिमिन्न राशियों में स्थित था। सप्तम में शनि आपके कुम्भ राशि का है। युधिष्ठिर, हेनरी फोर्ड के भी सप्तमस्थ था। शुक्र भाग्य में पं० श्री उदय जैन, मानेकशाह, युधिष्ठिर, कौनेडी के हैं। सूर्य राज्य में "ज्योतिष मिहिर" देवधर पाण्डेय, बी० जी० तिवारी के है। लाम में मिथुन का चन्द्र



जनरल मानेकशाह के भी है। आपके शिष्यों में सन्त श्री सोमाग्य मुनि “कुमुद”, महेन्द्र मुनि “कमल”, मगन मुनि, सती प्रेमकुंवर जी लेखक, कवि व सुव्याख्याता रत्न हैं। २० के करीब शिष्य-शिष्याएँ हैं।

दीक्षा विघ्न योग

एक चारण साधु ने भिक्षा वृत्ति के समय इनके लिए भविष्य वाणी की, कि “यह साधु महात्मा बनेगा।” भेष का वृहस्पति व शुक्र भाग्य भवनस्थ होने से श्वेताम्बर जैन साधु बनने का योग बना है। मंगल की पूर्ण दृष्टि भाग्य-भवन पर होने से दीक्षा में विघ्न आया व नेतृत्व का योग (मेवाड़ पूज्य होने का) बना। यही शत्रुपक्ष को रोकता है।

शिष्यों से भाग्योदय योग

चन्द्र लाभस्थ होकर शिष्य भवन को पूर्ण दृष्टि से देख रहा है। चन्द्र स्त्री ग्रह होने से शिष्याएँ अधिक हैं। शिष्येश वृहस्पति भाग्य भवन में जाने से, पुरुष शिष्यों से ज्यादा भाग्योदय रहेगा। जीवन में भाग्योदय २५ से २८ तक श्रेष्ठ रहा।

धर्म-नेतृत्व योग

मेवाड़ पूज्य हैं। मंत्री प्रवर्तक भी रहे। मंगल की राज्य भवन पर पूर्ण दृष्टि व राज्यस्थ सूर्य, बुध से यह योग बना। “केन्द्रे सूर्य नेतृत्व कर्ता” बुध के साथ सूर्य की संगति में “धर्म नेतृत्व” योग बना। भाग्य भवन पर मंगल की पूर्ण दृष्टि होने से विपरीत धर्म में सदैव अनास्था रही है।

जेलयात्रा योग

भाग्य में शुभ ग्रह स्थित है। भाग्य को शनि, मंगल पूर्ण दृष्टि से देख रहे हैं। अतः धर्म कार्य में बढ़ने से रोकने हेतु सादी कैद तत्कालीन सामन्तों ने दी।

प्रसन्नवदन योग

षष्ठेश शनि सप्तमस्थ होकर स्वगृही हुआ है। शत्रु भवन पर मंगल की पूर्ण दृष्टि होने से उपरोक्त योग बना है।

प्रबल मस्तिष्क योग

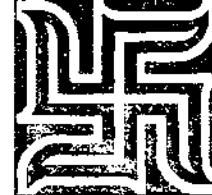
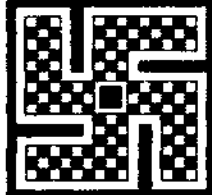
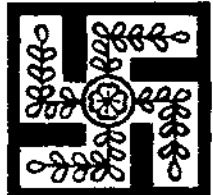
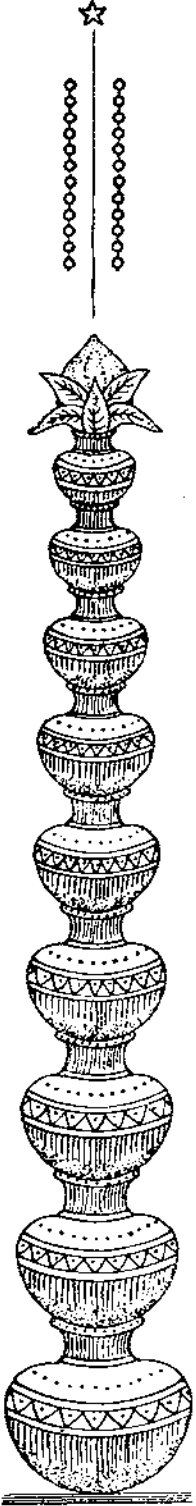
सिंह लग्न पर राहु स्थित है। अतः “धर्म-क्रान्ति” करने का योग बना है। लग्नेश सूर्य राज्यस्थ होने से दिव्य ललाट व प्रबल मस्तिष्क योग बना है।

शास्त्रवेत्ता योग

वृहस्पति विद्याधिपति है। भाग्य में शुक्र राज्येश होकर गया है। इसने उपरोक्त योग बनाया है। शुक्र भाग्य में जाने से धर्मनीतिज्ञ, व्याख्याता बनता है। शुक्र भाग्य में जाने से लाखों लोगों के सामने व्याख्यान देने की क्षमता, दक्षता होती है।

आप अभयदानी हैं। आप आत्मानन्द, विवेकानन्द, नित्यानन्द, दयानन्द, सत्यानन्द स्वरूप हैं। हृदय व्यापक महान है। करुणाद्रं हैं, कलापूर्ण, सोदाहरण व्याख्या करने की पूर्ण क्षमता है। त्यागी, अद्भुत साहसी, लक्ष्य सिद्धार्थ अद्भूत श्रद्धावान्, कर्तव्याधिकार सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य, तपयुक्त हैं।

आकाश के समान विशाल, सागरवत् गम्भीर, चन्द्र से भी निर्मल, करुणा निधान, मानव-जीवन नौका खेवैया, सरस्वती के अपूर्व मण्डार, मुक्तिपथ गामी, जिज्ञासु, कुतज्ञ, दूरदर्शी, निरहंकारी हैं। नीतिज्ञ, शास्त्रपारंगत, ज्ञान व कर्म समन्वय सोने में सुगन्धवत्, शास्त्रवाचन रस की पिचकारियाँ हैं। उससे श्रोतागण रससिक्त हो जाते हैं। आँखों के तारे, श्रमणवृन्द के सितारे, मनीषीवर की शिष्य वृद्धि होती जायगी। सितारा चमकता हुआ, ७७ या ७८ वर्ष अवस्था में दिवंगतकारी होगा। वर्ष ७१ व ७२वाँ जीवन का सर्वश्रेष्ठ वर्ष होगा। तीर्थस्थल में संयारा ग्रहण करके इहलोक को छोड़ देंगे। लम्बे व्याधिग्रस्त नहीं रहेंगे। जीवन व जगत में जय श्री पाते हुए, मुक्तात्मा, महात्मा रहेंगे।



□ श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

[कवि, लेखक एवं राजस्थान के प्रभावशाली विद्वान संत]

जीवन की अन्तर्यात्रा

[पूज्य श्री अम्बालाल जी महाराज के जीवन की विरल विशेषताएँ]

□

इसमें कोई सन्देह नहीं कि सामान्य जन-जीवन की एक सम भूमिका से ऊपर उठकर दमकने वाले जीवन के अन्तकाल में कुछ ऐसी अन्यतम विशेषताएँ अवश्य होती हैं जिनका सहज ही अन्यत्र पाया जाना कठिन है।

पूज्य गुरुदेव श्री के दमकते जीवन के अन्तर में क्या-क्या विशेषताएँ हैं। उन्हें सर्वतोभावेन समझ पाना तो आसान है नहीं, किन्तु हाँ, यदि उस तरफ अति निकटता से लगातार गहराई तक देखते जायें तो वे विशेषताएँ किसी स्वच्छ जल से भरे गहरे पात्र के तले पड़ी मणियों की तरह दमकती हुई अवश्य दिखाई दे सकती हैं।

में पिछले छब्बीस वर्षों से गुरुदेव श्री के निकट हूँ और गहराई तक इन्हें देखता भी रहा हूँ। इतने दीर्घ-कालीन अन्तःदर्शन से मुझे इनमें जो कुछ मिला उसमें "मधुरम्" ही अधिक है।

चाहता हूँ, मुझे जो कुछ मिला वह सब पाठकों के सामने खोलकर रख दूँ, किन्तु यह मुझसे संभव नहीं होगा। क्योंकि जो कुछ पाया वह अति विशाल है।

यहाँ कुछेक अन्तर्तत्त्व सामने लाने का प्रयास है, पाठक इन्हीं कुछ विशेषताओं से समग्र जीवन के अन्तदर्शन को समझने का यत्न करें।

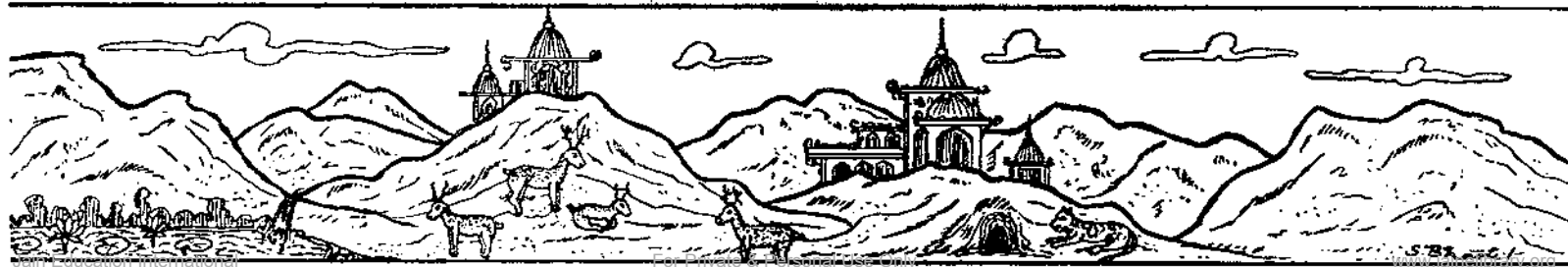
शास्त्र-परक

गुरुदेव श्री को संयमरत्न पाने में बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। अनेकों परीषद् सहे तब कहीं मुनि बन पाये, फलस्वरूप मुनि बन जाने पर भी रत्न को जैसे सहेज कर रखा जाता है, गुरुदेव संयम को भी ऐसे ही सहेज कर रखने लगे।

शास्त्र ज्ञान ही संयम का संबल है। इस तत्त्व को चरितार्थ करते हुए, गुरुदेव केवल शास्त्र (आगम) पढ़ने लगे और अब तक भी केवल यही करते हैं। शास्त्रों से मित्र अन्य पुस्तकें कभी-कभी संयम को चोट भी पहुँचा जाती हैं अतः उनका संयमी जीवन के लिए कोई उपयोग नहीं, कुछ ऐसी ही धारणा के आधार पर अन्य ग्रन्थों से लगभग असंपृक्त रहे। यही कारण है कि आज भी गुरुदेव श्री का शास्त्र-ज्ञानाभ्यास बहुत ऊँचा व गहरा है। इनके प्रवचन में भी शास्त्रीय आख्यान की ही प्रमुखता रहती है।

बातचीत, चर्चा, अन्य सारे व्यवहारों में शास्त्रीयता का इतना गहरा असर परिलक्षित होता है, मानो महाराज श्री शास्त्र परक ही हो गये।

शास्त्रीयता का आधार केवल व्यवहार ही नहीं है, बौद्धिक स्तर पर भी शास्त्र का बड़ा असर है। गुरुदेव श्री का शास्त्रज्ञान बड़ा गम्भीर एवं विस्तृत है। किसी भी समस्या का शास्त्रों के आधार से समाधान करना इनका दैनिक उपक्रम है, यही कारण है कि वर्ष भर में हजारों प्रश्नों का यत्न-तत्र समाधान करते रहते हैं।



सेवा-परायणता

गुरुदेव श्री सर्वाधिक किसी बात के लिए चर्चित एवं प्रशंसित हुये हैं तो वह है “सेवा” ।
सेवा इनके अन्तर का स्वीकृत धर्म है, इनकी श्रेष्ठता का मर्म है ।

समस्त भेवाड़ इस बात का साक्षी है कि स्वर्गीय पूज्यश्री मोतीलाल जी महाराज की गुरुदेवश्री ने सर्वोत्कृष्ट सेवाएँ कीं । अभी कुछ वर्षों पूर्व तक गोचरी स्वयं लाकर सभी मुनिराजों की सेवा करते थे । प्रत्येक मुनिराज की छोटी-बड़ी सभी तरह की आवश्यकताओं का ध्यान प्रवर्तक श्री बराबर रखते हैं और कल्पानुसार सेवा करने में सदा आगे रहे । यही कारण है कि हमारे मुनिराज महासतियों में अम्बा के स्थान पर अम्मा (माता) कहकर सेवा के सर्वोच्च पद मातृत्व से इन्हें अभिषिक्त करते हैं ।

अप्रमत्त

गीतम को भगवान महावीर ने कहा था ‘समय मात्र का प्रमाद मत करो’ । भगवान के इस उपदेश को इस युग में मूर्तस्वरूप देखना है तो गुरुदेव के पास चले आइये ।

प्रातः बहुत जल्दी लगभग रात्रि के अन्तिम प्रहर के प्रारम्भ में उठकर ध्यान, स्मरण में मग्न हो जायेंगे ।

दैनिक चर्चा में प्रवचन, धर्मचर्चा, स्वाध्याय प्रमुख हैं ।

दिन बारह घण्टे का हो या चौदह का, गुरुदेव श्री दिन में शयन नहीं करेंगे ।

कई बार दीर्घ विहार का प्रसंग भी आया, युवक संत भी थककर विश्राम करने लगे, उस स्थिति में गुरुदेव श्री को आप्रह भी किया कि थोड़ी देर लेट लें किन्तु नहीं । एक क्षण भी नहीं ।

वही रात्रि के द्वितीय प्रहर के प्रारम्भ के आस-पास शयन करने हैं । इससे पूर्व, सारा समय स्वाध्याय स्मरण और धर्मचर्चा या उपदेश में ही जाता है ।

तीन-चार घण्टा एक आसन पर बैठ कर, चर्चा ध्यान और स्वाध्याय करते हुए तो इन्हें कोई भी लगभग प्रतिदिन देख सकता है ।

संवत्सरी आदि विशेष अवसर पर इन्हें आठ-आठ घण्टा एक आसन पर दृढ़ता से बैठे आज भी हजारों व्यक्ति देखते हैं ।

ऐसे सुदृढ़ आसन के पीछे अप्रमत्तत्व का स्फूर्त आदर्श रहा हुआ है जो भगवान महावीर के द्वारा गीतम को प्रदान किया गया ।

अकृत्रिम व्यवहार

प्रवर्तक श्री नितान्त सहज हैं । आप कहीं भी, कभी भी और कैसे भी मिलें ये बिलकुल अकृत्रिम मिलेंगे ।

वही हँसता मुस्कुराता चेहरा, वही सीधे सादी बातचीत, वही सामान्य बैठना चलना आदि ।

सम्प्रदाय के अगुआ, भ्रमण संघ के मन्त्री और प्रवर्तक जैसे पदों पर काम करते हुए भी ऐसा कभी अनुभव नहीं किया करते कि मैं पूज्य पद पर हूँ तो मुझे वैसे ठाठ से रहना चाहिए ।

हमने देखा कई बार बच्चों से धार्मिक वार्तालाप और विनोद करते हुये उन्हें सामने बिठाकर स्वयं भी नीचे ही बैठ जायेंगे और उन्हें प्रबोध देते रहेंगे ।

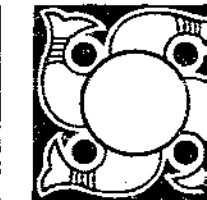
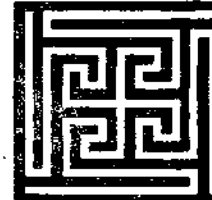
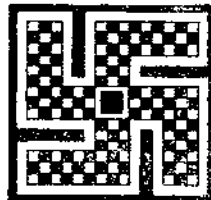
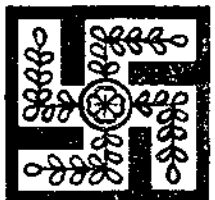
आसन पट्ट आदि कोई मुनिराज लाकर लगा दे, वह अलग बात, किन्तु स्वयं कभी उसकी अपेक्षा नहीं करेंगे ।

मरीब-अमीर, बालक, बुद्धे सभी के साथ एक समान सहज व्यवहार । आचारांग की उस उक्ति को चरितार्थ करता है जिसमें कहा गया है कि—

“जहा पुण्यस कत्यइ तथा तुच्छस कत्यइ ।

स्वयं में नूतन सृजन

अपने आप में नव सृजन, अर्थात् विचार-चिंतन तथा जीवन प्रक्रिया के क्षेत्र में स्वयं को ऊर्ध्वोदय की तरफ



ढालते रहना जीवन की एक महानतम विशेषता है जो बहुत कम व्यक्तियों में पाई जाती है। प्रवर्तक श्री उन्ही चन्द व्यक्तियों में से एक है।

विगत पचास वर्ष की संयम पर्याय पर दृष्टिपात करने पर यह तथ्य सहज ही उजागर हो जाता है कि प्रवर्तक श्री ने अपने आपको "समय के अनुरूप बहुत मोड़ा।"

केवल दो दशक पहले की ऐसी अनेकों घटनाएँ हैं जिनका अध्ययन करने से स्पष्ट ज्ञान हो जाता है कि प्रवर्तक श्री जैनधर्म की ही विभिन्न सम्प्रदाय जैसे तेरापन्थी, मूर्तिपूजक आदि के प्रति कतई उदार नहीं थे।

सरदारगढ़, मोतीपुर, बोराणा, खेरोदा, घूलिया, देलवाड़ा, कुँवारिया आदि स्थानों पर विभिन्न सम्प्रदायों के साधुओं से बड़ी चर्चाएँ कीं। चर्चाओं के लिए छपे हुए खुले चेलिन्ज पत्र भी मैंने छपे हुये देखे! मेवाड़ में यत्र-तत्र साम्प्रदायिक विवाद होते ही रहते और प्रवर्तक श्री स्थानकवासी संघ को जबदस्त सैद्धान्तिक सम्बल प्रदान करते।

अब जबकि समय ने पलटा लाया। देश में चतुर्दिक पारस्परिक सामञ्जस्य का वातावरण चला।

स्थानकवासी समाज में संघ ऐक्य का विगुल वजा और श्रमण संघ का गठन हुआ।

विभिन्न सम्प्रदायों में भावात्मक ऐक्य को स्वीकार किया जाने लगा।

पारस्परिक कटुता को मिटाने का चतुर्दिक प्रयास होने लगा। एक-दूसरे के निकट आने लगे और सभी को मिलकर रहने में ही भलाई नजर आने लगी, ऐसी स्थिति में प्रवर्तक श्री ने भी युग के आह्वान को समझा।

पारस्परिक कटुता जो बड़ी दूर से चली आ रही थी, वह भीषण थी, उसे मिटाना आसान नहीं था किन्तु प्रवर्तक श्री ने सर्वप्रथम अपने विचारों को नई दिशा दी। उन्होंने विद्वेष को कम करने और मिटाने को आगे कदम बढ़ाया।

यत्र-तत्र विभिन्न सम्प्रदाय के साधु-साध्वियों से मिलना, सह-प्रवचन करना, सांप्रदायिक विवाद कहीं खड़ा हो जाये तो उसे मेल-जोल पूर्वक मिटाना आदि प्रवृत्तियों से, मेवाड़ में सांप्रदायिक विद्वेष को नष्टप्रायः कर दिया।

आज प्रवर्तक श्री मेवाड़ में, प्रेम की गंगा बहा रहे हैं। सांप्रदायिक सौहार्द का आज जो वातावरण मेवाड़ में व्याप्त है, उसका बहुत कुछ श्रेय पूज्य गुरुदेव श्री को है।

दो दशक पहले के साम्प्रदायिक चर्चाओं के अग्रदूत महाराज श्री को आज स्नेह और सामञ्जस्य की बात करते देखता हूँ तो मन कह उठता है कि यही तो किसी विशिष्ट व्यक्तित्व का आन्तरिक सौन्दर्य है जो सामयिक आवश्यकता के अनुसार ढलता है।



जैसे कीचड़ जल से पैदा होता है और जल से ही साफ होता है।
वैसे ही जो पाप दिल से पैदा होता है वह दिल से ही साफ होता है।

—'अम्बागुरु-सुवचन'





□ संकलन—
सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

गुरुदेव श्री के सुवचन

□

श्रद्धा परम दुर्लभा

इधर-उधर मत भटको, भगवान वीतराग के तत्त्वज्ञान पर विश्वास करो। किसी को ऊपर चढ़ना है तो उसे निसैनी या सीढ़ियों का सहारा चाहिए। इसी तरह यदि जीवन को ऊँचा उठाना है तो श्रद्धा की निसैनी लगाओ। निसैनी फँक कर ऊपर चढ़ने की कल्पना मूर्खता है, ऐसे ही श्रद्धा के बिना कुछ भी करना व्यर्थ-सा है। विश्वास से ही आत्मबल पैदा होता है। नवतत्त्व, षड्द्रव्य, देवगुरु धर्म पर विवेकपूर्वक दृढ़ विश्वास रखो बेड़ा पार हो जाएगा।

अग्पाचेव दमेयव्वी

जो अपनी आत्मा को वश में कर लेता है, उसके लिए विश्व में कहीं उलझन नहीं है। एक रोटी का टुकड़ा कई स्वानों के मध्य पड़ा है, वे सभी आपस में खींचतान कर रहे हैं। इस मारा-मारी में कई स्वान लहू-लुहान हो रहे हैं। यह पशुता है, ऐसी पशुता आज मानव में चल रही है। विश्व का वैभव तो कम है किन्तु इन्सान की तृष्णा है ज्यादा, ऐसी स्थिति में छीना-झपटी चल रही है। अगर अपने आपको सुरक्षित और शान्त रखना हो तो अपनी तृष्णा को रोक लो। आत्मा का दमन कर लो।

दयामय बनो

चइत्ता भारहं वासं चक्कवट्टी महिड्डिओ।

सन्ति सन्तिकरे लोए, पत्तो गइमणुत्तरं।।

सोलहवें तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ का स्मरण करने के साथ यह भी सोचिये कि उन्होंने अपने जीवन में शान्ति-स्वरूप कैसे पाया।

अपने पूर्वभव में भगवान शान्तिनाथ जब मेघरथ थे, उन्होंने एक भयानुर कबूतर को बचाने को अपना तन तक न्यौछावर कर दिया। जो, भयानुर अन्य प्राणी पर दया कर उसे शान्ति प्रदान करता है वही शान्तिस्वरूप बन सकता है।

सफलता की कसौटी

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडिनियट्टई।

धम्मं च कुणमाणस्स, सफला जंति राइओ।।

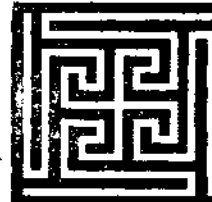
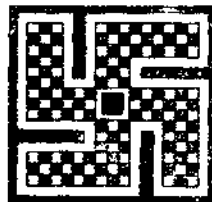
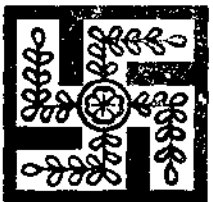
समय तो व्यतीत होता ही है, दिन आता है चला जाता है, रात आती है चली जाती है। इस तरह उम्र का रथ मृत्यु के निकट पहुँच रहा है।

कुछ सोच लीजिये, समय सार्थक हो रहा है या निरर्थक ?

अधर्म के आवर्त्त, तुम्हें पाप में गर्क कर सकते हैं किन्तु, वह समय व्यर्थ, कर्मवर्धक हो जाएगा। धर्म के निकट आजा, वीतराग के तत्त्व ज्ञान का अमृत पी ले, समय व जीवन सब कुछ सार्थक हो जायेगा। धर्मयुक्त जीवन ही सफलता की कसौटी है।

धन के प्रति निस्पृहा

धना-शालिभद्र के पास इतनी विशाल रिद्धि थी, कि सम्राट श्रेणिक भी उस वैभव को देखकर चकित रह गया, किन्तु उनको उस धन का कोई अभिमान नहीं था। वे धन को घूल और कचरे के बराबर समझते थे। शालिभद्र को इतना-सा ज्ञात हुआ कि उसके भी ऊपर 'नाथ' है। वस, इस बात से उन्हें वैराग्य का तत्त्व मिल गया। धना जो को सुभद्रा ने कुछ जाग्रत किया कि वे भी त्याग मार्ग



पर बढ़ गये। दोनों ने धन के ढेर को साँप जैसे काँचली उतारता है, इस तरह उतार कर फेंक दिया।

आज के गृहस्थों के पास धन तो थोड़ा किन्तु धमण्ड ज्यादा। धन तो रज जितना है किन्तु अहं मेह जितना है, इसलिए उनसे त्याग भी मुश्किल से होता है।

सच्चे महावीर

भगवान महावीर का सारा महत्त्व उनकी वीतरागता से है। धन वैभव, सत्ता से उनको देखना ही नहीं चाहिए, ये तो उनके पास जो थोड़े से थे उनको भी उन्होंने परित्याग कर दिया। अथक कष्ट सहिष्णुता और समभाव से ही वे सच्चे महावीर बने।

स्वस्थता के लिए स्वाद-संयम

पहला सुख "निरोगी काया"। रोगी शरीर से धर्म की साधना होना कठिन है। अतः शरीर निरोग रहे इसका ध्यान रखना चाहिए। स्वाद को जीते बिना शरीर निरोग नहीं रहता। कम खाना और स्वाद को जीतना अपने को स्वस्थ रखने का सच्चा मार्ग है।

स्वस्थ रहने के लिए जीवन को संयम में रखना चाहिए। इन्द्रियों पर विजय करने पर ही स्वास्थ्य अच्छा रह सकता है।

वचन-बदल न बनो

सोच-समझकर कोई वचन देना चाहिए, जो वचन दिया जाये उसका ईमानदारीपूर्वक पालन करना चाहिए। वचन देकर बदलना थोखा देना है।

बाँह बदल बारी बदल, वचन बदल बे शूर।
वचन देकर बदले उसके मुख पर, धोबा धोबा धूर॥

अभयदान

दाणाण सेट्टु' अभयप्पयाणं

एक अपराधी को मृत्यु दण्ड मिला।

राजा की तीन रानियाँ थीं, उनमें से एक ने, एक दिन शूली टाल कर, करुणा का परिचय दिया। दूसरी रानी ने, एक दिन शूली और रुक्वा कर उसे भोजन भी दिया और सुन्दर वस्त्राभूषण भी पहनाये।

तीसरी रानी ने, उस अपराधी की सर्वदा के लिए मृत्यु दण्ड से बचाकर उसे निर्भय कर दिया।

उपकार तीनों का है, किन्तु तीसरी रानी की तुलना में दोनों रानियों का उपकार थोड़ा है।

दो दिन वह बचा, किन्तु मृत्यु का भय तो था ही। तीसरी रानी ने 'अभय' देकर निश्चिन्त कर दिया। वास्तव में "अभय" प्रदान करने के बराबर कोई दान नहीं।

लाभ से लोभ

भोगोपभोग की तृष्णा की बड़ी विचित्र स्थिति है। नहीं मिलते हैं तब तक थोड़ा भी पाने के लिए प्राणी छट-पटाते हैं किन्तु, ज्योंही कुछ मिलने लगते हैं कि उनकी आगे से आगे असीम तृष्णा बढ़ती जाती है। भगवान ने ठीक ही कहा है—

जहा लाहो तहा लोहो।

लाहा लोहो पवड्ढई ॥

पाथेय लेकर चलो !

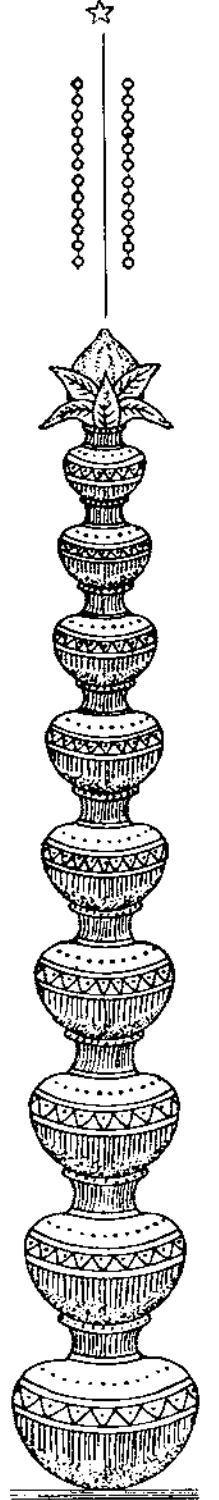
जो मुसाफिर अपने साथ भोजन लेकर चलता है, उसे चिन्ता नहीं, रहती किन्तु जो खाली ही खाना होता है उसे मार्ग में कष्ट उठाना पड़ता है। इस सामान्य सिद्धान्त से अपने भविष्य पर स्वयं विचार कर लो। साथ में कुछ लेकर चल रहे हो या खाली ही खाना हो रहे हो।

संवर निर्जरा रूप खाद्य साथ में लेकर चलोगे तो, पछताना नहीं पड़ेगा।

कदाग्रह नहीं, सत्याग्रह

तीन व्यक्ति कमाने को चले, उन्हें लोहे की खान मिली और उन्होंने लोहे का भार उठा लिया। मार्ग में चाँदी (रजत) की खान मिली, उन तीन में से दो ने लोहे को फेंक कर रजत का भार उठा लिया। तीसरा लोहे को ही ढोता रहा। आगे उन्हें सोने की खान मिली, लोहे वाला तो लोहा ही ढोता रहा, रजत ढोने वालों में एक ने रजत फेंक कर स्वर्ण उठा लिया। एक रजत ही ढोता रहा, एक लोहा ही।

स्पष्ट है तीनों में से स्वर्ण लाने वाला ही श्रेष्ठ रहा, रजत और लोहे वाला क्रमशः नुकसान में रहे। आपको नुकसान में नहीं रहना है। पुरानी गलत बातों को इसलिए मत उठाए रखो कि वे पुरानी हैं। कोई उससे अच्छी बात मिल जाये तो, पुरानी बात का त्याग कर अच्छी बात को ले लेना चाहिए। मिथ्यात्व को छोड़ने से ही तो सम्यक्त्व



स्वरूप रत्न की प्राप्ति हो सकती है। सम्पत्कवी कभी कदा-ग्रह नहीं करता, वह सत्याग्रही अथवा सत्य-प्राही होता है।

ज्ञान नहीं तो दया कैसे ?

जात न जाणे जीव की धर्म कणां सू होय ।

लोग अहिंसा की बात करते हैं। किन्तु क्या बातों से अहिंसा का पालन हो सकता है, जीव दया के बिना अहिंसा कैसे होगी ? जीवों की उत्पत्ति के स्थान कौन-कौन से हैं ? किन-किन कारणों से जीव वध होता है इन बातों को अच्छी तरह नहीं समझे वहाँ तक अहिंसा का पालन कैसे हो सकता है ? पृथ्वीकाय, अपकाय, तेजस्काय, वायुकाय, वनस्पति काय, त्रसकाय । ये जीवों के छह विभाग हैं इन्हें ठीक-ठीक समझना चाहिए और अनावश्यक हिंसा से बचकर मर्यादित जीवन बिताया जाये ! तभी अहिंसा की कुछ साधना हो सकती है।

मानसिक हिंसा से भी बचो

मन, वचन और काया इन तीनों योगों से हिंसा होती है। केवल कायिक हिंसा से ही नहीं, मानसिक और वाचिक हिंसा से भी बचना चाहिए। मन से अनिष्टकारी सोचना तथा अनिष्टकारी वाणी का प्रयोग करना हिंसा है।

बड़ा कैसे बनें ?

बड़ा, दाल का बनता है, दाल गल कर, पिसकर, पानी में मिलाकर तेल में तला जाये तब कहीं बड़ा होता है।

मानव को भी बड़ा बनने के पहले क्षमाशील, गुणवान और सहिष्णु बनना चाहिए।

बकरा और घोड़ा

बकरा मैं-मैं करता है, वह तलवार के नीचे कटता है। घोड़ा है-है करता है, वह सम्मानित होता है।

मानव भी मैं-मैं करता है, वह घमण्डी है। गुणवान तो घोड़े की तरह कहते हैं मैं कुछ नहीं, मुझ से बढ़कर और कई व्यक्ति हैं।

चाह से ही आह

अपनी इच्छाओं को सीमित रखना चाहिए। अत्यधिक लालसाओं से मानव दुःखी हो जाता है। चाह से आह पैदा होती है। जीवन में कम से कम जरूरतें रहें, इस तरफ पूरा ध्यान देना चाहिए।

याद रखो, एक बार जरूरतों को बढ़ा देने पर फिर कम करना बढ़ा कठिन होगा। जरूरतें बढ़ाने से लालसाएँ बढ़ती रहती हैं। लालसाएँ ही संसार का मूल कारण हैं। एक साधक ने कहा है--

चाह चूड़ी चाह चमारी, चाह नीचन में नीच ।
जीव सदा ही ब्रह्म है, एक चाहन न होवे बीच ॥

धोरा सो गम्भीरा

गम्भीरता, मानव-जीवन को महान् बनाने वाला गुण है। जैसे प्रतिदिन खाये जाने वाले भोजन को हम पचाते हैं इस तरह जीवन में कई बातें ऐसी भी होती हैं जिन्हें पचाना चाहिये। यह जरूरी नहीं कि हर बात का बदला लिया ही जाये या वह कही ही जाये। कई बार चञ्चलता में कही गई बात या किये गये कार्य पर फिर पश्चात्ताप करना पड़ता है। चञ्चलता में अन्ट-सन्ट बक देना अधूरा-पन है एक राजस्थानी कवि ने कहा है—

“भरिया सो झलके नहीं, जो झलके सो अदा ।”

क्रोध, शैतान है

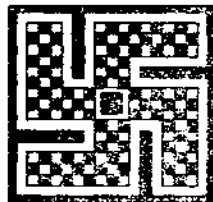
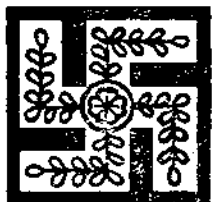
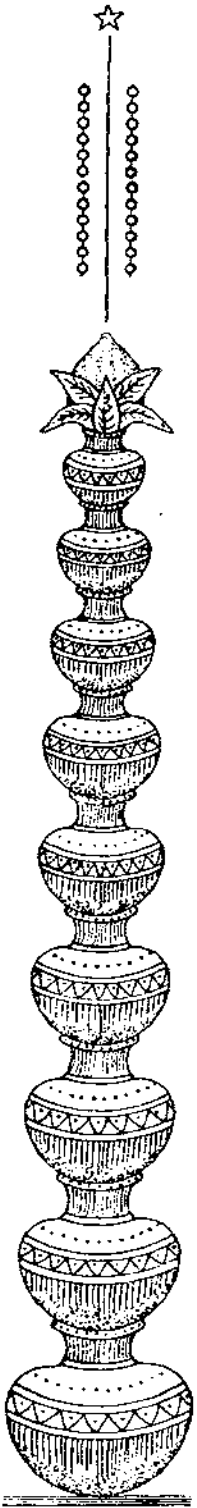
क्रोध पर संयम रखो। क्रोध मानव को शैतान बना देता है। जितने कुकृत्य संसार में हुये वे अधिकांश क्रोध के कारण ही हुये हैं। क्रोधी के जीवन में सर्प से भी भयंकर विष काम करता है। भगवान महावीर ने क्रोध को प्रीति का विनाशक और जीवन का शत्रु बताया। उन्होंने तो सर्प के डसने पर भी क्रोध नहीं किया। क्रोध से कोई बुराई मिटती नहीं, न क्रोध से कोई सुधार ही होता है।

अच्छी बात भी क्रोधपूर्वक नहीं कहना चाहिए। क्रोध में कही गई अच्छी बात भी बुरी हो जाती है।

संभालो और बनाओ !

धन्ना सेठ ने अपनी चार बहुओं को, पाँच दाने देकर उनकी परीक्षा की। एक बहु ने फैंक दिये, एक खा गई, एक ने सम्भाल कर रखे और एक ने उन्हें बहुत बढ़ाये। जिसने बढ़ाये और सम्भालकर रखे वे दोनों प्रशंसित हुई किन्तु जिसने फैंक दिये या खा गई वे निन्दनीय रहीं।

साधु साधिव्यों को भी पाँच महावत मिले हैं उन्हें सम्भाल कर रखना है। उन्हें नष्ट करने पर दो बहुओं के समान वे भी निन्दनीय हैं। जो व्रत नियमशील का विस्तार करता है वह सर्वत्र सम्मानित होता है।



बहुयं मा य आलवे

बहुत मत बोलो । बहुत बोलने से अनेकों कलह खड़े हो जाते हैं । कई बार बहुत अधिक बोलने वाला अकथनीय भी कह जाता है जिसका परिणाम भयंकर निकलता है । अधिक बोलने से आयु का क्षय भी जल्दी होता है । थोड़ा बोलो और वह भी सोचकर ।

शोक को रोक

शोक मत करो, शोक करना आर्तध्यान है, आर्तध्यान पाप है । जो हुआ, हो रहा है या होगा, वह सर्वज्ञों के द्वारा सब देखा हुआ है । कम-ज्यादा नहीं होता । अपनी भावना को शोक की आग में मत जलाओ । कहा है—

जीव रे तूँ, ध्यान आरत किम ध्यावे ।

जो जो भगवंत भाव देखिया, सो सो ही वरतावे ।

घटे बधे नहीं रंच मात्र काहे को मन डुलावे ॥

गुरु का उपकार

ज्ञान का प्रकाश देने वाले गुरु होते हैं । गुरु का उपकार अनन्त है । माता-पिता तो केवल जन्मदाता हैं, वे तन की रक्षा करते हैं किन्तु जीवन को, सार्थकता प्रदान करने वाले तो गुरु ही हैं । अनन्त माता-पिता भी आत्मा का जन्म-मरण नहीं मिटा सकते किन्तु एक सत्य-गुरु का दिया तत्त्वज्ञान अनन्त भव भ्रमण को समाप्त कर देता है ।

विनय लाभ का सौदा

विनयवान को सभी चाहते हैं । अतः विनयवान बनो । उत्तराध्ययन सूत्र में कहा है कि अविनयी, सड़े कान की कुतिया की तरह सभी जगह दुत्कारा जाता है ।

विनयवान, गुणियों से तो लाभ उठाता ही है, अमि-मानी और बेपरवाह लोगों से भी लाभ उठा लेता है ।

पाखण्ड कौन करता है ?

पाखण्ड तो मुलम्मा है । पीतल पर चढ़ा सोने का मुलम्मा कुछ ही दिन चमकता है अन्त में तो पीतल को ही सामने आना पड़ता है । जिनमें असलियत की कमी होती है वे ही व्यक्ति पाखण्ड करते हैं । सच्चे को दिखावट की कोई जरूरत नहीं ।

दो बीमारी

सिनेमा देखना और गन्दा साहित्य पढ़ना इन दो

खराबियों से आज हिन्दुस्तान की युवा पीढ़ी डूब रही है । भावी पीढ़ी को इन दो बुराइयों से बचाना हो तो इन दोनों के व्यापार को विलकुल बन्द कर देना चाहिए ।

सम्यक्त्व शुद्ध रखो !

सम्यक्त्व रत्न को संभाल कर रखो कुदेव, कुगुरु, कुधर्म से अपने को बचाओ । उपवास में टंटा लग जाये तो उपवास भंग हो जाये, पौषध में टंटा लगे तो पौषध भंग हो जाये किन्तु सम्यक्त्व से भ्रष्ट हो जाये तो अनन्त जन्म-मरण बढ़ जाये । अतः सुगुरु सुदेव और सुधर्म की उपासना करो ।

संग-वर्जन

जो सम्यक्त्व से भ्रष्ट है, उसका संग दूर से त्याग दो । दर्शन-भ्रष्ट का संग छोड़ो !

लाख और साख

“जाज्यो लाख पर रीज्यो साख” इस राजस्थानी कहावत के अनुसार भले ही हानि सहन कर लो, किन्तु अपनी पैठ (साख) मत जाने दो ।

हृदय मधुर रखो

कभी किसी जगह कड़क बोलने से कोई अच्छा कार्य हो सकता हो तो उसका प्रयोग सज्जन व्यक्ति करते हैं किन्तु उनका हृदय कड़क नहीं होता ।

त्यक्त की कामना मत करो

जिसका त्याग कर दिया, उस तरफ फिर कभी लालसा मत करो । रहनेमी को राजुल सती ने क्या कहा वह याद करो ।

राजुल ने कहा—

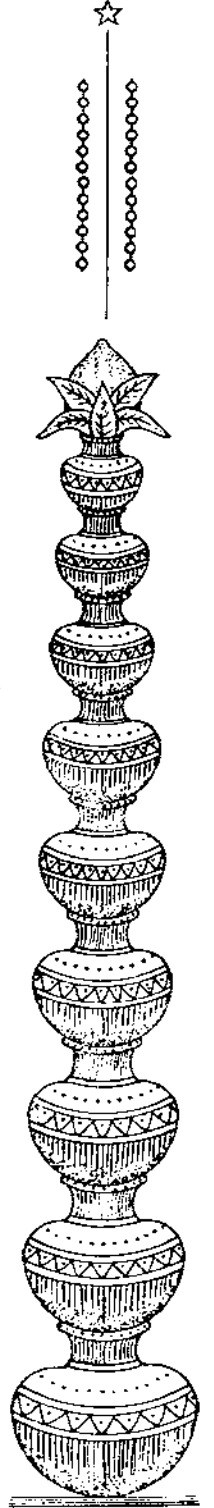
धीरथ्यु तेऽजसो कामी जो तं जीवियकारणा ।

वंतं इच्छसि आवेजं, सेयं ते मरणं भवे ॥

कठिनाई तो आयेगी

जीवन में कठिनाइयाँ तो आती ही हैं, जो अपने लक्ष्य पर हड़ रहता है उसी की बलिहारी है ।

जम्बू को उसकी आठों नारियों ने विचलित करने का बड़ा प्रयास किया किन्तु वे वैराग्य में अविचल रह गये तो स्वयं भी तिर गये और अनेकों को तार दिया ।



दहेज का दैत्य

समाज को दहेज का दैत्य खा रहा है। जरूरत है ऐसे सामाजिक वीरों की जो अपने पुत्रों की शादी के अवसर पर प्राप्त दहेज को त्याग कर केवल कन्या लेकर अपने घर आ जाये।

अपूर्व उदाहरण

धर्मरुचि अणगार को धन्य हो, जो अपने संयम की रक्षा के लिए जहर भी पी गये। ऐसा उदाहरण जिस परम्परा में मौजूद हो उस परम्परा के साधक धर्मभ्रष्ट हो जायें तो यह बड़े दुःख की बात है।

यह घोर अज्ञान

बड़े-बड़े चक्रवर्ती सम्राटों ने, धनाढ्य व्यक्तियों ने जिस धन-वैभव रूप मेल को उतार कर फैंक दिया, आज के श्रावक लोग उस मेल को प्राप्त करने के लिए कुकृत्य करें तो यह घोर अज्ञानता है।

छोटों का सम्मान

जो अपने से छोटे हैं उनका भी सम्मान करना चाहिए। उनकी सुख-सुविधा का अपने से ज्यादा ध्यान रखना चाहिये। कार्य स्वयं करें किन्तु यज्ञ छोटों को देना चाहिये।

विनय

भक्ति, भाव और विनय करने वाला सद्पुरुष स्वयं तिरता है और औरों को भी तिरा देता है। पंथक ने शिथिलाचारी गुरु को जाग्रत कर संयम मार्ग में स्थित कर दिया।

समय का सदुपयोग

रात और दिन का क्रम चल रहा है, इस क्रम में मास और वर्ष निकलते चले जाते हैं। वनमे वाले इसमें बन जाया करते हैं और बिगड़ने वाले बिगड़ जाते हैं।

सावधानीपूर्वक समय का सदुपयोग करिये।

न्याय को स्वीकार करो

न्याय की बात करना आसान है किन्तु न्याय को स्वीकार करना कठिन है। परस्त्रीगामी दुराचारियों को दण्ड देने वाला रावण स्वयं जब सीता को चुरा कर अपराधी हो गया तो दण्ड की बात भूल गया।

श्रेष्ठ भावना

श्रेष्ठ भावना से अल्प क्रिया भी महान फलदायक हो जाती है। जीरण सेठ श्रेष्ठ भावना से तिर गया। चन्दन-बाला ने उड़द के बाकुले बहराये, किन्तु श्रेष्ठ भावना से महान् लाभ उठा सकी।

श्रवण करो !

वीतराग वाणी का श्रवण करने का अवसर ढूँढना चाहिये। और जब अवसर मिले तो तन्मय होकर वाणी सुनना चाहिये क्योंकि श्रवण करने से ही ज्ञान विज्ञान प्राप्त होता है। शास्त्रों में कहा है—

“सवणे नाणे विप्राणे”

असत्य मत कहो

रात को रात कहो, दिन को दिन। किसी भी लालच में पड़ कर रात को दिन मत कहो। धर्म को धर्म और अधर्म को अधर्म कहो। किसी भी दबाव में आकर अधर्म को धर्म मत कहो, कुगुरु को गुरु मत कहो।

पाप पर पश्चात्ताप

पूर्व में किये गये पापों को केवल पश्चात्ताप करने के लिए या उनका प्रायश्चित्त करने के लिए याद करो। लालच की दृष्टि से पहले के पापों को याद करो तो जिनरक्ष की तरह पतन प्राप्त करोगे।

शंका समाधान में संकोच क्यों ?

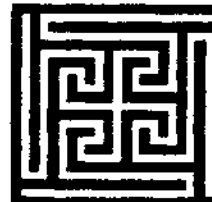
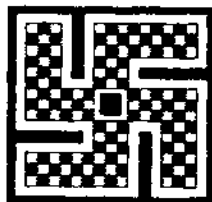
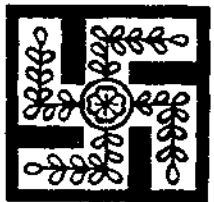
शंका होने पर उसका निर्णय करना चाहिए। निर्णय करने से ही समाधान होता है। अपनी बात पूछने में किसी तरह का संकोच नहीं होना चाहिये। गौतम स्वामी ने भगवान महावीर से हजारों प्रश्न पूछे तभी तो तत्त्वज्ञान स्पष्ट हुआ।

कसौटी करो

किसी दुराग्रह में तो नहीं पड़ना चाहिये किन्तु किसी भी बात को स्वीकार करने के पहले उसे वीतराग-विज्ञान की कसौटी पर कस लेना चाहिये। भगवान की आज्ञा के विरुद्ध कुछ भी स्वीकार नहीं करना चाहिये।

सभी स्थितियों में समान रहो !

सर्वदा एक समान स्थिति नहीं रहती है। एक कहावत है, “कभी घी घणां, कभी मुट्टी चणां, कभी वे भी



मना" । अतः दौलत के ढेर में अंधे होकर फूलो मत । हर स्थिति में अपने आप को ढालने की कोशिश करो ।

मन के मते न चालिये

अच्छे-अच्छे ज्ञानियों का भी मन कभी-कभी अवगत, प्रमाद कषाय और अशुभ योग में चला जाता है । किन्तु व्यवहार में वे अशुभ आचरण नहीं करते । इस तरह अशुभ में गया मन भी फिर शुभ में स्थिर हो जाता है । साधारण व्यक्तियों के लिए भी यह आदरणीय बात है । कभी मन में बुराई आ जाये तो अपने आचरण को बुरा मत होने दो । मन वापस मार्ग पर आ जायेगा । एक कवि ने कहा है—

मन लोभी मन लालची, मन कपटी मन चोर ।
मन के मते न चालिये, मन पलक पलक में और ॥

बोली बोल विचार कर

राजस्थानी में एक कहावत है "बोल्या ने लादा" वाणी से मानव का परिचय मिलता है इसलिए वचन सोच-समझकर बोलना चाहिये । कठोर, कर्कश, छेदन-भेदनकारी मर्मकारी, मृषा आदि कुभाषा नहीं बोलनी चाहिये ।

समता

बहुत पुस्तकें पढ़ लेने वाला और कई डिग्रियाँ ले लेने वाला विद्वान नहीं । सच्चा विद्वान तो वह है जिसने जीवन में "समता" रखना सीख लिया है ।

तृष्णा रोकने का उपाय

महलों और हवेलियों में रहने वालों को झोंपड़ी में रहने वालों की तरफ देखना चाहिये । ऐसा करने से उनकी तृष्णा रक सकती है ।

स्वयं श्रम करो

"काम सुधारो तो डीलां पधारो" जो कार्य अपने हाथ से हो सकता है वह अपने हाथों से कर लेना चाहिये ।

अपनी महनत से किया हुआ कार्य हीसार्थक होता है । कई शिष्य या सेवक भी सामने हों तो भी जीवन को पराश्रित नहीं ढालना चाहिये ।

मूर्खता

कम पढ़ पाना मूर्खता नहीं है, समझना नहीं या उल्टा समझना ही मूर्खता है ।

मोक्ष का मार्ग

बेतो भावे भावना, लेतो धरे सन्तोष ।
वीर कहे रे गोयसा, दोनों जासी मोक्ष ॥

दानी की भावना, उत्कृष्ट होनी चाहिये किन्तु मुनिराज जो ले रहे हैं उन्हें दान के अवसर और अपनी जहूरत का ध्यान रखना चाहिये । लेते हुए आत्म-सन्तोष धारण करके ले तो देना और लेना दोनों सार्थक हो जाता है ।

दृष्टि संयम

बहनें यदि भूषण पहनकर भैंस को बाँटा (खाद्य) रखे तो भैंस बाँटा देखती है । बहन के आभूषण और सजावट को नहीं देखती । ऐसे ही मुनिराज घरों में गोचरी जाये तो उनका ध्यान, आहार के कल्पाकल्प की तरफ रहना चाहिये, बहराने वाले की सजावट या घर की सजावट की तरफ देखने की आवश्यकता नहीं ।

धन, रक्षा नहीं करता

अनाथी मुनि जब गृहस्थ थे उनके पास बहुत वैभव था किन्तु वह वैभव उनकी रोगादि से रक्षा नहीं कर सका, ऐसे ही माइयो ! तुम भी अनाथ हो, धन-वैभव, परिवार तुम्हारी रक्षा नहीं कर सकते हैं ।

सच्ची रक्षा तो धर्म से होती है ।





गुरुदेव के गुरुभ्राता, शिष्य-परिवार : एक परिचय



श्रद्धेय गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज के दिव्य जीवन का संक्षिप्त परिचय पाठक पिछले पृष्ठों पर पढ़ चुके हैं। उनके जीवन की अन्तर्यात्रा एवं शिक्षा वचनों का स्वाध्याय करने के पश्चात् जीवन का आचार एवं विचार पक्ष स्वतः उजागर हो उठता है। व्यक्तित्व का शाब्दिक परिचय लम्बा न कर जीवन्त गुणों का निदर्शन एवं उनके स्वतः अनुभव से निःसृत वाणी का संचयन स्वयं ही गुरुदेव के समग्र व्यक्तित्व को प्रकट कर देते हैं।

गुरुवर्य के जीवन-दर्शन के पश्चात् उनके गुरुभ्राता एवं शिष्य परिवार आदि का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जाता है।

प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज के—एक गीत का पद्य है कि 'ज्योति से ज्योति जगते रहो' इसके अनुसार ज्योति से ज्योति जगते रहना यही तो है, किसी सद्गुरु का प्रशस्तोपक्रम।

प्रत्येक व्यक्तित्व में एक सम्प्रेषण तत्त्व होता है, वह यत्र-तत्र संप्रेषित होता रहता है।

पतनोन्मुख जीवन का सम्प्रेषण कलुषित होता है जबकि ऊर्ध्वमुखी जीवन का सम्प्रेषण ज्योतिर्मय।

पूज्य गुरुदेव श्री अपनी जीवनयात्रा में केवल स्वयं को बनाने में ही नहीं लगे रहे, अपने साथ कई ऐसे विरल व्यक्तित्व भी इनसे तैयार हुए जो अपनी क्षमता के अनुसार गुरु-पथ पर अग्रसर हैं।

श्री शान्ति मुनि जी महाराज

'जेठाणा' मालवे में कोई अच्छा-सा गांव है। श्री शान्ति मुनि जी का वहीं जन्मस्थल है। श्री जसराज जी, फुलाबाई, इनके माता-पिता थे। जन्म समय वि० सं० १९७४ का कार्तिक मास है।

सोलह वर्ष की उम्र में अपने पिता के साथ ऋषि संप्रदाय में संयम ग्रहण किया किन्तु किन्हीं कारणों से ऋषि संप्रदाय में दोनों मुनिराजों का निभाव नहीं हो सका।

संवत् १९९१ में दोनों मुनियों का पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज, पूज्य प्रवर्तक श्री आदि से दलोट में परिचय हुआ।

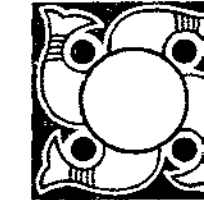
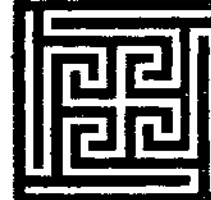
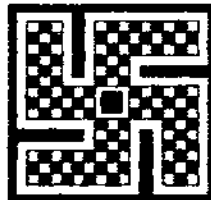
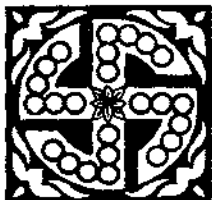
दोनों मुनि, यद्यपि संयम पथ पर अग्रसर थे किन्तु सहकार के अभाव में उनकी संयम नैया मझधार में डगमगा रही थी। उन्हें तत्काल सबल सहयोग की आवश्यकता थी और वह आवश्यकता पूरी हुई, पूज्य गुरुदेव श्री द्वारा।

सांप्रदायिक परंपरा के अनुरूप सैलाना में अक्षयतृतीया के दिन पुनरारोपण के साथ दोनों मुनियों को मेवाड़ मुनिसंघ में सम्मिलित कर लिया गया।

गुरु का नाम तो मुनि श्री के पिता-मुनि श्री जसवन्त राय जी का ही धरा, किन्तु श्री शान्ति मुनि जी पूज्य श्री को ही गुरु-स्वरूप मानते रहे तथा वरते रहे।

पूज्य श्री के सानिध्य में श्री शान्ति मुनि जी की जीवन-यात्रा के प्रमुख सहयोगी, पूज्य प्रवर्तक श्री भी थे।

श्री शान्ति मुनि जी के जीवन-निर्माण में पूज्य श्री का तो प्रमुख हिस्सा था ही, प्रवर्तक श्री का कम असर नहीं था।



मधुर वक्ता

श्री शान्ति मुनि जी की सर्वाधिक प्रसिद्धि का कारण उनकी वक्तृत्व कला था। वाणी में एक विशेष 'रस' था कि श्रोताजन झूम उठते।

मैंने देखा, दिन की अपेक्षा रात्रि में मुनि श्री का प्रवचन बड़े जोरों से खिलता।

उनके प्रवचनों में हजारों की उपस्थिति मैंने स्वयं देखी।

प्रवचन कथा प्रधान, गेयात्मकता लिये होता, किन्तु साथ ही एक लय चलती जो श्रोताओं को विमोह करती रहती।

मुकवि

श्री शान्ति मुनि जी 'कवि' हैं। उनकी सैकड़ों रचनाएँ हैं किन्तु प्रकाशित बहुत कम। अभी कुछ दिनों पूर्व श्री इन्द्र मुनि जी की प्रेरणा से "श्री शान्ति गीतामृत" नामक पुस्तिका प्रकाश में आई है।

श्री शान्ति मुनि जी की रचनाएँ, वैराग्य भक्ति तथा वर्णन प्रधान हैं।

अभिव्यक्ति सीधी, सरल और असर कारक है। शब्द योजना सुन्दर और मधुर है।

वीर जन्मोत्सव पर लिखि गीतिका की कुछ पंक्तियाँ देखिये—

तीन लोक के नायक, सहायक,
हैं जग के सुख कन्द।

भवदधि से भविजन को तारण,
प्रकटे त्रिशलानन्द ॥

जय जयकार गगन में करले,
सुर वर कोटिक वृन्द।

सिद्धारथ पुर खिल उठा है,
इन्द्रपुरी मानन्द ॥

अज्ञान तिमिर को नाश करन,
प्रभु प्रकटे सूरजचन्द।

धर्म नैया के सच्चे खिचैया,
प्रकथत सन्त महन्त ॥

श्री शान्ति मुनि जी का कवित्व मृत नहीं, जीवन्त है। उसमें आशा का सम्बल और उत्साह की गर्जना है।

कस कमर अखण्ड भूमण्डल में, यह जैन ध्वजा लहरा दूंगा।

अज्ञानियों ने फैलाये हैं, वे सब पाखण्ड हटा दूंगा ॥

अभिव्यक्ति की स्पष्टता देखिये—

यह काया मेघ की छाया, कटोरा कांच का सुन्दर।

छेह पल में दिखाएगा, तो इस पे व्यर्थ घुमराना।

जवानी होगी धूल धानी, उतर जाएगा यह पानी ॥

× × ×

हवेली रंग से रेली, नीलम से है जड़ी कंठी।

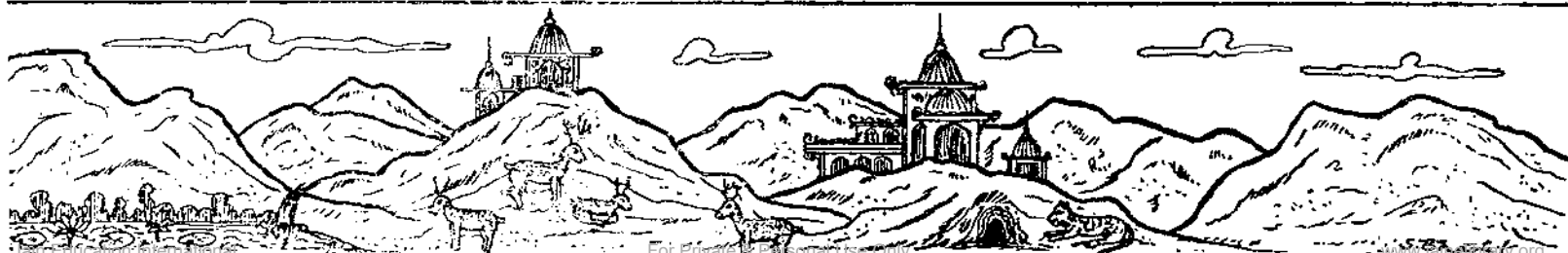
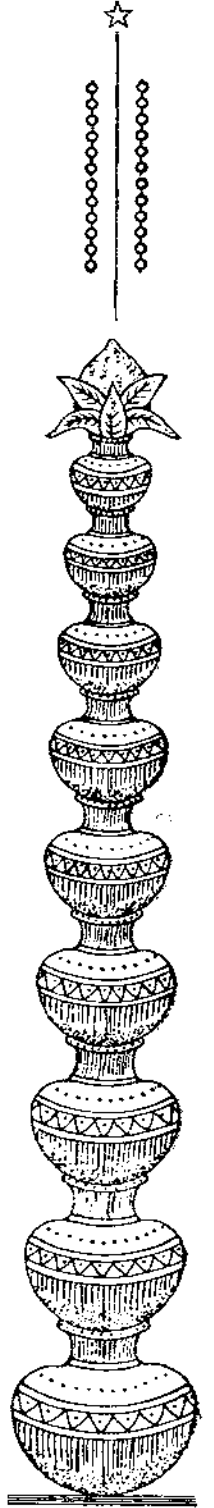
बगीचा रम्य भी संग में, न आता आँख मिच जाना ॥

मुनि श्री का कवि 'जैन' है, जैनत्व के शौरव से ओतप्रोत—

एक स्वर से सब पुकारें, जैन जयति शासनम्।

यह शासन है पाप विनाशक, मोक्ष का दातार है।

श्रद्धा धर लीजे सहारा, जैन जयति शासनम् ॥



कवि अन्य घर्मों के उपास्य के प्रति भी सहिष्णु और गुणानुरागी है—

मोरे मन बसिया घनश्याम, हो नन्द जी के लाला ।
मोर मुकुट शिर सांबरो, तन जग में सोहे ।
मधुरी बजावे कानो बांसुरी, सब के मन मोहे ॥

विद्यानुरागी

मुनिश्री बहुत अच्छे विद्यानुरागी हैं । अध्ययन और स्वाध्याय इनके हचिकर उपक्रम है । प्रवर्तक श्री के सानिध्य से, शास्त्र-ज्ञान भी अच्छा उपार्जित किया ।

विद्यानुराग का परिचय इससे मिल जाता है कि जब मैं 'जैन सिद्धान्त' की परीक्षाओं में सम्मिलित हुआ, तब मेरा तो शैशवकाल जो मुख्यतया अध्ययन के लिए ही होता है, था, किन्तु मुनिश्री तो प्रौढ़ता के निकट थे, फिर भी विद्यानुराग इतना गहरा था कि मेरे साथ अध्ययन में बराबर चलते रहे, और जैन सिद्धान्ताचार्य और अन्य कई परीक्षाएँ हमने साथ-साथ सम्पन्न की ।

मुनिश्री स्वभाव से सरल, मिलनसार तथा मधुर हैं, इधर मेवाड़ में उनका पूज्य श्री और श्रद्धेय श्री भारमल जी महाराज तथा प्रवर्तक श्री के साथ बहुत सघन विचरण रहा बहुत अधिक जन समुदाय उन्हें आज भी सप्रैम याद करता है । विगत कुछ वर्षों से, मुनिश्री सकारण मालवा के गाँव हातोद में ठहरे हुए हैं ।

श्री इन्द्रमुनि जी महाराज

ये श्री भारमलजी महाराज के शिष्य और प्रवर्तक श्री के गुरु भ्राता हैं ।

पदराड़ा (सिरा-प्रान्त-मेवाड़) निवासी, सकरींग जी सुथार पिता तथा कंकूबाई माता थीं । संवत् १९८३ के बैसाख मास में जन्म हुआ । तेरह वर्ष की लघुवय में ही विदुषी महासतीजी श्री सज्जन कुँवरजी के सम्पर्क में आये और वैराग्य मार्ग की तरफ उन्मुख हुए ।

संवत् १९९६ आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी गुरुवार के दिन वल्लभनगर (ऊँठाला) में, पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज के पवित्र सांख्यिक में दीक्षा सम्पन्न हुई । इस अवसर पर श्री मगन मुनिजी की दीक्षा भी साथ ही सम्पन्न हुई ।

विगत छत्तीस वर्ष से मुनिश्री संयम मार्ग में प्रवृत्त है ।

स्वभाव से विनोदप्रिय श्री इन्द्रमुनिजी शरीर से स्थूल किन्तु वाणी से मधुर है । व्याख्यान की इनकी अपनी छटा है । सम्पूर्ण व्याख्यान में एक सरसता चलती रहती है ।

आदर्श तपस्वी

इन्होंने सर्वाधिक प्रगति तप के क्षेत्र में की । एक माह, इकवीस दिन, पन्द्रह दिन अठाई आदि तप कई बार किये । अभी भी तप के क्षेत्र में आगे बढ़ने का प्रयास प्रायः किया ही करते हैं ।

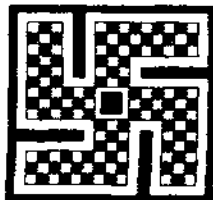
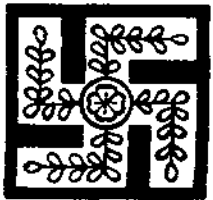
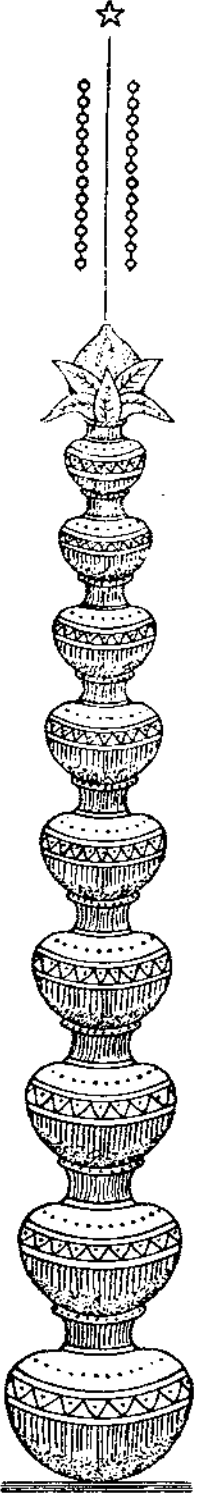
श्री मगन मुनिजी 'रसिक'

श्री मगन मुनि जी ज्ञाकरा (मदारिया) में श्री नाथूसिंहजी राठौड़ के यहाँ जन्म पाये । माता का नाम गेंदाबाई था ।

जन्म समय संवत् १९८५ का माना जाता है ।

लगभग ग्यारह वर्ष की वय में ठीकरवास निवासी श्री छोगालालजी बम्बकी की प्रेरणा से जैनधर्म का निकट से परिचय हुआ । श्रद्धेय श्री जोधराजजी महाराज, सम्बन्ध में 'काका' लगते थे अतः जैनत्व के संस्कारों का नितान्त अभाव तो नहीं था किन्तु श्री बम्बकीजी की प्रेरणा से उन्हें फलवान बनने का अवसर मिल गया ।

श्री मगन मुनिजी की दीक्षा ऊँठाला (वल्लभ नगर) में संवत् १९९६ आषाढ़ कृष्णा त्रयोदशी, गुरुवार को श्री इन्द्रमुनिजी के साथ ही सम्पन्न हुई ।



पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज के शिष्य स्थापित किये गये ।
दीक्षा के समय, ग्यारह वर्ष के लगभग वय थी ।

सादगी प्रिय-मधुर भाषी एवं कवि

श्री मगन मुनिजी स्वभाव से मृदुल एवं मधुर भाषी है । सादगी इनके जीवन का प्रमुख अंग है । परिधान आदि में सादगी के क्षेत्र में सौ वर्ष प्राचीन मेवाड़ी जीवन का प्रतिनिधित्व आपको मुनिश्री के जीवन में मिलेगा ।

मुनिश्री बहुत अच्छे गीतकार हैं । राजस्थानी, मुख्यतया मेवाड़ी शैली की इनकी रचनाएँ आकर्षक और बड़ी उपयोगी हैं । गीतों की भाषा एकदम सरल और मेवाड़ी शैली के ठीक अनुरूप है । यही कारण है कि इनके गीतों का प्रचार केवल जैन ही नहीं अजैनों में भी बड़ा व्यापक है ।

अभिव्यक्ति की सहजता और भाषा का तादात्म्य इनके गीतों का प्राण तत्त्व है । एक प्रसिद्ध गीत की पंक्ति देखिए :—

आओ ए सखी री, धीमी धीमी चालो ।
जनम्यो जनम्यो रे, गोकुल में कानों बंशी वालो ॥

मुनिश्री के गीतों में, लोकगीत के रूप ढलने की बड़ी योग्यता है क्योंकि वे लोक राग के आधार पर ठीक-ठीक गाये जा सकते हैं ।

प्रसिद्ध लोकगीत घूमर की अनुरूपता का एक उदाहरण देखिये—

ए म्हारा, रघुवर लेवा कद आसी ए मोरी मांय ।
सियाजी लंका में घणों हदन करे ।
पंचवटी में बांधी, झूंपडली ।
ऐ में तो फल फूल खाइ ने दन काइया ए म्हारी मांय.....

गणगीर भी राजस्थान का एक प्रसिद्ध लोकगीत है, श्री नेम-जन्म पर, मुनिश्री की गीतिका की तदनु रूपता का एक उदाहरण और उपस्थित किया जाता है—

नेम नगीना जनम्या सखि म्हारी,
दर्शन चालां आज ।
अजी म्हारे हिवड़े हरष मराय
सखि म्हारी, बावीसवां जिनराज ॥

मुनिजी की रचनाओं के निम्न संग्रह प्रकाशित हो चुके हैं—रसीले गीत, अनमोल गीत, गीत मंजरी, गीतलता, गीतों का घूम-धड़ाका, गीतों की फुलवारी, चन्दना जीत गई, सज्जन संगीत, सज्जन गीतांजली आदि ।

मुनिश्री के गीत “रसिक” नामक उपनाम से पहचाने जा सकते हैं ।

सौभाग्य मुनि ‘कुमुद’

गुरुदेव श्री का एक शिष्य मैं भी हूँ । मैं अपना क्या परिचय दूँ ?^१

“धर्म शासन एवं गुरुदेव श्री के चरणों में समर्पित एक जीवन्त पुण्य” बस मेरा इतना परिचय ही बहुत है ।

१ श्री सौभाग्य मुनिजी एक अव्ययनशील, भावुक कवि, तेजस्वी लेखक और ओजस्वी वक्ता हैं । धारा प्रवाह कविता करते जाना, संगीत की लय में नये स्तवन भजन गुनगुनाते ही रचते जाना इनका सहज स्वभाव बन गया है । जब लिखने बैठते हैं, तो बस एक ही प्रवाह में जमकर इतना लिख जाते हैं कि उसे भाव-भाषा-शैली की दृष्टि से उसे पुनः सुधारने की भी आवश्यकता नहीं रहती । आपके अनेक काव्य छप चुके हैं । ‘धर्म ज्योति’ पत्रिका के प्राण प्रतिष्ठापक आप ही हैं । युवक संगठन और जन-जीवन से आत्मीय सम्बन्ध बनाना आपकी रुचि है । प्रस्तुत अभि-नन्दन ग्रन्थ के अनेक खण्डों का लेखन एवं सुन्दर सम्पादन आपके कृतित्व का स्पष्ट प्रमाण है ।

—प्रबन्ध सम्पादक



श्री मदन मुनि 'पथिक'

श्री मदन मुनि अपने गार्हस्थ्य-जीवन में, लक्ष्मीलालजी हींगड़ कहलाते थे। सरदार गढ़ इनका जन्मस्थल है। वि० सं० १९८९ जन्म समय है। श्री गमेरमलजी हींगड़ इनके पूज्य पिता हैं श्री मुन्दरबाई माताजी थीं। उनका दीक्षा लेने से पूर्व ही देहावसान हो चुका था।

वि० संवत् २००९ के वर्ष का परम विदुषी महासतीजी श्री रूपवती जी मधुर वक्तृ विदुषी महासतीजी श्री प्रेमवती महाराज आदि का चातुर्मास सरदारगढ़ था।

श्री लक्ष्मीलालजी हींगड़ को, उसी चातुर्मास में उक्त महासतीजी का धर्म-सम्पर्क मिला और तभी ये संयम की तरफ उन्मुख हो गये।

वर्ष भर दीक्षा के लिये अनुमति नहीं मिली, अन्ततोगत्वा अनेकों कठिनाइयों के बाद पारिवारिक स्वीकृति मिली और संवत् २०१० कार्तिक कृष्णा नवमी को मोलेला में दीक्षा सम्पन्न हो गई। दीक्षा पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज के सान्निध्य में सम्पन्न हुई। प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज को गुरु रूप में धारण किया।

स्वभाव से सरल श्री मदन मुनि सेवा का विशेष गुण रखते हैं।

संयम लेने के साथ ज्ञानाराधना का आलम्बन भी लिया और अध्ययन की तरफ अग्रसर हुए, फलतः "जैन सिद्धान्त शास्त्री" तक परीक्षाएँ पास कीं।

साहित्य सृजन की भी विशेष रुचि इनमें लगातार कार्य करती है। फलतः "जीवन कण" "प्रेरणा के प्रदीप" आदि दो-तीन इनके निबन्ध संग्रह निकल चुके हैं और भी निबन्धों के सृजन का प्रवाह चल रहा है। अभी-अभी ज्ञात हुआ है कि श्री मदन मुनिजी ने अञ्जना पर एक "नाटक" भी लिखा है जो शीघ्र ही प्रकाश में आएगा। नाटक जैसी विवादास्पद और जटिल साहित्यिक विधा पर चलने वाली कलम साहित्य प्रेम का जीवित परिचय है। आशा है, मेरे लघु गुरु-भ्राता मदन मुनि जी साहित्य के और नवीन 'कुसुम' खिलाले रहेंगे।

दर्शन मुनि

दर्शन मुनि का जन्म स्थान नंगावली (मेवाड़) है। देवकिशनजी नाहर और चांदबाई इनके माता-पिता हैं। जैन धर्म के संस्कार ठेठ बचपन से पाये हैं। जन्म संवत् १९८८ चैत्र शुक्ला चतुर्थी बनिवार का कहा जाता है। इन्हें ४१ वर्ष की वय में स्वतः ही संसार से उपरति हो गई और सभी कुछ छोड़कर गुरुदेव श्री की सेवा में पहुँच गये। अविवाहित होने से इन्हें विरक्त होने में ज्यादा कठिनाई का सामना नहीं करना पड़ा। सांसारस्थ भ्राता आदि को स्वीकृति देने के लिए इन्हें मनाना पड़ा अन्त में संवत् २०२९ माघ शुक्ला तृतीया को 'छोटा भाणूजा' नामक गाँव में इनकी दीक्षा पूज्य गुरुदेव श्री के हाथों सम्पन्न हुई।

दर्शन मुनि धुन के पक्के और सेवाभावी सन्त हैं। तपश्चर्या की भी अच्छी लगन है।

परमश्रद्धेय श्री माँगीलाल जी महाराज के शिष्यादि का परिचय

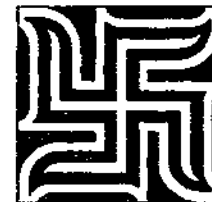
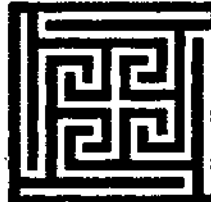
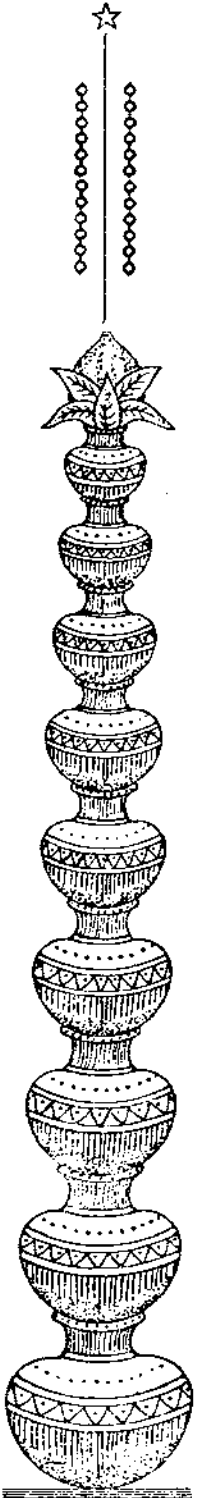
पं० प्रवर श्री हस्तिमल जी महाराज

पंडित प्रवर श्री हस्तिमल जी महाराज का जन्म-स्थान पलाना कलाँ है। संवत् १९७९ की चैत्र शुक्ला त्रयोदशी (महावीर जयन्ति) इनका जन्म दिन है। श्री नानालाल जी दुग्गड़ एवं जड़ावबाई इनके माता-पिता थे।

परम श्रद्धेय श्री माँगीलाल जी महाराज साहब के सदसम्पर्क से इनमें वैराग्यभाव का अभ्युदय हुआ।

जब ये संयम लेने को उत्सुक हुए तो बाधाओं के पहाड़ खड़े हो गये। सम्बन्धित सांसारिक-जनों ने कई कष्ट दिये किन्तु ये लगातार मुटक बने रहे।

अन्ततोगत्वा दृढ़ निश्चय की ही विजय रही और संवत् १९९६ माघ कृष्णा प्रतिपदा के दिन पलाना में दीक्षा सम्पन्न हो गई।



प० रत्न श्री हस्तिमल जी महाराज, ज्ञानानुरागी एवं स्वाध्यायशील रहे अतः शास्त्रीय ज्ञान भी अच्छा अर्जित किया।

गुरुसेवा का लक्ष्य प्रारम्भ से ही श्रेष्ठ था वह अन्त तक किया।

परमश्रद्धेय श्री मांगीलाल जी महाराज की सेवा में रहते हुए भी तथा उनके स्वर्गवास के बाद भी इनका विचरण भारतवर्ष के सुदूर प्रान्तों में प्रायः होता रहा।

भारत के दक्षिण प्रान्त को छोड़कर शेष भारत के अधिकांश हिस्सों में मुनि श्री का प्रभावशाली विचरण होता रहा।

इतने व्यापक विचरण के कारण अनेक सन्त महासती जी एवं अनेकों विचारकों, साहित्यकारों, राजनेताओं से मिलना होता रहा फलतः इनके पास अनुभवों का मुन्दर खजाना है।

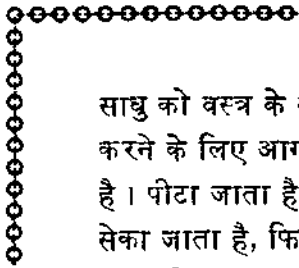
साहित्यकार

मुनि श्री बड़े साहित्यप्रिय हैं। इनकी प्रेरणास्वरूप कुँवारिया पीपली में साहित्य के भण्डार उपस्थित है। ये स्वयं भी साहित्य सृजन किया करते हैं।

आगम के अनमोल रत्न, दिव्य जीवन, तीन किरणें, रोड़ जी स्वामी का जीवन आदि कई पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। और भी प्रकाशन के पथ पर आने की सम्भावना है। मुनि श्री निरन्तर-जिन शासन के साहित्य भण्डार को भरे ऐसी हमारी कामना है।

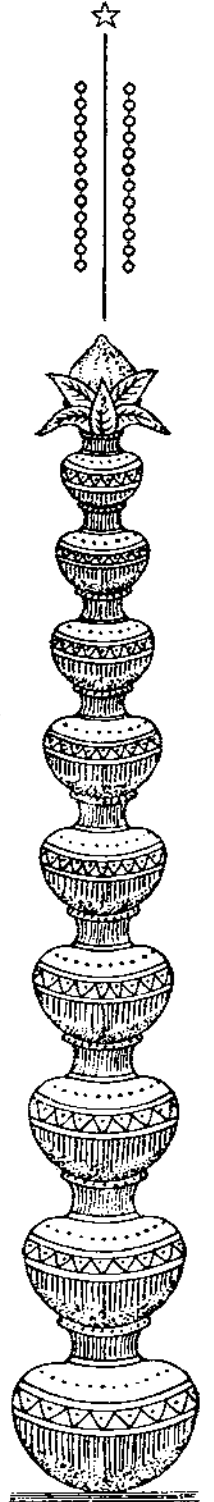
मुनि श्री के दो शिष्य हैं।

श्री पुष्कर मुनि जी—ये रायपुर के क्षत्रिय वंशावतंश है। इन्हें कविता करने की गीत रचने की विशेष रुचि है। श्री कन्हैया मुनि, झाड़ोल प्रान्त के हैं।



साधु को वस्त्र के समान सहनशील बनना चाहिए। वस्त्र को साफ करने के लिए आग पर चढ़ाया जाता है। क्षार में घुलाया जाता है। पीटा जाता है। धूप में सुखाया जाता है। गर्म इस्त्री से उसे सेका जाता है, फिर तह करके दबा-दबा कर बंद करके रखा जाता है। इतना सब कुछ करने पर भी जब मनुष्य उसे शरीर पर धारण करता है तो वह उसकी शोभा ही बढ़ाता है। यही सहिष्णुता साधु को और हर महत्वाकांक्षी व्यक्ति को सीखनी है।

—'अम्बागुरु-सुवचन'





□ श्री देवेन्द्र मुनि, शास्त्री, साहित्यरत्न
[जैन दर्शन के प्रसिद्ध विद्वान, लेखक एवं अनुसंधाता]

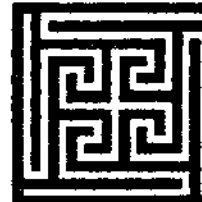
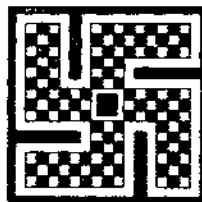
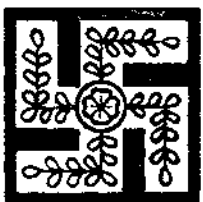
श्रमण-संघ की महान विभूति : प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज [व्यक्तित्व-दर्शन]

□

मंजलाकद, गेहूँआ वर्षा, विशाल भव्य-माल, अन्तर्मन तक पैठने वाली तेजस्वी नेत्र युगल, मुस्कराता सौम्य चेहरा, सीधा-सादा श्वेत परिधान और जन-जन के कल्याण के लिए निरन्तर प्रयत्नशील, गम्भीर व्यक्तित्व को लोग मुनि प्रवर प्रवर्तक अम्बालाल जी महाराज के नाम से जानते-पहचानते हैं। उनका बाह्य व्यक्तित्व जितना आकर्षक और लुभावना है उससे भी कहीं अधिक गहरा और रहस्यमय है उनका अन्तर व्यक्तित्व जिसमें सागर के समान गम्भीरता है, सूर्य के समान तेज है, सुधाकर के समान शीतलता है, हिमालय के समान अचलता है, वसुन्धरा के समान सर्व सहनता है, ध्रुव के समान धैर्य है, बालक के समान सरलता है, युवक के समान उत्साह है, और वृद्ध के समान अनुभव सम्पदा है। ऐसा विलक्षण और रंगीला व्यक्तित्व एक अदृश पहिली नहीं तो फिर क्या है ?

मुझे आपके दर्शनों का सर्वप्रथम सौभाग्य सन् १९५० में नाई ग्राम में मिला था। उस समय आप अपने आराध्यदेव पूज्य मोतीलाल जी महाराज के साथ थे। उस युग में सम्प्रदायवाद का बोलबाला था, एक दूसरे से वार्तालाप करने में भी लोग कतराते थे और धर्म को खतरे में समझते थे। एक साथ में, एक मकान में ठहरना सम्भव नहीं था अतः पृथक्-पृथक् मकानों में हम ठहरे हुए थे। मैं पूज्य गुरुदेव महास्थविर श्री ताराचन्द्र जी महाराज व पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज के साथ था। जहाँ तक मुझे स्मरण है कि शौच के लिए जब बाहर जाते तब दोनों महारथियों में परस्पर वार्तालाप होता था। पर दर्शन होने पर भी मेरा उनसे व्यक्तिगत परिचय न हो सका। मैंने इतना ही सुना कि अम्बालाल जी महाराज थोड़े व शास्त्रों के एक अच्छे जानकार सन्त हैं।

सन् १९५७ में पूज्य गुरुदेव श्री पुष्कर मुनि जी महाराज जयपुर का शानदार वर्षावास पूर्णकर उदयपुर वर्षावास के लिए पधार रहे थे। उस समय आप श्री अपने गुरुदेव के साथ देलवाड़ा गाँव में स्थानापन्न थे। श्रमण संघ बन चुका था। पहले के समान अलगाव व दुराव नहीं रहा था। एक ही मकान में एक ही साथ ठहरे। इस समय आपको जरा गहराई से देखने का अवसर मिला। मुझे अनुभव हुआ कि आप केवल शास्त्रों के जानकार ही नहीं पक्के सेवानिष्ठ सन्त भी हैं। मंत्री मुनि श्री मोतीलाल जी महाराज का शरीर अत्यधिक स्थूल था, वे अपना आवश्यक कार्य भी अपने हाथों से उस समय नहीं कर सकते थे। आप बिना किसी भी संकोच के दिन रात उनकी सेवा में लगे रहते थे। मैंने सहज रूप से आपको कहा—यह कार्य लघु सन्त भी कर सकते हैं आप श्री को अन्य आवश्यक कार्य करना चाहिए। आपने कहा—देवेन्द्र ! प्रथम कार्य गुरुओं की सेवा का है। गुरुओं की सेवा से जी चुराना आत्म—बंचना है। हम बैठे-बैठे टुगर-मुगर देखते रहे, और अन्य छोटे सन्त सेवा करते रहे यह क्या हमारे लिए उचित है। हमें सेवा का उपदेश देकर नहीं अपितु सेवा का आचरण कर वह आदर्श उपस्थित करना चाहिए जिससे वे स्वयं भी उस कार्य में प्रवृत्त हों। अन्य उनके शिष्यों के रहते हुए भी मैंने उन्हें अपने गुरुदेव की शौचादि को परठते और उनसे खराब हुए वस्त्रों को



साफ करते देखा है। आप श्री की प्रस्तुत सेवा निष्ठा को देखकर मेरी स्मृति पटल पर नन्दीषेण मुनि की कथा चमकने लगी। वस्तुतः लच्छेदार भाषण देना सरल व सहज है पर सेवा करना अतीव कठिन है।

जिज्ञासा की दृष्टि से आगम साहित्य के सम्बन्ध में मैंने कुछ जिज्ञासाएँ प्रस्तुत कीं, उन्होंने जो समाधान किया उससे मुझे यह प्रतीत हुआ कि उनके मन के कण-कण में आगम के प्रति गहरी निष्ठा है। उनमें तर्क की नहीं किन्तु श्रद्धा की प्रमुखता है। उन्होंने कहा—हम सन्त हैं, हमारे चिन्तन, मनन का मूल स्रोत आगम है। आगम की इस पुनीत धरोहर के कारण ही हम साधु बने हैं, छद्मस्थ होने के कारण आगम के गुरु-गम्भीर रहस्य यदि हमारी समझ में न आये तो भी हमें उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा रखनी है। पण्डितों की भाँति आगम की शक्य-विक्रिस्ता करना हमारा काम नहीं है। मुझे उनकी यह बात बहुत ही पसन्द आई।

सन् १९६४ में अजमेरपुरी अजमेर में शिखर सम्मेलन का भव्य आयोजन था। उस आयोजन में सम्मिलित होने के लिए पूज्य गुरुदेव श्री जालोर का वर्षावास पूर्णकर चैनपुरा पधारे। उस समय आप भी अपने शिष्यों सहित वहीं पर विराज रहे थे। वहाँ से शिखर सम्मेलन में सम्मिलित होने के लिए आप श्री ने पूज्य गुरुदेव श्री के साथ ही विहार किया। इस समय लम्बे समय तक पंच प्रवर श्री अम्बालाल जी महाराज के साथ रहने का अवसर मिला। अत्यन्त निकटता के साथ आपके जीवन को गहराई से देखा, परखा, एक सम्प्रदाय का नेतृत्व करने पर भी आप में विनय गुण पर्याप्त मात्रा में देखने को मिला। पूज्य गुरुदेव श्री आपसे दीक्षा में बड़े हैं अतः हर प्रकार से उनका अनुनय-विनय करना आप अपना कर्तव्य समझते थे। जब तक साथ में रहे तब तक कोई भी कार्य बिना पूज्य गुरुदेव श्री की अनुमति के नहीं किया। जब मैंने इस बात का रहस्य जानना चाहा तब आपने मधुर शब्दों में कहा—धर्म का मूल विनय है। मूल के अभाव में शाखा, प्रशाखा का अस्तित्व किस प्रकार रह सकेगा। देखो सामने वृक्ष पर मधुमक्खी का छत्ता है। इसमें शताधिक मक्खियाँ हैं। पर इसमें एक मक्खी जिसका नाम रानी मक्खी है जब तक वह छत्ते में बैठी रहती है तब तक ये हजारों मक्खियाँ भी उसमें आकर बैठती हैं, ज्यों ही यह मक्खी उड़कर अन्य स्थान पर चली जाती है त्यों ही ये सारी मक्खियाँ भी उड़कर चली जाती हैं।

मैंने प्रतिप्रश्न किया — इससे आपका क्या तात्पर्य है ?

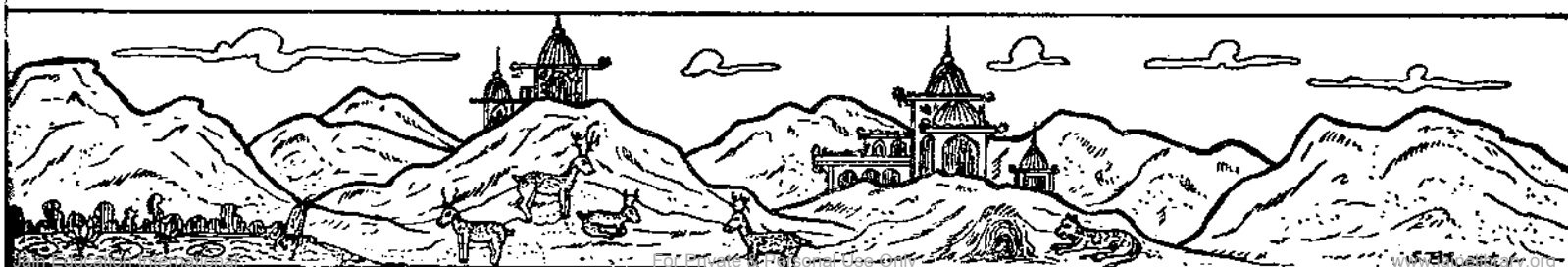
उन्होंने कहा—रानी मक्खी के समान विनय है। जीवन रूपी छत्ते में जब तक विनय रूपी रानी मक्खी रहेगी तब तक हजारों अन्य सद्गुण खींचे चले आयेगे, पर ज्यों ही विनय गुण नष्ट हुआ नहीं कि अन्य गुण भी मिट जायेंगे अतः अभिमान को सन्त तुलसीदास ने पाप का मूल कहा है।

ट्रेन स्टेशन पर आती है किन्तु जब तक सिग्नल नीचे न गिरे तब तक वह स्टेशन में प्रवेश नहीं करती, वह बाहर ही खड़ी रहती है। अभिमान का सिग्नल जब तक नहीं गिरता है तब तक ज्ञान रूपी ट्रेन भी जीवन रूपी स्टेशन में प्रवेश नहीं कर सकेगी। बाहुबली का प्रसंग तो तुम्हें मालूम ही है। बारह महीने तक उग्र ध्यान की साधना करने पर भी उन्हें अभिमान के कारण केवल ज्ञान नहीं हुआ। किन्तु ब्राह्मी और सुन्दरी के उद्बोधन से अपने लघु भ्राताओं को नमन के लिए कदम उठाया त्योंही केवल ज्ञान हो गया, यह है जीवन में विनय का चमत्कार।

ध्वनि-विस्तारक यंत्र के प्रयोग के सम्बन्ध में मैंने उनके विचार जानने चाहे उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा—मेरा स्वयं का विचार इस जीवन में उपयोग करने का नहीं है। जो अपवाद में इसका उपयोग करते हैं उन्हें जाहिरात में प्रायश्चित लेना चाहिये। जो स्वच्छन्द रूप से इसका उपयोग करते हैं मैं उस श्रमण मर्यादा की दृष्टि से उचित नहीं मानता।

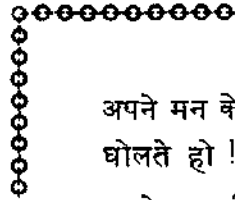
सन् १९७१ का बम्बई कांदावाडी का ऐतिहासिक वर्षावास पूर्ण कर पूज्य गुरुदेव श्री साण्डेराव सन्त-सम्मेलन में पधारे। वर्षों के पश्चात् पुनः आपसे वहाँ पर मिलन हुआ। अनेक सामाजिक विषयों में आपसे खुलकर विचार-चर्चा हुई।

पूज्य गुरुदेव सन् १९७३ का अजमेर वर्षावास पूर्णकर अहमदाबाद वर्षावास के लिए पधार रहे थे, आप श्री मोपाल सागर (मेवाड़) में पूज्य गुरुदेव श्री से मिलने के लिए पधारे। सम्बत्सरी की एकता किस प्रकार हो इस प्रश्न



पर गम्भीर विचार किया गया। मैंने इस चर्चा में यह अनुभव किया कि आपको अपनी परम्परा प्राण से भी अधिक प्यारी है, उसे किसी भी परिस्थिति में छोड़ने के लिए आप तैयार नहीं हैं, अंगद के पैर की तरह आप उस पर टढ़ हैं। इस सम्बन्ध में मेरा आपके विचारों से मतभेद अवश्य रहा पर मन भेद नहीं। मेरा विचार था कि संगठन के लिए यदि परम्परा छोड़नी पड़े तो भी उसके लिए सदा तत्पर रहना चाहिए। पर, महाराज श्री उसके लिए स्वप्न में भी तैयार नहीं थे। मुझे उनकी परम्परा-प्रियता को देखकर हार्दिक आश्चर्य हुआ। इसे कितने ही व्यक्ति उनकी हठवादिता मानते हैं, पर मैं उसे उनका दुर्गुण नहीं, सद्गुण ही मानता हूँ।

आपके जीवन के अनेक मधुर संस्मरण स्मृति-पटल पर आज भी नाच रहे हैं उन सभी को उद्विग्न किया जाय तो एक विराट्काय ग्रन्थ बन सकता है। पर अभिनन्दन ग्रन्थ की अपनी एक सीमा है। उस सीमा को लक्ष्य में रखकर मैं स्पष्ट शब्दों में साक्षिकार कह सकता हूँ कि परम श्रेष्ठ अम्बालाल जी महाराज श्रमण संघ की एक महान विभूति हैं जो स्वयं शंकर की भाँति जहर का घूँट पीकर संसार को अमृत बाँटना चाहते हैं। स्वयं नुकीले शूलों पर चलकर दूसरों के पथ में फूल बिछाना चाहते हैं। स्वयं अगरबत्ती व मोमबत्ती की तरह जलकर दूसरों को सुगन्ध व प्रकाश देना चाहते हैं। स्वयं चन्दन के वृक्ष की भाँति विषले भुजंगों से लिपटे रहकर भी दूसरों को अपनी मधुर सुवास से सुवासित करना चाहते हैं। अतः मैं उनका हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ। और यह मंगल कामना करता हूँ कि युग-युग तक जीकर अपने ज्ञान दर्शन और चारित्र्य की निरन्तर अभिवृद्धि करते हुए जन-जन का पथ-प्रदर्शन करते रहें।

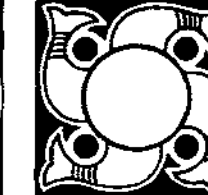
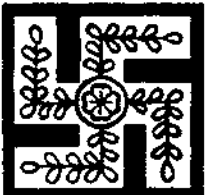
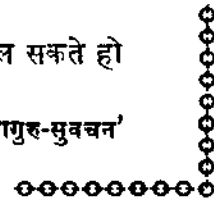


अपने मन के प्याले में यदि अमृत न घोल सकते हो तो विष क्यों घोलते हो !

अपने तन की तुला पर यदि हीरे न तोल सकते हो तो पत्थर क्यों तोलते हो !

अपनी जीभ से यदि मीठा और हृदयहारी वचन न बोल सकते हो तो हृदय को जलाने वाला वचन क्यों बोलते हो !

—'अम्बागुरु-सुवचन'



□ श्री शान्ति मुनि

[मधुर व्याख्याता तथा आमम अभ्यासी संत]

मेवाड़ प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज

वैराग्य

विक्रम सं० १९८२ की बात है। मेवाड़ महाराणा के तत्कालीन हाकिम साहिब श्री रणजीतसिंह जी खिवेसरा का दौरा मालवी जंक्शन की कचहरी में हुआ। तब उन्होंने एक जाने-पहचाने विश्वसनीय व्यक्ति को जेल के सीखचों में बन्द देखा और उनका हृदय तिलमिला उठा। समीप पहुँचकर तत्काल ही पूछ लिया कि क्यों हमीर! इस स्थान पर तुम कैसे? मैं तो आज तक तुम्हें एक सभ्य एवं सुशील नागरिक समझता आ रहा था, क्या मेरा विश्वास असत्य सिद्ध हो गया है? अच्छा तो बताओ, तुमने किस सुशीलता को कलंकित किया है, जिसके फलस्वरूप इस कारागृह के महमान बन बैठे हो?

हमीर ने कहा—“साहब! यद्यपि आप मुझे जानते हैं, तथापि मेरी जानकारी दुहरा देता हूँ। थामला मेरा जन्मस्थान है, औसवंशीय श्री किशोरीलाल जी सोनी का मैं किशोर हूँ, धर्मनिष्ठा श्री प्यार देवी माता का मैं लाल हूँ, और, आपकी देखरेख में काम करने वाला राज्य कर्मचारी मैं अमीन हूँ। मुझे मेरे पूर्व पुण्योदय से मेवाड़ भूषण सद्गुरु मुनि श्री (पूज्य श्री) मोतीलाल जी महाराज एवं श्री भारमल जी महाराज के दर्शन का लाभ मिला है और साथ ही उन्हीं के ज्ञानामृतोपदेश से सांसारिक व्यवहारों के प्रति उपरति-सी आ गई है। मैंने मेरे सम्बन्धियों के सामने अपने ये सद्बिचार रखे और उनसे दीक्षा की अनुमति चाही। सम्बन्धियों ने इस शुभ भावना से डिगाने के लिए अनेक प्रलोभन दिखाये। जब मैं अपने विचारों से विचलित नहीं हुआ तो मेरे लघु भैया श्री रंगलाल जी सोनी (आजकल चन्देसरा में रहते हैं) एवं दादीजी साहब ने शासन के समक्ष पुकार करके दीक्षा से वंचित करने के लिए यहाँ पर बन्द करवा दिया है। अब आप ही सोच सकते हैं कि मैं यहाँ बन्दी क्यों हूँ!”

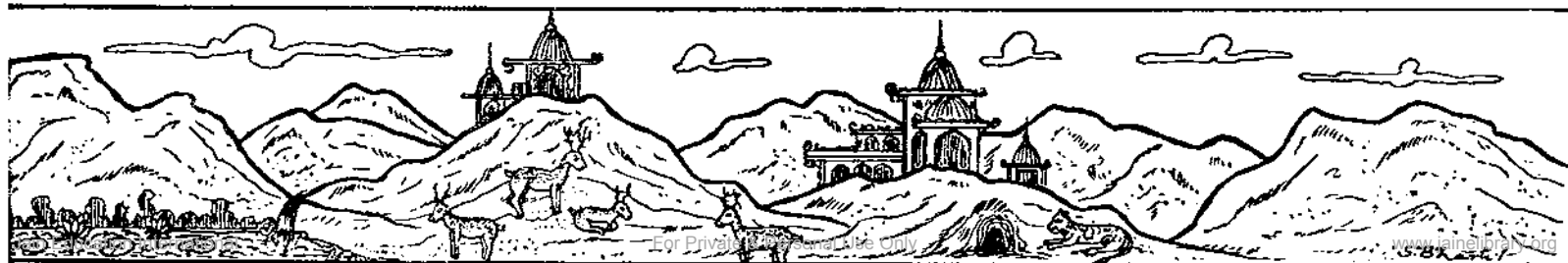
हाकिम साहब ने कहा—“हमीर! चिन्ता न करो, अपने पावन विचारों पर दृढ़ रहो, श्रेय कामों में विघ्न आते ही हैं। महात्मा गाँधी का उदाहरण सामने है; किन्तु याद रहे, उदयपुर पहुँचते ही तुम्हें आजाद न करवा दूँ तो मुझे रणजीत न कहना।”

तीन दिन के बाद ही उदयपुर के राजमहल में एक कौंसिल बैठी थी। तत्कालीन महाराजकुमार श्री भोपाल सिंह जी (महाराणा भोपाल) उस कौंसिल के अध्यक्ष थे—सामने ही हमीरमल को बुलवाया गया। दीक्षा से विचलित करने के लिए अनेक अनुकूल-प्रतिकूल प्रश्नोत्तर होने के बाद राजकीय अनुज्ञा प्रदान कर दी गई कि हमीर, तुम स्वतन्त्र हो, अपने जीवन का निर्माण करने में इच्छित पथ अपना सकते हो।

तदनुसार श्री हमीरमल जी की दीक्षाविधि महामहिम पावन गुरुदेव के करकमलों से ‘मंगलवाड़’ में समारोह पूर्वक सम्पन्न हुई और अब श्री हमीरमल जी ही श्री अम्बालाल जी महाराज के नामकरण से जैन समाज में प्रसिद्ध हुए। श्रद्धा के साथ दृढ़ वैराग्यात्मा को शतशः वन्दन!

शास्त्र-ज्ञाता

वैराग्य-धारा को बलवती एवं अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए शास्त्रज्ञान की पूर्ण आवश्यकता रहती है। इसी लक्ष्य से आप श्री ने श्रद्धेय गुरुदेव से सविनय शास्त्रों का पठन गहराई से करके पूर्ण सफलता प्राप्त कर ली।



इसी कारण आपको गुरुदेव एवं साथी मुनिमण्डल—महासती-वृन्द श्रावक और श्राविकाएँ शास्त्रज्ञाता एवं पंडित जी महाराज के नाम से सम्बोधित करने लगे ।

महाराज श्री को शास्त्रीय ज्ञान इतना प्रिय है कि अन्य कथानकों की अपेक्षा शास्त्रीय प्रमाण ही अपने व्याख्यान में देते रहते हैं । मैंने सैकड़ों व्यक्तियों के मुँह से सुना है कि शास्त्रीय व्याख्यान या तो महामना पूज्य श्री मन्नालाल जी महाराज के मुँह से सुना है या फिर आप श्री जी के मुँह से । शास्त्र-स्नेही जनता आपका व्याख्यान अतीव उमंग एवं एकाग्रता से रसपान करके अपने को धन्य समझती है । अनेक सन्त-सती-वृन्द आपसे शास्त्र-वाचना अधुनापि किया करते हैं । स्वयं मैंने भी आप श्री से १००/१२५ धोकड़े का ज्ञान प्राप्त किया है ।

चर्चाकार

आप श्री का शास्त्रीय ज्ञान केवल ऊपर-ऊपर का ही नहीं है, जैसाकि बहुधा देखने में आता है; आपका ज्ञान तो शास्त्रों के रहस्यों तक पहुँचा हुआ है और इसी रहस्य के आधार बल पर मेवाड़ में स्थानकवासी समाज पर आक्षेप करने वालों को आप सचोट प्रत्युत्तर प्रदान करते हैं ।

कई स्थानों का तो मुझे भी अनुभव है कि कई उद्दाम विचारक एवं आक्षेपी लोग आपसे चर्चा करने को आते और आपश्री से समाधान सुनकर निरुत्तर होकर लौटते हुए देखे गये ।

कभी-कभी तो आप अपने चालू व्याख्यान में आक्षेपियों को चर्चा के लिए बिह-गर्जना से आह्वान भी करते हैं ।

सेवाशील

शास्त्रज्ञान के साथ ही साथ आपके सुन्दर जीवन में सेवा-भावना तो साकार ही हो गई है । इस सेवा के क्षेत्र में भले फिर गुरुदेव हों, या अन्य कोई भी सन्त-सती । प्रत्येक की सेवा आप प्रफुल्लित चित्त से करते हैं । मेरा निजी अनुभव तो यहाँ तक है कि सेवा के लिए हाथ का कीर भी मुँह में नहीं लेकर वहीं छोड़कर सेवा को प्रथम आदर देते हुए आपको देखा है ।

आपश्री को सेवारत देखकर कभी-कभी मेवाड़ आचार्य श्री जी भी फरमा देते थे कि अम्बा तो मानो एक अम्मा ही है ।

मेवाड़ मन्त्री (आचार्य श्री) जी महाराज जब देलवाड़ा में ५ वर्ष स्थानापन्न विराजे तो आप श्री को निरन्तर अपनी सेवा में बनाये रखा । कभी-कभी कोई मुनि आचार्य श्री से विनोद में निवेदन करते कि प्रभो ! अन्य मुनियों की तरह पंडित जी महाराज को भी विचरने की आज्ञा प्रदान क्यों नहीं करते ? तो मेवाड़ गणनायक श्री का उत्तर होता— “पंडित सी सेवा अन्य मुनि नहीं कर पाओगे ।”

श्रद्धेयत्व

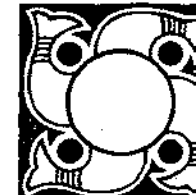
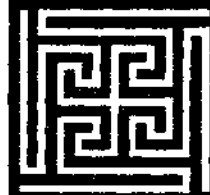
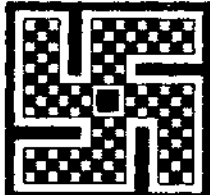
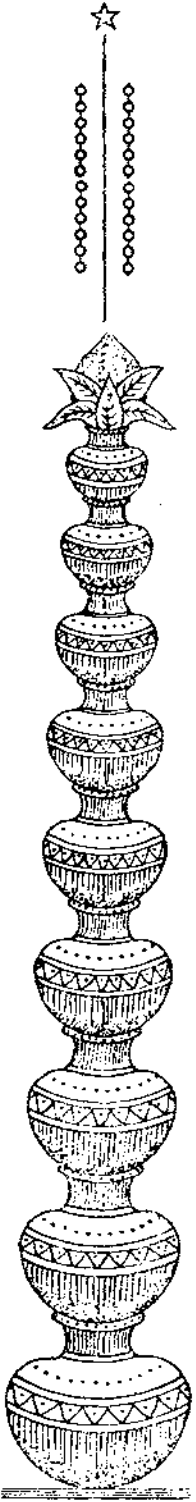
सेवा गुण के साथ-साथ नम्रता-सरलता-कर्तव्यदक्षता के सद्गुण भी आपके जीवन में बढ़ते ही जा रहे हैं । प्रमाद से आप सदैव दूर रहते हैं । दिन में बिना कारण आप शयन नहीं करते । रात्रि के प्रथम और अन्तिम प्रहर में भी आप चिन्तन-भजन-भजन-स्मरण अबाध रूप से करते हैं । इस प्रकार आपकी आत्मसाधना केवल प्रशंसनीय नहीं, अपितु आदरणीय-आचरणीय भी है । इस आत्मसाधना से आप श्री का प्रभाव भी अन्य पर पड़े बिना नहीं रहता । कई ग्रामों के, कुटुम्बियों के आपसी वैमनस्य आपके प्रभाव से समाप्त हो गये हैं और होते रहते हैं ।

प्रवर्तक

इस गुण-पुंज आत्मा को श्रमग संघ के आचार्य सम्राट् ने पहले तो मेवाड़ मन्त्री का पद और बाद में मेवाड़ प्रवर्तक का पद देकर सम्मानित किया है । इस प्रकार आप प्रवर्तक-मण्डल के सम्मानित सदस्य हैं ।

भूतपूर्व मेवाड़ सम्प्रदाय के नाते तो आपको मेवाड़-संघ-शिरोमणि, मेवाड़-मुकुट, मेवाड़ के मूर्धन्य सन्त, मेवाड़ रत्न, मेवाड़ गच्छमणि, मेवाड़ मार्तण्ड आदि मेवाड़ से सम्बन्धित सब कुछ पदवियाँ समर्पित हैं ।

आपकी इस दीक्षा स्वर्णजयन्ती की मंगलमय वेला में आपकी दीर्घायु के साथ-साथ आप श्री का यश-सौरभ दिन दूना रात चौगुना चारों ओर विस्तृत हो, इसी मंगलमय कामना के साथ सविनय कोटि-कोटि वन्दन स्वीकृत हो !



□ मदनलाल जैन

[B. A., LL. B., 'साहित्यरत्न' R. J. S.]

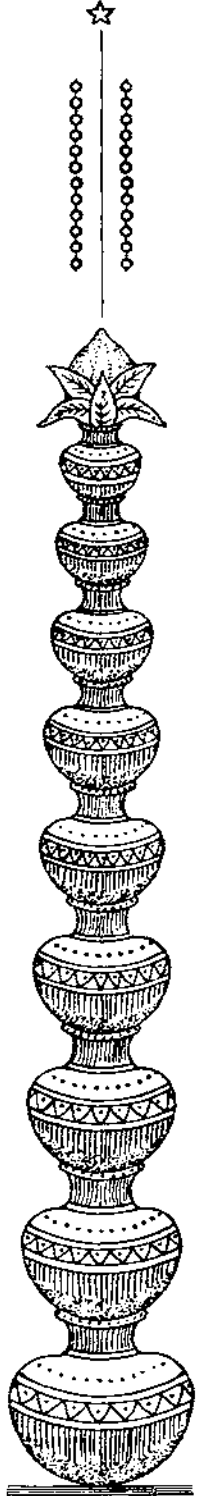
रचनात्मक प्रवृत्तियों के धनी : पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री

□

सरलता, मृदुता एवं सौम्यता के धनी पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री का जीवन निर्मल गंगा का प्रवाह-सा है जिसके किनारे शान्त लहलहाते उपवन से प्रतीत होते हैं। वैसे सन्तों का जीवन सरित प्रवाह-सा होता है परन्तु यदि पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री के लिये मेवाड़ का गौरव भी कह दिया जावे तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। उनका शांत, निश्चल एवं पवित्र जीवन भगवान महावीर की उस श्रमण परम्परा की याद दिलाता है जिसके माध्यम से विश्व में भारत ने जगद्-गुरु का पद प्राप्त किया! सत्य-अहिंसा का मूल मन्त्र फूँकने वाली यह श्रमण परम्परा सदा सर्वदा जनता का उपकार करती आई है। मेवाड़ भूषण पूज्य श्री की परम्परा का भार निभाने वाले पूज्य गुरुदेव श्री शास्त्रों के प्रकाण्ड पण्डित एवं ज्योतिष विद्या-विशारद हैं। उनका जीवन सदा सर्वदा मेवाड़ की भोली जनता का मार्ग प्रशस्त करने में बीता है और उनके हृदय में समाज में व्याप्त कुहड़ियों के प्रति तड़फ है।

मेवाड़-क्षेत्र राजस्थान का काफी पिछड़ा हिस्सा है। इसका गौरव अरावली की कन्दराओं व बीहड़ वनों में छिपा पड़ा है; जहाँ पर स्वतन्त्रता के उपासक एवं रक्षक महाराणा प्रताप ने अपनी वीरता का परिचय दिया था। घास की रोटियाँ खाकर भी जिसने आधीनता स्वीकार नहीं की व अन्तिम क्षणों तक प्रिय 'चेतक' की चेतना से झूझता रहा। इसी क्षेत्र में भामाशाह जैसे लोहपुरुष ने २५००० सैनिकों के २५ वर्षों के जीवन निर्वाह की राशि को महाराणा के चरणों में रख दी एवं पत्ना धाय ने अपने कर्तव्य का पालन अपने ही लाल का बलिदान करके किया! यह वही क्षेत्र है जहाँ पर साधनों की कमी से मानव भजदूरी के लिये भटकता है। शिक्षा के अभाव अभियोग से प्रेरित हमारा यह मेवाड़ कुहड़ियों से ग्रस्त है। हमारे समाज में रचनात्मक प्रवृत्तियों की भी कमी रही है। मेवाड़ के अंचल में तो ऐसी कोई भी संस्था नहीं थी जो समाज को नई दिशा दे सके। यहाँ पर ऐसा संगठित प्रयास कभी नहीं हुआ कि जिससे सामयिक प्रकाशन के साथ धार्मिक स्कूलों का संचालन हो सके एवं गरीब विधवाओं एवं छात्रों को भी मदद देकर उन्हें आगे बढ़ाया जा सके। यहाँ पर ऐसे काफी युवक एवं विचारक हैं जो रचनात्मक कार्य करना चाहते हैं परन्तु बिना मार्गदर्शन उन्हें गति नहीं मिली और इसी कारण समाज में अनेक ऐसे होनहार छात्र अर्थाभाव के विकास से महरम रहे एवं विधवाएँ रो-रो कर अपना जीवन पूरा करने में लगी रहीं और हमारा समाज मृत्युमोज, विवाह, दहेज एवं हीड़ के हथौड़ों की मार खाकर भी जीता रहा।

कहा जाता है कि जब प्रकाश की प्रथम किरण भी फूटती है तभी अंधकार विलीन होता है और यही बात पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री अम्बालालजी महाराज साहब का मीलवाड़ा चातुर्मास सिद्ध कर बैठे! उनके योग्य शिष्य व्याख्यान विशारद मुनि श्री सौभाग्य जी से मेरी बातें चलीं। पूज्य गुरुदेव श्री से भी विचार हुआ और प्रकाश के मानिन्द सन् १९६७ में मेवाड़ के अंचल में दैदिप्यमान संस्था "धर्म ज्योति परिषद" का सूर्य जगमगा उठा। कौन जानता था कि

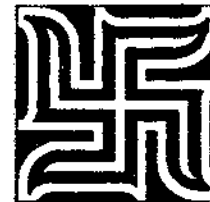
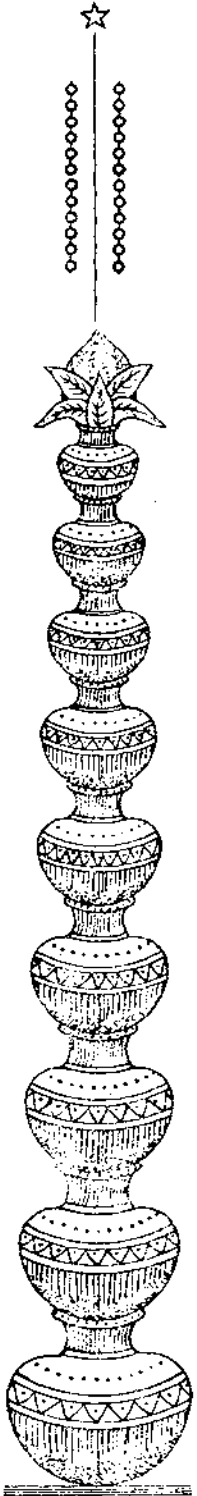


यह बालक अपने शैशव काल में ही बहुत कुछ कर लेगा परन्तु मैं तो यह मानता हूँ कि पूज्य श्री का वरद हस्त एवं उनके मुशिष्य श्री मौभाग्य मुनिजी का मार्गदर्शन हमें उत्साहित करने में निरन्तर आगे रहा वरना बहुत-सी संस्थाएँ कुछ समय के बाद जिस प्रकार लुप्त होती हैं वैसे यह भी लुप्त हो जाती। इस ८ वर्ष के मामूली से समय में भी परिषद ने धर्म ज्योति मासिक प्रकाशन को निरन्तर चालू रखकर भगवान महावीर के सिद्धान्तों को जन-जन तक पहुँचाया है। आज इसके ६२५ से अधिक आजीवन ग्राहक हैं एवं यह पत्र भारत के सब हिस्सों में पहुँचता है। वार्षिक ग्राहक भी हैं परन्तु आजीवन ग्राहकों का मापदण्ड ही पत्रिका का स्थायित्व होता है। सन् १९६७ के नवम्बर का प्रथम अंक से प्रारम्भ होने वाला "धर्म ज्योति" मासिक आज मेवाड़ क्षेत्र का प्रेरणा स्रोत है जिसमें पूज्यश्री का मार्गदर्शन आज इसकी काया-पलट कर चुका है। धर्म ज्योति का प्रकाशन ही धर्म ज्योति परिषद का प्रथम चरण है। १९६७ का लोकाशाह जयन्ति का वह पुनीत दिन आज भी हमें स्मरण है जिस दिन पूज्य श्री के मार्गदर्शन से इस पुनीत संस्था "धर्म ज्योति परिषद" का जन्म हुआ। तब पूज्य श्री ने समाज की स्थिति का दिग्दर्शन कराकर सद्कार्य का सन्देश दिया था।

धर्म ज्योति परिषद ने सर्वप्रथम 'धर्म ज्योति' मासिक पत्रिका का प्रारम्भ किया था और यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है कि इस ८ वर्ष के समय में कभी कोई अक बन्द नहीं रहा। पूज्य श्री के मार्गदर्शन से कार्यकर्ताओं की सजगता बनी रही। इसी प्रकार धर्म ज्योति परिषद ने विधवा, अनाथ एवं जरूरतमंद छात्रों को भी सहयोग दिया। विधवा सहायता हमारे समाज में अत्यन्त जरूरी है क्योंकि ऐसी अनेक बहिनें सहायता के अभाव में दो समय का खाना भी जुटा नहीं पातीं। यद्यपि काफी काम बाकी है फिर भी जो कार्य अब तक हुआ है वह भी हम पूज्य श्री की देन ही मानते हैं। मोलेला में पूज्य श्री के चातुर्मास के फलस्वरूप १९७२ में एक उपकेन्द्र की स्थापना हुई एवं फिर शाखा के रूप में कार्य फल गया। आज उस क्षेत्र में मोलेला केन्द्र के माध्यम से भी काफी स्कूल चल रहे हैं व बच्चों में धार्मिक अध्ययन हो रहा है। उधर भी बच्चों की सहायता एवं विधवाओं की सहायता के साथ-साथ पूज्य श्री के उपदेश से सामाजिक अभ्युदय को प्रेरणा मिली एवं उधर समाज ने ऐसे नियम बनाये जिससे कुरीतियों का अन्त होकर नवनिर्माण को चेतना मिली।

सन् १९६७ के वर्ष से ही इस रचनात्मक कार्य को ऐसी चेतना मिली कि गाँव-गाँव में नव निर्माण का विगुल बज उठा। भीलवाड़ा में स्वाध्यायशाला का कार्य, पटना में सामाजिक फूट का स्वाहा, उदयपुर में भी रचनात्मक प्रवृत्तियों का श्री गणेश एवं सनवाड़ में मूक पशुओं की बलि का अन्त भी पूज्य श्री के मार्गदर्शन एवं उपदेश का ही फल है। आमेठ में साहित्य प्रकाशन समिति के माध्यम से भगवान महावीर के उपदेश प्रचार का कार्य भी पूज्य श्री के ही आह्वान का ही प्रतिफल है। सनवाड़ में भगवान महावीर के २५वें निर्वाण शताब्दी के अवसर पर २५०० व्यक्तियों का दारुमांस त्याग का भी निश्चय किया गया सो पूर्ण हुआ तथा स्वाध्याय की कमी को पूरा करने के लिये स्वाध्याय शिविर एवं स्वाध्यायी तैयार करने के लिये महावीर स्वाध्याय केन्द्र की सनवाड़ फतहनगर में स्थापना भी पूज्य श्री के रचनात्मक स्नेह का ही प्रतिफल है। पूज्य श्री का ग्राम-ग्राम में चल रही तमाम ही जन-हितोपयोगी संस्थाओं को आशीर्वाद मिला है। आशा की जाती है कि धर्म ज्योति परिषद मेवाड़ का एक वटवृक्ष बन जावेगा जिसकी छांव में बैठकर प्रत्येक महावीर-पुत्र उस महावीर के मार्ग पर बढ़कर आत्मा से महात्मा एवं गुरु से परमात्मा की सीढ़ी तक पहुँचने की गति करने में समर्थ होगा।

पूज्य श्री को जिसने भी नजदीक से देखा है, उसने एक नवस्फूर्ति व चेतना पायी है। चाहे बूढ़ा, युवक या बालक हो, स्त्री या पुरुष किसी भी परिस्थिति में क्यों न हो पूज्य श्री से हर समय सीखा है। घनघोर अन्धकार में भी प्रकाश देने वाले पूज्य श्री का सब सम्प्रदाय एवं धर्मों के प्रति समान भाव है। उन्हें किसी पथ या सम्प्रदाय के प्रति मोह नहीं है। उन्होंने सर्वजनहिताय की परम्परा को हमेशा निभाई है। थामला जैसे छोटे से ग्राम में जन्मे पूज्यश्री आज मेवाड़ ही नहीं भारत के कोटि-कोटि लोगों की आशाओं के केन्द्र हैं। समाज को गौरव है कि ऐसे पूज्य श्री के सान्निध्य में मेवाड़ रचनात्मक प्रवृत्तियों के लिए जमा है। पूज्य श्री का जीवन जन-जन के लिये प्रेरणादायी साबित हुआ है और उनका ५० वर्षों का दीक्षा काल भी स्थानकवासी समाज ही नहीं समस्त जैन धर्म के लिये भी गौरव की बात है। पूज्य श्री का अभिनन्दन करते हुए हम उनके चिरायु होने की प्रभु से प्रार्थना करते हैं जिससे कि रचनात्मक कार्य गतिमान रह सके।



□ डॉ० नरेन्द्र भानावत एम. ए. पी. एच. डी

[विश्रुत लेखक एवं विचारक : प्राध्यापक, हिन्दी विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर]

अभिनन्दन : एक ज्योतिवाही साधक का

प्रवर्तक पूज्य श्री अम्बालाल जी महाराज साहब श्रमण संस्कृति के आदर्श सन्त, तत्त्वद्रष्टा और प्रभावी व्याख्याता हैं। राजस्थान का मेवाड़ प्रदेश त्याग, वलिदान, साहित्य, संगीत और कला का प्रमुख केन्द्र रहा है। शक्ति और भक्ति का अद्भुत समन्वय स्थल है यह मेवाड़ प्रदेश। यहाँ अनेकानेक सन्तों, यूरवीरों, देश-भक्तों और सती-साधवियों ने जन्म लेकर अपने साधनारत, तपोनिष्ठ, उदात्त जीवन से यहाँ के कण-कण को आलोकित और गौरवान्वित किया है। इसी गौरवमयी परम्परा के जाज्वल्यमान रत्न हैं—पूज्य श्री अम्बा गुरु।

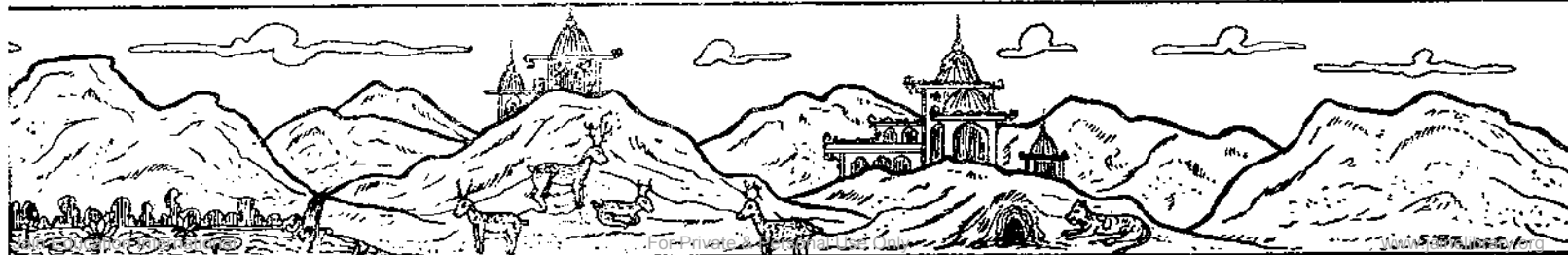
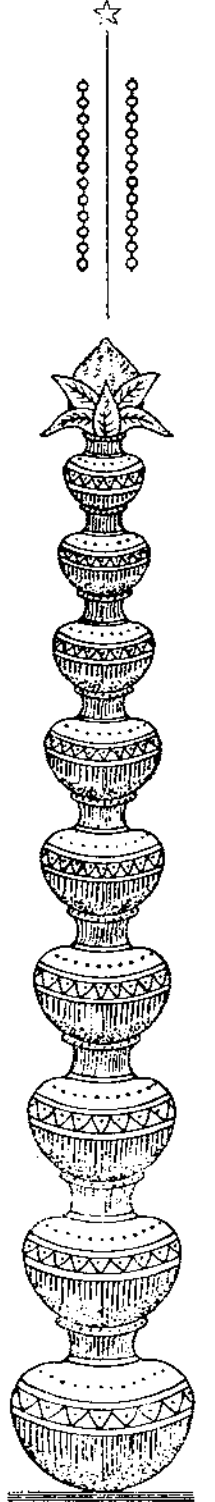
आप सरलता, त्याग, सेवा और साधना के मूर्तरूप हैं। भौतिक चकाचौंध और प्रभुता-प्रदर्शन से दूर रहकर एक शांत स्वभावी, आध्यात्मिक साधक के रूप में आप आत्म-कल्याण के साथ-साथ लोक-कल्याण में गत ५० वर्षों से सेवारत हैं।

आपने धर्म को जागरूक चेतना और प्रगतिशीलता का लक्षण माना है। जब-जब धर्म का यह प्रगतिशील तत्त्व मन्द पड़ जाता है तब-तब समाज की गति रुक जाती है। उसकी तेजस्विता धूमिल पड़ जाती है। धर्म के तेजस्वी रूप को सतत बनाये रखने की दृष्टि से ही आपने 'धर्म ज्योति परिषद' जैसे संस्थान को स्थापित करने की प्रेरणा दी। कहना न होगा कि आपके प्रभावकारी उपदेशों से प्रेरित होकर परिषद धर्म के ज्योति स्वरूप को जीवन के विविध पक्षों में परावर्तित करने का पुण्य कार्य लगातार कई वर्षों से कर रही हैं।

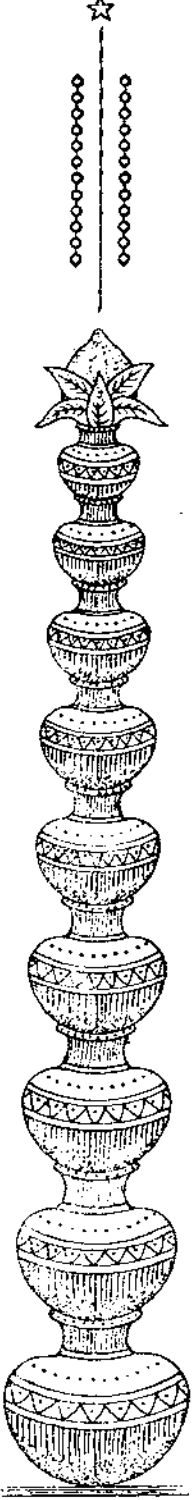
सम्भवतः सन् १९७० के दशहरा-अवकाश में मुझे डूंगला-चातुर्मास में आपके दर्शन करने का सौभाग्य मिला। उस समय मेरे साथ छोटी सादड़ी के पं० शोभाचन्द्र जी वया व श्रीमती सांता भानावत भी साथ थीं। हमें आपका प्रवचन सुनने का अवसर मिला। आपके प्रवचनों में तत्त्व मीमांसा के साथ-साथ समाज को अंध-विश्वासों और कुरीतियों से मुक्त करने की मार्मिक अपील रहा करती है। परस्पर बातचीत में आपने इस बात पर बल दिया कि वर्तमान पाठ्य-क्रम में धार्मिक शिक्षा अर्थात् सदाचार की शिक्षा का समावेश किया जाना जरूरी है।

उस थोड़े से सान्निध्य में मैंने देखा कि आप सरसमना, आत्मानुशासी, संयमनिष्ठ सन्त हैं। आप पारस्परिक मूल्यों को नयी दृष्टि देकर, उन्हें गतिशील बनाने के पक्षधर हैं। आपका मानना है कि युवा पीढ़ी ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अग्रसर, नये बोध से परिचित हो, यह अच्छी बात है; पर भारतीय उदात्त परम्पराओं की जीवंत संस्कृति से वह कटकर अलग-थलग हो जाये, यह अपने देश के लिये ही नहीं सम्पूर्ण मानवता के लिये हानिकारक है अतः समाज को चाहिए कि युवकों को अपनी महान संस्कृति और उसकी परम्पराओं का ज्ञान कराने के लिये स्थान-स्थान पर शिक्षण संस्थाओं, पुस्तकालयों आदि की व्यवस्था करायें। इसी अवसर पर मुझे आपके प्रबुद्ध शिष्य श्री सौभाग्य मुनिजी 'कुमुद' के दर्शनों का भी सौभाग्य मिला, जो सहज कवि और मधुर व्याख्याता होने के साथ-साथ उदार चिन्तक और विचारक भी हैं।

यह बड़े हर्ष और गौरव का विषय है कि ऐसे महान् सन्त के दीक्षाकाल के ५० वर्ष के समापन और ५१वें वर्ष के प्रवेश पर समाज में उनका सार्वजनिक अभिनन्दन कर, एक अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित करने का निश्चय किया है। यह अभिनन्दन वस्तुतः उस धर्म ज्योति वाहक का अभिनन्दन है जिसके प्रकाश और तेज की विश्व को आज सबसे बड़ी आवश्यकता है। यह ज्योतिवाही साधक शतायु हों और अपनी सहस्र अमृत किरणों से जन-जन का पथ आलोकित करता रहे :—इसी भावना के साथ सादर वंदनाजलि।



आशीर्चन एवं शुभकामना



□ आचार्य सम्राट श्री आनन्द ऋषि जी [श्री व० स्था० श्रमण संघ के प्रभावक आचार्य]

सहस्र-रश्मि सूर्य जब धरा पर चमकता है तो रात भर मुझपि हुये कमल खिल उठते हैं, पक्षी चहकने लगते हैं। नील गगन में जब सुधा-स्रावी शशि अपनी शुभ्र ज्योत्स्ना बिखेरता है तो कमलिनी विहंस-विहंस जाती है। चकोर नाचने लगता है।

इसी प्रकार संसार में जब कहीं भी, कमी भी, श्रमण संतों का त्यागी-तपस्वी आत्म-ध्यानी मुनियों और ऋषियों का अध्युदय होता है, उनका गुणोत्कीर्तन होता है। जिन शासन के प्रभावक और सत्य के लिए प्राणोत्सर्ग करने वाले सत्य-अहिंसा के जीवित तपोधनों की महिमा-गरिमा बढ़ती है तो भव्य हृदयों में हर्ष का ज्वार उमड़ने लगता है, प्रमोद और धर्मानुराग की रस धारा बहने लगती है।

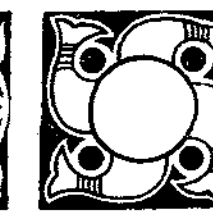
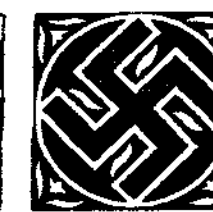
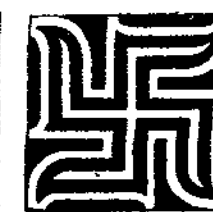
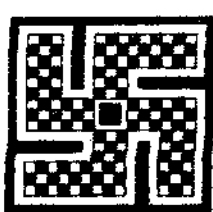
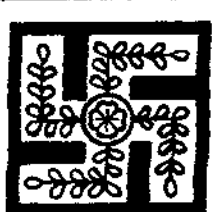
मेवाड़ संघ के परम आदरास्पद शांतमूर्ति आत्मलीन श्री अम्बालाल जी महाराज हमारे श्रमण संघ की एक दिव्य विभूति है। उनके हृदय में सरलता सौजन्यता एवं साधुता की त्रिवेणी बह रही है। मेवाड़ में जिन शासन की प्रभावना करते हुये वे जन-जीवन की कलुषता को धो रहे हैं। मेवाड़ की भव्य-धर्म प्राण जनता ने उनका अभिनन्दन करने का जो निश्चय किया है वह परम आल्हाद का विषय है। त्याग-तप-साधना की महिमा का यह विरल प्रसंग किसको आल्हादित नहीं करेगा ?

जब-जब मैं साधु-संतों एवं आत्मार्थी मुनियों का अभिनन्दन होता देखता हूँ तो मेरा मन उनकी तपःपूर्ण साधना और आत्मामिमुख उदात्त वृत्तियों का कोटि-कोटि

अभिनन्दन करने लगता है। श्री अम्बालाल जी महाराज अपनी उदात्त साधना के बल पर दीर्घकाल तक जिन शासन की प्रभावना करते रहें, यही मंगलकामना !

□ मरुधरकेसरी मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज [श्रमण संघ के प्रवर्तक, आशुकवि, प्रभावशाली संत]

स्वामीजी रो स्वभाव गणो आछो ने रलियामणो है, इगरी में आछी तरह सुं केई वार वानगी देखी हूँ। स्वामी जी में बड़ा रो आदर तो अणूतोहीज है। मेलमिलाप रो तो पूछो इज क्यू ? बोली में मीठापणो ऐरो है के जाणे इमरत ईज गोलियोरो है। सादगी सराबोल भगतां रे चित रा चोर, आचार-विचार रा सिरमोर और सेवा भगति रा झकजोर में तो खाणो पीणोइ भूल जावे। माला स्मरण सज्जाय तो प्राण सुं बतो जाणें। ज्ञान-ध्यान रो कोइ तो इतरो है के कइयोइो ही पुरवे नहीं। बखाण में भगवान री बाणी रे सिवाय और बातों सुणावण रो तो सूंस हीज लियोडो है। बोलण में, चालण में, पलेवण में, पूजण में और साधुरी मरियादा में तो मारवाइ रा धोरीयां रा जिसा मजबूत है। कपड़ा काठा पेरे वे पीण सादगी रा-जोरें आज रा जमाना री किणी तरह की हवा लागीज कोइनी पीण वारा बरताव सुं पुरा पुराणा साधु हीज लोग केवे। पुनवानी चौखी, सातावेदनी रो उदय आछो, बोली में लेणीयो। चेला भगती वाले—बीचरण में मोटा-मोटा हुंगर ने नाला, चारोइ संघ रा बाल्हा। मेवाड़ रे धरम रा रखवाला। मेवाड़ रा केसरी केवो—सिरोमणी केवो ने



भलेइ भूषण केवो जी को केवो जीकोइ छाजे है—ओ बाबो ने चमतकारी ने गुदड़ी में गरक है।

एक बार मैं कुसालपुरा मारवाड़ में नीचो पढगयो स्वामीजी सुणतां पाँण करडो बीहार करने जैतारण सुं साता पुछण ने पदार्या बठासुं साथ में वीहार कर चावंडीया आहार पांणी कर बठामु आथण रा वीहार करने रामपुरा रे बारे पीआड में रातरया—भाया साथै हा। रात रो मौको हो। एक भाई वीरदीचंदजी रो सामायक में पेट दुखणो आयो तो एरो आयो के कबूडा री नाई लूटण लाग। हाथ पग ठंडा पढग्याने बेहोसी आवण लागी—शरीर में पसीनो छुटो तो इण भांत को छूटो के पुछे जीकोइ कपडो तर हो जावे—माये माये भाया बातों करवा लाग के मामलो तो अबको है—जरे एक भभूतो कुं वार बोलीयो के सेठां ! थें केवोनी के मारा माराज तो बड़ा करामाती है—पछे आ करामातकदी काम आवेला—राजी हो चाहे बेरजी हो—मने तो कामद कोइज दीसीयो—ओ सुणतांई अम्बालालजी स्वामी भरडके देती मंगलीक सुणायी। जीसुं एकदम पेट री पीडा मीट गई ने वीरदीचंदजी आपरे गांव पगे पगे रवाने वेगीया—लोभों ने गणो अचंभो आयो ने कुं वारडो पीण पर्गा पडीयो ने केवा लागो के बाबो परचो जवरो बतायो। दूजे दिन चंडावल पौंचीया तो १२ बजीयां अम्बालाल जी स्वामी कयो के माराज आजइज सोजत पदारो तो ठीक है, नहीं तो अठे रकणो पडेला। मैं कयो कियू सा ? तो पाछे कयो के बरसाद जोरदार होवण वाली है और नदीयां नाला आवे जेरो परसंग है—जरा उठा सुं बीहार कर दोरा सोरा सोजत पाँच गया ने घन्टा भर सुं बरसाद भी सुरू हो गई। तीन दिन थोड़ी गणी बरसती ईज रई। ताल तलीया भरीज भया ने नदी नाला भी आ गया। इण दो वातांसुं मालम पडी के ओ गुपत तपस्वी है ने माल छाने भेलो करे है आगे भी मेवाडी सम्परदाय में पुज श्री मानमलजी महाराज काकराभूत तपस्वी ने वचनसिद्धी ही—राज राणा सारा संको मानता ने जगां जगां वाने जाणता हा और सारी मेवाड़ में वारो डंको बाजतो हो—वीणांरा चेल श्रि बालकृष्ण मुनिजी अणुता पडीयोडा हा ने वखाण भी नामी गीरामो हो, फेरू कवोवर्य श्री रीखबदासजी महाराज भी कविता करण में भी कमी राखीनी। वारा वणायोडा गणा सारा ग्रन्थ मौजूद है—महा भदरीक पुरुष ने चमतकारी

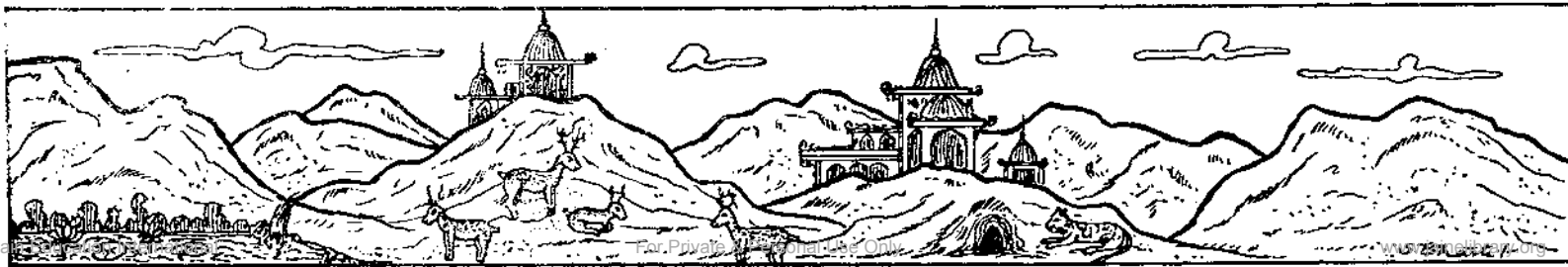
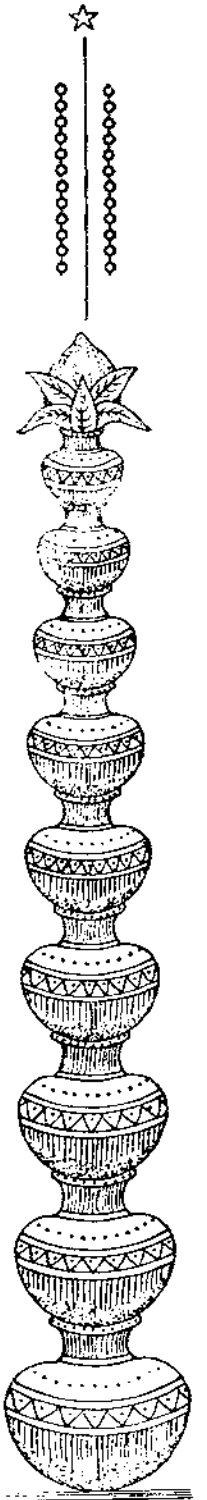
हा। पुज श्री एकलिंगदासजी महाराज साहेव सांत मुरती ओर पौंचीयोडा पुरुष हा। चेलारी सम्पदा पीण चोखी ही। मेवाड़ भूषण पूज श्री मोतीलाल जी महाराज ने तो वीया-खीयान रा मासटर के देवा तो कीं अणूती बात नहीं। देस दीसावरो में गणा धुमीया ने आपरो नाम आछो दीपायो। मारी खीमा मुनि श्री भारमलजी महाराज साहेव भी अबलीया जोगी हा। सदा चेरा ऊपर खुसी छायोडी रेती। मीठी-मीठी वांणी रो गंगा इज बेती ही जीकारा ऐरा ऐरा बडेरा गियान-क्रिया में टणंका हुवा हा सो पछे उणांरा वंसज श्री अम्बालाल जी स्वामी पीण ऊपर लिखी या मुजब नीवडीया तो काई नवी बात है—उण अदभुत योगीराज री पचासवां वरस री दीक्षा जयन्ती मेवाड़ वर्द्धमान स्थानकवासी जैन श्रावक संघ मनावण रो विचार कर रिया है। उण उपर मैं मारी तरफ सुं प्रेम री परसादी भेजू हूं ने हिरदय सुं चाहूं हूं के स्वामी जी श्री अम्बालालजी घणा वरस संयम में झूजे ने जसरी जालां भरे ने जिन मारग ने दीपावतां जयवन्त वरते।

□ राष्ट्रसंत उपाध्याय श्री अमर मुनि

[विश्रुत विद्वान, सिद्धहस्त लेखक, चिन्तक मनीषी]

श्री अम्बालाल जी महाराज का मेवाड़ के जन-जीवन पर अदभुत प्रभाव है। उनके प्रति जनता की बहुत गहरी श्रद्धा है, भावना है और वह उनके द्वारा प्रवर्धित मार्ग पर चलने को प्रयत्नशील है। मुनि श्री जी ने मेवाड़ की भोली-माली जनता को वर्षों के दीर्घ प्रयत्न से अंधविश्वासों और अशिक्षा के कुहरे से मुक्त किया है, उसमें धार्मिक चेतना के नये स्वर फूँके हैं, नये विचार और नये संकल्पों की शुभ धारा बहाने में अथक प्रयत्न किये हैं—यह जानकर किसे प्रसन्नता नहीं होगी। उनका कर्तृत्व मेवाड़-जागरण का साक्षीभूत है।

उनकी दीक्षा के ५० वर्ष की सम्पन्नता पर श्रद्धालु जनता उनकी साधना, सरलता और उनकी तपस्या का अभिनन्दन कर मगवान महावीर की सत्य-दृष्टि का अनुगमन और अनुमोदन कर रही है। महावीर के समता-प्रधान धर्म की गरिमा में चार चाँद लगा रही है। मैं तपो-धन श्री का अभिनन्दन कर हृदय की असीम मंगल कामनाएँ संप्रेषित करता हूँ। □



□ अध्यात्मयोगी श्री पुष्कर मुनि जी

[ओजस्वी वक्ता, शास्त्रवेत्ता तथा ध्यान-साधना रत वरिष्ठ संत]

मुनि प्रवर प्रवर्तक अम्बालाल जी महाराज मेरे स्नेही साथी मुनि हैं। वे मेरे साथ लम्बे समय तक रहे हैं, मैं उन्हें आज से नहीं अपितु वर्षों से जानता हूँ—खूब अच्छी तरह से जानता हूँ। उनका अभिनन्दन ग्रन्थ निकलने जा रहा है, यह एक आह्लाद का विषय है।

अभिनन्दन ग्रन्थ उन्हीं व्यक्तियों का निकलता है जिनके जीवन में त्याग-वैराग्य की सुमधुर सौरभ होती है, जो समाज और राष्ट्र के लिए अपने जीवन का बलिदान देता है। यों तो प्रतिदिन हजारों-लाखों व्यक्ति जन्म लेते हैं और मरते हैं। उनका जीवन विकार और वासना से राग-द्वेष से कलुषित होता है। जो जीवन भर अर्धदग्ध कण्डे की तरह विकारों का धुँआँ छोड़ते हुए जलते रहते हैं, उनका अभिनन्दन अथवा स्मृति ग्रन्थ नहीं निकलता।

आम फलों का राजा है, वह उच्च पदाधिकारी से लेकर गरीब व्यक्ति को प्रिय है। वह अपनी भीनी-भीनी सौरभ और मधुरता से जन-जन के मन को आकर्षित करता है। वैसे ही अम्बालाल जी महाराज धनवान से लेकर गरीब सभी को प्रिय हैं। यदि किसी को उनकी लोक-प्रियता प्रत्यक्ष देखनी है तो मेवाड़ के उन नन्हें-नन्हें गाँवों में जाकर देखें कि एक किसान से लेकर गाँव के सेठ तक उनसे किस प्रकार प्यार करते हैं और वे उन्हें किस प्रकार स्नेह प्रदान करते हैं। वहाँ की पारिवारिक, सामाजिक, धार्मिक आदि समस्याओं को किस प्रकार सुलझाते हैं। वे मेवाड़ के एक लोकप्रिय सन्त हैं, सभी की ज्ञान पर उनका नाम चमक रहा है। उन्हींने मेवाड़ की ग्राम्य-जनता के हृदय पर शासन किया है। वे मेवाड़ में जहाँ भी जाते हैं वहाँ पर भावुक-मत्तों की टोली उस प्रकार आ जाती है जैसे कमल की सुगन्ध को लेने के लिए भंवरे आ जाते हैं।

मैंने उनके अनेक बार प्रवचन सुने हैं, उनके प्रवचनों में जोश नहीं है किन्तु होश की मात्रा पर्याप्त है। भाषा का लालित्य व चमत्कार नहीं है, पर भावों का गाम्भीर्य अवश्य है। तर्क की प्रधानता नहीं किन्तु श्रद्धा की प्रमुखता है। वे प्रायः राजस्थानी भाषा में आगम पर या उससे सम्बन्धित विषयों पर प्रवचन करते हैं। उनके प्रवचन का उद्देश्य है जन-जीवन में धार्मिक-भावना जाग्रत करना और वे अपने

उद्देश्य में पूर्ण रूप से सफल भी हुए हैं, उन्हींने मेवाड़ के ऐसे प्रान्त में जहाँ पर धार्मिक-संस्कार का पूर्ण अभाव था, स्वाध्याय किस विड़िया का नाम है? यह भी लोग नहीं जानते थे वहाँ पर धार्मिक पाठशालाएँ स्थापित कर और युवकों में स्वाध्याय की भावना पैदा कर महान क्रान्ति की है।

यह मेवाड़ का लोकप्रिय महान सन्त युग-युग तक जीवित रहकर जैन धर्म की दिव्य व भव्य ज्योति को जगाता रहे। उनका शिष्य परिवार भी ज्ञान-दर्शन और चारित्र में निरन्तर प्रगति करता रहे यही मेरी हार्दिक शुभ कामना है।

□ प्रवर्तक श्री सूर्य मुनि जी

[जैन आगमों के गहन अभ्यासी, वक्ता एवं कवि]

पं० श्री अम्बालाल जी महाराज अपनी दीक्षा-पर्याय की अर्धशती पूरी कर रहे हैं—यह जानकर प्रसन्नता हुई। विशिष्ट चारित्रात्मा सदैव अभिनन्दनीय होते हैं। आप उनका अभिनन्दन कर रहे हैं—यह अच्छी बात है। वे अपनी चारित्र पर्याय में लम्बी अवधि तक भव्यात्माओं के अवलम्बन बने रहें और उनकी भक्ति के भाजन बनकर, चारित्र-निर्माण में असाधारण निमित्त बने—यही शुभ कामना है।

□ प्रवर्तक श्री विनय ऋषि जी

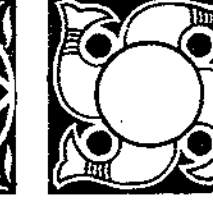
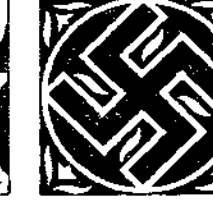
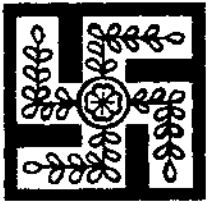
[प्रसिद्ध वक्ता, विचारक तथा योगनिष्ठ श्रमण]

जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में स्व-पर कल्याण किया हो वह व्यक्ति अभिनन्दन के योग्य माना जाता है।

प्रवर्तक पं० मुनि श्री अम्बालाल जी महाराज उन व्यक्तियों में से एक हैं। आप शास्त्रज्ञ, सुवक्ता, समाज-हितैषी, कर्मठ-सेवाभावी सन्त हैं। आपने मेवाड़-राजस्थान आदि क्षेत्रों में विचरण करके जनता की सामाजिक, धार्मिक, आध्यात्मिक, शैक्षणिक आदि प्रगति करने में अच्छा योग दिया है। आप अपनी साधना करते हुए धार्मिक संस्कारों का सिचन, प्रचार एवं प्रसार कर रहे हैं।

आपने अपने गुरुवर्यो के साथ राजस्थान, पंजाब, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र आदि क्षेत्रों में विचरण किया है।

आपकी दीक्षा के ५० वर्ष पूर्ण हुए हैं। अतः शासन-



देव से प्रार्थना है कि आप आरोग्यमय दीर्घायुष्य प्राप्त करें और शासन तथा समाज की अधिकाधिक सेवा करें। यही मंगल कामना है।

□ **मालव केसरी श्री सौभाग्यमल जी महाराज**

[विद्वान, प्रसिद्ध वक्ता तथा अनेक शिक्षण संस्थाओं के संप्रेरक]

मानव जीवन की सफलता उसके चरम लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है। मोक्ष-प्राप्ति के हेतु अनेक प्रयत्न किये जाते हैं, किन्तु साधु-जीवन ही एक ऐसा साधन है जो मोक्ष को प्राप्त कराता है। महान ऋद्धि वाले, सर्वसम्पदा से युक्त तीर्थंकर भगवान ने भी अपने जीवन में साधु वृत्ति अपनाकर साधना द्वारा मोक्ष प्राप्त किया।

प्र० पं० मुनि श्री अम्बालाल जी महाराज एक तपे हुए सन्त हैं। संगठनात्मक शक्ति पर्याप्त है और प्रचारात्मक शक्ति भी। छोटे-छोटे क्षेत्रों को भी पावन करके धर्म का संखनाद फूँकते रहे हैं। उनका जीवन आदर्श और अनुकरणीय है।

उक्त मुनिवर के दीर्घ जीवन की कामना करता हूँ ताकि वे अधिक से अधिक संयमी जीवन व्यतीत कर भव्य-जीवों को संसार रूपी समुद्र से तिरने का प्रशस्त मार्ग-दर्शन करते रहें।

□ **पं० मुनि श्री कस्तूरचन्द जी महाराज**

[प्रसिद्ध ज्योतिर्विद, स्थविररत्न प्रभावक श्रमण]

यह जानकर अत्यन्त हर्ष हुआ है कि मेवाड़केशरी, प्रिय धर्मोपदेशक, वीर वाणी एवं अहिंसा के प्रबल प्रचारक, तपोधनी प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब की अर्द्धशताब्दी भगवती दीक्षा के उपलक्ष में एक अभिनन्दन ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है।

प्रवर्तक जी कर्मयोगी, ही नहीं किन्तु दृढ़ धर्मयोगी भी

हैं। इसके साथ ही आप सुमधुर भाषी, सरल, सौम्य तथा मिलनसार एवं महान सेवाभावी मुनि हैं।

इन विगत ५० वर्षों में मुनि श्री ने गौरवमयी वीर-भूमि मेवाड़ में तथा सम्पूर्ण राजस्थान में भगवान महावीर का पवित्र सन्देश सुनाकर जनमानस को एक अपूर्व आध्यात्मिक प्रेरणा दी और उनका मार्ग-दर्शन किया है।

विश्वास है, आगामी कई वर्षों तक आप निरन्तर धर्म कार्य करते हुए विश्व शान्ति में सहायक होंगे। मैं आपके यशस्वी सुदीर्घ स्वस्थ जीवन की मंगल कामना करता हूँ।

□ **शासनसेवी मुनि श्री वृजलाल जी**

[उपप्रवर्तक, स्तोक ज्ञान के गंभीरवेत्ता, ज्योतिर्विद संत]

मेवाड़ की जैन जनता सन्त शिरोमणि प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज का अभिनन्दन-समारोह मना रही है, यह जानकर अतीव प्रसन्नता है, मुझे।

मुनि श्री जी के प्रति मेरी सतत् शुभ कामना है—वे चिरायु बनें और जिन-शासन की शोभा बढ़ावें।

□ **मेवाड़ भूषण श्री प्रतापमल जी महाराज**

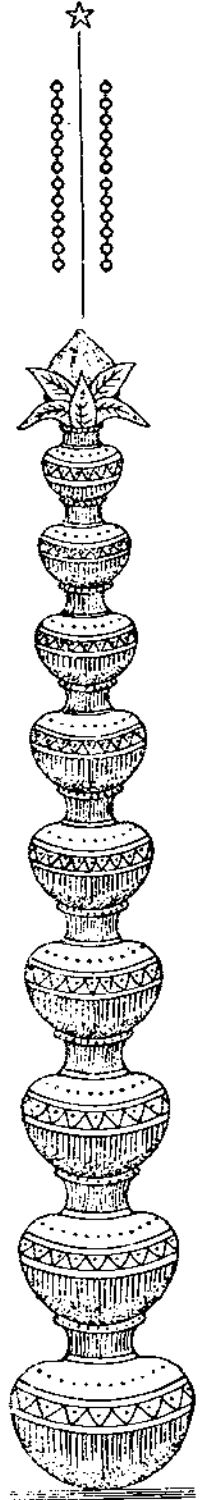
[मुदक्ष धर्म प्रचारक, प्रवक्ता एवं विद्वान श्रमण]

मेवाड़ संघ शिरोमणि प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब से मेरा काफी समय से स्नेह सम्पर्क रहा एवं साथ रहने का भी मुझे सुअवसर मिलता रहा है।

आप पूज्य प्रवर श्री एकलिंगदास जी महाराज के परम्परा में धैर्य-गाम्भीर्य गुणों से युक्त स्व० श्री भारमल जी महाराज के शिष्य रत्न हैं। लघुवय में दीक्षा स्वीकार कर रत्न-त्रय की आराधना करते हुए जिन शासन की श्लाघनीय सेवा में मय शिष्य परिवार से संलग्न हैं।

आप सरल-स्वभावी, विमल आचार-विचारी एवं सम्प्रदायवाद से निर्लेप रहे हैं।

आप दीर्घायु रहें, यही मेरी शत-शत शुभ कामना है।





श्रद्धार्चन एवं वन्दना

□ श्री हीरा मुनि 'हिमकर'

[कवि, गायक एवं सरल आत्मा]

श्रद्धेय परम पूज्य प्रवर्त्तक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब संयम साधना के क्षेत्र में चिरंजीवी हो। जैन जीवन प्राप्त होने पर अड़तीस वर्षों से मैं आपश्री की गुण गरिमा मुन रहा था, तथा वर्ष भर से सेवा में रहकर देखा है, दूर की अपेक्षा समीप रहकर सत्संग करने का बहुत आनन्द आता है।

केवल जीव के परिणाम ही अपौद्गलिक क्षायिक सम्बन्ध है। वेद्यवी मुनि वही हैं जो उन परिणामों को सम्यक् प्रकार से पहचान सकें। आप श्री वेद्यवी अर्थात् आगमवेत्ता होने से अपनी साधना में निरन्तर सावधान रहते हैं। आप श्री की दिनचर्या में आने वाले अनेक सद्गुणों में से एक विशेषता है कि दिन में अभी तक सुखे समाधे ध्यान नहीं करते हैं। इसी तरह से आप श्री की सरलता, नम्रता आदरणीय है। उनके सद्गुणों के प्रति मैं अपनी श्रद्धा के पुष्प अर्पित करता हूँ।

□ मदन मुनि 'पथिक'

[लेखक एवं कवि, गुरुदेव श्री के शिष्य]

भारतीय समाज के जीवन में गंगा नदी को जो महत्त्व है उसे कौन नहीं जानता? पूज्य गुरुदेव श्री भी स्वयं में एक ऐसी ही ज्ञान-गंगा है, जिसके तीर पर पहुँच कर और मात्र एक घूँट भर ज्ञान-वारि का आचमन करके ही अज्ञानी जन अपने समस्त जीवन के अज्ञान-कलुष को धो सकते हैं।

आपने जैन शास्त्रों का गम्भीर अध्ययन किया है। ज्योतिष शास्त्र तथा इतिहास के आप प्रकाण्ड-विद्वान हैं। अपने इस समस्त ज्ञान को आप जिस प्रभावशाली मधुर वाणी में उपदेश के रूप में प्रवाहित करते हैं, उसे सुनकर श्रोता विस्मय विमुग्ध रह जाते हैं, फिर चाहे वे श्रोता जैन हों अथवा अजैन, बालक हो या वृद्ध, पुरुष हो या देवियाँ, जानी हो या अज्ञानी। यही कारण है कि सैकड़ों व्यक्ति आपको सदैव घेरे रहते हैं—जन चातकों के समान



जो मेघ की ओर निर्निमेष दृष्टि से ताकते रहते हैं कि जाने किस क्षण स्वाति-विन्दु प्राप्त हो जाय।

क्या यह विस्मय की तथा साथ ही परम सौभाग्य की बात नहीं है कि आज ७२ वर्ष की आयु में भी आप सदैव की भाँति समाज की सेवा में संलग्न हैं? सच है।

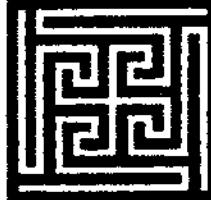
“परोपकाराय सतां विभूतयः।”

ऐसे महाज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, त्यागी महानात्मा के पुण्य चरणों में मागवती-दीक्षा के पचास वर्ष सम्पन्न होने के पुनीत अवसर पर हम विशुद्ध अन्तःकरण से अपने हार्दिक अभिनन्दन एवं श्रद्धा-सुभन सादर अर्पित करते हैं।

□ साध्वी श्री चारित्रप्रभा

[विदुषी लेखिका]

उनका व्यक्तित्व हिमालय की तरह महान है और कृतित्व अनन्त सागर की तरह विराट् हैं। उनके विराट् व्यक्तित्व और कृतित्व को शब्दों की सीमा में आबद्ध करना क्या सरल कार्य है? सहिष्णुता की मूर्ति, सरल स्वभावी, शान्त-मूर्ति, श्री १००० श्रीअम्बालाल जी महाराज के अभिनन्दन-ग्रन्थ का सन्दर्भ सामने आया तो मैं अपनी विचारधारा को रोक न सकी। श्रद्धेय गुरुवर श्रमण संघ के एक विशिष्ट साधक हैं, उनके सबसे प्रथम दर्शन मुझे देलवाड़ा में हुए—उनका सुगठित शरीर, उन्नत ललाट, उन्नत वक्ष, प्रबल मांसल भुजाएँ, तेजयुक्त गौर मुख-मण्डल, उनके आन्तरिक सौन्दर्य को प्रकट कर रहा था। मैं उनकी मनमोहन छवि को निहार कर मन में विचार किया करती थी, कि प्रकृति ने सारा सौन्दर्य समेट कर इनको दे डाला है। जैन श्रमण संघ तथा त्याग-साधना के आप अमर कलाकार रहे हैं। वाणी का माधुर्य, व्यक्तित्व का ओज, सत्य का सौन्दर्य तथा संयम की निष्ठा, आपके व्यक्तित्व के अपूर्व गुण रहे हैं। आपकी दृढ़ निष्ठा, संगठन शक्ति, रचनात्मक कार्य को सफल बना देने की अपूर्व सूत्र-



ब्रह्म और सत्य को जनता के गले उतार देने का वाग्दे-
गद्य सचमुच अप्रतिहत रहा है।

मुझे यह लिखते हुए प्रसन्नता और गौरव का अनुभव
होता है कि उनका जीवन ऐसा ही समर्पित जीवन है।
उनके अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रसंग को मैं एक महान् प्रसंग
मानती हूँ, मुझे कहना चाहिये कि इस सुअवसर पर यह
पंक्तियाँ लिखते हुए मेरा हृदय कृतार्थता का अनुभव कर
रहा है।

जितेन्द्रिय साधक ! आप श्री जी की धीरता, वीरता,
नम्रता, गम्भीरता, शांति-प्रियता, निर्मीकता, निष्पक्षता,
व्यालुता, सेवा भावना, दूरदर्शिता, वाक्पटुता, व्यवहार-
कुशलता, संयम-साधना एवं ज्ञानाराधना इत्यादि गुणों की
ज्योत्सना भू-मण्डल में जगमगा रही है। आपकी मधुरता
की स्मृति होते ही मुझे संस्कृत काव्य की ये पंक्तियाँ याद
आ जाती हैं—

अधरं मधुरं वदनं मधुरं,
नयनं मधुरं हसितं मधुरं,
हृदयं मधुरं गमनं मधुरं,
मथुराधिपतेरखिलं मधुरम्,
वचनं मधुरं चरितं मधुरं,
वसनं मधुरं वलितं मधुरं,
चलितं मधुरं भ्रमितं मधुरं,
मथुराधिपतेरखिलं मधुरम् ॥

ठीक इसी प्रकार आपका बोलना, हँसना, चलना सब
कुछ मधुर है। आपके नयनों में चातुर्य, माधुर्य-औदार्य और
साथ ही साथ दिव्य एवं भव्य जीवन का सत्य भरा हुआ
है। आपके चेतनामय वचन मुझाये हुए मानव फूलों को
नव चेतना और नव स्फुरणा प्रदान करते हैं। सचमुच
आपकी वाणी में एक अलौकिक प्रकार का जादू है जो
सुनने वालों के समग्र जीवन को आलोकित कर देता है।
परम श्रद्धेय जी के पुनित जीवन से कौन परिचित नहीं
होगा। उनके विषय में एक पाश्चात्य दार्शनिक हेगेल की
युक्ति मुझे याद आ रही है।

“What is well-known is not necessarily
known merely because it is well-known.”

व्यापाक एवं विराट् है उनकी परिचय प्रशस्ति को
शब्द शृंखला की कड़ियों में आवद्ध करना सूर्य को दीपक
दिखाने के समान है।

श्रद्धेय श्री गुरुदेव जैन समाज के उपवन में एक फूल

बनकर महके। आपकी छत्रछाया में जो भी आता है वह
आत्म-विभोर हो जाता है। उनके अभिनन्दन ग्रन्थ के
प्रकाशन के इस अवसर पर यद्यपि मैं इस शरीर द्वारा
निकट में नहीं हूँ, तथापि शब्दों के द्वारा सन्निकट होकर
अपनी तरह से उनका हार्दिक अभिनन्दन करती हूँ और
उनके दीर्घ जीवन और आरोग्यता की कामना करती हूँ।

“गुलाब बनकर महक तुझको जमाना जाने,
तेरी मीनी-मीनी महक अपना बेगाना जाने।”

“शेर की फूल चुने खूब फिरे दिल शाद रहे,
ऐ बागवाँ “चारित्र” चाहती है गुलशन सदा आबाद रहे।”

□ साध्वी श्री कुसुमवती

महापुरुषों का जीवन ज्योति स्तम्भ सदृश होता है।
इनका जीवन संसार भूले-भटके प्राणियों का पथ-प्रदर्शक
होता है। उन्हीं महापुरुषों में श्रद्धेय १००८ श्री अम्बालाल जी महाराज साहब का नाम भी उल्लेखनीय है।
जीवन सौरमय, पुष्प सदृश है, जिसकी महक समस्त
मेवाड़ को महका रही है।

सत्यनिष्ठा, सरलता, निर्भिकता, शान्ति और क्षमा
जिनके महान् गुण हैं। इनका जीवन निराला जीवन है,
साधना की ज्योति से इनका जीवन ज्योतिमय है। संयम
की साधना, मानवता की साधना, ज्ञान की साधना से इनका
जीवन ओत-प्रोत है। साधना-पथ के पथिक बनकर यह
उस पथ को प्रशस्त और उज्ज्वल बना रहे हैं। जीवन में
आये हुए विकट संकटों तथा उलझी हुई समस्याओं को सुल-
झाने के लिए यह दिव्य विभूति स्वयं भी धैर्य से कार्य करते
हुये विश्व के मानवों को भी शान्त धीर-गम्भीर बनने का
सन्देश चहुँ ओर प्रसारित कर रहे हैं।

मैंने इनके जीवन को गहराई से देखा, सदा मधुरता
का स्रोत ही प्राप्त हुआ। उनकी बैराग्य पीयूष धारा में
निमज्जित होकर आत्मा आनन्द से गद्-गद् हो गई।
विरोधिता की प्रचण्ड आँधी, कष्टों के, अन्धड़-झंझावात
उनको अपने गन्तव्य-पथ से कभी नहीं डिगा सकी। प्रेम
का झरना तो प्रवाहित है ही इसके साथ-साथ आप आगम
के ज्ञाता भी हैं।

श्रद्धेय श्री अम्बालाल जी महाराज का आगमों का
अध्ययन बहुत गहन है। आपने जैन-धर्म, जैन-दर्शन एवं
आगम साहित्य का तल-स्पर्शी अध्ययन किया, और उसके



उपर उनका गम्भीर चिन्तन भी रहा है। उनके प्रवचनों को सुनने पर उनकी विशाल दृष्टि, उनके विराट् व्यक्तित्व, गम्भीर चिन्तन एवं सब धर्मों तथा धर्म पुरुषों के प्रति आदर भाव के स्पष्ट दर्शन होते हैं। उनके जीवन की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि ज्ञान के साथ अभिमान एवं अहंभाव की कालिमा नहीं है।

किशोरावस्था में दीक्षा लेकर सूर्य के समान प्रकाश, चन्द्रमा के समान शीतलता एवं पुष्प के समान सुगन्धि प्राप्त की। आपके महान पांडित्य एवं विचार शक्ति के समक्ष महान से महान विचारक एवं तार्किक सहसा अपनी तर्क शक्ति को भूल जाते हैं, और पूर्ण रूपेण अपनी शंकाओं का समाधान पाकर सन्तुष्ट हो जाते हैं। आपका जीवन केतकी की तरह मुरमित है। द्राक्षा की तरह विकसित है। श्रमणसंघ का ही नहीं, सम्पूर्ण स्थानकवासी समाज का परम सौभाग्य है जो इस प्रकार की विमूर्ति प्राप्त हुई है—

“तुम सलामत रहो हजार वर्ष,
हर वर्ष के दिन हो पचास हजार।”

मेरी जड़ लेखनी इनकी अनन्त गुणावली को शब्दों की सीमा में नहीं बाँध सकती। इनकी महिमा अपरिमित है। मेरी सीमित बुद्धि इन विशाल गुणों का अँकन करने में असमर्थ है। तो भी भक्ति-भावना से निमज्जित होकर आपके इस अभिनन्दन ग्रन्थ में अपनी तरफ से यही मंगल कामना करती हूँ कि आप दीर्घायु हों, आरोग्य हों और जैन समाज की यह पताका इसी प्रकार ऊँची उठी रहे और मैं इनसे सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा ग्रहण कर अपने जीवन को आदर्शमय बना सकूँ।

“Let your knowledge be as wide as the horizon, your understanding as deep as the oceans and your ideas high as the heavens above.”

“श्रद्धा के अधखिले फूल ये, अमविधे मोती।
इनमें महक रही है झिलमिल ‘कुसुम’ हृदय की ज्योति।”
अभिनन्दन—

समता-शुचिता-सत्य समन्वित
पावन जीवन दर्शन।
आगम विचारक ! निस्पृह साधक।
लो शत-शत “कुसुम” अभिनन्दन।

□ साध्वी श्री उमरावकॉवर ‘अर्चना’

[प्रख्यात विदुषी, वक्तृत्व कला की धनी, चिन्तनशील लेखिका]

परम श्रद्धेय प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज के दर्शनों का सौभाग्य मुझे बहुधा मिला है। जब भी देखा, मैंने उन्हें अपने ज्ञान-ध्यान में मस्त पाया।

वे मेवाड़ देश में ही अधिकतर अपनी विहार यात्रा करते रहते हैं। उधर उनका गौरवपूर्ण वर्चस्व है।

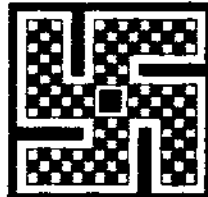
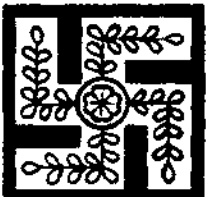
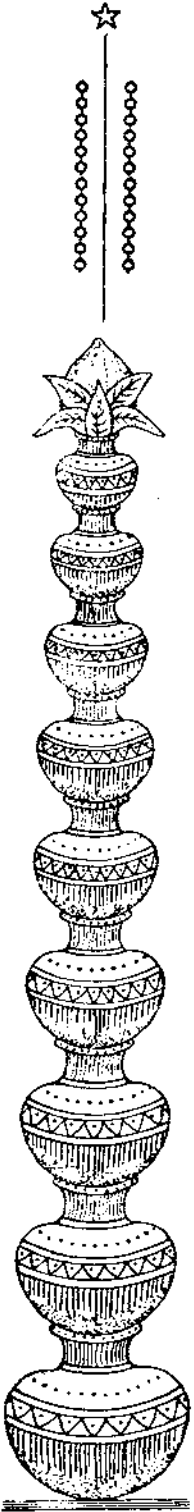
संयम-साधना में उनके चरण सतत बढ़ते चलें ! उनके श्री चरणों में मेरा शत-शत वन्दन-अभिनन्दन हो।

□ श्री रंग मुनि

विश्व के विराट् पुष्पोद्यान में लाखों पुष्प अपनी सुरभि के द्वारा जनमानस को आनन्दित एवं प्रफुल्लित करते हुए जीवन यात्रा व्यतीत करते हैं। उन्हीं पुष्पों का जीवन धन्य है जो विकासशील बनकर अपनी कोमलता के द्वारा जनमानस के हृदयपटल पर अपनी अमिट छाप अंकित कर देते हैं। पुष्प में तीन गुण होते हैं—कोमलता, सुगन्धि एवं कमनीयता। इन्हीं तीन गुणों के द्वारा पुष्प समादरणीय होता है।

मेवाड़ संघ शिरोमणि पूज्य प्रवर्तक शान्तमूर्ति पं० रत्न श्री अम्बालालजी महाराज अपनी शान्त-दान्त कोमल प्रकृति के द्वारा जनमानस को धार्मिक संस्कारों के द्वारा आग्लवित करते हुए मेवाड़ प्रान्त में विचरण कर रहे हैं। आपकी सहज प्रतिभा एवं सागर सम गम्भीरता से मेवाड़ प्रान्तीय धार्मिक श्रद्धालु जनता परिचित है। आपका ठोस शास्त्रीय ज्ञान भौतिकवादी चकाचौंध में पथभ्रान्त मानव के लिए प्रकाश पुञ्ज के समान मार्ग-दर्शक है।

आचारंग सूत्र के अनुसार—“जहा अन्तो तहा बाहि” आपका जीवन जैसा भीतर वैसा ही बाहर है। आप से कई बार साक्षात् दर्शनों का स्वर्णिम लाभ मिला। आपकी सहज निःसृत मिश्रल वाणी एवं तवनीत सम कोमल शान्त प्रत्येक मानव मन को बलात् धार्मिक क्षेत्र में आकर्षित करती रहती है। कई बार विवादास्पद विषयों पर गम्भीर चर्चाएँ करते हुए देखें। आपके नेत्रों में कभी रोष-निश्चित लालिमा नहीं देखी।



आपका जीवन सहज एवं आडम्बर रहित है। जैन शास्त्रों के आप प्रकाण्ड विद्वान हैं। आचारनिष्ठा के साथ अपना यशस्वी जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

आप मेवाड़ प्रान्त के दुर्गम पर्वतों एवं कंकरीले विषम मार्ग में अनेक परिपह सहन करते हुए धर्म-प्रचार में संलग्न हैं।

आपकी दीक्षा स्वर्ण जयन्ती के पावन प्रसंग पर श्रद्धालु-भक्तों के द्वारा श्रद्धा सुमन अर्पित करने हेतु अभिनन्दन-ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा रहा है, उसी अभिप्राय से मैं भी प्रेरणा प्राप्त कर श्रद्धा सुमन समर्पित कर रहा हूँ।

□ श्री ईश्वर मुनि

जननी जन्मदाता को 'माता' की संज्ञा दी गई है। विश्व में पुत्रों को जन्म देने वाली असंख्य माताएँ हैं। जो पुत्र जन्म पर अपने आप में गौरव का अनुभव करती हैं। तत्त्वज्ञों का कहना है कि केवल जन्म देने से ही उसके सार्थकता की पूर्ति नहीं हो सकती। अपनी सार्थकता की पूर्ति हेतु, उसे पुत्र को जन्म देने के बाद उसका पालन-पोषण इस प्रकार से करना होगा ताकि उसमें सद्गुण के बीज उत्पन्न हों। इस प्रकार का बालक बड़ा होने के बाद अपने सुकार्यों द्वारा न केवल अपना ही यश अजर-अमर करेगा, किन्तु अपने माता-पिता की स्मृति चिरस्थायी बनाए रख सकेगा। जो सन्तान अपनी माता के दूध को लजाता है वह आत्मघातकी समझा गया है। कहा भी है—

जननी जपे तो ऐसा जण, के दाता के शूर।

नहीं तो रहिजे बांझ ही, मती गमाजे नूर ॥

अर्थ—हे ! जन्म देने वाली माता ! तुझे यदि किसी सन्तान को उत्पन्न करना है तो ऐसी सुसंस्कारी सन्तानों को जन्म दे जो प्रथम दातार हृदय की हो अर्थात् समय आने पर गरीब, अनाथ एवं असहाय की आधारभूत बनकर दानी के नाम से प्रसिद्ध होवे; या फिर ऐसे शूरवीर को जन्म देना जो संकट के समय अन्यायी एवं अत्याचारियों का मुकाबला कर सके तथा समय आने पर न्याय-धर्म की रक्षा हेतु अपने प्राणों की आहुति भी समर्पित कर दे। यदि इस प्रकार के पुत्रों

को जन्म देने में तू असमर्थ है तो इससे तेरा बांझ रहना ही अच्छा है किन्तु तू अपनी आनखान को मत गंवाना।

गृहस्थाश्रम का त्याग करना कोई आसान नहीं है किन्तु जो प्राणी गृहस्थाश्रम से विमुक्त होकर विश्व-कल्याण हेतु अपना सर्वस्व अर्पित करता हुआ विधियुक्त षट्-कर्म करता है वह निश्चित रूप से प्रशंसा का पात्र है। जिस मेवाड़ के गौरव की रक्षा हेतु यहाँ की राणी पद्मिनी ने जलती हुई चिता में सहर्ष प्रवेश कर अपनी आहुति देदी उसी वीर भूमि में थामला ग्राम में सवत १६६२ में एक माता की कोख से ऐसे पुत्र का जन्म हुआ जो आज प्रत्येक श्रावक के अन्तःकरण में विराजे हुए हैं। यह 'भव्यमूर्ति 'पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज साहब' के नाम से विख्यात है, जिन्होंने अल्प आयु में ही मेवाड़भूषण पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज साहब के कर-कमलों से दीक्षा अंगीकार कर गृहस्थाश्रम से विमुक्त हुए।

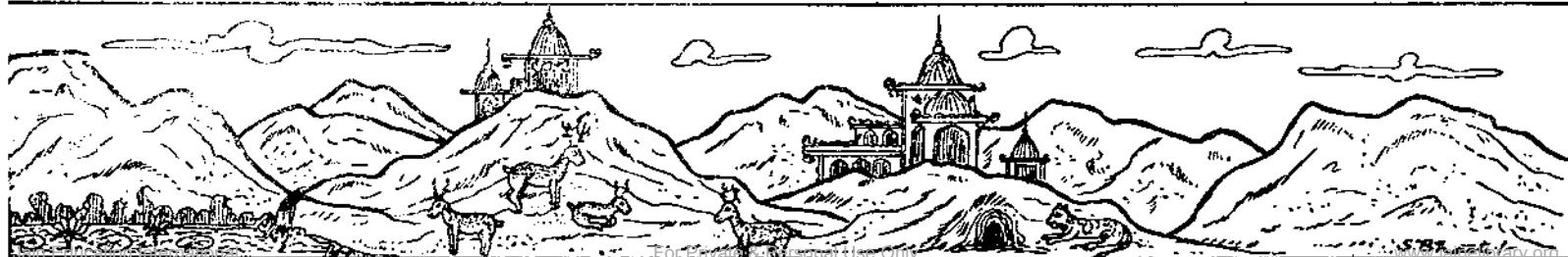
आप श्री ने गुरु के सानिध्य में रहकर जैन एवं ज्योतिषशास्त्रों का गहन अध्ययन किया। गुरु की आज्ञानुसार तप-संयम की आराधना करते हुए आप धर्म-प्रचार में संलग्न हो गये। आपका व्यक्तित्व सरल, सौम्य एवं मधुर है। जनसाधारण आपके सम्पर्क में आकर बहुत प्रसन्न होते हैं। आप जनसाधारण की भाषा में ही अपने उपदेशात्मक प्रवचन फरमाते हैं। गहन से गहन तत्त्व भी आप बड़े मार्मिक किन्तु सरल ढंग से समझाते हैं। आपका जीवन आडम्बर एवं छलकपट से रहित है। आप अपनी अमृतवाणी से जनता में धर्म के बीज अंकुरित करते हैं, इससे सहज ही में जनसाधारण आपकी ओर आकर्षित हो धर्म लाभ प्राप्त करते हैं।

मेवाड़ में आपकी सुख्याति के कारण भावुक जनता ने आपको 'मेवाड़ी-पूज्य' की संज्ञा से विभूषित किया है। जनमानस आपको अपना गुरु मानती है। यह सभी आपकी अमृतवाणी का ही परिणाम है। आपकी अमृत-वाणी का श्रवण कर जनता परभव के लिए भी सामग्री संचय करती है, इसी कारण आप जनता में परोकारी हैं। किसी कवि ने कहा है—

“सरवर तरवर संतजन चौथा वरसे मेह।

पर उपकार के कारणे चारों धारा देह ॥”

आप भी इसी प्रकार से अविरल गति से विचरण कर रहे हैं। संत जीवन का जो प्रकाश पुञ्ज आपने



उपलब्ध किया उसका अत्यधिक प्रकाश आप सर्वत्र फैलाते रहें। विश्व के अज्ञानी जीवों को आप दिन दूनी एवं रात चौगुनी गति से लाभान्वित करते रहे तथा आपके ज्ञान-दर्शन चारित्र्य से जिनशासन उद्योतित होता रहे।

आपकी दीक्षा को ५० वर्ष पूर्ण हो चुके हैं। इस मंगलमय अवसर पर मैं अपनी ओर से श्रद्धा कुसुम अर्पित करता हुआ हादिक अभिलाषा करता हूँ कि आप अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह के सिद्धान्तों का अखिरल गति से प्रचार करें तथा जिनशासन की नींव मजबूत बनाते हुए दीर्घ जीवन प्राप्त करें।

□ मुनि श्री सुमेरचन्दजी

संसार में मातृत्व-भाव का बहुत बड़ा महत्त्व है। माता मातृत्व भाव के कारण ही डेरों सारे कष्टों को सहन करती है एक नन्हें अबोध बच्चे के लिए। अबोध बच्चा माता की गोद में निर्भय बने रहता है, क्योंकि वह उसकी सुरक्षा करती है। इसीलिए उसके उपकारों से उन्मृग होना अत्यन्त कठिन है।

“जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी” एक अबोध बच्चे को सुरक्षा के कारण उसका इतना बड़ा उपकार माना गया।

जिसने संसार के समस्त प्राणियों को आत्मीय बुद्धि से देखा, समस्त प्राणियों को निर्भय बनाया अर्थात् जिनकी तरफ से समस्त प्राणी निर्भय बन गये उनकी महिमा-गरिमा कैसी व कितनी है इसका माप लेना, इसकी थाह लेना नामुमकिन है।

सरलात्मा श्रद्धेय प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज एक ऐसे ही महान् भव्य मना हैं। “अम्बा” शब्द माता का सूचक है। आप एक दिन, दो दिन नहीं, किन्तु पच्चास-पच्चास वर्ष से इस पद का निर्वाह कर रहे हैं।

आपका स्वभाव बड़ा ही सरल और मिलनसार है। आपने संयम-साधना में जो कुछ प्राप्त किया उसे ‘बहुजन हिताय बहुजन सुखाय’ समर्पित कर दिया। मेवाड़, भारवाड़, गुजरात, महाराष्ट्र व मालवा आदि अनेक प्रान्तों में विहरण कर जनसमाज को भगवान महावीर के वीतराग-धर्म का प्रतिबोध दिया। अतः इस

स्वर्णिम अवसर पर मैं अपनी हादिक श्रद्धांजलि समर्पित करता हूँ।

□ मुनि श्री उदयचन्द जी ‘जैन सिद्धान्ताचार्य’

इस परम पावन भारत भूतल पर अनेक महापुरुष हुए हैं जिनमें से अद्भुत प्रतिभा सम्पन्न क्रान्तिकारी धर्म पथ प्रदर्शक प्रवर्तक पण्डित श्री अम्बालाल जी महाराज साहब हैं। जिन्होंने अपना अधिक अमूल्य समय गुरु-सेवा, सुश्रूषा एवं ज्ञान साधना तथा धर्मोद्योत में ही व्यतीत करके आत्म कल्याण कर रहे हैं।

सर्वदा से ही विश्व में सन्तों का स्थान सर्वोपरि रहा है, क्योंकि सन्तों ने सेवा एवं तपस्या से विश्व को आलोकित किया है।

महापुरुषों के अभिनन्दन ग्रन्थ को मानव पढ़कर एवं मनन-चिन्तन करके स्वकीय जीवन को सफल बना सकते हैं।

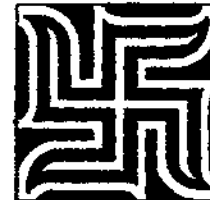
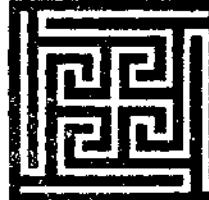
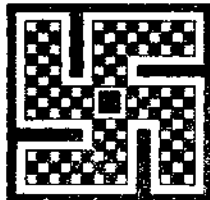
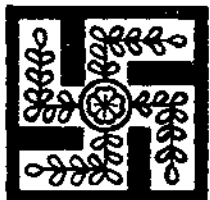
प्रवर्तक जी महाराज साहब जब गृहस्थावस्था में थे तभी से आपको धार्मिक ज्ञान प्राप्ति की बड़ी जिज्ञासा रहती थी क्योंकि आप गृहस्थी में रहते हुए भी परम उदासीन रहकर कवि की कविता—

“मेही पे गृह में न रचें ज्यों जलते मित्र कमल है।” सार्थक करते थे। निमित्त मिलते ही मेवाड़-भूषण पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज साहब से भागवती दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा लेकर आपने पूज्य महाराज साहब की तथा अपने गुरुदेव व्याख्यानदाता श्री भारमल जी महाराज साहब की बहुत सेवा-सुश्रूषा की।

दीक्षा लेने के समय से अद्यावधि आपने चारों अनुयोगों-शास्त्रों का गहन ज्ञान प्राप्त किया। आपकी शास्त्रों, जैनागमों द्वारा होने वाली तत्त्व विवेचना, व्याख्यान-शैली बहुत ही आकर्षक एवं रचिवर्धक है। आप विद्वानों की संगति में रहकर तत्त्व निर्णय करते रहने के हमेशा इच्छुक रहे हैं।

आपने केवल मेवाड़ देश में ही विहार नहीं किया अपितु बम्बई, महाराष्ट्र, खानदेश, राजस्थान आदि प्रदेशों में पाद विहार करके धर्मोद्योत किया।

यद्यपि श्रद्धेय प्रवर्तक श्री की सेवा का लाभ मुझे अधिक प्राप्त नहीं हो सका, फिर भी अजमेर सम्मेलन



में समाज के विघटन को देखकर आप अत्यन्त सन्तप्त देखे जाते थे। उस समय मैंने अल्पावधि में ही आपके सद्बिचारों का सन्निकट से अनुभव किया।

आपके जीवन के विषय में जितना भी कुछ लिखा जाय किंचित् मात्र ही रहेगा। अतः मैं श्रद्धेय प्रवर्तक जी महाराज साहब के गुणानुवाद करने में असमर्थ होते हुए आपकी लेखनी को विराम देता हूँ।

□ साध्वी श्री विमलवतीजी

भारतवर्ष महापुरुषों का देश है। यह अवतारों की जन्मभूमि और सन्तों की पुण्य-भूमि है। वीरों की कर्म-भूमि और विचारकों की प्रचार भूमि रही है। यहाँ पर अनेक नव-रत्न, देश-रत्न और समाज-रत्न पैदा हुए हैं। जिन्होंने मानव मन की शुष्क भूमि पर स्नेह की सरस सरिता प्रवाहित की। जन-जन के मन-मन में अमिनव जागृति का संचार किया और संघम की उज्ज्वल, निर्मल ज्योति जगाई।

संघम क्या है? इन्द्रियों पर रोक लगाना ही संघम है। जो मध्य मन और इन्द्रियों पर नियन्त्रण करता है वही श्रेष्ठ और ज्येष्ठ साधक है। समस्त संसार इन्द्रियों का दास बना हुआ है। आत्मा के अनन्त पराक्रम को इन्द्रियों की दासता छीन लेती है। अनन्त पराक्रम को अक्षुण्ण रखने के लिए इन्द्रिय-निग्रह (संयमनिष्ठा) करना अनिवार्य है।

महापुरुषों का इन्द्रिय-निग्रह अपूर्व ही होता है। वे अपने जीवन को संयमित बनाते हुए दूसरों के जीवन को भी संयमित बनाते हैं। इन्द्रिय-विजेता ही आत्म-साधना कर सकता है। आत्म-साधना के द्वारा सद्गुणों का विकास करना ही उनका परम ध्येय होता है।

इन्द्रिय-निग्रह और मनोनिग्रह पर भगवान् महावीर ने बड़े ही सुन्दर ढंग से फरमाया है—

“जहा कुम्भे स अंगाई सए देहे समाहरे,
एवं णवाई मेहावी अज्जेप्पेण समाहरे।”

विकास की ओर बढ़ने की भावना रखने वाले मानव के लिए संयमीवृत्ति का विकास करना अनिवार्य है। ऐन्द्रिक, शारीरिक और मानसिक शक्तियों का

सुकार्यों और परोपकार में व्यय करना ही संयम है। यह ही सुख का राजमार्ग है।

इसी सुख के राजमार्ग पर चलने वाले मेवाड़-भूषण, पण्डितरत्न, त्यागी, तपोधनी, तत्त्वज्ञ श्री अम्बालाल जी महाराज साहब का हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

आप श्री उदार विचार के धनी और उच्च कोटि के कर्मठ साधक हैं। माधुर्यपूरित भाषा, नम्रवृत्तिमय जीवन और समन्वय सिद्धान्त के माध्यम से संगठन और स्नेह की सरिता प्रवाहित करने में आप अत्यन्त दक्ष हैं। आपने इस दीर्घ दीक्षावधि में लाखों श्रोताओं को अपनी माधुर्य पूर्ण वाणी द्वारा अभिभूत एवं अभिसिंचित किया है।

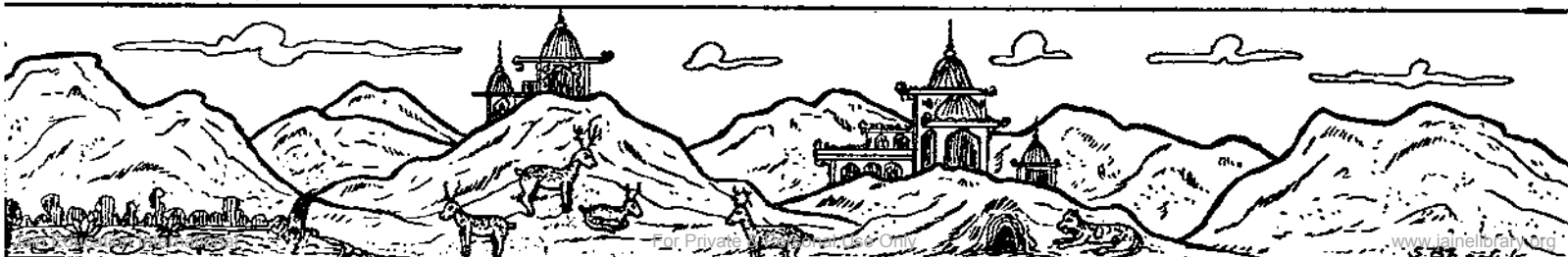
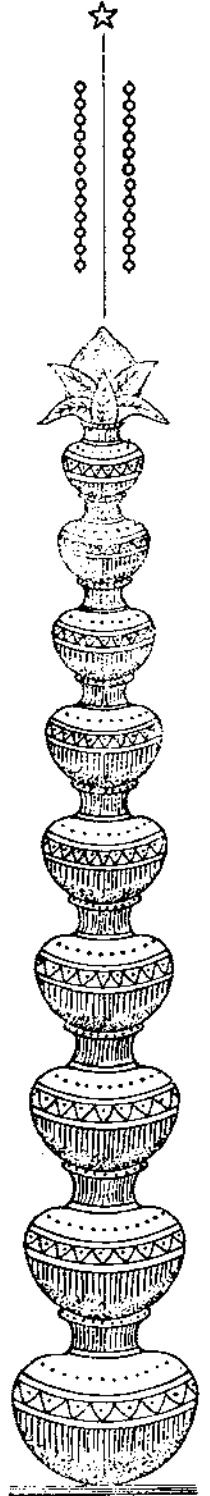
ऐसी परम पवित्र विभूति के पाद-पत्रों में भक्ति भरी पुष्पाञ्जलि के साथ शासन देव से यह प्रार्थना करती हूँ कि आप श्री को दीर्घायु बनावें।

□ राजेन्द्र मुनि शास्त्री, काव्यतीर्थ [उदीयमान लेखक]

परमादरणीय प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है। मुझे उनके सम्बन्ध में लिखने के लिए कहा गया है। मैं सोचता हूँ, क्या लिखूँ? महापुरुषों के सम्बन्ध में लिखना टेढ़ी खीर है।

पं० मुनि श्री अम्बालाल जी महाराज के गृहस्थाश्रम में मैंने दर्शन भी किये होंगे पर मुझे स्मरण नहीं। श्रमण बनने के पश्चात् सर्वप्रथम मैंने उनके दर्शन साण्डेराव सम्मेलन में किये। मैंने उनके सम्बन्ध में पूज्य गुरुदेव राजस्थान केसरी पुष्कर मुनि जी महाराज व समर्थ साहित्यकार श्री देवेन्द्र मुनिजी महाराज से बहुत कुछ सुन रखा था। जैसा सुना था वैसा ही मैंने उनकी पाया। स्वभाव से सरल, मिलनसार और विचारों से उदार।

उनके जीवन में हजार-हजार विशेषताएँ हैं पर सबसे बड़ी विशेषता जो मैंने उनमें पाई वह उनकी दृढ़ संकल्प शक्ति। स्वानुवासी परम्परा मुख्य रूप से आषाढी पूर्णिमा से उनपचास या पचासवें दिन संवत्सरी महापर्व मनाती रही है। गतवर्ष सन् १९७४ में दो माद्रपद होने से यह प्रश्न सामने आया। समाज में बहुमत ४९-५० वें के पक्ष में। फलतः एक तूफान पैदा हो गया। श्रमण संघ के आचार्य सम्राट् आनन्द ऋषिजी महाराज एवं श्रमण संघ



के मूर्धन्य व कर्मठ कार्यकर्ता, महधर केसरी जी महाराज भी ४६-५० दिन को मानने वाले थे पर आप श्री की चुनौति के कारण उन्हें घुटने टेकने पड़े और अपने विचारों को संगठन की दृष्टि से बदलना पड़ा। यह है आपके सत्याग्रह और संकल्प की महान् शक्ति का चमत्कार जिसके कारण अल्पमत की बहुमत पर विजय हुई।

मैं ऐसे दृढ़ संकल्प के धनी-मुनि के चरणों में शतशः वन्दन के साथ यही प्रार्थना करता हूँ कि आप युग-युग तक जीते रहें और अपनी संकल्प शक्ति के चमत्कार से विश्व को सत्य का रास्ता दिखाते रहें।

□ साध्वी श्री चन्द्रावती

[चिन्तनशील लेखिका, कवियित्री]

सफलता का मूल-मन्त्र है—ध्येय सिद्धि। जो व्यक्ति अपने ध्येय की प्राप्ति करते हैं उनसे सारा विश्व आकृष्ट होता है, जैसे वन में खिले कमल पर लाख-लाख मधुप निछावर होते हैं। मेवाड़ के महार्घ सन्त रत्न पूज्य श्री अम्बालाल जी महाराज एक ऐसे ही अध्यात्म योगी हैं। आत्म-साधना ही उनके जीवन का लक्ष्य है। उस लक्ष्य पर वे जीवन के प्रथम चरण अर्थात् अपनी नन्हीं सी आयु में ही चल पड़े और अब ५० वर्ष की दीर्घ आयु तक एक ही लक्ष्य पर एक लगन से निरन्तर बढ़ रहे हैं। वस्तुतः ऐसे पारंगत आत्म-साधक कोटि-कोटि बघाई के पात्र हैं। उनकी साधना स्तुत्य है, प्रशंसनीय है।

पूज्य प्रवर्तक श्री के ५० वें वर्ष की सफलता में प्रकाशित अभिनन्दन ग्रन्थ उनके त्याग, साधना व संयम-मद्य जीवन का समुचित सम्मान है। जो इस भौतिक युग के अन्धकार में आध्यात्मिक ज्योति की स्वर्ण रश्मियाँ विकीर्ण करेगा। और युग-युग के आत्म-साधकों के लिए प्रकाश स्तम्भ बनकर पथ-प्रदर्शन करता रहेगा। इसी अभिलाषा पूर्वक मैं इन तुच्छ शब्द सुमनों की श्रद्धा सुरभित माला से श्रद्धार्चन करती हूँ। वे युग-युग जाएँ और अध्यात्म का आलोक प्रदान करके स्वपर के हित साधक बनें। उनके द्वारा यह मेदपाठ गौरवान्वित है। एक संस्कृत सूक्ति के अनुसार—

“कुलं पवित्रं जननी कृतार्था,
वमुन्धरा पुण्यवती च तेन।
अपारे संसारे लीनं
परे ब्रह्मणि यस्य चेतः॥”

□ महासती श्री शीलवती जी

वीतराग भगवान महावीर के शिष्य परम्परा की सतत् निर्मलधारा चिरावधि से प्रवाहित हो रही है। जिममें अनेकानेक आत्माओं ने मज्जन कर स्व व परात्मा को परम रूप दिया है। वे महानता के उच्च शृंग पर आज भी ज्योतिपुंज के रूप में समस्त जगत का पथ-प्रदर्शन कर रहे हैं। इसी परम्परा में पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब को भी गिना जाता है। जिन्होंने अत्यन्त अल्पायु में ही अपने लिए साधना एवं संयम का कठोर मार्ग अपनाया और उस मार्ग पर गत् ५० वर्षों से अखिरल स्वात्मा व परात्मा के कल्याण हेतु प्रयत्नशील हैं।

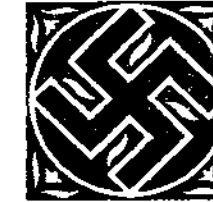
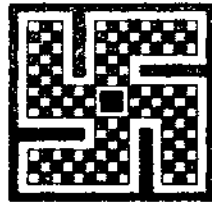
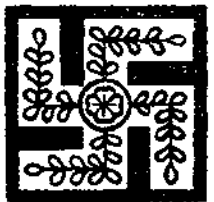
इस दीर्घावधि में पूज्य प्रवर्तक श्री ने न केवल जैन जगत वरन् सम्पूर्ण मानव-जीवन को सम्प्रति-काल की भौतिकवादी विषमताओं से मुक्ति दिलाने का भरसक प्रयत्न किया है। वे विनय के भण्डार हैं, गाम्भीर्य के समुद्र हैं, ज्ञान-विज्ञान के आगार हैं, संयम के कन्चन हैं, तप के अटल हिमालय हैं और पुण्य के निर्मल स्रोत हैं।

ऐसी निर्मल आत्मा का अभिनन्दन स्वतः प्रशंसनीय है। मैं परम पूजनीय प्रवर्तक श्री के इस अभिनन्दन-ग्रन्थ प्रकाशन के शुभावसर पर कामना करती हूँ कि पूज्य प्रवर्तक श्री का जीवन चिरायु होकर विश्व की संतप्त मानवता को शान्ति प्रदान करें; हमारा पथ-प्रदर्शन करता रहे और स्व-कल्याण तथा परहित के परम लक्ष्य का प्राप्त करें।

□ साध्वी श्री पुष्पवती, 'साहित्यरत्न'

पण्डित प्रवर सन्त-मानस प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज स्थानकवासी जैन समाज के एक जाने माने और पहचाने हुये सन्त रत्न हैं। उनका व्यक्तित्व एवं कृतित्व इन्द्रधनुष के समान मनमोहक है। जिसमें ज्ञान-दर्शन, चरित्र, तप और त्याग के विविध रंग जगमगा रहे हैं, जिन्हें देखते हुए आँखें अघाती नहीं, मन भरता नहीं। भगवान महावीर के आदर्श सिद्धान्त उनके जीवन के कण-कण में मुखरित हो रहे हैं। वे साधुता के शृंगार हैं, मानवता के दिव्यहार हैं। ऐसे सन्त का अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशित होने जा रहा है, यह एक प्रसन्नता की बात है।

जहाँ तक मुझे स्मरण है कि अम्बालाल जी महाराज के सद्गुरुदेव का नाम पं० भारमल जी महाराज है।



पं० मारमल जी महाराज को संसारावस्था में प्रतिबोध देने वाली त्याग-वैराग्य की जीती-जागती प्रतिभूर्ति परम विदुषी मेरी सद्गुरुणी श्री सोहनकुँवर जी महाराज थी। उनके प्रस्तुत उपकार को वे जीवन भर विस्मृत नहीं हुए थे। श्री अम्बालाल जी महाराज से जब भी हम मिले वही स्नेह सद्भावना हमें देखने को मिली।

मुनि श्री अम्बालाल जी महाराज को थोकड़े, बोलचाल अधिक प्रिय है, मेरी मातेश्वरी महासती प्रभावती जी महाराज को भी बहुत थोकड़े कण्ठस्थ हैं। जब प्रश्नोत्तर चलते हैं तो उनकी प्रतिभा का चमत्कार देखते ही बनता है। माता जी महाराज के साथ आपकी अनेक बार चर्चाएँ विचारणाएँ हुई हैं। आप सच्चे जिज्ञासु की भाँति चर्चा करते हैं, और सत्य-तथ्य को बिना किसी संकोच के स्वीकार कर लेते हैं।

मुझे प्रवर्त्तक मुनिश्री से अनेक बार वार्तालाप करने का अवसर मिला है। कभी-कभी तात्त्विक रहस्य को बताने के लिए आप राजस्थानी छोटी-छोटी कथाओं का प्रयोग करते हैं और उसके माध्यम से उन गम्भीर तथ्यों को प्रकट करते हैं।

आज का श्रमण बड़े-बड़े शहरों में रहना पसन्द करता है। जहाँ पर हर प्रकार की सुविधाएँ हैं पर आपको मेवाड़ के छोटे-छोटे गाँव पसन्द हैं, आप उनमें विचरण करना अधिक पसन्द करते हैं। यही कारण है कि मेवाड़ की ग्राम्य जनता आपको हृदय से प्यार करती है, आप मेवाड़ के गाँवों में जहाँ भी जाते हैं वहाँ पर नव चेतना, नव जागृति का संचार हो जाता है।

मेरी तथा मातेश्वरी प्रभावती जी महाराज की यह हार्दिक मंगल कामना है कि आप दीर्घकाल तक स्वस्थ व प्रसन्न रहकर खूब जिनशासन की सेवा करें। ज्ञान-दर्शन चारित्र्य की अभिवृद्धि करते हुए धर्म की प्रभावना करें।

□ मुनि श्री इन्द्रमल जी [गुरुदेव श्री के गुरुभ्राता]

छत्रजीवकाए अ समारभंता,
मोसं अदत्तं च असेवमाणा।
परिग्गहं इत्थिओ माण मायं,
एवं परिण्णाय, चरंति वंता।।

—सत्पुरुष छत्रकाय जीवों की रक्षा करते हुए मृषा, अदत्त

मान, माया, परिग्रह, स्त्री आदि दोषों का परित्याग कर विकारों का दमन करते हुये विचरते हैं।

जब-जब मैं इस गाथा की स्वाध्याय करता हूँ, इस पर मनन करता हूँ तो मेरे पूज्य भ्राता परम श्रद्धेय श्री अम्बालाल जी महाराज का तपःपूत पवित्र जीवन मेरे अन्तर पट पर उभर आता है। शास्त्रोक्त, इस गरिमा का मूर्त स्वरूप इस युग में मिल पाना एक कठिनाई है किन्तु आपकी उपस्थिति ही मेरा तत्काल समाधान कर देती है।

सरल, सात्त्विक तथा सुदृढ़ संयमानुरागी मेरे पूज्य गुरु भ्राता के दीर्घ जीवन की मंगल कामना के साथ श्रेष्ठ संयम जीवन का हार्दिक अभिनन्दन करता हूँ।

□ साध्वी श्री प्रेमवती जी

परम पूज्य गुरुदेव श्री के प्रति श्रद्धार्पण के लिए, मुनि श्री कुमुदजी महाराज ने मुझे दो शब्द लिखने को कहा तो मैं मन ही मन भावना के एक ऐसे स्तर पर पहुँच गई जिसे अभिभूत होना कहा जा सकता है।

मन की अभिभूतावस्था में हर्ष और प्रेम के मिश्रित भावों का संचार रहता है और उसी तन्मयता में एक सुदूरवर्ती अतीत मेरे अन्तर नयन में घूम गया।

अतीत में जब मैं बहुत छोटी थी। मेरी माँ के साथ प्रायः मुनिराज महासतीजी के दर्शन करने को जा आया करती थी।

मेवाड़ सम्प्रदाय के आचार्य प्रवर पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज को हम ही नहीं हमारा परिवार गाँव यहाँ तक कि हमारे आसपास के सारे गाँवों के तर-नारी बड़ी श्रद्धा से माग्यता देते थे।

उनका व्यक्तित्व प्रभाव भी बड़ा जबरदस्त था। वाणी में जादू था और सम्प्रदाय के आचार्य भी थे, इन सभी कारणों से जब आचार्य श्री अपनी शिष्य मण्डली सहित हमारे गाँव कोशीथल की तरफ पधारते तो कई दिनों पहले हमारे यहाँ बड़ी हलचल मच जाती। कई मील दूर होते, वहीं, हमारे वहाँ से बहुत से भाई-बहन विनती करने को पहुँच जाते, यह क्रम कई दिनों तक चलता।

ऐसी कई विनतियों में माँ के साथ मैं भी गई, तो मुझे हर बार बड़ी खुशी होती। ऐसी खुशी जैसे किसी बच्चे को किसी मेले में जाने पर होती। वास्तव में वह धर्म का



मेला ही होता था। मैंने हर बार ठट्ठ के ठट्ठ नर-नारियों को पूज्य श्री के यहाँ देखे। सभी लोग अपने-अपने गाँवों की विनति रखते, हमारे भाई भी अर्जी करते और मैं सोचती, गुरुदेव हमारी विनति मन्जूर कर लें तो बड़ा आनन्द आये।

और कई बार विनति मन्जूर हुई। आचार्य श्री कोशी-थल पधारे हर बार हम फूले नहीं समाये।

मुझे याद आया, पूज्य श्री की मुनि मण्डली में एक ऐसे तेजस्वी और सक्रिय मुनिराज थे जो सेवा, ज्ञानाराधना तथा संघ संचालन जैसे कठिन कार्यों को एक साथ निभा रहे थे। पाठक असमंजस में न रहें वे तेजस्वी सन्त रत्न हमारे परम आराध्य पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज ही थे।

मुनिमण्डली के लिए आहारादि लाकर सेवा करना, प्रवचन करना, दिन में महासती जी को शास्त्रों की बाँचनी देना, बहनों को बोल थोकड़े सिखाना रात्रि को श्रावकों को ज्ञान ध्यान देना, आचार्य श्री के नेतृत्व में ऋतुविध संघ को आचार्य श्री की भावना के अनुरूप मर्यादानुसार निर्देशन देना आदि अनेक कार्य बड़ी तत्परता के साथ करते मैंने इन्हें देखा।

पूज्य आचार्य श्री के धर्मोपदेश तथा परमविदुषी महासती जी श्री केरकुंवर जी महाराज के पवित्र सानिध्य से मेरी माता के मन में वैराग्यांकुर अंकुरित हुआ और साथ ही, वह यह भी चाहती थी कि मैं भी दीक्षित होऊँ तो यह एक कठिन प्रश्न था। कठिन इसलिए कि मैं मेरी माँ को भी संयम नहीं लेने देना चाहती थी, तो मेरा उसके साथ हो जाना तो बड़ा कठिन था। इस बात को मेरी माँ अच्छी तरह जान चुकी थी, उसने एक नया प्रयोग किया। वह मुझे अपने साथ मुनि दर्शन को ले जातीं और हर बार वह मुझे गुरुदेव श्री के सामने खड़ी रखती और उपदेश सुनने का आग्रह करती। मैं विवश खड़ी तो रहती किन्तु दीक्षा लूँ इस विषयक कोई उपदेश मुझे नहीं चाहिए था।

किन्तु मेरे अनचाहे से क्या होना गुरुदेव श्री कुछ न कुछ प्रतिबोधात्मक कह ही जाते।

मैं कुछ दिन तो उपेक्षा ही करती रही किन्तु न मालूम क्यों, कुछ ही दिनों में मेरे अन्तर में एक नया परिवर्तन आने लगा।

मैं महाराज श्री की बात ध्यान से सुनने लगी। इतना ही नहीं, वे बातें मुझे प्रिय भी लगने लगीं।

कुछ ही दिनों में गुरुदेव श्री के उपदेश मेरे जीवन के अंग बन गये। मैं अनायास ही उधर ढलने लगी।

गुरुदेव श्री के त्याग, तप, सेवा और ज्ञानात्मक व्यक्तित्व का वह असर हुआ कि मैं माँ का अनुसरण करने को उत्सुक हो उठी—इतना ही नहीं, मेरा संयम के प्रति इतना अधिक आकर्षण जग उठा कि एक-एक दिन की देरी मुझे वर्ष जैसी लगने लगी।

उमंगों के साथ कई अवरोध भी खड़े हो जाया करते हैं, मेरे साथ भी यही हुआ किन्तु गुरुकृपा से सारे अवरोध हटे और हम देवरिया गाँव में एक सुन्दर समारोह-पूर्वक संयम के पथ पर बढ़ चलीं। यह संवत् १९६६ की बात है।

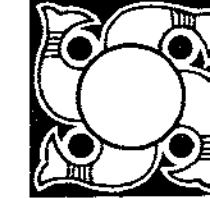
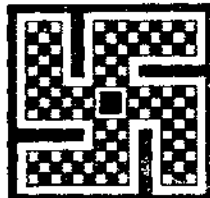
मैं बहुत दूर अतीत में चली गई। मैं अपनी आत्मकथा नहीं लिख रही हूँ—मैं मेरी उस अभिमतावस्था का सघन कारण बता रही हूँ कि जीवन निर्माता सम्प्रेरक, इस अद्भुत व्यक्तित्व को किन उपाधियों से मण्डित करूँ किन शब्दों से व्यक्त करूँ? कुछ सूझ भी नहीं पड़ रहा है।

मेरी संयम यात्रा के ३६ वर्ष व्यतीत हो चुके हैं। आज संयम मेरा जीवन है। मैं और मेरा संयम हम दो नहीं होकर एक हैं। मैं देख रही हूँ, दीप शिखा की तरह मेरी अध्यात्म ज्योति ऊर्ध्वगामी बनी और बनती जा रही है, यह सब इस दिव्य व्यक्तित्व का जादू है, जिसका संघ अभिनन्दन करने जा रहा है।

तैल न हो तो दीपक बुझ जाए। मेरे संयम के दीप को तैल चाहिए था और वह मुझे बराबर मिला। संयम के लिए ज्ञान ही तो तैल है। आज मेरा कहा हुआ प्रत्येक शब्द इस दिव्य चेतना का दिया हुआ है। मेरी तो केवल वे ऋटियाँ हैं जो जहाँ-तहाँ मेरी खलना से प्रकट हो जाया करती है। जीवन का सत्यं शिवं सुन्दरम् जितना भी उपस्थित हो पाया यह सब इन्हीं श्रद्धेय की कृपा का प्रसाद है।

मैं अपनी खलनाओं व ऋटियों को जानती हूँ—वे घनी हैं, किन्तु अन्तश्चेतना की गहराई के साथ अभिभावना के इन क्षणों में क्षमा याचना की अभिलाषा पूर्वक मेरे परमाराध्य का एक बार पुनः अभिनन्दन वन्दन करती हुई शरणापित हो रही हूँ।

नेतृत्व की सघन छांह जो अब तक मिली, अगले शेष जीवन को भी यही नेतृत्व मिलता रहे, आशा के इस मंगल दीप को संजो कर अभिवन्दना के इन अद्भुत क्षणों से बाहर आ रही हूँ। □



□ आर्या श्री उगमवती जी

आनन्द का अमृत सरोवर यदि कहीं लहराता हुआ नहीं देखा हो तो मेरे पूज्य गुरुदेव श्री के दर्शन कर कोई भी उसे प्रयत्न देख सकता है।

प्रतिपल मुस्कराता, हँसता चेहरा मिश्री सी मीठी वाणी आत्मीयतापूर्ण सजीव व्यवहार, कुल मिलाकर गुरुदेव श्री के व्यक्तित्व को आनन्द के अमृत सरोवर की उपमा से उपमित करते हुए एक सहज वास्तविकता का बोध होता है।

मेरी संयम यात्रा का प्रारम्भ गुरुदेव श्री की ही सद्-प्रेरणा का फल है। विगत छब्बीस वर्ष से मैं संयम में हूँ। इस बीच अनेक बार पूज्य गुरुदेव श्री की सेवा का सीमाग्य मुझे मिला। इस दीर्घ सान्निध्यता के सैकड़ों अनुभव हैं वे प्रेरक संस्मरण बनकर आज भी मेरे जीवन में काम आ रहे हैं। मैं उन्हें गिनाने बैठूँ तो मैं लिखते थक जाऊँगी और पाठक पढ़ते थक जायेंगे। उन अनेकों संस्मरणों में से एकाध यहाँ अंकित करना चाहूँगी।

लगभग बारह वर्ष पूर्व की बात है। श्री माताजी महाराज (श्री सीमाग्य मुनिजी और मेरी माता श्री) किसी मानसिक व्याधि से ग्रस्त हो गये थे। हम इनकी इस स्थिति से बड़े चिन्तित थे। माताजी महाराज कुछ भी बात मानने को तैयार नहीं थे, इलाज भी नहीं ले रहे थे। जो इलाज इन्हें विवश कर किया उसमें सफलता भी नहीं मिली थी। उस समय मुझे गुरुदेव श्री तथा भाई महाराज साहब की बड़ी याद आई, किन्तु गुरुदेव श्री मीलवाड़ा के पास थे। हम गोगुन्दा थे। इतनी लम्बी दूरी थी हमारे बीच में। मुझे कोई सम्भावना नहीं थी कि हमें गुरु दर्शन मिल पायेंगे। उस समय एक और कठिनाई यह थी कि गुरुदेव श्री कुल चार ठाणा ही थे। ऐसी स्थिति में किन्हीं मुनियों के पधारने की सम्भावना भी नहीं थी, फिर भी माताजी महाराज की बीमारी के समाचार तो हमने भेजे ही।

गुरुदेव श्री के असीम दयालु हृदय का परिचय मुझे तब अनायास मिल गया जब स्वयं कठिनाई सहकर भी श्री भाई महाराज और मदन मुनिजी इन दोनों मुनिराजों को हमें दर्शन देने को तुरन्त भेजे। कुल चार-पाँच दिन में ही मुनिराज गोगुन्दा पहुँच गये।

इनके पदार्पण से हमें मानो एक नई मदद मिल गई।

मुनिराजों का श्रम सार्थक हुआ, श्री माताजी महाराज का स्वास्थ्य क्रमशः सुधरने लगा। गुरुदेव श्री की कृपा देखिए कि मुनियों को सन्देश भेजा कि श्री माताजी महाराज के स्वास्थ्य के लिए अधिक रुकना पड़े तो भी रुकें।

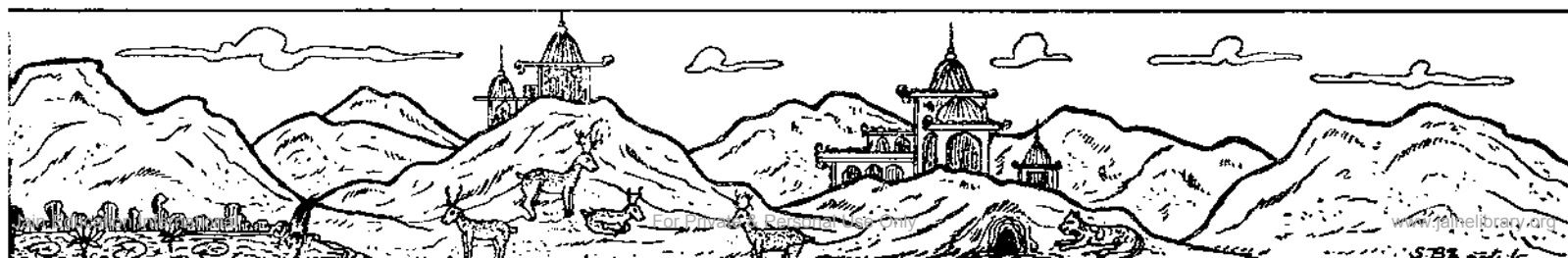
दया करुणा समता और श्रेष्ठता के अमर प्रतीक पूज्य गुरुदेव श्री का मैं हार्दिक अभिनन्दन करती हूँ।

□ श्री दर्शनराम जी महाराज

[अखिल भारतीय स्नेही सम्प्रदाय के भूतपूर्व आचार्य राम द्वारा, केलवाड़ा]

मुझे यह सुनकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि पूज्य अम्बा गुरु अभिनन्दन नामक ग्रन्थ प्रकाशित किया जा रही है। वस्तुतः यह एक सुसुप्त जन-समाज को जागृत करने का सुप्रयास है। इसमें गुरु-अभिनन्दन शब्द का प्रयोग तो बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। “गुः शब्द स्त्वन्य कारः कः शब्द स्तन्निवारकः” इस व्याकरण व्युत्पत्ति लभ्यार्थ से गुरुदेव सूर्य की भाँति हृदय का अन्धकार दूर कर देते हैं। इस असार संसार-सागर से पार जाने के लिए गुरु ही एकमात्र अवलम्बन है। कोई भी सम्प्रदाय क्यों न हो यह निर्विवाद सत्य है कि गुरु का आश्रय तो सर्व को ग्रहण करना ही पड़ता है। गुरु की महिमा ईश्वर से भी ज्यादा है (गुरु मिलियां गोविन्द कूँ पावे)। गुरु का स्तवन संसार के त्रिदेवों की उपमा से किया जाता है। यदि गुरु में तामस-पन आता है तो शंकर रूप समझना चाहिए। रजोगुण आने पर ब्रह्मा का रूप है। तथा वैसे ही सत्त्वगुण रूप में विष्णु रूप की उपमा दी है।

युग-युग में समय-समय पर होने वाले अवतारों व तीर्थंकरों ने भी सद्गुरु की महामहिमा का भुक्त कंठ से गुणगान किया है। गुरु-शिष्य संवाद परम्परा से ही संसार में ज्ञान वृद्धि हुई है। उपनिषद्, पुराणादि ग्रन्थों में भी गुरु-शिष्य संवाद रूप ज्ञान का ही संग्रह है। अतः अज्ञान ध्वान्त विनाशक प्रभाकर गुरु का अभिनन्दन उचित व सर्वमान्य एवम् सर्व पूज्य है।



□ गोदूलाल मांडोत 'निर्मल' रायपुर
[विचारक एवं सामाजिक कार्यकर्ता]

वि.सं.२०२८ का पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालालजी महाराज का वर्षावास कोशीथल (मेवाड़) में था। स्वाध्यायी संघ गुलाबपुरा के सम्पर्क में रहने से मुझे प्रतिक्रमण कण्ठस्थ था तथा प्रतिदिन सायंकाल को प्रतिक्रमण सुनाने का अवसर भी मुझे ही मिलता था।

एक दिन प्रतिक्रमण करते समय मुझे कुछ ऐसा आभास हुआ कि श्रोताओं की विशाल जनमेदिनी में आपस में चर्चा चल रही है और नीरवता में कुछ कमी आ रही है। प्रतिक्रमण के लिये शान्त स्थान अधिक उपयुक्त रहता है, ऐसा सोचकर मैंने स्थान परिवर्तन कर दिया। वातावरण इससे एकदम शान्त हो गया और मेरे दूर बैठने पर भी आवाज दूर तक साफ सुन ली गई। प्रतिक्रमण के ठीक बाद क्षमा-याचना का दौर प्रारम्भ हुआ और मैं गुरुदेव श्री के समीप देवसी अपराधों की क्षमा मांगने लगा। गुरुदेव मुझे उदास लगे, लगा उनका अन्तर मेरे अपराध से व्यथित हुआ है, भावों को पूज्य श्री रोक नहीं सके और कहा—“आज तुमने संघ की अशांतता की है, संघ की अशांतता घोर अपराध है, तुम्हें ऐसा नहीं करना चाहिए”.....”

नन्दी सूत्र में वर्णित संघ की स्तुति का वर्णन करते हुए गुरुदेव श्री ने संघ की महिमा मुझे समझाई, मेरे अंतर में प्रकाश की किरण उत्पन्न हो गई और श्रद्धा और भक्ति से मैंने गुरुदेव श्री से अपने अपराध की आलोचना की।

प्रसंग पुराना है, किन्तु मुझे लगता है जैसे गुरुदेव श्री आज भी मेरे हृदय में विराजित हैं और मुझे संघ सेवा की प्रेरणा दे रहे हैं।

□ देलवाड़ा स्थानकवासी श्रावक संघ, देलवाड़ा
[मन्त्री—रतनलाल मेहता]

परम पूज्य प्रातः स्मरणीय 'मेवाड़-भूषण' गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज साहब को आज कौन नहीं जानता? उनके ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य में किसी को सन्देह नहीं। उनकी ज्ञान-दर्शन और चारित्र्य की महिमा ही है कि आज उनको ऐसी शिष्य-मंडली उपलब्ध है—जिनकी प्रखर वाणी से उदयपुर ही नहीं बरन् दूर-दूर के जैन-अजैन समुदाय को अपने जीवन को ऊँचा उठाने और सही मार्ग-दर्शन पाने का मौका मिला है।

स्वर्गीय मेवाड़-भूषण गुरुदेव श्री मोतीलालजी महाराज साहब की असाध्य बीमारी की वजह से उनकी सेवार्थ मुनिश्री का हमारे गाँव देलवाड़े में पाँच साल तक लगातार चानुमाँस होता रहा। अतः उनके व्याख्यानों का लाभ स्थानीय स्थानकवासी श्रावक संघ ने जी भरकर उठाया। उनकी प्रखरवाणी, अखण्ड-ज्ञान और पवित्र चारित्र्य का जितना लाभ इस संघ ने उठाया शायद ही उतना किन्हीं और लोगों ने उठाया होगा।

संघ को यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता की अनुभूति हुई है कि परम पूज्य मुनिश्री के तपस्वी जीवन के ५० वर्ष सम्पूर्ण हो जाने के उपलक्ष में उन्हें अभिनन्दन-ग्रन्थ समर्पित किया जा रहा है।

एतदर्थ, गुरुदेव के चरण कमलों में देलवाड़ा स्थानकवासी श्रावक संघ अपनी हार्दिक श्रद्धाञ्जलि अर्पित करता है।

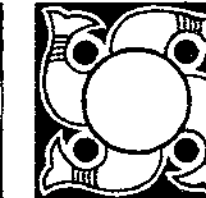
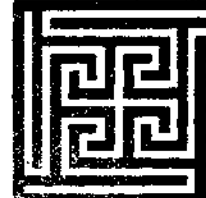
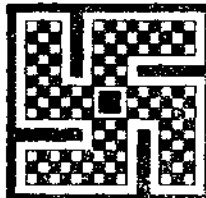
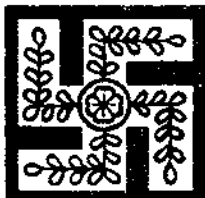
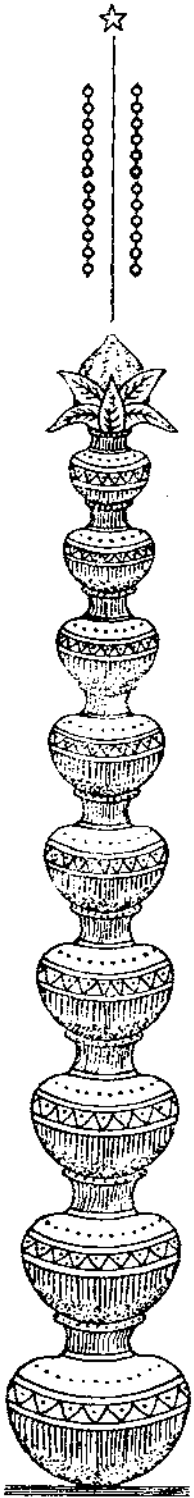
□ शंकरलाल कोठारी

[मन्त्री—मोलैला मण्डल, फोर्ट (बम्बई)]

यह अति प्रसन्नता का विषय है कि मेवाड़ भूमि में एक महान्तम सन्त का उनकी ५० वर्ष की दीक्षा जीवन की सफलता पर अभिनन्दन होने जा रहा है। आज हमारे समाज का इससे बढ़कर और गौरवपूर्ण विषय क्या हो सकता है? इस महान्तम सन्त को मेवाड़ शिरोमणी पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज साहब के नाम से आज सम्पूर्ण समाज जानता है।

यह सत्य है कि जीवन के सत्य, सरलता, समता, मृदुलता, सन्तोष, विनय, विवेक, सहिष्णुता आदि अमर फल हैं। इन अमर फलों का रसास्वादन सन्त के जीवन की पवित्र प्रेरणाओं से ही कर सकते हैं। ये सभी जीवन के अमर फल गुरुदेवश्री में विद्यमान हैं। वे एक महाम सन्त हैं, भक्त हैं, साधक हैं, विद्वान हैं तथा समाज संगठक हैं।

मोलैला मण्डल फोर्ट के सर्व सदस्यगण शुद्ध हृदय से ऐसे महिमावान सन्त मुनिश्री का अभिनन्दन करते हैं। आपका त्यागमय तपस्वी जीवन उच्चतम शिखर पर पहुँच कर सम्पूर्ण समाज को आलोकित करे। यही हमारी हार्दिक शुभकामना है।



□ सागरमल कावडिया
□ देवेन्द्रकुमार 'हिरण'

[अध्यक्ष एवं मंत्री—श्री मेवाड़ जैन श्वेताम्बर तेरापंथी काङ्ग्रेस, राज समन्द, उदयपुर (राज०)]

यह जानकर अतीव प्रसन्नता हुई कि स्थविर तपोधन पूज्य श्री अम्बालालजी महाराज साहब के दीक्षा जीवन के पचास वर्ष की सानन्द सफलता पर मेवाड़ की धर्मप्राण श्रद्धालु जनता ने स्वामीजी के अभिनन्दन स्वरूप श्रद्धा-सुमन के रूप में "अभिनन्दन-ग्रन्थ" भेंट करने का निश्चय किया है। इसके लिए मेवाड़ जैन श्वेताम्बर तेरापंथी काङ्ग्रेस हार्दिक शुभ कामना प्रकट करती है।

स्वामीजी सन्त कल्प-तरु के रूप में साधनारत रहे हैं। मेवाड़-समाज के निर्माण एवं आध्यात्मिकता के विकास में आपका बड़ा योग रहा है।

ऐसे पुनीत अवसर पर मेवाड़ काङ्ग्रेस परिवार आपका हार्दिक अभिनन्दन करता है।

□ भंवरलाल पगारिया

[सहमन्त्री—श्री व० स्था० जैन श्रावका संघ, कांकरोली]

आप जैसे व्यक्ति दर्पण की तरह जीते हैं, समाधिस्थ व्यक्ति दर्पण की तरह ही जीता है। कोई गाली देता है तो वह सुनता है—कोई सम्मान करता है तो वह सुनता है—लेकिन जैसे सम्मान विदा हो जाता है ऐसे गाली भी विदा हो जाती है भीतर कुछ पकड़ा नहीं जाता—इसलिए आपके चित्त की अलग-अलग स्थितियाँ नहीं हैं। इतना कहना ही काफी है कि दर्पण के सामने जो भी आता है वह झलकता है, जो चला जाता है—झलक बन्द हो जाती है। ऐसी ही समतामय स्थिति गुरुदेव श्री के चित्त की है। वन्दना करने वाले भी आते हैं और निदा करने वाले भी। पर आपश्चि दोनों के प्रति समचित्त रहते हैं।

एक समता आगई है चित्त की। आपकी पूरी साधना संकल्प की, श्रम की साधना है कि जिसे सत्य पाना है उसे यात्रा पर निकलना होगा, उसे खोज में जाना होगा, उसे जूझना पड़ेगा, उसे चुनौती, साहस, संघर्ष में उतरना पड़ेगा। ऐसे बैठकर सत्य नहीं मिल जायगा।

सामायिक के मार्ग से वीतरागता की मंजिल तक पहुँचने की अथक साधना में आप लगे हैं यही है मोक्ष गामी मार्ग।

□ भगवतीलाल तातेड़, डूंगला

कहते हैं—पारस होता है जो लोहे को सोना बना देता है। मैंने देखा नहीं, शायद आज के युग में किसी ने भी पारस को नहीं देखा होगा। किन्तु यह मैं सत्य कहता हूँ कि मेवाड़ संघ शिरोमणि पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री १००८ श्री अम्बालालजी महाराज सचमुच पारस हैं जो मुझे मिले। मैं सोना बना या नहीं बना यह अलग बात है। यदि सोना मैं बन नहीं पाया तो यह मेरी अपनी ही कमी है। पारस की नहीं। मैं सोना नहीं हुआ न सही, धन्य अवश्य होगया। पूज्य गुरुदेव श्री का डूंगला चातुर्मास मेरे जीवन के लिए स्वर्ण सबेरा लेकर आया। उस चातुर्मास में मैं एक ऐसे व्यक्तित्व से सम्बन्धित हो गया हूँ जो मुझे बराबर भटकाव से बचाए हुए हैं।

पूज्य गुरुदेव श्री सरल शान्त तथा संयम के सजग साधक हैं। इनके पवित्र दर्शन प्राप्त होने पर अन्तर में एक विलक्षण भाव-धारा का उदय होता है, उसे मैं शब्दों द्वारा व्यक्त नहीं कर सकता, क्योंकि तुलसीदासजी ने कहा ही है—“गिरा अनयन, नयन बिनु वाणी”।

गुरुदेव चिरायु होकर हमें धार्मिक नेतृत्व प्रदान करते रहें, इसी शुभकामना के साथ।

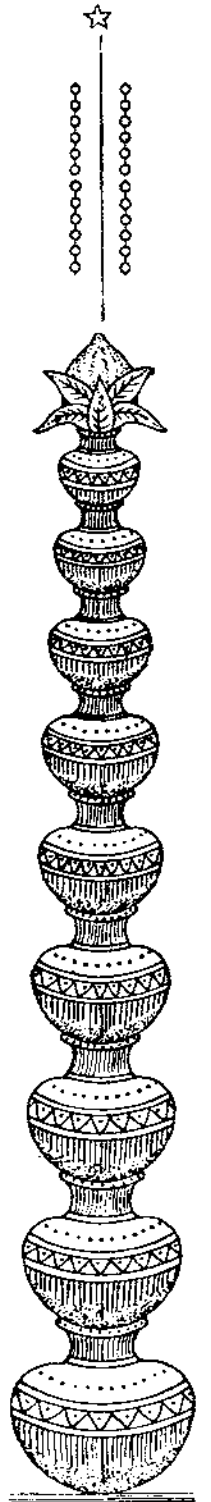
□ रोशनलाल सिंघवी, दरौली

मेवाड़ केवल कर्मवीरों का ही नहीं धर्मवीरों का भी प्रमुख जन्मस्थल रहा है।

मेवाड़ के रण-वीरों का एक इतिहास है तो धर्मवीरों की भी यहाँ विशाल गौरव गाथाएँ हैं। मेवाड़ को अपने दोनों वीरों पर गर्व है।

मेवाड़ संघ शिरोमणि पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री १००८ श्री अम्बालालजी महाराज धर्मवीरों के पंक्ति का एक जीवन्त आदर्श हैं।

संयम पथ पर आने से पूर्व ही जो जीवन परीक्षा की



कठिन कसौटी पर चढ़ा और खरा उतरा वह विगत पचास वर्षों में अधिक निखरा ही है।

गुरुदेव श्री के संयमी जीवन के पचास वसन्त बीते मौसम के वसन्त आये और चले गये किन्तु गुरुदेव का संयम वसन्त सदा बहार खिला ही रहा। सदा अभिनन्दित गुरुदेव के अभिनन्दन के इस शुभावसर पर हृदय की समस्त श्रद्धा के साथ “मत्थएण वन्दामि” करता हूँ।

□ धर्म ज्योति परिषद् (कार्यकर्तागण)

जन-जन वरेण्य प्रातः स्मरणीय सद् गुरुवर्य पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज को उनके सम्पर्क में आने वाले भक्तों ने अनेक रूप से पहचाना और अनेकों तरह से वे उनकी स्तुतियाँ करते हैं। किसी के लिए ये अशरण शरण्य है, तो किसी के लिए पथ-प्रदर्शक। किसी के लिए माता-पिता तुल्य है तो किसी के लिए गुरु। कोई इन्हें पतित पावन कहता है तो कोई धर्मोपदेशक।

जहाँ तक हमारे प्रान्त की जनता का प्रश्न है वह तो इन्हें अपने लिए एक मात्र ‘प्रकाश स्तम्भ’ समझती है।

अन्धेरे में भटकते जहाजों को प्रकाश स्तम्भ ही किनारे तक पहुँचा सकता है।

हम भी अन्धेरे में भटक रहे थे। हमें धर्म, खासकर जैन धर्म जो हमें परम्परागत रूप से उपलब्ध है, के विषय में हमारा जीवन नितान्त अन्धेरे में था हम भटक रहे थे किधर जायें? तभी मोलेला में पूज्य गुरुदेव श्री का चातुर्मास हुआ, हम निहाल हो गये, हमारी भटकती जीवन नौकाओं को सद्बोध का अब किनारा मिल पाएगा ऐसा हमें अन्तर में विश्वास हो चला।

उस चातुर्मास में मगरा प्रान्त की जनता ने अपने एक मात्र इस संयम देवता के चरणों में अपने श्रद्धा सुमन सम-पित करते हुए इनके इंगितों पर चलने का निश्चय किया।

गुरुदेव श्री की कृपा स्वरूप तथा गुरुदेव श्री के अन्ते-वासी विद्वान शिष्य रत्न श्री सौभाग्य मुनि जी ‘कुमुद’ की संप्रेरणा एवं कृतित्व से ‘धर्मज्योतिपरिषद्’ से हमारा सम्बन्ध बना।

कुछ ही समय में मगरा प्रान्त के ग्राम-ग्राम में जैन शालाएँ मूर्त रूप लेने लगीं। फलस्वरूप हमारे सैकड़ों बच्चे धार्मिक ज्ञानार्जन में लग गये। साथ ही स्वधर्मी सहायता

का कार्यक्रम भी सामने आया। पूज्य श्री मोती गुरु ग्रन्थालय की स्थापना ने जागृति के एक कदम के रूप मूर्त रूप लिया।

मोलेला में शाखा कार्यालय कार्यरत है। गुरुदेव श्री की सम्प्रेरणा से मगरा प्रान्त की चोखला कमेटी (५२ गाँव) से समाजोत्थान की एक नयी रूप-रेखा बनी, कई अनावश्यक कुरुडियाँ दफना दी गईं।

इस तरह मगरा प्रान्त में जागृति का जो भी वाता-वरण बना यह सब गुरुदेव श्री की ही कृपा का प्रसार है अतः गुरुदेव हमारे लिए ‘प्रकाश स्तम्भ’ स्वरूप ही है। अभिनन्दन के शुभावसर पर कोटिशः वन्दन।

गुरुचरणानुगामी

—मोतीलाल कोठारी ‘अध्यक्ष’

—नेमीचन्द लोढ़ा ‘उपाध्यक्ष’

—मगनलाल इंटोदया ‘मन्त्री’

—खेमराज बोहरा ‘कोषाध्यक्ष’

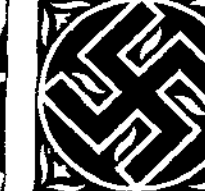
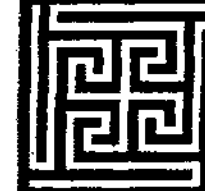
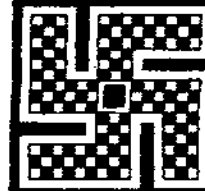
धर्म ज्योति परिषद् शाखा कार्यालय — मोलेला

□ रणजीतसिंह सोजत्या, एम० ए०, एम० कॉम०, बी० एड०

[मन्त्री—मेवाड़ भूषण श्रावक समिति, उदयपुर]

श्रमण संस्कृति के अजस्र-अमर ज्योति की पावन परम्परा में परम श्रद्धेय शान्त मूर्ति, अध्यात्मनिष्ठ, अहिंसा और सरलता के मूर्तिमान प्रतीक, पूज्य प्रवर्तक श्री श्री १००८ श्री अम्बालाल जी महाराज साहब जैसे दिव्य और महान् पुरुष हमें प्राप्त हैं हमारा आध्यात्मिक पथ-दर्शन कर रहे हैं यह वास्तव में हमारा परम सौभाग्य है।

मेवाड़ की यह पावनधरा, जिसका भारत के इतिहास में अत्यन्त गौरवपूर्ण स्थान है, आपके उपदेशों की पवित्र सुरसरी से निरन्तर सिंचित होती आ रही है। यह इस भूमिका, मेवाड़ की धर्मप्राण जनता का सद्भाग्य है। मेवाड़ पूज्य के रूप में परम प्रशस्त पद पर अधिष्ठित जैन शास्त्रों के महान् वेत्ता—अध्यात्मरत साधक-इतनी सब विशेषताओं के होते हुए जो सहजता, ऋजुता आपके जीवन में दृष्टिगत होती है वह हम सभी के लिए प्रेरणास्पद है। हम सबको अत्यन्त सरल और सात्त्विक जीवन अपनाने की प्रेरणा लेनी चाहिए।



महाराज साहब के पवित्र तथा उदार जीवन की जीवित झलक हमें उनके अन्तेवासी श्रमणों के जीवन में भी स्पष्ट दिखाई देती है। यह स्वाभाविक ही है। गुरुजनों का, माता-पिता का अपने छोटों पर जैसे उनका (बड़ों का) जीवन होता है, निश्चय ही प्रभाव पड़ता है।

पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब अध्यात्म जगत् की एक महान् विभूति है। अध्यात्म उत्कर्ष के पवित्र मार्ग पर चलने वाले उपासकों के लिए वे एक प्रकाश-स्तम्भ की तरह हैं जिससे अपनी मन्जिल पर पहुँचने में उन्हें स्फुरणा व चेतना प्राप्त होती है। हमारी समग्र समाज की, यह अन्तर्भावना है कि पूज्य प्रवर्तक महाराज साहब की शतशत वर्षावधिक छत्रछाया हमें प्राप्त रहे ताकि हम अपने समस्या संकुल एवं विभ्रान्त जीवन में अभिनव-शक्ति का संचय करते रह सकें।

□ सोहनलाल सूरिया

[अध्यक्ष—अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति, चार भुजा रोड, आमेट (राजस्थान)]

महान् शास्त्रवेत्ता, अध्यात्म-जगत् के पावन प्रकाश-स्तम्भ, उज्ज्वल चारित्र्य के धनी, पूज्य प्रवर्तक, परम श्रद्धेय गुरुवर्य श्री अम्बालाल जी महाराज साहब ने मेवाड़ की इस पावन धरा में धर्म-प्रसार का जो महान् कार्य किया है तथा कर रहे हैं, वह वास्तव में उनकी मेवाड़वासियों पर असीम कृपा है। मेवाड़ के कोने-कोने में पाद-विहार करते हुए जन-जन को सदाचार, संयम तथा सद्भावना की जो प्रेरणा आप देते आ रहे हैं, हम किन शब्दों में आपका आभार मानें। आपकी सर्वत्र अत्यन्त प्रतिष्ठा है।

आपके पूर्ववर्ती महान् आचार्यों ने इस मेवाड़-भूमि को अपने सदुपदेशों से पावन बनाया तथा बड़े-बड़े आध्यात्मिक चमत्कार दिखाये।

सन्त और साधक के जीवन में जो सरलता, कोमलता, सहजता एवं पवित्रता होती है, आप उसके साक्षात् प्रतीक हैं। हमारा परम सौभाग्य है कि आप जैसे महान् चारित्र्यशील गुरुदेव हमें प्राप्त हुए हैं।

गुरुदेव के संयम-जीवन के पचास वर्षों की सम्पूर्ति के उपलक्ष्य में दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ती महोत्सव मानने का

जो सुअवसर हमें प्राप्त हो रहा है, यह हमारे लिए अत्यन्त हर्ष और आनन्द का विषय है।

हमारी यह हार्दिक शुभकामना है कि परम पूज्य गुरुदेव की पावन छत्रछाया हमें शत-शत वर्ष पर्यन्त प्राप्त रहे। परम श्रद्धास्पद पूज्य गुरुदेव का जो आध्यात्मिक उपकार हम सब पर, जैन समाज पर, मानव-समुदाय पर है, वह सदा स्मरणीय रहेगा।

□ ऊंकारलाल सेठिया

[अध्यक्ष—श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ, सनवाड़]

वीर भूमि मेवाड़ की इस पावन धरा पर, मेवाड़ पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज साहब उन महान् पुरुषों में से हैं जिनकी आलोक किरणें जन-मानस में गहरे अन्धकार को दूर कर प्रकाशमयी बना रही है।

आपका जीवन बाल्यकाल में गृहस्थावस्था से लेकर ५० वर्ष की संयमावस्था तक बालब्रह्मचारी अत्यन्त निर्मल एवं प्रेरणास्पद आदर्शमय रहा है।

मेवाड़ का जैन स्थानकवासी समाज हृदय आपको अपने बीच पाकर उल्लास और आनन्द की तरंगों से प्रसन्न होता है।

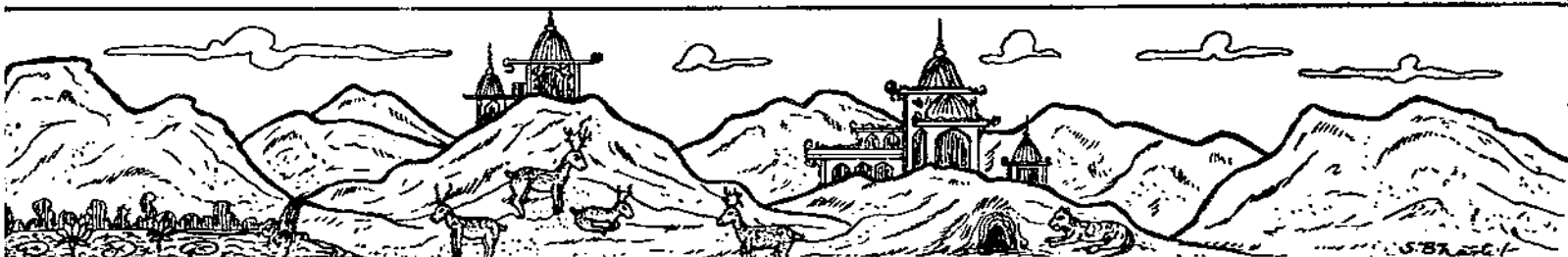
अतः आपका सार्वजनिक अभिनन्दन किया जा रहा है—मैं इसके लिए अत्यन्त हर्ष एवं गौरव का अनुभव करता हूँ और जिनदेव से प्रार्थना करता हूँ कि आपको उत्तम स्वास्थ्य व दीर्घ जीवन प्रदान करें।

□ हरखलाल लोढ़ा

[मंत्री—श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ, सिन्दु]

रत्न प्रसू: मेवाड़, अनेक मौलिक तथा आध्यात्मिक रत्नों की खान है। रत्न प्रायः पहाड़ों में मिला करते हैं। महापुरुष भी प्रायः गाँवों में पैदा हुआ करते हैं। थामला एक गाँव है उदयपुर जिले का। माँ प्यारा देवी की कुक्षी में एक अद्भुत रत्न आया, जो जन-जीवन के लिए कल्प वृक्ष सिद्ध हुआ।

“श्रेयासि बहु विघ्नानि” अच्छे कार्यों में प्रायः विघ्न आया ही करते हैं।



वाक्यकाल के सङ्स्कारों में पले किशोरी-पुत्र आश्रेश को जब वैराग्यानुभूति हुई तो विघ्नों के पहाड़ मार्ग में आ खड़े हुए। दादी मां ने आश्रेश को वैराग्य मार्ग से विचलित करने में कोई कसर नहीं उठा रखी। उसने महाराणा साहब श्रीफतहसिंह जी के सामने जाकर अपना दुःखड़ा रोया। महाराणा बड़े दयालु थे, उन्होंने आश्रेश को रोकने का आदेश दे दिया।

उस समय पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज हमारे गाँव सिन्दु में ही विराजित थे। सरकारी आदेश से मुमुक्षु आश्रेश को राज्याधिकारी पूज्य श्री के पास से हटा कर ले गये। राज्याधिकार के सामने किसी का वश नहीं था, किन्तु मेरे पिता श्री मोतीलाल जी ने राज्याधिकारियों को सारी स्थिति समझाते हुए मुमुक्षु, एक दिव्य आत्मा है इसका बोध दिया।

महाराणा फतहसिंह जी बड़े तेजस्वी महाराणा थे उनके सामने उपस्थित होना ही कपा देने वाली बात होती फिर भी श्री आश्रेश निडर हो, सामने उपस्थित ही नहीं हुए

अपितु उनके प्रश्नों का ठीक-ठीक उत्तर भी दिया और उससे प्रभावित हो महाराणा ने अपना बन्धन हटा दिया।

“सत्यमेव जयते” इस सिद्धान्त के अनुसार सच्चे वैराग्य की विजय हुई और सम्बत् १६८२ मृगशीर्ष मास में श्री आश्रेश मुनिपद पा गये।

हृद निश्चयी श्री अम्बालाल जी महाराज ज्ञानादि गुणों में निष्ठापूर्वक लग गये। गुरु सेवा का इनका गुण भी सर्व विदित है।

पूज्य श्री के साथ संघ संचालन का कार्य, प्रायः आपके ही हाथों होता था।

पूज्य श्री के स्वर्गवास के बाद मेवाड़ संघ की बागडोर आपके सुहृद हाथों में सुरक्षित है।

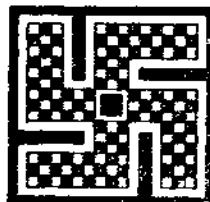
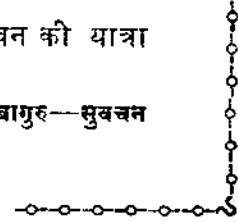
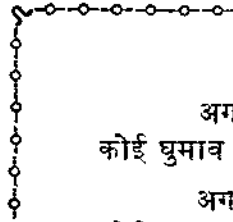
भारत की वैदीप्यमान मुनि रत्नमाला के चमकते रत्न पूज्य गुरु देव श्री शतायु होकर हमारा धर्म नेतृत्व करें। अभिनन्दन के शुभ-आयोजन के अवसर पर अनन्त शुभ कामनाओं के साथ हमारा हार्दिक वन्दन !

अगर मन में प्रभु का विश्वास है तो, सत्य की सड़क पर कोई घुमाव नहीं है।

अगर मन में सरलता का वास है, तो, प्रेम के पथ पर कोई टकराव नहीं है।

अगर मन में उत्साह का निवास है तो, जीवन की यात्रा में कहीं कोई अभाव नहीं है।

—अम्बागुरु—सुवचन



□ श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद'

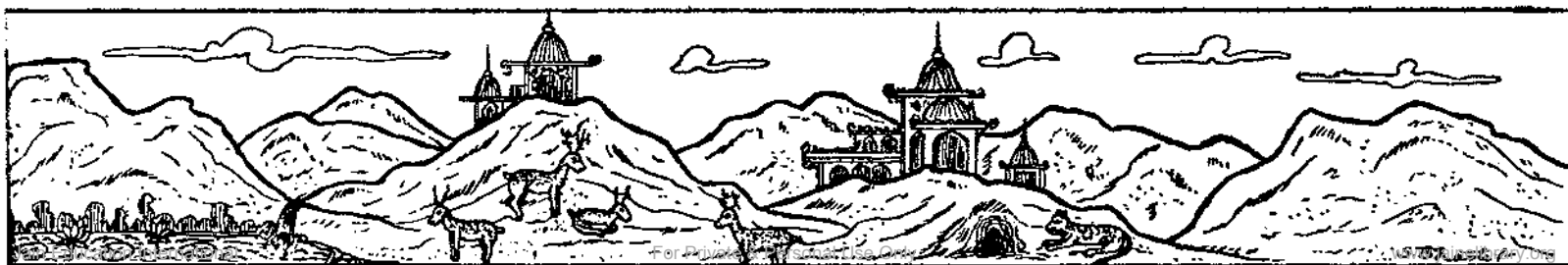
[कवि, लेखक एवं राजस्थान के प्रभावशाली विद्वान संत]

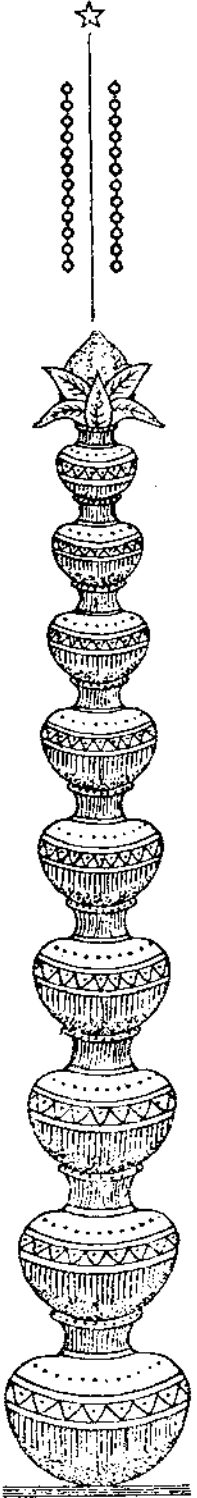
गुरु-प्रशस्तिः

जिनेन्द्रपादावतिकोमलौ यौ, विधायभक्त्या हृदयालवाले ।
अहं हि सौभाग्यमुनिः करोमि, मालां गुरोर्गुम्फितवृत्तपुष्पाम् ॥ १ ॥
सा कुत्र या कर्कशवृत्तपुष्पा, जिनेन्द्रपादावतिकोमलौ क्व ।
क्षतं विदध्यान्नहि शङ्कमानः, नमः क्षमायाचनपूर्वकं मे ॥ २ ॥

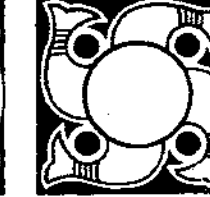
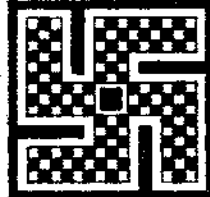
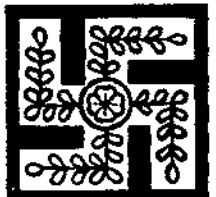
उपेन्द्रवज्राद्यम्ब

भवाब्धिपोतौ चरणौ जिनस्य, मुनीशदेवेन्द्रजनातिवन्द्यौ ।
भवन्ति भक्ता अवलम्ब्य पारं, नमोऽस्तु सौभाग्यमुनेर्हि भक्त्या ॥ ३ ॥
अवर्णनीया तव नाथ कान्तिर्यया जिता सूर्यसहस्रकान्तिः ।
ददाति सापीन्दुसमान शैत्यं नमोऽस्तु तस्मै जगदीश्वराय ॥ ४ ॥
प्रणम्य पादावभिनन्दनञ्च, गुरोर्हि दीक्षाग्रहणे दृढस्य ।
प्रकाशितं तत्सहजन्मवृत्तं, करोमि सौभाग्यमुनिर्जनेभ्यः ॥ ५ ॥
वीरान्गणीभारतभूमिभागे, देशोऽस्ति मेवाङ्ग इति प्रसिद्धः ।
यत्रास्ति शौर्यं दृढबद्धमूलं, चक्रे स्थितिं मूर्ततनुं विधाय ॥ ६ ॥
विहाय देशं यदि भारतस्य, पूर्वतिहासोऽपि भवेन्निरर्थः ।
असंख्य वीरैर्निजजन्मभूमे,—कृतास्ति रक्षा बलिदानपूर्वम् ॥ ७ ॥
विश्वे समस्तेऽपि न कोऽपि देशः, लक्षेषुवर्षेष्वितिहासगम्यः ।
सहस्रवर्षाधिक यातकालं, देशाधिपं यो विदधीत शत्रुम् ॥ ८ ॥
जानन्ति सर्वेऽपि च नाथमूर्ति गोस्वामिपादा अवलम्ब्य यत्र ।
चक्रुन्निवासं नगरं सुरम्भं, द्वारं हि नाथप्रथितं तु पूर्वम् ॥ ९ ॥
अस्त्यत्र ग्रामो निकटे हि तस्य, अभूत्पूर्वोत्तर धामलाख्यः ।
सुशोभितोऽयं गुरुजन्मनैव कृतार्थता भूतमलेन यस्य ॥ १० ॥
एकोनविंशत्यधिके शते यः, द्विषष्टिवर्षे नृपविक्रमस्य ।
ज्येष्ठस्य मासस्य च शुक्लपक्षे, दिने तृतीये समजायतायम् ॥ ११ ॥

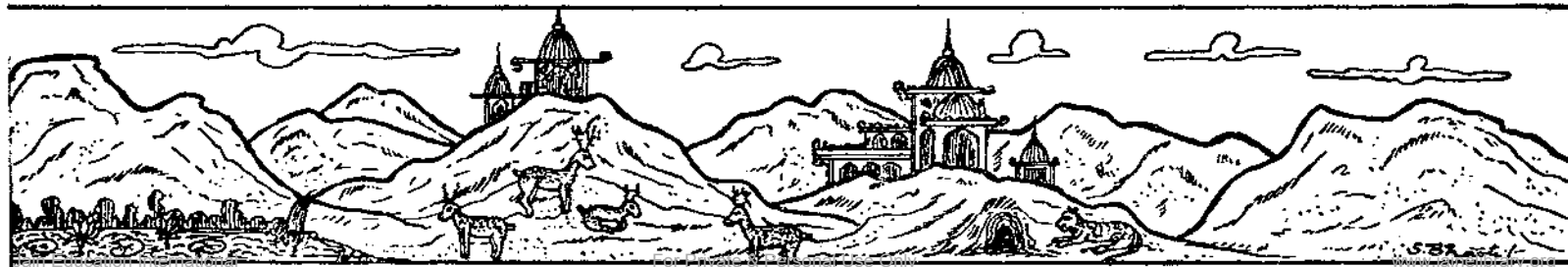


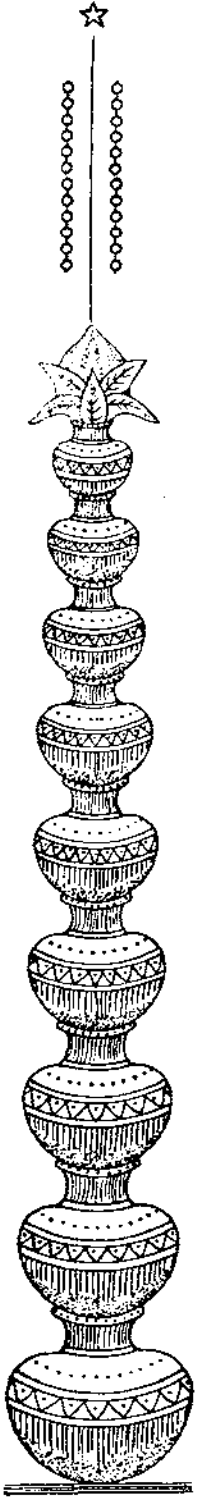


प्यारी यदीया जननी सुशीला, किशोरलालोऽस्ति पिता यदीयः ।
हम्मीर नामा शुभपुत्ररत्नं, स एव चाम्बोत्तरलाल पूज्यः ॥ १२ ॥
वात्सल्यमंबापदतो गृहीत्वा बालेन, शब्देन च बालभावम् ।
लाभेन चैवं मुनिवृत्तिलाभं, हम्मीरनाम्ना परिवर्तितः सः ॥ १३ ॥
श्री ओसवालाभिधजैनरत्ने, किशोरलालस्य गृहे हि जातः ।
हम्मीरमल्लः शुभपुत्ररत्नं, भूतश्च यः संयममल्लरत्नम् ॥ १४ ॥
हम्मीरमल्लो गतबालकेलिः, यावत्प्रविष्टो निजसप्तमाब्दम् ।
तदा हि नामान्तरमाप योऽसौ, पितृव्यपत्न्या परिवर्तितं यत् ॥ १५ ॥
यदैकदा द्वादशवार्षिकः सः, स्नातुं तडागं गतवान् समित्रः ।
अगाधनीरे सहसा निमग्नः, आकृष्य रक्षा विहितास्य लोकैः ॥ १६ ॥
अन्यास्ति जाता घटना समाना, मृत्योर्मुखादेश हि निर्गतोऽभूत् ।
उत्तुङ्गगेहात्पतितोऽपि गुप्तः, भाग्येन लोका अदृशन्विचित्रम् ॥ १७ ॥
अस्माकमेवं गुरुवर्यनाम, वृत्तं प्रवृत्तं परिवर्तितञ्च ।
अनन्तरं मातुलधर्मपत्न्या, सहैव वासान्मनसो विरक्तिः ॥ १८ ॥
तदा स दीक्षाग्रहणेऽभिलाषं, विधाय योग्यं गुरुमाप्तुकामः ।
इतस्ततोन्वेषणदत्तचित्तः, मोतीलालं गुरुमाससाद ॥ १९ ॥
यथा हि हंसो चिनुते च मुक्तां, तथा स मोतीं गुरुमाससाद ।
तं योग्यशिष्यं प्रविलोक्य सोऽपि, प्रसन्नचेताः प्रशंसं स तं तु ॥ २० ॥
विलोक्य दीक्षाग्रहणोत्सुकं तं, गुरुर्बुभूषुर्मुनिवृत्तिदाने ।
शीघ्रं प्रवृत्तो मनसोऽनुकूलं, तथापि भाग्येन कृतो हि विघ्नः ॥ २१ ॥
दीक्षानिषेधोऽपि कृतो हि पत्या, श्री भीण्डरस्याधिपतेश्चवाक्यात् ।
यतो हि भादोड इति प्रसिद्धः, ग्रामोऽस्ति तस्यैव च शासने यः ॥ २२ ॥
मातापि नैच्छन्मुनिवृत्तिमस्य, दिदृक्षभाणा निजवंशवृद्धिम् ।
तृणाय मत्वा स गृहस्थधर्मं, पलायितोऽसौ निशि जन्मभूमेः ॥ २३ ॥
मोहेन माता परिवर्तितुं तं, पूर्णं प्रयत्नं विदधीत शीघ्रम् ।
मेवाङ्गनाथं प्रति सा गताभूत्, साहाय्यमैच्छद्विनिवेद्य सर्वम् ॥ २४ ॥
श्रुत्वा च सर्वं जननीसकाशात्, नृपो महाराण फतेर्हसिहः ।
नरास्वकीयान्प्रतिबोधितुं तं, संप्रैषयत्तत्र स यत्र संघः ॥ २५ ॥
राजाज्ञयासौ सनवाङ्गनाम्नो, ग्रामाद्धि राजानुचरैः स नीतः ।
स्थानं समीपे भवतीति यत्र, सम्मेलनं वाहन वाष्पमन्याः ॥ २६ ॥
विधाय यत्नं नहि राजदूताः, कर्तुं गृहस्थं प्रति साभिलाषम् ।
नैराश्यं रुष्टेर्नृपकिंकरैस्तु, बलप्रयोगोऽपि तदा कृतोऽभूत् ॥ २७ ॥
तदोदयाख्ये नगरे स नीतः, शीघ्रं महाराणनृपस्य पाश्वे ।
स्थैर्यं न तत्रापि मुनिश्च भावी, तत्याज हृष्टं हि जनैर्विचित्रम् ॥ २८ ॥

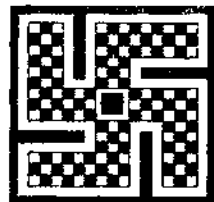


प्रभावयुक्तस्य नृपस्य वाक्यं, नायं निषेद्धुं पुरतः समर्थः ।
 इति स्म जानन्ति जना दृढं हि, परञ्च जातं विपरीतमत्र ॥ २९ ॥
 यत्रास्ति मर्त्यो दृढनिश्चयो यो, तत्रैव साफल्यमुपैति सोऽपि ।
 अतो मनुष्यैर्नितरां विधेयो प्रयत्नपूर्वं दृढनिश्चयोऽपि ॥ ३० ॥
 श्रीमेदपाटेश्वरसम्मुखेऽसौ, सिद्धो दृढो धार्मिकयोग्यतायाम् ।
 प्रश्नोत्तराणि स्थिरमानसेन, निवेद्य राणां समतोषयत्सः ॥ ३१ ॥
 कथं त्वया त्यज्यत एष लोकः, नानाविधं भोगसुखं हि यत्र ।
 आजीवनं यद्ग्रहणाय यत्नं, विधाय मर्त्या न भजन्ति तृप्तिम् ॥ ३२ ॥
 अग्रेऽपि वाञ्छन्ति सुराङ्गनाभिः, स्वर्गेऽपि सङ्गं सुकृतं विधाय ।
 यत्रत्यभोगाननुभूय देवा—स्तिष्ठन्ति लालायितकातराश्च ॥ ३३ ॥
 श्रुत्वा सुखं भोगविषयस्य भावी, दुःखं मुनिर्नाशवतोऽन्वभूच्च ।
 विज्ञाय लिप्सां प्रति लोकसौख्यमुवाच भेवाङ्गमहीमहेन्द्रम् ॥ ३४ ॥
 शृणोतु राजन्वचनं मदीयं, भवन्ति भूता मनुजा जगत्याम् ।
 दृश्यन्त एते न मया न दृष्टाः, ये केऽपि भोगाननुभूय तृप्ताः ॥ ३५ ॥
 भोगेषु तृप्तिर्भवतीति मिथ्या, नो चेत्कथं नो अद्युनापि मुक्ताः ।
 वयं भजामो मतिविभ्रमं हि तेनैव भूता भव-भोगिनोऽपि ॥ ३६ ॥
 भोगा इमे भो नृप नाशवन्त—स्याज्याः सदा दुःखकरा इहापि ।
 सर्वत्र दुःखं न सुखं परत्र, को मूढ इच्छेन्मृगतृष्णिकाभान् ॥ ३७ ॥
 वाताभ्रतुल्यं वसुधाधिपत्य, मापातमिष्टा विषयोपभोगाः ।
 प्राणा नराणां जलबिन्दु तुल्या, धर्मोहि मित्रं परलोकमार्गं ॥ ३८ ॥
 राजस्तवेयं गतराजधानी, आसीच्च नानाविधरत्नयुक्ता ।
 तृणाय मेने नगरीं सुराणां, किमद्य सा शीर्णतनुर्न जाता ॥ ३९ ॥
 यत्रानिशं चित्तहराङ्गनानां, गीतिः सुघां कर्णपुटेभ्यषिञ्चत् ।
 हा तत्र दृष्टानि दिनेऽपि घूक, घुत्कारकारीणि गृहाणि तानि ॥ ४० ॥
 तस्माच्छिष्यं पद्मदलाम्बुलोलां, विद्युच्चलं जीवनमाकलय्य ।
 दृश्यं तु सर्वं चलितं च दृष्ट्वा—प्यास्था कथं स्याज्जगतः स्थिरत्वे ॥ ४१ ॥
 न यत्र दुःखं न भयं न रोगः, व्याधिर्जराधिर्न मदो न मोहः ।
 शश्वन्महासागरवत्प्रशान्त—मादीश्वराधि सततं भजस्व ॥ ४२ ॥
 कुर्यामहं किं किमहं न कुर्यां त्वयेति शङ्का न कदापि कार्या ।
 यथैव भाषास्ति च तण्डुलस्य, चोखा तथा चाँवलमेकमेव ॥ ४३ ॥
 धर्मेण केनापि भवान्धिपारं, गच्छेन्मनुष्यो नितरां विचार्यं ।
 मिलन्ति नद्यः सरलाश्च वक्राः यथार्णवं दूरतरे वहन्त्यः ॥ ४४ ॥
 जीवेषु भो भूप दया सदैव, त्वया तु पाल्या भवसंयमी त्वम् ।
 देहस्य लाभोऽयमभूतपूर्वं—स्तस्माद्विधेयोऽस्य च सुप्रयोगः ॥ ४५ ॥

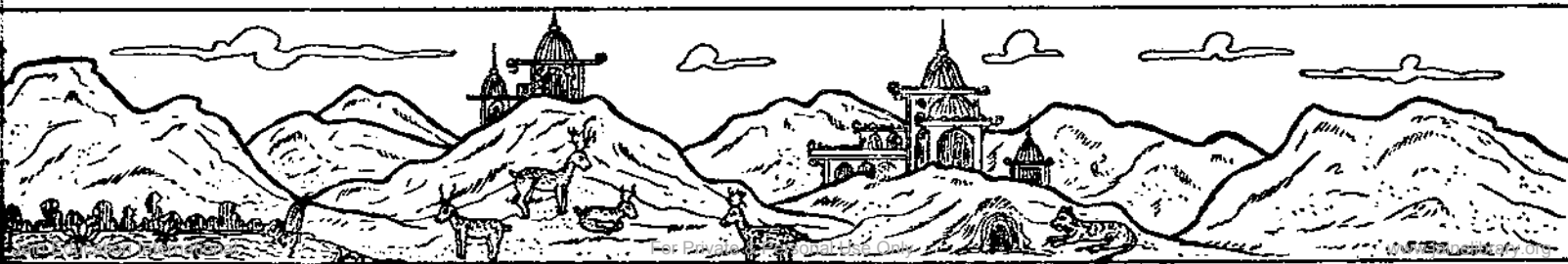
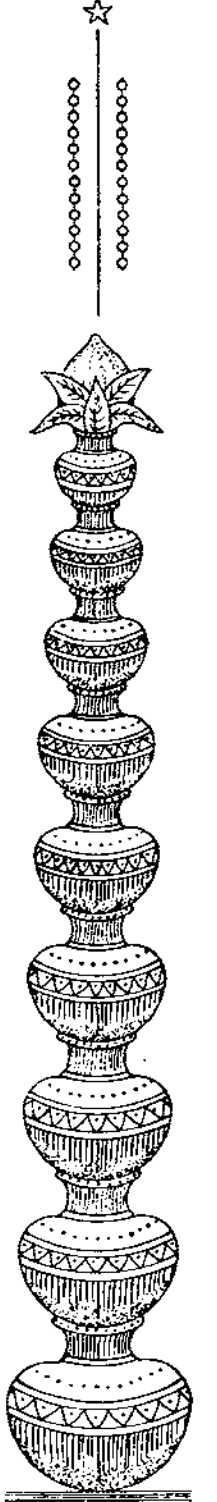




प्रभावयुक्तं वचनं निशम्य भूपस्य, चित्तं परिवर्तितं तु ।
 प्रसारिताज्ञा निजराज्यमध्ये, वधो न चत्वारि दिनानि मासे ॥ ४६ ॥
 भवेदमायां न च पूर्णिमाया—मेकादशीकाल दिने निषिद्धः ।
 कृत्वा दयापालनकर्म शीघ्रं, संघे मुनीनां मिलितः स भूयः ॥ ४७ ॥
 राणा प्रसन्नो नितरां बभूव, स्वकीयदोषेण च लज्जितोऽभूत् ।
 उत्थाप्य दीक्षाग्रहणेनिषेधं, प्रादर्शयद्भ्राविमुनेः क्षमां सः ॥ ४८ ॥
 संस्कारदाढ्ये स गतो हि भूयः, गुरुं तमेवाहितजैनबोधम् ।
 अनन्तरं मंगलवाङ्मनाम्नि, ग्रामेऽस्य दीक्षा गुरुनिश्चिताभूत् ॥ ४९ ॥
 एकोनविंशत्यधिकद्व्यशीतौ, सोमे सिते वैक्रममार्गशीर्षे ।
 दीक्षाष्टमीश्रेष्ठदिने कृतास्ति, मान्येन मोती गुरुणैव तत्र ॥ ५० ॥
 गृहीतदीक्षेण कृतास्ति येन सत्या भविष्योक्तिरभूच्च बाल्ये ।
 हस्ते हि रेखां विगणय्य पूर्वम्, दृष्ट्वा च या चारणवृद्धपुंसा ॥ ५१ ॥
 धन्यो जनो जैनमतावलम्बी, प्राप्तं विचित्रं मुनिरत्नमेतत् ।
 चित्तं यदीयं रिपुषट्कशून्यं, वदन्ति मान्या नरजन्मवित्तम् ॥ ५२ ॥
 प्रदर्श्य दीक्षाग्रहणे हठं सः, हम्मीरराणा समतामवाप्नोत् ।
 स्व जन्मनाम्नश्चरितार्थतां यः, प्रादर्शयत्स्वं दृढमानसं च ॥ ५३ ॥
 दीक्षां गृहीत्वा मुनयो नवीनास्तिष्ठन्ति वर्षावधि साधनायाम् ।
 एवं मुनिः संयमतत्परोभू—च्छीघ्रं गतः संयमभूमिकां सः ॥ ५४ ॥
 लालान्त मोतीगुरवो हि पूज्याः, स्पष्टा च सत्येक्षणलग्नचित्ताः ।
 चास्त्रानुसारं नियमे दृढास्ते, चतुर्विधश्रावकसंघमान्याः ॥ ५५ ॥
 समादधुस्ते च मिथो विवादम्, सामाजिकानां दृढबद्धमूलम् ।
 चातुर्यमूलं गुरुकार्यजातं, प्रभावितो वीक्ष्य मुनिर्नवीनः ॥ ५६ ॥
 अध्येतुकामं मुनिवृत्तिलीनं, स्तोकेन कालेन कृतप्रयत्नम् ।
 शिष्यं गुरुर्यो व्यदधाच्च योग्यं, विलोक्य धैर्यान्वितसंयमी तम् ॥ ५७ ॥
 यदा गतोऽम्बाभिधजातदीक्षो, भिक्षां गृहीतुं प्रथमं मुनीन्द्रः ।
 तित्काम्बु केनापि नरेण दत्तं, पीतं प्रसन्नेन धियैव तेन ॥ ५८ ॥
 क्रोधेन रक्ते नयने न जाते, न द्वेषलेशो मुनिमानसेभूत् ।
 परीक्षणे संयमवान् स दृष्टः, प्रारम्भकालोऽपि शुभावहोऽभूत् ॥ ५९ ॥
 गुरोर्हि पूज्यस्य समक्षमेव प्रारब्धवाञ्छास्त्रसुवाचनं यः ।
 एकोनविंशत्यधिके त्र्यशीतौ, पुरे जयाख्येन्यवसन्मुनीन्द्रः ॥ ६० ॥
 सामाजिकानां विदुषां समक्ष, मशङ्कमानो जिनधर्मतत्वम् ।
 विवेचयन्सूक्ष्मधिया सदैव, चतुर्षु मासेष्वभवत्प्रभावी ॥ ६१ ॥
 जिज्ञासुरासीन्नवजातदीक्षो, यं श्रावकेभ्योऽपि गृहीतविद्यः ।
 अग्रे हि वर्षे कृतवान्निवासं, चतुर्षु मासेषु तु जोधपुर्याम् ॥ ६२ ॥



सम्मेलनं जातमभूत्पूर्वं, श्री कानमल्लस्य दिवाकरस्य ।
पर्यूपणे पर्वणि निश्चयोऽभू—दुद्घाटनं हृद्वनिरुद्धमत्र ॥ ६३ ॥
संजायतेऽद्यापि पालनं तत्, प्रेम्णा गुरुणा कृतनिश्चयस्य ।
शक्या न विस्मर्तुमभूत्पूर्वा, यास्मीयताहश्यत तत्र पूर्णा ॥ ६४ ॥
सर्वत्र कीर्तिप्रसूतागुरुणा, निनाय या तं नगरे विक्राख्ये ।
तत्रापि योगो मधुरो हि जातः, सम्मेलनं चाँदमलेन सार्द्धम् ॥ ६५ ॥
पंचाधिकेशीतितमे हि वर्षे, पूज्यस्य वर्षासमयो व्यतीतः ।
श्री सादड़ी ग्राममतो गतः सः, यत्राभवद्धैर्यं रीक्षणञ्च ॥ ६६ ॥
पूज्यैकलिंगस्य गुरोश्च रोगः, वृद्धिगतो वल्लभपत्तने हि ।
पूज्यस्तदाम्त्राभिधलाल एषः, प्रतिक्रमं कारितवाँस्तदानीम् ॥ ६७ ॥
उच्चारणस्यास्य च शुद्धतां हि, वाण्यां च माधुर्यमभूत्पूर्वम् ।
निशम्य लोकाः प्रशसन्ति योग्याः, मुक्तेन कण्ठेन तदैव शीघ्रम् ॥ ६८ ॥
भिन्नेषु वर्षेषु तु वृष्टिकाले, ग्रामेषु भिन्नेषु कृतो निवासः ।
श्री मेदपाटे च महस्थलेऽपि धर्मप्रचारं कृतवान् मुनीन्द्रः ॥ ६९ ॥
आचार्यसेवा गुरुगौरवेणा, भवश्च मुग्धा हि महम्मदीयाः ।
विधाय संघं लिखिता प्रतिज्ञा न ते विधास्यन्ति च जीवहिंसाम् ॥ ७० ॥
न ते करिष्यन्ति च जीवहिंसामपीह ते ईद महोत्सवेऽपि ।
धन्यानवच्छी बदनोर भूमिः, यत्रेहशाः भिन्नमतावलम्बाः ॥ ७१ ॥
आचार्यपादाः सरलाश्च पूज्याः, सदैव वाञ्छन्ति समाज सेवाम् ।
नाना प्रकारेण समाजदोषाः, दूरे कृतास्तैर्जिनपादभक्तैः ॥ ७२ ॥
मोतीह लालाभिधपूज्य संगो—दहंमदाबाद पुरीं च मुम्बाम् ।
अयञ्च यातो मनवाड देशे, नानाविधान् भारतभूमिभागान् ॥ ७३ ॥
मुम्बापुरीं यो गुरुणा तु सार्द्धम्, यदा गतोऽयं पथि दुर्जनेन ।
शीर्षेऽपिधारा क्षतजा हि हृष्टा, पाषाणखण्डेन स आहतोऽभूत् ॥ ७४ ॥
दोषी गृहीतो मनुजैस्तदासौ, क्षमा प्रदत्ता मुनिना च तस्मै ।
क्षमाप्रभावेण स क्रन्दितोऽभूत्, तापेन चित्तं परिवर्तितं तत् ॥ ७५ ॥
श्लाघ्यो मुनेरस्य गुणप्रकर्षः, कोपस्य जेता नितरां प्रशस्यः ।
दृष्ट्वा मुनि संयमशूरमेनं, धन्यस्य वादो न च कस्य जातः ॥ ७६ ॥
गुरोश्चपादान् हृदयालवाले, निधाय यत्नात्कुमुदः करोमि ।
समाजदोषानपनीय शीघ्रं, रक्षन्तु ते संगठनस्य भङ्गम् ॥ ७७ ॥
जनैश्च सौभाग्यमुनिः सदैवाऽभिधीयतेऽयं कुमुदोपनामा ।
ग्रन्थे प्रशंसा क्रियतेऽभिनन्दे, प्रकाश्यते जीवनवृत्तमेतत् ॥ ७८ ॥





□ पं० श्रीधर शास्त्री
[ज्योतिष आयुर्वेद साहित्याचार्य, अजमेर]



पूज्य प्रवर्तक-पंचकम् [मन्दाक्रान्ता]

□

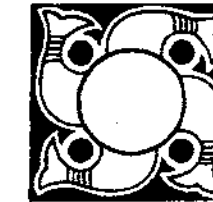
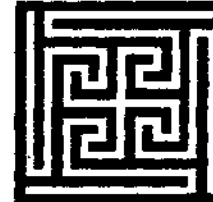
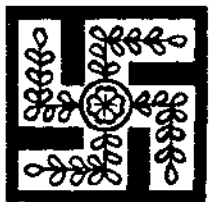
अम्बालालो मृदुलमुदितः मेदपाटे प्रसिद्धः ।
ज्ञानाधीशः सुकृत-सुशमः संघस्वामी विशेषः ॥
साध्वाधीनोऽमलछविमुतः शान्तजैनागमस्य ।
जीयात्लोकै रसिकसुमणिः जैनशास्त्रार्थदृष्टिः ॥१॥

शिष्यास्तस्य 'मगन' रसिको योग्य सौभाग्य दृष्टिः ।
लेख्ये साध्ये सफल लिखने "मन्मथो" मोदयुक्तः ॥
शिष्याः सर्वत्रयइतिवराः एकतश्चेकश्रेष्ठः ।
सत्याचारः "पुरुहुत" मतिर्बन्धुर्गुरोरग्रणी ॥२॥

सौम्योष्तिर्मधुरवचनः देशसेवा विचारः ।
ज्ञानान्धानां विकलमनसां तत्वदर्शी वरीष्ठः ॥
दीनार्तानां शरणसुखदो मंजुवाक् योगसिद्धः ।
नित्यानंदः परसुख-सुखी शान्तिवाक् धीरवीरः ॥३॥

श्रद्धा भक्त्या सततसफलोध्यानयोगीमहात्मा ।
विद्यादेशे कथयति सदा सर्वसाधुश्च छात्रान् ॥
नित्याभ्यासे मननमथनात् ज्ञानशक्ति विचिन्त्युः ।
जायन्तेऽस्मिन् निखिलभुवने भव्य देवा सुपूज्या ॥४॥

विद्या प्राणः प्रथितविनयः सत्कृतिः सार्वभौमः ।
ज्ञानाभ्यासी जयतिमुदितः हास्यमानो विवेकी ॥
धैर्याद् ब्रूते प्रथितविकटः साधु हेतौ स्थितोऽसौ ।
सर्वेषां वै सुखपथजुषां साधुनां सत्यस्नेही ॥५॥



□ महधर केसरी, प्रवर्तक मुनि श्री मिश्रीमल जी महाराज



अभिनंदन

मनहर-छंद

चौखी चितवनवारो षट्काय रक्षनारो,
प्राणी मात्र प्यारो वारो हृदय विशाल है।
निजातमा साधनारो, अनेकों को तार नारो,
सरल स्वभाव जांरो, क्रिया भी कमाल है।
हिय हार सुमतारो कियो कुमता को टारो,
योगी मतवारो सारो, ध्येय जो रसाल है।
चम्पा को दुलारो, श्री हर्ष उजियारो महा,
पूज्य मोती शिष्य गुनि मुनि अम्बालाल है ॥१॥

दृग रस ग्रह विधु^१ ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया को,
थाँवला मेवाड़ जन्म लिनो जयकार है।
चख वसु निधि धारा,^२ अगहन सुदि पाख,
अष्टमी को छोड़ी अघ, भये अणागार है।
करम करन अस्त, व्यस्त हुए साधना में,
त्याग के समस्तवाद, स्याद्वाद धार है।
ज्ञान में मगन लगी, लगन अमर होन,
देशना सुदिव्य देत, लेत भव्य सार है ॥२॥

दोहा

पृथ्वी पर पढ़िया प्रवर, मिले घना मुनिराज।
इसो सरल मिलनो कठिन, अम्बा जिसड़ी आज ॥

१ वि० सं० १९६२

२ वि० सं० १९६२





श्रद्धा-सुमन

□ चन्द्रसिंह चौधरी

एम० ए०, एम० एड०

□

वन्दे पूज्य पदारविन्दयुगलं सारल्य-शील क्षमा—
 मूर्ति पञ्चमहाव्रतानतिदया तौषेच संभासुरम् ।
 सद्विद्या शुचिता स्वधर्म परता नासक्ति मूर्ति पराम्,
 अम्बालाल गुरुं महाव्रतधरं श्रीजैन धर्माग्रणीम् ॥१॥
 श्रद्धाभक्ति भरोऽभिनन्दन परोऽस्मिन्नृत्सवे सोत्सवः,
 श्रीमद्विद्य गुण-प्रमुग्ध मतिमान् श्रीमत्कृपकस्पृहः ।
 विद्वन्! स्नेहनिधे गुणाकर कृपा-सिन्धोऽद्भिः चारिन् गुरो !
 अम्बालाल मुनीन्द्र श्री चरणयोश्चन्द्रो मुदा स्त्यानतः ॥२॥
 दीक्षा स्वर्ण-जयन्त्यां श्री अम्बालाल पदाम्बुजे ।
 चौधरी चन्द्रसिंहस्य, श्रद्धा सुमन-सन्ततिः ॥३॥

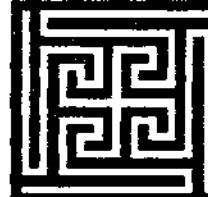
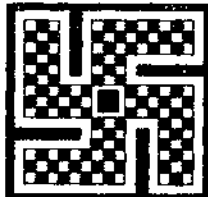
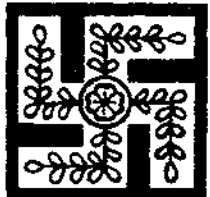


□ श्री उमेश मुनि 'अणु'

[चित्तनशील लेखक एवं संस्कृत-प्राकृत के अधिकारी विद्वान्]

वंदामि

पहुवीरस्स तित्थंमि, 'धम्मदासो' जईसरो ।
 धम्म-पभावगो आसी, किवालू भत्तवच्छलो ॥१॥
 तप्पय-पुँडरीगणं, महुरो गुणीवरो ।
 लहू सो 'पुहुवीराओ', खाओ गुणाण साहगो ॥२॥
 साहाए तस्स जाया खु, बहवो य मुणीवरा ।
 आराहमा सुधम्मस्स, तवस्सिणो य पाणिणो ॥३॥
 अभिग्गहे दढो धीरो, 'रोडजि'-त्ति तवोधणो ।
 सरित्ता तग्गुणाणं तु धम्मे उप्पज्जए रई ॥४॥
 तक्कुले संपई अत्थि, "अंबालालो" पवत्तगो ।
 पण्णासं वरिसा जाया चरित्तो तस्स सोहणो ॥५॥
 भत्तजणोहि णं तस्स, कायब्बा अहिणंदया ।
 पुणो अहंपि वंदामि तं जण-उवगारिणं ॥६॥



विरल-विभूति गुरु अम्बा

□ मुनि महेन्द्रकुमार 'कमल'
[कवि और लेखक]

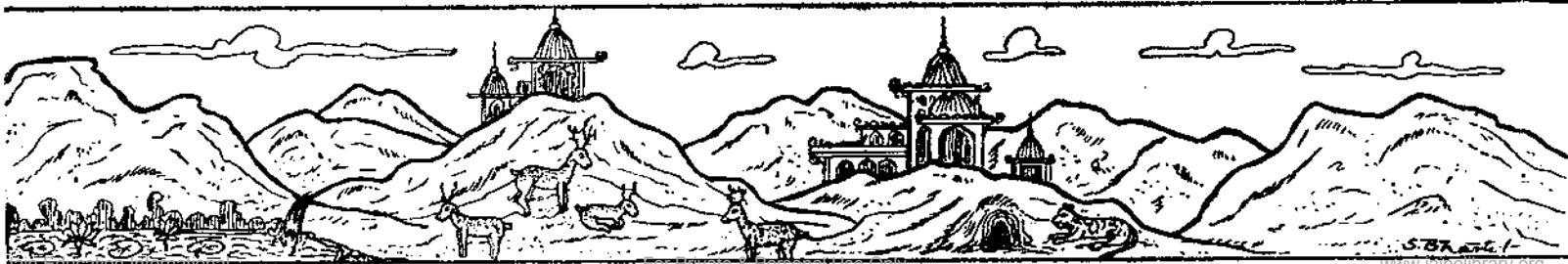
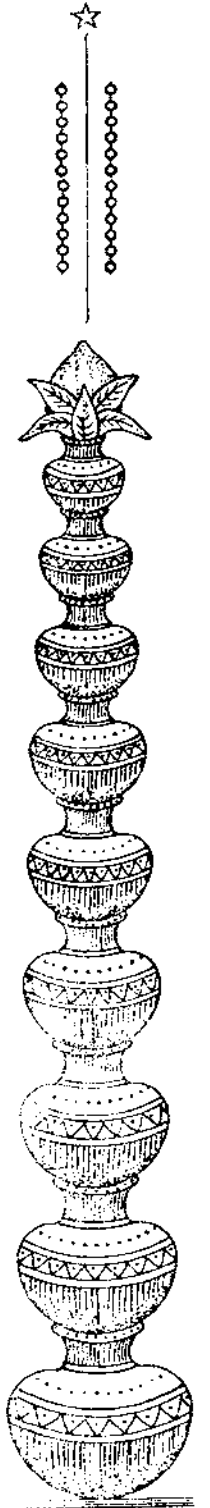
अभिनन्दन अम्बा गुरुवर का श्रमण संघ का अभिनन्दन है ।
अभिनन्दन अम्बा गुरुवर का सकल संघ का अभिनन्दन है ॥
जंगम कल्प फलद वसुधा के सन्त अमर फल देते आए,
देने के हित जीवित रहना इसीलिए कुछ लेते आए ॥
लेने में भी देना ही है ।
वृत्ति भ्रामरी को भगवन् ने माना उत्तम हरिचन्दन है...
विरल विभूति तपोधन सच्चे जीवन अति गम्भीर ज्ञानमय ।
ब्रह्मचर्य का प्रखर तेज है सभी समय में अम्बा निर्भय ॥
बड़ी अलौकिक महिमा वाले ।
बंधे हुए संयम से फिर भी जीवन जीते निर्वन्धन है...
एक कर्मयोगी जीता है इस वृद्धावस्था में सच्चा,
अम्बागुरु की परिचर्या से परिचित ही है बच्चा बच्चा ॥
जय हो, जय हो अम्बागुरु की ।
'मुनि महेन्द्र' तरह कल्प आप हैं श्री जिनशासन वन नन्दन हैं ...



□ श्री सुकन मुनि
(सेवाभावी सत राजस्थानी के कवि)

श्रद्धा के सुमन

जैनन जगत बीच नाना लतान सीच,
अवनि उद्यान मांही, अमराई छाई है ।
फूले हैं सुफूल रंग संग नाना विधि नीके,
हरि-भरी मनोहारी शोभा अधिकाई है ।
बागन बहार ताकी नैन हू निहार सारे,
जुर्यो है जगत जैन, देवन बघाई है ।
स्याद्वाद सरस अहा सलौने 'सुकन कवि',
विमल विकास और अम्बेश अगवाई है ॥ १ ॥
वानी दिनोद विषद विद्युत्-सी वेगवान,
मरु अरु मालव भौर कीरत बगराई है ।
श्रावक सुजान मतिमान ओ महान जान,
गुनन हिरानो ताकि खोज खबर पाई है ।
अति अनुराग और अतुल पुल जानी सबै,
अभिनन्दन आयोजन में देत बघाई है ।
'सुकन' सुकवि सुजस कहलो बखाने हम,
मुनि अगवानी घ्यानी अम्बेश छवि छाई है ॥ २ ॥



परमल अम्बेश

□ घोर तपस्वी 'रजत मुनि'

[छन्द—सेणोर—चोसर]

उगणी से वासटे-अम्ब मुनि ओतर्यो,
थामला मेवाड़ में जोत जागी ।
मुक्ता मुनि-आयने ओप उजवाय ने,
ज्ञानी गुरु पायने बैराग पागी ॥ १ ॥

संवत् बयासिये मगसर शुद्ध अष्टमी,
श्रेष्ठवन संयमी-काज सारियो ।
दोष दश दूर कर-कर्म चकचूर कर,
भाव भवपूर भर, मोह मारियो ॥ २ ॥

मरु-मेवाड़ में मालव-मझार में,
पुढुमि पहाड़ में सिंह धायो ।
तपे ज्युं तावड़ा पलक रा पावड़ा,
शहर औ 'गामड़ा' 'अम्ब' आयो ॥ ३ ॥

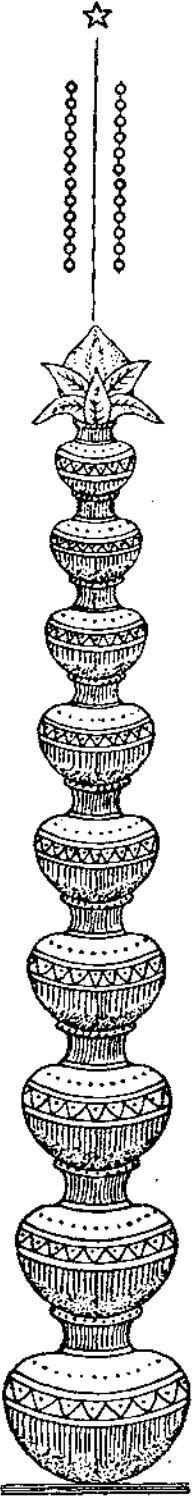
नर अर नारियाँ सुणे उपदेश जो—
तारिया जारिया कर्म-जाला ।
झुक्या नर नाहरा गुण देख ताहरा,
घर अर बाहरा फेर माला ॥ ४ ॥

भगत जिन भावरा भया यूं बावरा,
निव्या नर नावरा अम्ब आगे ।
चरण रज धूर सूँ कर्म भक भूर हूँ,
सूर नर पूर रा भाग जागे ॥ ५ ॥

जैन अजैन जो समझ ली सैन जो—
झुक्या नेण गुणाने देख दूणा ।
कीरत री बेलड़ी रही ना नेनड़ी—
गढा-कोटो^१ अगुणा^२ अथूणा^३ ॥ ६ ॥

संघ रा श्रावका भावना भाव का—
समय का दावका, मतो कीनो ।
"अभिनन्दन" आदर्यो सुजग वन्दन रो,
सन्त शिर मोड़रो स्व पद दीनो ॥ ७ ॥

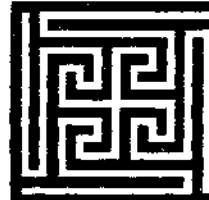
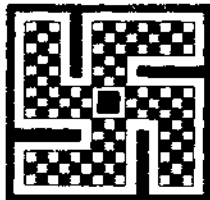
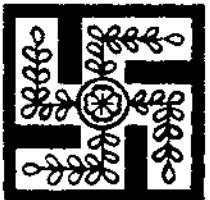
मगन-मदन जी शिष्य सोभाग जी,
सारा ही हरखे है मना माही ।
'रजत कवि' राजरा-काँई वखाण करे—
परमल अम्बेश ना जुगा जाही ॥ ८ ॥



१ गढकोट, किला

२ पूर्व

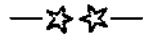
३ पश्चिम में





□ चन्द्रसिंह चौधरी, एम० ए०, एम० एड०

गुरुदेव श्री को वन्दना



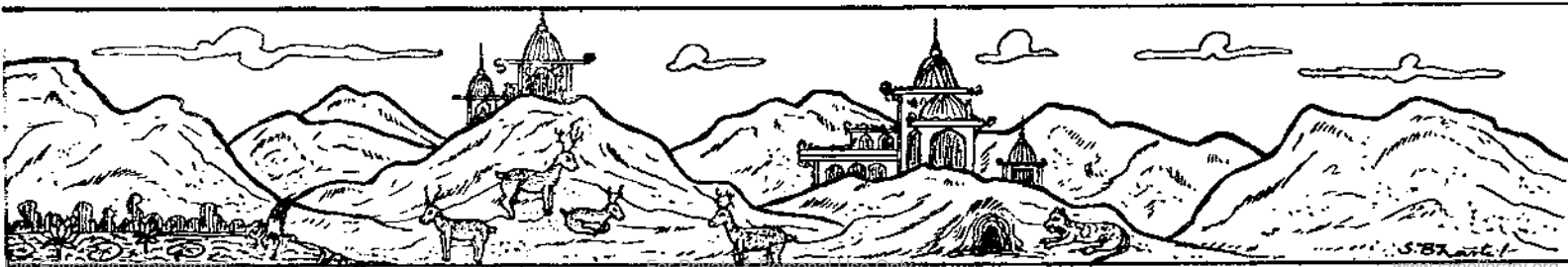
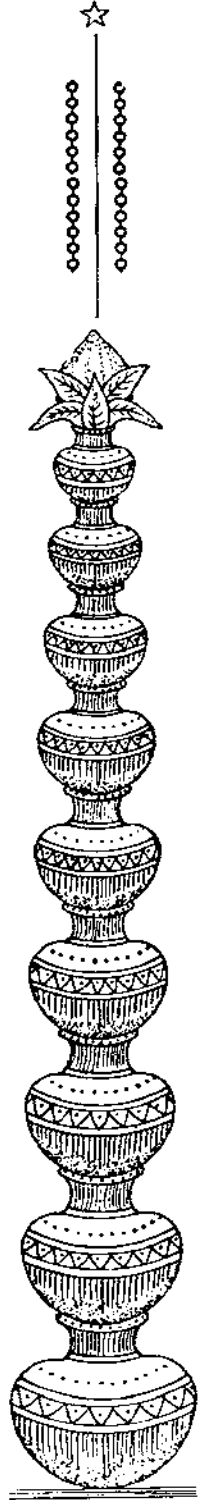
श्रद्धेय मुनीश्वर, हे विद्वद्, अम्बा गुरुवर उपकारी,
सच्चे साधक, पूर्ण आराधक, धर्म प्रचारक हितकारी ।
ज्ञान-भण्डारी, दया-प्रसारी पादविहारी सुखकारी,
सन्त आत्मा, बने महात्मा, भज परमात्मा हियधारी ॥

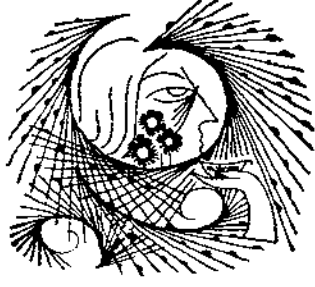
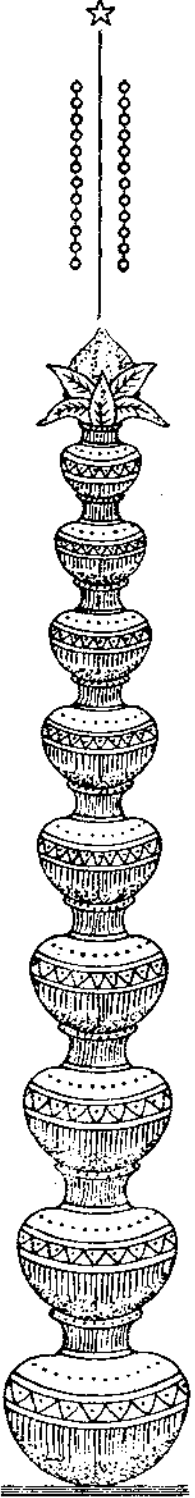
सब कुछ त्यागी, बन बेरागी, प्रभु अनुरागी हे ज्ञानी,
अनासक्त, जग से विरक्त, प्रभु भक्त बने हे ध्यानी ।
दृढ़ विश्वासी, प्रेम प्रकाशी, भज अविनासी, मृदु भाषी,
प्रेम दिखाते, नेम निभाते, क्षेम फैलाते, गुणदासी ॥

अति मृदुवाणी, हिय हर्षाणी फैलाते हो जिन वाणी,
सृजक साधना मण्डल के तुम, पुस्तक आलय लासानी ।
हे करुणाकर, ज्ञान उजागर, धर्म दिवाकर व्रतधारी,
दर्शन पावें, गुण-गुण गावें, चित्त हर्षावें नरनारी ॥

सत्य-शील-सन्तोष त्रिवेणी, सुखदा वरदा वाणी,
सारत्य सौम्यता समता का हिय बहता है निर्मल पानी ।
विषय विवेचन में अति उद्भट, हे विद्वद् मुनि ज्ञानी,
सदा बसो श्रावक मन-मन्दिर, हम अतिशय अज्ञानी ॥

अति छवि न्यारी, सतव्रतधारी, हे मुनिश्वर अविकारी,
मेवाड़ शिरोमणि, चरित्र चूड़ामणि, प्रीतघणी सब नरनारी ।
शरण तिहारी अति सुखकारी हे सुबाल-ब्रह्मचारी,
परमज्ञान से लाभान्वित कर सत्य-अहिंसा व्रतधारी ॥





□ श्री विजय मुनि, विशारद

जग भूषण श्री अम्ब मुनि

जय श्रमण प्रवर्त्तक अम्ब मुनि, जय शासन के उजियारे हो ।
जय "भार मुनि जी" के प्यारे, मेवाड़ घरा के तारे हो ॥ १ ॥

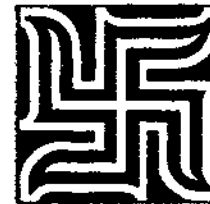
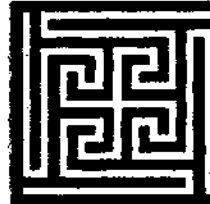
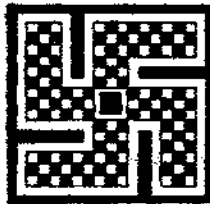
है जन्म भूमि मेवाड़ "शामला" सुन्दर अरु सुखकारी है ।
है जन्म भूमि जननि प्यारी, जहाँ जन्म लिया गुणधारी है ॥
महाभाग्यवान् पूज्य श्रमण शिरोमणि, मुनि मण्डल के सहारे हो ॥ १ ॥

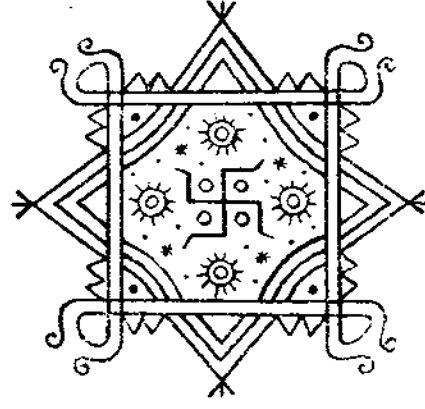
ये बीस वर्ष की आयु में, निर्मल संयम को धारा है ।
पैदल विहार कर गाँव-गाँव को पिलाई अमृत धारा है ॥
मेवाड़, मालवा, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र में आप पधारे हैं ॥ २ ॥

किया जैन शास्त्र, ज्योतिष ज्ञान भी उज्ज्वल और सुहाना है ।
आचार-निष्ठता के हिमायती सेवा गुण को बखाना है ॥
है मिलनसार अरु भद्रमना जगति के जैन सितारे हैं ॥ ३ ॥

है मधुर गिरा जो मैत्री भाव की मंदाकिनी बहाती है ।
है आत्मधर्म मन मन्दिर में सहानुभूति सुहाती है ॥
सर्वत्र मान-सम्मान मिले, खुशियों के छाये फव्वारे हैं ॥ ४ ॥

ये मंगलमय शुभ अभिनन्दन हम प्रेम भाव से करते हैं ।
शुभ लक्ष्य सफलतापूर्ण मिले, यों पवित्र भावना वरते हैं ॥
"विजय" विमल आनन्द मिले, जग भूषण शौर्यता धारे हैं ॥ ५ ॥





श्री अम्ब मुक्ताष्टक



[१]

जीवन सुमन सुहाना है ये, अम्ब मुनि सुरभित होता ।
मेवाड़ धरा का हर जन मानव, देख-देख हर्षित होता ॥

[२]

संस्कार मिले हैं मात-पिता से, जो आगे वृद्धि पाये ।
महा प्रतापी "भारमुनि जी", सच्चे गुरु को तुम पाये ॥

[३]

बचपन से ही शास्त्र ज्ञान से, समुज्ज्वल प्रकाश किया ।
चमक रहे मेवाड़ धरा में, सत्य-शिव विकास किया ॥

[४]

संयम में रत रहते मुनिश्वर, वर्ष पचास किये पूरे ।
प्रवर्तक हैं आप गुणिवर, धर्म वीर अरु हैं शूरे ॥

[५]

तपोधनी हैं जैन जगत की, सच में विरल-विभूति हैं ।
मधुर गिरा है प्रसन्न आनन, ब्रह्मचर्य मय ज्योति हैं ॥

[६]

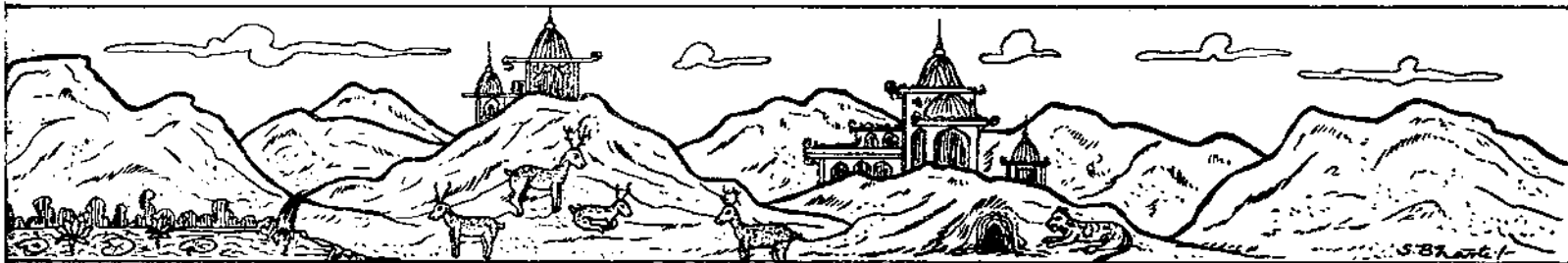
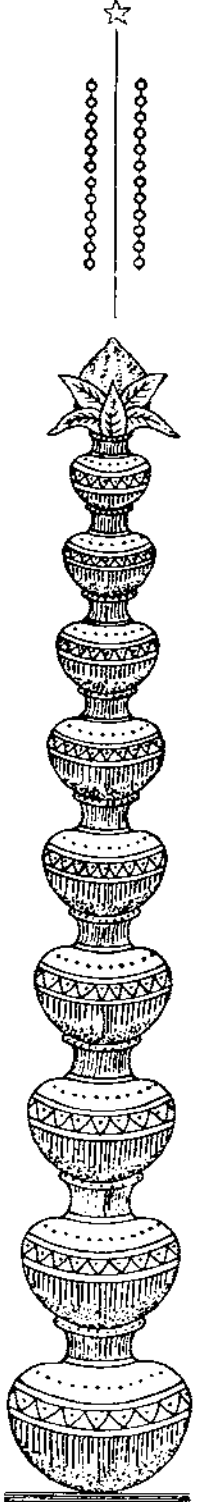
सरल हृदय, संगठन की मुनिवर सतत भावना रखते हैं ।
ज्ञान-भक्ति की अविरल साधना, निर्मल करते रहते हैं ॥

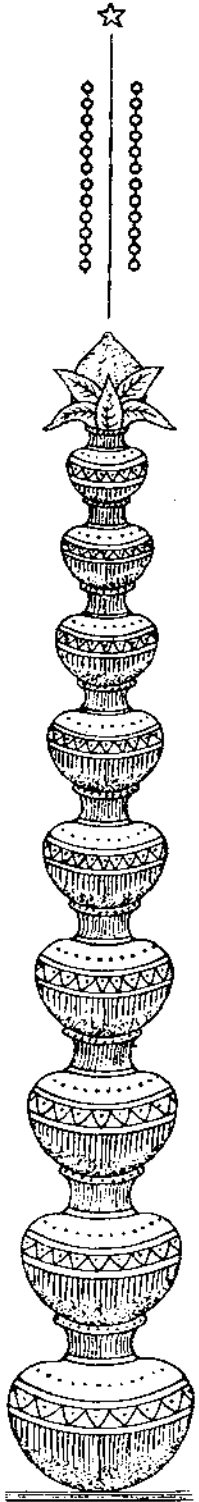
[७]

मिलनसार है, रुचिशील, स्वाध्यायी, संघ के संचालक ।
दीप्तिमान रहो सदा तुम, श्रमण याम के हो पालक ॥

[८]

इन शब्दों से सुखद कामना, करते हैं हर्षित शतवार ।
'अभय' बने मेवाड़ शिरोमणि, धन्य-धन्य अम्बा अणगार ॥





[१]

धरातल मेवाड़ पे, एक जीव जन्मा आई,
विरल विभूति यह, सन्तोष भण्डार है ।
धन्य हुआ ग्राम वह, धन्य हुई मातेश्वरी,
प्रियधर्मी पिताजी भी, कुल सिणमार है ।
इन्दु तत्त्व षट्काय, युगल में ज्येष्ठ शुक्ला,
तृतीया का शुभ दिन, धामला मुझार है ।
कहत "सुभाष मुनि" सरल-सरल महा,
तपोधनी अम्बा गुरु, दिनय अपार है ।

[२]

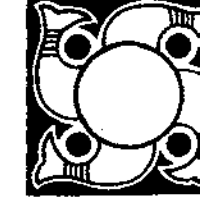
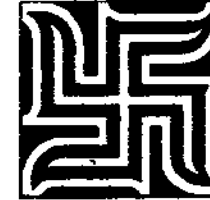
मानवता की प्रतिभा भी, समुज्ज्वल प्रदर्शित,
महान विराट मूर्ति, ज्ञान गुणधारी है ।
सरोवर सम आप, जीवन पवित्र महा,
नहीं है कटुता तव, वाणी प्रिय भारी है ।
शुद्ध मोती मोतीलाल, संघ में रसाल महा,
भद्रमना भारमल, गुरु उपकारी है ।
कहत "सुभाष मुनि" सुखकारी हितकारी,
ऐसे महा योगीराज, वन्दना हमारी है ।

[३]

खूब किया ज्ञान-ध्यान, गुरु सेवा खूब भरी,
विवेक से ओत-प्रोत, जीवन तुम्हारा है ।
हड़ता त्याग मय, मिलनसार प्रकृति भी,
करुणा के रत्नाकर, भिक्षुक हमारा है ।
मुखाकृति दमके सदा, चमकता तेज अति,
जीवन में कोष भरा, दया से अपारा है ।
कहत "सुभाष मुनि" अनुकम्पा शील मुनि,
भक्त है अटलभारी, महिमा को विस्तारा है ।

दोहा

यश कीर्ति चमके सदा, रहे हमेश अविचल ।
दीर्घायु हो मुनीन्द्र जी, उपकारी अविरल ॥ १ ॥
जीवन तेरा धन्य है, धन तेरा अवतार ।
सफल करी है कूख को, सफल हुवे किरतार ॥ २ ॥
मारवाड़-मेवाड़ में, किया धर्म उत्थान ।
मालव ने महाराष्ट्र में, गुजरात देश महान ॥ ३ ॥
गुण गरिमा फैल रही, चारों ही दिशी माय ।
बने यशस्वी जयवन्त, प्रवर्तक सुखदाय ॥ ४ ॥
संयम साधना सफलकारी, पूरे पचास वर्ष ।
अभिनन्दन कोटिशः 'सुमन', हो रहा जनमन हर्ष ॥ ५ ॥



□ श्री गणेश मुनि शास्त्री
[प्रसिद्ध साहित्यकार एवं वक्ता]

अम्बा गुरु को निज जीवन सम, जग का जीवन है प्यारा ।
इसीलिए अर्हद् उद्घोषित, महाव्रतों को स्वीकारा ॥
भद्रमना गुरुदेव भारमल, भाग्योदय से इन्हें मिले ।
सूर्य-रश्मियों के स्पर्शन से, सूर्य विकासी क्यों न सिले ॥
दर्शन का अध्ययन गहन कर, पढ़ महनीय लिया सच्चा ।
अपरिश्रम व्रतधारी का है, ज्ञान-निधान यही अच्छा ॥
रुचि स्वाध्याय-ध्यान में रखते, मिलनसार हैं आप महान ।
सरलात्मा को मिलता ही है, उच्चस्तरीय सदा सम्मान ॥
श्रमण संघ के पूज्य प्रवर्तक, पद को मतमद बहते हैं ।
संचालक मेवाड़ संघ के, सेवक बन कर रहते हैं ॥
विरल विभूति दीप्त मुखमुद्रा, गंभीरिमा का अन्त नहीं ।
वर्तमान युग के स्वर हैं ये, देखा ऐसा सन्त नहीं ॥
'धर्म ज्योति' परिषद के प्रेरक, संस्थापक ज्ञालाओं के ।
ज्योतिमान मोती होते हैं, कंठस्थित मालाओं के ॥
संघ संगठन सेवा श्रद्धा, शिक्षा, दीक्षा सत्साहित्य ।
अम्बा गुरु की पुण्य दृष्टि से, पूर्ण पल्लवन पाते नित्य ॥
जहाँ जहाँ भी घूमे मुनिवर, झूमे श्रावक चरणों में ।
अभय चाहने वालों को ये, लेते आये शरणों में ॥
अभिनन्दन अम्बा गुरुवर का, करना है कर्तव्य महान ।
स्थानकवासी जैन संघ का, समझा जाये यह सम्मान ॥
'मुनि गणेश शास्त्री' का वन्दन, अभिनन्दन स्वीकारा जाय ।
सन्तों के अभिनन्दन को भी, माना जाता मोक्षोपाय ॥



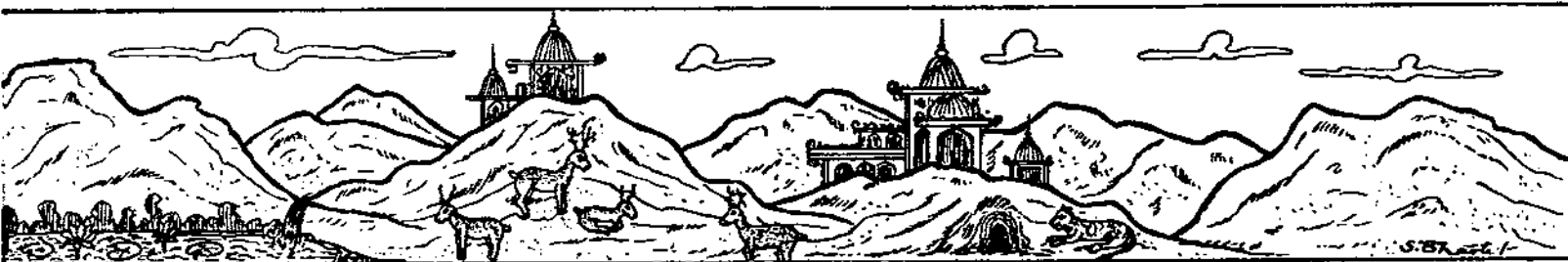
देखा ऐसा
संत
नहीं !

□ प्रकाश मुनि 'प्रेम'

गुण-
रत्नाकर



मेवाड़ शिरोमणि पूज्य प्रवर्तक, मुनिवर अम्बालाल महान ।
तेरी गौरव गरिमा से अवगत हैं, सुनिए सकल जहान ॥
श्रमण-श्रेष्ठ, त्यागी-वैरागी, श्रमण संघ के हो शृंगार ।
तेरे परम पुनीत चरण में वन्दन है, मेरा शत बार ॥
गहरे ज्ञाता आगम के, रत्नाकर सा जीवन गम्भीर ।
तेरे दर्शन करके स्वामी, करे पलायन अन्तर पीर ॥
चहुँ दिश में तब गौरव गरिमा, फँस रही है अपरम्पार ।
गुण गाते हैं सादर गुरुवर, दुनियाँ के लाखों नर-नार ॥
शिष्य समक्षकर मुझको अपना, रहे कृपा मुझ पर दरबार ।
शुभाशीष पाकर स्वामी का, हो जाऊँ भवसागर पार ॥





मधुर

आम्र-सम

जीवन

जिनका

मुनि गुणी गुण गाने से —अभिनन्दन उनका करने से,
पावन बनती स्वयं आत्मा, तिरे सिन्धु कलि हरने से ।
मेवाड़ संप शिरोमणि हैं ये—और प्रवर्तक ज्ञानी हैं ।
गुणी बड़े रत्नाकर जैसे, अम्बालाल जी स्वामी हैं ॥
यथा नाम गुण तथा आप में, सहज रूप से पाते हैं ।
मधुर आम्र सम जीवन जिनका, देखा महिमा गाते हैं ॥
दिव्य-साधना जीवन पावन, सतत प्रेरणा-प्रद जग में ।
ज्ञान-ज्योति को लेकर इनसे, चलो प्रगति के सुमग में ॥
जैनागम इतिहास सिन्धु में, गोते गहन लगाते हैं ।
अन्वेषण कर भाव रत्न, जीवन को आप सजाते हैं ॥
मंगलमय उपदेश आपका, जानामृत वरसाता है ।
सम्यक्-श्रद्धा श्रवण ग्रहण से, हृदय-कमल विकसाता है ॥
सौम्य चन्द्र धवल चाँदनी को लख कमलिनी खिलती है ।
दर्शन से तत्त्व गुण गरिमा से, जन-मन-शांति मिलती है ॥
शासन साधक ! सजग पथिक तव, चरण में हो वन्दन ।
दीक्षा-स्वर्ण-जयन्ती आई, करता 'जिनेन्द्र' अभिनन्दन ॥



□ भक्त 'राव' (सोन्याणा)

[१]

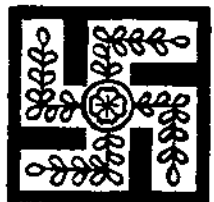
काम अरु क्रोध लोभ तृष्णा से रहित सदा,
वाके ही में संत गुन आप तन धारी हैं ।
अज्ञानिक जीव केहि परे भव बंधन में,
उनके छुड़ाइवे में आप उपकारी हैं ॥
शीतल सुभाव अरु ज्ञान के समुद्र अति,
सर्व रितु चन्द्र सम किरती तुमारी है ।
पूज्य श्री मेवाड़ हुके ज्ञानी गुरु अम्बालाल,
आप हैंकि भक्ति ताकी, कोटि बलिहारी है ॥

[२]

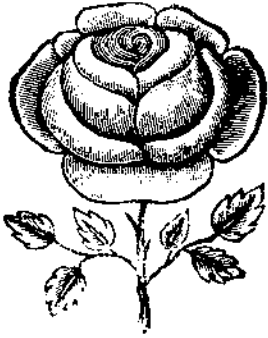
मात प्यार बाई हैं कि कोख से जनम भयो,
पिता श्री किशोर चन्द्र जी के आप जाये हैं ।
सोनी बंस आप हुं को उज्ज्वल विख्यात सदा,
वांके कुल हुं में आप दीपक बनि आये हैं ॥
मुनि होय आप फिर रवि ज्युं प्रकाश कीनों,
पूज्य श्री मेवार हुंको याते पद पाये हैं ।
अज्ञानीक अंधकार दूर करि वे कुं एक,
विधना ने आप हुंकु मणि ज्युं बनाये हैं ॥

दो

कवित्त



□ कविरत्न श्री चन्दन मुनि (पंजाबी)
[लगभग पचास हिन्दी काव्यों के रचयिता]



(१)

राज्य उदयपुर के अन्तर्गत,
गाँव थामला प्यारा ।
उगनी सी बासठ में उसमें,
चमका एक सितारा ॥

(२)

उसको ही 'अम्बा गुरु' कहकर,
आदर करती दुनिया ।
उनके पावन चरण-कमल में,
सिर है धरती दुनिया ॥

(३)

'भारमल्लजी ज्ञानी गुरु से,
संयम को क्या पाया ।
इक आदर्श श्रमण बन करके,
दुनिया को दिखलाया ॥

(४)

वर्ष बयासी मगसिर शुशला,
त्तिथि आठों बड़ मामी ।
संयम को अपनाते ही बस,
किस्मत जग की जागी ॥

भक्ति-सुमनार्चना

(५)

मनोमिलाषा पूरी करते,
मत्त जिन्हों से सारे ।
पंचम आरे के वे प्यारे,
कल्प-वृक्ष हैं त्यारे ॥

(६)

एक दिवस क्या एक घड़ी के,
संयम की न समता ।
बने अभी के साधू को है,
स्वयं इन्द्र भी नमता ॥

(७)

अर्द्धशती फिर बीती जिनको,
संयम को अपनाए ।
क्यों न दुनिया चरण-कमल में,
सादर शीश झुकाए ॥

(८)

देख त्याग वैराग्य आपका,
विस्मित दुनिया वाले ।
हर इक के न वश में ऐसा,
निर्मल संयम पाले ॥

(९)

ज्योतिष के जैनागम के हैं,
भारी ज्ञाता ज्ञानी ।
इससे बढ़कर सबसे चढ़कर,
मिश्री जैसी बानी ॥

(१०)

कहें सदा मिथ्यात्व तजे बिन,
करनी निष्फल सारी ।
तिरना हो तो समकित के बस,
बनिये परम पुजारी ॥



(११)

मारवाड़, मेवाड़, मालवा,
महाराष्ट्र भी घूमे ।
गुजंर और सीराष्ट्र देशने,
चरण आपके चूमे ॥

(१२)

श्रमण संघ के बने प्रवर्तक,
शोभा भारी पाई ।
मुक्त कंठ से भक्त लोग हैं,
करते बहुत बढ़ाई ॥

(१३)

संघ संगठन के मतवाले,
साधक सन्त निराले ।
मान, बढ़ाई, अहंभाव से,
छल से बचने वाले ॥

(१४)

बाह्य और अन्तर में अन्तर,
नहीं आपके देखा ।
क्रोध-क्लेश की राग-द्वेष की,
नहीं कहीं पर रेखा ॥

(१५)

स्थानक वासी जैन जगत की,
दुर्लभ है इक थाती ।
देख आपकी त्याग तपस्या,
गज पर होती छाती ॥

(१६)

वर्ष बहत्तर के हैं फिर भी,
कहाँ आप में सुस्ती ।
जीवन में भी संयम में भी,
पहले जैसी चुस्ती ॥

(१७)

पाँच सात हों तब तो कोई,
गणना कर बतलावे ।
नहीं आपके पार गुणों का,
कोई कैसे गावे ॥

(१८)

मंगलमय स्वाध्याय शास्त्र का,
करते ही हैं रहते ।
शास्त्र पठन बिन संयम सूना,
शेर बबर वन कहते ॥

(१९)

शास्त्रों के स्वाध्याय-योग का,
जिसने लिया सहारा ।
पाप उसे हर खारा लगता,
लगता संयम प्यारा ॥

(२०)

बिना भाग्य न शास्त्रों में रुचि,
कभी किसी को होती ।
शास्त्र सिन्धु में गोते से ही,
मिलते मँहगे मोती ॥

(२१)

स्वयं रहे तिर साथ विश्व का,
बेड़ा तार रहे हैं ।
भक्त जनों पर अनगिनती ही,
कर उपकार रहे हैं ॥

(२२)

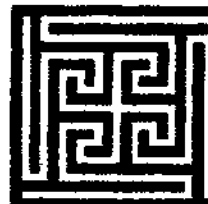
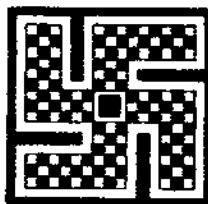
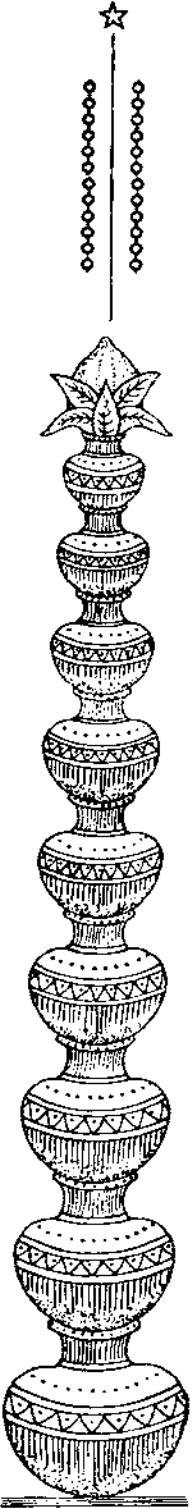
ऐसे परम मुनीश्वर हित सब,
यही कामना करते ।
रहें विश्व का मंगल करते,
लाखों वर्ष विचरते ॥

(२३)

संयम उनका सदा सवाई,
दमक दिखाता जाये ।
परम पुनीत प्रकाश जगत यह,
जिससे पाता जाये ॥

(२४)

जहाँ करें मेवाड़ी उनके,
संयम का अभिनन्दन ।
करता है अभिनन्दन यह भी,
पंजाबी "मुनि चन्दन" ॥





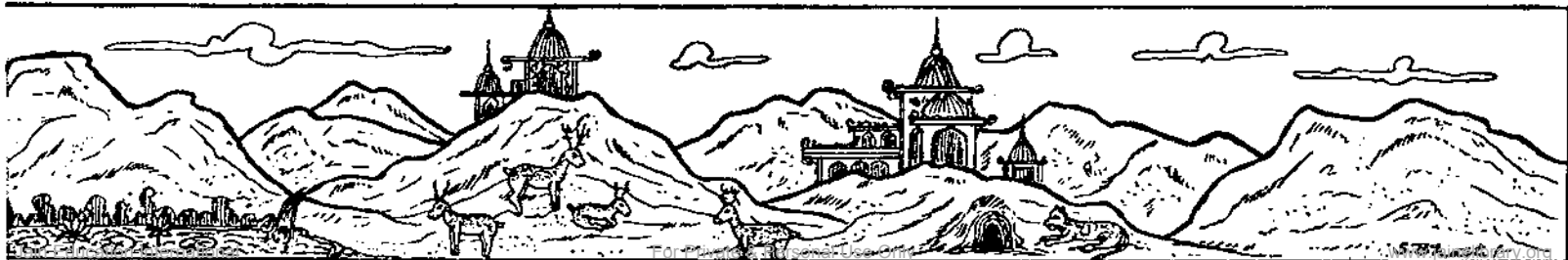
□ मगन मुनि 'रसिक'

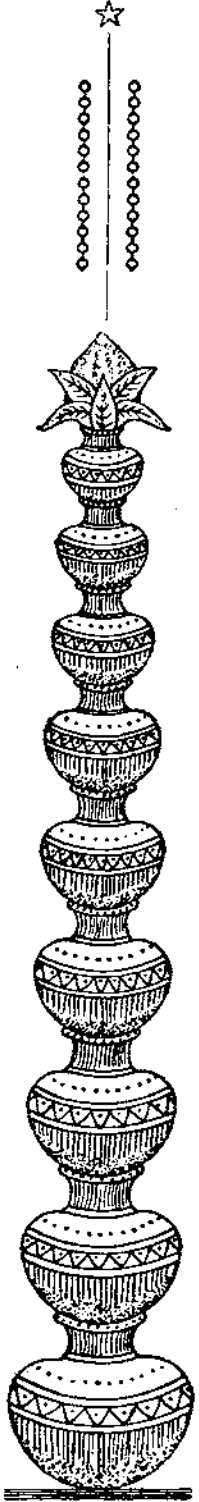
गुरु - गुण - गौरव - गीत

[तर्ज : होली रो : मोती मंगरी माथे चेटक....]



संघ शिरोमणि नाथ आपरी, गौरव गाथा गाऊँ हो ।
पद कमलाँ में फूल श्रद्धा रा, भेंट चढ़ाऊँ हो ॥
चेलो चरणा रो, बाबा, चेलो चरणा रो,
म्हने भव सागर सुं पार उतारो हो ॥
किशोरचन्द जी प्यार बाई रा, लाला आप कहावो हो ।
गाँव धामला सोनी कुल में, घणा मुहावो हो ॥ चेलो ॥१॥
विक्रम संवत उगणीसी ने, साल बासठ रो आयो हो ।
जेठ महिनो पक्ष उजालो, जग में छायो हो ॥ चेलो ॥२॥
जनम्या गुरुवर तीज रे दन, मंगल वेलाँ माही हो ।
घर-घर में जन-जन में बाँटी, हरष बधाई हो ॥ चेलो ॥३॥
दुनियाँ में परकाश फैलावा ज्यूँ सूरजडो आवे हो ।
सतगुरु लाया ज्ञान उजालो, जग चमकावे हो ॥ चेलो ॥४॥
बाल अवस्था माही मणिया, निरमल बुद्धि पाया हो ।
धर्म-ध्यान विवेक गुणा में, चित्त लगाया हो ॥ चेलो ॥५॥
मेवाड़ी पूज्य राज प्रतापी, मोतीलाल जी प्यारा हो ।
सरल स्वभावी भार मुनीश्वर, शिष्य सितारा हो ॥ चेलो ॥६॥
गावाँ नगराँ विचरण करता, पूज्य धामले आया हो ।
दरशन करताँ आपरो, हिवडो हुलवायो हो ॥ चेलो ॥७॥
वाणी सुणता घट-घट माही, वैराग रो रंग छायो हो ।
संजम लेणो दुनियाँ सुँ, यूँ मन पलटायो हो ॥ चेलो ॥८॥
वंरागी वण घर सुँ निकल्या, गुरु सेवा में घूम्या हो ।
संकट झेल्या घणा वणा सुँ, आप झूझ्या हो ॥ चेलो ॥९॥
नी लेवा दाँ संजम धाने, भाई सगा यूँ बोल्या हो ।
ताला में झड़ दीदा पणनी, तल भर डोल्या हो ॥ चेलो ॥१०॥





उगणी सौ बरियासी माही, मगसर महिनी लागो हो ।
मंगलवाड़ में संजम लीदो, माग जागो हो ॥ चेलो ॥११॥

ज्ञान ध्यान सुँ भर्यो खजानो, वितयशील निरमानी हो ।
आगम अरथ तत्त्व ने जाण्यो, वण्या सुज्ञानी हो ॥ चेलो ॥१२॥

देलवाड़ा में पूज्य गुरुरी, सेवा खूब ही कीनी हो ।
अन्तेवासी वणिया पूरी, महिमा लीनी हो ॥ चेला ॥१३॥

पूज्य प्रवर्तक आप दीपता, आतम कारज सारे हो ।
अम्बा गुरुवर-अम्बा गुरुवर, सभी पुकारे हो ॥ चेलो ॥१४॥

वीर भूमि रा वीर धीर हो, नित उठ पगल्या पूजूँ हो ।
गुरुवर री सु किरपा सुँ, म्है निरभय गूजूँ हो ॥ चेलो ॥१५॥

भारवाड़, मेवाड़, मालवो, गुर्जर बम्बई विचर्या हो ।
ज्ञान सुणायो भव जीवाँ रा, कारज सुधर्या हो ॥ चेलो ॥१६॥

कोमल हिरदो घणो आपरो, बोले मिठी वाणी हो ।
मन लुभावणी सूरत प्यारी, जानी ध्यानी हो ॥ चेलो ॥१७॥

तप संजम में शूरा पूरा, पाँच महाव्रत पाले हो ।
ब्रह्मचर्य रो तेज अनोखो, दूषण टाले हो ॥ चेलो ॥१८॥

उगर विहारी आप बतवो, मुगत पूरी रो मेलो हो ।
भीड़ पड़े भक्तारी भारी, लागे मेलो हो ॥ चेलो ॥१९॥

तारा बिच में चन्दो सौवे, नभ मण्डल रे माँही हो ।
ज्यूँ चेलाँरी मण्डली में सोवे, आप सदा ही हो ॥ चेलो ॥२०॥

दिव्य जीवन की जगमग ज्योती, सागर ज्यूँ गंभीरा हो ।
मेवाड़ देश रा असली हो अनमोल हीरा हो ॥ चेलो ॥२०॥

पच्चास वर्ष रो निरमल संजम, बड़ भागी ही पावे हो ।
हिवड़े हरप हिलौराँ उठे, पार न आवे हो ॥ चेलो ॥२२॥

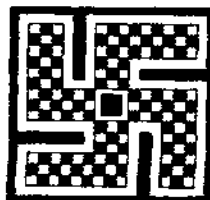
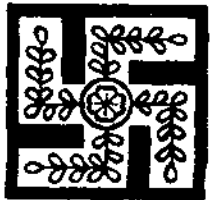
धन्य घरती धन्य जननी गुरुवर, सबने धन्य बणायो हो ।
श्रमण संघ में जैन दिवाकर, सब मन माया हो ॥ चेलो ॥२३॥

जल सुँ भरिया सागर मोटा, गागर में नी मावे हो ।
घणा गुणारी खान गुरु, गुण गया न जावे हो ॥ चेलो ॥२४॥

सौ सौ बार करूँ अभिनन्दन, मंगल मोद मनाऊँ हो ।
जुग जुग रहिजो अमर भावना पल-पल माऊँ हो ॥ चेलो ॥२५॥

मला भाग सुँ सतगुरु मिलिया, दरशन कर हुलषाऊँ हो ।
'रसिक' आपरा शरणा में, बलिहारी जाऊँ हो ॥ चेलो ॥२६॥

☆☆



□ शिरोमणिचन्द्र जैन, इन्दौर

गुण सागर सद्गुरु! प्रभो, वन्दन करूँ अनेक ।
तुम सा रक्षक जगत में, मिला न कोऊ एक ॥१॥
विश्व विनायक देव हो, कृपा सिन्धु करुणेश ।
कोटि कोटि मम वन्दना, हे विश्वेश ! महेश ॥२॥
चरण-युगल गुरुदेव के, ऋद्धि-सिद्धि दातार ।
अति कोमल भव-भय हरण, भक्ति-मुक्ति-मण्डार ॥३॥
काल व्याल है डस रहा, बाल-तरुण अरु वृद्ध ।
हो अशान्त सब डोलते, ऋषि-मुनि तापस सिद्ध ॥४॥
सब जग रक्षक आप हैं, हैं अनाथ के नाथ ।
मुझ पापी के सीस पर, धरो दया का हाथ ॥५॥
विमल पताका भक्ति की, फहराये ब्रह्माण्ड ।
राग-द्वेष छल-छिद्रके, अंत करो सब काण्ड ॥६॥
जे गुरु-पद कूँ नित भजे, सेवे करि करि ध्यान ।
जाने आत्म तत्त्व कूँ, पावे मोक्ष निदान ॥७॥
दीन रहूँ निस-दिन सदा, करूँ नहीं अभिमान ।
ध्यान रहे श्री चरण में, पाऊँ पद निर्वाण ॥८॥
गुण गाऊँ किस विध प्रभो, महा मूढ़ अति छोट ।
करुणा कर अपनाइये, राखो अपनी ओट ॥९॥

गुण-सागर
सद्गुरु
प्रभो !



जन-जन की
हरना
सब पीर

□ मुनि सुरेश 'प्रियदर्शी'

(१)

धन्य धन्य है आर्य भूमि, अरु धन्य धन्य मेवाड़ धरा ।
धन्य धन्य मेवाड़ शिरोमणि, पूज्य अम्ब मुनि निखरा ॥

(२)

मेवाड़ मालवा महाराष्ट्र में, किया आपने धर्म प्रचार ।
घर घर में फैलाया आपने, शान्त-सुखद प्यारा "जिन सार" ॥

(३)

सरल स्वभावी भद्रमना हो, समतावंत मुनि ज्ञानी ।
रत्न त्रय की वृद्धि करते, सत्य सत्य तुम हो ध्यानी ॥

(४)

धीर वीर हैं आप मुनि जी, धर्म धुरन्धर अरु गम्भीर ।
श्रद्धा-सुमन यह रहे चरण में, जन जन की हरना सब पीर ॥

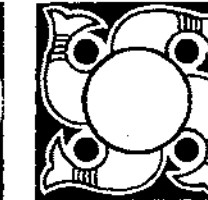
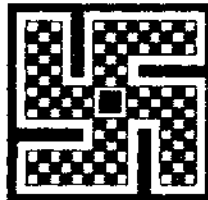
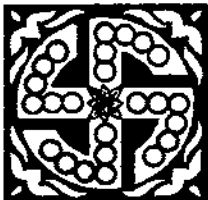


चरण वन्दना करो !

□

सुदृढ वैरागी वण दीक्षाधारी ।
 लीनी परीक्षा मेवाड़ी राणा थारी^१ ॥१॥
 पूज्य रोड़ीदास जी रो शासन भलो ।
 जिणमें चमको स्वामीजी थें दिवलो ॥२॥
 ज्ञानरा पिटारा सौम्यमूर्तिरा धणी ।
 देश देश में छाई हैं थारी कीर्ति घणी ॥३॥
 शास्त्रीय बखान सुणे शास्त्र रसिया ।
 मुख में बोले धन्य वचन हिया में वसिया ॥४॥
 युक्ति युक्त आपरी मधुर वाणी ।
 केई गांवा रा कुसंप मेट्या हित आणी ॥५॥
 सरल स्वभावी सम दम वाला ।
 निरमानी शुभ ध्यानी बहु यश वाला ॥६॥
 पूज्य मोतीलाल जी रो पाट दि पायो ।
 श्रमण संघीय प्रवर्तक पद आप पायो ॥७॥
 श्रद्धेय गुरु जी जांवा बलिहारी ।
 आप मेवाड़ी सुसंघ रा छत्रधारी ॥८॥
 जुग जुग जीओ जी अन्दाता तुम्हारा ।
 करो धर्म उद्योत पग पूजां थारा ॥९॥
 किशोरी-किशोर प्यार देवी नन्दना ।
 झेलो झेलो मुनि शांति री चरण वन्दना ॥१०॥
 नाम अम्बालाल जी सुहावणो लागे ।
 आपरा सुमरण सुं हिया में आत्म ज्योति जागे ॥११॥

१. आपके वैराग्य की परीक्षा महाराजा भूपालसिंह जी ने की थी ।



□ मुनि नरेन्द्र 'विशारद'

श्रद्धा-सुमन पंचक

☆

(१)

महामुनि पूज्य "अम्बालाल जी" श्रमण प्रवर्तक हैं प्यारे ।
नगर यामला में जन्में हैं, जियें जुग जुग जैन सितारे ॥

(२)

मेवाड़ धरा के सच्चे सपूत हैं, "भारमुनि" गुरु को धारे ।
मेवाड़ के हैं संध सिरोमणि, श्रमण संस्कृति के सहारे ॥

(३)

धर्मवीर हैं आप धुरन्धर' मेवाड़ भूमि की रखती शान ।
अभिनन्दन करता हूँ आपका, श्रद्धा से सुन्दर सन्मान ॥

(४)

समय समय पर मुझे आपके, दर्शन का सौभाग्य मिले ।
निश्चय मेरे हृदय सरोवर में, अपरिमित आनन्द पुष्प खिले ॥

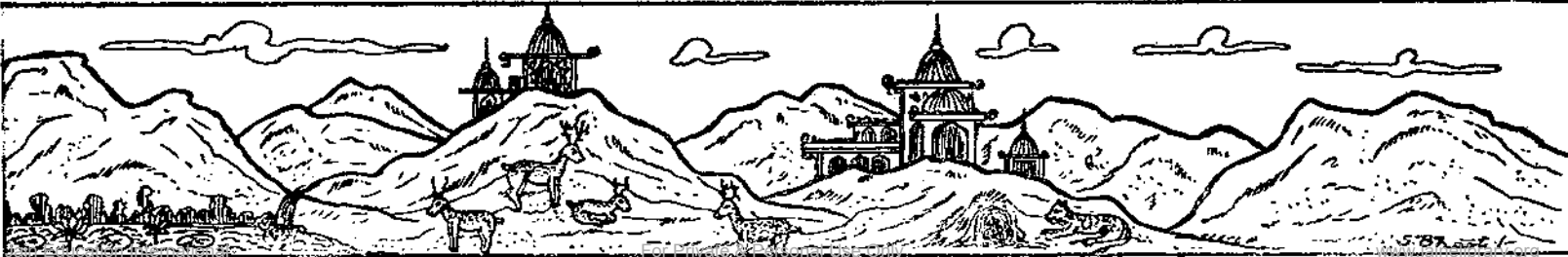
(५)

श्रद्धा के शुभ पंच सुमन, चरणों में अर्पण करता हूँ ।
भक्ति-विभोर इन भावों से, मैं सुखद कामना धरता हूँ ॥

अभिवन्दना

मेरी हो अभिवन्दना,
तव चरणों में नित्य ।
मुनिवर "अम्बालाल !" तुम,
बनो जगत आदित्य ॥

□ श्री विनय मुनि 'विष्णु'
(मधुकर-शिष्य)



□ श्री मधुकर मुनि जी

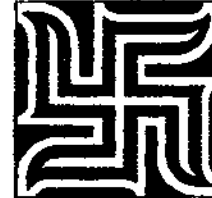
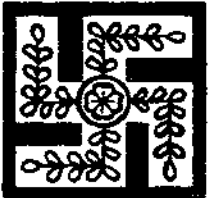
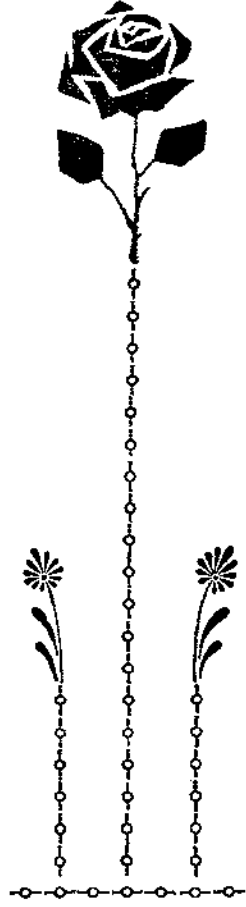
[बहुभुत विद्वान् अनेक पुस्तकों के लेखक संस्कृत-प्राकृत आदि भाषाविज्ञ]

श्री अम्बालाल जी महाराज साहिब

अं तरंग जिनका हृदय,
बा लकवत अति शुद्ध ।
ला भ सदा देते शुभग,
ल क्ष्य बना कर शुद्ध ॥
जी वन-यश-सौरभ सतत,
म हक रहा सर्वत्र ।
हा स्य मधुर जिनका वदन,
रा जित शोभित अत्र ॥
ज न प्रिय वह मेवाड़ के,
सा धक सच्चे 'अम्ब' ।
हि त वह भूषण जगत के,
ब ने सदा अविलम्ब ॥

□
मे दपाटस्य देशस्य,
योहि नेता जन-प्रियः ।
अम्बालाल मुनिर्जोयात्,
सहि सर्वत्र भारते ॥

□
जस्सत्थि जीवणं सुद्धं ।
वाणी जस्सत्थि सोहिया ॥
अम्बालाल मुणी सो हु ।
कस्स णत्थि सुवल्लहो ॥



- मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल'
[आगम अनुयोग प्रवर्तक गंभीर विद्वान]



भावांजली

श्री जगदम्बा प्रवचन माता के प्रजा-पुत्र श्री अम्बालालजी महाराज मेदपाट के महान् श्रमण साधक हैं।

[१] आप—

अमित अध्यात्मामृत के अनुपम आकर,
सरलता सहृदयता के प्रशान्त महासागर।
परम प्रजा के प्रचण्ड प्रभाकर और,
सत्य, शील, संयम के हैं शान्त सुधाकर ॥

[२] आप—

रत्नत्रय की आराधना में अविचल अनुरक्त,
शिव पद की साधना में सतत प्रसक्त।
अर्हन्त की उपासना में अनवरत आसक्त,
ऐसे मुनि पुङ्गव का है "मुनि कमल" श्रद्धायुत भक्त ॥

[३] आप—

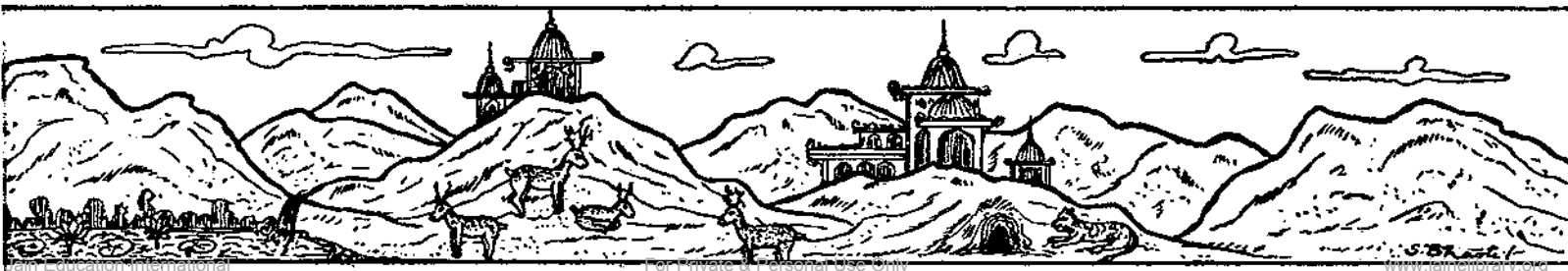
प्रकृति से प्रशान्त,
आकृति से उत्क्रान्त।
विकृति से विरक्त,
और हैं संस्कृति से संसक्त ॥

[४] अब—

दीक्षा अर्धशति के सु अवसर पर,
शिक्षा विकास के हों प्रयत्न नगर-नगर।
समीक्षा हो संघ संगठन के गठन की,
प्रतीक्षा हो आपके शताब्दि अभिनन्दन की ॥

□

हमारे आराध्य हैं अर्हन्त अभिनन्दन,
हमारे आदर्श हैं "अम्ब" महा श्रमण।
जय अभिनन्दन, जय अभिनन्दन,
हो अभिनन्दन, हो अभिनन्दन ॥





अवसर अभिनन्दन का

□

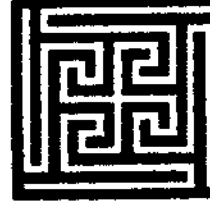
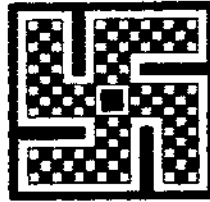
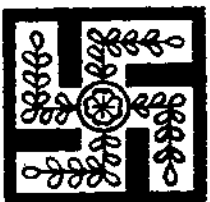
तुम आये जब इस धरती पर शान्त शुभ्र निर्मल नभतल था ।
कल-कल करते निर्झर जिनमें बहता शीतल स्वच्छ सलिल था ॥
गिरि शिखरों पर जीवन-दायी औषधियों की विटप लताएँ ।
पवन स्पर्श पा पुलक-पुलक कर झूम रही बहती सरिताएँ ॥
शुभ्र चाँदनी छिटक रही थी जैसे चाँदी बिखरी घर-घर ।
नन्दनवन में नाच रही थी किन्नरियाँ सुरवालाएँ सुर ॥
उसी रात में जन्म दिया था एक शक्ति ने उज्ज्वल मुक्ता ।
एक मानवी की कुक्षि से प्रकटा तेजस् पुंज दमकता ॥
धर्म ज्योति का पुंज रूप था मानवता का महा मसीहा ।
शुचित समता करुणा-रस का वह चिर प्यासा एक पपीहा ॥
प्रकटा जब आलोक घरा पर उसकी ममता जब मुस्काई ।
'अम्बा'-'अम्बा' नाम श्रवण कर मुर्झी मानवता हर्षाई ॥

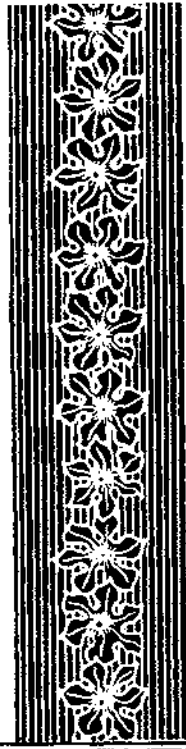
×

×

×

अम्बा आज बना जगदम्बा प्राणि-मात्र का हित-मुख-कामी ।
परम सन्त वह भक्त तपस्वी अपने इन्द्रिय-मन का स्वामी ॥
वत्सलता उसकी आँखों में छलक रही है प्रतिपल मृदुतर ।
और दमकता तेज साथ ही ब्रह्मचर्य का दिव्य भाल पर ॥
सेवा का असिधारा व्रत ले सेवा का आदर्श सिखाया ।
ध्यान-योग के पथ पर बढ़कर आत्म-विजय का पाठ पढ़ाया ॥
बहती अन्तर मन में तेरे समता-करुणा की रस धारा ।
देता है कर्तव्य बोध तू वाणी के संप्रेषण द्वारा ॥
वन्दन अभिवन्दन हम करते, तेरे तपःपूत जीवन का ।
आज चेतना पुलक रही है, अवसर पाकर अभिनन्दन का ॥





द्वितीय खण्ड

अज्ञेय शुक्लवर की जन्मभूमि मेवाड़ की
सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक भारिमा तथा
मेवाड़ सम्प्रदाय के ज्योतिष्मान् कुनिवरों की
धर्म-परम्परा का ऐतिहासिक अवलोकन ।



□ डॉ० बसन्त सिंह
[प्राध्यापक—भूगोल विभाग,
राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर]

गुरुदेव श्री की जन्मभूमि एवं साधना-भूमि मेवाड़ का आन्तरिक आध्यात्मिक स्वरूप समझने के पूर्व उसकी महत्त्वपूर्ण भौगोलिक संरचना एवं उपलब्धियों का एक लोखा-जोखा विद्वान् लेखक द्वारा प्रस्तुत है।

मेवाड़ : एक भौगोलिक विश्लेषण

□

स्थिति

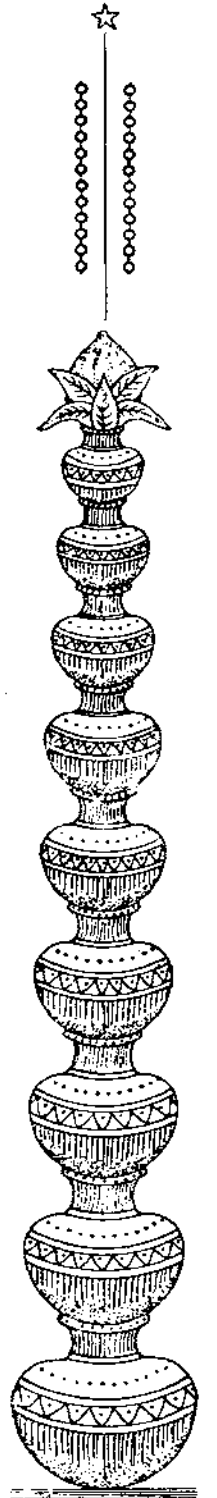
अरावली पर्वत श्रृंखला की गोद में स्थित यह सकरा एवं एकाकी भूभाग अपनी विशिष्ट प्रकार की भौतिक संरचना के कारण राजस्थान के राजपूतों के गौरवमय इतिहास का जनक बना रहा। २३°४६' से २५°५८' उत्तरी अक्षांशों तथा ७३°१' से ७५°४६' पूर्वी देशान्तरों के मध्य ४७३७२ वर्गमील का यह स्थलखण्ड राजस्थान राज्य के दक्षिण में स्थित है। उत्तर-दक्षिण १२० मील तथा पूर्व-पश्चिम इसका अधिकतम विस्तार ६० मील है। अत्यन्त प्राचीन काल से यह एक राजनैतिक इकाई के रूप में विकसित रहा है जिसके पश्चिम में अरावली पहाड़ियाँ, दक्षिण में गुजरात राज्य के बनासकांठा तथा सावरकांठा जनपदों के हिस्से, पूर्व में चम्बल एवं हाड़ौती प्रदेश तथा उत्तर में अँग्रेजों के समय में गठित एवं विशेषाधिकार प्राप्त अजमेर जनपद इसकी सीमायें बनाते हैं। यह मेवाड़ प्रदेश, उदयपुर डिवीजन के नाम से भी जाना जाता है। जिसमें राजस्थान के पाँच जिले—उदयपुर (१७२६७ व. मी.), चित्तौड़गढ़ (१०८५८ व. मी.) भीलवाड़ा (१०४५० व. मी.), डूंगरपुर (३७७० व. मी.) तथा बाँसवाड़ा (५०३७ व. मी.) सम्मिलित हैं।

उच्चावचन

इस प्रदेश के भौतिक स्वरूप की संरचना मुख्य रूप से अरावली पहाड़ियों से होती है। ये पर्वत श्रेणियाँ टरसीयरी युग की बनी एवं लगातार पर्वत श्रृंखला के रूप में पाई जाती हैं। इसमें परतदार एवं परिवर्तित चट्टानों की अधिकता है। इनकी अधिकतम ऊँचाई माउण्ट आबू (१७२७ मीटर) में है। स्थानीय रूप से यह भूभाग भोरट पठार (१२२५ मीटर) के नाम से प्रसिद्ध है। दक्षिण-पूर्व में उदयपुर के आसपास इन पहाड़ियों में अनेक पर्वत प्रक्षेपात एवं वक्राकार कटक स्थित हैं। कतिपय चोटियों की ऊँचाई १२२५ मीटर से भी अधिक है और देखने में दीवार की भाँति प्रतीत होते हैं। अरावली की भौमिकी डकन ट्रैप से मिलती है। उदयपुर, डूंगरपुर तथा बाँसवाड़ा में अरावली क्रम से सम्बन्धित शिष्ट चट्टानें पाई जाती हैं। चित्तौड़गढ़ एवं भीलवाड़ा में डकन ट्रैप की चट्टानें, शेष भागों में बुन्देलखण्ड की नीस, तथा दिल्ली क्रम की चट्टानें पाई जाती हैं। कुछ भागों में विन्ध्यन चट्टानें भी पाई जाती हैं।

मेवाड़ की पहाड़ियाँ

मावली, राजसन्द तथा बल्लभनगर को छोड़कर सम्पूर्ण उदयपुर जनपद, दक्षिण-पूर्वी पाली एवं गुजरात राज्य के कुछ भागों में फैली हुई हैं। भौगोलिक दृष्टि से विचार करने पर सम्पूर्ण पर्वत श्रेणियाँ एक प्रकार के समतल शिखर एवं समप्राय भूमि के अवशिष्ट प्रतीत होती हैं। इस प्रदेश के सतह निर्माण में अनाच्छादन, दैनिक तापान्तर एवं बालूभरी हवाओं का अधिक हाथ रहा है। इस पर्वत श्रृंखला से निकलने वाली नदियों में से बनास माही तथा खारी सबसे महत्त्वपूर्ण हैं। बनास मध्यवर्ती मैदान से दक्षिण की तरफ प्रवाहित होती हुई अधिकांश भाग के लिए लाभप्रद है। परतन्त्रता के विरोध में लड़ा गया ऐतिहासिक हल्दी घाटी का युद्ध इसी नदी के किनारे पर हुआ था। खारी नदी



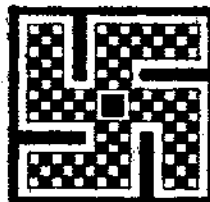
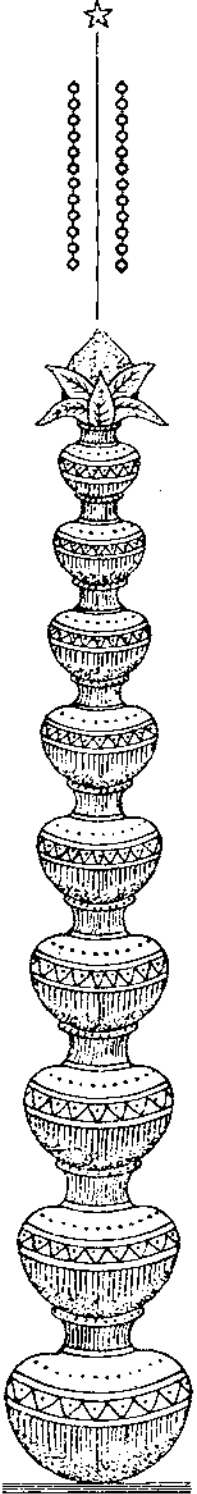
मेवाड़ और अजमेर मेवाड़ की सीमा बनाती है। इनके अतिरिक्त माही, गम्भीरी, बेराव, चम्बल, गेजाली, बामानी काल्दी, बेगोन, बाकल, चन्द्रभागा, गोमती तथा कुसुम्बी नदियाँ स्थानीय महत्त्व की होती हुई भी उल्लेखनीय हैं। प्राकृतिक जलस्रोतों के अतिरिक्त यह सम्पूर्ण प्रदेश कृत्रिम जलाशयों के लिए भी महत्त्वपूर्ण है। ऐसी झीलों में जयसमन्द, राजसमन्द तथा उदयसागर विशेष उल्लेखनीय हैं। विश्व की कृत्रिम झीलों में जयसमन्द को सबसे बड़ा माना जाता है।

जलवायु

पूर्व में आर्द्र तथा पश्चिम में शुष्क जलवायु के प्रदेशों के मध्य स्थित इस प्रदेश की जलवायु यहाँ के मूल-निवासियों के लिए महत्त्वपूर्ण एवं लाभप्रद है, जबकि विदेशियों के लिए अपेक्षाकृत प्रतिकूल पड़ती है। इस प्रकार यहाँ की जलवायु को अर्ध शुष्क कहा जा सकता है। यहाँ का औसत तापमान १५° से० ग्रे० से २०° से० ग्रे० तथा सामान्य वार्षिक वर्षा ६० से० मी० तक होती है। जनवरी में सबसे अधिक ठण्डक (उत्तर में ११° से० ग्रे० तथा दक्षिण में १६° से० ग्रे० तापमान) पड़ती है। जबकि मई तथा जून में सबसे अधिक गर्मी पड़ती है। और कभी-कभी तापमान ४४° से० ग्रे० तक पहुँच जाता है। जाड़े के दिनों में कभी-कभी शीत लहरी तथा ग्रीष्म में 'लू' यहाँ की जलवायु के उल्लेखनीय कारक हैं। पूरे देश की भाँति यहाँ भी सम्पूर्ण वर्षा का ६०% भाग तीन महीनों (जुलाई—सितम्बर) में ही हो जाती है। और यह मात्रा भी, जो मुख्य रूप से दक्षिण-पश्चिम की अरब सागर वाली मानसून शाखा से प्राप्त होती है, पूर्व तथा उत्तर-पूर्व से पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम की तरफ कम होती जाती है। माउन्ट आबू में सबसे अधिक वर्षा होती है। वर्षा की मात्रा एवं दो प्रकार की जलवायु के मध्य में स्थित होने के कारण प्राकृतिक वनस्पति में पर्याय विविधतायें पाई जाती हैं, फलस्वरूप यहाँ के वनों में पतझड़ तथा अर्ध उष्णकटिबन्धीय सदाबहार के मिश्रित वृक्षों की बाहुल्यता है वृक्षों के निरन्तर कटाव, चरागाही तथा चलती-फिरती कृषिक (बलरा कृषि) ने प्राकृतिक वनस्पति को सबसे अधिक नुकसान पहुँचाया है। माउन्ट आबू में अब भी वन सम्पदा संरक्षित है। मेवाड़ प्रदेश के वनों में पाये जाने वाले वृक्षों में आम, बबूल, बेर, धाक, गूलर, पीपल, महुआ, नीम, सागौन, बरगद, जामुन विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। इन वृक्षों से मोद, महुआ, शहद तथा भोम आदि पैदा किए जाते हैं, जंगली जानवरों में चीते, तेंदुए, भूअर तथा हिरन आदि पाये जाते हैं।

इस प्रदेश में मुख्य रूप से लौहमय लाल, मिश्रित लाल और काली मिट्टियाँ पाई जाती हैं। यहाँ की अधिकांश मिट्टियाँ मिट्टी कटाव के अभिशाप से पीड़ित हैं। राजस्थान के खनिज मानचित्र पर इस प्रदेश का बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। अरावली क्षेत्र समस्त राजस्थान के लगभग ७५% खनिज उत्पादन करता है। प्रमुख खनिज पदार्थों में लौह अयस्क, सोप स्टोन, एस्बेस्ट्स, मैंगनीज, अभ्रक, चूना, पत्थर, बेरील, जस्ता, शोशा, चाँदी, ताँबा तथा बॉक्साइट आदि पाये जाते हैं। उदयपुर, डूंगरपुर तथा चित्तौड़गढ़ खनिज पदार्थों के उत्पादन के लिये सबसे प्रमुख केन्द्र हैं।

धरातलीय बनावट, मिट्टी तथा जलवायु का किसी प्रदेश की कृषि दशा एवं कृषि उत्पादनों पर सीधा प्रभाव पड़ता है। इस प्रदेश का चट्टानी स्वरूप, लाल तथा लौहमय मिट्टी एवं मानसून प्रधान जलवायु मिलकर एक विशेष प्रकार की कृषि विशेषता उत्पन्न करती है। मेवाड़ क्षेत्र में मुख्य रूप से वर्ष में दो (खरीफ एवं रबी) फसलें पैदा की जाती हैं। मक्का मुख्य खाद्यान्न के रूप में लगभग सर्वत्र पैदा किया जाता है। छोटे-मोटे कृत्रिम तालाबों से सिचाई की सुविधायें प्राप्त होने के कारण गन्ना भी पर्याप्त मात्रा में पैदा किया जाता है। गन्ना चित्तौड़ क्षेत्र की प्रथम श्रेणी की फसल है। खरीफ की फसलों में चावल तथा मूँगफली भी पैदा किये जाते हैं। रबी की फसलों में गेहूँ का स्थान महत्त्वपूर्ण है। एक खेत में गेहूँ की एक ही (मानसून परती) फसल पैदा की जाती है। परन्तु सिचाई संसाधनों (कुएँ, नहरें एवं तालाबों) के विकसित होने के साथ-साथ गेहूँ और भी लोकप्रिय फसल तथा जमीन दो फसली (७% फसली जमीन का) बनती जा रही है। मुख्य रूप से खाद्यान्न ही पैदा करना इस प्रदेश की कृषि की सबसे बड़ी विशेषता है। उपर्युक्त सिचाई संसाधनों का वितरण स्थल रूप के अनुसार अर्थात् मैदानी भागों में नहरें तथा कुएँ और पठारी भागों में तालाब पाये जाते हैं। इस समय सम्पूर्ण प्रदेश में लघु सिचाई परियोजनाओं का जाल-सा विद्या हुआ है और प्रदेश की लगभग सभी नदियों के जल के लाभप्रद उपयोग की व्यवस्था की जा रही है। माही योजना इस प्रदेश की सबसे प्रधान परियोजनाओं में से एक है।



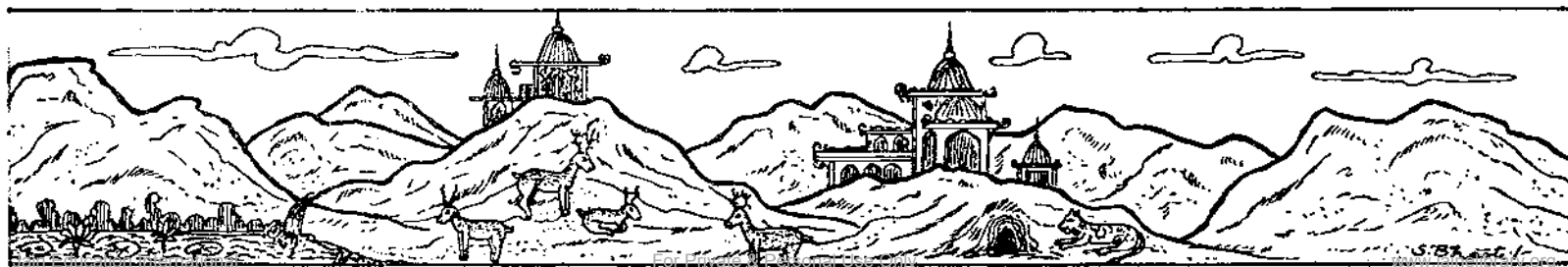
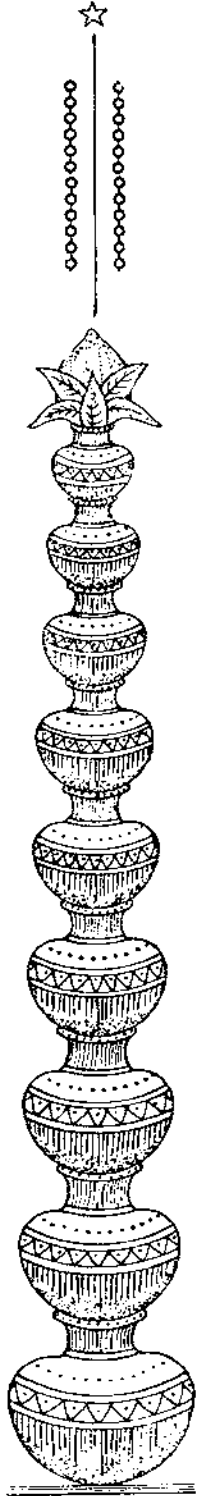
यह प्रदेश अत्यन्त प्राचीन काल से कृषि और कुटीर उद्योगों के रूप में प्राचीन दस्तकारी के लिए प्रसिद्ध रहा है। परन्तु स्वतन्त्रता प्राप्ति के पश्चात् राज्य के वर्तमान प्रशासन की प्रगतिशील नीतियों एवं प्रोत्साहनों के कारण प्रदेश में अनेकानेक खनिजों पर आधारित विविध उद्योगों का उदय हो रहा है। उदयपुर औद्योगिक प्रदेश में जिंक स्मेल्टर, सीमेण्ट फैक्टरी, सूती वस्त्र, ग्लास फैक्टरी तथा शराब एवं औषधि बनाने के उद्योग सबसे अधिक उल्लेखनीय हैं। इनके अतिरिक्त लकड़ी का काम, कपड़ों की प्रिंटिंग, रंग आदि के उद्योग भी काफी प्रगति कर रहे हैं। इसके साथ-साथ भीलवाड़ा-चित्तौड़गढ़ औद्योगिक काम्प्लेक्स, सूती वस्त्र, वनस्पति तेल, अभ्रक तथा लकड़ी कटाई एवं चिराई के लिए प्रसिद्ध है।

इस प्रदेश की परिवहन व्यवस्था में हरेक प्रकार की सड़कों, रेलमार्ग तथा वायुमार्ग सम्मिलित हैं। फलस्वरूप प्रदेश के अधिकांश नगर—भीलवाड़ा, चित्तौड़गढ़, मावली, उदयपुर तथा डूंगरपुर रेलमार्ग से जुड़े हुए हैं, इस प्रदेश के मध्यवर्ती भाग को रेल, सड़क एवं वायुमार्गों की अच्छी सुविधायें प्राप्त हैं। दिल्ली, अहमदाबाद को मिलाने वाली छोटी लाइन इस प्रदेश के भीतर से होकर गुजरती है। इस प्रदेश को बम्बई, उदयपुर, दिल्ली की दैनिक वायु सेवायें भी सुलभ हैं। इस प्रदेश में सड़क सेवायें अधिक उल्लेखनीय हैं। सभी प्रमुख शहर अब सड़क मार्ग से जुड़ चुके हैं। इन मार्गों में भीलवाड़ा-उदयपुर (२०८ कि० मी०) अजमेर-भीलवाड़ा (१३३ कि० मी०) भीलवाड़ा-चित्तौड़गढ़ (११५ कि० मी०) विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। राष्ट्रीय सड़क मार्ग न० ८ इस प्रदेश में उत्तर-दक्षिण बनाई गई है। ग्रामीण इलाकों एवं पिछड़े हुए आन्तरिक क्षेत्रों को अब पक्की सड़कों से मिलाने की एक वृहद योजना राजस्थान सरकार के विचाराधीन है। परन्तु अभी यहाँ कच्चे मार्ग ही आवागमन के साधन बने हुए हैं। उत्पादन एवं वितरण करने वाले केन्द्रों के बीच आवागमन की उच्चकोटि की व्यवस्था अभी भी नहीं हो पाई है।

मेवाड़ प्रदेश की कुल जनसंख्या लगभग ५० लाख है तथा औसत घनत्व प्र० व० कि० मी० लगभग ११२ है। जिला स्तर पर जनसंख्या के वितरण, घनत्व, लैंगिक अनुपात तथा शहरीकरण के प्रतिशत को निम्न तालिका में दिखाया गया है :

जिला का नाम	क्षेत्रफल (००) व० कि० मी०	जनसंख्या (०००)	शिक्षित प्रतिशत	घनत्व	लैंगिक अनुपात (हजार) पुरुषों पर	शहरी जनसंख्या (०००)
भीलवाड़ा	१०४	१०५५	१५	१०१	६१०	११६
उदयपुर	१७२	१८०४	१७	१०४	६५७	२२१
चित्तौड़गढ़	१०८	६४५	१८	८७	६३०	६८
डूंगरपुर	३८	५३०	१४	१४१	१०१५	३१
बांसवाड़ा	५०	६५५	१२	१३०	६७८	३३

उपर्युक्त भौगोलिक कारकों की सहायता प्राप्त करते हुए एक समय का यह सामरिक एवं ऐतिहासिक प्रदेश अब उमड़कर संसाधनोपयोग प्रतिरूप की दृष्टि से आमूल परिवर्तन की करवटें बदल रहा है। चम्बल उप-ग्रिड स्टेशन, प्रचुर जल की सुलभता, विविध प्रकार के खनिजों की उपलब्धता, परिवहन की बढ़ती हुई सुविधायें तथा सर्वोपयोगी राज-नैतिक संरक्षण के कारण यह एक सबल कृषि-औद्योगिक क्षेत्र के रूप में बदलता जा रहा है। इसके अतिरिक्त प्रदेश में अनेक, प्रकार की शिक्षण संस्थायें जैसे विश्वविद्यालय, मेडिकल कालेज, कृषि कालेज, कन्या महाविद्यालय, आयुर्वेद महा-विद्यालय तथा प्रमुख नगरों, तहसील प्रधान कार्यालयों एवं बड़े-बड़े गाँवों में नाना प्रकार के माध्यमिक विद्यालय भविष्य की सम्भावनाओं को उत्तरोत्तर समृद्धिशाली एवं आशान्वित बनाने में दिन-रात जी-तोड़ प्रयास कर रहे हैं।



मेवाड़ के कण-कण में धार्मिक भावना, श्रद्धा, सदुपदेश, समर्पण एवं बलिदान के स्वर मुखरित हो रहे हैं। लोक जीवन के निकटतम पारखी डा० भानावत द्वारा प्रस्तुत ये शब्द-चित्र मेवाड़ की धार्मिकता की अखण्ड प्रतिमा को अनावृत कर रहे हैं।

□ डॉ० महेंद्र भानावत
[उपनिदेशक—भारतीय लोककला मंडल,
उदयपुर]

मेवाड़ की लोकसंस्कृति में धार्मिकता के स्वर

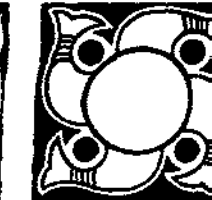
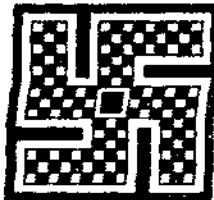
लोक संस्कृति की दृष्टि से मेवाड़ का अपना गौरवमय इतिहास रहा है, यहाँ के रण वांछुरों ने जहाँ इसकी वीर संस्कृति को यशोमय बनाया वहाँ यहाँ की लोक संस्कृति भी सदैव समृद्ध और राग-रंग से रसपूरित रही है। जिस स्थान की संस्कृति अधिक पारम्परिक होती है वहाँ का जनमानस उतना ही अधिक धर्मप्रिय तथा आध्यात्मिक होता है, इसलिए उसका जीवन शांत, गम्भीर तथा महाराई लिए होता है, उसमें उथला-छिछलापन उतना नहीं रहता। यही कारण है कि ऐसे लोगों में अधिक पारिवारिकता, भाईचारा, रिस्ते-नास्ते, सौहार्द सहकार तथा प्रेम सम्बन्ध की जड़े अधिक गहरी तथा घनिष्ट होती हैं, जन्म से लेकर मृत्यु पर्यंत तक समग्र जीवन राग-रंगों तथा आनन्द उल्लासों से ओत-प्रोत रहता है। परम्परा से पोषित एवं पल्लवित होने के कारण ऐसी संस्कृति में अपने जीवन के प्रति पूर्ण आस्था होती है इसलिए ऐसा मनुष्य अपने वर्तमान से प्रति पूर्ण आस्थावान रहते हुये अगले जन्म को भी सुखद, सुपथगामी बनाने के लिए कल्याणकर्म करने को उत्सुक रहता है। सुविधा की दृष्टि से यहाँ हम निम्नलिखित बिन्दुओं में इसका वर्गीकरण कर रहे हैं ताकि लोकसंस्कृति के व्यापक परिवेश में जो विविधता विधाएँ हैं उनका समग्र अध्ययन-वितन किया जा सके। ये बिन्दु हैं—

- (क) व्रतोत्सवों तथा अनुष्ठानों में धार्मिकता के स्वर
- (ख) लोकनृत्य नाट्यों में धार्मिकता के स्वर
- (ग) मंडनों, गोदनों तथा विविध चित्रांकनों में धार्मिकता के स्वर
- (घ) लोककथा, गाथा एवं भारत में धार्मिकता के स्वर
- (च) धर्मस्थानों के लोकसाहित्य में धार्मिकता के स्वर

(क) व्रतोत्सवों तथा अनुष्ठानों में धार्मिकता के स्वर

व्रतोत्सव तथा अनुष्ठान यहाँ के लोकजन के वे आधार हैं जिन पर उनके जन्म-जीवन की दृढ़ भित्तियाँ आश्रित हैं। इनकी शरण पकड़कर यह लोक अपने इस भव के साथ-साथ अगले भव—भव-भव को सर्व पापों से मुक्त निष्कलंकमय बनाता है इनका मूल स्वर मानव-जीवन को मोक्षगामी बनाने का होता है इसलिए प्रत्येक कर्म में वह मन-वचन-कर्म की ऐसी भूमिका निभाता है कि भले ही स्वयं को वह कष्टों में डाल दे पर उनके कारण कोई अन्य प्राणी दुःखी न हो अपने स्वयं के गृहस्थ-परिवार, पास-पड़ोस, गुवाड़-गाँव तथा समाज की सुख समृद्धि चाहता हुआ सम्पूर्ण विश्व को वह अपने कुटुम्ब-परिवार में देखता भालता हुआ सबका क्षेम-कुशल-कल्याण चाहता है, सारे के सारे व्रत, उत्सव और अनुष्ठान इन्हीं भावनाओं से भरे-पूरे हैं, व्यष्टि से प्रारम्भ हुआ यह मनोरथ समष्टि की ओर बढ़ता है और एकता में अनेकता को वरण करता हुआ अनेकता को एकता में ले चलता है।

वैत्र में शीतला सप्तमी को चेचक से बच्चों को बचाने के लिए शीतला माता की पूजा की जाती है। शीतला के रूप में चेचक के ही रंगाकार के पत्थर पूजे जाते हैं। चेचक का एक नाम इधर बोदरी भी है अतः शीतला माता को बोदरीमाता कहते हैं। छठ की रात को माता सम्बन्धी जो गीत गाये जाते हैं उनमें बालूड़ा की रक्षक माँ को प्रार्थना की



जाती है कि वह उसे बड़े यत्नपूर्वक खुशहाल रखे। यह शीतला किसी एक जाति की नहीं होकर सम्पूर्ण गांव की चेचक रक्षिका है। इस दिन प्रत्येक गांव में शीतला को शीतलाया जाता है। इस दिन ठंडा खाया जाता है।

गणगौर को जहाँ सधवाएँ अपने सुहाग के लिए पूजती हैं वहाँ बालिकाएँ श्रेष्ठ पति की प्राप्ति हेतु प्रति-दिन प्रातः होली के बाद से ही इसे पूजना प्रारम्भ कर देती हैं। गणगौर के व्रत के दिन दीवाल पर महिलाएँ थापे का जो अंकन करती हैं उसमें माता गणगौर तक पहुँचने की जो सिद्धियाँ होती हैं उनको पारकर धर्मात्मा महिला ही उन तक पहुँच सकती है, इसलिए गणगौर के माध्यम से नारियाँ अपने धर्ममय जीवन को सरल, सादगीपूर्ण एवं संयमित करती हुई सुफलदायिनी होती हैं।

श्रावण में छोटी तीज से लेकर बड़ी तीज तक मन्दिरों में झूलोत्सव की देव झांकियों की छवि देखने प्रतिरात्रि को विशाल जनसमूह उमड़ पड़ता है। इन झूलों की अद्भुत छटा तथा धार्मिक दृश्यावलियाँ, भजन-कीर्तन तथा धर्म संगीत प्रत्येक जन-मन को धर्म-कर्म की ओर प्रेरित करता है, इसी श्रावण में शुक्ल पंचमी को जहरीले जीवों से मुक्त होने के लिए साँप की विविधाकृतियाँ बनाकर नागपंचमी का व्रतानुष्ठान किया जाता है, हमारे यहाँ सर्प पूजा का पौराणिक दृष्टि से भी बड़ा धार्मिक महत्त्व है। यों सर्प ही सर्वाधिक जहरीला जानवर समझा गया है इसलिए दीवालों पर ऐपन के नागों की पूजा तथा चाँदी के नागों का दान बड़ा महत्वकारी माना गया है।

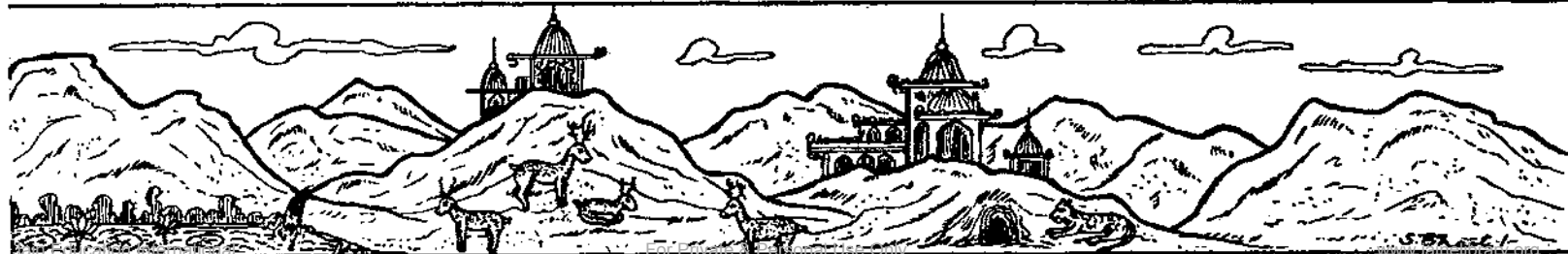
रक्षाबन्धन का महत्त्व जहाँ भाई-बहन का अगाढ़ स्नेह व्यक्त करता है वहाँ श्रावण के पाठों द्वारा उसकी मातृ-पितृभक्ति का आदर्श स्वीकारते हुये उसे आचरित करने की सीख प्राप्त की जाती है। श्रावण हमारी संस्कृति का एक आदर्शमान उदाहरण है श्रावण सम्बन्धी गीत-आस्थान निम्न से निम्न जातियों तक में बड़ी श्रद्धा-निष्ठा लिए प्रचलित हैं, नीमड़ी की पूजा का भी हमारे यहाँ स्वतन्त्र विधान है। बड़ी तीज को मिट्टी का कुड व तलाई बनाकर उसमें नीम-आक की डाल लगाई जाती है ये दोनों ही वृक्ष-पौध कडुवे हैं परन्तु अनेकानेक बीमारियों के लिए इनका उपयोग रामबाण है। नीमड़ी के व्रत के लिए सुहागिन का पति उसके पास होना आवश्यक है। इसे सौलह वर्ष बाद उल्लभाया जाता है।

माद्रकृष्णा एकादशी, ओगड़ा ग्यारस को माताएँ अपने पुत्र से साड़ी का पल्ला पकड़ाकर गोबर के बने कुण्ड से रुपये तारियल से पानी निकालने का रास्ता बनाकर ओगड़ पूजती हैं इसी प्रकार बत्स द्वादशी, वछवारस को माताएँ अपने पुत्रों के तिलककर उन्हें एक-एक रुपया तथा नारियल देती हैं। माँ-बेटे के पावन पवित्र रिश्तेनाते के प्रतीक ये व्रत हमारी धर्मजीवी परम्परा के कितने बड़े संबल और सबक प्रेरित हैं।

एकम से दशमी तक का समय विशेष धर्म-कर्म का रहता है। यह 'अगता' कहलाता है। इन दिनों औरतें खाँडने, पीसने, सीने, कातने तथा नहाने-धोने सम्बन्धी कोई कार्य नहीं कर दशामाता की भक्ति, पूजा-पाठ तथा व्रतकथाओं में ही व्यतीत करती हैं यह दशामाता गृहदशा की सूचक होती हैं, मेवाड़ में इसकी व्यापकता देखते ही बनती है मँने ऊँच से ऊँच और नीच से नीच घरों में दशामाता को पूजते-प्रतिष्ठाते-थापते देखा है। इन दिनों जो कहानियाँ कही जाती हैं वे सब धार्मिकता से ओतप्रोत असत् पर सत् की विजय लिये होती हैं। सभी कहानियों में आदर्श-जीवन, घर-परिवार, स माज-संसार की मूर्त भावनाओं की मंगल-कामनायें संजोई हुई मिलती हैं। वर्षभर महिलाएँ दशामाता की बेल अपने गलों में धारणकर अपने को अवदशा से मुक्त मानती हैं।

यहाँ का मानव अपने स्वयं के उद्धार-उत्थान के साथ-साथ अन्यो के कल्याण-मंगल का कामी रहा है, पशु-पक्षी तथा पेड़-पौधादि समस्त चराचर को वह अपना मानता रहा है इसलिए इन सबकी पूजा का विधान भी उसने स्वीकारा है। दशामाता की पूजा में वह पीपल पूजकर उसकी छाल को सोने की तरह मूल्यवान मानकर उसे अपनी कनिष्ठिका से खरोचता हुआ बड़े यत्नपूर्वक रत्नों-जवाहरातों की तरह घर में सन्हाले रहता है। दीयाड़ी नम को हामा, नामा, खेजड़ी, बोवड़ी, आम, बड़ आदि वृक्षों की डालियाँ पूजकर सांगलिक होता है, यों इन वृक्षों को बड़ा ही पावन पूज्य माना गया है। देव-देवियों का इन पर निवास मानने के कारण इनकी पूजा कर वह अपने को नाना दर्द-दुखों से हल्का कर हर्षमग्न होता है।

श्रावण कृष्णा द्वितीया को बालिकाएँ घल्या घालकर व्रत करती हैं, हरियाली अभावस्था के बाद आने वाले रविवार को भाई की फूली बहिनों द्वारा बाँधी जाती है। इस दिन व्रत किया जाता है और फूली की कथा कही जाती है।



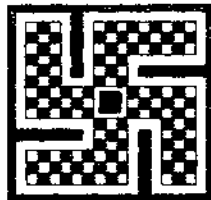
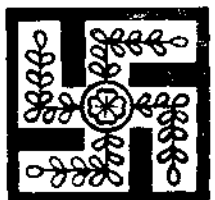
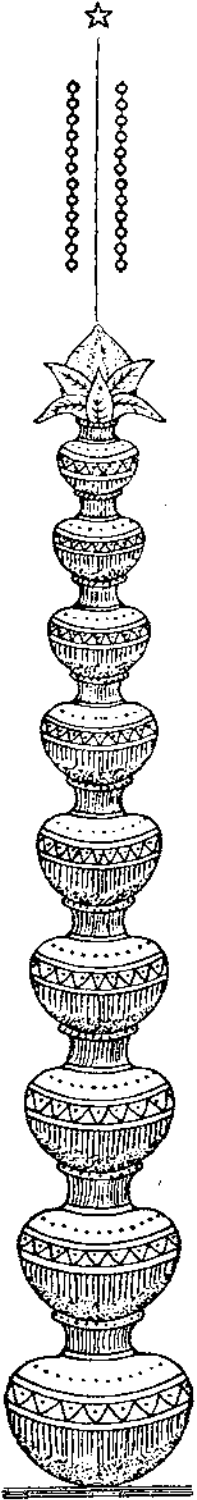
माद्रशुकला चतुर्थी को गणेश जी के लड्डू तथा चौथमाता को पींडियां चढ़ाकर दीवाल पर सिन्दूर की चौथ मांडी जाती है। ओंकार अष्टमी को कुमारिकाएँ मनवाँछित वर प्राप्ति हेतु नीर तथा ओंकार देव का व्रत रखती हैं। यह लगातार आठ वर्ष तक किया जाता है। इन्हीं दिनों श्राद्धपक्ष में बालिकाएँ पूरे पखवाड़े प्रतिदिन संध्या को गोबर की नाना भाँति की साँझी की परिकल्पनाएँ बनाकर उन्हें विविध फूलों से सजाती-सिगारती हैं, प्रति संध्या को संध्यामाता की आरती कर उनकी पूजा करती हैं और नाना प्रकार के संख्या गीत गाती हैं। देवजुलणी एकादशी को प्रत्येक मन्दिर से देव जुलूस-रामरेवाड़ी निकाली जाती है। अनन्त चतुर्दशी को खीर-कजाकड़े बनाकर व्रत किया जाता है। कार्तिक कृष्ण चतुर्थी को करवाचौथ का व्रत कर गेरु का थापा बनाया जाता है। दीवाली के दूसरे दिन खेंकरे को गोबर के गोवर्द्धन जी बनाकर देहली पर उनकी पूजा की जाती है। आमला ग्यारस को इमली की पूजा, तुलसा ग्यारस को तुलसी की पूजा का विधान भी बड़ा मांगलिक माना गया है। तुलसा की पूजा के समय दालभात का जीमण, बैकुंठ का वास, सीताजी-सा चालचलावा और राम लछमण की खांद प्राप्त करने की वाँछा की जाती है।

कार्तिक का पूरा महीना, क्या औरतें और क्या पुरुष, नहाते हैं। प्रातः उठते ही सरोवर अथवा नदी किनारे नहा-धोकर भक्ति-धार्मिक गीतों से सारा समुदाय भक्तिमय हो उठता है। प्रतिदिन कही जाने वाली कार्तिक कहानियाँ सद आचरण, सद विचार, सद गृहस्थ और सद जीवन-मरण के विविध घटना-प्रसंगों से पूरित होती हैं। ये सभी धार्मिक कहानियाँ देवी-देवताओं तथा उन महापुरुषों से सम्बन्धित होती हैं जो हमारे भारतीय सांस्कृतिक जीवन में एक आदर्श के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इन कहानियों के अतिरिक्त अनेक कहानियाँ उन साधारण से साधारण सामाजिक-पारिवारिक जीवन की घटनाओं को उच्चरित करती हैं जो हमारे प्रतिदिन के जीवन की मुख्य घटक के रूप में रहती हैं सास-बहू, पति-पत्नी, अड़ोस-पड़ोस, सगे-सम्बन्धी आदि को लेकर जो लड़ाई-झगड़े आये दिन छोटे-छोटे भारत खड़े करते हैं, उनके कुपरिणामों को लेकर उस नारकीय जीवन को कैसे सुखद वातावरण दिया जा सकता है, इसका प्रायोगिक परिणाम इनमें निहित रहता है ताकि प्रत्येक व्यक्ति अपना आत्म परीक्षण करता हुआ स्वयं अपने को खोजे और यदि कहीं गलत कुछ किया जा रहा हो तो उसे त्याग कर स्वयं सही मार्ग का अनुसरण करता हुआ अन्यो को सुपथ दिखाये और एक आदर्श जीवन जीये।

व्रत करना अपने आप में आत्म-संयम का सूचक है। आत्मा को संयमित करने वाला कभी भटकता नहीं, भूलता नहीं, वह स्वयं प्रकाशमान होता है और अन्यो को भी प्रकाशित करता है व्रत, कथाओं और थापों के चित्रांकनों से व्रतार्थी स्वयं अपने इष्टफल की प्राप्ति हुआ देखा जाता है ऐसा मन कभी भी उच्छ्वल और अलटपू नहीं हो सकता इन व्रतानुष्ठानों से चरित्र को बल मिलता है, आत्मा अनुशासित होती है, शरीर सरल, सौम्य और जीवन सात्विक और सदाचारी बनता है इनका असर सुगन्ध की तरह फैलता, फलता हुआ प्रत्येक मनुज को मानवीयता के उज्ज्वल पक्ष का साक्षात्कार देता है। धर्म, पुण्य, दया, करुणा, अहिंसा, सत्य जैसे भावों का प्रसारण ही इनका मुख्य ध्येय रहा है जो हमारी विराट् परम्पराओं के सुदृढ़ पायों की तरह गतिमान निश्चल हैं।

(ख) लोकनृत्य नाट्यों में धार्मिकता के स्वर

धार्मिक त्यौहारों, अनुष्ठानों तथा अन्यान्य अवसरों पर नृत्यों, गीतनृत्यों, नाट्यों तथा नृत्य-नाट्यों का प्रदर्शन सामूहिक उल्लास तथा आराध्य के प्रति श्रद्धाभाव प्रगट करने के सुख-भाव रहे हैं माता शीतला की पूजाकर औरतें उसे रिझाने-प्रसन्न करने के लिए उसके सामने नृत्य करती हैं। माता गणगौर के सामने भी इसी प्रकार सरोवर के किनारे घूमर गीतों के साथ बड़े भावपूर्ण नृत्य करती हैं, आदिवासियों के सारे ही नृत्य धार्मिक अनुष्ठानों की पूर्ति में किये जाते हैं, भीलों का गवरी नाच अपने समग्र रूप में धार्मिक है। गाँव की खुशहाली, फसल की सुरक्षा तथा व्याधियों से मुक्त होने के लिए सारा भील गाँव अपनी देवी गौरज्या की शरण जाकर गवरी लेने की भावना व्यक्त करता है। पूरे सवा महीने तक माता गौरज्या की मान-मनोती में भील लोग गवरी नाचते रहते हैं। इस बीच ये पूर्ण संयमी तथा सादगी का जीवन व्यतीत करते हैं एक समय भोजन करते हैं, हरी साग-सब्जी से परहेज रखते हैं, अरवाणे पाँव रहते हैं, पूर्ण ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं। नहाते-धोते नहीं हैं और न अपने घर ही जाते हैं। गवरी का सम्पूर्ण कथानक शिव-पार्वती



के उस पौराणिक धार्मिक आख्यान पर संघटित है जिसमें भस्मासुर अपनी तपस्या द्वारा शिवजी से भस्मी कड़ा प्राप्तकर शिवजी को ही भस्म करना चाहता है तब विष्णु मोहिनी का रूप धारण कर स्वयं भस्मासुर को ही भस्मीभूत कर देते हैं। गवरी का नायक बूढ़िया इसी भस्मासुर और शिव का संयुक्त रूप है और दो राइयां शिवजी की दो पत्नियां शक्ति और पार्वती है। गवरी की यही कथा श्रीमद् भागवत के दशम स्कंध में भी थोड़े भिन्न रूप में देखने को मिलती है, गवरी के सारे पात्र शिवजी के गण के रूप में हैं। धार्मिकता से ओतप्रोत आदिवासियों का ऐसा नाट्यरूप विश्व में अन्यत्र कहीं देखने को नहीं मिलता।

उत्तरसर्वां शताब्दी में तुर्रा-कलंगी के रूप में शिव-शक्ति की प्रतीक एक मान्यधारा की लहर इधर बड़ी वेग रूप में चली। अलग-अलग स्थानों में इसके अखाड़े स्थापित हुए और इनके मानने वाले आपस में लोक छन्दों की विविध गायकियों एवं विषयों को लेकर प्रतिस्पर्धा की होड़ में अपने-अपने दंगलों में उतर आये। हार-जीत की इस भावना ने एक नई चेतना को उभारा। दोनों पक्ष पुराणों, उपनिषदों, वेद-वेदान्तों, कुरान की आयतों से अनेकानेक उदाहरण लेकर एक छन्द-विषय में शास्त्रार्थ पर अड़ जाने, घंटों बहसबाजी होती, सवाल-जबाब होते और हार-जीत की होड़ा-होड़ी में कई दिन सप्ताह तक ये बैठकें चलती रहतीं, यही बैठकी दंगल आगे जाकर तुर्रा कलंगी के ख्यालों के रूप में परिणत हुआ। लावणीबाजी के ये ख्याल लोक जीवन में इतने लोकप्रिय हुये कि इन्हीं की लावणी-तर्जों पर अनेक धार्मिक ख्यालों की रचनाएँ होनी प्रारम्भ हुई। साधु-संतों ने भी इन लोक छन्दों-धुनों को अपना कर धार्मिक चरित्र-व्याख्यान लिखे जिनका वाचन-अध्ययन धर्मस्थानों में बड़ा प्रशंसित और असरकारी रहा। प्रसिद्ध वक्ता मुनि श्री चौथमलजी ने मात्र, ख्याल, काजलियों, धूसो, जला, कांगसिया, तरकारी लेलो जैसी अति चर्चित-प्रतिष्ठित धुनों में हंस-वच्छ-चरित्र जैसी कृतियाँ लिखकर धार्मिकता के स्वरों को जो गहन-सौन्दर्य और जनस्था प्रदान की उसका असर आज भी यहाँ के जन-जीवन में गहराया हुआ है। इनकी देखादेख मुनि श्री नाथूलाल जी, रामलाल जी ने भी चन्द चरित्रादि लिखकर इस धार्मिक वेल को आगे बढ़ाने में मारी योग दिया।

गन्धर्व लोग धर्मस्थानों में अपने धार्मिक ख्यालों को प्रदर्शित कर धार्मिक संस्कारों को जमाने-जमाने का महत्वपूर्ण प्रयास करते हैं। पयुषणों में जहाँ-जहाँ जैनियों की बस्ती होती है वहाँ इनका पड़ाव रहता है, जैनियों के अलावा ये कहीं नहीं जाते। ये लोग सात्विक तथा व्रत नियम के बड़े पक्के होते हैं। इनके ख्यालों में मुख्यतः श्रीपाल-मैना सुन्दरी, सुर-सुन्दरी, चन्दनबाला, सौमासती, अञ्जना, सत्यवान-सावित्री, राजा हरिश्चन्द्र जैसे धार्मिक, शिक्षाप्रद ख्याल मुख्य हैं। इन ख्यालों के माध्यम से जन-जीवन में धार्मिक शिक्षण का व्यापक प्रचार-प्रसार होता देखा गया है।

रामलीला-रासलीलाओं के भी इधर कई शौकिया दल हैं जो अपने प्रदर्शनों से गाँवों की जनता में राम-कृष्ण का जीवन-सन्देश देकर स्वस्थ धर्मजीवन को जागृत करते हैं, आश्विन में त्रयोदशी से पूर्णिमा तक घो-सुडा में सनकादिकों की लीलाएँ प्रदर्शित की जाती हैं। कार्तिक शुक्ल पूर्णिमा को बसी में गणेश, ब्रह्मा, कालिका, काला-गोरा तथा नृसिंह-वतार की धार्मिक झाँकियाँ निकाली जाती हैं। नवरात्रा में रावल लोग देवी के सम्मुख खेड़ा नचाकर उसका स्वाँग प्रस्तुत करते हैं। मील लोग भी इसी प्रकार माता के सम्मुख कालका व हठिया का स्वाँग लाते हैं।

रासलीला की ही तरह रासधारी नामक ख्याल रूपों में भगवान राम का सीताहरण का दृश्य अभिनीत किया जाता है, इसे प्रारम्भ करने का श्रेय मेवाड़ के बरोड़िया गाँव के श्री मोतीलाल ब्राह्मण को है। यह अच्छा खिलाड़ी एवं ख्याल लेखक था। इसके रचे रामलीला, चन्द्रावल लीला, हरिश्चन्द्र लीला आदि ख्यालों की कमी बड़ी घूम थी।

(ग) मांडनों, गोदनों तथा विविध चित्रांकनों में धार्मिकता के स्वर

हमारे यहाँ मांडनों, गोदनों तथा चित्रांकनों में अधिकतर रूप धार्मिक भावनाओं की अमिवृद्धि के द्योतक हैं, विवाह-शादियों तथा अन्य प्रसंगों पर घरों में लक्ष्मी, गणेश तथा कृष्णलीलाओं के विविध चित्रों में धार्मिक संस्कृति के दिव्य रूप देखने को मिलते हैं। दरवाजों पर फूलपत्तियाँ, बेलें, पक्षियों के अंकन तथा केल पत्तों के झाड़, शुभ शकुन के प्रतीक होते हैं, पेड़ों पिछवाइयों में भी यही भावना उमरी हुई मिलती है। पिछवाइयाँ वैष्णव मन्दिरों में भगवान की



मूर्ति के पीछे लगाई जाती हैं, इनमें कृष्ण जीवन की अनेक घटनाएँ चित्रित की हुई मिलती हैं। नाथद्वारा की पिछवाइयाँ विदेशों में बड़े शीक से खरीदी जाती हैं। पड़ों में पाबूजी, रामदला, कृष्णदला, देवनारायण, रामदेव तथा माताजी की पड़े बड़ी प्रख्यात हैं, इन पड़ों में चित्रित लोक देवता विषयक उदात्त चरित्रों की महिमा लोकजीवन की आदर्श थाती है। ये पड़ें चूँकि लोकजीवन में प्रतिष्ठित-पूजित देवताओं की जीवन-चित्रावलि हैं। इसलिए इनकी महत्ता साक्षात् देवतुल्य स्वीकारी हुई है, इसलिए किसी भी प्रकार का संकट आने पर लोग पड़ बचवाने की बोलमा बोलते हैं और जब रोग-संकट से मुक्त हो जाते हैं तो बड़ी श्रद्धाभावना से इन पड़ों के ओपों को अपने गृह-आंगन में आमंत्रित कर रात-रात भर पड़ वाचन करवाते हैं।

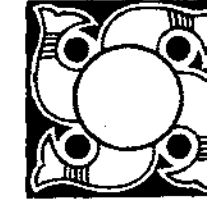
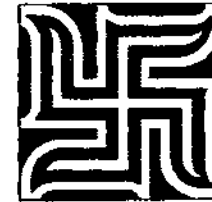
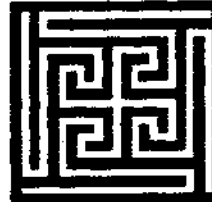
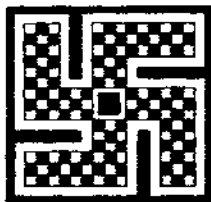
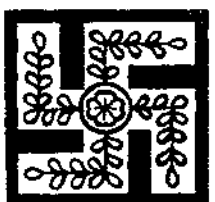
विविध त्योहारों तथा शुभ अवसरों पर गृह-आंगन के मांडनों में धार्मिक अभिव्यक्ति के अनेक उदाहरण देखने को मिलते हैं। गणगौर पर गोर का वेषण, दीवाली पर सोलह दीपक, हीड़ सातिया, गाय के खुर, कलकल पूजन पर कल-कल और पुष्कर की पेड़ी, ल्होड़ी दीवाली पर लक्ष्मी जी के पगल्ये, होली पर कलश कूड़े जैसे मांडनों और नवरात्रा पर पथवारी और माता शीतला सातमा पर माता शीतला एवं बालजन्म पर छठी के मांडनों हमारे सम्पूर्ण धर्मजीवी आचरणों की मांगलिक खुशहाली और अभिवृद्धि के पूरक रहे हैं। इनसे हमारा जीवन शुद्ध और आंगन पवित्र होता है ऐसे ही जीवन आंगन में देवताओं का प्रवेश माना गया है, इसलिए देव निमन्त्रण के ये मांडने विशेष रूपक हैं। रात्रि में इनके जगमगाहट और भीनी सुगन्धी से देवदेवियों का पदार्पण होता है।

मेंहदी के मांडने भी इसी तथ्य के द्योतक हैं, जवारा, मोरकलश, सुपारी, घेवर, बाजोट, तारापतासा, चांदतारा, चूंदड़ी आदि मांगलिक भावनाओं के प्रतीक हैं, जवारा खुशहाली के प्रतीक, सुपारी गणेश की प्रतीक, घेवर भोग के प्रतीक, बाजोट थाल रखने का प्रतीक, चांदतारा, चूंदड़ी सुखी-सुहागी जीवन के प्रतीक हैं। गोदने भी सुहाग चिन्हों में से एक हैं। मरने पर शरीर के साथ कुछ नहीं जाता, विश्वास है कि गोदने ही जाते हैं। इन गोदनों से अगला जन्म पवित्र बनता है इसलिए औरतें अपने हाथों, पाँवों, वक्षस्थल, पीडलियों, गाल, ललाट तथा समग्र शरीर पर तरह-तरह के गोदने गूदवाती हैं, इन गोदनों में विविध देवी-देवता, पक्षी, बेल-बूँटें, सातिया, बिंदी तथा आभूषण मुख्य हैं।

जैनचित्रों में धार्मिक शिक्षणपरक कई दृष्टान्त चित्रों की स्वस्थ परम्परा रही है, इनमें नारकीय जीवन की यातना परक चित्रों की बहुलता मिलती है ताकि उनको देखकर प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को अच्छा बनाने का प्रयत्न करे और अच्छा फल और अच्छी गति प्राप्त करे। नरक जीवन के चित्रों में मुख्यतया पाप, अन्याय, अत्याचार, छल, कपट, ईर्ष्या, द्वेष, चोरी, कलह तथा अनैतिक कार्यों के फलस्वरूप भुगते जाने वाले कष्टों के चित्र कोरे हुए मिलते हैं। मनोरंजन के माध्यम से भी धार्मिक शिक्षण के बोध कराने के कई तरीके हमारे यहाँ प्रचलित रहे हैं, उनमें सांप-सीढ़ी का खेल लिया जा सकता है। इस खेल-चित्र में सांप-सीढ़ी के साथ-साथ विविध खानों के अलग-अलग नाम दिये मिलते हैं जो सुकर्म और कुकर्म के प्रतीक हैं, इनमें तपस्या, दयाभाव, परमार्थ, धर्म, उदारता, गंगास्नान, देवपूजा, शिव एवं माता-पिता भक्ति, ध्यान समाधि, गोदान तथा हरिभक्ति से चन्द्रलोक, सूर्यलोक, अमरापुर, तप, धर्म, ब्रह्म, शिव, गौ, इन्द्र, स्वर्ग धर्मलोक के साथ-साथ सीढ़ियों के माध्यम से वैकुण्ठ की प्राप्ति बताई गई है। दूसरी ओर झूठ, चोरी, बालहत्या-परनारी-गमन, विश्वासघात, मिथ्यावचन, गौहत्या, अधर्म आदि बुरे कर्मों के सर्प काटने से क्रोध-रीरवनरक, मोहजाल कुम्भी पाक नरक, पलीतयोनि, बालहत्या-तलातल, रसातल में पड़कर जघन्य कष्टों को सहना पड़ता है। सिद्धियाँ चढ़ना जीवन के उन्नयन और विकास का प्रतीक तथा सर्प काटने से नीचे उतरना हमारे दुर्दिन, दुर्गति तथा पतिततावस्था का बोधक है। जैन पांडुलिपियों, ताड़पत्रों तथा मन्दिरों में दीवालों पर जो चित्र मिलते हैं उनमें नंदीश्वरद्वीप, अढाईद्वीप, लोकस्वरूप, तीर्थकरों के जीवनाख्यान, विविध वरात, स्वप्न, उपसर्ग, समवसरण, आहार दान तथा कर्म सिद्धांत जैसे चित्र बहुलता लिए होते हैं।

(घ) लोक-कथा, गाथा एवं भारत में धार्मिकता के स्वर

लोक देवी देवताओं तथा धार्मिक महापुरुषों से सम्बन्धित कथा, गाथाओं, पवाड़ों, व्यावलों भजनों तथा मारतों का इस प्रदेश में बड़ा जोर रहा है। गाँवों में दिनभर कार्य व्यस्त रहने के पश्चात् रात्रि को जब मनोविनोद के



कोई साधन नहीं होते हैं तो समस्त जनता सामूहिक बैठक के रूप में नाना कथा-गाथाओं द्वारा आनन्द-रस प्राप्त करती है। इनमें लोक देवताओं तथा भक्तों सम्बन्धी कथाओं के वाचन कराये जाते हैं। भजनियों की संगत में रात-रात भर भजनों के दौर चलते रहते हैं। इन भजनों में मीरा, चन्द्रसखी, हरजी, कबीर, तोलादे आदि के भजन आध्यात्मिक भावनाओं की दृढ़मिति लिए होते हैं। लोक देवता तेजाजी की कथाओं को रात भर जनता बड़ी भक्तिनिष्ठा से सुनती है तेजाजी के अलावा रामदेवी जी, हरिश्चन्द्र रामलीला, कृष्णलीला, सत्यनारायण की कथा गाथाओं में जनता का सहज उमड़ता भक्तिभाव, कई अभावों, दुःखदर्दों को हल्का कर सुख और शांति की इवांस लेता है इसी प्रकार पाबूजी के पवाड़े, रामदेवजी के ब्यावले तथा जागरण के गीतों में इन चमत्कारी पुरुषों के शौर्य-चरित तथा परमार्थ कार्यों से अपने क्षुद्र स्वार्थों को त्यागकर परमार्थ हिन कल्याण के सबक सुनने को मिलते हैं। गाने सुनने वालों पर इनका बड़ा असर होता है जो जिन्दगी भर आदर्श बनकर नेक इन्सान की असलीयत को बनाये रखते हैं।

लोकदेवी देवताओं से सम्बन्धित गीत गाथाओं का तो कहना ही क्या जीवन के प्रत्येक संस्कार, वार-स्वौहार उत्सव, रोग, अनिष्ट की आशंका, भावी जीवन की खुशहाली, रक्षा-सुरक्षा, नौकरी, चाकरी, वाणिज्य-व्यापार, फसल आदि सैकड़ों प्रसंग हैं जिनमें पहले बाद में इन देवी-देवताओं की शरण लेनी पड़ती है। इन्हें रिझाने के लिए नाना प्रकार के गीत गाये जाते हैं। सर्प कटों को जब तेजाजी गोगाजी की बाँबी पर ले जाते हैं तो इन देवताओं के गाथा-भारत उच्चरित किये जाते हैं फलतः भोपे के शरीर में इनका आगमन होता है और जहर चूसकर उस व्यक्ति को चंगा कर दिया जाता है। लोक जीवन में इनके प्रति इतनी गूढ़ श्रद्धा-आस्था भक्ति रही है कि उनके लिए अन्य सारे साधन उपयोग निरर्थक से है।

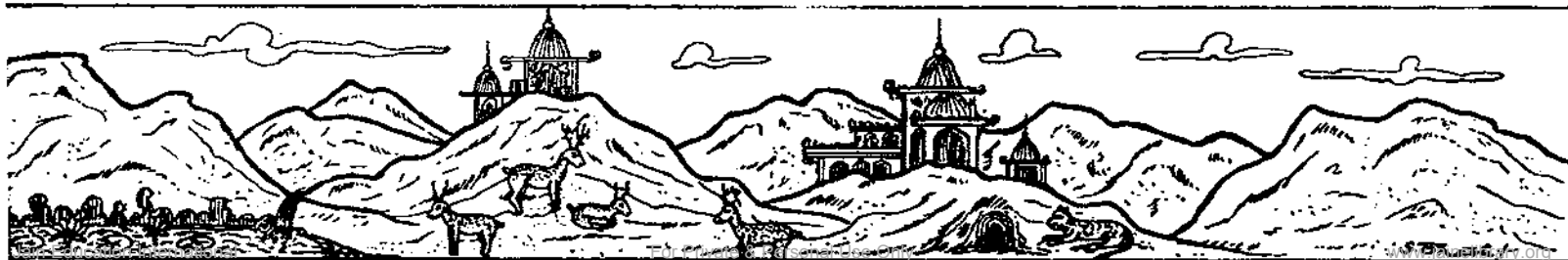
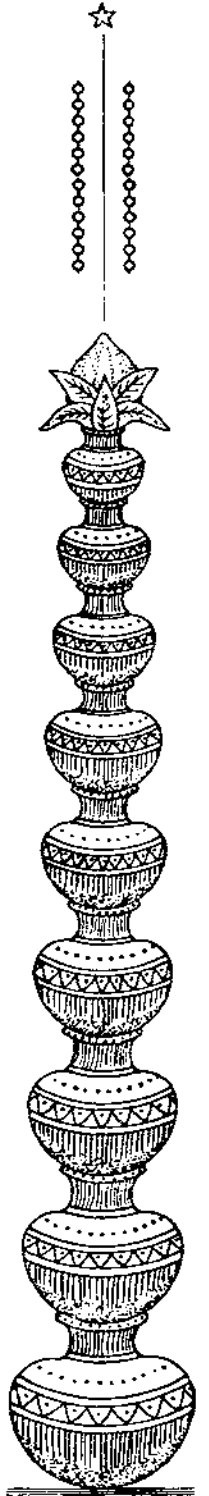
नव रात्रा में इन देवताओं की पूरे नौ ही दिन चौकियाँ लगती हैं। अंखड़ दीप-बूप रहती है, भजनभाव भक्ति-मय सारा वातावरण रहता है। इनकी पूजा-प्रतिष्ठा में सारा गाँव उमड़-पड़ता है। डेरू-ढाक-थाली के सहारे इनके यश-भारत रात-रात भर गाये जाते हैं, इन दिनों कोई गाँव ऐसा नहीं मिलेगा जहाँ इनका देवरा न गाजबाज उठता हो, रेबारी, राडारूपण, माताजी, चावंडा, लालाफूलां, भेरू, कालका, रामदेव, नारसिंधी, मासीमां, वासक, पूरवज, देव नारायण ताखा, भूषामेंदू, आमज, हठिया, रतना, नाथू, रांगड्या, केशरिया जी, कौरव, पांडव, मामादेव आदि कितने ही देव-देवियाँ हैं जो सम्पूर्ण लोक की रक्षा करते हैं, धर्मभावना, जगाते हैं और खुशहाली बाँटते हैं। इन सबके भारत, विधि विधान, भोपे और देवरे हैं अलग-अलग रूपों में इनकी पूजा के विधान हैं। गाँव का हर जन-भन इनका जाना-पहचाना होता है।

बिना प्रगटाये, प्रत्यक्ष हुए, ये देव अपराधियों को सजा देते हैं, चोरियों का पता लगाते हैं। वैद्य-हकीम बन हर प्रकार की मनुष्य-जानवरों की बीमारियाँ दूर करते हैं, आगे आने वाले समय का अता-पता देते हैं, प्राकृतिक प्रकोपों से जन-धन की रक्षा करते हैं। ये ही गाँव के संतरी, पुलिस, डाक्टर, अध्यापक, धर्मगुरु, ईश्वर तथा सद्गति देने वाले होते हैं।

(च) धर्मस्थानों के लोक-साहित्य में धार्मिकता के स्वर

धर्मस्थानों का लोकसाहित्य अपने आप में बड़ा विविध, विपुल तथा व्यापक है। विविध सपनें, चौबीसियाँ, पखी गीत, साधु-साध्वी सम्बन्धी गीत-बधावे, विविध थोकड़े, गरभचितारणियाँ, मृत्युपूर्व सुनाये जाने वाले गीत, तपस्या गीत, विविध चौक, डालें, तवन, भजन, कथाएँ, कहानियाँ, व्यावले, वरात, सरवण तीर्थकरों, गणधरों तथा सतियों सम्बन्धी गीत धार्मिक संस्कृति के कई रूप उद्घाटित करते हैं।

साधु साध्वियों का किसी गाँव में पदार्पण हर सबके लिए बड़ा आल्हादकारी होता है, इस उल्लास में जो गीत फूट पड़ते हैं उनसे लगता है कि जैसे सारे गाँव का ही भाग्योदय हुआ है, सोना रत्नों का सूर्य उदित हो आया है। साधुजी महाराज दीपित हुये से लग रहे हैं। साक्षात् में जैसे जिनवाणी सूर्य ही प्रगट हो आया है। यह सच भी है, साधु महाराज ही तो जैनियों के सर्वस्व हैं। इनका पधारना जैसे कुंकुम् केसर के पगल्यों का पदार्पण है।



कंकूरे पगल्ये मारासा पधारिया । केसर रे पगल्ये मारासा पधारिया ॥
ओरा गामां हीरा मोती निपजेजी, म्हाण्णे गामां रतनां री खान ॥
थोड़ी अरज घणी विनतीजी, लुललुल लागूली पांवजी ॥

स्थानक में पधारने पर जो बधावे गाये जाते हैं उनमें श्रावक-श्राविकाओं के जनम-जनम के भाग जग गये हैं और पूर्व जन्म के अन्तराय टूटते हुए नजर आते हैं । इस अवसर पर खुशियों का कोई पार नहीं, कंकू केसर घोटकर मोतियों के चौक पुराये जा रहे हैं । हृदय में इतनी उमंग कि समा नहीं रही है ।

सैया गावो ए बधावो हगेमगे, आज रो दीयाड़ो जी मलोई सूरज उगियो ।
हरखे हिया में जी उमावो म्हारा अंग में कलू म्हारा मारासा री सेवा ॥
दरसण पाऊंजी गुण आपरा, गाऊंजी परभवे बांध्याजी सामोजी अणी भवे ।
आज टूटो छै अन्तराय उवर्या सैया गावो ए बधावो

कर्म को लेकर जीवन की जड़े बहुत खंखेरी गई हैं 'जैसा कर्म वैसा फल' जैसे आचार को लेकर आचरण के माँत-माँत के मुरब्बे तथा खट्टी-मीठी चटनियों के स्वाद हमारा यह जीव चखता रहता है । विषय वासना के वासंतीकुम्ज इसे इतर-फुलेल की फुनगियाँ दे-देकर बावला किये रहते हैं । कर्मों का जाल-जंजाल बड़ा ही विचित्र और वैविध्य लिए है अपने-अपने कर्म और अपने-अपने धर्म ही तो अन्ततोगत्वा मानव की मूल पूंजी बनते हैं कर्मों की इस दार्शनिकता के कई चौक धर्म-स्थानों की सोभा बने हुए हैं जिनमें जीव को बुरे कार्य तजकर सदैव अच्छे कार्य की ओर प्रवृत्त करने को बाध्य किया जाता है । कर्म चौक की एक छटा द्रष्टव्य है—

'करम नचावे ज्यूं ही नाचे, ऊँचा होवण ने सब करता ।

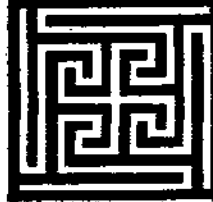
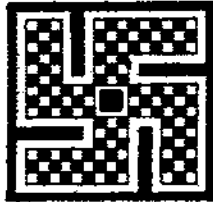
नीचा होवण ने कोई ना राजी नन्द्या विरथा क्यूं करता ।

मोय चाख मोटो मद पीवें ओगण पारका थूँ क्यूं गिणी थारा, ओगण थने नहीं दीसै,
अनेक ओगण है मारे रे आतमा ग्यानी वचन पकड़ो रास्ता ।'

थोकड़ों के निराले ठाठों में आत्मनिन्दा एवं आत्मभर्त्सना के साथ-साथ सांसारिक मोहमाया, रागद्वेष, माना-पमान आदि को तिलांजलि दे जीव के सद्कार्य की ओर लगाया जाता है । मरणासन्न व्यक्ति को मृत्यु से पूर्व भी ये थोकड़े मुनाये जाते हैं । इन थोकड़ों में जीवन के श्यामपक्ष को ही अधिक वर्णित किया गया है आत्मालोचन के रूप में जहाँ एक ओर इन थोकड़ों ने आत्म-निन्दा भर्त्सना की अमानवीय वृत्तियों का पर्दाफाश किया वहाँ जरजरे जीवन को शकसोरते हुये बीते जीवन की कारगुजारियों का लेखा-जोखा कर उसका प्रायश्चित्त करते हुए जीव को आस्थावान-आशावान बनाया है । सुपारी, पाँचबटाऊ तथा आत्मनिन्दा के थोकड़ों में इस भावना की गहराई देखने को मिलती है । उदाहरण के लिए आत्मनिन्दा के थोकड़े का यह अंश लिया जा सकता है ।

'आठ करमां री एकसो ने अड़तालीस प्रकृति ऊठेसण थानक थारा जीव दोरा लागरया छे रे बापड़ा सीलवरत,
गांजो, भांग, तमाखु, दाखरो तजारो हरी लीलोती रा सोगन लेइने भांगसी तो थारा जीवरी गरज कठासूँ सरसी रे बापड़ा थारी जड़ कतरीक छेरे बापड़ा, म्हारा म्हारा करीरयोछै म्हारा माता, म्हारा पिता, म्हारा सगा, म्हारा सोई, म्हारा न्याती, म्हारा गोती, म्हारा भाई, म्हारा बन्धव, म्हारा भरतार, म्हारा पुतर, म्हारा दास, म्हारा दासी, म्हारी हाट, म्हारी हवेली, म्हारा-म्हारा करीयो छै थारा कूण छे ने यूँ कंडो छेरे बापड़ा ?'

नाना जीव-योनियों में मटकते-मटकते जीव जब मानवीय गर्भ धारण करता है, तब एक ओर तो यह लगता है कि जीव ने सर्वश्रेष्ठ योनि धारण की है परन्तु दूसरी ओर गर्भावास में उसे जो यातनाएँ सहनी पड़ती हैं उससे यह उद्भासित होता है कि जीव जन्म ही न ले तो अच्छा । गर्भचिंतारणियों में गर्भस्थ शिशु की चिंतना के साथ-साथ मानवीय जीवन को सम्यक् दृष्टि से समतावान बनाने की सीख भी मिलती है । आठ कर्मों की कालिख से बचते हुए पांच महाव्रत धारणकर जीवन को सार्थक बनाने की कला इन चिंतारणियों में देखने को मिलती है ।



गर्भवती औरतों को इन्हें सुनाने के पीछे यही मूल भावना रही है कि गर्भ में ही शिशु जीवयोनि का इतिहास, कर्मफल सिद्धान्त, राग-द्वेष, मोह-माया, ईर्ष्या-अंह, पाप-पुण्य, रोग-भोग, समता-संयम आदि को जानता हुआ देह धारण करने के बाद अपने जीवन को मानवीय उच्चादर्शों की कसीटी पर कसता हुआ अपना भव सफल सार्थक करे।

एक नमूना देखिये—

‘रतनां रा प्याला ने सोना री थाल, मूंग मिठाई ने चावल-दाल, भोजन भल-भल मांतरा।
गंगाजल पाणी दीधो रे ठार, वस्तु मंगावो ने तुरत त्यार, कमी ए नहीं किणी वातरी।
बड़ा-बड़ा होता जी राणा ने राव, सेठ सेनापति ने उमराव, खातर में नहीं राखता, जी
नर भोगता सुख भरपूर, देखतां-देखतां होइग्या घूर, देखो रे गत संसार री।
करे गरव जसी होसी जी वास, देखतां देखतां गया रे विनास, थूँ चेत उचेते तो मानवी।’

‘संयम ग्यान बतावेगा संत, आली एनाद में रहियो अनस्त, भव-भव मांय थूँ मटकियो।
नव-नव घाटी उलांगी आय, दुख भव भय तवरो रे पाय, ऊँच नीच घर उपन्यो।
सूतरमें घणी चाली छे वात, यो थारो वाप ने या थारी मांत, भी माया भाय फंसरयो।
मांडी मेली घणी सुकी ने बात, धारो रे धारो दया भ्रम सार थूँ चेत उचेते तो मानवी।’

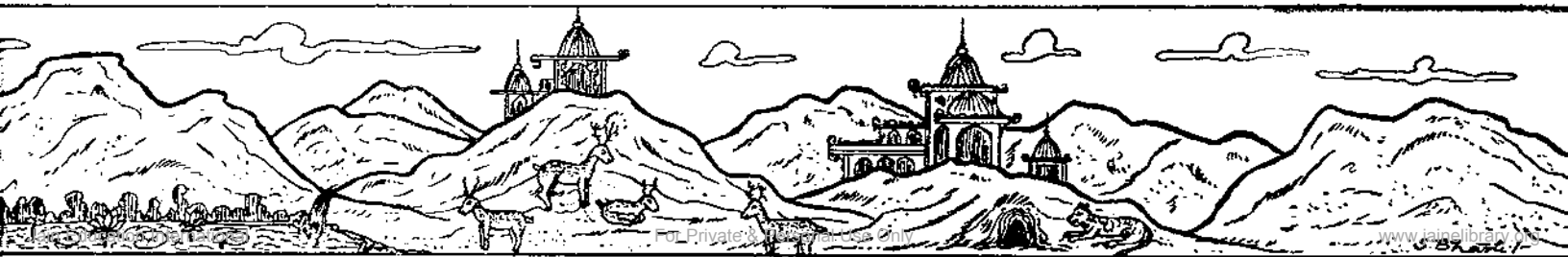
सपनों में विशेष रूप से तीर्थकरों से सम्बन्धित गीत मिलते हैं। व्याह-शादियों में चाक नूतने से लेकर शादी होने के दिन तक प्रतिदिन प्रातःकाल ये सपने गाये जाते हैं, परन्तु पर्वोत्सव के दिनों में ये विशेष रूप से गाये जाते हैं इनमें तीर्थकरों के बाल्यजीवन के कई सुन्दर सजीव चित्र मिलते हैं। इन सपनों के अन्त में इनके गाने का फल बैकुण्ठ की प्राप्ति तथा नहीं गानेवालिओं को अजगर का अवतार होना बतलाया गया है। यही नहीं सपने गाने वाली को सुहाग का फल तथा जोड़ने वाली को झूला-फलता पुत्र प्राप्त होने जैसे माँगलिक भावनाएँ पिरोई हुई सुनी जाती हैं यथा—

जो रे महावीर रो सपनो जो गावे ज्यांरो बैकुण्ठ वासो जी
नहीं रे गावे नी सामे ज्यांरो अजगर रो अवतारोजी
मैं रे गावां जी सांभलांजी म्हारो बैकुण्ठवासो जी
गावां वाली ने चूड़ो चूँदड़ जोड़णवाली ने झोलण पूतोजी।

सपनों के अतिरिक्त विवाह पर सिलोके बोलने की प्रथा रही है, पहले ये सिलोके वर द्वारा बोले जाते थे परन्तु अब जानी लोग बोलते हैं जब जानी-मानी एक स्थान पर एकत्र होते हैं। इन सिलोकों में मुख्यतः ऋषभदेव, पारश्वनाथ, नेमिनाथ, शान्तिनाथ, महावीर स्वामी के सिलोके अधिक प्रचलित हैं, केशरियाजी, बालाजी, गणपति, सीता रामलखन, कृष्ण, सूरजदेव, रामदेव के सिलोके भी सुनने को मिलते हैं। इन सिलोकों के साथ-साथ ढालों का भी हमारे यहाँ बड़ा प्रचलन रहा है। इन ढालों की राग लय बड़ी ही मधुर और अपनी विशेष गायकी लिए होती है। इन ढालों में रावण की ढाल, गजसुकुमार की ढाल, गेंद राजा की ढाल बड़ी लोकप्रिय है।

जीवन में बुढ़ापा अच्छा नहीं समझा गया जीवन का यह एक ऐसा रूप है जब इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं और आदमी पराये पर आश्रित हो जाता है, तब वह अपने को कोसता है, बुढ़ापा विषयक गीतों में बुढ़ापे को वैरी बताकर उससे जल्दी से जल्दी छुटकारा प्राप्त करने की भावनाएँ पाई जाती हैं। जीवन से मुक्त होना मृत्यु है। यह एक अत्यन्त ही रोमांचकारी, कारुणिक तथा वियोगजन्य-प्रसंग है। मरने के बाद जो बधावे गाये जाते हैं उनमें आत्मा का परमात्मा से मिलन होना और जीवन की असारता के संकेत मिलते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेवाड़ की सम्पूर्ण लोकसंस्कृति धर्म और अध्यात्म की ऐसी दृढ़ भित्तियों पर खड़ी हुई है जहाँ मनुष्य का प्रत्येक संस्कार धार्मिकता के सान्निध्य में सम्पूर्ण होता हुआ मृत्यु का अमरत्व प्राप्त करता है। इस प्रदेश में यदि लोक धर्म की बुनियाद इतनी गहरी, परम्परा पोषित नहीं होती तो यहाँ का जीवन संयम, धर्म और अध्यात्म का इतना उदात्त रूप नहीं देता।





मेवाड़ सचमुच में ही रत्नगर्भा है। वीरों की रणभूमि के रूप में तो वह विश्व प्रसिद्ध है ही किन्तु संतों की साधना भूमि, कवियों की कर्म भूमि तथा भक्तों की आराधना भूमि के रूप में भी गौरव-मंडित है। पढ़िए प्रस्तुत में.....

□ श्री हीरामुनि 'हिमकर'
(तारक गुरु शिष्य)

वीरों, संतों और भक्तों की भूमि—

मेवाड़ : एक परिचय

□

मेवाड़ बहुरत्ना प्रसविनी वसुधरा है। भारतमाता का उत्तमांग प्रदेश है। अरावली पर्वत की श्रेणियों से घिरी हुई यह सुरम्य स्थली जहाँ एक ओर प्राकृतिक एवं ऐतिहासिक दृष्टि से सुन्दरम् की वर्षा करती है वहाँ दूसरी ओर संत और भक्तजनों की सौरमयी मधुर कल-कल करती वाणी से इसके कण-कण में सत्यं और शिवम् की पावन भावना मुखरित हो उठी है।

सत्यं, शिवं और सुन्दरम् से परिपूरित इस मेवाड़ की धरती ने न केवल राजस्थान, वरन् सम्पूर्ण भारत भूमि के गौरव को चार चांद लगा दिये हैं।

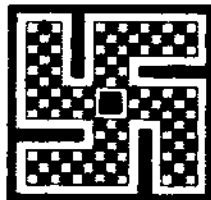
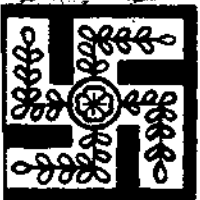
जैन आगमानुसार मानव-जगत के अढ़ाई द्वीप हैं। इन द्वीपों में पाँच मेरुपर्वत हैं। जम्बूद्वीप सर्व द्वीपों में श्रेष्ठ माना गया है। पाँच मेरुपर्वतों में भी सबसे बड़ा और सुरम्य पर्वत जम्बूद्वीप का मेरुपर्वत माना गया है। यह प्रकृति की देन है। प्रकृति स्वभावजन्य वस्तु है। उसकी संरचना कोई नहीं करता वरन् वह स्वतः बनने वाला महान् तत्त्व है। सुन्दरम् का निर्माण करने और उसे विकसित करने वाला शुभ कर्म के अतिरिक्त और कोई नहीं है। जैन नियमानुसार शुभ और अशुभ दो प्रकार के कर्म हैं। यही दो कर्म प्राकृतिक सौन्दर्य और असौन्दर्य में सदा क्रियाशील रहते हैं। उन कर्मों के कर्ता और कोई नहीं, हम जगत-जीव ही हैं।

पाँच मेरुपर्वतों से सुशोभित यह अढ़ाई द्वीप ही हमारी कर्मभूमि मानी जाती है। इन सभी द्वीपों के मध्यभाग में जम्बू द्वीप है। वह यही जम्बूद्वीप है जिसके एक भू-भाग का नाम—“भरत-क्षेत्र” है। उसी को भारतवर्ष भी कहते हैं। इसी भारतवर्ष के मध्य-भाग में मेवाड़ की उर्वरा भूमि है।

भौगोलिक स्थिति और प्राकृतिक सम्पदा

वर्तमान राजस्थान प्रान्त का उदयपुर, चित्तौड़ व भीलवाड़ा जिला मेवाड़-क्षेत्र के अन्तर्गत माना जा सकता है। प्राकृतिक बनावट की दृष्टि से उदयपुर और चित्तौड़ जिले का अधिकांश भाग पहाड़ी है और भीलवाड़े का भाग मैदानी। अरावली पर्वत मेवाड़ का सबसे बड़ा पर्वत है। और कहीं-कहीं यही पहाड़ मेवाड़ की प्राकृतिक सीमा का निर्धारण करता है। अरावली पर्वत के मध्य भाग में जरगा की श्रेणी है। अरावली पर्वत समुद्र की सतह से औसतन २३८३' ऊँचा है। जरगा की श्रेणी तक तो यह पर्वत ४३१५' तक ऊँचा हो गया है।

मेवाड़ के अधिकांश लोग मक्का, गेहूँ, गन्ना, जौ आदि की खेती करते हैं। यहाँ का मुख्य मोजन मक्का है। यहाँ की मुख्य सम्पदा विभिन्न प्रकार के खनिज द्रव्य हैं। उदयपुर और उसके आसपास का भेद खनिज उद्योग की दृष्टि से न केवल भारत का वरन् सम्पूर्ण विश्व के आकर्षण का केन्द्र बन रहा है। इसके आसपास जिक,



चाँदी, जस्ता, सोपे स्टोन, पन्ना, रॉक फास्फेट आदि अनेक बहुमूल्य खनिज पदार्थ की खानें हैं। अन्वेषक वैज्ञानिकों का मत है कि नाथद्वारा-हल्दीघाटी से अजमेर के समीप तारागढ़ तक पन्ने की खान की सम्भावना है। भीलवाड़ा माईका खनिज द्रव्य के लिए प्रसिद्ध है। इन खनिज-द्रव्यों के कारण बहुत से लोग खानों में कार्य कर अपना जीवन यापन करते हैं। उदयपुर, चित्तौड़, भीलवाड़ा इन तीनों ही जिलों में इन खनिज-द्रव्यों के कारण कई छोटे-मोटे कारखाने, फॅक्ट्रियाँ शुरू हो गई हैं जिसमें बहुत से लोग कार्यरत हैं।

सिंचाई के लिए यहाँ कुँओं और नहरों के साधन हैं। इतिहासकारों की मान्यता है कि आज से ३०० वर्ष पूर्व यहाँ कुँए और नहरें नहीं थीं अपितु पहाड़ी झरनों के पानी से सिंचाई की जाती थी।

इस प्रकार मेवाड़ की भूमि सामान्यतया ऊबड़-खाबड़ है। इस सम्बन्ध में एक सत्य-कथा प्रचलित है! एक बार महाराणा फतहसिंह जी से किसी अंग्रेज ने मेवाड़ के मानचित्र (map) की माँग की थी। तब महाराणाजी ने एक चने का पापड़ बनवाकर और उसे अग्नि पर सेक कर दिल्ली भेज दिया और उस पापड़ के साथ यह सन्देश भेज दिया गया कि यही हमारे मेवाड़ की रूपरेखा है।

ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

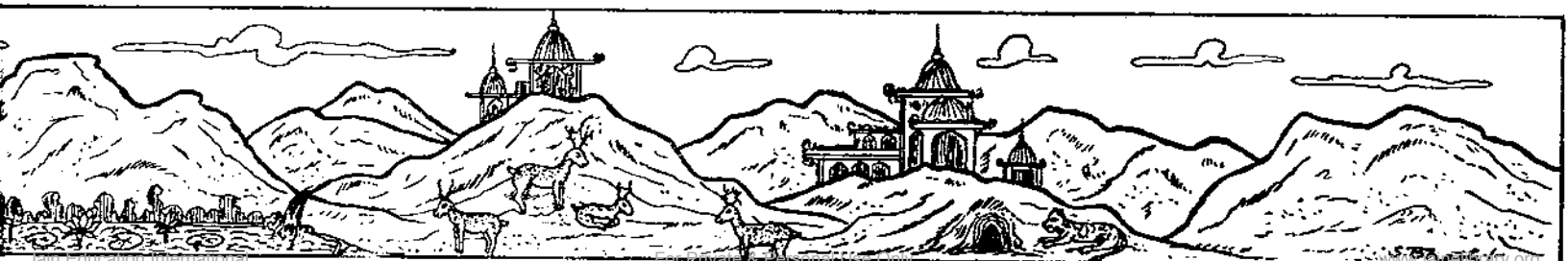
यद्यपि मेवाड़ के इतिहास का विषय अपने आप में शोध का विषय है, लेकिन अब तक की जानकारी के आधार पर इतिहासकारों की ऐसी मान्यता है कि मेवाड़ राज्य की नींव छठी शताब्दी में गुहिल ने डाली थी। इसी वंश में आगे जाकर बप्पारावल, जो कालमोज भी कहे जाते हैं, हुए हैं। इन्होंने सन् ७३४ ई० में चित्तौड़ में मोरी वंश के तत्कालीन राजा मानसिंह को पराजित कर मेवाड़ को हमेशा के लिए अपने अधिकार में कर लिया। इसके बाद का इतिहास भी बहुत अधिक स्पष्ट नहीं है, एक तरह से कोई भी प्रमाणित सामग्री की अभी तक शोध नहीं हो सकी है। सन् १३०३ में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया उस समय चित्तौड़ पर रावल रतनसिंह का राज्य था। किन्तु वे पराजित हो गये और चित्तौड़ गुहिलवंश के हाथ से निकल गया। सन् १३२६ ई० में हमीर ने जो सिसोदिया वंश का प्रमुख था चित्तौड़ को वापस अपने अधिकार में लिया तथा उन्हें महाराणा कहा जाने लगा। तभी से आज तक मेवाड़ पर सिसोदिया-वंश का शासन चला आ रहा है। इसी वंश में राणा सांगा, उदयसिंह, महाराणा प्रताप, महाराणा फतहसिंह, महाराणा भूपालसिंह जैसे तेजस्वी महाराणा हो चुके हैं। सन् १५५६ ई० में महाराणा उदयसिंह ने उदयपुर की नींव डाली और तभी से मेवाड़ की राजधानी उदयपुर हो गई।

मेवाड़ की ऐतिहासिक पृष्ठ भूमि के सन्दर्भ में एक बात उल्लेखनीय है कि यहाँ के महाराणाओं के आराध्य देव श्री एकलिंग जी को मानते हैं जिनका भव्य एवं कलात्मक मन्दिर उदयपुर से लगभग १३ मील की दूरी पर स्थित है। वे अपने आराध्य देव श्री एकलिंग जी को ही अपना राजा मानते हैं और वे अपने को उनका दीवान मानते हैं।

धर्म-वीर प्रसविनी मेवाड़-भू

इस धर्मवीर प्रसविनी मेवाड़-भू ने अनेकानेक धर्मवीरों को जन्म दिया है। जिन्होंने धर्म-रक्षा के लिए अपने प्राणों तक की आहुति दे दी। तपस्वी राज श्री मानमल जी महाराज पूज्य श्री मोतीलाल जी म०, स्व० गुरुवर श्रीताराचन्द जी महाराज जैसे एक से एक बढ़कर जैन मुनि राज ने इसी मेवाड़ भूमि पर जन्म लिया। वहाँ दूसरी ओर अनेक इतिहास पुरुष व नरवीरों से यह भूमि गौरवान्वित हुई है। जिनकी गौरव गाथाएँ आज मेवाड़ की भूमि के कण-कण से मुखरित होती हैं।

(१) पश्चिमनो का अग्नि प्रवेश—जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है कि सन् १३०३ में अलाउद्दीन खिलजी ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया। उस समय रावल रतनसिंह चित्तौड़ के राजा था। उन्होंने पूरी शक्ति से औरंगजेब का मुकाबला किया, अन्त में रावल की हार हुई और उनकी विश्व प्रसिद्ध सुन्दर पत्नी ने अपने सतीत्व एवं देश की मान-मर्यादा के लिए अपने को हजारों राजपूत वीरांगनाओं सहित अग्नि प्रवेश करा दिया। संसार के इतिहास में यही



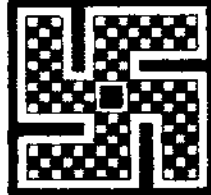
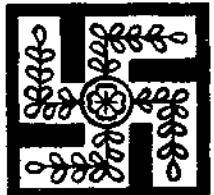
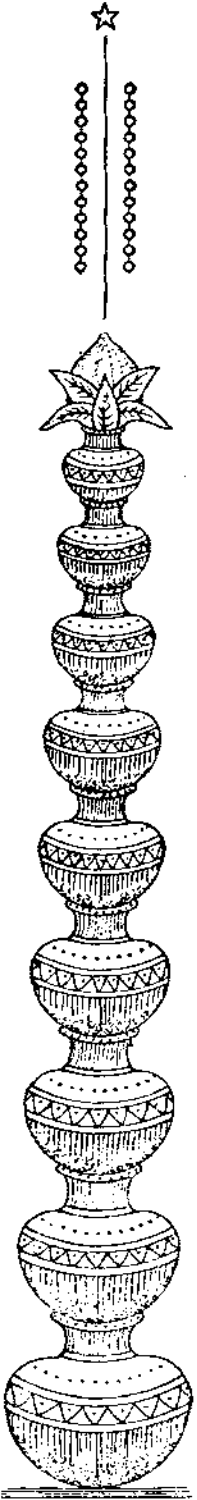
घटना चित्तौड़ के प्रथम जोहर के नाम से पुकारा जाता है। पत्नी का यह जोहर हमारे भारतीय नारी समाज की उच्चचारित्रिक विशेषता का जीता-जागता उदाहरण है।

महाराणा सांगा—मेवाड़ के इतिहास में महाराणा सांगा उर्फ महाराणा संग्रामसिंह का नाम भी बहुत आदर और सम्मान के साथ लिया जाता है। मेवाड़ की रक्षार्थ इन्होंने अपने जीवन का सम्पूर्ण समय युद्धभूमि में बिताया और १८ युद्ध लड़े। इन युद्धों में इनकी एक आँख चली गई और एक हाथ कट गया। कहते हैं—उनके शरीर पर ८० घाव पड़ गये। अन्तिम युद्ध में बाबर से लड़ते हुए सांगा घायल होकर गिर पड़े और मूर्च्छित हो गये, तब उन्हें सरदार उठाकर ले आये। जब होश आया तो वे लड़ने को उद्यत हो उठे, सरदारों, परिवार के लोगों ने उन्हें बहुत समझाया किन्तु वे अपनी हठ नहीं छोड़ते, अन्त में उन्हें बुरी गति से बचाने के लिए ही परिवार वालों ने उन्हें जहर दे दिया। महाराणा सांगा की देशभक्ति और धर्म-परायणता इतिहास की उज्ज्वल घटना के रूप में अजर-अमर हो गई।

दूसरा जोहर—मेवाड़ में चित्तौड़ का दूसरा जोहर भी बहुत प्रसिद्ध है। महाराणा विक्रमसिंह चित्तौड़ का शासक था। तब गुजरात के बादशाह बहादुरशाह ने मेवाड़ पर चढ़ाई कर दी। राजमाता हाड़रानी और राजमाता कर्मवती ने अपनी रक्षार्थ दिल्ली के सम्राट हुमायूँ से सहायता चाही जो उस समय मालवा की ओर शेरशाह से उलझा हुआ था। सहायता देना स्वीकार भी कर लिया किन्तु हुमायूँ ठीक समय चित्तौड़ नहीं पहुँच सका फलतः राजपूती-सेना के सभी विजय के प्रयत्न निष्फल हो गये। तब हाड़ी रानी और कर्मवती ने कई राजपूत स्त्रियों सहित अग्नि-प्रवेश किया। मेवाड़ के इतिहास में यह दूसरा जोहर कहा गया।

महाराणा प्रताप—देश-विदेश में प्रताप के नाम से ही मेवाड़ को जाना-माना जाता है। धर्म रक्षा, देशभक्ति और स्वतन्त्रता की रक्षार्थ उन्होंने अपने जीवन की आहुति देदी। विक्रम संवत् १५६७ की ज्येष्ठ शुक्ला तृतीया को महाराणा प्रताप का जन्म हुआ। महाराणा उदयसिंह की मृत्यु के बाद वे ३२ वर्ष की आयु में मेवाड़ के शासक बने। उस समय दिल्ली का शासक अकबर था। अकबर के सामने राजस्थान के सभी नरेशों ने सिर झुका लिया। मेवाड़ की स्थिति भी अच्छी नहीं थी। यद्यपि मेवाड़ ने दिल्ली की अधीनता स्वीकार नहीं की किन्तु मेवाड़ का अधिकांश भू-भाग अकबर के अधिकार में था। महाराणा प्रताप ने राज्य गद्दी पर आसीन होते ही मेवाड़ को पूर्ण रूप से स्वतन्त्र कराने की प्रतिज्ञा की। और इस प्रयास में उन्हें बहुत कष्ट उठाना पड़ा, राजमहल क्या उन्हें जंगल-जंगल भटकना पड़ा, घास-चूख के बिछौने पर सोना पड़ा और फल-फूद-कन्द आदि खाकर गुजारा करना पड़ा, किन्तु वे स्वतन्त्रता के लिए झूझते रहे। अकबर ने जयपुर के राजा मानसिंह को प्रताप के पास उन्हें समझाने को भेजा। इतिहास प्रसिद्ध उदय सागर की पाल पर प्रताप उन्हें मिले, किन्तु प्रताप ने अधीनता स्वीकार नहीं की, वरन् उन्होंने मानसिंह के साथ बैठकर भोजन करना भी अपना अपमान समझा! मानसिंह दिल्ली गया और वहाँ से शाही फौज को लेकर उसने विक्रम संवत् १६३२ की ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया को मेवाड़ पर आक्रमण कर दिया। यह युद्ध हल्दीघाटी के युद्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ। हल्दीघाटी उदयपुर के पास नाथद्वारा के समीप स्थित है जो आज युद्ध के स्मारक के रूप में शोभित है। यद्यपि हल्दीघाटी के युद्ध में मेवाड़ की हार हुई। अनेक राजपूत सैनिक योद्धा, सरदार मारे गये। प्रताप का स्वामीभक्त घोड़ा चेतक भी मारा गया और मन्नाजी जैसे स्वामीभक्त सरदार ने अपने स्वामी के प्राणों की रक्षा के लिये अपने प्राणों की आहुति भी देदी। किन्तु महाराणा प्रताप ने अकबर की अधीनता स्वीकार नहीं की। युद्ध में हार जाने के बाद महाराणा के पास न सेना रही न धन! एक बार तो वे मेवाड़ छोड़कर भी जाने लगे किन्तु धनकुबेर जैन श्रावक भामाशाह ने उन्हें रोक कर अपनी सम्पूर्ण धन और सम्पत्ति को महाराणा की सेवा में भेंट कर दी। महाराणा प्रताप ने इस धन से पुनः सेना एकत्रित की और कई लड़ाइयाँ लड़ीं और कुछ अन्य किलों को छोड़कर सारे मेवाड़ प्रान्त को उन्होंने स्वतन्त्र कर लिया। इसी बीच वे बीमार हो गये। मरते समय मेवाड़ के सामन्त सरदारों ने पूर्ण स्वतन्त्रता प्राप्त करने की प्रतिज्ञा की तभी उनके प्राण निकल सके!

महाराणा प्रताप के सन्दर्भ में यह बात उल्लेखनीय है कि महाराणा प्रताप द्वारा चलाये गये स्वतन्त्रता अभियान में यहाँ के मूल आदिवासी भील जाति ने इनका बहुत साथ दिया। आज भी महाराणा का वंश इस भील जाति का उपकार मानता है।



इस प्रसंग में यह दोहा बहुत प्रसिद्ध है—

अकबर जासी आप दिल्ली पासी दूसरा ।

पुण्य रासी प्रताप सुयश न जासी सूरमा ॥

महाराणा प्रताप के बाद मेवाड़ के सिंहासन पर राजसिंह, सज्जनसिंह, फतहसिंह, भूपालसिंह जैसे प्रतिभा-सम्पन्न महाराणा हो चुके हैं ।

सन्त और भक्त प्रसविनी-भू

मेवाड़ की भू द्रव्य रत्न, वीर रत्न के साथ सन्त और भक्त प्रसविनी भूमि भी है । यहाँ की भूमि उस सती-नार बडभागन लक्ष्मी के समान है जिसके विषय में एक कविता में कहा गया है—

“सति नार सूर जणे बड़ भागन दातार ।
भाग्यवान लक्ष्मी जणे सो सारण में सार ॥
सो सारण में सार एक पापन की पूड़ी ।
चोर, जुआरी, चुगलखोर जने नर भडसूरी ॥
रामचरण साँची कहे या में फेर न फार ।
सती नार सूर जणे बड़ भागन दातार ॥

भक्त शिरोमणि मीरां—प्रातः स्मरणीय महाराणा प्रताप के नाम के साथ भक्त शिरोमणि मीरां का नाम भी उतना ही गौरवशील और लोकप्रिय है मीरां मेवाड़ की राजरानी थी, उसका सांसारिक विवाह मेवाड़ के युवराज भोज के साथ हुआ । मीरां कृष्ण की परम भक्त थी । मीरां के भक्ति गीतों ने मेवाड़ की भूमि को पावन कर दिया । उनकी सगुण दाम्पत्य भक्ति पूर्ण वियोग शृंगार के पद हिन्दी काव्य की निधि है ।

मुनिराज रोड़ीदास जी म० साहब—मुनिराज रोड़ीदास जी महाराज साहब मेवाड़ के अग्रणी सन्त हुए हैं । उनकी तपशक्ति बहुत ही बढ़ी-चढ़ी थी । उनके तप-बल की एक लोक-कथा बहुत प्रसिद्ध है—एक बार मुनिराज रोड़ीदास जी ने हाथी से आहार ग्रहण करने का अभिग्रह धारणा किया जब वे आहार ग्रहण करने के लिए बाहर निकले तो मार्ग में उन्हें एक हाथी मिल गया । हाथी ने मुनिराज की तरफ देखा, कुछ समझा और पास की एक मिठाई की दुकान से मिठाई उठाकर उसने आहार मुनिराज की झोली में डाल दिया ।

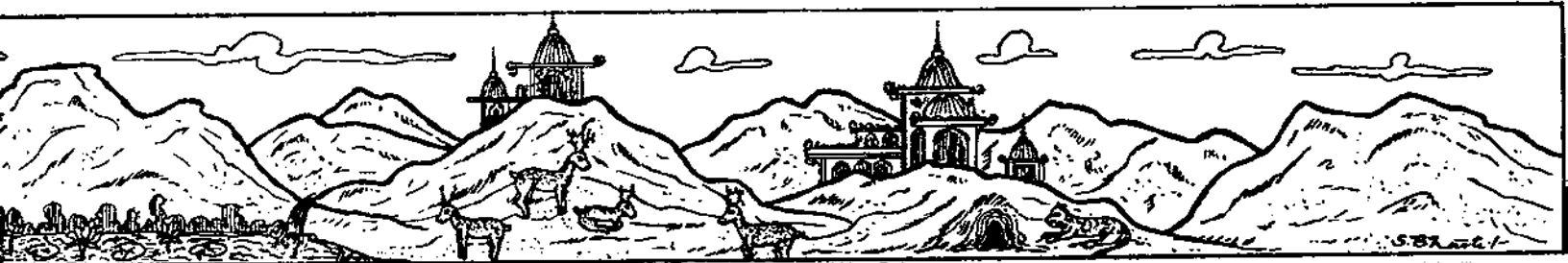
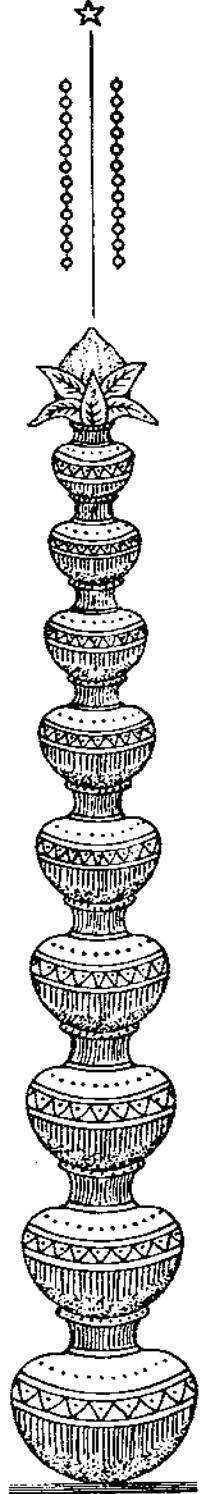
सन्त मानमल जी महाराज—भक्त और सन्तों की परम्परा में मेवाड़ी सन्त मानमलजी महाराज का नाम भी बहुत आदर से लिया जाता है । उनके विषय में एक आख्यान प्रसिद्ध है । एक बार नाथद्वारा के पास ग्राम खमनोर के एक भेरू के मन्दिर में इन्होंने रात्रि विश्राम किया है । कहा जाता है उसी रात भेरूदेवता और इस्टापक देवी मुनिराज से बहुत प्रसन्न एवं प्रभावित हुए और तभी से उनकी सेवा में रहने लगे । यह आख्यान आज भी वहाँ की जनता में बहुत लोकप्रसिद्ध है ।

बाबजी चतरसिंह जी

उदयपुर के इस सिसोदिया वंश में कविराज श्री चतरसिंह जी हो गये हैं इनका मेवाड़ी भाषा पर अपना अधिकार था । उस युग की चलने वाली प्रत्येक अच्छाइयों-बुराइयों पर रचनाएँ किया करते थे, हिन्दू एवं मुसलमानों के बीच शान्ति चाहने वाले थे । भगवान पर पूर्ण विश्वास था । जैसे—

अपने कइ कणी रो लेणो, सब सम्प करी ने रहतो ।
राम दियो जो लिख ललाट में, वी में राजी रहतो ।
हलको-भारी खम लेनो पण कड़वो कबहु न केह नो ॥

इसी प्रकार अपने ही माई-बन्धुओं में शराब पीने की बुराइयाँ देखीं, तब तीखे और सीधे शब्दों में सुनाते थे ।



अन्दाता ने आच्छा बोया ।
धारा कटे फूट गया कोया ॥
केक नाश से नशा कराथी, के राडां में रोया ।
खमा खमा पेला पे, बी ने लगे लगे घर खोया ॥

इसी तरह से उस युग की शिक्षा प्रणाली पर भी खुलकर लिखते थे । कारण विनय, नम्रता, सरलता, क्षमता की मर्यादा ओझल होती देख वे बोलें ।

भण ने किधी कशी भलाई ।
गांठ री सामी समझ ममाई ॥
परमारथ रो पाठ भूल किसी याद ठगाई ।
अवली घेडो मेलमाल पे किधी कणी कमाई ॥

विलासी जीवन में दबते हुए जागीरदारों को देखकर जागृति का संदेश दिया । जैसे—

जागो जागो रे भारत रा वीरो जागो,
धारो कटे केसरियो वागो ।
थे हो वणों रा जाया यश सुरगों तक लागो ।
अवे एस आराम वासते मत कुकर ज्यों भागो ॥

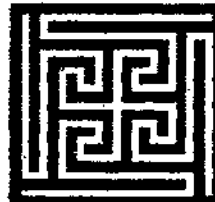
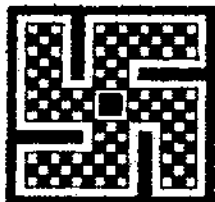
मेवाड़ के चारण भाट कवियों ने भी इस धरती का पानो पीकर शूर वीरता की बिगुल बजाने में कमी नहीं रखी । चित्तौड़ को धाय-धाय जलती हुई देखकर वीर सैनिकों को आह्वान किया था—

रात्रि के निरव प्रहर में, चित्तौड़ तिहारी छाती पर ।
जलती थीं जौहर ज्वालाएँ मेवाड़ तिहारी छाती पर ॥
धूँ धूँ करते श्मसान मिले, पग पग पर बलिदान मिले ।
धानी अंचल में हरे-भरे, माँ-बहिनों के अरमान मिले ॥

मेवाड़ भूमि हमेशा के लिए वीरता का परिचय देती आ रही है । जब कभी कायर का पुत्र पैदा हो जाय, मानो या वीर भूमि पुकारती कि मेरी रक्षा करने वाले कहाँ गये ।

माँ जोवे थारी आज बाट, धरती रा धणिया जागो रे,
रजपूतण जायो भूल गयो, चित्तौड़ी जौहर ज्वालों ने ।
थे भूल गया रण राठीड़ी, अरिदल रा भुखा भालों ने,
जगरा मुरदा भी जाग गया, जुँझारा अब तो जागो रे ।

इस प्रकार हमारी मेवाड़ भूमि हमेशा के लिए आदरणीय माता जन्मभूमि प्रिय भूमि बनकर रही है । इस देश की वेष-भूषा, भाषा स्वतन्त्र चली आ रही है । यहाँ के सन्त महात्मा तथा देव दर्शन लोक प्रसिद्ध हो चुके हैं । मेवाड़ का पूरा परिचय दे देना कठिन है, फिर भी मैंने इस छोटे से निबन्ध में थोड़ा-सा परिचय देने का प्रयास किया है ।



□ श्री रामवल्लभ सोमानी, जयपुर
[प्रसिद्ध इतिहास अन्वेषक]

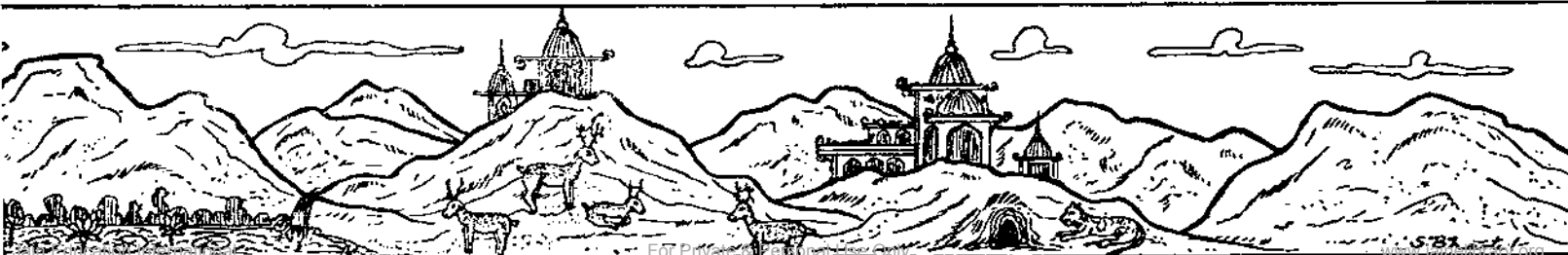
वीर भूमि मेवाड़ में धर्म के बीज संस्कार रूप में जन्म-जात ही है। भले ही वहाँ का राजधर्म 'भागवतधर्म' रहा हो, किन्तु जैनधर्म के बीज भी उस भूमि में अत्यंत प्राचीन है। प्रस्तुत में प्रमाणों के आधार पर मेवाड़ में जैन धर्म के प्राचीनतम अस्तित्व का वर्णन है।

मेवाड़ में जैनधर्म की प्राचीनता

□ मेवाड़ से जैनधर्म का सम्बन्ध बड़ा प्राचीन रहा है। बड़ली के वीर सं० ८४ के लेख में, जिसकी तिथि के सम्बन्ध में अभी मतेव्य नहीं है, मध्यमिका नगरी का उल्लेख है। अगर यह लेख वीर संवत् का ही है तो मेवाड़ में भगवान महावीर के जीवनकाल में ही जैन धर्म के अस्तित्व का पता चलता है। मौर्य राजा सम्प्रति द्वारा भी नागदा व कुम्भलगढ़ के पास जैन मन्दिर बनाने की जनश्रुति प्रचलित है। भगवान पार्श्वनाथ की परम्परा में हुए देवगुप्त सूरि का सम्बन्ध मेवाड़ क्षेत्र से ही था। जैन धर्म का यहाँ व्यापक प्रचार ५वीं-छठीं शताब्दी में हुआ। उस समय राजस्थान में सांस्कृतिक गतिविधियों में विशेष चेतना आई। धीरे-धीरे जालौर, भीनमाल, मंडौर, पाली, चित्तौड़, नागौर, नागदा आदि शिक्षा और व्यापार के प्रमुख केन्द्रों के रूप में विकसित होने लगे। सिद्धसेन दिवाकर मेवाड़ में चित्तौड़ क्षेत्र में दीर्घ काल तक रहे थे। इनकी तिथि के सम्बन्ध में विवाद है। जिनविजयजी ने इन्हें ५३३ ई० के आसपास हुआ माना है। इनके द्वारा विरचित ग्रन्थों में न्यायावतार प्रमुख है। यह संस्कृत में षड्वद है और तर्कशास्त्र का यह प्रसिद्ध ग्रन्थ है। इसमें की गई तर्कशास्त्र सम्बन्धी कई व्याख्यायें आज भी अखंडित हैं। इन्हें जैन तर्कशास्त्र का आदिपुरुष कहा गया है। इनके अन्य ग्रन्थों में कल्याणमन्दिर स्तोत्र और द्वान्त्रिशिकाएं प्रमुख हैं। हरिभद्रसूरि भी चित्तौड़ से सम्बन्धित हैं। ये बहुश्रुत विद्वान् थे। इनकी तिथि में भी विवाद रहा है। मुनि जिनविजयजी ने सारी सामग्री को दृष्टिगत रखते हुये इन्हें विक्रम की आठवीं शताब्दी में माना जो ठीक प्रतीत होता है। इनके द्वारा विरचित ग्रन्थों में समराइच्च कहा और घूर्त्तारख्यान कथा साहित्य के रूप में बड़े प्रसिद्ध हैं। दर्शन और योग के क्षेत्र में भी इनकी देन अद्वितीय है। इनमें षड-दर्शन समुच्चय, शास्त्रवार्ता समुच्चय, अनेकान्त जयपताका, धर्म-संग्रहिणी, योग शतक, योगविशिका-योग दृष्टि समुच्चय आदि मुख्य हैं। इनकी कृतियों में अस्पष्टता नहीं है। ये अपने समय के बड़े प्रसिद्ध विद्वान् रहे हैं। उस समय चित्तौड़ पर मौर्य शासकों का अधिकार था और पश्चिमी मेवाड़ में गुहिल वंशी शासकों का।

बौद्ध इतिहासकार तारानाथ के अनुसार शीलादित्य राज के समय मरुदेश में मूंगधर द्वारा में कला की पश्चिमी शैली का विकास हुआ। शीलादित्य राजा कौल था। इस सम्बन्ध में मतभेद रहते हैं, कार्ल खांडलवाल इसे हर्ष शीलादित्य (६०६-६४७ ई०) से अर्थ मानते हैं, जबकि यू. पी. शाह मैत्रक राजा शीलादित्य मानते हैं किन्तु इन दोनों शासकों का मेवाड़ और मरुप्रदेश पर अधिकार नहीं था। अतएव यह मेवाड़ का राजा शीलादित्य था। इसके समय में वि. सं. ७०३ के शिलालेख के अनुसार जैनक महत्तर ने जावर में अरण्यवासिनी देवी का मन्दिर बनाया था। कल्याणपुर सामला जी, ऋषभदेवजी, नागदा आदि क्षेत्र पर उस समय निश्चित रूप से गुहिलों का अधिकार था। अतएव कला का अद्भुत विकास उस समय यहाँ हुआ।

चित्तौड़ और मेवाड़ का दक्षिणी भारत से भी निकट सम्बन्ध रहा था। कई दिग्म्बर विद्वान् उस समय चित्तौड़ में कन्नड़ क्षेत्र से आते रहते थे। इन्द्रनन्दिकृत श्रुतावतार से पता चलता है कि प्रसिद्ध दिग्म्बर विद्वान् ऐलाचार्य यहाँ दुर्ग पर रहते थे। इनके पास शिक्षा प्राप्त करने के लिये वीरसेनाचार्य आये थे और यहाँ से बड़ीदा जाकर धवला टीका पूर्ण की थी। षट्खंगम की कुल ६ टीकार्यें हुई थीं, इनमें धवला अन्तिम है। इसमें लगभग ७२,००० श्लोक हैं। वीर सेनाचार्य ने 'कषाय प्राभृत' की 'जय धवला टीका' भी प्रारम्भ की थी। जिसे ये पूर्ण नहीं कर पाये और इनके बाद



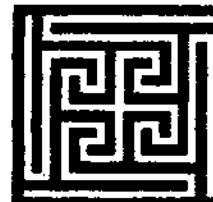
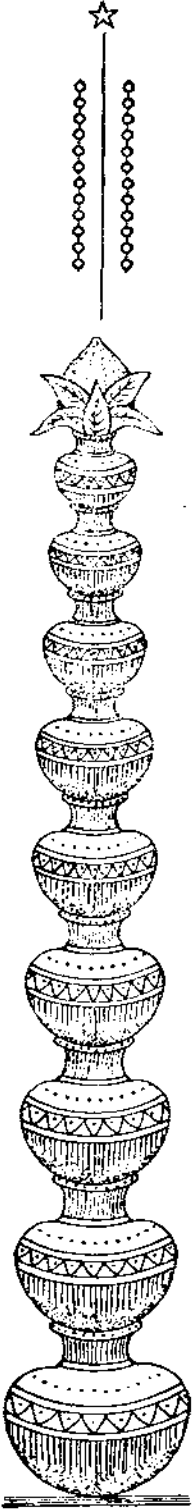
इनके शिष्य जिनसेनाचार्य ने पूर्ण की थी। दिग्म्बर ग्रन्थों में चित्तौड़ का कई बार उल्लेख आया है। 'पञ्चम चरित्र' में तीन बार उल्लेख हुआ है। दक्षिण भारत में भी कई शिलालेख मिले हैं जिनमें चित्रकूटाव्यय साधुओं का उल्लेख है। ये सूरस्थगण के थे। जैन की त्रिस्तम्भ चित्तौड़ से सम्बन्धित एक खंडित प्रशस्ति हाल ही में मैंने 'अनेकान्त' में प्रकाशित की है। इसमें श्रेष्ठ जीजा के पुत्र पूर्णसिंह द्वारा उक्त कीर्ति स्तम्भ की प्रतिष्ठा कराने का उल्लेख है। इस लेख में जैन साधु विशाल कीर्ति, शुभ कीर्ति, धर्मचन्द्र आदि का उल्लेख है जिन्हें दक्षिण भारत के राजा नारसिंह का सन्मान प्राप्त था। अतएव पता चलता है कि ये साधु भी दक्षिणी भारत से सम्बन्धित थे।

कन्नड़ का एक अप्रकाशित शिलालेख भी हाल ही में मुझे चित्तौड़ के एक जैन मन्दिर में लगा हुआ मिला था जिसे मैंने श्रद्धेय भुजबली शास्त्रीजी से पढ़वाया था। यह लेख उनके मत से १५वीं शताब्दी का है। केवल जिनेश्वर की स्तुति है। महाकवि हरिषेण ने अपने ग्रन्थ 'धम्मपरिवत्ता' में महाकवि "पुष्पदंत चतुर्मुख और स्वयं भू को स्मरण किया है, अतएव पता चलता है कि इन कवियों की कृतियों को यहाँ बड़े आदर से पढ़ा जाता था। इसी समय मेवाड़ में महाकवि डड्डा के पुत्र श्रीपाल हुये। इनका लिखा प्राकृत ग्रन्थ 'पंच संग्रह' बड़ा प्रसिद्ध है।

मेवाड़ में ऋषभदेवजी का मन्दिर बड़ा प्रसिद्ध और प्राचीन है। इसे दिग्म्बर, श्वेताम्बर और वैष्णव सब ही बड़ी श्रद्धा से मानते हैं। इस मन्दिर में शिलालेख अधिक प्राचीन नहीं मिले हैं। मण्डप में लगे शिलालेखों में एक वि०सं० १४३१ का है। इसमें काष्ठ संघ के मट्टारक धर्मकीर्ति के उपदेश से शाहू बीजा के बेटे हरदान द्वारा जिनालय के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। अलाउद्दीन खिलजी गुजरात के आक्रमण के समय इसी मार्ग से गया था। ऐसा प्रतीत होता है कि उसने इस मन्दिर को खंडित कर दिया जो जिसे कालान्तर में महाराणा खेता के समय में जीर्णोद्धार कराया था। इसी मण्डप में एक अन्य लेख वि०सं० १५७२ का है जिसमें भी काष्ठा संघ के मट्टारक यशकीर्ति के समय काञ्चल गोत्र के श्रेष्ठ कडिया पोडया आदि द्वारा कुछ जीर्णोद्धार कराने का उल्लेख है। वि०सं० १५७२ में ही महादेव कुलिकाओं के मध्य स्थित ऋषभनाथ का मन्दिर काष्ठा संघ के नन्दित तट गच्छ के विद्यागण के मट्टारक सुरेन्द्र कीर्ति के समय बघेरबाल श्रेष्ठ संघी आल्हा ने बनाया था। इसी आगे की देव कुलिकायें वि०सं० १५७४ में उक्त सुरेन्द्र कीर्ति के समय हुबडजाति के मट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति के उपदेश से बनाई थीं। मूर्तियों में अधिकांश पर लेख हैं जो वि०सं० १६११ से १८६३ तक के हैं। लेख वाली मूर्तियों में ३८ दिग्म्बर सम्प्रदाय की और १८ श्वेताम्बरों की है। महाराणा जवानसिंह के एक बहुत बड़ा महोत्सव हुआ जिसमें श्वेताम्बरों ने वहाँ विशाल ध्वज दण्ड लगाया था, मन्दिर मराठों की लूट से भी प्रभावित हुआ था।

नागदा मेवाड़ में प्राचीन नगर है। यहाँ आलोक पार्श्वनाथ का दिग्म्बर जैनमन्दिर १०वीं शताब्दी का है। यह मन्दिर ऊँची पहाड़ी पर बना है। इसके आस-पास पहले दिग्म्बरों की बस्ती थी। 'मुनिसुन्दर की गुर्वावली' से पता चलता है कि इस तीर्थ को समुद्रसूरि नामक श्वेताम्बर साधु ने दिग्म्बरों से लिया था। शीलविजय और मेघ ने अपने तीर्थमालाओं में इस तीर्थ की बड़ी प्रशंसा लिखी है। यहाँ के पार्श्वनाथ मन्दिर का प्राचीनतम उल्लेख वि०सं० १२२६ के विजोलिया के शिलालेख में है। इस पार्श्वनाथ मन्दिर में वि०सं० १३५६ और १३५७ के शिलालेख भी लगे हुए हैं जो दिग्म्बर साधुओं के हैं। मध्यकालीन मन्दिरों में वि०सं० १३३१ के आसपास बना देव कुलिकाओं सहित श्वेताम्बर मन्दिर जिसमें वि०सं० १४८७ का महाराणा मोकल के राज्यकाल का एक अप्रकाशित शिलालेख भी लगा हुआ है। इसी मन्दिर के पास महाराणा कुम्भा के राज्यकाल में बना अद्भुत का मन्दिर है। यह मन्दिर अद्भुत जी की विशाल काय ९ फीट की पश्चासन काले पत्थर की प्रतिमा के लिए बहुत ही प्रसिद्ध है। यह प्रतिमा श्रेष्ठी सारंग ने बनवाई थी जो देलवाड़ा का रहने वाला था। यहाँ और भी कई खंडित मन्दिर हैं। एकलिंग मन्दिर के वि०सं० १०२८ के लकुलीश शिव मन्दिर के लेख में वर्णित है कि उस समय एक शास्त्रार्थ शैवों-बौद्धों और जैनों के मध्य हुआ था। सौभाग्य से इस घटना का उल्लेख काष्ठ-संघ की लाट बागड़ की गुर्वावली में भी है जिसमें वर्णित किया गया है कि राजा नरवाहन के राज्य में चित्तौड़ में प्रभाचन्द्र नामक साधु ने विकट शैवों को हराया था। ये प्रभाचन्द्र नामक साधु कहीं के थे, पता नहीं चला है, किन्तु एकलिंग जी के पास नागदा होने से वहाँ से भी सम्बन्धित होने की कल्पना की जा सकती है।

मध्यकालीन प्राचीन नगरों में देलवाड़ा (मेवाड़) बड़ा प्रसिद्ध है। इसे जैन ग्रन्थों में देवकुलपाटक लिखा गया है। यह बड़ा समृद्ध नगर था और नागदा के खंडित होने पर अधिकांश लेख या तो आहड़ चले गये या यहाँ आ बसे। इसकी समृद्धि का वर्णन सौम सौभाग्य काव्य, गुरु गुण रत्नाकर आदि मध्यकालीन काव्यों में है। प्रसिद्ध आचार्य सोम सुन्दर सूरि यहाँ कई बार पधारें थे। सबसे पहले वि०सं० १४५० में आये थे। उस समय राणा लाषा के मन्त्री रामदेव

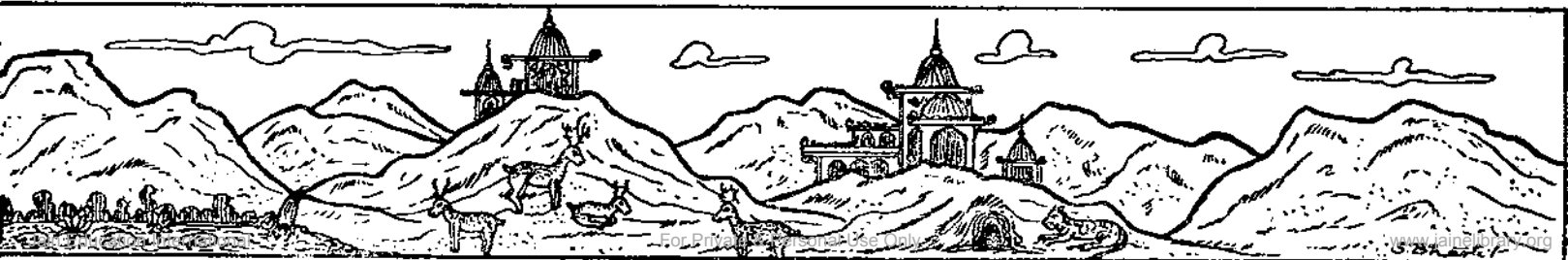
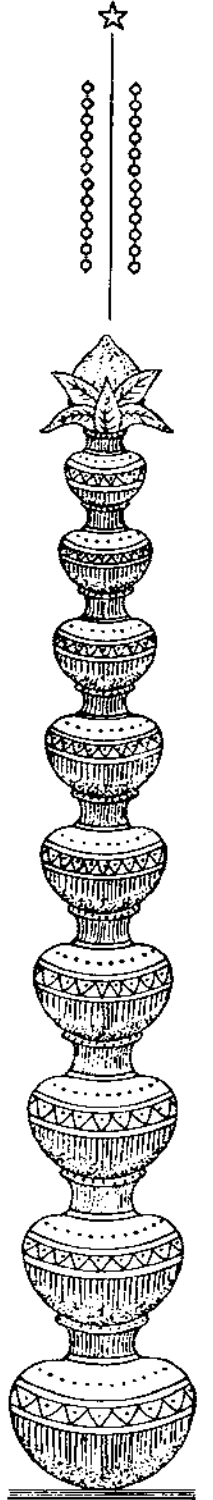


और राजकुमार चूडा ने इनका स्वागत किया था। इसके बाद श्रेष्ठि नीम्बा द्वारा प्रार्थना करने पर आचार्य सोम सुन्दर सूरि यहाँ आये थे। उस समय दीक्षा महोत्सव किया एवं भुवनसुन्दर को वाचक की उपाधि दी गई। यहाँ सहणपाल नामक श्रेष्ठि बहुत ही प्रतिष्ठित हुआ है। यह महाराणा मोकल और कुंभा के समय तक मंत्री था। इसकी माता मेलादेवी बड़ी प्रसिद्ध श्राविका थी जिसने कई ग्रन्थ लिखाये थे। ये खरतरगच्छ के श्रावक थे। इस परिवार का सबसे प्राचीनतम उल्लेख वि.सं. १४३१ का करेड़ा जैन मन्दिर का विज्ञप्ति लेख है। इस लेख के अनुसार बहाँ बड़ा प्रतिष्ठा महोत्सव किया गया था। उक्त विज्ञप्ति की प्रतिलिपि वि०सं० १४६६ में मेहनन्दन उपाध्याय द्वारा लिखी हुई मिली है। इसी मेहनन्दन उपाध्याय की मूर्ति १४६६ में मेलादेवी ने बनवाई थी जिसकी प्रतिष्ठा जिनवर्द्धन सूरि से कराई थी। जिन वर्द्धन सूरि की प्रतिमा वि०सं० १४७६ में उक्त परिवार ने दोलवाड़ा में स्थापित कराई थी जिसकी प्रतिष्ठा जिनचन्द्र सूरि से कराई थी। वि०सं० १४८६ में संदेह देलवाड़ा नामक ग्रन्थ भी इस परिवार ने लिखवाया था। वि०सं० १४६१ में आवश्यक वृद्ध वृत्ति ग्रन्थ लिखवाया था। वि०सं० १४६१ के देलवाड़ा के यति जी के लेख के अनुसार धर्मचिन्तमणि पूजा के निमित्त १४८के दाम देने का उल्लेख है। सहणपाल की बहिन खीमाई का विवाह श्रेष्ठि वीसल के साथ हुआ था। यह ईदर का रहने वाला था। सोम सौभाग्य काव्य और गुरु गुण रत्नाकर काव्यों में इसके सुमराल पक्ष का विस्तार से उल्लेख मिलता है। वीसल का पिता वत्सराज था जो ईदर के राजा रणमल का मन्त्री था। इसके ४ पुत्र थे (१) गोविन्द, (२) वीसल, (३) अक्रूरसिंह और (४) हीरा। गोविन्द ने सोमसुन्दर सूरि आचार्य के निदेशन में संघ निकाला था। वीसल स्थायी रूप से महाराजा लाखा के कहने पर मेवाड़ में ही रहने लग गया था। यहाँ का पिछोलिया परिवार बड़ा प्रसिद्ध था। इनके वि०सं० १४६३ और १५०३ के शिलालेख मिले हैं। पं० लक्ष्मणसिंह भी यहीं हुए थे। यहाँ कई ग्रन्थ लिखे गये थे। प्रसिद्ध "सुपासनाह चरिय" वि०सं० १४८० में महाराणा मोकल के राज्य में यही पूर्ण हुआ था जिसमें पश्चिमी चित्र शैली के कई उत्कृष्ट चित्र हैं।

करहेडा मेवाड़ के प्राचीन जैन तीर्थों में से है। यहाँ की एक मूर्ति पर वि०सं० १०३६ का का शिलालेख है जिसमें सडेर गच्छ के यशोभद्र सूरि के शिष्टि श्यामाचार्य का उल्लेख है। यशोभद्र का उल्लेख वि०सं० ६६६ के एक संदर्भ में पाली नगर में हुआ है। करेड़ा के कई मूर्तियों के लेख मिले हैं जो १३वीं से १४वीं शताब्दी के हैं। इस विशाल-काय मन्दिर की बड़ी मान्यता मध्यकालीन साहित्य में रही है। श्रेष्ठि रामदेव नवलखाने वि०सं० १४३१ में खरतरगच्छ के आचार्य जिनोदय सूरि से कराया था। इस समय दीक्षा महोत्सव भी कराया गया। इसमें कई अन्य परिवार की लड़कियां और लड़कों को दीक्षा दी गई। मन्दिर का जीर्णोद्धार रामदेव मन्त्री द्वारा कराया गया। और प्रतिष्ठा महोत्सव भी उसी समय कराया गया। इसी समय लिखा विज्ञप्ति लेख में इसका विस्तार से उल्लेख है। इसी मन्दिर में वि० सं० १५०६ में महाराणा कुंभा के शासनकाल में भी कई मूर्तियां स्थापित कराई गईं।

उदयपुर नगर में संभवतः कुछ मन्दिर इस नगर की स्थापना के पूर्व के रहे होंगे। आहड़ एक सुसम्पन्न नगर था। यहाँ के जैन मन्दिरों में लगे लेखों से पता चलता है कि ये मन्दिर संभवतः प्रारम्भ में १०वीं शताब्दी के आसपास बने होंगे। महाराणा सांगा और रतनसिंह के समय यहाँ के जैन मन्दिरों का जीर्णोद्धार हुआ। आहड़ के दिगम्बर जैन मन्दिर के शिलालेख और मीलवाड़े के एक मन्दिर में रखी के लेख के अनुसार उस समय बड़ा प्रतिष्ठा महोत्सव हुआ। महाराणा जगतसिंह के समय उदयपुर नगर में कई जैन मन्दिर बने। महाराणा राजसिंह के समय बड़े बाजार का दिगम्बर जैन मन्दिर बना। चौगान का सुप्रसिद्ध मन्दिर महाराणा अरिसिंह के समय बना था। मेवाड़ में जैन श्वेताम्बर श्रेष्ठि दीर्घकाल से शासन तन्त्र में सक्रिय भाग लेते आ रहे थे। अतएव उनके प्रभाव से कई मन्दिर बनाये जाते रहे हैं।

सबसे उल्लेखनीय घटना मन्दिर की पूजा के विरोध के रूप में प्रकट बाईस सम्प्रदाय है। मेवाड़ में इसका उल्लेखनीय प्रचार भामाशाह के परिवार द्वारा कराया गया था। इसका इतना अधिक प्रभाव हुआ है कि केन्द्रीय मेवाड़ में आज मन्दिर मानने वाले अल्प मात्रा में रह गये। इसी सम्प्रदाय से पृथक होकर आचार्य भिक्षु ने तेरापथ की स्थापना मेवाड़ में राजनगर नामक स्थान से की थी। वर्तमान में इन दोनों सम्प्रदायों का यहाँ बड़ा प्रभाव है।



मेवाड़ की सांस्कृतिक संपदा के उन्नयन में जैन-धर्म का अपूर्व योगदान रहा है। शिल्प, स्थापत्य, साहित्य राजनीति एवं व्यापार-उद्योग आदि क्षेत्रों में जैनधर्म की भूमिका का ऐतिहासिक विहंगवावलोकन यहाँ प्रस्तुत है।

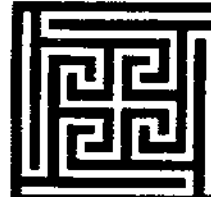
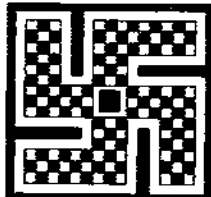
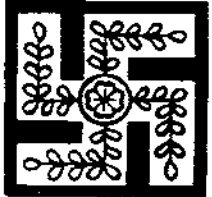
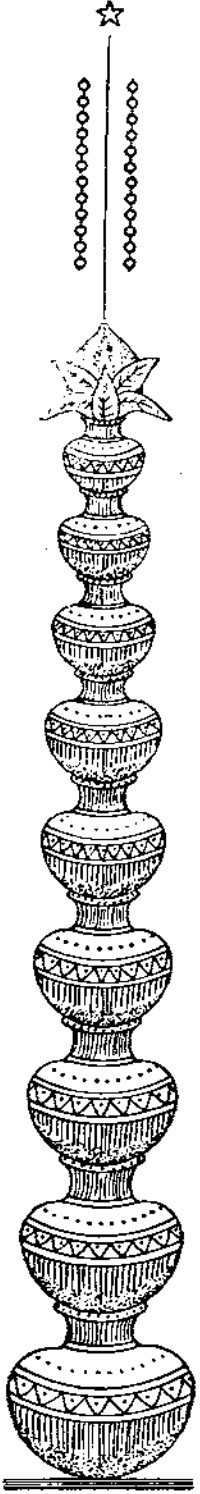
□ श्री बलवन्तसिंह मेहता
[रैन बसेरा, उदयपुर]

मेवाड़ और जैनधर्म

मेवाड़ में जैन धर्म उतना ही प्राचीन है जितना कि उसका इतिहास। मेवाड़ और जैन धर्म का मणिकाञ्चन का संयोग है। मेवाड़ आरम्भ ही से जैन धर्म का एक प्रमुख केन्द्र रहा है। मेवाड़ भारत वर्ष के प्राचीनतम स्थानों में से है और आरम्भ से ही शौर्य प्रधान रहा है। भारतवर्ष में सिन्धुघाटी सभ्यता काल के और पूर्व ऐतिहासिक काल के यदि कहीं नगर मिलेंगे तो मेवाड़ में ही पाये जायेंगे और उनके नामकरण भी जैन धर्म की मूल भाषा अर्धमागधी में और वे भी सुन्दर रूप में। आयड़ की सभ्यता महेन्द्रादोरा के समान प्राचीन और चित्तौड़ के पास मज्जिमिका महाभारत कालीन नगर पाये गये हैं जो जैन धर्म के बड़े केन्द्र रहे हैं। शारदापीठ बसन्तगढ़ जैनियों का प्राचीन सांस्कृतिक शास्त्रीय नगर रहा है। संसार के प्रथम सहकार एवं उद्योग केन्द्र जावर का निर्माण और उसके संचालन का श्रेय प्रथम जैनियों को ही मेवाड़ में मिला है। दशार्णपुर जहाँ भगवान महावीर के पदार्पण, आर्य रक्षित की जन्म भूमि और आचार्य महागिरी के तपस्या करने के शास्त्रीय प्रमाण हैं और नागादियाणा और नादियों में भगवान महावीर की जीवन्त प्रतिमाएँ मानी गई हैं वे सब इसी मेवाड़ की भूमि के अंग रहे हैं। आज भी ऋषभदेव केसरियाजी जैसा तीर्थ भारतवर्ष में अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। और राणकपुर जैसा गोठवण शिल्पयोजना का भव्य विशाल व कलापूर्ण मन्दिर अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। चित्तौड़गढ़ जो भारतवर्ष का एकमात्र क्षात्रधर्म का तीर्थ माना जाता है शौर्य जैन राजा चित्रांग का बसाया हुआ है और बौद्धों और जैनियों का समान रूप से वन्दनीय तीर्थ स्थान ही नहीं रहा किन्तु प्रायः सब ही जैनाचार्यों की कर्म-भूमि, धर्मभूमि और उनकी विकासभूमि भी रही है। भारत के महानतत्त्व विचारक, समन्वय के आदि पुरस्कृता, अद्वितीय साहित्यकार एवं महान शास्त्रकार हरिभद्र सूरि और अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति की एकमात्र विदुषी एवं तपस्विनी साध्वी याकिनी महतरा की यह जन्म भूमि है। जैन जगत के मार्तण्ड सिद्धसेन चित्तौड़ की साधना के बाद ही दिवाकर के रूप में प्रगट हुए। जैन धर्म में फैले हुए अनाचार को मिटा उसे शुद्ध रूप में प्रकट करने के लिए जिन वल्लभ सूरि ने गुजरात से आकर यहीं से आन्दोलन आरम्भ किया जो सफल हो, देश में सर्वत्र फैल गया है। हरिभद्रसूरि और जिनदत्त सूरि ने लाखों व्यक्तियों को प्रति बोधित कर उन्हें अहिंसक बनाया, उसका आरम्भ भी यहीं से हुआ। अशोक के समान बौद्ध धर्म का प्रचार करने वाला यदि जैन धर्म में कोई हुआ तो वह था उसका पौत्र संप्रति। मेवाड़, मालवा और सम्पूर्ण पश्चिमी भारत उसके हिस्से में होने से पूर्ण रूप से जीव हिंसा का निषेध था और चित्तौड़ में ७वीं शताब्दी तक उसी के वंशज मौर्यों का ही राज्य रहा है। किन्तु मेवाड़ के शैव राजाओं पर भी जैन धर्म का प्रभाव बढ़ते-बढ़ते इतना बढ़ गया था कि चित्तौड़ के रावल तेजसिंह ने तो परम भट्टारक की जैन पदवी धारण की और उसके पुत्र समरसिंह ने, अंचल गच्छ के अभितसिंह सूरि के उपदेश से सम्पूर्ण मेवाड़ राज्य में जीव हिंसा निषेध की आज्ञा इसी चित्तौड़ भूमि से निकाली गई। आयड़ में घोर तपस्या करने वाले जगतचन्द्र सूरि को तपा का विरुद्ध दे, तपागच्छ की स्थापना करने वाले, महाप्रतापी चित्तौड़ के ही राजा जैत्रसिंह थे।

सिसोदिया साडंयरा, चौदसिया, चौहान।

चैत्यवासिया चावड़ा, कुलगुरु एह प्रमाण ॥



सेडरगच्छ को अपना कुल गुरु ही नहीं माना किन्तु इसके बहुत काल पहले इस राजवंश के कई राजपुत्र जैन धर्म में प्रव्रजित हो धर्म प्रचार में निकल पड़े जिनमें छठी शताब्दी के समुद्रविजय बहुत ही प्रभावकारी साधु हुए। छठी शताब्दी से १३ शताब्दी तक का काल जैन धर्म का स्वर्णकाल माना जा सकता है। कुंभा के समय जैन स्थापत्य कला चरम विकास पर पहुँच चुकी थी। राणकपुर का त्रिलोक्य दीपक के समान कला और गोठवण का मन्दिर भारत में अन्यत्र कहीं नहीं मिलेगा। चित्तौड़ तथा नागदा और एकलिंगजी आदि स्थानों में जितने भी भव्य और विशाल हिन्दू मन्दिर दिखाई पड़ेंगे उनमें जैन मूर्ति अंकित मिलेगी। कुंभा के समय कुछ ऐसे मन्दिरों और स्थानों के निर्माण हुए हैं जिनके निर्माण कराने में बड़े-बड़े राज्य भी कर्नल टाड के अनुसार हिचकते थे। दशवीं शताब्दी का जैन कीर्ति स्तम्भ तो भारत-वर्ष में अपने ढंग की एक ही कला कृति है। मेवाड़ में आज भी जितने जैन मन्दिर हैं उस परिमाण में सब धर्मों के मिलाकर भी नहीं मिलेंगे। कला और भव्यता में तो इनके सानी के बहुत ही कम मिलेंगे। कुंभा ने तो अपने जैन कुलगुरु के अतिरिक्त एक और जैन साधु को अपना गुरु बनाया। भारत के अन्तिम सम्राट सांगा का धर्मगुरु रत्नसूरि की अगवानी के लिए अपने पूरे लवाजमें के साथ कई कोसों दूर जाना इतिहास प्रसिद्ध घटना है। क्षात्र धर्म की प्रतिमूर्ति महाराणा फतहसिंह का ऋषमदेव को हीरों की, लाखों रुपयों की आंगी चढ़ाना ऐतिहासिक तथ्य है। बिजोलिया का चढ़ान का उन्नत शिखर प्रमाण भी भारत में एक ही है। मेवाड़ मानव सभ्यता के आदिकाल से ही शौर्य प्रधान रहा है जिसे जैनधर्म ने अहिंसा की गरिमा से अनुप्राणित कर अपनी मूल मान्यता कम्मसूरा से अनुकूल बना लिया। यही कारण है कि मेवाड़ में जैन धर्म के उत्कर्ष का जो वसंत खिला, वैसा अन्यत्र मुश्किल से मिलेगा। यहाँ जैन के सब ही संप्रदायों ने पुर जोर से अहिंसा व धर्म-प्रचार में हाथ बँटाया। तपागच्छ और तेरापंथ सम्प्रदाय का तो उद्गम स्थान ही मेवाड़ रहा। स्थानकवासी समाज का आरम्भ से ही प्रभाव पाया जाता है। श्वेताम्बर समाज में आज भी सबसे अधिक संख्या उन्हीं की है। उनकी मेवाड़ शाखा अलग ही एक शाखा रूप में कार्य कर रही है।

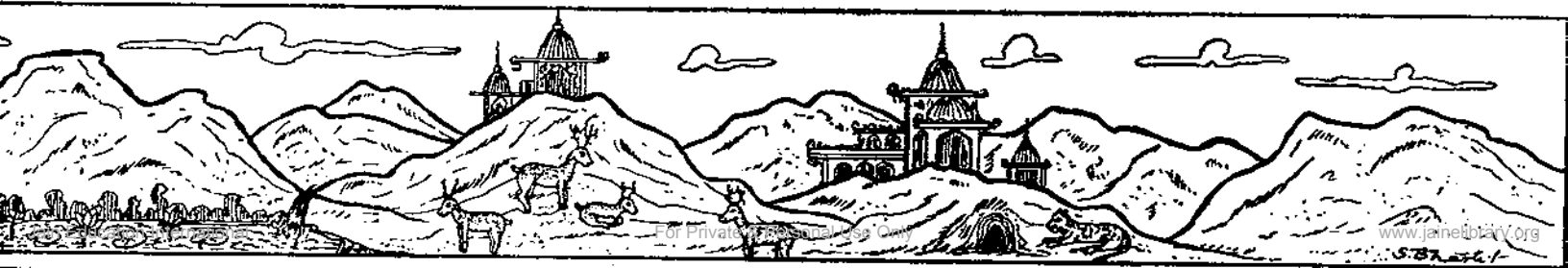
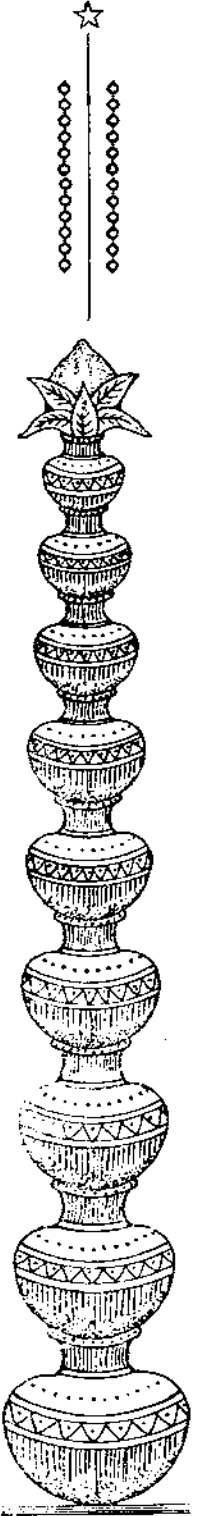
पूज्य श्री रोड़ जी स्वामी (तपस्वीराज) पूज्य श्री मान जी स्वामी, पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज इसी शाखा के ज्योतिर्मय संत रत्न थे। मेवाड़ में स्थानकवासी सम्प्रदाय को पल्लवित पुष्पित करने का सर्वाधिक श्रेय इस शाखा को ही है।

जैन मुनि आचार्य श्री जवाहरलाज जी व उनके शिष्य पं० रत्न श्री घासीलाल जी द्वारा यहाँ काफी साहित्य का निर्माण हुआ और अहिंसा धर्म का पालन रहा। जैन दिवाकर मुनि श्री चौथमल जी महाराज ने हजारों व्यक्तियों को मांस मदिरा का त्याग करा उनके जीवन को उन्नत किया। भामासाह और ताराचंद लोंकामत के अनुयायी होने से उन्होंने हजारों व्यक्तियों को अहिंसा में प्रवृत्त किया। दिगम्बर सम्प्रदाय का आठवीं शताब्दी से १३वीं तक बड़ा प्राबल्य रहा। एलाचार्य आदि बड़े-बड़े मुनियों के यहाँ चित्तौड़ आ अहिंसा व साहित्य साधना के उल्लेख पाये जाते हैं। इसके बाद इनका प्रभाव क्षेत्र बागड़ बन गया। और बागड़ को पूरा अहिंसक क्षेत्र बना डाला।

जब शैव और जैन, बौद्ध धर्म के बीच इतना विषम वैमनस्य व्याप्त हो गया कि दक्षिण में शैव बौद्धों के साथ जैनियों की भी हत्या कर रहे थे वहाँ मेवाड़ में शैव और जैन धर्म में इतना आश्चर्यजनक सौमनस्य था कि राजा शैव थे तो उनके हाथ जैनी थे अर्थात् शासन प्रबन्ध के सभी पदों का संचालन जैनियों द्वारा होता था। यही नहीं राजा को आत्मा शैव थी तो देह जैन थी।

मेवाड़ में जैन धर्म का इतना वर्चस्व बढ़ा कि राजद्रोही, चोर, डाकू और बंदीगृह से भागे कैदी भी यदि जैन उपाश्रय में शरण ले लेते तो उन्हें बंदी नहीं कर सकने की राजाज्ञा थी। बध के लिये ले जाया जा रहा पशु यदि जैन उपाश्रय के सामने आ जाता तो उसे अमयदान दे दिया जाता था।

मेवाड़ की भूमि ऐसी सौभाग्यशालिनी भूमि रही है जहाँ जैन धर्म के तीन-तीन तीर्थकरों, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और भगवान महावीर के पद पदमों से इस भूमि के पावन होने की सम्भावना शोध से फलवती हो सकती है। आवश्यक घूर्णिका के अनुसार महावीर के पट्टधर गौतम स्वामी का अपनी शिष्य मंडली सहित मेवाड़ में आने का उल्लेख है। जैन धर्म की दूसरी संगति के अध्यक्ष स्कण्डिलाचार्य के पट्टधर सिद्धसेन दिवाकर ने तो अवन्तिका का त्याग कर मेवाड़ को ही अहिंसा धर्म प्रसार की कर्मभूमि बनाया। दूसरी शताब्दी पूर्व के 'भूतानाम् दयार्थ' के जैन शिलालेख से इस मेवाड़ भूमि



का अहिंसा की आदि भूमि होना प्रमाणित है। दूसरी संगति में मेवाड़ का प्रतिनिधित्व करने वाले जैनाचार्यों को 'मज्झनिया शाखा' से संबोधित कर विशेष सम्मान प्रदान करना और महावीर के निर्वाण के केवल ८४ वर्ष बाद का शिलालेख मज्झनिका में पाया जाना भी मेवाड़ के आदि जैन केन्द्र होने के प्रमाण हैं।

तीर्थंकरों के पद पद्म के पावन परस से उपकृत होकर मेवाड़ की भूमि ने अपनी कोख से ऐसी-ऐसी जैन विभूतियों को जन्म दिया जिनके कृतित्व-व्यक्तित्व ने समूचे भारत के जनजीवन को प्रेरित-प्रभावित किया और जैन धर्म की मूल प्राण शक्ति अहिंसा के प्रचार-प्रसार के साथ अपनी चमत्कारिणी धर्मपरायणता, दर्शन, साहित्य, कला, काव्य, व्यापार, वाणिज्य, वीरता, शौर्य, साहस व कर्मठता की ऐसी अद्भुत देन दी जिससे उनकी कीर्ति प्रादेशिक सीमाओं के पार पहुँच कर भारतीय इतिहास के स्वर्णिम पृष्ठों की गौरव गाथाएँ बन गयीं।

जैन जगत के मार्तण्ड सिद्धसेन ने विक्रमादित्य की राजसभा का नवरत्न पद त्याग कर मेवाड़ में जीवन पर्यन्त के कृतित्व-व्यक्तित्व से जैन जगत द्वारा दिवाकर की पदवी प्राप्त की। आयड़ में भारत भर के जैन व्यापारियों ने इसे व्यापार का केन्द्र बना कर कई मन्दिरों के निर्माण से जैन धर्म को लोक धर्म बनाया। प्रद्युम्नसूरि ने आयड़ के राजा अल्लट से श्वेताम्बर सम्प्रदाय को राज्याश्रय प्रदान करवाया। अल्लट ने सारे राज्य में विशिष्ट दिनों में जीव हिंसा तथा रात्रि भोजन निषेध कर दिया। उसकी रानी हूण राजकुमारी हरियादेवी ने आयड़ में पार्ष्वनाथ का विशाल मन्दिर बनवाया। अल्लट के बाद राजा वीरसिंह के समय आयड़ में जैन धर्म के बड़े-बड़े समारोह हुए और ५०० प्रमुख जैनाचार्यों की एक महत्त्वपूर्ण संगति आयोजित हुई। वीरसिंह के काल में असंख्य लोगों को जैन धर्म में दीक्षित कर अहिंसा जीवन की शिक्षा दी तथा सहस्रों विदेशियों को जैन धर्म में दीक्षित कर उनका भारतीयकरण किया गया। आयड़ में महारावल जैत्रसिंह के अमात्य जगतसिंह ने ऐसी घोर तपस्या की कि जैत्रसिंह ने उन्हें तपाकी उपाधी दी और यहीं से 'तपामच्छ' निकला है। जिसके आज भी श्वेताम्बर मूर्ति पूजकों के सर्वाधिक अनुयायी हैं।

बसंतपुर में आराधना के लिए आये हेमचन्द्राचार्य और विद्यानन्द ने यहाँ सिद्धि प्राप्त की और अपने व्याकरण ग्रन्थ लिखे।

मज्झमिका, आयड़, बसंतपुर के साथ ही जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र चित्तौड़ था। यहाँ श्वेताम्बर और दिगम्बर सम्प्रदाय के भारत प्रसिद्ध आचार्य आये और इसी भूमि को जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का केन्द्र बनाकर कीर्ति अर्जित की।

जैन साहित्य

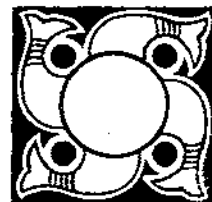
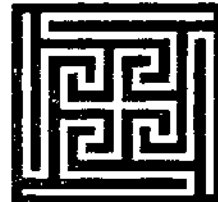
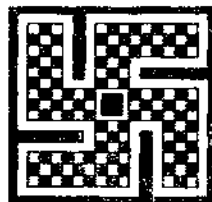
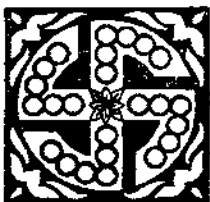
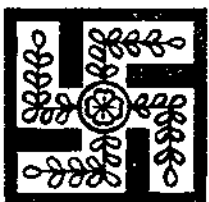
सर्व दर्शन समुच्चय, शास्त्र चार्ता समुच्चय, समराईचकहां, धर्मबिन्दु, योग बिन्दु, अनेकांतवाद-प्रवेश, अनेकांतजयपताका, प्राकृत में प्रकरण ग्रन्थ एवं संस्कृत के अन्ध ग्रन्थ व लेख—हरिभद्रसूरि की महान साहित्यिक देन तथा जैन धर्म के प्रमुख ग्रन्थ हैं। षडशीति सार्द्धशतक, स्वप्न सप्तति, प्रश्नोत्तरैकषष्टिशतक, अष्ट सप्तति आदि जिन-दत्त सूरि के प्रमुख ग्रन्थ हैं। प्रत्येक बुद्ध चरित्र, वाग्मटालंकार वृत्ति तथा तीर्थमाला जिनवर्द्धन सूरि के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

धर्म प्रचारक साहित्यानुरागी श्रावक

लल्लिग, जिसे हरिभद्रसूरि के कई ग्रन्थों का आलेखन कराया। आशाधर श्रावक बहुत बड़े विद्वान थे। लोल्लाक श्रावक ने बिजौलिया में उन्नत शिखर पुराण खुदवाया। धरणाशाह ने जिवामिगम सूत्रावली, ओधनिर्युक्ति सटीक, सूर्य प्रज्ञप्ति, सटीक अंग विद्या, कल्प भाष्य, सर्व सिद्धान्त विषय पद पर्यय व छंदोनुशासन की टीका करवायी। चित्तौड़ निवासी श्रावक आशा ने 'कर्म स्तव विपाक' लिखा। डूंगरसिंह (थीकरण) ने आयड़ में "ओधनिर्युक्ति" पुस्तिका लिखी। उद्धरमुत्तु हेमचन्द्र ने "दशवैकालिक पाक्षिकसूत्र" व ओधनिर्युक्ति लिखी। वयजल ने आयड़ में पाक्षिक वृत्ति लिखी।

जैन वीर

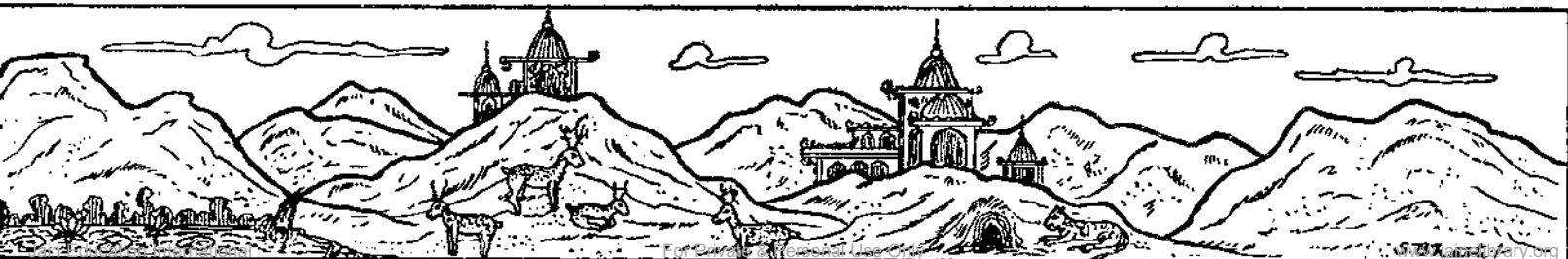
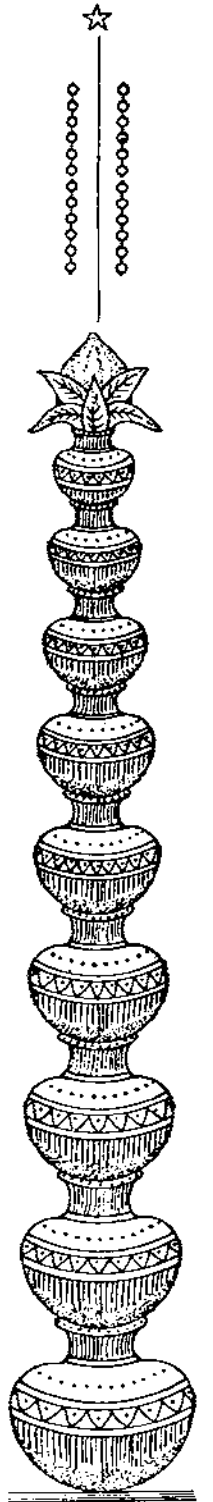
अलवर निवासी भारमल जैन कावड़िया को राणा सांगा ने रणथम्भोर का किलेदार व अपने पुत्र



विक्रमादित्य तथा उदयसिंह का अभिभावक नियुक्त किया। इन्होंने बाबर की कूटनीति से मेवाड़ राज्य के प्रवेश द्वार रणधम्मौर की रक्षा की तथा चित्तौड़ के तीसरे साफे में वीरगति प्राप्त की। इनके पुत्र भामाशाह राणा प्रताप के सखा, सामंत, सेनापति व प्रधानमंत्री थे। इन्होंने मेवाड़ के स्वतन्त्रता संग्राम में तन, मन, धन सर्वस्व समर्पण कर दिया। ये हल्दी घाटी व दिवेर के युद्धों में मेवाड़ के सेनापति रहे तथा मालवा व गुजरात की लूट से इन्होंने प्रताप के युद्धों का आर्थिक संचालन किया। भामाशाह के भाई ताराचन्द हल्दीघाटी के युद्ध की वीर्य हरावल के मेवाड़ सेनापति थे। इन्होंने जैन ग्राम के रूप में वर्तमान मींडर की स्थापना की तथा हेमरत्नसूरि से पद्मणि चरित्र की कथा को पद्य में लिखवाया और संगीत का उन्नयन किया। दयालदास अन्य जैन वीर हुए जिन्होंने अपनी ही शक्ति से मेवाड़ की स्वतन्त्रता के शत्रुओं का इतिहास में अनुपम प्रतिशोध लिया। मेहता जलसिंह ने अलाउद्दीन के समय चित्तौड़ हस्तगत करने में महाराणा हम्मौर की सहायता की। मेहता चिहल ने बलबीर से चित्तौड़ का किला लेने में महाराणा उदयसिंह की सहायता की। कोठारी भीमसिंह ने महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय द्वारा मुगल सेनापति रणबाज खाँ के विरुद्ध लड़े गये युद्ध में वीरता के उद्भूत जोहर दिखाकर वीरगति प्राप्त की। मेहता लक्ष्मीचन्द ने अपने पिता मेवाड़ी दीवाननाथजी मेहता के साथ कई युद्धों में भाग लेकर वीरता दिखायी और खाचरोल के घाटे के युद्ध में वीरगति प्राप्त की। मांडलगढ़ के किलेदार मेहता अगरचन्द ने मेवाड़ राज्य के सलाहकार व प्रधानमंत्री के रूप में सेवा की तथा मराठों के विरुद्ध हुए युद्ध में सेनापति के रूप में वीरता के जोहर दिखाये और महाराणा अरिसिंह के विषम आर्थिक काल में मेवाड़ की सुव्यवस्था की। इनके पुत्र मेहता देवीचन्द ने मेवाड़ को मराठों के आतंक से मुक्त कर मांडलगढ़ में उन्हें अपनी वीरता से करारा जवाब दिया। बाद में ये भी अपने पिता की भाँति मेवाड़ के दीवान बनाये गये और उन्होंने भी आर्थिक संकट की स्थिति में राज्य की सुव्यवस्था की। तोलाशाह महाराणा सांगा के परम मित्र थे। इन्होंने मेवाड़ के प्रधानमंत्री पद के सांगा के प्रस्ताव को विनम्रता से अस्वीकार किया किन्तु अपने न्याय, विनय, दान, ज्ञान से बहुत कीर्ति अर्जित की। इन्हें अपने काल का कल्पवृक्ष कहा गया है। इनके पुत्र कर्माशाह सांगा के प्रधानमंत्री थे। इन्होंने सहजादे की अवस्था में बहादुरशाह को उपकृत कर शत्रुञ्जय के जीर्णोद्धार की आज्ञा प्राप्त की और करोड़ों रुपया व्यय कर शत्रुञ्जय मन्दिरों का जीर्णोद्धार कराया। इनके अतिरिक्त और कई जैन प्रधानमंत्री हुए जिन्होंने मेवाड़ राज्य की अविस्मरणीय सेवाएँ कीं। महाराणा लाखा के समय नवलखा गोत्र के रामदेव जैनी प्रधानमंत्री थे। महाराणा कुम्भा के समय बेला मण्डारी तथा गुणराज प्रमुख धर्मधुरीण व्यापारी व जैन वीर थे। इसी समय रत्नसिंह ने राणपुर का प्रसिद्ध मन्दिर बनवाया। महाराणा विक्रमादित्य के समय कुम्भलगढ़ के किलेदार आशाशाह ने बाल्य अवस्था में राणा उदयसिंह को संरक्षण दिया। मेहता जयमल बच्छावत व मेहता रतनचन्द खेतावत ने हल्दीघाटी के युद्ध में वीरता दिखाकर वीरगति प्राप्त की। महाराणा अमरसिंह का मन्त्री भामाशाह का पुत्र जीताशाह था और महाराणा कर्मसिंह का मन्त्री जीवाशाह का पुत्र अक्षयराज था। महाराणा राजसिंह का मन्त्री दयालशाह था। महाराणा भीमसिंह के मन्त्री सोमदास गाँधी व मेहता मालद मालदास थे। सोमदास के बाद उसके भाई सतीदास व शिवदास मेवाड़ राज्य के प्रधानमंत्री रहे। महाराणा भीमसिंह के बाद रियासत के अन्तिम राजा महाराणा भूपालसिंह तक सभी प्रधानमंत्री जैनी रहे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मेवाड़ राज्य के आरम्भ से अन्त तक सभी प्रधानमंत्री जैनी थे। इन मन्त्रियों ने न केवल मेवाड़ राज्य की सीमा की कार्यवाहियों के संचालन तक अपने को सीमित कर राज्य की सुव्यवस्था की बल्कि अपने कृतित्व-व्यक्तित्व से जन-जीवन की गतिविधियों को भी अत्यधिक प्रभावित किया और इस राज्य में जैन मन्दिरों के निर्माण व अहिंसा के प्रचार प्रसार के भरसक प्रयत्न किये। हम पाते हैं कि जिन थोड़े कालों में दो-चार अन्य प्रधानमंत्री रहे उन कालों में मेवाड़ राज्य में व्यवस्था के नाम पर बड़ी विषम स्थितियाँ उत्पन्न हुईं। इसलिये मेवाड़ के इतिहास में स्वर्णकाल में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले जैन अमात्यों के वंशधरों को महाराणाओं ने इस पद के लिये पुनः आमन्त्रित किया और बाद में यह परम्परा ही बन गई कि प्रधानमंत्री जैनी ही हो।

यहाँ जैन लोगों ने इतिहास के निर्माण में भी बड़ी सही भूमिका निभायी। राजपूताने के मुणहोत नैणसि के साथ कर्नलटाड के गुरु यति ज्ञानचन्द, नैणसि के इतिहास के अनुवादक इंगरसिंह व मेहता पृथ्वीसिंह का नाम इतिहासज्ञों में उल्लेखनीय है, तो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजयी ने ऐतिहासिक सत्यों-तथ्यों के संग्रह से



इतिहास के मूल्यों का सुरक्षात्मक संडारण कर शोधार्थियों के लिये वरदान स्वरूप महान कार्य किया। आपको गांधीजी ने साग्रह गुजरात विद्यापीठ का प्रथम कुलपति बनाया। आप जर्मन अकादमी के अकेले भारतीय फेलो हैं। आपकी सेवाओं के उपलक्ष्य में आपको राष्ट्रपतिजी ने पद्मश्री प्रदान कर समाहृत किया। विज्ञान के क्षेत्र में श्री दीलतसिंह कोठारी अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक हैं। आपने स्वेच्छा से भारत के शिक्षामन्त्री का पद नहीं स्वीकार किया। आप भारत की सैनिक अकादमी के प्रथम अध्यक्ष बनाये गये और विश्वविद्यालय अनुदान आयोग के अध्यक्ष पद से आपने अवकाश प्राप्त किया। आपको राष्ट्रपतिजी ने पद्मविभूषण प्रदान कर समाहृत किया। डा० मोहनसिंह मेहता को भी विदेशों में भारतीय प्रशासनिक सेवा व शिक्षा में सेवाओं के उपलक्ष्य में पद्मविभूषण से समाहृत किया गया है। श्री देवीलाल सांभर ने भारतीय लोक कलाओं के उन्नयन में महान कार्य किया है। आपने अन्तर्राष्ट्रीय कठपुतली प्रति-योगिता में भारत का प्रतिनिधित्व कर विश्व का प्रथम पुरस्कार प्राप्त किया। आप भारतीय लोककला मंडल के संचालक एवं राजस्थान संगीत नाटक अकादमी के अध्यक्ष हैं।

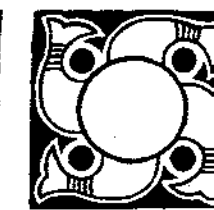
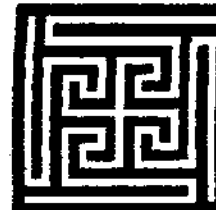
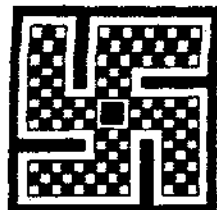
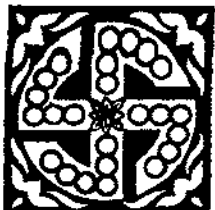
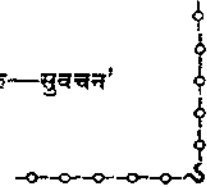
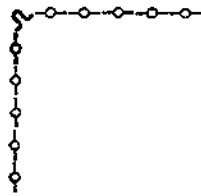
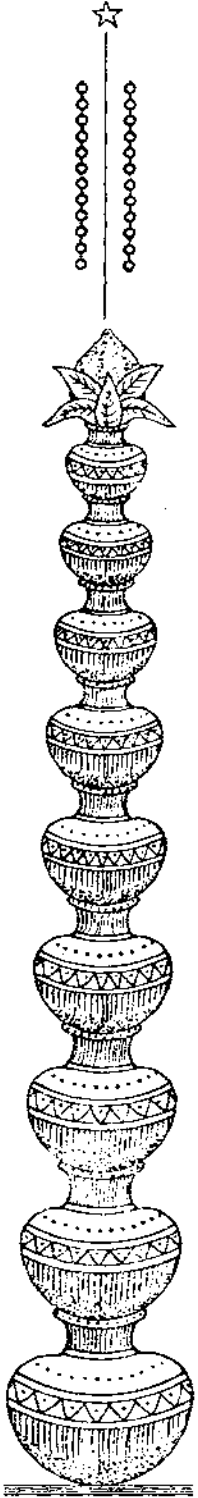
इस प्रकार हम पाते हैं कि मेवाड़ के इतिहास व जैन धर्म तथा मेवाड़ के जीवन क्षेत्रों व जैनियों की कृपि, वाणिज्य, वीरता व प्रशासन कुशलता की चतुर्मुखी गतिविधियों में इतना सगुम्फन है कि इन्हें हम पृथक कर ही नहीं पाते। जैनियों में मेवाड़ के धर्म, अर्थ, कर्म, ज्ञान, भक्ति, शक्ति सभी की चरम सीमा तक प्रभावित किया है और अपने अहिंसाजीवी जैन धर्म के प्रचार-प्रसार में ये लोग पूर्ण पराकाष्ठा पर पहुँचे हैं।

मेवाड़ ही देश भर में एक ऐसा राज्य कहा जा सकता है जो पूर्ण अहिंसा राज्य रहा है। यहाँ के राजाओं—महाराणा कुम्भा, महाराणा सांगा, महाराणा प्रताप, महाराणा जगतसिंह, महाराणा राजसिंह ने अपने शासनकाल में अहिंसा के प्रचार-प्रसार व हिंसा की रोकथाम की जैन धर्मानुकूल राजाजार्ये प्रसारित की हैं। यही नहीं राजस्थान शासन तक ने विशिष्ट दिनों में जीव हत्या व हिंसा का निषेध तथा अहिंसा के सम्मान के राजाजार्ये स्वराज्य के लागू होते ही सन् १९५० में ही प्रसारित की हैं।

अतः हम कह सकते हैं कि मेवाड़ राज्य पूर्ण अहिंसा राज्य था। इसके मूल स्वर शौर्य को जैन धर्म ने अहिंसा की व्यावहारिक अभिव्यक्ति दी। मेवाड़ न केवल जैन धर्म के कई मतों, पंथों, मार्गों व गच्छों का जनक है बल्कि मेवाड़ में जैन धर्म के चारों ही सम्प्रदाय इसके समान रूप से सुदृढ़ स्तम्भ हैं।

तुम स्वाद को नहीं, पथ्य को देखो ;
तुम वाद को नहीं, सत्य को देखो
तुम नाद को नहीं, कथ्य को देखो,
तुम तादाद को नहीं, तथ्य को देखो ।

—'अम्बागुरु—सुवचन'



□ डा० देव कोठारी

[उपनिदेशक—साहित्यसंस्थान, राजस्थान
विद्यापीठ, उदयपुर]

मेवाड़ की राजनीति में जैनों का योगदान अविस्मरणीय है। भामाशाह का विश्वविश्रुत समर्पण तथा अन्य अनेक जैन महामंत्रियों, वीरों और दानियों का बलिदान मेवाड़ की गौरवगाथा में वैसे ही जुड़े हैं—जैसे फूल में सौरभ।

मेवाड़ राज्य की रक्षा में जैनियों की भूमिका

□

मेवाड़ में जैनधर्म के प्रादुर्भाव का प्रथम उल्लेख ईसा की पाँचवीं शताब्दी पूर्व से मिलता है। भगवान महावीर के निर्वाण के ८४ वर्ष पश्चात् ही उत्कीर्ण बड़ली^१ के शिलालेख में मेवाड़ प्रदेश की 'मज्जमिका'^२ नगरी का सन्दर्भ है। मौर्य सम्राट अशोक के पौत्र एवं अवन्ति के शासक सम्प्रति के समकालीन आचार्य आर्य सुहस्ती के द्वितीय शिष्य प्रियग्रन्थ ने ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी में 'कल्पसूत्र स्थविरावली' के अनुसार जैन श्रमण संघ की 'मज्जमिका' शाखा की यहीं स्थापना की थी।^३ मथुरा से प्राप्त प्रस्तर लेखों में भी 'मज्जमिकाशाखा' के साधुओं के उल्लेख उपलब्ध होते हैं।^४ मौर्यकाल में जैन संस्कृति के सुप्रसिद्ध केन्द्र के रूप में प्रतिष्ठित यह मज्जमिका नगरी कालान्तर में विदेशी आक्रमणों से क्रमशः ध्वस्त होती गई,^५ किन्तु जैनधर्म अपने अस्तित्व की रक्षा एवं प्रसार के प्रयास में निरन्तर संघर्ष-शील रहा, परिणामस्वरूप नागरिक से लेकर शासक वर्ग तक वह विकास और श्री-वृद्धि की श्रेणियों को पार करता गया। नागदा, आहाड़, चित्तौड़गढ़, देलवाड़ा, कुमलगढ़, जावर, धुलेव, राणकपुर, उदयपुर आदि स्थान जैन धर्म और संस्कृति के प्रसिद्ध प्रतीक बन गये। यहाँ का छोटा से छोटा गाँव भी तीर्थ सहस्र पूजनीय बन गया तथा मनीषी जैन सन्तों तथा निस्पृही श्रावकों ने अपने व्यक्तित्व और कृतित्व के द्वारा मेवाड़ को जैन धर्म, समाज एवं संस्कृति का अग्रणी केन्द्र प्रस्थापित कर दिया। विभिन्न स्थानों से प्राप्त पुरातात्विक एवं पुरामिलेखीय सामग्री इसका पुष्ट प्रमाण है।

मेवाड़ के धार्मिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक विकास में जैनधर्म के अमूल्य और अतुल योगदान का तटस्थ सर्वेक्षण एवं विश्लेषणात्मक मूल्यांकन शोध का एक अलग विषय है, किन्तु जैनधर्मानुयायी श्रावकों के राजनीतिक योगदान को ही एकीकृत कर अगर विविध किया जाय तो मेवाड़ के इतिहास की अनेक विलुप्त शृंखलाएँ जुड़ सकती हैं।

मेवाड़ राज्य के शासकों के सम्पर्क में जैनधर्म कब आया, इस बारे में विद्वानों में मतभेद नहीं है। विक्रम संवत् ७६ में जैनाचार्य देवगुप्तसूरि तथा विक्रम संवत् २१५ में पू० यज्ञदेवसूरि का इस क्षेत्र में विचरण करने का उल्लेख उपलब्ध होता है।^६ तत्पश्चात् सिद्धसेनदिवाकर एवं आचार्य हरिभद्रसूरि के व्यापक प्रभाव के प्रमाण क्रमशः

१ द्रष्टव्य—नाहर जैन लेखसंग्रह, भाग-१, पृष्ठ ६७, लेख संख्या ४०२।

२ वर्तमान में चित्तौड़गढ़ से सात मील उत्तर में स्थित है। इसे अब 'नगरी' नाम से अभिहित किया जाता है।

३ (१) सेक्रीड बुक्स आव द ईस्ट, वा० २२, पृष्ठ २६३।

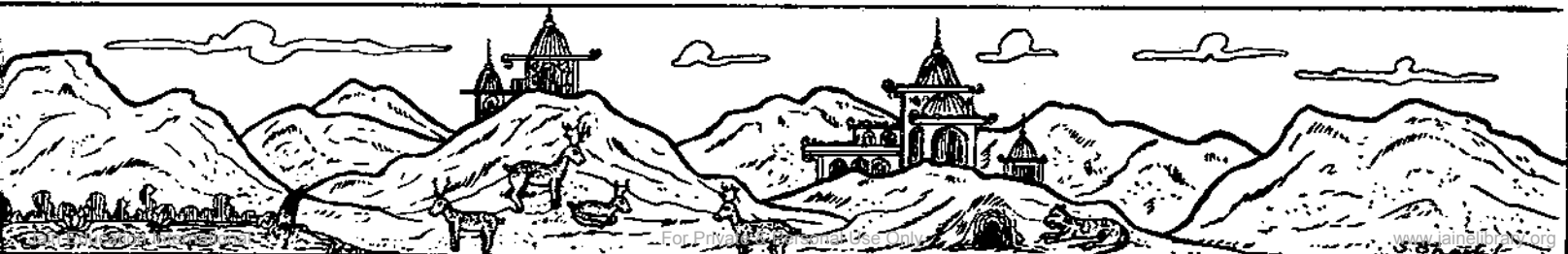
(२) समदर्शी आचार्य हरिभद्र सूरि, पृष्ठ ६।

४ विजयमूर्ति जैन लेखसंग्रह, भाग-२, लेख संख्या ६६।

५ (१) द्रष्टव्य—पतंजलि कृत महाभाष्य ३।२।

(२) मज्जमिका (पत्रिका) पृष्ठ २ (प्रवेशांक)।

६ सोमानी—वीरभूमि चित्तौड़गढ़, पृष्ठ १५२।



विक्रम की छठी और आठवीं शताब्दी में मिलते हैं।^१ किन्तु जैनधर्म के मेवाड़ के शासकों के सम्पर्क में आने का सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण राणा मर्तुभट्ट के काल में मिलता है, जब विक्रम संवत् १००० में चैत्रपुरीय मच्छ के ब्रह्मगणि के द्वारा गुहिल विहार में आदिनाथ भगवान की मूर्ति की प्रतिष्ठा कराई गई।^२ उसके बाद तो मर्तुभट्ट के पुत्र अल्लट,^३ महारावल जैत्रसिंह,^४ महाराणा तेजसिंह^५, समरसिंह^६ आदि के काल में जैनधर्म यहाँ के शासकों के सीधे सम्पर्क में आया।

राजघराने के सम्पर्क में आने के पश्चात् जैनधर्म को व्यापक संरक्षण प्राप्त हुआ, फलस्वरूप जैनधर्मानुयायियों ने भी अपने बाहुबल, दूरदर्शिता, कूटनीति और प्रशासन-योग्यता के द्वारा मेवाड़ राज्य की सुरक्षा और स्थायित्व दिया ऐसे भी अवसर आये जब मेवाड़ के सूर्यवंशी गुहिल अर्थात् सिसोदिया शासकों के हाथ से शासन की बागडोर मुस्लिम शासकों के हाथ में चली गई अथवा अन्य राजनीतिक कारणों से शासन पर उनका प्रभुत्व नहीं रहा किन्तु जैनमतावलम्बी सपूतों ने खोये हुए शासन-सूत्र अपने कूटनीतिक दाँव-पेच एवं बाहुबल के माध्यम से उन्हें पुनः दिलाये। वे चाहते तो परिस्थितियों का लाभ उठाकर मेवाड़ राज्य की सत्ता को स्वयं हस्तगत कर और वीर वसुन्धरा मेवाड़ की गौरवशाली राजगद्दी पर आरूढ़ हो, अपना राज्य स्थापित कर लेते किन्तु सच्चे देशभक्त, स्वामिभक्त तथा सच्चरित्र जैन नरपुंगवों ने ऐसा नहीं किया। अपने रक्त की नदियाँ बहाकर भी वे मेवाड़ के परम्परागत राज्य को सुरक्षा, स्थायित्व एवं एकता के सूत्र में आबद्ध करने के लिए प्राण-प्रण से संघर्षशील रहे।

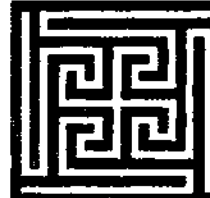
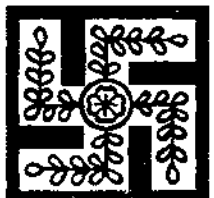
अहिंसा के पुजारी होने के कारण यद्यपि जैनियों पर कायर व धर्मभीरु होने के लाञ्छन लगाये जाते रहे हैं। एक व्यापारिक, सूदखोर तथा सैनिक गुणों से रिक्त होने का आरोप उन पर मढ़ा जाता रहा है, किन्तु यह सब नितान्त एकपक्षीय और अज्ञानता से युक्त है। समय-समय पर तत्कालीन शासकों द्वारा उन्हें दिये गये पट्टे-परवाने, रुक्के, ताम्र-पत्र इसके प्रमाण हैं। शिलालेख, काव्य-ग्रन्थ, ख्यात, वात, वंशावलियाँ, डिगल गीत आदि इस तथ्य व सत्य के प्रबल सन्दर्भ हैं।

मेवाड़ राज्य की रक्षा में जैनियों ने शासन-प्रबन्ध के विभिन्न पदों पर रहकर अपने दायित्वों का निर्वाह किया। इनमें प्रधान, दीवान, फौजबन्धी, मुत्सद्दी, हाकिम, कामदार एवं अहलकार पद प्रमुख हैं। इन पदों पर जैन समाज की विभिन्न जातियों के व्यक्ति कार्यरत थे, जिनमें मेहता, कावड़िया, गांधी, बोलिया, गलूडिया, कोठारी आदि सम्मिलित हैं। मेवाड़ राज्य की रक्षार्थ इनमें से अनेक जैनियों ने अपने प्राणों का उत्सर्ग किया। प्रत्येक का विवरण प्रस्तुत करना निबन्ध की कलेबर सीमा के कारण सम्भव नहीं है। यहाँ कतिपय प्रमुख जैन विभूतियों का अत्यन्त संक्षिप्त वर्णन ही दिया जा रहा है—

जालसी मेहता—अलाउद्दीन खिलजी से हुए युद्ध और महारानी पद्मिनी के जीहर के पश्चात् गुहिलवंशी शासकों के हाथ से चित्तौड़ निकल गया और उस पर अलाउद्दीन का अधिकार हो गया। उसने पहले खिच्चर्वा को चित्तौड़ पर नियुक्त किया किन्तु बाद में जालौर के मालदेव सोनगरा को चित्तौड़ का दुर्ग सुपुर्द कर दिया। ऐसी विषम स्थिति में विक्रम की चौदहवीं शताब्दी में जालसी मेहता मेवाड़ राज्य के प्रथम उद्धारक एवं अनन्य स्वामीभक्त के रूप में प्रकट होता है।

अलाउद्दीन से हुए इस भयंकर युद्ध में सिसोदे गाँव का स्वामी हमीर ही गुहिलवंशी शासकों का एकमात्र प्रतिनिधि जीवित बच गया था। हमीर अपने पैतृक दुर्ग चित्तौड़ को पुनः हस्तगत करने के लिए लालायित था, इसी उद्देश्य से वह मालदेव के अधीनस्थ प्रदेश को लूटने व उजाड़ने लगा। अलाउद्दीन की मृत्यु के पश्चात् जब दिल्ली

- १ (१) जैन संस्कृति और राजस्थान, पृष्ठ १२७-२८।
- (२) वीरभूमि चित्तौड़गढ़, पृष्ठ ११२-१५।
- २ जैन सत्यप्रकाश, वर्ष ७, (दीपोत्सवांक), पृष्ठ १४६-४७।
- ३ डा० कैलाशचन्द्र जैन (जैनजम इन राजस्थान), पृष्ठ २६।
- ४ जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ १६३।
- ५ एन्युअल रिपोर्ट आफ दि राजपूताना म्युजियम, अजमेर (१६२२-२३), पृष्ठ ८।
- ६ वही, पृष्ठ ६।



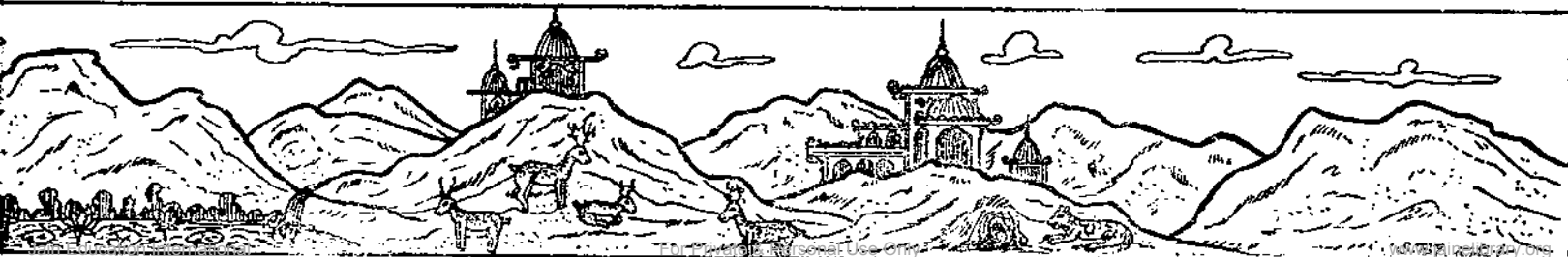
सत्तनत की सत्ता कमजोर होने लगी तो मालदेव ने उधर से किसी भी प्रकार की सैनिक मदद की आशा न देख, उसने अपनी पुत्री का विवाह हमीर से कर दिया ताकि वह उसके अधीनस्थ मेवाड़ को लूटना व उजाड़ना बन्द कर दे। हमीर ने अपनी नवविवाहिता पत्नी की सलाह से विवाह के इस शुभ अवसर पर कोई जागीर या द्रव्य नहीं माँग कर मालदेव से उसके दूरदर्शी कामदार जालसी मेहता को माँग लिया, ताकि जालसी के सहयोग से हमीर की मनोकामना पूरी ही सके।^१

हमीर की इस राणी से क्षेत्रसिंह^२ नामक पुत्र हुआ। ज्योतिषियों की सलाह के अनुसार चित्तौड़गढ़ के क्षेत्रपाल की पूजा (बोलवा) के निमित्त महाराणी को अपने पुत्र क्षेत्रसिंह के साथ चित्तौड़ जाना पड़ा।^३ इस अवसर पर जालसी मेहता भी साथ में था। मालदेव की मृत्यु के पश्चात् उसका पुत्र जैमा सोनगरा चित्तौड़ का शासक था। जालसी मेहता ने सम्पूर्ण स्थिति का अवलोकन करके कूटनीति एवं दूरदर्शिता से वहाँ के सामन्त-सरदारों को जैसा सोनगरा के विरुद्ध उभारना आरम्भ किया। जब उसे विश्वास हो गया कि चित्तौड़ का वातावरण हमीर के पक्ष में है तो हमीर को गुप्त सन्देश भेजकर विश्वस्त सैनिकों के साथ उसे चित्तौड़ बुलाया। योजनानुसार किले का दरवाजा खोल दिया गया और घमासान युद्ध के पश्चात् हमीर का चित्तौड़ पर अधिकार हो गया।^४ इस प्रकार जालसी के सम्पूर्ण सहयोग से हमीर वि० सं० १३८३ में मेवाड़ का महाराणा बना और उसके बाद देश के स्वतन्त्र होने तक मेवाड़ पर सिसोदे^५ के इस हमीर के वंशजों का ही आधिपत्य रहा, जिसमें महाराणा कुंभा, सांगा, प्रताप और राजसिंह जैसे महान प्रतापी व इतिहास प्रसिद्ध शासक हुए। जालसी मेहता की इस स्वामीमत्ति, कूटनीति एवं दूरदर्शिता से प्रभावित होकर महाराणा हमीर ने उसे अच्छी जागीर दी, सम्मान दिया तथा उसकी प्रतिष्ठा बढ़ाई।^६

रामदेव एवं सहनपाल

महाराणा हमीर के बाद क्रमशः क्षेत्रसिंह (वि० सं० १४२१-१४३६) एवं लक्षसिंह अर्थात् लाखा (वि० सं० १४३६-१४५४) मेवाड़ के महाराणा बने। इनके राज्यकाल में देवकुलपाटक (देववाड़ा) निवासी नवलखा लाधु का पुत्र रामदेव मेवाड़ का राज्यमन्त्री था।^७ इसकी पत्नी का नाम मेलदेवी था, जिसके दो पुत्र क्रमशः सहण एवं सारंग थे। महाराणा मौकल (सं० १४५४-१४६०) एवं महाराणा कुम्भा के राज्यकाल (वि० १४६०-१५२५) में इसका पुत्र सहणपाल राज्यमन्त्री था। इसे शिलालेखों में 'राजमन्त्री धुराधीरयः' के सम्बोधन से सम्बोधित किया गया है। तत्कालीन जैनाचार्य ज्ञानहंसगणि कृत 'सन्देह दोहावली' की प्रशस्ति में इसकी प्रशंसा की गई है।^८ रामदेव एवं सहणपाल का लम्बे समय तक मेवाड़ का राज्यमन्त्री रहना निश्चित ही उनके दूरदर्शी व कुशल व्यक्तित्व के कारण सम्भव हुआ होगा। मेवाड़ में जैनधर्म के उत्थान में दोनों ने महत्वपूर्ण योग दिया था। जिसका उल्लेख कई शिलालेखों एवं हस्तलिखित ग्रन्थों में मिलता है।

- १ (क) कर्नल जेम्स टाड—एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज आव राजस्थान (हि० सं०) पृष्ठ १५६।
- (ख) कविराजा श्यामलदास ने वीरविनोद, प्रथम भाग, पृष्ठ २६५ पर जालसी का नाम मौजीराम मेहता दिया है, जिसे गो० ही० ओझा ने अशुद्ध बताया है, द्रष्टव्य—ओझा कृत 'राजपूताने का इतिहास', प्रथम भाग, पृष्ठ ५०६।
- २ जो हमीर के बाद मेवाड़ का शासक बना और महाराणा खेता के नाम ने प्रसिद्ध हुआ।
- ३ बाबू रामनारायण दूगड़—मेवाड़ का इतिहास, प्रकरण चौथा, पृष्ठ ६८।
- ४ एनल्स एण्ड एण्टिक्विटीज आव राजस्थान (हिन्दी), पृष्ठ १५६-६०।
- ५ हमीर, सिसोदे गाँव का रहने वाला था, इसी कारण मुहिलवंशी शासक हमीर के समय से ही सिसोदिया कहलाए।
- ६ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर) पृष्ठ १३२४।
- ७ श्री रामवल्लभ सोमानी कृत (अ) महाराणा कुंभा, पृष्ठ ३०५।
- (ब) वीरभूमि चित्तौड़, पृष्ठ १६१।
- ८ (अ) वही, पृष्ठ १५८, १५६ व ३०५ एवं
- (ब) वही, पृष्ठ १६२।



तोलाशाह एवं कर्माशाह

तोलाशाह महाराणा सांगा (वि० सं० १५६६-१५८४) के समय मेवाड़ का दीवान था।^१ इस पर महाराणा सांगा का पूर्ण विश्वास था और वह उसका मित्र भी था।^२ महाराणा सांगा द्वारा किये गये मेवाड़ राज्य के विस्तार में तोलाशाह के अविस्मरणीय योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। तोलाशाह का पुत्र कर्माशाह महाराणा रत्नसिंह द्वितीय (वि० सं० १५८४-१५८८) का मन्त्री था।^३ रत्नसिंह के अल्प शासनकाल में कर्माशाह के कार्यों का संक्षिप्त परिचय शत्रुंजय तीर्थ के शिलालेख^४ में मिलता है।

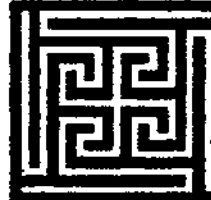
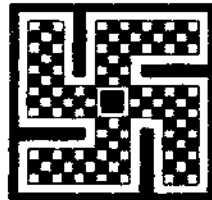
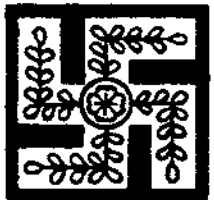
मेहता चीलजी

जालसी मेहता का वंशज मेहता चीलजी महाराणा सांगा के समय से ही चित्तौड़गढ़ का किलेदार था।^५ उस काल में स्वामीभक्त एवं वीर प्रकृति के दूरदर्शी योद्धा को ही किलेदार बनाया जाता था। बनवीर (वि० सं० १५६३-१५६७) के समय में भी यही किलेदार था, किन्तु इसे बनवीर का चित्तौड़ पर आधिपत्य खटक रहा था। उधर महाराणा उदयसिंह (वि० सं० १५६४-१६२८) अपने पैतृक अधिकारों एवं दुर्ग को प्राप्त करने के लिए तैयारी कर रहे थे। अवसर देखकर चीलजी मेहता एवं कुम्भलगढ़ का किलेदार आशा देपुरा^६ के मध्य उदयसिंह को चित्तौड़ वापस दिलाने का गुप्त समझौता हो गया। योजनानुसार चीलजी ने बनवीर को सुझाव दिया कि “किले में खाद्य-सामग्री कम है, रात्रि में किले का दरवाजा खोलकर मँगाना चाहिए।” बनवीर ने स्वीकृति दे दी। एक दिन रात्रि को किले का दरवाजा खोल दिया गया, कुछ बैलों एवं भैंसों पर सामान लादकर उदयसिंह कुछ सैनिकों के साथ किले में घुस आया। छुटपुट लड़ाई के बाद महाराणा उदयसिंह का किले पर अधिकार हो गया।^७ चीलजी मेहता की इस सूझ-बूझ एवं कूटनीति के परिणामस्वरूप ही चित्तौड़ अर्थात् मेवाड़ पर उसके वास्तविक अधिकारी उदयसिंह का अधिकार हो सका।

कावड़िया भारमल

प्रसिद्ध योद्धा कावड़िया भारमल व उसके पूर्वज अलवर के रहने वाले थे। महाराणा सांगा भारमल की सैनिक योग्यता एवं राजनीतिक दूरदर्शिता से काफी प्रसन्न थे। इसी कारण उसे तत्कालीन सैनिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रणथंभीर के किले का किलेदार नियुक्त किया।^८ बाद में जब बूंदी के हाड़ा सूरजमल को रणथंभीर की किलेदारी मिली,^९ उस समय भी भारमल के हाथ में एतवारी नौकरी और किले का कुल कारोबार रहा।^{१०} यह महाराणा की उस पर विश्वसनीयता का द्योतक था। महाराणा उदयसिंह ने भारमल की सेवाओं से प्रसन्न होकर वि० सं० १६१० में उसे

- १ ओसवाल जाति का इतिहास, पृष्ठ ७०।
- २ राजस्थान भारती (त्रैमासिक) भाग-१२, अंक-१, पृष्ठ ५३-५४ पर श्री रामवल्लभ सोमानी का लेख—‘शत्रुंजय तीर्थोद्धार प्रबन्ध में ऐतिहासिक सामग्री’।
- ३ ओझा—राजपूताने का इतिहास, भाग-२, पृष्ठ ७०३।
- ४ एपिग्राफिया इन्डिका, भाग-२, पृष्ठ ४२-४७।
- ५ कविराजा श्यामलदास—वीर विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ ६४।
- ६ आशा देपुरा माहेश्वरी जाति का था एवं महाराणा सांगा के समय से ही कुम्भलगढ़ का किलेदार था। (दृष्टव्य—वीर विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ ६२)।
- ७ वीर विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ ६४।
- ८ वही, पृष्ठ २५२।
- ९ ओझा—राजपूताने का इतिहास, भाग-२, पृष्ठ ६७२ एवं १३०२।
- १० वीर विनोद, द्वितीय भाग, पृष्ठ २५२।



अपना प्रमुख सामन्त बनाया और एक लाख का पट्टा दिया ।^१ इस प्रकार एक किलेदार के पद से सामन्त के उच्च पद पर पहुँचना भारमल की सैनिक योग्यता, चातुर्य एवं स्वामिभक्ति का प्रमाण था ।^२

भामाशाह एवं ताराचन्द

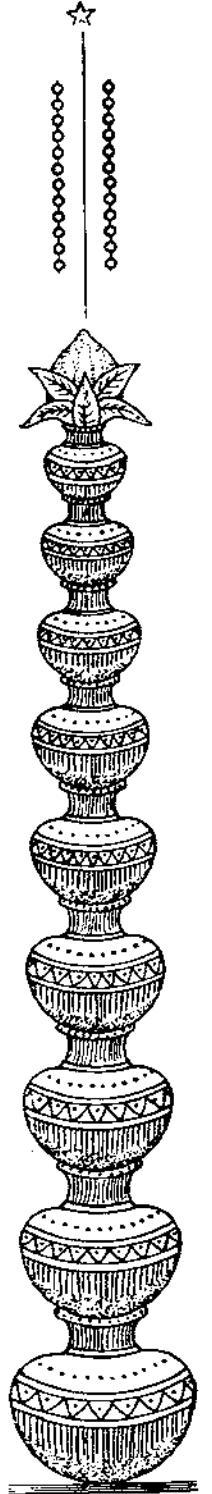
ये दोनों भाई कावड़िया भारमल के पुत्र थे । हल्दीघाटी के युद्ध में महाराणा प्रताप (वि० सं० १६२८-१६५३) की सेना के हरावल के दाहिने भाग की सेना का नेतृत्व करते हुए लड़े थे एवं अकबर की सेना को शिकस्त दी थी ।^३ भामाशाह की राजनैतिक एवं सैनिक योग्यता को देखकर महाराणा प्रताप ने उसे अपना प्रधान बनाया । इसने प्रताप की सैनिक दुकड़ियों का नेतृत्व करते हुए गुजरात, मालवा, मालपुरा आदि इलाकों पर आक्रमण किये एवं लूटपाट कर प्रताप को आर्थिक सहायता की ।^४ लूटपाट के प्राप्त धन का ब्यौरा वह एक बही में रखता था और उस धन से राज्य खर्च चलाता था । उसके इस दूरदर्शी एवं कुशल आर्थिक प्रबन्ध के कारण ही प्रताप इतने लम्बे समय तक अकबर के शक्तिशाली साम्राज्य से संघर्ष कर सके थे । महाराणा अमरसिंह (वि० सं० १६५३-१६७६) के राज्यकाल में भामाशाह तीत वर्ष तक प्रधान पद पर रहा और अन्त में प्रधान पद पर रहते हुए ही इसकी मृत्यु हुई ।

ताराचन्द भी एक कुशल सैनिक एवं अच्छा प्रशासक था । यह भी मालवा की ओर प्रताप की सेना लेकर शत्रुओं को दबाने एवं लूटपाट कर आतंक पैदा करने के लिए गया था । पुनः मेवाड़ की ओर लौटते हुए उसे व उसके साथ के सैनिकों को अकबर के सेनापति शाहबाज खाँ व उसकी सेना ने घेर लिया । ताराचन्द इनसे लड़ता हुआ बस्सी (चित्तौड़ के पास) तक आया किन्तु यहाँ वह घायल होकर गिर पड़ा । बस्सी का स्वामी देवड़ा साईदास इसे अपने किले में ले गया, वहाँ घावों की मरहम पट्टी की एवं इलाज किया ।^५ प्रताप ने ताराचन्द को गोड़वाड़ परगने में स्थित सादड़ी गाँव का हाकिम नियुक्त किया, जहाँ रहकर इसने नगर की ऐसी व्यवस्था की कि शाहबाज खाँ जैसा खूँखार योद्धा भी नगर पर कब्जा न कर सका । इसी तरह नाडौल की ओर से होने वाले अकबर की सेना के आक्रमणों का भी वह बराबर मुकाबला करता रहा ।^६ सादड़ी में इसने अनेक निर्माण कार्य कराये एवं प्रसिद्ध जैन मुनि हेमरत्नसूरि से 'गोरा बादल पद्मिनी चउपई' की रचना कराई ।^७

जीवाशाह

भामाशाह की मृत्यु के बाद उसके पुत्र कावड़िया जीवाशाह को महाराणा अमरसिंह (वि० सं० १६५३-१६७६) ने प्रधान पद पर नियुक्त किया ।^८ यह भामाशाह द्वारा लिखी हुई बही के अनुसार गुप्त स्थानों से धन निकाल-निकाल कर सेना का व राज्य का खर्च चलाता था ।^९ बादशाह जहाँगीर से जब अमरसिंह की सुलह हो गई, उसके बाद

- १ (अ) 'महाराणा प्रताप स्मृति ग्रन्थ' में श्री बलवन्तसिंह मेहता का लेख—'कर्मवीर भामाशाह', पृष्ठ ११४ ।
- (ब) 'ओसवाल जाति का इतिहास' में पृष्ठ ७२ पर भारमल को महाराणा उदयसिंह द्वारा प्रधान बनाने का उल्लेख है ।
- २ भारमल की योग्यता एवं महत्ता का प्रमाण इस बात से भी मिलता है कि उस समय चित्तौड़ किले की पाइनपोल के सामने उसकी हस्तीशाला थी एवं किले पर बहुत बड़ी हवेली थी । (दृष्टव्य—प्रताप स्मृति ग्रन्थ—पृष्ठ ११४) ।
- ३ 'महाराणा प्रताप स्मृति ग्रन्थ' में श्री बलवन्तसिंह मेहता का लेख—'कर्मवीर भामाशाह', पृ० ११४ ।
- ४ वही, पृ० ११५ ।
- ५ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग, पृ० १३०३ ।
- ६ मरुधर केसरी अमिनन्दन ग्रन्थ में श्री रामवल्लभ सोमानी का लेख—'दानवीर भामाशाह का परिवार, पृ० १७५-७६ ।
- ७ दृष्टव्य—हेमरत्नसूरि कृत—'गोरा बादल पद्मिनी चउपई' की प्रशस्ति ।
- ८ वीर विनोद, भाग-२, पृ० २५१ ।
- ९ (अ) वीर विनोद, भाग-२, पृ० २५१ । (ब) ओझा—राजपूताने का इतिहास, भाग-२, पृ० १३३ ।



कुँवर कर्णसिंह के साथ जीवाशाह को भी बादशाह के पास अजमेर भेजा गया ।^१ ताकि वह मेवाड़ के स्वाभिमान व राजनीतिक स्थिति का ध्यान रख कर तदनुकूल कुँवर कर्णसिंह का मार्गदर्शन कर सके ।

रंगोजी बोलिया

महाराणा अमरसिंह की राज्य सेवा में नियुक्त रंगोजी बोलिया ने अमरसिंह एवं बादशाह जहाँगीर के मध्य प्रसिद्ध सन्धि कराने में प्रमुख भूमिका निभाई तथा मेवाड़ एवं मुगल साम्राज्य के बीच चल रहे लम्बे संघर्ष को सम्मान-जनक ढंग से बन्द कराया । सन्धि सम्पन्न हो जाने के बाद महाराणा अमरसिंह ने प्रसन्न होकर रंगोजी को चार गाँव, हाथी, पालकी आदि भेंट दिये व मंत्री पद पर आसीन किया । इस पद पर रहते हुए इसने मेवाड़ के गाँवों का सीमांकन कराया और जामोरदारों के गाँवों की रेख भी निश्चित की । जहाँगीर ने भी प्रसन्न होकर रंगोजी को ५३ बीघा जमीन देकर सम्मानित किया ।^२ रंगोजी ने मेवाड़ एवं मुगल साम्राज्य के मध्य संधि कराने में जो भूमिका निभाई, उस सन्दर्भ में डिगल गीत तथा हस्तलिखित सामग्री डॉ० ब्रजमोहन जावलिया (उदयपुर) के निजी संग्रह में विद्यमान है ।

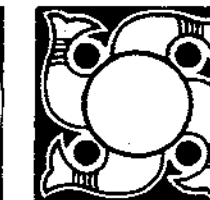
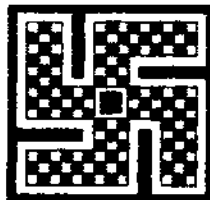
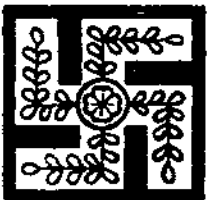
अक्षयराज

मामाशाह के पुत्र जीवाशाह की मृत्यु के बाद जीवाशाह के पुत्र कावड़िया अक्षयराज को महाराणा कर्णसिंह (वि० सं० १६७६-१६८४) ने मेवाड़ राज्य का प्रधान बनाया ।^३ महाराणा जगत्सिंह (वि० सं० १६८४-१७०६) के शासनकाल में अक्षयराज के नेतृत्व में सेना देकर डूंगरपुर के स्वामी रावल पूजा को मेवाड़ की अधीनता स्वीकार कराने के लिए भेजा गया, क्योंकि डूंगरपुर के स्वामी महाराणा प्रताप के समय से ही शाही अधीनता में चले गये थे । अक्षयराज का ससैन्य डूंगरपुर पहुँचने पर रावल पूजा पहाड़ों में भाग गया । अक्षयराज की आज्ञा से सेना ने डूंगरपुर शहर को लूटा, नष्ट-भ्रष्ट किया एवं रावल पूजा के महलों को गिरा दिया ।^४

सिधवी दयालदास

यह मेवाड़ के प्रसिद्ध व्यापारी सिधवी राजाजी एवं माता रघुपादे का चतुर्थ पुत्र था । एक बार महाराणा राजसिंह (वि० सं० १७०६-१७३७) की एक राणी ने अपने पति (महाराणा राजसिंह) की हत्या करवा कर अपने पुत्र को मेवाड़ का महाराणा बनाने का षडयन्त्र रचा । षडयन्त्र का एक कागज दयालदास को मिल गया । उसने तत्काल महाराणा राजसिंह से सम्पर्क कर उनकी जान बचाई । दयालदास की इस वफादारी से प्रसन्न होकर महाराणा ने इसे अपनी सेवा में रखा तथा अपनी योग्यता से बढ़ते-बढ़ते यह मेवाड़ का प्रधान बन गया ।^५ जब औरंगजेब ने वि० सं० १७३६ में मेवाड़ पर चढ़ाई कर सैकड़ों मन्दिर तुड़वा दिये^६ और बहुत आर्थिक नुकसान पहुँचाया तो इस घटना के कुछ समय पश्चात् महाराणा राजसिंह ने इसको बहुत-सी सेना देकर बदला लेने के लिए मालवा की ओर भेजा, दयालदास ने अचानक धार नगर पर आक्रमण कर उसे लूटा, मालवे के अनेक शाही थानों को नष्ट किया, आग लगाई और उनके स्थान पर मेवाड़ के थाने बिठा दिये । लूट से प्राप्त धन को प्रजा में बाँटा एवं बहुत-सी सामग्री ऊँटों पर लाद कर सकुशल मेवाड़ लौट आया^७ तथा महाराणा को नजर की ।

- १ (अ) वीर विनोद, भाग-२, पृष्ठ २५१ । (ब) ओझा—राजपूताने का इतिहास भाग-२, पृष्ठ १३३ ।
- २ बरदा (त्रैमासिक) भाग-१२, अंक ३, पृष्ठ ४१-४७ पर प्रकाशित डॉ० ब्रजमोहन जावलिया का लेख—'बादशाह जहाँगीर और महाराणा अमरसिंह की सन्धि के प्रमुख सूत्रधार—रंगोजी बोलिया ।'
- ३ (अ) वीर विनोद, भाग-२, पृष्ठ २५१ (ब) ओझा—राजपूताने का इतिहास भाग-२, पृष्ठ १३३ ।
- ४ (अ) रणछोड़मठ कृत राजप्रशस्ति : महाकाव्यम्, सर्ग ५, श्लोक १८१६ ।
(ब) जगदीश मन्दिर की प्रशस्ति, श्लोक सं० ५४ ।
- ५ ओझा—राजपूताने का इतिहास, भाग-२, पृष्ठ १३०५ ।
- ६ वही, पृष्ठ ८७०-७१ ।
- ७ जती मान-कृत राजविलास (महाकाव्य), विलास-७, छन्द ३८ ।



महाराणा जयसिंह (वि० सं० १७३७-१७५५) के शासनकाल में वि० सं० १७३७ में चित्तौड़गढ़ के पास शाहजादा आजम एवं मुगल सेनापति दिलावर खाँ की सेना पर रात्रि के समय दयालदास ने भीषण आक्रमण किया, किन्तु मुगल सेना संख्या में अधिक थी, दयालदास बड़ी बहादुरी से लड़ा परन्तु जब उसने देखा कि उसकी विजय सम्भव नहीं है तो मुसलमानों के हाथ पड़ने से बचाने के लिए अपनी पत्नी को अपने ही हाथों तलवार से मौत के घाट उतार दिया और उदयपुर लौट आया, फिर भी उसकी एक लड़की, कुछ राजपूत तथा बहुत-सा सामान मुसलमानों के हाथ लग गया।^१ मेवाड़ की रक्षा के खातिर अपने परिवार को ही शहीद कर देने वाले ऐसे वीर पराक्रमी, महान देशभक्त, स्वामिभक्त तथा कुशल प्रशासक दयालदास की योग्यता, वीरता एवं कूटनीतिज्ञता का विस्तृत वर्णन राजपूत इतिहास के ग्रन्थों के अतिरिक्त फारसी भाषा के समकालीन ग्रन्थों, यथा—'वाकया सरकार रणथम्भौर' एवं 'औरंगजेबनामा' में भी मिलता है। जैनधर्म के उत्थान में भी दयालदास द्वारा सम्पन्न किये गये महान् कार्यों का विशाल वर्णन जैन हस्तलिखित ग्रन्थों व शिलालेखों में उपलब्ध होता है।^२

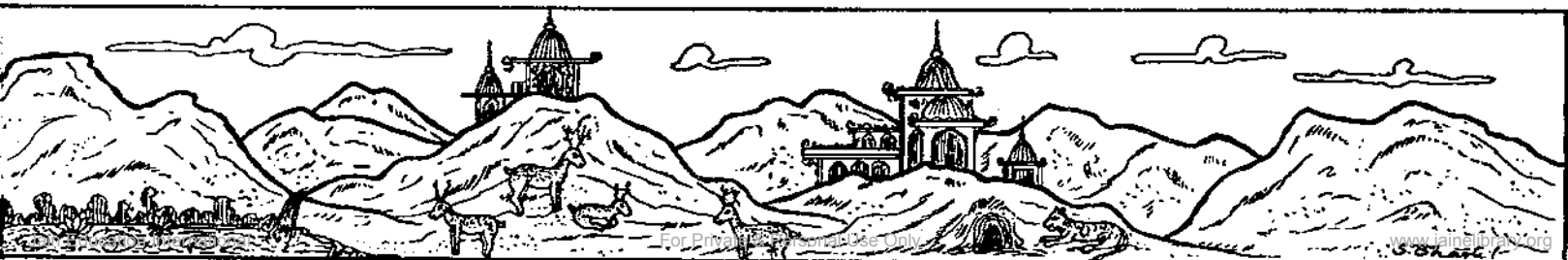
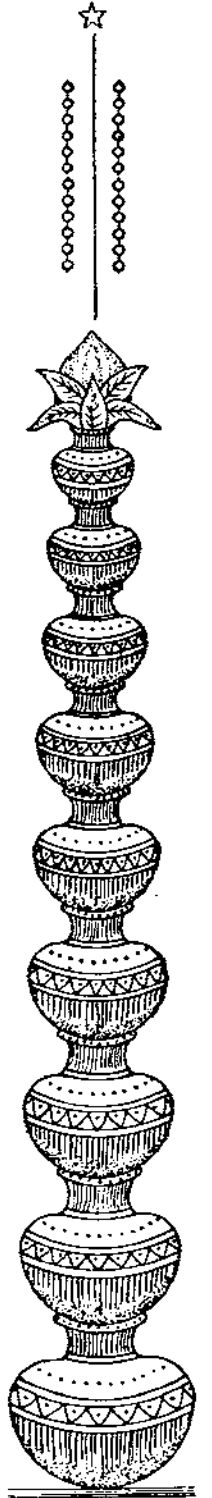
शाह देवकरण

महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय (वि० सं० १७६७-६०) के शासनकाल में देवकरण आश्रिक मामलों का मुत्सद्दी था। इसके पूर्वज बीकानेर के रहने वाले डागा जाति के महाजन थे। एक बार महाराणा ने ईडर के परगने में तथा डूंगरपुर व बाँसवाड़ा के इलाके के मील व मेवासी लोगों में फैल रही अशान्ति को दबाने के लिए सेना के साथ इसे भेजा। देवकरण ने ईडर पर आक्रमण कर उस पर कब्जा कर लिया तथा वहाँ से पौने पाँच लाख रुपये का खजाना महाराणा संग्रामसिंह द्वितीय के पास भेजा। मेवासी व मील लोगों को भी दबाया।^३ डूंगरपुर, बाँसवाड़ा, देवलिया एवं रामपुरा के शासकों को भी मेवाड़ की अधीनता मेवाड़ के तत्कालीन प्रधान पंचोली बिहारोदास के साथ रहकर स्वीकार करवाई।^४ वि० सं० १७७५ में मेवाड़ में भयंकर अकाल पड़ा, उस समय भी देवकरण एवं उसके भाइयों ने महाराणा का काफी सहयोग किया।^५

मेहता अगरचन्द

महाराणा अरिसिंह द्वितीय (वि० सं० १८१७-२६) का शासनकाल मेवाड़ के इतिहास में गृहकलह तथा संघर्ष का काल माना जाता है। ऐसे संकटमय समय में मेहता पृथ्वीराज के सबसे बड़े पुत्र मेहता अगरचन्द ने मेवाड़ राज्य की जो सेवाएँ कीं, वे अद्वितीय हैं। अगरचन्द की दूरदर्शिता, कार्यकुशलता तथा सैनिक गुणों से प्रभावित होकर महाराणा अरिसिंह ने इसे मांडलगढ़ (जिला भीलवाड़ा) जैसे सामरिक महत्व के किले का किलेदार एवं उस जिले का हाकिम नियुक्त किया।^६ इसकी योग्यता को देखकर इसे महाराणा ने अपना सलाहकार तथा तत्पश्चात् दीवान के पद पर आरूढ़ किया और बहुत बड़ी जागीर देकर सम्मानित किया। मेवाड़ इस समय मराठों के आक्रमणों से त्रस्त तथा विषम आर्थिक स्थिति से ग्रस्त था। अगरचन्द ने अपनी प्रशासनिक योग्यता व कूटनीति के बाल पर इन विकट परिस्थि-

- १ (अ) वीर विनोद, द्वितीय भाग, पृ० ६५०।
- (ब) ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर), पृ० ८६५।
- २ (अ) राजसमन्द की पहाड़ी पर इसने आदिनाथ का विशाल जैन मन्दिर बनवाया था। दयालशाह के किले के नाम से वह आज भी प्रसिद्ध है।
- (ब) द्रष्टव्य—बड़ोदा के पास छाणी गाँव के जिनालय का शिलालेख।
- (स) जती मान को भी महाराणा राजसिंह से इसने कुछ गाँव दान में दिलवाये।
- ३ द्रष्टव्य—शोध पत्रिका, वर्ष १६, अंक २, पृ० २६-३५ पर प्रकाशित मेरा लेख—'गुणमाल शाह देवकरण'।
- ४ (अ) वही, पृ० २६-३५ (ब) वीर विनोद, भाग-२, पृ० १०१०।
- ५ शोध पत्रिका, वर्ष १६, अंक २, पृ० २६-३५ पर प्रकाशित उपर्युक्त लेख।
- ६ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर), पृ० १३१४।



तियों पर बहुत कुछ सफलता प्राप्त की।^१ महाराणा अरिसिंह की माधवराव सिन्धिया के साथ उज्जैन में हुई लड़ाई में अग्रचन्द वीरतापूर्वक लड़ता हुआ घायल हुआ एवं कैद कर लिया गया। बाद में रूपाहेली के ठाकुर शिवसिंह द्वारा भेजे गये बावरियों ने उसे छोड़वाया। माधवराव सिन्धिया द्वारा उदयपुर की घेरने के समय तथा टोपलमगरी व गंगार की लड़ाइयों में भी अग्रचन्द महाराणा के साथ रहा। अरिसिंह की मृत्यु के पश्चात् महाराणा हमीरसिंह द्वितीय (वि० सं० १८२६-३४) के समय मेवाड़ की विकट स्थिति संभालने में यह बड़वा अग्रचन्द के साथ रहा। महाराणा भीमसिंह (वि० सं० १८३४-८५) ने इसे प्रधान के पद पर नियुक्त किया। अम्बाजी इंगलिया के प्रतिनिधि गणेशपन्त के साथ मेवाड़ की हुई विभिन्न लड़ाइयों में भी अग्रचन्द ने भाग लिया।^२ अग्रचन्द द्वारा मेवाड़ के महाराणाओं एवं लम्बे समय तक मेवाड़ राज्य के लिए की गई सेवाओं से प्रसन्न होकर उपर्युक्त तीनों महाराणाओं ने समय-समय पर अग्रचन्द को विभिन्न रुकके प्रदान किये, उनसे एवं मराठों, मेवाड़ के महाराणाओं एवं अन्य शासकों से हुए उसके पत्र व्यवहार से तथा 'मेहताओं की तवारीख' से अग्रचन्द के सैनिक व राजनीतिक योगदान और मेवाड़ राज्य की रक्षा हेतु उसकी कुर्बानी की पुष्टि होती है।

सोमचन्द गांधी

महाराणा भीमसिंह (वि० सं० १८३४-८५) का शासनकाल मेवाड़ राज्य में भयंकर उथल-पुथल एवं अराजकता के काल के रूप में प्रसिद्ध है। एक ओर मराठों के आक्रमणों से मेवाड़ त्रस्त था तो दूसरी ओर मेवाड़ के अनेक सामन्त-सरदार महाराणा से बागी हो गये थे। चूंडावतों एवं शक्तावतों के मध्य भी पारस्परिक वैमनस्य चरम सीमा पर पहुँच गया था। राज्य कार्य में चूंडावतों का प्रभावी दखल था। सलूम्वर का रावत भीमसिंह, कुराबड़ का रावत अर्जुनसिंह तथा आमेट का रावत प्रतापसिंह महाराणा भीमसिंह के पास रहकर राजकाज देखते थे।^३

इन विषम परिस्थितियों में राजकोष भी एकदम रिक्त था। राज्य प्रबन्ध एवं अन्य साधारण खर्च भी कर्ज लेकर चलाना पड़ता था। वि० सं० १८४१ में महाराणा के जन्मोत्सव पर रूपयों की आवश्यकता हुई। राजमाता ने उपर्युक्त तीनों चूंडावत सरदारों से इसका प्रबन्ध करने के लिए कहा किन्तु इन्होंने टालमटूल की, फलस्वरूप राजमाता काफी अप्रसन्न हुई।^४

सोमचन्द गांधी इस समय जनानी ड्योढ़ी पर नियुक्त था। अनुकूल स्थिति देखकर रामप्यारी के माध्यम से उसने राजमाता को कहलाया कि अगर उसे राज्य का प्रधान बना दिया जाय तो वह जन्मोत्सव के लिए रूपयों का प्रबन्ध कर सकता है। राजमाता ने उसके प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया और उसे प्रधान बना दिया। सोमचन्द ने शक्तावत सरदारों से मेलजोल बढ़ाया एवं रूपयों का प्रबन्ध कर दिया।^५

प्रधान बनते ही सोमचन्द का दायित्व बढ़ गया। वह अत्यन्त योग्य, नीति-निपुण एवं कार्यकुशल व्यक्ति था। सबसे पहले उसने मेवाड़ के सरदारों के मध्य व्याप्त आपसी वैमनस्य को समाप्त करने का निश्चय किया। कई असन्तुष्ट सरदारों को खिलअत व सिरोपाव आदि भेजकर उन्हें प्रसन्न करने का प्रयास किया। कोटा का झाला जालिमसिंह उस समय राजस्थान की राजनीति में सर्वाधिक प्रभावशाली था, सोमचन्द ने बुद्धिमानी से काम लेकर उसे अपनी ओर मिला लिया।^६ भीण्डर का स्वामी शक्तावत मोहकमसिंह पिछले बीस वर्षों से मेवाड़ के शासकों के विरुद्ध चल रहा था, सोमचन्द की सलाह पर महाराणा स्वयं भीण्डर गये, उस समय झाला जालिमसिंह भी पाँच हजार की फौज लेकर भीण्डर पहुँच गया और मोहकमसिंह को समझाकर उदयपुर ले आये।^७ मेवाड़ की शोचनीय स्थिति से उबारने के लिए

१ शोध पत्रिका, वर्ष १८, अंक २, पृ० ८१-८२।

२ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग, (उदयपुर), पृ० १३१४-१५।

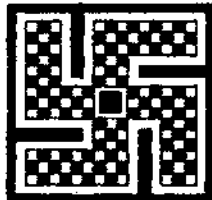
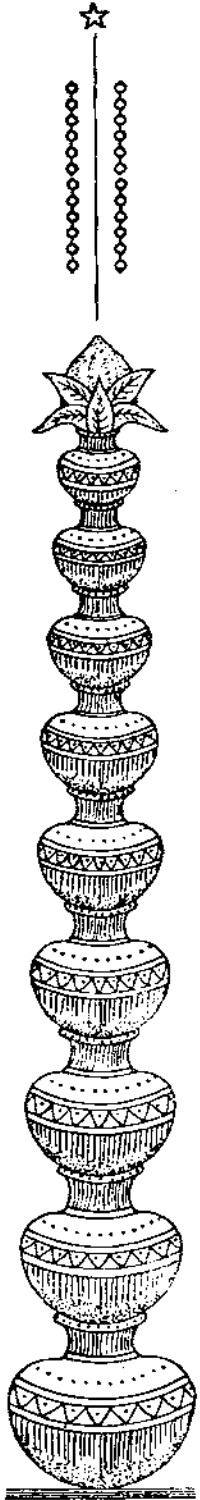
३ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर) पृ० ६८३।

४ वीर विनोद, भाग २, पृ० १७०६।

५ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर) पृ० ६८५।

६ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर), पृ० ६८५।

७ वीर विनोद, भाग-दो, पृ० १७०६।



सोमचन्द द्वारा किये जा रहे इन प्रयासों से चूँडावत नाराज हो गये क्योंकि इन घटनाओं से उनका मेवाड़ की राजनीति में दखल कम हो गया था।

मराठों के उपद्रवों को रोकने और उनके द्वारा मेवाड़ के छीने गये भाग को वापस प्राप्त करने के लिए सोमचन्द ने एक योजना बनाई, किन्तु इसकी पूर्ण सफलता के लिए चूँडावतों का सहयोग आवश्यक था, अतः उसने रामप्यारी को भेजकर सलूमबर से भीमसिंह को उदयपुर बुलवाया।^१ इधर सोमचन्द ने जयपुर, जोधपुर आदि के महाराजाओं को मराठों के विरुद्ध तैयार किया। जयपुर व जोधपुर के सम्मिलित सहयोग से वि० सं० १८४४ की लालसोट की लड़ाई में मराठे पराजित हो गये।^२ इस अवसर का लाभ उठाकर सोमचन्द ने मेहता मालदास की अध्यक्षता में मेवाड़ एवं कोटा की संयुक्त सेना मराठों के विरुद्ध भेजी। इस तरह निम्बाहेड़ा, निकुम्भ, जीरण, जावद, रामपुरा आदि भागों पर पुनः मेवाड़ का अधिकार हो गया।^३

इधर सोमचन्द का ध्यान मेवाड़ के उद्धार में व्यस्त था तो उधर मेवाड़ की राजनीति में शक्तावतों का प्रभाव बढ़ जाने से चूँडावत, सोमचन्द से अन्दर ही अन्दर नाराज थे। ऊपर से वे उसके साथ मित्रवत् रहते थे किन्तु अन्तःकरण से उसे मार डालने का अवसर देख रहे थे। वि० सं० १८४६ की कार्तिक सुदि ६ को कुरावड़ का रावत अर्जुनसिंह और चावड़ का रावत सरदारसिंह किसी कारणवश महलों में गये, सोमचन्द उस समय अकेला था, दोनों ने बात करने के बहाने सोमचन्द के पास जाकर कटार घोंप कर उसकी हत्या कर दी।^४ इस प्रकार अटल राजभक्त, लोकप्रिय, दूरदर्शी, नीति-निपुण एवं मेवाड़ राज्य का सच्चा उद्धारक सोमचन्द शहीद हो गया। बाद में उसके भाई सतीदास तथा शिवदास गांधी ने अपने भाई की हत्या का बदला लिया।^५

मेहता मालदास

मराठों के विरुद्ध मेवाड़ की सेना का नेतृत्व करने के सन्दर्भ में मेहता मालदास का उल्लेख ऊपर आ चुका है। इसे इयोढ़ी वाले मेहता वंश में मेहता मेघराज की ग्यारहवीं पीढ़ी में एक कुशल योद्धा, वीर सेनापति एवं साहसी पुरुष के रूप में मेवाड़ के इतिहास में सदा स्मरण किया जायेगा।^६ महाराणा भीमसिंह के राज्यकाल में मराठों के आतंक को समाप्त करने के लिए प्रधान सोमचन्द गांधी ने जब मराठों पर चढ़ाई करने का निर्णय लिया तो इस अभियान के दूरगामी महत्त्व को अनुभव कर मेवाड़ एवं कोटा की संयुक्त सेना का सेनापतित्व मेहता मालदास को सौंपा गया। उदयपुर से कूच कर यह सेना निम्बाहेड़ा, निकुम्भ, जीरण आदि स्थानों को जीतती और मराठों को परास्त करती हुई जावद पहुँची, जहाँ पर नाना सदाशिवराव ने पहले तो इस संयुक्त सेना का प्रतिरोध किया किन्तु बाद में कुछ शर्तों के साथ वह जावद छोड़ कर चला गया। होल्कर राजमाता अहिल्याबाई को मेवाड़ के इस अभियान का पता चला तो उसने तुलाजी सिंधिया एवं श्रीभाऊ के अधीन पाँच हजार सैनिक जावद की ओर भेजे। नाना सदाशिवराव के सैनिक भी इन सैनिकों से आ मिले। मन्दसौर के मार्ग से यह सम्मिलित सेना मेवाड़ की ओर बढ़ी। मेहता मालदास के निर्देशन में बड़ी सादड़ी का राजराणा सुल्तानसिंह, देलवाड़े का राजराणा कल्याणसिंह कानोड़ का रावत जालिमसिंह और सनवाड़ का बाबा दौलतसिंह आदि राजपूत योद्धा भी मुकाबला करने के लिए आगे बढ़े। वि० सं० १८४४ के माघ माह में हड़क्याखाल के पास भीषण भिड़न्त हुई। मालदास ने अपनी सेना सहित मराठों के साथ घमासान संघर्ष किया और अन्त में वीरतापूर्वक लड़ता हुआ रणांगण में शहीद हो गया।^७ मेहता मालदास के इस

१ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग, (उदयपुर) पृ० ६८६।

२ वही, पृ० ६८७।

३ वही, पृ० ६८७।

४ वीर विनोद, भाग-२, पृ० १७११।

५ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर) पृ० १०११।

६ शोध पत्रिका, वर्ष २३, अंक १, पृ० ६५-६६।

७ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर), पृ० ६८७-८८।



पराक्रम की कथाएँ आज भी मेवाड़ में प्रचलित हैं। मालदास अदम्य योद्धा और श्रेष्ठ सेनापति ही नहीं अपितु योग्य प्रशासक भी था।^१ समकालीन कवि किशाना आढ़ा कृत 'भीम विलास'^२ तथा पीछोली एवं भीसारया स्थित सुरह व शिलालेख^३ में मेहता मालदास^४ के कार्यों का उल्लेख उपलब्ध होता है।

मेहता रामसिंह

इतिहास प्रसिद्ध जालसी मेहता की वंशपरम्परा में मेहता ऋषभदास हुआ, मेहता रामसिंह उसी का पुत्र था। यह अपने समय का सर्वाधिक प्रभावशाली, कार्यदक्ष, स्वामीभक्त, नीतिनिपुण, दूरदर्शी एवं युद्धिमान था। इसके इन्हीं गुणों से प्रसन्न होकर महाराणा भीमसिंह ने वि०सं० १८७५ श्रावणादि में आषाढ़ सुदी ३ को बदनौर परगने का आरणा गाँव उसे जामीर में दिया।^५

भीमसिंह के काल में मेवाड़ में अंग्रेजों का हस्तक्षेप आरम्भ हो गया था और वि०सं० १८७४ में अंग्रेजों के साथ सन्धि होने के पश्चात् तो वहाँ द्वेष शासन की स्थिति पैदा हो गई, फलस्वरूप मेवाड़ की प्रजा परेशान हो गई। मेवाड़ के तत्कालीन पोलिटिकल एजेन्ट कप्तान कॉब ने इस परेशानी का मूल कारण उस समय के प्रधान शिवदयाल गर्लूड्या की अकुशल व्यवस्था को माना और उसे इस पद से हटा कर वि०सं० १८८५ के भाद्रपद में मेहता रामसिंह को मेवाड़ राज्य का प्रधान बना दिया।^६ रामसिंह ने योग्यतापूर्वक व्यवस्था की, जिसके परिणामस्वरूप मेवाड़ की आर्थिक स्थिति कुछ ही समय में सुधर गई और खिराज के चार लाख रुपये एवं अन्य छोटे-बड़े कर्ज अंग्रेजों को चुका दिये। रामसिंह की इस दक्षता से प्रसन्न होकर महाराणा ने चार गाँव क्रमशः जयनगर, ककरोल, दौलतपुरा और बलदरखा उसे बखशीस में दिये। महाराणा जवानसिंह (वि०सं० १८८५-९५) के समय में आर्थिक मामलों में सन्देह के कारण कुछ समय के लिए इसे प्रधान के पद से हटा दिया, जिसका परिणाम यह हुआ कि राज्य की आर्थिक स्थिति पहले से भी अधिक खराब हो गई, मजबूर होकर इसे पुनः प्रधान बनाया गया। इसने अंग्रेज सरकार से लिखा-पढ़ी करके कर्ज के दो लाख रुपये माफ करा दिये और चढ़ा हुआ खिराज भी चुका दिया। इस पर इसकी ईमानदारी की काफी प्रशंसा हुई और महाराणा ने इसे सिरापाव दिया, किन्तु रामसिंह के विरोधी उसके उत्कर्ष को सहन नहीं कर पा रहे थे, वे महाराणा के पास जाकर रामसिंह के विरुद्ध कान भरने लगे। कप्तान कॉब रामसिंह की योग्यता से काफी प्रभावित था, वह जब तक मेवाड़ में रहा, रामसिंह प्रधान बना रहा लेकिन उसके जाने के बाद रामसिंह को इस्तीफा देकर हटना पड़ा।

महाराणा जवानसिंह की वि०सं० १८९५ में मृत्यु होने के बाद उनके उत्तराधिकारी के प्रश्न पर उस समय के प्रधान मेहता शेरसिंह की एक षडयन्त्र के आरोप में अपने पद से हटना पड़ा और पुनः उसे मेवाड़ का प्रधान बनाया गया। महाराणा भीमसिंह के समय से ही महाराणाओं एवं सामन्त सरदारों के मध्य छद्म व चाकरी के सम्बन्ध में विवाद चल रहा था और कोई समझौता नहीं हो पा रहा था, रामसिंह ने तत्कालीन पोलिटिकल एजेन्ट रॉबिन्सन से एक नया कौलनामा वि०सं० १८९६ में तैयार करा कर लागू कराया। वि०सं० १८९७ में खेरवाड़ा में भीलों की एक सेना संगठित करने में रामसिंह ने काफी उद्योग किया। इसी वर्ष रामसिंह का पुत्र बल्लुवरसिंह जब बीमार हुआ तो महाराणा सरदारसिंह (वि०सं० १८९५-९९) उसकी हवेली पर आये एवं पूछताछ की। महाराणा सरूपसिंह (वि०सं० १८९९-१९१८) भी वि०सं० १९०० चैत्र वदी २ को रामसिंह की हवेली पर मेहमान हुए, उसकी मानवृद्धि की, ताजिम दी तथा 'काकाजी' की उपाधि देकर उसे सम्मानित किया। इतना होते हुए भी वि०सं० १९०१ में उसके विरोधियों की शिकायत पर उसे प्रधान पद से पुनः हटा दिया गया और १९०३ में तो एक षडयन्त्र के आरोप में उसे मेवाड़ छोड़कर ही ब्यावर चले जाना पड़ा। उसके जाने के बाद उसकी जायदाद जब्त कर ली गई तथा उसके बाल-

१ टाइ—एन्स एण्ड एन्टिक्विटीज आफ राजस्थान, पृ० ३५०।

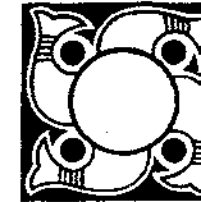
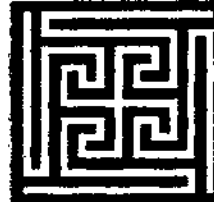
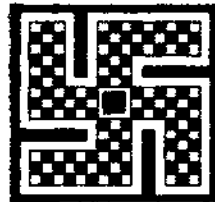
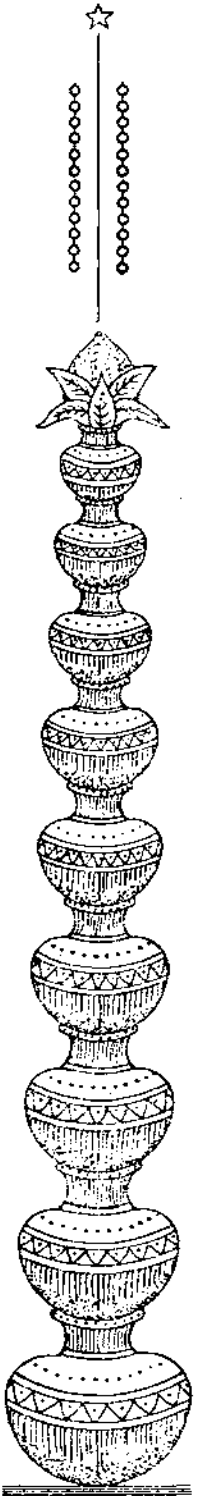
२ भीम विलास, छन्द सं० २६२-६७, साहित्य संस्थान, रा०वि० उदयपुर की हस्त प्रति सं० १२३।

३ वीर विनोद, भाग-२, पृ० १७७४-७५ एवं १७७७-७८।

४ उदयपुर स्थित 'मालदास जी की सहरी' का नामकरण इसी मालदास की स्मृति में रखा गया है।

५ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर) पृ० १३२४।

६ वही, पृ० १०२८।



बच्चों को भी निकाल दिया गया, यद्यपि बीकानेर महाराजा ने उसे अपने यहाँ ससम्मान आकर बसने का निमन्त्रण दिया, बाद में महाराणा सरूपसिंह ने भी सही स्थिति ज्ञात होने पर पुनः मेवाड़ में आने का बुलावा भेजा, किन्तु उसके पहले ही उसकी मृत्यु हो गई।

सेठ जोरावरमल बापना

पटवा गोत्र के सेठ जोरावरमल बापना के पूर्वजों का मूल निवासस्थान जैसलमेर था। इनके पिता गुमानचन्द थे, जिनके पाँच पुत्र थे, जोरावरमल चतुर्थ पुत्र था। मेवाड़ राज्य के शासन-प्रबन्ध में जोरावरमल यद्यपि किसी पद पर नहीं रहा, यह शुद्ध रूप से व्यापारिक प्रवृत्ति का पुरुष था किन्तु कर्नल टाड की सलाह से महाराणा भीमसिंह ने इसे जब इन्दौर से वि०सं० १८७५ में उदयपुर बुलाया एवं यहाँ दुकान खोलने की स्वीकृति दी तो उसके पश्चात् इसके कार्यों से मेवाड़ की रक्षा में पूर्ण योग मिला। इसकी दुकान से राज्य का सारा खर्च जाता था तथा राज्य की आय इसके यहाँ आकर जमा होती थी।

दुकान खोलने के बाद इसने नये खेड़े बसाए, किसानों को आर्थिक सहायता प्रदान की एवं चोरों व लुटेरों को राज्य से दण्ड दिलाकर मेवाड़ में शांति व व्यवस्था कायम रखने में पूर्ण सहयोग दिया। जोरावरमल की इन सेवाओं से प्रसन्न होकर वि०सं० १८८३ की ज्येष्ठ सुदी १ को महाराणा ने इसको पालकी व छड़ी का सम्मान दिया, बदनोर परगने का पारसोली गाँव भेंट में दिया एवं 'सेठ' की उपाधि प्रदान की। यह धनाढ्य ही नहीं अपितु राजनीतिज्ञ भी था। तत्कालीन मेवाड़ में प्रधान से भी अधिक सम्मान सेठ जोरावरमल बापना का था।^१

कोठारी केसरीसिंह

बुद्धि-चातुर्य एवं नीति-निपुणता में प्रवीण कोठारी केसरीसिंह सर्वप्रथम वि०सं० १६०२ में महाराणा सरूपसिंह के समय में 'रावली दुकान' कायम होने पर उसका हाकिम नियुक्त हुआ। इसकी कार्यदक्षता व चतुरता से प्रसन्न होकर वि०सं० १६०८ में महकमा 'दाण' का इसे हाकिम बनाया गया और महाराणाओं के इष्टदेव एकलिंगजी के मन्दिर का सारा प्रबन्ध भी इसे सुपूर्द किया गया।^२ कुछ समय पश्चात् इसे महाराणा का व्यक्तिगत सलाहकार भी नियुक्त किया। वि०सं० १६१६ में इसे नेतावल गाँव जागीर में प्रदान किया, इसकी हवेली पर मेहमान होकर महाराणा ने इसका सम्मान बढ़ाया, मेहता गोकुलचन्द के स्थान पर इसे मेवाड़ का प्रधान बनाया, बोरान गाँव भेंट में दिया और पैरों में पहनने के सोने के तोड़े प्रदान किये।

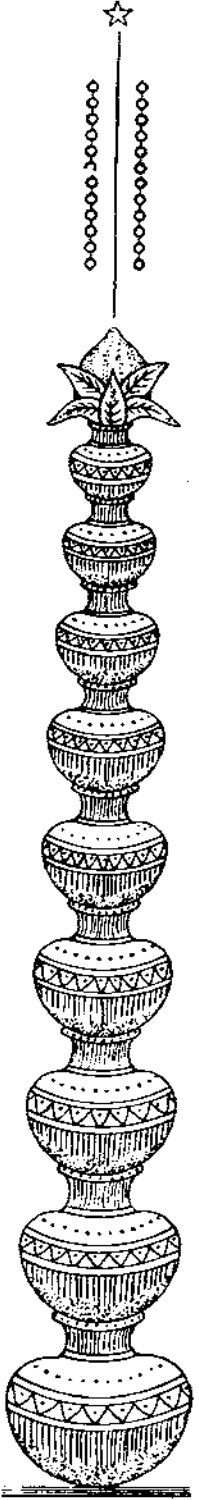
महाराणा शम्भूसिंह (वि०सं० १६१८-३१) जब तक नाबालिग था, उस स्थिति में कायम रीजेन्सी कौन्सिल का यह भी एक सदस्य था। स्पष्ट वक्ता एवं स्वाभीमक्त होने के कारण इस कौन्सिल के सदस्य रहते हुए इसमें किसी भी सरदार या सामन्त को किसी जागीर पर गलत अधिकार नहीं करने दिया। यह तत्कालीन पोलिटिकल एजेन्ट को सही सलाह देकर शासन सुधार में भी रुचि लेता था। वि०सं० १६२५ में अकाल पड़ने पर इसने पूरे राज्य में अनाज का व्यवस्थित प्रबन्ध किया। महाराणा ने विभिन्न विभागों की व्यवस्था व देखरेख का जिम्मा भी इसे सौंप रखा था। इसका दत्तक पुत्र कोठारी बलवन्तसिंह को भी महाराणा सज्जनसिंह ने वि०सं० १६३८ में देवस्थान का हाकिम नियुक्त किया। महाराणा फतहसिंह ने वि०सं० १६४५ में इसे महद्राजसभा का सदस्य बनाया और सोने का लंगर प्रदान किया।

मेवाड़ राज्य की रक्षा में उपर्युक्त प्रमुख जैन विभूतियों के अतिरिक्त अनेक अन्य महापुरुषों ने भी अपने जीवन का उत्सर्ग किया है, यहाँ सब का उल्लेख करना सम्भव नहीं है, किन्तु उपरिलिखित वर्णन से ही स्पष्ट है कि जैनियों ने निस्पृह होकर किस तरह मातृभूमि व अपने राज्य की अनुपम व अलौकिक सेवा कर जैन जाति को गौरवान्वित किया।

१ ओझा—राजपूताने का इतिहास, द्वितीय भाग (उदयपुर) पृ० १३३१-३३।

२ एकलिंगजी के मन्दिर का काम सम्हालने के बाद जैनधर्मानुयायी होते हुए भी केसरीसिंह व उसके उत्तराधिकारी ने एकलिंगजी को अपना इष्ट देव मानना आरम्भ किया।





मेवाड़ सम्प्रदाय के ज्योतिर्मय नक्षत्र



उत्सानुबन्ध—श्रमणेश भगवान महावीर द्वारा पुनरुद्धारित श्रमण परम्परा स्वरूप खोतस्विनी ने सहस्र धार वनकर-लगभग सम्पूर्ण आर्यावर्त को अपने तत्त्व नीर से सींचा ।

भगवान महावीर के बाद गणधर एवं स्थविरों की एक सुदीर्घ सशक्त परम्परा लगभग एक हजार वर्ष तक चली किन्तु उसके तुरन्त बाद ह्रास का एक अध्याय भी प्रारम्भ हुआ । कुछ समय वह भी चला अवश्य किन्तु साथ ही, क्रियोद्धार की एक नयी लहर दे गया ।

क्रियोद्धारस्वरूप तब युग के प्रमुख प्रस्तोताओं में क्रांतिकारी वीर लोका शाह, पूज्य श्री लव जी ऋषि, पूज्य श्री जीवराज जी महाराज, पूज्य श्री धर्मसिंह जी, पूज्य श्री हरजी राजजी, पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज गिने जाते हैं ।

भगवान महावीर और उनके बाद पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज तक का ऐतिहासिक पर्यवेक्षण पाठक इसी ग्रन्थ के इतिहास एवं परम्परा खण्ड में पढ़ सकते हैं ।

एक अप्रिय आवरण

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के भारत विश्रुत तिन्याणवें शिष्यों में से पूज्य श्री छोटे पृथ्वीराज जी महाराज पांचवें या छठे शिष्य थे ।^१

पूज्य श्री पृथ्वीराज जी महाराज (छोटे) पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के ही शिष्य थे ऐसा, कई प्रमाणों से सिद्ध हो चुका है ।^२

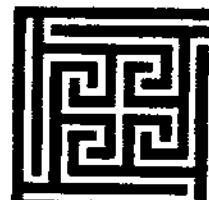
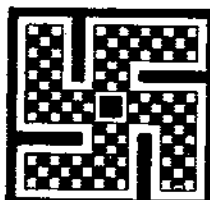
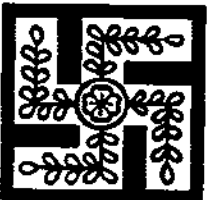
१ पूज्य श्री छोटा पृथ्वीचन्द्र जी महाराज

—आचार्य चरितावली, पृ० १४६

२ ६५, धर्मदास जी, ६६, पृथ्वीराज जी (छोटी पट्टावली)

(ख) धर्मदास जी ॥६०॥ पृथ्वीराज जी (बड़ी पट्टावली)

वीर भूमि मेवाड़ में जैन संतों की एक महान् परम्परा लगभग चार सौ वर्ष से चली आ रही है । इस संत परम्परा ने न केवल मेवाड़ की धार्मिकता को उजागर किया, किन्तु वहाँ के लोक-जीवन को भी, सेवा, समर्पण, त्याग और राष्ट्र-निर्माण के क्षेत्र में सदा प्रेरित किया है । मेवाड़ में स्थानकवासी श्रमणों की इस गरिमामयी परम्परा के अनेक दीप्तिमान-नक्षत्र संतों का ऐतिहासिक परिचय यहाँ प्रस्तुत है—ग्रन्थ के प्रधान सम्पादक श्री सौभाग्य मुनि 'कुमुद' की प्रवाहमयी-लेखिनी से ।



पूज्य श्री पृथ्वीराज जी महाराज मेवाड़ की यशस्वी सन्त परम्परा के मूल संत रत्न गिने जाते हैं ।

मेवाड़ प्रदेश में जैन धर्म की मुकुलित कलि को विकसित करने का श्रेय पूज्य श्री पृथ्वीराज जी महाराज की ही दिया जा सकता है । ये मेवाड़ संप्रदाय के प्रथम आचार्य थे ।

इनके बाद पूज्य श्री दुर्गादास जी महाराज, पूज्य श्री हरजी राज जी महाराज, पूज्य श्री गांगोजी महाराज, पूज्य श्री रामचन्द्र जी महाराज, पूज्य श्री मनोजी महाराज, पूज्य श्री नारायणदास जी महाराज, पूज्य श्री पूरणमल जी महाराज क्रमशः मेवाड़ सम्प्रदाय में पट्टालंकृत हुए ऐसा, छोटी और बड़ी दोनों पट्टावलीयों से सिद्ध है । एक अन्य पट्टावली के अनुसार, पूज्य श्री पृथ्वीराज जी महाराज के बाद पूज्य श्री दुर्गादास जी, पूज्य श्री नारायण जी, पूज्य श्री पूरणमल जी, पूज्य श्री रामचन्द्र जी महाराज हुए ऐसा क्रम है ।

इनमें पूर्व मत छोटी-बड़ी पट्टावली के अनुरूप है, जो प्राचीन है, यह पट्टावली अर्वाचीन है । अतः पहली परम्परा ही समीचीन लगती है ।

बड़े खेद का विषय है कि उपर्युक्त परम्पराधीन पट्टाचार्यों, महामुनियों के विषय में हम केवल नाममात्र का परिचय ही दे पा रहे हैं । बहुत शोध करने के उपरान्त भी हमें उक्त पूज्यों के विषय में कोई जानकारी नहीं मिल पायी ।

पूज्य श्री पूरणमल जी महाराज के बाद पट्टानुक्रम से घोर तपस्वी पूज्यश्री रोड़जी स्वामी का नाम आता है ।

पूज्य श्री रोड़ जी स्वामी से ही, मेवाड़ सम्प्रदाय के महात्माओं की ऐतिहासिकता के कुछ प्रमाण उपलब्ध होते हैं जिन्हें आगे क्रमशः देने का प्रयास किया गया है ।

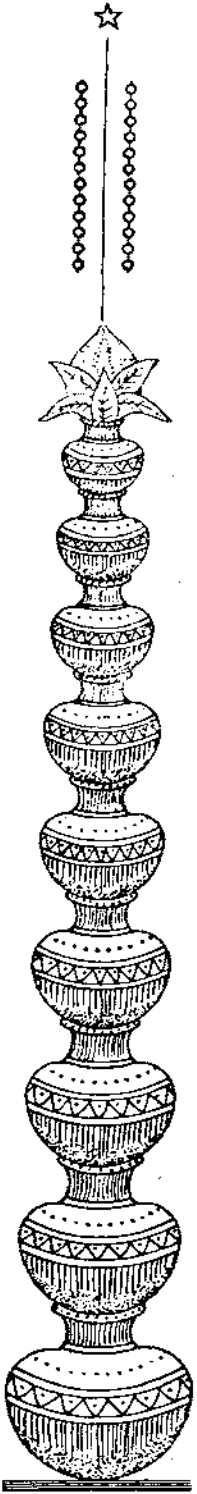
दूध का वर्ण तो उज्ज्वल है, व्यवहार भी कितना उज्ज्वल है, जो मथने वालों के हाथ में स्निग्ध-उज्ज्वल नवनीत देता है ।

चन्दन का तन ही नहीं अन्तर मन भी कितना सुगन्धित है, जो घिसने वालों के हाथों को मधुर सौरभ से सुगन्धित कर देता है ।

संत का रूप ही नहीं, स्वरूप भी कितना निर्मल और पावन है, जो उसकी चरण-वन्दना करने वाले भी विश्व में शीर्षस्थ बन जाते हैं ।

—अम्बामुह-सुवचन





१

घोर तपस्वी पूज्यश्री रोड़जी स्वामी

□

परिचय रेखा

मेवाड़ की पुष्य धरा पर त्याग, तप तथा संयम स्वरूप त्रिपथगामिनी गंगा को अबतरित और प्रवाहित करने वाले सत्पुरुषों में पूज्य श्री रोड़दासजी महाराज का नाम सचमुच भागीरथ जैसा है।

घोर तपस्वीजी के नाम से प्रसिद्ध श्री रोड़जी स्वामी का जन्म माहोली—नाथद्वारा के मध्य स्थित 'देवर' नामक ग्राम में हुआ। लोढ़ा गोत्रीय श्री डूंगरजी तथा राजीबाई इनके पिता व माता थे। जन्म समय १८०४ के लगभग था।

मेवाड़ में कूड़ा-करकट के इकट्ठे किये ढेर को 'रोड़ी' कहते हैं। माता-पिता ने बालक का नाम रोड़ीलाल रखा। मेवाड़ में ऐसा नाम किसी दुर्लभ पुत्र का रखने की पद्धति है।

कई मनोतियों के बाद किसी निःसन्तान को यदि पुत्र मिल जाए तो उसको किसी की कुटुम्बि न लगे, इस विचार से उसका 'कचरामल', 'रोड़ीलाल', इस तरह के असोभन नाम रखे जाते हैं। श्री रोड़ीलालजी भी अपने माता-पिता की दुर्लभ सन्तान होंगे, तभी उनका नाम 'रोड़ीलाल' रखा गया।

इससे यह तो सिद्ध हो ही जाता है कि श्री रोड़ीलालजी अपने माता-पिता की निःसन्देह प्रिय सन्तान थे।

लालन-पालन भी उसी स्तर से हुआ होगा। श्री रोड़ीलालजी लगभग बीस वर्ष के होंगे। देपुर में श्री हीरजी स्वामी का पदार्पण हुआ।^१

श्री हीरजी स्वामी बड़े तपस्वी तथा प्रभावक सन्त थे। उनका यद्यपि बहुत थोड़ा सम्पर्क श्री रोड़जी को मिला, किन्तु रवि-किरण से जैसे कमल अनायास ही खिल जाया करते हैं। ऐसे ही मुनिश्री के तनिक सम्पर्क ने ही रोड़जी के अन्तर को एक नई दिशा में प्रेरित कर दिया, वह नई दिशा वैराग्य की थी।

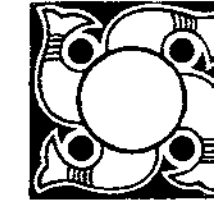
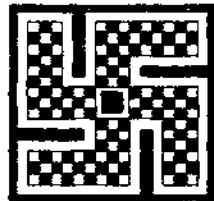
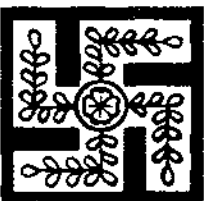
आग्रह यदि सत्य होता है तो उसमें एक तेजस्विता होती है। सांसारिकता और प्रलोभन उसके समक्ष तुच्छ हो क्षीण हो जाया करते हैं।

माता-पिता और पारिवारिकजनों ने उन्हें सांसारिकता में बाँधने का प्रयत्न किया ही होगा, किन्तु वे असफल रहे।

उसी वर्ष अर्थात् अठारह सौ चौबीस में श्री रोड़जी ने श्री हीर मुनिजी के पास संयम ग्रहण किया।

१ "प्रेरक जीवनी" के लेखक ने हीरजी महाराज को रोड़जी स्वामी का गुरु माना। लेखक के पास इसका क्या प्रमाण है, यह तो ज्ञात नहीं, किन्तु प्रेरक जीवनी और आगम के अनमोल रत्न में श्री सुखजी स्वामी का उल्लेख हीरजी के गुरु के रूप में किया तथा हीरजी को श्री रोड़जी स्वामी का गुरु बताया। परम्परागत पट्टावलियों में कहीं भी उक्त दोनों मुनियों का नाम देखने में नहीं आया। संवत् १६३८ की गुलाबचन्दजी महाराज द्वारा लिखित पट्टावली में भी "पूरोजी का रोड़दास" ऐसा लिखा है।

एक छोटी पट्टावली का पत्र रिखबदासजी महाराज तक का लिखा मिला। उसमें भी पट्ट-परम्परा के अनुसार १०३ पर, पूरोजी १०४ पर रोड़दासजी। इस उल्लेख से भी श्री रोड़जी स्वामी के गुरु पूरणमलजी महाराज (पूरोजी) होना सिद्ध होता है। प्रस्तुत निबन्ध में श्री सुखजी स्वामी तथा हीरजी स्वामी का गुरु रूप में उल्लेख केवल प्रेरक जीवनी के आधार से अंकित किया गया है।



साधना

संयम की पावन भूमिका को प्राप्त कर श्री रोड़जी स्वामी को स्वयं अपने को ही पावन नहीं कर दिया अपितु संयम की सर्वोत्कृष्टता को भी मूर्तरूप प्रदान कर दिया।

नितान्त तितिक्षावृत्ति में विचरने वाले श्री रोड़जी स्वामी बड़े परिषहजयी तथा धीर मुनिराज थे।

पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज कृत 'श्री रोड़जी स्वामी रा गुण' तपस्वीजी का जीवन परिचय देने वाली एक सशक्त और प्राचीन रचना है।

उसके अनुसार ज्ञात होता है कि श्री रोड़जी स्वामी सचमुच बड़े कष्ट-सहिष्णु थे। उनकी धीरोदात्त साधना के विषय में मुनते-सोचते ही एक आश्चर्य का अनुभव होने लगता है।

सर्दी में वे केवल एक चादर रखते थे। यदि सर्दी कुछ अधिक हो जाती तो वे उस चादर को भी दूर रखकर ध्यान कर लेते।^१

गर्मी में तपीस्वीजी किसी गर्म शिला पर सूर्य को सामने रख दोनों बाहुओं को लम्बी कर आतापना लेते हुए ध्यान किया करते।^२

भयंकर से भयंकर विपरीत परिस्थितियों में भी स्वामीजी अविचल संयम-पथ पर दृढ़तापूर्वक चलते रहे। भयंकर विघ्नों के राहु भी उनके संयम चन्द्र को ग्रस नहीं सके। उनमें सांयमिक शैथिल्य नहीं आ पाया, यह उनकी सतत जागरूकता का प्रमाण है।

नृसिंहदासजी महाराज कहते हैं कि—

पंच महाव्रत पालताजी खम्या करी भरपूर।

बावीस परीषह जीतिया जी दोष टाल्या बियालीस पूर ॥

आत्म-गवेषणा की इसती उन्नत दशा में रमकर रहने वाले श्री रोड़जी स्वामी की साधना का परिचय कुछ शब्दों या पंक्तियों में आ सके यह सम्भव नहीं।

तात्कालिक परिस्थितियाँ

श्री रोड़जी स्वामी ने जब १८२४ में दीक्षा ग्रहण की तब मेवाड़ में साधुमार्गी बावीस सम्प्रदाय का प्रभाव व्यापक रूप से फैल चुका था।

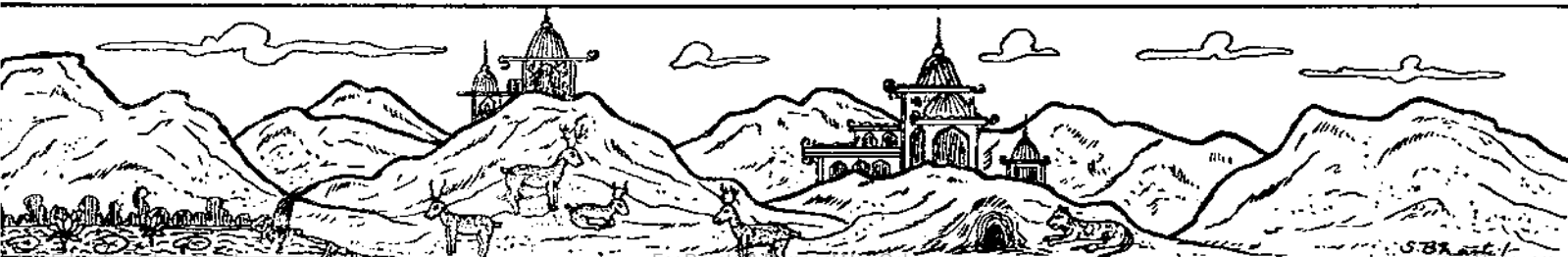
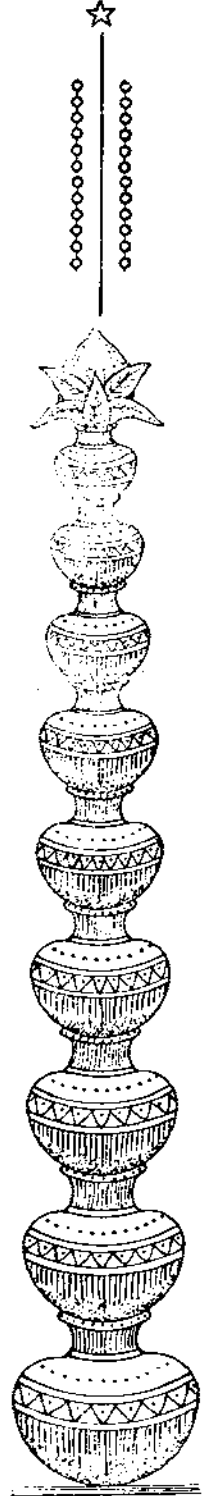
यतिवाद, जो कई वर्षों से जमा था, पूर्वाचार्य श्री पृथ्वीराजजी महाराज, श्री दुर्गादास जी, श्री रामचन्द्रजी महाराज श्री नारायणजी स्वामी आदि के त्याग, तप और उत्कृष्ट संयम से मूल से उखड़ चुका था। यतिवर्ग केवल उपाश्रय और मन्दिरों तक सीमित था। आम जनता जड़ पूजा के आग्रहों से मुक्त हो चुकी थी। चारों तरफ मुनियों के त्याग-तप का प्रभाव था।

चैतन्योपासना, स्वरूप-साधना, सामायिक व्रत, नियम, पौषध स्वाध्याय आदि धर्मक्रियाएँ उत्थान पर थीं। दयाधर्म का चारों तरफ डंका बज रहा था। ऐसे वातावरण में एक विक्षेप भी प्रगति पा रहा था।

केलवा और राजनगर से आचार्य श्री रघुनाथजी के शिष्य श्री भीषणजी के द्वारा जो श्रद्धा-भेद प्रारम्भ हुआ वह धीरे-धीरे बढ़ रहा था।

जैन धर्म में दया दान का बड़ा महत्त्व है। कष्ट-पीड़ित किसी भी प्राणी को कष्ट-मुक्त करना, मृत्यु के मुँह में पहुँचे किसी तड़पते बेसहारे पड़े प्राणी को किसी उपक्रम से बचा लेने की भावना आना और बचा लेना दया है, जो धर्म का महत्त्वपूर्ण अंग है। इसी तरह अभावग्रस्त किसी प्राणी को देय वस्तु समर्पित करना अनुकम्पा दान के रूप में प्रतिष्ठित रहा है।

१. सियाले एक पछेवड़ी जी, ध्यान धरे महाराय।
थोड़ी सी अधको पड़े तो, बीने भी देवे टाल ॥
२. जेठ तपे रवि आकरो जी, घुप पड़े असराल।
स्वामी लेवे आतापना जी, वे तो कर कर लम्बी बाँय ॥



सन्त श्री भीखणजी की श्रद्धानुसार ये बातें एकान्त पाप हैं। इनका धर्म या धर्म से सम्बन्धित किसी साधना के साथ दूर तक भी कोई सम्बन्ध नहीं।

श्री भीखणजी की यह श्रद्धा, प्ररूपणा जैन धर्म के मान्य सिद्धान्तों के एकदम प्रतिकूल थी। आचार्य श्री रघुनाथजी महाराज ने उन्हें अपने विचार बदलने को कहा। किन्तु वे अपने विचारों की पुष्टि और प्रचार करते रहे।

परिणामस्वरूप श्री भीखणजी को पूज्य श्री रघुनाथजी महाराज की सम्प्रदाय से अलग होना पड़ा।

तेरह व्यक्तियों के प्रारम्भिक सहयोग से एक नये पंथ को जन्म दिया गया, जिसका नाम संख्या के आधार पर 'तेरह पंथ' (राजस्थानी भाषा में 'तेरा पंथ') रख दिया।

मेवाड़ तेरापंथ का उद्गम-स्थल है। इस पंथ के उद्गम में जहाँ श्री भीखणजी की प्रमुख भूमिका रही, वहाँ राजनगर के कतिपय श्रावकों का सहयोग भी कम नहीं रहा। तेरापंथ सम्मत श्रद्धा के पचार में राजनगर के श्रावकों ने बड़ा काम किया।

राजनगर के आस-पास के गाँवों में प्रचार की यह लहर बढ़ती जा रही थी।

मेवाड़ में उस समय मेवाड़ सम्प्रदाय के अग्रज मुनिराज श्री सुखजी स्वामी, श्री हीरजी स्वामी आदि मुनिराजों का संघ विचरता था।

बढ़ते हुए श्रद्धा-भेद के प्रवाह का तत्कालीन मुनि-मण्डल ने दृढ़ता के साथ प्रतीकार किया ही होगा, तभी वह प्रवाह एक सीमित प्रदेश में फँसकर रह गया, आगे नहीं बढ़ सका। तथापि कुल मिलाकर तेरापंथ को अपने प्रचार का जो लाभ मिला वह कम नहीं था।

पहाड़ी प्रदेश के लगभग प्रत्येक गाँव में दो विचारधारा वन चुकी थीं, जिससे सामाजिक राग-द्वेष का दावानल भयंकर उठा था।

राजनैतिक दृष्टि से यह जमाना मेवाड़ के लिये कोई अच्छा जमाना नहीं था। आसपास के हमलावरों से मेवाड़ तंग था। मुगलों के मर्यादित आक्रमणों से जर्जर मेवाड़ बड़ी कठिनाई में अपना समय बिता रहा था, चैन नहीं था। देश में मुगल साम्राज्य का अन्त होकर अंग्रेजी शासन की स्थापना हो रही थी। केन्द्र कमजोर था। अतः देश के भीतर कई विग्रह चल रहे थे। आपाधापी के उस युग में मेवाड़ बड़ी हानि उठा रहा था। मेवाड़ के राज्यसिंहासन पर जो महाराजा समासीन थे वे एक कमजोर राज्य के शासक थे। उन्हें बार-बार छिटपुट आक्रमणों का सामना करना पड़ता था।

राजनैतिक दृष्टि से कमजोर राज्य के नागरिकों का मनोबल भी प्रायः कमजोर हुआ करता है। उस स्थिति में कोई भी प्रवाह उन्हें बहाकर ले जा सकता है।

मेवाड़ के जनमानस की भी कुछ ऐसी ही स्थिति थी। तभी श्रद्धा-भेद का एक प्रवाह आया, जिसका संचालन कुछ धनाढ्य गृहस्थ कर रहे थे। मेवाड़ के पहाड़ी प्रदेश का मोला जनमानस उसमें बहने लगा।

तपस्वी श्री रोड़जी स्वामी अपनी तपोसाधना में निरत थे। उन्होंने दीक्षित होते ही बेले-बेले पारणा करने की प्रतिज्ञा ली। एक माह में दो अठई भी कर लिया करते थे।

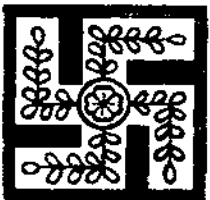
प्रतिवर्ष दो मास खमण (महीने की तपश्चर्या वर्ष में दो बार) करने का निश्चय किया। इस तरह उन्होंने लगभग अपने सम्पूर्ण जीवन को तपोसाधना में समर्पित कर दिया।

तपश्चर्या में रत रहते हुए भी समाज में जो कुछ हो रहा था, उससे वे अनजान नहीं थे। श्रद्धा-भेद के बढ़ते प्रवाह को वे बड़ी धीरता के साथ देख रहे थे। उस अवसर पर उन्होंने सद्बोध देकर कई भटकते हुआ को स्थिर भी किया।

कुछ वर्षों पहले उदयपुर में पुरातत्त्ववेत्ता स्व० पं० कान्तिसागरजी से मेरा मिलना हुआ। उन्होंने बताया कि तेरापंथी आचार्य भारीमलजी तथा श्री रोड़जी स्वामी की चर्चा की एक लिखित पांडुलिपि मेरे पास है। मैं ढूँढ़कर आपको बताऊँगा।

मैंने उसे प्राप्त करने का पुनः प्रयत्न किया। उन्होंने उसे ढूँढ़ा भी, किन्तु वह प्रति मिली नहीं।

यदि वह प्रति मिल जाती तो कई प्रश्नों का अनायास ही समाधान हो जाता।



प्रति न भी मिली, तथापि हम इतना तो अवश्य मान ही सकते हैं कि श्रद्धा-भेद का बढ़ता प्रवाह घोर तपस्वी श्री रोड़जी स्वामी के त्यागपूर्ण तेजस्वी व्यक्तित्व से अवरुद्ध अवश्य हो गया।

उसका बड़ाव ही नहीं रुका, कहीं-कहीं पुनरुद्धार भी हुआ।

महानता के मूर्तस्वरूप

घोर तपस्वी श्री रोड़जी स्वामी तपश्चर्या के तो साक्षात् मूर्त स्वरूप थे ही, सहिष्णुता भी उनमें अद्भुत थी। पाठक उनके जीवन के विशेष प्रसंगों को, जिन्हें आगे उद्धृत किया गया है, पढ़ेंगे तो पायेंगे कि स्वामीजी का जीवन सहिष्णुता का ऐसा विराट् समुद्र था, जिसका कहीं किनारा ही नहीं।

अनेकों जगह उन्हें पत्थरों से मारा गया, रेत में दबा दिया गया, फिर भी वे नितान्त अक्षुब्ध रहे।

हमें भगवान महावीर के जीवन में एक निराली क्षमता का चित्र मिलता है जिसका उदाहरण विश्व में कहीं भी अन्यत्र नहीं मिलता।

भगवान महावीर के बाद साधकों के जीवन में अनेकों उपसर्गों की लम्बी परम्परा है। किन्तु विकट उपसर्गों की घटाओं के मध्य श्री रोड़जी स्वामी की अद्भुत क्षमता का जो मुस्कुराता स्वरूप उपलब्ध होता है, सचमुच उसकी होड़ वाला चरित्र अन्यत्र नहीं मिल सकता।

पाठक स्वयं सोचें कि किसी मुनि के कई दिनों का तप हो पारणा करने का अवसर आया हुआ हो और उसे कह दिया जाए कि वह मकान छोड़कर निकल जाए। उस स्थिति में जबकि अन्य स्थान उपलब्ध होने की सम्भावना न हो, मुनि की कैसी स्थिति बने।

सचमुच ऐसी स्थिति श्री रोड़जी स्वामी में बनी थी। ऐसे कठिन प्रसंग में भी अविचल धैर्य बनाए रखना, अकषाय भाव में लीन रहना महानता की सर्वोच्च स्थिति नहीं तो और क्या है ?

श्री रोड़जी स्वामी सहिष्णु ही नहीं दयालु भी थे। यों तो मुनि मात्र दयालु होते हैं, किन्तु तपस्वीराज की दयालुता की तुलना नहीं।

कई जगह उपसर्ग खड़े करने वाले मूढजनों को अधिकारियों ने पकड़कर दण्डित करने का प्रयास भी किया, किन्तु ज्यों ही स्वामीजी को ज्ञात होता, वे तत्काल दयाद्र हो उठते। वे अपने अपराधी को मुक्त कराने को बेचैन हो जाते। कई बार उन्होंने अपने अपराधियों को कारागार से मुक्त कराने को आहार तक त्याग दिया।

पर-दुःख-कातरता का ऐसा मूर्त स्वरूप बहुत कम देखने में आता है। स्वामीजी “आत्मवत् सर्वभूतेषु” को चरितार्थ करने वाले समभाव सिद्धान्त पर चलने वाले एक सफल पथिक थे।

स्वामीजी साधवाचार की साधना में प्रखर थे। निरन्तर आत्म-गवेषणा तथा तप में रत रहने वाले सत्पुरुष के साधवाचार की उग्रता के क्या कहने ? उन्हें प्रमाद का स्वल्पांश भी स्वीकृत नहीं था।

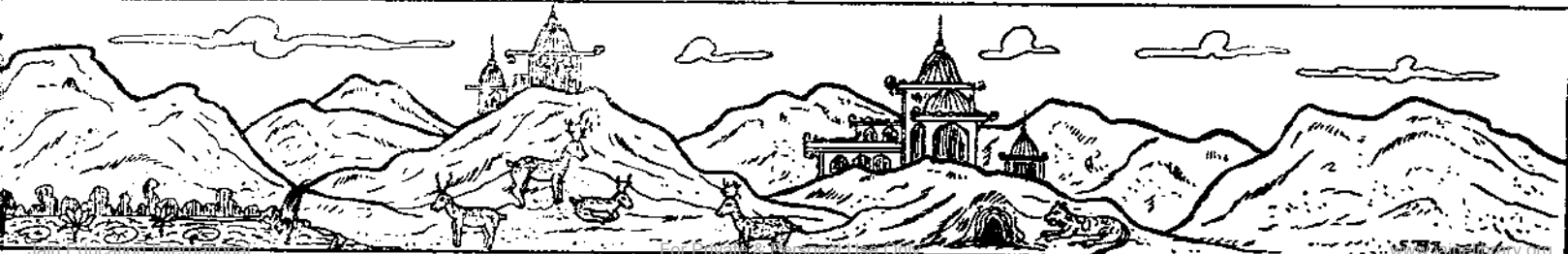
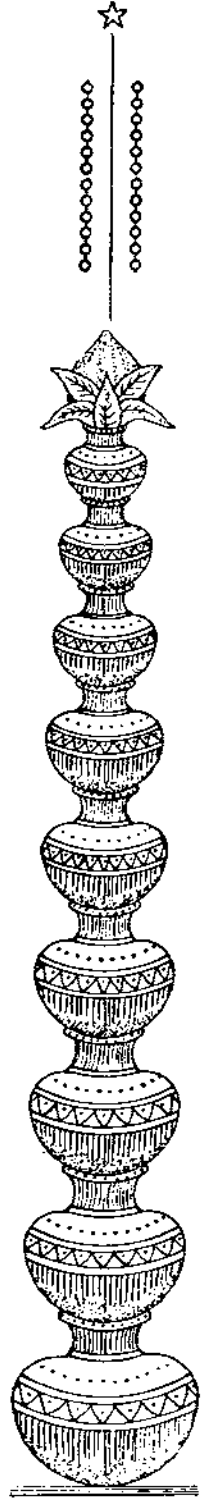
साम्प्रदायिक द्वेष के एक विशेष प्रसंग में किसी द्वेषी ने एक बार स्वामीजी को कलंकित करने की असफल कुचेष्टा भी की, किन्तु स्वामीजी सम्पूर्ण निर्णय होने तक आहार त्याग कर बैठे। प्रश्न उनके जीवन का ही नहीं, मुनि परम्परा के कलंकित होने का था। स्वामीजी अन्य उपसर्गों के प्रति जहाँ अतिशय नम्र तथा सहिष्णु थे, उक्त प्रसंग के अवसर पर चट्टान से भी अधिक कठोर बन गये। आहार तभी ग्रहण किया जब सच्चाई जनता के सामने आ गई।

एक ही व्यक्ति में इतने विलक्षण गुणों का सम्मिलित विकास सचमुच उसे महानता के शिखर पर चढ़ा देता है।

स्वामीजी अद्वितीय (=एकाकी) स्थिति में भी कुछ समय विचरे, ऐसा नृसिंहदासजी महाराज रचित ढाल से ज्ञात होता है।^१ कठिनाइयों के उस युग में एकाकी विचरण करना सामान्य बात नहीं थी। बहुत बड़े धैर्य और साहस के बिना एकाकी विचरण करना सम्भव नहीं था।

१. काल कितना इक विचरिया जी एकल विहारी आप।

परीसा तो खस्यां अति घणां जारां टल्या सर्वं सन्ताप ॥



अद्वितीय विचरने का कारण अनुमानतः परिस्थिति रही होगी। अन्यथा स्वेच्छया एकाकी विचरण शास्त्र द्वारा निषिद्ध है।

ऐसा लगता है कि अन्य मुनिराजों का देहावसान हो गया होगा और कोई योग्य दीक्षार्थी उपलब्ध नहीं हुआ होगा। तभी वे एकाकी रहे होंगे।

एकाकी रहने की स्थिति में अधिकतर बे-लगाम घोड़े की तरह साधक का पतन होता देखा गया है। किन्तु श्री रोड़जी स्वामी के लिये यह पद्धति सत्य सिद्ध नहीं हो सकी। स्वामीजी एकाकी रहकर भी उत्कृष्ट संयम की साधना में प्रतिपल रत रहे। शास्त्रोक्त "एगओ वा परिसागओ वा" नामक उक्ति आपके लिये अवश्य चरितार्थ हो गई। अनेक में और एक में आपका समान संयमोत्कर्ष बना रहा।

श्री नृसिंहदासजी महाराज रचित ढाल देखने से ज्ञात होता है कि स्वामीजी को ध्यान का सबसे बड़ा सम्बल था। एकान्त आपका प्रिय स्थान था। प्रायः नगर और बस्ती से दूर एकान्त में स्वामीजी घण्टों ध्यान साधना किया करते थे। भयंकर सर्दी और गर्मी में भी यह क्रम नहीं टूटता।

प्रातः ही नहीं, मध्याह्न और रात्रि में भी ध्यान साधना चलती रहती।

कहते हैं, रोड़जी स्वामी राज करेड़ा के पास कालाजी का स्थान है। उसके आस-पास भी ध्यान किया करते। वहाँ उनकी आँखें जो लगभग अन्धापन से ग्रस्त हो चुकी थीं, खुल गईं, ऐसा ढाल से ज्ञात होता है।^१

रायपुर के पाम घणां की वाली को भी स्वामीजी ने ध्यान से पावन किया।

एक जगह स्वामीजी ध्यानस्थ थे। वहीं एक भयंकर नाग निकल आया। वह पाँवों में लिपट गया। फिर भी तपस्वीजी अडिग रहे। कहते हैं, नाग ने स्वामीजी के चारों तरफ फिरकर परिक्रमा, वन्दना, अभ्यर्थना की और सभी के देखते हुए यथास्थान चला गया।^२

आत्म-साधना के समर-क्षेत्र में उतरे सेनानी की तरह श्री रोड़जी स्वामी अपनी साधना के प्रति निरन्तर जागरूक रहने वाली अनुपम विभूति थे। एकक्षण के लिये भी उन्हें संयम-शैथिल्य स्वीकार नहीं था।

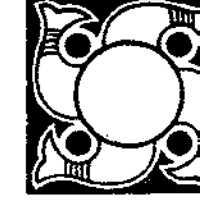
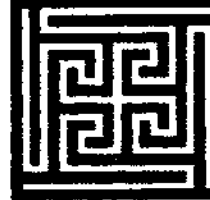
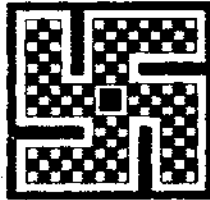
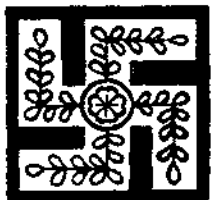
राजकरेड़ा के राजाजी जानते थे कि तपस्वीजी की दृष्टि (नजर) में ह्रास हो गया। उन्होंने अपने यहाँ के काजल के प्रयोग का आग्रह किया। एक दिन तपस्वीजी राजमहलों में गये। नौकर लोग काजल देने लगे। मर्यादानुसार महाराज ने पूछा कि काजल सूजता (निर्दोष) है? एक नौकर ने कहा महाराज! सारी रात आँखें फोड़ते हो गईं और आप कहते हो सूजता है? नौकर के इतना कहते ही तपस्वीजी जान गये कि काजल मेरे लिये रातों रात तैयार किया गया। यह मेरे लिये निर्दोष नहीं है। उन्होंने उसे तत्काल त्याग दिया।^३

मूर्तिमन्त महानता के कुछ अद्भुत चित्र

आँखें खुल गईं

सदोष समझकर तपस्वीजी ने राजाजी का काजल नहीं लिया था और अपने स्थान पर पहुँच कर वे ध्यान के लिए एकान्त विपिन में चले गये।

१. शहर सूँ स्वामी पधारियाजी गया विषम उजाड़।
तेलो कर स्वामी विराजिया वारी आँख्या खुली तत्काल ॥
२. आतापना लेवे स्वामी रोड़जी सिला उपर जाय।
सर्प निकल्यो तिण अवसरे वो तो कालो डाटक नाग ॥
प्रक्रमा दीनी तिण अवसरे जी राजा वासग नाग।
पगां बीच ऊमो रह्यो उ तो ऊमो करे अरदास ॥
३. राजाजी जब यूँ कह्यो स्वामी काजल लो महाराज।
एक दिवस गढ़ पधारज्यो म्हारा सफल करो काज ॥
स्वामी तो मन में विचारियोजी सूजतो काजल नांय।
यो तो काजल लेणो नहीं म्हारे दोष लागे वरतां मांय ॥



तेले का तप कर स्वामीजी ने वहाँ अखण्ड ध्यान किया। वहाँ तपस्वीजी की आँखें खुल गईं। दृष्टि लौट आई।^१

शिला धर दी

रायपुर की 'घणां की वाली' में तपस्वीजी ध्यानस्थ थे। एक ग्वाले ने तपस्वीजी के चारों तरफ रेती का ढेर लगाकर ऊपर एक बड़ा-सा पत्थर रख दिया। बड़ा जबरदस्त परीपह था। किन्तु स्वामीजी अडिग ध्यानस्थ बैठे रहे।

एक भाई प्रायः प्रतिदिन उस मार्ग से आया-जाया करता था। उसने स्वामीजी की यह स्थिति देखी। उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने तुरन्त उपसर्ग उठा दिया। कहते हैं, नगर में चर्चा होने पर ग्वाला को पकड़ भी लिया गया। किन्तु स्वामीजी ने आहार त्याग कर उसे छोड़ा दिया।^२

सनवाड़ में उपसर्ग

सनवाड़ आज तो जैन समाज का अच्छा केन्द्र है। किन्तु एक युग में वहाँ किसी जैन मुनि का प्रवेश ही कठिन था। जैन अनुयायियों का निवास नहीं होगा अथवा अत्यल्प संख्या में रहा होगा। उस स्थिति में श्री रोड़जी स्वामी सनवाड़ पधारे

नियमानुसार स्वामीजी ने एकान्त वन में ध्यान किया। ग्वाले, जो ढोर चरा रहे थे, मुनि को देखकर पहले तो डरे, किन्तु मुनि की शान्त मुद्रा से उनका भय जाता रहा। वे क्रोध और कीतूहल के मिश्रित भावों में बह कर स्वामीजी को दोनों पाँवों से पकड़कर घसीटने लगे। यह मयंकर क्लेशप्रद उपसर्ग था, किन्तु सहिष्णुता के मूर्तिमन्त आदर्श स्वामीजी अक्षुब्ध बने रहे। कहते हैं, उन्हें भी अधिकारी दण्ड देने लगे तो स्वामीजी ने मुक्त करा दिया।^३

सर्प द्वारा अभ्यर्थना

स्वामीजी के अपार धैर्य के प्रसंग में पाठक पहले पढ़ चुके हैं कि उदयपुर में नाग ने स्वामीजी का चरण-वन्दन किया।

श्री नृसिंहदासजी ने इस प्रसंग को अपनी ढाल में इस तरह ढाला है—

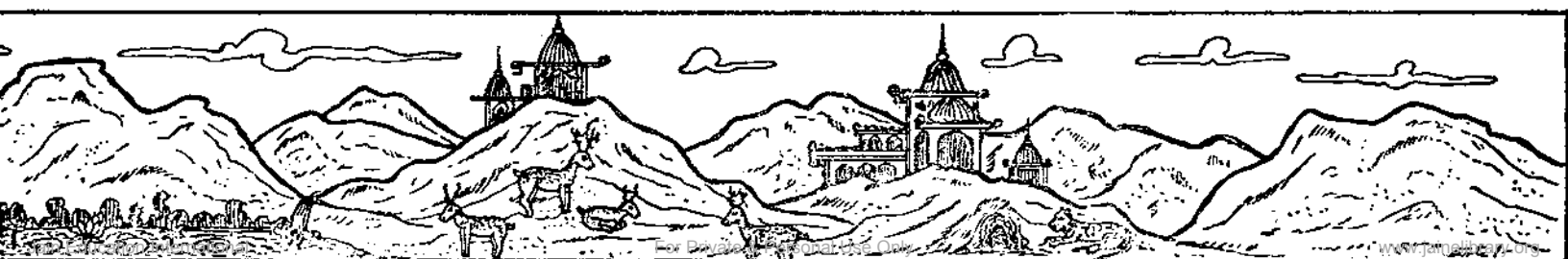
स्वामी वडा सँ पधारियाजी गया उदयपुर मांय ।
स्वामी तो देवे धर्म देशना वे तो भाया करे अरदास ॥
आतापना लेवे स्वामी रोड़जी सिला ऊपर जाय ।
सर्प निकल्यो तिण अवसरे उ तो कालो डाटक नाग ॥
प्रकमा दीनी तिण अवसरे राजा वासक नाग ।
पगां विचे ऊमो रयो वो तो ऊमो करे अरदास ॥

क्षमा का आदर्श

कैलासपुरी (एकलिंगजी) शैवमत के प्रधान पीठों में से एक है।

एक युग था, जब साम्प्रदायिक द्वेष हवा की तरह जनजीवन में घुला-मिला था। "हस्तिना ताड्यमानोऽपि

१. स्वामी शहर सँ पधारिया गया विखम उजाड़ ।
तेलो कर स्वामी विराजियाजी बाँकी आँख्या खुली तत्काल ॥
२. रायपुर स्वामी आवियाजी घणां की वाली में जाय ।
तपस्या करे स्वामी रोड़जी मूरख सिला मेली माथे आय ॥
३. सनवाड़ स्वामी आविया जी तपस्या करे भरपूर ।
चरण पकड़ ग्वाला घीसिया बाँ तो क्षमा आणी मनसूर ॥



न गच्छेज्जैनमन्दिरे” जैसी उक्तियाँ चारों तरफ फैली हुई थीं। श्री रोड़जी स्वामी एक बार कैलासपुरी पधारे। स्वामीजी को वहाँ तीव्र साम्प्रदायिकता का सामना करना पड़ा।

तपस्वीजी के एकलिंगजी में प्रवेश करते ही एक तूफान-सा उठ खड़ा हुआ। मानो तीर्थ अपवित्र हो गया हो। साम्प्रदायिक तत्त्वों ने छोकरों को बहकाया। एक टोली स्वामीजी के पीछे लग गई। बच्चे तो फिर बच्चे ही ठहरे। ठूठा-खिल्ली धूल उछालने से भी आगे बढ़कर बच्चों ने पत्थर-वर्षा शुरू कर दी। तपस्वीजी पत्थरों से पिटवाए जा रहे थे और साम्प्रदायिक तत्त्व मुस्कुरा रहे थे। उपसर्ग सीमातीत था। किन्तु तपस्वीजी अपनी धुन में आनन्दमग्न थे। उन्होंने उनके विरुद्ध न कोई शिकायत की न शिकवा।

पूरे पश्चिम को आध्यात्मिकता का सन्देश देने वाले ईसा की भी कभी ऐसी स्थिति हुई थी। पत्थरों की वर्षा के बीच मुस्कुराने ईसा के चरित्र ने पश्चिम को एक नई दिशा प्रदान की थी।

पूर्व ने ऐसे कई चरित्र विश्व को दिये, जो पत्थरों की मार के बीच खिले रहे। श्री रोड़जी स्वामी भी तब ऐसे ही चरित्र के मूर्त आदर्श बने खड़े थे।

आतंक समारोपित होता है तो उसका अन्त है ही। करुणा, दया, शान्ति, सामञ्जस्य ध्रुव हैं। मानवता ध्रुव तत्त्व भावों के सहारे ही टिकी है।

उपसर्ग का अन्त भी आया। अपराधियों की भर्त्सना भी हुई, इतना ही नहीं, उन्हें दण्डित भी किया गया। किन्तु करुणा के पुण्य-पुंज श्री स्वामीजी ने उन्हें मुक्त कराने को अनशन कर दिया। अपराधी अर्थात् आतंक के प्रतिनिधि मुक्त होते ही स्वामीजी के मुक्त चरणों में नतमस्तक हो गये।

पहली बार शैव संस्कृति के प्रधान पीठ में श्रमण संस्कृति की आध्यात्मिकता की विजय हुई।^१

यह भी सहना पड़ा

मेवाड़ के कई क्षेत्रों में उस समय जैन धर्म पल्लवित नहीं हो पाया था। श्रद्धा-भेद का जो प्रवाह चला, वह भी कहीं-कहीं अति कटु बनकर उपस्थित हो रहा था।

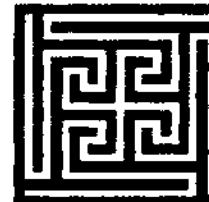
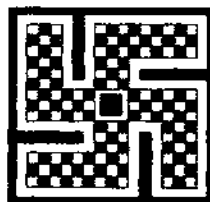
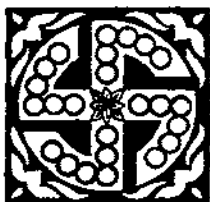
स्वामीजी नाथद्वारा पधारे। तपस्वीजी के त्याग-तप की उत्कृष्ट साधना का प्रभाव तो चतुर्दिक् था ही। कई कारणों से कई दिनों तक स्वामीजी का नाथ-द्वारा में प्रवेश नहीं हो सका, ऐसी अनुश्रुति है।

नगर बाहर किसी छत्री में कई दिनों तक ध्यानस्थ खड़े रह गये। कहते हैं, उस समय सिघवीजी की माता को रोड़जी स्वामी का ज्ञात होते ही वह बड़ी चिन्तित हुई। उसने सिघवीजी को स्थिति से अवगत कराया। सिघवीजी ने ठिकाने को सहमत कर सत्ता के सहयोग से स्वामीजी का नगर में प्रवेश कराया तो साम्प्रदायिक तत्त्व बौखला उठे।

ढाल से ज्ञात होता है कि एक शोभा नामक बन्धिये ने तपस्वीजी से झगड़ा ही नहीं किया, उसने उन पर मयंकर कलंक भी धर दिया। कहते हैं, तपस्वीजी ने निर्णय तक अनशन ठान लिया। अन्ततोगत्वा सत्त्व सामने आया। झूठ का भण्डाफोड़ हो गया। स्वामीजी की समुज्ज्वल यशपताका चतुर्दिक् फहराने लगी।^२

१ तपस्या करे स्वामी रोड़जी जी एकलिंगजी में जाय ।
जोगी तो आया तिण अवसरे बां तो छोरां ने लिया बुलाय ॥
भाटा सूँ मायां तिण अवसरे जी रोड़जी ने तिण वार ।
ये बातां राज में सुणी लिया जोगी ने बुलाय ॥
जोग्यां ने दरवार बुलायने जी रोक्खा छे तिण वार ।
स्वामी रोड़जी इम कहे यां ने छोड़ो तो ले सूँ आहार ॥

२. नाथद्वारे स्वामी पधारियाजी प्रति बोध्या कितना इक ग्राम ।
श्रावक श्राविका अति घणा वे तो लुर लुर लागे पाँवजी ॥
सोमा वाण्यो आयने जी बोल्यो वचन करूर ।
कूड़ो आल चढ़ावियो बां तो क्षमा करी भरपूर ॥



विकट अभिग्रह

अभिग्रह विकट तप की एक विधा है। भगवान महावीर ने तेरह बोल का अभिग्रह ग्रहण कर अभिग्रह को तप के ऊपर मुकुट की तरह उसे सुशोभित कर दिया।

किसी तप के बाद पारणक के अवसर पर किसी विचित्र प्रकार की गुप्त शर्त निश्चित करना अभिग्रह कहलाता है। यह अभिग्रह की सामान्य परिभाषा है। भगवान महावीर ने तेरह बोल की गुप्त धारणा कर रखी थी जिसकी पूर्ति चन्दनवाला द्वारा हुई। यह विश्व की कई अद्भुत बातों में से एक है। महावीर की वह प्रतिज्ञा 'अभिग्रह' कहलाई।

श्री रोड़जी स्वामी तपस्वी ही नहीं, विकट अभिग्रह के भी बड़े प्रेमी थे। अभिग्रह सरल भी होते हैं और कठिन भी। स्वामीजी ने कई अभिग्रह लिये होंगे अपने जीवन में, किन्तु उनके दो अभिग्रह बड़े विकट थे, जो न केवल इतिहास में अमर हुए, रोड़जी स्वामी को भी जिन्होंने अमर कर दिया।

पहला अभिग्रह हाथी का था। उन्होंने निर्णय किया कि हाथी बहराए तो आहार लूंगा। अन्यथा जीवन भर आहार लेने का त्याग। यह बड़ी विकट प्रतिज्ञा थी और थी एकदम गुप्त। यदि उजागर भी होती तो ऐसी प्रतिज्ञा का पूर्ण होना बिलकुल सम्भव नहीं था।

दृश्य से अदृश्य अधिक सशक्त होता है। आध्यात्मिक शक्ति भी एक सत्य है जिसे स्वीकार करना ही पड़ता है। स्वामीजी प्रतिदिन आहार के लिये शहर उदयपुर में घूम आते, किन्तु आहार लेते नहीं। धर्मप्रेमी बड़ी चिन्ता में थे। अन्ततः उन्नीसवें दिन तपस्वीजी मध्य बाजार में होकर निकल रहे थे, तभी 'शिवतिलक' नामक दरवार का प्रधान गज उन्मत्त-सा बन बन्धन तुड़वाकर दौड़ता हुआ बाजार तक आ गया। हाथी की उन्मत्तता से चतुर्दिक भय और सन्नाटा छा गया। सभी व्यक्ति भयभीत होकर अपने भवनों में जा छुपे। किन्तु स्वामीजी बड़ी धीरता से अपने पथ पर अग्रसर थे। दूर खड़ी जनता सम्भवतः यह सोचकर कि अभी यह उन्मत्त गज स्वामीजी को रौंद डालेगा, बड़ी भय-विह्वल हो चिल्ला रही थी, किन्तु स्वामीजी एक इंच भी पीछे नहीं हटे।

बच्चा-बच्चा चकित था कि हाथी स्वामीजी के निकट आ अपनी सूँड फैलाकर तपस्वीजी को बन्दन कर रहा है। पास ही हलवाई की दुकान पर लड्डू की थाल में से हाथी ने अपनी सूँड में एक लड्डू उठाया और स्वामीजी के सामने कर दिया। हलवाई की अनुमति मिलते ही स्वामीजी ने हाथी के द्वारा आहार लिया।

यह अद्भुत बात थी। इस पर कई तर्कों की बौछार हो सकती हैं। किन्तु अध्यात्म के क्षेत्र में एक अति शक्ति काम करती है। उसकी तुलना हम किसी व्यवहार से नहीं बिठा सकते।

एक ऐसा ही अभिग्रह स्वामीजी ने सांड का किया। यह अभिग्रह भी उदयपुर में लिया गया। इकतीसवें दिन यह अभिग्रह मण्डी की ताल में फला।

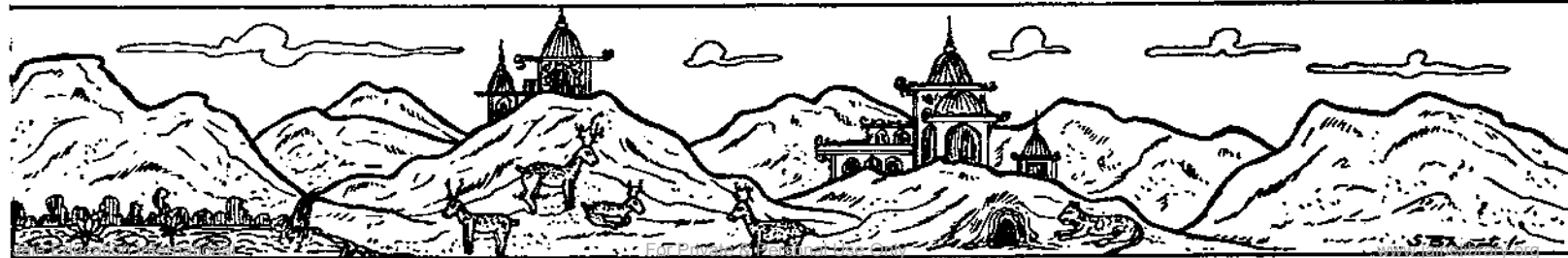
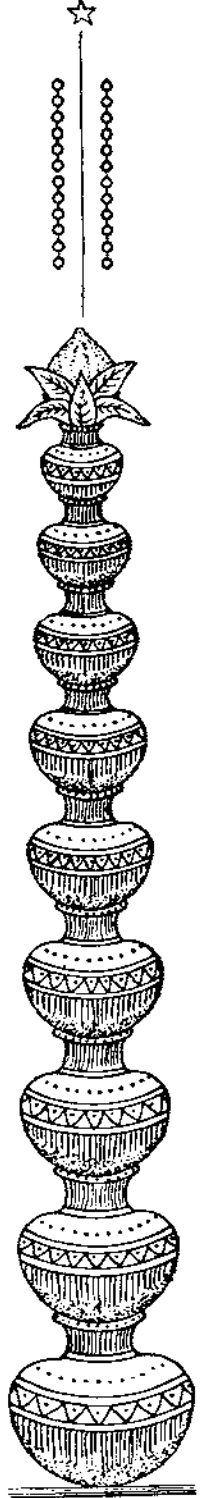
आहार के निमित्त आये स्वामीजी के सामने आकर एक सांड ने एक व्यापारी के गुड़ के कट्टे से अपने सींग में गुड़ की एक डली टिकाकर स्वामीजी को बहराई।

इन दोनों अभिग्रहों की प्रामाणिकता का आधार ढाल तो है ही, जनश्रुति में भी इन अभिग्रहों की चर्चा इतनी फैली हुई है, कि उसे झूठलाया नहीं जा सकता।^१

विष भी अमृत बना

स्वामीजी के समुज्ज्वल जीवन की पुण्य प्रभा से लगभग सारा प्रान्त जगमगा रहा था। अभिग्रहों की असंभवित

१ अभिग्रह कीनों हाथी तपो जी आणी मन उच्छ्राय ।
फलियो दिन गुणतीसमे ज्यांरो जस फैल्यो जग मांय ॥
सांड बेरावे तो बेरणो नहींतर लेणों नाय ।
फलियो दिन इकतीसमे ज्यां जैन मारण दीपाय जी ॥



सिद्धि ने उसमें और चार चाँद लगा दिये तो सर्वत्र तपस्वीजी के यशस्वी जीवन के गुणगान होने लगे। यश सुर्जों के लिये उल्लास का विषय होता है तो विद्वेषियों के लिये क्लेश का विषय भी बन जाया करता है।

नाथद्वारा के शोभा बनिये का आक्रोश लगभग ऐसे ही क्लेश का परिणाम था, जो तीव्र साम्प्रदायिकता के धरातल पर पनपा था।

“गुण खलः भयं” की उक्ति के अनुसार यशस्वियों को दुष्टों का सामना प्रायः करना पड़ा।

हमारा इतिहास बताता है कि मीरां को भी विष के प्याले का सामना करना पड़ा। यह भी ऐतिहासिक सत्य है कि लोकाशाह की मृत्यु विष प्रयोग से ही हुई।

दयानन्द सरस्वती को काँच पिलाया गया था। मानवता का लम्बा इतिहास ऐसे कई कुकर्मों के काले धब्बों को अनचाहे ही उठाए चला आ रहा है, जो मानव के भीतर लुपे राक्षस का प्रमाण देते आ रहे हैं।

तपस्वीराज श्री रोड़जी स्वामी को भी विष दे दिया गया।

मुनि को विष देना किसी अन्य की अपेक्षा बहुत ही आसान है। मुनि आहार लेकर भोगते ही हैं। विष देने के बाद उसके टलने की फिर कोई सम्भावना नहीं रहती। बशर्ते कि विष भोजन में प्रकट न हो जाए।

श्री रोड़जी स्वामी एक बार फिर विद्वेष की लपट में आ गये। किन्तु अद्भुत बात हुई कि विष अपना काम नहीं कर सका। तपस्वीजी की प्रचण्ड तप-अग्नि में विष कहीं जलकर निःशेष हो गया जिसकी कहीं सूचना तक नहीं मिली। इतना ही नहीं ढाल के अनुसार विष ने अमृत का काम किया। यह बात असम्भव नहीं है। भीम का जीवन साक्षी है कि उसे कौरवों द्वारा विष दिया गया, किन्तु परिणामस्वरूप भीम का बल उससे दुगुना हो गया।

स्वामीजी को विष किसने दिया, कहाँ दिया, इसकी कोई जानकारी नहीं मिल पाई। विष अवश्य दिया गया, यह ढाल से स्पष्ट है।^१

पारणा भी नहीं कर सके

साम्प्रदायिकता बुरी क्यों है, यह एक प्रश्न है। इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि साम्प्रदायिकता विष पैदा करती है। विष, वह जो मानवता को मारदे, महानता को टुकरादे तथा सच्चाई को नकार दे।

पाठक पढ़ चुके हैं कि उस समय जब श्री रोड़जी स्वामी का अभ्युदय काल था, मेवाड़ में श्रद्धा-भेद की एक लहर चली थी। लहर में एक विष था। स्वामीजी को कई जगह ऐसे विषपूर्ण व्यवहार का सामना करना पड़ा।

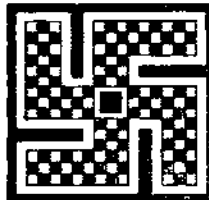
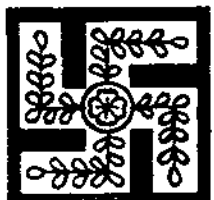
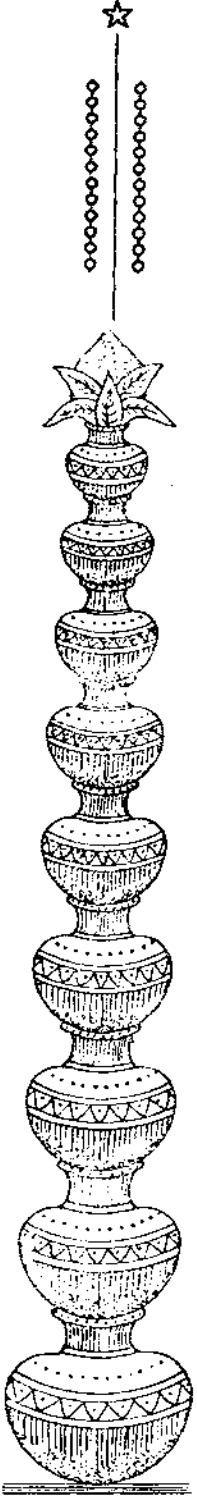
आमेट स्वामीजी आये। अनजान में या अन-पहचान में हाट पर ठहराने को किसी विमति ने स्थान दिया। किन्तु उसे ज्यों ही ज्ञात हुआ कि ये तो रोड़जी स्वामी हैं, हमारी श्रद्धा के नहीं हैं, उसने उन्हें तुरन्त चले जाने को कह दिया। स्वामीजी को निकलने को कहा। उस समय रात थी, ऐसा सुनने में आता है। ज्यों-त्यों उसे समझाकर रात तो ठहरे, लेकिन सूर्योदय होते ही, स्वामीजी ने वहाँ से विहार कर दिया। वह पारणे का दिन था। पारणा 'लावा' (सरदार-गढ़) आकर दिया।

इस घटना के साथ कई प्रश्न पैदा होते हैं। आमेट जैसे बड़े क्षेत्र में टिकने की जगह का न मिलना कम आश्चर्य की बात नहीं है। इसका समाधान यह हो सकता है कि आमेट में जैन समाज का बसाव जितना आज है, उतना उस समय नहीं रहा होगा। जो जैन थे, वे विपरीत हो गये होंगे। मयंकर विद्वेष को देखकर स्वामीजी ने ठहरना उचित नहीं समझा होगा। यह निश्चित है कि स्वामीजी को वहाँ स्थान-कष्ट का अनुभव अवश्य करना पड़ा।^२

सिर पर चढ़ बैठा

स्वामीजी कहीं एकान्त में ध्यान कर रहे थे। कोई मूर्ख सिर पर पत्थर धर कर उस पर ही चढ़ गया। ऐसे काण्ड प्रायः अज्ञानता, कौतूहल या दुष्टता से हो जाया करते हैं।

१. कोई खोटी आहार बेरावियों जो नाख्यों नहीं मुनिराज।
विष अमृत होइ परगम्यो वांकी दया माता कीदी सहायजी ॥
२. आमेट स्वामीजी पधारियाजी उतर्या हाटां के मांय।
परीसो तो दीघो अति घणो पारणो कीघो लावे जाय ॥



यह घटना कहाँ घटी, यह तो ज्ञात नहीं, किन्तु वह अपराधी छुप नहीं सका ! सज्जनों के द्वारा उसे दंडित करने का उपक्रम भी किया गया । किन्तु स्वामीजी की दया-मया यहाँ भी ढाल बनकर उसे बचाने को सक्रिय हो गई ! आहार-त्याग की घोषणा के साथ ही अपराधी को अभय मिल गया ।^१

मानवता को अपनी असीम करुणा से अभिसिञ्चित करने वाले ऐसे सत्पुरुषों ने ही भारत के गौरव को मण्डित किया है ।

यह सब कैसे सहा ?

स्वामीजी यह सब कैसे सह गये ? इस प्रश्न का उत्तर पाने को हमें जैन धर्म की साधवाचार-परम्परा के इतिहास में जाना चाहिए ।

भगवान महावीर जब कष्ट सह रहे थे, इन्द्र मदद को आया । भगवान ने मन ही मन उत्तर दिया—“हे इन्द्र ! मेरा कर्जा मुझे ही उतारना है ! कर्म दर्शन के अनुसार कर्ता ही भोक्ता है । इस दर्शन को समझ लेने के बाद व्यक्ति में सहनशीलता का एक नया स्रोत उमड़ आता है । यही एक सम्बल होता है, साधकों का, जो उन्हें तूफानों में भी अडिग रहने की क्षमता प्रदान करता है ।

श्री रोड़जी स्वामी उस परम्परा की एक चमकती हुई कड़ी थे जिसने केवल सहना सीखा । स्वामीजी सहते रहे, कष्ट भी, प्रहार भी, विष भी, जो भी आया सब कुछ सहा । ‘हम विष पायी जनम के’ यह साहित्यिक उक्ति संभवतः ऐसे मुनियों में ही मूर्त रूप ले पाई ।

स्वामीजी कर्म सिद्धान्त के आस्थावान प्रतीक थे । वे ‘मेरा किया मैं भोगूँ’ इस सनातन निश्चय के सहारे सब कुछ सह गये ।^२

पवित्र स्थान

श्री रोड़जी स्वामी अपने त्याग, तप तथा समुज्ज्वल संयम ज्योति से जगमगाते जिए । जब तक जिए, दैन्य-रहित जिए । निर्दोष जिए, यथार्थ जिए ।

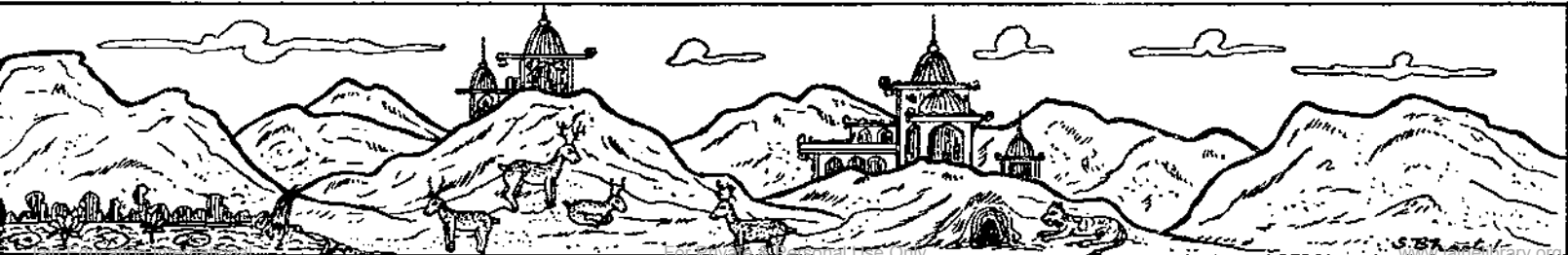
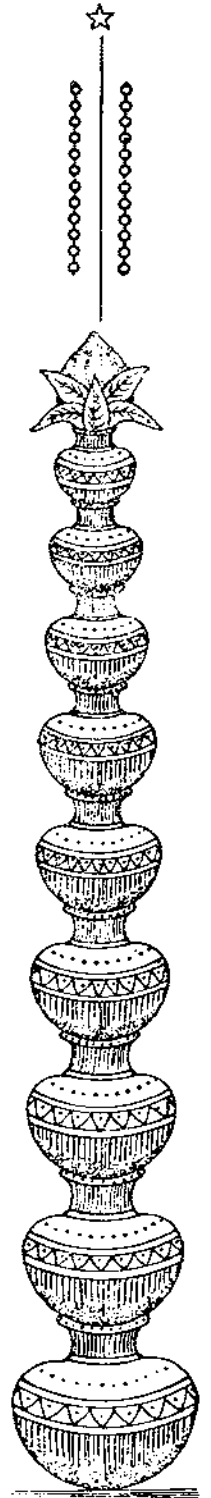
कदमों ने साथ दिया, बराबर विचरते रहे । अन्तिम नौ वर्ष उदयपुर में स्थानापन्न रहे । यह उल्लेख श्रीमानजी स्वामी रचित ‘गुरुगुण’ में है ।^३

श्री रोड़जी स्वामी के जीवन का चढ़ाव बेशक शानदार था, किन्तु ढलाव उससे भी कहीं अधिक चमकदार रहा ।

जीवन की संध्या आध्यात्मिक जीवन का परिपाक काल होता है । यदि यहाँ आकर साधक थोड़ी भूल कर बैठे तो जीवन के परिपाक में एक विद्रूपता आ जाया करती है । स्वामीजी इस दृष्टि से बड़े सावधान थे ।

मृत्यु से पूर्व साढ़े चार दिन का उन्हें संथारा आया । यह उल्लेख मानजी स्वामी की ढाल में स्पष्ट है ।^४

१. बालू रेत में काउस्सग करे जी मानवी आयो तिणवार ।
सिला मेली माथा ऊपरे पापी चढ़ ऊमो तिणवार ॥
मानवी ने रावले बुलावियोजी रोक्यो छे तिणवार ।
स्वामी तो रोड़जी इम कहे इण ने छोड़ो तो लेसूँ अहार ॥
२. स्वामीजी मन में विचारियोजी पूर्वला भव ना पाप ।
म्हारा मने सहना पड़सी किणपे नहीं करना कोप ॥
३. पूज्य रोड़दासजी थाणे रछा रे नव वसों लग जोय ।
आतम कारज सारिया रे भावियण. उपगार विविध होय ॥
४. छेलो अवसर आवियो रे, म० संथारो कियो उल्लास ।
दिवस साढ़ा चार में कियो सुरग में वास ॥



संस्थारक साधक जीवन की शिखर प्रक्रिया है। मृत्यु से पूर्व मृत्यु को सफल बनाने की एक आध्यात्मिक तैयारी है। संस्थारक में साधक सम्पूर्ण रूप से बाह्य भावों से अपने आप को हटाकर अपने आपको सम्पूर्ण आध्यात्मिकता में स्थापित करता है। वह जीवन और मृत्यु के आग्रहों से मुक्त विशुद्ध रूपेण अपने में पहुँच जाता है। स्वामीजी ऐसा साढ़े चार दिन कर पाये।

स्वामीजी के जीवन के अन्तिम सत्र के ये १०८ घण्टे सचमुच सम्पूर्ण जीवन के हजारों घण्टों में सबसे अधिक बेहतर थे। सच पूछा जाए तो प्रत्येक सच्चा साधक जीवन भर ऐसी ही घड़ियों की प्रतीक्षा में रहा करता है। अन्तिम संयम की मंगल साधना को सिद्ध करने को ही मानो पूरे जीवन को साधता रहता है।

समत्व के चरमोत्कर्ष की स्थिति में आई मौत केवल तन को छीन सकती है। साधक का महान् सत्व तो अपनी आत्मज्योत्स्ना से आलोकित सोल्लास गन्तव्य की ओर चल पड़ता है।

श्री स्वामीजी स्वर्गवास से पूर्व नौ वर्ष उदयपुर में स्थानापन्न रहे। ये नौ वर्ष श्री नृसिंहदासजी महाराज, जिनकी दीक्षा १८५२ में सम्पन्न हुई, के तुरन्त बाद मान लें तो स्वामीजी के स्वर्गवास का समय १८६१ बैठता है, किन्तु यह भी अनुमान मात्र है। निश्चित समय का कहीं उल्लेख नहीं मिलने से इस विषय में निश्चयपूर्वक कुछ कहना बिलकुल सम्भव नहीं।

स्वामीजी के शिष्य

पाठक यह तो जान ही गये कि श्री रोड़जी स्वामी कुछ समय एकाकी भी विचरे।

कालान्तर में उनके जो शिष्य हुए उनमें श्री नृसिंहदासजी महाराज प्रमुख थे। नृसिंहदासजी महाराज के बाद अन्य शिष्य भी हुए, ऐसा श्री मानजी स्वामी की ढाल से ज्ञात होता है।^१

इसमें नृसिंहदासजी महाराज के 'गुरु भायों' का उल्लेख है। अतः रोड़जी स्वामी के कई शिष्य होना सिद्ध होता है। कितने शिष्य थे, यह स्पष्ट नहीं हो सका।

स्वामीजी का तप

स्वामीजी धार तपस्वी थे। दीक्षा लेकर अन्तिम समय तक बेले-बेले तो पारणा किया ही। प्रतिमास दो-अठ्ठाई तथा वर्ष में दो मास खमण भी तपस्वीजी किया करते थे।^२

इस बीच कई बार तेले और चोले भी कर लिया करते थे। तप स्वामीजी का सबसे बड़ा सम्बल था। वास्तव में तप से स्वामीजी विभूषित तो तप स्वामीजी जैसे महान को पाकर धन्य हो गया।

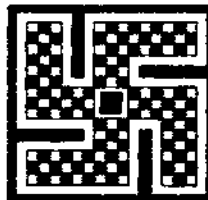
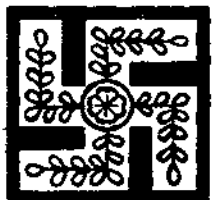
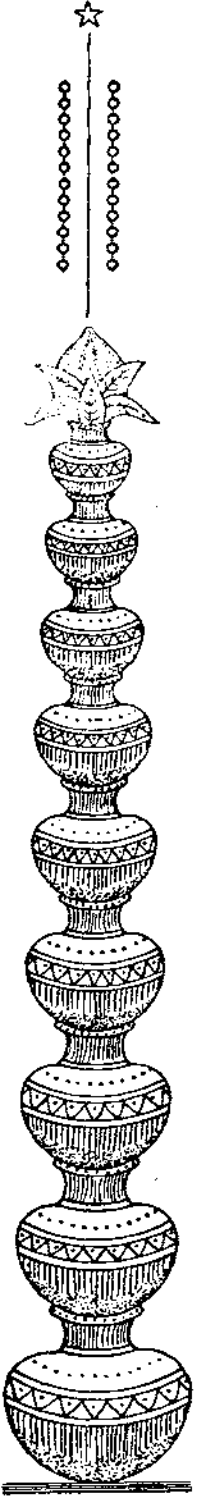
स्वामीजी का विचरण-क्षेत्र

तपस्विराज मेवाड़ से बाहर भी पधारे हों, ऐसा कोई उल्लेख नहीं। राज करेड़ा, आमेट, सनवाड़, नाथद्वारा, उदयपुर पधारने का स्पष्ट उल्लेख है। अतः मेवाड़ के अधिकांश क्षेत्रों को तपस्वीजी ने पावन किया। इसमें कोई सन्देह नहीं। उदयपुर को तपस्वीजी ने सर्वाधिक लाभ प्रदान किया। अन्तिम नौ वर्ष तपस्वीजी वहीं बिराजे। उससे पहले भी कई बार पधारे। तभी अभिग्रह फले।

कुछ स्पष्टताएँ

बहुत वर्षों से श्री रोड़जी स्वामी के चातुर्मास की सूची में सैंतीस चौमासे गिनाते आये हैं। प्रेरक जीवनी आदि में भी वैसा ही उल्लेख किया गया। किन्तु पूज्य श्री मानजी स्वामी द्वारा रचित पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज के गुण

१. सेवा मक्ति कीदी घणी गुरु गुरुमायां री जोय।
आतपना लीधी घणी कर लाम्बा करी दोग ॥
२. बेले बेले स्वामी पारणा जी मास खमण दोग बार।
तेला तो चोला सहेज है वे तो तपस्था रा भण्डार ॥



ढालों में जो उल्लेख आया, उससे स्पष्ट निर्णय हो जाता है कि सोलह चातुर्मास उदयपुर, नौ चातुर्मास नाथद्वारा आदि सैंतीस चौमासे श्री रोड़जी स्वामी के नहीं, नृसिंहदासजी महाराज के थे। ढालों की प्रतिलिपि आगे श्री नृसिंहदासजी महाराज की जीवनी के साथ संलग्न है। उससे पाठक स्वयं ही पा जायेंगे कि यह सैंतीस चातुर्मास की सूची पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज के चातुर्मासों की है।

पूज्य श्री रोड़जी स्वामी ने कहीं कितने चातुर्मास किये, इसका कोई प्रमाण नहीं मिलता। इनका स्वर्गवास कब हुआ, इसके लिये भी कोई निश्चित प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है।

श्री मानजी महाराज कृत ढालों में, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, श्री नृसिंहदासजी महाराज का दीक्षा-समय वि० सं० १८५२ वर्णित है। उनमें एक जगह श्री रोड़जी स्वामी के उदयपुर में नौ वर्ष स्थानापन्न रहने की बात आई है। इस तरह ब्राह्मण में नौ मिलाकर वि० सं० १८६१ में श्री रोड़जी स्वामी का स्वर्गवास माना जा सकता है। किन्तु पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज के दीक्षित होते ही उसी वर्ष श्री रोड़जी स्वामी स्थानापन्न रह गये, इसका कोई प्रमाण नहीं।

इसी तरह पूज्य श्री रोड़जी स्वामी के स्वर्गवास की तिथि 'प्रेरक जीवनी' में फाल्गुन कृष्ण अष्टमी अंकित की गई, इसका भी कोई प्रामाणिक आधार नहीं मिला।

पूज्य श्री रोड़जी स्वामी के विषय में पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज कृत जो प्रसिद्ध ढाल है, उसके अन्तिम पद्य में ढाल बनाने का समय संवत् १८४७ ऐसा प्रसिद्ध है। किन्तु पूज्य श्री मानजी स्वामी कृत ढालों से यह स्पष्ट हो गया कि पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज जो रोड़जी स्वामी की ढाल के रचयिता हैं, उनकी दीक्षा ही १८५२ में हुई तो सैंतालीस में ढाल कैसे बनी? वास्तव में श्री रोड़जी स्वामी के स्वर्गवास के बाद बनी ढाल का समय संवत् १८६७ होना चाहिए न कि १८४७।

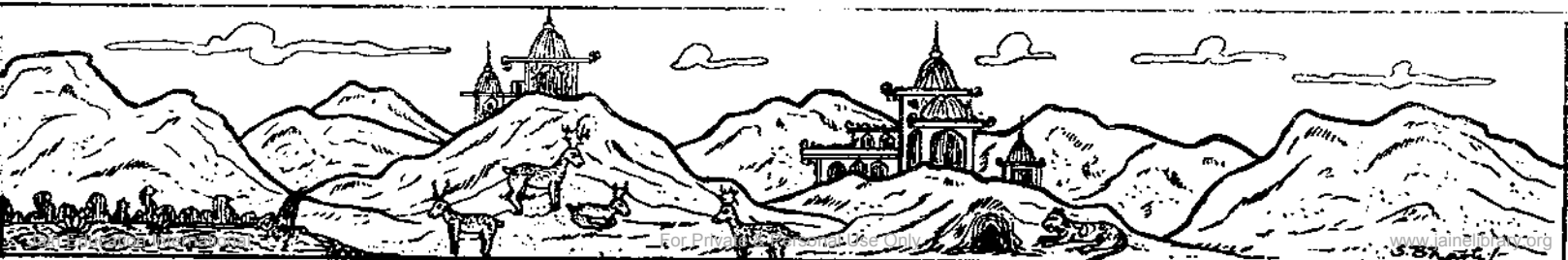
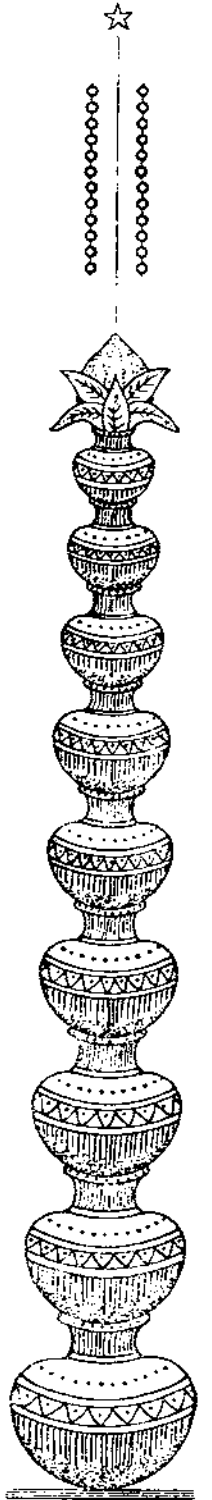
उपसंहार

तपस्विराज के जीवन के विषय में जितना प्रामाणिक आधार मिला, तदनुसार जीवन-परिचय की कुछ रेखाएँ अंकित की हैं। अतीत की कड़ियाँ बहुत विष्ट्र खलित हैं। फिर भी पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज रचित ढाल तथा श्री मानजी स्वामी विरचित श्री नृसिंहदासजी के गुण की ढालों से अच्छा सहयोग मिल गया।

एक बार एक कृशकाय कौवे ने एक बटेर से पूछा— बन्धु ! तुम इतने मोटे ताजे हो रहे हो, आखिर तुम क्या खाते-पीते हो ?

बटेर ने हंसकर कहा— गम खाता हूँ और क्रोध को पीता हूँ ।

—अस्वागुरु-सुवचन



आचार्यप्रवर श्री नृसिंहदास जी महाराज



प्राक्कथन

घोर तपस्वी श्री रोड़जी स्वामी का उदयपुर में स्वर्गवास हुआ। तदनन्तर मेवाड़-सम्प्रदाय के यशस्वी आचार्य पद पर श्री नृसिंहदास जी महाराज को समारूढ़ किया गया।

श्रीनृसिंहदास जी महाराज के सम्पूर्ण जीवन-वृत्त से तो आज भी हम अनजान हैं। किन्तु पूज्य श्रीमानजी स्वामी द्वारा विरचित गुरुगुण की ढालें उपलब्ध हो जाने से कुछ ऐतिहासिक अन्धेरा हटा। कुछ अनुश्रुतियाँ तथा कुछ ढालों की सूचनाएँ इन सब को मिलाकर जो जानकारी मिली वह नीचे उद्धृत की जा रही है।

जन्म

श्री नृसिंहदासजी महाराज का जन्म-स्थान रायपुर है।^१ भीलवाड़ा जिले का यह गाँव आज भी जैनधर्म का अच्छा क्षेत्र है। मेवाड़ मुनि-परम्परा के चातुर्मास यहाँ प्रायः होते ही रहते हैं। नागरिकों का मुनियों के प्रति बड़ा सद्भाव तथा वात्सल्य भाव है।

श्री गुलाबचन्द जी खत्री और उनकी धर्मपत्नी गुमानबाई हमारे चरितनायक के माता-पिता थे।^२ पूज्यश्री का जन्म समय क्या रहा, इसका कुछ भी पता नहीं। हाँ इतना अवश्य ज्ञात है कि संवत् १८५२ में जब पूज्यश्री की दीक्षा हुई तब वे जवान ही नहीं विवाहित भी थे और व्यापार करते थे।

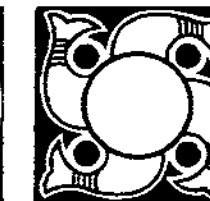
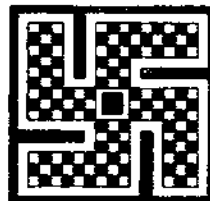
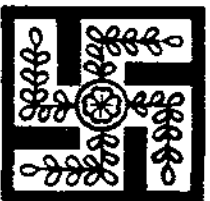
इतनी तैयारी के लिए उस समय उनकी उम्र बीस-पच्चीस वर्ष की होनी ही चाहिए। इससे अनुमान लगता है कि पूज्यश्री का जन्म १८२७-१८३१ के बीच किसी वर्ष का होना चाहिए।

अध्ययन और विवाह

पूज्य श्री गृहावस्था में भी पढ़े-लिखे थे, ऐसा ढाल से ज्ञात होता है।^३ वह युग लगभग अज्ञानता का युग था। ब्राह्मणों और महाजनों के बच्चे अवश्य थोड़े बहुत पढ़-लिख लिया करते थे। देश में उस समय भी विद्वान अवश्य थे, किन्तु वे मात्र अमुक-अमुक थे। आम नागरिकों में इतनी अनक्षरता थी कि हींग को हंग, मिर्च को मच तथा दोहा को दुआ लिखकर काम चला लिया करते थे। इसका प्रमाण उस युग की बहियाँ और लिखे-पत्र आदि हैं।

ऐसे उस युग में श्री नृसिंहदास जी का अच्छा पढ़ लिख लेना सद्भाग्य और बौद्धिक योग्यता का प्रमाण है। योग्यावस्था में विवाह हुआ।^४ विवाह कहाँ हुआ, कन्या का नाम क्या था, उसके माता-पिता कौन थे, इसकी कोई जानकारी नहीं।

- १ सेर रायपुर साँभलो रे गढ़मढ़ पोल प्रकार ।
सेठ सेनापति तिहाँ बसे रे बहुला छे सुखकार ॥
- २ खत्रीवंश में जाणिये रे गुलाबचन्द जी नाम ।
भारज्या गुमानबाई दीपती रे रूपवंत अभिराम ॥
- ३ मणे गुणे बुधवन्त थया, जोवन वय में आय ।
वेपार वण्ज करे घणो, रह्या परम सुखमांय ॥
- ४ परण्या एकज कामणी, सुख विलसे संसार ।
धर्म ध्यान हिये सीविया, जाण्यो अथिर संसार ॥



दीक्षा

रायपुर में धार्मिक वातावरण की प्रधानता थी। पूज्यश्री रोड़जी स्वामी का पदार्पण भी प्रायः होता रहता था। श्री नृसिंहदास जी भी सात्त्विक प्रकृति के युवक थे। बड़े धर्मप्रेमी थे। आन्तरिक लगन होने से वचन में भी अच्छा धार्मिक ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

सांसारिकता के नाते व्यापारिक कार्यों में भी लगे। बुद्धिमान होने के कारण कुछ ही समय में व्यापार अच्छा चमक गया।

एक बार किसी व्यापारिक कार्य हेतु श्री नृसिंहदास जी का भीलवाड़ा जाना हुआ। वहाँ से आते समय मार्ग में लावा (सरदारगढ़) आता है। वहाँ पूज्य श्री रोड़जी स्वामी का चातुर्मास था। धर्मप्रेमी नृसिंहदास जी महाराज वहाँ पहुँचे।^१ दर्शन-लाभ लेकर उन्हें अतीव प्रसन्नता हुई। वे शीघ्र रायपुर आना चाहते थे। किन्तु श्री रोड़जी स्वामी के अद्भुत त्याग-तप तथा मधुर उपदेशों से वे इतने प्रभावित हुए कि वहीं टिक गये। प्रतिक्रमण, पोषध, सामायिक आदि धर्म-क्रियाएँ करने लगे।

स्वामीजी के उपदेशों का इतना जबरदस्त असर हुआ कि उन्होंने संयम लेने का निश्चय कर लिया। वे वहीं ठहरकर ज्ञानाभ्यास करने लगे।

उन्होंने रायपुर जाने की जरूरत तक नहीं समझी। कुछ ही दिनों में नृसिंहदास जी की आन्तरिक भावना का प्रचार दूर-दूर तक हो गया।

रायपुर में सूचना पहुँचते ही बड़ा आश्चर्य छा गया।

पत्नी ने सुनते ही लावा प्रस्थान कर दिया। वह लगातार रायपुर चलने का आग्रह करती रही। श्री नृसिंहदास जी उसे बराबर संसार की असारता समझाते रहे और अपने दृढ़ निश्चय का परिचय देते रहे।

ढाल से जात होता है कि नारी ने वहाँ भयंकर क्लेश भी किया।^२ किन्तु मुमुक्षु महोदय के प्रबल निश्चय के सामने उसका क्लेश व्यर्थ ही रहा।

अन्ततोगत्वा वैरागीजी के दृढ़ निश्चय की ही विजय हुई। नारी को स्वीकृति देनी ही पड़ी। सत्य-आग्रह की विजय होती ही है।

सभी अवरोध हट जाने पर अर्थात् सम्बन्धित जनों की अनुमति मिलने पर संवत् १८५२ मार्ग शीर्ष कृष्ण नवमी के दिन सच्चे मुमुक्षु नृसिंहदास जी की दीक्षा सम्पन्न हो गई।^३ चातुर्मास उठते ही नवमी को दीक्षा हुई। अतः अनुमान यह लगता है कि यह कार्यक्रम लावा में ही सम्पन्न हुआ होगा।

वैराग्य कोई भावुकता का प्रवाह नहीं होता। वैराग्य आध्यात्मिक धरातल पर उठा एक प्रकाश होता है, जिसमें मुमुक्षु अपने पारमार्थिक ध्येय का स्पष्ट सन्दर्शन पाता है।

सभी प्रकार के आग्रहों से मुक्त, स्पष्ट निर्णीत सत्य से फिर यदि कोई विचलित करना चाहे तो उसे सफलता मिलना कठिन ही नहीं लगभग असम्भव है।

१ पूज्य श्री रोड़दासजी ललणो ।
सकल गुणां री खान ।
...भेट्या पुजजी ना पाय ।

२ पाछे आवी अस्त्री क्लेश कीधो आण ।
श्रावक श्राविका समझाये तव वचन कियो प्रमाण ॥

३ अष्टादश बावने रे भविकजन भिगसर मास बखाण ।
सुगण नर सांभलो रे भवियण पूज्य तणां गुण भारी ॥
कृष्ण पक्ष धुर नम कही रे भवियण संजमलीधो जाण ।
आजा पाले निरमली रे भवियण करे वचन प्रमाण ॥



श्री नरसिंहदाम जी के सत्य विनिश्चय के अचाञ्चल्य को पाठक उक्त व्याख्या के परिप्रेक्ष्य में समझने का प्रयास करेंगे तो उन्हें उक्त हृदय निश्चय पर आश्चर्य नहीं होगा ।

ज्ञानाराधना

मुनिश्री नरसिंहदास जी ज्ञान के सच्चे पिपामु थे । संयमी होते ही उन्होंने अपना पूरा ध्यान अध्ययन में लगा दिया ।

तत्त्व विनिश्चय के लिए शास्त्रों का अध्ययन ही उपयोगी होता है । अतः मुनिश्री उसी अध्ययन में जुट गये । परम्परागत अनुश्रुति है कि उन्हें सात सूत्र तो कण्ठस्थ थे ।

शास्त्रों के इतने सुदृढ़ अभ्यासी का अध्ययन कितना विस्तृत होगा, पाठक स्वयं अनुमान लगाएँ ।

तपस्वी भी

मुनिश्री बड़े तपस्वी थे । पूज्य श्री रोड़जी स्वामी के विषय में तो तप के विषय में बड़ी विश्रुति है । किन्तु श्री नरसिंहदास महाराज इतने अच्छे तपस्वी थे, इसकी कोई जानकारी नहीं थी । मानजी स्वामी कृत ढालों का अध्ययन करने से ज्ञात हुआ कि घोर तपस्वी श्री रोड़जी स्वामी के शिष्य रत्न भी तप की दृष्टि से उनका अनुकरण करने वाले सच्चे अर्थों में अनुगामी (शिष्य) थे ।

ढाल के अनुसार मुनिश्री ने मास खमण, तेइस, इकवीस, पन्द्रह के तप तो किये ही, एक कर्मचूर तप भी किया ।^१ फुटकर तपस्या भी प्रायः चलती रहती थी ।

मुनिश्री नरसिंहदास जी महाराज का यह तपस्वी रूप अब तक लगभग अप्रकट ही था ।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हो गया कि हमारे चरित्रनायक शास्त्रज्ञ ही नहीं, अच्छे तपस्वी भी थे ।

आचार्य-पदारोहण

मुनिश्री ने यौवनवय में संयम लेकर भी जितना और जो कुछ किया वह अनुपम था । एक शिल्पकार की तरह उन्होंने अपने जीवन को पूज्य श्री रोड़जी स्वामी के नेतृत्व में तराशा । विनय, विवेक, सेवा और ज्ञानाराधना की एकाग्रोपासना ने उन्हें मुनि ही नहीं, एक उच्चकोटि का सन्त-रत्न बना दिया ।^२

पूज्यश्री रोड़जी स्वामी के एकाकी रह जाने और संघ में श्रद्धा विक्षेप के आये प्रवाह आदि अनेक कारणों से मेवाड़ के धर्म-संघों में जो एक अनुत्साह जैसा वातावरण छा रहा था, ऐसी स्थिति में मुनिश्री नरसिंहदासजी मेवाड़ धर्म-संघ के लिए एक प्रबल आशा की किरण सिद्ध हुए ।

मुनिश्री के अभ्युदय ने बड़ी तेजी से धर्म-शासन को नवजीवन प्रदान कर दिया ।

मुनिश्री जिस ज्ञानदीप्ति और चारित्रिक ओज से सम्पन्न बनते जा रहे थे, उसे देख मेवाड़ का जन-जन उनके प्रति श्योछावर था ।

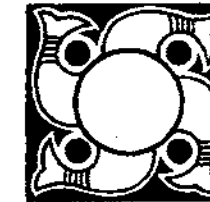
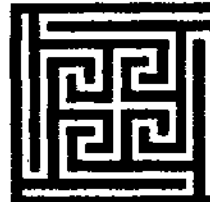
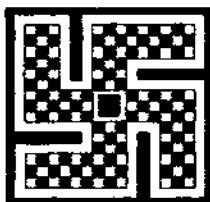
जब पूज्यश्री रोड़जी स्वामी उदयपुर में नव वर्ष स्थानापन्न रहने के बाद साढ़े चार दिनों का संधारा सिद्ध कर स्वर्गवासी हुए तो चतुर्विध संघ ने स्वर्गीय स्वामी जी के सफल शिष्य-रत्न तथा चतुर्विध संघ के एकमात्र सम्बल मुनि श्री नरसिंहदास जी महाराज को मेवाड़ सम्प्रदाय के यशस्वी पट्ट पर विराजमान कर दिया ।

- १ मास खमण घुर जाणिये भवियण तेइस इकवीस जाण ।
कर्मचूर तप आदर्यो भवियण पनरा तक तप आण ।
और तपस्या कीदी घणी रे भवियण कहतां नावे पार ॥

- २ भणे गुणे पंडित थयारे विने विवेक रसाण ।

+ + +
लक्षण पढ़न उपदेश नो रे और न बीजो काम ।

+ + +
सेवा मक्ति कीधी घणी रे गुरु गृहमायां री जोय ॥



यह कार्यक्रम उदयपुर में ही सम्पन्न हुआ क्योंकि रोड़जी स्वामी का वहीं स्वर्गवास हुआ था ।

पट्टारोहण कब हुआ, इसकी तिथि तो स्पष्ट नहीं है, किन्तु पूज्य श्री रोड़जी स्वामी का स्वर्गवास यदि सं० १८६१ स्वीकार करें (यद्यपि यह स्पष्ट नहीं है) तो उसी वर्ष या उसके आसपास पाटोत्सव होना संगत लगता है । पट्टोत्सव के अवसर पर मुनिश्री के कई गुरुमाई मुनि अवश्य थे ।

पूज्य श्री का आचार्यकाल मेवाड़ जैन संघ के लिए अभ्युदयपूर्ण स्वर्णकाल था । आपके नेतृत्व में जैन संघ ने बहुत अच्छा विकास किया ।

श्रद्धा भेद का जो विक्षेप था, वह एका, इतना ही नहीं, कई अधर्मी धर्म-मार्ग में प्रवृत्त हुए ।^१

परम्परागत अनुश्रुति के अनुसार पूज्य श्री के सत्तावीस शिष्य बने ।

सम्प्रदाय को व्यवस्थित और पल्लवित करने का बहुत कुछ श्रेय आचार्य को जाता है ।

आचार्यश्री के सफल और शानदार नेतृत्व को पाकर मेवाड़ का जैन संघ धन्य हो गया । आचार्य श्री की सुव्यवस्था के कारण तथा सम्प्रदाय के बढ़ते प्रभाव से ही मेवाड़ सम्प्रदाय 'पूज्य श्री नरसिंहदास जी महाराज की सम्प्रदाय' के नाम से प्रसिद्ध होने लगी ।

कवि भी

आचार्य श्री सफल वक्ता ही नहीं, अच्छे कवि भी थे ।

आचार्य श्री की रचनाएँ कई रही होंगी । किन्तु विगत-परम्परा में सहेजकर रखने की वृत्ति का लगभग अभाव होने के कारण कई रचनाएँ लुप्त हो गई होंगी । लेकिन जो कुछ रचनाएँ उपलब्ध हो सकीं उनके आधार से उनका कवित्व प्रकट हुए बिना नहीं रहता ।

आचार्य श्री की एक रचना जो मिली हुई रचनाओं में सम्भवतः सबसे प्राचीन है, वह है—'रोड़जी स्वामी रा गुण' । उन्तीस गाथाओं की इस रचना में पूज्य श्री ने अपने गुरु श्री रोड़जी स्वामी के जीवन के प्रसंगों को बहुत ही सरल राजस्थानी ही नहीं ठेठ मेवाड़ी में चित्रित किया ।

सुमधुर किसी प्राचीन गीतराग में रची हुई यह रचना मेवाड़ी भाषा की एक प्राचीन कृति है, जो भाषा-गवेषकों के लिए तत्कालीन शैली का प्रतिनिधित्व भी करती है ।

बिना किसी अलंकरण के सीधे भावों को व्यक्त करने वाली यह कृति गेयात्मक होने से बहनों में अत्यधिक लोकप्रिय है । वर्णनात्मक रचना का एक पद प्रस्तुत है—

पंच महाव्रत पालताजी खम्ब्या करी भरपूर ।

बाइस परीसा जीतियाजी दोष टाल्या बियालीस पूर ॥

संक्षिप्त में कई विशेषताओं को लोकशैली में व्यक्त कर देना, इस कृति की विशेषता है । यही कृति एक ऐसी आधारभूत कृति है, जिसमें तपस्वी श्री रोड़जी स्वामी का जीवन-वृत्त सुरक्षित रह सका ।

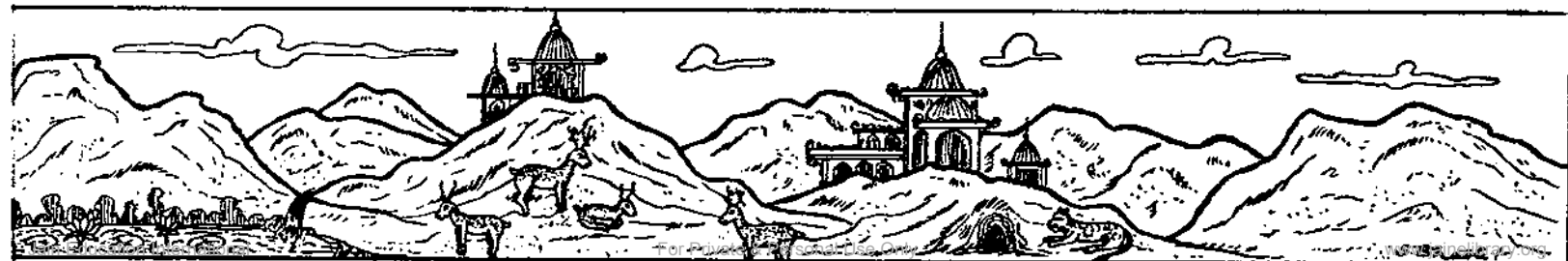
आचार्य श्री की एक दूसरी कृति 'भगवान महावीर रा तवन' नामक मिली । इसमें भगवान महावीर के जीवन का संक्षिप्त परिचय प्रभाती राग में दिया गया है । इसमें ग्यारह गाथाएँ हैं । सहज प्रवाह में भावों को अभिव्यक्त करते हुए कवि ने थोड़े में बहुत कह दिया है । जैसे—

बीर वरस छट मस्त रहीने कठिन कर्म परजारी ।

घनघाती चउ कर्म खपावी केवल कमला धारी ॥

आचार्य श्री की एक कृति सुमतिनाथ का स्तवन है । इसमें तेरह गाथाएँ हैं । सुमतिनाथ के गुण करते हुए इसमें एक दृष्टान्त भी गूँथ दिया है । जिनेन्द्र का नाम 'सुमति' क्यों दिया गया, इस पर दृष्टान्त है कि एक सेठ के दो पत्नियाँ थीं । उनमें से एक के एक पुत्र था । दोनों उसे अपना कर मानती थीं । सेठजी का देहावसान हो गया ।

१ ग्राम नगर पुर विचरिया कीदो मव जीवा उपकार ।
अनायं आयं किया धर्म दिपायो सुध सार ॥



एक दिन किसी बात पर दोनों के बीच अनबन हो गई। उन्होंने सेठजी के सारे वैभव का बँटवारा कर लिया। जब पुत्र पर बात आई तो दोनों उस पर अपना अधिकार जताने लगीं। बच्चा एक था, दोनों के पास तो रह नहीं सकता था। दोनों बच्चे को अपने पास रखने के लिए तुली थीं। अन्ततः यह प्रश्न स्थानीय राजा के पास पहुँचा। किन्तु दोनों स्त्रियाँ बच्चे को अपना बता रही थीं। अतः राजा कोई निर्णय नहीं दे सका। महारानी ने जब इस कठिन उलझन को सुना तो उसने निर्णय देने का निश्चय किया। रानी ने दोनों स्त्रियों को अपने पास बुलाया और उसने बच्चे को दो भागों में बाँटकर उसका एक-एक टुकड़ा दोनों को देने का निर्णय दिया। यह सुनकर जो माँ नहीं थी वह तो प्रसन्न हो गई। क्योंकि उसने सोचा—बच्चे की मृत्यु से यह भी निःसन्तान हो जायेगी। किन्तु जो वास्तव में माँ थी, वह रो पड़ी। उसने कहा—बच्चा मेरी साथिन के रहने दीजिये। मुझे इसका एक टुकड़ा नहीं चाहिए। दोनों की बातें सुनकर रानी ने असली माँ को पहचान लिया और बच्चा उसको दिला दिया।

इतना सुन्दर न्याय करने के कारण रानी की बड़ी प्रशंसा हुई। वह रानी उस समय समर्पा थी। कालान्तर में उसने जिस सन्तान को जन्म दिया उसका 'सुमति' अर्थात् 'अच्छी बुद्धिवाला' नाम रखा।

वही सुमति नामक शिशु पाँचवें तीर्थकर भगवान सुमतिनाथ के नाम से प्रतिष्ठित हुआ।

आचार्य श्री ने केवल तेरह गाथाओं में यह सब अंकित कर दिया।

आचार्य श्री की एक कृति और मिली है। इसमें श्रीमती सती का आख्यान है। १८ गाथाओं में कथा के सभी पक्षों को उजागर कर दिया। इसमें वर्णन-शैली की सुन्दर छटा मिलती है। श्रीमती का परिचय देते हुए कवि लिखते हैं—

श्रीमती नामे बेटी छइ।

गुणमणी केरी पेटी छइ।

सील रतन करने सही ए॥

उपलब्ध कृतियों को देखने पर आश्चर्य होता है कि श्री रोड़जी स्वामी की ढाल को छोड़कर शेष तीनों कृतियाँ सं० १८८५ की मिलीं। इनमें दो तो रायपुर जहाँ उस वर्ष चातुर्मास था, में लिखी गईं। एक उसी वर्ष गंगापुर में लिखी। गंगापुर रायपुर से केवल बारह मील पर है।

आचार्य श्री वर्णनात्मक शैली के अच्छे कवि थे। उनकी और भी कई कृतियाँ रही होंगी। किन्तु खोज करने पर भी, अब तक नहीं मिलीं। सम्भवतः भविष्य में मिल सकें।

आचार्य श्री के चातुर्मास

आचार्य श्री ने अपने संयमी जीवन में कुल सैंतीस वर्ष बिताए। तदनुसार कुल चातुर्मास सैंतीस हुए। सोलह चातुर्मास तो केवल उदयपुर में ही सम्पन्न हुए। इनमें नौ चातुर्मास पूज्य श्री रोड़जी स्वामी के साथ और शेष सात चातुर्मास अपने स्वयं किये। इनमें अन्तिम चातुर्मास भी गिन लिया गया है।

श्री नाथद्वारा में नौ चातुर्मास हुए। एक सनवाड़, एक पोटलां, एक गंगापुर, दो लावा (सरदारगढ़), एक देवगढ़, दो रायपुर, एक कोटा, दो भीलवाड़ा और एक चित्तौड़। इस तरह कुल सैंतीस वर्ष आचार्य श्री का संयमी जीवन रहा। इस बीच मेवाड़ के अधिकांश क्षेत्रों में विचरण होता रहा। साथ ही अनेकों उपकार भी हुए।^१

१ सोले चौमासा उदियापुर मांय जी, पुजजी कीदा आप हर्ष उछाय।

हे मारण दिपायो आप जस लियो ऐ, हां ए दर्शन आपरो ए। निवारण पाप रो ए, पुजजी महाराज ॥१॥

श्रीजीदुवारे नव किया चौमास नरनारी हुआ हर्ष हुल्लास। हे दर्शन करिने पाप दूरो कियो ए ॥२॥

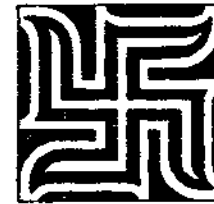
सनवाड़ मांहे एक चौमासो जोयजी, पोटलां मांहे एक हीज होय। हे गंगापुर मांहे एकज जाणिये हे ॥३॥

लावा मांहे दोय चौमासो कीध जी, देवगढ़ मांहे एक प्रसिद्ध। हे रायपुर मांहे दोय बखणिये हे ॥४॥

कोटा मांहे चौमासो कियो एकजी, भीलोड़ा मांहे पण दोय। हे चित्तौड़ में चौमासो कियो मन रलिये है ॥५॥

ऐ चौमासा हुआ सेत्रीस, कीधा आप आण जगीस। हे मनरा मनोरथ सहुं फलि हे ॥६॥

चउथी ढाल कही छे रसालजी भव्यक जन लहे ऐलाद। हे गुणकारी देही करी सली हे ॥७॥



ढाल के अनुसार, पूज्य श्री की दीक्षा मार्गशीर्ष कृष्ण नवमी, सं० १८५२ को हुई। स्वर्गवास फाल्गुन कृष्ण अष्टमी, सं० १८८६ को हुआ। इस प्रकार इनके सैंतीस चातुर्मासों का होना नितान्त प्रामाणिक है।

आचार्य श्री नरसिंहदास जी महाराज के चातुर्मासों की ऐसी व्यवस्थित सूची मानजी स्वामी कृत ढाल के द्वारा मिल जाने से अब तक जो इन चातुर्मासों का सम्बन्ध श्री रोड़जी स्वामी के साथ बिठाए जाने की जो बात चली आ रही थी, वह समाप्त हो जाती है। ये चातुर्मास पूज्य श्री नरसिंहदास जी महाराज के थे, न कि श्री रोड़जी स्वामी के।

पूज्य श्री रोड़जी स्वामी के स्वर्गवास की तिथि की अधिकृत जानकारी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, अब तक मिल नहीं पाई। मानजी स्वामी कृत ढाल से भी उनका उदयपुर में नौ वर्ष थाणापति रहना और साढ़े चार दिन के संथारा युक्त स्वर्गवास होना इतना ही जान पाये। संवत् और तिथि नहीं मिल पाई तो सैंतीस चौमासों की उनकी विगत का आधार बैठता ही नहीं। प्रेरकजीवनी कार की प्रेरणा से प्रकाशित 'तीन किरणों' पुस्तक में श्री रोड़जी स्वामी की दीक्षा होना सं० १८२४ के वैशाख मास में लिखा है। तदनुसार यदि सं० १८६१ फाल्गुन का स्वर्गवास मान भी लें तो चातुर्मास सैंतीस न होकर ३८ होते हैं। जबकि १८६१ के स्वर्गवास का प्रामाणिक आधार उपलब्ध नहीं है।

वास्तविक बात यह है कि पूज्य श्री रोड़जी स्वामी के सैंतीस चातुर्मास का आधार मिलता नहीं है। पूज्य श्री नरसिंहदास जी महाराज के ही सैंतीस चातुर्मासों की व्यवस्थित सूची है। भूल से उसी सूची को श्रीरोड़जी स्वामी की सूची मान बैठे, जिसका निराकरण मानजी स्वामी कृत ढाल से भलीभाँति हो जाता है।

स्वर्गारोहण

पूज्यश्री का अन्तिम चातुर्मास उदयपुर था।^१ पूज्य श्री चातुर्मास हेतु पधारो, उस समय उस चातुर्मास को अन्तिम मानने का कोई आधार नहीं था।^२

प्राप्त प्रमाणों से ऐसा लगता है कि वह चातुर्मास सं० १८८६ का था। चातुर्मास में ही पूज्य श्री के स्वास्थ्य में अस्वस्थता आ गई थी। फलस्वरूप बिहार नहीं हो सका।

उसी वर्ष फाल्गुन कृष्ण अष्टमी के दिन पूज्य श्री का स्वर्गवास हो गया।^३

स्वर्गवास से पूर्व पूज्य श्री ने व्याधि बढ़ती हुई देखकर संथारा धारण कर लिया जो एक दिन चला।^४

पूज्य आचार्य श्री नरसिंहदास जी महाराज का स्वर्गवास मेवाड़ जैनसंघ के लिए बड़ी चिन्ता का विषय रहा। ऐसा लगा मानों, जगमगाता नक्षत्र विलुप्त हो गया।

पूज्य श्री नरसिंहदास जी महाराज अच्छे ज्ञानी, ध्यानी, तपस्वी, वक्ता कवि और ओजस्वी आचार्य रत्न थे। उन्होंने मेवाड़ सम्प्रदाय का एक तरह से नवीनीकरण किया था।

वे अनेकों आध्यात्मिक प्रतिभाओं के धनी थे। पूज्य श्री के स्वर्गवास से कुछ दिन पूर्व ही लिखे मानजी स्वामी कृत स्तवन में उल्लेख है कि—

गुरु देवन का देव कही जे, गुरु सम अबर न कोय।

एहवा गुरु मिले जेहने तेहना कारज सिद्ध होय ॥

इससे पाठक समझ सकते हैं कि मानजी स्वामी जैसा तेजस्वी तथा प्रबुद्ध व्यक्तित्व जिस व्यक्तित्व के प्रति इतना अधिक अनुरक्त हुआ हो, अवश्य ही वह व्यक्तित्व अनूठा एवं प्रतिभा सम्पन्न रहा होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं।

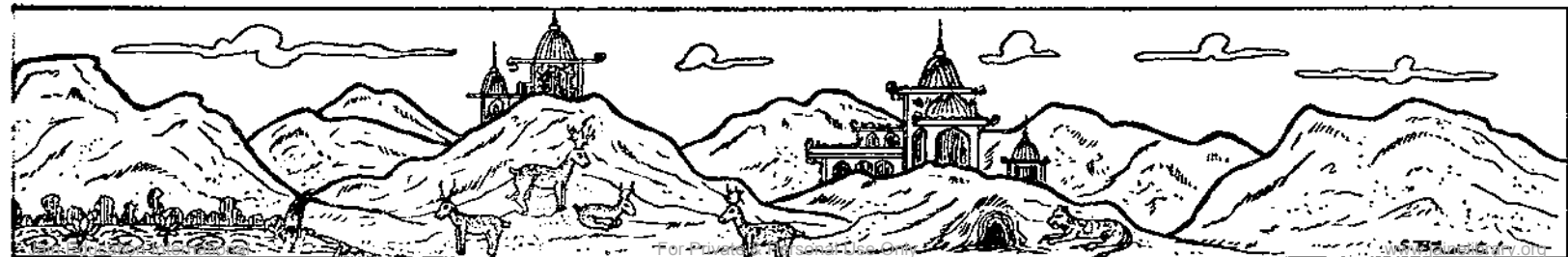


१ सेर उदियापुर पधारिया रे कीदो चरम चौमास।

२ बिहार करण री आस।

३ फाल्गुन कृष्ण अष्टमी रे सुरलोक में वास।

४ चउथ भक्त अणसण कियो आणी मन उल्लास।



३

पूज्य आचार्यश्री मानजी स्वामी

□

परिचय रेखाएँ

मेवाड़ के जैन-जगत में सर्वाधिक यदि किसी जैन संत का नाम लिया जाता है तो वह है, 'पूज्य श्री मानजी स्वामी ।'

श्री मानजी स्वामी एक ऐसे चमत्कारिक महापुरुषों में गिने जाते हैं कि जिनके नाम की यहाँ 'आण' लगती है। मेवाड़ की जनता में इस व्यक्तित्व के प्रति इतनी आस्था है कि उनके नाममात्र से यहाँ बन्धन टूटते हैं और विपदाएँ हटती हैं। व्याधिग्रस्त उनका स्मरण कर स्वस्थ हो जाता है। ऐसी श्रद्धा केवल जैनों में ही नहीं, हजारों अ-जैनों में भी व्याप्त है।

श्रद्धा का यह लौकिक स्वरूप इतना गहरा है कि अरिहन्त, सिद्ध या रामकृष्ण के साथ मानजी स्वामी की मालाएँ फेरी जाती हैं, स्तवन गाये जाते हैं, उनकी स्तुतियाँ की जाती हैं।

श्रीमानजी स्वामी का जन्म स्थान देवगढ़ मदारिया है। श्री धन्नादेवी माता का नाम था पिताश्री तिलोकचन्द्र जी गांधी थे।

जन्म समय अठारह सौ तिरसठ कार्तिक शुक्ला पंचमी माना जाता है। और यही ठीक लगता है। आगम के अनमोल रत्न के सम्पादकजी ने जन्म अठारह सौ तिरियासी का माना और कुल उम्र अस्सी वर्ष की मानी। इसके अनुसार उनका स्वर्गवास उन्नीस सौ तिरसठ का आता है, जो बिलकुल असंगत है, क्योंकि उन्नीस सौ सैंतालीस में पूज्य श्री एकलिंगदास जी महाराज की दीक्षा हुई तो क्या उस समय मानजी स्वामी उपस्थित थे? मानजी स्वामी का स्वर्गवास १९४२ में ही हो चुका था। अतः उनकी उपस्थिति का प्रश्न ही नहीं।

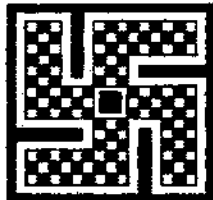
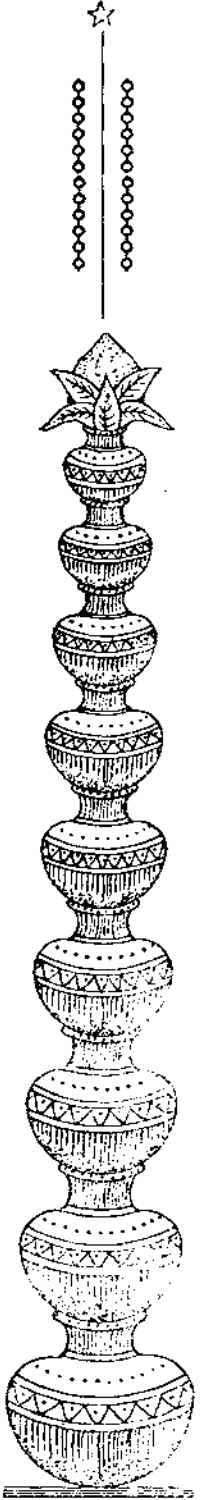
अतः पूज्य श्री का जन्म समय १८६३ का ही ठीक बैठता है।

बहुत प्राचीन समय से ही देवगढ़ जैन धर्म का अच्छा क्षेत्र रहा है। आज भी जैनों के अच्छी संख्या में परिवार वहाँ हैं। गाँधी परिवार एक भी आज अच्छा धर्मप्रेमी और अग्रगण्य है। मानजी स्वामी इसी परिवार की दैन हैं। बचपन से ही धार्मिक संस्कार पाने से ज्योंही कुछ समझ का विकास होने लगा, मानजी का झुकाव धर्म क्रियाओं की तरफ बढ़ गया।

उस समय मेवाड़ सम्प्रदाय के आचार्य पद पर पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज समासीन थे। वे बड़े आत्मानन्दी सत्पुरुष थे। उच्चकोटि के महात्मा थे। देवगढ़ पधारे। श्री मानजी जो अभी बहुत छोटे बच्चे थे, पूज्य श्री के निकट आये।

आध्यात्मिकता के भी बड़े विलक्षण सिद्धान्त होते हैं। उन्हें भौतिक उपादानों से जानना संभव नहीं। न उन्हें इस तरह आँकना ही चाहिए। अतिमुक्तकुमार केवल नौ वर्ष के थे। भगवान महावीर के निकट पहुँचे, यह एक सामान्य बात थी, किन्तु अतिमुक्त में जो आध्यात्मिक परिवर्तन आया, वह असामान्य था।

कुछ ऐसा ही परिवर्तन आया था, श्री मानजी में, पूज्य श्री नृसिंहाचार्य के सम्पर्क से। नौ वर्ष की उम्र में यों मानसिक विकास बहुत थोड़ा सा हो पाता है, किन्तु कुछ चेतनाओं की आध्यात्मिकता ऐसी विलक्षण होती है, जो गामर में सागर को चरितार्थ करती है। तन छोटा होता है, किन्तु मावों की उड़ान बहुत ऊँची होती है। कुछ ऐसा ही बना श्री मानजी स्वामी के जीवन में उस समय। वय तो उनकी छोटी थी, किन्तु विचार जो उनके बने वे बड़े कान्ति-



कारी थे। वे पूज्य श्री के निकट अपने को अर्पित करना चाहते थे। संयम का आग्रह उनका इतना तीव्र सच्चा, और प्रभावशाली था कि अनेकों यत्नों के बावजूद पारिवारिक-जनों को अनुमति देनी ही पड़ी।

सं० १८७२ की कार्तिक शुक्ला पंचमी को दीक्षा सम्पन्न हो गई। दीक्षास्थल का परिचय ढूँढ़ने पर भी नहीं मिल सका।

पूज्य श्री मानजी स्वामी एक विद्वान् गुरु के शिष्य थे। सुनने में आता है कि श्री नृसिंहाचार्य जी को अनेक सूत्र कण्ठस्थ थे।

गुरु के जानामृत का श्री मान मुनि ने भी भरपूर रसपान किया।

पूज्य आचार्य श्री नृसिंहाचार्यजी महाराज के स्वर्गवास के बाद मेवाड़ के आचार्यत्व के धर्म तख्त पर श्री मानजी स्वामी को समासीन किया गया।

श्री मानजी स्वामी बड़े तेजस्वी आचार्य थे। उन्होंने संघ की प्रतिष्ठा को चतुर्दिक व्याप्त कर दिया। उनके प्रवचन बड़े ओजस्वी और प्रभावक होते थे। उनका देह-वैभव भी बड़ा विशाल और तेजस्वी था।

जेवाणा वाले श्री अम्बालालजी जैन की माताजी, जिनका देहावसान अभी कुछ समय पूर्व ही हुआ, की उम्र नव्वे वर्ष से अधिक थी। उन बूढ़ी माताजी ने बताया कि मेरी गुरुधारणा पूज्य श्री मानजी स्वामी की वाणी से हुई थी। श्री मानजी स्वामी का शरीर पुष्ट और चमक-चमक करता था। इससे ज्ञात होता है कि उनका व्यक्तित्व वास्तव में प्रभावशाली था।

श्री मानजी स्वामी कवि भी थे। उनकी अधिक रचनाएँ तो उपलब्ध नहीं हैं, किन्तु जो उपलब्ध हैं, उनसे उनका कवित्व प्रकट होता है। उनके गुरु गुण स्तवन के प्रारम्भिक दोहों में से एक दोहा है—

गुरु हीरा गुरु कंचणां, गुरु ज्ञान दातार ।

गुरु पोरस चित्रवेल सम, लीज्यो मन में धार ॥

सीधी सादी राजस्थानी शैली में कुछ रचनाएँ उपलब्ध हैं।

किंवदन्तियों-चमत्कारों में श्री मानजी स्वामी

पूज्य मानजी स्वामी, जिस एक बात के लिए सर्वाधिक विख्यात है, वह हैं उनका चमत्कारिक जीवन। मानजी स्वामी के साथ अतगिनत चमत्कारी घटनाएँ जुड़ी हुई हैं।

जिस तरह नाथ सम्प्रदाय में गोरखनाथ जी का जीवन चमत्कार का पर्याय बना हुआ है, [इसी तरह पूज्य मानजी स्वामी भी जैन सम्प्रदाय में चमत्कार के एक पर्याय हैं।

जैन मुनि चमत्कारों के सृजन को हेय मानकर चलता है; इतना ही नहीं चमत्कार को एक प्रमाद मानकर उसके सृजन पर प्रायश्चित्त की व्यवस्था भी देता है। ऐसी स्थिति में किसी जैन मुनि के साथ इतने चमत्कारों का जुड़ जाना सचमुच आश्चर्य की बात है।

यों जैन मुनि चमत्कारों का सृजन नहीं करता, किन्तु उसके आस-पास भी कभी स्वतः ही चमत्कारों की सृष्टि हो आया करती है। यह आश्चर्य की बात है। फिर भी जैन मुनि की उपस्थिति में चमत्कार हुए हैं आज से नहीं, हजारों वर्ष पहले भी, इसमें कोई सन्देह नहीं।

अप्रयोगित चमत्कार क्यों हुए, इसके उत्तर में भक्त देवताओं का आगमन और उनकी शक्ति ही इसका समाधान देती आई है। और, अभी भी केवल इसी विकल्प पर तर्कों को निष्क्रिय करना पड़ता है।

आत्मा और जड़ की अनन्त शक्ति है। इसके विविध सन्दर्भों में आश्चर्यजनक परिणामन भी एक समाधान है, किन्तु यह बहुत दूर का है। यह समाधान अपने आप में अभी तक और अन्वेषण का आह्वान करता है।

श्रीयुत मानजी स्वामी की सेवा में एक देवी और दो भंरव उपस्थित रहते थे। ऐसी बहुत पहले से चली आई धारणा है।

अद्भुत निर्भयता

कहते हैं, एक बार मानजी स्वामी, जब नवदीक्षित ही थे, अपने गुरु के साथ सिरौही पधारे थे। एक लोका-



गच्छी उपाश्रय में ठहरे। वहाँ यति विजय-प्रताप यन्त्र-साधना कर रहा था। उसके लिए वह अन्तिम दिन था। अर्द्ध-रात्रि के समय अधिष्ठित देवी सिंह का रूप धारण कर दहाड़ मारती गगनमंडल से उतरीं। उसका विकराल व्यक्तित्व इतना भयंकर था कि यति अत्यधिक डर गया। अतिभय के कारण कालकवलित हो गया। पास ही मानजी ध्यानस्थ थे। सिंहाकृति दहाड़ मारती उधर लपकी। श्री मानजी मुनि ने निर्भयतापूर्वक हाथ उठाकर दया पालने का सन्देश दिया। कहते हैं, उस देवी ने आधा हाथ अपने मुँह में दबा लिया। किन्तु मानजी स्वामी निर्भय ही रहे। उस महान निर्भयता के समक्ष देवी नतमस्तक हो वन्दन करने लगी। अपने अपराध की क्षमा चाहने के साथ ही उसने आजीवन सेवा करते रहने की प्रतिज्ञा की। कहते हैं; तभी से देवी और उसके अनुयायी दो मैरव मुनिश्री की सेवा में उपस्थित रहने लगे।

यह बात ठीक वैसी ही बनी कि चन्द्रहास खड्ग साधा शम्बुक ने, किन्तु वह मिला लक्ष्मण को। इसी तरह यन्त्र की साधना की यति ने और उसका लाभ मिला श्री मानजी स्वामी को।

डाकुओं को प्रतिबोध

एक बार पूज्य मानजी स्वामी मारवाड़, मेवाड़ के मध्यवर्ती विकट पहाड़ों में विचर रहे थे। एक जगह कुछ डाकुओं ने मुनिमंडल को घेर लिया। वे कपड़े छीनने लगे। श्री मानजी स्वामी ने बड़े धैर्य से उनको कहा—कपड़े तो तुम्हें और मैं कहीं मिल जाऊँगे, हम तो तुम्हें धर्म का अद्भुत रत्न देना चाहते हैं। उन्होंने कहा—मृत्यु के मुख में सभी को जाना है, तुम्हें भी जाना है। अपकर्म करके यहाँ अपयश और भय से जी रहे हो! मृत्यु के बाद तुम्हें शान्ति मिल जाएगी, इसकी संभावना नहीं। ऐसा जीवन जो भय और वुराइयों से भरा हुआ है, एक जंजाल है। ऐसा दुष्ट जीवन जीने की अपेक्षा निर्भय विचरने वाले पशुओं का ही जीवन ज्यादा श्रेष्ठ है।

स्वामीजी के मार्मिक उपदेश से डाकू दल एक नई दिशा में सोचने लगा। पूज्य श्री के चेहरे और चक्षुओं की अनुपम प्रभा तथा उनके शानदार व्यक्तित्व से चकित होकर वे डाकू पूज्य श्री को निहारते ही रहे। वे बड़े प्रभावित होकर उपदेश का अमृत पीने लगे।

“पारस परसि कुधातु सुहाई” वाली कहावत के अनुसार पूज्य श्री के पावन प्रसंग से डाकू सच्चे नागरिक बनने को उत्साहित हो गये। उन्होंने डकेजनी का परित्याग करके भावी जीवन में शुद्ध रहने की प्रतिज्ञा ली।

आप रहें, मैं जाता हूँ

एक बार मानजी स्वामी विजणोल (नाथद्वारा) पधारे थे। वहाँ के माफीदार उन्हें मार्ग में मिले। पूज्य मानजी स्वामी को अपने गाँव पधारते देखकर वे माफीदार आगे जाना बन्द कर स्वामीजी के साथ पुनः अपने गाँव चले आये। माफीदारों की बड़ी पोल के एक चबूतरे पर एक प्रेत ने निवास कर रखा था। उससे पूरा परिवार दुःखी था। माफीदारों ने सोचा—मानजी स्वामी बड़े करामाती हैं। इन्हें उसी चबूतरे पर उतारना चाहिए। अपना उपद्रव टल जाएगा। ऐसा सोचकर उन्हें वहीं ठहराया।

केवल मानजी स्वामी उस चबूतरे पर ठहरे। उनके शिष्य हीरालालजी, पन्नालालजी आदि पास वाले चबूतरे पर बैठे।

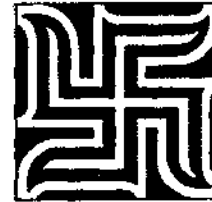
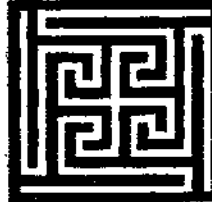
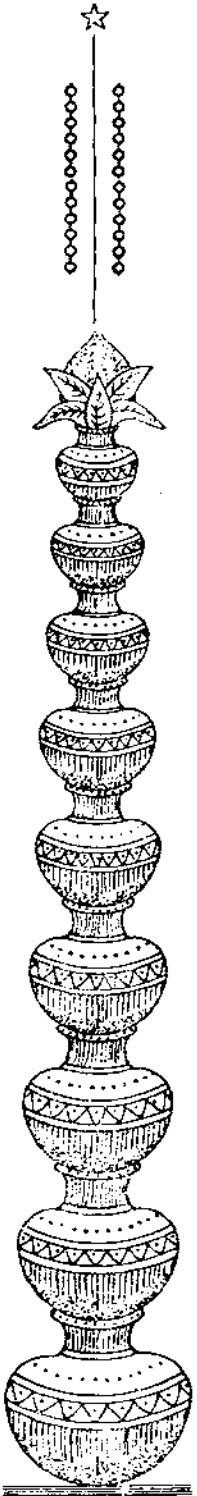
चबूतरे पर बैठते ही स्वामीजी ने कहा—अरे! हीरा, पन्ना!! यहाँ तो उपद्रव है। हीरालाल जी महाराज ने कहा—गुरुदेव! इधर पधार जाएँ।

“अब मैं क्या आऊँ, रहने वाला ही जाएगा!” ऐसा ज्यों ही मानजी स्वामी ने कहा—एक विकराल प्रेत यह कहते हुए कि “आप रहें, मैं जाता हूँ।” नतमस्तक हो विलीन हो गया।

उसी दिन से वह स्थान निरुपद्रव हो गया। माफीदार परिवार ने भी उस स्थान को धर्म-ध्यान में बरतने के लिए रखा। पधारने वाले साधु-साध्वियाँ प्रायः वहीं ठहरते आये। लेखक को भी वहाँ कई बार ठहरने का अवसर मिला।

मेरे तो देवता आप हैं

मानजी स्वामी का सर्वाधिक प्रसिद्ध चमत्कार ‘खेड़ी’ का माना जाता है।



खेड़ी खमणौर के पास वनास नदी के किनारे बसा एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ भैरव का एक स्थान है, जो अपने युग का बड़ा प्रसिद्ध स्थान रहा है।

एक बार मानजी स्वामी खेड़ी के पास होकर विचर रहे थे। इतने में वर्षा आ गई। पावस से बचने को स्वामीजी शिष्यों सहित उस देवस्थान में ठहर गये।

देवजी भोपा, जो उस देवस्थान की सेवा करता था, पूजा करने को आया। मुनियों को देखते ही आगबवूला हो बकने लगा। उसका कहना था कि तुम लोगों ने मेरे देवरे को अशुद्ध कर दिया।

मानजी स्वामी ने कहा—यहाँ कौन है, जो अशुद्ध हो? भोपा ने कहा—यह भैरू का स्थान है। स्वामीजी ने कहा—क्या तुमने भैरव को देखा है? उसने कहा—भैरू दिखाई नहीं देते। स्वामीजी ने कहा—वाह! उग्रभर तुमने आरतियाँ उतारीं, किन्तु भैरव तुम्हें मिले ही नहीं! जरा, अपने भैरव को बुला तो सही, हम भी देखें।

स्वामीजी की इस विनोद भरी बात से भोपा और तिलमिला गया।

स्वामीजी ने कहा—अच्छा, भैरू तुम्हारे हों तो तुम बुलाओ और यदि हमारे होंगे तो हमारे सामने आएंगे! बिचारा भोपा उस देवशक्ति को कैसे बुला सकता था? वह बड़ा परेशान था। उसने कहा—क्या आप बुला सकते हो? स्वामीजी ने कहा—साधु किसी को बुलाते नहीं, साधुओं के पास तो वे स्वतः ही आते हैं!

ऐसा कहा ही था कि कहते हैं, दो भैरव-आकृतियाँ उपस्थित होकर स्वामीजी की चरणोपासना करने लगीं। देवजी भोपा चकित थे।

देवों के विलीन होने पर भोपा स्वामीजी के चरणों में लोट गया और कहने लगा—मेरे तो देवता आप हैं! स्वामीजी धर्म सन्देश देकर आगे बढ़े। उस देवस्थान पर जब से चमत्कार हुआ, उस स्थान की प्रशंसा दिनों-दिन बढ़ती गई।

भोपा परिवार मदिरा-मांस का त्यागी था। उस परिवार के पास एक चादर थी जो बाद में सलोदा वाले भोपा जगरूपजी के हाथ लगी। आज भी वह चादर भोपाजी दिखाते हैं, जो अति जीर्ण है। उसे मानजी स्वामी की बताते हैं। वे कहते हैं कि यह चादर मानजी स्वामी से मिली। किन्तु मुनि तो चादर देते नहीं, ऐसी संभावना है कि स्वामीजी ने वह चादर उतार कर सुखाने की धरी होगी। फिर चमत्कार देखकर भोपा ने उसे पवित्र चादर समझकर उठा लिया होगा!

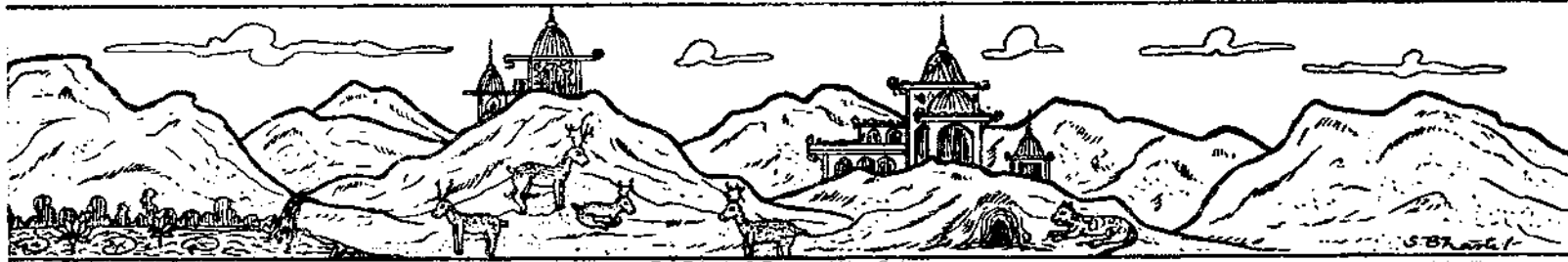
'आगम के अनमोल रत्न' के अनुसार वह चादर मानजी स्वामी के दाह-संस्कार में से अभंग बचकर निकली थी। उसे नाथद्वारा संघ ने लम्बे समय तक अपने यहाँ रखा। बाद में वह सलोदा वाले भोपा को दे दी गई। किन्तु यह बात ठीक नहीं बैठती। नाथद्वारा संघ भोपा को चादर क्यों दे? जो चादर इतना चमत्कार अपने साथ रखती है, उसे संघ किसी भोपा को दे दे, यह जँचता नहीं!

सलोदावाले भोपा जगरूपजी ने कहा कि यह चादर उन्हें खेड़ी से मिली। उन्होंने बताया—मुझे स्वप्न में दर्शाव हुआ। तदनुसार मैं यह चादर खेड़ी से ले आया। चादर बहुत ही जीर्ण तार-तार हो रही है। यत्र-तत्र फटी हुई है। इसे धागे से सी रखा है। भोपाजी ने कहा—इसे सुई से नहीं, सूल से सिया करने है।

देवी ने इन्कार किया

उदयपुर के पास नखावली एक छोटा-सा गाँव है। वहाँ एक बड़ा जैन मन्दिर है। ठीक उसके सामने देवी का मन्दिर है। वहाँ बलिदान होता था। जैन मन्दिर के बिलकुल सामने निकट ही खून की धार बहा करती जिसे देख कर धर्मप्रिय जनता बड़ी दुःखी थी।

नखावली के एक बूढ़े ब्राह्मण ने हमको बताया कि एक बार मानजी स्वामी का वहाँ आना हुआ। उन्हें जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने देवी के पुजारी और अन्य जनता को बलि बन्द करने के लिए कहा। किन्तु इसके लिए कोई तैयार नहीं हुआ। वे लोग कहने लगे कि अगर साक्षात् देवी भनाई कर दे तो हम बलि बन्द कर देंगे! कहते हैं कि तत्काल ही एक दिव्य आकृति ने प्रस्तुत हो बलि बन्द करने का आदेश दे दिया और वह आकृति विलीन हो गई। सारी जनता और पुजारी चकित से देखते ही रह गये।



बात अद्भुत हुई। किन्तु उसी दिन से बलिदान वहाँ लुप्त हो गया। अब केवल मीठी पूजा होती है। उस ब्राह्मण ने बताया कि यह घटना नव्वे से अधिक वर्ष के कई वृद्ध जानते हैं।

महलों में साधु ही साधु

सुनने में आया कि एक बार किसी विशेष प्रकरण को लेकर महाराणा ने जैन मुनियों को मेवाड़ से निष्कासन की आज्ञा देने का निश्चय किया। सारे मेवाड़ की धर्मप्रिय जनता उद्विग्न थी। चारों तरफ बड़ी चिन्ता फैली हुई थी। ऐसी स्थिति में महाराणा के राजमहलों में एक चमत्कार हुआ।

महाराणा को अपने महलों में सर्वत्र साधु ही साधु दिखाई देने लगे। उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ कि जिन्हें मैं देश निकाला देना चाहता हूँ, वे मेरे राजमहलों में कैसे आ गये। मजे की बात यह थी कि वे साधु की आकृतियाँ केवल महाराणा को ही दिखाई देती थीं, अन्य को नहीं।

महाराणा बड़े हैरान थे। उन्हें कोई समाधान नहीं मिल रहा था। अन्त में उन्हें किसी ने मानजी स्वामी का नाम सुझाया। मानजी स्वामी की याद आते ही महाराणा उनके दर्शनों के लिए आतुर हो गये।

इधर पूज्य श्री मानजी स्वामी ने जब यह सुना कि महाराणा जैन मुनियों को मेवाड़ से बाहर निकालने की आज्ञा देने वाले हैं तो उन्होंने दा खेड़ा (वर्तमान देवारी) में एक देवड़ा क्षत्रिय के खेतों पर बनी घास-फूस की झोपड़ी में तेल (तीन दिनों की तपश्चर्या) कर लिया। चौथे दिन उस देवड़ा ने खोज करने वालों को पूज्य श्री की जानकारी दी। कहते हैं, जात होते ही महाराणा साहब पूज्य श्री की सेवा में पैदल पहुँचे और अपने विशेष आग्रह से उन्हें उदयपुर में लाये। जो आज्ञा जारी होने वाली थी, वह जहाँ की तहाँ समाप्त हो गई। जैनधर्म की बड़ी जबरदस्त प्रभावना हुई।

उपर्युक्त घटना केवल किंवदन्ती तक जीवित है। लिखित आधार इसका कुछ है नहीं, किन्तु जो किंवदन्तियाँ हैं, उनका मूल कहीं न कहीं तो होता ही है, इसमें कोई सन्देह नहीं।

जय और क्षय

एक ऐसी ही अनुश्रुति यह भी है कि नाथद्वारा में तिलोकचन्द जी लोढ़ा थे। बड़े अभावग्रस्त थे वे।

एक बार पूज्य मानजी स्वामी वहाँ पधारे हुये थे। तिलोकचन्दजी को यह ज्ञात था कि पूज्य मानजी स्वामी बड़े तेजस्वी तपस्वी संत हैं। वे बड़े भक्तिभाव से उनकी सेवा करने लगे। तिलोकचन्द जी ने एक दिन अपनी दीनदशा का वर्णन पूज्य श्री के समक्ष किया। पूज्य श्री यन्त्र-मन्त्रवादी तो थे नहीं वे तो वीतराग मार्ग के प्रचारक थे। उन्होंने ध्यान से उनके दुखदर्द को तो सुना, किन्तु प्रत्युत्तर में केवल मांगलिक सुना दिया।

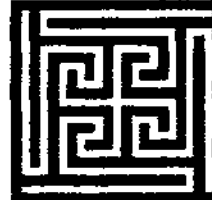
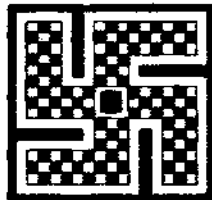
संयोग की बात थी। कुछ ही दिनों में तिलोकचन्दजी लोढ़ा के यहाँ वैभव की अपूर्व वृद्धि होने लगी। दो-तीन वर्षों में ही वे नगर के प्रमुख धनाढ्यों में गिने जाने लगे। उन्होंने एक विशाल भवन बनवाया जो 'लोढ़ों का महल' कहलाता था।

उनके विशाल वैभव को देखकर श्रावकों ने उन्हें एक धर्मस्थान निर्मित करने का भी आग्रह किया। उन्होंने उसे स्वीकार भी किया। किन्तु वैभव की चकाचौंध में वे धर्मस्थान बनाने को टालते ही रहे।

एक बार पुनः जब मानजी स्वामी नाथद्वारा ही विराजित थे, कुछ लोगों ने तिलोकचन्द जी से धर्मस्थान के लिए आग्रह किया, किन्तु उन्होंने उपेक्षापूर्ण जवाब दिया। पूज्य श्री मानजी स्वामी को किसी ने जानकारी दी तो उनके मुँह से सहसा ही ऐसा निकला कि स्वार्थियों से परमार्थ कहीं सधता है! धन का अत्याग्रह भी एक दरिद्रता है।

कहते हैं, उसी दिन से श्री लोढ़ाजी का वैभव कपूर की डली की तरह उड़ने लगा, जो देखते ही देखते विलुप्त हो गया। विचारे लोढ़ाजी कुछ ही वर्षों में पूर्ववत् स्थिति को भी पार कर और अधिक दयनीय स्थिति में चले गये तथा वे उसी स्थिति में एक दिन संसार से भी विदा हो गये।

जो 'लोढ़ों का महल' कहलाता था, वह अब भूतों का महल कहलाने लगा। सारा घराना क्षरित होकर क्रमशः निःशेष हो गया। शेष बचा भवन अभी वल्लभनगर वाले गृहस्थों के पास है।



नियम अभी भी चालू है

संत का प्रभाव अद्भुत होता है। ज्यों-ज्यों सूर्य बढ़ता है, त्यों-त्यों प्रकाश फैलता जाता है। संत भी सूर्य होता है। वह प्रकाश-पुञ्ज होता है। जिधर संत जाता है, जन-जीवन के अन्तर्मन में प्रकाश भरता रहता।

पूज्य श्री मानजी स्वामी अद्भुत उपकारी महात्मा थे। उनके द्वारा अनेकों उपकार सम्पन्न हुये।

'पालका' रायपुर के निकट एक छोटा-सा गाँव है। पूज्य श्री मानजी स्वामी का एकदा वहाँ मंगलमय पदार्पण हुआ। नगर के नरनारियों को बड़ा धर्मलाभ प्राप्त हुआ। स्थानीय तेली समाज 'अमाड़ी' अधिक बोया करता था। अमाड़ी को सड़ाकर रेशे निकाले जाते हैं। इसमें बड़ी हिंसा होती थी। पूज्य श्री ने तेली समाज को उद्बोधित कर जाग्रत किया। अमाड़ी के महापाप से उन्हें बचाने का उपदेश दिया। फलतः तेली समाज ने सदा सर्वदा के लिए अमाड़ी बोने और सड़ाने का त्याग कर दिया। आज भी पालका का तेली समाज उक्त नियम पर दृढ़ है और वह खुशहाल भी है।

चरणों में सिंह बैठे देखा

नाथद्वारा में भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को लड्डू फेंकने की एक प्राचीन प्रथा है। इस कार्य में श्री नाथजी की पूजा करने वाले महाराज भी भाग लिया करते थे।

एक बार चतुर्थी के दिन महल से महाराज ने तिल का लड्डू फेंका। वह लड्डू श्री हीरालाल जी हींगड़ को जाकर लगा। श्री हींगड़ जी का मकान पास ही था। हींगड़जी ने जिधर से लड्डू आया वापस उधर ही फेंक दिया और वह श्री महन्त जी को जा लगा। इस पर वे बड़े कुपित हुये। यह ज्ञात होते देरी नहीं लगी कि लड्डू हीरालाल जी ने फेंका है। हीरालाल जी को ज्ञात हो ही गया कि मोदक महन्त जी के जा लगा है। वे मारे भय के कांपने लगे, अपने बचाव का कोई मार्ग नहीं देख, वे सीधे श्री मानजी स्वामी की सेवा में पहुँच गये। श्री मानजी स्वामी उस समय फीज के नोहरे में विराजित थे। शरण पहुँच कर सामायिक करके बैठ गये। राज्य आरक्षी दल हीरालालजी को ढूँढ़ता नोहरे में पहुँचा तो, हीरालाल जी पाट के पास सामायिक में बैठे थे। श्री मानजी स्वामी पाट पर विराजित थे साथ ही उन्होंने यह भी देखा कि पाट के नीचे एक नौ हत्था केसरी सिंह भी बैठे हुए हैं। सिंह देखते ही आरक्षी दल घबराया वह आगे नहीं बढ़ सका और कुछ आगे बढ़ने का यत्न किया भी तो सिंह गुर्रा कर सामने आने लगा तो सभी डर कर भाग सड़े हुये। दल के अध्यक्ष ने महन्तजी को यह घटना बताई तो महन्तजी ने कहा। हीरालाल मानजी स्वामी की शरण में चला गया तो अब हम उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। मान बाबा बड़े चमत्कारी हैं। हीरालालजी को क्षमा मिल गई।

उपर्युक्त घटना, श्री चौधमल जी सुराणा ने नाथद्वारा में सुनाई।

एक भविष्यवाणी

महाराणा फतहसिंह राणावंशीय एक सामान्य परिवार के युवक थे। वे किसी कार्यवश कांकरोली आये थे। मार्ग में पूज्य श्री मानजी स्वामी मिले। फतहसिंह जी नमस्कार करके आगे बढ़े ही थे कि पूज्य श्री ने शिष्यों को कहा— यह युवक मेधाइ का महाराणा होने वाला है। गुरु-शिष्य की यह बात जाते हुए फतहसिंह ने सुनी तो उन्होंने उसे अपने प्रति की गई एक व्यंग्यात्मक बात समझी। किन्तु अपने घर पहुँचते ही पूज्य श्री की सच्चाई उन्हें मिल गई। उदयपुर सन्देश आया हुआ था कि फतहसिंह मेवाड़ की राजगद्दी को पाने के लिए शीघ्र आवें।

महाराणा फतहसिंह पूज्य श्री की चमत्कारिक भविष्यवाणी से बड़े प्रभावित हुए। वे पूज्य श्री की सेवाएँ करना चाहते थे। किन्तु अवसर नहीं मिल सका। कारण यह था कि फतहसिंह जी के सिंहासनाखंड होने के एक वर्ष बाद ही पूज्य श्री का स्वर्गवास हो गया।

स्वर्गवास

पूज्य श्री मानजी स्वामी अपने जीवन में बड़े प्रखर थे। उन्होंने मेवाड़ के धर्म-शासन को बड़ी तेजस्विता के साथ चलाया, चमकाया। पूज्य श्री का जीवनकाल धर्मशासन का स्वर्णिम समय रहा। कुल सित्तर वर्ष संयम पालन किया, नौ वर्ष की वय में दीक्षा ग्रहण की। इस तरह कुल गुण्यासी वर्ष की दीर्घ वय पाये।



पूज्य श्री का अन्तिम चातुर्मास नाथद्वारा था। उसी वर्ष किसी छोटे-से गाँव में उनका स्वास्थ्य नरम हो चला। व्याधि कुछ ज्यादा बढ़ी तो चारों तरफ एक चिन्ता फैल गई।

छोटा-सा गाँव अपनी जिम्मेदारी के अनुरूप तैयारी करने लगा तो पूज्य श्री ने कहा—तुम कोई चिन्ता न करो। मैं नाथद्वारा चातुर्मास के लिए जाऊँगा और वहीं से मेरा अन्तिम प्रयाण होगा।

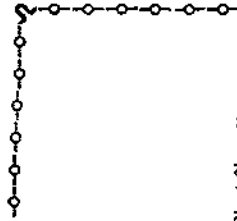
वास्तव में पूज्य श्री नाथद्वारा पधारे और कई दिनों तक धर्मोपदेश देकर जनजीवन को लाभान्वित किया।

चातुर्मास का अन्तिम माह कार्तिक आया। पूज्य श्री के स्वास्थ्य में स्थिरता आने लगी।

अन्त में कार्तिक शुक्ला पंचमी को जैनैन्द्रीय विधि सहित पूज्य श्री का सुरलोकगमन हुआ।

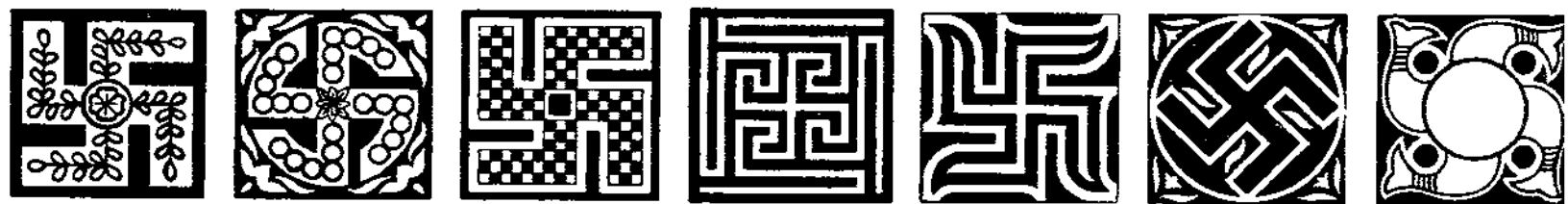
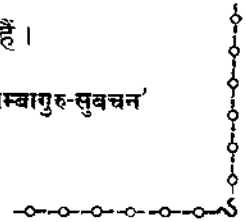
पूज्य श्री एकलिंगदास जी महाराज के पूज्य पद प्रदान करने के उत्सव की छपी पुस्तक में पूज्य श्री का स्वर्गवास चैत्र में लिखा, किन्तु अनुश्रुति और पट्टावली कार्तिकी पंचमी का समर्थन करती हैं।

‘आगम के अनमोल रत्न’ के लेखक के मतानुसार स्वर्गवास का संवत् उन्नीस सौ तिरसठ है। किन्तु यह युक्त नहीं लगता। कारण यह कि पूज्य श्री एकलिंगदास जी महाराज के गुरु श्री वेणीचन्दजी महाराज का स्वर्गवास उन्नीस सौ इकसठ चैत्रपुरा में माना जाता है तो क्या पूज्य श्री मानजी स्वामी से पहले ही वेणीचन्द जी महाराज का स्वर्गवास हो गया? यह सर्वविदित है कि वेणीचन्दजी महाराज के स्वर्गवास के समय मानजी स्वामी उपलब्ध नहीं थे तो १९६३ का स्वर्गवास होना स्वतः ही असिद्ध ही जाता है।



कुछ लोग तलवार से मारते हैं।
कुछ लोग वचन-प्रहार से मारते हैं।
कुछ लोग मीठी मनुहार से मारते हैं।
कुछ लोग प्यार से मारते हैं।
कुछ लोग उपकार के भार से मारते हैं।

—‘अम्बागुरु-सुवचन’



तपस्वीराज श्री सूरजमलजी महाराज

□

जैन मुनि परम्परा का उज्ज्वल इतिहास तब तक अपूर्ण ही रहेगा जब तक विस्मृत किन्तु छिपी हुई विभूतियों का प्रामाणिक इतिहास सामने न आए ।

पट्टनायक को ही महत्त्व देने की परम्परा से कई ऐसी सन्त-विभूतियों के नाम तक विस्मृत हो गये हैं जिन्होंने अपने उज्ज्वल संयम, प्रखर तेजस्वति के द्वारा शासन को दैवीप्यमान किया था । अनुसंधान और खोज प्रधान वर्तमान युग में भी उन पुण्यात्माओं से परिचय नहीं हो तो यह एक खेद की बात होगी ।

सन्त परम्परा की जो ज्योतिर्मयी कड़ियाँ कई कारणों से विशृंखलित हो गई हैं, अब समय आ गया है कि हम उन्हें पुनः प्रकाश में लायें और गौरवमयी संत परम्परा से जन-जन को परिचित करें ।

राजस्थान के मेवाड़ प्रदेश में विचरने वाली प्रमुख संत परम्परा मेवाड़ सम्प्रदाय के नाम से विख्यात है । उपलब्ध प्रमाण और किंवदन्तियों से प्रतीत होता है कि इस सन्त परम्परा में कई तपोपूत तेजस्वी महात्मा हुए जो इस प्रदेश की राणा-परम्परा के अनुरूप ही गौरवशाली संयम सूरता के अवतार थे ।

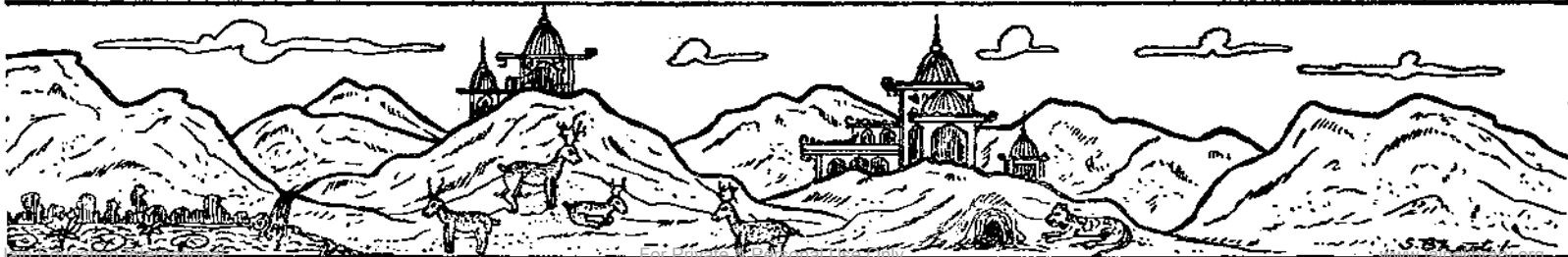
पुराने हस्तलिखित पत्रों की देखमाल करते हुए एक-पत्र जो धुरन्धर विद्वान् कविवर्य श्री रिखबदास जी महाराज द्वारा रचित स्तवन का मिला जिसमें तपस्वीराज श्री सूरजमल जी महाराज का परिचय दिया हुआ है । पत्र की हस्तलिपि श्री रिखबदास जी महाराज की ही प्रतीत होती है । तपस्वीराज श्री सूरजमल जी महाराज क्या थे ? आज सम्भवतः मेवाड़ में उनके विषय में कोई कुछ नहीं जानता किन्तु इस एक स्तवन पत्रक ने उन्हें सन्त परम्परा की एक दैवीप्यमान मणि सिद्ध कर दिया । स्तवन जो परिचय देता है वह संक्षिप्त में यह है—

तपस्वीराज श्री सूरजमल जी महाराज का जन्म स्थान “कालेरिया” (देवगढ़) था । लोढ़ा गोत्रीय श्री थान जी तथा श्री चन्दूबाई के यहाँ संवत् १८५२ में उनका जन्म हुआ । २० वर्ष की उम्र में पूज्य आचार्य श्री नृसिंहदास जी महाराज के पास सं० १८७२ चैत्र कृष्णा १३ के दिन आपने संयम पर्याय धारण की । दीक्षा-स्थल कौन-सा रहा ? इसका कुछ परिचय नहीं मिल सका । ३६ वर्ष निर्मल संयम पालन कर सं० १९०८ ज्येष्ठ शुक्ला अष्टमी को आपका स्वर्गवास हुआ । छत्तीस वर्ष का यह संयमी जीवन घोर तपोसाधना में गया । स्तवन के निर्देश के अनुसार तपस्वी जी ने अपने जीवन में दो बार कर्म चूर तप किया । पाँच माह का दीर्घ तप एक बार किया । सैंतीस, पैतीस तथा पन्द्रह दिन के तप भी किये ।

यह केवल बड़ी तपश्चर्या की सूचना है । फुटकर तप कितना किया होगा । यह पाठक स्वयं अनुमान लगा लें । जिनशासन जो आज परलबित पुष्पित दिखाई दे रहा है । वह ऐसी ही तपोपूत आत्माओं की देन है । अन्त में हम वह स्तवन पूर्ण रूप से उद्धृत करते हैं जो तपस्वी जी के जीवन का परिचायक तो है ही कविराज श्री रिखबदास जी महाराज की कविता का एक अच्छा नमूना भी है—

[देसी-लावणी]

श्री सूरजमल जी, तपसी बड़े वैरागी, ज्यां ततखिण तज संसार संजम लव लागी ।
थाँरो वास देस मेवाड़, कालेर्या माँही, हुआ लोढ़ा कुल में परम महा सुखदाई ॥१॥
प्यारा पिता थान जी, माता चन्दूबाई, हुआ बीस बरस में दिख्या दिल में आई ।
गुरु भेट्या पंडित, पूज्य शिरोमणि भारी, पुज नरसिंहदास जी, संघ मणी सुखकारी ॥२॥

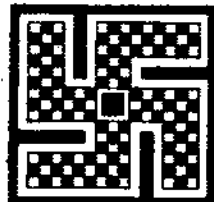
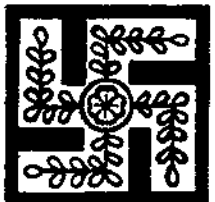


संवत् अठारे सितर दोय के माँही, विध तेरस चैतरमास दिख्या ले वाई ।
करे विनो भगति, गुरु देवा में अति भारी, रहे ज्ञान-ध्यान में तलालीन गुणधारी ॥३॥
सुध संजम पाल, सुमत गुपत करी सोहे, खिम्या गुण सागर, भवियण ना मन मोहे ।
सहु भणिया गुणिया, हुवा इगन का पूरा; संजम रंग राता करम काटण महा सूरा ॥४॥
ज्यां भर जोवन में, बहु विध तपस्या कीधी, मुनिवर जग माँही सोभा अधकी लीधी ।
किया सैतीस, पैतीस, पाँच मास वले जाणी, वले करम चूर दोय पनराल तप आणी ॥५॥
ज्यां क्रोध लोभादिक उपशम च्याहूँ ही करिया, ममता नहीं मछर समता रस गुण भरिया ।
वे देश-प्रदेशां गाम नगर पुर माह्यो, मुनिवर विचरिया जिन मारम दीपायो ॥६॥
ज्यां छत्तीस वरस लग निरमल संजम पाली, दोखण दूरे कर आतम ने उजवाली ।
समत ओगणीसे बरस आँठाँ के माँही, वले जेठ सुद आठम दिन सुर पदवी पाई ॥७॥
मुझ बुध अलप छे, तुम गुण किण विध गाउँ, गुरु दरिया गुणकर भरिया पार न पाउँ ।
तुम रिखव रिसि पर, किरपा करियो स्वामी, सुख सम्पति आपो अरज करूँ सिर नामी ॥८॥



परम आनन्दस्वरूप ज्योति के मंगल दर्शन बाहरी
आखें मूँदने मात्र से नहीं, किन्तु अन्तर चक्षु खोलने
से होता है ।

—'अम्बागुरु-सुवचन'



कविराज श्री रिषभदासजी महाराज

□

अठारहवीं शताब्दी का अन्त और उन्नीसवीं शताब्दी का प्रारम्भ, कोई बहुत पुराना समय नहीं होता, किन्तु प्रमाण आदि के अभाव से उस समय मेवाड़ के जैन-जगत को अपनी सुन्दर काव्य-कृतियों एवं उत्कृष्ट त्याग-तप से प्रभावित करने वाले कविराज ऋषभदास जी महाराज के विषय में परिचयात्मक रूप से हम कुछ भी बताने में समर्थ नहीं हैं ।

बहुत प्रयत्न करने पर भी रिखबदासजी महाराज का न तो जन्मस्थान का ही हमें पता लगा और न उनके माता-पिता तथा संयम स्वीकृति के समय को ही हम अवगत कर सके ।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि वि० सं० १९०८ में कविराज श्री रिखबदासजी महाराज प्रौढ़ावस्था में विचर रहे होंगे । क्योंकि उस समय की लिखी हुई एक लावणी मिली है, जो तपस्वी श्री सूरजमलजी महाराज के गुण के रूप में लिखी गई है । यदि यह लावणी तीस वर्ष की उम्र के आस-पास लिखी गई हो तो जन्म समय सं० १८७८ के लगभग बैठता है । किन्तु यह केवल अनुमान है, जन्म का समय कुछ वर्ष आगे-पीछे हो सकता है । संयम कब लिया, किसके पास लिया, इस विषय में भी कोई जानकारी नहीं है ।

गुरु

पूज्य आचार्य श्री नृसिंहदासजी महाराज के कई शिष्य थे । उनमें पूज्य श्री मानजी स्वामी तो थे ही । तपस्वी श्री सूरजमलजी महाराज भी पूज्य श्री नृसिंहाचार्य के शिष्य थे, ऐसा लावणी से सिद्ध होता है ।

कविराज श्री रिखबदासजी महाराज के गुरु श्री सूरजमलजी महाराज का होना ही अधिक उपयुक्त लगता है । कविराज ने तपस्वीजी की जो लावणी लिखी, उसमें भी तपस्वीजी के प्रति 'गुरु' विशेषण का प्रयोग किया ।^१ जो पट्टावलियाँ उपलब्ध हैं, उनमें दो पट्टावलियों की परम्परा में भी पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज श्री सूरजमलजी महाराज, श्री रिखबदासजी महाराज इस तरह का क्रम है ।^२

इनसे ऐसा अनुमान होता है कि श्री रिखबदासजी महाराज श्री सूरजमलजी महाराज के ही शिष्य थे । यदि शिष्य पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज के हुए हों तो भी तपस्वीजी श्री सूरजमलजी महाराज के प्रति वे शिष्यभाव से ही अनन्यवत् बरतते रहे, ऐसा सुनिश्चित अनुमान होता है ।

मुनिराज कविराज थे

श्री रिखबदासजी महाराज राजस्थानी भाषा के अच्छे मँजे हुए कवि थे, ऐसा उनकी प्राप्त रचनाओं से स्पष्ट प्रतीत होता है ।

एक स्थान पर संगृहीत नहीं होने के कारण इनकी समस्त रचनाओं का मिलना यद्यपि बड़ा कठिन है,

१ मुझ बुध अलप छे तुम गुण किण विध गाऊँ ।

'गुरु' दरिया गुण कर भरिया पार न पाऊँ ॥

३ पट्टावली नं० १ बड़ी—नृसिंहदासजी॥नर०॥ सूरजमलजी॥पूज्य श्री रिखबदासजी॥

पट्टावली नं० २ छोटी १०५ नरसिंहदासजी, १०६ सूरजमलजी, १०७ रिखबदासजी ।



किन्तु जितनी रचनाएँ मिल पाई, उन्हें देखते हुए लगता है कि कविराज ने सैकड़ों रचनाएँ की हैं, जिनमें भजन, स्तवन और चौपाइयाँ (चरित्र) ये प्रमुख हैं। कुछ चरित्र और कुछ भजन मिले हैं। उनसे निष्कर्ष निकलता है कि कविराज की भाषा मेवाड़ी (राजस्थानी) भाषा का लोकप्राही सुन्दर नमूना है। अभिव्यक्ति में इतनी सरसता है कि गायक गाता ही रहे और श्रोता सुनता ही रहे तो कोई अघाएगा नहीं। शब्द मानो सँचि में ढले हों। रचना में नितान्त स्वामाविकता तथा अनुठा प्रवाह है। रचनाएँ कई राग-रागिनियों में हैं। रागों मेवाड़ी गीतों और भजनों की हैं।

चरित्रों में वर्णनात्मक शैली का प्रयोग तो है, किन्तु संक्षिप्तता का विशेष प्रभाव है। इस वैशिष्ट्य के कारण रचनाएँ इतनी लम्बी नहीं हुई कि जो गायक और श्रोता उपयोग करता हुआ ऊब जाए।

वर्णन की सहजता और सरसता का एक प्रमाण देखिए :—

चतुर नर ले सतगुर सरणां
लाख चोरासी में भम आयो
कीया जनम मरणां
सबद करी सतगुर समजावे
सोख हिये धरणां
काल अनंत लयो मानव भव
निरफल बयूँ करणां ॥

अभिव्यक्ति की ऐसी सरलता पाठक को तन्मय किये बिना नहीं रहती।

कविराज जैनमुनि हैं। निरन्तर मोक्षमार्ग की साधना ही उनका लक्ष्य है। वैराग्य रस ही उनका पेय है, निरन्तर उसी में डुके रहना यह साधकों की मौज है। मुनिराजों के अखण्ड आनन्द का मूल स्रोत वैराग्य है। उनका बोलना, चलना, लिखना, उपदेश, आदेश सभी वैराग्यपूर्ण होते हैं। रचनाओं में भी वैराग्य की ही प्रमुख धारा बहती है।

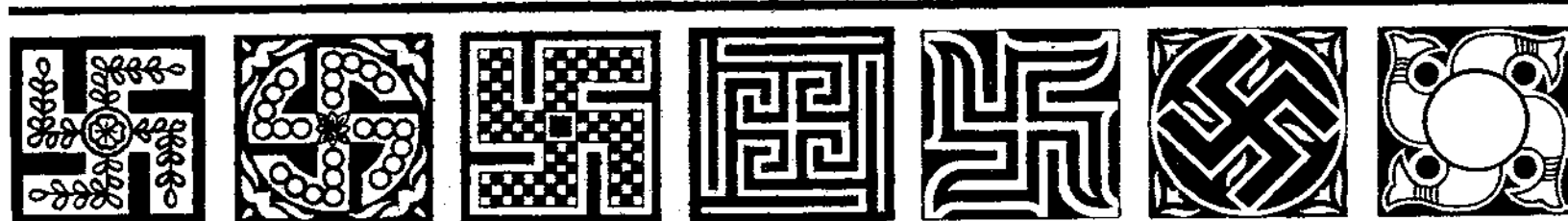
अज्ञानी थे प्रभु न पिछाण्यो रे।

विषय सुख संसार ना किच मांहे खुचाणो रे। तन धन जोवन कारमो जेस्यो दुध उफाणो रे।
सजन सनेही धारो नहीं नहीं रूप नाणो रे। काल अवध पूरी हुई कीयो वास मसाणो रे।
पूर्व पुन्ये पामीयो मानव भव टाणो रे। धर्म रतन चिंतामणी हाथ आय गमाणो रे।
इन्द्र आप वंछा करे बेठा अमर विमाणो रे। मनुष थइ करणी करी पावां पद निरवाणो रे।
देव निरंजण भेटी यो गुर गुण री षानो रे। धर्म दया में जाणिये जन्म मर्ण मिटाणो रे।

विषय-वर्णन की शैली तथा शब्द-योजना का सुन्दर निखार रचनाकार की विशेषता के द्योतक हैं। भजनों में भावों को तुलनात्मक उपमाओं से उपमित करना भी काव्य में चार चाँद लगाता है। प्रस्तुत भजन में तन-धन यौवन को उफनते दूध की उपमा वस्तुतः एक नयी उपमा है जो प्रायः रचनाओं में कहीं दिखाई नहीं दी।

कविराजजी की अब तक निम्नांकित रचनाएँ प्राप्त हुई हैं :—

- (१) आवे जिनराज तोरण पर आवे—२४ गाथाओं में चरित्रात्मक वर्णन, सं० १९१२, रतलाम (रतनपुरी) में रचित।
- (२) अज्ञानी थे प्रभु न पिछाण्यो रे—९ गाथाओं का वैराग्यप्रद भजन, सं० १९१२, फाल्गुन कृष्णा २, खाचरीद में रचित।
- (३) चतुर नर सतगुर ले सरणां—९ गाथाओं का प्रेरक भजन, रचनाकाल उपर्युक्त, तिथि १, खाचरीद।
- (४) फूलवन्तो नो ढाल—कुल छह ढालों का चरित्र, रचनाकाल और स्थान नहीं दिया गया।
- (५) देव दिन की दोय ढाल—अज्ञात—स्थान और समय।
- (६) सागर सेठ नो ढाल—५ ढालों में, सं० १९०४, आसोजसुदी पंचमी, रायपुर (मेवाड़) में रचित। (यह चातुर्मास मारवाड़ से आकर किया)।
- (७) रूपकूबर नो चोढाल्यो—चार ढालों में चरित्र, सं० १९६७, उदयपुर में रचित।
- (८) तपस्वीजी सूरजमलजी महाराज रा गुण—८ गाथाओं में सं० १९०८ जेठ सुदी ८ को रचित।



गुरु-शिष्य की सुहानी जोड़ी



३

१

२

जैसे चन्द्रमा नक्षत्र एवं तारागणों से परिवृत होकर सुशोभित होता है वैसे ही गुरु सुशिष्यों के परिवार के साथ शोभायमान होता है।

- १—मध्य में कविराज पंडित प्रवर श्री रिषभदास जी महाराज। परिचय पृष्ठ १५३
 २—सामने तेजस्वी संतरत्न गुरुवर के सुशिष्य श्री बालकृष्ण जी महाराज। परिचय पृष्ठ १५६
 ३—गुरुदेव के पार्श्व में स्थित सुशिष्य श्री सालचन्द्र जी महाराज। विशेष परिचय अत्रात्

इनके अतिरिक्त इनके द्वारा लिखित एक रचना और उपलब्ध हुई है—‘चार रजपूतों की बात’।

श्री रिखबदासजी महाराज की विविध अभिरुचियों तथा प्रबन्धों को देखते हुए लगता है कि साहित्य, काव्य तथा अन्य क्षेत्रों में इनकी और भी कई उपलब्धियाँ होंगी। किन्तु शास्त्र-भण्डारों की अव्यवस्था, रखरखाव की उपेक्षा आदि कारणों से कृतियाँ या तो विलुप्त हो गईं या अज्ञात स्थानों पर पड़ी हैं, जो देखने में नहीं आ सकीं।

अब इस तरफ पर्याप्त ध्यान गया है। अतः भविष्य में इस महामुनि की और कृतियाँ उपलब्ध होने की सम्भावना है।

कविराज श्री रिखबदासजी महाराज का जीवन एक सुन्दर, सक्रिय तथा सारपूर्ण जीवन रहा। ढालों-स्तवनों को देखते हुए उनका विचरण-क्षेत्र मारवाड़, मेवाड़ तथा मालवा तो रहा ही, अन्य क्षेत्रों में भी उनका विचरण रहा होगा, ऐसा अनुमान है। कविराजजी के शिष्य कितने रहे, इस बारे में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता। किन्तु बालकृष्णजी महाराज, वेणीचन्द्रजी महाराज, मालचन्द्रजी महाराज आदि तो इनके शिष्य रहे ही हैं—(बालकृष्ण जी और मालचन्द्रजी का श्री रिखबदासजी के साथ का हस्तलिखित चित्र उपलब्ध है)।

प्रतीत होता है कि पूज्य श्री नृसिंहदासजी महाराज के स्वर्गवास के बाद मेवाड़ मुनिसंघ की एकता का सम्भवतः वंसा रूप नहीं रहा, जैसा चाहिए। कारण स्पष्ट है कि कविराज श्री रिखबदासजी महाराज के समय में लिखी गयी संक्षिप्त और बड़ी पट्टावलियों में श्रीमानजी स्वामी का कहीं नामोल्लेख नहीं है। ऐसा अनुमान होता है कि पूज्य श्रीमानजी स्वामी और तपस्वी श्री सूरजमलजी महाराज के सिंघाड़े अलग-अलग रहे होंगे। उस स्थिति में भी पूज्य श्री मानजी स्वामी का वर्चस्व बहुत बड़ा और व्यापक था, इसमें कोई सन्देह नहीं।

जब पूज्य श्रीमानजी स्वामी का स्वर्गवास हो गया तब मेवाड़ संघ का नेतृत्व कविराज श्री रिखबदासजी महाराज का रहा।

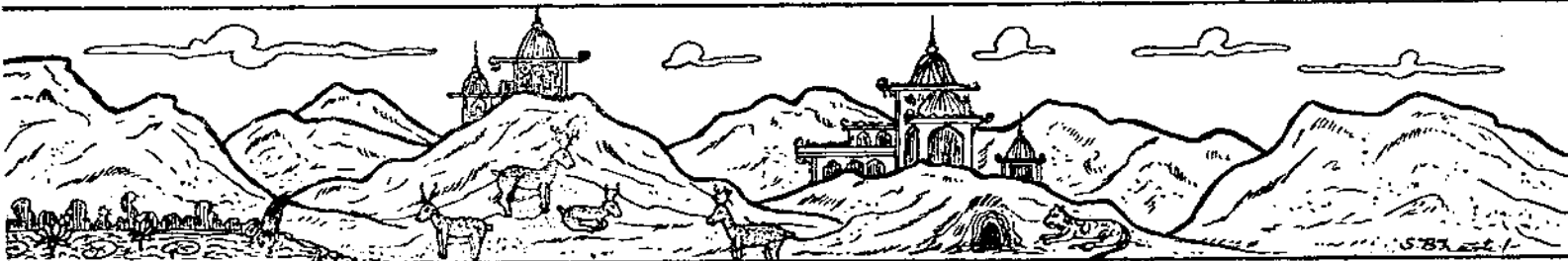
स्वर्गवास

यों तो श्री रिखबदासजी महाराज के स्वर्गवास के विषय में कोई लिखित उल्लेख ढूँढने पर भी नहीं मिल पाया। संवत् १९६८ में छपी एक पुस्तिका अवश्य मिली है—‘पूज्य-पद प्रधान करने का ओच्छ्र’। इसमें श्री रिखबदासजी महाराज का स्वर्गवास संवत् १९४३ में नाथद्वारा में होना लिखा है। किन्तु यह विश्वसनीय नहीं है।

संवत् १९४२ में मानजी स्वामी का स्वर्गवास और संवत् १९४३ में श्री रिखबदासजी महाराज का स्वर्गवास यों छोटी-सी अवधि में दो महामुनिराजों का स्वर्गस्थ हो जाना मेवाड़ संघ के लिए एक असहनीय बड़ा धक्का था। किन्तु काल की विचित्रता के समक्ष सभी विवश थे।

जैसे दिनकर के बिना दिन नहीं,
गुल के बिना गुलशन नहीं,
जल के बिना नलिन नहीं,
वैसे ही सम्यकदर्शन के बिना सम्यकजीवन नहीं।

—‘अम्बागुरु-सुवचन’





६

श्री बालकृष्ण जी महाराज



पूजनीय श्री रिखबदासजी महाराज के प्रधान शिष्यों में श्री बालकृष्णजी मुख्य हैं। किन्तु श्री रिखबदासजी महाराज के जीवन-वृत्त के समान इनका जीवन-वृत्त भी अतीत की गहराइयों में छुपा हुआ है। ये श्री रिखबदासजी महाराज के शिष्य थे, इसमें कोई सन्देह नहीं है।^१

श्री बालकृष्णजी महाराज का जन्म, दीक्षा आदि के लिए अभी प्रामाणिक तथ्य अपेक्षित हैं। 'ओच्छ्रव' पुस्तिका से ज्ञात होता है कि इनका विचरण गुजरात-काठियावाड़ में अधिक रहा। यह बात तर्कसंगत भी है। इसका प्रमाण निम्नांकित अनुश्रुति है, जो बड़ी व्यापक है।

बात रह गई

कहते हैं, एक बार श्री बालकृष्णजी महाराज अपने शिष्यों सहित मोरबी (काठियावाड़) में विराजित थे। उनके प्रवचनों का चतुर्दिक बड़ा प्रभाव था। उपदेशों में राजमहलों से झोंपड़ी तक के लगभग सभी वर्गों के व्यक्ति माग लिया करते थे। मोरबी दरबार भुनिश्री से बड़े प्रभावित थे। नगर में जैन धर्म की जबरदस्त प्रभावना हो रही थी।

साम्प्रदायिक विद्वेष भी एक मानसिक विष है। व्यक्ति को कर्तव्यविमूढ़ करने में यह बड़ा सशक्त है। धर्मान्धता के कारण अनेकों बार यह धरती रक्त-रंजित हुई।

जैन धर्म के प्रबल प्रभाव से प्रभावित मोरबी का जनगण जहाँ अपूर्व ज्ञानामृत का पान कर रहा था, वहीं एक सूबेदार, जो मुस्लिम था, हिन्दू धर्म की यह जाहोजलाली देख मन ही मन जल-भुनकर राख हुआ जा रहा था।

वह यन्त्र-मन्त्रवादी एक क्रूर स्वभाव का व्यक्ति था। वह हिन्दुओं का कट्टर द्वेषी तथा एक उद्दंड मुसलमान था। श्री बालकृष्णजी महाराज का प्रबल प्रभाव उसके लिए असह्य था। वह ऐसे अवसर की तलाश में था, जिसमें उस महान साधु की खिल्ली उड़ा सके।

एक दिन राजमहलों से दो साधुओं को उसने निकलते देखा तो उसे अपना सपना सच्चा करने का अवसर मिल गया। उसने अपना मन्त्र-प्रयोग करते हुए दोनों साधुओं को रोका।

उसने पूछा—“महाराज इसमें क्या है?”

“आहार है!” मुनिराज ने सरलता से उत्तर दे दिया।

सूबेदार कहने लगा—“महाराज बड़े चालाक हैं। राजमहलों से मांस लाये हैं और हमें मूर्ख बना रहे हैं। बनियों के यहाँ मांस कहाँ? मांस तो महलों में ही मिल सकता है।”

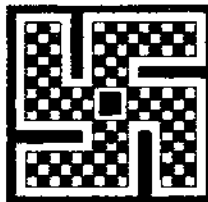
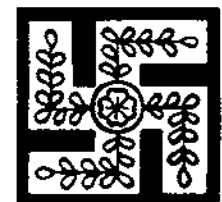
मुनि ने कहा—“झूठा अपवाद मत करो।”

सूबेदार ने कड़ककर कहा—“महाराज! झूठे तो तुम हो! यदि तुम सच्चे हो तो पात्र दिखाओ!”

सूबेदार और मुनि के वार्तालाप के साथ ही कई नागरिक वहाँ जुड़ आये थे।

१ “पूज्य श्री रिखबदासजी तथा सिख बालकृष्णजी” — बड़ी पट्टावली।

“लिपीकृत पुज श्री श्री १००८ श्री श्री श्री रिखबदासजी महाराज तथ श्री श्री श्री श्री १०७ श्री श्री श्री बालकृष्ण जी महाराज” — बड़ी पट्टावली।



मुनि ने तत्काल पात्र खोल दिये । किन्तु यह क्या ? पात्रों में मांस भरा है ! मुनि सकपका गये । उनके चेहरे पर हवाइयां उड़ने लगीं । जन-समूह जो उपस्थित था, कई तरह की बातें करने लगा । विजली की तरह यह चर्चा चारों तरफ फैल गई । जैनधर्म की बड़ी निन्दा होने लगी । मुनि अपने गुरु बालकृष्णजी महाराज के पास पहुँचे । सारा वृत्तान्त सुनाया । आहार जंगल में परठ दिया गया । जो कुछ हुआ, सज्जनों को उसका बड़ा खेद था । धर्म का अपमान था । आनन्द की जो महक फैली हुई थी, इस घटना में कपूर की डली की तरह उड़ चुकी थी । मुनि जिधर निकलते उधर मूर्खों की तरह से कटुवाक् वर्षा होती रहती थी ।

श्री बालकृष्णजी महाराज धर्म पर आये इस कलंक को तुरन्त धो डालना चाहते थे ।

मुनिमर्यादा के अनुसार एक दिन निकालकर तीसरे दिन श्री बालकृष्णजी महाराज स्वयं अपने शिष्यों के साथ राजमहलों में गोचरी पधारे ।

सूबेदार फिर फ़ज़ीह्व करने को उपस्थित था । आज सँकड़ों ही नहीं, हजारों व्यक्ति यह कौतुक देखने को उपस्थित थे । सूबेदार ने तेजी से प्रचार किया था कि देखिए, आज मैं फिर इन साधुओं से मांस बरामद कराऊँगा ।

श्री बालकृष्णजी महाराज आहार लेकर ज्यों ही राजद्वार से बाहर आये, सूबेदार ने कड़ककर कहा—
“महाराज ! क्या लाये ?”

“दाल-बाटी लाया हूँ ।”

“नहीं, तुम झूठ बोलें हो, तुम मांस लाये हो !”

“नहीं, मैं जैनमुनि हूँ, झूठ नहीं बोल सकता !”

“उस दिन भी झूठ बोला था, साधु !”

“नहीं, वह भी सत्य बोला था ।”

“तुम सब झूठे हो, मांस लाये हो, और झूठ बोलने हो !”

“साधु से मत टकरा ! परिणाम ठीक नहीं !”

“मैं नहीं डरता, मैंने कई साधुओं की पोल खोली है !”

“तू भ्रम में है, अब भी चुप हो जा !”

“तुम पात्र खोलो, इसमें मांस है !”

“नहीं, मांस नहीं, दाल-बाटी है ।”

“दाल-बाटी नहीं, मांस है !”

मुनि ने कहा—“ले देख ! ऐसा कहते ही, ज्योंही पात्र खोले, सब ने देखा—वास्तव में पात्रों में दाल-बाटी ही थी ।”

अब सूबेदारजी के सकपकाने का अवसर था । उसके चेहरे की सुर्खी हवा हो गई । वह घबरा गया । अगल-बगल झाँकता हुआ वह वहाँ से चलने को ही था कि उसके पाँव भूमि से चिपक गये ।

अरे, यह क्या ? सूबेदार गले तक भूमि में धँस गया !

मुनिराज अपने स्थान पर चले आये ।

मोरबी का बच्चा-बच्चा एक अजूबा देखने को उमड़ पड़ा । राजमहलों के बाहर विशाल मैदान जनता से पटा हुआ है । सूबेदार का केवल सिर गेंद की तरह भूमि पर दिखाई दे रहा है । आँखें आँसू बरसा रही हैं, जो किये के पश्चात्ताप की सूचना दे रही थीं ।

जन-समूह में तरह-तरह की बातें उमर रही हैं—

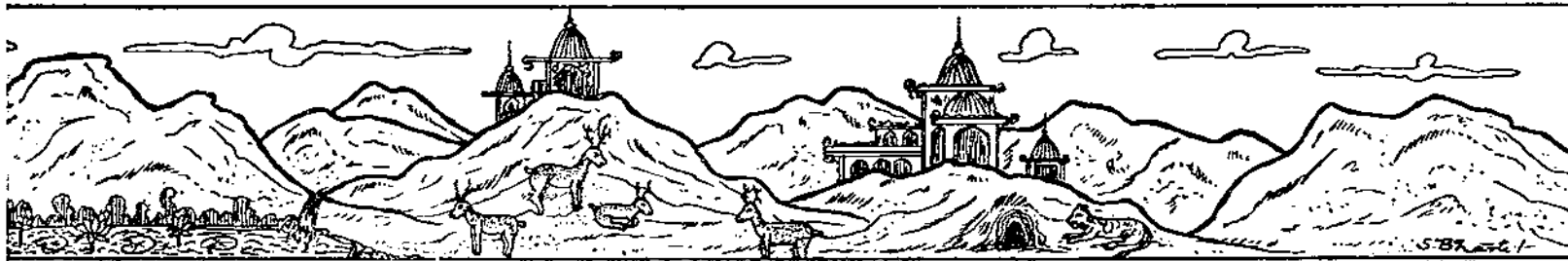
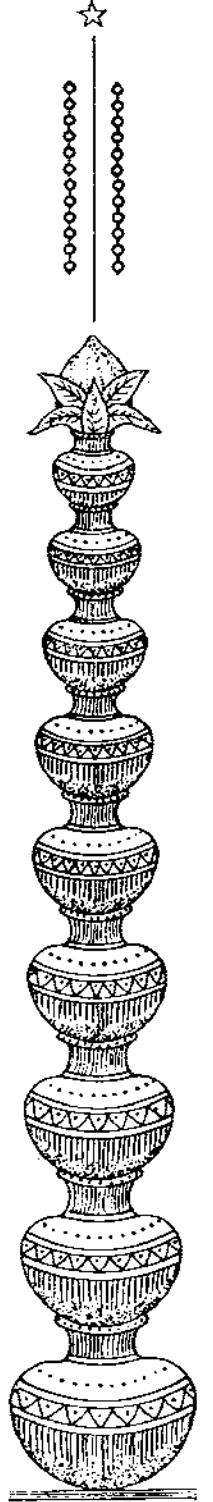
“नीच, ऐसी ही दुर्गंत होनी चाहिए दुष्ट की ।”

“अरे, विचारा अब तो माफ़ हो जाए तो ठीक ।”

“तड़फने दो दुष्ट को, बड़ा शैतान है ।”

“अरे, इस तरह तो यह मर जायगा ।”

“महाराज ने भी इतना कड़ा दण्ड दिया ।”



“मई, इसमें महाराज का क्या दोष ! उन्होंने पहले ही उसे सावधान किया था ।”

“अरे, साधु को सताना बुरा है ।”

“सताने की भी हद होती है, सरेआम जलील करना क्या अच्छी बात है ?”

इस तरह सब तरफ कई बातें हो रही थीं ।

सूबेदार का परिवार और निकटस्थ जन दौड़कर मुनिश्री के द्वार पर पहुँचे और भक्तिपूर्वक अनुनय-विनय करने लगे ।

मोरवी दरबार भी यह दृश्य देखकर मुनिश्री की सेवा में पहुँचे और सूबेदार की घृष्टता को क्षमा करने का आग्रह करने लगे । मुनिश्री ने कहा—“मैंने तो उसे भूमि में उतारा नहीं ! जो कुछ हुआ, यह तो उसकी करनी का ही फल है । धर्मशासन को कलंकित करने का एक निम्नतम षड्यन्त्र उसने रचा था । उसकी शैतानी असह्य थी । किसी शासन-रक्षक दैविक शक्ति का ही यह चमत्कार हो सकता है । सरेआम अपराधी दण्डित हो गया ! धर्म के गौरव की रक्षा हो गई ।”

दरबार ने कहा—“गुरुदेव ! अब तो वह दण्डित हो चुका है । धर्मशासन की उज्ज्वलता चमक उठी है । पावण्ड का पर्दा उठ चुका है । अब तो उसका जीवन बच जाना चाहिए ! अन्यथा धर्म-शासन नर-हत्या का अपराधी हो जायगा ।”

आप तो दया और क्षमा के समुद्र ही हैं, उस तुच्छ को क्षमा कर दीजिए !

आपकी आज्ञानुसार मैं धर्म-शासन की सेवा करने को तत्पर हूँ ।

मुनिश्री ने कहा—“मेरा तो उसके प्रति कोई क्रूर भाव नहीं है । धर्म-शासन की उज्ज्वलता रह गई, यह अपार आनन्द का विषय है ।”

मुनिश्री सूबेदार के मुण्ड के निकट पहुँचे और माँगलिक प्रवचन किया ।

अद्भुत बात थी कि तत्काल सूबेदार भूमि पर उमर आया ।

सूबेदार ने तत्काल मुनिश्री के दोनों पाँवों में अपना सिर टेक दिया । अपने विगत अपराधों की क्षमा चाहने लगा । मुनिश्री ने उसे धर्मोपदेश दिया ।

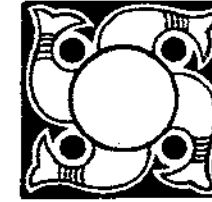
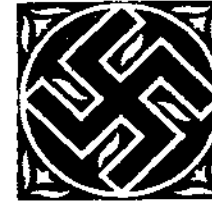
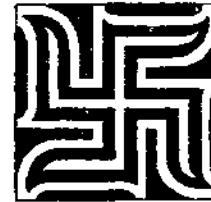
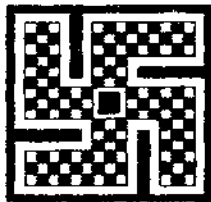
सारे नगर में धर्म और मुनिश्री के जयकार होने लगे ।

मोरवी दरबार के पुत्र श्री गुलाबसिंहजी श्री बालकृष्णजी महाराज के परम भक्त थे । मुनिश्री के उपदेशों से उन्हें संसार से उपराग हो रहा था । वे संयम लेने के इच्छुक थे । किन्तु दरबार की आज्ञा का प्रश्न था । दरबार के सामने अपने मन की बात कहने की उनकी हिम्मत नहीं हो रही थी । उन्हें आज्ञा मिलने की सम्भावना भी नहीं थी । अतः वे मन ही मन बड़े दुःखी थे ।

सूबेदार के उद्धार से दरबार बड़े हर्षित एवं उत्साहित बने हुए थे । उन्होंने मुनिश्री से किसी उपकार के लिए पूछा । मुनिश्री ने बड़ी सरलता से कहा—“गुलाबसिंह जो तुम्हारा पुत्र है, मुझे दे दो !”

यह सुनते ही दरबार कुछ चिन्ता में पड़ गये, क्योंकि संयम का कार्य आसान कार्य तो था नहीं और फिर गुलाबसिंह के विचारों का भी प्रश्न था । पास ही गुलाबसिंहजी थे । उन्होंने कहा—“दाता ! आपकी आज्ञा होगी तो मैं गुरु महाराज की सेवा करूँगा । कई दिनों से मेरी इच्छा हो रही है ।”

पुत्र प्राणों से भी अधिक प्यारा होता है । संयम के लिए अनायास अनुमति देना प्रायः असम्भव होता है । किन्तु धर्मानुरागी विवेकसम्पन्न मोरवी दरबार ने गुलाबसिंहजी की इच्छा देखकर तथा गुरु महाराज के आग्रह को देख कर अपनी वाणी की प्रतिपालना करते हुए, गुलाबसिंहजी को, संयम के लिए आज्ञा प्रदान कर दी । कहते हैं, उस युग में एक लाख रुपये खर्च कर मोरवी दरबार ने बड़ा भारी दीक्षा-उत्सव रचा और गुलाबसिंहजी की दीक्षा सम्पन्न करवाई । इस कार्यक्रम का निश्चित समय तो कहीं मिला नहीं, किन्तु विक्रम की उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भिक वर्षों में इसका होना माना जा सकता है ।



उपर्युक्त घटना एक अनुश्रुति पर आधारित है, जो मेवाड़ की मुनि परम्परा में बहुत प्रसिद्ध है।

श्री गुलाबचन्दजी महाराज, जो इस घटना के सबसे बड़े साक्ष्य थे, संवत् १९४९ से कई वर्ष बाद तक उपस्थित थे। अतः घटना के मौलिक अस्तित्व से नकारना आसान नहीं है।

उपर्युक्त घटना में एक चमत्कार अवश्य है और वह असम्भव-सा प्रतीत होता है। किन्तु क्या लोक-जीवन चमत्कारों से सर्वथा शून्य भी कभी रहा है? आज का युग वैज्ञानिक युग रहा है। तथ्यात्मकता आज की पहली शर्त है। किन्तु विश्व आज भी ऐसी घटनाओं से रहित नहीं है, जहाँ वैज्ञानिक शोध स्वयं मौन साध लिया करता है।

स्वर्गवास

श्री बालकृष्णजी महाराज का जीवन एक स्फुरित जीवन था। वैभव के विराट् दलदल से आलिप्त मोरबी दरबार को उद्बोधित करना और गुलाबसिंहजी जैसे क्षत्रिय युवक को वैराग्य-प्लावित कर देना अपने आप में कम महत्त्वपूर्ण बात नहीं थी। इससे पाठक स्वयं अनुमान लगा सकते हैं कि मुनिश्री का जीवन कितना ओज-तेज से परिपूर्ण रहा होगा!

श्री बालकृष्णजी महाराज ने अपने से अनजाने ऐसे गुजरात काठियावाड़ जैसे दूरस्थ प्रदेशों में जाकर धर्म की अद्भुत ज्योति जगाई। इससे उनकी प्रचार भ्रमण की उत्कृष्ट जिज्ञासा का परिचय मिलता है।

मेवाड़ में श्री रिखबदासजी महाराज के पास दीक्षित होकर कितने वर्ष सेवा में रहे तथा कब और कितने ठाणों से काठियावाड़ की तरफ गये, उधर कितने वर्ष रहे, कितने शिष्य हुए, ये सारी बातें अज्ञात हैं। श्री गुलाबचन्दजी महाराज उनके अवश्य काठियावाड़ी शिष्य थे, जो कई वर्षों तक मेवाड़ में विचरे, उनकी कई कलाकृतियाँ भी उपलब्ध हैं तथा उनकी सेवा करने वाले कई गृहस्थों ने उनका कई तरह से परिचय भी दिया।

'ओच्छ्रव' की पुस्तक से ज्ञात होता है कि श्री बालकृष्णजी महाराज का स्वर्गवास पालनपुर में विक्रम संवत् १९४९ में हुआ। इसकी प्रामाणिकता एक पत्र से मिलती है। पत्र धानगढ़ा से श्री अमरसिंहजी महाराज टा० ३ ने पालनपुर लिखा था, जिसमें मुनियों के प्रति प्रेम-भाव व्यक्त करते हुए, महाराज के स्वर्गवास के बाद मेवाड़ जाने के औचित्य को स्वीकार किया।^१

इससे ज्ञात होता है कि श्री बालकृष्णजी महाराज का स्वर्गवास पालनपुर में हुआ। वहाँ से चार ठाणा से चातुर्मास कर रहे थे। मुनिश्री के स्वर्गवास के बाद ३ ठाणा रह गये, वे मेवाड़ साधु-साध्वियों से मिलने आये।

पत्र विक्रम संवत् १९४९ के कार्तिक का लिखा होने से सिद्ध है कि उसी वर्ष चातुर्मास में श्री बालकृष्णजी महाराज का स्वर्गवास हुआ।^२



१ ओर आपने लिखा सो हमने मंजूर किया है का हे ते के महाराज सरगवासी हूवा तारे आपने आपका क्षेत्र में जाना चाहिए और साधुजी ओर साधवीजी कू मिलना चाहिए। —(पत्रांश)

२ स्वत १९४९ ना कारतक सुद ११ ने वार चंद्र लखीतंम आपने निरंतर अभीवंदन करनार पुज अमरसीजी नी वती वने पुरवक वंदणा...—(पत्रांश)



कलाकार श्री गुलाबचंद्र जी महाराज

श्री गुलाबचन्द्र जी महाराज काठियावाड़ बिहारी श्री बालकृष्ण जी महाराज के शिष्य थे।^१ इनका जन्म-स्थान मोरबी (काठियावाड़) था। प्रायः ऐसी अनुश्रुति है कि ये मोरबी दरबार के पुत्र थे।

श्री बालकृष्ण जी महाराज के तात्त्विक उपदेशों से प्रभावित हो ये दीक्षित होने को तत्पर हुए।

संयम धारण करने की उत्कट अभिलाषा होते हुए भी एक बहुत बड़ी बाधा अनुमति लेनी थी। अनुमति मोरबी दरबार की अपेक्षित थी, जिसका मिलना लगभग असम्भव था।

एक प्रसंग बना

एक ऐसा चमत्कारिक प्रसंग बना जो असम्भव-सा लगता है। किन्तु असम्भव घटना भी जब घट जाती है तो वह चमत्कार कहलाने लगती है। एक मुस्लिम सूबेदार ने मुनि के पात्र में मांस होने का कलंक लगाया।

बात यह थी कि वह सूबेदार एक जबरदस्त मंत्रवादी था। उसने अपने प्रयोग से राजमहल से गोचरी लेकर लौटते हुए मुनि के आहार को मांस के रूप में परिणत कर दिया। उसने जनता के समक्ष यह सब दिखाया भी। इससे जैनधर्म की बड़ी निन्दा हुई। एक दिन बालकृष्ण जी महाराज स्वयं महल से गोचरी लेकर आये। मार्ग में उस सूबेदार ने फिर वही शैतानी शुरू कर दी। किन्तु इस बार उसकी दाल नहीं गली। उसका प्रयोग असफल गया। सभी लोगों ने पात्र में शुद्ध आहार देखा। सूबेदार अपने प्रयोग में असफल होकर उसी समय गले तक भूमि में धँस गया।

इस घटना से चतुर्दिक् श्री बालकृष्ण जी महाराज और जैनधर्म की विजय पताका फरफराने लगी।

मोरबी दरबार के आग्रह से स्वामीजी ने सूबेदार को माँगलिक सुनाया और वह स्वस्थ रूप में बाहर आ गया। इस अवसर पर श्री बालकृष्ण जी महाराज ने श्री गुलाबसिंह को आज्ञा देने का आग्रह किया, जिसे टालना दरबार के लिए असम्भव था।

अद्भुत प्रभाव से प्रभावित हो मोरबी दरबार ने श्री गुलाबसिंह को दीक्षा की अनुमति प्रदान की। कहते हैं, उस समय एक लाख रुपया खर्च कर मोरबी दरबार ने श्री गुलाबसिंह जी का दीक्षा-महोत्सव मनाया।

यह घटना संवत् १६०० के लगभग होना सम्भव लगता है। क्योंकि संवत् १६३८ की उनकी हस्तलिखित पट्टावली उपलब्ध है। लिखावट में अड़तीस वर्ष का अनुभव प्रतीत होता है। पुष्ट प्रमाण के उपलब्ध न होने से केवल अनुमान ही तो लगाया जा सकता है।

श्री गुलाबचन्द्र जी महाराज अपने गुरुजी के साथ कई वर्षों तक काठियावाड़-गुजरात में बिचरे, फिर मेवाड़ में भी आये।

लिखते हुए खेद होता है कि श्री बालकृष्ण जी महाराज के स्वर्गवास के बाद यह सिंघाड़ा लगभग विश्रुत खलिन हो गया।

श्री गुलाबचन्द्र जी महाराज एकाकी रह गये। उस स्थिति में भी कई वर्षों तक वे मेवाड़ में विचरते रहे।

उनके गुरु की तरह इनके साथ भी कई चमत्कारिक घटनाएँ जुड़ी हुई हैं।

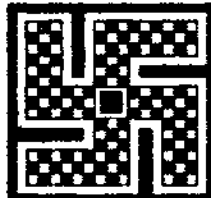
कहते हैं, एक बार ये खमणोर में किसी चमत्कारिक विद्या के साधन में लगे हुए थे। उन्हें लगातार मौन रहना था। किन्तु एक दिन, सम्भवतः वह दिन संवत्सरी का था, श्रावकों के अति आग्रह से वे व्याख्यान देने लगे।

चालू व्याख्यान में एक स्त्री एक टोकरी में कुछ कचरा भरकर लाई और मुनि को देने लगी—“लो !” महाराज संकोच में पड़ गये। एक श्रावक ने झोला फैलाकर कहा—“ला, मुझे दे !” और जब स्त्री ने टोकरी औंधी की तो उसमें से फूल गिरे।

वह श्रावक तो थोड़े ही दिनों में धनाढ्य बन गया। किन्तु, कहते हैं, मुनिराज की बुद्धि तभी से अमित हो गई।

तदनन्तर श्री गुलाबचन्द्र जी महाराज अव्यवस्थित हो गये और उसी स्थिति में वे मेवाड़ छोड़कर कहीं अन्यत्र चले गये। उनका स्वर्गवास कहाँ और कब हुआ, इस विषय में अब तक कोई जानकारी नहीं मिल पाई।

१ श्री बालकृष्ण जी महाराज तत् सिष लपीकृतं गुलाबचन्द्र । —बड़ी पट्टावली



आत्मार्थी श्री वेणीचंदजी महाराज



आत्मार्थी श्री वेणीचंद जी महाराज का जन्मस्थान चाकूड़ा (जिला उदयपुर) है। ये ओसबंशीय मादरेचा कुलोत्पन्न हैं।

कविराज श्री रिखबदास जी महाराज के पास इन्होंने संयम लिया था। जन्म एवं संयम के समय के बारे में विशेष जानकारी नहीं मिलती।

श्री वेणीचंद जी महाराज की संयम-रुचि बड़ी प्रखर थी। उत्कृष्ट क्रिया-पात्र थे। त्याग-तप में रमण करने वाले उच्चकोटि के सन्त-रत्न थे।

श्री रिखबदास जी महाराज तथा श्री बालकृष्ण जी महाराज के स्वर्गवास के बाद मेवाड़ संघ को अपने यहाँ मुनिराजों की बड़ी कमी का सामना करना पड़ा। मुनिराज बहुत कम थे, जो थे वे विभ्रुंखलित हो चुके थे। फलतः श्री वेणीचंद जी महाराज को कुछ समय एकाकी भी विचरना पड़ा। किन्तु उस स्थिति में भी मुनिश्री की उत्कृष्ट संयम-साधना में कोई कमी नहीं आई।

रोग मिट गया

एकाकी श्री वेणीचंद जी महाराज के पाँधों में एक बार बड़ी पीड़ा हो गई। चलना-फिरना बन्द हो गया। गृहस्थों तथा साध्वियों का अत्याग्रह होते हुए भी उन्होंने किसी अन्य की सेवा स्वीकार नहीं की। तैला तप स्वीकार कर ध्यानस्थ हो गये।

बास्तव में चौथे दिन महाराज श्री स्वयं पारणा लेकर आये। तप के प्रभाव से व्याधि चली गई।

केसर की वृष्टि हुई

तपस्वी जी की संयम-साधना में अपूर्व तेज था। देव भी दर्शनों को आ जाया करते थे, ऐसी अनुश्रुति है। एक बार आप पर केसर-वृष्टि भी हुई, जो कई उपस्थित श्रावकों ने प्रत्यक्ष अनुभव की, ऐसा प्राचीन व्यक्ति कहा करते हैं। श्री वेणीचंद जी महाराज का विचरण-क्षेत्र मुख्यतया मेवाड़ ही रहा।

श्रावक संघ अडिग रहे

जैसा कि पाठक जान ही चुके हैं, तपस्वी जी का समय मेवाड़ संघ के लिए बड़ी कठिनाई का समय था। मेवाड़ सम्प्रदाय में मुनिराज बहुत कम थे, जो थे वे विखरे से थे।

स्थानकवासी समाज में मुनिराजों का ही प्रधान संबल होता है। मुनिसंघ के क्षीण होने से समाज को धर्म-संबल की हानि उठानी पड़ती है। मेवाड़ संघ उस समय कुछ ऐसी ही स्थिति में था।

मेवाड़ के धर्म-संघ की इस कमी को देखकर तेरापंथी ही नहीं स्थानकवासी समाज की भी कई पड़ोसी सम्प्रदायों मेवाड़ को अपना अनुगामी बनाने का प्रयास करने लगीं।

यही वह समय था, जब अन्य सम्प्रदाय के आचार्य और प्रभावशाली सन्त मुनि उदयपुर और मेवाड़ के गाँवों में धर्म-प्रचार तो करते ही, साथ ही अपनी 'गुरु आम्नाय' भी देने लगे। स्वसम्प्रदाय में मुनियों की कमी देखकर कुछ लोगों ने ऐसी धारणाएँ कीं भी, जिसका परिणाम आज मेवाड़ के कुछ क्षेत्रों का सम्प्रदायवाद है।



मेवाड़ के संघों में सम्प्रदाय-भेद की इन बातों की तीव्र प्रतिक्रिया हुई ।

एक प्रसिद्ध आचार्य कपासन में आम्नाय दे रहे थे तब दरीबा वाले सुश्रावक श्री जोतमान जी ने बड़ी दृढ़ता के साथ भरी सभा में उन्हें टोक भी दिया ।

मेवाड़ में मेवाड़ सम्प्रदाय की गुरुधारणा स्पष्ट थी । फिर भी उस समय अन्य धारणाएँ यत्र तत्र हुईं, इसका प्रमाण तो आज भी उपलब्ध है ।

मुनियों के अभाव में स्थिति गम्भीर थी । फिर भी मेवाड़ के अधिकांश संघों ने दृढ़ता का परिचय देते हुए अन्य आम्नाय को नकारा । परम्परागत आम्नाय पर अडिग रहकर जिस दृढ़ता का परिचय दिया, वह धन्यवादाई है ।

यद्यपि श्री वेणीचन्द जी महाराज एकाकी थे, किन्तु मेवाड़ की जनता उन्हें परम्परागत सम्प्रदाय के सम्बन्ध से आचार्यवत् स्वीकार करती थी ।

कठिनाई का वह समय भी अधिक नहीं रहा । श्री वेणीचन्द जी महाराज को श्री एकलिंगदास जी महाराज, श्री शिवलाल जी महाराज जैसे सुयोग्य शिष्यों की उपलब्धि हुई, जिनका परिचय आगे दिया जाएगा ।

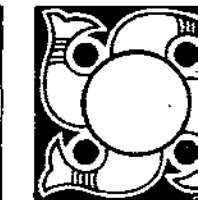
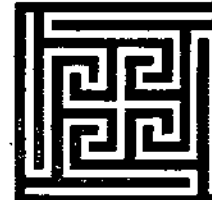
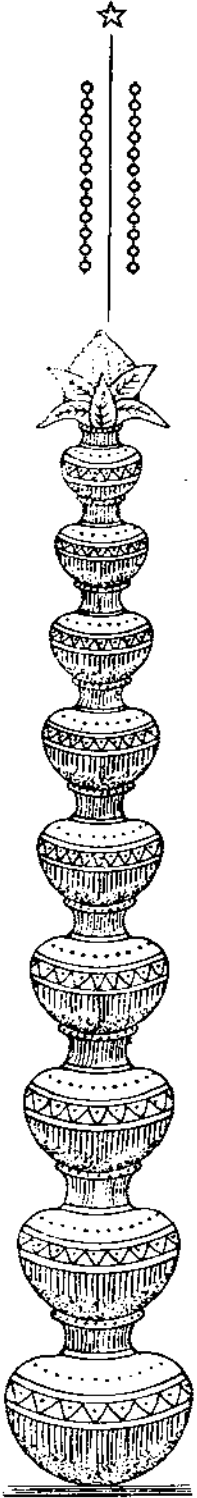
स्वर्गवास

श्री वेणीचन्द जी महाराज का स्वर्गवास संवत् १९६१ फाल्गुन कृष्णा अष्टमी के दिन चैनपुरा में हुआ । ऐसा 'आगम के अनमोल रत्न' में उल्लेख है । श्री वेणीचन्द जी महाराज अपनी धर्मक्रियाओं के सजग साधक थे । यही कारण है कि स्वर्गवास से पूर्व अनशन आदि स्वीकार कर वे समाधिमरण पा सके ।

सम्प्रदाय तो सिर्फ शरीर है, प्राण तो आचार है, धर्म क्रिया है । यदि प्राण की उपेक्षा कर शरीर के ही पीछे पड़े रहे तो यह कैसी विडम्बना होगी ।

धर्म एवं आचार क्रियाओं की उपेक्षा कर जो व्यक्ति सम्प्रदायवाद फैला रहे हैं, वे एक प्रकार से आत्मा की अवगणना कर शरीरवाद की महत्ता का प्रचार करने वाले अज्ञानी जैसे हैं ।

—'अम्बागुरु-सुवचन'



आचार्य श्री एकलिंगदासजी महाराज

□

मेवाड़ में जिन-शासन को समलंकृत करने वाले संत-रत्नों की ज्योतिर्मयी परम्परा में पूज्य श्री एकलिंग-दासजी महाराज का समुज्ज्वल व्यक्तित्व अपनी विमल सुयश कान्ति से सर्वदा दमकता रहेगा ।

मेवाड़ के संघ को सुव्यवस्थित नवीनता से सुसज्जित करने का श्रेय पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज को देना ही होगा ।

जन्म

संगेसरा (जि० चित्तौड़गढ़) एक छोटा-सा प्राचीन गाँव है, नदी के किनारे बसा है। प्राचीन असली नाम श्रु गेश्वर होगा। वही आगे चलकर संगेसरा कहलाया। जोगियों का यहाँ बहुत पुराने समय से प्रभुत्व रहा।

श्री शिवलाल जी सहस्रोत्त यहाँ के सुप्रतिष्ठित नागरिक थे। पूज्य श्री एकलिंगदास जी महाराज इन्हीं की संतान थे। माता का नाम सुरताबाई था।

वि० सं० १६१७ ज्येष्ठ कृष्णा अमावस की सघन रात्रि में सुरताबाई ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया। वही शिशु कालान्तर में मेवाड़ धर्मसंघ का शासक सिद्ध हुआ।

कहते हैं, बाल्यावस्था में ही किसी ज्योतिषी ने जन्मांक देखकर बच्चे का उज्ज्वल भाग्य बताया। इतना ही नहीं, उसने स्पष्ट कहा कि बच्चा इतना भाग्यशाली है कि कभी मेवाड़ का शासक बने। यद्यपि यह बात उस समय केवल 'बात' मात्र थी, उसके फलित होने की न कोई संभावना ही थी, और न विश्वास ही किन्तु फिर भी बच्चे का नाम 'एकलिंग' रख दिया।

यों मेवाड़ का राज्य एकलिंग जी (महाराणा के इष्ट देवता) का ही माना जाता है।

बालक एकलिंग अच्छे संस्कारों में था। श्री शिवलालजी जैनधर्म के दृढ़ अनुगामी पूजनीय श्री बेणीचन्द्रजी महाराज के अग्रगण्य श्रावक-रत्न थे। श्री सुरताबाई भी उनसे भी दो कदम आगे धर्मानुगामिनी थी। बालक एकलिंग ऐसे संस्कारित माता-पिता के सद्संस्कारों की बचपन से ही आत्मसात् करता, गुलाब कुसुम की तरह निरन्तर विकसित होता रहा।

बचपन में तत्कालीन परम्परा के अनुसार आवश्यक अध्ययन कर श्री एकलिंग अपने पिता के कार्यों में हाथ बँटाने लगा।

वय की अभिवृद्धि के साथ ही सांसारिकता के कई अनुभव श्री एकलिंग को मिलने लगे। यद्यपि गार्हस्थ्य जीवन नितान्त अभावग्रस्त नहीं था, फिर भी लोक जीवन में स्वार्थों के भयंकर संघर्ष जो चलते थे, उन्हें देखकर युवा एकलिंग का हृदय सांसारिकता से उपरत होने लगा।

पारलौकिक तथा इहलौकिक सद्संस्कारों के अभ्युदय का ही परिणाम था कि श्री एकलिंग जी को युवावस्था में प्रविष्ट करने के साथ विरक्ति से अनुरक्ति होने लगी।

संसार बाँधता है, इसलिए बन्धन है। श्री एकलिंग जी को भी संसार ने बाँधने में कोई कोर कसर नहीं रखी। किन्तु उनकी सुदृढ़ वैराग्यानुभूति के आगे किसी आग्रह के टिकने और चलने का अवसर ही न था। श्री एकलिंग जी बालग्रह्यचारी ही रहे।



माता-पिता चल बसे, सांसारिक अनित्यता का एक और चित्र उभर आया। श्री एकलिंगजी के भावुक हृदय में वैराग्य का जो पौधा लहलहा रहा था, उसे एक बहार और मिल गई।

उचित समय देखकर श्री एकलिंगजी ने उदात्त विराग की लहर में लहराते हुये, अपने बड़े भाई श्री मोड़ीलालजी के सामने दीक्षा का प्रस्ताव रखा, जो बड़ी तेजी के साथ ठुकरा दिया गया।

श्री एकलिंगजी तो यह पहले ही जानते थे, उन्हें आश्चर्य नहीं हुआ।

श्रेष्ठ कार्य में सर्वदा विघ्न आते ही हैं, इससे श्री एकलिंग जी अनजान नहीं थे। किन्तु साथ ही वे यह भी जानते थे कि प्रयत्न करते रहने से कार्य सिद्ध हो जाया करते हैं।

श्री मोड़ीलालजी के निरन्तर विरोध के उपस्थित रहते हुए भी उनका वैराग्य शिथिल नहीं हुआ, दृढ़ ही होता गया।

उन्हीं दिनों पूजनीय श्री वेणीचन्द जी महाराज का वहाँ पदार्पण हो गया। महाराज श्री के वैराग्योत्पादक उपदेशों का जनता पर बड़ा सुन्दर असर होने लगा।

यह अवसर श्री एकलिंगजी के लिए अभोष्ट सिद्धि की सूचना लेकर आया।

मुनिश्री के उपदेशों से श्री मोड़ीलाल जी को एक नया दिशाबोध हुआ। श्री एकलिंगजी के दीक्षा के आग्रह पर जो उनकी प्रतिक्रिया थी, उस पर उन्होंने नये सिरे से विचार प्रारम्भ कर दिया। उन्होंने अनुभव किया कि उनका दुराग्रह केवल मोह के कारण है। मोह भव-भ्रमण का मूल है उन्होंने सोचा कि एकलिंग के आध्यात्मिक अभ्युदय को रोकना मेरा उसके प्रति ही नहीं, सम्स्त मानव समाज के प्रति अपराध है।

मुझे शीघ्र ही इस अपराध से बचना है। उन्होंने तत्काल ही श्री एकलिंगजी को बुलाकर दीक्षा के लिए सहर्ष अनुमति प्रदान करदी।

वि० सं० १९४८ फाल्गुन शुक्ला प्रतिपदा मंगलवार वह शुभ दिन था, जत्र मुमुक्षु-रत्न श्री एकलिंगजी का आकोला में सपना साकार हुआ।

दीक्षा के सात दिन बाद ही बड़े भ्राता श्री मोड़ीलाल जी का देहान्त हो गया। यह भी एक सुयोग ही था कि दीक्षा भाई के अवसान के पूर्व ही सम्पन्न हो गई। यदि ऐसा नहीं होकर कुछ दिन की भी देरी होती तो जैन-जगत् के भाग्य में उदित होने वाला यह सितारा उगता या नहीं भी !

ज्ञानाराधना

मेवाड़ के मुनि-संघ में इस समय बड़ी विश्रुंखलता थी। महान क्रिया पात्र श्री वेणीचन्दजी महाराज के सान्निध्य में श्री एकलिंग जी द्वारा संयम ग्रहण करने से सम्पूर्ण मेवाड़ जैन संघ में एक नई आशा की लहर व्याप्त हो गई।

तीस वर्ष की उम्र में दीक्षित होकर भी नये मुनिश्री में ज्ञानाराधना की बड़ी ललक थी।

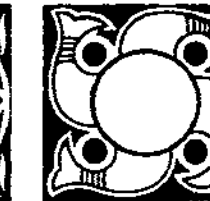
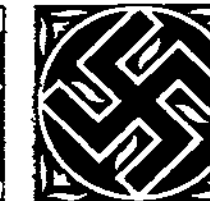
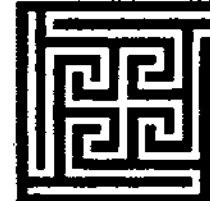
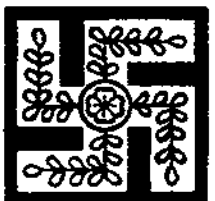
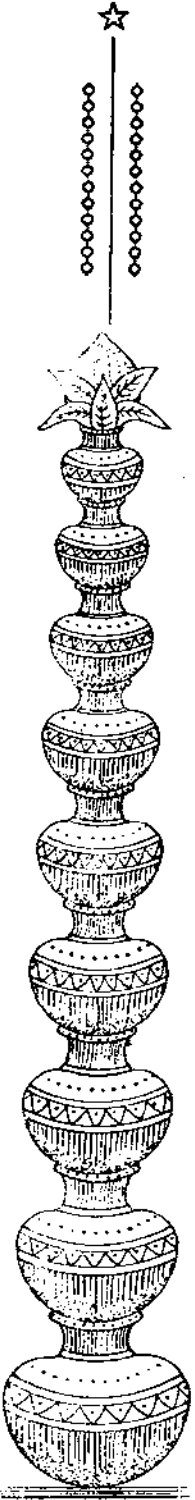
तत्कालीन परिस्थितियों में ज्ञानाराधना का सफल साधन मिलना भी आसान नहीं था।

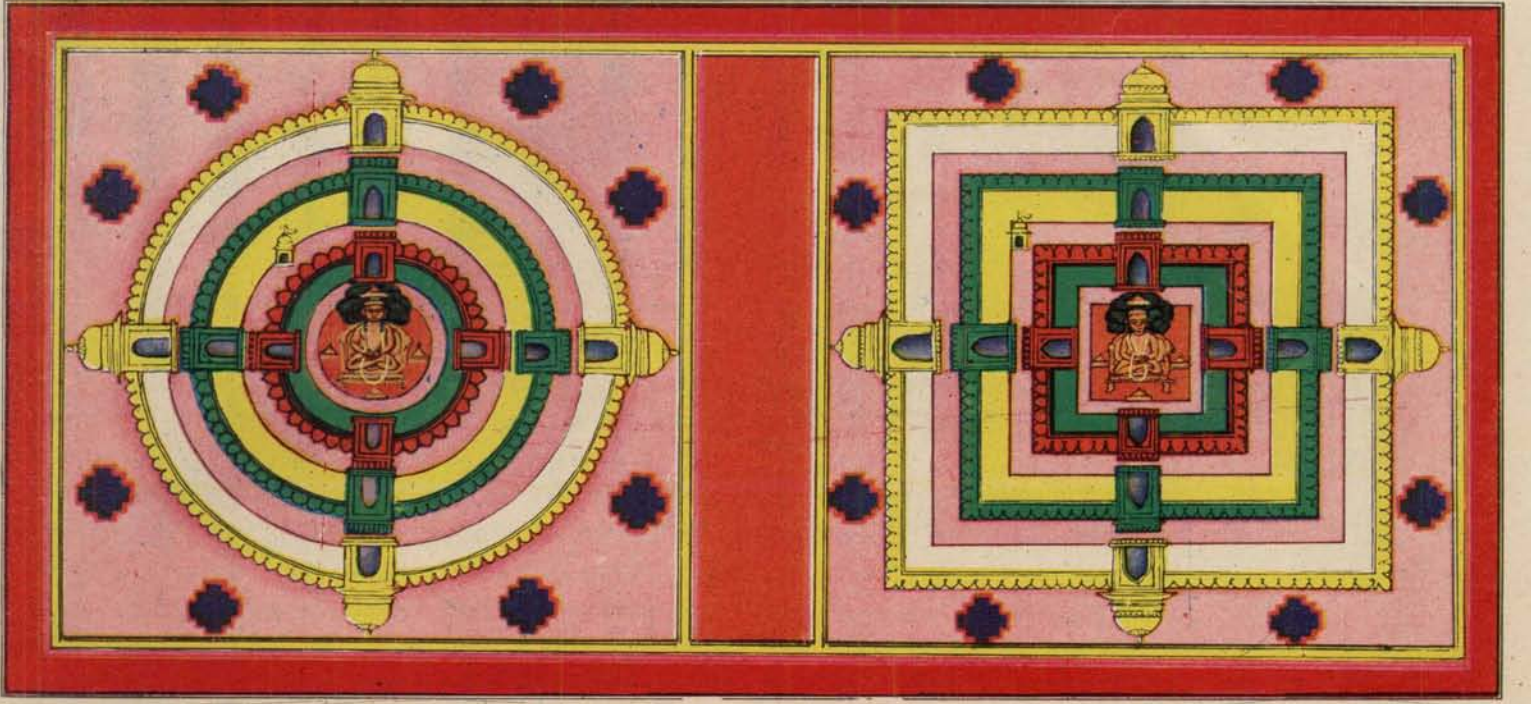
विदुषी महासतीजी श्री नगीनाजी तत्कालीन महासती मंडल में बड़ी प्रभावशाली विद्वान महासती जी थीं। नवदीक्षित मुनिश्री को शास्त्राभ्यास देने का बीड़ा उठाया।

तीन वर्ष कल्पानुसार सेवा में रहकर मुनिश्री को शास्त्रों का सुन्दर अभ्यास करा दिया।

आचार्य-पदोत्सव

प्रस्तुत ऐतिहासिक विवरण से पाठक यह तो अच्छी तरह जान ही चुके हैं कि पूज्य श्री मानजी स्वामी तथा कविराज श्री रिखबदासजी महाराज के स्वर्गवास के बाद मेवाड़ की मुनि-परम्परा का अभ्युदय रक-सा गया। जो मुनि थे, वे बहुत ही कम थे और जो थे वे भी बिखरे हुए थे। उस स्थिति में मेवाड़ श्रावक संघ बड़ी निराशा की स्थिति में चल रहा था। जब से हमारे चरित-नायक ने संयम लिया, संघ में अभ्युदय की फिर नई लहर चल पड़ी।





तीर्थकरों के समवसरण का चित्रांकन— चतुष्कोण समवसरण एवं वृत्ताकार समवसरण :

श्री गुलाबचन्द जी महाराज की कलाकृति ।



यदुकुलभूषण श्री नेमिकुमार (२२वें तीर्थकर) की बरात । राजुल के परिणय हेतु जाते समय ।

श्री गुलाबचन्द जी महाराज की कलम से चित्रित ।

दीक्षा के प्रारम्भिक दस वर्षों में ही सात-आठ नये शिष्यों की उपलब्धि हो गई। इस तरह मुनि-संघ भी पुष्ट होने लगा।

मुनि-संघ में एक कालूराम जी महाराज थे। ये श्री तेजसिंहजी महाराज के सम्प्रदाय के पड़वाई थे। मेवाड़ सम्प्रदाय के आमनायानुसार विचरते थे। मेवाड़ जैन संघ के प्रत्येक जागरूक सदस्य के अनुसार इन्हें भी संघ के नेतृत्व का प्रश्न बढ़ा अखर रहा था।

इनका चातुर्मास राशमी था। ये एकाकी विचरते थे।^१ किन्तु बड़े प्रखर और सक्रिय कार्यकर्ता थे।

सम्प्रदाय में आचार्य की कमी से कई विक्षेप और शैथिल्य आ रहे थे। उनका निवारण आचार्य की स्थापना से ही हो सकता था।

श्री कालूरामजी महाराज ने श्रावकों को प्रेरित किया। श्रावकों ने इस समयोचित प्रस्ताव का बड़ी उमंग के साथ समर्थन किया। तत्कालीन स्थानीय हाकिम मगनलाल जी, नायब हाकिम जोधराजजी सिलेदार लालचन्दजी महाशय भी प्रस्तुत उत्सव में अच्छा सहयोग देने को सहमत हो गये।

चातुर्मास में समुचित वातावरण तैयार कर उसी वर्ष पौष शुक्ला १० को सनवाड़ में मेवाड़ संघ की बैठक सम्पन्न हुई। उसमें आचार्यपद वालभ्रह्मचारी पूजनीय श्री एकलिंगदासजी महाराज को देना निश्चित किया तथा ज्येष्ठ शुक्ल पंचमी वृहस्पतिवार को राशमी में आचार्योत्सव करना निश्चित किया।

मेवाड़ संघ की बैठक के निश्चयानुसार उपर्युक्त तिथि पर आचार्य-पदोत्सव की राशमी में बड़ी तैयारियाँ हुईं। 'ओच्छव' की पुस्तिका के अनुसार उपर्युक्त तिथि पर श्री एकलिंगदास जी महाराज ठा० ६, पंडित-रत्न श्री नेमचन्दजी महाराज (अमरसिंहजी महाराज की सम्प्रदाय के) ठा० ४, श्री कालूरामजी महाराज ठा० १ तथा महासती जी श्री कंकूजी महाराज ठा० ६, श्री वरदूजी महाराज ठा० १५, इन मुनिराज एवं महासतियों के अलावा स्वधर्मो लगभग दो हजार और इतने ही अजैन भाई-बहनों की शानदार उपस्थिति थी।

बहुत ही सुन्दर समारोह के साथ पूज्य श्री मानजी स्वामी के पाट पर श्री एकलिंगदास जी महाराज को आचार्य के रूप में स्थापित किया।

आचार्यपद चढ़र समर्पण के अवसर पर उपस्थित चतुर्विध संघ ने बड़ी श्रद्धा के साथ अपने नये आचार्य को स्वीकार किया।

उक्त अवसर पर उपस्थित प्रसिद्ध क्रान्तिकारी, स्पष्ट विचारी, दार्शनिक श्री बाड़ीलाल मोतीलाल शाह (अहमदाबाद) ने श्रावक संघों को सम्प्रदाय के प्रति श्रद्धावान और समर्पित रहने का आह्वान किया। उन्होंने श्रावक संघों से अपील की कि आचार्य तो आज हमने स्थापित कर दिये हैं, चादर पूज्यश्री के कंधों पर धर दी है, किन्तु इसका गौरव कायम रखना चारों तीर्थों का कर्त्तव्य है। आचार्य के महत्त्व को बढ़ाने में प्रत्येक को योगदान देना चाहिए। जहाँ आचार्य श्री पधारें, आसपास के सज्जनों को परिवार सहित वहाँ पहुँचकर सेवा करनी चाहिए। सम्प्रदाय के नियमों की प्रत्येक क्षेत्र में प्रतिपालना होनी चाहिए।

उस अवसर पर श्रावक-संघों ने सम्प्रदाय के हित में जो निर्णय लिए उनका संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।^२

१. परम्परागत आमनाय के अनुसार प्रतिदिन प्रतिक्रमण में ४ लोगसस का ध्यान, पक्ली के दिन १२ लोगसस का ध्यान, बैठती चौमासी, उठती चौमासी, फाल्गुनी चौमासी दो प्रतिक्रमण और २० लोगसस का ध्यान, संवत्सरी पर दो प्रतिक्रमण और ४० लोगसस का ध्यान करना चाहिए।

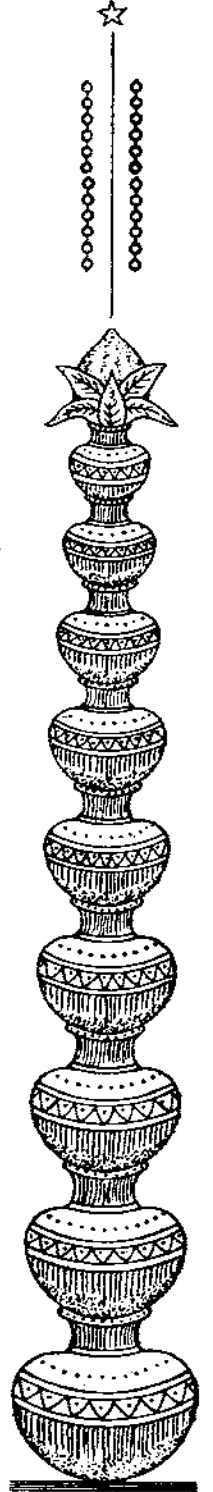
२. दो श्रावण हों तो संवत्सरी भाद्रपद में तथा दो भाद्रपद हों तो संवत्सरी दूसरे भाद्रपद में करनी चाहिए।

३. संत सतीजी के चातुर्मास की विनती आचार्य श्री के पास करनी चाहिए।

४. अपने आचार्य उपस्थित हों तो अन्य साधुओं का व्याख्यान नहीं हो। व्याख्यान आचार्य श्री का ही होना योग्य है।

१ मुनि अकेले थे, परन्तु समुदाय की आमनाय मुजब चलते थे।—'ओच्छव' पृष्ठ ३।

२ ओच्छव की पुस्तिका, पृ० ६



५. किसी के आडम्बर के प्रभाव में आकर अपनी सम्प्रदाय की आम्नाय नहीं छोड़ना ।

६. दीक्षा लेने के भाव हों तो अपनी ही सम्प्रदाय में दीक्षा लेना ।

इस तरह सम्प्रदाय के हित में आवश्यक निर्णय लेकर समस्त संघों की उस समय सहमति ले ली गई ।

आचार्य पदारोहण से समय निम्नांकित संत महासतीजी आज्ञा में थे—

पूज्य आचार्य श्री एकलिंगदास जी महाराज ठा० ६ । श्री धनराजजी महाराज ठा० ४ (ये संत मालवा में थे) काठियावाड़ में ५ ठाणा मुनिराज थे, किन्तु उनका नामोल्लेख नहीं किया गया ।

महासती जी

वि० महासती जी कंकूजी महाराज ठा० ६

” ” सरुपांजी महाराज ठा० ५

” ” वरद्वीजी महाराज ठा० ८

” ” कस्तुरांजी महाराज ठा० ५

” ” केसरजी महाराज ठा० ३

” ” गुलाबजी महाराज ठा० २

इस तरह १६ मुनिजी तथा ५२ महासतीजी महाराज कुल ६८ संत एवं महासती जी आचार्यश्री की नेत्राय में विचरण कर रहे थे ।

आचार्यपद के रिक्तस्थान की पूर्ति हो जाने से समस्त संघ में नवोत्साह का वातावरण फैल गया ।

आचार्य श्री के नेतृत्व में संघ चतुर्मुखी विकास करने लगा । विशृंखलित साधु-साध्वी-समाज पुनः आज्ञाधीन बरतने लगा ।

पूज्य श्री बड़े सरल स्वभावी तथा निराडंबरी थे ।

बलिदान बन्द

पूज्य श्री के पुण्य प्रताप से मेवाड़ में अनेकों उपकार सम्पन्न हुए ।

वि० सं० १९७४ में राजकरेड़ा चातुर्मास था । उस समय कालाजी के स्थान पर होने वाली हिंसा बन्द हुई प्रस्तुत कार्य में तत्कालीन राजाजी अमरसिंह का सहयोग बड़ा सराहनीय रहा । उन्होंने अपने अधिकार से अम्मर पट्टा कर दिया ।^१

अभयदान

सं० १९७७ के वर्ष में नाथद्वारा चातुर्मास था । उस चातुर्मास में लगभग दो हजार बकरों को अभयदान मिला । यह कम उपकार नहीं था ।

१ । श्री गोपालजी ॥ श्री रामजी ॥

पट्टा नं० ३० सावत

सिद्ध श्री राजा बहादुर श्री अमरसिंहजी बंचना हेतु कस्या राजकरेड़ा समस्त महाजना का पंचा कसै अरंच राज और पंच मिलकर मैरूजी जाकर पाती मांगी के अठे बकरा व पाड़ा बलिदान होवे जीरे बजाए अमरिया कीधा जावेगा । बीईरी पाती बगसे—सो मैरूजी ने पाती दोदी के मन्जूर है । ईवास्ते मारी तरफ से आ बात मन्जूर होकर बजाए जीव बलिदान के अमरिया कीधा जावेगा । और दोयम राज और पंच मिलकर धरमशाला मैरूजी के बना बणी कीदी सो धरमशाला होने पर ई बात री परस्सती कायम कर दी जावेगा । ता के अमुमन लोगों को भी खयाल रेवेगा के अठे जीव हिंसा नहीं होवे है । और जीव हिंसा न हो बाकि भोपा को भी हुकम देदीदो है । ईवास्ते थाने आ खातरी लिख देवाणी है । सं० १९७४ दुती भादवा सुदी १ । दः केसरिमल कोठारी रावला हुकम सूँ खातरी लिख दी है ।



तपस्वी भी

आचार्य श्री तप में भी बहुत आगे थे। आचार्य पदारूढ़ होने के बाद पाँच वर्ष एकान्तर तप किया। पचोले अठाई सात, नव और ग्यारह के कई थोक किये।

स्वर्गवास

पूज्य आचार्य श्री का आचार्यकाल मेवाड़ सम्प्रदाय के लिए एक अच्छा युग था। सम्प्रदाय साधु-साधियों से अधिक सम्पन्न हुआ। साथ ही श्रावक-समुदाय में उत्साह और धर्मांशना का नया वातावरण व्याप्त हुआ।

आचार्य श्री का सं० १६८७ का चातुर्मास ऊंठाला (बल्लभनगर) था। यहीं पूज्य श्री का स्वास्थ्य व्याधि-ग्रस्त हो गया और श्रावण कृष्णा २ को प्रातः ६ बजे वे समाधिपूर्वक स्वर्ग सिंघार गये।

पूज्य श्री का स्वर्गवास मेवाड़ संघ के लिए एक आघात था। संघ वियोग से विह्वल अवश्य था, किन्तु इस बात का सभी को सन्तोष था कि पूज्य श्री ने अपने पीछे कई अच्छे मुनिराजों को तैयार किया है, जो मेवाड़ संघ का नेतृत्व करने में सक्षम हैं।

पूज्य श्री ने मेवाड़ को नया वातावरण दिया, व्यवस्था और प्रेरणा दी। सचमुच पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज का अभ्युदय मेवाड़ के लिए वरदान सिद्ध हुआ।

अन्त में श्री मेवाड़ी मुनिजी का यह पद्य, जो पूज्य श्री के लिए बिलकुल उपयुक्त ही है, उद्धृत करता हुआ प्रस्तुत निबन्ध को समाप्त करता हूँ—

महावीर के सत शासन में शूर वीर गंभीर गुनी।
तप संयम कर तेज-पुंज गणनायक महिमावन्त मुनी॥
धर्म देव योगीन्द्र भद्र तत्त्वामम गुण निष्णात हुए।
मेवाड़ भूमि भवि भाग्य एकलिंगदास प्रख्यात हुए॥

गुरु का गौरव शिष्यों के द्वारा ही व्यक्त होता है। जैसे वृक्ष की शोभा उसके मधुर फल है, सरोवर की शोभा शीतल-मधुर जल है, सागर की शोभा उज्ज्वल मुक्ता-फल (मोती) है, उसी प्रकार गुरु की शोभा और महिमा बढ़ाने वाला शिष्य-दल (शिष्य परिवार) होता है।

—‘अम्बागुरु-सुवचन’





१०

महिमा-मण्डित मेवाड़-भूषण

पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज



सौभाग्यशाली भारत सर्वदा अनेक धार्मिक राजनैतिक सामाजिक विभूतियों से समलंकृत होता रहा है। जन-चेतना को किसी विशिष्ट दिशा में सम्प्रेषित करना किसी विशिष्ट व्यक्तित्व के द्वारा ही सम्भव हो सकता है। समय के दौर में सब कुछ गुजर जाता है, किन्तु सम्प्रेषण के वे तत्त्व युगों तक अमर रह जाया करते हैं। मेवाड़ के जैन-समाज को दिशा-निर्देशन करने में जिन सत्पुरुषों का योग है, उनमें मेवाड़-भूषण पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज का एक महत्वपूर्ण स्थान है।

जन्मस्थान

पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज का जन्मस्थान ऊँठाला (वल्लभनगर) है। मेवाड़ में ऊँठाला का धार्मिक एवं राजनैतिक दृष्टि से एक विशेष महत्त्व रहा है। शाक्त सम्प्रदाय के अनुसार शक्ति का एक मातृस्वरूप है, जो प्रचलित भाषा में 'माता' कहलाता है। ऊँठाला उसका पीठस्थल है। प्रतिवर्ष हजारों ही नहीं, लाखों व्यक्ति अपने बच्चों की खुशहाली के लिए 'ऊँठाला माता' की मनौतियाँ मनाते हैं। ऊँठाला माता लोकजीवन में इस तरह घुल-मिल चुकी है कि उसे कोई भी उपदेश जन-जन की श्रद्धा से नहीं हटा सकता। राजस्थान के किसी भी हिस्से में चले जाइये,

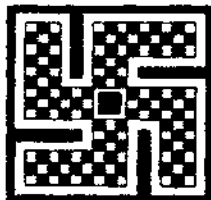
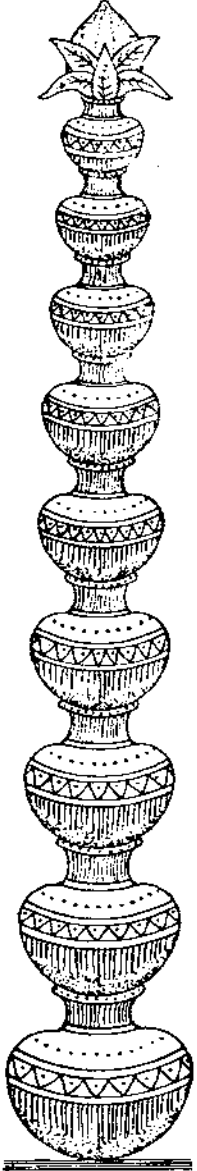
आद भवानी ऊँठाला री माता ।

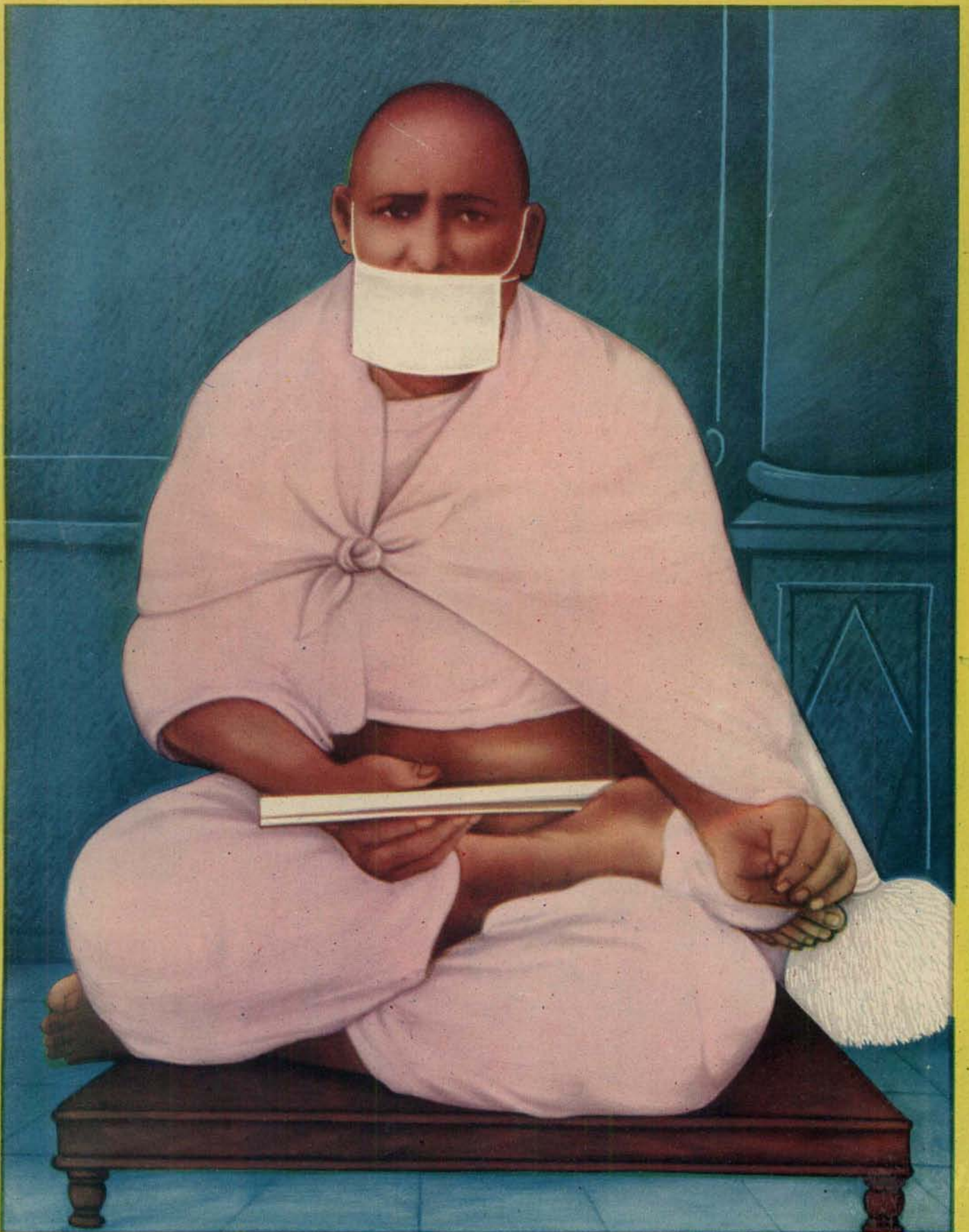
बालूडो रखवारी ए मांय ॥

यह गीत तो आप सुन ही लेंगे। मुख्यतया शीतला सप्तमी के दिन तो यह गीत वायुमण्डल में लहरा ही जाता है। वर्ष में एक बार यहाँ मेला भी लगता है।

राजनैतिक दृष्टि से ऊँठाला बड़े संघर्ष का स्थान रहा है। मुगल युग में यहाँ कई लड़ाइयाँ लड़ी गईं। शक्तावत बल्लूसिंह के वलिदान ने ऊँठाला को अमर कर दिया।

महाराणा अमरसिंह के समय में मेवाड़ के प्रधान राजवंश शक्तावत और चूड़ावतों में हरावल (सेना के अग्र भाग में रहना) का विवाद पैदा हुआ था। महाराणा के लिए ये दोनों राजवंश समान थे। उन्होंने प्रस्ताव रखा कि ऊँठाले के गढ़ में जो पहले प्रवेश करेगा वह हरावल में रहेगा। ऊँठाला उस समय मुगलों के अधिकार में था। शक्तावत बल्लूसिंह और चूड़ावत जैतसिंह अपने-अपने दल के अग्रगण्य थे। दोनों दल ऊँठाला पर चढ़े। शक्तावत द्वार तोड़ना चाहते थे। किन्तु किवाड़ों के तीखी कीलियाँ (झूल) लगी थीं, हाथी टक्कर नहीं मारे, द्वार टूटना सम्भव नहीं था, उधर चूड़ावत दिवार पर चढ़कर अन्दर उतरने की कोशिश में लगे थे। दोनों की बाजी दाँव पर थी। दोनों प्रतिस्पर्द्धा में छाये हुए थे। देरी दोनों को असह्य थी। बल्लूसिंह ने देखा—हाथी डर रहा है। बहादुर बल्लूसिंह कीलों पर चढ़कर टिक गया और महावत को आदेश दिया कि हाथी को हूल दे! उसने ही नहीं, सैकड़ों साथियों ने कहा कि ऐसा नहीं हो सकता! किन्तु बल्लूसिंह ने कहा—इज्जत का प्रश्न है, मेरी आज्ञा है, हूल दो! हाथी हूल दिया गया। हाथी ने कसकर बल्लूसिंह, जो कीलों पर झूल रहा था, को टक्कर मारी, द्वार टूट गया। किन्तु बल्लूसिंह का शरीर छलनी-छलनी हो गया, बड़े-बड़े झूल उसके शरीर में आर-पार हो चुके थे। अपनी बात का दिवाना बल्लूसिंह मर गया, किन्तु बहादुरी की एक मिसाल कायम कर गया।





महिमा मण्डित मेवाड़ भूषण :-

स्व. पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज

चूंडावत चैनसिंह भी दिवार पर चढ़ने में सफल हो गया। किन्तु चढ़ते ही किले के भीतर से एक गोली लगी कि वह पुनः गिर पड़ा। गिरते-गिरते उसने कहा—मेरा सिर काटकर भीतर फेंक दो। वैसा ही किया गया।

शक्तावतों का दल भीतर गया। उसके पहले चूंडावत का सिर भीतर जा चुका था। अतः हुरावल का हक तो चूंडावतों के पास रहा, किन्तु शक्तावत बल्लूसिंह की हिम्मत मेवाड़ के बीरों के इतिहास में अमर हो गई।

यह तो एक घटना है। ऊँठाला के साथ ऐसी कई घटनाएँ जुड़ी हुई हैं। यह ऐतिहासिक सुरम्य नगर वेड़न नदी के किनारे अवस्थित है, जहाँ लगभग सौ जैन परिवार निवास करते हैं।

जन्म

बीसा ओसवाल सामर गोत्रीय श्री घूलचन्द्रजी की पत्नी का नाम जड़ावादेवी था। उसने एक बार स्वप्न में मोतियों की माला देखी। कालान्तर में उसने एक पुत्र-रत्न को जन्म दिया। उसका नाम मोतीलाल रखा गया। कहते हैं, घूल में फूल खिला करते हैं। वास्तव में घूलचन्द्र के यहाँ एक ऐसा फूल खिला, जिसकी मुरभि से मेवाड़ के जनमानस का दिग्-दिगन्त वर्षों तक सुरमित रहा।

श्री घूलचन्द्र जी के घर का वातावरण शान्त तथा संस्कार युक्त था। अतः बालक मोतीलाल, जो स्वभाव से ही मृदु था, पवित्र वातावरण में और सुनियोजित तरीके से ढलने लगा।

बालक मोतीलाल को सन्त-दर्शन एवं वाणी-श्रवण का एक विशेष चाव बना रहता था और इन्हीं कारणों से उसमें विशेष गूण पनपने लगा था—'पाप-भीरता'। कुछ भी बुरा करते हुए उसे एक डर-सा लगता था।

एक बार की बात है, माँ ने उसे कुछ ककड़ियाँ काटने को दीं। कहा गया कि कड़वी को छोड़कर मीठी को छोटे-छोटे टुकड़ों में काट लो! बालक मोतीलाल सन्त-समागम से इतना जान चुका था कि वनस्पति में भी जीव है। इसे काटना पाप है। इच्छा नहीं होते हुए भी माँ को इन्कार नहीं कर पाया। काटने को बैठा। किन्तु मन में धार लिये कि ककड़ियाँ इस तरह काटूँ कि भविष्य में माँ कभी ककड़ियाँ न कटाएँ! उसने कड़वी-मीठी सभी ककड़ियाँ साथ काट डालीं। माँ ने टुकड़ों को चखकर देखा तो सब मिली हुई थीं। माँ ने कहा—यह क्या किया? मोती ने कहा—मुझे तो कुछ साफ-साफ मालूम भी नहीं हो पाता कि कड़वी क्या और मीठी क्या? माँ ने कहा—आयन्दा तू मत काटना! मोती ने कहा—मैं भी तो यही चाहता हूँ। उसके बाद माँ ने कभी ककड़ियाँ नहीं कटाईं और मोतीलाल इस पाप से बचा रहा।

पाप-भीरता के ऐसे संस्कार जिसके ऐन बचपन में हों, वह बालक सांसारिकता में लिप्त हो जाए, यह सम्भव ही कैसे हो सकता है?

वि० सं० १९४३ में जन्म पाकर इन्होंने संवत् १९६०, जब इन्होंने संयम स्वीकार किया तब तक के सत्रह वर्षों में, यौवन की देहलीज तक पहुँचते-पहुँचते अनेकों अनुभव लिये।

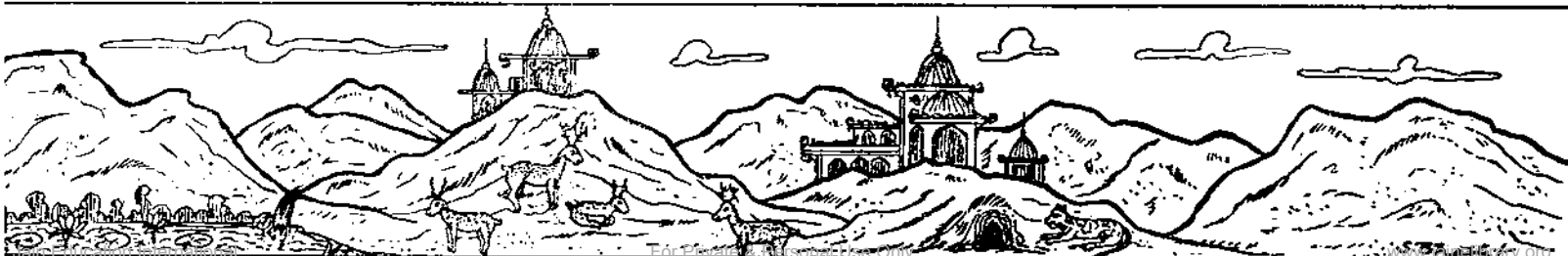
बाल्यावस्था में ही माता का वियोग सहना पड़ा। मातृवियोग की यह घटना अज्ञानियों के लिए जहाँ शोक का कारण होती है, श्री मोतीलाल जी के लिए एक सन्देश बनकर आई। देह की नवव्रता का सटीक परिचय मातृवियोग से मिल चुका था। मातृवियोग जनित शोक की उस घड़ी में विह्वलता के स्थान पर वैराग्य की ही अधिक बल मिला। यह उनकी एक नैसर्गिक विशेषता ही थी।

स्वावलम्बन

श्री मोतीलाल जी थोड़ा ही पढ़ पाये, किन्तु योग्यता थोड़ी नहीं थी। माता के अभाव में घर की देखभाल के अलावा पिता के व्यापार में भी हाथ बंटाने लगे थे। आसपास के गाँवों में माल की खरीद-फरोख्त बहुत छोटी अवस्था में ही कर लिया करते थे।

प्रायः सामान्य बच्चे जिस उम्र में अपना होश भी नहीं संभाल पाते, उस उम्र में श्री मोतीलाल जी का स्वयं एकाकी व्यापार करना, असामान्य विशेषता का परिचायक है।

श्री घूलचन्द्र जी, जो क्रमशः वृद्धावस्था की ओर बढ़ रहे थे, अपने सुयोग्य पुत्र को देख फूले नहीं समाते थे।



वे सपने संजो रहे थे कि बहुत शीघ्र ही एक बहू मेरे आंगन पर आएगी और उसकी मावभीनी सेवा से मेरा वाढ्क्य एक विशेष ज्ञान्ति को लिए पूर्ण हो जाएगा। किन्तु होना क्या है, इसे कौन जाने !

युवक मोतीलाल जी के विवाह के प्रस्ताव चल ही रहे थे कि अचानक श्री धूलचन्द्र जी का देहावसान हो गया। मातृवियोग तो पहले ही चुका था, पिता के भी अनायास इम तरह उठ जाने से श्री मोतीलाल जी का संसार के प्रति रहा-सहा अनुराग भी समाप्त हो गया।

वैराग्य और दीक्षा

पितृवियोग क्या हुआ, मानों मोतीलाल जी को संसार से एक मुक्ति मिल गई। संसार और सांसारिकता के प्रति जो एक घृणा बहुत पूर्व बचपन से मन में पल रही थी, वह अचानक सक्रिय बनकर वैराग्य मार्ग से जीवन के धरातल पर चल पड़ी। सांसारिक लोगों के आग्रहों और प्रलोभनों का पार न था, किन्तु हृदिनिश्चयी श्री मोतीलाल जी बराबर उन्हें टुकराते रहे।

पूज्य श्री एकलिंगदास जी महाराज उस समय मेवाड़ धर्म संघ के प्रधान मुनिराज थे। वे ऊँठाला पधारे। श्री मोतीलाल जी के लिए मानों स्वर्ण सूर्य का उदय हो गया। उन्होंने अपने को त्याग, तप और ज्ञानाराधना में लगा दिया।

पूज्य श्री एकलिंगदास जी महाराज युवक श्री मोतीलाल जी के इस आध्यात्मिक अभ्युदय से बड़े प्रभावित हुए। उन्होंने सुपात्र समझ तत्त्वोपदेश दिया।

वैराग्य की उत्तरोत्तर प्रवर्द्धमान लहरों में झूमते युवाहृदय श्री मोतीलाल जी ने अपने सम्बन्धियों के सामने संयम का प्रस्ताव रखा। पारिवारिक जन बहुत पहले से समझ चुके थे कि इस ऊर्जस्वल व्यक्तित्व को अपने क्षुद्र घेरे में बांधना अपने लिए शक्य नहीं होगा। उन्होंने थोड़ी-बहुत ननुनच के बाद स्वीकृति दे ही दी।

सुमुक्षु श्री मोतीलाल जी अब एक क्षण भी संसार में खोना नहीं चाहते थे। सं० १९६० मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी के शुभावसर पर सनवाड़ में एक बहुत अच्छे सुन्दर समारोह के साथ श्री मोतीलाल जी ने पूज्य श्री के चरणों में संयम प्राप्त कर अपना अभीप्सित प्राप्त किया।

सेवा और साधना

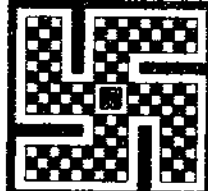
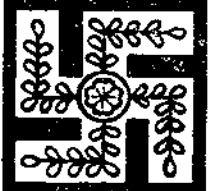
संयम यदि पुष्प है तो सेवा और साधना सुगन्ध है। पुष्प में यदि सुगन्ध न हो तो वह कितना सार्थक है, पाठक स्वयं समझ सकते हैं। श्री मोतीलाल जी चिलचिलाती धीवनावस्था में मुनि बने। यह अवस्था संसार में प्रवेश-अवस्था है। सशक्त शरीर और सबल इन्द्रियाँ अनायास ही इस उन्न में विकारों की ओर दौड़ लगाती हैं। इस उन्न में संयम लेकर इन्द्रियों के घोड़ों पर लगाम लगा उन्हें संयम-मार्ग पर प्रवृत्त करना एक ऐसा अभियान है, जिसके लिए बहुत बड़ी आध्यात्मिक शक्ति की आवश्यकता होती है। श्री मोतीलाल जी महाराज में यह शक्ति पर्याप्त थी। उन्होंने संयम लेते ही एक समय भोजन वह भी रूखा और ठण्डा लेना प्रारम्भ कर दिया। यह क्रम तेरह वर्षों तक चलता रहा।

साधना केवल आहार-त्याग तक ही सीमित न थी। ज्ञान, दर्शन की तरफ भी उन्मुख थी, शास्त्रीय अध्ययन के साथ अन्य धर्मग्रन्थों का अध्ययन भी साथ-साथ चलता रहा। बहुत जल्दी ही प्रवचन में प्रवृत्त हो जाने से प्रवचन योग्य आवश्यक ज्ञान के सम्पादन में भी गहरे श्रम के साथ लगे रहे।

कुछ वर्षों में ही प्रवचन में चमत्कार-सा प्रतीत होने लगा। हजारों श्रोता मन्त्रमुग्ध बन प्रवचन में घण्टों लाम उठाते रहते, यह गहरी ज्ञान-साधना का परिचायक है।

उस युग में लेखन का बड़ा महत्व था। प्रकाशित पुस्तकों कम थीं। अधिकतर हस्तलिखित पुस्तकों का ही प्रयोग होता था। मुनि श्री बड़ी गम्भीरता के साथ लेखन-कार्य में प्रवृत्त हुए। इसके पीछे भी एक प्रसंग था।

एक बार मुनिश्री को 'लोगस्स' की हस्तलिखित प्रति की आवश्यकता हुई। एक साथी मुनि, जो लेखक थे, से उन्होंने कहा—'आप एक 'लोगस्स' की प्रति लिख दें।' लेखक मुनि जी ने हाँ तो की, किन्तु अन्तर में उपेक्षा के भाव थे, जो साफ झलक रहे थे। मुनिश्री ने एक बार पुनः आग्रह किया, उन्होंने समयाभाव बताया। साथ ही कहा—यदि समय मिला तो लिख देंगे। मुनिश्री समझ गये कि इनकी भावना लिखने की कम है।



मुनिश्री ने उक्त अवसर पर सोचा—प्रयास करूँ तो क्या मैं नहीं लिख सकता हूँ। हृढ़ निश्चय कर उसी दिन से सुलेखन का अभ्यास प्रारम्भ कर दिया। थोड़े ही दिनों में मुनिश्री का लेखन मोती की लड़ियाँ विरोने लगा। अब तो मुनिश्री को लिखने का वह चाव जगा कि दिन में छह घण्टा कभी आठ घण्टा लिखने में ही चले जाते। यह क्रम वर्षों तक चला। आज भी पूज्य श्री के हस्तलिखित शास्त्र, चरित्र, ढालें बड़ी भारी मात्रा में उपलब्ध हैं। उनके इस विशाल लेखन-कार्य को देख उनको कर्मठता का सिकका स्वीकार करना ही पड़ता है। लेखन-कार्य कितना अधिक श्रमसाध्य है, इसे आज केवल वही जान सकता है, जो छह घण्टा लगातार बैठकर लिखे। आज हम किसी लिखित पत्र को तुच्छ-सा समझ फाड़ या फेंक डालते हैं, किन्तु यह नहीं सोच पाते कि इसे तैयार करने में लेखक की कितनी जीवनी शक्ति का व्यय हुआ होगा।

आज हम प्रकाशन-परम्परा में हैं। किन्तु हम लेखन-परम्परा के ऋणी हैं। यदि लेखन-परम्परा भारत में नहीं होती तो हमारे हजारों शास्त्र और पूर्वजों की करोड़ों रचनाएँ हम तक पहुँच ही नहीं पातीं। हम पशु की माँई नितान्त रीते होते।

उन लेखकों को धन्य है, जिन्होंने अतीत को लेखन में जीवित रखा।

आचार्यत्व और उपकार

संवत् १९८७ वें वर्ष में मेवाड़ संघ के तत्कालीन आचार्य प्रवर पूज्य श्री एकनिगदासजी महाराज का ऊँडाला में स्वर्गवास हो चुका था।

मेवाड़ सम्प्रदाय के चतुर्विध संघ की हार्दिक इच्छा थी कि आचार्य पद पर श्री मोतीलालजी महाराज को अभिषिक्त कर दिये जाएँ। श्री संघ का आग्रह जबरदस्त था। किन्तु मुनिश्री किसी पद पर जाने को कतई तैयार नहीं थे। मुनिश्री के व्यक्तित्व में एक जादू था। निर्दोष क्रिया, अनुठा वक्तृत्व तथा मधुर वाणी का जन-जीवन पर विलक्षण प्रभाव था।

पूज्यश्री के स्वर्गवास के बाद मेवाड़ की विशाल धर्मप्रेमी जनता की आशा के सम्बल मुनिश्री थे। मुनिश्री के बढ़ते प्रभाव को देखकर कुछ-एक तत्त्व ऐसे भी थे, जो मन ही मन ईर्ष्या की आग में जलते रहते थे। किन्तु सम्प्रदाय में उनका कोई प्रभाव नहीं था। मुनिश्री भी ऐसे तत्त्वों से परिचित थे। वे यह अच्छी तरह जानते थे कि ऐसे तत्त्व संघ के सामूहिक दबाव से अभी अनुकूलता प्रदर्शित कर रहे हैं। किन्तु भविष्य में सर्वदा साथ देंगे, इसका कोई विश्वास नहीं।

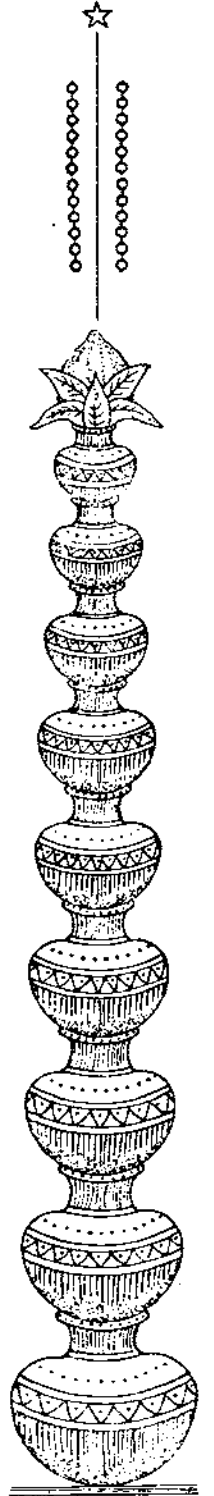
मुनिश्री हृढ़ता के साथ आचार्य पद के लिए इन्कार ही मये। चतुर्विध संघ में गहरी निराशा छा गई। मुनिश्री मेवाड़ से दूर-दूर तक विहार कर गये।

आचार्य से रहित मेवाड़ सम्प्रदाय में एक ऐसी रिक्तता छा गई जो असह्य थी। चारों ओर निराशा का वातावरण था। इससे सम्प्रदाय और धर्मसंघ की बड़ी हानि हो रही थी।

जो कुछ तत्त्व मुनिश्री के अन्तर्विरोधी थे, जनता का आक्रोश उनके प्रति भी कम नहीं था। जैसे-जैसे समय बीतता गया, आचार्य की अनिवार्यता बढ़ती गई। यत्र-तत्र मेवाड़ संघ एकत्रित होता रहा और एक मत से निश्चय होता रहा कि किसी भी कीमत पर मुनिश्री मोतीलाल जी महाराज को आचार्य पद के लिए मनाया जाए। संघ के डेटेशनप्यू मुनिश्री के पास पहुँचने लगे। मेवाड़ के साधु-साध्वी समाज ने जैसे भी हो आचार्य पद देने का निश्चय कर ही लिया। अन्ततोगत्वा मुनिश्री मेवाड़ में आये और संघ में आशा की नई किरण चमकने लगी। संघों के प्रमुख और साधु-साध्वी मुनिश्री के पास एकत्रित होकर आचार्य पद के लिए गहरा दबाव डालने लगे।

मुनिश्री ने फिर भी इन्कार किया। किन्तु इस बार आग्रह चरम सीमा का था। आचार्य के अभाव में संघ की जो स्थिति होती जा रही थी, मुनिश्री ने गहराई से उसे समझा। मुनिश्री ने अनुभव किया कि अब लम्बे समय तक संघ को असहाय स्थिति में रखना उचित नहीं।

आचार्य जैसे जिम्मेदारी के पद पर आसीन होना, कई कठिनाइयों से परिपूर्ण है। फिर भी मुनिश्री ने अनुभव किया कि अब इस जिम्मेदारी की षड़ी में दूर हटना कर्तव्यपथ से गिरना है। काँटों का ताज है, किन्तु पहनना ही होगा। अन्यथा मेवाड़ संघ नेतृत्वहीनता की स्थिति में अवरुद्ध हो जाएगा। मुनिश्री ने समय की चुनौती को समझकर स्वीकृति



प्रदान कर दी। मेवाड़ के चतुर्विध संघ में हर्ष की लहर दौड़ गई। कई संघ अपने यहाँ आचार्यपदोत्सव कराने को उत्सुक हो गये। अन्त में सरदारगढ़ संघ को चतुर्विध संघ की स्वीकृति मिली।

यथासमय मेवाड़ का चतुर्विध संघ सरदारगढ़ में बड़े उत्साह के साथ एकत्रित हुआ। सं० १९६३ ज्येष्ठ शुक्ला द्वितीया का दिन था। मेवाड़ के चतुर्विध संघ ने परमोल्लास के साथ मुनिश्री को आचार्य पद पर अभिषिक्त किया।

मेवाड़ संघ का नेतृत्व पूज्य श्री के सबल कर-कमलों में सौंपकर संघ के प्रमुख सज्जनों ने बड़े सन्तोष का अनुभव किया।

व्यक्तित्व, वक्तृत्व और उपकार

पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज साहब का व्यक्तित्व अपने आप में सुदृढ़ और आकर्षक था। नेट्टे वर्ण में सुगठित विशाल देह-राशि का एक-एक अंग मानो दला हुआ सा था। विशाल देह के अनुरूप खिले हुए पूर्ण चन्द्र जैसा मुख-मण्डल, चिबुक से हृदय भाग तक चली आई मध्य-रेखांकित प्रलम्बमान अयाल, सुविस्तृत हृदय, विशाल भुजाएँ, ऊर्ध्वरेखांकित यथोचित पद-कमल—इस तरह पूज्य श्री का वपु-वैभव कुल मिलाकर भाग्यशाली था। तन जितना सुन्दर था, मन उससे भी कहीं ज्यादा सुन्दर था।

स्वभाव से मञ्जुल, व्यवहार में पटु तथा वातचीत में शालीन पूज्य श्री अपने युग के एक सफल और सुयोग्य आचार्य थे।

आचार्य श्री के व्यक्तित्व में एक जादू तथा विलक्षण ओज था।

जहाँ उनके व्याख्यानो में तथा दर्शनार्थ हजारों नागरिक उमड़े आते थे वहाँ उनके किसी प्रतिपक्षी को आने तक की हिम्मत नहीं होती थी। आचार्य श्री का युग साम्प्रदायिक संघर्षों का युग था। प्रत्येक सम्प्रदाय के अनुयायी दूसरे को नीचा दिखाने की चेष्टा किया करते थे। किसी को भी आमने-सामने कटु शब्द सुना देना, उस समय बड़ा आसान था। उस स्थिति में भी आचार्य श्री का ओजस्वी व्यक्तित्व ओछेपन से कौसों दूर था। उनके समक्ष, किसी का साहस नहीं हो पाता था कि वह आकर कोई विवाद करे।

मारवाड़ सादड़ी में आचार्य श्री का चातुर्मास था। कुछ उपद्रवी तत्त्व एन सांवत्सरिक प्रतिक्रमण के अवसर पर द्वार पर नाचने और चिल्लाने लगे। श्रावक वर्ग जो प्रतिक्रमण में लगा था, इस चिल्लाहट से कुछ उद्वेलित हो गया। श्रावक प्रतिकार को उद्यत हुए तो पूज्यश्री ने रोक दिया। दूसरे दिन वह चमत्कार हुआ कि सारे अषराधी तथा उपद्रवी तत्त्व चरणों में पहुँच क्षमा-याचना करने लगे।

पूज्य श्री जब कहीं विहार करते, हमने देखा कि जो भी व्यक्ति उन्हें देखता, प्रभावित नतमस्तक हो जाता।

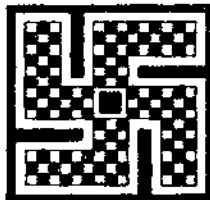
प्रायः गाँवों में अनपढ़ किसान लोभ मुनियों को देखकर उनका ठठ्ठा कर लिया करते हैं। किन्तु पूज्य श्री को यदि कोई देख लेता तो वह बैठा भी तत्काल खड़ा हो जाता। पूज्य श्री भी खड़े रहकर उसकी भक्ति को रचनात्मक रूप देने लगते। कुछ त्याग प्रत्याख्यान कराते हुए आगे बढ़ जाते।

प्रायः देखा गया कि उन्होंने जिसे भी प्रत्याख्यान, त्याग के लिए कहा तो कभी इन्कार नहीं सका। इस तरह पूज्य श्री का ऊर्जस्वल व्यक्तित्व जन-जीवन के लिए बड़ा उपयोगी सिद्ध होता रहा।

एक बार खमनौर चातुर्मास में ईद का दिन था। वह बकरा ईद थी। एक बकरा शाम को किसी तरह अपने बन्धन से छूट आया जो सीधा पूज्य श्री के पाट के नीचे आकर बैठ गया। रात भर उसी तरह बैठा रहा। प्रातः उसके अधिकारी को बुलाया। वह बड़ा आग-बबूला था, किन्तु पूज्य श्री के दर्शन करते ही पानी-पानी हो गया। उसने तुरन्त वन्दन कर बकरे को अमर करने की घोषणा कर दी। उसने कहा—सन्त का दरबार खुदा का दरबार है। मेरा बकरा यहाँ पहुँच गया तो खुदा के पास ही पहुँचा। जो खुदा से जा मिला, उसे कोई इन्सान कैसे मार सकता है। उसके पास एक बकरा और था। उसे भी उसने अभय दे दिया। ऐसा था पूज्य श्री का अद्भुत व्यक्तित्व।

पूज्य श्री की वाणी केवल हृदय को वस्तु होती थी, जो केवल हृदय से आती थी। वाणी में ऐसी सरलता एवं सहजता थी कि श्रोता उसे तुरन्त हृदयंगम कर जाए।

पूज्य श्री की वाणी में एक जादू-सा असर था। इसके कई प्रमाण हैं।



एक बार गुरुदेव का होली चातुर्मास तिरपाल (मेवाड़) था। वहाँ पर रंगपंचमी को बीच बाजार में क्षत्रिय बकरो और पाड़ों का वध किया करते। वहाँ उन्हें पकाकर खाते भी। यह उनका कार्यक्रम कई वर्षों से चला आ रहा था।

बाजार में लगभग सारी बस्ती अहिंसक समाज की थी। उन्होंने सरे आम होने वाले इस कुकृत्य को रोकने का भरपूर यत्न किया, किन्तु सफलता नहीं मिली। उन्होंने सरकारी कार्यवाहियाँ भी कीं। कई बड़े-बड़े व्यक्तियों ने पूरी ताकत से इसे रोकने की चेष्टा की, परिणाम में केवल शून्य ही रहा।

होली पर पूज्य श्री वहीं थे। रंगपंचमी का समय निकट था। व्याख्यान बाजार में ठीक उसी सार्वजनिक स्थान पर होता था, जहाँ यह कुकृत्य होने वाला था।

ज्यों-ज्यों पंचमी का समय निकट आता जा रहा था, त्यों-त्यों धर्मप्रिय जनता को उस क्रूर घटना की चिन्ता चिन्तित किये जा रही थी।

किसी ने कहा—पंचमी को यहाँ व्याख्यान नहीं हो पाएगा।

पूज्य श्री ने पूछा—क्यों ?

इस 'क्यों' के उत्तर में पूज्य श्री को सारी वास्तविक जानकारी मिल गई।

पूज्य श्री ने सोचा—आज जिस स्थल पर अहिंसा, दया और करुणा के गीत गाये जा रहे हैं, कुछ ही दिनों में वहाँ मूक पशुओं की लाशें तड़पेंगी। खून के फव्वारे छूटेंगे। ओह ! यह तो बड़ी दुर्घटना होगी। पूज्य श्री ने दूसरे ही दिन अपने प्रवचन में करुणा की धारा बहाना प्रारम्भ कर दिया। जो भी अ-जैन प्रवचन सुन लेता उसके विचारों में भारी परिवर्तन हो जाता ! श्रोताओं में जैन कम अ-जैन ज्यादा होते थे। प्रवचनों का असर रंग लाने लगा।

पंचमी के एक दिन पूर्व समस्त क्षत्रिय समाज की एक खुली बैठक हुई और बहुत ही स्पष्ट वातावरण में उल्लासपूर्वक सभी ने एक मत से उस स्थान पर हिंसा बन्द करने का प्रस्ताव पारित कर दिया। भगवान राम और गुरुदेव श्री की जय बोलते हुए क्षत्रिय-समाज ने गाँव के बीचोंबीच खेती जाने वाली खून की होली को सदा के लिए बन्द कर दी। पंचमी के दिन जहाँ खून की होली खेती जाती थी, उस स्थान पर समस्त क्षत्रिय और अन्य अहिंसक समाज ने मिलकर मिठाई बाँटी और रंग की होली खेलकर अपवित्रता के कलंक को सदा के लिए मिटा दिया।

पूज्य श्री के जीवन में ऐसी सफलताओं के कई अव्याय जुड़े हुए हैं।

राजकरेड़ा^१ के राजाजी श्री अमरसिंहजी पूज्यश्री के उपदेशों से बड़े प्रभावित थे। चातुर्मास में उन्होंने कभी अपने हाथों में कोई शस्त्र धारण नहीं किया।

बराबर खड्ग रखने वाले राजाजी चारों महीने अहिंसक बने रहे। उन्होंने कालाजी के स्थान पर जो हिंसा

१ सीध श्री राजा बहादुर श्री श्री अमरसिंह जी वंचना हेतु करेड़ा में श्री कालाजी के स्थान पर बोलमा वाले बकरा चढ़ाते थे। ७४ में श्री जैन बाईस सम्प्रदाय के पूज्य महाराज श्री एकलिंगदासजी का चातुर्मास था जिनके उपदेश से बलिदान नहीं चढ़ाना तय पाया और आम-गाम वालों ने पाली भी माँगी, जानवर बलिदान नहीं होने की दी। जब से ही बन्द है। ई हाल में वी सम्प्रदाय के पूज्य श्री मोतीलालजी का चातुर्मास है, फिर उपदेश हुआ। अब सबकी इच्छानुसार मुरे रूपाई जावे है। सो ई स्थान पर बलिदान नहीं करे। अमरा करी देवे। भोपा व आम लोग इसकी पाबन्दी रखें। लोपे जिसके हिन्दु को गाय मुसलमानों को सुअर का सोगन है।

नोट—ई मुजब मुरे खुदा कर रूपा दी जावे। यह पट्टा यहाँ से आम को दिया जावे। २००२ का भादवा सुद ११ मंगलवार, जलजुलनी ग्यारस।

दः माँगीलाल टुकल्या श्री हजूर का हुकम सूँ पट्टो लिखियो।

यह पट्टा ठिकाना करेड़ा से इजरा हुआ।

दः छगनलाल देपुरा कारकुन।

ठि—करेड़ा २००२ का भादवा सुदी ११।



पहले कई वर्ष बन्द रही, फिर चालू हो गई थी। पूज्यश्री ने राजाजी को प्रतिबोध देकर उसे फिर से सदा के लिए बन्द करवादी।

बदनौर के ठाकुर साहब भी गुरुदेव श्री के अनन्य भक्तों में से एक थे। उन्होंने गुरुदेवश्री के बदनौर पदार्पण के अवसर एक सौ बीस गाँवों में अगता पलाया।

झाड़ौल चातुर्मास में नवरात्रि के अवसर पर कई बलिदान होने वाले थे। पूज्यश्री का वहीं चातुर्मास था। पुजारी पूज्यश्री के उपदेशों से प्रभावित था। भाव (शरीर में देवता का आवेश लक्षित होता है तो उसे भाव आना कहते हैं) में आकर उसने उपस्थित जन-समुदाय के समक्ष कहा कि भाइयो! यहाँ पूज्यश्री का चातुर्मास है। अतः कोई बलिदान नहीं होगा! वास्तव में वहाँ कोई बलि नहीं हुई।

राशमी में पूज्यश्री का वर्षावाम प्रवास था। वहाँ कुछ दिनों तक वर्षा नहीं हुई। परम्परागत अन्वविश्वास ऐसे अवसर पर अधिक उमर आया करते हैं। हिंसक लोगों का एक बहुत बड़ा दल एक बड़े मस्त पाड़े को लेकर नगर के निकट ही पहाड़ी पर, जहाँ देवी का स्थान है, पहुँचा।

देवी के लिये वहाँ किये जाने वाले बलिदान का तरीका भी बड़ा क्रूर था। पाड़े को काट कर उसके शरीर को ठेठ ऊपर से नीचे लुढ़का दिया जाता था। उस पाड़े का भी यही हस्त होने वाला था।

सारे नगर में इस बात की बड़ी चर्चा थी। पूज्यश्री के कान पर यह बात पहुँची। पास ही उनके एक युवक मनोहरलाल पोखरना खड़ा था। पूज्यश्री से प्रेरित हो वह तत्काल पहाड़ी पर चढ़ गया। सैकड़ों व्यक्ति आसपास खड़े रोमांचित-से एक बीमत्स दृश्य देखने को आतुर थे। डोल-डमाके, झालर-डंके पूरी तेज रफतार से बज रहे थे। तभी मनोहरजी आगे बढ़े और एक ही झटके से रसी काटकर उन्होंने पाड़े को खुला कर दिया। वे उस विशाल जन-समूह में से पाड़े को हाँककर नीचे ले आये। बड़ी गजब की शक्ति आ गई थी उस वणिक्-युवक में।

हिंसक दल अत्यधिक क्रुद्ध होकर दौड़ पड़ा। किन्तु मनोहरजी पाड़े सहित थाने में दाखिल हो गये। थोड़ी देर बाद ही आसमान में उमड़-धुमड़कर बादल छा गये और इतने जोरों से बरसे कि धरती की सारी प्यास बुझा दी।

वर्षा तो होती ही। किन्तु यदि वह बलि दे दी गई होती तो बलि-प्रथा के प्रति विश्वास की एक नई कड़ी और जुड़ जाती।

जो जीवन निस्व-हित के लिए समर्पित हो जाता है वह उस नदी के समान बहा करता है, जो जिधर भी जाती है, दोनों किनारों को हरा-भरा कर देती है।

पूज्यश्री सचमुच सरिता के समान थे। वे जिधर चले, उधर उपकार, त्याग, तप के सैकड़ों-हजारों फूल खिलते रहे।

बदनौर ठाकुर साहब की कन्या का विवाह था। क्षत्रियों में विवाह के अवसर पर अतिशय हिंसाएँ होती हैं। पूज्यश्री बदनौर ही विराजित थे। ठाकुर साहब को विवाह में हिंसा नहीं करने का उपदेश दिया।

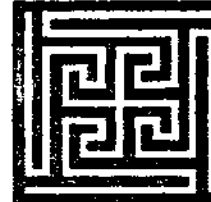
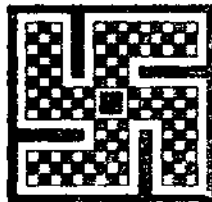
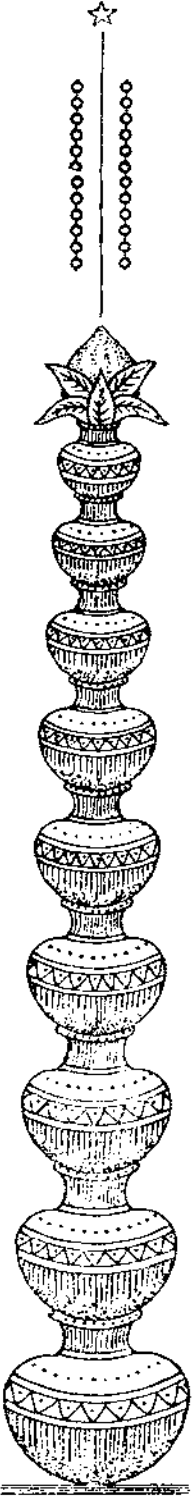
पूज्यश्री ने कहा—“विवाह से दो जीवन मिलकर बनने-बढ़ने का निर्णय करते हैं। ऐसे अवसर पर किन्हीं जीवों के बने-बनाये जीवन को नष्ट-भ्रष्ट करना अन्याय है।

ठाकुर साहब ने विवाह में जीवों की हिंसा पर रोक लगा दी। दूध और फल-फूल से बरातियों को सन्तुष्ट किया, मांस उपलब्ध नहीं किया। पूज्यश्री की थोड़ी-सी प्रेरणा से, होने वाला भयंकर हिंसाकाण्ड टल गया।

पूज्यश्री एकता के बड़े समर्थक थे। वे साधु-समाज और श्रावक-समाज में सैद्धान्तिक आधार पर सहयोगात्मक ऐक्य चाहते थे।

किन्हीं विशेष कारणों से उस समय मेवाड़ के मुनि-संघ में भेद-भाव चल रहा था। प्रतिपक्ष, जो पूज्यश्री के बढ़ते प्रभाव से खिन्न था, कई तरह के मिथ्या आरोप लगाकर मनस्तोष करने में लगा था। अपनी भूल कहीं है, इस बात को ढँढ़ने को कोई तैयार नहीं था। आरोपों का वातावरण था। पूज्यश्री शासन-हित में सब कुछ सहते रहते थे।

पूज्यश्री के शान्तिपूर्ण व्यवहार से सारा समाज बड़ा प्रभावित था। फलतः जो पक्ष आरोप लगाने में व्यस्त था, उसे विकट सामाजिक प्रतीकार का सामना भी करना पड़ता। क्रिया की प्रतिक्रिया होती ही है।



जो कुछ चल रहा था, इससे पूज्यश्री प्रसन्न नहीं थे। वे मेवाड़ के मुनि और उपासकों में एकत्व देखना चाहते थे।

पूज्यश्री ने अपने आपको कभी गलती में नहीं आने दिया। उन्होंने पारस्परिक भेदभाव को मिटाने के कई बार यत्न भी किये।

ऐसा भी अवसर आया कि पूज्यश्री अपने समस्त महत्त्व को एक तरफ धरकर दूसरे के स्थान पर भी चले गये।

बहुत लम्बे समय तक प्रयत्न को पूर्ण सफलता नहीं मिली। किन्तु 'जूणदा' में एक अवसर ऐसा भी आया मेवाड़ के मुनि-समाज का पारस्परिक विग्रह बड़े सौहार्द्रपूर्ण वातावरण में समाप्त हो गया।

इस अवसर पर पूज्यश्री ने जहाँ बड़ी शालीनता और आत्मीयता का परिचय दिया, वहाँ श्रद्धेय समादरणीय श्री मांगीलालजी महाराज साहब ने भी समुचित नम्रता तथा हादिकता का परिचय दिया। इस तरह मेवाड़ में जो एक अप्रिय प्रसंग चल रहा था, वह समाप्त हो गया।

पूज्यश्री मुनि-समाज को एक सूत्र में पिरोकर समाज के आध्यात्मिक अभ्युदय में इस शक्ति का उपयोग करना चाहते थे, किन्तु जूणदा में जिस एकता का सूत्रपात हुआ, वह ऐक्य आशानुरूप प्रतिफल नहीं लाया। कारण जो भी रहे हों, उन्हें स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं। मेवाड़ का धार्मिक जगत उन परिस्थितियों से प्रायः परिचित है ही। ऐक्य उभय पक्षस्पर्शी सिद्धान्त है। एक पक्ष चाहकर भी ऐक्य का निर्माण नहीं कर सकता, जब तक अपर पक्ष सहयोग न दे। जहाँ तक पूज्यश्री का प्रश्न है, वे ऐक्य के लिए सदा-सर्वदा तैयार रहे। उसी का परिणाम था कि वर्षों का वैमनस्य एकबारगी तो धुल गया।

पूज्यश्री सारे साधु-समाज में एकता चाहते थे। किन्तु साथ ही उनके कुछ आग्रह भी थे। उनका आग्रह किसी पद या सम्मान का नहीं था, कतिपय विशेष मान्यताओं को लेकर था। उन मान्यताओं को वे कहीं भी कसीटी पर चढ़ाने को तैयार थे। वे यह भी कहते कि कोई यदि मेरी मान्यता को असत्य सिद्ध कर दे तो मैं त्याग करने को भी तत्पर रहूँगा। किन्तु जीवन भर उन्हें कोई असत्य नहीं कर पाया और पूज्यश्री उन पर डटे रहे।

स्थानकवासी जैन मुनियों का मारवाड़ सावड़ी में बृहद् सम्मेलन हुआ था। पूज्यश्री बड़ी हादिकता के साथ अपनी कई परम्पराओं और आचार्य पद का त्याग कर ऐक्य हेतु उसमें मिल गये। किन्तु संवत्सरी आदि की कुछ ऐसी मान्यताएँ थीं, जिन्हें उन्होंने तब भी नहीं छोड़ा था। इतना ही नहीं, श्रमण संघ ने ही बड़े स्नेह के साथ उन मान्यताओं को स्वीकार किया। यद्यपि श्रमण संघ का स्वीकार करना केवल ऐक्य हेतु था ऐक्य हेतु ही सही, किन्तु जो कुछ माना उसके लिए सचमुच संघ साधुवाद का पात्र है।

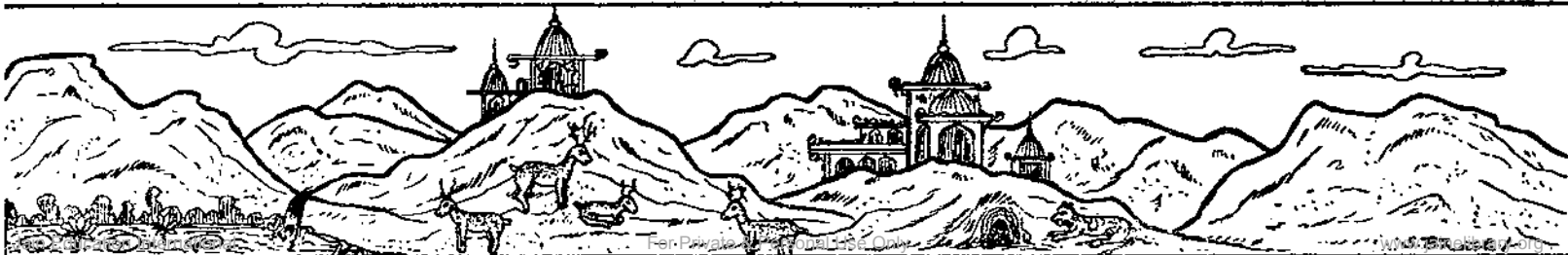
पूज्यश्री श्रमण संघ में जाने-पहचाने महत्त्वपूर्ण सन्त-रत्न थे। बड़े ही सम्मान के साथ श्रमण संघ ने उस समय उन्हें 'मन्त्री' पद से विभूषित किया। इस पद पर पूज्यश्री अन्तिम समय तक बने रहे और कार्य करते रहे। इस बीच श्रमण संघ कई कठिनाइयों के दौर से गुजरा। कई सम्प्रदायें टूटकर पुनः अलग खड़ी हो गयीं। पूज्यश्री पर भी दबाव डाला गया। आग्रह किया गया अलग होने को। किन्तु पूज्यश्री ने कहा—'हाँ' करके 'ना' करना मेरा कार्य नहीं है। संघ में मिलते समय 'हाँ' कर दिया तो अब 'हाँ' ही रहेगा। मैं तो 'ना' नहीं कर सकता। जहाँ तक समस्याओं का प्रश्न है, पूज्यश्री उनको आपस में बैठकर सुलझाने को महत्त्व दिया करते थे।

पूज्यश्री श्रावक समाज को एक बनाये रखने के हिमायती थे। यही कारण है कि उन्होंने जहाँ कहीं भी फूट देखी, अपने प्रभाव का प्रयोग कर उसे मिटा दिया।

डूंगला, बम्बोरा, वल्लमनगर आदि पचासों गाँवों के तड़े-तजाने पूज्यश्री ने उपदेश देकर श्रम करके मिटा दिये।

पूज्यश्री गलत परम्पराओं को तोड़ने का कार्य भी किया करते थे।

मेवाड़ के ही कुछ गाँवों में कुछ एक ऐसे परिवार थे, जिन्हें गाँवों के व्यक्ति अछूत से भी बदतर समझते थे। लोगों की मान्यता थी कि उस परिवार में 'डाइन' का वास है। किन्तु ये बातें लगभग झूठी और अन्धविश्वासपूर्ण थीं। पूज्यश्री ऐसी बातों का घोर विरोध करते थे। परिणामस्वरूप कई परिवार, जो उस स्थिति में जी रहे थे, मुक्त हुए।



मसूदा में कुछ राजवर्गीय घरानों में पदों का इतना भयंकर बोलवाला था कि बहनें व्याख्यान तक में वजित थीं।

उनका संसार केवल चार दिवारी तक सीमित था। किन्तु पूज्यश्री को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने इस कुप्रथा का कड़ा विरोध किया। दूसरे ही दिन बहनों का व्याख्यान में आना प्रारम्भ हो गया।

गुरुदेव सुधारवादी थे। केवल व्यावहारिक ही नहीं, आध्यात्मिक सुधार के वे बड़े पक्षधर थे और हजारों व्यक्तियों को इस तरह उन्होंने सुधारा भी।

आकोला के यादवों में मदिरापान की प्रवृत्ति अधिक थी। पूज्यश्री ने उनमें से कई भाइयों को त्याग करा दिये।

अहिंसा और जीवन-शुद्धि के क्षेत्र में पूज्यश्री को त्याग लेने वाला कोई न कोई सदस्य प्रायः मिल ही जाता था।

कई गाँवों में तो अष्टमी, एकादशी आदि तिथियों को पूरे गाँव में अगता रखने की पद्धतियाँ स्थापित की गयीं, जो आज भी चल रही हैं।

पूज्यश्री का आध्यात्मिक अभ्युदय बड़ा प्रभावशाली था। नर ही नहीं, कहीं-कहीं तो पशुओं तक में पूज्यश्री के प्रति भक्ति देखी गई।

मसूदा में पूज्यश्री जंगल की ओर पधार रहे थे। मार्ग में मसूदा दरवार का हाथी बँधा था। पूज्यश्री के पास आते ही हाथी नतमस्तक हो गया। सूँड को भूमि पर लम्बायमान करके उसने नमस्कार किया। सभी मुनिराज यह देखकर आश्चर्य कर रहे थे कि गजराज ने घास का एक पूला पूज्यश्री के पाँवों में रख दिया। पूज्यश्री ने कहा— गजराज ! यह हमारा खाद्य नहीं है ! हाथी ने उस पूले को लेकर अपने सिर पर चढ़ा लिया। पूज्यश्री मुड़कर आगे बढ़े तो गजराज उधर ही मुड़कर लगातार पूज्यश्री की तरफ देखता रहा।

यह अद्भुत दृश्य था। मुनि तो देख ही रहे थे, साथ ही कई अन्य भाइयों ने भी यह दृश्य देखा।

पूज्यश्री जिस परम्परा के मुनि हैं, उस परम्परा के लिए यह घटना कोई बड़े आश्चर्य की नहीं। क्योंकि इसी परम्परा के एक बहुत बड़े तपस्वी रोड़जी स्वामी को कभी उदयपुर में हाथी ने मोदक बहराया। सांड ने गुड़ का दान दिया। जिस परम्परा में पशुओं तक के प्रति ऐसा एकात्मभाव चला आया हो वहाँ हाथी वन्दन कर अभ्यर्थना करे तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं।

पूज्यश्री स्थानकवासी जैन सिद्धान्त के प्रति बड़े आस्थावान तथा गौरवानुभूति से ओतप्रोत थे। किन्तु अन्य सम्प्रदायों के प्रति उनके मन में कोई द्वेष नहीं था।

अपने व्याख्यानों में वे प्रायः कई धर्म ग्रन्थों से कथानक तथा उद्धरण दिया करते थे। वे अन्य धर्म सम्प्रदायों का कभी तिरस्कार नहीं करते थे। यथासम्भव सभी के प्रति मेल-जोल के विचारों का प्रचार करते थे।

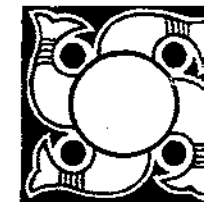
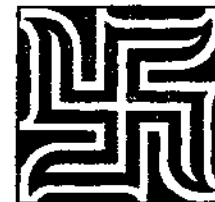
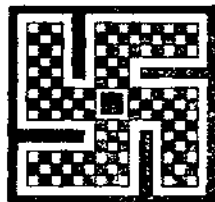
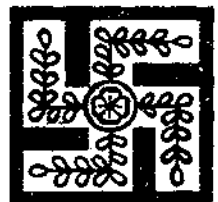
हाँ, यदि कोई उनकी मान्यता पर प्रहार करता तो वे शिष्ट प्रकार से उसका परिहार अवश्य करते।

एक बार खेरोदा में पड़ौसी सम्प्रदाय के एक आचार्य का अपने साधु संघ के साथ आगमन हुआ। वहाँ उनके अनुयायियों का कोई निवास नहीं था। पूज्यश्री वहीं थे। उन्होंने दो श्रावकों को कहा कि आगत साधु संघ की सेवा का ध्यान करो। श्रावक वहाँ पहुँचकर आवश्यक आग्रह करने लगे।

साधु संघ के आचार्य ने पूछा—तुम्हारे यहाँ कौन साधु है ? उपासकों ने योग्य उत्तर दे दिया। उन्होंने फिर पूछा—क्या मोतीलालजी कुछ पढ़े लिखे भी हैं ? उपासकों ने कहा—यह परीक्षा तो केवल आप ही कर सकते हैं। हम तो केवल आहारादि की पृच्छा करने आये हैं। उपासक पुनः पूज्यश्री के पास आये और सारा प्रसंग कह सुनाया।

पूज्यश्री ने कहा—सद्भावना का यह पुरस्कार दिया। खैर ! अब यदि उन्होंने मेरे ज्ञान-ध्यान को जानने का प्रश्न ही कर दिया तो मैं भी चर्चा के लिए आग्रह करता हूँ।

तुम जाकर उन्हें जानकारी दे दो। उपासकों ने जाकर कहा तो वे इसके लिए तैयार नहीं हुए और विहार कर दिया। पूज्यश्री भी उसी दिशा में बढ़ गये। वह चर्चाओं का युग था। पूज्यश्री चर्चा करने को आमादा थे। किन्तु तथाकथित आचार्य इसके लिए तैयार नहीं हुए। विहार-क्रम आगे से आगे चलता रहा। अन्ततोगत्वा सादड़ी में उन्हीं



के प्रमुख उपासकों ने आकर कहा कि हमारे महाराज चर्चा नहीं करना चाहते। तभी पूज्यश्री ने पुनः मेवाड़ की ओर विहार किया।

उक्त प्रसंग से यदि कोई यह निष्कर्ष निकाले कि पूज्यश्री कट्टर सम्प्रदायवादी थे तो यह सोचना उनके प्रति अन्याय होगा।

यूँ वे एक सम्प्रदाय के आचार्य थे। फिर भी उनके विचारों में अन्य सम्प्रदायों के प्रति समादर के भाव थे। तभी अपने उपासकों को अन्य सम्प्रदाय के आचार्य की सेवा में भेजा तथा उनकी आहारादि की पृच्छा कराई। यदि नितान्त कट्टर होते तो ऐसा ही नहीं सकता।

अपने सिद्धान्तों के प्रति वफादारी उनमें अवश्य थी। किन्तु अन्य के प्रति द्वेष नहीं था। इतना ही नहीं। वे पारस्परिक स्नेह भाव के समर्थक थे। साम्प्रदायिक कट्टता के वे विरोधी थे।

स्थानकवासी समाज की उपसम्प्रदायों के विषय में भी उनका कहना था कि सभी को एक-दूसरे का आदर करते हुए प्रेम से रहना चाहिए। शहरों में होने वाले साम्प्रदायिक भेदभावों से उन्होंने मेवाड़ के समाज को बहुत दूर तक बचाये रखा।

उनका अभिमत था कि साधु समाज की एकता के लिए अग्रगण्य मुनियों को स्वयं निर्णय करना चाहिए। गृहस्थों की बातों में आकर चले तो समाज की एकता नहीं रह सकती।

बनेड़िया में पूज्य उपाचार्य श्री गणेशीलालजी महाराज साहब पूज्यश्री के दर्शनार्थ पधारे। तब श्रमण संघ बना ही था। पूज्यश्री मन्त्री पद पर थे। दोनों का छोटे-बड़े भाई जैसा बड़ा मधुर मिलन रहा।

दो दिन बाद जब पूज्य उपाचार्य श्री विहार करने लगे तो उन्होंने वन्दन करते हुए बड़े ही नम्रभाव से कहा कि मुझे आशीर्वाद दो कि संघ ने जो भार सौंपा वह निभ जाए।

इस पर पूज्यश्री ने कहा कि गणेशीलालजी, लाल-पीली पगड़ियों वालों की बातों में मत आना। यदि इस बात का ध्यान रखा तो तुम्हारे नेतृत्व में श्रमण संघ फलेगा-फूलेगा।

पाठक इससे समझ गये होंगे कि उनका यह संकेत कितना सार्थक तथा उपयोगी था। आज संघ की जो भी स्थिति बनी उसके पीछे उपासकों का सम्प्रदायवाद प्रमुख रहा। इसमें कोई सन्देह नहीं। मुनिजन भी उस प्रवाह में बहते गये।

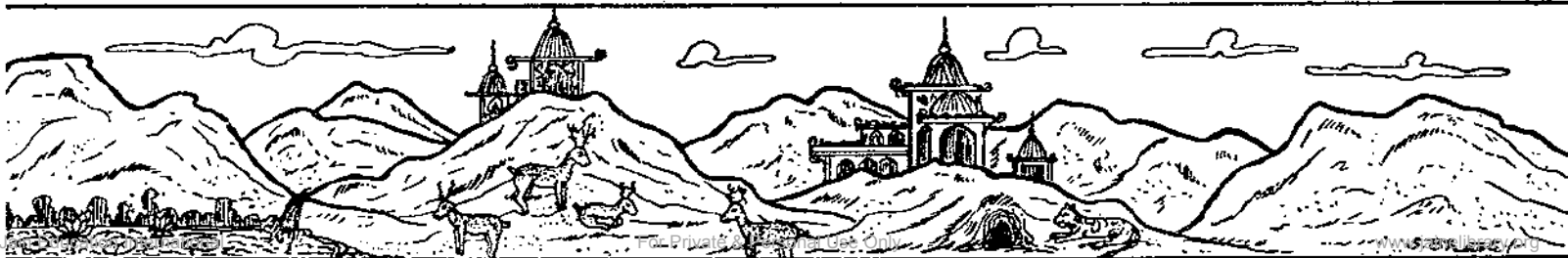
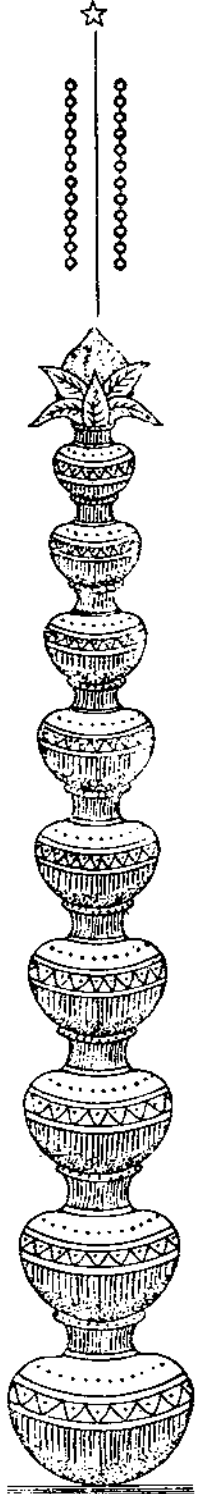
जीवन की उत्क्रान्ति एक वलय लेकर बढ़ती है। उसका अपना प्रभाव होता है। जो भी उस वलय की परिधि में आ जाता है, प्रभावित हुए बिना नहीं रहता। कहते हैं, भगवान के समवसरण में सिंह और बकरी भी निकट बैठकर वाणी रस का पान किया करते थे। ये परस्पर मक्षक और भक्ष्य हैं। किन्तु प्रभु का प्रभावलय इतना उत्कृष्ट प्रभावक होता है कि सिंह भूखा भी बैठा रहेगा, किन्तु अपने भक्ष्य की तरफ लक्ष्य नहीं करेगा।

किसी भी व्यक्तित्व का यह आध्यात्मिक प्रभाव होता है, जो केवल अन्तर्जगत का विषय है। व्यक्तित्व की अनोखी प्रभविष्णुता पर तर्क किया जा सकता है, इसमें कोई सन्देह नहीं; किन्तु आश्चर्यजनक जो हो जाता है, वह तो हो ही जाता है, तर्क भी उसे होने से रोक तो नहीं सकता।

कहते हैं, भगवान शान्तिनाथ के जन्म के पूर्व ही मृगी रोग समाप्त हो गया जो उधर व्यापक रूप से फैला हुआ था।

भगवान तीर्थंकर जिधर निकलते हैं, दूर-दूर तक स्वस्थता का एक नया वातावरण बनता जाता है। पर ऐसा होता क्यों है? इस 'क्यों' का सामान्यतया कोई उत्तर नहीं। यह अन्तर्जगत का विषय है, बाह्य परिप्रेक्ष्य में जीने वाला साधारण मानव इस अलौकिक-आन्तरिक शक्ति की थाह पा नहीं सकता।

पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज एक बार गिरलूड में विराजित थे। डाकुओं का एक शक्तिशाली दल गाँव को लूटने के लिए चला आया। किन्तु डाकुओं के सरदार ने ज्यों ही उस गाँव में पूज्यश्री को उपस्थित देखा, तत्काल वहाँ से चल पड़ा। उस दिन उन्होंने 'काबरा' गाँव को लूटा।



वल्लभनगर के दस-बीस सज्जन पूज्यश्री के दर्शनार्थ गिल्लूड बैलगाड़ियों द्वारा जा रहे थे। मार्ग में काबरा माँव आता है। गाड़ियों को देखते ही डाकुओं ने घेर लिया। सरदार आया, उसने पूछा—कहाँ जा रहे हो? गाड़ीवान ने कहा—गिल्लूड हम चौथमलजी महाराज साहब के दर्शन करने जा रहे हैं। सरदार ने उसे एक झपट लगा दी। इतने में गाड़ी में से किसी महाजन ने कहा—हम मोतीलालजी महाराज साहब के दर्शन को जा रहे हैं। डाकू ने कहा—तुम्हारा कहना ठीक है। गिल्लूड में पूज्य मोतीलालजी महाराज हैं, मैं देखकर आया हूँ। यह डाका गिल्लूड में पड़ने वाला था, किन्तु महाराज वहाँ ठहरे हुए हैं इसलिए हम वहाँ से हटकर यहाँ आ गये। सरदार ने आगे कहा—तुम सभी यहाँ रुक जाओ। एक जाजम बिछाकर सभी को बिठा दिया। महाजन अपने सोने के बटन, कड़े और गोपडोरे छुपाने लगे। डाकू सरदार ने कहा—तुम व्यर्थ क्यों छुपा रहे हो? हम लेना चाहेंगे तो बन्दूक की नोक पर सब निकलवा लेंगे। किन्तु हमें लेना नहीं है। आप लोग महाराज के दर्शन करने जा रहे हैं। गुरुदेव के दर्शनों को जाने वालों को हम नहीं लूटा करते। जब डाका पूरा हुआ, बड़े प्रेम से उन्होंने महाजनों को विदा दी।

घटना आश्चर्यजनक लगती है। किन्तु अध्यात्म का मी अपना अलग प्रभाव होता है, जो अचिन्त्य और अमित होता है।

ऐसा ही चमत्कारिक एक उदाहरण तत्र मिला, जब जयपुर निवासी जौहरी नौरत्नमलजी काशीनाथजी वाले किसी संगीन अपराध के मामले में फँस गये। उन्हें बचने की कोई आशा नहीं थी। वे मानते थे कि थोड़े ही दिनों में जब केस का निर्णय सुनाया जायगा, मैं जेल के सींखचों में बन्द मिलूँगा। वे बड़े सोच में थे।

निर्णय का दिन था। पूज्यश्री वहीं विराजमान थे। बड़ा भारी मन लेकर वे मांगलिक सुनने को स्थानक आये। मांगलिक लेकर अदालत में पहुँचे। निर्णय जो हुआ, वह कम आश्चर्यजनक नहीं था। नौरत्नमलजी बाइजजत बरी कर दिये गये।

नौरत्नमलजी का मन-मथूर नाच उठा। दौड़कर वे पूज्यश्री के चरणों में पहुँचे। चरण चूमने लगे। स्तुति करते हुए उन्होंने सारी बात बताई।

घर जाकर पाँच हजार रुपये लेकर आये और कहने लगे—ये धर्म के लिए निकाले हैं, कहाँ लगाऊँ? पूज्यश्री ने कहा—जहाँ उपकार हो।

नौरत्नमलजी ने पाँच हजार रुपये जैन कन्याशाला जयपुर में लगाये।

पूज्यश्री की जन्म-भूमि दीक्षा-भूमि और निर्वाण-भूमि यद्यपि मेवाड़ रही, किन्तु कार्य-क्षेत्र, विचरण-क्षेत्र केवल मेवाड़ तक सीमित नहीं था वह व्यक्तित्व ऐसा नहीं था कि किसी सीमा में आबद्ध हो सके।

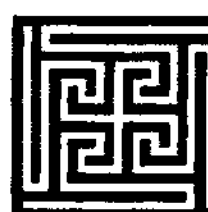
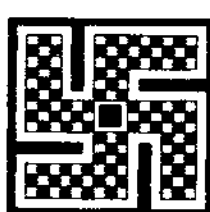
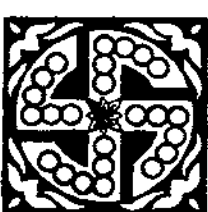
पंजाब में रावलपिण्डी (वर्तमान में पाकिस्तान), महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, मध्य प्रदेश, हरियाणा, गुजरात आदि—दक्षिण के कुछ-एक प्रदेशों को छोड़कर—लगभग पूरे भारतवर्ष में पूज्यश्री का बड़ा सुन्दर विचरण रहा।

पूज्यश्री के विचरण-क्षेत्र को देखते हुए उनकी विशाल घुमक्कड़ प्रकृति का परिचय मिलता है। सचमुच जैन-समाज के अच्छे से अच्छे उग्र विहारी मुनियों में पूज्यश्री का नाम अग्रगण्य रहेगा।

जीवन के आखिरी २२ वर्षों तक मेवाड़ सम्प्रदाय के शासन का बड़े सुन्दर ढंग से संचालन किया। इस बीच कई दीक्षाएँ पूज्यश्री के हाथों सम्पन्न हुईं। हजारों उपकार हुए। धर्मसंघ पूज्यश्री के नेतृत्व में फला-फूला। श्रमण संघ बनने पर मन्त्री पद के दायित्व का निर्वाह निर्भीकता से किया।

पूज्यश्री का पूरा जीवन लगभग अप्रमत्त रहा। वर्षों तक एक समय भोजन किया करते और वह भी ठण्डा और रुक्ष। लगभग प्रतिदिन पाँच-छह कमी-कमी सात-सात घण्टे पूज्यश्री लेखन कार्य किया करते। उनके हाथों लिखी सैकड़ों प्रतियाँ आज उपलब्ध हैं। वे उनके अप्रमत्त जीवन की प्रमाण हैं।

पिछले पृष्ठों में पूज्यश्री मोतीलालजी महाराज साहब के जीवन के सामान्य परिचय के साथ विशिष्ट घटनाओं का कुछ-एक परिचय दिया है।



वास्तव में किसी महापुरुष का पूर्ण परिचय देना किसी सागर की महराई की भाँह पाने जैसा है। समुद्र केवल लहराता है। पूज्यश्री भी संयम के पचपन वर्ष तक केवल लहराये। अनगिनत व्यक्ति उस विशाल सरोवर के निकट आये और तृषा बुझाकर गये।

जीवन के अन्तिम वर्षों में देलवाड़ा पाँच वर्षों तक गुरुदेवश्री स्थानापन्न रहे तो देलवाड़ा तीर्थ सा बन गया।

वि० सं० दो हजार पन्द्रहवें वर्ष के द्वितीय श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को सायं पौने सात बजे पूज्यश्री का स्वर्गवास हुआ।

देहावसान के अन्तिम समारोह के अवसर पर लगभग दस हजार जनता की उपस्थिति यह बता रही थी कि पूज्यश्री वास्तव में मेवाड़ की धर्मप्रेमी जनता के श्रद्धेय, पूज्य तथा आराध्य थे।

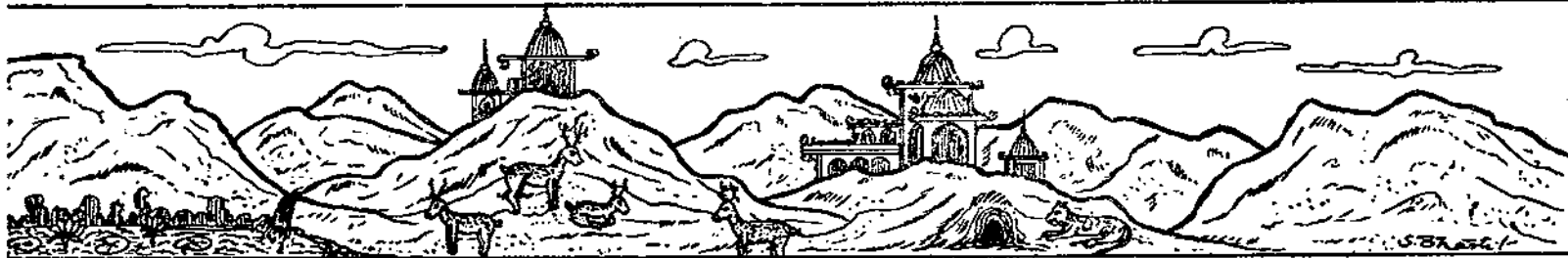
अन्त में देलवाड़ा रावजी राजराणा खुमानसिंहजी के दो श्रद्धा-पुष्प, जो मेरे हार्दिक भावों का भी प्रतिनिधित्व हैं, प्रस्तुत करता हुआ लेखनी को विश्राम देता हूँ:—

काना मोती पहरिया, गले पहरिया लाल।
शब्द हृदय में थारिया, किम भूलाँ मोतीलाल ॥
और खामी मिटे सही, जोड़्याँ मोती-लाल।
खामी मोटी किम मिटे, थाँ विन मोतीलाल ॥

दूसरों को बुरा बताकर खुद को अच्छा सिद्ध करने की चेष्टा करना नादानाई है। अपनी अच्छाई से ही स्वयं को अच्छा सिद्ध करो। दूसरों की बुराई से कभी अपनी अच्छाई सिद्ध नहीं हो सकती।

मोटे-ताजे व्यक्ति अपना वजन घटाने की चेष्टा करते हैं, दुबले-पतले व्यक्ति वजन बढ़ाने की। इससे क्या यह पता नहीं चलता कि जीवन में अतिभाव और अभाव दोनों ही त्याज्य हैं, समभाव (सम-स्थिति) ही सुखदायी है।

—‘अम्बागुरु-सुवचन’





पूज्य आचार्य श्री एकलिंगदासजी महाराज के योग्यतम शिष्य-प्रशिष्यों में एक नाम परम श्रद्धेय श्री जोधराज जी महाराज का भी आता है ।

श्री जोधराजजी महाराज का जन्म देवगढ़ के निकट तगड़िया ग्राम में सं० १९४० के आसपास हुआ था । इनकी माता का नाम चम्पाबाई तथा पिता श्री मोतीसिंहजी थे । ये क्षात्रानुवंशीय थे । बाल्यावस्था में ही माता-पिता का वरदहस्त उठ जाने से श्री जोधराजजी को संसार की अस्थिरता का भान हो गया ।

आत्मकल्याणी सुन्दर भावना के अनुरूप आप किसी सुयोग्य गुरु की खोज में थे ।

संयोगवश राजकरेड़ा में किसी रामस्नेही सन्त से आपका सम्पर्क हो गया । त्याग की उत्कृष्ट भावना से वहीं राम भजन करने लगे ।

वैराग्य के मार्ग में जो तत्त्व चाहिए, वह उन्हें मिल नहीं पाया तो सन्तुष्टि नहीं हुई । वैराग्य में भी एक भूख जगती है, वह जिज्ञासा कहलाती है । निरन्तर मोक्ष मार्ग को जानना और साधना साधक का लक्ष्य रहता है ।

रामस्नेही सन्त ने स्वयं जोधराज की आन्तरिक भावना को समझा । उन्होंने ऐसा सत् परामर्श दिया, जिसने श्री जोधराज के जीवन में ज्योति जगादी । उन्होंने श्री जोधराजजी को पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज, जो उन दिनों वहीं विराजमान थे, के पास जाने के लिये कहा । उन्होंने कहा कि जैन मुनि नितान्त आत्मसाधक होते हैं, वहाँ तुम्हें आत्म लाभ प्राप्त हो सकेगा ।

एक रामस्नेही सम्प्रदाय का सन्त एक मुमुक्षु को जैन मुनि के पास भेजे, यह साम्प्रदायिक सद्भाव का अद्भुत नमूना है ।

युवक जोधराजजी ने इस योग्य परामर्श का तत्काल अनुपालन किया और पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज के पास पहुँचे । यहाँ मुनिचर्या और आत्म-साधना का सुन्दर वातावरण देखकर श्री जोधराजजी को बड़ा आनन्दानुभव हुआ ।

श्री जोधराजजी को ऐसा लगा मानों जिसे खोज रहे थे, वह मिल गया । वे तन्मय होकर वहाँ जानाराधना करने लगे ।

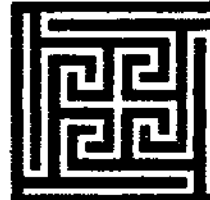
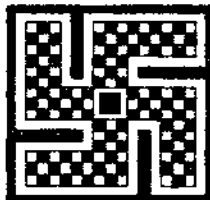
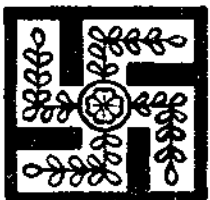
मुनिचर्या आदि का समुचित ज्ञान हो जाने पर सं० १९५६ मार्गशीर्ष शुक्ला अष्टमी के दिन रायपुर में श्री जोधराजजी ने आत्मकल्याण स्वरूप जैनेन्द्रिया दीक्षा ग्रहण की । आपने श्री कस्तूरचन्दजी महाराज का शिष्यत्व ग्रहण किया । श्री कस्तूरचन्दजी महाराज पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज के शिष्य थे ।

पूज्य श्री के सान्निध्य में जानाराधना के साथ तपाराधना का क्रम भी चलता रहा । 'अनमोल रत्न' के लेखक के अनुसार स्वामीजी सायंकाल को उष्ण आहार नहीं करते थे । यह क्रम चौदह वर्ष चला । एकान्तर, बेला, तेल, पाँच, आठ आदि तपश्चर्या की आराधनाएँ भी कीं ।

श्री जोधराजजी महाराज अच्छे वक्ता और गुरुसेवानिष्ठ थे ।

स्व० श्री कन्हैयालालजी महाराज आपके ही शिष्य थे । आपने अनेकों आत्माओं को सन्मार्ग में स्थापित किया ।

कुल ४२ वर्ष संयम पालन कर वि० सं० १९९८ आश्विन शुक्ला पंचमी शुक्रवार को कुंवारीया में आपका समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ ।



सरल-हृदय श्री भारमलजी महाराज

□

आचार्य श्रीमानजी स्वामी विरचित एक दोहा है—

“गुरु कारीगर सारखा, टांकी वचन समेत ।

पत्थर की प्रतिमा करे, पूजा लहे सहेत ॥

पत्थर भी किसी अच्छे कारीगर के हाथों में पहुँच कर प्रतिमा बन जाया करता है । ठीक यही बात चरितार्थ हुई, सरल आत्मा श्रद्धेय गुरुदेव श्री भारमलजी महाराज साहब के विषय में ।

सिन्दु, मावली जंक्शन के निकट एक छोटा-सा कस्बा है, यही स्वामीजी का जन्म-स्थान है । संवत् उन्नीस सौ पचासवें वर्ष में श्री भैरूलालजी बड़ाला की सुपत्नि श्रीमती हीराबाई ने एक पुत्ररत्न को जन्म दिया । वही छोटा सा अनजाना व्यक्तित्व, कुल बीस वर्ष बाद श्री भारमलजी महाराज साहब के नाम से अभिव्यक्त हुआ ।

श्री भारमलजी महाराज का बचपन यद्यपि बहुत बड़ी सम्पन्नता में व्यतीत नहीं हुआ किन्तु श्रमनिष्ठा होने के कारण अभावग्रस्तता उन्हें दीन और अकर्मण्य नहीं बना सकी ।

श्री भारमलजी महाराज, को असमय में माता-पिता का वियोग सहना पड़ा किन्तु हिम्मती होने के कारण अपने पथ पर अविचल बढ़ते रहे । अपनी सरल प्रकृति के कारण श्री भारमलजी बचपन से ही बड़े लोकप्रिय हो गये । उनका हृदय बचपन से ही अत्यन्त उदार था ।

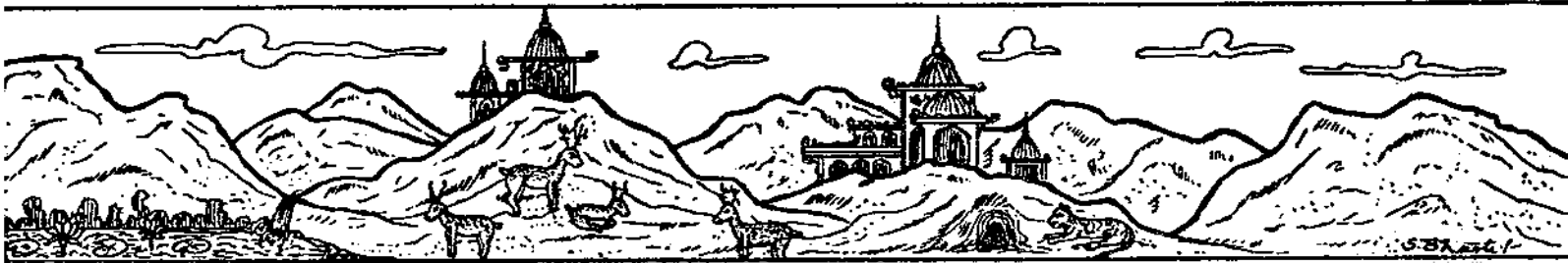
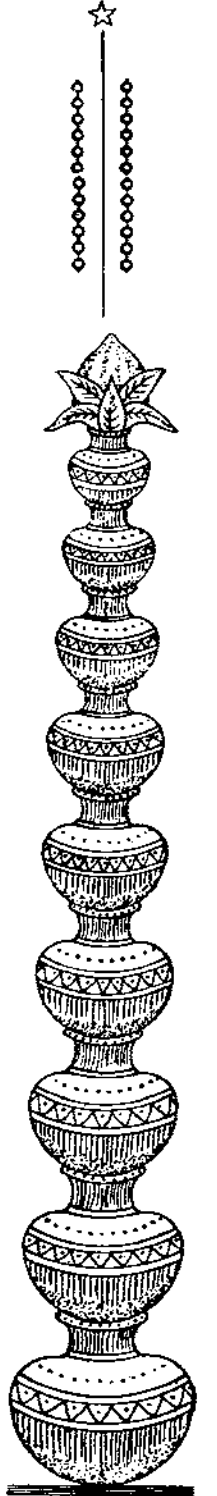
वैराग्य

एक युग था जब घोड़े और ऊँट ही यातायात के प्रमुख साधन थे । श्री भारमलजी एक ऊँट पर दरोली आये । ऊँट पर ही उनका आना-जाना चलता था । दरोली के एक वृद्ध भाई ने कहा कि ऊँट ही उनके वैराग्य का कारण बना । ऊँट को खिलाने के लिये नीम और अन्य वृक्षों की डालियाँ जुटानी पड़तीं । बड़ा आरम्भ जन्य कार्य था । बड़ी संज्ञत थी यह, यों तो कई दिनों से यह चलता ही था किन्तु उस दिन न मालूम क्यों, उन्हें बड़ी परेशानी हुई । उन्होंने कहा—“मैं इन सभी संज्ञतों को छोड़ दूँगा ।” उस भाई ने कहा कि हम उस समय इस वाक्य की गहराई और दिशा को नहीं समझ पाये । हमने देखा, श्री भारमलजी ने उसी दिन ऊँट बेच दिया, बेचा भी बहुत सस्ते में । हमने पूछा, ऐसा क्यों कर रहे हैं ? उन्होंने कहा अब नया मार्ग लिया जाएगा । श्री भारमलजी सिन्दु आ गये और शीघ्र ही पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज की सेवा में पहुँच गये । आवश्यक ज्ञानाभ्यास करके संवत् उन्नीस सौ सित्तर वर्ष में पूज्य श्री के सान्निध्य में मुनि-धर्म स्वीकार कर लिया । यह दीक्षा-समारोह बड़ी चहल-पहल किन्तु सादे रूप में ‘श्यामला’ ग्राम में सम्पन्न हुआ ।

संयमी जीवन

श्री भारमलजी महाराज का संयमी जीवन सरल, उदार और मिलनसार रहा । ज्ञानान्तराय का क्षयोपशम कम था अतः प्रायः सभी की यह धारणा थी कि श्री भारमलजी महाराज में प्रवचन की योग्यता का विस्तार होना कठिन है किन्तु श्री भारमलजी महाराज अपनी धुन के इतने पक्के निकले कि सभी देखकर दंग रह गये । ज्ञानाभ्यास की ऐसी रट लगाई कि कुछ ही वर्षों में वे पाठ पर बैठकर व्याख्यान देने लगे ।

स्वामीजी के व्याख्यान में बड़ी सरलता थी । ठेठ ग्रामीण व्यक्ति भी महाराज की बात को अच्छी तरह समझ सकता था । प्रायः मध्याह्नकालीन व्याख्यान स्वामीजी का होता था । हमने कई बार देखा कि किसान लोग अपने चलते हल और बहते रेहँट-चड़स को छोड़कर उनके व्याख्यानों में दौड़ आते । ठूठ के ठूठ किसान स्वामीजी के व्याख्यानों में



आ जुड़ते थे। गहरी से गहरी धार्मिक तत्त्व की बात भी, बड़े ही मीठे मेवाड़ी तरीके से ये श्रोताओं के दिलो-दिमाग में उतार सकते थे।

स्वामीजी ने अपने आत्म-बल और व्याख्यानों के सहारे कई बड़े उपकार सम्पन्न किये। पचासों गाँवों में एकादशी पूर्णिमा के पूर्ण अगते आज भी पलते हैं, जो स्वामीजी की याद को ताजा करते रहते हैं।

जैन, हरिजन और गाडरी

स्वामीजी ने अनेकों अर्जुन बन्धुओं को जैन धर्म से अनुप्राणित किया। मोखणदा का एक-एक भंगी तथा गाडरी प्रतिदिन सामायिक की आराधना कर अन्न-जल ग्रहण करते थे। एकाजी देलवाड़ा दर्शनार्थ आये तब हमने देखा कि व्याख्यान में एक हरिजन बन्धु सामायिक करके बैठा है। पता लगाने पर ज्ञात हुआ कि वह श्री भारमलजी महाराज साहब द्वारा प्रतिबोधित उपासक है। इस तरह एक गाडरी भी बराबर धर्माराधना करता रहता है।

श्री भारमलजी महाराज बड़े लोकप्रिय सन्त थे। उनके प्रशंसकों की संख्या बहुत बड़ी थी। अधिकतर अपने निकटस्थ भक्तों में वे “भारू बा” के नाम से प्रसिद्ध थे।

पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज साहब ने एक बार बताया कि हम किसी गाँव में गये तो एक किसान के बालक ने अपने घर की तरफ दौड़कर आवाज दी—“बाई! (माँ) भारू बा आया।” यह देखकर मैंने भारमलजी को कहा—“दिलो, हमसे भी तुमको जानने वाले ज्यादा हैं।” उन्होंने अत्यन्त विनम्र होकर कहा—“यह सब आपकी कृपा का प्रतिकूल है।” यह उनकी लोकप्रियता, उदारता एवं विनम्रता का अनुकरणीय उद्धरण है। वास्तव में वे एक सरल सन्त थे।

सच्चे गुरु भक्त

स्वामीजी में एक सबसे बड़ी विशेषता गुरु-भक्ति की रही। जबसे उन्होंने पूज्य श्री के पास संयम लिया तबसे अन्तिम समय तक उन्होंने बराबर गुरु की आज्ञा का पालन किया। पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज मेवाड़ की मुनि परम्परा के उज्ज्वल रत्न थे। उनका प्रभाव भी गजब का था, किन्तु यह सत्य सिद्धान्त है कि चमकीले चन्द्र-सूर्य को ग्रहण लगा ही करते हैं। ऐसे ही पूज्यश्री के आसपास भी विरोधों के कई बवण्डर खड़े हुए, आरोपों की आँधियाँ चलीं। किन्तु पूज्यश्री अपनों के द्वारा ही चलाये गये उस विरोध में भी अविचल रहे और दृढ़ता के साथ अपने ध्येय पर बढ़ते रहे। उनकी हिम्मत असीम थी। उस कठिनाई के समय सबसे बड़ा साथ श्री भारमलजी महाराज साहब ने दिया। वे हर समय उनके साथ बने रहे। पूज्यश्री के साथ उन्होंने भारत के अधिकांश प्रान्तों में विचरण किया। कई जगह अनेकों परिषद् दोनों ने एक जुट होकर सहे। लक्ष्मण जिस प्रकार राम की सेवा निभाते रहे। ऐसा ही उदाहरण श्री भारमलजी महाराज साहब ने पूज्य श्री के साथ प्रस्तुत किया।

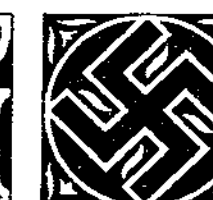
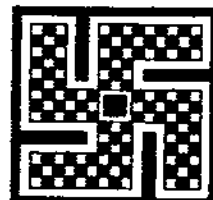
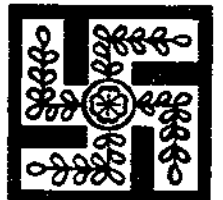
सेवा-मूर्ति

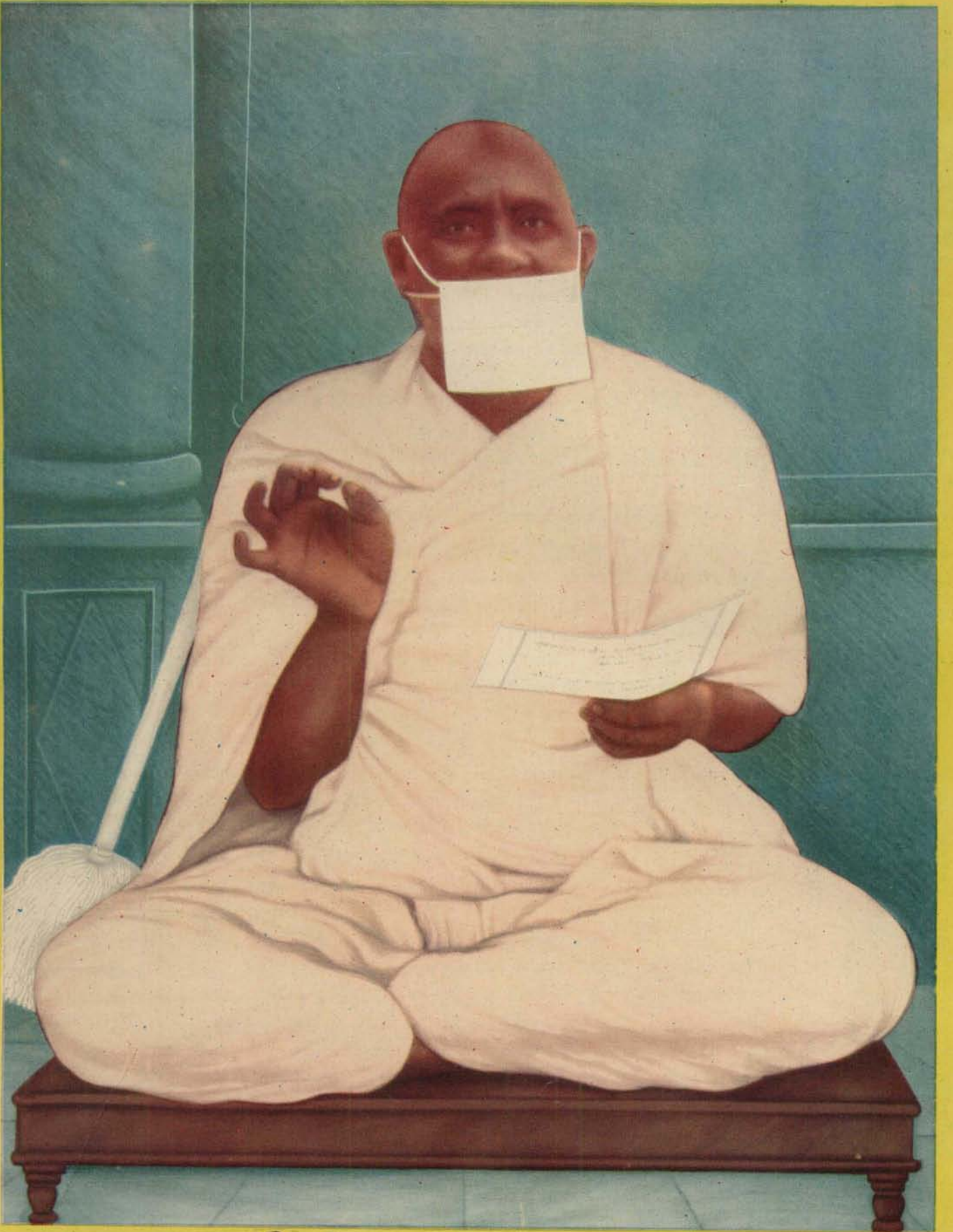
रुग्ण मुनियों की परिचर्या के विषय में स्वामीजी सचमुच वेजोड़ थे। रुग्ण मुनि चाहे किसी भी घृणित दुर्गन्धित स्थिति में क्यों न हों, ये उन्हें सभी तरह से सम्भाल लेते। यों जीवन के साधारण व्यवहार में वे अशुचि से दूर रहते। गन्दा रहना उनकी प्रवृत्ति में नहीं था किन्तु किसी रुग्ण की परिचर्या के सन्दर्भ में अशुचि उन्हें रोक नहीं सकती। वे अशुचि प्रस्त रुग्ण की अधिक तल्लीनता से सेवा करते थे। सेवा का ऐसा सुन्दर आदर्श अन्यत्र मिलना वास्तव में कठिन होता है।

पूज्य श्री भारमलजी महाराज साहब ने कुल अड़तालीस वर्ष संयमी जीवन व्यतीत किया। संवत् दो हजार अठारह में श्रावण कृष्णा अमावस्या को स्वामीजी का राजकरेड़ा में स्वर्गवास हुआ। भारू बा चले गये। जनता गम में डूब गई।

श्री भारमलजी महाराज साहब सचमुच जनता के सन्त थे। “बहुजन हिताय बहुजन सुखाय” उनका जीवन था। आज उन्हें व्यतीत हुए चौदह वर्ष हुए। किसी भी साधारण व्यक्तित्व को विस्मृति में छुपाने को चौदह वर्ष काफी होते हैं किन्तु आज भी मेवाड़ का जनमानस यदि उन्हें स्मृति पथ पर लाता है, तो स्वीकार करना पड़ता है कि वे जनमानस में गहराई तक प्रविष्ट थे।

□□





सबल स्वभावी :-

स्व. पूज्य गुरुदेव श्री आर्यमलजी महाराज

परम श्रद्धेय श्री मांगीलालजी महाराज



पूज्य आचार्य श्री एकलिंगदासजी महाराज के शिष्यपरिवार में परम श्रद्धेय श्री मांगीलालजी महाराज का नाम कई गौरवमय घटनाओं के साथ जुड़ा हुआ है।

इनका जन्मस्थान राजकरेड़ा है। श्री गम्भीरमलजी संचेती तथा श्री मगनबाई इनके माता-पिता थे। वि०सं० १९६७ पौष कृष्णा अमावस्या गुरुवार इनका जन्म-दिन था।

संयोग और वियोग की अविरल शृंखला से आबद्ध इस संसार में कुछ भी स्थायी नहीं है। कालचक्र निरन्तर अपना काम करता रहता है। वह कब किसे ग्रस ले, कोई कुछ नहीं कह सकता।

श्री गम्भीरमलजी का असमय में देहावसान हो गया। अचानक ही शिशु और उसकी माता असहाय स्थिति में चले गये।

संसार तो स्वार्थ से परिपूर्ण है, निःस्वार्थ कोई किसी की सेवा करे, ऐसे व्यक्ति प्रायः दुर्लभ होते हैं।

श्री गम्भीरमल जी के चले जाने के बाद पारिवारिक पक्ष यथोचित सेवा से हटने लगा। बच्चे का तनिहाल पोटला था। वे लोग सस्नेह सेवा साधने को तैयार थे। किन्तु श्री मगनबाई ऐसी न थी कि वह पराश्रित हो जीवन वित्ताए। कई अभावों के मध्य करेड़ा ही बच्चे का पालन-पोषण करने लगी।

सुसम्पर्क

उन्हीं दिनों परम विदुषी महासती जी श्री फूलकुंवर जी महाराज की सुयोग्य धर्म प्रभाविका महासती श्री शृंगारकुंवर जी महाराज आदि ठाणा का राजकरेड़ा में पदार्पण हुआ। श्री मगनबाई का महासती जी से यहीं सुसम्पर्क हुआ जिसने उनके जीवन को नई प्रेरणाओं से भर दिया।

महासतीजी ने सुश्राविका श्री मगनबाई को संसार की नश्वरता तथा स्वार्थपरायणता पर कई उपदेश दिये, जिनका उनके हृदय पर बहुत गहरा असर हुआ। उन्हीं दिनों मेवाड़ संघपति आचार्य श्री एकलिंगदास जी महाराज का भी वहीं पदार्पण हो गया। इस शुभ योग ने वैराग्य की ओर श्रीवृद्धि ही की।

आचार्य श्री के अन्यत्र विचरण करने पर भी माता पुत्र की वैराग्य-धारा क्षीण नहीं हुई।

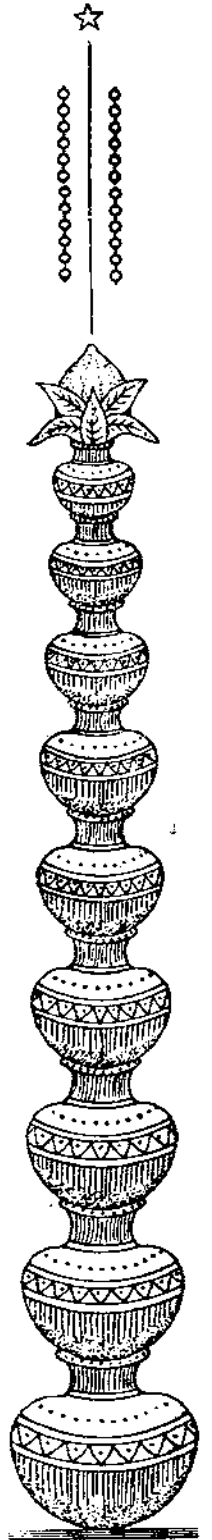
एकदा पूज्य श्री कोशीश्ल विराजमान थे। वहाँ श्री मगनबाई दर्शनार्थ पहुँची और वहीं श्री मांगीलाल जी का आज्ञापत्र पूज्य श्री के चरणों में भेंट कर दिया।

स्वयं श्री मगनबाई भी महासती जी की सेवा में पहुँचकर जानाम्यास करने लगी।

उत्कृष्ट भावनाओं का प्रवाह प्रायः अविकल बहता है। रुकावटें आती हैं, निकल जाती हैं। काका छोगालाल जी ने कई अवरोध भी खड़े किये, किन्तु उन्हें कोई सफलता नहीं मिली।

अन्ततोगत्वा वि०सं० १९७८ वैशाख शुक्ला ३ गुरुवार को रायपुर में माता और पुत्र की दीक्षा सम्पन्न हुई।

श्री मांगीलाल जी पूज्य आचार्य श्री के शिष्य तथा श्री मगनबाई वि० महासती जी फूलकुंवर जी महाराज की शिष्या बनीं।



साधना के पथ पर

संयम अपने आप में एक कसौटी होता है। प्रखर वैराग्य के बिना इस पर कोई खरा उतरे यह संभव नहीं। मुनि श्री मांगीलाल जी, जो केवल ग्यारह वर्ष के होंगे, इतनी लघुवय में भी, अच्छी लगन के साथ संयम-साधना में उतरे और हड़ता के साथ उसमें गति करने लगे।

पं० मुनि श्री जोधराज जी महाराज के पवित्र सान्निध्य में ज्ञान दर्शनाराधना के साथ-साथ अनेकों क्षेत्रों का विचरण और अनेकों नये अनुभव भी आप पाने लगे।

वि०सं० १९८९ में हुए अजमेर वृहद् साधु सम्मेलन में भी आप उपस्थित थे।

युवाचार्य पद प्राप्ति और निरस्तता

मेवाड़ सम्प्रदाय के रिक्त आचार्य-पद की पूर्ति करने के लिए मेवाड़ के चतुर्विध संघ ने पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज को मनोनीत किया तब साथ-साथ युवाचार्यपद के लिए आपका भी मनोनयन हुआ था। तदनुसार सरदारगढ़ में पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज को आचार्य पद दिया गया तब आपको भी युवाचार्य पद पर स्थापित किया।

उस समय सम्पूर्ण मेवाड़ के समाज में ऐक्य, प्रेम और वात्सल्य का सुन्दर वातावरण बना था। किन्तु पूज्य आचार्य श्री मोतीलाल जी महाराज तथा आपके बीच में अनुशासन के प्रश्न को लेकर मतभेद हो गया। अतः पूज्य श्री ने इन्हें सम्प्रदाय का भावी शासक मानने से इन्कार कर दिया। फलतः युवाचार्य पद निरस्त कर दिया गया।

ताले खुल गये

मुनि-जीवन उपकारक जीवन होता है। उसके अन्तस्तल में सेवा की लहरें कल्लोलित होती रहती हैं। श्रद्धेय मुनि श्री भी अपने जीवन में ऐसे अनेकों उपकार कर गये हैं, उनमें राजकरेड़ा का भी एक महत्वपूर्ण उदाहरण है।

स्थानीय राजाजी ने एक अस्पताल-भवन का निर्माण कराया था। उसे लेकर पंचायत और राजाजी के बीच विवाद खड़ा हो गया। राजाजी ने भवन पर अपना ताला लगा दिया तो पंचायत ने भी अपना ताला बिठा दिया।

भवन बन्द पड़ा था। लोकोपकार की एक महान् प्रवृत्ति से जहाँ सेवा स्नेह और प्रेम का वातावरण बनना चाहिए, वहाँ क्लेशपूर्ण वातावरण तैयार होता जा रहा था। मुनि श्री वहाँ पधारे। राजाजी मुनि श्री से प्रभावित थे। उन्होंने मुनि श्री को अधिक ठहरने का आग्रह किया। ठीक अवसर देखकर मुनि श्री ने भी किसी उपकार का आग्रह कर लिया। राजाजी ने कहा—आपका फरमाना होगा, वह उपकार सम्पन्न हो जायगा। इस पर मुनिश्री ने अस्पताल का ताला हटाने को कहा। यद्यपि राजाजी के लिए यह प्रश्न अहं का बना हुआ था, किन्तु मुनिश्री की इच्छा का सम्मान करते हुए अपने अहं को एक तरफ रखकर उन्होंने तुरन्त ताला खोलने का आदेश दे दिया और अस्पताल-भवन जनता को समर्पित कर दिया।

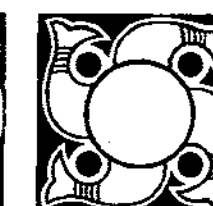
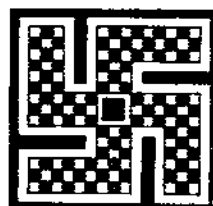
इस तरह राजकरेड़ा में जो एक क्लेश की जड़ थी, वह मूल से काट दी गई। नगर में शान्ति और प्रेम का साम्राज्य फैल गया।

अभयदान

श्रद्धेय मुनिश्री के हाथों अनेकों अभयदान के कार्यक्रम भी सम्पन्न हुए। आकड़ासादा में आपके सदुपदेश से अजैन बन्धुओं ने ३९ जीवों को अभयदान प्रदान कर दिया।

अग्य कई जगह देवी-देवताओं के वहाँ होने वाले बलिदानों को भी आपने बन्द कराया।

बारी कदमाल आदि गाँवों में कुछ ऐसे घर माने जाते थे, जिनसे समाज कोई संबंध नहीं रखता था।



पारिवारिक स्थितियों पर डायन के कलंक थे। जिस परिवार पर ऐसे आक्षेप थे, वे परिवार अत्यन्त दुःखी और वस्तु रहते थे। वे समाज में निरन्तर अपमानित होते रहते थे।

स्वामीजी ने अपने सद्बोध से उक्त गाँवों के उन परिवारों का उद्धार किया। यह उपकार भी किसी अमयदान से कुछ कम नहीं था।

फूट मिटाई

श्रद्धेय स्वामी जी जहाँ कहीं पधारते वहाँ समाज में फूट-तड़ा आदि होता तो उसे मिटाने का भरसक प्रयास करते।

पड़ासोली, अड़सीपुरा आदि ऐसे मेवाड़ में कई गाँव हैं, जहाँ की फूट स्वामी जी के प्रयत्नों से समाप्त हुई।

स्वामी जी की विचारधारा के अनुसार फूट समाज को विनाश की तरफ ले जाने वाला एक पिशाच है। यह जहाँ फैल जाता है, उस समाज का फिर बच रहना सम्भव नहीं।

श्रमण संघ से अलग

श्रद्धेय स्वामी जी यों तो एकता के प्रबल पक्षधर थे, किन्तु एक समय ऐसा भी आया जब उन्होंने श्रमण संघ से त्यागपत्र दे दिया। त्यागपत्र के पीछे कारण माइक 'लाउड स्पीकर' के प्रयोग का बताया गया।

कुछ वर्षों पहले ही लाउडस्पीकर में घड़ाघड़ बोलने वाले मुनिराजों के साथ देहली आदि क्षेत्रों में आपका घनिष्ठ सम्बन्ध रह चुका था। फिर उसी को लेकर त्यागपत्र का कारण समझ में तो नहीं आया। किन्तु विचारधारा के परिवर्तन के सिद्धान्त को मानते हुए जो कारण बताया गया उसी को तो कहा जा सकता है।

श्रमण संघ से त्यागपत्र देने के बाद आपका लगातार उससे सम्बन्ध विच्छेद रहा।

हर्ष का विषय है कि उन्हीं के मान्य शिष्य श्री हस्तीमल जी महाराज आदि तीन ठाणा पुनः श्रमण संघ में प्रविष्ट हो चुके हैं तथा अभी भाचार्य श्री आनन्द ऋषि जी महाराज के आज्ञानुवर्ती हैं।

विचरण प्रिय

मुनि श्री बड़े विचरण-प्रिय थे। उन्होंने अपने जीवन में हजारों मील की पदयात्राएँ कीं। मेवाड़, मध्य-भारत, दिल्ली प्रदेश, मारवाड़, गुजरात, बम्बई प्रदेश, महाराष्ट्र आदि दूरवर्ती प्रदेशों की यात्राएँ कर अनेकों अनुभव प्राप्त किये।

'दिव्यजीवन' (स्वामी जी के जीवन पर लिखी गई पुस्तक) के अनुसार एक जगह आपको चोरों ने घेर लिया। महाराज के पास जब उन्होंने काष्ठपात्र आदि सामान्य वस्तुएँ देखीं तो विस्मित होकर वे नम्रता पूर्वक चले गये।

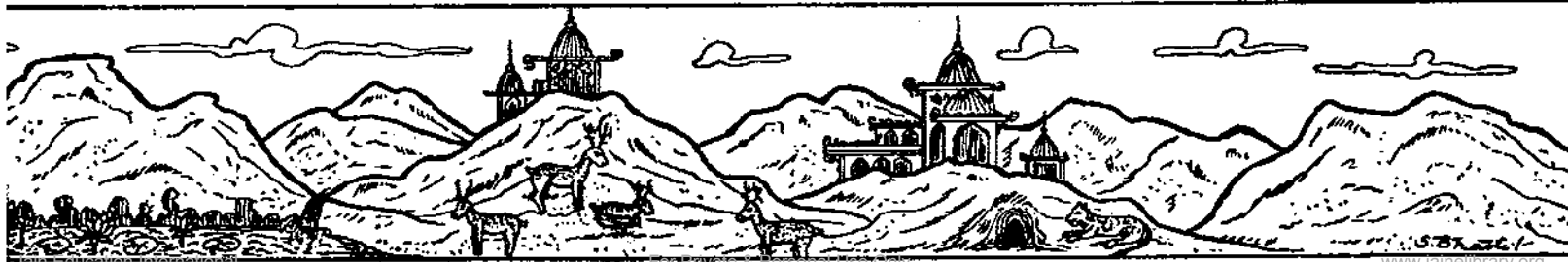
धुमकड़ जीवन में कई अनुभव होते हैं, जिनमें कुछ खट्टे होते हैं तो कुछ मीठे भी।

एक जगह स्वामी जी को ही चोर समझ लिया गया। बात यों हुई कि एक मकान में किसी वस्तु की याचना करने प्रवेश किया तो भीतर की स्त्री ने "चोर-चोर" कहकर हल्ला किया। पड़ासी दौड़कर आये किन्तु मुनि श्री को देख चकित हो गये। मुनि जी ने कहा—"मैं तो कुछ याचना को आया था।"

जैन मुनि को 'चोर' कहने वाली उस महिला को कई लोगों ने फटकारा। फिर तो वह बहुत दुखी हुई।

अब एक मीठा अनुभव भी मुनिये—स्वामी जी बाघपुरा में थे। वहाँ एक तेली के यहाँ से चाँदी के कुछ गहने चोरी चले गये। तेली परिवार बड़ी चिन्ता में था। उसने सुना कि यहाँ कोई मुनिराज आये हुए हैं। बिचारा तेली वहाँ पहुँचा और गिड़गिड़ाने लगा।

मुनिराज क्या कर सकते थे? वे तो धर्मोपदेश देते हैं। उन्होंने कहा—"मद्य-मांस आदि पापाचरण का त्याग करो, धर्म की शरण में जाओ!"



तेली परिवार ने उपदेश को हृदयंगम किया। सब को तब अत्यधिक आश्चर्य हुआ कि तेली के गहनों की पोटली उसके निवास-स्थान पर ही पड़ी मिल गई।

इस घटना से चतुर्दिक् धर्म के पुण्य-प्रताप की जाहोजलाली फैल गई।

स्वर्गारोहण

उदय के साथ अस्त शब्द जुड़ा हुआ है, जन्म के साथ मृत्यु भी। श्रद्धेय श्री मांगीलाल जी महाराज अनेकों उतार-चढ़ाव के मध्य अपने संघमी जीवन को सुरक्षित रखते हुए वीरशासन की यथाशक्ति सेवा करते रहे।

सं० २०२० ज्येष्ठ के शुक्ल पक्ष में, जब आप सहाड़ा विराजित थे, आपको अचानक टिटैनस की व्याधि हो गई। हम दो मुनि—सौभाग्य मुनि और मदन मुनि—रायपुर की तरफ से विहारकर पूज्य श्री गुरुदेव की सेवा में कपासन जा रहे थे। मार्ग में श्रद्धेय मांगीलाल जी महाराज के व्याधिग्रस्त होने की बात ज्ञात हुई तो सहाड़ा चले गये। महाराज श्री की व्याधि की भयंकरता को देखते हुए वहीं ठहरे। लगभग दिन में दो बजे महाराज श्री का समाधिपूर्वक देहावसान हो गया।

इस अवसर पर सहाड़ा संघ ने बड़ी सूझबूझ तथा तत्परता से काम लिया। अचानक यह परिस्थिति आई थी, फिर भी श्रावक संघ ने यथोचित प्रबन्ध कर अन्तिम समारोह को सफल बनाया।

श्रद्धेय श्री मांगीलाल जी महाराज गौरवर्ण और ऊँचाई युक्त एक अच्छे व्यक्तित्व के धनी, उदारमना सत्पुरुष थे। स्वभाव से भद्र और मिलनसार थे। समाज में रचनात्मक कार्यों के प्रति आपका बड़ा आग्रह रहा करता था।

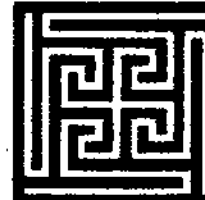
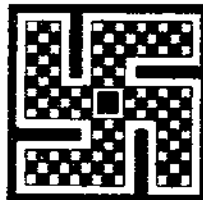
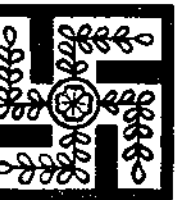
पं० रत्न श्री हस्तीमल जी महाराज, श्री पुष्कर मुनि जी तथा श्री कन्हैयालाल जी मुनि तीन उनके शिष्य हैं, जो संचरण-विचरण कर उनके गौरव की श्री वृद्धि कर रहे हैं।

□□

सूखी दीवार पर चाहे कोई मुट्टी भर धूल फेंके या मन भर, वह दीवार पर नहीं चिपक कर स्वयं ही नीचे गिर जायेगी! क्यों? कारण स्पष्ट है। दीवार में गीला या चिकनापन नहीं है।

यदि संसार में रहते हुए हमारा मन भी इसी प्रकार सूखा (अनासक्त) रहे तो बहुत सघन कर्मबन्धन से अपने आप हम बचते रहेंगे। कर्मबन्धन का मूल कारण है आसक्ति! राग-द्वेष की परिणति तथा योगों की मोह स्निग्ध स्थिति।

—'अम्बालाल-सुवचन'



मेवाड़-सम्प्रदाय की साध्वी परम्परा



महासती श्री नगीनाजी

मेवाड़ के साध्वी-समाज के इतिहास को समुज्ज्वल करने वाली प्रधान महासतियों में 'नगीनाजी' का स्थान महत्वपूर्ण है।

ये नन्दूजी महासती जी की सबसे बड़ी शिष्या थीं। नन्दूजी अपने युग की महत्वपूर्ण साध्वीजी रही होंगी। तभी उनके नाम का सिंघाड़ा कहलाता है। खेद की बात है कि हमें नन्दूजी के विषय में खोज करने पर भी कोई जानकारी नहीं मिल सकी।

नन्दूजी के नगीनाजी के अलावा कुन्दनजी और गंगाजी इस तरह दो शिष्याएँ और थीं। किन्तु उनका परिचय भी अज्ञात है।

नगीनाजी का जो कुछ परिचय मिल पाया, वह इस प्रकार है—

इतिहास रखने की पद्धति का नितान्त अभाव होने के कारण सतियों के विषय में सामयिक जानकारी मिलना तो नितान्त कठिन है।

नगीनाजी का जन्म कब हुआ, यह सुविदित नहीं है। किन्तु उनकी एक शिष्या देवकुंवरजी का अवश्य पता चलता है, जिन्होंने वि० सं० १९३३ में तपस्या की थी। महासती नगीनाजी ने बीस वर्ष की आयु में दीक्षा ली थी। उनके दीक्षा लेने के १०-१२ वर्ष बाद ही देवकुंवरजी उनकी शिष्या हुई होंगी। इस आधार पर महासतीजी का जन्म वि० सं० १९०० या १९०२ के आस-पास माना जा सकता है।

इनका जन्मस्थान पोटला था। भोपराजजी पामेवा इनके पिता थे। इनकी माता का नाम गुलाबबाई था। तेरह वर्ष की उम्र में कपासन निवासी मौजीरामजी मारु के छोटे पुत्र पृथ्वीराज जी से इनका ब्याह रच दिया गया। विवाहित जीवन केवल सात वर्ष रहा। पति का देहावसान हो गया।

परम विदुषी महासती जी श्री नन्दूजी के सम्पर्क से नगीनाजी को वैराग्य रस छाया। उन्होंने दीक्षा की बात चलाई तो एकमात्र पुत्र धनराज जी तथा उनके काका लोगों ने न केवल कड़ा विरोध किया, प्रत्युत कई कठिन परीषह भी दिये।

नगीनाजी को जब आज्ञा मिलना असंभव लगा तो उन्होंने अपना जीवन बदल दिया। गृहस्थावस्था में ही केशों का हाथों से लुंचन करना तथा भिक्षा से आहार लेना प्रारम्भ कर दिया।

नगीनाजी के इन प्रयत्नों से पारिवारिक व्यक्ति बहुत अधिक सख्त हो गए। उन्होंने नगीनाजी को लोहे की जंजीरों से बांधकर एक कमरे में बन्द कर दिया और ऊपर बड़ा ताला लगा दिया। नगीनाजी भीतर धर्म ध्यान की आराधना में लगे थे। कहते हैं, जंजीरों के बन्धन तड़ातड़ टूट गये और द्वार का ताला भी टूट गया।

अनायास ही ऐसा हो जाना, किसी बहुत बड़े चमत्कार से कम नहीं था। पूरा गाँव यह दृश्य देखकर दंग रह गया। धर्मप्रेमी सज्जनों ने पारिवारिक-जनों को समझाया कि आज्ञा नहीं देने से तुम्हारा भी कुछ अनिष्ट हो सकता है। अन्त में सभी सहमत हुए और देलवाड़ा में नगीनाजी की दीक्षा सम्पन्न हुई।

श्री नगीनाजी का शास्त्रीय ज्ञान बढ़ा-चढ़ा था। इसका प्रमाण यह है कि आमेट में शुद्ध स्थानकवासी जैन धर्म की श्रद्धा से हटे चालीस परिवारों को पुनः श्रद्धा में स्थापित किया। ऐसा भी प्रमाण मिलता है कि सरदारगढ़ में,



जहाँ उनका स्वर्गवास हुआ, स्वर्गवास से एक दिन पहले तक तेरापथियों से चर्चा में वे लगे। इससे उनके श्रुताभ्यास का विस्तृत और गहन होना पाया जाता है।

नगीनाजी के कई शिष्याएँ थीं। उनमें चन्द्रजी, भगनाजी, गेंदकुंवरजी, कंकूजी, प्यारांजी, फूलकुंवरजी, सुन्दरजी, देवकुंवरजी और सरेकुंवरजी के नाम ज्ञात हुए हैं। चन्द्रजी नगीनाजी की बड़ी शिष्या थीं, जिनके इन्द्राजी और वरदूजी नामक दो शिष्याएँ रहीं।

नगीनाजी के शिष्या-परिवार में श्री भगनाजी, प्यारांजी, कंकूजी, देवकुंवरजी, इन्द्राजी (चन्द्रजी की शिष्या) अच्छी तपस्विनी सतियाँ थीं।

श्री रंगलालजी तातेड़ ने १९३७ में एक ढाल लिखी, जिसमें इन महासतियों की तपस्या का थोड़ा परिचय मिलता है। किन्तु उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि किन-किन सतीजी ने कौन-कौन-सा तप किया। उन्होंने समुच्चय लिख दिया। किन्तु तप इनमें से ही किसी ने किया, यह तो निश्चित है।

सं० १९३३ के कपासन चातुर्मास में ७५ दिनों का तप हुआ। २४८ छुटकर खंद हुए। कहते हैं, केसर की वर्षा हुई।

सं० १९३४ में उदयपुर में ३४ और ३५ दिनों की तपश्चर्या हुई।

सादड़ी (मेवाड़), पाँच माह और ग्यारह दिनों का दीर्घ तप हुआ। १७५ मूक पशु बलि से बचाये गये। राजाजी ने कार्तिक मास में जीव-हिंसा के त्याग किये।

सं० १९३६ में खेरोदा में ६६ दिनों का दीर्घतप हुआ। १२५ खंद हुए।

सं० १९३७ में आमेट में ६१, ४४ तथा ३३ दिनों के तप हुए।

सं० १९३८ में कपासन में ४९ दिनों का तप हुआ। एक सिंघाड़ा आकोला था। वहाँ ४६ दिनों का तप हुआ

सं० १९३९ में रतलाम में ३ माह, ८८ दिन तथा ३३ दिन के बड़े तप हुए।

सं० १९४१ सलोदा में ३१ दिन का तप हुआ। इसी तरह उदयपुर चातुर्मास में ३३ दिन की तपस्या हुई। सनवाड़ और ऊँठाला चातुर्मास में भी तपाराधनाएँ हुईं।

उपर्युक्त सादड़ी चातुर्मास के अवसर पर एक सती ने १३ बोल का अभिग्रह किया। उनमें कुमारिका कन्या, खुलेबाल, कांसी (एक धातु) का कटोरा, सच्चा मोती, कोरा वस्त्र, माल पर बिन्दी आदि बोल थे। श्री गोटीलालजी मेहता को स्वप्न में यह सब ज्ञात हुआ तब अभिग्रह फला।

महासती इन्द्राजी ने सनवाड़ में अभिग्रह किया कि विवाह के अवसर पर भेष जिसके शरीर पर हो उसके हाथों आहार लेना। कई दिनों के बाद यह अभिग्रह भीपाल सागर वाले कमलचन्द्रजी बापना के द्वारा फला। उन्होंने जमीकन्द का त्याग किया।

महासती इन्द्राजी अभिग्रह में सर्वाधिक रुचि रखती थीं। उन्होंने पलाना में ४५ दिन की तपस्या के पारण पर 'कांटे' का अभिग्रह लिया। इसी तरह रायपुर में मतीजा भेवे की खिचड़ी बहराए, ऐसा अभिग्रह लिया। आकोला में मूँछ के बाल का अभिग्रह लिया।

तप ही जिनके जीवन का अंग हो, ऐसी तपस्वी विभूतियाँ कई विचित्रताएँ लेकर चलती हैं, जिन्हें देख-सुनकर सामान्य व्यक्ति आश्चर्य में डूब जाया करता है।

महासती श्री धन्नाजी

पाठक श्री नगीनाजी की शिष्याओं में एक नाम कंकूजी का पढ़ चुके हैं। धन्नाजी उन्हीं की शिष्या हैं। यों कंकूजी के चार शिष्याएँ थीं—धन्नाजी, सुहागजी, सुन्दरजी और सोहनाजी।

धन्नाजी प्रथम शिष्या थीं। ये खारोलवंशी भूरजी और भगवतबाई की संतान थीं। इनका जन्मस्थान रायपुर है। सं० १९४८ के लगभग इनका जन्म हुआ था। बहुत छोटी नौ वर्ष की उम्र में महासती श्री कंकूजी के सम्पर्क से इन्हें वैराग्य हुआ। सं० १९५७ वैशाख शुक्ला तृतीया (अखातीज) के दिन कोशीयल में इनकी दीक्षा सम्पन्न हुई।



श्री धन्नाजी जिन-शास्त्रों की अच्छी ज्ञाता, सेवा-विनय-परायणा महासतीजी थीं। अनेकों वर्ष मेवाड़ में विचरण करके ये अन्त के कुछ वर्ष सनवाड़ में स्थानापन्न रहे। सं० २०२६ में इनका स्वर्गवास हुआ।

श्री रामाजी, मानाजी, चतरकुंवरजी, सोहनकुंवरजी, सेणाजी इनकी शिष्याएँ हुईं। प्रारम्भ की दो महासतियों का स्वर्गवास हो चुका है। शेष तीन विद्यमान हैं। महासती सोहनकुंवरजी की माताजी ने भी दीक्षा ली। उनका स्वर्गवास हो गया। सोहनकुंवरजी की शिष्याएँ श्री नाथकुंवरजी (श्री सौभाग्य मुनिजी की माताजी), श्री उगमवतीजी (श्री सौभाग्य मुनिजी की बहन) और कमलाजी अभी विद्यमान हैं।

महासतीजी मोड़ाजी पेमांजी आदि

महासती कंकूजी की एक शिष्या श्री सुहागाजी थीं। मोड़ाजी उन्हीं की शिष्या हैं। नकूम के सहलोट गोत्र में इनका जन्म हुआ और बड़ी सादड़ी में इनका विवाह हुआ। कुछ वर्षों में ही ये वैधव्य पा गईं। इनकी दीक्षा बड़ी सादड़ी में ही हुई, उस समय बीस वर्ष की उम्र थी।

महासती मोड़ाजी भद्रपरिणामी, सरल, सात्त्विक, आचारनिष्ठ महासती जी थीं। संवत् २००३ ज्येष्ठ कृष्ण ११ को हणु तिया (जिला—अजमेर) में इनका स्वर्गवास हुआ।

पेपांजी इन्हीं की प्रथम शिष्या थीं। रतनकुंवरजी, खोड़ाजी, लेरकुंवरजी, राधाजी, रतनजी ये मोड़ांजी की कुल शिष्याएँ हुईं।

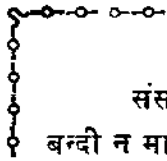
पेपांजी थामला के श्री ताराचन्दजी सलूबाई की संतान थीं। इन्हें ११ वर्ष की उम्र में नाथद्वारा निवासी नन्दलालजी कोठारी के पुत्र कन्हैयालालजी के साथ विवाहित कर दिया था। कन्हैयालालजी केवल तीन माह लिए।

महासतीजी श्री मोड़ाजी के सम्पर्क से इन्हें वैराग्योदय हुआ। सं० १९८३ में बड़ी सादड़ी में इनकी दीक्षा सम्पन्न हुई। दीक्षा रतनलाल जी पामेवा के घर से हुई।

श्री पेपांजी सात्त्विक प्रकृति की थोकड़ों का ज्ञान रखने वाली तप रुचि वाली महासतीजी थी। इन्होंने जावद में २५ दिन की तपस्या पर पापड़ का अभिग्रह किया।

सं० २०२६ वैशाख सुदी ११ के दिन पलाना में इनका स्वर्गवास हुआ।

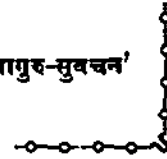
मोड़ांजी की शिष्याओं में से अभी श्री रतनकुंवरजी, श्री लहरकुंवरजी दो महासतियाँ विद्यमान हैं।



संसार कैसा अद्भुत जेल खाना है, इसमें बन्दी मनुष्य स्वयं को बन्दी न मानकर मुक्त मानता है।

संसार का नाटक विचित्र है। यहाँ पर प्राणी अभिनेता के रूप में काम करता है, किन्तु वह स्वयं को अभिनेता न मानकर 'चरित्र नायक' ही मान बैठता है। यही सबसे बड़ी भूल है।

—अम्बापुर-सुवचन'



प्रवर्तिनी श्री सरूपांजी और उनका परिवार



मेवाड़ से यतिवाद के प्रचण्ड प्रभाव को उखाड़ कर फेंकने और शुद्ध अध्यात्मवादी साधुमार्ग का घर-घर प्रचार करने के कार्य में जहाँ धीर तपस्वी, उत्कृष्ट आचारवान, धैर्यशील उग्र विहारी मुनिराजों का प्रमुख हाथ रहा वहाँ, इस प्रदेश में विचरण करने वाली महासतियों का भी कम सहयोग नहीं था।

मुनिराजों ही नहीं महासतियों ने भी उग्र तपश्चरण करके और अध्यात्मवादी शुद्ध जीवन का परिचय देकर जनमानस को जड़वाद से बाहर खींचा।

मेवाड़ में आज जो स्थानकवासी समाज लहलहा रहा है। इसका श्रेय इधर की शानदार महासती परम्परा को भी है।

मेवाड़ की साध्वी परम्परा में मुख्यतया दो धाराएँ बहुत दूर से हैं।

एक धारा की प्रतिनिधि महासती श्री नगीना जी और उनकी परम्परा का परिचय जो मिल पाया अन्यत्र दिया जा चुका है। इस निबन्ध में हम दूसरी धारा, जिसकी अग्रगण्या महासतीजी श्री सरूपांजी हैं उसका परिचय दे रहे हैं।

प्रवर्तिनी श्री सरूपांजी महाराज

पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज को आचार्य पद प्रदान किया उसके बाद साध्वी समाज ने मिलकर श्री सरूपांजी को सुयोग्य समझकर प्रवर्तिनी का पद समर्पित किया। श्री सरूपांजी, निश्चय ही उस समय के साध्वी मण्डल में श्रेष्ठ होंगी तभी यह साध्वी समाज का श्रेष्ठ पद उन्हें दिया गया।

खेद की बात

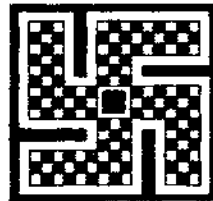
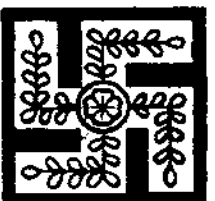
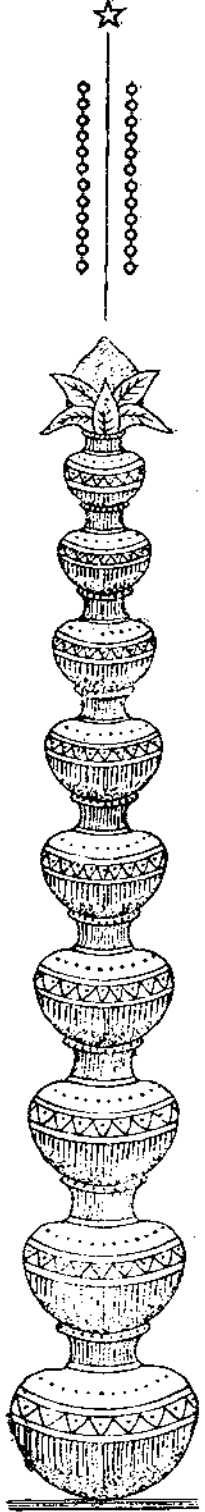
वस्तुतः यह बड़े खेद की बात है कि परम विदुषी, अग्रगण्या तथा प्रवर्तिनी पद विभूषिता उस साध्वी रत्न का हम इससे अधिक कुछ भी परिचय देने में समर्थ नहीं हैं। हमने बहुत कुछ जानने का प्रयास किया। उस परम्परा की महासतियों से और अन्य वृद्धों से भी उनका परिचय पाना चाहा किन्तु इससे अधिक कुछ भी परिचय नहीं मिल सका।

शिष्याएँ

श्री सरूपांजी महाराज के कई शिष्याएँ थीं। उनमें चम्पाजी, सलेकुंवरजी, लेरकुंवरजी, हगामाजी और सरेकुंवरजी मुख्य थीं। सरेकुंवरजी आकोला के थे।

कस्तूरांजी और उनका सिंघाड़ा

श्री कस्तूरांजी की केवल इससे अधिक कोई जानकारी नहीं कि वे एक तपस्विनी थीं। उन्होंने रायपुर में इकवीस दिन, धासा में छब्बीस दिन, देलवाड़ा में तेरह दिन आकोला में उन्नीस की तपश्चर्या की थी। देवगढ़ में बेले बेले पारण किये। परदेशी तप किया और मोलेला में इगतालीस दिन का दीर्घ तप किया। सरदारगढ़ में इगतीस दिन का तप किया। इनका जन्मस्थान "मोलेला" था तथा ससुराल नाथद्वारा में था।



शिष्याएँ और प्रशिष्याएँ

घोर तपस्विनी परम विदुषी महासतीजी श्री कस्तुरां जी की शिष्याओं में फूलकुंवरजी प्रधान थे। फूलकुंवरजी की शिष्या परम तेजस्वी महासतीजी श्री शृंगार कुंवरजी थीं।

श्री शृंगार कुंवरजी

श्री शृंगार कुंवरजी मेवाड़ में सणगारां जी के नाम से प्रसिद्ध थी।

पोटलां के ओसवंशीय सियाल परिवार से प्रव्रजित हुई, महासती सणगारां जी, साध्वी समाज में सिहनी जैसी तेजस्वी थी। शास्त्रीय ज्ञान की तो मानों भंडार ही थी। श्री सणगारांजी का व्याख्यान, एक ओजस्वी व्याख्यान था। मेवाड़ का तत्कालीन जैन समाज, इनसे बड़ा प्रभावित था।

पूज्य श्री एकलिंगदासजी महाराज को स्वर्गवास के बाद मेवाड़ में जो भिन्नता आई और उससे जो विश्रुंखलता पैदा हुई, उसे मिटाने का इन्होंने बड़ा कड़ा प्रयत्न किया।

पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज आचार्य बनने को तैयार नहीं थे। प्रायः सभी प्रयत्न करके थक गये अन्त में सणगारांजी ने महाराज को मनाने का बीड़ा उठाया।

उन्होंने पूज्य श्री मोतीलालजी महाराज को एक वाक्य कहा—“पूत कपूत होते हैं तब वाप की पगड़ी खूंटी पर टँगी रहती है” वस यह एक वाक्य ही बहुत था। पूज्य श्री ने अपना आम्रह छोड़ दिया।

महासती सणगारां जी समयज्ञ और प्रभावशाली महासती थी इनके अनेक शिष्याएँ हुईं। कुछ का परिचय निम्नानुसार है—

दाखांजी (सहाड़ा के), झमकूजी (पोटलां के), सोहन कुंवरजी (नाई के), मदन कुंवरजी। हरकूजी (भीम के) राधाजी, राजकुंवरजी (ओडण के) पान कुंवरजी (नाथद्वारा के) वरदूजी, बलावरजी, किसान कुंवरजी (नाई के) मगनाजी (राज करेड़ा के) आदि। सभी महासतीजी अच्छे क्रिया पात्र तथा शान्त स्वभावी थे किन्तु खेद का विषय है कि इतने बड़े शिष्या परिवार में से आज कोई उपलब्ध नहीं है और न इस परम्परा में कोई साध्वी जी ही हैं।

जड़ावांजी वरदूजी का परिवार

एक महासतीजी थे जड़ाव कुंवरजी। ये इन्हीं सिंघाड़ों में से किसी एक कुल के होंगे, इनका कोई परिचय उपलब्ध नहीं है। उनकी शिष्या “वरदू जी” थे।

महासती वरदूजी

महासती वरदूजी उदयपुर के थे। पारिवारिक परिचय ज्ञात नहीं। कब संयम लिया, कितने वर्ष संयम पाला तथा स्वर्गवास का समय क्या था इस विषय में कोई जानकारी नहीं मिली। जो जानकारी मिली उसके अनुसार ज्ञात हुआ कि वरदूजी महाराज सरल स्वभावी, संयमप्रिय, तपस्वीनी महासतीजी थी। इन्होंने अपने जीवन-काल में ग्यारह अठाइयाँ कीं, काली राणी का तप किया, एक लड़ी पूरी की। बेले बेले पारणे किये। पारणों में आर्यबिल करते थे।

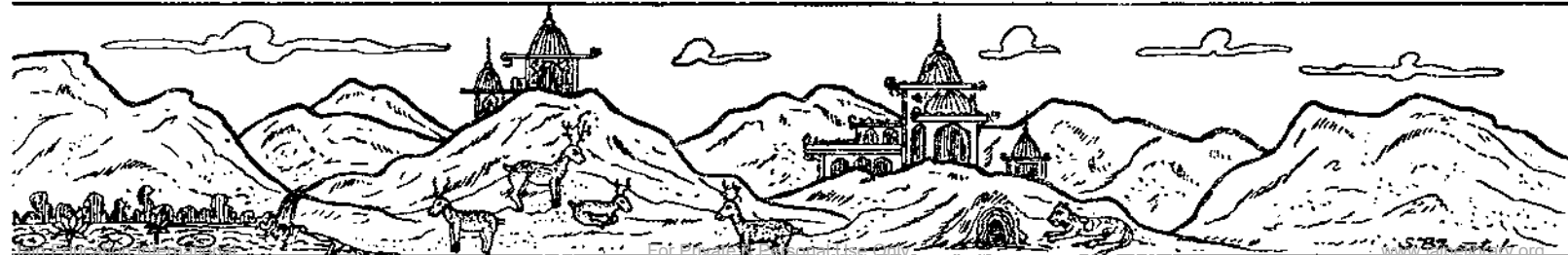
स्वर्गवास सरदारगढ़ में हुआ। स्वर्गवास से पूर्व, सजा-सजाया हाथी देखा और उसी क्षण उनका स्वर्गवास हो गया।

स्वर्गोत्सव के लिये मुख वस्त्रिका उदयपुर से “रजत” की बनकर आई वह और सरदारगढ़ ठाकुर साहब ने जो चहर ओढ़ाई ये दोनों वस्तुएँ आग में नहीं जलीं। ज्यों की त्यों पाई गई ऐसा कहा जाता है।

श्री वरदूजी महाराज के कई शिष्याएँ थीं। केर कुंवरजी, नगीनाजी, गेंद कुंवरजी, हगामाजी आदि।

परम विदुषी महासतीजी श्री के'र कुंवरजी

विदुषी महासतीजी श्री केशर कुंवरजी, जो मेवाड़ भर में के'र कुंवरजी महाराज के नाम से प्रसिद्ध है। श्री वरदूजी महाराज की बड़ी शिष्या है। रेलमगरा के खानदानी मेहता परिवार में संवत् १९४० में जन्म पाये। पिता का



नाम धूलचन्दजी था, और माता नवलबाई । योग्यावस्था में भूपालसागर इनका विवाह हुआ । किन्तु दाम्पत्य-जीवन अधिक नहीं टिका ।

परम विदुषी महासतीजी श्री वरदूजी के सम्पर्क से वैराग्य ज्योति जगी । वि. संवत् १६५७ में माघ शुक्ला पंचमी नामक शुभ दिन में इनकी दीक्षा सम्पन्न हुई ।

कनक के समान दीदीप्यमान देह राशि से सम्पन्न, महासती के र कुंवरजी महाराज, बड़े मिलनसार, उदार हृदय क्रियापात्र और मिष्ट भाषी थे ।

मेवाड़ के अन्तर्गत क्षेत्रों में इनका बड़ा गहरा प्रचार था । हजारों भाई-बहन आज भी महासतीजी की बड़ी श्रद्धा के साथ स्मृति करते हैं ।

पूज्य आचार्य श्री मोतीलालजी महाराज की सुदृढ़ आज्ञानुवर्तिनी महासती के र कुंवरजी समाज के व्यापक हित को लक्ष्य में रखकर उचित निर्णय करती थी ।

विशाल शास्त्रीय ज्ञान से सम्पन्न महासतीजी में ज्ञान प्रचार की बड़ी लगन थी । उन्होंने सैकड़ों बहनों को बोल थोकड़ों का गम्भीर ज्ञान प्रदान किया ।

पिछले कई वर्षों तक शारीरिक कारण से 'रायपुर' में स्थानापन्न रहे । रायपुर के धर्मप्रिय भाई-बहनों ने बड़े उत्कृष्ट भावों से सेवा-साधी । महासतीजी के मृदुल स्वभाव से उनकी लोकप्रियता इतनी फैली कि वच्चा-वच्चा आज भी उन्हें याद करता है ।

महासतीजी अधिकतर ज्ञान-ध्यान में रत रहा करती थी ।

वि. संवत् २०११ ज्येष्ठ कृष्णा चौथ शुक्रवार को देवलोक हुए । स्वर्गवास होने से पूर्व संधारा धारण कर लिया था ।

इनके नौ शिष्याएँ हुई । कंचन कुंवरजी, दाखांजी, सौभाग्य कुंवरजी, सज्जन कुंवरजी, रूप कुंवरजी, प्रेमकुंवर जी, मोहन कुंवरजी, प्रताप कुंवरजी ।

कञ्चन कुंवरजी

कञ्चन कुंवरजी, मद्र परिणामी महासती थे, उनकी शिष्या चाँद कुंवरजी अभी पोटलां लाखोलां में विद्यमान है । दाखांजी की कोई जानकारी नहीं मिल पाई । महासतीजी श्री सौभाग्य कुंवरजी अभी सकारण रायपुर विराजित है । सरल स्वभावी श्री सौभाग्य कुंवरजी भीड़र के हैं ।

महासती रूपकुंवरजी

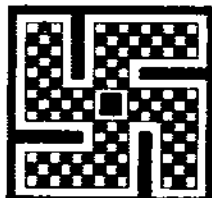
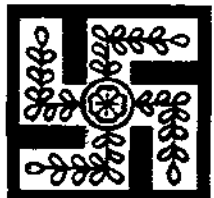
देवरिया में पूज्यश्री के नेतृत्व में तीन दीक्षाएँ एक साथ हुईं, महासती रूप कुंवरजी महासती सज्जन कुंवरजी, महासती प्रेमवती जी ।

श्री रूपकुंवरजी देवरिया के ही कोणरी परिवार के हैं । बाणी से मधुर एवं स्वभाव से सरल है । शास्त्रों का ज्ञानाभ्यास भी किया, व्याख्यान की भी अच्छी कला है । इनके दो शिष्याएँ हैं, श्री रतन कुंवरजी ये चिकारड़ा के हैं । और दूसरी शिष्या लाभवती है ये टाटगढ़ के हैं । इनमें तपश्चर्या का विशेष गुण है ।

महासती सज्जन कुंवरजी

इन्होंने कोशीथल में पूज्य गुरुदेव श्री के सान्निध्य में महासतीजी श्री केर कुंवरजी के पास संयम ग्रहण किया । साथ में अपनी पुत्री कुमारी प्रेमवती को भी संयम के लिये प्रेरित किया और उसे संयम दिलाया ।

खालरमाला के श्री गणेशलालजी दक तथा चाँदबाई की संतान सज्जनजी कोशीथल विवाहित किये गये । वैराग्य की तीव्र भावना से प्रेरित हो, संयम धारण किया और अन्त तक उसे निभाया । स्वभाव से खरे, महासती सज्जन कुंवरजी बड़े जागरूक विचारों के थे ।



संवत् २०२४ दीपावली की रात्रि में स्वर्गवास पाये, उससे पूर्व त्याग प्रत्याख्यान की स्थिति में थे ।
प्रेमवतीजी जो संसार पक्ष में इनकी पुत्री थी, वही इनकी शिष्या भी बनी ।

महासती प्रेमवती

पाठक जान ही गये हैं कि प्रेमवती जी कोशीथल के पोखरणा गोत्रीय है । कुमारिका वय में अपनी माता के साथ ही संवत् १६६६ में देवरिया में संयम ग्रहण किया ।

बाल्यावस्था में संयम ग्रहण करने से इन्हें अपना ज्ञानाभ्यास बढ़ाने का अच्छा अवसर मिला ।

प्रवचन पटुता इनकी अपनी एक अलग विशेषता है ।

जिधर भी विचरते हैं व्याख्यान श्रवण हेतु, जैन-अजैन बड़ी संख्या में उमड़ पड़ते हैं । वाणी में ओज और माधुर्य का एक विलक्षण मिश्रण है ।

समाज सुधार एवं प्रगतिशील कार्यक्रमों में महासतीजी सदा आगे रहती हैं । भगवान महावीर के पच्चीस सौ कीर्तिनिर्वाण जयन्ति वर्ष के उपलक्ष में गुरुदेव श्री ने पच्चीस सौ व्यक्तियों को मद्य मांस छोड़ने की योजना रक्खी तो, सतीजी ने सैकड़ों व्यक्तियों को त्याग करा दिये ।

जीव दया के क्षेत्र में भी ये लगातार कार्य करते रहते हैं ।

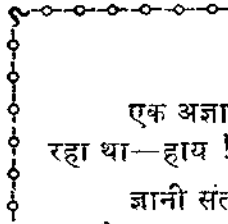
मेवाड़ का जैन समाज, महासती प्रेमवतीजी से बड़ा प्रभावित है ।

सतीजी प्रगतिशील मधुर वक्तु तथा ओजस्वी हैं ।

श्री दमयन्तिजी, (सलोदा वाले) इनकी प्रथम शिष्या है, जो सेवा गुण परायण है । श्री हीराजी (मदार वाले) राजकुंवरजी (देवगढ़ वाले) इनकी शिष्याएँ हैं ।

महासती श्री मोहन कुंवरजी वल्लभनगर वाले तथा महासतीजी श्री प्रतापकुंवरजी घांसावाले श्री केर कुंवरजी महाराज की ही शिष्याएँ हैं । श्री प्रताप कुंवरजी में सेवा का विशेष गुण है ।

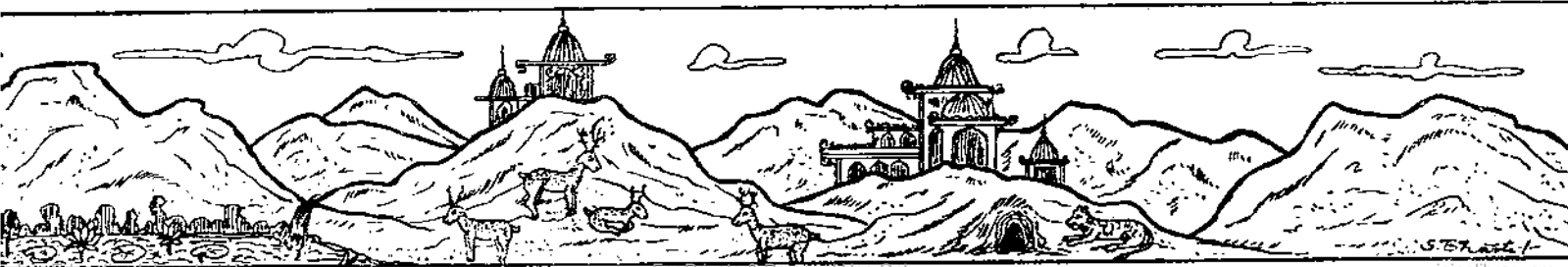
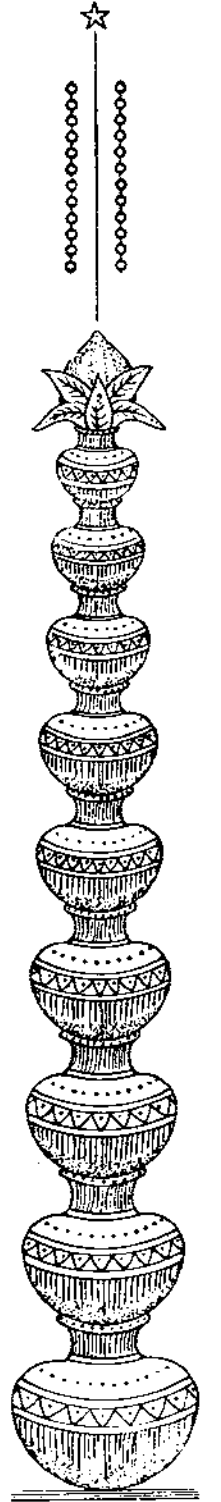
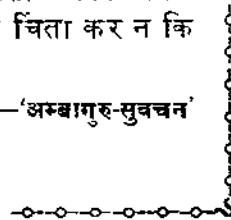
□□



एक अज्ञानी मनुष्य मरते समय दीनता पूर्वक आँखें गीली करके कह रहा था—हाय ! मेरे पीछे मेरे इन प्यारे बाल-बच्चों का क्या हाल होगा ?

ज्ञानी संत ने उसे समझाया—मूढ ! तू क्यों इनकी चिंता में दुखी हो रहा है । इनका हाल इनके भाग्य पर छोड़ और अपनी चिंता कर कि अगले जन्म में तेरे हाल अच्छे हों ! अगला जन्म सुधारने की चिंता कर न कि पीछे वालों की !

—'अम्बागुरु-सुवचन'





मेवाड़ की सांस्कृतिक तथा साहित्यिक समृद्धि के उन्नयन में जैनों के योगदान का एक गवेषणा-प्रधान विवरण विश्रुत विद्वान डा० कासलीवाल ने प्रस्तुत किया है।

□ डा० कस्तूरचन्द कासलीवाल
[प्रसिद्ध विद्वान एवं अनुसंधाता]

जैन साहित्य और संस्कृति की भूमि : मेवाड़

□

देश के इतिहास में राजस्थान का विशिष्ट स्थान है और राजस्थान में मेवाड़ का स्थान सर्वोपरि है। इस प्रदेश के रणबांकुरों ने अपनी धर्म, संस्कृति तथा पुरातत्त्व की रक्षा के लिए हँसते-हँसते प्राण दिये और अपनी वीरता एवं बलिदान के कारण उन्होंने मेवाड़ का नाम उज्ज्वल किया। यहाँ के तीर्थ एवं मन्दिर स्थापत्य एवं शिल्प कला के उत्कृष्ट केन्द्र हैं तथा साहित्य एवं कला की दृष्टि से उन्हें उल्लेखनीय स्थान प्राप्त है।

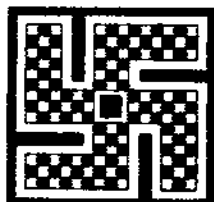
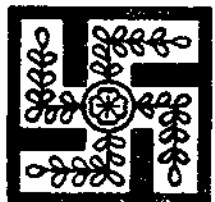
मेवाड़ के महाराजाओं ने सभी धर्मों का आदर किया एवं उनके विकास में कभी भी बाधा उत्पन्न नहीं की। जैन धर्म मेवाड़ का लोकप्रिय धर्म रहा और यहाँ के शासकों, उनके जैन एवं जैनेतर पत्नियों ने जैन धर्म एवं संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार हेतु मन्दिरों के निर्माण, मूर्तियों की प्रतिष्ठा, अहिंसा-पालन की उद्घोषणा, जैनाचार्यों एवं संतों का स्वागत एवं उनके मुक्त विहार में योगदान जैसे महत्वपूर्ण कार्य किये और कभी-कभी तो जैन धर्मावलम्बियों से भी अधिक अहिंसा के पालन में योग दिया। इस दृष्टि से महाराजा समरसिंह एवं उनकी माता जयताला देवी की सेवाएँ उल्लेखनीय हैं जिन्होंने सारे राज्य में पशु हिंसा का निषेध घोषित करके अहिंसा में अपना दृढ़ विश्वास प्रगट किया। चित्तौड़ के जैन कीर्ति स्तम्भ के विभिन्न लेख मेवाड़ में जैन धर्म की लोकप्रियता की शानदार यशोगाथा है। यहाँ का ऋषभदेव का जैन तीर्थ सारे राजस्थान में ही नहीं बल्कि गुजरात एवं उत्तर भारत का प्रमुख तीर्थ माना जाता है तथा जो जैन-जैनेतर समाज की भक्ति एवं श्रद्धा का केन्द्र बना हुआ है।

मेवाड़ प्रदेश जैन साहित्य एवं जैन साहित्यकारों का भी केन्द्र रहा है। विगम्बर परम्परा के महान् आचार्य धरसेन का इस प्रदेश से गहरा सम्बन्ध रहा तथा उन्होंने इस प्रदेश की मिट्टी को अपने विहार से पावन किया। इस तरह सातवीं शताब्दी में होने वाले आचार्य धरसेन ने चित्तौड़ में एलाचार्य से शिक्षा प्राप्त करके 'धवला' एवं 'जय धवला' जैसी महान् ग्रन्थों की टीकाएँ लिखने में समर्थ हुए।^१ आठवीं शताब्दी में जैन दर्शन के प्रकांड विद्वान हरिभद्रसूरि हुए जिन्होंने मेवाड़ प्रदेश में ही नहीं, किन्तु समस्त भारत में जैन धर्म की कीर्ति पताका फहरायी। इस प्रदेश में ग्याहरवीं-बारहवीं शताब्दी में अपभ्रंश के महाकवि धनपाल एवं हरिषेण हुए जिन्होंने अपने काव्यों में इस प्रदेश की प्रशंसा^२ की और अपने अपभ्रंश काव्यों के माध्यम से जन-जन में अहिंसा एवं सत्य धर्म का प्रचार किया।

संस्कृत के प्रकांड विद्वान महार्पडित आशाधर भी मेवाड़ प्रदेश के ही रहने वाले थे। इसी प्रदेश में मट्टारक सकलकीर्ति ने सर्वप्रथम मट्टारक पद्मनन्दि के पास नेणवां में विद्याध्ययन किया और फिर मेवाड़ एवं बागड़ प्रदेश में जैन-

१ वीर शासन के प्रभावक आचार्य

२ इय मेवाड़ देस जण संकुले गिरि उजपुर धक्कड़ कुले।



साहित्य एवं संस्कृति का महान् प्रचार किया। मट्टारक सकलकीर्ति के पश्चात् जितने भी मट्टारक हुए उन्होंने मेवाड़ प्रदेश में विहार करके अहिंसा एवं अनेकांत दर्शन का प्रचार किया। अठारहवीं शताब्दी में महाकवि दीनतराम ने उदयपुर में रहते हुए जीवंधर चरित, क्रियाकोश भाषा की रचना की और अपने काव्यों में महाराणाओं की उदारता एवं धर्मप्रियता की प्रशंसा की।^१

ग्रन्थ भंडारों का केन्द्र

मेवाड़ प्रदेश जैन ग्रन्थ-भंडारों की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण प्रदेश माना जाता है। मेवाड़ की राजधानी उदयपुर साहित्य एवं संस्कृति का सैकड़ों वर्षों तक केन्द्र रहा और आज भी उसको उसी तरह से सम्मान प्राप्त है। उदयपुर नगर के सभी दिगम्बर एवं श्वेताम्बर मन्दिरों में छोटे-बड़े रूप में शास्त्र भंडार हैं जिनमें प्राकृत, अपभ्रंश, संस्कृत, हिन्दी एवं राजस्थानी भाषा की महत्त्वपूर्ण कृतियाँ संग्रहीत हैं। ब्रह्म नेमिदत्त द्वारा रचित 'नेमिनाथ पुराण' की उदयपुर में सन् १६६४ एवं १७२६ में प्रतिलिपि की गई जो आमेर शास्त्र भंडार, जयपुर में सुरक्षित हैं। संवत् १७६७ में लिखित 'स्याद्वादमंजरी' की पांडुलिपि जयपुर के ही एक अन्य भंडार में संग्रहीत है। इसी तरह और भी पचासों ग्रन्थों की पांडुलिपियाँ हैं जो उदयपुर नगर में लिखी गई थीं और जो आज राजस्थान के विभिन्न ग्रन्थ भंडारों में संकलित की गई हैं। अब यहाँ मेवाड़ के कुछ प्रमुख ग्रन्थ भंडारों का सामान्य परिचय दिया जा रहा है।

शास्त्र-भंडार संभवनाथ, दि० जैन मन्दिर, उदयपुर

उदयपुर नगर का संभवनाथ जैन मन्दिर प्राचीनतम मन्दिर है। इस मन्दिर में हस्तलिखित पांडुलिपियों का बहुत अच्छा संग्रह है। यहाँ के शास्त्र भंडार में ५१७ पांडुलिपियाँ हैं जो १५वीं शताब्दी से २०वीं शताब्दी तक की लिखी हुई हैं। भंडार में प्राचीनतम पाण्डुलिपि मट्टोत्पल के लघु जातक टीका की है, जिसका लेखन काल सन् १४०८ है तथा नवीनतम पांडुलिपि 'सोलहकरण विधान' की है जिसका लिपि संवत् १६६५ है। हिन्दी रचनाओं की दृष्टि से इस मन्दिर का संग्रह बहुत ही उत्तम है तथा २५ से भी अधिक रचनाएँ प्रथम बार प्रकाश में आयी हैं। भंडार में संग्रहीत कुछ महत्त्वपूर्ण पांडुलिपियों का परिचय निम्न प्रकार है—

(१) सीता शीलराम पताका गुणबेलि—यह आचार्य जयकीर्ति की कृति है जिन्होंने संवत् १६०४ में निबद्ध की थी। इस भंडार में उसकी मूल पांडुलिपि उपलब्ध है। कोट नगर के आदिनाथ मन्दिर में इसकी रचना की गई थी। ग्रन्थ का अन्तिम भाग निम्न प्रकार है—

संवत गोल चउ उत्तरि सीता तणी गुण वेकल
ज्येष्ठ सुदी तेरस बुधि रची भणी करे गैकल।
माव भगति भणि सुणि सीता सती गुण जैह
जय कीरति सूरी कही सुख सूँ ज्यो पलहि तेह ॥४॥

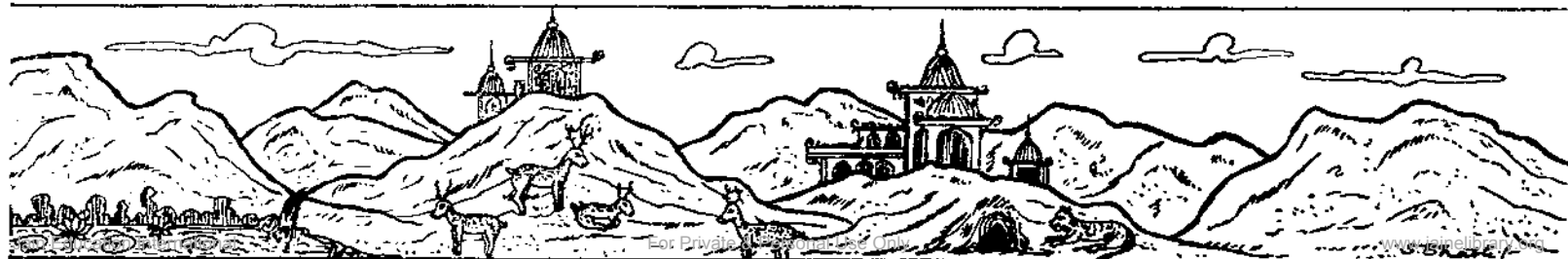
सुद्ध थी सीता शील पताका, गुण वेकल आचार्य जयकीर्ति विरचिता।

संवत् १६७४ वर्षे आषाढ सुदी ७ गुटी श्री कोट नगरे स्वज्ञानावरणी कर्म क्षयार्थ आ० श्री जय कीर्तिना स्वहस्ताश्या लिखितेंय।

(२) राजुल पत्रिका—यह सोमकवि द्वारा विरचित पत्रिका है, जो राजुल द्वारा नेमिनाथ को लिखी गई है।

(३) हनुमान चरित रास—ब्रह्मज्ञान सागर की रचना है जिसे उन्होंने संवत् १६३० में पालुका नगर के शीतलनाथ मन्दिर में निबद्ध किया था। कवि हुबंड जाति के थे उनके पिता का नाम अकाकुल एवं माता का नाम अमरादेवी था।

१ रहे रांग के पास, रांग अति किरपा कई।
जाने नीकी नाहि, भेद भावजु नहि धरई।



(४) भट्टारक सकलकीर्ति रास—यह भट्टारक सकलकीर्ति के शिष्य ब्रह्म सामल की रचना है जिसमें उन्होंने भट्टारक सकलकीर्ति एवं भट्टारक भुवनकीर्ति का जीवन-परिचय दिया है। रचना ऐतिहासिक है।

(५) अनिरुद्ध हरण—यह रत्नभूषण सूरि की कृति है। अनिरुद्ध श्रीकृष्ण जी के पौत्र थे और इस रास में उन्हीं का जीवन-चरित निबद्ध है। भंडार में संवत् १६९९ की पांडुलिपि संग्रहीत है।

२. अग्रवाल जैन मन्दिर का शास्त्र भंडार

यहाँ भी हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है। ग्रन्थों एवं गुटकों की संख्यायें ३८८ हैं जिनमें गुटकों की संख्या भी उल्लेखनीय है। भंडार में पूज्यपाद कृत सर्वार्थसिद्धि की सबसे प्राचीन पांडुलिपि है जो संवत् १३७० की है। यह ग्रन्थ योगिनीपुर (देहली) में लिखा गया था। कुछ उल्लेखनीय ग्रन्थों के नाम निम्न प्रकार हैं—

ग्रन्थ नाम	ग्रन्थकर्ता	भाषा	रचनाकाल
१ चारुदत्त प्रबन्ध	कल्याण कीर्ति	हिन्दी	संवत् १६६२
२ सुदर्शन सेठनी चौपाई	लालकवि	"	संवत् १६३६
३ जीवंधर चरित	दीनतराम कासलीवाल	"	संवत् १८०५
४ अजितनाथ रास	ब्रह्मयजिनराय	"	१५वीं शताब्दी
५ अम्बिकारास	"	"	"
६ पुण्य स्तव कथा कोश	रामचन्द्र	संस्कृत	संवत् १५६०
७ शब्द भेद प्रकाश	महेश्वर कवि	"	संवत् १५५७

संवत् १५५७ वर्षे आषाढ वदी १४ दिने लिखित श्री मूलसंघे भट्टारक श्री ज्ञानभूषण गुरूपदेशात् हुबडं जातीय श्रेष्ठि जइता भार्या पाँच प्रभा श्री धर्माण ।

८ धर्म परीक्षा रास	सुमति कीर्ति	हिन्दी	संवत् १६४८
--------------------	--------------	--------	------------

३. खंडेलवाल जैन मन्दिर का शास्त्र भंडार

खंडेलवाल जैन मन्दिर मंडी की नाल में स्थित है। इस मन्दिर में १८५ पांडुलिपियों का संग्रह है। सबसे प्राचीन पांडुलिपि भूपाल स्तवन की है जिसका लेखन काल संवत् १३६३ का है। यहाँ रास, पूजा, स्तोत्र आदि पर पांडुलिपियों का अच्छा संग्रह है। इनमें राजमुन्दर कृत गर्जसिंह चौपाई (रचना काल सं० १४६७) रामरास माधवदास विरचित, चम्पावती शील कल्याणक। मुनि राजनन्द तथा कमल विजय का कृत "सीमंधर स्तवन" के नाम उल्लेखनीय हैं। यह संवत् १६८२ की रचना है।

४. गौड़ी जी का उपासरा, उदयपुर

इस उपासरे में हस्तलिखित ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है, जिनकी संख्या ६२५ है। सभी ग्रन्थ आगम, आयुर्वेद, ज्योतिष जैसे विषयों पर आधारित है।

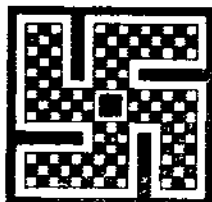
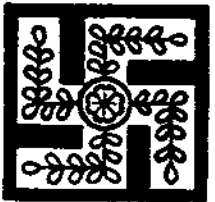
५. यती बालचन्द्र वैद्य का संग्रह, चित्तौड़

श्रीबालचन्द्र वैद्य के निजी संग्रह में शास्त्रों का उत्तम संग्रह है। ग्रन्थों की कुल संख्या एक हजार है। इनमें मंत्र शास्त्र, स्तोत्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, आगम से सम्बद्ध विषयों पर अच्छा संग्रह है। यह शास्त्र भंडार संवत् १६४१ में पंडित विनयचन्द्र द्वारा स्थापित किया गया था। जिसकी प्रशस्ति निम्न प्रकार है—

श्री सद्गुरुोत्तमः उपाध्याय जी महाराज श्री १००८ श्री शिवचन्द्र जी तत् शिष्य १००८ ज्ञानविलास जी तत् शिष्य अमोलखचन्द्र जी शिष्य पं० विनयचन्द्र जी माह मध्ये संवत् १६४१ में स्थापित हस्तलिखित ग्रन्थों की सूची।

भट्टारक यशःकीर्ति जैन सरस्वती भवन, रिषभदेव

रिषभदेव मेवाड़ का प्रसिद्ध जैन तीर्थ है। उदयपुर से अहमदाबाद जाने वाले राष्ट्रीय मार्ग पर यह अवस्थित



है। मन्दिर के विभिन्न भागों में अनेक लेख अंकित हैं जो इस मन्दिर के विकास की कहानी कहने वाले हैं। सम्पूर्ण मेवाड़ में ही नहीं बल्कि बागड़ प्रदेश तथा गुजरात में भगवान् रिषभदेव के प्रति गहरी श्रद्धा है और प्रतिवर्ष लाखों की संख्या में यात्री एवं दर्शनार्थी आते हैं।

इसी तीर्थ पर 'मट्टारक यशःकीर्ति सरस्वती भवन' भी है जिसमें प्राचीन हस्तलिखित प्रतियों का अच्छा संग्रह है। एक सूची के अनुसार यहाँ लगभग १०७० ग्रन्थ हैं जिनमें काफी अच्छी संख्या में गुटके भी सम्मिलित हैं। इनमें १५वीं एवं १६वीं शताब्दी में लिखे हुए ग्रन्थों की अच्छी संख्या है। वैसे चरित, पुराण, काव्य, रास, बेलि, फागु, दर्शन, जैसे विषयों पर यहाँ अच्छा संग्रह मिलता है। सभी ग्रन्थ अच्छी दशा में हैं तथा सुरक्षित हैं। आजकल मंडार को देखने वाले पं० रामचन्द्र जी जैन हैं। इस मंडार में संग्रहीत कुछ महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ निम्न प्रकार हैं—

(१) महावीर चरित अथवा महावीर रास—इसके रचयिता पद्मा कवि हैं जो मट्टारक शुभचन्द्र के शिष्य थे। रास का रचना काल संवत् १६०६ है।

(२) नरसिंहपुरा जाति रास—इसमें नरसिंहपुरा जैन जाति की उत्पत्ति एवं उसके विकास की कहानी कही गयी है। रास ऐतिहासिक है।

(३) शान्तिनाथ पुराण—यह मट्टारक रामचन्द्र की कृति है, जिसमें उन्होंने संवत् १७८३ में समाप्त की थी। यह पांडुलिपि कवि की मूल पांडुलिपि है।

(४) श्रेणिक चरित—यह दौलतराम कासलीवाल की कृति है जिसे उन्होंने संवत् १७८२ में निबद्ध किया था। इसी मंडार में कवि द्वारा निबद्ध श्रीपाल चरित की प्रति भी सुरक्षित है।

(५) प्रद्युम्नरास—यह ब्रह्म गुणराज की कृति है जिसे उन्होंने संवत् १६०६ में निबद्ध किया था।

(६) लवकुश आख्यान—यह मट्टारक महीचन्द्र का १७वीं शताब्दी का काव्य है।

उक्त शास्त्र मंडारों के अतिरिक्त मेवाड़ के अन्य नगरों एवं गाँवों में शास्त्र मंडार हैं, जिनका पूरी तरह से अभी सर्वे नहीं हो सका है, जिसकी महती आवश्यकता है।

मेवाड़ जैनाचार्यों एवं साहित्यकारों की प्रमुख प्रथम भूमि रही है। यहाँ प्रारम्भ से ही जैनाचार्य होते रहे जिन्होंने इस प्रदेश में विहार किया तथा साहित्य संरचना द्वारा जन-जन तक सत् साहित्य का प्रचार किया। ऐसे जैन आचार्यों में कुछ का संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है—

(१) आचार्य वीरसेन—आचार्य वीरसेन सातवीं शताब्दी के महान् सिद्धान्तवेत्ता थे। वे प्राकृत एवं संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। सर्वप्रथम उन्होंने चित्रकूट (चित्तौड़) में एलाचार्य के पास रहकर शास्त्रों का गहन अध्ययन किया था और उसके पश्चात् ही धवला की ७२ हजार श्लोक प्रमाण टीका लिख सके थे। उन्होंने दूसरे आगम-ग्रन्थ कषय पाहुड पर भी जय धवला की टीका लिखना प्रारम्भ किया था लेकिन एक-तिहाई रचना होने के पश्चात् उनका स्वर्गवास हो गया। आचार्य वीरसेन का सिद्धान्त, छन्द, ज्योतिष, व्याकरण, तर्क आदि विषयों पर पूर्ण अधिकार था, जिसका दर्शन हमें धवला टीका में होता है। उनके शिष्य जिनसेन के कथनानुसार उनका सब शास्त्रों का ज्ञान देखकर सर्वज्ञ के अस्तित्व के विषय में लोगों की संकाएँ नष्ट हो गई थीं।

(२) आचार्य हरिभद्रसूरि—आचार्य हरिभद्रसूरि प्राकृत एवं संस्कृत के महान् विद्वान् थे। इनका भी चित्तौड़ से गहरा सम्बन्ध था। इन्होंने अनुयोगद्वार सूत्र, आवश्यक सूत्र, दशवैकालिक सूत्र, नन्दी सूत्र तथा प्रज्ञापना सूत्र पर टीकाएँ लिखी थीं। अनेकांतजय पताका, अनेकांतवाद प्रवेश जैसे उच्च दार्शनिक ग्रन्थों की रचना की थी। इनकी समराइ-चकहा प्राकृत की महत्त्वपूर्ण कृति है तथा घूर्ताख्यान एक व्यंग्यात्मक रचना है। हरिभद्र की योगबिन्दु एवं योगदृष्टि सम्मुच्चय में जैन दर्शन के परिप्रेक्ष्य में पतंजलि एवं व्यास के दार्शनिक मान्यताओं पर अच्छा वर्णन किया गया है। ये आठवीं शताब्दी के विद्वान् थे।

(३) हरिविण—अपभ्रंश के महान् विद्वान् भी चित्तौड़ के रहने वाले थे। उनके पिता का नाम गोवर्द्धन घक्कड़ था। एक बार कवि को अचलपुर जाने का अवसर मिला और उसने वहीं पर संवत् १०४४ में धम्मपरीक्षा की रचना की। इस कृति में ११ संधियाँ हैं और १०० कथाओं का समावेश किया गया है। हरिविण मेवाड़ प्रदेश का बहुत बड़ा भक्त था और उसकी सुन्दरता का अपनी कृति में अच्छा वर्णन किया है।



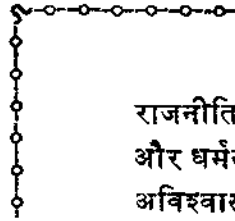
(४) जिनदत्त सूरि—जिनदत्त सूरि १२वीं शताब्दी के जैनाचार्य थे। संवत् ११६४ में चित्तौड़ के वीर जिनालय में देवेन्द्रसूरि द्वारा खरतरगच्छ के आचार्य पद का भार दिया गया। आप प्रगमधान के पद से भी सुशोभित थे।^१ आपने जैन-साहित्य की अपूर्व सेवा की तथा अपभ्रंश में उपदेशरसायनराय, चर्चरी एवं काल स्वरूप कलक की रचना सम्पन्न की। आपके पूर्व जिनवल्लभ सूरि को भी चित्तौड़ में ही संवत् ११६७ में खरतरगच्छ पद पर प्रतिष्ठित किया गया।^२

५. भट्टारक सकल कीर्ति

भट्टारक सकल कीर्ति १५वीं शताब्दी के महान जैन संत थे। संस्कृत एवं प्राकृत के वे प्रकाण्ड विद्वान् थे। आपने सर्वप्रथम मेवाड़ प्रदेश में स्थित नैणवा नगर में भट्टारक पद्मनन्दि के पास अध्ययन किया था। आपका जन्म संवत् १४४३ में और स्वर्गवास संवत् १४९९ में हुआ। आपकी प्रमुख कृतियों में आदि पुराण, उत्तरपुराण, शांति पुराण, पार्श्वपुराण, महावीर चरित, मल्लिनाथ चरित, यशोधर चरित, धन्य कुमार चरित, सुकुमाल चरित, कर्मविपाक सूक्ति मुक्तावली के नाम उल्लेखनीय हैं। आपने मेवाड़, वागड़ एवं गुजरात में विहार करके जैन साहित्य एवं संस्कृति की अपूर्व सेवा की थी। उन्होंने गिरनार जाने वाले एक संध का नेतृत्व किया और जूनागढ़ में आदिनाथ स्वामी की धातु की प्रतिमा की प्रतिष्ठा सम्पन्न की।^३

उक्त कुछ विद्वान् आचार्यों के अतिरिक्त मेवाड़ में पचासों जैन साहित्य सेवी हुए जिन्होंने जैन साहित्य के निर्माण के साथ ही उसके प्रचार-प्रसार में भी अत्यधिक योगदान दिया।

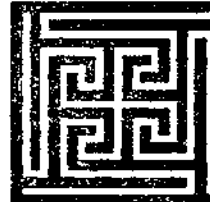
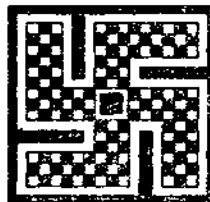
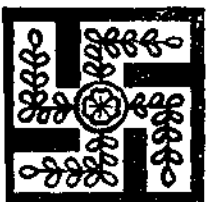
□□



राजनीति का प्रमुख सूत्र है—अविश्वास !
और धर्मनीति का प्रमुख सूत्र है—विश्वास !
अविश्वास-जीवन में अधिक दूर तक नहीं चल सकता। जीवन में कहीं न कहीं किसी का विश्वास करना ही होता है।
हां, विश्वास में भी विवेक रखना चाहिए।
विवेक-शून्य विश्वास 'अंध-विश्वास' होता है।

—'अम्बागुरु-सुवचन'

- १ ऐतिहासिक जैन काव्य संग्रह, पृष्ठ ५
- २ वही
- ३ जैन ग्रन्थ भंडारस् इत राजस्थान, पृष्ठ २३९



□ डा० प्रेम सुमन जैन,

एम० ए०, आचार्य, पी-एच० डी०
[विश्वत भाषाशास्त्री, लेखक तथा सहायक
प्रोफेसर, प्राकृत-संस्कृत विभाग, उदयपुर
विश्वविद्यालय]

मेवाड़-न केवल शौर्य एवं देशभक्ति के लिए ही प्रसिद्ध है, किन्तु साहित्य, संस्कृति एवं कला की समृद्धि के लिए भी उसका गौरव भारत विश्वत रहा है। प्राचीन आर्य भाषा-प्राकृत-अपभ्रंश एवं संस्कृत साहित्य के विकास में जैन मनीषियों के योगदान का एक रेखांकन प्रस्तुत है यहाँ।

मेवाड़ का प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत साहित्य

□

राजस्थान के इतिहास में मेवाड़ जितना शौर्य और देशभक्ति के लिए प्रसिद्ध है, उतना ही साहित्य और कला की समृद्धि के लिए भी। इस भू-भाग में प्राचीन समय से विभिन्न भाषाओं के मूर्धन्य साहित्यकार साहित्य-सर्जना करते रहे हैं। उसमें जैन धर्म के अनुयायी साहित्यकारों का पर्याप्त योगदान है। प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत भाषा में कई उत्कृष्ट ग्रन्थ इन कवियों द्वारा लिखे गये हैं। इन भाषाओं के कुछ प्रमुख कवियों की उन कतिपय रचनाओं का मूल्यांकन यहाँ प्रस्तुत है, जिनका प्रणयन मेवाड़ प्रदेश में हुआ है तथा जिनके रचनाकारों का मेवाड़ से सम्बन्ध रहा है।

प्राकृत साहित्य

राजस्थान का सबसे प्राचीन साहित्यकार मेवाड़ में ही हुआ है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ५-६वीं शताब्दी के बहुप्रज्ञ विद्वान् थे। 'दिवाकर' की पदवी इन्हें चित्तौड़ में ही प्राप्त हुई थी।^१ अतः इनकी साहित्य-साधना का केन्द्र प्रायः मेवाड़ प्रदेश ही रहा होगा। प्राकृत भाषा में लिखा हुआ इनका 'सन्मति तर्क' नामक ग्रन्थ अब तक राजस्थान की प्रारम्भिक रचना मानी जाती है। न्याय और दर्शन का यह अनूठा ग्रन्थ है। इसमें प्राकृत की कुल १६६ गाथाएँ हैं, जिनमें जैन न्याय के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ के प्रथम काण्ड में नय के भेदों और अनेकान्त की मर्यादा का वर्णन है। द्वितीय काण्ड में दर्शन-ज्ञान की मीमांसा की गई है। तृतीय काण्ड में उत्पाद, व्यय, ध्रौव्य तथा अनेकान्त की दृष्टि से ज्ञयतत्त्व का विवेचन है। जैन दर्शन के इस प्राचीन ग्रन्थ पर अनेक टीकाएँ लिखी गयी हैं।

आठवीं शताब्दी में मेवाड़ में प्राकृत के कई मूर्धन्य साहित्यकार हुए हैं। उनमें आचार्य हरिभद्र, एलाचार्य, वीरसेन आदि प्रमुख हैं। इन आचार्यों ने स्वयं प्राकृत साहित्य की समृद्धि की है तथा ऐसे अनेक शिष्यों को भी तैयार किया है जो प्राकृत के प्रसिद्ध साहित्यकार हुए हैं।

आचार्य हरिभद्र का जन्म चित्तौड़ में हुआ था। वे जन्म से ब्राह्मण थे, तथा राजा जितारि के पुरोहित थे।^२ जैन दीक्षा ग्रहण करने के बाद हरिभद्रपूरि ने जैन वाङ्मय की अपूर्व सेवा की है। प्राचीन आगमों पर टीकाएँ एवं स्वतन्त्र मौलिक ग्रन्थ भी इन्होंने लिखे हैं। दर्शन व साहित्य विषय पर आपकी विभिन्न रचनाओं में प्राकृत के ये ग्रन्थ अधिक प्रसिद्ध हैं—समराइच्चकहा, धूर्तास्थान, उपदेशपद, धम्मसंगहणी, योगशतक, संबोहपगरण आदि।^३

१. संघवी, सुखलाल, 'सन्मतिप्रकरण', प्रस्तावना, १९६३।

२. संघवी, 'समदर्शी आचार्य हरिभद्र' १९६३।

३. शास्त्री, नेमिचन्द्र, 'हरिभद्र के प्राकृत कथा-साहित्य का आलोचनात्मक परिशीलन', द्रष्टव्य।



‘समराइच्चकहा’ प्राकृत कथाओं की अनेक विशेषताओं से युक्त है। इसमें उज्जैन के राजकुमार समरादित्य के नौ भवों की सरस कथा वर्णित है। वस्तुतः यह कथा सदाचारी एवं दुराचारी व्यक्तियों के जीवन-संघर्ष की कथा है। काव्यात्मक दृष्टि से इस कथा में अनेक मनोरम चित्र हैं। प्राचीन भारत के सांस्कृतिक जीवन का जीता-जागता उदाहरण है—समराइच्चकहा। ‘धूर्तरुयान’ व्यंगोपहास-शैली में लिखी गयी अनूठी रचना है। आचार्य हरिमद्र ने इसे चित्तौड़ में लिखा था। इस ग्रन्थ में हरिमद्र ने पुराणों, रामायण, महाभारत आदि की कथाओं की अप्राकृतिक, अवैज्ञानिक, अवैदिक मान्यताओं तथा प्रवृत्तियों का कथा के माध्यम से निराकरण किया है। कथा का व्यंग्य ध्वंशात्मक न होकर रचनात्मक है। ‘उपदेशपद’ में प्राकृत की ७० प्राकृत कथाएँ दी गयी हैं। ‘दशवैकालिक टीका’ में भी प्राकृत की ३० कथाएँ उपलब्ध होती हैं। इन कथाओं में नीति एवं उपदेश प्रधान कथाएँ अधिक हैं। ‘संवोहपरण’ का दूसरा नाम तत्त्व प्रकाश भी है। इसमें देवस्वरूप तथा साधुओं के आचार-विचार का वर्णन है। ‘धम्मसंगहणी’ में दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन है।^१ इस प्रकार हरिमद्र ने न केवल अपने मौलिक कथा-ग्रन्थों द्वारा प्राकृत साहित्य को समृद्ध किया है, अपितु टीकाग्रन्थों में भी प्राकृत के प्रयोग द्वारा मेवाड़ में प्राकृत के प्रचार-प्रसार को बल दिया है।

आचार्य हरिमद्र के शिष्यों में उद्योतनसूरि प्राकृत के सशक्त कथाकार हुए हैं। उन्होंने हरिमद्र से सिद्धान्त-ग्रन्थों का अध्ययन किया था। यद्यपि उद्योतनसूरि ने अपनी प्रसिद्ध कृति ‘कुवलयमालाकहा’ की रचना जातौर में की थी, किन्तु अध्ययन की दृष्टि से उनका मेवाड़ से सम्बन्ध रहा है। मेवाड़ के प्राकृत-कथा-ग्रन्थों की परम्परा में ही उनकी कुवलयमाला की रचना हुई है। यद्यपि वह अपने स्वरूप और सामग्री की दृष्टि से विशिष्ट रचना है।^२ ऐसे ही प्राकृत के दो आचार्य और हैं, जिनका चित्तौड़ से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है, किन्तु उनकी कोई रचना मेवाड़ में नहीं लिखी गयी है। वे हैं—एलाचार्य एवं आचार्य वीरसेन।

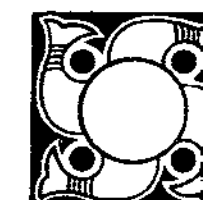
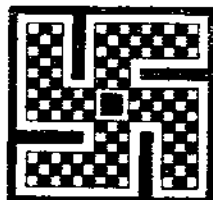
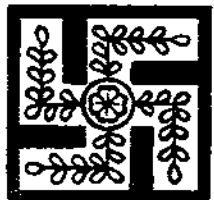
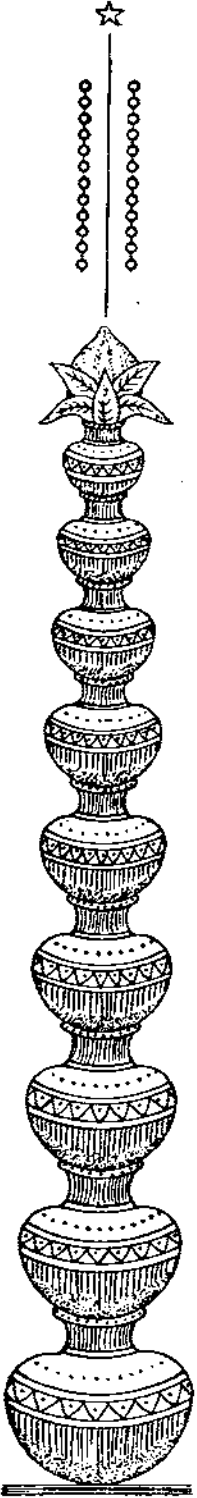
एलाचार्य मेवाड़ के प्रसिद्ध विद्वान् थे। वे वीरसेन के शिक्षा गुरु थे। इन्द्रनग्दि ने अपने ‘श्रुतावतार’ में एलाचार्य के सम्बन्ध में लिखा है कि बप्पदेव के पश्चात् कुछ वर्ष बीत जाने पर सिद्धान्तशास्त्र के रहस्य ज्ञाता एलाचार्य हुए। ये चित्रकूट (चित्तौड़) नगर के निवासी थे। इनके पास में रहकर वीरसेनाचार्य ने सकल सिद्धान्तों का अध्ययन कर निबन्धन आदि आठ अधिकारों (धवला टीका) को लिखा था।^३ वीरसेन ने धवला टीका शक सम्वत् ७३८ (=१६ ई.सं.) में समाप्त की थी। अतः एलाचार्य आठवीं शताब्दी में चित्तौड़ रहते रहे होंगे। इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। अतः ये वाचक गुरु के रूप में ही प्रसिद्ध थे।

आचार्य वीरसेन ने चित्तौड़ में अपना अध्ययन किया था। गुरु एलाचार्य की अनुमति से इन्होंने वाटग्राम (बड़ोदा) को अपना कार्यक्षेत्र बनाया था। वीरसेन संस्कृत, प्राकृत आदि भाषाओं के प्रकाण्ड पण्डित थे। इन्होंने ७२००० श्लोक-प्रमाण समस्त खण्डागम की धवला टीका लिखी है। तथा कषायप्राभृत की चार विभक्तियों की २०,००० श्लोक प्रमाण जयधवलाटीका लिखने के उपरान्त इनका स्वर्गवास हो गया था। आचार्य वीरसेन की ये दोनों टीकाएँ उनकी अगाध प्रतिभा और पाण्डित्य की परिचायक हैं। जिस प्रकार ‘महाभारत’ में वैदिक परम्परा की समस्त सामग्री ग्रथित है, उसी प्रकार वीरसेन की इन टीकाओं में जैन दर्शन के समीप पक्ष प्रतिपादित हुए हैं। भारतीय दर्शन, शिल्प एवं विभिन्न विद्याओं की भरपूर सामग्री इन टीका ग्रन्थों में है।^४ इनकी भाषा प्राकृत और संस्कृत का मिश्रित रूप है।

१. जैन, जगदीशचन्द्र, ‘प्राकृत साहित्य का इतिहास’, पृ० ३३२।
२. जैन, प्रेमसुमन, ‘कुवलयमालाकहा का सांस्कृतिक अध्ययन,’ वैशाली, १६७५।
३. काले गते कियत्यपि ततः पुनश्चित्रकूटपुरवासी।
श्रीमानेलाचार्यो बभूव सिद्धान्ततत्त्वज्ञः ॥
तस्य समीपे सकलं सिद्धान्तमधीत्य वीरसेन गुरुः।
उपरितमनिबन्धनाद्याधिकारानष्ट च लिखि ॥

—श्रुतावतार, श्लोक, १७७-७८।

४. धवला टीका, प्रथम पुस्तक, प्रस्तावना।



मेवाड़ के प्राकृत-साहित्य की समृद्धि में पद्मनन्दि (प्रथम) का भी योग है। इनकी तीनों रचनाएँ—‘जंबूदीव-पण्णत्ति’, ‘धम्मरसायण’, एवं ‘पंचसंग्रह’ प्राकृत में हैं। इनके ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि ये राजस्थान के प्रमुख कवि थे। ‘जंबूदीवपण्णत्ति’ नामक ग्रन्थ बारां नगर में लिखा गया था। अतः ये कोटा के समीपस्थ प्रदेश के निवासी थे। इनकी जंबूदीवपण्णत्ति में कुल २४२६ गाथाएँ हैं, जिनमें मनुष्य क्षेत्र, मध्यलोक, पाताल लोक और ऊर्ध्वलोक का विस्तार से वर्णन किया गया है। जैन भूगोल की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।^१ ‘धम्मरसायण’ में कुल १६३ गाथाएँ हैं। इस ग्रन्थ में धर्म का स्वरूप एवं सांसारिक भोगों से विरक्त होने के लिए नैतिक नियमों का विवेचन है। ‘पंचसंग्रहवृत्ति’ कर्म-सिद्धान्त की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है।^२

१२वीं शताब्दी में राजस्थान में प्राकृत के कथाकार हुए हैं—लक्ष्मणगणि। इन्होंने वि० सं० ११६६ (ई० सं० १६४२) में माण्डलगढ़ में ‘सुपासनाहचरिय’ की रचना की थी।^३ मेवाड़ में इनका विचरण होता रहता था। सुपाश्वनाथ-चरित में इन्होंने तीर्थंकर सुपाश्वनाथ का चरित लिखा है। इस पद्यात्मक ग्रन्थ में उपदेश की प्रधानता है। अनेक लोक-कथाओं के द्वारा नैतिक आदर्शों को समझाया गया है। यद्यपि यह ग्रन्थ प्राकृत में लिखा गया है, किन्तु बीच-बीच में संस्कृत और अपभ्रंश का भी प्रयोग हुआ है। यथा—

एहु धम्मु परमात्थु कहिज्जइ । तं परपीडि होइ तं न हिज्जइ ॥

कथाओं के अतिरिक्त इस ग्रन्थ में कई सुभाषितों का भी संग्रह है। कवि ने कहा है कि संसार रूपी घर के प्रमादरूपी अग्नि से जलने पर मोह रूपी निद्रा में सोते हुए पुरुष को जो जगाता है वह मित्र है, और जो उसे जगाने से रोकता है वह अमित्र है—

भवमिह भज्जम्मि पमायजलणजलयम्मि मोहनिहाए ।

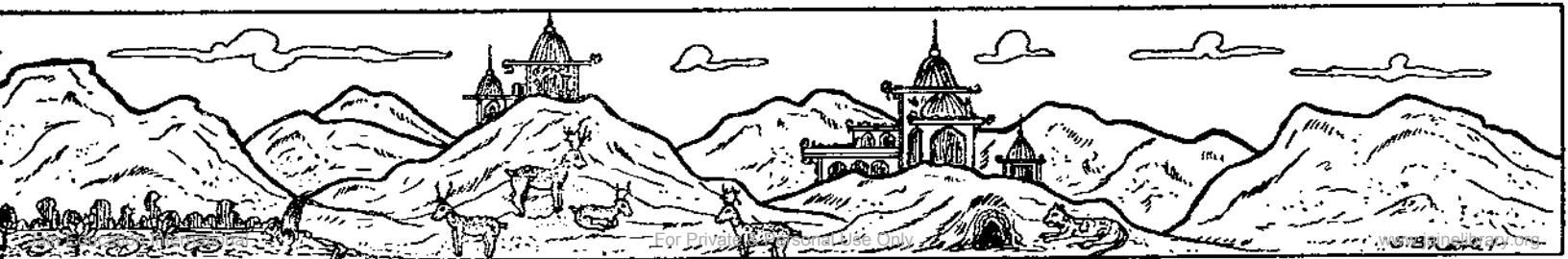
जो जगवइ स मित्तं वारंता सो पुण अमित्तं ॥

मेवाड़ में खरतरगच्छ के आचार्यों का पर्याप्त प्रभाव रहा है। उन्होंने प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत आदि भाषाओं में अनेक रचनाएँ लिखी हैं। जिनवल्लभसूरि का कार्यक्षेत्र मेवाड़ प्रदेश था। इन्हें चित्तौड़ में सं० ११६७ में आचार्य पद मिला था। इनकी लगभग १७ रचनाएँ प्राकृत में लिखी गयीं हैं। उनमें ‘द्वादश कुले’, ‘सूक्ष्मार्थविचारसार’, ‘पिंड विशुद्धि’, ‘तीर्थंकर स्तुति’ आदि प्रसिद्ध हैं। जिनवल्लभसूरि प्राकृत एवं संस्कृत के अधिकारी विद्वान् थे।^४ उन्होंने ‘भावारिवारणस्तोत्र’ प्राकृत और संस्कृत में समश्लोकी लिखा है। इनके पट्टधर जिनदत्तसूरि राजस्थान के कल्पवृक्ष माने जाते हैं। इनकी १०-११ रचनाएँ प्राकृत में हैं। उनमें ‘गणधरसार्धशतक’ एवं ‘सन्देहदोहावली’ उल्लेखनीय है। जैन आचार्यों के जीवन-चरित्र की दृष्टि से ये ग्रन्थ महत्त्वपूर्ण हैं।^५ चित्तौड़ के प्राकृत कवियों में जिनहर्षगणि का भी प्रमुख स्थान है। इन्होंने ‘रत्नशेखरीकथा’ चित्तौड़ में प्राकृत में लिखी थी।^६ इससे सिंहलद्वीप की राजकुमारी रत्नवती की कथा वर्णित है। इस सिंहल की पहचान डा० गीरीशंकर ओझा ने चित्तौड़ से करीब ४० मील पूर्व में ‘सिंगोली’ नामक स्थान से की है (ओझा निबन्ध संग्रह, भाग २, पृ० २८१)।

अपभ्रंश-साहित्य

मेवाड़ में प्राकृत व संस्कृत की अपेक्षा अपभ्रंश के कवि कम हुए हैं। हरिवेण, धनपाल, जिनदत्त एवं विमल-कीर्ति मेवाड़ से सम्बन्धित अपभ्रंश के कवि हैं। यद्यपि मेवाड़ प्रदेश में अपभ्रंश की कई रचनाएँ सुरक्षित हैं, किन्तु उनमें रचना स्थल आदि का उल्लेख न होने से उन्हें मेवाड़ में रचित नहीं कहा जा सकता।

१. शास्त्री, नेमिचन्द्र, ‘तीर्थंकर महावीर और उनकी आचार्य परम्परा’ भाग ३, पृ० ११०-१२१।
२. शास्त्री, हीरालाल, ‘पंचसंग्रह’, प्रस्तावना।
३. देसाई, ‘जैन साहित्यको संक्षिप्त इतिहास’, पृ० २७५।
४. ‘मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि स्मृतिग्रन्थ’, पृ० २०
५. नाहटा, ‘दादा जिनदत्तसूरि’।
६. नाहटा, ‘राजस्थानी साहित्य की गौरवपूर्ण परम्परा’, पृ० ३२।



हरिषेण एवं धम्मपरिकखा

हरिषेण ने अपनी धम्मपरिकखा वि० सं० १०४४ में लिखी थी। इस ग्रन्थ की प्रशस्ति से ज्ञात होता है कि मेवाड़ देश में विविध कलाओं में पारंगत एक हरि नाम के व्यक्ति थे। ये श्री ओजपुर के धक्कड़ कुल के वंशज थे। इनके एक गोबर्द्धन नाम का धर्मात्मा पुत्र था। उनकी पत्नी का नाम गुणवती था, जो जैन धर्म में प्रगाढ़ श्रद्धा रखने वाली थी। उनके हरिषेण नाम का एक पुत्र हुआ, जो विद्वान् कवि के रूप में प्रसिद्ध हुआ। उसने किसी कारणवश चित्तौड़ को छोड़कर अचलपुर में निवास किया। वहाँ उसने छन्द-अलंकार का अध्ययन कर 'धर्मपरीक्षा' नामक ग्रन्थ लिखा।^१

हरिषेण ने धर्म परीक्षा की रचना प्राकृत की जयराम कृत धम्मपरिकखा के आधार पर की थी। इन्होंने जिस प्रकार से पूर्व कवियों का स्मरण किया है, उससे हरिषेण की विनम्रता एवं विभिन्न शास्त्रों में निपुणता प्रगट होती है।

धर्म परीक्षा ग्रन्थ भारतीय धर्मों के तुलनात्मक अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें वैदिक धर्म के परिप्रेक्ष्य में जैन-धर्म की श्रेष्ठता प्रतिपादित की गयी है। दो समानान्तर धर्मों को सामने रखकर उनके गुण-दोषों का विवेचन प्रस्तुत करना एक प्राचीन मिथक है, जो इन धर्म परीक्षा जैसे ग्रन्थों के रूप में विकसित हुआ है। हरिषेण ने इस ग्रन्थ में अवतारवाद, पौराणिक कथानक तथा वैदिक क्रियाकाण्डों का तर्कसंगत खण्डन किया है, साथ ही अनेक काव्यात्मक वर्णन भी प्रस्तुत किये हैं। ११वीं सन्धि के प्रथम कडवक में मेवाड़ देश का रमणीय चित्रण किया गया है। कहा गया है कि इस देश के उद्यान, सरोवर, भवन आदि सभी दृष्टियों से सुन्दर व मनोहर हैं। यथा—

जो उज्जाणहि सोहइ खेयर मोहइ वल्ली हरिहि विसालहि ।

मणि-कचण-कम पुण्णहि वण्ण खण्णहि पुरिहि स मोउर सालहि ॥

धनपाल एवं भविसयत्तकहा

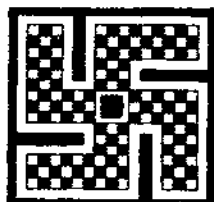
धनपाल अपभ्रंश के सशक्त लेखकों में से हैं। इन्होंने यद्यपि अपने ग्रन्थ 'भविसयत्तकहा' में उसके रचना-स्थल का निर्देश नहीं किया है, किन्तु अपने कुल धक्कड़ वंश का उल्लेख किया है। इनके पिता का नाम मायेश्वर और माता का नाम धनश्री था।^२ यह धक्कड़ वंश मेवाड़ की प्रसिद्ध जाति है। देलवाड़ा में तेजपाल के वि. सं. १२६७ के अमिलेख में धरकट (धक्कड़) जाति का उल्लेख है। अतः धक्कड़ वंश में उत्पन्न होने के कारण धनपाल को मेवाड़ का अपभ्रंश कवि स्वीकार किया जा सकता है।

'भविसयत्तकहा' अपभ्रंश का महत्त्वपूर्ण कथाकाव्य है। कवि ने इसमें लौकिक नायक के चरित्र का उत्कर्ष दिखाया है। एक व्यापारी के पुत्र भविसयत्त की सम्पत्ति का वर्णन करते हुए कवि ने उसके सौतेले भाई, वन्धुदत्त के कपट का चित्रण किया है। भविसयत्त अनेक स्थानों का भ्रमण करता हुआ कुसराज और तक्षशिलाराज के युद्ध में भी सम्मिलित होता है। कथा के अन्त में भविसयत्त एवं उसके साथियों के पूर्व जन्म और भविष्य जन्म का वर्णन है। कवि ने इस ग्रन्थ में श्रुतपंचमीव्रत का माहात्म्य प्रदर्शित किया है। वस्तुतः यह कथा साधु और असाधु प्रवृत्ति वाले दो व्यक्तियों की

१. इय मेवाड़-देसि-जण-संकुलि, सिरि उजपुर णिग्गय धक्कड़कुलि ।
पाव-करिद-कुम्म-दारणहरि, जाउ कलाहि कुसलु णाहरि ।
तासु पुत्त पर-णारिसहोयरु, गुण-गण-णिहि-कुल-गयण-दिवायरु ।
गोवड्डणु णामे उप्पणउ, जो सम्मत्तरयण-सपुण्णउ ।
तहो गोवड्डणसु पिय गुणवड्, जो जिणवरपय णिच्चवि पणवड् ।
ताए जणिउ हरिषेणे नाम सुउ, जो संजाउ विबुह-कइ-विस्सुउ ।
सिरि चित्तउडु चइवि अचलउरहो, गयउ-णिय-कज्जे जिणहरपउरहो ।
तहि छंदालंकार पसाहिय, धम्मपरिकख एह ते साहिय ।

—ध० प० ११, २६

२. धक्कड़ वणि वैसे माएसरहो समुहमविण ।
घणसिरि हो वि सुवेण विरइउ सरसइ संभविण ॥ —भ. क. १, ६



कथा है। यह एक रोमांचक काव्य है। इसमें काव्यात्मक वर्णनों की भी कमी नहीं है।^१ सुभाषित एवं लोकोत्तियों का भी प्रयोग हुआ है। यथा—“किं चिउ होइ विरोलए पाणिए।” —(भ. क. २, ७, ८)

विमलकीर्ति एवं सोखवईविहाणकहा

विमलकीर्ति को रामकीर्ति का शिष्य कहा गया है। जयकीर्ति के शिष्य रामकीर्ति ने वि. सं. १२०७ में चित्तौड़ में एक प्रशस्ति लिखी है।^२ अतः विमलकीर्ति का सम्बन्ध भी चित्तौड़ से बना रहा होगा। विमलकीर्ति की एक ही रचना 'सोखवईविहाणकहा' उपलब्ध है। इसमें व्रत के विधानों का फल निरूपित है।

जिनदत्त एवं अपभ्रंशकाव्यत्रयी

जिनदत्तसूरि ने चित्तौड़ में अपने गुरु जिनवल्लभसूरि की गद्दी सम्हाली थी। इनका कार्यक्षेत्र राजस्थान के कई भागों में था। मेवाड़ के साहित्यकार इन जिनदत्तसूरि की अपभ्रंश की तीन रचनाएँ उपलब्ध हैं—(१) उपदेशरसायनरास, (२) कालस्वरूप कुलक और (३) चर्चरी। ये तीनों रचनाएँ अपभ्रंश काव्यत्रयी के नाम से प्रकाशित हैं।

'उपदेशरसायनरास' ८० पद्यों की रचना है। मंगलाचरण के उपरान्त इसमें संसार-सागर से पार होने के लिए सद्गुरु की आश्रयकता प्रतिपादित की गयी है। अन्त में गृहस्थों के लिए भी सद्गुरुवचन हैं। धर्म में अडिग रहते हुए यदि कोई व्यक्ति धर्म में विघात करने वाले को युद्ध में मार भी देता है तो उसका धर्म नष्ट नहीं होता। वह परमपद को प्राप्त करता है।

धम्मिउ धम्मुजजु साहंतउ, परु मारइ की वइ जज्जंतउ।
तु वि तमु धम्मु अत्थि न हु नासइ, परमपइ निवसइ सो सासइ।

—(उप. २६)

'कालस्वरूप कुलक' में जिनदत्तसूरि ने धर्म के प्रति आदर करने और अच्छे गुरु तथा बुरे गुरु की पहचान करने को कहा है। गृहस्थों को सदाचार में प्रवृत्त करना ही कवि का उद्देश्य है। जिनदत्तसूरि ने अपनी तीसरी रचना 'चर्चरी' की रचना व्याघ्रपुर नगर (वागड़ प्रदेश) में की थी। इसमें ४७ पद्यों द्वारा उन्होंने अपने गुरु जिनवल्लभसूरि का गुणगान तथा चैत्य-विधियों का विधान किया है।^३

संस्कृत-साहित्य

मेवाड़ प्रदेश में संस्कृत साहित्य का लेखन गुप्तकाल में ही प्रारम्भ हो गया था। भंवर माता का शिलालेख वि. सं. ५४७ का है, जो संस्कृत में काव्यमय भाषा में लिखा गया है। इसके बाद संस्कृत की कई प्रशस्तियाँ मेवाड़ में लिखी गयी हैं, जो ऐतिहासिक और काव्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु स्वतन्त्र रूप से संस्कृत में काव्य ग्रन्थ यहाँ मध्ययुग में ही लिखे गये हैं। राजाओं के आश्रय में रहने वाले कवियों ने विभिन्न विषयों पर खण्डकाव्य व मुक्तकाव्य लिखे हैं।^४

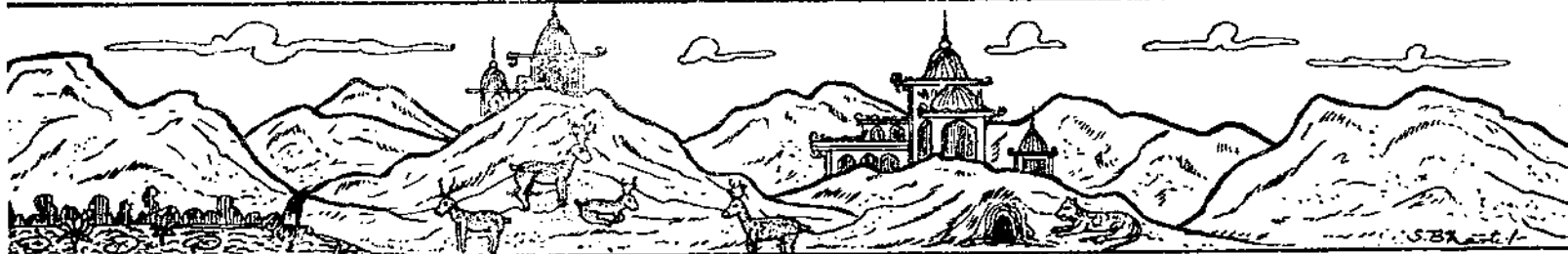
प्राकृत की भांति संस्कृत में भी मेवाड़ में सर्वप्रथम ग्रन्थ-रचना करने वाले आचार्य सिद्धसेन हैं। इनके बाद अनेक जैन आचार्यों ने यहाँ संस्कृत के ग्रन्थ लिखे हैं, जिन्हें जैन संस्कृत काव्य के नाम से जाना जाता है। किन्तु केवल तीर्थंकर की स्तुति कर देने अथवा श्रावक व साधु के आचरण का विधान करने से कोई काव्य ग्रन्थ जैन काव्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार का विभाजन करना ही गलत है। मेवाड़ के संस्कृत साहित्य के इतिहास में इन जैन आचार्यों द्वारा प्रणीत काव्य उतने ही महत्त्वपूर्ण हैं, जितने अन्य कवियों के। यहाँ जैन परम्परा के पोषक केवल उन प्रमुख कवियों के संस्कृत ग्रन्थों का मूल्यांकन प्रस्तुत है, जिनका मेवाड़ से कोई न कोई सम्बन्ध बना रहा है।

१. शास्त्री, देवेन्द्रकुमार, 'भविष्यत्तकहा तथा अपभ्रंश कथाकाव्य'

२. शास्त्री, नेमिचन्द्र, ती. म. एवं उनकी आ. प., भाग ४, पृ० २०६

३. कोछड़, हरिवंश, 'अपभ्रंशसाहित्य', पृ० ३६१

४. दृष्टव्य—पुरोहित चन्द्रशेखर, 'मेवाड़ का संस्कृत साहित्य का योगदान' (थीसिस), १९६६



न्यायावतार

सिद्धसेन दिवाकर की प्राकृत रचना 'सन्मतिप्रकरण' के अतिरिक्त उनकी संस्कृत रचनाएँ भी उपलब्ध हैं। ३२ श्लोक वाली इन्होंने इक्कीस द्वात्रिंशिकाएँ तथा न्यायावतार नामक ग्रन्थ संस्कृत में लिखा था। द्वात्रिंशिकाओं में स्तुति तथा जैन दर्शन के विभिन्न पक्षों का निरूपण किया गया है।^१ न्यायवतार में जैन दृष्टि से पक्ष, साध्य, हेतु, दृष्टान्त, हेत्वाभास आदि के लक्षण हैं तथा अन्त में नयवाद और अनेकान्तवाद के स्वरूप का स्पष्ट विवेचन है। जैन न्याय का समन्वित स्वरूप प्रमट करने वाला यह सबसे प्राचीन ग्रन्थ है। सिद्धसेन दिवाकर ने गुप्त युग में मेवाड़ में संस्कृत की ऐसी सशक्त रचनाएँ प्रस्तुत कर न केवल तार्किक जगत में जैन न्याय की प्रतिष्ठा की, अपितु मेवाड़ में संस्कृत-रचना की परम्परा को सुस्थिर भी किया। इनके अध्ययन और साहित्य-सृजन के परिणामस्वरूप ही चित्तौड़ सदियों तक जैन विद्या का अध्ययन-केन्द्र बना रहा।

हरिभद्रसूरि की संस्कृत रचनाएँ

चित्तौड़ को संस्कृत-साहित्य का प्रधान केन्द्र बनाने में आचार्य हरिभद्र का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। उन्होंने दर्शन और प्रमाण-शास्त्र की अनेक रचनाएँ संस्कृत में लिखी हैं। प्राकृत में लिखे आगमों को विद्वान् समाज के सम्मुख व्याख्या सहित प्रस्तुत करने में हरिभद्र अग्रणी हैं। इन्होंने आगमों पर टीकाएँ भी लिखी हैं तथा स्वतन्त्र ग्रन्थ भी। इनकी संस्कृत रचनाओं की संख्या पर मतभेद है। अभी तक उनकी निम्न संस्कृत रचनाएँ उपलब्ध हैं :—

१. प्राचीन ग्रन्थों पर टीकाएँ

- | | |
|--------------------------------|-----------------------------|
| १. अनुयोगद्वार विवृति | २. आवश्यक सूत्र निवृति |
| ३. आवश्यक सूत्र बृहत् टीका | ४. चैत्यवन्दन सूत्र वृति |
| ५. जीवाजीवाभिगम सूत्र लघु वृति | ६. तत्त्वार्थसूत्र लघु वृति |
| ७. दशवैकालिक बृहद्वृति | ८. नन्दी अध्ययन टीका |
| ९. पंच सूत्र व्याख्या | १०. प्रज्ञापना सूत्र टीका |
| ११. ध्यानशतकवृति | १२. श्रावक प्रज्ञप्ति टीका, |
| १३. न्याय प्रवेश टीका। | |

२. मौलिक ग्रन्थ (टीका सहित)

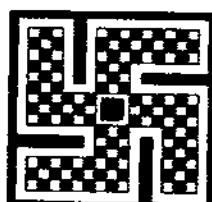
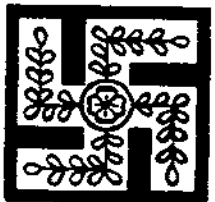
- | | |
|---------------------------|----------------------------------|
| १४. अनेकान्तजयपताका | १५. योगदृष्टि समुच्चय |
| १६. शास्त्रवार्ता समुच्चय | १७. सर्वज्ञसिद्धि |
| १८. हिंसाष्टक, | १९. अनेकान्तजयपताकोद्योत दीपिका। |

३. टीका रहित स्वरचित ग्रन्थ

- | | |
|------------------------|--------------------------------------|
| २०. अनेकान्तवाद प्रवेश | २१. अष्टकप्रकरण |
| २२. धर्मबिन्दु | २३. भावार्थमात्रवेदिनी |
| २४. योगबिन्दु | २४. लोकतत्त्व निर्णय |
| २६. श्रावक धर्मतन्त्र | २७. षड्दर्शन समुच्चय |
| २८. षोडश प्रकरण | २९. संसारदावानल स्तुति। ^२ |

१. संघवी, सुखलाल, 'सन्मति प्रकरण', प्रस्तावना, पृ० ९५-११३

२. शास्त्री, नेमिचन्द्र, वही, पृ० ५२-५३



इन समस्त रचनाओं का विषय प्रतिपादन यहाँ अपेक्षित नहीं है।^१ इनसे इतना अवश्य ज्ञात होता है कि हरिभद्रसूरि ने अपने समय में संस्कृत को धर्म और दर्शन के क्षेत्र में एक सशक्त भाषा के रूप में स्वीकार किया था।

जिनसेन

एलाचार्य एवं वीरसेन के समय में चित्तौड़ जैन धर्म का प्रमुख केन्द्र बन गया था। अतः वीरसेन के प्रमुख शिष्य जिनसेन ने भी चित्तौड़ में काव्य-रचना की प्रेरणा ग्रहण की है। उनका सम्बन्ध चित्तौड़, बंकापुर एवं बटग्राम से रहा है।^२ जिनसेन की प्रतिभा और पाण्डित्य अद्वितीय था। वे जितने सिद्धान्तशास्त्रों के ज्ञाता थे उतने ही काव्य-शास्त्र के मर्मज्ञ। उनकी तीन संस्कृत रचनाएँ उपलब्ध हैं—१. पार्श्वभ्युदय २. आदिपुराण एवं ३. जयधवलाटीका। पार्श्वभ्युदय में जिनसेन ने कालिदास के मेषदूत की समस्यापूर्ति की है।^३ आदिपुराण में ऋषभदेव और भरतचक्रवर्ती की कथा के माध्यम से कवि ने प्राचीन इतिहास, धर्म-दर्शन व संस्कृति आदि अनेक विषयों का प्रतिपादन किया है।^४ जयधवलाटीका में जिनसेन ने अपने गुरु वीरसेन के कार्य को पूरा किया है। ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका इन्होंने स्वयं लिखी है। यद्यपि जिनसेन के ये ग्रन्थ मेवाड़ में नहीं लिखे गये, किन्तु मेवाड़ भूमि की साहित्यिक परम्परा का पोषण अवश्य इनकी पृष्ठभूमि में है।

जिनवल्लभसूरि

राजस्थान की एक महान् विभूति के रूप में जिनवल्लभसूरि को स्मरण किया जाता है। ये संस्कृत, प्राकृत के अधिकारी विद्वान् थे। खरतरगच्छ की परम्परा में इन्होंने स्वयं साहित्य लिखा है तथा अपने शिष्यों को भी इतना तैयार किया कि वे अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ लिख गये हैं। जिनवल्लभसूरि के संस्कृत में निम्न प्रमुख ग्रन्थ उपलब्ध हैं—

१. धर्मशिक्षाप्रकरण, २. संधपट्टक, ३. भावारिवारणस्तोत्र, ४. पंचकल्याणस्तोत्र, ५. कल्याणस्तोत्र, ६. सरस्वतीस्तोत्र, ७. सर्वजिनस्तोत्र, ८. पार्श्वजिनस्तोत्र, ९. पार्वस्तोत्र, १०. शृंगारशतक ११. प्रश्नोत्तरषष्टीशतक, १२. चित्रकूट प्रसास्ति आदि।^५

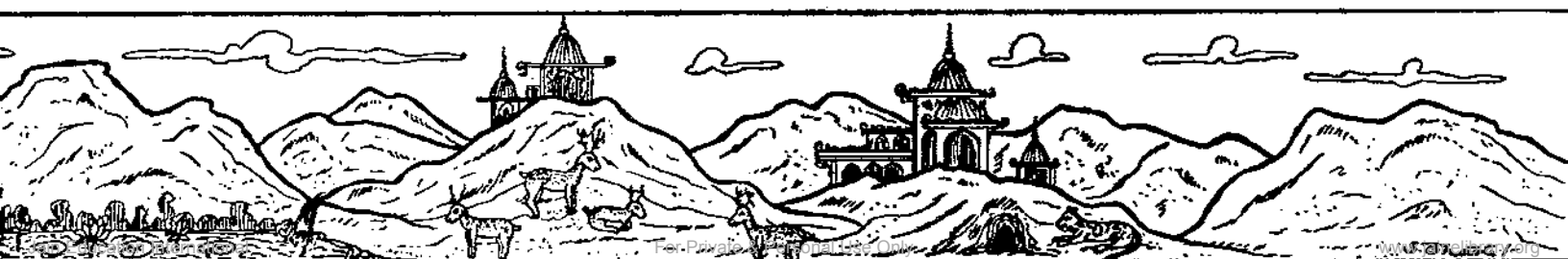
इन ग्रन्थों का विषय धार्मिक है। किन्तु संस्कृत भाषा का चमत्कारिक प्रयोग कवि ने किया है। विभिन्न अलंकारों और छन्दों से ये रचनाएँ ओत-प्रोत हैं। यद्यपि उनके आकार छोटे हैं, किन्तु विषय की स्पष्टता है।

इन रचनाओं में 'शृंगारशतक' महत्त्वपूर्ण साहित्यिक कृति है। भरत के नाट्यशास्त्र और कामतन्त्र के दोहन के बाद सम्भवतः इसे लिखा गया है। जैनचार्यों की यह अकेली शृंगार-प्रधान संस्कृत रचना है। इसमें कुल एक सौ इक्कीस श्लोक हैं। इस कृति में नायिका के अंगोपांग तथा हावभाव का अच्छा वर्णन हुआ है। एक पद्य में कवि कहता है कि नायिका की दस्त-ज्योत्सना भगन-मण्डल में फैली हुई अखिल विश्व को अपनी धवलिमा से आप्लावित कर रही है। ऐसी स्थिति में वह अमिसार के लिए चन्द्रोदय की प्रतीक्षा क्यों करे ?

मुग्धे दुग्धादिवाशा रचयति तरला ते कटाक्षच्छटाली,
दन्तज्योत्सनापि विश्वं विशदयति वियन् मण्डलं विस्फुरन्ती।
उत्फुल्लद् गंडपाली त्रिपुलपरिलसत् पाणिडमाडम्बरेण,
क्षिप्तेन्दो कान्तमदामिसर सरमसं कि तवेन्दूदयेन ॥७६॥

जिनवल्लभसूरि के शिष्य जिनवत्ससूरि की भी कुछ रचनाएँ संस्कृत में मिलती हैं। यथा—वीरस्तुति, सर्वजिनस्तुति, चक्रेश्वरीस्तोत्र, योगिनीस्तोत्र, अजितस्तोत्र आदि। ये सभी रचनाएँ भक्ति प्रधान हैं।

१. दृष्टव्य—'समदर्शी हरिभद्रसूरि'।
२. 'आगत्य चित्रकूटात्ततः स भगवान् गुरोरनुज्ञात्
३. शास्त्री, नेमिचन्द्र, 'संस्कृत काव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान', पृ० ४०२
४. शास्त्री, नेमिचन्द्र, 'आदिपुराण में प्रतिपादित भारत', दृष्टव्य।
५. दृष्टव्य—विनयसागर, 'जिनवल्लभसूरि का कृतित्व एवं व्यक्तित्व'



महाकवि आशाधर

आशाधर माण्डलगढ़ (मेवाड़) के मूल निवासी थे। किन्तु मेवाड़ पर शहाबुद्दीन गोरी के आक्रमणों के उपरांत वे धारा नगरी (मालवा) में जा बसे थे। उसी के समीप नलकच्छपुर में उन्होंने अपनी साहित्य-साधना की थी। ये वि० की तेरहवीं शताब्दी के विद्वान थे। संस्कृत में लिखी गयी इनकी लगभग २० रचनाओं के उल्लेख प्राप्त हुए हैं।^१ किन्तु उपलब्ध कम ही हुई हैं। आध्यात्मरहस्य, सागारधर्मामृत, अनागारधर्मामृत, जिनयज्ञकल्प, त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र आदि इनकी प्रसिद्ध संस्कृत रचनाएँ हैं। पं० आशाधर का अध्ययन बड़ा ही विशाल था। वे जैनाचार, अध्यात्म, काव्य, कोष, आयुर्वेद-शास्त्र आदि कई विषयों के प्रकाण्ड पण्डित थे।

भट्टारक कवि

मेवाड़ प्रदेश में दिगम्बर परम्परा के अनेक भट्टारकों का विचरण हुआ है। चित्तौड़, उदयपुर, ऋषभदेव आदि स्थानों पर इन भट्टारकों ने ग्रन्थागार भी स्थापित किये हैं। ये भट्टारक धर्म-प्रचारक के साथ-साथ अच्छे कवि भी होते थे। मेवाड़ के प्रभावशाली भट्टारक कवियों में भ० सकलकीर्ति, भ० भुवनकीर्ति, भ० ब्रह्मजिनदास, भ० शुभचन्द्र एवं प्रभाचन्द्र आदि प्रमुख हैं। भट्टारक सकलकीर्ति,^२ ने २६ एवं ब्रह्म जिनदास ने १२ रचनाएँ संस्कृत में लिखी हैं। इनके ये ग्रन्थ काव्यात्मक दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं।

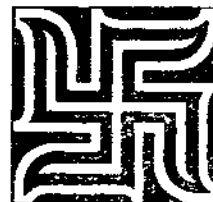
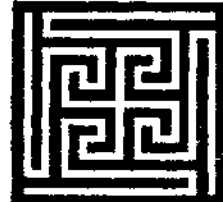
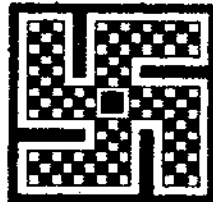
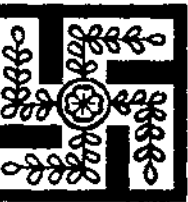
आचार्य शुभचन्द्र संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् थे। वि० सं० १५३०-४० के बीच इनका जन्म हुआ था। उदयपुर, सागवाड़ा, डूंगरपुर, जयपुर आदि स्थानों पर इन्होंने मूर्ति प्रतिष्ठा करायी थी। इन्होंने २४ रचनाएँ संस्कृत में लिखी हैं।^३ इनमें तीर्थंकरों का चरित, पाण्डवकथा, तथा जैन व्रत-विधानों का सुन्दर वर्णन हुआ है। जिनचन्द्र के शिष्य भट्टारक प्रभाचन्द्र का भी मेवाड़ में अच्छा प्रभाव रहा है। इन्होंने वि० सं० १५७२ में दिल्ली से अपनी गद्दी को चित्तौड़ में स्थानान्तरित कर लिया था।^४ इन्होंने प्राचीन साहित्य के उद्धार में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।

१५वीं शताब्दी के कवि

वि० सं० १५वीं शताब्दी में मेवाड़ में अनेक जैनाचार्य हुए हैं। उनकी संस्कृत रचनाओं ने यहाँ के साहित्यिक वातावरण को प्रभावशाली बनाया है। सोमसुन्दर तपागच्छ के प्रमुख कवि थे। वि० सं० १४५० में राणकपुर में इनको वाचकपद प्राप्त हुआ था। बाद में ये देलवाड़ा आ गये थे।^५ इनकी संस्कृत रचनाओं में कल्याणकस्तव, रत्नकोश, उपदेश-बालावबोध, भाष्यत्रय अवचूरि आदि प्रमुख हैं।^६

सोमसुन्दर के शिष्य मुनिसुन्दर भी संस्कृत के विद्वान् थे। इन्होंने 'शान्तिकर स्तोत्र' देलवाड़ा में लिखा था।^७ सोमदेववाचक सोमसुन्दर के दूसरे प्रभावशाली शिष्य थे। महाराणा कुम्भा ने इन्हें कविराज की उपाधि प्रदान की थी। देलवाड़ा इस युग में संस्कृत साहित्य का प्रधान केन्द्र था। वि० सं० १५०१ में माणिक्य सुन्दरगणि ने 'भवभावनाबालावबोध' नामक ग्रन्थ संस्कृत में लिखा था। इस युग के प्रतिष्ठित कवि प्रतिष्ठा सोम हुए हैं। ये महाराणा कुम्भा के समकालीन थे। इन्होंने 'सोमसोभाग्यकाव्य' तथा 'शुरुगुणरत्नाकर' जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की रचना की है। इन ग्रन्थों में तत्कालीन मेवाड़ के सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक जीवन की प्रामाणिक सामग्री

१. शास्त्री, ती० म० और उनकी आ० प०, भा० ४, पृ० ४१
२. जैन, बिहारीलाल, 'भ० सकलकीर्ति—एक अध्ययन' (धोसिस)
३. शास्त्री, वही, भा० ३, पृ० ३६५
४. जोहरापुरकर, 'भट्टारक सम्प्रदाय' लेखक २६५
५. 'सोम सोभाग्यकाव्य' पृ० ७५, श्लोक १४
६. शोधपत्रिका, भा० ६, अंक २-३, पृ० ५५
७. सोमानी, रामवल्लभ, 'महाराणा कुम्भा' पृ० २१२



संकलित है। संस्कृत की इन रचनाओं में गुजराती, मेवाड़ी और देशी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जो भाषा-विज्ञान की अध्ययन की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

१५वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कवि हुए हैं—महोपाध्याय चरित्ररत्नगणि। इन्होंने सं० १४६६ में चित्तौड़ में 'दान प्रदीप' नामक ग्रन्थ की रचना संस्कृत में की थी।^१ ग्रन्थ में दान के प्रकार एवं उनके फलों का अच्छा विवेचन हुआ है। इस ग्रन्थ में अनेक लौकिक कथाएँ भी दी गयी हैं। इसी शताब्दी में जयचन्द्र सूरि के शिष्य जिनहर्षगणि ने वि०सं० १४६७ में चित्तौड़ में 'वस्तुपालचरित' की रचना की थी। यह काव्य ऐतिहासिक और काव्यात्मक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। इसमें वस्तुपाल एवं तेजपाल चरित्र के अतिरिक्त प्रासंगिक रूप से कई दृष्टान्त और कथाएँ भी दी गई हैं।

संस्कृत प्रशस्तियाँ

मेवाड़ राज्य में संस्कृत की अनेक प्रशस्तियाँ व अभिलेख उपलब्ध हैं। इनका केवल ऐतिहासिक ही नहीं, अपितु काव्यात्मक महत्त्व भी है। इस प्रकार की प्रशस्ति-लेखन में जैनाचार्यों का भी योग रहा है।

१२वीं शताब्दी के दिगम्बर विद्वान् रामकीर्ति ने चित्तौड़गढ़ में सं० १२०७ में एक प्रशस्ति लिखी थी।^२ जो वहाँ के समिधेश्वर महादेव के मन्दिर में लगी हुई है। कालीशिला पर उत्कीर्ण इस २८ पंक्तियों की प्रशस्ति में शिव और सरस्वती स्तुति के उपरान्त चित्तौड़गढ़ में कुमारपाल के आगमन का विवरण दिया गया है। प्रशस्ति छोटी होने पर भी ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है।

मेवाड़ के दूसरे जैन प्रशस्तिकार आचार्य रत्नप्रभसूरि हैं। इन्होंने महारावल तेजसिंह के राज्यकाल में जो प्रशस्ति लिखी थी वह चित्तौड़ के समीप 'घाघसे' की बावड़ी में लगी हुई थी। इसकी रचना वि०सं० १३२२ कार्तिक कृष्णा १ रविवार को हुई थी। इसमें तेजसिंह के पिता जैत्रसिंह द्वारा मालवा, गुजरात, तुर्षुक और सांभर के सामन्तों की पराजय का उल्लेख है।^३ रत्नप्रभसूरि की दूसरी महत्त्वपूर्ण प्रशस्ति चीरवां गांव की है। वि०सं० १३३० में लिखित इस प्रशस्ति में कुल संस्कृत के ५१ श्लोक हैं। इसमें चेन्नागच्छ के कई आचार्यों का नामोल्लेख है तथा गुहिल वंशी बापा के वंशजों में समरसिंह आदि के पराक्रम का वर्णन है।^४

गुणमद्र मुनि ने वि० सं० १२२६ में बिजौलिया के जैन मन्दिर की प्रशस्ति लिखी थी। इसमें कुल ६३ श्लोक हैं। इस प्रशस्ति में पार्श्वनाथ मन्दिर के निर्माताओं के अतिरिक्त सांभर के राजा तथा अजमेर के चौहान नरेशों की वंशावली भी दी गयी है।^५ १५वीं शताब्दी में चरित्ररत्नगणि ने महावीर प्रासाद प्रशस्ति लिखी थी। इस प्रशस्ति में तीर्थकरों और सरस्वती की स्तुति के उपरान्त मेवाड़ देश का सुन्दर वर्णन किया गया है। चित्तौड़ को मेवाड़ रूपी तरुण का मुकुट कहा गया है। इसमें मन्दिर के निर्माता गुणराज की वंशावली दी गयी है।^६ इस प्रकार मेवाड़ के संस्कृत साहित्य के विकास में इन प्रशस्तिकारों का भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है।

मेवाड़ में प्राकृत, अपभ्रंश एवं संस्कृत भाषा में ग्रन्थ लेखन का प्रारम्भ करने वाले जैन मुनियों ने इस परम्परा को बीसवीं शताब्दी तक बराबर अक्षुण्ण बनाये रखा है। आधुनिक युग में भी अनेक मुनि इस प्रकार के साहित्य लेखन में संलग्न हैं। अतः स्पष्ट है कि मेवाड़ में रचित किसी भी भाषा के साहित्य का इतिहास जैन कवियों की रचनाओं को सम्मिलित किये बिना अधूरा रहेगा। इस साहित्य को आधुनिक ढंग से सम्पादित कर प्रकाश में लाने की आवश्यकता है।

१. नवांगवाधिशीतांशु (१४६६) मिते विक्रमवत्सरे ।

चित्रकूट महादुर्गे ग्रन्थोऽयं समापयत ॥

२. श्री जयकीर्तिशिष्येण दिगम्बर गणेशिना ।

प्रशस्तिरीदृशीचक्रे—श्री रामकीर्तिना ॥

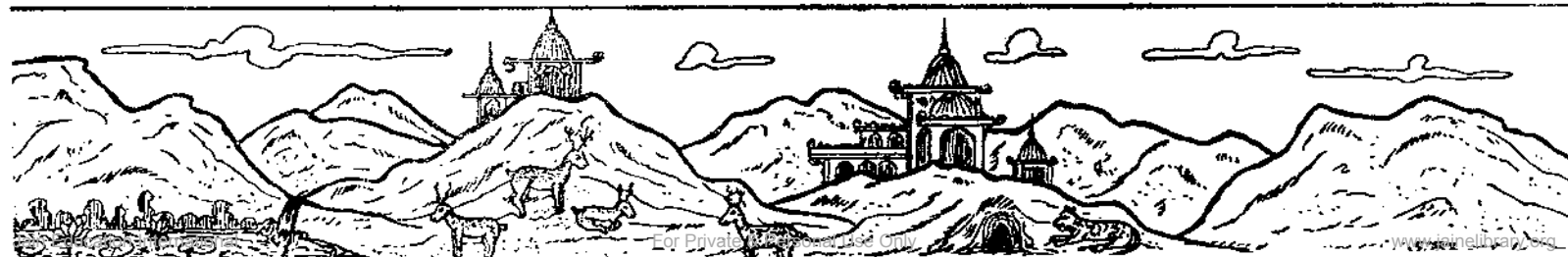
३. वरदा, वर्ष ५, अंक ३

४. वीरविनोद, भाग १, पृ० ३८६ ।

५. एषिक ग्राफिक इण्डिका, भाग २६ में प्रकाशित ।

६. सोमानी, महाराज कु. पृ० ३३८

—प्रशस्ति, १६



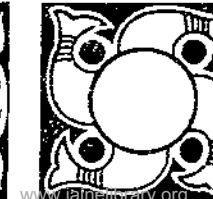
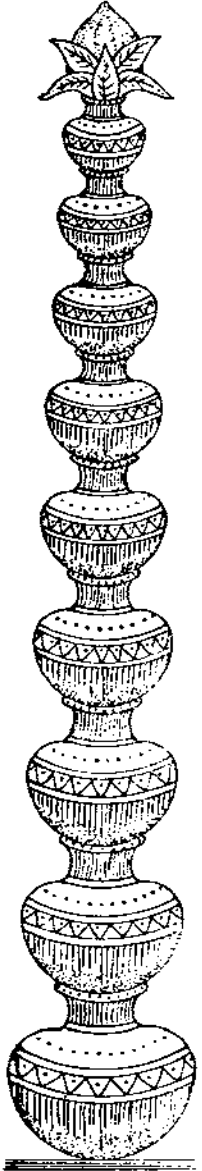
भारत की स्थापत्य एवं शिल्पकला के क्षेत्र में मेवाड़ ने योगदान ही नहीं, किन्तु मूर्तिकला के शिल्पकला को नई दृष्टि और दिशा भी दी है। विद्वान लेखक ने विस्तार से मेवाड़ के मूर्तिशिल्प पर प्रकाश डाला है।

□ डा० रत्नचन्द्र अग्रवाल
[निर्देशक—पुरातत्व संग्रहालय विभाग
राजस्थान, जयपुर]

प्राचीन भारतीय मूर्तिकला को मेवाड़ की देन

पिछले १५-२० वर्षों की शोध, खोज एवं पुरातात्विक खनन द्वारा मेवाड़ के प्राचीन इतिहास, कला एवं संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ा है। उदयपुर-चित्तौड़ व भीलवाड़ा क्षेत्र में प्राचीन 'प्रस्तर युग' के नानाविध उपकरण प्राप्त हुए हैं जिनसे यह सिद्ध हो चुका है कि इस भूमितल पर आदि-मानव आज से १ लाख वर्ष पूर्व सक्रिय था, वह पत्थर के हथियार बनाकर जीवन व्यतीत करता था, यद्यपि उस समय तक मूर्ति या मृत्भाण्ड कला का आविष्कार नहीं हुआ था। इस प्रसंग में पुरातत्ववेत्ता उस समय के आदि-मानव के अवशेष ढूँढ़ने में लगे हैं। इस समय के विविधानेक प्रस्तरास्त्र हमें चित्तौड़ की गम्भीरी नदी के किनारे से प्राप्त हो सकते हैं व अन्य कई स्थानों पर भी। अभी हाल में भीलवाड़ा जिले में 'बागोर' की खुदाई द्वारा बाद के युग की सामग्री प्रकाश में आयी है जिसका सविशेष अध्ययन किया जा रहा है।

सन् १९५५-५६ में मुझे उदयपुर नगर के पास एवं प्राचीन आघाटपुर (वर्तमान आयड़ या आहाड़) की खुदाई करने का सुअवसर मिला था, जिसके लिए मैं राजस्थान-शासन का आभारी हूँ। इस धूलकोट नामक टीले को लोग 'तांवावती' नगरी के नाम से पुकारते हैं जिसकी पुष्टि खुदाई द्वारा भलीभाँति सम्पन्न हुई है। यहाँ सबसे नीचे का धरातल लगभग ४ हजार वर्ष पुराना है और सिन्धु सभ्यता के बाद की सामग्री प्रस्तुत करता है। मेवाड़ में सिन्धु-सभ्यता के उपकरणों का प्रभाव इस समय पड़ा जिसके परिणामस्वरूप यहाँ आयड़ की मृत्भाण्डकला में 'डिश ऑन स्टैंड' (Dish on stand) संज्ञक पात्र विशेषों का अनुकरण स्थानिक मृत्भाण्डकला में सम्पन्न हुआ। साथ ही ईरानी कला के प्रभाव की द्योतक सामग्री भी मिली जिसमें सफेद धरातल पर काले माँडने वाले कुछ मिट्टी के बर्तन के टुकड़े भी हैं जो 'सिआल्क' (Sialk) की कला से साम्य रखते हैं। आयड़ के इस धरातल विशेष का काल-निर्णय तो 'कार्वन १४' विश्लेषण के आधार पर लगभग ईसा पूर्व १५०० वर्ष सिद्ध हुआ है। इस समय यहाँ 'लाल और काली धरातल' के मृत्भाण्डों का प्रयोग होता था जिन पर श्वेत रंग के नानाविध माँडने बने हुए हैं—यह यहाँ की कला विशेष थी और कई सौ वर्ष तक यहाँ पनपी। कालान्तर में इस सभ्यता विशेष का आहड़ की नदी-देड़च-बनास व चम्बल नदियों से सुलभ साधनों द्वारा उत्तर की ओर प्रसार हुआ। भारतीय पुरातत्वविदों ने अब इसे सिन्धुसभ्यता की तरह एक पृथक् सभ्यता मान कर इसको "आयड़ सभ्यता" का नाम भी प्रदान कर दिया है। इसके अन्य स्थल 'गिलूण्ड' (रेलमगरा में भगवानपुरा के समीप) नामक खेड़े की खुदाई भारतीय पुरातत्व विभाग ने कराई थी। यहाँ के एक मृत्भाण्ड पर माँडी गई पुरुषाकृति बहुत महत्वपूर्ण है यद्यपि इस प्रकार की सामग्री आयड़ से नहीं मिली है। आयड़ की मिट्टी के मणके तो 'अनीए' व 'ट्रीए' की कला से साम्य रखते हैं और उस समय मेवाड़ व विदेशों के पारस्परिक सम्बन्धों पर पर्याप्त प्रकाश



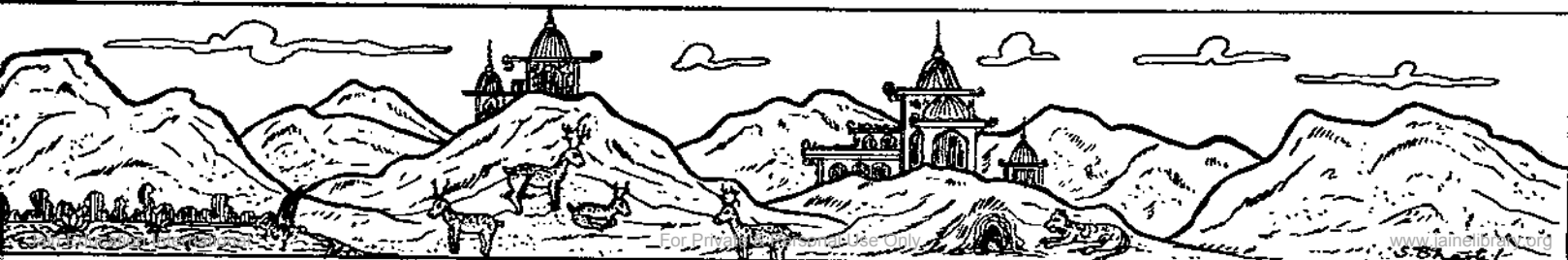
डालते हैं। आयड़ में उस समय तंबि का प्रयोग होता है—ऐसे ताम्रपरशु व चाकू मिले हैं और साथ में तांबा गलाने की मट्टी भी। तांबा तो इस क्षेत्र की समीपवर्ती खानों से प्राप्त किया जाता होगा।

आयड़ की खुदाई से मिट्टी की बनी पशुओं की आकृतियां तो मिली हैं परन्तु पुरुषाकृतियां या प्रस्तर प्रतिमाएं अद्यावधि अज्ञात हैं। मेवाड़ में शुंग काल से पूर्व (ईसा पूर्व प्रथम द्वितीय शती) की कोई मूर्ति अभी तक प्राप्त नहीं हुई है। चित्तौड़ के पास 'शिवि' जनपद का प्रख्यात केन्द्र 'मध्यमिका' (अर्थात् 'नगरी') इस सम्बन्ध में विशेष रूप से महत्वपूर्ण है। खुदाई द्वारा यहाँ शुंगयुगीन मृण्मूर्तियां मिली हैं—इनमें से एक फलक पर खड़ी देवी वसुधारा की है जिसने अपने एक हाथ में 'मत्स्य' (मछली) धारण कर रखा है। इस प्रकार की मृण्मूर्तियां मथुरा क्षेत्र और राजस्थान में रैड़ (टोक के पास) नामक स्थानों पर पर्याप्त संख्या में प्राप्त हुई हैं। नगरी की इस मृण्मूर्ति में भी मथुरा कला का प्रभाव झलकता है और यह सिद्ध करता है कि मौर्यकाल के बाद इस क्षेत्र के कलाकार भारतीय कला केन्द्रों से सम्बन्ध स्थापित कर रहे थे।

नगरी में उस समय 'भागवत धर्म' को विशेष महत्व प्राप्त था। यहाँ अश्वमेध-यज्ञ करने वाले एक 'सर्वतात' नामक राजा ने 'नारायणवाटिका' हेतु विशाल परकोटे का निर्माण करा तत्सम्बन्धी लेख को इस प्रस्तर-परकोटे की शिलालेखों पर कई स्थानों पर उत्कीर्ण भी कराया था। एक शिलालेख तो आज भी इस परकोटे का अंग बना हुआ है और अन्य खण्ड उदयपुर के 'प्रताप संग्रहालय' में सुरक्षित हैं। इस 'शिला-प्राकार' के बीच संकर्षण-वासुदेव की पूजा होती थी यद्यपि उस समय की कोई भी कृष्ण-बलराम प्रतिमा अभी तक नगरी से प्राप्त नहीं हुई है। कुछ विद्वानों का यह विचार है कि मध्यमिका की नारायणवाटिका में लकड़ी की मूर्तियां रही होंगी जो कालान्तर में नष्ट हो गई हों या यहाँ किसी स्थण्डिल पर "आयामपट्ट" के रूप में उकेरी जाकर पूजान्तर्गत हों। इस सम्बन्ध में यह स्मरण रहे कि शुंग काल में प्रस्तर प्रतिमाएँ पर्याप्त संख्या में बनने लगी थीं। मथुरा एवं विदिशा क्षेत्र में यक्ष-यक्षियों की पुरुषाकार मूर्तियां शुंग काल में बनायी गयीं और प्रायः प्रत्येक गांव में पूजी जाने लगी थीं। अपरंच, इसी युग में उष्णीषी 'बलराम' की स्वतंत्र मूर्तियां भी विद्यमान थीं। ऐसी एक विशाल प्रतिमा लखनऊ के राज्य संग्रहालय में सुरक्षित है। जब मेवाड़ के सूत्रधार नगरी में इतने बड़े प्रस्तर परकोटे का निर्माण करा सकते थे और पत्थर सुलभ था तो लकड़ी की मूर्तियां बनवाने का कोई तात्पर्य समझ में नहीं आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि मध्यमिका की नारायणवाटिका में प्रस्तर प्रतिमाएँ अवश्य रही होंगी जो मुसलमानी आक्रमकों के द्वारा खण्डित कर दी गई होंगी। नगरी पर यवनों का आक्रमण हुआ और बाद में मुसलमानों ने भी पर्याप्त ध्वंस कार्य किया था। इसके तनिक बाद के मथुरा के 'भोरा कुएँ' वाले शिलालेख में वृष्णिवीरों की मूर्तियों का उल्लेख किया गया है—वहाँ कुछ ऐसी मूर्तियाँ भी खण्डितावस्था में मिली हैं जो मथुरा संग्रहालय में सुरक्षित हैं। नगरी के शुंगकालीन शिलालेख में 'संकर्षण-वासुदेवार्भ्यां पूजा शिलाप्राकारो' द्वारा यह आभास होता है कि मध्यमिका के इस वैष्णव भवन में इन दो वृष्णिवीरों की मूर्तियाँ, किसी स्थण्डिल पर पूजा हेतु प्रतिष्ठित रही होंगी। ये पञ्चरात्र भाव की द्योतक नहीं हैं क्योंकि यहाँ पहले संकर्षण का उल्लेख हुआ है—ये तो वृष्णिवीरों की थीं। खेद है कि इनके निश्चित स्वरूप की पहचान करना संभव नहीं, परन्तु मथुरा की बलराम प्रतिमा द्वारा कुछ अनुमान तो किया ही जा सकता है।

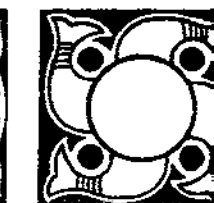
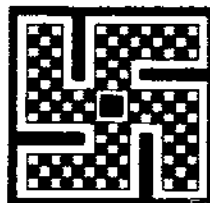
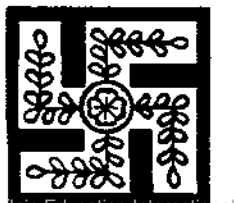
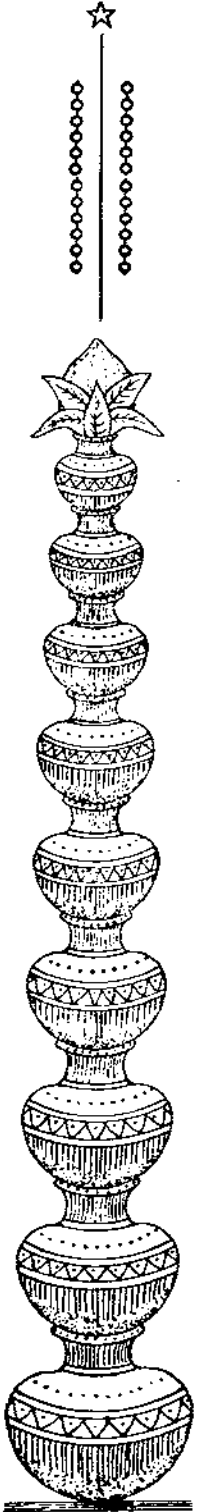
मेवाड़ क्षेत्र से ईसा की प्रारंभिक-शतियों की प्रस्तर प्रतिमाएँ अभी तक तो अज्ञात हैं। आयड़ की खुदाई द्वारा उपरी घरातल तो ईसा की प्रथम—तृतीय शती की मानी जा सकती है। उस समय यहाँ मिट्टी से बनी खपरैलों का प्रयोग होता है। तत्कालीन कुषाण खेड़ों से साम्य रखती हुई मृण्मूर्तियां आयड़ में मिली हैं जो स्थानिक 'पुरातत्त्व संग्रहालय' में सुरक्षित एवं प्रदर्शित हैं। इनमें कुछ 'बोटिब टैंक' के खण्ड शिर विहीन कुम्भोदर कुबेर या गणपति, हाथ उठाकर नृत्यमुद्रा में प्रस्तुत नर्तकी... ये कुछ मृण्मूर्तियां उल्लेखनीय हैं। इनमें कला-सौष्ठव को विशेष महत्व नहीं दिया गया है।

ईसा की तृतीय शती (संवत् २५२—२२७ ईसवी) का बना एक 'यूपस्तंभ' आज भी गंगापुर (भीलवाड़ा) से तीन मील दूरस्थ 'नांदसा' ग्राम के तालाब के बीच गड़ा हुआ है। इस पर एक शिलालेख खुदा है। यहाँ के अन्य यूपस्तंभ का एक खण्ड उदयपुर संग्रहालय में सुरक्षित है। इन स्तंभों द्वारा उस समय मेवाड़ की तक्षणकला का तो आभास होता है परन्तु तत्कालीन मूर्तियां सर्वथा अज्ञात हैं। सम्भव है, खुदाई द्वारा इस युग की कला पर कुछ भी



प्रकाश पड़ सके। ईसा की ५वीं व छठी शतियां मेवाड़ी कला के इतिहास का अनोखा युग था। उस समय गुप्तकला का पर्याप्त प्रभाव फैल चुका था और स्थानिक सूत्रकार व स्थापति पूर्णरूप से सक्रिय हो चुके थे। मध्यमिका नगरी के पांचवीं शती के शिलालेख में विष्णु-मंदिर का उल्लेख है और छठी शती के लेख में 'मनोरथस्वामि'—मठ का। यहां एक गुप्तकालीन मंदिर के अवशेष भी विद्यमान हैं जो ईंटों का बना था। इस मंदिर के बाहरी भागों पर नाना प्रकार की मिट्टी से बनी मूर्तियां जड़ी थीं जिनमें पशु-पक्षी, कमलाकृति अभिप्राय, पुरुष-स्त्री-शीर्ष आदि महत्त्वपूर्ण हैं। वास्तव में वह युग था मिट्टी की ईंटों के मंदिरों का। ऐसी कुछ गुप्तकालीन मृण्मूर्तियां अजमेर के राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित हैं और कुछ फलक पूना के दक्कन कॉलेज के पुरातत्त्व-विभाग में प्रदर्शित हैं। इन फलकों में देवी-देवताओं का अंकन तभी तक अज्ञात है। परन्तु उसी समय नगरी के मंदिर के बाहर सुविशाल मकर-प्रणाली की व्यवस्था की गई थी, ताकि गर्भगृह से पूजा का जल निकल सके। यह कलात्मक प्रस्तर-प्रणाली आज भी तत्रस्थ विद्यमान है। वहां पास में वृषभ-स्तम्भ-शीर्ष व अन्य प्रस्तर शिलाएँ भी सुरक्षित हैं जो मेवाड़ की गुप्तकला की निधियां हैं। एक विशाल तोरण की व्यवस्था की गयी, जिसके दोनों ओर के आयताकार स्तम्भों पर युगलाकृतियां प्रेममुद्रा में प्रदर्शित हैं। एक स्तम्भ के सबसे नीचे के भाग पर स्थानिक शिव 'त्रिशूल' लिए खड़े हैं। सबसे ऊपरी भाग पर 'कीर्त्तिमुख' अभिप्राय खुदा है। इन स्तम्भों के ऊपर एक शिला पर 'किराताजुनीय' संवाद पृथक्-पृथक् खण्डों में उत्कीर्ण है जो भारतीय प्रस्तरकला की अनुपम देन है। समूचे राजस्थान में यह अभिप्राय-विशेष अन्ध्र उपलब्ध नहीं हुआ। दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में भी नगरी से प्राप्त एक शिला खण्ड पर पुरुष-स्त्री की आकृतियां उत्कीर्ण हैं। नगरी की उपर्युक्त शिला में एक छोर पर नरेश शिव का अंकन बहुत महत्त्वपूर्ण है और यह सिद्ध करता है कि उत्तरी भारत के कलाकारों ने नटराज शिव को बहुत पहले से ही अपनी कृतियों में दर्शाया था। नगरी का यह नटराज तो राजस्थानी कला में नरेश का प्राचीनतम अंकन प्रस्तुत करता है। मध्यमिका के शिल्पियों की ये कलाकृतियां भारतीय कला के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण सामग्री मानी जा रही है। नगरी से प्राप्त 'आमलक' खण्ड आजकल स्थानिक पाठशाला के आंगन में पड़ा है, जिससे यह आभास होता है कि नगरी के मंदिर पर शिखर विद्यमान था और उसके ऊपर था खरबूजे की तरह का मोटा आमलक। पूर्व-मध्ययुग में इसकी आकृति तनिक चपटी हो जाती थी। इस दृष्टि से भी मेवाड़ी कला की यह आमलक-शिला भारतीय स्थापत्य के क्षेत्र में एक महत्त्वपूर्ण स्थान ग्रहण करेगी। नगरी के उपर्युक्त तोरण स्तम्भों पर युगलाकृतियां समीपवर्ती 'दशपुर' (मंदसोर) के पास सोंदनी एवं 'खिलचीपुर' की शिल्पकला से साम्य रखती हैं—ये एक ही कला के अन्तर्गत मानी जा सकती हैं। सोंदनी से प्राप्त तत्कालीन एक शिलापट्ट आजकल दिल्ली के राष्ट्रीय संग्रहालय में सुरक्षित है—यहां पर विद्याधर स्वप्रेयसी सहित आकाश में उड़ते हुए दिखाई देते हैं।

ईसा की ५वीं-छठी शतियों में उदयपुर-झगरपुर व ईडर (शामलाजी—खेड़झा) क्षेत्र में प्रतिमाएं प्रायः 'पारेवा' (Pareva) पत्थर की बनायी गईं, जो नीले-हरे रंग की हैं। इनको क्रमशः कपड़े से रगड़ कर काला रंग दिया जा सकता है और यह पहचानना कठिन हो जाता है कि यह काला संगमरमर है या साधारण पारेवा पत्थर। इस समय मेवाड़ में शिव-शक्ति-पूजा को विशेष महत्त्व दिया गया। शिव के साथ-साथ मातृकाओं की बहुत प्रतिमाएं पूजा हेतु बनने लगीं। जिनमें ये मातृकाएं प्रायः शिशु सहित प्रदर्शित की जाती थीं और प्रायः स्वतंत्ररूपेण पूजा हेतु प्रतिष्ठित की जाती थीं। इनमें ऐन्द्री, ब्राह्मी, कौमारी, माहेशी, अम्बिका.....आदि विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। उदयपुर जिले में कुरावड़ के पास 'जगत' नामक ग्राम में ईसा की छठी शती में एक मातृका मंदिर रहा होगा जो ईंटों का बना था—इसके कुछ अवशेष मुझे खुदाई में मिले थे। यहाँ से प्राप्त तत्कालीन प्रस्तर प्रतिमाएं उदयपुर के प्रताप संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही हैं जिनमें शिशुश्रीड़ा ऐन्द्री व आत्रलुम्बिधारिणी अम्बिका प्रमुख है। ऐन्द्री के एक हाथ में वज्र स्पष्ट है, परन्तु सिर पर मुकुट खटकता है जबकि उनके प्रियदेव 'इन्द्र' के सिर पर किरीट मुकुट का होना परमावश्यक है। उदयपुर जिले में ही 'परसाद' ग्राम के पास 'तनेसर' का एक आधुनिक शिव-मंदिर पहाड़ी की तलहटी में बना हुआ है। यहां एक चतुर्तरे पर प्राचीन प्रतिमाएं तो मेवाड़ की ५वीं-छठी शती की अनुपम निधियां थीं। सर्वप्रथम गणपति का शीर्षभाग है जहां गणेश के सिर पर अलंकरण का अभाव उनकी प्राचीनता का सूचक है। द्वितीय मूर्ति है 'शक्ति एवं कुक्कुट घर-स्कंद कार्तिकेय' की, जो शामलाजी से प्राप्त व बड़ौदा संग्रहालय में सुरक्षित तत्कालीन स्कंद मूर्ति से पूर्ण साम्य रखती है। इस स्कंद मूर्ति के पास, तनेसर ग्राम में ही, अन्य मूर्तियां मातृमात्र की द्योतक हैं, कहीं माता ने मोद

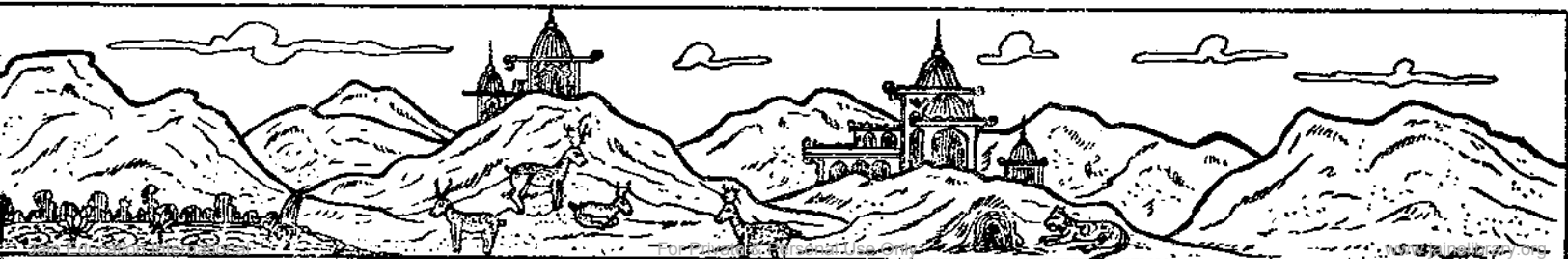


में शिशु को धारण किया है, अन्यत्र शिशु माता का हाथ पकड़ रहा है, कहीं माता उसे स्तन-पान करा रही है या अन्यत्र वह माता का हाथ पकड़ कर खेलना चाहता है। इस वर्ग की मूर्तियों में प्रत्येक मातृका के सिर के पीछे प्रभा-मण्डल बना है। क्या इन्हें साधारण मातृका प्रतिमाएँ समझना चाहिए?—नहीं, ये तो स्कंद सहित ६ कृत्तिकाओं के नानाविध स्वरूपों का प्रदर्शन करती हैं जिन्होंने जन्म के उपरान्त शिवपुत्र स्कंद का पालन-पोषण किया था और जिनके ही कारण उसका नाम कार्तिकेय पड़ा था। ये प्रतिमाएँ मूर्तिविज्ञान की दृष्टि से बहुत उपयोगी हैं और पहली बार भारतीय मूर्तिकला में 'स्कंद व कृत्तिका' अभिप्राय का अंकन प्रस्तुत करती हैं। ये सब प्रतिमाएँ तनेसर के तत्कालीन 'स्कंद-मंदिर' में पूजार्थ रखी गई होंगी। इनसे स्कंद के साथ-साथ कृत्तिका-मातृकाओं का स्वतंत्र-पूजन एवं प्रतिमा-निर्माण सिद्ध हो जाता है। इस दृष्टि से भी मेवाड़ की ये मूर्तियाँ अति विलक्षण हैं।

उदयपुर नगर के पास 'बेदला' ग्राम के बाहर एक आधुनिक मंदिर के अन्दर की 'हरिहर' प्रतिमा भी विवेच्य है। यह लगभग ४ फुट ऊँची होकर गुप्तोत्तरयुगीन कला में विष्णु व शिव के एक रूप की अभिव्यक्ति करती है। राजस्थान की अद्यावधि ज्ञात हरिहर-मूर्तियों की श्रेणी में प्राचीनतम होनी चाहिए। यह भी पारेवा पत्थर की बनी है। शिव की बाईं ओर का अर्धभाग विष्णु का सूचक है जहाँ उन्होंने ऊपर के हाथ में चक्र को प्रयोग-मुद्रा में धारण कर रक्खा है और नीचे के हाथ में शंख; शिवभाग में पुरुषाकार त्रिशूल ऊपरी दाहिने हाथ में विद्यमान है। सिर के भाँधे भाग में विष्णु का किरौट मुकुट व दूसरी ओर चन्द्रमौलि लाँछन सहित जटाजूट भी प्रतिमा के सौष्ठव में वृद्धि कर रहे हैं।

तनेसर से प्राप्त एक मातृका प्रतिमा अभी राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली, हेतु प्राप्त हुई है—यह राजस्थान शासन से भेंट-स्वरूप मिली है—यहाँ देवी कुछ झुकी मुद्रा में दिखाई देती है और भारतीय शिल्प-कला की असाधारण कृति है। चित्तौड़ क्षेत्र में पूर्वमध्ययुगीन कला के स्वरूप चित्तौड़ दुर्गस्थ कुम्भश्याम-मंदिर व कालिका-मंदिर विशेष रूपेण उल्लेखनीय हैं। कुम्भश्याम-मंदिर का बाहरी जंघा भाग दवीं शती का है—पीछे प्रधान ताल में नीचे शिव-पार्वती-विवाह प्रतिमा जड़ी है व बाईं ओर जंघाभाग पर स्थानक एवं जटाधारी द्विबाहु लकुलीश। इस आशय की लकुलीश मूर्तियाँ अत्यल्प संख्या में मिली हैं, जहाँ उन्हें खड़े दिखाया गया हो। चित्तौड़ दुर्ग की अन्य शिव-प्रतिमा में भी यही भाव झलकता है, परन्तु वहाँ शिव-लकुलीश के एक साथ में परशु भी है और जंघा पर सिंहचर्म प्रदर्शित है। चित्तौड़ का कालिका-मंदिर प्रारंभ में (अर्थात् मूलतः) सूर्यमंदिर था जिसके निजगर्म-गृह-द्वार-ललाट-बिम्ब पर आसनस्थ सूर्य-प्रतिमा जड़ी है और तथैव बाहरी तालों में। गर्मगृह के चारों ओर प्रदक्षिणा-पथ की व्यवस्था की गई है और गर्मगृह जंघा-भाग पर दिक्पाल प्रतिमाएँ जड़ी हैं। यहाँ पूर्वपरम्परानुसार सोम (चंद्र) की प्रतिमा भव्य है। इसके सिर के पीछे अर्ध-चन्द्राकृति खुदी है। यह राजस्थान की मूर्तिकला में प्राचीनतम चन्द्र-प्रतिमा स्वीकार की जा सकती है। इसके पास 'अश्वमुख अश्विन' प्रतिमा जड़ी है और इसी प्रकार दूसरी ओर भी अन्य 'अश्विन' की। इस मंदिर के बाहर 'अश्विनी कुमारों' व 'चन्द्र' की ये शिल्पाकृतियाँ मूर्तिविज्ञान की महत्त्वपूर्ण निधियाँ हैं। इस सूर्य-मंदिर के प्रदक्षिणापथ से बाहर भी बाह्य-जंघा की व्यवस्था की गई है जहाँ क्रमशः नानाविध प्रतिमाएँ मूलतः जड़ी गई थीं। इनमें बाईं ओर मध्यवर्ती प्रतिमा समुद्रमंथन-भाव की अभिव्यक्ति करते हुए विष्णु के कच्छपावतार का भी प्रदर्शन कर रही है। यहाँ कच्छप की पीठ पर मथानी रखकर मंथन-क्रिया सम्पन्न की जा रही है। इस सूर्य-मंदिर के बाहर एक विशाल कुण्ड के बीच बना लघु मंदिर देवी-भवन था और सम्भवतः दवीं शती में बनाया गया था।

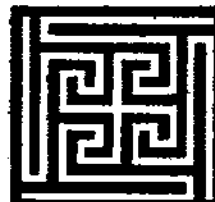
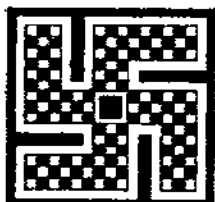
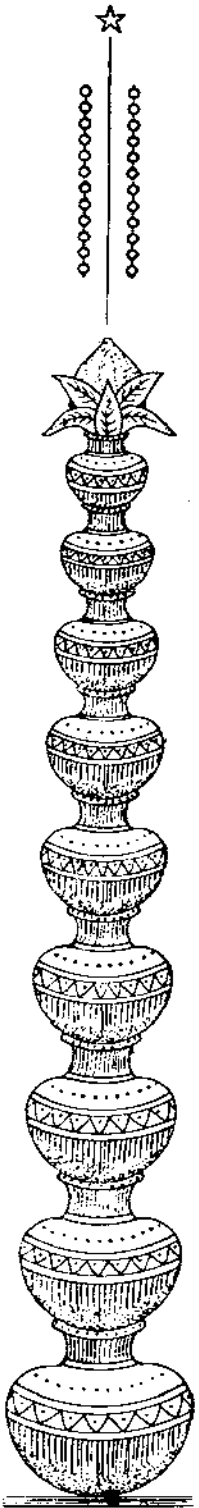
भीलवाड़ा जिले में मेनाल (महानाल का मध्ययुगीन महानालेश्वर नामक शिवालय तो चाहमान-कला का महत्त्वपूर्ण स्मारक है और पास ही १२वीं शती का तत्कालीन शैवमठ, जिसकी दीवार पर संवत् १२२५ का शिलालेख खुदा है। मठ के स्तम्भों पर घटपल्लव अभिप्राय अंकित हैं। निजमंदिर में प्रवेश करने से पहले एक पंक्ति में तीन लघु देवकुलिकाएँ पूर्व मध्ययुगीन प्रतीत होती हैं—वे चित्तौड़ के सूर्य-मंदिर व ओसियाँ के प्रतिहार कालीन स्थापत्य व शिल्प से सम्बन्धित हैं। मेनाल की इन दो देवकुलिकाओं के पार्श्व भाग में नटराज शिव की मूर्तियाँ जड़ी हैं और अंतिम देवकुलिका के बाहर अर्धनारीश्वर शिव की। इसी युग की जैन कला की एक भव्य कुबेर प्रतिमा भीष्डर क्षेत्र के 'बांभी' नामक स्थान पर मिली थी और आजकल 'प्रताप संग्रहालय' उदयपुर में सुरक्षित है। भारतीय शिल्प-कला की यह अलौकिक सुन्दर एवं सुबढ़ मूर्ति है—पारेवा पत्थर की इस प्रतिमा में वाहन सहित आसनस्थ धनपति कुबेर के एक हाथ में 'नकुलक' (रूपये की थैली) है और दूसरे में बिजोरा फल। कुबेर के सिर पर जिन-तीर्थंकर की लघुमूर्ति खुदी है और



तथैव अन्य जिनाकृति मुकुट के बीच भी विद्यमान है। तक्षणकार ने इस अभिप्राय-विशेष को पुनरुक्ति कर इसे सर्वथा जैन-कुबेर बना दिया है। इसके अभाव में यह सर्वसाधारण कुबेर की मूर्ति मानी जाती। बांसी के प्राचीन स्थल के खण्डहर कई मील की दूरी तक बिखरे पड़े हैं जहाँ पर बड़ी-बड़ी ईंटें प्रायः मिलती रहती हैं। यह स्थलविशेष निश्चित ही गुप्तोत्तर-युग में पर्याप्त समृद्धिशाली रहा होगा। इसी प्रकार धुलेब-केसरियाजी से लगभग ८ मील दूरस्थ 'कल्याणपुर' का प्राचीन स्थल भी अवशेष प्रस्तुत करता है। इस स्थान से प्राप्त कई शैव प्रतिमाएँ आजकल उदयपुर के महाराणा भूपाल कॉलेज में सुरक्षित की गई हैं। कल्याणपुर ग्राम के बाहर आधुनिक शिवालय के अन्दर एक 'चतुर्मुख शिवलिंग' पूजान्तर्गत है। यह भी पारेवा पत्थर का बना है और ७-८ वीं शती की मोहक कलाकृति है। यहाँ ऊपरी भाग के चारों ओर शिवमस्तक बने हैं और उनके नीचे ब्रह्मा-विष्णु-महेश व सूर्य की स्थानक मूर्तियाँ खुदी हैं। यहाँ सूर्य व उनके अनुचरों को ईरानी वेशभूषा में प्रस्तुत किया गया है। कल्याणपुर से प्राप्त एक विशाल शिवमस्तक प्रताप संग्रहालय, उदयपुर, की शोभा बढ़ा रहा है। यह मध्ययुगीन प्रतिमा यूरोप के संग्रहालयों में भारतीय-कला-प्रदर्शनी में भी भेजी गयी थी। यहाँ शिव-कुण्डलों में लक्ष्मी व सरस्वती की आकृतियाँ इस अभिप्राय विशेष की दृष्टि से अनोखी हैं। यह मूर्ति भी पारेवा पत्थर की बनी है। कल्याणपुर से प्राप्त दो प्रस्तर प्रतिमाएँ नाग-नागी एवं नागी अभिप्राय की अभिव्यक्त करती हैं जिनसे यह प्रतीत होता है कि उस समय मेवाड़ में नागपूजा को पर्याप्त मान्यता दी जाती थी। उदयपुर नगर के पास 'नागदा' नामक ग्राम आज तक विद्यमान है जिसका प्राचीन नाम 'नागहृद' तो वि० संवत् ७१८ के शिलालेख में उपलब्ध है।

पूर्वमध्ययुगीन धातुकला की दृष्टि से आयड़ ग्राम से प्राप्त कांस्य-मूर्ति बहुत उपयोगी है। यह लगभग पुरुषाकार है और जिन तीर्थंकर की ध्यानावस्था में प्रस्तुत करती है। अभी तक इतनी पुरानी धातु प्रतिमा मेवाड़ में अन्यत्र नहीं मिली है। आजकल यह आयड़ के पुरातत्व-संग्रहालय की शोभा बढ़ा रही है। मध्ययुग में आयड़ व्यापार एवं कला का भी एक प्रमुख केन्द्र बन गया था। यह गुहिल नरेशों की राजधानी था। यहाँ कई प्राचीन मंदिर मेवाड़ की गुहिल कला व स्थापत्य के ज्वलन्त प्रतीक रूप में आज भी विद्यमान हैं। आयड़ की महासतियों के अहाते के बाहर 'गंगोद्भेद' कुण्ड का निर्माण गुहिल नृपति भर्तृभट्ट के राज्य काल में संवत् १००१ में कराया गया। तत्सम्बन्धी शिलालेख आजकल उदयपुर के महाराजा भूपाल कॉलेज में सुरक्षित है। इस लेख में 'आदिवराह' नामक किसी व्यक्ति द्वारा आदिवराह-विष्णु-मंदिर में 'आदिवराह-प्रतिमा' की प्रतिष्ठा का उल्लेख किया गया है। कुण्ड के पास ही दो प्राचीन मंदिर हैं—बड़ा मंदिर बहुत ऊँचा है, इसके गर्भगृह के बाहर दाहिनी ओर शिव—लकुलीश-की मूर्ति जड़ी है। निज गंगोद्भेद कुण्ड के अन्दर ताकों में जड़ी हुई कई दर्जन प्राचीन प्रतिमाएँ मेवाड़ की मध्ययुगीन शिल्प का बखान करती हैं। इनमें से सप्ताश्वरथ में विराजमान सूर्य व चौदह हाथ वाले नृसिंह-वराह-विष्णु की दो भव्य मूर्तियाँ आयड़ संग्रहालय में सुरक्षित कर दी गई हैं। मेवाड़ में सूर्य-पूजा को भी पर्याप्त मान्यता प्राप्त थी। मध्ययुग में यहाँ कई सूर्य-मंदिरों का निर्माण हुआ था जिनमें से नादेसमा (गोर्गुदा के पास) का सूर्य-मंदिर तो प्रायः नष्ट हो चुका है परन्तु उदयपुर से १२ मील दूरस्थ व दारोली ग्राम के पास का सूर्य-मंदिर बहुत भव्य है—यह बेडच नदी के बायें किनारे पर पूर्वोन्मुख होकर बना है। मंदिर के समा-मण्डप में सुरसुन्दरी-प्रतिमाएँ जुड़ी हैं व जंघा-भागों पर भी। गर्भगृह की प्रधान ताकों में सूर्य सगवान की कई प्रतिमाएँ आज भी सुरक्षित हैं। यह मध्ययुगीन सूर्य-मंदिरों की श्रेणी में सर्वोत्तम माना जा सकता है; यद्यपि मंदिर के शिखर भाग का सर्वथा जीर्णोद्धार हो चुका है।

आयड़ ग्राम के अन्दर कई जैन मन्दिर पूजान्तर्गत हैं। इनमें पुलिस स्टेशन के सामने व ग्राम के बीच के मन्दिर लगभग ११वीं शती की शिल्पकला का परिचय देते हैं। आयड़ पुलिस चौकी के पीछे खेत में विद्यमान मन्दिर भी उल्लेखनीय है—इसका शिखर तो प्रायः आधुनिक है—इसे 'मीरां-मन्दिर' कहा जाता है, परन्तु यह ठीक नहीं। इससे मीरां का कोई सम्बन्ध नहीं है क्योंकि यह ईसा की १०वीं शती में बना होगा। मन्दिर के पीछे प्रधान ताक में लक्ष्मीनारायण-मूर्ति तत्कालीन है और नीचे बंसी बजाते 'कीचक' की, जिसे भ्रमवरा लोग कृष्ण समझकर मंदिर को मीरां से सम्बन्धित मान लेते हैं। यह अभिप्राय राजस्थान में सिरोही क्षेत्रान्तर्गत 'वर्माण' के स्तम्भ-शीर्ष द्वारा भी प्रस्तुत किया गया है। आयड़ के मीरां-मंदिर के जंघामागों में दिक्पाल व सुरसुन्दरी प्रतिमाओं के साथ कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण फलकों का विवेचन करना बहुत आवश्यक है क्योंकि ये मेवाड़ के मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से असाधारण हैं। एक स्थल पर

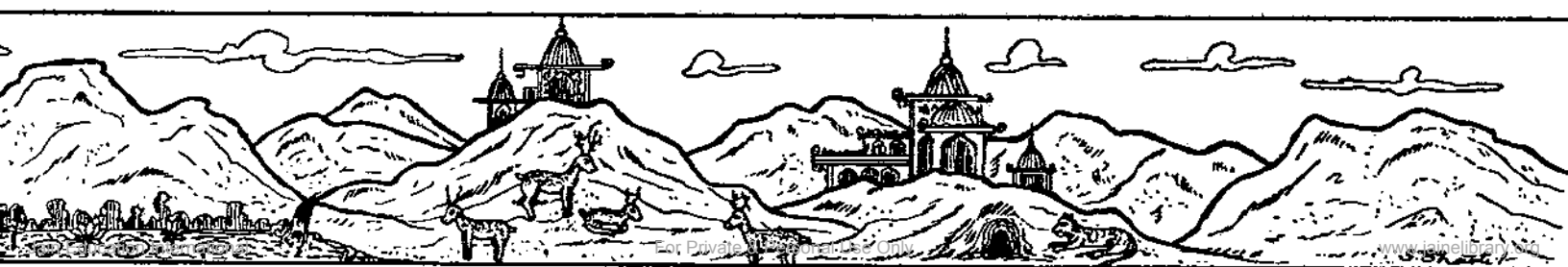
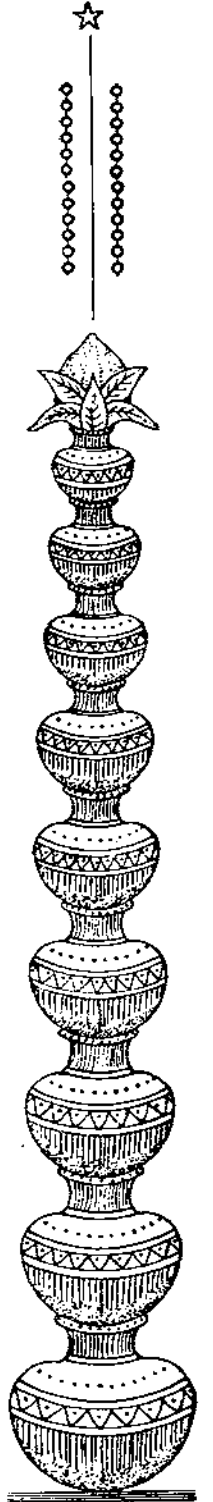


नन्दवाबा गो-बैल सहित प्रदर्शित हैं व दूसरी ओर यशोदा मैया दधि-मंथन कर रही हैं और पास खड़े कृष्ण माखन चुरा रहे हैं। दूसरे फलक में कुछ वणिक् 'तराजू' से सामान तोलते हुए दिखाई देते हैं—इस प्रकार की तराजू आज भी 'पंसारी' लोग प्रयोग में लाते हैं। तृतीय शिला पर 'लोहकार' धौकनी द्वारा अग्नि प्रज्वलित कर लोहे के टुकड़े को गर्म कर रहा है और पास बैठा अन्य लोहार हाथ में हथौड़ा लिए उस लोहे के टुकड़े को एक 'ठिये' पर रखकर पीट रहा है। ये प्रस्तर फलक तत्कालीन मेवाड़ (१०वीं शती) के सामाजिक एवं आर्थिक जीवन की आकर्षक झांकी प्रस्तुत करते हैं।

मेवाड़ के सांस्कृतिक जीवन में १०वीं शती को स्वर्णिम-युग समझना अनुचित न होगा। यह पर्याप्त समृद्धिशाली समय था जबकि यहाँ बहुत से देवमवनों का निर्माण हुआ और नये-नये अभिप्राय शिल्पियों के माध्यम से कला में अभिव्यक्त किये गये। उदयपुर जिले के कई मंदिरों का उल्लेख किया ही जा चुका है। उदयपुर नगर से केवल १३ मील दूरस्थ व गोगुन्दा रोड़ पर 'ईसवाल' का विष्णु-मंदिर पञ्चायतनशैली का है। मध्यवर्ती मंदिर के बाह्य भागों पर जड़ी दिक्पाल प्रतिमाएँ प्राचीन परम्परानुसार द्विबाहु हैं। प्रवेश करते समय दाहिनी ओर गणेश-मंदिर है व उसके सामने कुबेर का। पीछे सूर्य व देवी के लघु मन्दिर बनाकर 'पंचायतन' भाव को पूरा किया गया। ईसवाल से आगे खमणोर रोड़ पर जाकर, खमणोर से ३ मील दूर 'ऊनवास' का पिप्पलाद माता का मंदिर संवत् १०१६ में बना था—सम्भवतः मुहिल अल्लट के राज्यकाल में। निज मंदिर के पीछे प्रधान ताक में गौरी-पार्वती की मूर्ति जड़ी है। यह बहुत साधारण-सा दुर्गाभवन है—यहाँ दिक्पाल व सुरसुन्दरी प्रतिमाओं का सर्वथा अभाव है।

उदयपुर-कैलाशपुरी-नाथद्वारा रोड़ पर उदयपुर से १३ मील दूरस्थ कैलाशपुरी अर्थात् श्री एर्कालगजी के निजमंदिर से ऊपर की पहाड़ी पर विक्रम संवत् १०२८ का बना लकुलीश-मंदिर भारतीय स्थापत्य की महत्त्वपूर्ण निधि है। यह शिलालेख लकुलीश सम्प्रदाय के इतिहास की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण है। निजमंदिर के गर्भगृह में काले पत्थर की बनी पुरुषाकार लकुलीश मूर्ति शिव को ऊर्ध्वरेतस् स्वरूप में प्रस्तुत करती है। प्रवेश के बांधी ओर शिलालेख जड़ा है व दूसरी ओर की ताक में शारदा-सरस्वती की मव्य प्रतिमा। इसके नीचे चौकी पर एक पंक्ति का लघुलेख खुदा है। प्रस्तुत मंदिर के सभा-मण्डप के दोनों ओर वायु व धूप प्रवेश हेतु जालियों की व्यवस्था की गई है, परन्तु समूचा जंघा-भाग व पार्श्वभाग सर्वथा मूर्ति विहीन है— यहाँ मूलतः किसी भी प्रकार की सुरसुन्दरी या दिक्पाल मूर्तियाँ नहीं जड़ी गयी थीं। अतः १० वीं शती के स्थापत्य की दृष्टि से यह देवभवन भारतीय मध्ययुगीन कला की एक महत्त्वपूर्ण देन है।

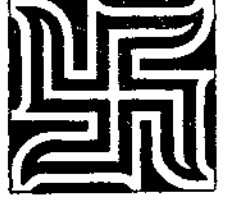
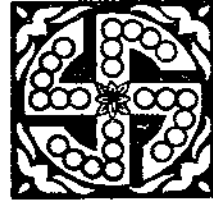
कैलाशपुरी के पास ही, एक मील की दूरी पर, नागदा ग्राम के प्राचीन मंदिर के अवशेष भी इस सन्दर्भ में विशेषरूपेण उल्लेखनीय हैं। यह स्थान ७वीं शती में वैष्णव सम्प्रदाय का केन्द्र था जैसा कि इस स्थान से प्राप्त संवत् ७१८ के शिलालेख द्वारा आभास होता है। संवत् १०८३ के अन्यलेख में भी इस स्थान का नाम 'नागहृद' अंकित है। नागदा के तालाब के किनारे पर एक ओर बड़े चबूतरे पर दो बड़े मंदिर बने हैं जिन्हें सास-बहू मंदिर नाम से पुकारा जाता है। इन दोनों ही मंदिरों के गर्भगृह के बाहर ताकों में ब्रह्मा विष्णु व शिव की प्रतिमाएँ जड़ी हैं—दोनों ही के पीछे प्रधान जंघा के ऊपर बलराम मूर्ति भागवत-भाव की पुष्टि करते हैं और इसी शृंखला में बाजू की एक ओर दाशरथिराम व दूसरी ओर वरशुराम की लघु प्रतिमाएँ जड़ी हैं। तक्षणकार ने राम भाव (संकर्षण बलराम-दशरथपुत्र राम, परशुराम) को प्रधानता दी है। मूर्ति-विज्ञान की दृष्टि से ये दोनों प्रधान मन्दिर व पास की लघुदेवकुलिकाएँ बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं—इनके में एक पृथक् पुस्तक लिखी जा सकती है। यहाँ संक्षेप में कुछ ही विलक्षण मूर्तियों का उल्लेख सम्भव होगा। सास-बहू मंदिर के बीच पीछे की ओर एक लघु मन्दिर के पीछे की ताक में आसनस्थ देव प्रतिमा में शिव व सूर्य के एक रूप को दर्शाया गया है—इसे 'मार्त्तण्ड भैरव' की संज्ञा दी जानी चाहिए। चतुर्बाहु एवं आसनस्थ देव ने छाती पर सूर्य का कवच पहन रखा है, ऊपर के हाथों में धारण किए गए आयुध (शूल व खट्वांग) शिव के प्रतीक हैं व नीचे के दोनों हाथों में 'कमल' सूर्य के। देवता के सिर पर मुकुट सूर्य का सूचक है। इस आशय की स्वतन्त्र प्रतिमाएँ अभी तक अन्यत्र नहीं मिली हैं, यद्यपि 'मार्त्तण्ड भैरव' एक लघ्वाकृति एक अलंकृत शिलापट्ट पर खुदी है जो आजकल अमरीका के लॉस-एन्जल्स की प्रदर्शनी में रक्की गई थी। वह भी राजस्थानी कलाकृति प्रतीत होती है। नागदा के सास-मंदिर में सभा-मण्डप के बाहर दाहिनी ओर एक मूर्ति गजेन्द्रभोक्ष संवाद की सूचक है। यहाँ विष्णु के अतिरिक्त पास में 'गज' प्रदर्शित है जिसे जलग्राह ने सताया था। राजस्थान की मूर्तिकला में यह अभिप्राय अन्य किसी स्थान पर



अभी तक नहीं देखा गया है, यद्यपि भारतीय गुप्तयुगीन कला में देवगढ़ की प्रस्तर शिला इस संदर्भ की अद्भुत अभिव्यक्ति करती है।

मध्ययुग में नृसिंह-वराह-विष्णु की नानाविध प्रतिमाएँ मेवाड़ में ही नहीं अपितु समूचे राजस्थान व मध्य-प्रदेश में बनायी गयी थीं। खजुराहो के लक्ष्मण-मंदिर के अन्दर तो इसी भाव की प्राचीन प्रतिमा आज भी पूजान्तर्गत है। इस आशय की मूर्तियाँ ८-९ वीं शती में काश्मीर-चम्बा-कुल्लू व कांगड़ा में बहुत लोकप्रिय हो चुकी थीं। ऐसा प्रतीत होता है कि कालान्तर में यह अभिप्राय विशेष राजस्थान में बहुत लोकप्रिय हो गया। अपराजितपृच्छा, देवतामूर्तिप्रकरण व रूपमण्डन आदि ग्रंथों में विष्णु की इस वर्ग की बहुत सी मूर्तियों का उल्लेख हुआ है जिनकी हाथों की संख्या ४, ८, १०, १२, १४, १६, १८, २० तक है। मेवाड़ में इस वर्ग की मूर्तियाँ १६ वीं शती तक बनती रहीं, जैसा कि राजसमंद-कांकरोली की पाल पर बनी नौ चौकी के एक मण्डप की छत द्वारा स्पष्ट हो जाता है। कैलाशपुरी के एकलिंगजी के मंदिर के पास निर्मित मीरा-मंदिर के बाहरी ताकों में भी ऐसी प्रतिमाएँ जड़ी हैं—इनमें मध्यवर्ती भाग विष्णुवामुदेव का है व बाजू के मुखसिंह व वराह के। नागदा के पास मंदिर के बाहर बायीं ओर ऐसी गरुडारूढ़ मूर्ति जड़ी है और एक आयड़ संग्रहालय की सोमा बढा रही है। भोलवाड़ा जिले में 'विजोलिया' के १२वीं शती के प्राचीन मंदिर भी ऐसे संदर्भ प्रस्तुत करते हैं, परन्तु अतिविलक्षण स्वरूप में। एक प्रतिमा तो वैकुण्ठ विष्णु की है और दूसरी उनकी शक्ति की, जहाँ मध्यवर्ती भाग अश्व का है और बाजू के मुख सिंह व वराह के। वैकुण्ठ की शक्ति तो अलौकिक है। इसी वर्ग की एक विष्णु-मूर्ति वित्तोड़ दुर्ग पर पुरातत्त्व विभाग के कार्यालय में सुरक्षित है। ऐसा प्रतीत होता है कि इन मेवाड़ी कला-कृतियों में विष्णु के 'हयग्रीव' स्वरूप को प्रधानता दी गयी है। खजुराहो की वैकुण्ठ प्रतिमा स्थानिक संग्रहालय में भी सुरक्षित है जहाँ पीछे की ओर चौथा मुख उकेरा गया है और अश्व का है। खजुराहो के लक्ष्मण मंदिर के गर्भगृह की ताकों में क्रमशः वराह-नृसिंह व हयग्रीव की प्रतिमाएँ इसी भाव की द्योतक प्रतीत होती हैं। श्रीनगर संग्रहालय की एक अपूर्व-मूर्ति में सिंह-मुख के स्थान पर अश्वकृति बनी है। ये सब प्रतिमाएँ मेवाड़ी कला का अन्य क्षेत्रों से आवान-प्रदान सिद्ध करती हैं।

मेवाड़ क्षेत्र में कुरावड़ के पास 'जगत' ग्राम का 'अम्बिका मन्दिर' तो राजस्थान का 'खजुराहो' है—यह १०वीं शती में विद्यमान था जैसा कि स्तम्भ पर के संवत् १०१७ के शिलालेख द्वारा स्पष्ट हो चुका है। कलाकौशल की दृष्टि से भी यह बहुत भव्य है। यह ग्राम के बाहर स्थानिक माध्यमिक पाठशाला के सामने विद्यमान है। पूर्व की ओर से प्रवेश करते ही प्रवेश-मण्डप आता है जिसके द्वार-स्तम्भों पर मातृका-प्रतिमाएँ उत्कीर्ण हैं। इनमें 'वराही' के एक हाथ में 'मत्स्य' विद्यमान है जो तांत्रिक विचारधारा का सूचक है। प्राचीन भारतीय साहित्य में 'वाराही रोहित-मत्स्यकपालधरा' उल्लेख द्वारा मत्स्य की पुष्टि होती है। इस प्रवेश-मण्डप की छत पर समुद्र-मंथन अभिप्राय खुदा है और बाहरी दीवारों पर प्रेमालाप-मुद्रा में नर-नारी। यहीं कुछ व्यक्ति कंधों पर 'कावड़' (बहंगी) रखकर बोझ उठाते हुए प्रदर्शित हैं। आगे आंगन है और फिर सुविशाल अम्बिका-भवन। मंदिर के बाहरी भागों पर महिषमर्दिनी दुर्गा की नामाविध भव्य मूर्तियाँ विद्यमान हैं। निज गर्भगृह के पीछे की प्रधान ताक में भी देवी महिष (राक्षस का वध करती दिखाई देती है—उसके पास कशु (Parrot) की विद्यमानता द्वारा 'शुकप्रिया अम्बिका' भाव की पुष्टि होती है। समा मण्डप के बाहर की एक अन्य मूर्ति में देवी पुरुष रूप में प्रस्तुत। राक्षस से युद्ध कर रही है जो प्रायः बहुत ही कम स्थानों पर उपलब्ध है। महा बलिपुरम् व उड़ीसा की कला में महिष राक्षस की पुरुष रूप में अवश्य बताया गया है परन्तु वहाँ उसका मुख महिष का है और सींग भी। जगत की इस मूर्ति में राक्षस पूर्णरूपेण पुरुष विग्रह में प्रस्तुत है—वहाँ सींगों का भी सर्वथा अभाव है। इसी क्रम में जगत की अन्य ताकें सरस्वती, गौधासना गौरी, चामुण्डा व द्विवाह विकपालों की प्रतिमाओं के साथ-साथ सुरसुन्दरी प्रतिमाएँ नानाविध मुद्राओं में प्रस्तुत करती हैं। कहीं अलस कन्या है तो कहीं शिशु को हाथों पर उठाए रमणी, अन्यत्र वह सद्यस्नाता व रुठी हुई रमणी के रूप में विद्यमान है। उनकी भावमंगिमा व वेशभूषा तो खजुराहो की कला की तुलना में किसी भी प्रकार कम आकर्षक नहीं है। इस मंदिर के प्रवेश व समा-मण्डप के ऊपर बाहर की ओर भी कुछ देवी-प्रतिमाएँ जड़ी हैं जो दुर्ग के अन्य स्वरूपों की अभिव्यक्ति करती हैं। उत्तरी-भारत में इस वर्ग के अन्य दुर्गा-भवन की सतत प्रतीक्षा बनी रहेगी। जगत के अम्बिका मंदिर के गर्भगृह के बाहर बाईं ओर अधिष्ठान की ताक में नारायणी दुर्गा प्रतिमा विद्यमान है। इस प्रेतासना देवी के हाथों में विष्णु के सभी



आयुध विद्यमान हैं। प्राचीन पौराणिक साहित्य के नारायणी-दुर्गा भाव को चरितार्थ करने वाली यह राजस्थानी प्रतिमा अपने वर्ग की बहुमूल्य कृति है, यद्यपि उड़ीसा में भुवनेश्वर की कला में भी कुछ ऐसी मूर्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। जगत के अम्बिका-मंदिर के सभा-मण्डप में 'नृत्यगणपति' की मध्य प्रतिमा सफेद पत्थर की बनी है और गणेश को 'चतुर' मुद्रा में प्रदर्शित करती है। मेवाड़ की यह गणेश मूर्ति भी अपने वर्ग की महत्वपूर्ण कला-निधि है। ऐसी स्वतन्त्र प्रतिमाएँ बहुत ही कम संख्या में मिलती हैं। निश्चित ही जगत की शिल्प-कला व प्रस्तर-प्रतिमाएँ मध्यकालीन राजस्थानी कला के गौरव की सामग्री है।

आयड़ ग्राम के मीरां-मंदिर के बाहर जुड़े हुए कृष्णलीला फलक का उल्लेख किया जा चुका है। मेवाड़ की प्राचीन मूर्तिकला में (१५वीं शती से पूर्व) कृष्ण-जीवन सम्बन्धी संदर्भ अत्यल्प संख्या में उपलब्ध हैं। नागदा के सास-मंदिर के सभा-मण्डप के स्तम्भों पर रामायण सम्बन्धी दृश्य खुदे हैं परन्तु मेवाड़ी मंदिर के बाहरी भागों में इस प्रकार की शिलाएँ प्रायः नगण्य हैं। बहू-मंदिर के गर्भगृह के बाहर एक लघु मूर्ति रावणानुग्रह भाव को चरितार्थ करती हैं। यहाँ कैलाश पर्वत पर विराजमान शिव-पार्वती को लंकेश रावण ने उठा रखा है। कला की दृष्टि से यहाँ तक्षण बहुत ही कम रोचक है।

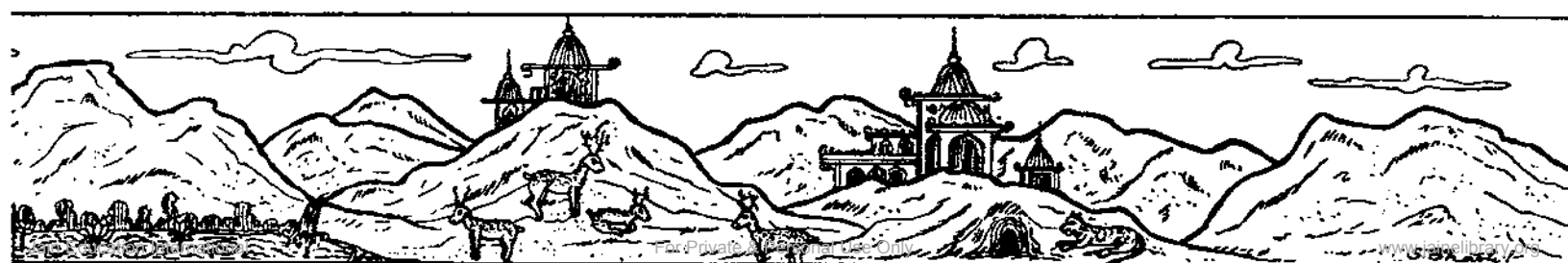
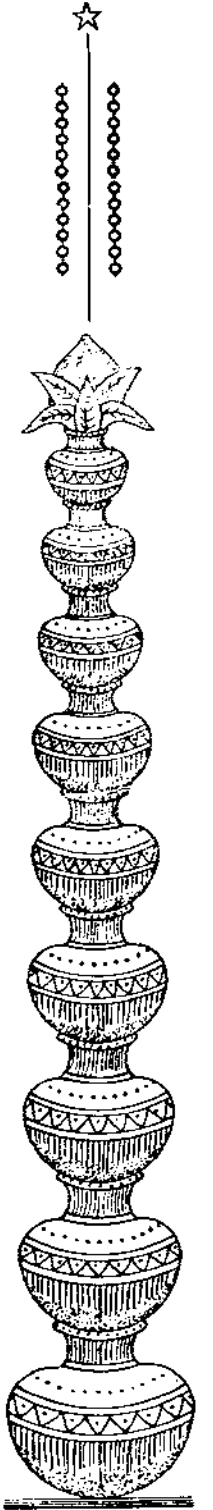
मेवाड़ की प्राचीन मूर्तिकला की यह संक्षिप्त झांकी समूचे राजस्थान की ही नहीं अपितु भारत की शिल्पकला में अपना महत्वपूर्ण अस्तित्व रखने में पूर्णतया समर्थ है। विदेशी आक्रमणों के थपेड़े खाकर भी इस प्रदेश के देवमवन व प्रस्तर प्रतिमाएँ आज भी पर्याप्त मात्रा में बचे हैं। यह कलात्मक धारा ११वीं शती के उपरान्त भी मेवाड़ में बहती रही। १५वीं शती में महाराणा कुम्भा ने समय-समय पर प्रोत्साहन प्रदान किया था। इतना ही नहीं उनके समय के दो राजशिल्पी-परिवार बहुत सक्रिय बने रहे। चित्तौड़ दुर्ग पर सूत्रधार जइता व उसके पुत्रों ने कीर्तिस्तम्भ का निर्माण किया और दूसरी ओर खेती पुत्र सूत्रधार 'मण्डन' नागदा एवं कुंभलगढ़ के शिल्प-कार्यों की देख-रेख करता था। दोनों ही परिवार कुशल कलाकार थे। पर्याप्त मात्रा में प्रेरणा लेकर सूत्रधार मण्डन ने अनेकों शिल्प एवं स्थापत्य विषयक ग्रंथों की रचना भी की जिनमें रूप मण्डन, देवतामूर्तिप्रकरण, राजवल्लभ, राजाप्रासाद.....आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि मण्डन के उत्तराधिकारियों ने उदयपुर के महलों, जगदीश मंदिर व राजसमुद्र की नौचौकी के निर्माण कार्य में अतुल सहयोग प्रदान कर मेवाड़ के प्राचीन शिल्प व हस्तकला-कौशल को अधुण बनाए रखा। उनकी अनेक कृतियाँ भारतीय मूर्तिकला की महत्वपूर्ण निधि के रूप में आज तक सुरक्षित हैं।

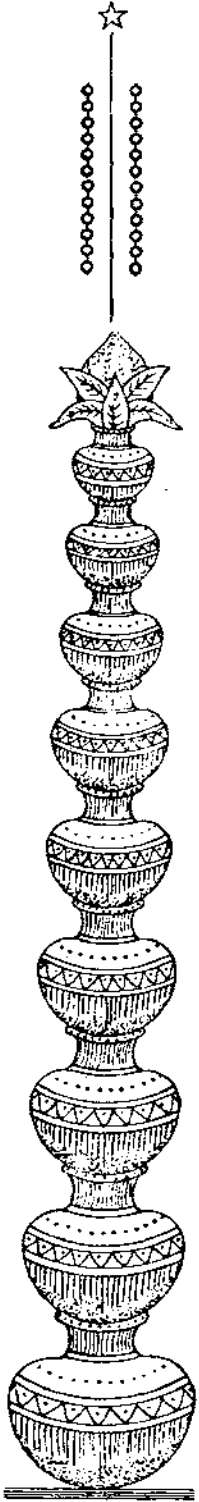
☆☆

साधना की पगडंडी पहाड़ की चढ़ाई के समान है, यह इतनी संकड़ी है कि इसके दोनों ओर गहरी खाइयाँ हैं, एक ओर राग की गहरी खाई है दूसरी ओर द्वेष की।

साधक वह है जो संभल-संभल कर कदम धरता है, और सावधानी पूर्वक चलता हुआ अपने गंतव्य पर पहुँच जाता है।

—'अम्बागुरु सुवचन'





जैनों की धर्म-भक्ति नहीं, किन्तु देश-भक्ति भी इतिहास प्रसिद्ध है। देश एवं समाज की सेवा के लिए स्वयं को समर्पित करने वाले भीलों के नेता जिनका नाम बादशाह एक जैन गृहस्थ का परिवचय पढ़िए।

□ श्री शोभालाल गुप्त
अध्यक्ष, राजस्थान लोक सेवा संघ
[भू. पू. संपादक-दैनिक हिन्दुस्तान]

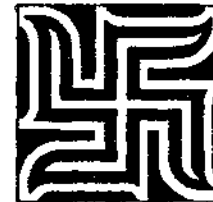
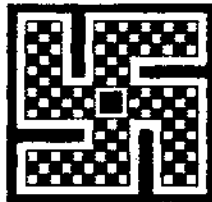
मेवाड़ का एक जैन भोल नेता श्री मोतीलाल तेजावत

□

जैन समाज ने अनेक देशभक्तों को जन्म दिया, जिन्होंने देश के राजनीतिक और सामाजिक जीवन पर अपनी अमिट छाप छोड़ी है। देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में उनके योग को कभी भुलाया नहीं जा सकता। महात्मा गांधी ने हमारे स्वतन्त्रता संग्राम को अहिंसक मोड़ दिया और उन्होंने अहिंसा की शक्ति का विराट् प्रदर्शन किया। जैन समाज को अहिंसा जन्म-धुट्टी के रूप में प्राप्त हुई और उसकी प्रकृति का मूलभूत अंग बन चुकी है। अतः जैन देशभक्तों के लिए अहिंसा का अनुसरण सहज साध्य था। गांधीजी कहा करते थे कि अहिंसा कायों का नहीं वीरों का शस्त्र है और कोई निर्भय व्यक्ति ही अहिंसा के पथ पर चलने का साहस कर सकता है। अहिंसा का अनुयायी अन्याय का प्रतिकार करते हुए भी अन्यायकर्ता के प्रति अपने हृदय में द्वेष की भावना नहीं रखता और स्वयं कष्ट सहकर अन्यायकर्ता के हृदय-परिवर्तन की चेष्टा करता है। शान्ति और संयम, त्याग और बलिदान जैसे मानवी गुणों का जैन-परम्परा में खूब विकास हुआ और देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में गांधीजी ने इन गुणों पर सर्वाधिक बल दिया। कोई आश्चर्य नहीं कि जैन समाज गांधी जी द्वारा संचालित अहिंसक संग्राम की ओर आकर्षित हुआ और उसने देश की स्वतन्त्रता के लक्ष्य की पूर्ति में अपनी योग्य भूमिका का निर्वाह किया।

राजस्थान के जैन देशभक्तों में मेवाड़ के स्वर्गीय मोतीलाल जी तेजावत का नाम विशेष आदर के साथ लेना होगा। श्री तेजावत ने जीवन भर अन्याय, अत्याचार और शोषण के विरुद्ध संघर्ष किया और सच्चाई की खातिर वह कोई भी कुर्बानी देने में पीछे नहीं रहे। उन्होंने आज की तथाकथित उच्च शिक्षा प्राप्त नहीं थी, किन्तु उन्होंने जंगलों और पहाड़ियों में रहने वाले लाखों आदिवासियों का प्रेम और विश्वास प्राप्त किया और एक प्रकार से उनके मसीहा ही बन गये। भील उन्हें अपने प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे और उनके इशारे पर मर मिटने को प्रस्तुत रहते थे।

भूतपूर्व मेवाड़ रियासत के कोलियारी नामक एक अज्ञात गांव में ओसवाल कुल में श्री तेजावत का जन्म हुआ। उनकी शिक्षा दीक्षा गांव में ही हुई और बड़े होने पर उन्होंने समीप के झाड़ोल ठिकाने की लौकरी के साथ अपने जीवन की शुरुआत की। किन्तु उन्होंने शीघ्र ही अनुभव कर लिया कि वह सामन्तवाद के पुर्ज बन कर नहीं रह सकते। उन्हें झाड़ोल के जागीरदार के साथ मेवाड़ के महाराणा के शिकार-दौरों में जाने का मौका मिला और उन्होंने बेगार प्रथा के राक्षसी स्वरूप का प्रत्यक्ष दर्शन किया। जहाँ भी महाराणा पड़ाव डालते, महाजनों को रसद पहुँचानी पड़ती और इन व्यापारियों को उनकी सामग्री का एक चौथाई मूल्य भी नहीं दिया जाता। सामीणों को हर प्रकार के काम बिना किसी मजदूरी के मुफ्त करने पड़ते। आना-कानी करने पर जूतों से पिटाई होती और खोड़े



में पांव दे दिये जाते। उनकी जागृत आत्मा ने इस अन्याय के सामने विद्रोह किया और वह ठिकाने की नौकरी से त्याग पत्र देकर अलग हो गये।

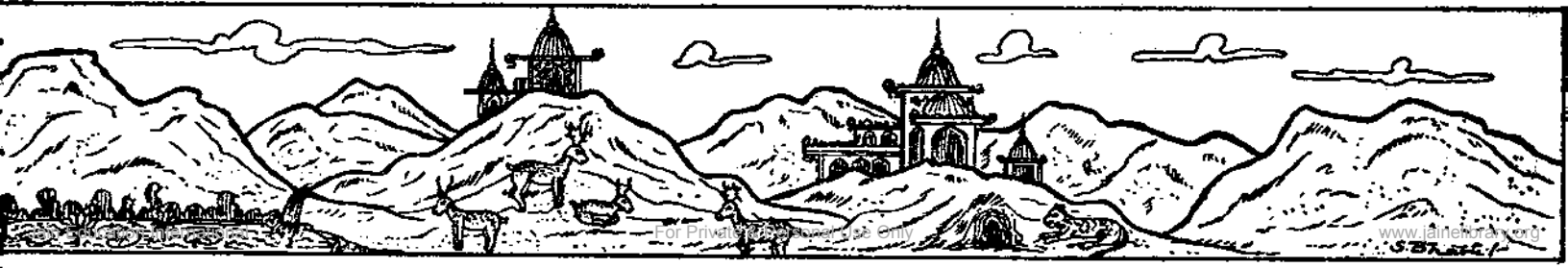
संवत् १९७७ की वैशाख शुक्ला पूर्णिमा को चित्तौड़ जिले के मातृकुण्डिया नामक स्थान में आस-पास के किसान बड़ी संख्या में एकत्र हुए। किसान राजकीय शोषण से बुरी तरह संतप्त थे और नाना प्रकार के टैक्स वसूल किये जाते थे। राज्य कर्मचारियों के सामने किसी की भी इज्जत सुरक्षित नहीं थी। जूतों से पिटाई एक आम बात थी। किसान अपनी कष्टगाथा सुनाने हजारों की संख्या में उदयपुर पहुँचे और श्री तेजावत उनके अगुआ बने। उन्होंने महाराणा को २७ सूत्री मांगों का एक ज्ञापन दिया और किसानों ने राजधानी में डेरा डाल दिया। महाराणा ने किसानों को २१ में से १८ मांगें मान लीं। किन्तु जंगलात के कष्ट दूर नहीं हुए। वन्य पशु खेती को उजाड़ देते थे, किन्तु उन्हें निवारण की इजाजत नहीं मिली और बँठ-बेगार पूर्ववत् जारी रही। किन्तु अपनी अधिकांश मांगें पूरी हो जाने से किसान अपने घरों को लौट गये। किसानों की संगठित शक्ति की यह पहली विजय थी, जिसने उनके हीसलों को बढ़ा दिया।

श्री तेजावत को एक नयी राह मिल गयी। उन्होंने भील क्षेत्र में जन्म लिया था। भीलों की अवस्था से वह अच्छी तरह परिचित थे। भीलों को न भरपेट खाना मिलता था और न तन ढकने को कपड़ा। अपने श्रम से पहाड़ी धरती से जो थोड़ा बहुत उपजाते थे, उसका खासा भाग राज्यकर्ता और उनके सामन्त छीन लेते थे। श्री तेजावत ने भील क्षेत्र में घूमना शुरू कर दिया। उन्होंने भीलों को समझाना शुरू किया कि वे संगठित होंगे तो ही उनके शोषण का अन्त हो सकेगा। इस प्रकार भीलों में 'एकी' अर्थात् एकता आन्दोलन का प्रादुर्भाव हुआ। उन्होंने शपथ ली कि वे न बढ़ा-चढ़ा लगान देंगे और न बँठ-बेगार करेंगे। सामन्त इस आन्दोलन से चौंके और जब श्री तेजावत आकड़ गांव में ठहरे हुए थे तो झाड़ोल के जामीरदार ने श्री तेजावत को जान से मार देने का प्रयास किया, किन्तु वह सफल नहीं हुआ और श्री तेजावत भीलों की सेवा करने के लिए बच गये।

श्री तेजावत का 'एकी आन्दोलन' दावानल की तरह फैलने लगा। वह मेवाड़ की सीमाओं को लांघ कर सिरोही, जोधपुर और गुजरात की दांता, पालनपुर, ईडर और विजयनगर आदि रियासतों में भी फैल गया। इन रियासतों की आदिवासी प्रजा समान रूप से शोषित और पीड़ित थी। उसने समझा कि श्री तेजावत के रूप में एक नया मसीहा उसके उद्धार के लिए प्रकट हुआ है। उसने एकता के मंत्र को अपना लिया और अन्याय को चुपचाप बर्दास्त करने से इन्कार कर दिया।

रियासती सत्ताधीश घबराये और उन्होंने दमन का आश्रय लिया। मेवाड़ के भोमट इलाके में फौजकशी की गई और फौज ने मशीनगन से गोलियाँ चलाईं। करीब १२०० भील जान से मारे गये। श्री तेजावत के पांव में भी गोली और छरें लगे, किन्तु भील अपनी मुक्तिदाता को उठा ले गये और अज्ञात स्थान में छिपा दिया। इसके साथ ही श्री तेजावत का फरारी जीवन प्रारम्भ हो गया। वह आठ वर्ष तक भूमिगत रहे। रियासती शासक उनकी खोज में रहते थे, किन्तु उनका पता नहीं लगा पाये। भील उन्हें प्राणों से भी अधिक प्यार करते थे और उनकी सुरक्षा के लिए सदा सतर्क और चिन्तित रहते थे। जिस प्रकार भीलों ने राणा प्रताप का साथ दिया, उसी प्रकार उन्होंने श्री तेजावत को भी अपना आराध्य माना और पूरी निष्ठा के साथ उनकी सेवा की। किन्तु दीर्घकालीन फरारी जीवन में उन्हें जिन अभावों और कठिनाइयों का सामना करना पड़ा, इसकी सहज ही कल्पना की जा सकती है।

ब्रिटिश भारत में गाँधी जी का असहयोग आन्दोलन चल रहा था, तो रियासतों में उसके साथ-साथ भील आन्दोलन की लहर चल रही थी। उस समय सिरोही रियासत के दीवान महामना मालवीय जी के पुत्र रमाकान्त मालवीय थे। उन्होंने श्री तेजावत से मिल कर आन्दोलन को शान्त करने की इच्छा प्रकट की। इस कार्य में उन्होंने राजस्थान सेवा संघ के अध्यक्ष श्री विजयसिंह पथिक की सहायता चाही। श्री पथिक जी मोतीलाल जी तेजावत से उनके अज्ञात निवास-स्थान पर मिलें। श्री तेजावत से सिरोही के दीवान रमाकान्त जी मालवीय की भेंट का आयोजन किया गया। भीलों ने यह आश्वासन माँगा कि उनके तथा उनके नेता के साथ कोई विश्वासघात नहीं होगा। श्री मालवीय को तलवारों के साथे में श्री तेजावत के शिवर तक पहुँचाया गया। इस शिविर में आने वाले प्रत्येक



व्यक्ति को मिट्टी की कुण्डी में भरे हुए जल में से एक चुल्लू पानी पीकर इस आशय की शपथ लेनी पड़ती थी कि वह विश्वासघात नहीं करेगा। श्री मालवीय को भी शपथ लेने की यह प्रक्रिया पूरी करनी पड़ी। उन्होंने भीलों को कुछ रियायतें देना स्वीकार किया।

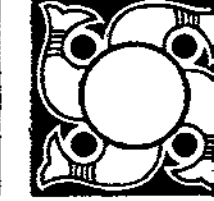
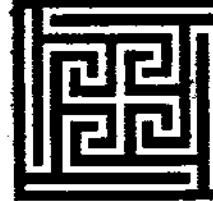
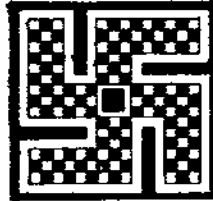
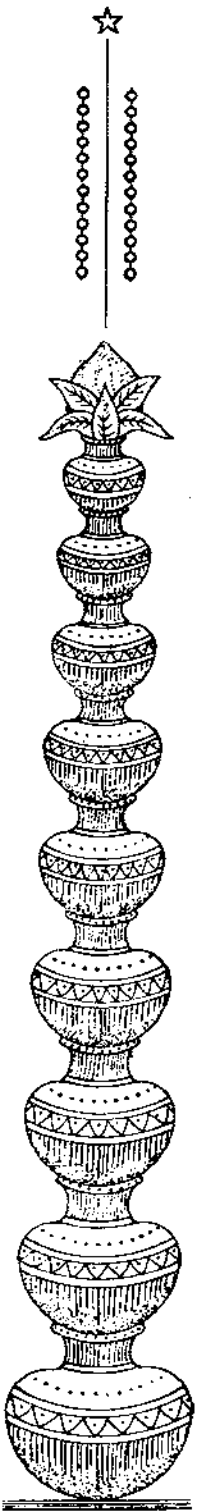
किन्तु भील-आन्दोलन शान्त नहीं हुआ। श्री मालवीय त्यागपत्र देकर सिरोही से चले गये। अंग्रेज सरकार भील-आन्दोलन को कुचल देना चाहती थी। अतः भीलों को दबाने के लिए अंग्रेज अफसर की देखरेख में सेना भेजी गयी। भीलों पर मशीनगन से गोलियां चलीं। इस हत्याकाण्ड में अनेक व्यक्ति हताहत हुए। फौज ने भीलों के भूला और बालोलिया नामक दो गांवों को जला कर राख कर दिया। भीलों के अन्न गोदाम और कपड़े-लत्ते सब स्वाहा हो गये। पशु भी आग की लपटों से नहीं बचे। सिरोही के इस भील हत्याकाण्ड की ब्रिटिश संभद में भी चर्चा हुई और भारतीय लोकमत क्षुब्ध हो उठा।

श्री तेजावत जी ने केवल राजाशाही और सामन्ती शोषण एवं अत्याचारों का ही विरोध नहीं किया बल्कि उन्होंने भीलों को शराबखोरी और मांस-सेवन की बुराइयों से भी विरत किया। उनके प्रभाव से लाखों भीलों ने उन बुराइयों को छोड़ने की शपथ ली और सदाचारी जीवन बिताने का संकल्प लिया। भीलों ने चोरी करना अथवा डाके डालना छोड़ दिया। समाज-सुधार की इस लहर ने लाखों भीलों को प्रभावित किया।

जब गांधीजी को श्री तेजावत के इस सुधारवादी कार्य का पता चला तो उनकी स्वाभाविक इच्छा हुई कि उन्हें खुले रूप में सुधार कार्य जारी रखने का अवसर दिया जाए। भील आन्दोलन की लहर तब शान्त हो चुकी थी। श्री मणिलाल जी कोठारी गांधी जी के विश्वस्त साधियों में थे। उनका राजनीतिक विभाग के ब्रिटिश अधिकारियों से मिलना-जुलना होता था। उन्होंने उनसे यह आश्वासन प्राप्त करने की कोशिश की कि श्री तेजावत पर उनकी पिछली कारंवाइयों के आधार पर कोई मुकदमा नहीं चलाया जायगा। अन्त में गांधी जी के परामर्श पर श्री तेजावत ने ईडर रियासत के खेड ब्रह्म गांव में अपने आपको पुलिस के हवाले कर दिया, और कोई रियासत श्री तेजावत पर मुकदमा चलाने के लिए राजी नहीं हुई, किन्तु मेवाड़ रियासत ने उनको मांग लिया। श्री तेजावत को ईडर रियासत ने मेवाड़ रियासत के अनुरोध पर उसके हवाले कर दिया।

मेवाड़ रियासत श्री तेजावत से बहुत भयभीत थी। उसने उन्हें ६ अगस्त, १९२६ से २३ अप्रैल, १९३६ तक लगभग सात वर्ष उदय सेण्ट्रल जेल में बन्द रखा। श्री तेजावत भीलों में समाज-सुधार का काम करें, गांधी जी की इस इच्छा को मेवाड़ रियासत ने पूरा नहीं होने दिया। इस प्रकार श्री तेजावत को राजाओं की स्वेच्छाचारिता और सामन्ती शोषण का विरोध करने का दण्ड भुगतना पड़ा। किन्तु यह लम्बा कारावास भी गरीबों की सेवा करने के उनके संकल्प को ढीला नहीं कर पाया। अन्त में हार कर मेवाड़ रियासत ने श्री तेजावत को जेल से तो रिहा कर दिया, किन्तु उन पर यह प्रतिबंध लगा दिया कि वह उदयपुर शहर की सीमा से बाहर नहीं जायेंगे। उनके लिए यह भी एक प्रकार की कैद ही थी। एक बार जब मोमट का भील क्षेत्र दुष्कालग्रस्त हुआ तो श्री तेजावत ने राजकीय प्रतिबंध की परवाह न करते हुए भील क्षेत्र के लिए प्रस्थान किया, किन्तु उन्हें पुनः गिरफ्तार करके उदयपुर में नजरबन्द कर दिया गया।

मेवाड़ में प्रजामण्डल की स्थापना के लिए सत्याग्रह हुआ तो श्री तेजावत उसमें कूद पड़े। उन्हें गिरफ्तार किया गया और कुछ समय बाद रिहा कर दिया गया। सन् १९४२ में देश में 'अंग्रेजों, भारत छोड़ो' आन्दोलन की शुरुआत हुई। मेवाड़ प्रजामण्डल ने महाराणा से मांग की कि वह ब्रिटिश ताज से अपना सम्बन्ध विच्छेद कर ले और अपने राज्य को स्वतन्त्र घोषित कर दे। श्री तेजावत मेवाड़ प्रजामण्डल के हिमायती थे, अतः उनकी सीमित स्वतन्त्रता भी छीन ली गयी। उन्हें अगस्त १९४२ में गिरफ्तार कर लिया गया और सन् १९४५ तक पूरे तीन वर्ष जेल में नजरबन्द कैदी के रूप में रखा गया। उसके नाद जब उन्हें जेल से रिहा किया गया, तो उन पर पहले की भांति उदयपुर शहर की सीमाओं के भीतर रहने का प्रतिबंध लगा दिया गया। इस नजरबन्दी से उन्हें तभी मुक्ति मिली, जब सन् १९४७ में देश स्वतन्त्र हुआ।



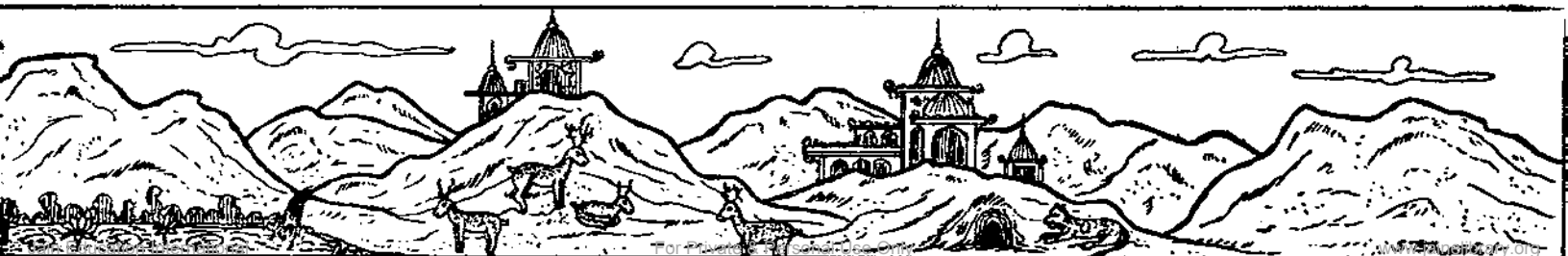
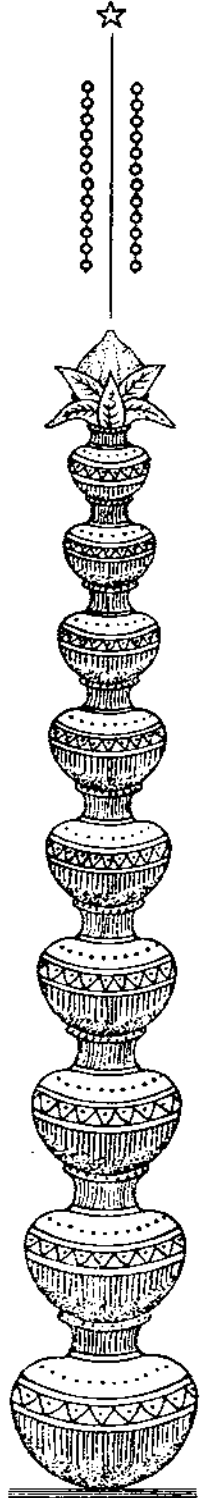
श्री तेजावत जी का जीवन सतत संघर्षों का जीवन रहा। उन्हें अपने जीवन के लगभग तीस वर्ष फरारी, जेल और नजरबन्दी में बिताने पड़े। उन्होंने अपनी युवावस्था में सेवा क्षेत्र में जो कदम रखा तो कभी पीछे मुड़ कर नहीं देखा। विपदाओं की चट्टानें उनके सिर से आकर टकराती रहीं और उनकी दृढ़ता के आगे चूर-चूर होती रहीं। उनकी एकमात्र साथ यही रही कि गरीबों को शोषण और अत्याचारों से मुक्ति मिले और वे मानवोचित जीवन बिता सकें। देश की स्वतन्त्रता के साथ राजस्थान भी राजाशाही और सामन्ती नागपाश से मुक्त हुआ और इस लक्ष्य को सिद्ध करने में श्री तेजावतजी जैसे अनेक देशमत्कों ने अपने जीवन को तिल-तिल करके खपाया है। उन्हें जिन्दा शहीद कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी।

श्री तेजावत जी सादगी और विनय की साक्षात् मूर्ति थे। उन्होंने अपने जीवन में वह चमत्कार कर दिखाया, जो कोई विरला ही दिखा सकता है। वह लाखों भीलों के नेताज बादशाह थे, जो उनके संकेत पर मर-मिटने की उद्यत रहते थे। ७७ वर्ष की अवस्था में, ५ दिसम्बर, सन् १९६३ को उन्होंने अपना यह नश्वर शरीर छोड़ा, किन्तु वह अपने पीछे त्याग, बलिदान और कष्ट सहन की ऐसी कहानी छोड़ गये हैं, जो देश के स्वतन्त्रता-संग्राम में स्वर्णाक्षरों में लिखी जानी चाहिए। श्री तेजावत जी का जीवन आने वाली पीढ़ियों को सदा सर्वदा प्रेरणा देता रहेगा।

तुम सुस्त होकर क्यों बैठे हो ! जो समय बीत रहा है वह लौटकर वापस नहीं आयेगा। जो कीमती घड़ियाँ गुजर रही हैं, उनका मूल्य आज नहीं, किन्तु बीत जाने के बाद तुम्हें पता लगेगा, कि इन घड़ियों का सदुपयोग तुम्हारे भाग्य पुष्प को खिलाने में कितना महत्वपूर्ण होता।

जो समय का महत्व समझता है, वह चतुर है, जो समय का सदुपयोग करता है वह जीवन में अवश्य सफल होता है।

— 'अम्बागुरु-सुवचन'



जैन धर्म मूलतः जातिवाद-विरोधी रहा है। आचार की श्रेष्ठता के गज से ही उसने मानव की श्रेष्ठता नापी है। मेवाड़ में हिंसा-प्रधान व्यवसाय करने वाली खटीक जाति को अहिंसा-व्यवसायी बनाकर उसने अपने ऐतिहासिक-विरुद्ध को साकार बना दिया है। यहाँ पढ़िए वीरवाल प्रवृत्ति के सन्दर्भ में अहिंसक समाज रचना की प्रवृत्तियों का दिग्दर्शन।

□ श्री नाथूलाल चण्डालिया, कपासन
[प्रमुख सामाजिक कार्यकर्ता]

अहिंसक समाज रचना का एक प्रयोग
मेवाड़ में वीरवाल प्रवृत्ति

□

जैन धर्म के मौलिक सिद्धान्तों में अहिंसा का सर्वोपरि स्थान है।

अहिंसा को यदि हटा दिया जाए तो जैन धर्म का अस्तित्व भी समाप्त हो जाएगा, हिंसा मानव का निजी स्वभाव नहीं होते हुए भी वैकारिक वातावरण तथा कई तरह के लालचों के सन्दर्भ में मानव हिंसक बन जाता है।

भारत में कई जातियाँ तो केवल ऐसी बन चुकी हैं कि जिनका दैनिक व्यवसाय ही हिंसा है।

अस्वामाविक हिंसा भी निरन्तरता तथा लगाव के कारण स्वभाव सी बन बैठी है, जिन जातियों का व्यवसाय नितान्त हिंसा से ओत-प्रोत है उनमें खटीक जाति का नाम प्रमुख है। खटीकों में हिंसा व्यावसायिक रूप धारण कर बैठी है।

जैनधर्म दया और अहिंसा का सन्देश देता है। जिनका खटीक जाति के मौलिक संस्कारों से कोई मेल नहीं किन्तु यह एक निश्चित सिद्धान्त है कि उपचार सर्वदा उपरि ही हो सकता है। चाहे वह कितना ही घुलमिल क्यों न जाए, हिंसा मानव स्वभाव में उपचरित है। आरोपित है, यह स्वभाव नहीं चाहे वह फिर कितनी ही क्यों नहीं फैल जाए। एक मनस्वी संत ने इस तथ्य को पहचाना। उनका नाम श्री समीर मुनिजी है। उन्होंने खटीक समाज में अहिंसा का विगुल बजाने का निश्चय किया।

अथक श्रम तथा कार्यकर्त्ताओं एवं कान्फ्रेन्स के सतयोज से प्रवृत्ति का बीजारोपण हुआ।

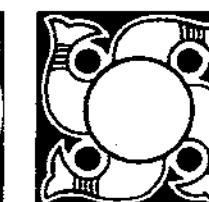
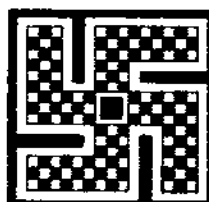
खटीकों में अहिंसा का प्रचार मेवाड़ के गाँवों से प्रारम्भ हुआ, श्रम और सहयोग के बल पर निरन्तर बढ़ता चला गया। उभरते हुए सूर्य की तरह एक नयी जाति का अभ्युदय हुआ उसका नामकरण भगवान महावीर जिनका नाम अहिंसा का प्रतीक बन चुका है, उन्हीं के नाम पर "वीरवाल" किया गया। आज मेवाड़ में हजारों की तादाद में वीरवाल बन्धु हैं जिन हाथों में छुरियाँ रहा करती थीं उन हाथों में आज पूंजगिया हैं, माला हैं।

वीरवाल समाज के अपने नये रीति-रिवाज हैं, जो अहिंसा पूर्ण है। हजारों खटीकों के बीच वीरवाल समाज का यह उदयमान सूर्य बादलों की रुकावटों से कब रुका है।

ओसवाल जैन और वीरवाल समाज ने अपने प्रगतिशील कदम आगे बढ़ाने को एक संस्था का गठन किया जिसका नाम अखिल राजस्थान स्थानकवासी अहिंसा प्रचारक जैन संघ है। इसका प्रधान कार्यालय चित्तौड़गढ़ है।

इसके निर्देशन में आज वीरवाल प्रवृत्ति गतिमान है, संस्था ने वीरवाल बच्चों को सुसंस्कारित बनाने को एक छात्रावास की भी स्थापना की, छात्रावास अहिंसा नगर में चल रहा है।

वीरवाल समाज को समस्त प्रवृत्तियों को गतिमान करने को चित्तौड़गढ़ से चार मील दूर निम्बाहेड राजमां



पर तैतीस बीघा भूमि पर अहिंसा नगर बनाया गया । मवन निर्माण पर दो लाख रुपये खर्च किये गये । छात्रावास वहीं प्रवृत्तमान है ।

‘अहिंसा नगर’ जैन समाज और वीरवाल समाज की एक विलक्षण उपलब्धि है इसे मूर्त रूप देने में जिन सहयोगियों का मुख्य हाथ रहा उनमें कुशलपुरा के सेठ हेमराजजी सिघवी प्रमुख हैं । श्री हेमराजजी ने एक लाख की राशि संघ को देने दिलाने का वचन दिया । तैतीस हजार मद्रास से दिलाये, शेष रुपया अपनी तरफ से मिला कर एक लाख पूरा कर दिया ।

अहिंसा नगर का शिलान्यास तत्कालीन मुख्यमन्त्री श्रीयुत मोहनलाल जी सुखाड़िया द्वारा हुआ । यह घटना ३ अप्रैल, सन् १९६६ की है ।

वीरवाल जाति अपने नाम के अनुरूप ही बहादुर है । इसने खटीकों के साथ अपने सारे सम्बन्ध तोड़ दिये । पाठक सोचें कि यह कार्य कितना दुष्कर है । कहीं-कहीं तो पिता पुत्र से अलग है, पुत्र वीरवाल और पिता खटीक है तो दोनों का कोई सम्बन्ध नहीं, अहिंसा के लिए इतना बड़ा कदम उठाने वाले वीर नहीं तो और क्या है ।

वीरवाल अपने स्वीकृत सिद्धान्तों के प्रति सच्चे और अडिग हैं । १ मई, सन् १९५८ का वह स्वर्ण दिन वीरवालों के लिए ऐतिहासिक दिन है क्योंकि उस दिन इस जाति की स्थापना हुई है ।

विश्व में मई दिवस मजदूरों की मुक्ति के रूप में मनाया जाता है तो वीरवालों के लिए १ मई अपने नव-जागरण का सन्देश लेकर आता है ।

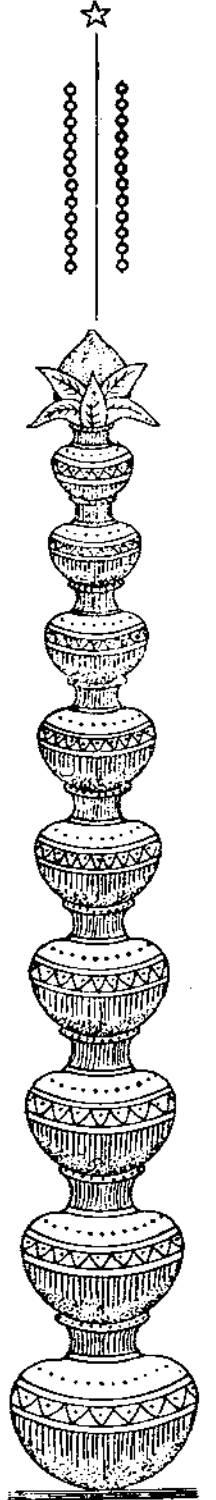
वीरवाल समाज को संगठित और सुशिक्षित करने हेतु प्रायः पर्युषण में आठ दिनों का शिक्षण शिविर आयोजित किया जाता है जिसमें प्रायः अधिक से अधिक वीरवाल भाग लेते हैं और त्याग, तप, व्रत पौषध, सामायिक प्रतिक्रमण उन्हीं का शिक्षण ग्रहण करते हैं । संस्था वीरवाल समाज के अभ्युदय के लिए छात्रवृत्ति, शिक्षण तथा व्यवसाय का भी यथा शक्ति व्यवस्था करती है । वीरवाल समाज के क्षेत्र में आज कई कार्यकर्ता सक्रिय हैं उनमें इन्दीर वाले कमला माताजी का नाम सर्वोपरि है । श्री कमला माताजी ने अपना पूरा जीवन ही वीरवाल सेवा में अर्पित कर रखा है । पूरे समाज में माताजी के नाम से प्रख्यात माताजी बड़ी विदुषी और कर्मठ कार्य करती हैं । आज उन्हीं से दिशा निर्देशन प्राप्त हो रहा है ।

वीरवाल समाज एक नवांकुर है, इसे समाज के स्नेह की आवश्यकता है । संत मुनिराज तथा समाज के धनी एवं कार्यकर्ताओं का समुचित सहयोग मिले तो यह समाज भारत में अहिंसा का निराला प्रतीक बन सकता है ।

अगर कभी मूर्ख का संग हो जाये तो पहली बात उसके साथ बातचीत मत करो ! बातचीत करनी पड़े तो उसकी बात का उत्तर-मात्र दो, बहसबाजी या खण्डन-मण्डन मत करो । क्योंकि मूर्ख की बात का समर्थन किया नहीं जा सकता और विरोध करने से वे रूठ जायेंगे, संभवतः विरोधी व शत्रु भी बन जाये ।

इसलिये नीतिकारों ने कहा है—मूर्ख के साथ ‘मौन’ ही सर्वोत्तम व्यवहार है ।

—‘अम्बागुरु-सुवचन’



मेवाड़ के प्रसुप्त धार्मिक तेज को पुनः प्रदीप्त कर उसमें नव चेतना फूंकने का कार्य एक ऐतिहासिक कार्य है। बिखरी हुई युवा शक्ति एवं सामाजिक चेतना को संगठित एवं कार्यशील करने वाली एक जीवंत संस्था का परिचय यहाँ दिया गया है।

मेवाड़ का कल्पवृक्ष धर्मज्योति परिषद

सामाजिक संरचना मानवीय सभ्यता की सबसे बड़ी उपलब्धि है। व्यक्ति समस्याओं से ग्रस्त है और जब अनेकों व्यक्ति ही समाज के अंगभूत होते हैं तो समस्याएँ सामाजिक रूप धारण कर लेती हैं। सामाजिक समस्याओं का निराकरण सामाजिक स्तर पर करना होता है।

समय पर सामाजिक समस्याओं का समाधान नहीं होता है तो पीड़ाएँ घनीभूत हो जाया करती हैं।

कुछ विरल विभूतियाँ उन घनीभूत पीड़ाओं को समझ पाते हैं।

उद्गम और विकास

जब पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब का भूपालगंज (भीलवाड़ा) में चातुर्मास था उस अवसर पर क्रान्तदृष्टा प्रवर्तक श्री के शिव्यरत्न मुनि श्री कुमुदजी ने समाज के कतिपय प्रगतिशील विचारकों के समक्ष समाज की अन्तर्पीड़ा की ओर कान्तिकारी संकेत दिया। बस धर्मज्योति परिषद् के उद्गम का यही मूल था।

एक छोटा-सा संविधान बना, एक रूपरेखा खड़ी हुई और एक संस्था का बीज वपन हो गया।

आर्थिक पृष्ठ भूमिका का जहाँ तक प्रश्न है वह बिलकुल नहीं थी, जो उग भी नहीं गई, ऐसी संस्था में कोई पैसा लगाना नहीं चाहता था। प्रारम्भिक सदयोग के रूप में श्री मूलचन्द जी कोठारी रायपुर वाले का नाम उल्लेखनीय है। उन्होंने संस्था को पाँच सौ रुपये प्रारम्भ में कर्ज स्वरूप निःशुल्क दिया जो दो-तीन वर्षों बाद में ही नहीं कर दिये अपितु पाँच सौ रुपये और मिलाकर एक हजार के दान की घोषणा कर दी।

कार्य प्रारम्भ होते ही चारों तरफ से आर्थिक एवं भावात्मक सहयोग की बहार आ गई।

प्रवृत्तियाँ—संस्था की मौलिक प्रवृत्तियाँ चार हैं।

(१) जैन शालाओं का संचालन

(२) अभाव-ग्रस्तों को सहयोग

(३) पत्रिका का प्रकाशन

(४) सत्साहित्य का प्रकाशन।

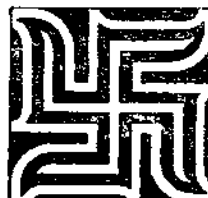
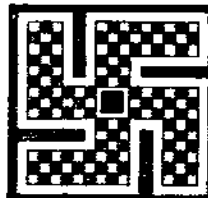
पहुँना, हमीरगढ़ और उसके आगे बहने वाली विशाल बनावस नदी को देखकर कुंमलगढ़ के पहाड़ों में बनावस के उद्गम को कोई देखे तो उसे विदवास नहीं हो सकता कि यह छोटा-सा स्रोत इतना विशाल रूप भी धारण कर सकता है। यही बात धर्म ज्योति परिषद के लिये है।

आज जो धर्म ज्योति परिषद का रूप है। इसके उद्गम के समय इसका कोई अनुमान नहीं कर सकता था। अधिकतर तो ऐसी आशंकाएँ ही व्यक्त किये करते कि ऐसी संस्थाएँ क्या टिकेंगी ?

विपरीत दिशाओं से आने वाली ऐसी ध्वनि के विरुद्ध कार्यकर्ताओं ने भी सुदृढ़ निश्चय कर रखा था कि हर हालत में संस्था को स्थिर करना ही है। पूज्य गुरुदेव श्री का बाशीर्वाद, मुनि श्री कुमुदजी का दिशा निर्देशन और प्रेरणा महासती श्री प्रेमवती जी का उपदेशात्मक योगदान, साथियों और कार्यकर्ताओं की लगन मेवाड़ के धर्मप्रेमी सज्जनों का सहयोग सभी ने मिलकर संस्था को स्थिर भी नहीं अपितु उसे विस्तृत भी कर दिया।

'धर्म ज्योति परिषद' आज बीस से अधिक जैनशालाओं का संचालन कर रही है। कई अभावग्रस्त माई-बहनों को मासिक सहयोग कर रही है। संस्थाने अपने लक्ष्य के अनुरूप कुछ पुस्तकें भी प्रकाशित की हैं। इस दिशा में अभी निकट भविष्य में बहुत अच्छा साहित्य प्रकाशित करने की योजना है। धर्म ज्योति मासिक पत्रिका जो प्रारम्भ में केवल ७० व्यक्तियों को मिल पाती आज एक हजार से अधिक निकलती है। निष्पक्ष शुद्ध सात्विक धार्मिक विचार देना पत्रिका का ध्येय है, जिसमें यह नितान्त सफल रही है। समय-समय पर इसके विशेषांक भी प्रकट होते रहे हैं। मेवाड़ में जो भी सामाजिक परिवर्तन हो रहे हैं उनके मूल में पत्रिका का शानदार योगदान है।

धर्म ज्योति परिषद मेवाड़ में एक कल्पतरु के रूप में विकसित होने वाली संस्था है। मेवाड़ के जन जन का प्यार इसे उपलब्ध है, आशा है कुछ ही वर्षों में यह संस्था और अधिक विराट विस्तार के आयाम स्थापित करेगी। □



□ डा० भँवर सुराणा
[प्रसिद्ध पत्रकार]

स्वतंत्रता संग्राम में मेवाड़ के जैनियों का योगदान

देश की सांस्कृतिक, साहित्यिक एवं औद्योगिक प्रवृत्तियों में अग्रणी रहने वाले मेवाड़ी जैन, स्वतंत्रता संग्राम में भी पीछे नहीं रहे हैं। देश की पराधीनता की जंजीरों से मुक्त करने में मेवाड़ के जैनों के योगदान की एक संक्षिप्त झाँकी यहाँ प्रस्तुत है।

□

गरीबी की अत्यन्त निम्नस्तरीय सीमा-रेखा को स्पर्श करते हुए अशिक्षित, कूपमण्डूक, तिहरी गुलामी से त्रस्त बेचार और कारसरकार में भुस्त पकड़े जाने की अजीब जिन्दगी के बीच जीते भीलों को एक नया जीवन मिला, श्री मोतीलाल तेजावत के रूप में। ठाकुरों के अन्याय और मनमानी के बोभत्स दृश्यों ने तेजावतजी को उनके विरुद्ध उठ खड़े होने को शक्ति, साहस और सामर्थ्य प्रदान किया।

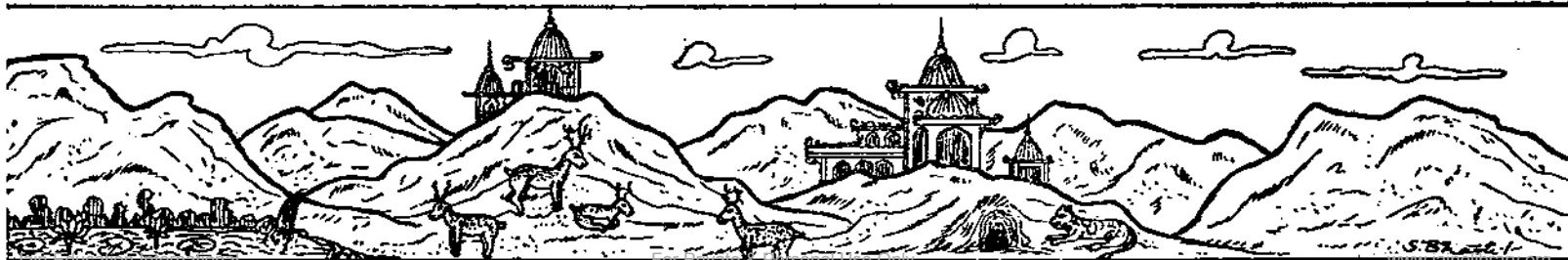
उन्होंने जुन्मों के प्रतिरोध में ठिकाने की नौकरी छोड़ दी और 'एकी'—एकता संगठन का कार्य प्रारम्भ कर किसानों एवं गरीब भीलों में जन-जागरण का आन्दोलन आरम्भ किया। मातृकुंडियाँ का विशाल किसान-सम्मेलन, महाराणा फतहसिंह को ज्ञापन और किसानों की माँगों का निपटारा उनकी संगठन-क्षमता का अपूर्व संयोजन था। अनेक बार ठाकुरों और उनके कारिन्दों ने उन पर प्राणघातक हमले किये। सिरोही, दांता, पालनपुर, ईडर, विजयनगर राज्यों में तेजावतजी ही एकछत्र नेता थे। विजयनगर राज्य के नीमड़ा ग्राम में बातचीत करते-करते राज्य की सेना ने षडयन्त्र-पूर्वक अचानक गोलियाँ चलाकर १२०० लोगों को मार डाला। स्वयं तेजावतजी गोली व छर्रों से घायल हो गये। उनके रक्षक भीलों ने उनको घायल अवस्था में राज्य की कोष दृष्टि से बचाकर उन्हें गुप्तवास में रखा।

तेजावतजी से इन राज्यों के शासक कितना डरते थे, यह इस बात से ज्ञात होता है कि एक अन्य निर्दोष व्यक्ति का सिर काटकर प्रचार किया गया कि तेजावतजी मार डाले गये, ताकि आन्दोलन कमजोर हो जाए! उनकी खोज में सैकड़ों गाँव के गाँव जला दिये गये। पुलिस और फौज उनकी खोज में लगी रहती थी, पर वे हाथ नहीं आये। गांधीजी के आह्वान पर उन्होंने आत्म-समर्पण कर दिया। तब १९२९ से १९३६ तक जेल में और उसके बाद नजरबन्दी में दिन गुजारते तेजावतजी १९४७ तक कई बार जेलों की यात्रा कर आये।^१

जोधपुर में प्रजामण्डल और देशी राज्य लोक-परिषद् की अलख जगाने वाले श्री आनन्दराज सुराणा पुलिस के चंगुल से बचने हेतु उदयपुर में फरारी अवस्था में काफी समय तक छिपकर रहे। श्री शोमालाल गुप्त (काकाजी) 'तरुण राजस्थान' के सम्पादक ने राजद्रोही के रूप में कई बार सजा काटी। गांधीजी के आश्रम से सम्बद्ध काकाजी को अजमेर में राजद्रोहात्मक माषण देने पर जेल भेजा गया। १९४२ के आन्दोलन में भी उनको जेल जाना पड़ा। उनकी पत्नी श्रीमती विजयादेवी भी आन्दोलनों में जेल जाती रहीं।

मेवाड़ प्रजामंडल के अध्यक्ष श्री बलवन्तसिंह मेहता दीवान परिवार में बागी बने। उन्होंने लाहौर कराँची में कांग्रेस अधिवेशनों में भाग लिया और नौजवान भारत सभा, अनुशीलन समिति आदि से सम्बद्ध रहे। प्रजामंडल, कर-विरोधी आन्दोलनों में अनेक बार श्री मेहता गिरफ्तार हुए और जेल काटी।

१ तेजावतजी के सम्बन्ध में एक स्वतन्त्र लेख इसी खण्ड में प्रकाशित किया गया है—'एक जैन भील नेता श्री मोतीलाल तेजावत'। लेखक हैं—श्री शोमालाल गुप्त।



राजस्थान के रचनात्मक कार्यकर्ताओं में श्री भूरेलाल बया का नाम सदैव आगे रहेगा। उन्होंने नमक सत्याग्रह में भाग लिया और उसके पश्चात् गांधीजी के सांख्यिक में बम्बई में कांग्रेस के कार्यकर्ता रहे। प्रजामण्डल के भागीदार श्री बया आदिवासियों और किसानों के सत्याग्रहों में निरन्तर भाग लेते रहे और आजादी के बाद राजस्थान के दो मन्त्रिमण्डलों में मन्त्री बने।

मोतीलालजी तेजावत के पुत्र मोहनलालजी तेजावत बयाजी के साथ रहे हैं। श्री रोशनलालजी बोरदिया ने १९३२ के कर-विरोधी आन्दोलन, १९३८ के प्रजामण्डल आन्दोलन और १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन में भाग लिया तथा उत्तरदायी शासन की माँग को लेकर १९४८ के आन्दोलन में पुलिस की गोली से आहत हुए। उदयपुर के ही श्री चिम्मनलाल बोरदिया ने इन सब आन्दोलनों में भाग लिया।

कानोड़ के श्री उदयजैन, मेवाड़ प्रजामण्डल के सक्रिय कार्यकर्ता के रूप में सामन्तशाही से लोहा लेते हुए जन-जागरण के कार्य में संलग्न रहे। भारत छोड़ो आन्दोलन में उन्हें जेल की सजा दी गई। मेवाड़ प्रजामण्डल के श्री हीरालाल कोठारी को गांधी जयन्ती का समारोह आयोजित करने पर छह महीनों के लिए नजरबन्द कर दिया गया। नाथद्वारा के श्री कञ्जूलाल एवं फूलचन्द पोरवाल को ६-६ महीने नजरबन्द रखा गया। श्री रतनलाल कर्णावट को १३ महीने जेलों में रखा गया। छोटी सादड़ी के श्री पूनमचन्द नाहर को १९३८ एवं १९४२ में आन्दोलनों में भाग लेने पर जेल में रखा गया। श्री सूर्यमानु पोरवाल को भी १९४२ के आन्दोलन के समय नजरबन्द रखा गया।

बनेड़ा के श्री उमरवासिंह दावरिया मेवाड़ प्रजामण्डल के सक्रिय कार्यकर्ता रहे हैं और १९४२ के आन्दोलन में नजरबन्द कर दिये गये थे। आजादी से पहले और आजादी के बाद दर्जनों बार वे जेल भोग आये हैं। समाजवादी दल और राजस्थान विधान सभा के सक्रिय सदस्य के रूप में उन्होंने प्रान्तीय प्रशासन में व्याप्त भ्रष्टाचार के विरुद्ध जिहाद खड़ा किया था।

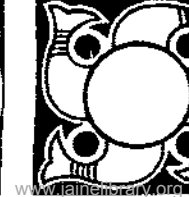
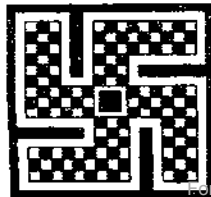
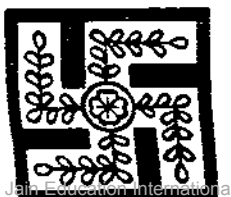
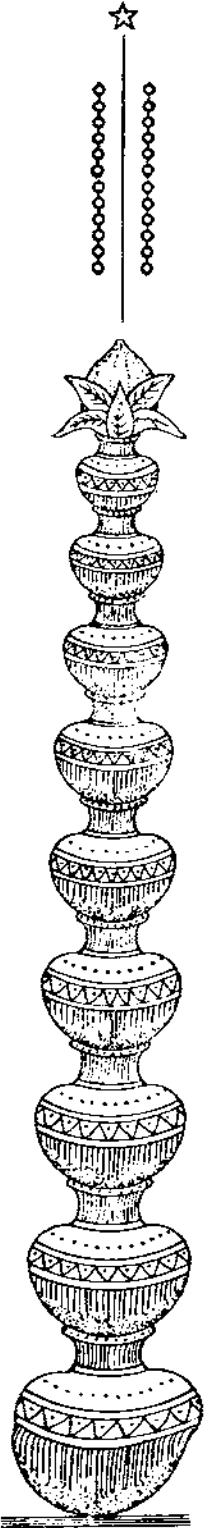
कानोड़ के श्री तर्कसिंह बाबेल, सुखलाल उदावत, माधवलाल नन्दावत, भंवरलाल डूंगरवाल, चाँदमल मनावत १९४२ के भारत छोड़ो आन्दोलन और उसके बाद प्रजामण्डल के आन्दोलनों तथा कार्यालयों से सम्बद्ध रहे। कुशलगढ़ के श्री डाडमचन्द दोसी, झब्बालाल कावड़िया, उच्छवलाल मेहता, भैरोंलाल तलेसरा, खेमराज श्रीमाल, कन्हैयालाल मेहता, बापूलाल लखावत, कान्तिलाल शाह, पन्नालाल शाह, शान्तिलाल सेठ, गुमानमल लखावत, सुजानमल शाह, किशनलाल दोसी, सीभागमल दोसी आदि प्रजामण्डल के प्रमुख कार्यकर्ता थे।

मीलवाड़ा के श्री मनोहरसिंह मेहता, रोशनलाल चोरड़िया, उदयपुर के हुकमराज मेहता, भगवत मंडारी, चित्तौड़गढ़ के श्री फतहलाल चंडालिया, भीमराज घड़ोलिया, हमीरगढ़ के श्री राजमल बोहरा आदि अनेक लोगों ने आजादी की लड़ाई में अपना-अपना योगदान किया है। श्री यशवन्तसिंह नाहर, श्री सज्जनसिंह नाहर, श्री रिखवचन्द धारीवाल आदि के नाम इस क्षेत्र में उल्लेखनीय हैं।

प्रशासन

स्वतन्त्रता के पश्चात् राजस्थान में प्रशासन का मार्ग प्रशस्त करने वालों में पद्मश्री भगवतसिंह मेहता का नाम सदैव अग्रगण्य रहेगा। भारतीय विदेश-सेवा में श्री के० एल० मेहता, श्री जगत मेहता, डॉ० मोहनसिंह मेहता को नहीं भुलाया जा सकता। यों डॉ० मेहता शिक्षाविद् के रूप में देश में प्रख्यात हैं और राजस्थान विश्वविद्यालय उनके अपने ही सपनों का साकार रूप है। श्री सत्यप्रसन्नसिंह मंडारी, श्री गोकुललाल मेहता, श्री जगन्नाथसिंह मेहता, रणजीत सिंह कुम्भट, अनिल बोरदिया, ओतिमा बोरदिया, मोठालाल मेहता, जसवन्तसिंह सिधवी, बालूलाल पानगड़िया, हिम्मतसिंह गलूंडिया, साहिबलाल अजमेरा, मनोहरसिंह मोगरा आदि अपने-अपने क्षेत्र में अपनी छाप छोड़ने वाले अधिकारी हैं। न्यायाधीशों में श्री लहरसिंह मेहता का नाम उल्लेखनीय है।

☆☆





जैन तत्त्वज्ञान, आत्मा, कर्मवाद, गुणस्थान, मोक्ष
स्यादवाद, नय-निक्षेप आदि पर मवेषणा-प्रधान
चिन्तन और विश्लेषण

तृतीय खण्ड

□ डा० हुकुमचन्द संगवे

हमारी समस्त तत्त्वविद्या का विकास एवं विस्तार आत्मा को केन्द्र मानकर ही हुआ है। आत्मवादी एवं अनात्मवादी दोनों ही दर्शनों में आत्मा के विषय में गहरी विचारणा हुई है। प्रस्तुत में विद्वान लेखक ने आत्मतत्त्व पर विभिन्न दृष्टिबिन्दुओं से एक पर्यवेक्षण किया है।

आत्मतत्त्व : एक विवेचन

□

आत्मतत्त्व की धारणा

भारतीय चिन्तकों ने विश्व के समस्त पदार्थों को चेतन और अचेतन दो रूपों में विभाजित किया है। चेतन में ज्ञान, दर्शन, सुख, स्मृति, वीर्य आदि गुण पाये जाते हैं और अचेतन में स्पर्श, रस, मन्ध, वर्ण, गुण आदि। वैदिक काल में भी आत्मा अर्थात् चेतन तत्त्व की जानने की जिज्ञासा हुई थी—'यह मैं कौन हूँ? मुझे इसका पता नहीं चलता^१।' अचेतन तत्त्व के सम्बन्ध में भी जिज्ञासा थी—'विश्व का वह मूल तत्त्व सत् है या असत्? उस तत्त्व को इन्हीं नाम से कहने को वे तैयार नहीं हैं।^२ इसके अनन्तर ब्राह्मणकाल की अपेक्षा उपनिषद्काल में आत्मा के स्वरूप पर महत्त्वपूर्ण विचार हुआ। जैन बाङ्गमय में आत्मवर्चा की प्रमुखता आचार्य कुन्दकुन्द ने अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत की। इस दार्शनिक तत्त्व पर विचार किया जाय तो वैदिक युग में आत्मा के स्वरूप का उत्तम अधिक चिन्तन नहीं हुआ, जितना बाद में हुआ। भारतीय दर्शन में पराविद्या, ब्रह्मविद्या, आत्मविद्या, मोक्षविद्या इस प्रकार के विद्याओं के विवेचन प्रसंग में आत्मविद्या का स्थान है।

आत्मा संसार के समस्त पदार्थों से नित्य और विलक्षण है। आत्मा का अनुभव प्रत्येक व्यक्ति को स्वतः अपने में होता है। उपनिषदों में वर्णित आत्मा का स्वरूप जैन दार्शनिक स्वीकार करते हैं परन्तु सुख-दुःख की अवस्था को उपनिषद् में मिथ्या कहा गया है जबकि जैन दर्शन में सुख-दुःखादि कर्मसंयोग से^३ आत्मा के आनन्द गुण को विकृत रूप में अनुभव किये जाने की मान्यता है। उपनिषद् में जहाँ आत्मा को ब्रह्मांश स्वीकार किया है वहाँ जैन दर्शन में आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व माना है। "चेतन आत्मा न तो उत्पन्न होता है, न मरता है, न यह किसी का कार्य है और न स्वतः ही अभाव रूप में से भावरूप में आया है, वह जन्म-मरण रहित नित्य, शाश्वत, पुरातन है। शरीर नष्ट होने पर आत्मा नष्ट नहीं होता। आत्मा में कर्तृत्व-भोक्तृत्व शक्ति है। वह अशब्द, अस्पर्श, अरूप, अरस, नित्य, गंधरहित है, जो अनादि, अनन्त, महत्त्व से परे और ध्रुव है, उस आत्म तत्त्व को प्राप्त कर मनुष्य मृत्यु के मुख से छुटकारा प्राप्त करता है।" उपनिषद् के इस विचार से आचार्य कुन्दकुन्द सहमत हैं।

आत्मा का अस्तित्व

भारतीय दर्शन का विकास और विस्तार आत्मतत्त्व को केन्द्र मानकर ही हुआ। अनात्मवादी तथा आत्मवादी दर्शन में भी आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया है, भले ही उनमें स्वरूप-भिन्नता हो।

१ ऋग्वेद : १।१६।३७।

२ बही : १०।१२६।

३ पंचाध्यायी : २।३५ 'यथा अनादि स जीवात्मा'।

४ कठोपनिषद् : १।२।१८; १।३।१५।

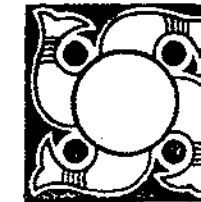
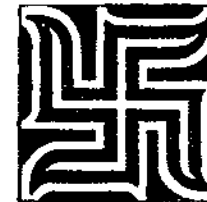
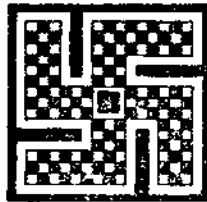


जब किसी भी वस्तु के स्वरूप, भेद का विचार करते हैं तब सर्वप्रथम उसके अस्तित्व पर विचार करना आवश्यक है। कोई शरीर को, कोई बुद्धि को, कोई इन्द्रिय या मन को और कोई संधात को आत्मा समझता है। कुछ ऐसे व्यक्ति भी हैं जो इन सबसे पृथक् आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व को स्वीकार करते हैं।^१ आत्म-विषयक मान्यता में दो प्रमुख धाराएँ चल पड़ीं। अद्वैत मार्ग में किसी समय अनात्मा की मान्यता थी और धीरे-धीरे आत्माद्वैत की मान्यता चल पड़ी। चार्वाक जैसे दार्शनिकों के मत में आत्मा का मौलिक स्थान नहीं था जबकि जैन, बौद्ध, सांख्य दर्शन में आत्मा के चेतन और अचेतन दोनों रूपों का मौलिक तत्त्वों में स्थान है। पंचाध्यायी^२ में कहा है कि स्वसंवेदन द्वारा आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि होती है। संसार के जितने चेतन प्राणी हैं सभी अपने को सुखी, दुःखी, निर्धन आदि के रूप में अनुभव करते हैं। यह अनुभव करने का कार्य चेतन आत्मा में ही हो सकता है।

आत्मा के अस्तित्व के विषय में संशय^३ होना स्वाभाविक है। आत्मा अमूर्त है। शास्त्रों का आलोचन करके भी उसे पहचानना असम्भव है। प्रत्यक्षादि प्रमाणों द्वारा उसका अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। घटपटादि पदार्थ प्रत्यक्ष में दिखाई देते हैं उसी प्रकार आत्मा का प्रत्यक्ष नहीं होता। जो प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं, उसकी अनुमान प्रमाण से सिद्धि नहीं होती। कारण अनुमान का हेतु प्रत्यक्षगम्य होना चाहिए। धुआं और अग्नि का अविनाभावी हेतु हम प्रत्यक्ष पाकशाला में देखते हैं। अतः अन्यत्र धुएँ को देखकर स्मरण के बल पर परोक्ष-अग्नि का अनुमान द्वारा ज्ञान कर सकते हैं। परन्तु आत्मा का ऐसा कोई अविनाभावी सम्बन्ध हमें पहले कभी देखने में नहीं आया। अतः आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान प्रत्यक्ष या अनुमान प्रमाण से नहीं है। चार्वाक तो जो दिखालाई पड़ता है उसी को मानता है।^४ आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व उसे मान्य नहीं। भूत समुदाय से विज्ञानघन उत्पन्न होता है। भूतों के विलय के साथ ही वह नष्ट होता है पर-लोक नाम की कोई वस्तु है ही नहीं।^५ इसके विरोध में उपनिषद में^६ विचार प्रस्तुत किये हैं। आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता और चेतनस्वरूपी माना है।

कहीं-कहीं पर शरीर को ही आत्मा माना है।^७ यदि शरीर से भी भिन्न आत्मा है तो मरणोपरान्त बन्धु-बांधवों के स्नेह से आकृष्ट होकर लौट क्यों नहीं आता? इन्द्रियातीत कोई आत्मा है ही नहीं। शरीर से ही दुःख-सुख प्राप्त होते हैं। मरने के बाद आत्मा का अस्तित्व कहाँ है? शरीर ही आत्मा है।^८ आत्मा प्रत्यक्षादि प्रमाण से सिद्ध है और शरीर से भिन्न है। यहाँ कहते हैं आत्मा का अस्तित्व प्रत्यक्ष से सिद्ध है। 'जीव है या नहीं?' यह संशय चेतना का ही रूप है। चेतना और उपयोग आत्मा का स्वरूप^९ है, शरीर का नहीं। संशय आत्मा में ही उत्पन्न हो सकता है, शरीर में नहीं। विज्ञान का प्रत्यक्ष अनुभव हो रहा है अतः यही आत्मा का प्रत्यक्ष है। आत्मा प्रत्यक्ष से सिद्ध होता हो तो अन्य प्रमाण की क्या आवश्यकता? शरीर के ही विज्ञान गुण को माना तो मैंने किया, मैं कर रहा हूँ और मैं करूँगा, इसी अहंरूप ज्ञान से प्रत्यक्ष आत्मानुभूति नहीं होती? शरीर ही मैं हूँ तो 'मेरा शरीर' इस प्रकार का शब्द प्रयोग नहीं होता। मृत्यु के बाद शरीर को नहीं कहा जाता कि अमुक शरीर मर गया परन्तु संकेत जीव की ओर रहता है। सभी लोकों में आत्मा के अस्तित्व की प्रतीति है। 'मैं नहीं हूँ' ऐसी प्रतीति किसी को भी नहीं है—यदि आत्मा को अपना

- १ न्यायवार्तिक : पृ० ३६६ ।
- २ पंचाध्यायी २।५ ।
- ३ विशेषा० : गा० १५४६ ।
- ४ षट्दर्शन : पृ० ८१ 'एतावानेव लोकोऽयं यावानिन्द्रियगोचरः ।
- ५ बृहदारण्यक : २।४।१२ ।
- ६ छान्दोग्य उप० : ८।१२।१; मंत्रायणी उप० : ३।६।३६ ।
- ७ परमानन्द महाकाव्य । ३।१२४ ।
- ८ धर्मशर्माभ्युदय : ४।६४-६५ ।
- ९ तत्त्वार्थसूत्र : २/८; उपयोगो लक्षणम् ।



अस्तित्व अज्ञात होता तो 'मैं नहीं हूँ' ऐसी प्रतीति होनी चाहिए।^१ परन्तु होती नहीं। अहं प्रत्यय को ही आत्मा का प्रत्यक्ष ज्ञान कहा है।^२

संशय स्वयं ज्ञान रूप है। ज्ञान आत्मा का गुण है। गुण के बिना गुणी नहीं रह सकता। कपड़ा और कपड़े का रंग, कपड़ा ग्रहण किया कि रंग का भी ग्रहण होगा। ज्ञान गुण देह का मानना व्यर्थ है, कारण देह मूर्त है। ज्ञान अमूर्त है, बोध रूप है। गुण अनुरूप गुणी में ही रह सकते हैं। जैसा गुणी होगा वंसा गुण होगा। विचारणीय यह है कि गुण और गुणी भिन्न है या अभिन्न? न्याय-वैशेषिक दोनों में भेद मानते हैं। सांख्य ने गुण-गुणी में अभेद स्वीकार किया है तथा जैन और मीमांसक मत में गुण-गुणी में कथंचित् भेद कथंचित् अभेद माना है। गुण-गुणी से अभिन्न माना तो गुण दर्शन से गुणी का दर्शन मानना होगा; भिन्न माना तो घट-पटादिक का भी प्रत्यक्ष नहीं होगा, कारण घट-पटादि गुणी हैं। वे गुण के अभाव में ग्रहण करने योग्य नहीं होते। जहाँ गुण है वहाँ गुणी है। गुण प्रत्यक्ष है अतः गुणी को भी प्रत्यक्ष होना चाहिए। स्मरणादि गुण प्रत्यक्ष हैं उसी का गुणी आत्मा का प्रत्यक्ष ग्रहण होगा। यहाँ शंका होनी स्वभाविक है कि शब्द का प्रत्यक्ष होता है, आकाश का नहीं। शब्द आकाश का गुण माना है। यह वैशेषिक का अनुभव अयुक्त है, कारण शब्द पौद्गलिक है, मूर्त है। अमूर्त का गुण मूर्त नहीं है, यह हम पहले कह आये। स्मरणादि को शरीर के गुण मानना झूठ नहीं। खिड़की से हम देखते हैं परन्तु खिड़की देख नहीं सकती। उसे ज्ञान नहीं होता। शरीर खिड़की के सदृश्य है। आत्मा, ज्ञान, चेतन गुण युक्त है। प्रत्यक्ष प्रमाण से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध हुआ कि आत्मा है, अतः अब यह जानना आवश्यक है कि उसका स्वरूप क्या है?

आत्मा का स्वरूप

आचार्य देवसेन ने आत्मा के ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्य, चेतनत्व, अमूर्तत्व ये छः गुण बतलाये हैं।^३ आचार्य नेमिचन्द्र^४ ने जीव का उपयोगमयी, अमूर्तिक, कर्ता, स्वदेह परिमाण, भोक्ता, ऊर्ध्वगमन, सिद्ध और संसारी, इस तरह नौ प्रकार से कथन किया है।

जहाँ उपयोग है, वहाँ जीवत्व है, जहाँ उपयोग नहीं, वहाँ जीवत्व का अभाव है। उपयोग, ज्ञान जीव का ऐसा लक्षण है जो सभी जीवों में चाहे संसारी हों या सिद्ध, सब में पाया जाता है। ज्ञान भी जीव के अतिरिक्त अन्यत्र नहीं है। 'ज्ञान आत्मा' ऐसा 'समयसार' में कहा है। मूल स्वभाव ज्ञान है। ज्ञान गुण में ज्ञानावरणादि से विकृति भले ही आ जाये परन्तु सर्वथा ज्ञान गुण का नाश नहीं होता। ज्ञान पाँच माने हैं। प्रथम चार ज्ञान क्षायोपशमिक हैं और केवल ज्ञान क्षायिक है। क्षायोपशमिक अवस्था में कर्म का सद्भाव रहता है।

गुण दो प्रकार के हैं—(१) स्वाभाविक, और (२) वैभाविक। जल की शीतलता, अग्नि की उष्णता—ये उनके स्वाभाविक गुण हैं। अग्नि के निमित्त से जल में उष्णता आती है। यही उष्णता जल का विभाव गुण है। अग्नि हट गई तो उष्णता भी हट जाती है। पानी में आई हुई उष्णता पर के निमित्त से है। ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है।

छान्दोग्य उपनिषद^५ में एक कथा आती है। असुरों में से विरोचन और देवों का प्रतिनिधि इन्द्र ये दोनों प्रजापति के पास आत्म-ज्ञान के लिये गये हैं। प्रजापति से पूछा आत्मस्वरूप क्या है? प्रजापति ने जलमय शांत सरोवर में देखने को कहा और पूछा कि क्या देख रहे हो? उन्होंने उत्तर में कहा—हम अपने प्रतिबिम्ब को देख रहे हैं। वस! यही आत्मा है। विरोचन का तो समाधान हुआ परन्तु इन्द्र चिंतित था।

यहीं से चिंतन शुरू हुआ। इन्द्रिय और शरीर का संचालक मन है। 'मन' को आत्मा माना। मन भी जब तक प्राण है तब तक कार्य करता है। प्राण-पखेरू उड़ जाने के बाद मन का चिंतन बन्द हो जाता है अतः मन नहीं,

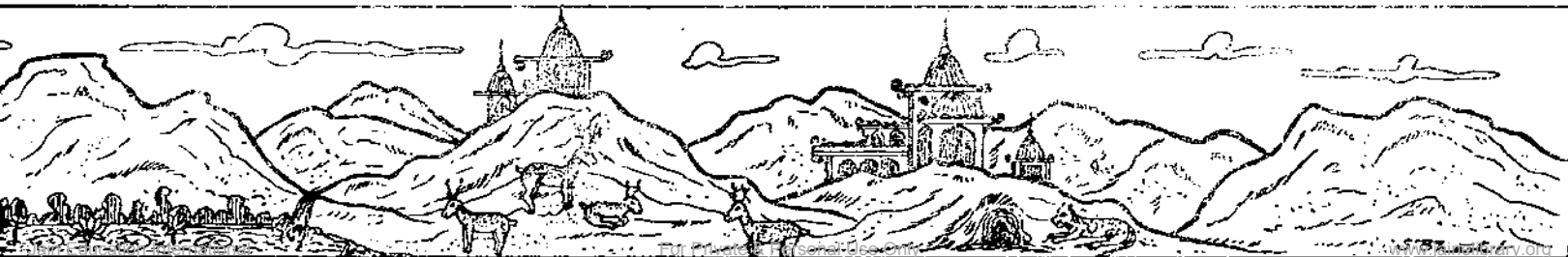
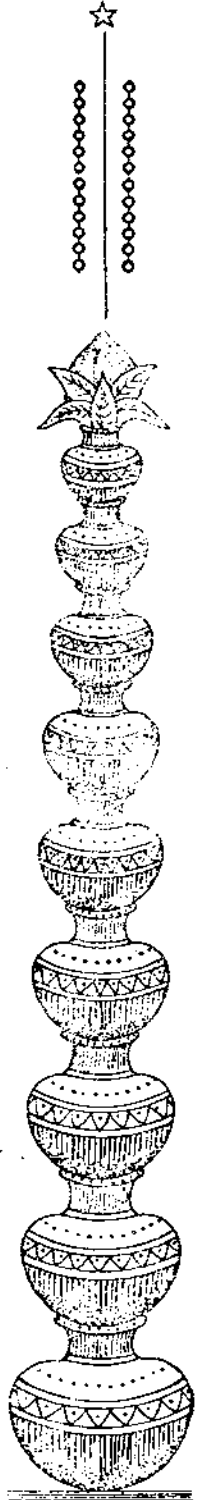
१ ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य : १।१।१।

२ न्यायमंजरी : पृ० ४२६; न्यायवार्तिक : पृ० ३४१।

३ आलाप पद्धति, प्रथम गुच्छक : पृ० १६५-६६।

४ द्रव्यसंग्रह : १।२।

५ छान्दोग्योपनिषद : ८।८।



‘प्राण’ आत्मा है। शरीर, मन और प्राण को आत्मा मानने की प्रक्रिया से और चित्तन के गहराई में उतरने के बाद मनन करते-करते परिज्ञान हुआ कि शरीर आत्मा नहीं, इन्द्रिय आत्मा नहीं, मन आत्मा नहीं, प्राण आत्मा नहीं। ये सब भौतिक हैं, नाशवंत हैं। परन्तु आत्मा शाश्वत है। इसी चित्तन से भौतिक की ओर से अभौतिक का चित्तन होने लगा। आत्मा भौतिक नहीं, अभौतिक है, यह सिद्ध हुआ। ‘समयसार’^१ में कुन्दकुन्दाचार्य कहते हैं—‘न आत्मा में रूप है, न रस है, न स्पर्श है और न गन्ध है। यह संस्थान और संहनन से रहित है। राग, द्वेष, मोह आत्मा के स्वरूप नहीं। (जीव में न आस्रव है, न वर्ण है, न वर्णायें हैं, न स्पर्धक हैं, और न अनुभाग स्थान, न क्लेश स्थान हैं। यह आत्मा शुद्ध, बुद्ध और ज्ञानमय है। ‘ज्ञानमय’ स्वरूप तक आत्मा के बारे में जानकारी है। कर्म बंध और उससे मुक्ति का भी विचार हुआ है।

आत्मा के प्रदेश और विस्तार

जैन दर्शन में षट्द्रव्य माने गये हैं। काल द्रव्य के अतिरिक्त पाँच द्रव्य अस्तिकाय है। काल-द्रव्य^२ अनस्तिकाय है। प्रदेशों के समूह को अस्तिकाय कहते हैं और एक ही प्रदेश हो, प्रदेशों का समूह न हो, उसे अनस्तिकाय कहते हैं।^३ जैन दर्शन की मान्यता है कि जिस द्रव्य में एक प्रदेश हो, वह एक प्रदेशी और जिसमें दो आदि, संख्यात, असंख्यात, अनंत प्रदेश हों वह बहुप्रदेशी द्रव्य है। जीव, धर्म, अधर्म, द्रव्य असंख्यात प्रदेशी हैं।^४ यहाँ शंका होती है कि प्रदेश किसे कहा जाय? ‘एक अविभागी पुद्गल परमाणु जितने आकाश को स्पर्श करता है, उतने देश को प्रदेश कहा है।^५ जीव द्रव्य के प्रदेश की विशेषता यह है कि, वह बड़े या लघु जिस प्रकार का शरीर प्राप्त हुआ हो, उसी के अनुलक्षण जीव के प्रदेश संकोचित या विस्तृत होते हैं। जीव का स्वभाव शरीर-परिमाण है, यह हम पहले कह आये। ‘तत्त्वार्थ सूत्र’^६ में दीपक का उदाहरण दिया है। क्या सचमुच आत्मा शरीर-परिमाण है? कारण अन्यत्र आत्मा के परिमाण के बारे में अनेक कल्पनाएँ उपलब्ध होती हैं।

मगवान महावीर से इन्द्रभूति गौतम पूछते हैं—“आत्मा चेतना लक्षण युक्त है, मगर उसका क्या रूप है, व्यापक या अनेकरूप है।” आत्मा आकाश की भाँति अखण्ड, एक रूप, व्यापक नहीं है। जीव प्रति शरीर भिन्न है। आकाश का लक्षण सर्वत्र एक है। प्रति शरीर प्रति जीव में सुख-दुःख का अनुभव भिन्न-भिन्न है। एक सुखी होने पर सबको सुखी होना चाहिए और एक को दुःखी होने पर सबको दुःखी होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता। सर्वगत आकाश की भाँति एक माना तो बंध, मोक्ष में अव्यवस्था उत्पन्न होगी। आत्मा व्यापक नहीं। न्याय, वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसक आदि आत्मा को व्यापक मानते हैं। रामानुजाचार्य के अनुसार ब्रह्मात्मा व्यापक है और जीवात्मा अनु-परिमाण। चार्वाक आत्मा को अर्थात् उसी के मतानुसार चैतन्य को देह-परिमाण मानता है। उपनिषद में आत्मा को मानने की यही परम्परा है। कौषीतकी उपनिषद में^७ आत्मा को देह-प्रमाण बताते हुए कहा है कि, ‘जिस प्रकार तलवार म्यान में व्याप्त है और अग्नि अपने कुंड में व्याप्त है, उसी प्रकार आत्मा शरीर में नख से लेकर शिखा तक व्याप्त है। तैत्तिरीय^८ उपनिषद में अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय आत्मा को शरीर-प्रमाण बताया। बृहदारण्यक में^९ उसे चावल या जी समान बताया है। कठोपनिषद^{१०} तथा श्वेताश्वेतरोपनिषद^{११} में आत्मा को अंगुष्ठ परिमाण माना है। मंत्रेयी उपनिषद^{१२} में अणुमात्र माना है। जैनों ने उसे देह परिमाण माना परन्तु केवलज्ञान की अपेक्षा से उसे व्यापक भी माना^{१३}; अथवा समुद्रघात की अवस्था में आत्मा के प्रदेशों का विस्तार होता है, उसकी अपेक्षा से उसे व्यापक माना है। संसारी आत्मा देह-परिमाण रूप है।

१ समयसार : ५०-५१।

३ मगवती : पृ० १३८।

५ मगवती सूत्र : १८।७।

७ कौषीतकी उपनिषद : ४।२०।

९ बृहदारण्यक : ५।६।१।

११ श्वेताश्वेतरोपनिषद : ३।१३।

१३ ब्रह्मदेवकृत द्रव्यसंग्रह टी० : १०।

२ तत्त्वार्थसूत्र : ५।११; द्रव्य संग्रह : २३।

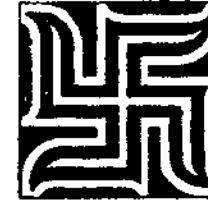
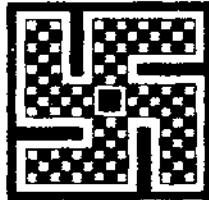
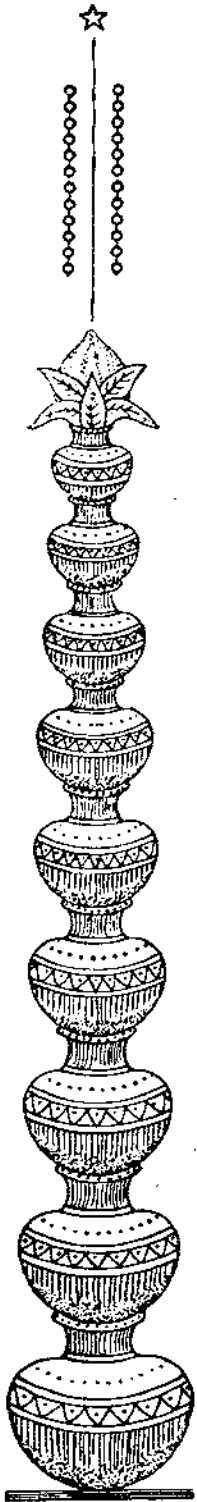
४ तत्त्वार्थसूत्र : ५।८।

६ तत्त्वार्थसूत्र : ५।१६।

८ तैत्तिरीय उपनिषद : १।२।

१० कठोपनिषद : २।२।१२।

१२ मंत्रेयी उपनिषद : ६।३८।



जीव अपने कामेंग शरीर के साथ उन स्थानों में गमन करता है, जहाँ नूतन शरीर धारण करना हो। नूतन शरीर में जब आत्मा प्रवेश करता है, उसी के अनुरूप वह अपने प्रदेशों का विस्तार या संकोचन कर लेता है। यही बात द्रव्यसंग्रह में कही है।^१

संसारवस्था में आत्मा शरीर प्रमाण है और मुक्तावस्था में जिस शरीर से आत्मा मुक्ति को प्राप्त करता है, उससे कुछ न्यून परिमाण में सिद्धशिला पर स्थित रहता है। यह मान्यता जैनदर्शन की अपनी है।

आत्माएँ अनंत हैं। सभी आत्माएँ अपनी-अपनी कर्तृत्व शक्ति से कर्मों का अर्जन करते हुए भोग भोगते हैं। संसार में अनेक जीव दिखाई पड़ते हैं, अतः उन्हीं का निषेध करते हुए एक मानना और यह कहना कि नाना शरीर के कारण आत्माएँ भिन्न-भिन्न मालूम पड़ते, जबकि आत्मा एक है। यह मत इष्ट नहीं। अनेक आत्माओं को जैनदर्शन, बौद्ध न्याय, वैशेषिक और पूर्व मीमांसा दर्शन ने स्वीकार किया है। वेदान्त में मात्र एक आत्मा को मौलिक माना है। अन्य का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं माना। अनेक-एक भिन्न-भिन्न मानने में शंकराचार्य से लेकर चल्लभाचार्य तक ऊहापोह हुआ है।

आत्मा के भेद

'स्थानांग सूत्र' में 'एगे आया' 'आत्मा एक है' कहा है। स्वरूप के दृष्टिकोण से आत्मा में भेद नहीं। जो स्वरूपसिद्ध जीव का है वही संसारी जीव का है। परन्तु इसी आगम में आठवें स्थान में आठ प्रकार के आत्मा कहे हैं— (१) द्रव्य आत्मा, (२) कषायात्मा, (३) योगात्मा, (४) उपयोगात्मा, (५) ज्ञानात्मा, (६) दर्शनात्मा, (७) चारित्रात्मा और (८) वीर्यात्मा। प्रथम जो कथन किया गया है वह निश्चय दृष्टि से, और दूसरा कथन व्यवहार दृष्टि से है। संसारी आत्मा कषायसहित है और सिद्धात्मा उससे रहित। 'योगसार'^२ में आत्माओं के तीन भेद किये हैं—१. बहिरात्मा, २. अन्तरात्मा, ३. परमात्मा। बहिरात्मा मिथ्यादृष्टि से युक्त होता है और उसका संसार से उद्धार होना कठिन होता है। जिन आत्माओं में अन्तरात्मा और परमात्मा रूप प्रकट होने की योग्यता नहीं, उन आत्माओं को अभव्य कहा है और जिनमें योग्यता है, उनको भव्य। अन्तरात्मा के तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और जघन्य। रागद्वेष की तरतमता की अपेक्षा ये तीन भेद किये हैं। 'समाधि-शतक'^३ में अन्तरात्मा के विषय में बड़े विस्तार से विवेचन है। परमात्मा के दो भेद किये हैं—१. सकल परमात्मा और निकल परमात्मा। सकल परमात्मा अहंत्वं है और विकल परमात्मा सिद्ध परमेष्ठी। द्रव्य संग्रह^४ में इन्हीं की व्याख्या दी है।

सभी जीव अनादिकाल से कर्म बंधन से युक्त हैं और इसी कारण वे संसार में परिभ्रमण कर रहे हैं। कर्म बंधन की चार अवस्थाएँ हैं—१. प्रकृति बंध, २. प्रदेश बंध, ३. स्थिति बंध और ४. अनुभाग बंध। योग और कषाय के सम्बन्ध से आत्मा कर्म बंधन में पड़ जाता है।^५ शक्ति की अपेक्षा प्रत्येक आत्मा सम्यक्त्व, दर्शन, ज्ञान, अगुरु-लघुत्व, अवगाहनत्व, सूक्ष्मत्व, वीर्य, अव्याबाध इन आठ गुणों से युक्त है, परन्तु अभिव्यक्ति की अपेक्षा तारतम्य रहने से आत्मा के उक्त तीन भेद किये गये हैं।

इसके अतिरिक्त आगम में सर्वसामान्य जीव के दो भेद किये हैं—(१) सिद्ध और (२) संसारी। फिर संसारी जीव के दो भेद किये हैं—(१) त्रस और (२) स्थावर। त्रस के दो भेद हैं—(१) लब्धित्रस, (२) गतित्रस। स्थावर के पाँच भेद हैं—पृथ्वी, अप्, तेजस्, वायु और वनस्पति। इसके अतिरिक्त गति, इन्द्रिय, पर्याप्ति, संज्ञादि के भेद से जीवों के अनेक भेद हो सकते हैं। आगम में जीव के ५६३ भेद भी देखने में आते हैं।



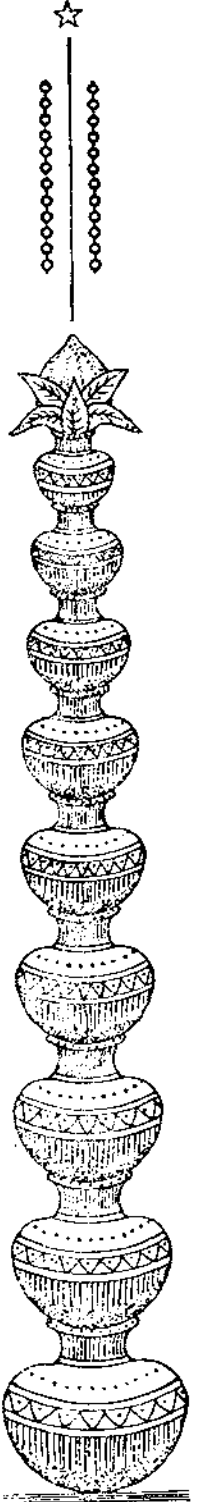
१ द्रव्यसंग्रह : गा० १०, ३३, योगसार : गा० ६।

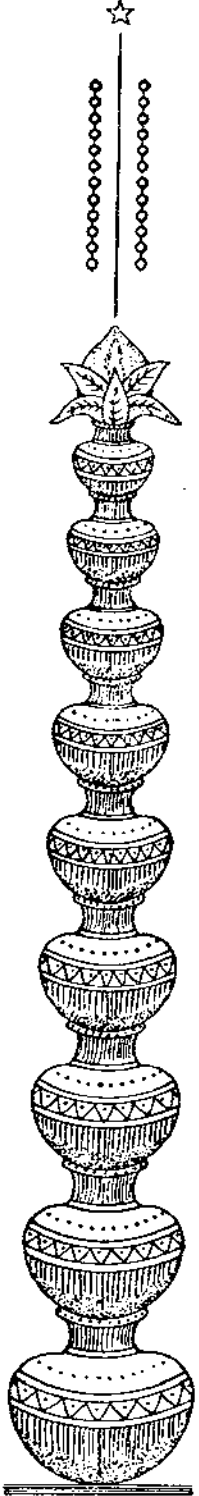
२ योगसार : गा० ६।

३ समाधि शतक : ३१, ६०।

४ द्रव्यसंग्रह : गा० १४।

५ स्वामि कार्तिकेयानुप्रेक्षा : गा० १०२-१०३।





अमूर्त आत्मा और निराकार चेतना सुख-दुःख का भागी क्यों होता है? जन्म-पुनर्जन्म का कारण क्या है? सृष्टिक्रम एक व्यवस्थित ढंग से क्यों गतिमान है—इन सब का समाधान—‘कर्म-सिद्धान्त’ में निहित है। कर्म-सिद्धान्त जैनदर्शन का मूलाधार तो है ही, किन्तु प्रत्येक भारतीय दर्शन ने उसे कहाँ, कैसे, किस रूप में स्वीकार किया है—इसका विश्लेषण प्रस्तुत प्रबंध में पढ़िए।

□ साध्वी संघमित्रा
[जैन श्वे० तेरापंथ संघ की प्रसिद्ध विदुषी श्रमणी]

कर्म-सिद्धान्त : मनन और मीमांसा

कर्म-सिद्धान्त भारत के उर्वर मस्तिष्क की उपज है। ऋषियों के दीर्घ तपोबल से प्राप्त नवनीत है। यथार्थ में आस्तिक दर्शनों का भव्य प्रासाद कर्म-सिद्धान्त पर ही टिका हुआ है। कर्म के स्वरूप-निर्णय में भले विचारेक्य न रहा हो, पर अध्यात्म-सिद्धि कर्म-विमुक्ति^१ के बिन्दु पर फलित होती है—इसमें कोई दो मत नहीं हैं। प्रत्येक दर्शन ने किसी न किसी रूप में ‘कर्म’ की मीमांसा की है। पर जैन दर्शन ने इसका चिन्तन विस्तार व सूक्ष्मता से प्रस्तुत किया है।

कर्म का शाब्दिक रूप

लौकिक भाषा में ‘कर्म’ कर्तव्य है। कारक की परिधि में^२ कर्ता का व्याप्य कर्म है। पौराणिकों ने व्रत-नियम को कर्म कहा। सांख्य दर्शन में पाँच^३ सांकेतिक क्रियाएँ ‘कर्म’ अमिथा से व्यवहृत हुईं। जैन दृष्टि में कर्म वह तत्त्व है, जो आत्मा से विजातीय-पौद्गलिक होते हुए भी उससे संश्लिष्ट होते हैं और उसे प्रभावित करते हैं।

कर्मों की सृष्टि

सद्-असद् प्रवृत्ति से प्रकम्पित आत्म-प्रदेश पुद्गल-स्कन्ध को अपनी ओर आकर्षित करते हैं। आकृष्ट पुद्गल स्कन्धों में से कुछ आत्म-प्रदेशों पर चिपक जाते हैं शेष विसर्जित हो जाते हैं। चिपकने वाले पुद्गल स्कन्ध^४ ‘कर्म’ कहलाते हैं।

१. (क) उत्तराध्ययन ३२/२ “रागस्स दोसस्स य संखएणं—एगंत सोक्खं समुवेइ मोक्खं।”

(ख) हरिभद्रसूरि—षड्दर्शन, श्लोक ४३—प्रकृति वियोगो मोक्षः।

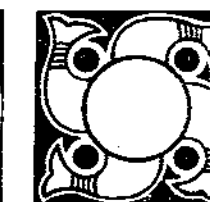
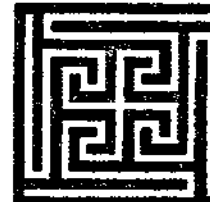
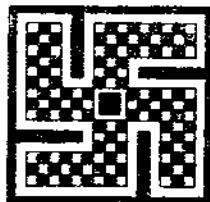
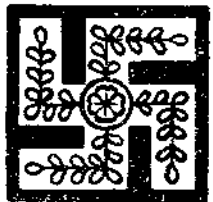
(ग) जयन्त न्याय-संजरी—पृष्ठ ५०८—“तदुच्छेदे च तत्कार्यं शरीराद्यनुपप्लवात् नात्मनः सुख दुःखेस्तः—इत्यसौ मुक्त उच्यते।”

(घ) धर्मबिन्दु पृ० ७६—चित्तमेव ही संसारो—रागादिक्लेश वासितम्।
तदेव तं विनिर्मुक्तं—भवान्त इति कथ्यते।

२. कालु कौमुदी—कारक-सू-३ कर्तुर्व्याप्यं कर्म।

३. हरिभद्र सूरि—षड्दर्शन, श्लोक ६४।

४. आचार्य श्री तुलसी—जैन-सिद्धान्त दीपिका, प्रकाश ४/१



ये छत्रों^१ दिशाओं से ग्रहीत जीव प्रदेश के क्षेत्र में स्थित, अचल, सूक्ष्म, चतुःस्पर्शी कर्म प्रायोग्य अनन्तानन्त परमाणुओं से बने होते हैं। आत्मा सब प्रदेशों से कर्मों को आकृष्ट करती है। हर कर्म-स्कन्ध^२ का सभी आत्म-प्रदेशों पर बन्धन होता है और वे कर्मस्कन्ध ज्ञानावरणत्व आदि भिन्न-भिन्न प्रकृतियों में निर्मित होते हैं।

प्रत्येक आत्म-प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म पुद्गल स्कन्ध चिपके रहते हैं। कर्मों का वेदन काल उदयावस्था है। कर्मोदय दो प्रकार का है—१. प्रदेशोदय^३, २. विपाकोदय।

जिन कर्मों का भोग केवल प्रदेशों में ही होता है वह प्रदेशोदय है। जो कर्म शुभ-अशुभ फल देकर नष्ट होते हैं वह विपाकोदय है। कृषक अनेक बीजों को बोता है पर सभी बीज फलित नहीं होते। उनके फलित होने में भी अनुकूल सामग्री अपेक्षित रहती है।

कर्मों का विपाकोदय ही आत्मगुण को रोकता है और नवीन^४ कर्मों को बाँधता है। प्रदेशोदय में न नवीन कर्मों को सृजन करने की क्षमता है और न आत्मगुणों को रोकने की ही। आत्मगुण कर्मों की विपाक अवस्था से कुछ अंशों में सदा अनावृत्त रहता है। इसी अनावृत्ति से आत्मदीप की ली सदा जलती रहती है। कर्मों के हजार-हजार आवरण होने पर भी किसी भी आवरण में ऐसी क्षमता नहीं है जो उसकी ज्योति को सर्वथा ढांक ले। इसी शक्ति के आधार पर आत्मा कभी अनात्मा नहीं बनता।

कर्म बन्धन की प्रक्रिया

बन्धन की प्रक्रिया चार प्रकार^५ की है।

१. प्रकृतिबन्ध, २. स्थितिवन्ध, ३. अनुभागबन्ध, ४. प्रदेशबन्ध।

१. ग्रहण के समय कर्म-पुद्गल एक रूप होते हैं पर बन्धकाल में उनमें आत्मा के ज्ञान, दर्शन आदि भिन्न-भिन्न गुणों को रोकने का भिन्न-भिन्न स्वभाव हो जाता है, यह प्रकृतिबन्ध^६ है।

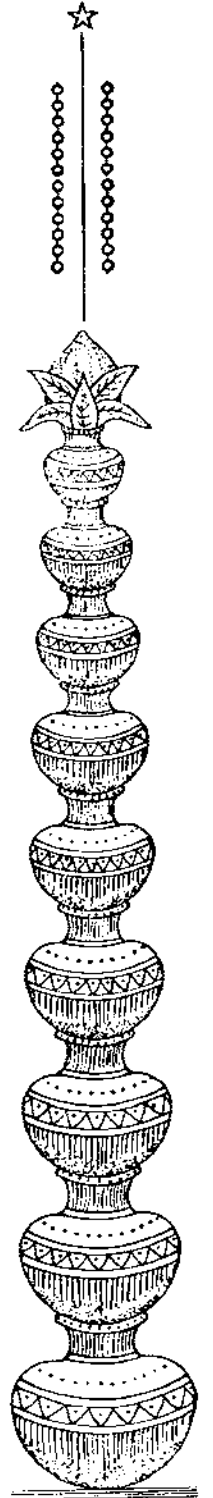
२. उनमें काल का निर्णय स्थितिवन्ध^७ है।

३. आत्म परिणामों की तीव्रता और मन्दता के अनुरूप कर्म-बन्धन में तीव्र-रस और मन्द रस का होना अनुभागबन्ध^८ है।

४. कर्म-पुद्गलों की संख्या निर्णयिता या आत्मा और कर्म का एकीभाव प्रदेशबन्ध^९ है।

कर्मग्रन्थ में बन्धन की यह प्रक्रिया मोदक के उदाहरण से समझाई गई है। मोदक पित्त नाशक है या कफ वर्धक, यह उसके स्वभाव पर निर्भर है।

वह कितने काल तक टिकेगा, यह उसकी स्थिति का परिणाम है। उसकी मधुरता का तारतम्य रस पर



१ तत्त्वार्थसूत्र ८/२५—नाम प्रत्ययाः सर्वतो योग विशेषात् सूक्ष्मैक क्षेत्रावगाढस्थिताः सर्वात्मप्रदेशेष्वनन्तानन्त-प्रदेशाः।

२ (क) आचार्य मिश्र—नव सद्भाव निर्णय (ढाल ८।४) सधला प्रदेश आलव द्वार है सधला प्रदेश कर्म प्रवेश।
(ख) भगवती १।३।११३

३ स्थानाङ्ग स्था. २

४ मोह और नास इन दो कर्मों के विपाक से ही कर्म बाँधते हैं। अन्य कर्म बन्धन नहीं करते।

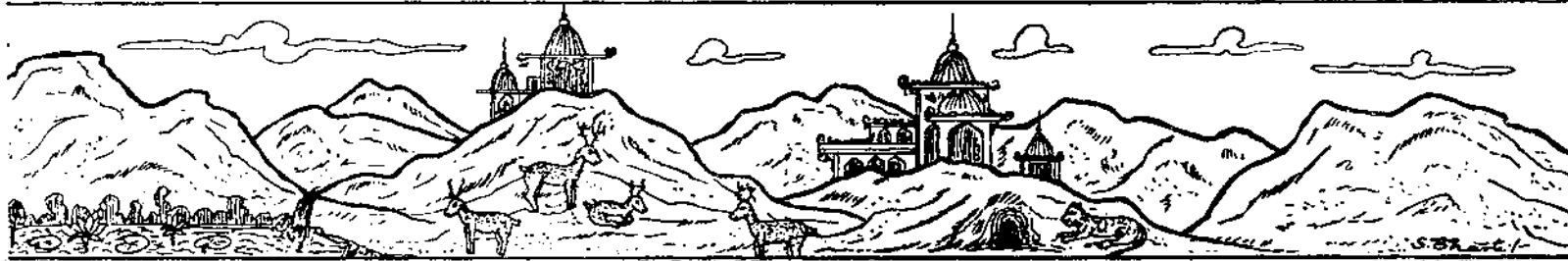
५ मूलाचार—१२२१ पयडि ठिदि अणुभागपदेशबन्धो य चउविहो होइ।

६ (क) कर्म काण्ड, प्रकृति समुत्कीर्तनाधिकार—१-२
(ख) आचार्य श्री तुलसी—जैन सिद्धान्त दीपिका ४-७

७ आचार्य श्री तुलसी—जैन सिद्धान्त दीपिका ४-१०

८ वही ४-११

९ वही १२



अवलम्बित है। मोदक कितने दानों से बना है, यह संख्या पर स्थित है। मोदक की यह^१ प्रक्रिया ठीक कर्म-बन्धन की प्रक्रिया का सुन्दर निदर्शन है।

कर्म दो प्रकार के हैं—द्रव्य कर्म और भाव कर्म।

कर्म प्रायोग्य पुद्गल स्कन्ध द्रव्यकर्म है। उन द्रव्य कर्मों के तदनुरूप परिणत आत्म-परिणाम भाव कर्म है।

बन्धन के हेतु

बन्धन सहेतुक होता है निहेतुक नहीं। आत्मा और कर्म का सम्बन्ध भी निहेतुक नहीं है। पवित्र सिद्धात्माएँ कभी कर्म का बन्धन नहीं करतीं, क्योंकि वहाँ बन्धन के हेतु नहीं हैं। भलिन आत्मा ही कर्म का बन्धन करती है।

कर्म बन्धन के दो हेतु हैं—राग और द्वेष। इन दोनों का संसारी आत्मा पर एक ऐसा चेष है जिस पर कर्म-प्रायोग्य पुद्गल स्कन्ध पर चिपकते हैं। आगम की भाषा में रागद्वेष कर्म के^२ बीज हैं। सघन बन्धन सकषायी के होता है अकषायी के पुण्य बन्धन केवल दो स्थिति के होते हैं।

राग-द्वेष को कर्मों का बीज मानने में भारतीय इतर दर्शन भी साथ रहे हैं।

पातञ्जल योगदर्शन में—कर्माशय का मूल^३ क्लेश हैं। जब तक क्लेश^४ हैं तब तक जन्म, आयु, भोग होते हैं।

व्यास ने लिखा है :—क्लेशों^५ के होने पर ही कर्मों की शक्ति फल दे सकती है। क्लेश के उच्छेद होने पर यह नहीं होता। छिलके युक्त चावलों से अंकुर पैदा हो सकते हैं। छिलके उतार देने पर उनमें प्रजनन शक्ति नहीं रहती।

अक्षपाद कहते हैं—जिनके^६ क्लेश क्षय हो गये हैं उनकी प्रवृत्ति बन्धन का कारण नहीं बनती।

जैनदर्शन ने कहा—बीज के^७ दग्ध होने पर अंकुर पैदा नहीं होते। कर्म के बीज दग्ध होने पर भवांकुर पैदा नहीं होते।

बन्धन हेतुओं की व्याख्या में भिन्न-भिन्न संकेत मिलते हैं मूलाचार में चार हेतुओं^८ का उल्लेख है। तत्त्वार्थ सूत्र में पाँच^९ हेतु आये हैं। किसी ने कषाय और योग इन दो को ही माना। भगवती सूत्र में^{१०} में प्रमाद और योग का संकेत है। संख्या की दृष्टि से तात्त्विक मान्यता में प्रायः विरोध पैदा नहीं होता। व्यास में अनेक भेद किए जा सकते हैं, समास की भाषा में संक्षिप्त भी। किन्तु मीमांसनीय यह है कि—कषाय और योग इन दो हेतुओं से कर्म बन्धन की प्रक्रिया में दो विचारधारा है। एक परम्परा यह है कि—कषाय और योग इन दोनों के सम्मिश्रण से कर्म का बन्धन होता है। कषाय से स्थिति और अनुभाग का बन्धन होता है और योग से प्रकृति और प्रदेश का। दूसरी परम्परा में दोनों स्वतन्त्र भिन्न-भिन्न रूप से कर्म की सृष्टि करते हैं। पाप का बन्धन कषाय या अशुभ योग से होता है। पुण्य का बन्धन केवल शुभ योग से होता है। पहली परम्परा में मन्द कषाय से पुण्य का बंधन मानते हैं। दूसरी परम्परा में सकषायी के पुण्य का बन्धन हो सकता है पर कषाय से कभी पुण्य का बंधन नहीं होता। भले वह मन्द हो या तीव्र।

१ कर्मग्रन्थ २, पयइठिइरसपएसा तं चउहा मोयगस्स दिहुंता।

२ अ० ३२।७—रागो य दोसो विय कम्मबीयं।

३ यो० सू० २-१२ “क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः”

४ यो० सू० २-१३ सतिमूले तद्विपाको जात्यायुमोगाः

५ व्यास भाष्य २-१३

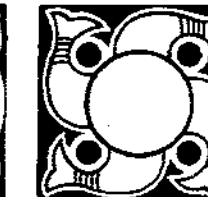
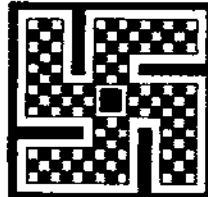
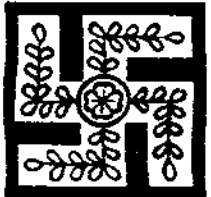
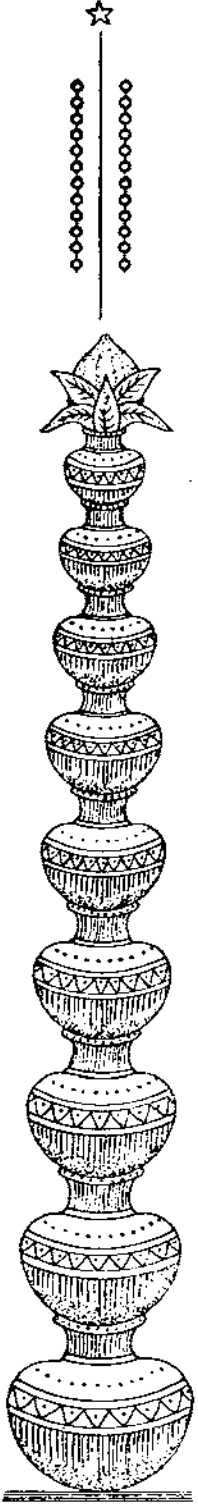
६ गौतम सूत्र ४-१-६४ “न प्रवृत्ति प्रतिसन्धानाय हीनक्लेशस्य”

७ तत्त्वार्थधिगम भाष्य—१०-७

८ मिच्छा दंसण अविरदि कषाय जोगा हवंति बंधस्त—मूलाचार १२-१६

९ तत्त्वार्थसूत्र ८-१ मिथ्या दर्शनाविरति प्रमाद कषाय योगा बन्ध हेतवः।

१० भगवती १।३।१२७—प्रमाद पच्चया जोग निमित्तं।



तत्त्वार्थ सूत्र में पहली परम्परा^१ मान्य रही है। तर्क की दृष्टि से दूसरी परम्परा अधिक उपयुक्त दिखाई देती है, और वह इस दृष्टि से कि प्रकृति, स्थिति, अनुभाग, प्रदेश तो एक ही बंधन की प्रक्रिया है। अतः पुण्य बन्धन के समय शुभ योग और कषाय इनकी एक साथ विसङ्गति दिखाई देती है। क्योंकि कषाय अधर्म है शुभ योग धर्म है। पूर्व और पश्चिम की तरह ये दोनों एक कार्य की सृष्टि में विरुद्ध हेतु जान पड़ते हैं, अतः इन दोनों से एक कार्य का जन्म मानने में विरोधाभास दोष आता है।

कर्म बंधन दो प्रकार का होता है—साम्परायिक^२ बन्ध, इर्यापथिक बन्ध। सकषायी का कर्म बंध साम्परायिक बंध है और अकषायी का कर्मबंध इर्यापथिक। इर्यापथिक^३ की स्थिति दो समय की है।

बंधन की चार और पाँच की परम्परा में पहला हेतु मिथ्यात्व है। मिथ्यात्व सम्यक्त्व का प्रतिपक्षी है। यह आत्मा की मूढ़ दशा है। दर्शनमोह का आवरण है। कर्म के बीज दो ही हैं—राग और द्वेष, ये चारित्रमोह के अंश हैं अतः चारित्रमोह ही बंधन करता है इस दृष्टि से मिथ्यात्व पाप का हेतु नहीं बनता। पर वह बंधन का हेतु इसलिए बन जाता है कि—चारित्रमोह के कुटुम्बी अनन्तानुबंधी कषाय चतुष्क हर क्षण मिथ्यात्व में साथ रहता है इनके साहचर्य से ही मिथ्यात्व बंध का हेतु न होते हुए भी सबसे पहला हेतु यह माना जाता है। इस हेतु से सबसे अधिक और सघन कर्म प्रकृतियों का बंधन होता है।

मिथ्यात्व को कर्म बंधन का हेतु मानने से अन्य दर्शनों के साथ भी बहुत सामञ्जस्य किया जा सकता है। जैसे—नैयायिक वैशेषिक मिथ्याज्ञान को, सांख्य दर्शन में प्रकृति पुरुष के अभेद ज्ञान को, वेदान्त अविद्या को, कर्म बंधन का कारण मानते हैं।

अविरति, प्रमाद और योग ये चारित्रमोह के ही अंश हैं। अतः बंध हेतु स्पष्ट ही है।

व्यवहार की दृष्टि से बंधन के दो हेतु हैं—राग और द्वेष। निश्चय दृष्टि से दो हेतु हैं—कषाय और योग। गुणस्थानों में कर्म बंधन की तरतमता के कारण या विस्तार की भाषा में बंधन के चार या पाँच हेतु हैं। जिस गुणस्थान में बन्धन के हेतु जितने अधिक होते हैं बंधन उतना ही अधिक स्थितिक और सघन होता है।

समग्र चिंतन का निचोड़ यह है कि—आत्म बंध का हेतु है। संवर विघटन का हेतु है। यही जैन दृष्टि है और सब प्रतिपादन इसके विस्तार हैं।

कर्म की अवस्थाएँ

कर्म की प्रथम अवस्था बंध है, अन्तिम अवस्था वेदन है। इनके बीच में कर्म की विभिन्न अवस्थाएँ बनती हैं। उनमें प्रमुख रूप से दश अवस्थाएँ हैं बंध, उद्वर्तन, अपवर्तन, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्त, निकाचना,।

१—बंध—कर्म और आत्मा के सम्बन्ध से एक नवीन अवस्था पैदा होती है यह बंध अवस्था है। आत्मा की बध्यमान स्थिति है। इसी अवस्था को अन्य दर्शनों ने क्रियमाण अवस्था कहा है। बंधकालीन अवस्था के पन्नवणा^४ सूत्र में तीन भेद हैं और कहीं अन्य ग्रन्थों में चार भेद भी किए गए हैं।

बद्ध, स्पृष्ट, बद्ध-स्पर्श-स्पृष्ट है और चार की संख्या में एक निधत्त और है।

१—कर्म प्रायोग्य पुद्गलों की कर्म रूप में परिणति बद्ध-अवस्था है।

२—आत्म प्रदेशों से कर्म पुद्गलों का संश्लेष होना 'स्पृष्ट' अवस्था है।

३—आत्मा और कर्म पुद्गल का दूध पानी की तरह सम्बन्ध जुड़ना बद्ध स्पर्श-स्पृष्ट अवस्था है।

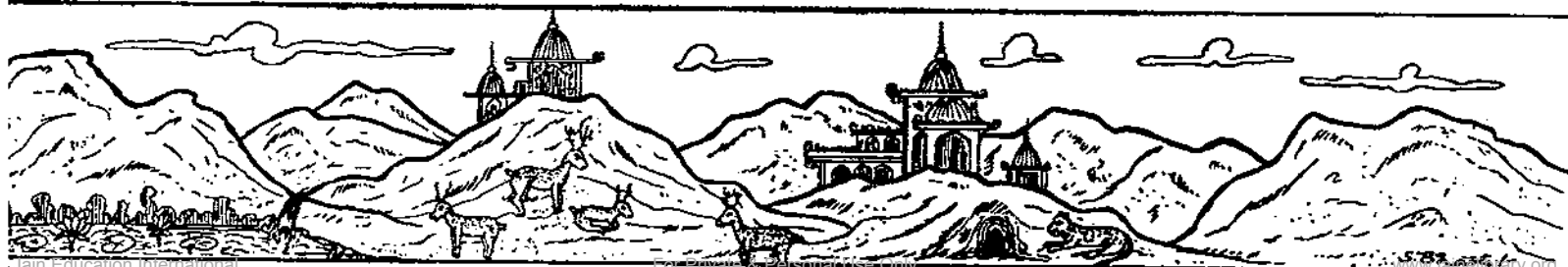
४—दोनों में गहरा सम्बन्ध स्थापित होना 'निधत्त' है।

१ तत्त्वार्थसूत्र पृ० २८४

२ तत्त्वार्थ ६-५ सकषायकषाययोः साम्परायिकैर्यापथयोः।

३ पन्नवणा पद २३-२

४ पन्नवणा पद २३-१



सुइयों को एकत्र करना, धागे से बांधना, लोह के तार से बांधना और कूट-पीटकर एक कर देना, अनुक्रम से बद्ध आदि अवस्थाओं का प्रतीक है।

२—उद्वर्तन—कर्मों की स्थिति और अनुभाग बंध में वृद्धि उद्वर्तन अवस्था है।

३—अपवर्तन—स्थिति और अनुभाग बंध में ह्रास होना अपवर्तन अवस्था है।

४—सत्ता—पुद्गल स्कंध कर्म रूप में परिणत होने के बाद जब तक आत्मा से दूर होकर कर्म-अकर्म नहीं बन जाते तब तक उनकी अवस्था सत्ता कहलाती है।

५—उदय—कर्मों का संवेदन काल उदयावस्था है।

६—उदीरणा—अनागत कर्मदलिकों का स्थितिघात कर उदय प्राप्त कर्मदलिकों के साथ भोगना उदीरणा है।

किसी के उमरते हुए क्रोध को व्यक्त करने के लिए भी शास्त्रों में उदीरणा शब्द का प्रयोग आया है। पर दोनों स्थान पर प्रयुक्त उदीरणा एक नहीं है। उक्त उदीरणा में निश्चित अपवर्तन होता है। अपवर्तन में स्थितिघात और रस घात होता है। स्थिति व रस का घात कमी शुभ योगों के बिना नहीं होता। कषाय की उदीरणा में क्रोध स्वयं अशुभ प्रवृत्ति है। अशुभ योगों से कर्मों की स्थिति अधिक बढ़ती है कम नहीं होती। यदि अशुभ योगों से स्थिति ह्रास होती तो अधर्म से निर्जरा धर्म भी होता पर ऐसा होता नहीं है। अतः कषाय की उदीरणा का तात्पर्य यह है कि—प्रदेशों में जो उदीयमान कषाय थी उसका बाह्य निमित्त मिलने पर विपाकीकरण होता है। उस विपाकीकरण को ही कषाय की उदीरणा कह दिया है।

आयुष्य कर्म की उदीरणा शुभ-अशुभ दोनों योगों से होती है। अनशन आदि के प्रसङ्गों पर शुभ योग से और अपघात आदि के अवसरों पर अशुभ योग से उदीरणा होती है, पर इससे उक्त प्रतिपादन में कोई बाधा नहीं है क्योंकि आयुष्य कर्म की प्रक्रिया में सात कर्मों से काफी भिन्नता है।

७—संक्रमण—प्रयत्न विशेष^१ से सजातीय प्रकृतियों में परस्पर परिवर्तित होना संक्रमण है।

८—उपशम—अन्तर्मुहूर्त तक मोहनीय कर्म की सर्वथा अनुदय अवस्था उपशम^२ है।

९—निधत्त—निधत्त अवस्था कर्मों की सघन अवस्था है। इस अवस्था में आत्मा और कर्म का ऐसा दृढ़ सम्बन्ध जुड़ता है जिसमें उद्वर्तन-अपवर्तन के सिवाय कोई परिवर्तन नहीं होता।

१०—निकाचित—निकाचित कर्मों का सम्बन्ध आत्मा के साथ बहुत ही गाढ़ है। इसमें भी किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। सब करण अयोग्य ठहर जाते हैं।

निकाचित के लिए एक धारणा यह है कि—इसको विपाकोदय में भोगना ही पड़ता है। बिना विपाक में भोगे निकाचित से मुक्ति नहीं होती। किन्तु यह परिभाषा भी अब कुछ गम्भीर चिन्तन मांगती है क्योंकि निकाचित को भी बहुधा प्रदेशोदय से क्षीण करते हैं। यदि यह न माने तो सैद्धान्तिक प्रसङ्गों पर बहुधा बाधा उपस्थित होती है जैसे—नरक गति की स्थिति कम से कम १००० सागर के सातिय दो भाग अर्थात् २०५ सागर के करीब है और नरकायु की स्थिति उत्कृष्ट ३३ सागर की है। यदि नरक गति का निकाचित बंध है तो करीब २०५ सागर की स्थिति को विपाकोदय में कहाँ कैसे भोगेंगे जबकि नरकायु अधिक से अधिक ३३ सागर का ही है जहाँ विपाकोदय भोगा जा सकता है। इससे यह प्रमाणित होता है कि निकाचित से भी हम बिना विपाकोदय में भोगे मुक्ति पा सकते हैं। प्रदेशोदय के भोग से निर्जरण हो सकता है।

निकाचित और दलिक कर्मों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि दलिक में उद्वर्तन-अपवर्तन आदि अवस्थाएँ बन सकती हैं पर निकाचित में ऐसा कोई परिवर्तन नहीं होता।

आर्हत दर्शन दीपिका में निकाचित के परिवर्तन का भी संकेत मिलता है।

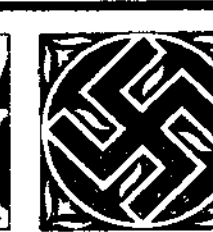
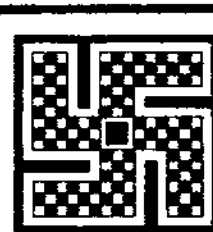
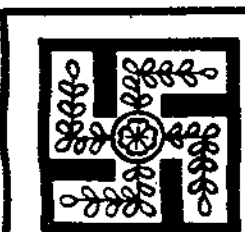
शुभ परिणामों की तीव्रता से दलिक कर्म प्रकृतियों का ह्रास होता है और तपोबल से निकाचित का भी।^३

१ आचार्य श्री तुलसी : जैन सिद्धान्त दीपिका ४।४

२ वही ४।४

३ आर्हत दर्शन दीपिका, पृ० ८६

—सञ्च पगई मेवं परिणाम वसादवक्कमो होज्जा पापमनिकाईयाणं तवसाओ निकाइयाणापि।



एक प्रश्न उठता है कि जब निकाचित में सब करण अयोग्य ठहर जाते हैं। दश अवस्थाओं में से कोई भी अवस्था इसे प्रभावित नहीं कर सकती। तब निकाचित के परिवर्तन का रहस्य क्या हो सकता है। विपाकोदय का अनामोग तो तप विशेष से नहीं बनता, वह तो सहज परिस्थितियों के निमित्त मिलने पर निर्भर है। अतः यहाँ निकाचित के परिवर्तन का हार्द यह सम्भव हो सकता है कि—हर कर्म के साथ प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश का बंधन होता है। इन चार में जिसका निकाचित पड़ा है उसमें तो किसी प्रकार से परिवर्तन नहीं होता शेष में हो सकता। यदि स्थिति का निकाचित है तो प्रकृति बन्ध में परिवर्तन हो सकता है। और ऐसा मानने से अन्य प्रसङ्गों से कोई बाधा भी दिखाई नहीं देती। कर्म की ये दश अवस्थाएँ पुरुषार्थ की प्रतीक हैं, मानस की अकर्मण्य वृत्ति पर करारी चोट करती हैं।

कर्म की भौतिकता

कर्म^१ भौतिक है। जड़ है। क्योंकि वह एक प्रकार का बंधन है। जो बंधन होता है वह भौतिक होता है। बेड़ी मनुष्य को बाँधती है। तट नदी को घेरते हैं। बड़े-बड़े बाँध पानी को बाँध लेते हैं। महाद्वीप समुद्रों से आवद्ध रहते हैं। ये सब भौतिक हैं। इसीलिए बंधन हैं।

आत्मा की वैकारिक अवस्थाएँ अभौतिक होती हुई भी बंधन की तरह प्रतीत होती हैं, पर वास्तव में बंधन नहीं हैं, बंधजनित अवस्थाएँ हैं। पौष्टिक भोजन से शक्ति संचित होती है। पर दोनों एक नहीं हैं। शक्ति भोजनजनित अवस्था है। एक भौतिक है, इतर अभौतिक है।

धर्म, अधर्म, आकाश, काल, जीव ये पाँच द्रव्य अभौतिक हैं इसीलिए किसी के बंधन नहीं हैं।

भारतीय इतर दर्शनों में कर्म को अभौतिक माना है।

योग दर्शन में अदृष्ट आत्मा का विशेष गुण है। सांख्य दर्शन में कर्म प्रकृति का विकार है, बौद्ध दर्शन में वासना है और ब्रह्मवादियों में अविद्या रूप है।

कर्म को भौतिक मानना जैन दर्शन का अपना स्वतन्त्र और मौलिक चिन्तन है।

कर्म-सिद्धान्त यदि तात्त्विक है तो पाप करने वाले सुखी और पुण्य करने वाले दुःखी क्यों देखे जाते हैं यह प्रश्न भी कोई उलझन भरा नहीं है। क्योंकि बंधन और फल की प्रक्रिया भी कई प्रकार से होती है। जैन दर्शन में चार मंग आये हैं—

‘पुण्यानुबंधी पाप’ ‘पापानुबंधी पुण्य’ ‘पुण्यानुबंधी पुण्य’ ‘पापानुबंधी पाप’ भोगी मनुष्य पूर्वकृत पुण्य का उपभोग करते हुए पाप का सर्जन करते हैं। वेदनीय को समभाव से सहने वाले पाप का भोग करते हुए पुण्य का अर्जन करते हैं। सर्व सामग्री से सम्पन्न होते हुए भी धर्मरत प्राणी पुण्य का भोग करते हुए पुण्य का संचय करते हैं। हिसक प्राणी पाप का भोग करते हुए पाप को जन्म देते हैं। इन मंगों से यह स्पष्ट है कि—जो कर्म मनुष्य आज करता है उसका फल तत्काल ही नहीं मिलता। बीज बोने वाला फल को लम्बे समय के बाद पाता है। इस प्रकार कृत कर्मों का कितने समय तक परिपाक होता है फिर फल की प्रक्रिया बनती है। पाप करने वाले दुःखी और पुण्य करने वाले सुखी इसीलिए हैं कि वे पूर्वकृत पाप-पुण्य का फल भोग रहे हैं।

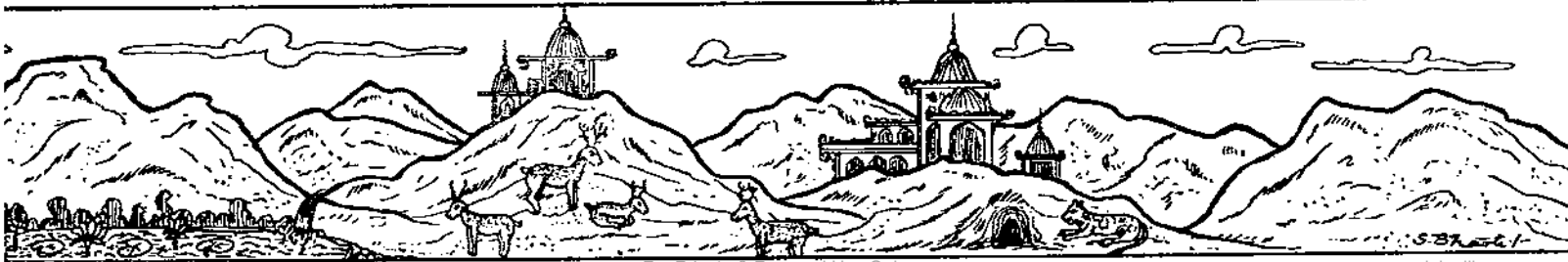
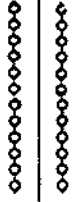
अमूर्त पर मूर्त का प्रभाव

कर्म मूर्त है। आत्मा अमूर्त है। अमूर्त आत्मा पर मूर्त का उपघात और अनुग्रह कैसे हो सकता है जबकि अमूर्त आकाश पर चन्दन का लेप नहीं होता और न मुष्टिका प्रहार भी। यह तर्क ठीक है, पर एकान्त नहीं है। क्योंकि ब्राह्मी आदि पौष्टिक तत्त्वों के आसेवन से अमूर्त^२ ज्ञान शक्ति में स्फुरण देखते हैं। मंदिरा आदि के सेवन से समूर्च्छना भी।

यह मूर्त का अमूर्त पर स्पष्ट प्रभाव है। यथार्थ में संसारी आत्मा कथञ्चिद् मूर्त भी है। मल्लिषेणसूरि ने लिखा है :—

१ योगशा० ५४ “कम्मं च चित्तं पोगगलं रूवं जीवस्स अणाइ संबद्धं”

२ योगशतक ४६ मुत्तेशं ममुत्तिओ उवघायणुग्गहा विजुज्जनि-जह विनाणस्स इहं मइरा पाणो सहाईहिं ।



संसारी आत्मा^१ के प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तान्त कर्म परमाणु चिपके हुए हैं। अग्नि के तपाने और घन से पीटने पर सुइयों का समूह एकीभूत हो जाता है। इसी एकार आत्मा और कर्म का सम्बन्ध संश्लिष्ट है। यह सम्बन्ध जड़ चेतन को एक करने वाला तादात्म्य सम्बन्ध नहीं किन्तु क्षीर-नीर का सम्बन्ध है। अतः आत्मा अमूर्त है यह एकांत नहीं है। कर्मबंध की अपेक्षा से आत्मा कथञ्चिद् मूर्त भी है।

आत्मा के अनेक पर्यायवाची^२ नामों में से एक नाम पुद्गल भी है। यह पुद्गल अभिधा भी आत्मा का मूर्तत्व प्रमाणित करती है। अतः कर्म का आत्मा पर प्रभाव मूर्त पर मूर्त का प्रभाव है।

सम्बन्ध का अनादित्व

जैन दर्शन में आत्मा निर्मल तत्त्व है। वैदिक दर्शन में ब्रह्म तत्त्व विशुद्ध है। कर्म के साहचर्य से यह मलिन बनता है। पर इन दोनों का सम्बन्ध कब जुड़ा ? इस प्रश्न का समाधान अनादित्व की भाषा में हुआ है। क्योंकि आदि मानने पर बहुत-सी विसङ्गतियाँ आती हैं। जैसे—सम्बन्ध यदि सादि है तो पहले आत्मा है या कर्म है या युगपद् दोनों का सम्बन्ध है। प्रथम प्रकार में पवित्र आत्मा कर्म करती नहीं। द्वितीय भंग में कर्म कर्ता के अभाव में बनते नहीं। तृतीय भंग में युगपद् जन्म लेने वाले कोई भी दो पदार्थ परस्पर कर्ता कर्म नहीं बन सकते। अतः कर्म और आत्मा का अनादि सम्बन्ध ही अकाट्य सिद्धान्त है।

हरिभद्रसूरि ने अनादित्व को समझाने के लिए बहुत ही सुन्दर उदाहरण देते हुए कहा—वर्तमान^३ समय का अनुभव करते हैं। फिर भी वर्तमान अनादि है क्योंकि अतीत अनन्त है और कोई भी अतीत वर्तमान के बिना नहीं बना फिर भी वर्तमान का प्रवाह कब से चला इस प्रश्न के उत्तर में अनादित्व ही अभिव्यक्त होता है। इसी प्रकार कर्म और आत्मा का सम्बन्ध वैयक्तिक दृष्टि से सादि होते हुए भी प्रवाह की दृष्टि से अनादि है। धर्मबिन्दु^४ में भी यही स्वर गूँज रहा है। आकाश और आत्मा का सम्बन्ध अनादि अनन्त है। पर कर्म और आत्मा का सम्बन्ध स्वर्ण मृत्तिका^५ की तरह अनादि सान्त है। अग्नि के ताप से मृत्तिका को गलाकर स्वर्ण को विशुद्ध किया जा सकता है। शुभ अनुष्ठानों से कर्म के अनादि सम्बन्ध को तोड़कर आत्मा को शुद्ध किया जा सकता है।

बाह्य वस्तुओं की प्राप्ति में कर्म का सम्बन्ध

कर्म दो प्रकार के हैं घाती कर्म, अघाती^६ कर्म। जानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय ये चार आत्मगुणों की घात करते हैं अतः इन्हें घाती कर्म कहते हैं। इनके दूर होने से आत्म-गुण प्रकट होते हैं। शेष चार अघाती कर्म हैं। क्योंकि ये मुख्यतः आत्म-गुणों की घात नहीं करते।

अघाती कर्म बाह्यार्थपेक्षी हैं। भौतिक तत्त्वों की प्राप्ति इनसे होती है। सामान्यतः एक प्रचलित विचारधारा है कि जब किसी बाह्य पदार्थ की उपलब्धि नहीं होती तब सोचते हैं यह कर्मों का परिणाम है। अन्तराय कर्म टूटा नहीं है। पर यथार्थ में यह तथ्य संगत नहीं है। अन्तराय कर्म का उदय तो इसमें मूल ही नहीं है क्योंकि यह घाती कर्म है। इससे आत्म-गुणों का घात होता है। इसके टूटने से आत्म-गुण ही विकसित होते हैं। अन्य कर्मजनित परिणाम भी नहीं है क्योंकि किसी कर्म का परिणाम बाह्य वस्तु का अभाव ही तो सिद्धावस्था में सभी सामग्री उपलब्ध होनी चाहिए क्योंकि उनके किसी कर्म का आवरण नहीं है और यदि किसी के उदय-जनित परिणाम पर ही बाह्य सामग्री निर्भर है

१ स्याद्वाद मञ्जरी, पृ० १७४

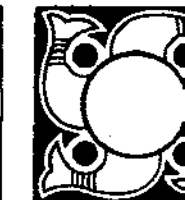
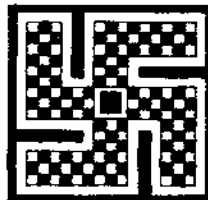
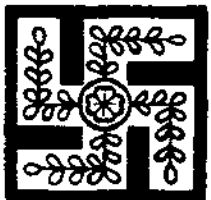
२ भग. श. २०।२

३ योग शतक श्लो० ५५

४ धर्मबिन्दु २-५२ पवाह तोऽनादिमानिति ।

५ योगशतक श्लो० ५७

६ कर्मकाण्ड १।६ आवरण मोह विग्धंघादी-जीव गुण घादणात्तादो । आउणाम गोदं वेयगियं अघादिति ।



तो भगवान महावीर का आज यश फैल रहा है वह नहीं होना चाहिए क्योंकि उनके किसी शुभ कर्म का उदय भी नहीं है अतः किसी पदार्थ की प्राप्ति कर्मजनित हो सकती है। अभाव कर्मजनित परिणाम नहीं है। पदार्थ की प्राप्ति के लिए भी प्राचीन साहित्य में दो मान्यताएँ उपलब्ध रही हैं। एक विचारधारा में समग्र बाह्य पदार्थ की प्राप्ति कर्मजनित ही है। दूसरी विचारधारा में बाह्य सामग्री केवल सुख-दुःखादि के संवेदन में निमित्त मात्र बनती है। तर्कों की कसौटी पर दोनों का सामञ्जस्य ही उपयुक्त है।

आत्मा जिन देहादि पदार्थों का सृजन करती है वह कर्मजनित परिणाम हैं। शेष भौतिक उपलब्धि कर्म वेदन में निमित्त है। शेष को निमित्त न मानकर यदि कर्मजनित परिणाम ही माना जाये तो अनेक स्थलों पर बाधा उपस्थित होती है। क्योंकि जो निर्जीव पदार्थ हैं उनमें भी सुन्दर वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श देखे जाते हैं। ये अचेतन बादल कितने सुन्दर आकारों को धारण करते हैं किन्तु इनका यह सौन्दर्य किसी कर्म का परिणाम नहीं होता। अतः मानना पड़ता है कि बाह्य सामग्री कर्मजनित परिणाम भी है और निमित्त भी।

आत्मा का स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य

साधारणतया कहा जाता है आत्मा कर्तृत्व काल में स्वतन्त्र है और भोक्तृत्व काल में परतन्त्र। उदाहरण की भाषा में विष को खा लेना हाथ की बात है। मृत्यु से बचना हाथ में नहीं है। यह स्थूल उदाहरण है क्योंकि विष को भी विष से निविष किया जाता है। मृत्यु से बचा जा सकता है। आत्मा का भी कर्म के कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों अवसरों पर स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य दोनों फलित होते हैं।

सहजतः आत्मा कर्म करने में स्वतन्त्र है। वह चाहे जैसे भाग्य का निर्माण कर सकती है। कर्मों पर विजय प्राप्त कर पूर्ण उज्ज्वल बन सकती है। पर कभी-कभी पूर्व जनित कर्म और बाह्य निमित्त को पाकर ऐसी परतन्त्र बन जाती है कि वह चाहे जैसा कभी भी नहीं कर सकती। जैसे कोई आत्मा सन्मार्ग पर बढ़ना चाहती है, पर चल नहीं सकती। पैर फिसल जाते हैं। यह है आत्मा का कर्तृत्व काल में स्वातन्त्र्य और पारतन्त्र्य।

कर्म करने के बाद आत्मा कर्माधीन ही बन जाती है ऐसा भी नहीं है। उसमें भी आत्मा का स्वातन्त्र्य सुरक्षित है। वह चाहे तो अशुभ को शुभ में परिवर्तित कर सकती है। स्थिति और रस का ह्रास कर सकती है। विपाक का अनुदय कर सकती है। यही तो कर्मों की 'उद्वर्तन' 'अपवर्तन' और 'संक्रमण अवस्थाएँ' हैं। इनमें आत्मा की स्वतन्त्रता बोल रही है। परतन्त्र वह इस दृष्टि से है कि—जिन कर्मों का उसने सर्जन किया है उन्हें बिना मोगे मुक्ति नहीं होती। भले लम्बे काल तक मोगे जाने वाले कर्म थोड़े समय में मोग लिए जाएँ, विपाकोदय न हो, पर प्रदेशों^१ में तो सबको मोगना ही पड़ता है।

कर्म क्षय की प्रक्रिया

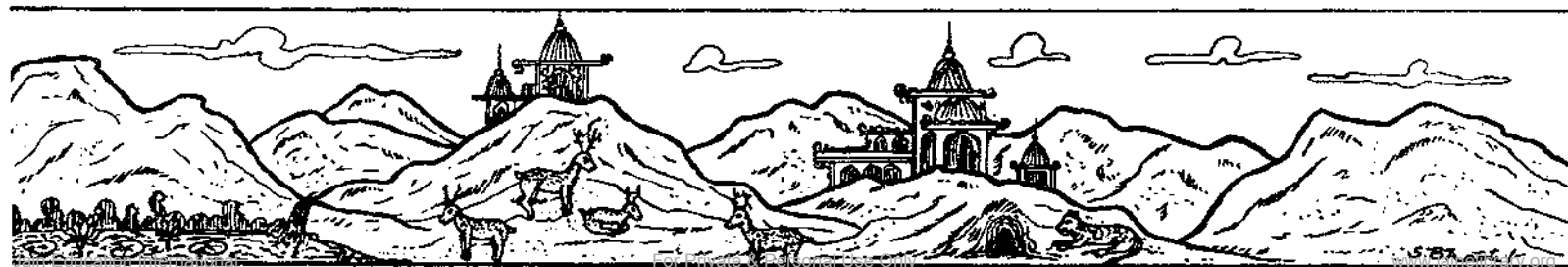
कर्म क्षय की प्रक्रिया जैन दर्शन में गहराई लिए हुए है। स्थिति का परिपाक होने पर कर्म उदय में आते हैं और झड़ जाते हैं यह कर्मों का सहज क्षय है। कर्मों को विशेष रूप से क्षय करने के लिए विशेष प्रयत्न करने पड़ते हैं। वह प्रयत्न स्वाध्याय, ध्यान, तप आदि मार्ग से होता है। इन मार्गों से सप्तम गुणस्थान तक कर्म क्षय विशेष रूप से होते हैं। अष्टम गुणस्थान से आगे कर्म क्षय की प्रक्रिया बदल जाती है। वह इस प्रकार है—१. अपूर्व स्थिति घात, २. अपूर्व रस घात, ३. गुणश्रेणी, ४. गुण-संक्रमण ५. अपूर्व स्थिति बंध।

कर्मग्रन्थ में इन पाँचों का सामान्य विवेचन उपलब्ध है। इसके^२ अनुसार सर्वप्रथम आत्मा अपवर्तन करण के माध्यम से कर्मों को अन्तर्मुहूर्त में स्थापित कर गुण श्रेणी का निर्माण करती है। स्थापना का क्रम यह है—उदयकालीन समय को लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त एक उदयात्मक समय को छोड़कर शेष जितने समय हैं उनमें कर्म दलिकों को स्थापित किया जाता है। प्रथम समय में स्थापित कर्म दलिक सबसे कम होते हैं। दूसरे समय में स्थापित कर्म दलिक उससे



१. मग० १।४।१५५; उक्त० ४।३

२. कर्मग्रन्थ—द्वितीय भाग, पृ० १७



असंख्यात गुण अधिक होते हैं। तृतीय समय के उससे भी असंख्यात गुण अधिक, यही क्रम अन्तर्मुहूर्त के चरम समय तक चलता रहता है। इस प्रकार हर समय पर असंख्यात गुण अधिक होने के कारण इसे गुणश्रेणी कहा जाता है।

गुण संक्रमण में अशुभ कर्मों की शुभ में परिणति होती जाती है। स्थापना का क्रम गुण श्रेणी की तरह ही है।

अष्टम गुणस्थान से लेकर चतुर्दश गुणस्थान तक ज्यों-ज्यों आत्मा आगे बढ़ती है त्यों-त्यों समय स्वल्प और कर्म दलिक अधिक मात्रा में क्षय होते जाते हैं। कर्म क्षय की प्रक्रिया यह कितनी सुन्दर है।

इस अवसर पर आत्मा अतीव स्वल्प स्थिति के कर्मों का बंधन करती है जैसा उसने पहले कभी नहीं किया है अतः इस अवस्था का बन्ध अपूर्व स्थिति बंध कहलाता है।

स्थिति घात और रस घात भी इस समय में अपूर्व ही होता है अतः यह अपूर्व शब्द सबके पीछे जुड़ जाता है।

इस उत्क्रान्ति की स्थिति में बढ़ती हुई आत्मा जब परमात्मा-शक्ति को जागृत करने के लिए अत्यन्त उग्र हो जाती है, आयु स्वल्प रहता है, कर्म अधिक रहते हैं तब आत्मा और कर्मों के बीच भयंकर युद्ध होता है। आत्म-प्रदेश कर्मों से लोहा लेने के लिए देह की सीमा को तोड़ रणभूमि में उतर आते हैं। आत्मा बड़ी ताकत के साथ लड़ती है। यह युद्ध कुछ माइल तक ही सीमित नहीं रहता। सारे लोक-क्षेत्र को घेर लेता है। इस महायुद्ध में कर्म बहु संख्या में शहीद हो जाते हैं। आत्मा की बहुत बड़ी विजय होती है। शेष रहने वाले कर्म बहुत थोड़े रहते हैं और वे भी इतने दुर्बल और शिथिल हो जाते हैं कि अधिक समय तक टिकने की इनमें शक्ति नहीं रहती। इनकी जड़ इस प्रकार से हिलने लगती है कि फिर उनको उखाड़ फेंकने के लिए छोटा-सा हवा का झोंका भी काफी है।

कर्म क्षय की यह प्रक्रिया जैन दर्शन में केवल समुद्घात^१ की संज्ञा से अभिहित है।

इस केवल समुद्घात की क्रिया से पातञ्जल योग दर्शन की बहुकाय निर्माण क्रिया बहुत कुछ साम्य रखती है। वहाँ बताया है—^२“यद्यपि सामान्य नियम के अनुसार बिना भोगे हुए कर्म करोड़ों कल्पों में भी क्षय नहीं होते परन्तु जिस प्रकार भीले वस्त्र को फैलाकर सुखाने में वस्त्र बहुत जल्दी सूख जाता है अथवा अग्नि और अनुकूल हवा के सहयोग मिलने से बहुत जल्दी जलकर भस्म हो जाता है। इसी प्रकार योगी एक शरीर से कर्मों के फल को भोगने में असमर्थ होने के कारण संकल्प मात्र से बहुत से शरीरों का निर्माण कर ज्ञानाग्नि से कर्मों का नाश करता है। योग शास्त्र में इसी को बहुकाय निर्माण से सोपक्रम आयु का विपाक कहा है।”

वायुपुराण^३ में भी यही प्रतिध्वनि है—जैसे सूर्य अपनी किरणों को प्रत्यावृत्त कर लेता है इसी प्रकार योगी एक शरीर से बहुत शरीरों का निर्माण कर फिर उसी शरीर में उनको खींच लेता है।

सांख्य और प्रकृति

जैन दर्शन में जो स्थान आत्मा और कर्म का रहा, सांख्य दर्शन में वही स्थान प्रकृति और पुरुष का रहा है। पुरुष^४, अपूर्व, चेतन, भोगी, नित्य, सर्वगत, अक्रिय, अकर्ता, निर्गुण, सूक्ष्म स्वरूप है।

सत्त्व, रज और तम इन तीनों गुणों^५ की साम्यावस्था प्रकृति है। प्रकृति पुरुष का सम्बन्ध पंगु^६ और अंधे

१ पञ्चवणा पद ३६।

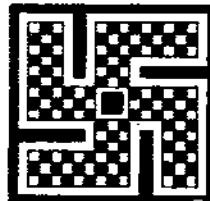
२ स्याद्वाद मञ्जरी से उद्धृत पृ० ३६६।

३ वायुपुराण ६६-१५२।

४ स्याद्वाद मं० से उद्धृत पृ० १८६।

५ हरिमद्रसूरि कृत षड्दर्शन, श्लोक ३६।

६ वही पृ० ४२।



का सम्बन्ध है। प्रकृति जड़ है, पुरुष चेतन है। कर्मों की कर्ता प्रकृति है। पुरुष कर्म जनित फल का भोक्ता है। पुरुष के कर्म-फल-भोग की क्रिया बड़ी विचित्र है। "प्रकृति और पुरुष^१ के बीच में बुद्धि है। इन्द्रियों के द्वार से सुख-दुःख बुद्धि में प्रतिबिम्बित होते हैं। बुद्धि उभयमुख दर्पणाकार है इसलिए उसके दूसरे दर्पण की ओर चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ता है। दोनों का प्रतिबिम्ब बुद्धि में पड़ने के कारण बुद्धि में प्रतिबिम्बित सुख-दुःख को आत्मा अपना सुख-दुःख समझती है। यही पुरुष का भोग है किन्तु बाह्य पदार्थों के प्रतिबिम्ब से उसमें विकार पैदा नहीं होता।"

व्यवहार की भाषा में प्रकृति पुरुष को बांधती है। पुरुष में भेद-ज्ञान हो जाने से वह प्रकृति से मुक्त हो जाता है। यथार्थ में नाना^२ पुरुषों का आश्रय लेने वाली प्रकृति ही बन्धन को प्राप्त होती है वही भ्रमण करती है। वही मुक्त होती है। पुरुष में केवल उपचार है।

जैसे नर्तकी^३ रंगमंच पर अपना नृत्य दिखाकर निवृत्त हो जाती है। इसी प्रकार पुरुष भेद-ज्ञान प्राप्त होने पर वह अपना स्वरूप दिखाकर निवृत्त हो जाता है।

बौद्ध दर्शन और वासना

बौद्ध दर्शन प्रत्येक पदार्थ को क्षणिक मानता है फिर भी उन्होंने कर्मवाद की व्यवस्था सुन्दर ढंग से दी है। बुद्ध ने कहा—

आज से ६१ वें वर्ष^४ पहले मैंने एक पुरुष का वध किया था। उसी कर्म के फलस्वरूप मेरे पैर विध गए हैं।

मैं जो जैसा अच्छा^५ या बुरा कर्म करता हूँ उसी का भागी होता हूँ।

समग्र प्राणी कर्म^६ के पीछे चलते हैं जैसे रथ पर चढ़े हुए रथ के पीछे चलते हैं।

बौद्ध दर्शन में कर्म को वासना रूप में माना है। आत्मा को क्षणिक मानने पर कर्म सिद्धान्त में, कृतप्रणाश, अकृतकर्मभोग^७, भव-प्रमोक्ष, स्मृतिभंग आदि दोष आते हैं। इन दोषों के निवारण के लिए इन्होंने सुन्दर युक्ति दी है। डा० नलिनाक्ष दत्त लिखते हैं—“प्रत्येक^८ पदार्थ में एक क्षण की स्थिति नष्ट होते ही दूसरे क्षण की स्थिति प्राप्त होती है। जैसे एक बीज नष्ट होने पर ही उससे वृक्ष या अंकुर की अवस्था बनती है। बीज से उत्पन्न अंकुर बीज नहीं है किन्तु वह सर्वथा उससे भिन्न भी नहीं है। क्योंकि बीज के गुण अंकुर में संक्रमित हो जाते हैं।”

ठीक यही उदाहरण बौद्धों का कर्म सिद्धान्त के विषय में है। उनके विचारों में बीज की तरह प्रत्येक क्षण के कृत कर्मों की वासना दूसरे क्षण में संक्रमित हो जाती है। इसीलिए कृत प्रणाशादि दोष उत्पन्न नहीं होते। बौद्ध दर्शन का यह प्रसिद्ध श्लोक है—

यस्मिन्नेवहि^९ सन्ताने आहिताकर्म वासना ।

फलं तत्रैव संघत्ते का पत्ति रक्तता यथा ॥

१ स्याद्वाद म० से उद्धृत पृ० १८६

२ स्याद्वाद मञ्जरी से उद्धृत, पृ० १८७

३ वही, पृ० १६२

४ वही, पृ० २४७

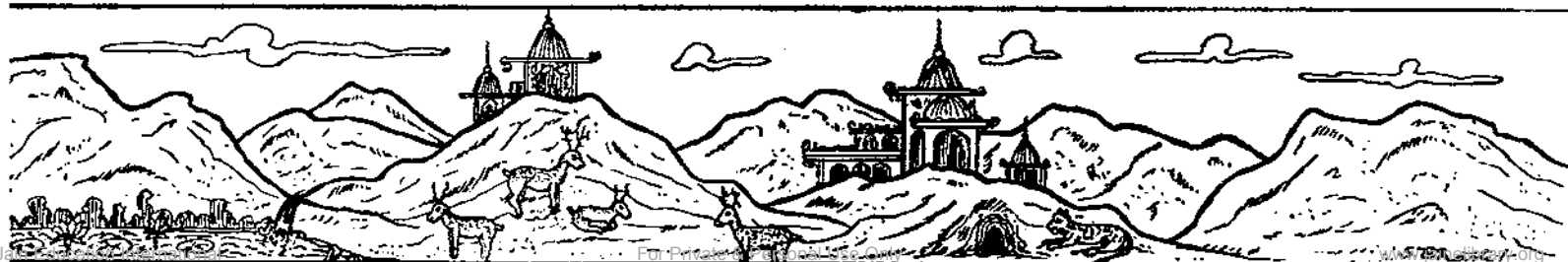
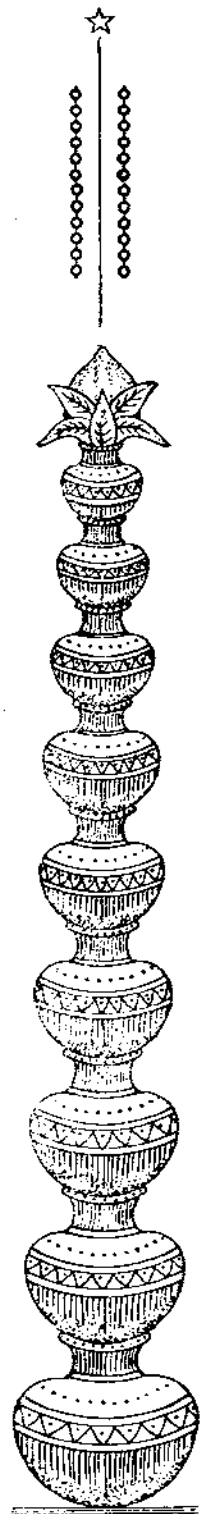
५ कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० १३ में उद्धृत—“यं कम्मं करिस्सामि कल्याणं वा पापकं तस्स दायार्दं भविस्सामि।”

६ सुत्तनिपात बोसड सुत्त ६१

७ अन्ययोग व्यवच्छेद द्वात्रिंशिका, श्लोक १८

८ “उत्तर प्रदेश में बौद्ध धर्म का विकास”, पृ० १५२

९ स्याद्वाद मञ्जरी से उद्धृत, पृ० २४७



भारतीय अन्य दर्शनों में भी कर्म के स्थान पर अन्य विभिन्न अभिधाएँ अपनी-अपनी व्यवस्था लिए हुए हैं। कर्मग्रन्थ में इनका शब्दग्राही उल्लेख हुआ है—

“माया, अविद्या,^१ प्रकृति, वासना, आशय, धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार, भाग्य, मलपाश, अपूर्व, शक्ति, लीला आदि आदि।

माया, अविद्या, प्रकृति ये तीन वेदान्त के शब्द हैं। अपूर्व शब्द मीमांसक दर्शन का है। वासना बौद्ध धर्म में प्रयुक्त है। आशय विशेषतः योग और सांख्य दर्शन में हैं। धर्माधर्म, अदृष्ट, संस्कार विशेषकर न्याय वैशेषिक दर्शन में व्यवहृत है। दैव, भाग्य, पुण्य, पाप प्रायः सब में मान्य रहे हैं।

इस प्रकार कर्म सिद्धान्त वैज्ञानिक निरूपण है। इसने अनेक उलझी गुत्थियों का सुन्दर सुलझाव दिया है। विभिन्न गम्भीर अनुद्घाटित रहस्यों को उद्घाटित किया था। कर्म-सिद्धान्त आत्म-स्वातन्त्र्य का बल भरता है। नवीन उत्साह जगाता है।

गुलामी जीवन में कुंठा पैदा करती है फिर चाहे वह विशिष्ट शक्ति के प्रति हो या साधारण के प्रति। इस कुंठा को तोड़कर कर्म-सिद्धान्त आत्म शक्ति के जागरण का मार्ग प्रशस्त करता है।

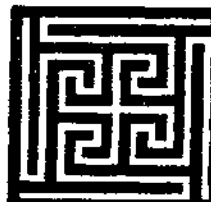
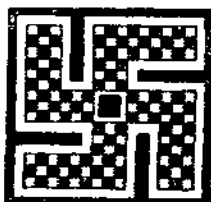
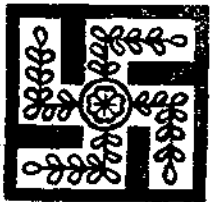


जाणं करेति एवको, हिंसमजाणमपरो अविरतो य ।
तत्थ वि बंधविसेसो, महंतरं देसितो समए ॥

—बृहत्कल्पभाष्य ३६३८

एक अविरत (असंयमी) जानकर हिंसा करता है और दूसरा अनजान में। शास्त्र में इन दोनों के हिंसाजन्य कर्मबंध में महान् अन्तर बताया है। अर्थात् तीव्र भावों के कारण जानकर हिंसा करने वाले को अपेक्षाकृत कर्मबंध तीव्र होता है।

१ कर्मग्रन्थ, प्रथम भाग, पृ० २३



□ डा० महावीर राज गेलड़ा
[प्रवक्ता—श्री डूंगर कालेज बीकानेर,
सम्पादक—अनुसंधान पत्रिका, जैनदर्शन एवं
विज्ञान के समन्वयमूलक अध्ययन में संलग्न]

चेतन, शुद्ध, निर्मल आत्मा का जड़ कर्मों के साथ
मिलन क्यों होता है—इसकी शास्त्रीय व्याख्या के साथ-साथ
वैज्ञानिक व्याख्या एवं विश्लेषण भी बड़ा मननीय है।
भौतिक-रसायन विद्या के विद्वान डा० गेलड़ा का समन्वय-
मूलक यह लघु निबंध गम्भीरतापूर्वक पढ़िए।

लेश्या : एक विवेचन

□

जैनदर्शन के कर्म-सिद्धान्त को समझने में लेश्या का महत्वपूर्ण स्थान है। प्रत्येक संसारी आत्मा की प्रति-
समय होने वाली प्रवृत्ति से सूक्ष्म पुद्गलों का आकर्षण-विकर्षण होता रहता है। आत्मा के साथ अपनी स्निग्धता व
रक्षता को लिए ये सूक्ष्म पुद्गल जब एकीभाव हो जाते हैं तो वे कर्म कहलाते हैं। जैनदर्शन की 'कर्म' की परिभाषा अन्य
दर्शनों से भिन्न है।

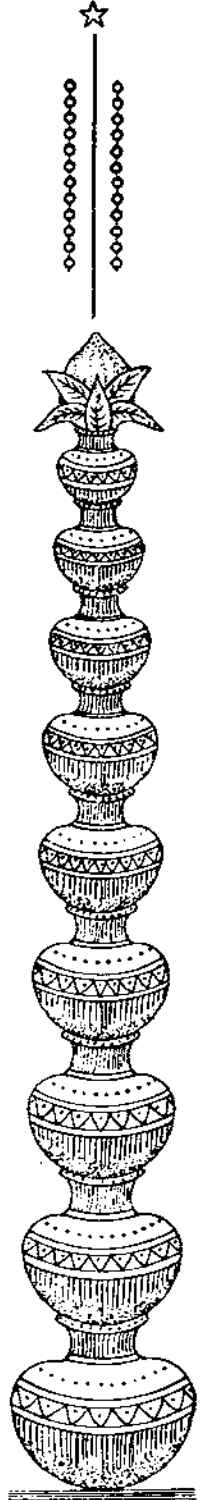
मन, वाणी और काय योग से होने वाली प्रवृत्ति तो स्थूल होती है लेकिन इस प्रवृत्ति के कारण आत्मा के
साथ एकीभाव होने वाले कर्म-पुद्गल अति सूक्ष्म होते हैं। ये प्रतीक के रूप में होते हैं। कर्म-बन्धन प्रक्रिया में, एक
अन्य प्रकार के पुद्गल जो अनिवार्य रूप से सहयोगी होते हैं, स्थूल पुद्गलों का प्रतीक (कर्म) निश्चित करते हैं, वे द्रव्य
लेश्या कहलाते हैं। द्रव्य लेश्या के अनुरूप आत्मा के परिणाम भाव लेश्या कहलाते हैं। द्रव्य लेश्या पुद्गल है, अतः
वैज्ञानिक उपकरणों के माध्यम से भी जाने जा सकते हैं और प्राणी में योग प्रवृत्ति के अनुरूप होने वाले भावों को भी
समझा जा सकता है। द्रव्य लेश्या के पुद्गल वर्ण-प्रभावी अधिक होते हैं। ये पुद्गल कर्म, द्रव्य कषाय, द्रव्य मन, द्रव्य
भाषा के पुद्गलों से स्थूल हैं लेकिन औदारिक शरीर, बैक्रिय शरीर, शब्द आदि से सूक्ष्म हैं। ये आत्मा के प्रयोग में
आने वाले पुद्गल हैं, अतः ये प्रायोगिक पुद्गल कहलाते हैं। ये आत्मा से नहीं बंधते लेकिन कर्म-बन्धन प्रक्रिया भी इनके
अभाव में नहीं होती।

'लियते-श्लिष्यते आत्मा कर्मणा सहानयेति लेश्या'—आत्मा जिसके सहयोग से कर्मों से लिप्त होती है वह
लेश्या है। लेश्या योग परिणाम है। योगप्रवृत्ति के साथ मोह कर्म के उदय होने से लेश्या द्वारा जो कर्म बन्ध होता
है वह पाप कहलाता है, लेश्या अशुभ कहलाती है। मोह के अभाव में जो कर्म बन्ध होता है वह पुण्य कहलाता है,
लेश्या शुभ कहलाती है। लेश्या छः हैं—कृष्ण, नील, कापीत, तेजः, पद्म, शुक्ल। प्रथम की तीन अशुभ कहलाती हैं, वह
शीत-रूक्ष स्पर्श वाली हैं। पश्चात् की तीन लेश्या शुभ हैं, उष्ण-स्निग्ध स्पर्श वाली हैं।

प्राचीन जैन आचार्यों ने लेश्या का गहरा विवेचन किया है और वर्ण के साथ आत्मा के भावों को सम्बन्धित
किया है। नारकी व देवताओं की द्रव्य लेश्या को उनके शरीर के वर्ण के आधार पर वर्गीकरण किया है। द्रव्य लेश्या
पौद्गलिक है, अतः वैज्ञानिक अध्ययन से इसे भली-भाँति समझा जा सकता है।

आधुनिक विज्ञान के सन्दर्भ में लेश्या को समझने के लिए इसके दो प्रमुख गुणों को समझना आवश्यक होगा—

- (१) वर्ण,
- (२) पुद्गल की सूक्ष्मता।



भौतिक विज्ञान की दृष्टि में सामान्य पदार्थ की तुलना में विद्युत चुम्बकीय तरंगें अत्यन्त सूक्ष्म हैं जो कि समस्त विश्व में गति कर रही हैं। विद्युत चुम्बकीय स्पेक्ट्रम का साधारण विभाजन निम्न प्रकार से है—

रेडियो तरंगें	सूक्ष्म तरंगें	अवरक्त	दृश्यमान	परा-बैंगनी	एक्सरे गामा किरणें
१० ^६ १० ^२ १	१० ^{-२}	१० ^{-४}		१० ^{-६}	१० ^{-१०}

तरंग दैर्घ्य

इस तालिका से स्पष्ट है कि समस्त विकिरणों की तुलना में दृश्यमान विकिरणों का स्थान नगण्य-सा है, लेकिन ये विकिरणें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। दृश्यमान विकिरणें वर्णवाली हैं। उनके सात वर्ण त्रिपाश्वर्य (Prism) के माध्यम से देखे जा सकते हैं। जिसका क्रम निम्न प्रकार से है (सप्त रंग)—

(१) बैंगनी, (२) नील, (३) नीला, आकाश-सा (४) हरा, (५) पीला, (६) नारंगी, (७) लाल।

इन विकिरणों की विशेषता यह है कि बैंगनी से लाल की ओर क्रमिक इनकी आवृत्ति (Frequency) घटती है लेकिन तरंगदैर्घ्य (wave length) बढ़ती है। बैंगनी के पीछे की विकिरणें अपराबैंगनी व लाल के आगे की विकिरणें अवरक्त कहलाती हैं। यह वर्गीकरण वर्ण की प्रमुखता से किया गया है। लेकिन समस्त विकिरणों के लक्षण उनकी आवृत्ति एवं तरंग लम्बाई हैं।

अब लेश्या पर विज्ञान के सन्दर्भ में विचार करें। ऐसा लगता है कि छः लेश्या के वर्ण दृश्यमान स्पेक्ट्रम (वर्णपट) की तुलना में निम्न प्रकार से है—

दृश्यमान स्पेक्ट्रम	लेश्या
१. अपरा बैंगनी से बैंगनी तक	कृष्णलेश्या
२. नील	नीललेश्या
३. नीला आकाश-सा	कापोतलेश्या
४. पीला	तेजोलेश्या
५. लाल	पद्मलेश्या
६. अवरक्त तथा आगे की विकिरणें	शुक्ललेश्या

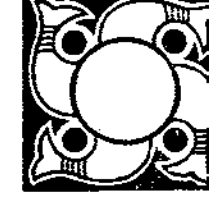
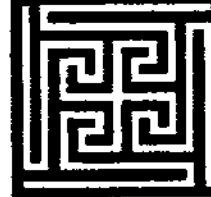
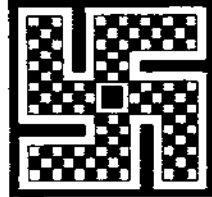
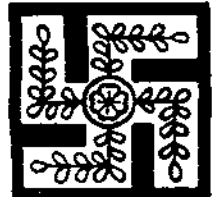
उपरोक्त तुलना में ऐसा समझ में आता है कि—

(१) जैन साहित्य में तेजोलेश्या को हिगुल के समान रक्त तथा पद्मलेश्या को हृदी के समान पीला माना है। लेकिन उपरोक्त तुलना में तेजोलेश्या पीले वर्ण वाली तथा पद्मलेश्या लाल वर्ण की होनी चाहिए।

(२) प्रारम्भ की विकिरणें छोटी तरंग लम्बाई वाली, बार-बार आवृत्ति करने वाली हैं। इनकी तीव्रता इतनी अधिक है कि तीव्रता से प्रहार करती हुई परमाणु के भीतर की रचना के चित्र प्राप्त करने में सहयोगी होती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि प्रथम की लेश्यायें गहरे कर्मबन्ध में सहयोगी होनी चाहिए। अधिक तीव्रता तथा आवृत्ति के कारण प्राणी को भौतिक संसार से लिप्त रखनी चाहिए। यह चेतना के प्रतिकूल कार्य है अतः ये लेश्याएँ अशुभ होनी चाहिए और कर्मबन्ध पाप होना चाहिए।

विज्ञान के स्पेक्ट्रम प्रकाशमापी प्रयोगों से स्पष्ट है कि ये विकिरणें, पदार्थ के सूक्ष्म कणों को ऊर्जा प्रदान करती हैं और परमाणु के भीतर की जानकारी में सहायक हुई हैं।

(३) पश्चात् की विकिरणों की तरंग लम्बाई अधिक है, आवृत्ति कम है। अतः इसके अनुरूप वाली लेश्या भी गहरे कर्मबन्ध नहीं करनी चाहिए। ये शुभ होनी चाहिए।



यह एक स्थूल तुलना है। फिर भी इससे ज्ञात होता है कि लेश्या की पहचान वर्ण प्रधान है, लेकिन इसके मुख्य लक्षण प्रति सेकण्ड आवृत्ति तथा तरंग लम्बाई हैं। पुद्गल जितनी अधिक आवृत्ति करेगा चेतना के लिए अशुभ होगा। ध्यान एवं योग की प्रक्रिया में पुद्गल की आवृत्ति रोकने का प्रयत्न होना चाहिए। द्रव्य मन के पुद्गल कम से कम आवृत्ति करें, वाणी एवं शरीर भी पुद्गल ग्रहण और छोड़ने के काल को बढ़ायें। इससे आवृत्ति कम होगी और शुभ लेश्या का प्रयोग होगा। अतः लेश्या में वर्ण को परिभाषित करने वाले तीन तत्त्व हैं—(१) पौद्गलिकता, (२) आवृत्ति, (३) तरंग-लम्बाई।

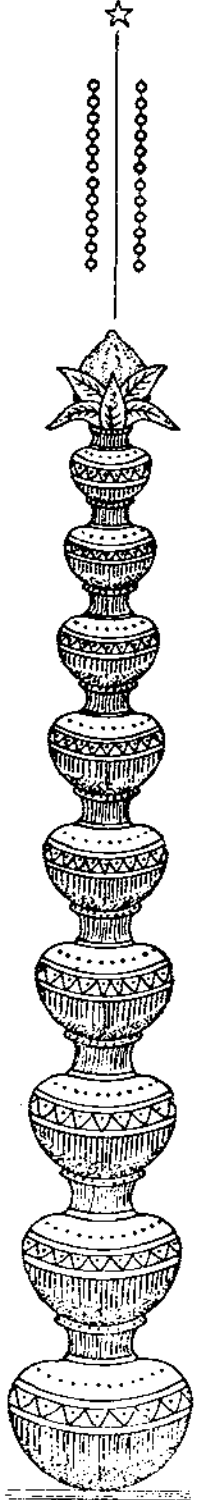
सूक्ष्मता—अणु, परमाणु तथा अन्य सूक्ष्म कणों के सम्बन्ध में विज्ञान के क्षेत्र में जो अनुसंधान हुए हैं उसमें प्रकाश की विकिरणों के प्रयोग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण हैं। तत्त्व के परमाणुओं पर प्रकाश की विभिन्न तरंगदैर्घ्य वाली विकिरणों की प्रक्रिया से परमाणु रचना के ज्ञान में उत्तरोत्तर विकास हुआ है। प्रत्येक तत्त्व का स्पैक्ट्रम में एक निश्चित संकेत होता है।

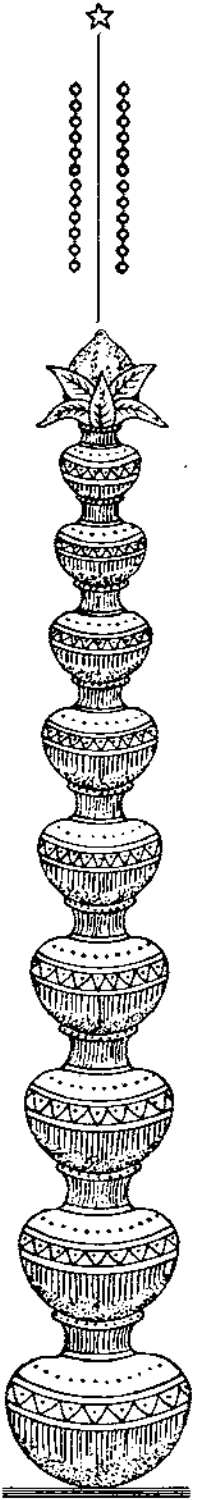
आत्मा की योगात्मक प्रवृत्ति से उसके फलस्वरूप अत्यन्त सूक्ष्म पुद्गल संकेत के रूप में बंध जाते हैं जो कि कर्म हैं। ये कर्मवर्गणार्थे सूक्ष्म हैं—चार स्पर्श वाली हैं, इनमें हल्का तथा भारीपन नहीं होता है। योग की प्रवृत्ति स्थूल है इसमें आठ स्पर्श वाले पुद्गल-स्कन्ध का प्रयोग होता है। स्थूल पुद्गलों (योग) द्वारा होने वाली क्रिया के सूक्ष्म संकेत (कर्म) के लिए अनिवार्य है कि प्रकाश की विकिरणों का प्रयोग हो, अन्यथा विज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त सूक्ष्म संकेत प्राप्त नहीं किये जा सकते, अर्थात् कर्मबन्ध नहीं हो सकता। अतः लेश्या, प्रकाश की विकिरणें होनी चाहिए और कर्म पुद्गल प्रकाश पुञ्ज से सूक्ष्म होने चाहिए। स्पैक्ट्रम प्रकाशमापी विज्ञान ज्यों-ज्यों विकसित होता जा रहा है स्थूल पुद्गलों के सूक्ष्म संकेत विभिन्न विकिरणों के माध्यम से प्राप्त किये जा सकेंगे और जैनदर्शन के कर्मबन्ध का सिद्धान्त लेश्या की समझ के साथ अधिक स्पष्ट हो जायेगा।

इच्छा बहुविहा लोए, जाए बद्धो किलिस्सति ।
तम्हा इच्छामणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेधति ॥

—श्रुतिभाषित ४०।१

संसार में इच्छाएँ अनेक प्रकार की हैं, जिनसे बंधकर जीव दुःखी होता है।
अतः इच्छा को अनिच्छा से जीतकर साधक सुख पाता है।





जैन मनोविज्ञान को समझने के लिए 'गुणस्थान' को समझना आवश्यक है। मनोदशाओं का आध्यात्मिक विश्लेषण, उतार-चढ़ाव और भावधारा का प्रवाह 'गुणस्थान-क्रम' समझ लेने पर सहज ही समझ में आ सकता है। प्रस्तुत लेख 'गुणस्थान-विश्लेषण' में लेखक प्राचीन सन्दर्भों के साथ नवीन मनोवैज्ञानिक शैली लिए चला है।

□ हिम्मतीसिंह सरूपरिया

R. A. S., B. Sc. M. A., LL. B.

साहित्यरत्न, जैनसिद्धान्ताचार्य

जैन मनोविज्ञान का एक गंभीर पक्ष

गुणस्थान-विश्लेषण

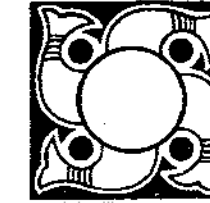
□

परिभाषा

गुणस्थान—यह जैन वाङ्मय का एक पारिभाषिक शब्द है—गुणों अर्थात् आत्मशक्तियों के स्थानों—विकास की क्रमिक अवस्थाओं (Stages) को गुणस्थान कहते हैं; अपर शब्दों में—ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य के स्वभाव, स्थान—उनकी तरतमता। मोहनीय कर्म के उदय, उपशम, क्षय, क्षयोपशम व योग के रहते हुए जिन मिथ्यात्वादि परिणामों के द्वारा जीवों का विभाग किया जावे, वे परिणाम-विशेष गुणस्थान कहे जाते हैं।¹ जिस प्रकार ज्वर का तापमान थर्मामीटर से लिया जाता है उसी प्रकार आत्मा का आध्यात्मिक विकास या पतन नापने के लिए गुणस्थान एक प्रकार का Spirituometer है।

आत्मिक शक्तियों के आविर्भाव की—उनके शुद्ध कार्य रूप में परिणत होते रहने की तरतमभावापन्न अवस्थाओं का सूचक यह गुणस्थान है। साधारणतया प्रत्येक जीवन में गुण और अवगुण के दोनों पक्ष साथ चलते हैं। जीवन की अवगुणों से मोड़कर गुण-प्राप्ति की ओर उन्मुख किया जावे व जीवन अभी कहाँ चल रहा है यह जानकर उसको अन्तिम शुद्ध अवस्था में पहुँचाया जावे यही लक्ष्य इन गुणस्थानों का है।²

आत्मा के क्रमिक विकास का वर्णन वैदिक व बौद्ध प्राचीन दर्शनों में उपलब्ध होता है। वैदिक दर्शन के योगवाशिष्ठ, पातंजलयोग में भूमिकाओं के नाम से वर्णन है—जबकि बौद्धदर्शन में ये अवस्थाओं के नाम से प्रसिद्ध है। परन्तु गुणस्थान का विचार जैसा सूक्ष्म, स्पष्ट व विस्तृत जैनदर्शन में है वैसे अन्य दर्शनों में नहीं मिलता। दिगम्बर साहित्य में संक्षेप, ओष, सामान्य व जीवसमास इसके पर्याय शब्द पाये जाते हैं³। आत्मा का वास्तविक स्वरूप (Genuine Nature) शुद्ध चेतना पूर्णानन्दमय (Full Knowledge, Perception, Infinite Beatitude) है, परन्तु इस पर जब तक कर्मों का तीव्र आवरण छाया हुआ है, तब तक उसका असली स्वरूप (Potential Divinity) दिखाई नहीं देता। आवरणों के क्रमशः शिथिल व नष्ट होते ही इसका असली स्वरूप प्रकट होता है (Realisation of self)। जब तक इन आवरणों की तीव्रता शिथिलतम (Maximum) रहे तब तक वह आत्मा प्राथमिक—अविकसित (unevolved) अवस्था में पड़ा रहता है। जब इन आवरणों का कृत्स्नतया सम्पूर्ण क्षय (Total Annihilation) हो जाता है तब आत्मा चरम-अवस्था (Final Stage) शुद्ध स्वरूप की पूर्णता (Puremost Divinity) में वर्तमान हो जाता है। जैसे-जैसे आवरणों की तीव्रता कम होती जाती है वैसे-वैसे आत्मा भी प्राथमिक अवस्था को छोड़कर धीरे-धीरे शुद्धि लाभ करता हुआ चरम विकास की ओर उल्लान्ति करता है। परन्तु प्रस्थान व चरम अवस्थाओं के बीच अनेक नीची-ऊँची अवस्थाओं का अनुभव करता है। प्रथम अवस्था अविकसित की निष्कट व चरम अवस्था विकास की पराकाष्ठा है। विकास की ओर अग्रसर आत्मा वस्तुतः उक्त प्रकार की संख्यातीत आध्यात्मिक भूमिकाओं का



अनुभव करता है पर जैनशास्त्रों में संक्षेप से वर्गीकरण करके उनके चौदह विभाग (Stages or Ladders) किये हैं। जो चौदह गुणस्थान कहाते हैं।

सब आवरणों में मोह का आवरण प्रधान (Dominant) है। जब तक मोह बलवान व तीव्र हो तब तक अन्य सभी आवरण बलवान व तीव्र बने रहते हैं। मोहनीय कर्म की उत्कृष्ट स्थिति ७० कोटाकोटी सागरोपम की है, जबकि ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, अन्तराय की ३० कोटाकोटी सागरोपम, आयु की ३३ सागरोपम व नाम, गोत्र की प्रत्येक की उत्कृष्ट स्थिति २० कोटाकोटी सागर है। मोहनीय कर्म के आवरण निर्बल होते ही अन्य आवरण भी शिथिल पड़ जाते हैं। अतः आत्मा के विकास में मुख्य बाधक मोह की प्रबलता व मुख्य सहायक मोह की शिथिलता (मंदता) समझे। इसी हेतु गुणस्थानों—विकास क्रमगत अवस्थाओं की कल्पना (Gradation) मोह-शक्ति की उत्कटता, मंदता, अभाव पर अवलंबित है।

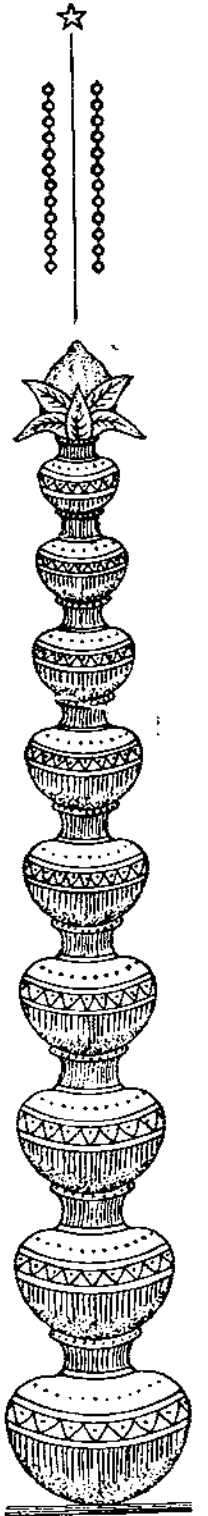
मोह की प्रधान शक्तियाँ दो हैं—(१) दर्शनमोहनीय, (२) चारित्रमोहनीय। इसमें से प्रथम शक्ति आत्मा का दर्शन अर्थात् स्वरूप-पररूप का निर्णय (Discretion) किंवा जड़-चेतन का विवेक नहीं करने देती। दूसरी शक्ति आत्मा को विवेक प्राप्त कर लेने पर भी तदनुसार प्रवृत्ति अर्थात् अभ्यास—पर-परिणति से छूटकर स्वरूपलाभ नहीं करने देती। चारित्र—आचरण में बाधा पहुँचाती है। दूसरी शक्ति पहली की अनुगामिनी है। पहली शक्ति के प्रबल होते दूसरी निर्बल नहीं होती—पहिली शक्ति के क्रमशः मन्द, मन्दतर, मन्दतम होते ही दूसरी शक्ति भी क्रमशः वैसी ही होने लगती है। अपर शब्दों में, एक बार आत्मा स्वरूप दर्शन कर पावे तो उसे स्वरूप लाभ करने का मार्ग प्राप्त हो जाता है।

गुणस्थानों का विभागीकरण

(१) मिथ्यादृष्टि गुणस्थान—मिथ्यात्व मोहनीय कर्मोदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा—प्रतिपत्ति-Faith) मिथ्या (उलटी, विपरीत) हो जाती है, वह तीव्र मिथ्यादृष्टि कहलाता है। जो वस्तु तत्त्वार्थ है उसमें श्रद्धान नहीं करता विपरीत श्रद्धान रखता है—अतत्त्व में तत्त्वबुद्धि—जो वस्तु का स्वरूप नहीं उसको यथार्थ मान लेना—जो अयथार्थ स्वरूप है उसको यथार्थ मान लेना। जड़ में चेतन मान लेना, भौतिक सुखों में आसक्ति रखना (Hedonism), आत्मा नाम का पदार्थ ही नहीं स्वीकारना, देव-गुरु-धर्म में श्रद्धा नहीं रखना। जिस प्रकार पित्त ज्वर से युक्त रोगी को मीठा रस भी रुचता नहीं—उसी प्रकार मिथ्यात्वी को भी यथार्थ धर्म अच्छा नहीं मालूम होता है। इसके विस्तृत भेद होते हैं। जो नितान्त भौतिकवादी हो।

प्रश्न—मिथ्यात्वी जीव की जबकि दृष्टि अयथार्थ है तब उसके स्वरूप विशेष को गुणस्थान क्यों कहा ?

उत्तर—यद्यपि मिथ्यात्वी जीव की दृष्टि सर्वथा अयथार्थ नहीं होती तथापि वह किसी अंश में यथार्थ भी होती है। वह मनुष्य, स्त्री, पशु, पक्षी, आदि को इसी रूप में जानता तथा मानता है। जिस प्रकार बादलों का घना आच्छादन होने पर भी सूर्य की प्रभा सर्वथा नहीं छिपती—किन्तु कुछ न कुछ खुली रहती है जिससे दिन-रात का विभाग किया जा सके, इसी प्रकार मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का प्रबल उदय होने पर भी जीव का दृष्टिगुण सर्वथा आवृत नहीं होता। किसी न किसी अंश में उसकी दृष्टि यथार्थ होने से उसके स्वरूप विशेष को गुणस्थान कहा, किसी अंश में यथार्थ होने से ही उसको सम्यग्दृष्टि भी नहीं कह सकते। शास्त्रों में तो ऐसा कहा गया है कि सर्वज्ञ प्रोक्त १२ अंगों में से किसी एक भी अक्षर पर भी विश्वास न करे तो उसकी गणना भी मिथ्यादृष्टि में की गई है। इस गुणस्थान में उक्त दोनों मोहनीय की शक्तियों के प्रबल होने से आत्मा की आध्यात्मिक शक्ति नितान्त गिरी हुई होने से इस भूमिका में आत्मा चाहे आधिभौतिक उत्कर्ष कितना ही प्राप्त कर ले पर उसकी प्रवृत्ति तास्विक लक्ष्य से सर्वथा शून्य होने से मिथ्यादृष्टि ही कहा जाता है। पर-वस्तु के स्वरूप को न समझकर उसी को पाने की उषेड़बुन में वास्तविक सुख (मुक्ति) से वंचित रहता है। इस भूमिका को 'बहिरात्मभाव' वा 'मिथ्यादर्शन' कहा है। इस भूमिका में जितने आत्मा वर्तमान होते हैं उन सबों की भी आध्यात्मिक स्थिति एक-सी नहीं होती। किसी पर मोह का प्रभाव गाढ़तम, किसी पर गाढ़तर, किसी पर अल्प होता है। विकास करना प्रायः आत्मा का स्वभाव है अतः जानते-अजानते जब उस पर मोह का प्रभाव कम होने लगता है तब वह विकासोन्मुख होता



हुआ तीव्रतम रागद्वेष को मन्द करता हुआ मोह की प्रथम शक्ति को छिन्न-मिन्न करने योग्य (ग्रन्थिभेद) आत्मबल प्रकट कर लेता है। जिसका वर्णन आगे करेंगे।

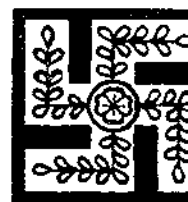
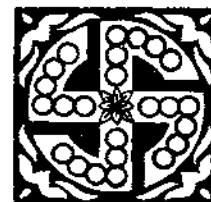
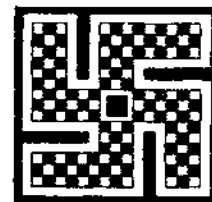
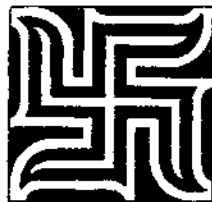
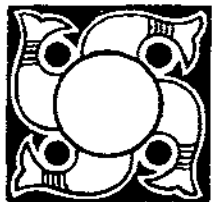
(२) सासादन सम्यग्दृष्टि गुणस्थान—जो जीव औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त कर चुका है परन्तु अनन्तानु-बंधी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को वमन कर मिथ्यात्व की ओर झुक रहा है परन्तु मिथ्यात्व को अभी तक स्पर्श नहीं किया, इस अन्तरिम अवस्था (जिसकी स्थिति जघन्य १ समय, उत्कृष्ट ६ आवलिका प्रमाण है) को सासादन सम्यग्दृष्टि कहा है। यद्यपि इस जीव का झुकाव मिथ्यात्व की ओर होता है तथापि जैसे खीर खाकर वमन करने वाले मनुष्य को खीर का 'आस्वादन' आने से इस गुणस्थान को 'सास्वाद' सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहा है। यद्यपि इस गुणस्थान में प्रथम गुणस्थान की अपेक्षा आत्मशुद्धि अवश्य कुछ अधिक होती है परन्तु यह उत्क्रान्ति स्थान नहीं कहा जाता—क्योंकि प्रथम स्थान को छोड़कर उत्क्रान्ति करने वाला आत्मा इस दूसरे गुणस्थान को सीधे तौर से प्राप्त नहीं करता अपितु ऊपर के गुणस्थान से गिरने वाला (Somersault) आत्मा ही इसका अधिकारी बनता है—अधःपतन मोह के उद्रेक से तीव्र कषायिक शक्ति के आविर्भाव से पाया जाता है—स्वरूप बोध को प्राप्त करके भी मोह के प्रबल थपेड़ों से आत्मा पुनः अधोगामिनी बनती है।

(३) सम्यग्मिथ्यादृष्टि (मिश्र) गुणस्थान—मिथ्यात्व के जब अर्द्धविशुद्ध पुंज (आगे वर्णन आवेगा) का उदय होता है तब जैसे गुड़ से मिश्रित दही का स्वाद कुछ खट्टा, कुछ मधुर—मिश्र होता है। उसी प्रकार जीव की दृष्टि कुछ सम्यक् (शुद्ध), कुछ मिथ्या (अशुद्ध)—मिश्र हो जाती है।^६ इस गुणस्थान के समय में बुद्धि में दुर्बलता-सी आ जाती है जिससे जीव सर्वज्ञ प्रोक्त तत्त्वों में न तो एकान्त रचि रखता है न एकान्त अरचि बल्कि नालिकेर द्वीपवासीवत् मध्यस्थभाव रखता है। इस गुणस्थान में न तो केवल सम्यग्दृष्टि न केवल मिथ्यादृष्टि किन्तु दोलायमान स्थिति वाला जीव बन जाता है। उसकी बुद्धि स्वाधीन न होने से देहशील हो जाती है, न तो तत्त्व को एकान्त अतत्त्वरूप समझता है, न अतत्त्व को तत्त्वरूप—तत्त्व-अतत्त्व का वास्तविक विवेक नहीं कर सकता है। इसकी दूसरे गुणस्थान से यह विशेषता है कि कोई आत्मा प्रथम गुणस्थान से निकलकर सीधा ही तीसरे गुणस्थान को पहुँचता है—कोई अपक्रान्ति करने वाला आत्मा चतुर्थदि गुणस्थान से पतन कर इस गुणस्थान को प्राप्त करता है। उत्क्रान्ति व अपक्रान्ति करने वाले दोनों प्रकार के आत्माओं का आश्रय यह तीसरा गुणस्थान है।

सम्यक्त्व प्राप्ति की पूर्व भूमिकाएँ

जीव अनादि काल से संसार में पर्यटन कर रहा है और तरह-तरह के दुःखों को पाता है। जिस प्रकार पर्वतीय नदी का पत्थर इधर-उधर टकराकर गोल-चिकना बन जाता है उसी प्रकार जीव अनेक दुःख सहते हुए कोमल शुद्ध परिणामी बन जाता है। परिणाम इतने शुद्ध हो जाते हैं कि जिसके बल से जीव आयु को छोड़ शेष सात कर्मों की स्थिति को पल्योपमासंख्यातभागन्यून कोटाकोटी सामरोपम प्रमाण कर देता है। इस परिणाम का नाम शास्त्रीय भाषा में यथाप्रवृत्तिकरण कहा गया है। जब कोई अनादि मिथ्यादृष्टि जीव प्रथम बार सम्यक्त्व ग्रहण करने के उन्मुख होता है तो वह तीन^{१०} उत्कृष्ट योग लब्धियों से युक्त—करणलब्धि (दिगम्बर मत से चार^{११} लब्धि से युक्त करणलब्धि) करता है। करण—'परिणाम लब्धि—शक्ति प्राप्ति। उस जीव को उस समय ऐसे उत्कृष्ट परिणामों की प्राप्ति होती है जो अनादि काल से पड़ी हुई मिथ्यात्व रूपी रागद्वेष की ग्रन्थि—गूढ गाँठ को भेदने में समर्थ होते हैं वे परिणाम तीन प्रकार के हैं—१. यथाप्रवृत्तिकरण^{१२} २. अपूर्वकरण, ३. अनिवृत्तिकरण। यह क्रमशः होते हैं, प्रत्येक का काल अन्तमुहूर्त है।

यथाप्रवृत्तिकरण—इस करण (परिणामों) द्वारा जीव रागद्वेष की एक ऐसी मजबूत गाँठ, जो कि कर्कश, दृढ़, दुर्भेद होती है वहाँ तक आता है, उसी को ग्रन्थिदेश^{१३} प्राप्ति कहते हैं। अभव्यजीव^{१४} भी ग्रन्थिदेश को प्राप्त कर सकते हैं अर्थात् कर्मों की बहुत बड़ी स्थिति को घटाकर अन्तः कोटाकोटी सामरोपम प्रमाण कर सकते हैं। परन्तु रागद्वेष की दुर्भेद ग्रन्थि को वे तोड़ नहीं सकते। कारण उनको विशिष्ट अध्यवसाय की न्यूनता है—मोहनीय कर्म की सर्वोपशमना नहीं कर सकने से उनको औपशमिक सम्यक्त्व की प्राप्ति नहीं होती। इस ग्रन्थिप्रदेश में संख्येय, असंख्येय

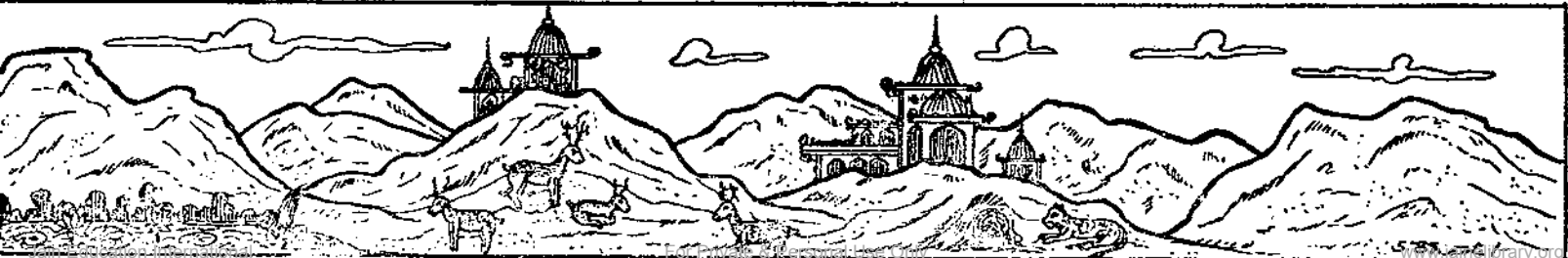
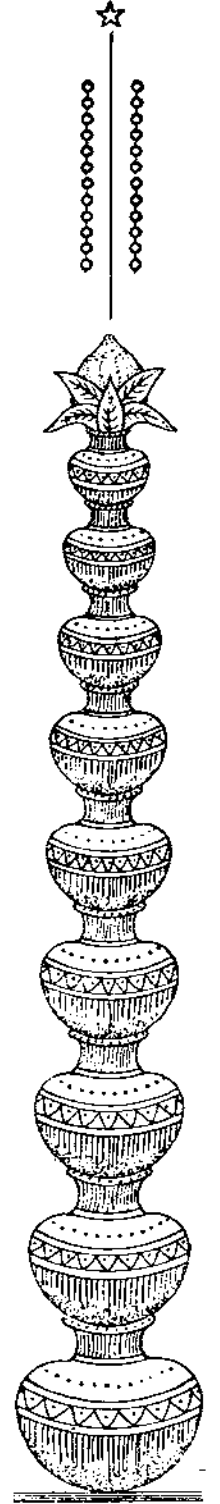


काल पड़ा रहकर अभव्य होने से उसके अध्यक्षसाय मलिन होने से पुनः अधःपतन करता है। अभव्य को भी दश पूर्व ज्ञान से कुछ न्यून द्रव्यश्रुत संभव है^{१४} क्योंकि कल्प भाष्य के उल्लेख का आशय है कि जब १४ पूर्व से लेकर १० पूर्व का पूर्ण ज्ञान हो तो सम्यक्त्व संभव है—न्यून होने पर भजना है। कोई एक आत्मा ग्रन्थि भेद योग्य बल लगाने पर भी अन्त में रागद्वेष के तीव्र प्रहारों से आहत होकर अपनी मूल स्थिति में आ जाते हैं—कोई चिरकाल तक उस आध्यात्मिक युद्ध में जूझते रहते हैं। कोई भव्य आत्मा यथाप्रवृत्ति परिणाम से विशेष शुद्ध परिणाम पाकर रागद्वेष के दृढ़ संस्कारों को छिन्न-भिन्न कर आगे बढ़ता है। शास्त्र में अटवी में चोरों को देखकर एक पुरुष तो भाग गया, दूसरा पकड़ा गया, तीसरा उनको हराकर आगे बढ़ा, इस दृष्टान्त द्वारा समझाया गया है। उन्नी प्रकार तीनों कारण हैं^{१५}।

अपूर्वकरण—जिस विशेष शुद्ध परिणाम से भव्य जीव इस रागद्वेष की दुर्मेद ग्रन्थि को लाँघ जाता है, उस परिणाम को शास्त्रीय भाषा में अपूर्वकरण कहा। इस प्रकार का परिणाम कदाचित् ही होता है बार-बार नहीं अतः अपूर्व कहा^{१६}। यह अनिवृत्तिकरण का कारण है।^{१७} यथाप्रवृत्तिकरण तो एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय को संभव है परन्तु अपूर्वकरण का अधिकारी पर्याप्त पंचेन्द्रिय होता है जो देशोपार्द्धपुद्गल परावर्तन काल में तो अवश्य मुक्ति में जाने वाला है। इस जीव को आत्म-कल्याण करने की तीव्र अभिलाषा रहती है। संसार के खट-पट से दूर रहना चाहता है। इर्ष्या-द्वेष-निन्दा के दोष उस पर कम प्रभाव डालते हैं। सत्पुरुषों के प्रति बहुमान भक्ति दिव्याता है, यों कहें कि ये जीव आध्यात्म की प्रथम भूमिका पर है। उसके मिथ्यात्व का उत्कृष्ट स्थितिबन्ध रुक जाता है^{१८} यथाप्रवृत्तिकरण में स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी प्रवर्तन को कोई स्थान नहीं परन्तु अपूर्वकरण में द्विस्थानक रस वाले अशुभ कर्म को उससे भी प्रति समय हीन हीनरस को व शुभकर्म का द्विस्थान से चतुःस्थानक प्रतिसमय अनन्तगुण अधिक अनुभाग को बाँधता है।^{२०} इसमें स्थिति-घात, रसघात, गुणसंक्रमण, अभिनव स्थितिबन्ध कार्य होता है।

अनिवृत्तिकरण^{२१}—अपूर्वकरण परिणाम से जब रागद्वेष की ग्रन्थि छिन्न-भिन्न हो जाती है, तब तो जीव के और भी अधिक शुद्ध परिणाम होते हैं। जिस शुद्ध परिणाम को अनिवृत्ति कहते हैं। 'अनिवृत्ति' से अभिप्राय इस परिणाम के बल से जीव सम्यक्त्व को प्राप्त कर ही लेता है। उसको प्राप्त किये बिना पीछे नहीं हटता। वह दर्शन मोहनीय पर विजय पा लेता है। इस परिणाम की स्थिति भी अन्तर्मुहूर्त की है। 'निवृत्ति' का अर्थ 'भेद' भी होता है। इस करण में समसमय वाले त्रिकालवर्ती जीवों के परिणाम विशुद्ध समान होते हैं भेद नहीं होता यद्यपि एक जीव के उत्तरोत्तर समयों में अनन्तगुणी विशुद्धि होती है। इस करण में भी स्थिति, अनुभागादि घात के चारों कार्य प्रवर्तते हैं। इस अनिवृत्तिकरण के बल से अन्तरकरण बनता है।

अन्तरकरण (Interception Gap)—अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त प्रमाण स्थिति में जब कई एक भाग व्यतीत हो जाते हैं व एक भाग मात्र शेष रह जाता है तब अन्तरकरण क्रिया प्रारम्भ होती है। वह भी अन्तर्मुहूर्त प्रमाण ही होती है। अन्तर्मुहूर्त के असंख्यात भेद होते हैं अतः अनिवृत्तिकरण के अन्तर्मुहूर्त काल से अन्तरकरण काल का अन्तर्मुहूर्त छोटा होता है। अनिवृत्तिकरण के अन्तिम भाग में जो मिथ्यात्व मोहनीय कर्म उदयमान है, उसके उन दलिकों को जो अनिवृत्तिकरण के बाद अन्तर्मुहूर्त तक उदय में आने वाले हैं, आगे-पीछे कर लेना अर्थात् उन दलिकों में से कुछ को अनिवृत्तिकरण के अन्तिम समय पर्यन्त उदय में आने वाले दलिकों में स्थापित कर देना (प्रथम स्थिति) व कुछ दलिकों को उस अन्तर्मुहूर्त के बाद उदय में आने वाले दलिकों के साथ मिला देना (द्वितीय स्थिति), इस तरह जिसका आवाधा काल पूरा हो चुका है ऐसे मिथ्यात्व मोहनीय कर्म के दो भाग किये जाते हैं। एक भाग तो वह है जो अनिवृत्तिकरण के चरम समय तक उदयमान रहता है और दूसरा जो अनिवृत्तिकरण के बाद एक अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल व्यतीत हो चुकने पर उदय में आता है। इस प्रकार मध्य भाग में रहे हुए कर्म दलिकों को प्रथम स्थिति व द्वितीय स्थिति में स्थापित करने के कारण रूप क्रिया विशेष के अध्यक्षसाय अन्तरकरण कहलाते हैं। इस तरह अनिवृत्तिकरण का अन्तिम समय व्यतीत हो जाने पर अन्तरकरण काल में कोई भी मोहनीय कर्म के दलिक ऐसे नहीं रहते जिनका प्रदेश व विपा-कोदय संभव हो। सब दलिक अन्तरकरण क्रिया से आगे-पीछे उदय में आने योग्य कर दिये गये हैं। अतः अनिवृत्तिकरण काल व्यतीत हो जाने पर जीव को औपशमिक सम्यक्त्व प्राप्त होता है जिसका काल 'उपशान्ताद्धा' अन्तर्मुहूर्त कह चुके हैं। इस उपशान्ताद्धा काल में मिथ्यात्व मोहनीय कर्म का अल्पांश भी उदय न रहने से व अति दीर्घ स्थिति वाले तादृश कर्मों को अध्यक्षसाय के बल से दबा देने से रागद्वेष के उपशम होने से अनादि मिथ्यादृष्टि जीव को औपशमिक प्रादुर्भाव





होने से एक अवर्णनीय आल्हाद अनुभव होता है। उसकी पर-रूप में स्वरूप की जो भ्रान्ति थी—इस काल में दूर हो जाती है। वह अन्तरात्मा में परमात्म भाव को देखने लगता है। वाम से परितापित पथिक को शीतल छाया का सुख—जन्मान्ध रोगी को नेत्र लाभ, असाध्य व्याधि से मुक्त रोगी को जो सुख अनुभव होता है उससे भी अधिक सुख यह जीव सम्यक्त्व प्राप्ति से अनुभव करता है।^{२२} उपशान्ताद्धा के पूर्व समय में (प्रथम स्थिति के चरम समय में) जीव विशुद्ध परिणाम से उस मिथ्यात्व के तीन पुंज करता है, जो उपशान्ताद्धा के पूरे हो जाने पर उदय में आने वाले हैं। कोद्रवधान की शुद्धि विशेषवत् कुछ भाग विशुद्ध, कुछ अर्द्धशुद्ध, कुछ अशुद्ध ही रहता है। उपशान्ताद्धा पूर्ण होने पर उक्त तीनों पुंजों में से कोई एक पुंज परिणामानुसार उदय में आता है।^{२३} विशुद्ध पुंज के उदय होने से क्षायोपशमिक सम्यक्त्व प्रकट होता है जो सम्यक्त्व मोहनीय होकर सम्यक्त्व का तो घात नहीं करता परन्तु देशघाती रसयुक्त होने से विशिष्ट श्रद्धानुरूप देश को रोकता है। किञ्चित् मलिनता रहती है, चल दोष (रत्नत्रय की प्रतीति रहे—परन्तु यह स्वकीय है, यह अन्य है) मल दोष (शंकादि मल लगावे) अगाद्धोष (सम्यक्त्व में स्थिरता न रहे) आदि दोष रहते हैं। यदि जीव के परिणाम अर्द्धशुद्ध उदय में आवे तो मिश्रमोहनीय (३ गुणस्थान) व यदि परिणाम अशुद्ध उदय में आवे तो मिथ्यात्व मोहनीय (मिथ्यादृष्टि) हो जाता है। उपशान्ताद्धा जिसमें जीव शान्त, प्रशान्त, स्थिर व पूर्णानन्द हो जाता है उसका जघन्य १ समय और उत्कृष्ट ६ आवलिका काल जब बाकी रहे तब किसी-किसी औपशमिक सम्यक्त्वी को विघ्न आ पड़ता है। शान्ति में भंग पड़ जाता है। अनन्तानुबंधी कषाय का उदय होते ही जीव सम्यक्त्व परिणाम को वमन कर मिथ्यात्व की ओर झुकता है जब तक मिथ्यात्व को स्पर्श नहीं करता, उस समय वह सासादन सम्यग्दृष्टि कहता है (जिसका कथन दूसरे गुणस्थान में किया है)। जब क्षायोपशमिक सम्यक्त्वी क्षायिक सम्यक्त्व के समुख हो मिथ्यात्व मोहनीय, मिश्रमोहनीय प्रकृति का तो क्षय कर दे परन्तु सम्यक्त्व मोहनीय के काण्डकछातादि क्रिया नहीं करता उसको कृतकृत्य वेदक सम्यग्दृष्टि नाम दिया गया है क्योंकि वह मोहनीय कर्म के अन्तिम पुद्गल का वेदन कर रहा है। इसका जघन्य व उत्कृष्ट काल १ समय है। जिसके अनन्तर ही क्षायिक सम्यक्त्व का आविर्भाव हो जाता है।

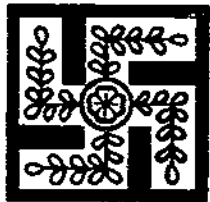
क्षायिक सम्यक्त्व—जब दर्शन मोहनीय की ३ प्रकृतियों का सर्वथा रूप सब निषेकों का क्षय हो जावे व अनन्तानुबंधी चतुष्क का भी सर्वथा क्षय हो जावे तब अत्यन्त निर्मल तत्त्वार्थ श्रद्धान जो प्रकट हो, वह क्षायिक सम्यक्त्व कहलाता है। इस तरह से सम्यक्त्व के ५ भेद—औपशमिक, क्षायोपशमिक, क्षायिक, वेदक व सासादन होते हैं और भी प्रकार नीचे बतलायेंगे।

सम्यक्त्व क्या है—पहचानें कैसे ? सम्यक् यह प्रशंसा वाचक शब्द है (अंचते: क्वी समंचतीति सम्यगिति। अस्यार्थः प्रशंसा)^{२४} सम्यग् जीव सद्भावः, विपरीताभिनिवेश रहित मोक्ष के अविरोधि परिणाम संवेगादि युक्त आत्मा का सद्बोध रूप परिणाम विशेष सम्यक्त्व कहलाता है जो मोहनीय प्रकृति के अनुवेदन बाद उपशम व क्षय से उत्पन्न होता है। दर्शन मोहनीय की ३ प्रकृतियों के क्षय व उपशम के सहचारी अनन्तानुबंधी प्रकृतियों का भी क्षय व उपशम है।^{२५} तत्त्वार्थ-श्रद्धान् उसका लक्षण है। शम, सवेग, निर्बेद, अनुकंपा, आस्तिक्य इसकी पहचान है।

प्रकार १. तत्त्व व उसके अर्थ में श्रद्धान रूप (तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं)

प्रकार २. (क) निश्चय सम्यक्त्व—अनन्तगुणों के पुंज रूप मुख्य गुण ज्ञान-दर्शन-चारित्र्यादि जिसके हैं—उस अखण्ड आत्मा में यथार्थ प्रतीति करना^{२६} उसका ज्ञायक स्वभाव है। जिससे 'स्व' 'पर' दोनों को जानकर अपने से विभावावस्था से हटकर स्वभाव में स्थित होता है। निश्चय नय में आत्मा ही ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य है—जो आत्मा में ही रह है वह सम्यग्दृष्टि है।^{२७} निश्चयानुसार आत्मविनिश्चिति ही सम्यग्दर्शन है। आत्मज्ञान ही सम्यक्बोध, आत्मस्थिति ही सम्यक्चारित्र्य है। यह सत्य की पराकाष्ठा है, आत्मदर्शन की स्वयं अनुभूति है।

(ख) व्यवहार सम्यक्त्व—परन्तु उपरोक्त स्थिति तो उच्च चारित्र्यधारी महात्माओं की तेरहवें-चौदहवें गुणस्थान में होती है। उस लक्ष्य को पहुँचने के लिए उसमें सहायक निमित्त कारण देव, गुरु, धर्म होते हैं जिनमें प्रतीति-रुचि रख जिनसे ज्ञात नवतत्त्वादि पदार्थों में श्रद्धान रखना व्यवहार सम्यक्त्व कहलाता है। अभेद वस्तु को भेद रूप से उपचार से व्यवहृत करना व्यवहार है।^{२८} विपरीताभिनिवेश रहित जीव को जो आत्म-श्रद्धान हुआ उसके निमित्त देव-गुरु-धर्म^{२९} नवतत्त्वादि हुए उनमें श्रद्धान होने से इस निमित्त को



व्यवहार सम्यक्त्व कहा।^{३०} दोनों में से निश्चय सम्यक्त्व की भाव सम्यक्त्व व अपौद्गलिक, व्यवहार को द्रव्य सम्यक्त्व, पौद्गलिक भी कहा।

प्रकार ३. औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक (उदयप्राप्त मोहनीय का क्षय, अनुदय का उपशम)।

प्रकार ४. (क) कारक—जिसके प्राप्त होने पर जीव सदनुष्ठान में श्रद्धा रखता है। स्वयं आचरे दूसरों का पलावे।

(ख) रोचक—जिसके प्राप्त होने पर जीव सदनुष्ठान में रुचि रखता है परन्तु आचरण नहीं कर सकता (श्रीकृष्ण, श्रेणिक)।

(ग) दीपक—जो मिथ्यादृष्टि स्वयं तो तत्त्वश्रद्धान से शून्य हो परन्तु उपदेशादि द्वारा दूसरों में तत्त्वश्रद्धा उत्पन्न करे। उसका उपदेश दूसरों में समकित का कारण होने से कारण में कार्य का उपचार कर 'दीपक' कहा।

प्रकार ५. औपशमिक, क्षायिक, क्षायोपशमिक, सास्वादन, वेदक। ऊपर व्याख्या की गई है। ये पाँचों प्रकार के सम्यक्त्व निसर्ग (स्वभाव) व उपदेश से उत्पन्न होते हैं।

प्रकार १०. निसर्गरुचि, उपदेशरुचि, आज्ञारुचि, सूत्ररुचि, बीजरुचि, अधिगमरुचि, विस्ताररुचि, क्रियारुचि, संशेपरुचि, धर्मरुचि (उत्तरा, २८।१६)।

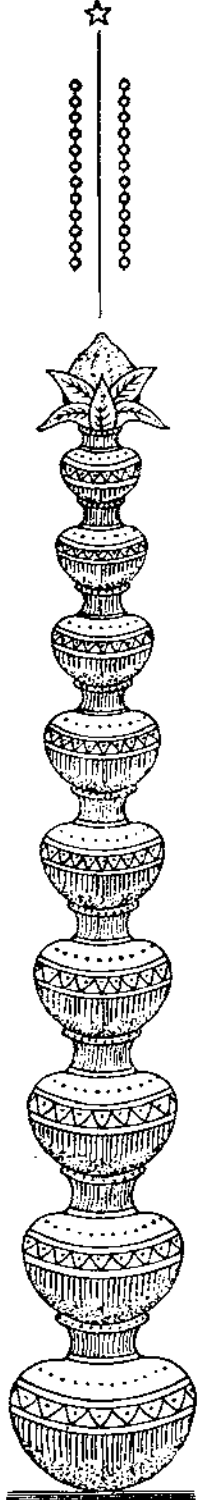
प्र०—सम्यग्दर्शनी व सम्यग्दृष्टि में क्या अन्तर है ?

उ०—सम्यग्दृष्टि के दो भेद हैं—सादि सपर्यवसान, सादि अपर्यवसान। सादि सपर्यवसान वाले सम्यक्दर्शनी हैं।

उनका सम्यक्दर्शन ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयोपशम से जन्य है (अपाय सद्द्रव्यवर्तिनी—अपाय, मतिज्ञान का भेद)^{३१}, जबकि केवली को मोहनीय कर्म के क्षय से सम्भव है—केवली को मतिज्ञान का अपायापगम अभाव है। अतः सयोगि अयोगि केवली व सिद्धों के जीव सम्यग्दृष्टि कहलाते हैं व चार से बारहवें गुणस्थानी जीव को सम्यग्दर्शनी कहा। सम्यग्दर्शनी की स्थिति जघन्य अंतर्मुहूर्त, उत्कृष्ट ६६ सागरोपम से कुछ अधिक है। सम्यग्दर्शनी असंख्येय हैं जबकि सम्यग्दृष्टि अनन्त होते हैं (सिद्ध भी सम्मिलित हैं)। सम्यग्दर्शनी का क्षेत्र लोक का असंख्यातवां माग है जबकि सम्यग्दृष्टि का क्षेत्र समस्त लोक है।

(४) अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान^{३२}—सावद्यव्यापारों को छोड़ देना अर्थात् पापजनक कार्यों से अलग होना विरति कहलाता है। चारित्र वा व्रत विरति का ही नाम है। जो सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत नियम धारण नहीं कर सकता, उसको अविरत सम्यग्दृष्टि, उसका स्वरूप अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान कहलाता है। व्रत नियम में बाधक उसके अप्रत्याख्यानानावरण चतुष्क का उदय है। परन्तु यहाँ सद्बोध रुचि, श्रद्धा प्राप्त हो जाने से आत्मा का विकासक्रम यहीं से प्रारम्भ हो जाता है। इस गुणस्थान को पाकर आत्मा शान्ति का अनुभव करता है। इस भूमिका में आध्यात्मिक दृष्टि यथार्थ (आत्मस्वरूपोन्मुख) होने से विपर्यास रहित होती है। पातञ्जल योग में जो अष्ट भूमिकाएँ (यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान व समाधि) बताईं व यशोविजयजी ने हरिमद्रजी के योग-दृष्टि समुच्चय के आधार पर संज्ञायों की रचना की उनमें से (मित्रा, बला, तारा, दीप्रा, स्थिरा, कान्ता, प्रमापरा) प्रत्याहार तदनुसार स्थिरा^{३३} से समकक्ष यह सम्यक्त्व की दृष्टि है। चतुर्थ गुणस्थान में आत्मा के स्वरूप दर्शन से जीव को विश्वास हो जाता है कि अब तक जो मैं पौद्गलिक बाह्य सुख में तरस रहा था वह परिणाम विरस, अस्थिर व परिमित है। सुन्दर व अपरिमित सुख स्वरूप की प्राप्ति में है। तब वह विकासगामी स्वरूप स्थिति के लिए प्रयत्नशील बनता है। कृष्ण पक्षी से शुकल पक्षी बनता है। अन्तरात्मा कहा जाता है व चारित्रमोह की शक्ति को निर्बल करने के लिए आगे प्रयास करता है।

(५) देशविरति गुणस्थान^{३४}—प्रत्याख्यानानावरण कषाय के उदय के कारण जो जीव पापजनक क्रियाओं से सम्पूर्णतया नहीं अपितु अंश से विरक्त हो सकते हैं वे देशविरत या श्रावक कहे जाते हैं। उनका स्वरूप विशेष देशविरत गुणस्थान कहलाता है। कोई एक व्रतधारी व अधिक से अधिक १२ व्रतधारी व ११ प्रतिमाधारी होते हैं तो कोई अनुमति सिवाय (प्रतिसेवना, प्रतिश्रवणा, संवासानुमति) न सावद्यवृत्ति करते हैं न कराते हैं। इस गुणस्थान में विकासगामी आत्मा को यह अनुभव होने लगता है कि यदि अल्पविरति से भी इतना अधिक शान्तिलाम हुआ तो सब विरति—जड़ पदार्थों के सर्वथा परिहार—से कितना लाभ होगा? सर्वविरति के लिए आगे बढ़ता है।



(६) प्रमत्तसंयत गुणस्थान^{३५}—जो जीव पापजनक व्यापारों से विधिपूर्वक सर्वथा निवृत्त हो, संयत मुनि हो जाता है। संयत भी जब तक प्रमाद (मद्य, विषय, कषाय, निद्रा, विकथा) का सेवन करते हैं, प्रमत्तसंयत कहलाते हैं। प्रत्याख्यानावरणीय का तो इनके क्षयोपशम हो चुका है परन्तु उस संयम के साथ संज्वलन व नोकषाय का उदय रहने से मूल को उत्पन्न करने वाला जो प्रमाद है (इसके अनेक भेद हैं^{३६})। अतएव प्रमत्तसंयत गुणस्थान कहा। औदयिक माव की अपेक्षा चारित्र्य क्षायोपशमिक माव है परन्तु सम्यक्त्व की अपेक्षा औपशमिक, क्षायिक व क्षायोपशमिक कोई भी सम्यक्त्व सम्भव है। संयम से शान्ति तो है परन्तु प्रमाद से कभी शान्ति में बाधा होती है।

(७) अप्रमत्तसंयत गुणस्थान^{३७}—जब संज्वलन और नोकषाय का मन्द उदय होता है तब संयत मुनि के प्रमाद का अभाव हो जाता है, किसी प्रमाद का सेवन नहीं करता, इसका स्वरूप विशेष अप्रमत्तसंयत गुणस्थान कहा। वह मूलगुण व उत्तरगुणों में अप्रमत्त महात्मा निरन्तर अपने स्वरूप की अभिव्यक्ति के चिन्तन-मनन में रत रहता है। ऐसा मुनि जब तक उपशमक व क्षपक श्रेणी का आरोहण नहीं करता^{३८} तब उसको अप्रमत्त व निरतिशय अप्रमत्त कहते हैं। इस स्थिति में एक ओर तो मन अप्रमादजन्य उत्कृष्ट सुख का अनुभव करते रहने के लिए उत्तेजित करता है तो दूसरी ओर प्रमादजन्य वासनाएँ उसको अपनी ओर खींचती हैं। इस तुमुल युद्ध में विकासगामी आत्मा कभी छटे, कभी सातवें गुणस्थान में अनेक बार आता-जाता है। शुद्ध अध्यवसायों से आगे बढ़ता है।

(८) नियट्टि बादर (अपूर्वकरण) गुणस्थान—नियट्टि का अर्थ भिन्नता, बादर—बादर कषाय, इस गुणस्थान में भिन्न समयवर्ती जीवों के परिणाम विशुद्धि की अपेक्षा सहश नहीं होते अतः नियट्टि नाम^{३९} रखा तथा उन जीवों के परिणाम ऐसे विशुद्ध होते हैं जो पहले कभी नहीं हुए थे अतः अपूर्वकरण^{४०} भी कहा। इस गुणस्थान में त्रिकालवर्ती जीवों के अध्यवसाय स्थान असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेश समान होते हैं व समसमयवर्ती जीवों के अध्यवसाय स्थान असंख्यात लोकाकाशों के प्रदेश समान होते हैं। इस गुणस्थान का काल अन्तर्मुहूर्त है—असंख्यात के असंख्यात भेद हैं। पूर्ववर्ती जीवों के अध्यवसाय स्थान से अन्तिमवर्ती जीवों के अध्यवसाय अनन्त गुण अधिक शुद्ध व समसमयवर्ती के भी एक दूसरे की अपेक्षा षट् स्थानगत (अनन्त भाग अधिक, असंख्य भाग अधिक, संख्यात भाग अधिक, संख्यात गुण अधिक, असंख्यात गुण अधिक व अनन्त गुण अधिक) विशुद्धि लिए हुए होते हैं। इसी प्रकार प्रथम समय से अन्तिम समय के अधिक विशुद्ध जानो। इस आठवें गुणस्थान के समय जीव पाँच विधान प्रक्रियायें करते हैं—स्थितिघात, रसघात, गुणश्रेणी, गुणसंक्रमण, अपूर्वस्थितिबन्ध।

स्थितिघात—जैसा कि ऊपर कह आये हैं—जो कर्म दलिक आगे उदय में आने वाले हैं, उनको अपवर्तनाकरण द्वारा अपने उदय के नियत समय से हटा देना अर्थात् बड़ी स्थिति को घटा देना।

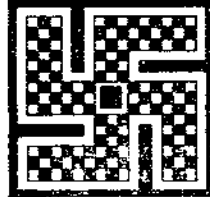
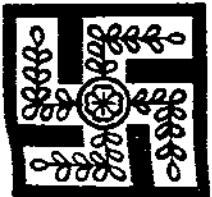
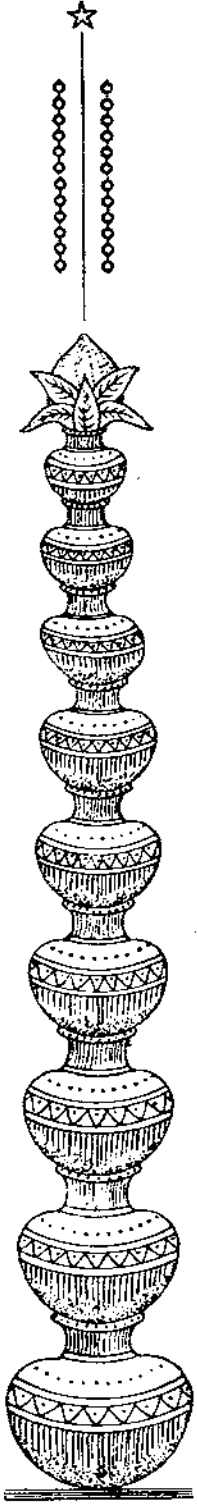
रसघात—बंधे हुए ज्ञानावरणादि कर्मों के प्रचुर रस को अपवर्तनाकरण से मंद रस वाले कर देना।

गुणश्रेणी^{४१}—उदय क्षण से लेकर प्रति समय असंख्यात गुणे, असंख्यात गुणे कर्म दलिकों की रचना करना अर्थात् जिन कर्मदलिकों का स्थितिघात किया जाता है—उनको उदय समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त जितने समय होते हैं—उनमें उदयावलिका के समय को छोड़ शेष समय रहें उनमें प्रथम समय में जो दलिक स्थापित किये जावें उनसे असंख्यात गुणे अधिक दूसरे समय में, उनसे असंख्यात गुणे अधिक तीसरे समय में इस प्रकार अन्तर्मुहूर्त के चरम समय तक स्थापित कर निर्जरित करना गुणश्रेणी कहलाता है।

गुणसंक्रमण—पहले बांधी हुई अशुभ प्रकृतियों का बध्यमान शुभ प्रकृतियों में परिणत करना।

अपूर्वस्थितिबन्ध—पहले की अपेक्षा अल्प स्थिति के कर्मों को बांधना। यद्यपि इन स्थितिघातादि का वर्णन समकितपूर्व भी कहा परन्तु वहाँ अध्यवसाय की जितनी शुद्धि है उससे अधिक इन गुणस्थानों में होती है। वहाँ अल्प स्थिति अल्प रस का घात होता है—यहाँ अधिक स्थिति, अधिक रस का। वहाँ दलिक अल्प होते हैं व काल अधिक लगता है यहाँ काल अल्प, दलिक अधिक, वहाँ अपूर्वकरण में देशविरति, सर्वविरति प्राप्त्यर्थं गुणश्रेणी की रचना नहीं होती—यह रचना सर्वविरति की प्राप्ति बाद होती है। आठवें गुणस्थान में वर्तमान जीव चारित्र्य मोहनीय के उपशमन व क्षपण के योग्य होने से उपशमक व क्षपक योग्यता की अपेक्षा कहलाता है। चारित्र्य मोहनीय का उपशमन क्षपण तो नवमें गुणस्थान में ही होता है।

(९) अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान^{४२}—अन्तर्मुहूर्त काल मात्र अनिवृत्तिकरण गुणस्थान में त्रिकालवर्ती



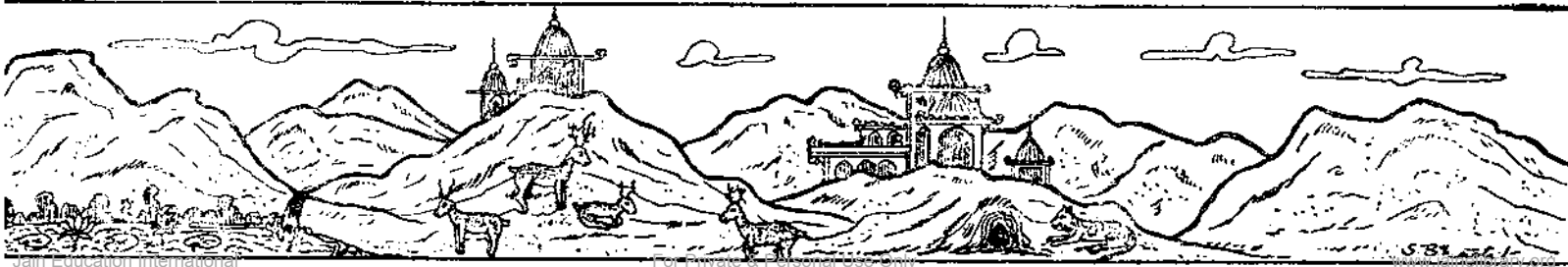
जीवों में समसमयवर्ती जीवों के अध्यवसाय स्थान सदृशपरिणाम वाले होने से उस स्थान को अनिवृत्ति (भिन्नता का अभाव, सदृश) बादर (कषाय) कहा। यद्यपि उनके शरीर अवगाहनादि बाह्य कारणों में व ज्ञानावरणादि कर्मों के क्षयो-पशमादि अन्तरंग कारणों में भेद भी है—परन्तु परिणामों के निमित्त से परस्पर भेद नहीं है। इसमें अध्यवसायों के उतने ही वर्ग हैं जितने कि उस गुणस्थान के समय होते हैं—प्रथमवर्गीय के अध्यवसायस्थान से दूसरे समय वाले के अध्यवसाय अनन्तगुण विशुद्ध होते हैं। आठवें से इसमें अध्यवसाय की भिन्नताएँ बहुत कम हैं, वर्ग कम हैं। इस स्थान को प्राप्त करने वाले जीव या तो उपशमक (चारित्रमोहनीय कर्म का उपशमन करने वाले) या क्षपक (चारित्रमोहनीय का क्षय करने वाले) होते हैं।

(१०) सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान^{५३}—इस गुणस्थान में संपराय अर्थात् लोभ के सूक्ष्म खण्डों का उदय होने से इसका नाम सूक्ष्मसंपराय पड़ा। जिस प्रकार धुले हुए कसूमी वस्त्र में लालिमा का अंश रह जाता है उसी प्रकार जीव सूक्ष्म राग (लोभ कषाय)से युक्त है। चारित्रमोहनीय की अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण, संज्वलन, नोकषाय = २१ प्रकृतियों में से उपरोक्त तीन कारणों के परिणामों से २० प्रकृतियों के क्षय व उपशम होने पर भी सूक्ष्म कृष्टि को प्राप्त लोभ का ही यहाँ उदय है—मोहनीय कर्म की शेष कोई प्रकृति नहीं जिसका उपशम व क्षय किया जाय।

(११) उपशान्त कषाय (वीतराग छद्मस्थ) गुणस्थान^{५४}—निर्मली (कतक) फल से युक्त जल की तरह अथवा शरद् ऋतु में ऊपर से स्वच्छ हो जाने से सरोवर के जल की तरह सम्पूर्ण मोहनीय कर्म के उपशम से उत्पन्न होने वाले निर्मल परिणामों को उपशान्त कषाय गुणस्थान कहा। जिनके कषाय उपशम हो गये हैं, जिनको राग का भी (माया या लोभ का) सर्वथा उदय नहीं है (सत्ता में अवश्य है), जिनकी छद्मस्थ अवस्था है (घाती कर्मों का आवरण लगा हुआ है) उनका स्वरूप विशेष। इस गुणस्थान की स्थिति जघन्य एक समय व उत्कृष्ट अन्तर्मुहूर्त की है। इस गुणस्थान को प्राप्त जीव आगे गुणस्थानों को प्राप्त नहीं कर सकता क्योंकि इसके मोहनीय कर्म सत्ता में हैं। ऐसा जीव उपशम श्रेणि वाला है। आगे के लिए क्षपक श्रेणी चाहिए। उसी गुणस्थान में आयु पूर्ण हो तो अनुत्तर विमान में देव होकर चौथे गुणस्थान को प्राप्त करता है—आयुक्षय न हो तो जैसे चढ़ा वैसे ही गिरता-गिरता दूसरे गुणस्थान यदि वहाँ से न संसले तो प्रथम गुणस्थानवर्ती भी हो जाता है। फिर वह एक बार और उपशम श्रेणी या क्षपक श्रेणी कर सकता है, यह कर्मग्रन्थ की मान्यता है। सिद्धान्त का कहना है कि जीव एक जन्म में एक बार ही श्रेणी कर सकता है अतः जो एक बार उपशम श्रेणी कर चुका वह फिर उसी जन्म में क्षपक श्रेणी नहीं कर सकता।

उपशम श्रेणी आरोहण क्रम^{५५}—चतुर्थ गुणस्थान से लेकर सप्तम तक पहले अनन्तानुबंधी कषाय का उपशम करता है, तदनन्तर दर्शन मोहनीय का, फिर नवम गुणस्थान में क्रमशः नपुंसक वेद, स्त्री वेद, छह नोकषाय और पुरुष वेद का उपशम करता है (यदि स्त्री वेद के उदय से श्रेणी करे तो पहले नपुंसक वेद का, फिर क्रम से पुरुष वेद का, हास्यादि षट्क का फिर स्त्री वेद का उपशम करता है। यदि नपुंसक वेद के उदय वाला उपशम श्रेणी चढ़ता है तो पहले स्त्री वेद का उपशम करता है। इसके बाद क्रमशः पुरुष वेद व हास्यादि षट्क का व नपुंसक वेद का उपशम करता है)^{५६}। इसके अनन्तर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण क्रोध का उपशम कर संज्वलन क्रोध का फिर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण मान का उपशम कर संज्वलन मान का, फिर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण माया का उपशम कर संज्वलन माया का फिर अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण लोभ का उपशम कर संज्वलन लोभ का (दसवें गुणस्थान में) उपशम करता है।

क्षपक श्रेणी आरोहण क्रम^{५७}—अनन्तानुबंधी चतुष्क व दर्शनत्रिक इन सातों प्रकृतियों का क्षय (४ से ७ गुणस्थान तक) करता है। आठवें गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क व प्रत्याख्यानावरण चतुष्क का क्षय प्रारम्भ करता है। यह = प्रकृतियाँ पूर्ण क्षय नहीं होने पाती कि बीच में नवम गुणस्थान में स्थानाद्वित्रिक, नरकद्विक, तिर्यग्द्विक, जाति-चतुष्क, आतप, उद्योत, स्थावर, सूक्ष्म, साधारण फिर अप्रत्याख्यानावरण चतुष्क व प्रत्याख्यानावरण चतुष्क के शेष भाग का क्षय करता है—तदनन्तर नवम गुणस्थान में अन्त में क्रमशः नपुंसक वेद, स्त्री वेद, हास्यषट्क व पुरुष वेद (यदि स्त्री श्रेणी आरूढ़ होवे तो पहले नपुंसक वेद, का फिर क्रमशः पुरुष वेद, छह नोकषाय फिर स्त्री वेद का क्षय, यदि नपुंसक श्रेणी पर चढ़े तो पहिले स्त्री वेद का, फिर पुरुष वेद, छह नोकषाय फिर नपुंसक वेद का क्षय करता है)। संज्वलन क्रोध, मान, माया का क्षय करता है। १० वें गुणस्थान में संज्वलन लोभ का क्षय करता है।



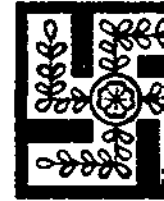
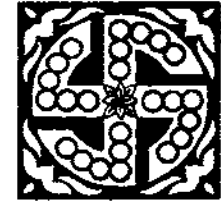
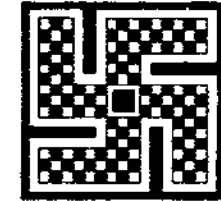
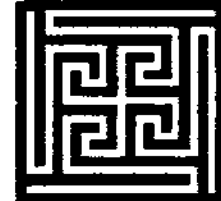
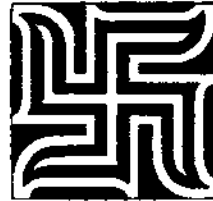
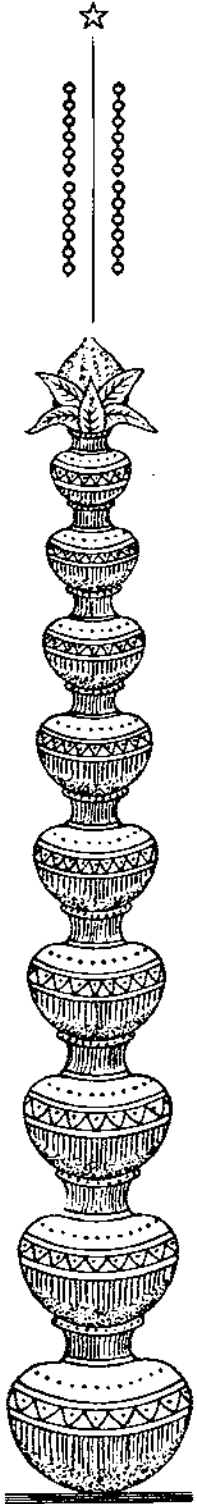
(१२) क्षीणकषाय वीतराम छद्मस्थ गुणस्थान^{५८}—जिन्होंने मोहनीय कर्मों का सर्वथा क्षय कर दिया परन्तु शेष पाती कर्मों का छद्म (आवरण) विद्यमान है वे क्षीणकषाय वीतराम (माया लोभ का अभाव) कहते हैं। इसकी स्थिति अन्तर्मुहूर्त प्रमाण है। इसमें वर्तमान जीव क्षपक श्रेणि वाले ही होते हैं। इस गुणस्थान के द्विचरम समय में निद्रा, निद्रानिद्रा का क्षय व अन्तिम समय में ज्ञानावरण, दर्शनावरण, अंतराय प्रकृतियों का क्षय हो जाता है। १२वें गुणस्थानवर्ती निर्ग्रन्थ का चित्त स्फटिकमणिवत् निर्मल हो जाता है, क्योंकि मोहनीय कर्मों का सर्वथा अभाव है।

(१३) सयोगिकेवली गुणस्थान^{५९}—जिन्होंने ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय व अन्तराय इन चार घाति-कर्मों का क्षय कर केवलज्ञान प्राप्त किया है। जिस केवलज्ञान रूपी सूर्य से किरण-कलाप से अज्ञान अन्धकार सर्वथा नष्ट हो गया है जिनको नव केवल लब्धियाँ (क्षाधिक समकित, अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तचारित्र, दान, लाभ, भोग, उपभोग, वीर्य उदय भाग) प्रकट होने से परमात्मा का व्यपदेश प्राप्त हो गया है—इन्द्रिय व आलोकादि की अपेक्षा न होने से केवली व योग युक्त होने से योगी हैं उनके स्वरूप विशेष को सयोगिकेवली गुणस्थान कहा। जिस समय कोई मनपर्यव ज्ञानी वा अनुत्तर विमान वासी देव मन से ही भगवान से प्रश्न करते हैं उस वक्त भगवान मन का प्रयोग करते हैं।^{५०} मन से उत्तर देने का आशय मनोवर्गणा के पर्याय—आकार को देखकर प्रश्नकर्ता अनुमान से उत्तर जान लेता है। केवली भगवान उपदेश देने में वचनयोग का प्रयोग व हलन-चलन में काययोग का प्रयोग करते हैं।^{५०}

(१४) अयोगिकेवली गुणस्थान^{५१}—केवली सयोगि अवस्था में जघन्य अन्तर्मुहूर्त, उत्कृष्ट कुछ कम करोड़ पूर्व तक रहते हैं। इसके बाद जिन केवली भगवान के वेदनीय नाम व गोत्र तीनों कर्मों की स्थिति व पुद्गल (परमाणु) आयु कर्म की स्थिति व परमाणुओं की अपेक्षा अधिक होते हैं वे समुद्घात^{५२} के द्वारा वेदनीय व नाम गोत्र की स्थिति व परमाणु आयु कर्म की स्थिति व परमाणुओं के बराबर कर लेते हैं। जिनके इन तीनों कर्मों की स्थिति, परमाणु आयु की स्थिति व परमाणुओं से अधिक न हो वे समुद्घात नहीं करते। अपने सयोगि अवस्था के अन्त में ऐसे ध्यान के लिये योगों का निरोध करते हैं जो परम निर्जरा का कारणभूत व लेश्या रहित अत्यन्त स्थिरता रूप होते हैं।

योग निरोध का क्रम—पहले बादर काययोग से बादर मनोयोग और बादर वचनयोग को रोकते हैं—इसी सूक्ष्म काययोग से क्रमशः सूक्ष्म मनोयोग व सूक्ष्म वचनयोग को रोकते हैं। फिर सूक्ष्म क्रियाऽनिवृत्ति ध्यान (शुक्ल ध्यान का तीसरा भेद) के बल से सूक्ष्म काययोग भी रोक देते हैं—व अयोगि बन जाते हैं। इसी ध्यान की सहायता से अपने शरीर के अन्तर्गत पोले भाग मुख-उदर आदि को आत्म प्रदेशों से पूर्ण कर देते हैं—प्रदेश संकुचित हो ड़े भाग रह जाते हैं। फिर वे अयोगि केवली समुद्भिन्न क्रियाऽप्रतिपाति (शुक्लध्यान का चौथा भेद) ध्यान से मध्यमगति से अ इ उ ऋ लृ पाँच अक्षर उच्चारण करें जितने काल तक शैलेशीकरण (पर्वत समान अडोल) वेदनीय, नाम, गोत्र को गुणश्रेणि से आयु कर्म को यथास्थितिश्रेणि से निर्जरा कर अन्तिम समय में इन अघाति कर्मों को सर्वथा क्षय कर एक समय में ऋजुगति से मुक्ति में चले जाते हैं।^{५३}

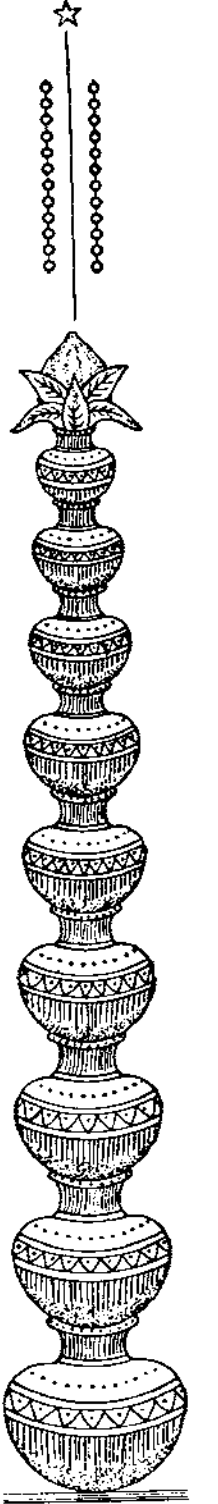
तुलनात्मक पर्यवेक्षण—जैनशास्त्र में मिथ्यादृष्टि या बाह्यात्मा (१ से ३ गुणस्थान) नाम से अज्ञानी जीव का लक्षण कहा। जो अनात्म जड़ में आत्म बुद्धि रखता है—योगवाशिष्ठ व पातंजल में अज्ञानी जीव का वही लक्षण कहा।^{५४} अज्ञानी का संसार पर्यटन दुःख फल योगवाशिष्ठ में भी कहा।^{५५} जैनशास्त्र में मोह को संसार का कारण कहा—योगवाशिष्ठ में दृश्य के प्रति अभिमान अध्यास को कहा। जैनशास्त्र में प्रन्थि-भेद कहा जैसे ही योगवाशिष्ठ में कहा।^{५६} वैदिक ग्रन्थों में ब्रह्म माया के संसर्ग से जीवत्व धारण करता है—मन के संकल्प से सृष्टि रचता है। जैन मतानुसार ऐसे समझा सकते हैं—आत्मा का अव्यवहार राशि से व्यवहार राशि में आना ब्रह्म का जीवत्व धारण करना है। वैदिक ग्रन्थों में विद्या से अविद्या व कल्पना का नाश करना कहा।^{५७}—जैनशास्त्र में मतिज्ञानादि क्षायोपशमिक ज्ञान व क्षायिकभाव से मिथ्याज्ञान का नाश समान है। जैनदर्शन में सम्यक्त्व से उत्थान क्रम कहा जैसे ही योग के आठ अंगों से प्रत्याहार से उत्थान होता है।^{५८} (देखो लेखक का ध्यान लेख श्रमणो०) योगवाशिष्ठ में तत्त्वज्ञ, समदृष्टि पूर्णशिय मुक्त पुरुष^{५९} के वर्णन से जैन दर्शन की चौथे गुणस्थान से १२ तक जानो। योगवाशिष्ठ में ७ अज्ञान की, ७ ज्ञान की भूमिकाएँ कहीं^{६०} वैसे ही जैनदर्शन में १४ गुणस्थान वर्णित हैं (१-३) अज्ञानी, ४-१२ अंतर-



आत्मा, १३-१४ परमात्मा सिद्ध । वैदिक दर्शन में विपीलका मार्ग से गिर सकता^१ व विहंगम मार्ग से^२ मुक्ति कही जो जैनदर्शन की उपशम—क्षपक श्रेणी से मिलती सी हैं परन्तु जैनदर्शन में स्पष्ट विस्तृत वर्णन है ।

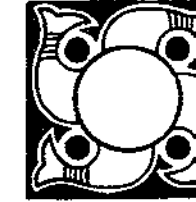
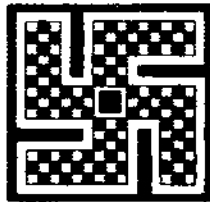
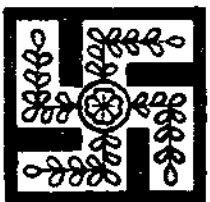
उपसंहार—यह है गुणस्थान का संक्षिप्त चित्रण । विषय महन व अन्वेषणात्मक होने से स्थानामाव के कारण विस्तृत भेद-प्रभेद, विचारों में जो गहनताएँ हैं उनका वर्णन नहीं किया । परन्तु निकृष्ट अवस्था निगोद (मिथ्यात्व) से लेकर किस प्रकार आत्मा नारायण अवस्था (पूर्ण परमात्मपद) प्राप्त कर सकता है—इसमें अनेक जन्म-मरण करते पड़ते हैं—इसको जानकर-समझकर मव्य जीवों को इसके प्रति प्रयास करना नितान्त आवश्यक है । एक वक्त सम्यक्त्व स्पर्श कर लिया तो क्षायोपशमिक अधिकतम अर्द्धपुद्गल परावर्तन में, औपशमिक ७।८ भव में, क्षायिक १ (चरमशरीरी) ३ भव (नरक व देव अपेक्षा से), ४ भव (असंख्यातवर्षायु जुगलिया—फिर देव, फिर मनुष्य) में मुक्ति प्राप्त कर ही लेगा ।

- १ (अ) जेहिं दु लखिज्जंते उदयादिसु संभवेहिं भावेहिं ।
जीवा ते गुणसण्णा णिद्विटा सब्बदरिसीहिं ॥ (गोम्मट०जी० ८, धवला १०४)
- (आ) अनेन (गुणेशब्दनिरुक्तिप्रधानसूत्रेण) मिथ्यात्वादयोऽयोगिकैवलपर्यन्ता जीवपरिणामविशेषास्त एव गुणस्थानानीति प्रतिपादितं भवति, (जी०प्र०) । यैर्भाविः औदायिकादिर्मिथ्यादर्शनादिभिः परिणामैः जीवाः गुण्यन्ते—ते भावा गुणसंज्ञा सर्वदर्शिभिः निर्दिष्टाः । (मं०प्र०)
- २ समता : दर्शन और व्यवहार, पृ० १०४
- ३ संखेओ ओघोत्ति य, गुणसण्णा सा च मोहजोगभवा । —गो०जी० ३
चउदस जीवसमासा कमेण सिद्धा य णादव्वा ।—गो०जी० १०
- ४ मिथ्यात्वमोहनीयकर्म पुद्गलसाचिव्यविशेषादात्मपरिणामविशेषस्वरूपं मिथ्यात्वस्य लक्षणम् ।
—आर्हत०दर्श०प० ६७८
- ५ (अ) मिच्छोदयेण मिच्छत्तमसहृणं तु तच्च अत्थाणं । एयतं विवरीयं, विणयं संसयिदमण्णाणं ॥ (गो०जी० १५)
(आ) मिथ्या वि तथा व्यलीका असत्या दृष्टिदर्शनं विपरीतैकान्तविसंशया ज्ञानरूपम् । (धवला १-१६२)
- ६ मिच्छंतं वेदंते जीवो विवरीयदंसणो होदि ।
णय धम्मं रोचेदि हु, महुरं खु रसं जहा जरिदो ॥—(गो०जी० १७)
- ७ अमिगृहीतमिथ्यात्व, अनमिगृहीतामि०, अमिनिवेशिकमि०, संशयितमि०, अनामोगिकमि०, लौकिकमि०, लोकोत्तरमि० कुप्रावचनिकमि०, अविनयमि०, अक्रियामि०, अशतनामि०, आड्यामि० (आत्मा को पुण्य-पाप नहीं लगता) । मि०, जिनवाणी से न्यून प्ररूपणा, जिनवाणी से अधिक प्र०, जिनवाणी से विपरीत प्र०, धर्म को अधर्म, अधर्म को धर्म, साधु को असाधु, असाधु को साधु, जीव को अजीव, अजीव को जीव, मोक्षमार्ग को संसारमार्ग, संसार को मोक्षमार्ग, मुक्त को अमुक्त, संसारी को मुक्त कहे । २५ भेद ।
- ८ (क) सह आस्वादानेन वर्तते इति सास्वादनम् । (रत्नशेखर—गुणस्थान, ११)
(ख) आयम् औपशमिक सम्यक्त्व लाभ लक्षणं सादयति-अपनयतीति आसादनं, अनन्तानुबन्धी कषायवेदनमिति, नैरुक्तोयं शब्दलोपः । आ-समन्तात् सातयति—स्फोटयति औपशमिक सम्यक्त्वमिति आशातनं अनन्तानुबन्धी कषाय वेदनमिति (हेमचंद्रवृत्ति ओ० दी० पृ० ११६)
- ९ दहिगुडमिव वामिस्सं, पुहमावं णेव कारिदुं सक्कं । एवं मिससयभावो, सम्मामिच्छोत्ति नायव्वे ॥—गो०जी० २२
- १० उपशमलब्धि, उपदेशश्रवणलब्धि, प्रायोग्यलब्धि ।
- ११ (i) क्षयोपशमलब्धि—जिस लब्धि के होने पर तत्त्व विचार हो सके—ज्ञानावरणादि कर्मों के उदयप्राप्त सर्वघाती निषेकों के उदय का अभाव—क्षय, अनुदय प्राप्त योग्य का सत्ता रूप रहना ।
(ii) विशुद्धिलब्धि—मोह का मन्द उदय होने पर मंद कषाय के भाव हों ।
(iii) देशनालब्धि—जिनोक्त तत्त्वों का धारण एवं विचार हो (नरक में पूर्व संस्कार से)
(iv) प्रायोग्य—जब कर्मों की सत्ता अन्तः कोटाकोटी सागर प्रमाण रह जावे व नवीन कर्मों का बन्ध अन्तः कोटा-कोटी प्रमाण से संख्यातवै भाव मात्र हो—आगे-आगे घटता जाये, किसी का बन्ध भी घटे । (लब्धिसार ३५)

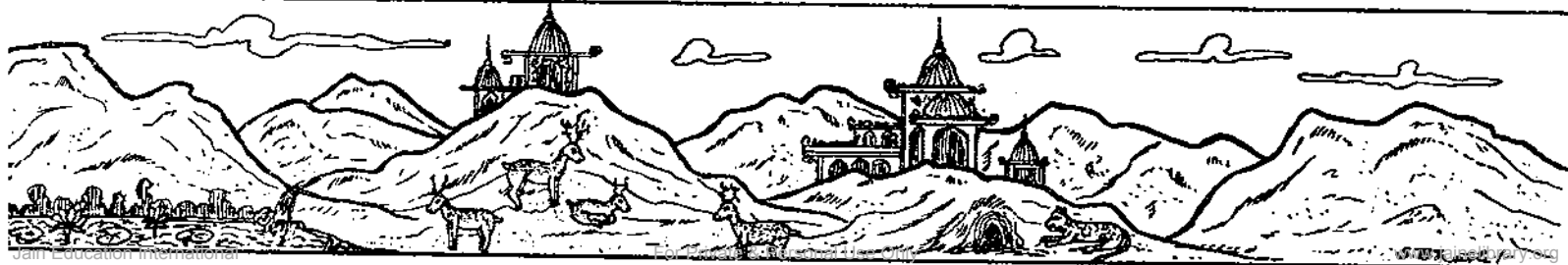
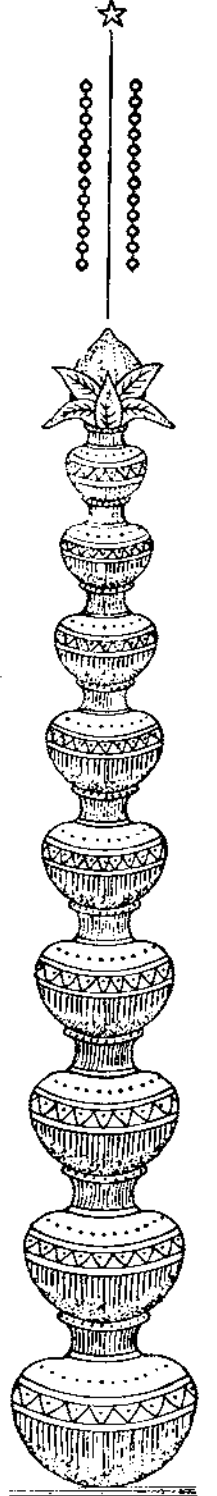




- १२ प्र०—यथाप्रवृत्तिकरणं, नन्दनाभोगरूपकम् भवत्यनाभोगतश्च, कथं कर्मक्षयोऽङ्गिनाम् ?
उ०—यथा मिश्रो घर्षणेन, ब्रावाणेऽङ्गि नदीगताः, स्थुश्चित्राकृतयोजन-शून्या अपि स्वभावतः । तथा तथा प्रवृत्तास्यु-
रप्यनाभोगलक्षणात् लघुस्थिति कर्माणां, जन्तवोऽत्रान्तरेऽप्य च । (६०७-६०९ लोक प्र० ३)
- १३ गंठिति सुदुर्व्येतो कक्वड धन रूढगूढ गण्ठिव्व ।
जीवस्स कम्म जणितो घण रागदोस परिणामो ॥—वि० भाष्य० ११६२
- १४ तित्थंकरातिपूर्वं दट्टण्णेणवाविकज्जेण, सुतसामाहयलामो होजाऽमवूस्स गण्ठिम्मि—वि० भा० १२१६
अमव्यस्यापि कस्यचित् यथाप्रवृत्तिकरणतो ग्रन्थिमासाद्य अर्हतादि विभूति दर्शनता प्रयोजनान्तरतो वा वर्तमानस्य
श्रुत सामयिक लाभोभवति । —आ० सूत्र टी०
- १५ चउदसदसय अभिन्नै, नियमा सम्मं, तु सेसरा मयणा ।—कल्प भाष्य
- १६ अडवीमवो मणुसा जीवा कम्मद्विति पधोदीहो, गंठीयमयत्पाणं, राग दोसाय दो चोरा ।
भग्गो द्विति परिवड्डीगहीतो पुणगंठितो गतो ततियो । सम्मत पुरं एवं जोएज्जा तिण्णिकरणाणि । वि०आ० १२१०-११
- १७ तीव्रधार पर्श कल्पाऽपूर्वाख्य करणेन हि ।
अविष्कृत्य परं वीर्यं, ग्रन्थि भिन्दति केचन ॥ (६१८ लोक प्र० स० ३)
- १८ अपुषेण तिपुज्जं मिदत्तं कुणति कोद्वोवमया ।
अणियहि करणेण तु सो सम्महंस णं लमति ॥ (वि० भा० १२१५)
- १९ आर्हतदर्शन दीपका पृष्ठ ६६
- २० वही, कम्मपयडी, पृ० १६३
- २१ अथानिवृत्तिकरणेनातिस्वच्छाशयात्मना ।
करोत्यन्तरकरणमन्तमुर्हृतं समितम् । ६२७ लोक प्र० स० ३
- २२ जात्यन्धस्य यथा पुसरक्षुलाभि शुभोदये ।
रुदर्शनं तथैवास्य, सम्यक्त्वे सति जायते ॥
आनन्दो जायतेऽप्यन्तं, तात्त्विकोऽस्य महात्मनः ।
सद्व्याध्यपगमे यद्वद्, व्याधितस्य तदौषधात् ॥२॥ —मलयटीकाकम्मचमू
- २३ तं कालं बीयठिहं, तिहाऽणुभागेण देसघाडत्थ ।
सम्मत्तं समिन्नं मिच्छत्तं सव्वघाडो । —कम्मप० उपसामनाक० १६
टीका—चरम समयं मिच्छादिद्वि ते काले उवसमसम्मदिद्वि होइहि ताहे विइयठिइं तिहाणुभागं करेइ तं सम्मं,
सम्ममिच्छत्तं, मिच्छत्तं चेति ।
- २४ सर्वार्थसिद्धि पृ० २ ।
- २५ मोक्षोऽविरोधी वा प्रथम संवेगादि लक्षणः आत्मधर्मः । (अर्ह० दी० ७०) ।
से असमत्ते परत्थ समत्त मोहणीयकम्माणुव अणोवसमक्षयसमुत्थे परमसंवेगाह् लिगे आय परिणामे पराणत्ते,
—मद्रवाहु० पृ० ७१ ।
- २६ निश्चय नयस्तु द्रव्याश्रित्वात् केवलस्य जीवस्यभावमवलंब्य परभावं सर्वमेव प्रतिषेधयति । (तत्त्वचर्चा खनिया
२।७।२) ।
- २७ अप्पा अप्पमि रओ समाइट्ठीहवेइ जीवो, अप्पाणं एव सम्मतं (भावना पाहुड दर्शन पाहुड) । जो चरदिणादि
मिच्छादि अघाणं अघरता अण्णन्नं । सो चरितं गाणं देसण सिदि णिच्छिदो होइ ॥—पं० काय १३८
- २८ धर्मधर्मिणोः समावतोऽभेदेपि व्यपदेशतो भेदमुत्पाद्य व्यवहारमात्रेणैव ज्ञानं दर्शनं चारित्र्यं इत्थमुपदेशः (सम० ७) ।
- २९ देव का स्वरूप—परमेष्ठी परं ज्योतिर्विरागो विमलः कृती ।
सर्वज्ञोऽनादिमध्यान्तः सार्वः शास्तोपलात्यते (प्रतिपाद्यते) ।
गुरु—विषयाशावशातीतो निरारम्भो परिग्रहः ।
ज्ञानध्यान तपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥
धर्म—धारयति रक्षयति आत्मानं दुर्गति पतनात् यो धरत्युत्तमे सुखे ।



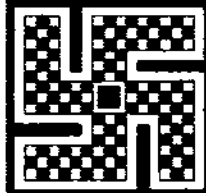
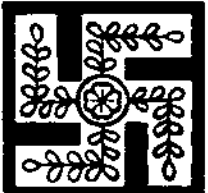
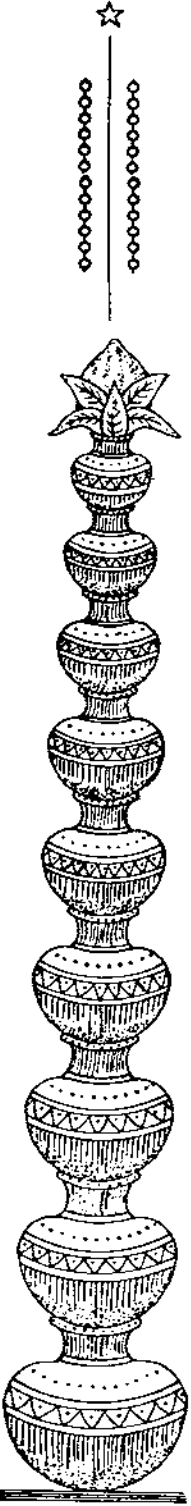
- ३० तहियाणं तु भावाणं सन्भावे उवएसणं । भावेण सद्दहंतस्स सम्मत्तं तं विहाइयं ।—उत्तरा० २८-१५ ।
- ३१ तत्त्वार्थाधिगम, माध्य पृ० १०-१४ ।
- ३२ सत्तण्हं उवसमदो, उवसमसम्मो खया दु खइयो य ।
वित्तियकसायुदयादो असंजदो होइ सम्मो य ॥—गो० जी० २६
- ३३ स्थिरायां दर्शनं नित्यं, प्रत्याहारवदेव च ।
कृत्यमभ्रान्तमनवद्यं सूक्ष्म बोध समन्वितं ॥ (योगदृष्टि सं० ५२ हरिमद्र)
- ३४ जो तसबहाउ विरदो अविरदओ तह्य थावरवहादो ।
एकसमयमिह जीवो, विरदाविरदो जिणैक्कमई ॥—गो० जी० ३१
- ३५ संजलण णोकसायाणुदयादो संजमो हवे जम्हा ।
मलजणण पमादो वि य, तम्हाहु पमत्त विरदो सो ॥—गो० जी० ३२
- ३६ विकहा तथा कसाया इंदियणिइदा तहेव पणयो (प्रणयस्सेह) य ।
चदु चदु पणगेयं होति पमादा हु पणरस ॥—गो० जी० ३४
वा अज्ञान, संशय, मिथ्याज्ञान, मतिभ्रंश, धर्म मा अनादर राग, द्वेषयोगकादुष्प्रणिधान ।
- ३७ संजलणणो कसायाणुदओ मंदो जदा तदा होदि ।
अपमत्त गुणो तेणय, अपमत्तो संजदो होदि ॥—गो० जी० ४५
- ३८ णट्ठासेसपमादो, वयगुणसीलेलि मंडिओ णाणी ।
अणुवसमओ अखवओ ज्ञाणणिलोणोहु अपमत्तो ॥४५॥—गो० जी०
- ३९ मिष्णा समयट्टियेहिदु, जीवेहि ण होदि सब्बदासरिसो ।
करणेहि एकसमयट्टियेहि सरिसोविसरिसो वा ॥—गो० जी० ५२
- ४० एदहि गुणट्ठाणे विसरिससमयट्टियेहि जीवेहि ।
पुव्वमपत्ता जह्मा, होति अपुव्वा हु परिणामा ॥—गो० जी० ५१
- ४१ (अ) गुणसेढीदलरयणाणु समयमुदयादसंख गुणणाए ।
एय गुणापुण कमसो असंखगुण निज्जरा जीवा ॥—कर्मग्रन्थ, देवेन्द्र सूरि, भाग ५।८३
- (आ) उवरित्तिलओ द्वितिउ पोगलधेतूण उदयसमये थोवा ।
पक्खिवत्ति, वित्तियसमये असंखेज्ज गुणा जीव अन्तोमुहुत्तं ॥
- (इ) टीका यशोविजय—अधुनागुणश्रेणिरूपमाह यत्तिस्थिति कण्डक घातयति तन्मध्याददलिक गृहीत्वा उदयसमयादार-
भ्यानस्तर्मुहूर्तं समयं यावत् प्रतिमयमसंख्येय गुणनयाअतिक्षिपति ।—कम्मपयडि—उपशमनद्वार ।
- ४२ एकाहिकाल समये संठाणादीहि जहणिवट्टति ण । णिवट्टन्ति तहावियपरिणामेहिमिहो जेहि ॥
होति अणियट्टिणो ते अंडिसमय जोसिमेक्क परिणामा ।
विमलवर ज्ञाण हुयवह सिहाहिसद्विडकम्मवणा ॥—गो० जी० ५६-५७
- ४३ धुदकोसुमयवत्थं, होदि जहा सुहमराय संजुत्तं । एवं सुहम कसाओ, सुहम-सरागोति णादव्वो ।—गो० जी० ५८
- ४४ कदक्कं फलजुदजलं वा सहारासरवाणियं व णिम्मलयं ।
सयलोवसंतमोहो, उवसंत कसायओहोदि ॥—गो० जी० ५९
- ४५ अण दंसणपुंसगइत्थि वेद छक्कं च पुरिस वेत्तं च ।
दो दो एगंतरित्ते सरिसेसरिसं उवसमेति ॥—वि० मा० १२८५
- ४६ तत्तो य दंसण त्तिगं तओऽणुइण्णं जह्मस्येयं ।
ततोवीयं छक्कं तथोय वेयं सयमुदित्तं ॥—वि० मा० १२८५
- ४७ अणमिच्छमीससम्मं तिआउइग विगल थीणतिगुज्जोवं ।
तिरिनरयथावरदुगं साहारायवअड नपुत्थिए ॥—कर्मग्रन्थ, देवेन्द्र सूरि ५।९९



- ४८ गिस्सेसखीणमोहो, फलिहामलभायणुदयसमचित्तो ।
खीण कसाओ ऋणदि गिग्धो बीय रायेहि ॥—गो०जी० ६२
- ४९ केवलणाणदिवायरकिरण, कलावप्पणा सियएण्णाणो ।
णवकेवलद्दुग्गम सुजणियपरमप्यववएतो ॥—गो०जी० ६३
असहायणाणदंसणसहिओ इदि केवली हु जोगेण ।
जुत्तो ति सजोगजिणो अणाइणिहणारिसे उत्तो ॥—गो०जी० ६४
- ५० इष्टव्य भगवतीशतक ५, तत्त्वार्थ सूत्र १ अध्याय, पृ० ४६
- ५१ सीलेसि संपता, गिरुद्धगिस्सेस आसवो जीवो ।
कम्मरय विष्वमुक्को, गय जोगो केवली होदि ॥—गो०जी० ६५
- ५२ समुद्धात=समित्येकीभावे, उत्=प्राबल्ये, हननं=घातः=एकीभावेन प्राबल्येन घातो=निर्जरा अष्टसामयिका क्रियाविशेषः ।
- ५३ जया जोगे निहंमिस्ता, सेलेसि पडिवज्जइ ।
तया कम्मं खवित्ताणं सिद्धिं गच्छइं नीरओ ॥—दशवै० ४/२४
- ५४ (अ) यस्याऽज्ञानात्मनो ज्ञानं, देह एवात्म भावता ।
उदितेति रूषंवक्षिः, रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥—नि०प्र०५सं०६
(आ) अनित्याऽशुद्धि दुःखा नात्मसुनित्यशुचि सुखात्मख्यातिरविद्या । (पातंजल यो०५)
- ५५ अज्ञानात्प्रसूता यस्याऽज्जगतपर्णं परंपराः ।
यस्मिंतिष्ठन्ति राजन्ते, विशन्ति निलसन्ति च ॥५३॥
- ५६ जप्तिहि ग्रन्थिचिच्छेदस्तमिन् सति हि मुक्ता ।
मृगतृष्णाम्बु बुध्यादि, शान्तिमात्रात्मकत्वसां ॥—२३ प्र० सं० ११
- ५७ मिथः स्वान्ते तयोरन्तं श्लघ्यातपनयोरिव ।
अविद्यायां विलीनायां क्षीणेद्वे एव कल्पन्तेः ॥—२३ सं० ६
- ५८ यम नियमासनःप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाध्यौऽष्टांगानि ॥—२६ साधनापाद पातं० ॥
- ५९ क्लेशकर्मविषाकाशयैरपरामृष्ट पुरुषविशेष ईश्वरः । तत्र निरतिशय सर्वज्ञ बीजम् ॥—२४-२५ साधनापाद पा०
- ६० अज्ञान भूः सप्तपदाः, जभूः सप्तपदेव हि ।
पदान्तराण्य संख्यानि, भवन्त्यान्यथेतयोः ॥—उपशम प्र०२
- ६१ यमाद्यासनजाया सहठाभ्यासात्पुनः पुनः ।
विघ्न बाहुल्य संजात अणिमादि वशादिह ।
अलब्वापि फलं सम्यक् पुनर्भूत्वा महाकुले,
पूर्ववास नैवायं योगाभ्यासं पुनश्चरत् ।
अनेक जन्माभ्यासेन वामदेवेन वै पथा,
सोऽपि मुक्तिं समाप्नोति तद्विष्णोः परमं पदम् । (क्रममुक्ति) योगांक प० ६३
- ६२ अतद् व्यावृत्तिरूपेण साक्षाद्विधिमुखेन वा,
महावाक्यविचारेण सांख्ययोग समाधिना ।
विदित्वा स्वात्मनो रसं संप्रजात समाधिः,
शुक्ल मार्गेण विरजा प्रयान्ति परमं पदम् ॥

□□

१ लेख की टंकित प्रति कांफी अस्पष्ट व अशुद्ध होने के कारण संशोधन का यथाशक्य प्रयत्न करने पर भी यदि कोई अशुद्धि ध्यान में आये तो कृपापूर्वक प्रबुद्ध पाठक सूचित करें ।
—प्रबंध संपादक

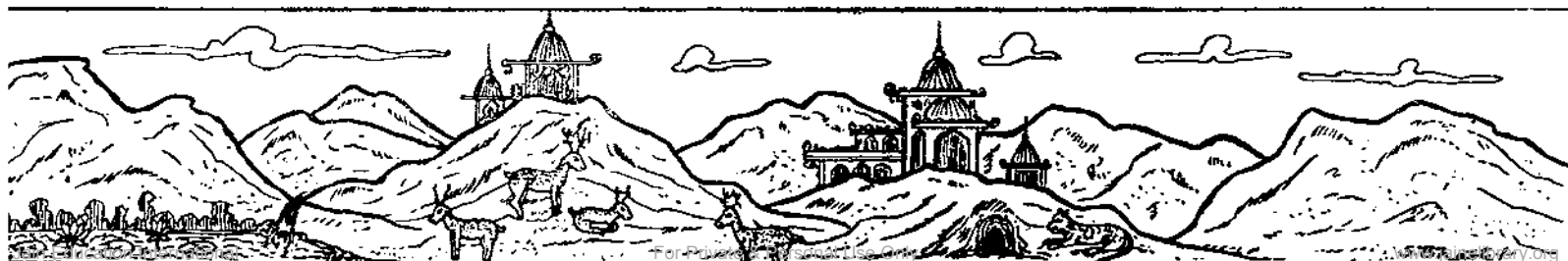


□ श्री सूरजचन्द शाह 'सत्यप्रेमी' (डांगीजी)
[जैनदर्शन के प्रखर विद्वान व चिन्तक वक्ता]

दो अक्षर का 'जिन' शब्द अपने भीतर कितना अर्थ-गांभीर्य समेटे हुए है कि आत्म-विकास की प्रथम सीढ़ी से शिखर तक की सम्पूर्ण यात्रा इसमें परिव्याप्त है। सरस और भाव-प्रधान विवेचन किया है—मनीषी श्री डांगीजी ने।

जिन-शासन का हार्द

जीव का शिव, नर का नारायण, आत्मा का परमात्मा और ईश्वर का परमेश्वर बनाना ही जिन-शासन का हार्द है। 'जिन' का 'जिन' कैसे होता है? इसे समझें—'जिन' शब्द पर ज्ञान और दर्शन की दो मात्राएँ चढ़ जायें तो वह 'जैन' है और चारित्र्य की 'इ' शक्ति प्राप्त हो जाय तो 'जिन'। पहले मिथ्यात्व का प्रत्याख्यान होता है अर्थात् उल्टी समझ का त्याग किया जाता है। फिर जितना-जितना संयम या चारित्र्य का परिवर्द्धन होता है उतना-उतना 'जिन' कहलाता है अर्थात् जितना-जितना 'अव्रत' का त्याग होता है उतना-उतना 'जिन' होता है। प्रमाद का त्याग होते ही वह उत्कृष्ट 'जिन' है। कषाय का त्याग होते ही उत्कृष्टतर 'जिन' है और अशुभ योग का त्याग करते ही उत्कृष्टतम 'जिन'। इस प्रकार अपने "सिद्धि गड़ नामधेय" सिद्ध स्थिति नाम वाले ठिकाने पर पहुँचते ही वह सम्पूर्ण 'जिन' कहलाता है। जितना-जितना जीना उतना-उतना 'जिन' होता गया। जब सम्पूर्ण 'जिन' हो गया उसे सिद्ध कहते हैं। उसी के शासन को सिद्धानुशासन यानी जिन-शासन कहते हैं। सम्पूर्ण लोक पर छत्र के समान वे विराजमान हैं इसी कारण लोकस्थिति है। उस शासन को चलाने के लिये क्षत्रियोत्तम तीर्थंकर तीर्थ की स्थापना करते हैं। उन्हीं के अनुशासन में गणधर भगवान 'गण' तंत्र का निर्माण करते हैं। उसी के अनुसार आचार्य देव 'गच्छों' का संचालन करते हैं। स्वयं जिन-शासन में चलते हैं और हम सबको चलाते हैं। 'सम्प्रदाय' समत्व प्रदान करने के लिये स्थापित होते हैं। ममता को दूर करते हैं इसीलिये 'मम् + गल' = मज्जल कहलाते हैं। जो किसी ममता में रहते हैं वे सम्प्रदायों की मर्यादाएँ भंग करते हैं। पतित होते हैं और भ्रष्ट होकर जन मानस को गन्दा करते हैं। जिस प्रकार जाति-सम्पन्नता 'पुण्य' का लक्षण है और जाति-मद 'पाप' का लक्षण है उसी प्रकार सम्प्रदाय-सम्पन्नता 'तप' का लक्षण है और तप का मद 'पाप' का लक्षण है। कुल-ऐश्वर्य और रूप-सम्पन्नता 'पुण्य' का लक्षण है और उनका मद 'पाप' का लक्षण है। 'कु-भाव' को पाप कहते हैं और 'सु-भाव' को पुण्य कहते हैं। इसी कारण तीर्थंकर प्रभु का उत्तम प्रभाव होता है। 'प्रभाव' को जीव का स्वभाव और अजीव का 'परभाव' समझना 'मिथ्यात्व' है। वह अलग भाव है जो तीर्थंकर के प्रशस्त भाव का तत्त्व है। जो 'सिद्ध-जिन' के स्वभाव की ओर बढ़ाता है। 'मम-भाव' को ही आस्रव तत्त्व कहा है। 'सम-भाव' को ही 'संवर तत्त्व' कहा है जो आचार्य देव का भाव है। 'शुद्ध भाव' को ही 'निर्जरा तत्त्व' कहा है जो उपाध्याय का 'वाङ्मय विग्रह' है। मोक्ष सिद्धि का भाव परम भाव है जो संसार के बंधनरूप विभाव को दूर कर सकता है। यह 'सर्व साधु' का उत्कृष्टतम भाव है। उसी की आराधना करना साधु मार्ग है जो सिद्धानुशासन जिन-शासन का 'हार्द' कहलाता है। इससे इधर-उधर हो जाना 'भटकना' है। यही 'मिथ्यात्व-मोह' है। मध्य में 'लटकना' मिथ्य मोह है और सम्यक्त्व में 'अटक' जाना और चारित्र्य की आवश्यकता नहीं समझना 'सम्यक्त्व मोह' है। सत्त्व का अहं है जो 'दर्शन-मोह' कहलाता है। अनन्तानुबंधी कषाय को नष्ट करना ही तो यह दर्शन-मोह 'खटकना' चाहिए। तब सम्यग्दर्शन का प्रकाश होता है। यही 'सुदर्शन चक्र' है। यही 'तीसरा नेत्र' है, जिसके बिना 'ब्रह्म-साक्षात्कार' या परम शांति का दर्शन ही असम्भव है तो



वहाँ तक पहुँचना कैसे हो ? 'हिया-फूटा' व्यवहार भी ठीक-ठीक नहीं निभा सकता तो निश्चय परमार्थ रूप जिन-शासन में कैसे विकास कर सकता है ।

आत्म साक्षात्कार या सम्यग्दर्शन होने के बाद ही हम 'चटक-मटक' को छोड़ते हैं । बाहरी चटक में मटकते रहते हैं । अकड़ की पकड़ में जकड़े हैं । 'अव्रत' का प्रत्याख्यान प्रारम्भ किया कि चटक-मटक छूटी और जब वैषयिक द्वन्द्वों से छटक जाते हैं तब 'प्रमाद' को छोड़कर अशुभ योग की प्रवृत्ति से दूर रहते हैं । शुभ योग भी निवृत्त होता है तब, निर्वाण, मुक्ति, सिद्धि और सम्पूर्ण जिन-शासन का लक्ष्य सम्पन्न होता है । पक्षी का पक्ष-पात हो गया कि उड़ना 'बंद' उसी प्रकार संन्यासी, त्यागी, साधु-यति और सत्पुरुष-सती व्यवहार या निश्चय दोनों में से किसी एक पक्ष को छोड़ देता है तो पतित हो जाता है और अपने स्थान पर नहीं पहुँच सकता । अगर आपको जिन-शासन का 'हार्द' समझना हो तो इन बारह पंक्तियों का मननपूर्वक अनुप्रेक्षण करें, द्वादशांगरूप जिनवाणी का रहस्य हृदयंगम हो जायगा । यह 'तत्त्व-तात्पर्यामृत' महाग्रन्थ का एक छोटा सा 'अंश' है—

पक्षपात ज्यों ही हुआ, रुकी द्वि-जन्मा दौड़ ।
उभय पक्ष पक्षी उड़े, पहुँचे अपनी ठौड़ ॥
पहुँचे अपनी ठौड़ तपश्चारित्र्य से ।
ज्ञान सुदर्शन नयन परम पावित्र्य से ॥
'अटकन' 'भटकन-लटकन' छोड़ सिधायगा ।
'सूर्य चन्द्र' 'खटकन' से प्रभुपद पायगा ॥
'चटक-मटक' को छोड़कर 'झटक' मोह अज्ञान ।
प्राप्त वीर्य सुख भोग सब निर्मल निश्छल ज्ञान ॥
निर्मल निश्चल ध्यान वेदना दूर हो ।
'शम' जीवन सौन्दर्य मधुर भरपूर हो ॥
'सूर्य-चन्द्र' तन का भी मटका पटका जा ।
'मटक' स्वयंभू स्वरस द्वन्द्व से छटक जा ॥

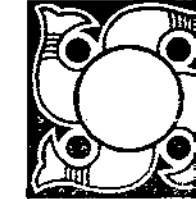
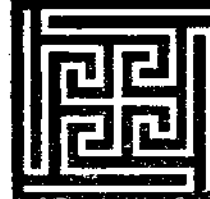
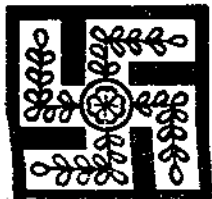
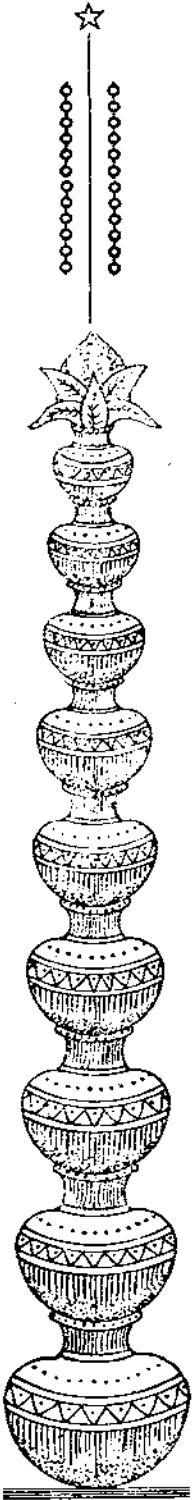
तन का मटका धर्मध्यान, शुक्लध्यान द्वारा पटककर द्वन्द्व से छटक जाना और निरन्तर स्वयंभू स्वरस का भोगोपभोग करते रहना ही 'जिन-शासन' का 'हार्द' है । भोगोपभोग की अन्तराय दूर करना ही ध्येय है । मिथ्यात्व, अव्रत, प्रमाद, कषाय और योग को भी दूर करना है पर भोगोपभोग की उपलब्धि ही सिद्धि है ।

'सल्लं कामा विष कामा'

काम भोग शल्य रूप विष है, परन्तु स्वयंभू स्वरस का भोगोपभोग ध्येय है । पुण्य का फल 'साता', पाप का फल 'असाता' । आस्रव का फल 'दुःख', 'संवर' का फल 'सुख' । निर्जरा का फल 'शांति' और 'मोक्ष' का फल सिद्धि है । सभी तत्त्वों का भिन्न-भिन्न फल है । जीव तत्त्व का दर्शन कर अजीव तत्व का ज्ञान करके सभी तत्त्वों के उत्तम फल को यथार्थ विधि से प्राप्त करना ही जिन-शासन का 'हार्द' है । अर्हत के पुण्य तत्त्व का उपकार, सिद्ध के जीव तत्व का आधार, आचार्य के संवर तत्व का आचार, उपाध्याय के निर्जरा तत्व का विचार, सर्वसाधु के मोक्ष तत्व का संस्कार ही जीवन का उद्धार है । जिन-शासन का सार है । सम्यग्दृष्टि के व्यवहार से अजीव तत्व को छोड़ो, सम्यग्ज्ञानी के सुधार से पाप तत्त्व का नाश करो । सम्यक्चारित्र्य के विहार से आस्रव रोको और सम्यक्तप के स्वीकार से बंध तोड़ो । तमी—

ऐसो पंचनमुक्कारो सब्ब पावप्पणासणो ।
मंगलाणं च सब्बेसि, पढमं इवइ मंगलम् ॥

क्रमशः आनन्द, मंगल, सुख-चैन और शांति होगी ।



□ देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न
[प्रसिद्ध विद्वान, अनुसंधाता एवं पचासों ग्रन्थों
के लेखक]

जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि एवं उपाधि से मुक्त होने की जिज्ञासा जब जगी तो दर्शन की यात्रा प्रारम्भ हुई और 'मोक्ष' पर उसे अन्तिम मंजिल मिली।

'मोक्ष' प्राप्ति के विषय में भारतीय चिन्तक कितनी गहराई तक पहुँचे और कितनी ऊँचाई को स्पर्श कर पाये, इसका प्रमाण-पुरस्सर विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

भारतीय चिन्तन में—

मोक्ष और मोक्षमार्ग

□ दर्शनशास्त्र के जगत में तीन दर्शन मुख्य माने गये हैं—यूनानी दर्शन, पश्चिमी दर्शन और भारतीय दर्शन। यूनानी दर्शन का महान् चिन्तक अरिस्टोटल (अरस्तु) माना जाता है। उसका अभिमत है कि दर्शन का जन्म आश्चर्य से हुआ है।¹ इसी बात को प्लेटो ने भी स्वीकार किया है। पश्चिम के प्रमुख दार्शनिक डेकार्ट, काण्ट, हेगल प्रभृति ने दर्शनशास्त्र का उद्भावक तत्त्व संशय माना है।² भारतीय दर्शन का जन्म जिज्ञासा से हुआ है³ और जिज्ञासा का मूल दुःख में रहा हुआ है। जन्म, जरा, मरण, आधि-व्याधि और उपाधि से मुक्त होकर समाधि प्राप्त करने के लिए जिज्ञासाएँ जागृत हुईं। अन्य दर्शनों की भाँति भारतीय दर्शन का ध्येय ज्ञान प्राप्त करना मात्र नहीं है अपितु उसका लक्ष्य दुःखों को दूर कर परम व चरम सुख को प्राप्त करना है। भारतीय दर्शन का मूल्य इसलिए है कि वह केवल तत्त्व के गम्भीर रहस्यों का ज्ञान ही नहीं बढ़ाता अपितु परम शुभ मोक्ष को प्राप्त करने में भी सहायक है। भारतीय दर्शन केवल विचार प्रणाली नहीं किन्तु जीवन प्रणाली भी है। वह जीवन और जगत के प्रति एक विशिष्ट दृष्टिकोण प्रदान करता है।

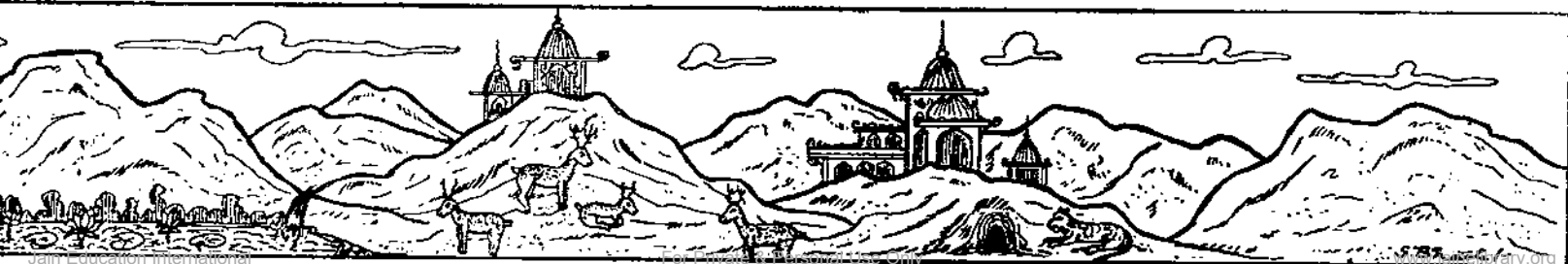
मोक्ष भारतीय दर्शन का केन्द्र-बिन्दु है। श्री अरविन्द मोक्ष को भारतीय विचारधारा का एक महान् शब्द मानते हैं। भारतीय दर्शन की यदि कोई महत्त्वपूर्ण विशेषता है जो उसे पश्चात्य दर्शन से पृथक् करती है तो वह मोक्ष का चिन्तन है। पुरुषार्थ चतुष्टय में मोक्ष को प्रमुख स्थान दिया गया है। धर्म साधन है तो मोक्ष साध्य है। मोक्ष को केन्द्र-बिन्दु मानकर ही भारतीय दर्शन⁴ फलते और फूलते रहे हैं।

मैं यहाँ पर मोक्ष और मोक्ष मार्ग पर तुलनात्मक दृष्टि से चिन्तन प्रस्तुत कर रहा हूँ।

भारतीय आत्मवादी परम्परा को वैदिक, जैन, बौद्ध और आजीविक इन चार भागों में विभक्त कर सकते हैं। वर्तमान में आजीविक दर्शन का कोई भी स्वतन्त्र ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, अतः आजीविक द्वारा प्रतिपादित मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन न कर शेष तीन की मोक्ष सम्बन्धी विचारधारा पर चिन्तन करेंगे।

न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा, ये छह दर्शन वैदिक परम्परा में आते हैं। पूर्वमीमांसा मूल रूप से कर्म मीमांसा है, भले ही वह वर्तमान में उपनिषद् या मोक्ष पर चिन्तन करती हो, पर प्रारम्भ में उसका चिन्तन मोक्ष सम्बन्धी नहीं था।⁵ किन्तु अवशेष पाँच दर्शनों ने मोक्ष पर चिन्तन किया है।

यह स्मरण रखना चाहिए कि इन वैदिक दर्शनों में आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में जैसा विचार भेद है वैसा मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में भी चिन्तन-भेद है। यहाँ तक कि एक-दूसरे दर्शन की कल्पना पृथक्-पृथक् ही नहीं अपितु एक-दूसरे से बिलकुल विपरीत भी है। जिन दर्शनों ने उपनिषद् ब्रह्मसूत्र आदि को अपना मूल आधार माना है उनकी



कल्पना में भी एकरूपता नहीं है। कोई परम्परा जीवात्मा और परमात्मा में भेद मानती है, कोई सर्वथा अभेद मानती है और कोई भेदाभेद मानती है। कोई परम्परा आत्मा को व्यापक मानती है^६ तो कोई अणु मानती है,^७ कोई परम्परा आत्मा को अनेक मानती है तो कोई एक मानती है, पर यह एक सत्य-तथ्य है कि वैदिक परम्परा के सभी दार्शनिकों ने किसी न किसी रूप में आत्मा को कूटस्थ नित्य माना है।

न्याय-वैशेषिक दर्शन

वैशेषिकदर्शन के प्रणेता कणाद और न्यायदर्शन के प्रणेता अक्षपाद ये दोनों आत्मा के सम्बन्ध में एकमत हैं। दोनों ने आत्मा को कूटस्थ नित्य माना है। इनकी दृष्टि में आत्मा एक नहीं अनेक हैं, जितने शरीर हैं उतनी आत्माएँ हैं। यदि एक ही आत्मा होती तो हम विराट विश्व में जो विभिन्नता देखते हैं वह नहीं हो सकती थी।

न्याय और वैशेषिक दर्शन ने आत्मा को चेतन कहा है। उनके अभिमतानुसार चेतन आत्मा का स्वाभाविक गुण नहीं अपितु आगन्तुक (आकस्मिक) गुण है। जब तक शरीर, इन्द्रिय और सत्त्वात्मक मन आदि का सम्बन्ध रहता है तब तक उनके द्वारा उत्पन्न ज्ञान आत्मा में होता है। ऐसे ज्ञान को धारण करने की शक्ति चेतन में है, पर वे ऐसा कोई स्वाभाविक गुण चेतन में नहीं मानते हैं जो शरीर, इन्द्रिय, मन आदि का सम्बन्ध न होने पर भी ज्ञान गुण रूप में या विषय ग्रहण रूप में आत्मा में रहता हो। न्याय-वैशेषिक दर्शन की प्रस्तुत कल्पना अन्य वैदिक दर्शनों के साथ मेल नहीं खाती है। सांख्य दर्शन, योग दर्शन एवं आचार्य शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ प्रभृति जितनी भी वेद और उपनिषद् दर्शन की धारारें हैं वे इस बात को स्वीकार नहीं करतीं।^८ न्याय-वैशेषिक की दृष्टि से मोक्ष की अवस्था में आत्मा सभी प्रकार के अनुभवों को त्यागकर केवल सत्ता में रहता है। वह उस समय न शुद्ध आनन्द का अनुभव कर सकता है और न शुद्ध चैतन्य का ही। आनन्द और चेतना ये दोनों ही आत्मा के आकस्मिक गुण हैं और मोक्ष अवस्था में आत्मा सभी आकस्मिक गुणों का परित्याग कर देता है, अतः निर्गुण होने से आनन्द और चैतन्य भी मोक्ष की अवस्था में उसके साथ नहीं रहते।

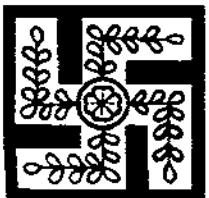
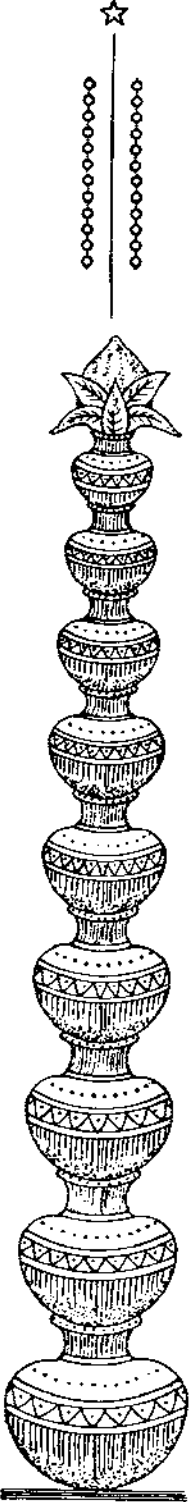
न्याय-वैशेषिक दर्शन ने मोक्ष का स्वरूप बताते हुए कहा—यह दुःखों को आत्यन्तिक निवृत्ति है।^९ दुःखों का ऐसा नाश है कि भविष्य में पुनः उनके होने की सम्भावना नष्ट हो जाती है।

न्यायसूत्र पर भाष्य^{१०} करते हुए वात्स्यायन लिखते हैं कि जब तत्त्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान नष्ट हो जाता है तब उसके परिणामस्वरूप सभी दोष भी दूर हो जाते हैं। दोष नष्ट होने से कर्म करने की प्रवृत्ति भी समाप्त हो जाती है। कर्म प्रवृत्ति समाप्त हो जाने से जन्म-मरण के चक्र रुक जाते हैं और दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है।^{११} न्यायवातिककार ने उसे सभी दुःखों का आत्यन्तिक अभाव कहा है।^{१२} मोक्ष में बुद्धि, सुख, दुःख इच्छा, द्वेष, संकल्प, पुण्य, पाप तथा पूर्व अनुभवों के संस्कार इन नौ गुणों का आत्यन्तिक उच्छेद हो जाता है।^{१३} उनकी दृष्टि से मोक्ष इसलिए परम पुरुषार्थ है कि उसमें किसी भी प्रकार का दुःख और दुःख के कारण का अस्तित्व नहीं है। वे मोक्ष की साधना इसलिए नहीं करते कि उसके प्राप्त होने पर कोई चैतन्य के सुख जैसा सहज और शाश्वत गुणों का अनुभव होगा।

स्याद्वाद मञ्जरी में मल्लिषेण ने लिखा है—न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष की अपेक्षा तो सांसारिक जीवन अधिक श्रेयस्कर है, चूँकि सांसारिक जीवन में तो कभी-कभी सुख मिलता भी है, पर न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष में तो सुख का पूर्ण अभाव है।^{१४}

कर्मयोगी श्रीकृष्ण का एक भक्त तो न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष की अपेक्षा वृन्दावन में सियार बनकर रहना अधिक पसंद करता है।^{१५} श्री हर्ष भी उपहास करते हुए उनके मोक्ष को पाषाण के समान अचेतन और आनन्दरहित बताते हैं।^{१६}

न्याय वैशेषिक व्यावहारिक अनुभव के आधार पर समाधान करते हैं कि सच्चा साधक पुरुषार्थी, मात्र अनिष्ट के परिहार के लिए ही प्रयत्न करता है। ऐसा अनिष्ट परिहार करना ही उसका सुख है। मोक्ष स्थिति में



भावात्मक चैतन्य या आनन्द मानने के लिए कोई आधार नहीं है। उनके मन्तव्यानुसार मोक्ष नित्य या अनित्य ज्ञान, सुख रहित केवल द्रव्य रूप से आत्म तत्त्व की अवस्थिति है।

सांख्य और योगदर्शन

सांख्य और योग ये दोनों पृथक्-पृथक् दर्शन हैं, पर दोनों में अनेक बातों में समानता होने से यह कहा जा सकता है कि एक ही दार्शनिक सिद्धांत के ये दो पहलू हैं। एक सैद्धान्तिक है, तो दूसरा व्यावहारिक है। सांख्य तत्त्व मीमांसा की समस्याओं पर चिन्तन करता है तो योग कैवल्य को प्राप्त करने के लिए विभिन्न साधनों पर बल देता है।

सांख्य पुरुष और प्रकृति के द्वैत का प्रतिपादन करता है। पुरुष और प्रकृति ये दोनों एक-दूसरे से पूर्ण रूप से भिन्न हैं। प्रकृति सत्व, रज और तम इन तीनों की साम्यावस्था का नाम है। प्रकृति जब पुरुष के सान्निध्य में आती है तो उस साम्यावस्था में विकार उत्पन्न होते हैं जिसे गुण-क्षोभ कहा जाता है। संसार के सभी जड़ पदार्थ प्रकृति से ही उत्पन्न होते हैं पर प्रकृति स्वयं किसी से उत्पन्न नहीं होती। ठीक इसके विपरीत पुरुष न किसी पदार्थ को उत्पन्न करता है और न वह स्वयं किसी अन्य पदार्थ से उत्पन्न है। पुरुष अपरिणामी, अखण्ड, चेतना या चैतन्य मात्र है। बंध और मोक्ष ये दोनों वस्तुतः प्रकृति की अवस्था हैं।^{१७} इन अवस्थाओं का पुरुष में आरोप या उपचार किया जाता है। जैसे अनन्ताकाश में उड़ान भरता हुआ पक्षी का प्रतिबिम्ब निर्मल जल में गिरता है, जल में वह दिखाई देता है, वह केवल प्रतिबिम्ब है, वैसे ही प्रकृति के बंध और मोक्ष पुरुष में प्रतिबिम्बित होते हैं।

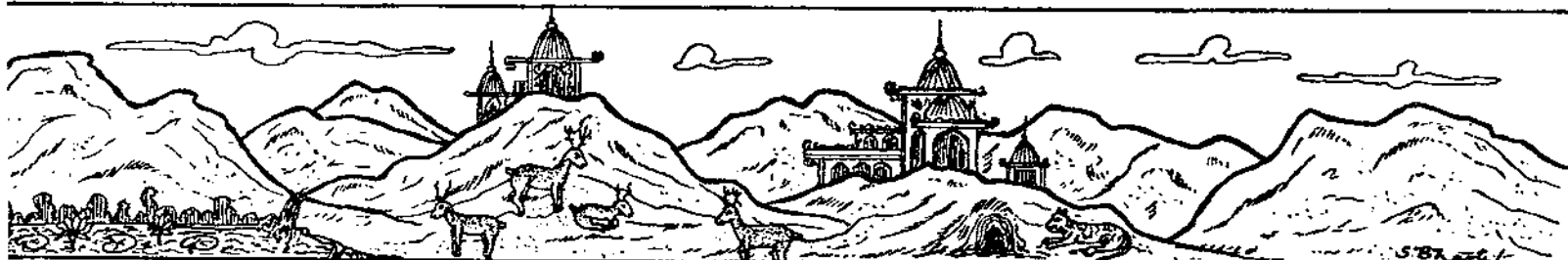
सांख्य और योग पुरुष को एक नहीं किन्तु अनेक मानता है, यह जो अनेकता है वह संख्यात्मक है, गुणात्मक नहीं है। एकात्मवाद के विरुद्ध उसने यह आपत्ति उठाई है कि यदि पुरुष एक ही है तो एक पुरुष के मरण के साथ सभी का मरण होना चाहिए। इसी प्रकार एक के बंध और मोक्ष के साथ सभी का बंध और मोक्ष होना चाहिए। इसलिए पुरुष एक नहीं अनेक है। न्याय-वैशेषिकों के समान वे चेतना को आत्मा का आगन्तुक धर्म नहीं मानते हैं। चेतना पुरुष का सार है। पुरुष चरम जाता है। स्वरूप की दृष्टि से पुरुष, वैष्णव वेदान्तियों की आत्मा, जैनियों के जीव और लाई-वनिट्स के चिद् अणु के सदृश है।

सांख्य दृष्टि से बंधन का कारण अविद्या या अज्ञान है। आत्मा के वास्तविक स्वरूप को न जानना ही अज्ञान है। पुरुष अपने स्वरूप को विस्मृत होकर स्वयं को प्रकृति या उसकी विकृति समझने लगता है, यही सबसे बड़ा अज्ञान है। जब पुरुष और प्रकृति के बीच विवेक जागृत होता है—'मैं पुरुष हूँ, प्रकृति नहीं,' तब उसका अज्ञान नष्ट हो जाता है और वह मुक्त हो जाता है।

कपिल मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में विशेष चर्चा नहीं करते। वे तथागत बुद्ध के समान सांसारिक दुःखों की उत्पत्ति और उसके निवारण का उपाय बतलाते हैं किन्तु कपिल के पश्चात् उनके शिष्यों ने मोक्ष के स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन किया है। बन्धन का मूल कारण यह है—पुरुष स्वयं के स्वरूप को विस्मृत हो गया। प्रकृति या उसके विकारों के साथ उसने तादात्म्य स्थापित कर लिया है, यही बंधन है। जब सम्यग्ज्ञान से उसका वह दोषपूर्ण तादात्म्य का भ्रम नष्ट हो जाता है तब पुरुष प्रकृति के पंजे से मुक्त होकर अपने स्वरूप में स्थित हो जाता है, यही मोक्ष है। सांख्यदर्शन में मोक्ष की स्थिति को कैवल्य भी कहा है।

सांख्य दृष्टि से पुरुष नित्य मुक्त है। विवेक ज्ञान के उदय होने से पहले भी वह मुक्त था, विवेक ज्ञान उदय होने पर उसे यह अनुभव होता है कि वह तो कभी भी बंधन में नहीं पड़ा था, वह तो हमेशा मुक्त ही था, पर उसे प्रस्तुत तथ्य का परिज्ञान न होने से वह अपने स्वरूप को भूलकर स्वयं को प्रकृति या उसका विहार समझ रहा था। कैवल्य और कुछ भी नहीं उसके वास्तविक स्वरूप का ज्ञान है।

सांख्य-योगसम्मत मुक्ति स्वरूप में एवं न्याय-वैशेषिकसम्मत मुक्ति स्वरूप में यह अन्तर है कि न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्ति दशा में आत्मा का अपना द्रव्य रूप होने पर भी वह चेतनामय नहीं है। मुक्ति दशा में चैतन्य के स्फूर्ण या अभिव्यक्ति जैसे व्यवहार को अवकाश नहीं है। मुक्ति में बुद्धि, सुख आदि का आत्यन्तिक उच्छेद होकर आत्मा केवल कूटस्थ नित्य द्रव्य रूप से अस्तित्व धारण करता है। सांख्य-योग की दृष्टि से आत्मा सर्वथा निर्गुण है, स्वतः प्रकाशमान चेतना रूप है और सहज भाव से अस्तित्व धारण करने वाला है। न्याय-वैशेषिक के अनुसार मुक्ति



दशा में चैतन्य और ज्ञान का अभाव है तो सांख्य-योग की दृष्टि से उसका सद्भाव है। यह दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है किन्तु जब हम दोनों पक्षों की पारिभाषिक प्रक्रिया की ओर ध्यान केन्द्रित करते हैं तो तात्त्विक दृष्टि से दोनों पक्षों की मान्यता में विशेष कोई महत्त्व का अन्तर नहीं है। न्याय-वैशेषिक दर्शन ने शरीर, इन्द्रिय आदि सम्बन्धों की दृष्टि से बुद्धि, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष आदि गुणों का मोक्ष में आत्यन्तिक उच्छेद माना है और संसार दशा में वे उन गुणों का अस्तित्व आत्मा में स्वीकारते हैं। सांख्य और योग दर्शन सुख-दुःख, ज्ञान-अज्ञान, इच्छा-द्वेष आदि भाव पुरुष में न मानकर अन्तःकरण के परिणाम रूप मानते हैं और उसकी छाया पुरुष में गिरती है, वही आरोपित संसार है, एतदर्थ वे मुक्ति की अवस्था में जब सात्विक बुद्धि का उसके भावों के साथ प्रकृति का आत्यन्तिक विलय होता है तब पुरुष के व्यवहार में सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष प्रभृति भावों की और कर्तृत्व की छाया का भी आत्यन्तिक अभाव हो जाता है। सांख्य-योग आत्म-द्रव्य में गुणों का उपादान कारणत्व स्वीकार कर उस पर चिन्तन करता है। वह द्रव्य और गुण के भेद को वास्तविक मानता है। जबकि न्याय-वैशेषिक पुरुषों में ऐसा कुछ भी न मानकर प्रकृति के प्रपंच द्वारा ही ये सभी विचार-व्यवहार होते हैं, ऐसे भेद को वह आरोपित गिनता है।

चौबीस तत्त्ववादी प्राचीन सांख्य परम्परा की बंध मोक्ष प्रक्रिया पच्चीस तत्त्ववादी सांख्य परम्परा से पृथक् है। वह मोक्ष अवस्था में बुद्धि सत्त्व और उसमें समुत्पन्न होने वाले सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष, ज्ञान-अज्ञान प्रभृति भावों का मूल कारण प्रधान में आत्यन्तिक विलय मानकर मुक्त स्वरूप का वर्णन करता है किन्तु वह यों नहीं कहता कि मुक्त आत्मा यानि चेतना, चूँकि प्रस्तुत वाद में प्रकृति से मिला ऐसी चेतना को अवकाश नहीं है। चौबीस तत्त्ववादी सांख्य और न्याय-वैशेषिक की विचारधारा में बहुत अधिक समानता है। प्रथम पक्ष की दृष्टि से मोक्ष अवस्था में प्रकृति के कार्य प्रपंच का अत्यन्त विलय होता है और द्वितीय पक्ष मुक्ति दशा में आत्मा के गुणप्रपंच का अत्यन्त अभाव स्वीकार करता है। प्रथम ने जिसे कार्यप्रपंच कहा है उसे ही दूसरे ने गुणप्रपंच कहा। दोनों के आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में यत्किंचित् अन्तर है, वह केवल परिणामीनित्यत्व और कूटस्थनित्यत्व के एकात्मिक परिभाषा भेद के कारण से है।

ज्ञान, सुख-दुःख, इच्छा, द्वेष प्रभृति गुणों का उत्पाद और विनाश वस्तुतः आत्मा में होता है। यह मानने पर भी न्याय-वैशेषिक दर्शन आत्मा को कुछ अवस्थान्तर के अतिरिक्त अर्थ में कूटस्थनित्य वर्णित करता है। यह कुछ विचित्र-सा लगता है पर उसका रहस्य उसके भेदवाद में सन्निहित है।

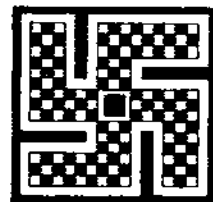
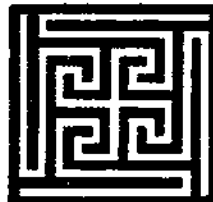
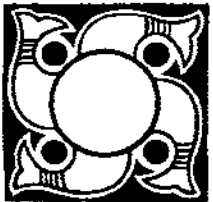
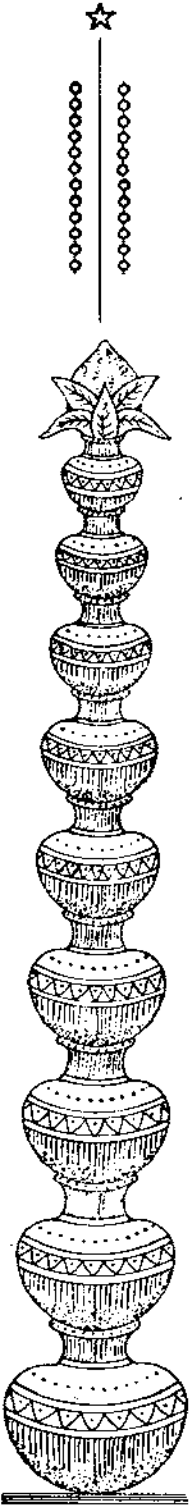
न्याय-वैशेषिकदर्शन ने गुण-गुणी में अत्यन्त भेद माना है। जब गुण उत्पन्न होते हैं या नष्ट होते हैं तब उसके उत्पाद और विनाश का स्पर्श उसके आधारभूत गुणी द्रव्य को नहीं होता। जो यह अवस्थाभेद है वह गुणी का नहीं, अपितु गुणों का है। इसी प्रकार वे आत्मा को कर्त्ता, भोक्ता, बद्ध या मुक्त वास्तविक रूप में स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त अवस्था भेद की आपत्ति युक्ति, प्रयुक्ति से पृथक् कर कूटस्थनित्यत्व की मान्यता से चिपके रहते हैं। सांख्य-योग दर्शन न्याय-वैशेषिक के समान गुण-गुणी का भेद नहीं मानता है। न्याय-वैशेषिक के समान गुणों का उत्पाद-विनाश मानकर पुरुष का कूटस्थनित्यत्व का रक्षण नहीं किया जा सकता, अतः उसने निर्गुण पुरुष मानने की पृथक् राह अपनाई।^{१८}

उन्होंने कर्तृत्व, भोक्तृत्व, बंध, मोक्ष आदि अपस्थाएँ पुरुष में उपचरित मानी है और कूटस्थ नित्यत्व पूर्णरूप से घटित किया है।

केवलाद्वैती शंकर या अणुजीववादी रामानुज तथा वल्लभ ये सभी मुक्ति दशा में चैतन्य और आनन्द का पूर्ण प्रकाश या आविर्भाव अपनी-अपनी दृष्टि से स्वीकार कर कूटस्थनित्यता घटित करते हैं। एक दृष्टि से देखें तो औपनिषद् दर्शन की कल्पना न्याय-वैशेषिक दर्शन के साथ उतनी मेल नहीं खाती जितनी सांख्य-योग के साथ मेल खाती है। सभी औपनिषद् दर्शन मुक्ति अवस्था में सांख्य-योग के समान शुद्ध चेतना रूप में ब्रह्म तत्त्व या जीव तत्त्व का अवस्थान स्वीकार करते हैं।^{१९}

बौद्धदर्शन

अन्य दर्शनों में जिसे मोक्ष कहा है उसे बौद्धदर्शन ने निर्वाण की संज्ञा प्रदान की है। बुद्ध के अभिमतानुसार जीवन का चरम लक्ष्य दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति है, अथवा निर्वाण है। क्योंकि समस्त दृश्य सत्ता अनित्य है, क्षणमंगुर



है, एवं अनात्म है, एकमात्र निर्वाण ही साध्य है।^{२०} निर्वाण बौद्धदर्शन का महत्त्वपूर्ण शब्द है। प्रो० मूर्ति ने बौद्ध दर्शन के इतिहास को निर्वाण का इतिहास कहा है।^{२१} प्रोफेसर यदुनाथ सिन्हा निर्वाण को बौद्ध शीलाचार का मूलाधार मानते हैं।^{२२}

अभिधम्म महाविभाषा शास्त्र में निर्वाण शब्द की अनेक व्युत्पत्तियाँ बताई हैं। जैसे वाण का अर्थ पुनर्जन्म का रास्ता और निर् का अर्थ छोड़ना है अतः निर्वाण का अर्थ हुआ स्थायी रूप से पुनर्जन्म के सभी रास्तों को छोड़ देना।

वाण का दूसरा अर्थ दुर्गन्ध और निर् का अर्थ 'नहीं' है अतः निर्वाण एक ऐसी स्थिति है जो दुःख देने वाले कर्मों की दुर्गन्ध से पूर्णतया मुक्त है।

वाण का तीसरा अर्थ घना जंगल है और निर् का अर्थ है स्थायी रूप से छुटकारा पाना।

वाण का चतुर्थ अर्थ बुनना है और निर् का अर्थ नहीं है अतः निर्वाण ऐसी स्थिति है जो सभी प्रकार के दुःख देने वाले कर्मों रूपी धागों से जो जन्म-मरण का धागा बुनते हैं उनसे पूर्ण मुक्ति है।^{२३}

पाली टेक्स्ट सोसायटी द्वारा प्रकाशित पाली-अंग्रेजी शब्द कोष में 'निव्वान' शब्द का अर्थ बुझ जाना किया है। अमर कोष में भी यही अर्थ प्राप्त होता है।

रीज डेविड्स थॉमस, आनन्द कुमार—स्वामी, पी० लक्ष्मीनरसु, दाहल मेन, डा० राधाकृष्णन्, प्रो० जे० एन० सिन्हा, डा० सी० डी० शर्मा प्रभृति अनेक विज्ञों का यह पूर्ण निश्चित मत है कि निर्वाण व्यक्तित्व का उच्छेद नहीं है अपितु यह नैतिक पूर्णत्व की ऐसी स्थिति है जो आनन्द से परिपूर्ण है।

डा० राधाकृष्णन लिखते हैं—निर्वाण न तो शून्य रूप है और न ही ऐसा जीवन है जिसका विचार मन में आ सके, किन्तु यह अनन्त यथार्थ सत्ता के साथ ऐक्यभाव स्थापित कर लेने का नाम है, जिसे बुद्ध प्रत्यक्षरूप से स्वीकार नहीं करते हैं।^{२४}

बुद्ध की दृष्टि से 'निव्वान' उच्छेद या पूर्ण क्षय है परन्तु यह पूर्ण क्षय आत्मा का नहीं है। यह क्षय लालसा, तृष्णा, जिजीविषा एवं उनकी तीनों जड़ें राग, जीवन धारण करने की इच्छा और अज्ञान का है।^{२५}

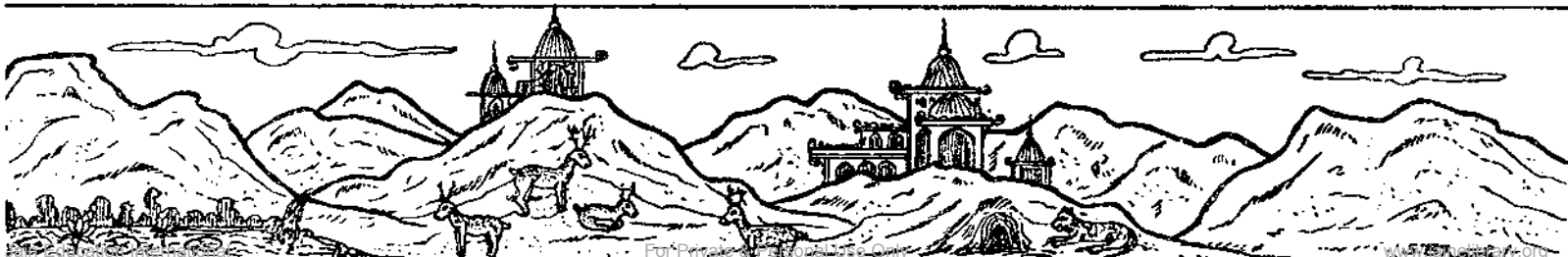
प्रो० मेक्समूलर लिखते हैं कि यदि हम धम्मपद के प्रत्येक श्लोक को देखें जहाँ पर निर्वाण शब्द आता है तो हम पावेंगे कि एक भी स्थान ऐसा नहीं है जहाँ पर उसका अर्थ उच्छेद होता हो। सभी स्थान नहीं तो बहुत अधिक स्थान ऐसे हैं जहाँ पर हम निर्वाण शब्द का उच्छेद अर्थ ग्रहण करते हैं तो वे पूर्णतः अस्पष्ट हो जाते हैं।^{२६}

राजा मिलिन्द की जिज्ञासा पर नागसेन ने विविध उपमायें देकर निर्वाण की समृद्धि का प्रतिपादन किया है।^{२७} जिससे यह स्पष्ट होता है कि बुद्ध का निर्वाण न्याय-वैशेषिकों के मोक्ष के समान केवल एक निषेधात्मक स्थिति नहीं है।

तथागत बुद्ध ने अनेक अवसरों पर निर्वाण को अव्याकृत कहा है। विचार और वाणी द्वारा उसका वर्णन नहीं किया जा सकता। प्रसेनजित के प्रश्नों का उत्तर देती हुई खेमा भिक्षुणी ने कहा—जैसे गंगा नदी के किनारे पड़े हुए रेत के कणों को गिनना कथमपि सम्भव नहीं है, या सागर के पानी को नापना सम्भव नहीं है उसी प्रकार निर्वाण की अगाधता को नापा नहीं जा सकता।^{२८}

बुद्ध के पश्चात् उनके अनुयायी दो मार्गों में बंट गये, जिन्हें हीनयान और महायान कहा जाता है। अन्ध सिद्धान्तों के साथ उनके शिष्यों में इस सम्बन्ध में मतभेद हुआ कि हमारा लक्ष्य हमारा ही निर्वाण है या सभी जीवों का निर्वाण है? बुद्ध के कुछ शिष्यों ने कहा—हमारा लक्ष्य केवल हमारा ही निर्वाण है। दूसरे शिष्यों ने उनका प्रतिवाद करते हुए कहा—हमारा लक्ष्य जीवन मात्र का निर्वाण है। प्रथम को द्वितीय ने स्वार्थी कहा और उनका तिरस्कार करने के लिए उनको हीनयान कहा और अपने आपको महायानी कहा। स्वयं हीनयानी इस बात को स्वीकार नहीं करते, वे अपने आपको थेरवादी (स्थविरवादी) कहते हैं।

संक्षेप में सार यह है कि बुद्ध ने स्वयं निर्वाण के स्वरूप के सम्बन्ध में अपना स्पष्ट मन्तव्य प्रस्तुत नहीं किया, जिसके फलस्वरूप कतिपय विद्वानों ने निर्वाण का शून्यता के रूप में वर्णन किया है तो कतिपय विद्वानों ने निर्वाण को प्रत्यक्ष आनन्ददायक बताया है।^{२९}



जैनदर्शन

वैदिकदर्शन व बौद्धदर्शन में जिस प्रकार मोक्ष और निर्वाण के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं; वैसे जैनदर्शन में किसी भी सम्प्रदाय में मतभेद नहीं है। मेरी दृष्टि से इसका मूल कारण यह है कि वेदों के मोक्ष के सम्बन्ध में कोई चर्चा नहीं की गई और वैदिक आचार्यों ने उसे आधार बनाकर और अपनी कमनीय कल्पना की तूलिका से उसके स्वरूप का चित्रण किया है।

बौद्ध साहित्य का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि तथागत बुद्ध ने अपने आपको सर्वज्ञ नहीं कहा है। उन्होंने अपने शिष्यों को यह आदेश दिया कि तुम मेरे कथन को भी परीक्षण-प्रस्तर पर कस कर देखो कि वस्तुतः वह सत्य तथ्ययुक्त है या नहीं, किन्तु भगवान् महावीर ने अपने आपको सर्वज्ञ बताकर और सर्वज्ञ के वचनों पर पूर्ण विश्वास रखने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की। जिसके कारण जैनधर्म में श्रद्धा की प्रमुखता रही। सर्वज्ञ के वचन के विपरीत तर्क करना बिल्कुल ही अनुचित माना गया, जिससे तत्त्वों के सम्बन्ध में या मोक्ष के सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं हो सका।

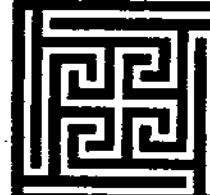
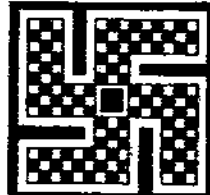
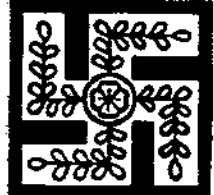
जैनदर्शन परिणामी नित्यता के सिद्धान्त को मान्य करता है किन्तु प्रस्तुत सिद्धान्त सांख्य-योग के समान केवल जड़ अर्थात् अचेतन तक ही समर्पित नहीं है। उसका यह बज्र आघोष है कि चाहे जड़ ही या चेतन सभी परिणामी नित्य हैं। यहाँ तक कि यह परिणामी नित्यता द्रव्य के अतिरिक्त उसके साथ होने वाली शक्तियों (गुण पर्यायों) को भी व्याप्त करता है।

जैनदर्शन आत्म द्रव्य को न्याय-वैशेषिक के समान व्यापक नहीं मानता और रामानुज के समान आत्मा को अणु भी नहीं मानता किन्तु वह आत्म-द्रव्य को मध्यम परिणामी मानता है। उसमें संकोच और विस्तार दोनों गुण रहे हुए हैं, जो जीव एक विराट्काय हाथी के शरीर में रहता है वही जीव एक नन्ही-सी चींटी में भी रहता है। द्रव्य रूप से जीव शाश्वत है किन्तु परिणाम की दृष्टि से उसकी अवस्थाओं में परिवर्तन होता है। परिणामी सिद्धान्त को मानने के कारण जैनदर्शन ने स्पष्ट रूप से यह माना है कि जिस शरीर से जीव मुक्त होता है, उस शरीर का जितना आकार होता है उससे तृतीय भाग न्यून विस्तार सभी मुक्त जीवों का होता है।^{२६}

स्मरण रखना चाहिए कि आत्मा में जो संकोच और विस्तार होता है वह कर्मजन्य शरीर के कारण से है। मुक्तात्माओं में शरीराभाव होने से उसमें संकोच और विस्तार नहीं हो सकता। मुक्तात्माओं में जो आकृति की कल्पना की गई है वह अन्तिम शरीर के आधार से की गई है। मुक्त जीव में रूपादि का अभाव है तथापि आकाश प्रदेशों में जो आत्म प्रवेश ठहरे हुए हैं उस अपेक्षा से आकार कहा है।

प्रस्तुत जैनदर्शन की मान्यता सम्पूर्ण भारतीय दर्शन की मान्यता से पृथक् है। यह जैनदर्शन की अपनी मौलिक देन है। इसका मूल कारण यह है कि कितने ही दर्शन आत्मा को व्यापक मानते हैं तो कितने ही दर्शन आत्मा को अणु मानते हैं। इस कारण मोक्ष में आत्मा का परिणाम क्या है उसे वे स्पष्ट नहीं कर सके हैं, किन्तु जैनदर्शन की मध्यम परिणाम की मान्यता होने से मुक्ति दशा में आत्मा के परिणाम के सम्बन्ध में एक निश्चित मान्यता है।

जैनदर्शन के अनुसार मुक्त आत्म द्रव्य में सहभू—चेतना, आनन्द आदि शक्तियाँ अनावृत्त होकर पूर्ण विशुद्ध रूप से ज्ञान, सुख आदि रूप में प्रतिपल प्रतिक्षण परिणामन करती रहती हैं, वह मात्र कूटस्थनित्य नहीं अपितु शक्ति रूप से नित्य होने पर प्रति समय होने वाले नित्य नूतन सदृश परिणाम प्रवाह के कारण परिणामी है। यह जैनदर्शन का मोक्षकालीन आत्मस्वरूप अन्य दर्शनों से अलग-अलग है। उसमें अन्य दर्शनों के साथ समानता भी है। द्रव्य रूप से स्थिर रहने के सम्बन्ध में न्याय-वैशेषिक दर्शनों के साथ उसका मेल बैठता है और सांख्य-योग एवं अद्वैत दर्शनों के साथ सहभू गुण की अभिव्यक्ति या प्रकाश के सम्बन्ध में समानता है। यद्यपि योगाचार या विज्ञानवादी बौद्ध शाखा के ग्रन्थों से यह बहुत स्पष्ट रूप से फलित नहीं होता तथापि यह ज्ञात होता है कि वह मूल में क्षणिकवादी होने से मुक्ति काल में आलय विज्ञान को विशुद्ध मानकर उसका निरन्तर क्षण प्रवाह माने तभी बौद्धदर्शन की मोक्षकालीन मान्यता संगत बैठ सकती है। यदि वे इस प्रकार मानते हैं तो जैनदर्शन की मान्यता के अत्यधिक सन्निकट हैं।



मुक्ति-स्थान

मुक्त ब्रह्मभूत या निर्वाण प्राप्त आत्मा के स्वरूप के सम्बन्ध में चिन्तन के पश्चात् यह प्रश्न है कि विदेह मुक्ति प्राप्त करने के पश्चात् आत्मा कौनसे स्थान पर रहता है क्योंकि चेतन या अचेतन जो द्रव्य रूप है उसका स्थान अवश्य होना चाहिए।

दार्शनिकों ने प्रस्तुत प्रश्न का उत्तर मान्यता भेद होने से विविध दृष्टियों से दिया है।

न्याय-वैशेषिक, सांख्य और योग जिस प्रकार आत्मा को व्यापक मानते हैं उसी प्रकार अनेक आत्मा मानते हैं, वे आत्म विभुत्ववादी भी हैं और आत्मबहुत्ववादी भी हैं। उनकी दृष्टि से मुक्त अवस्था का क्षेत्र सांसारिक क्षेत्र से पृथक् नहीं है। मुक्त और सांसारि आत्मा में अन्तर केवल इतना ही है कि जो सूक्ष्म शरीर अनादि अनन्तकाल से आत्मा के साथ लगा था, जिसके परिणामस्वरूप नित्य-नूतन स्थूल शरीर धारण करना पड़ता था, उसका सदा के लिये सम्बन्ध नष्ट हो जाने से स्थूल शरीर धारण करने की परम्परा भी नष्ट हो जाती है। जीवात्मा या पुरुष परस्पर सर्वथा भिन्न होकर मुक्ति दशा में भी अपने-अपने भिन्न स्वरूप में सर्वव्यापी हैं।

केवलाद्वैतवादी ब्रह्मवादी भी ब्रह्म या आत्मा को व्यापक मानते हैं किन्तु न्याय-वैशेषिक, सांख्य और योग के समान जीवात्मा का वास्तविक बहुत्व नहीं मानते। उनका मन्तव्य है कि मुक्त होने का अर्थ है सूक्ष्म शरीर या अन्तःकरण का सर्वथा नष्ट होना, उसके नष्ट होते ही उपाधि के कारण जीव की ब्रह्मस्वरूप से जो पृथकता प्रतिमासित होती थी, वह नहीं होती। तत्त्व रूप से जीव ब्रह्म स्वरूप ही था, उपाधि नष्ट होते ही वह केवल ब्रह्मस्वरूप का ही अनुभव करता है। मुक्त और सांसारि आत्मा में अन्तर यही है कि एक में उपाधि है, दूसरे में नहीं है। उपाधि के अभाव में परस्पर भेद भी नहीं है, वह केवल ब्रह्मस्वरूप ही है।

अणुजीवात्मवादी वैष्णव परम्पराओं की कल्पनार्थे पृथक्-पृथक् हैं रामानुज विशिष्टाद्वैती हैं। वे वस्तुतः जीव-बहुत्व को मानते हैं। किन्तु जीव का परब्रह्म वासुदेव से सर्वथा भेद नहीं है। जब जीवात्मा मुक्त होता है तब वासुदेव के धाम बैकुण्ठ या ब्रह्मलोक में जाता है, वह वासुदेव के सान्निध्य में उसके अंश रूप से उसके सहस्र होकर रहता है।

मध्व जो अणुजीववादी हैं, वे जीव को परब्रह्म से सर्वथा भिन्न मानते हैं किन्तु मुक्त जीव की स्थिति विष्णु के सन्निधान में अर्थात् लोकविशेष में कल्पित करते हैं।

शुद्धाद्वैती वल्लभ भी अणुजीववादी हैं किन्तु साथ ही वे परब्रह्म परिणामवादी हैं। उनका मन्तव्य है कि कुछ भक्त जीव ऐसे हैं जो मुक्त होने पर अक्षर ब्रह्म में एक रूप हो जाते हैं और दूसरे पुष्टि भक्ति जीव ऐसे हैं जो परब्रह्म स्वरूप होने पर भी भक्ति के लिए पुनः अवतीर्ण होते हैं और मुक्तवत् संसार में विचरण करते हैं।

बौद्धदृष्टि से

बौद्धदर्शन की दृष्टि से जीव या पुद्गल कोई भी शाश्वत द्रव्य नहीं है, अतः पुनर्जन्म के समय वे जीव का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना नहीं मानते हैं। उनका अभिमत यह है कि एक स्थान पर एक चित्त का निरोध होता है और दूसरे स्थान पर नये चित्त की उत्पत्ति होती है।

राजा मिलिन्द ने आचार्य नागसेन से प्रश्न किया कि पूर्वादि दिशाओं में ऐसा कौन-सा स्थान विशेष है जिसके सन्निकट निर्वाण स्थान की अवस्थिति है।

आचार्य ने कहा—निर्वाण स्थान कहीं किसी दिशा विशेष में अवस्थित नहीं है, जहाँ पर जाकर यह मुक्तात्मा निवास करती हो।

प्रतिप्रश्न किया गया—जैसे समुद्र में रत्न, फूल में गंध, खेत में धान्य आदि का स्थान नियत है वैसे ही निर्वाण का स्थान भी नियत होना चाहिए। यदि निर्वाण का स्थान नहीं है तो फिर यह क्यों नहीं कहते कि निर्वाण भी नहीं है।

नागसेन ने कहा—राजन् ! निर्वाण का नियत स्थान न होने पर भी उसकी सत्ता है। निर्वाण कहीं पर बाहर नहीं है। उसका साक्षात्कार अपने विशुद्ध मन से करना पड़ता है। जैसे दो लकड़ियों के संघर्ष से अग्नि पैदा होती है यदि



कोई यह कहे कि पहले अग्नि कहाँ थी तो यह नहीं कहा जा सकता वैसे ही विषुद्ध मन से निर्वाण का साक्षात्कार होता है किन्तु उसका स्थान बताना सम्भव नहीं है।

राजा ने पुनः प्रश्न किया—हम यह मान लें कि निर्वाण का नियत स्थान नहीं है, तथापि ऐसा कोई निश्चित स्थान होना चाहिए जहाँ पर अवस्थित रहकर पुद्गल निर्वाण का साक्षात्कार कर सके।

आचार्य ने उत्तर देते हुए कहा—राजन् ! पुद्गल शील में प्रतिष्ठित होकर किसी भी आकाश प्रदेश में रहते हुए निर्वाण का साक्षात्कार कर सकता है।^{३०}

जैनदर्शन

जैनदर्शन की दृष्टि से आत्मा का मूल स्वभाव ऊर्ध्वगमन है।^{३१} जब वह कर्मों से पूर्ण मुक्त होता है तब वह ऊर्ध्वगमन करता है और ऊर्ध्वलोक के अग्रभाग पर अवस्थित होता है क्योंकि आगे धर्मास्तिकाय का अभाव है अतः वह आगे जा नहीं सकता। वह लोकाग्रवर्ती स्थान सिद्धशिला के नाम से विश्रुत है। जैन साहित्य में सिद्धशिला का विस्तार से निरूपण है, वैसे निरूपण अन्य भारतीय साहित्य में नहीं है।

एक बात स्मरण रखनी चाहिए कि जैन दृष्टि से मानव लोक ४५ लाख योजन का माना गया है तो सिद्ध क्षेत्र भी ४५ लाख योजन का है। मानव चाहे जिस स्थान पर रहकर साधना के द्वारा कर्म नष्ट कर मुक्त हो सकता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि मोक्ष आत्मा का पूर्ण विकास है और पूर्ण रूप से दुःख-मुक्ति है।

मोक्षमार्ग

अब हमें मोक्षमार्ग पर चिन्तन करना है। जिस प्रकार चिकित्सा पद्धति में रोग, रोगहेतु, आरोग्य और भेषज्य इन चार बातों का ज्ञान परमावश्यक^{३२} वैसे ही आध्यात्मिक साधना पद्धति में (१) संसार, (२) संसार हेतु, (३) मोक्ष, (४) मोक्ष का उपाय, इन चार का ज्ञान परमावश्यक है।^{३३}

वैदिक परम्परा का बाह्यमय अत्यधिक विशाल है। उसमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्वमीमांसा, उत्तर-मीमांसा प्रभृति अनेक दार्शनिक मान्यतायें हैं। किन्तु उपनिषद् एवं गीता जैसे ग्रन्थरत्न हैं जिन्हें सम्पूर्ण वैदिक परम्पराएँ मान्य करती हैं। उन्हीं ग्रन्थों के चिन्तन-सूत्र के आधार पर आचार्य पतंजलि ने साधना पर विस्तार से प्रकाश डाला है। उसमें हेय^{३४}, हेयहेतु^{३५}, हान^{३६} और हानोपाय^{३७} इन चार बातों पर विवेचन किया है। न्यायसूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने भी इन चार बातों पर संक्षेप में प्रकाश डाला है।^{३८}

तथागत बुद्ध ने इन चार सत्यों को आर्यसत्य कहा है। (१) दुःख (हेय), (२) दुःखसमुदय (हेयहेतु) (३) दुःखनिरोध (हान), (४) दुःखनिरोधगामिनी प्रतिपद् (हानोपाय)^{३९}।

जैनदर्शन ने इन चार सत्यों को (१) बन्ध, (२) आस्रव, (३) मोक्ष (४) और संवर के रूप में प्रस्तुत किया है।

बन्ध—शुद्ध चैतन्य के अज्ञान से राग-द्वेष प्रभृति दोषों का परिणाम है, इसे हम हेय अथवा दुःख भी कह सकते हैं।

आस्रव का अर्थ है जिन दोषों से शुद्ध चैतन्य बन्धता है या लिप्त होता है इसे हम हेयहेतु या दुःखसमुदय भी कह सकते हैं।

मोक्ष का अर्थ है—सम्पूर्ण कर्म का वियोग। इसे हम हान या दुःखनिरोध कह सकते हैं।

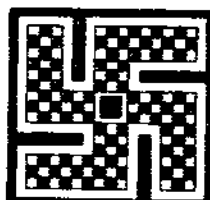
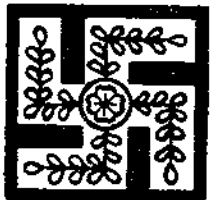
संवर—कर्म आने के द्वार को रोकना यह मोक्षमार्ग है। इसे हम हानोपाय या निरोधमार्ग भी कह सकते हैं।

सामान्य रूप से चिन्तन करें तो ज्ञात होगा कि सभी भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओं ने चार सत्यों को माना है। संक्षेप में चार सत्य भी दो में समाविष्ट किये जा सकते हैं—

(१) बन्ध—जो दुःख या संसार का कारण है और

(२) उस बन्ध को नष्ट करने का उपाय।

प्रत्येक आध्यात्मिक साधना में संसार का मुख्य कारण अविद्या माना है। अविद्या से ही अन्य राग-द्वेष, कपाय-क्लेश आदि समुत्पन्न होते हैं। आचार्य पतंजलि ने अविद्या, अस्मिता, रागद्वेष और अमिनिवेश इन पांच क्लेशों



का निर्देश कर अविद्या में सभी दोषों का समावेश किया है। उन्होंने अविद्या को सभी क्लेशों की प्रसवभूमि कहा है।^{४०} इन्हीं पाँच क्लेशों को ईश्वरकृष्ण ने सांख्यकारिका में पाँच विपर्यय के रूप में चित्रित किया है।^{४१} महर्षि कणाद ने अविद्या को मूल दोष के रूप में बताकर उसके कार्य के रूप में अन्य दोषों का सूचन किया है।^{४२} अक्षपाद अविद्या के स्थान पर 'मोह' शब्द का प्रयोग करते हैं। मोह को उन्होंने सभी दोषों में मुख्य माना है। यदि मोह नहीं है तो अन्य दोषों की उत्पत्ति नहीं होगी।^{४३}

कठोपनिषद्^{४४} श्रीमद् भगवद्गीता^{४५} और ब्रह्मसूत्र में भी अविद्या को ही मुख्य दोष माना है।

मज्झिमनिकाय आदि ग्रन्थों में तथागत बुद्ध ने संसार का मूल कारण अविद्या को बताया है। अविद्या होने से ही तृष्णादि दोष समुत्पन्न होते हैं।^{४६}

जैनदर्शन ने संसार का मूल कारण दर्शनमोह और चारित्रमोह को माना है। अन्य दार्शनिकों ने जिसे अविद्या, विपर्यय, मोह या अज्ञान कहा है उसे ही जैनदर्शन ने दर्शनमोह या मिथ्यादर्शन के नाम से अभिहित किया है। अन्य दर्शनों ने जिसे अस्मिता, राग, द्वेष या तृष्णा कहा है उसे जैनदर्शन ने चारित्रमोह या कषाय कहा है। इस प्रकार वैदिक, बौद्ध और जैन परम्परा संसार का मूल अविद्या या मोह को मानती हैं और सभी दोषों का समावेश उसमें करती हैं।

संसार का मूल अविद्या है तो उससे मुक्त होने का उपाय विद्या है। एतदर्थं कणाद ने विद्या का निरूपण किया है। पतंजलि ने उस विद्या को विवेकख्याति कहा है। अक्षपाद ने विद्या और विवेकख्याति के स्थान पर तत्त्वज्ञान या सम्यग्ज्ञान पद का प्रयोग किया है। बौद्ध साहित्य में उसके लिए मुख्य रूप से 'विपस्सना' या प्रज्ञा शब्द व्यवहृत हुए हैं। जैनदर्शन में भी सम्यग्ज्ञान शब्द का प्रयोग हुआ है। इस प्रकार सभी भारतीय दर्शनों की परम्पराएँ विद्या तत्त्वज्ञान, सम्यग्ज्ञान, प्रज्ञा आदि से अविद्या या मोह का नाश मानती हैं और उससे जन्म परम्परा का अन्त होता है।

आध्यात्मिक दृष्टि से अविद्या का अर्थ है अपने निज स्वरूप के ज्ञान का अभाव। आत्मा, चेतन या स्वरूप का अज्ञान ही मूल अविद्या है। यही संसार का मूल कारण है।

वैदिक परम्परा ने साधना के विविध रूपों का वर्णन किया है किन्तु संक्षेप में गीता में ज्ञान, भक्ति और कर्म, इन तीनों अंगों पर प्रकाश डाला है।

तथागत बुद्ध ने (१) सम्यक् दृष्टि, (२) सम्यक् संकल्प, (३) सम्यक् वाक्, (४) सम्यक् कर्मान्त (५) सम्यक् आजीव (६) सम्यक् व्यायाम, (७) सम्यक् स्मृति और (८) सम्यक् समाधि को आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग कहा है।^{४७} और मार्गों में उसे श्रेष्ठ बताया है।^{४८} बुद्धघोष ने संक्षेप में उसे शील, समाधि और प्रज्ञा कहा है।^{४९}

जैनदर्शन ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र को मोक्षमार्ग कहा है।^{५०}

इस प्रकार समन्वय की दृष्टि से देखा जाये तो ज्ञान, भक्ति और कर्म; शील, समाधि और प्रज्ञा; सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र यह मोक्षमार्ग है। शब्दों में अन्तर होने पर भी भाव सभी का एक जैसा है। शब्दजाल में न उलझकर सत्य तथ्य की ओर ध्यान दिया जाये तो भारतीय दर्शनों में मोक्ष और मोक्ष मार्ग में कितनी समानता है, यह सहज ही परिज्ञात हो सकेगा।

१ फिलॉसफी बिगिन्स इन वण्डर

२ दर्शन का प्रयोजन, पृ० २९—डा० भगवानदास

३ (क) अथातो धर्मजिज्ञासा—वैशेषिकदर्शन ९

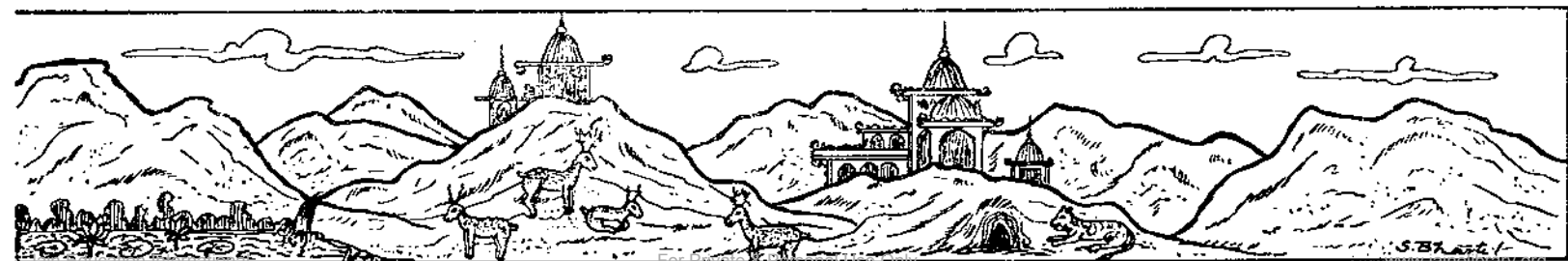
(ख) दुःख त्रयाभिधाताज् जिज्ञासा—सांख्यकारिका १, ईश्वरकृष्ण

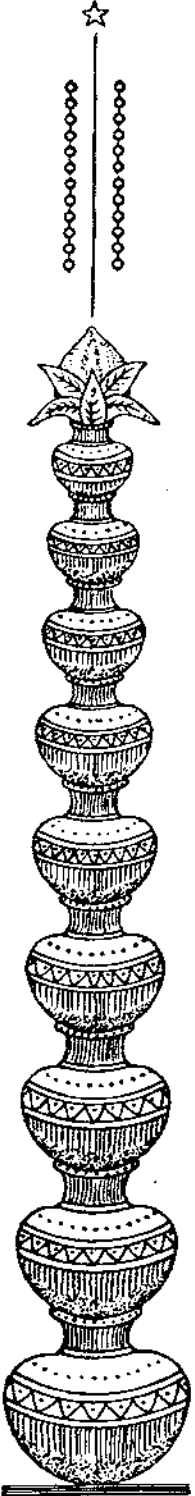
(ग) अथातो धर्मजिज्ञासा—मीमांसासूत्र १, जैमिनी

(घ) अथातो ब्रह्मजिज्ञासा—ब्रह्मसूत्र १।१

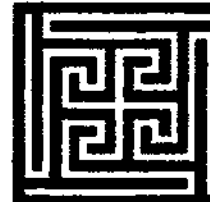
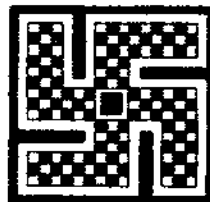
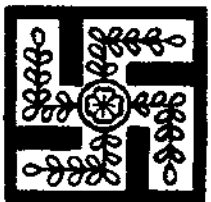
४ देखिए, भगवती आदि जैन आमम

५ अध्यात्म विचारणा, पृ० ७४, पं० सुखलालजी संघवी, गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद





- ६ (क) मुण्डकोपनिषद् १।१।६ (ख) वैशेषिकसूत्र ७।१।२२ (ग) न्यायमञ्जरी (विजयनगरम्) पृ० ४६८
(घ) प्रकरण पंजिका, पृ० १५८
- ७ (क) बृहदारण्यक उपनिषद् ५।६।१ (ख) छान्दोग्य उपनिषद् ५।२।१ (ग) मैत्री उपनिषद् ६।३८
- ८ अध्यात्म विचारणा पृ० ७५
- ९ (क) आत्यन्तिकी दुःख निवृत्तिः (मोक्षः), (ख) (मोक्षः) चरम दुःखध्वंसः—तर्कदीपिका
- १० न्यायसूत्र १।१।२ पर भाष्य ।
- ११ तदभावे संयोगाभावोऽप्रादुर्भावश्च मोक्षः ।—वैशेषिकसूत्र ५।२।१८
- १२ (मोक्षः) आत्यन्तिको दुःखाभावः ।—न्यायवार्तिक
- १३ (क) तदेवं क्षिपणादीनां नवानामपि मूलतः ।
गुणानामात्मनोऽध्वंसः सोपवर्गः प्रतिष्ठितः ॥ —न्यायमञ्जरी, पृष्ठ ५०
(ख) तदत्यन्त विमोक्षोऽपवर्गः ।—समाध्य न्यायसूत्र १।१।२२
- १४ स्याद्वादमञ्जरी, पृ० ६३
- १५ वरं वृन्दावने रम्ये क्रोष्टृत्वमभिवाञ्छितम् ।
ननु वैशेषिकीं मुक्तिं गीतमो गन्तुमिच्छति ।—स्याद्वादमञ्जरी में उद्धृत, पृ० ६३
- १६ भारतीय दर्शन में मोक्ष-चिन्तन, एक तुलनात्मक अध्ययन—डा० अशोककुमार लाड, मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ
अकादमी, ६७ मालवीय नगर, प्र० संस्करण १९७३
- १७ तस्मान्नबध्यतेनाऽपि मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित् ।
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः । —सांख्यकारिका ६२
- १८ अनादित्वाग्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्यय ।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥
यथा सबंगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते ।
सर्वथाऽवस्थितो देहे तथाऽऽत्मा नोपलिप्यते ॥ —गीता १३।३१-३२
- १९ अध्यात्म विचारणा के आधार से, पृ० ८४
- २० भारतीय दर्शन—डा० बलदेव उपाध्याय
- २१ हिस्ट्री ऑफ फिलासफी—ईस्टर्न एण्ड वेस्टर्न, बोल्डूम, पृ० २१२
- २२ हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलासफी, पृ० ३२८
- २३ सिस्टम्स आफ बुद्धिस्टिक थॉट, पृ० ३१
- २४ भारतीय दर्शन, भाग—१, पृ० ४११-१४
- २५ (क) धम्मपद १५४
(ख) देखें—संयुक्त निकाय के ओघतरण सुत्त, निमोक्ख सुत्त, संयोजनसुत्त तथा बंधन सुत्त ।
- २६ एन० के० भगत : पटना युनिवर्सिटी रीडरशिप, लेक्चर्स १९२४-२५ पृ० १६५
- २७ संयुक्त निकाय खेमाथेरी सुत्त
- २८ भारतीय दर्शन, भाग—१, पृ० ४१६-४१७ —डा० राधाकृष्णन, द्वि संस्करण
- २९ उस्सेहो जस्स जो होइ भवम्मि चरिमम्मि उ ।
तिभागहीणा तत्तो य सिद्धाणोगाहना भवे ॥—उत्तराध्ययन ३६।६५
- ३० मिलिन्द प्रश्न ४।८।१२-१४
- ३१ (क) उड्डहं पक्कमई दिसं—उत्तराध्ययन १६।८२
(ख) प्रशमरति प्रकरण २६४ का भाष्य
(ग) तदनन्तरमेवोर्ध्वमालोकान्तात् स गच्छति पूर्वप्रयोगासङ्गत्वबन्धच्छेदोर्ध्वगौरवेः कुलालचक्रडोलायाः सिद्ध-
गति स्मृताः ।—तत्त्वार्थराजवार्तिक ।



- ३२ चरकसंहिता स्थान अ० १ श्लो० १२८—३०
- ३३ यथा चिकित्साशास्त्रं चतुर्व्युहं रोगो रोगहेतुः आरोग्यं भ्रैषज्यमिति एवमिदमपि शास्त्रं चतुर्व्युहमेव । तद्यथा—
संसार, संसार हेतुः मोक्षो मोक्षोपाय इति —योगदर्शन भाष्य २१-१५
- ३४ हेयं दुःखमनागतम् ।—योगदर्शन साधन पाद १६
- ३५ ब्रष्टृ दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।—वही १७
- ३६ तदभावात् संयोगाभावो हानं तद्दृशेः कैवल्यम् ।—वही २५
- ३७ विवेकाख्यातिरविप्लवक हानोपायः ।—वही २६
- ३८ हेयं तस्य निर्वर्तकं हानमत्यन्तिकं तस्योपायोऽधिगन्तव्य इत्यंतानि चत्वार्यर्थपदानि सम्यग् बुद्ध्वा निःश्रेयसमधि-
गच्छति—न्यायभाष्य १, १, १,
- ३९ मज्झिमनिकाय—भयभेख सुत्त ४
- ४० अविद्यास्मिता रागद्वेषामिनिवेशाः पञ्च बलेशाः ।
अविद्याक्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्तं तनुं विच्छिन्नो दाराणाम् ।—योगदर्शन २।३-४
- ४१ सांख्यकारिका ४७-४८
- ४२ देखिए प्रशस्तपाद भाष्य, संसारापवर्ग
- ४३ (क) दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः—न्यायसूत्र १।१।२
तत्र राक्ष्यं रागद्वेष मोहान्तर भावात् ।—न्यायसूत्र ४।१।३
तेषां मोहं यापीयान्नामूढस्येतरोत्पत्तेः—न्यायसूत्र ४।१।६
(ख) न्यायसूत्र का भाष्य भी देखें ।
- ४४ अविद्यायामन्तरेवर्तमानाः स्वयं धीराः पंडितं मन्यमानाः
दन्डम्यभाणाः परियन्ति मूढान्धनैवनीयमाना यथा अन्धा ।—कठोपनिषद् १।२।५
अज्ञानेनावृत्तं ज्ञानं तेन मुह्यति जन्तवः
ज्ञानेन तु तदज्ञानं यथा नाशितमात्मनः ॥
- ४५ तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम् ।—श्रीमद्भगवद्गीता ५।१५
- ४६ मज्झिम निकाय महा तन्हा संखय सुत्त ३८
- ४७ विशुद्धि मग्न १।७
- ४८ मज्झिम निकाय सम्मादिट्ठि सुत्तन्त ६
- ४९ मग्गानं अट्टङ्गिको सेट्ठो ।
- ५० विशुद्धि मार्ग ।
- ५१ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः ।—तत्त्वार्थ सूत्र १।१





तत्त्व क्या है—इस प्रश्न पर हजारों वर्षों से चिन्तन चला आया है। यही चिन्तन 'दर्शन' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

जैन तत्त्वविद्या के सर्वांगीण तर्कपुरस्सर स्वरूप का संक्षिप्त एवं सरल विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है—प्रसिद्ध दार्शनिक मुनिश्री नथमल जी द्वारा।

□ मुनिश्री नथमल
[विश्रुत विद्वान एवं प्रसिद्ध लेखक]

भगवान महावीर का तत्त्ववाद

इस जगत् में जो है वह तत्त्व है, जो नहीं है वह तत्त्व नहीं है। होना ही तत्त्व है, नहीं होना तत्त्व नहीं है। तत्त्व का अर्थ है—होना।

विश्व के सभी दार्शनिकों और तत्त्ववेत्ताओं ने अस्तित्व पर विचार किया। उन्होंने न केवल उस पर विचार किया, उसका वर्गीकरण भी किया। दर्शन का मुख्य कार्य है—तत्त्वों का वर्गीकरण।

नैयायिक, वैशेषिक, मीमांसा और अद्वैत—ये मुख्य वैदिक दर्शन हैं। नैयायिक सौलह तत्त्व मानते हैं। वैशेषिक के अनुसार तत्त्व छह हैं। मीमांसा कर्म-प्रधान दर्शन है। उसका तात्त्विक वर्गीकरण बहुत सूक्ष्म नहीं है। अद्वैत के अनुसार पारमार्थिक तत्त्व एक परम ब्रह्म है। सांख्य प्राचीनकाल में श्रमण-दर्शन था और वर्तमान में वैदिक दर्शन में विलीन है। उसके अनुसार तत्त्व पञ्चीस हैं। चार्वाक दर्शन के अनुसार तत्त्व चार हैं।

मालुंकापुत्र भगवान बुद्ध का शिष्य था। उसने बुद्ध से पूछा—मरने के बाद क्या होता है? आत्मा है या नहीं? यह विश्व सान्त है या अनन्त?

बुद्ध ने कहा—यह जानकर तुम्हें क्या करना है?

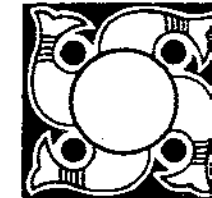
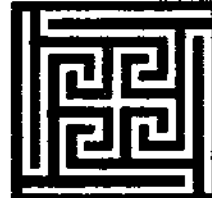
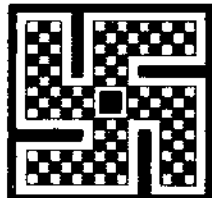
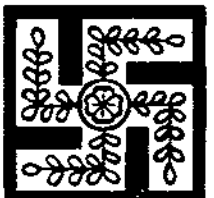
उसने कहा—क्या करना है, यह जानना चाहते हैं? मुझे आप उनका उत्तर दें और यदि उत्तर नहीं देते हैं तो मैं आपके दर्शन को छोड़ दूसरे दर्शन में जाने की बात सोचूँ। या तो आप कहें कि मैं इन विषयों को नहीं जानता और यदि जानते हैं तो मुझे उत्तर दें। मैं सत्य की जानने के लिए आपके शासन में दीक्षित हुआ था। किन्तु मुझे मेरी जिज्ञासा का उत्तर नहीं मिल रहा है।

बुद्ध ने कहा—मैंने कब कहा था कि मैं सब प्रश्नों के उत्तर दूँगा और तुम मेरे मार्ग में चले आओ।

मालुंकापुत्र बोला—आपने कहा तो नहीं था।

बुद्ध ने कहा—फिर, तुम मुझे आँखें क्यों दिखा रहे हो? देखो, एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति ने बाण मारा। वह बाण से विध गया। अब कोई व्यक्ति आता है, बँध आता है और कहता है बाण को निकालें और घाव को ठीक करें। किन्तु वह व्यक्ति कहता है कि मैं तब तक बाण नहीं निकलवाऊँगा जब तक कि यह पता न लग लाये कि बाण किसने फेंका है? फेंकने वाला कितना लम्बा-चौड़ा है? वह कितना शक्तिशाली है? वह किस वर्ण का है? बाण क्यों फेंका गया? किस धनुष्य से फेंका गया? वह धनुष्य कैसा है? तूणीर कैसा है? प्रत्यंचा कैसी है? ये सारी बातें मुझे जब तक ज्ञात नहीं हो जातीं, तब तक मैं इस बाण को नहीं निकलवाऊँगा। बोलो, इसका अर्थ क्या होगा?

मालुंकापुत्र बोला—वह मर जाएगा। बाण के निकलने से पहले ही मर जाएगा। वह जीवित नहीं रह सकेगा।



बुद्ध ने कहा—इसीलिए मैं कहता हूँ कि बाण को निकालने की जरूरत है। बाण किसने बनाया, कहाँ से आया, किस प्रकार से फेंका गया, किस धनुष्य से फेंका गया, इन कल्पनाओं में उलझने की तुम्हें कोई जरूरत नहीं है। जिन बातों में उलझने की जरूरत है, उन्हीं में उलझो। दुःख क्या है? दुःख का हेतु क्या है? निर्वाण क्या है और निर्वाण का हेतु क्या है? ये चार आर्य-सत्य हैं। इन्हीं को जानने का प्रयत्न करो!

पूर्व प्रतिपादित वर्गीकरणों और मीमांसाओं के सन्दर्भ में मैं भगवान महावीर के तात्त्विक वर्गीकरण का विश्लेषण करूँगा। प्रारम्भ में एक धारा की ओर मैं इंगित करना चाहता हूँ। वर्तमान युग के कुछ इतिहासज्ञ और कुछ दार्शनिक जैनदर्शन को वैशेषिक, सांख्य आदि दर्शनों का ऋणी मानते हैं। कुछ विद्वान् लिखते हैं कि परमाणुवाद महर्षि कणाद की देन है। जैनदर्शन ने उसका अनुसरण किया है। कुछ विद्वान् लिखते हैं, जैनदर्शन सांख्यदर्शन का ही रूपान्तर है। उसका तत्त्ववाद मौलिक नहीं है। ये धारणाएँ क्यों चलती हैं? इनका रहस्य खोजना जरूरी है। वे विद्वान् लेखक या तो इतिहास के कक्ष तक पहुँचने का तीव्र प्रयत्न नहीं करते या वे साम्प्रदायिक भावना को पुष्ट करने का प्रयत्न कर रहे हैं। दोनों में से एक बात अवश्य है।

मालिक ने नौकर से कहा—जाओ, बगीचे में पानी सींच जाओ। नौकर बोला—महाशय! इसकी जरूरत नहीं है। वर्षा हो रही है तब पानी सींचकर क्या करूँ? मालिक ने कहा—वर्षा से डरते हो तो छाता ले जाओ। पानी तो सींचना ही होगा। अब आप देखिए, वर्षा हो रही है, फिर पानी सींचने की क्या जरूरत है? कोई नहीं। किन्तु मालिक कह रहा है कि वर्षा हो रही है तो होने दो। भीगने का डर लगता है तो छाता ले जाओ। पर पानी सींचना ही होगा। उसके सामने छाते की उपयोगिता है। वह उसी को समझ रहा है। वर्षा से जो सहज सिंचन हो रहा है, उसे या तो वह समझ नहीं पा रहा है या जान-बूझकर नकार रहा है। मुझे लगता है कि यह एक प्रवाह है कि छाते की बात सुझाई जा रही है और पानी स्वयं सिंचित हो रहा है, उसे स्वीकृत नहीं किया जा रहा है।

महर्षि कणाद ने वैशेषिक सूत्र भगवान महावीर के बाद लिखा था। सांख्यदर्शन का विकास भगवान पार्श्व के बाद और भगवान महावीर के आस-पास हुआ। किन्तु तत्त्व के विषय में सांख्य और जैनदर्शन का दृष्टिकोण स्वतन्त्र है। इसलिए तत्त्व के वर्गीकरण में सांख्यदर्शन जैनदर्शन का आभारी है या जैनदर्शन सांख्यदर्शन का आभारी है, यह नहीं कहा जा सकता। सांख्यदर्शन सृष्टिवादी है और सृष्टिवाद की कल्पना उसके तात्त्विक वर्गीकरण के साथ जुड़ी हुई है। जैनदर्शन द्रव्य-पर्यायवादी है। उसके वर्गीकरण में कुछ तत्त्व ऐसे हैं जो सांख्य के प्रकृति और पुरुष इन दोनों से सर्वथा भिन्न हैं।

भगवान महावीर ने पाँच अस्तिकायों का प्रतिपादन किया। राजगृह के बाहर गुणशिलक नाम का चैत्य था। उसकी थोड़ी दूरी पर परिव्राजकों का एक 'आनसथ' था। उसमें कालोदायी आदि अनेक परिव्राजक रहते थे। एक बार भगवान महावीर राजगृह पधारे, गुणशिलक चैत्य में ठहरे। राजगृह में 'महुक' नामका श्रमणोपासक रहता था। वह भगवान को बंदन करने के लिए आ रहा था। परिव्राजकों ने उसे देखा, अपने पास बुलाया और कहा—तुम्हारे धर्माचार्य श्रमण महावीर पाँच अस्तिकायों का प्रतिपादन करते हैं। तुम जानते हो, देखते हो?

महुक ने कहा—जो पदार्थ कार्य करता है, उसे हम जानते हैं, देखते हैं और जो पदार्थ कार्य नहीं करता, उसे हम नहीं जानते, नहीं देखते हैं।

परिव्राजक बोले—तुम कैसे श्रमणोपासक हुए जो तुम तुम्हारे धर्माचार्य के द्वारा प्रतिपादित अस्तिकायों को नहीं जानते, नहीं देखते।

उनका व्यंग्य सुन महुक बोला—आयुष्मान्! क्या हवा चल रही है?

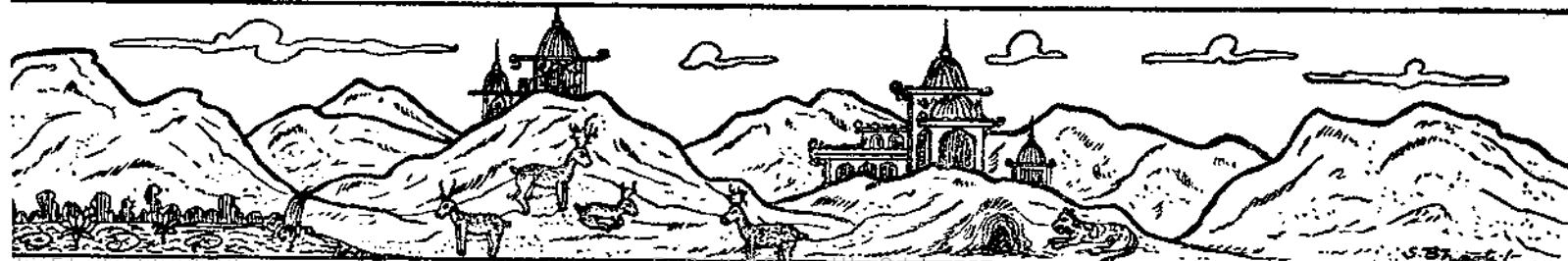
हाँ चल रही है।

क्या चलती हुई हवा का आप रूप देख रहे हैं?

नहीं।

आयुष्मान्! हम हवा को नहीं देखते किन्तु हिलते हुए पत्तों को देखकर हम जान लेते हैं कि हवा चल रही है।

फूलों की भीनी सुगन्ध आ रही है?





हाँ, आ रही है ।
 सुगन्ध के परमाणु हमारी नासा में प्रविष्ट हो रहे हैं ?
 हाँ, हो रहे हैं ।
 क्या आप नासा में प्रविष्ट सुगन्ध के परमाणुओं का रूप देख रहे हैं ?
 नहीं ।
 आयुष्मात् ! अरणि की लकड़ी में अग्नि है ?
 हाँ, है ।
 क्या आप अरणि में छिपी हुई अग्नि का रूप देख रहे हैं ?
 नहीं ।
 आयुष्मात् ! क्या समुद्र के उस पार रूप है ।
 हाँ, है ।
 क्या आप समुद्र के पारवर्ती रूपों को देख रहे हैं ?
 नहीं ।

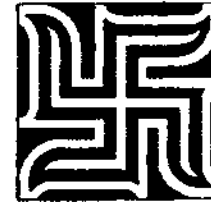
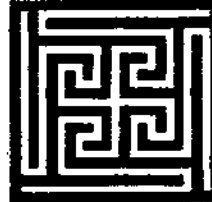
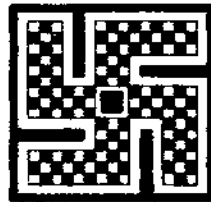
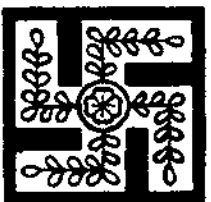
आयुष्मात् ! मैं या आप, कोई भी परोक्षदर्शी सूक्ष्म, व्यवहित और दूरवर्ती वस्तु को नहीं जानता, नहीं देखता किन्तु वह सब नहीं होता, ऐसा नहीं है । हमारे ज्ञान की अपूर्णता द्रव्य के अस्तित्व को मिटा नहीं सकती । यदि मैं पाँचों अस्तिकायों को साक्षात् नहीं जानता-देखता, इसका अर्थ यह नहीं होता है कि वे नहीं हैं । भगवान महावीर ने प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा उनका साक्षात् किया है, उन्हें जाना-देखा है, इसीलिए वे उनका प्रतिपादन कर रहे हैं ।

इस प्रसंग से जाना जा सकता है कि पंचास्तिकाय का वर्गीकरण अन्य तीर्थिकों के लिए कुतूहल का विषय था । इस विषय में वे जानते नहीं थे । उन्होंने इस विषय में कभी सुना-पढ़ा नहीं था । यह उनके लिए सर्वथा नया विषय था । महुक के तर्कपूर्ण उत्तर से भी वे अस्तिकाय का मर्म समझ नहीं पाये ।

कुछ दिन बाद फिर परिव्राजकों की गोष्ठी जुड़ी । उसमें कालोदायी, शैलोदायी, शैवालोदायी आदि अनेक परिव्राजक सम्मिलित थे । उनमें फिर महावीर के पंचास्तिकाय पर चर्चा चली । कालोदायी ने कहा—श्रमण महावीर पाँच अस्तिकायों का प्रतिपादन करते हैं—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय । वे कहते हैं कि चार अस्तिकाय अजीवकाय हैं । एक जीवास्तिकाय जीव है । चार अस्तिकाय अमूर्त हैं । एक पुद्गलास्तिकाय मूर्त है । यह कैसे हो सकता है ? उस समय भगवान महावीर के ज्येष्ठ शिष्य गौतम राजगृह से गुण-शिलक चैत्य की ओर जा रहे थे । उन परिव्राजकों ने गौतम को देखा और वे परस्पर बोले—देखो, वे गौतम जा रहे हैं । महावीर का इनसे अधिक अधिकृत व्यक्ति कौन मिलेगा ? अच्छा है हम उनके पास चले और अपनी जिज्ञासा को उनके सामने रखें । उस समय एक संन्यासी दूसरे संन्यासी के पास मुक्तभाव से चला जाता, बुला लेता, अपने स्थान में आमन्त्रित कर लेता—इसमें कोई कठिनाई नहीं थी । मुक्तभाव और मुक्त वातावरण था । इसलिए परिव्राजकों को गौतम के पास जाने में कोई कठिनाई नहीं हुई । वे सब उठे और गौतम के पास पहुँच गये । उन्होंने कहा—तुम्हारे धर्माचार्य ने पंचास्तिकाय का प्रतिपादन किया है । क्या यह युक्तिसंगत है ?

गौतम ने उनसे कहा—आयुष्मात् परिव्राजको ! हम अस्ति को नास्ति नहीं कहते और नास्ति को अस्ति नहीं कहते । हम सम्पूर्ण अस्तिभाव को अस्ति कहते हैं और सम्पूर्ण नास्तिभाव को नास्ति कहते हैं । तुम स्वयं इस पर मनन करो और इसे ध्यान से देखो ।

गौतम परिव्राजकों को संक्षिप्त उत्तर देकर आगे चले गये । कालोदायी ने सोचा—पंचास्तिकाय के विषय में हमने महुक को पूछा, फिर गौतम को पूछा । उन्होंने अपने-अपने ढंग से उत्तर भी दिये । पर जब महावीर स्वयं यहाँ उपस्थित हैं, तब क्यों न हम महावीर से ही उस विषय में पूछें । कालोदायी के पैर भी महावीर की दिशा में बढ़ गये । उस समय भगवान् महावीर महाकथा कर रहे थे । कालोदायी वहाँ पहुँचा । भगवान् ने उसे देखकर कहा—कालोदायी ! तुम लोग गोष्ठी कर रहे थे और उस गोष्ठी में मेरे द्वारा प्रतिपादित पंचास्तिकाय के विषय में चर्चा कर रहे थे । क्यों यह ठीक है न ?



हाँ, भन्ते ! वैसा ही है, जैसा आप कह रहे हैं ।

कालोदायी ! तुम्हारी जिज्ञासा है कि मैं पंचास्तिकाय का प्रतिपादन करता हूँ, वह कैसे ? कालोदायी ! तुम्हीं बताओ, पंचास्तिकाय हैं या नहीं ? यह प्रश्न किसको होता है, चेतन को या अचेतन को ? आत्मा को या अनात्मा को ? भन्ते ! आत्मा को होता है ।

कालोदायी ! जिसे तुम आत्मा कहते हो उसे मैं जीवास्तिकाय कहता हूँ । जीव चेतनामय प्रदेशों का अविभक्त काय है, इसलिए मैं उसे जीवास्तिकाय कहता हूँ ।

कालोदायी ! तुम मेरे पास आये हो, कैसे आये ?

भन्ते ! चलकर आया हूँ ।

क्या तुम जानते हो कि मछली पानी में तैरती है ?

हाँ, भन्ते ! जानता हूँ ।

तैरने की शक्ति मछली में है या पानी में ?

भन्ते ! तैरने की शक्ति मछली में है ।

तो क्या वह पानी के बिना तैर सकती है ?

नहीं भन्ते ! ऐसा नहीं होता ।

मछली को तैरने के लिए पानी की अपेक्षा है, उसी प्रकार जीव और पुद्गल की गति करने के लिए गति तत्त्व की अपेक्षा है । जो द्रव्य जीव और पुद्गल की गति में अपेक्षित सहयोग करता है, उसे मैं धर्मास्तिकाय कहता हूँ । मछली पानी के बाहर आती है और भूमि पर आ स्थिर हो जाती है । स्थिर होने की शक्ति मछली में है किन्तु भूमि उसे स्थिर होने में सहायता देती है । जीव और पुद्गल में स्थिति की शक्ति है पर उनकी स्थिति में जो अपेक्षित सहयोग करता है, उस स्थिति तत्त्व को मैं अधर्मास्तिकाय कहता हूँ ।

गति तत्त्व और स्थिति तत्त्व दोनों अस्तिकाय हैं । इनकी अविभक्त प्रदेश-राशि आकाश के बृहद् माग में फैली हुई है । आकाश के जिस खण्ड में ये हैं, वहाँ गति है, स्पंदन है, जीवन है और परिवर्तन है । इस आकाश-खण्ड को मैं लोक कहता हूँ । इससे परे जो आकाश-खण्ड है, उसे मैं 'अलोक' कहता हूँ । लोक का आकाश-खण्ड सान्त है, ससीम है । अलोक का आकाश-खण्ड अनन्त है, अससीम है ।

तुम देख रहे हो कि यह पेड़, यह मनुष्य, यह मकान कहीं न कहीं टिके हुए हैं । तुमने देखा है कि पानी घड़े में टिकता है । घड़ा फूट जाता है, पानी ढुल जाता है । पानी को टिकने के लिए कोई आधार चाहिए । इसी प्रकार द्रव्यों को भी आधार की अपेक्षा होती है । एक द्रव्य अस्तित्व में है, उसमें आधार देने की क्षमता है, उसे मैं आकाशास्तिकाय कहता हूँ ।

तुम देख रहे हो सामने एक पेड़ है । क्या देख रहे हो ?

भन्ते ! उसका हरा रंग देख रहा हूँ ।

क्या उसकी सुगन्ध नहीं आ रही है ?

भन्ते ! आ रही है ।

क्या इसमें रस नहीं है ?

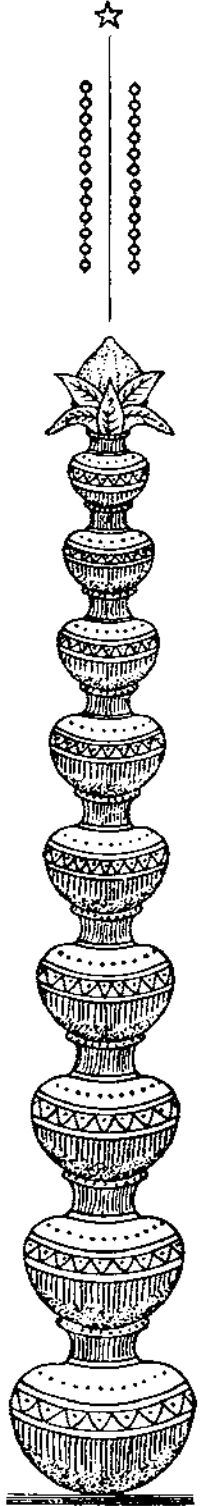
भन्ते ! है ।

इसकी कोमल पत्तियों का स्पर्श मन को आकर्षित नहीं करता ?

भन्ते ! करता है ।

कालोदायी ! जिसमें वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श होता है, उसे मैं पुद्गलास्तिकाय कहता हूँ ।

मैंने अस्तिकायों को जाना है, देखा है । इसीलिए मैं पाँच अस्तिकायों का प्रतिपादन करता हूँ । इनका प्रतिपादन मैं किसी शास्त्र के आधार पर नहीं कर रहा हूँ, किन्तु अपने प्रत्यक्ष ज्ञान के आधार पर कर रहा हूँ ।



महावीर का तात्त्विक प्रवचन सुनकर कालोदायी का मन समाहित हो गया ।

यह पंचास्तिकाय का वर्गीकरण मौलिक है । भारतीय दर्शनों के तात्त्विक वर्गीकरण को सामने रखकर उनका तुलनात्मक अध्ययन करने वाला यह कहने का साहस नहीं करेगा कि यह वर्गीकरण दूसरों से ऋण-प्राप्त है । कुछ विद्वान् स्वल्प अध्ययन के आधार पर विचित्र-सी धारणाएँ बना लेते हैं और उन्हें आगे बढ़ाते चले जाते हैं । यह बहुत ही गम्भीर चिन्तन का विषय है कि विद्वद् जगत् में ऐसा हो रहा है ।

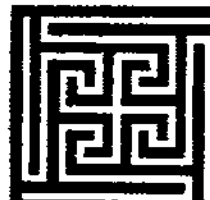
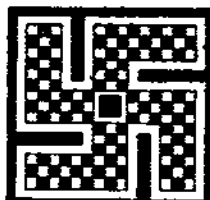
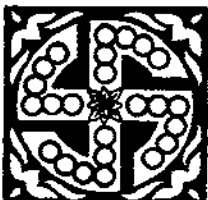
कहीं न कहीं कोई आवरण अवश्य है । आवरण के रहते सचाई प्रगट नहीं होती । मुझे एक घटना याद आ रही है । एक राजकुमारी को संगीत की शिक्षा देनी थी । वीणा-वादन और संगीत के लिए राजकुमार उदयन का नाम सूर्य की मूर्ति चमक रहा था । राजा ने कूट-प्रयोग से उदयन को उपलब्ध कर लिया । राजा राजकुमारी को संगीत सिखाना चाहता था और दोनों को सम्पर्क से बचाना भी चाहता था । इसलिए दोनों के बीच में यवनिका बांध दी । दोनों के मनों में भी यवनिका बाँधने की चेष्टा की । उदयन से कहा गया—राजकुमारी अंधी है । वह तुम्हारे सामने बैठने में सकुचाती है । अतः वह यवनिका के भीतर बैठेगी । राजकुमारी से कहा गया—उदयन कोढ़ी है । वह तुम्हारे सामने बैठने में सकुचाता है । अतः वह यवनिका के बाहर बैठेगा । शिक्षा का क्रम चालू हुआ और कई दिनों तक चलता रहा । एक दिन उदयन संगीत का अभ्यास करा रहा था । राजकुमारी बार-बार स्वलित हो रही थी । उदयन ने कई बार टोका, फिर भी राजकुमारी उसके स्वरो को पकड़ नहीं सकी । उदयन कुछ क्रुद्ध हो गया । उसने आवेश में कहा—जरा संभल कर चलो । कितनी बार बता दिया, फिर भी ध्यान नहीं देती हो । आखिर अन्धी जो हो । राजकुमारी के मन पर चोट लगी । वह बौखला उठी । उसने भी आवेश में कहा—कोढ़ी ! जरा संभलकर बोलो ! उदयन ने सोचा, कोढ़ी कौन है ? मैं तो कोढ़ी नहीं हूँ । फिर राजकुमारी ने कोढ़ी कैसे कहा ? राजकुमारी ने भी इसी प्रकार सोचा—मैं तो अन्धी नहीं हूँ । फिर उदयन ने अन्धी कैसे कहा ? सचाई को जानने के लिए दोनों तड़प उठे । यवनिका को हटाकर देखा—कोई अन्धी नहीं है और कोई कोढ़ी नहीं है । बीच का आवरण यह धारणा बनाये हुए था कि यवनिका के इस पार अन्धापन है और उस पार कोढ़ । आवरण हटा और दोनों बातें हट गईं । मुझे लगता है जैन-दर्शन की मौलिकता को समझने में भी कोई आवरण बीच में आ रहा है । अब उसे हटाना होगा ।

परमाणुवाद का विकास वैशेषिकदर्शन से हुआ है, फिर जैनदर्शन ने उसे अपनाया है । चेतन और अचेतन—इस द्वैत का प्रतिपादन सांख्यदर्शन ने किया है, फिर जैनदर्शन ने उसे अपनाया है । यह सब ऐसे प्रस्तुत किया जा रहा है कि मानो जैनदर्शन का अपना कोई मौलिक रूप है ही नहीं । वह सारा का सारा ऋण लेकर अपना काम चला रहा है । सत्य यह है कि परमाणु और पुद्गल के बारे में जितना गम्भीर चिन्तन जैन आचार्यों ने किया है, उतना किसी भी दर्शन के आचार्यों ने नहीं किया । सांख्यदर्शन की प्रकृति और उसका विस्तार एक पुद्गलास्तिकाय की परिधि में आ जाता है । धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय का अस्तित्व उससे सर्वथा स्वतन्त्र है । जैनदर्शन की प्राचीनता की अस्वीकृति, उसके आधारभूत आगम-सूत्रों के अध्ययन की परम्परा के अभाव और जैन विद्वानों की उपेक्षावृत्ति ने ऐसी स्थिति का निर्माण किया है कि जैनदर्शन का देय उसी के लिए ऋण के रूप में समझा जा रहा है ।

भगवान महावीर ने वस्तु-मीमांसा और मूल्य-मीमांसा—दोनों दृष्टियों से तत्त्व का वर्गीकरण किया । वस्तु-मीमांसा की दृष्टि से उन्होंने पंचास्तिकाय का प्रतिपादन किया और मूल्य-मीमांसा की दृष्टि से उन्होंने नौ तत्त्वों का निरूपण किया ।

चार्वाक का तात्त्विक वर्गीकरण केवल वस्तु-मीमांसा की दृष्टि से है । उसके अनुसार पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु—ये चार तत्त्व हैं । उनसे निर्मित यह जगत् भौतिक और दृश्य है । अदृश्य सत्ता का कोई अस्तित्व नहीं है ।

न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम का तात्त्विक वर्गीकरण एक प्रकार से प्रमाण-मीमांसा है । वैशेषिक-दर्शन का तात्त्विक वर्गीकरण नैयायिकदर्शन की अपेक्षा वास्तविक है । उसमें गुण, कर्म, सामान्य और विशेष की व्यवस्थित व्याख्या मिलती है । जैनदर्शन की दृष्टि से इनकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं है । ये द्रव्य के ही धर्म हैं । सांख्य-दर्शन का तात्त्विक वर्गीकरण सृष्टिक्रम का प्रतिपादन करता है । इनके पञ्चोस तत्त्वों में मौलिक तत्त्व दो हैं—प्रकृति और पुरुष । शेष तेईस तत्त्व प्रकृति के विकार हैं । उनका स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है । पंचास्तिकाय के वर्गीकरण में पाँचों



द्रव्यों का स्वतंत्र अस्तित्व है। कोई भी द्रव्य किसी का गुण या अवांतर विभाग नहीं है। गति, स्थिति, अवगाह, चैतन्य तथा वर्ण, गंध, रस और स्पर्श—ये विशिष्ट गुण हैं। इन्हीं के द्वारा उनकी स्वतंत्र सत्ता है। इस वर्गीकरण में न प्रमाण-मीमांसा है, न गुणों की स्वतंत्र सत्ता की स्वीकृति और न सृष्टि का क्रम। इसमें दृश्य और अदृश्य, मौलिक और अमौलिक अस्तित्वों का प्रतिपादन है। इस दृष्टि से यह वर्गीकरण मौलिक और वास्तविक है।

वस्तु-मीमांसा और मूल्य-मीमांसा का वर्गीकरण एक साथ किया जाता तो वह नैययिक, वैशेषिक और सांख्य दर्शन जैसा मिला-जुला वर्गीकरण होता। उसकी वैज्ञानिकता समाप्त हो जाती। पंचास्तिकाय के कार्य के विषय में संक्षिप्त चर्चा हो चुकी है। फिर भी उस विषय में महावीर और गौतम का एक संवाद मैं प्रस्तुत करना चाहूँगा। गौतम ने पूछा—भंते ! धर्मास्तिकाय से क्या होता है ? भगवान ने कहा—गौतम ! आदमी चल रहा है, हवा चल रही है, श्वास चल रहा है, वाणी चल रही है, आँखें पलक झपका रही हैं। यह सब धर्मास्तिकाय के सहारे से हो रहा है। यदि वह न हो तो निमेष और उन्मेष नहीं हो सकता। यदि वह न हो तो आदमी बोल नहीं सकता। यदि वह न हो तो आदमी सोच नहीं सकता। यदि वह नहीं होता तो सब कुछ पुतली की तरह स्थिर और स्पन्दनहीन होता।

उपनिषद् के ऋषियों ने कहा कि यदि आकाश नहीं होता तो आनन्द नहीं होता। आनन्द कहाँ होता है ? आकाश है, तभी तो आनन्द है। ठीक इसी भाषा में भगवान महावीर ने कहा—धर्मास्तिकाय नहीं होता तो स्पन्दन भी नहीं होता। तुम पृष्ठ रहे हो और मैं उत्तर दे रहा हूँ, यह इसीलिए हो रहा है कि धर्मास्तिकाय है। यदि वह नहीं होता तो न तुम पृष्ठ सकते और न मैं उत्तर दे सकता। हम मिलते भी नहीं। जो जहाँ है, वह वहीं होता। हमारा मिलन, वाणी का मिलन, शरीर का मिलन, वस्तु का मिलन जो हो रहा है, एक वस्तु एक स्थान से दूसरे स्थान पर आ-जा रही है, यह सब उसी गति-तत्त्व के माध्यम से हो रहा है। वह अपना सहारा इतने उदासीन भाव से दे रहा है कि किसी को कोई शिकायत नहीं है। उसमें चेतना नहीं है, इसलिए न उपकार का अहंकार है और न कोई पक्षपात। वह स्वाभाविक ढंग से अपना कार्य कर रहा है।

गौतम ने पूछा—भंते ! अधर्मास्तिकाय से होता है ?

भगवान ने कहा—तुम अभी ध्यान कर आए हो। उसमें तुम्हारा मन कहाँ था ?

भंते ! कहीं नहीं। मैंने मन को निरुद्ध कर दिया था।

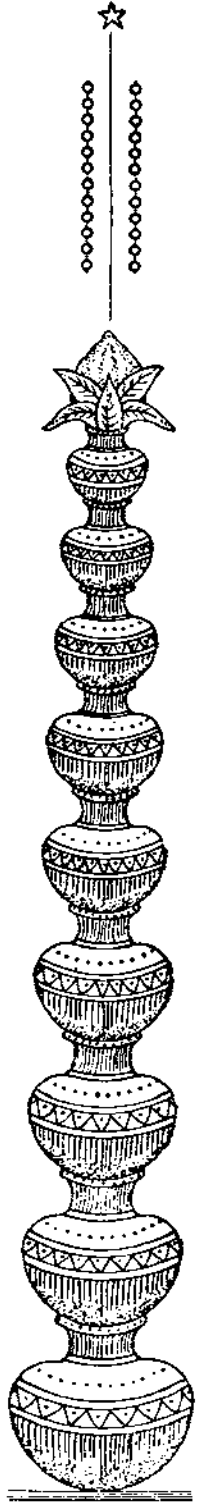
भगवान बोले—यह तिरोध, एकाग्रता, स्थिरता अधर्मास्तिकाय के सहारे होता है। यदि वह नहीं होता तो न मन एकाग्र होता, न मौन होता और न तुम आँख मूंदकर बैठ सकते। तुम चलते ही रहते। इस अनन्त आकाश में अविराम चलते रहते। जिस बिन्दु से चले उस पर फिर कभी नहीं पहुँच पाते। अनन्त आकाश में खो जाते। किन्तु गति के प्रतिकूल हमारी स्थिति है, इसीलिए हम कहीं टिके हुए हैं। इस कार्य में अधर्मास्तिकाय वैसे ही उदासीन भाव से हमारा सहयोग कर रहा है, जैसे गति में धर्मास्तिकाय।

गौतम ने पूछा—आकाश में क्या होता है ?

भगवान ने कहा—धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, जीवास्तिकाय और पुद्गलास्तिकाय—इन सबका अस्तित्व आकाश के अस्तित्व पर निर्भर है। वह उन सबको आधार दे रहा है। जिस आकाश-खण्ड में धर्मास्तिकाय है, उसी में अधर्मास्तिकाय है, उसी में जीवास्तिकाय और उसी में पुद्गलास्तिकाय है। आकाश की यह अवकाश देने की क्षमता नहीं होती तो ये एक साथ नहीं होते। उसके अभाव में इन सबका सद्भाव नहीं होता।

गौतम ने पूछा—भंते ! जीव क्या करता है ?

भगवान ने कहा—वह ज्ञान करता है, अनुभव करता है। उसके पास इन्द्रियाँ हैं। वह देखता है, सुनता है, सूँघता है, चखता है और छूता है। सामने हरा रंग है। आँख ने देखा, उसका काम हो गया। पत्तियों की खनखनाहट हो रही है। कान ने सुना, उसका काम समाप्त। हवा के साथ आने वाली सुगंध का नाक ने अनुभव किया, उसका काम समाप्त। जीभ ने फल का रस चखा और उसका काम पूरा हो गया। हाथ ने तने को छुआ और उसका काम पूरा हो गया। किन्तु कुल मिलाकर वह क्या है ? यह न आँख जानती है और न कान। इनके बिखरे हुए अनुभवों



को समेट कर संकलन करने वाला जो है, वह है मन । उसके लिए हरा रंग, पत्तियाँ, पुष्प, फल और छाल—ये अलग-अलग नहीं हैं किन्तु एक ही पेड़ के विभिन्न रूप हैं । इन्द्रियों के जगत् में वे अलग-अलग होते हैं और मन के जगत् में वे सब अमिन्न होकर पेड़ बन जाते हैं । मन सोचता है, मनन करता है, कल्पना करता है और स्मृति करता है । जीव के पास बुद्धि है । वह मन के द्वारा प्राप्त सामग्री का विवेक करती है, निर्णय देती है और उसमें कुछ अद्भुत क्षमताएँ हैं । वह इन्द्रिय और मन से सामग्री प्राप्त किये बिना ही कुछ विशिष्ट बातें जान लेती है । ये (इन्द्रिय, मन और बुद्धि) सब जीव की चेतना के भौतिक संस्करण हैं । इसलिए ये पुद्गलों के माध्यम से एक को जानते हैं । ये ज्ञेय का साक्षात्कार नहीं कर सकते । शुद्ध चेतना ज्ञेय का साक्षात्कार करती है । वह किसी माध्यम से नहीं जानती । इसीलिए हम उसे प्रत्यक्ष ज्ञान या अतीन्द्रिय ज्ञान कहते हैं । यह ज्ञान का सम्पूर्ण क्षेत्र जीव के अधिकार में है ।

गौतम ने पूछा—मंते ! पुद्गल का क्या कार्य है ?

भगवान् ने कहा—आदमी श्वास लेता है, सोचता है, बोलता है, खाता है—यह सब पुद्गल के आधार पर हो रहा है । श्वास की वर्गणा (पुद्गल समूह) है, इसलिए वह श्वास लेता है । मन की वर्गणा है इसलिए वह सोचता है । माषा की वर्गणा है, इसलिए वह बोलता है । आहार की वर्गणा है, इसलिए वह खाता है । यदि ये वर्गणाएँ नहीं होतीं तो न कोई श्वास लेता, न कोई सोचता, न कोई बोलता और न कोई खाता । जितने दृश्य तत्त्व हैं, वे सब पुद्गल की वर्गणाएँ हैं । पुद्गलास्तिकाय का स्वरूप एक है, फिर भी कार्य के आधार पर उसकी अनेक वर्गणाएँ हैं । उसे एक उदाहरण के द्वारा समझा जा सकता है । एक ग्वाला भेड़ों को चराता था । वे अनेक लोगों की थीं । उसे गिनती करने में कठिनाई होती थी । उसने एक रास्ता निकाला । एक-एक मालिक की भेड़ों का एक-एक वर्ग बना दिया और उन्हें एक-एक रंग से रंग दिया । उसे सुविधा हो गई । यह वर्गणाओं का विभाजन भी कार्य-बोध की सुविधा के आधार पर किया गया है । जीव की जितनी भी प्रवृत्ति होती है, वह पुद्गल की सहायता से होती है । यदि वह नहीं होता तो कोई प्रवृत्ति नहीं होती । सब कुछ निष्क्रिय और निर्वीर्य होता ।

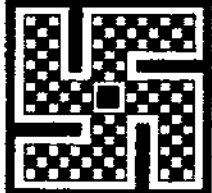
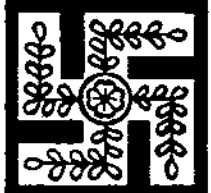
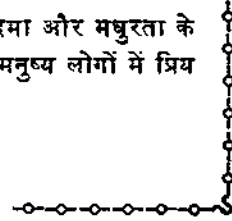
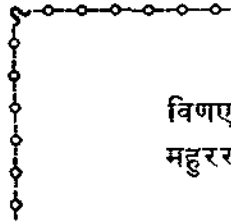
□□

विणएण णरो, गंधेण चंदणं सोमयाइ रयणियरो ।

महुररसेण अमयं, जणपियत्तं लहइ भुवणे ॥

—धर्मरत्नप्रकरण, १ अधिकार

जैसे सुगन्ध के कारण चंदन, सौम्यता के कारण चन्द्रमा और मधुरता के कारण अमृत जगत्प्रिय हैं, ऐसे ही विनय के कारण मनुष्य लोगों में प्रिय बन जाता है ।



□ डा० नन्दलाल जैन

[प्राध्यापक, रसायनशास्त्र विभाग,
गृह विज्ञान महाविद्यालय, जबलपुर]

ज्ञान, योग-सापेक्ष है, विज्ञान प्रयोग-सापेक्ष। वर्तमान युग प्रायोगिक सत्यापन का युग है। जैनदर्शन की आत्म-ज्ञान-सापेक्ष धारणाएँ विज्ञान की कसौटी पर कसने का एक स्वतन्त्र विचार-प्रधान प्रयत्न प्रस्तुत लेख में किया गया है।

आधुनिक विज्ञान और जैन मान्यताएँ

□

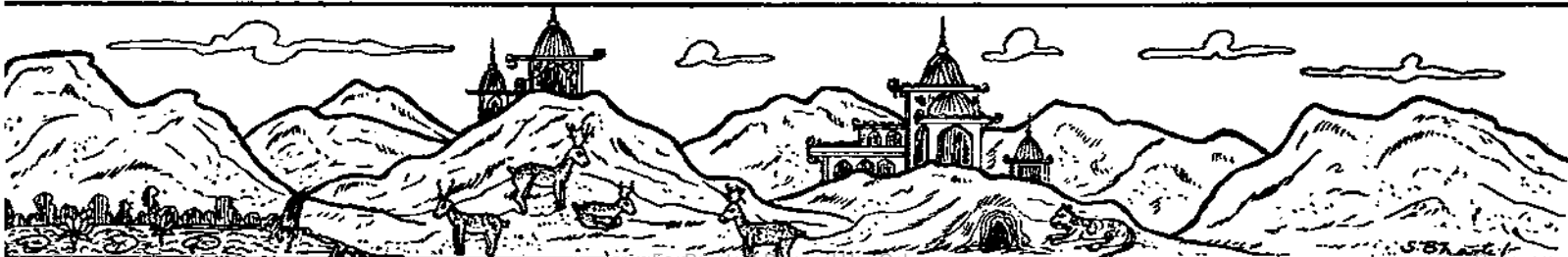
समीचीनता के अवयव : विचार और परीक्षण

परीक्षाप्रधानी स्वामी समंतभद्र ने संसार के दुःखों से त्राण देने वाले, उत्तम सुख को धारण कराने वाले तथा कर्म-मल को दूर करने वाले समीचीन साधन को धर्म बतलाया है। यद्यपि सुख-दुःख और कर्म-अकर्म के विषय में बुद्धि-जीवियों ने साधारण जन को अपने तर्क-वितर्कों से सदैव भूल-भूलाईया में डालने का प्रयास किया है, पर समंतभद्र की उक्त परिभाषा का विश्लेषण बताता है कि विभिन्न गुणों से युक्त समीचीन माध्यम ही धर्म है। वस्तुतः समीचीन वह है जो मुक्तिप्रवण हो, सहज बोधगम्य हो एवं परीक्षणीय हो। पिछले तीन हजार वर्षों में वैचारिक पद्धति ही समीचीनता को निर्धारित करने का प्रमुख माध्यम रही है। धर्म और जीवन-सम्बन्धी विभिन्न तत्त्वों और प्रक्रियाओं के शास्त्रोक्त विवरणों में पर्याप्त सत्यान्वेषण-क्षमता, सूक्ष्म-दृष्टि एवं गहन-विचारपरता पाई जाती है। वास्तव में पाश्चात्य विचारकों ने जैनों को वर्गीकरण-विशारद एवं तीक्ष्ण बौद्धिक माना है। वैचारिक पद्धति में एक ओर जहाँ ज्ञान की गहनता पाई जाती है, वहीं दूसरी ओर कल्पना-शक्ति की सूक्ष्मता भी होती है। इस सूक्ष्मता की स्थूल परीक्षा संभव नहीं रही है, फलतः शास्त्रों को सर्वोच्च प्रमाण मानने की प्रवृत्ति का उदय हुआ। तत्त्वज्ञान के लिए आवश्यक प्रमाणों में शास्त्र-प्रमाण एक प्रमुख अवयव माना जाने लगा।

पिछले पाँच सौ वर्षों में सत्यान्वेषण का एक नया माध्यम सामने आया है, जिसमें तथ्यों एवं विचारों का प्रयोगों द्वारा सत्यापन किया जाता है। इनके विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करने के लिए सूक्ष्मदर्शी, दूरदर्शी एवं अन्य सुग्राही उपकरणों की सृजना की गई है। वस्तुतः वर्तमान युग प्रायोगिक सत्यापन का युग ही माना जाता है। इस युग में वैचारिक पद्धति की एकमात्र सत्यता पर काफी टीका-टिप्पणी हुई है और अब यह माना जाने लगा है कि वस्तुतः ये दोनों पद्धतियाँ एक दूसरे की पूरक हैं। जहाँ वैचारिक पद्धति में बुद्धि-चक्षु ही निपुण होते हैं, वहाँ प्रायोगिक पद्धति में चर्म-चक्षु या यन्त्र-चक्षु अपना करिश्मा प्रदर्शित करते हैं। ये यन्त्र-चक्षु अदृश्य या अमूर्त जगत् सम्बन्धी विचारों की समीचीनता की परीक्षा के लिए तो प्रयुक्त किये ही जा सकते हैं।

ज्ञान और दर्शन का समन्वय

वास्तव में, जैनदर्शन में जीव या चेतन को ज्ञान-दर्शन द्वारा अभिलक्षणित करने की बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। लेकिन ज्ञान और दर्शन की शास्त्रोक्त परिभाषायें व्यावहारिक मान्यताओं से एकदम मेल नहीं खाती हैं। वस्तुतः हमें ज्ञान को निराकार और दर्शन को साकार मानना चाहिए। इस दृष्टि से जहाँ ज्ञान वैचारिक पद्धति को निरूपित करता है वहाँ दर्शन प्रयोगात्मक पद्धति को निरूपित करेगा। फलतः वस्तु तत्त्व का ज्ञान इन दोनों पद्धतियों के समन्वय



से प्राप्त होता है। यदि शास्त्रोक्त 'ज्ञान' की परिभाषा ही सही मानी जावे, तो भी दर्शन बौद्धिक पद्धति को निरूपित करेगा और 'ज्ञान' प्रयोगात्मक पद्धति को। इस दृष्टि से जैनदर्शन का 'ज्ञान' शब्द आज के 'विज्ञान' शब्द का पर्याय-वाची बन जाता है। लेकिन धर्मसम्मत 'ज्ञान' को त्रैकाल्य-प्रामाणिकता दी गई है, जो विज्ञान नहीं मानता है।

अन्तर्द्वन्द्व और वैज्ञानिक कसौटी

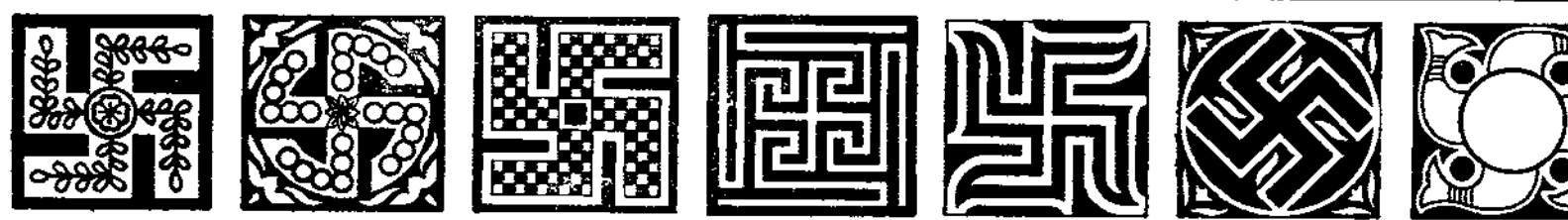
धार्मिक मान्यता के अनुसार हम अवसर्पिणी युग में चल रहे हैं और हमारी प्रगति नकारात्मक हो रही है। यह तथ्य आध्यात्मिकता की दृष्टि से ही सही बैठता है, भौतिक दृष्टि से तो यह युग प्रगति की सीमाओं को स्पर्श करता प्रतीत होता है। पिछले पाँच हजार वर्ष का इतिहास इसका साक्षी है कि हम कैसे जंगलों से निकलकर नगरी-जीवन में आये। आज का साधारण-जन भी इस दुविधा में है कि वह अपने इस विकास को प्रगति कहे या अवनति? तभी उसे ध्यान आता है—साकार ज्ञान। वास्तविक ज्ञान तो वह है जो प्रयोगसिद्ध तथ्यों के आधार पर किया जाये। हमारे शास्त्रोक्त ज्ञान की प्रामाणिकता भी आज प्रायोगिक कसौटी पर खरे उतरने पर निर्भर हो गई है। वस्तुतः जो दार्शनिक सिद्धान्त प्रायोगिक तथ्यों के जितने ही निकटतम होंगे, वे उतने ही प्रामाणिक माने जायेंगे।

वैज्ञानिक वृद्धि और प्रयोगकला के विकास के समय ऐसे बहुत से तथ्यों का पता चला जो पूर्व और पश्चिम के दर्शनों से मेल नहीं खाते थे। उदाहरणार्थ, 'चतुर्भूतमय-जगत्' का सिद्धान्त लेवोशिये के समय में पूर्णतः असत्य सिद्ध हो गया—जब यह पता चला कि जल तत्त्व नहीं है, हाइड्रोजन और आक्सीजन का यौगिक है। वायु तत्त्व नहीं है, वह नाइट्रोजन, आक्सीजन आदि का मिश्रण है। अग्नि तत्त्व नहीं है, वह तो रासायनिक क्रियाओं में उत्पन्न ऊष्मा है। पृथ्वी भी तत्त्व नहीं है, यौगिक और मिश्रणों का विविध प्रकार का समुच्चय है। सूर्य-पृथ्वी की सापेक्ष-गति के विषय में भी पूर्व-प्रचलित मत भ्रामक सिद्ध हुआ है और अब यह माना जाता है कि पृथ्वी आदि ग्रह सूर्य के चारों ओर घूमते हैं (जैनमत के अनुसार सूर्य आदि ग्रह मेरु (पृथ्वी) की प्रदक्षिणा करते हैं)। अजीब से जीव की उत्पत्ति सम्बन्धी समूच्छेन जन्मवाद भी पाश्चर के प्रयोगों से समाप्त हो गया है। बीसवीं सदी के पूर्वार्द्ध में परमाणुओं की अविभागित्व एवं अविनाशित्व सम्बन्धी मान्यतायें भी त्रुटिपूर्ण प्रमाणित हो गईं। इन वैज्ञानिक तथ्यों से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि प्रयोग-प्रमाणित विचार ही समीचीनता के निदर्शक हो सकते हैं। अन्य विचारों को हमें तत्कालीन तथ्यों एवं मान्यताओं के रूप में ही स्वीकार करना होगा, समीचीन ज्ञान के रूप में नहीं।

उपर्युक्त उदाहरण प्रायः भौतिक जगत् से सम्बन्धित हैं जो प्रयोगसिद्ध नहीं पाये गये हैं। इनसे यह निष्कर्ष नहीं निकालना चाहिए कि हमारे शास्त्रों का भौतिक जगत्-सम्बन्धी समस्त विवरण ही त्रुटिपूर्ण है। जैनदर्शन के बहुत से सिद्धान्त ऐसे हैं जो विज्ञान की कसौटी पर आज भी खरे उतर रहे हैं और संभवतः वे त्रिकालाबाधित सत्य बने रहेंगे। वस्तुतः जीवन या जगत् के दो मूलभूत पक्ष होते हैं—नैतिक और भौतिक। धर्म के भी दो पक्ष हैं—आचार और विचार। नैतिक विचारों की त्रिकालाबाधितता संभव हो सकती है, पर भौतिक तत्त्वों और आचारों में देशकालादि की अपेक्षा सदैव परिवर्तन, परिवर्द्धन एवं रूपान्तरण होता रहता है। इन तत्त्वों को त्रिकालाबाधित रूप में सत्य नहीं माना जा सकता। महावीर के उपदेशों में अवक्तव्यवाद, परमाणु और उनका बन्ध, जीववाद आदि कुछ ऐसी मान्यताएँ हैं जिनसे हमें उनकी गहन चिन्तन शक्ति एवं सूक्ष्म निरीक्षणक्षमता का भान होता है। ये मान्यताएँ पच्चीस सौ वर्ष बाद भी प्रयोग-सिद्ध बनी हुई हैं। इनके कारण हमें अपनी अन्य मान्यताओं को परखने के लिए प्रोत्साहन मिलता है।

ज्ञान और उसकी प्राप्ति के उपाय

शास्त्रोक्त मान्यता के अनुसार ज्ञान दो प्रकार का होता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। आध्यात्मिक दृष्टि से तो केवल आत्मसापेक्ष ज्ञान ही प्रत्यक्ष माना जाता है। इन्द्रियों एवं मन की सहायता से होने वाला ज्ञान परोक्ष कहलाता है। वस्तुतः नन्दीसूत्र में इन्द्रिय ज्ञान को भी प्रत्यक्ष माना गया है जो लौकिक दृष्टि से उचित ही है। वैज्ञानिक दृष्टि से आज विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म, अर्द्धसूक्ष्म एवं अन्य सूक्ष्मदर्शी, दूरदर्शी आदि उपकरण भी ज्ञान प्राप्त करने में सहायक हो रहे हैं। चूँकि इन उपकरणों का शास्त्रों में नगण्य उल्लेख मिलता है, अतः शास्त्र-निर्माण-काल में उपकरणों के अभाव का अनुमान सहज हो जाता है। चूँकि इन्द्रियाँ तो स्थूलग्राही हैं, अतः सूक्ष्म पदार्थों का ज्ञान मन की सहायता से ही किया गया होगा। किसी भी ज्ञान की प्रामाणिकता उसके अविस्वादित्व, अपूर्वार्थग्राहित्व या ग्रहीतग्राहित्व आदि गुणों के



कारण होती है, जिसमें प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम (परोक्ष) सहायक होते हैं। आज उपकरणों के द्वारा प्रस्तुत ज्ञान के कारण प्राचीन ज्ञान में काफी विसंवाद प्रतीत होने लगा है, अतएव उसकी प्रामाणिकता में सन्देह होना अस्वाभाविक नहीं है।

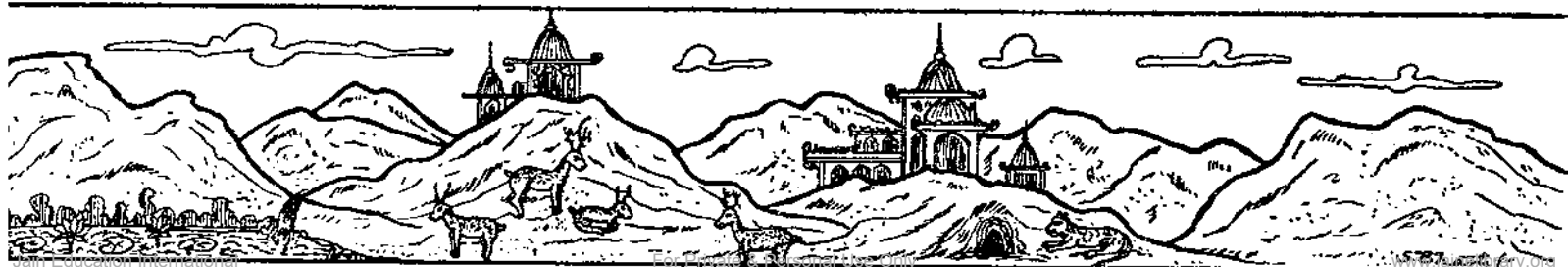
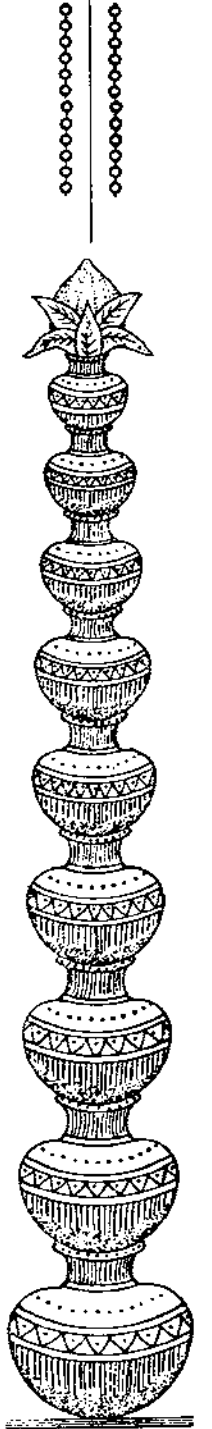
शास्त्रों में इन्द्रियों द्वारा ज्ञान की प्राप्ति की जो प्रक्रिया बताई गई है, वह नितान्त वैज्ञानिक है। अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा वैज्ञानिक पद्धति में भी प्रारम्भ में प्रयोग किये जाते हैं। उनमें विभिन्न प्रकार से सूक्ष्म और स्थूल निरीक्षण किये जाते हैं। पुरातनकाल में प्रयोगों की परम्परा तो नहीं रही, पर प्रकृति निरीक्षण खूब होता था। इन निरीक्षणों को अवग्रह कहा जा सकता है। इन निरीक्षणों में नियमिततायें देखना और अनुमान करना 'ईहा' ही है। इन नियमितताओं को संकल्पना कहा जाता है। इन नियमितताओं की व्यापकता का ज्ञान इन्हें सिद्धान्त या अवाय बना देता है। जब ये नियमिततायें सार्वत्रिक होती हैं, तो वे नियम बन जाती हैं। विज्ञान की प्रक्रिया में स्वयं के समान दूसरों के प्रयोग और निरीक्षण भी महत्त्वपूर्ण होते हैं। वस्तुतः विज्ञान की प्रगति का मूल कारण दूसरों के प्रयोगों, निरीक्षणों व निष्कर्षों की प्रामाणिकता ही है, जिसके आधार पर आगे के प्रयोग किये जाते हैं। कभी-कभी नये प्रयोगों में पुराने निष्कर्षों का अविस्वादित्व भी खतरे में पड़ जाता है। फलतः नये तथ्यपूर्ण परिणामों के अनुरूप निष्कर्ष स्थिर किये जाते हैं। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रक्रिया पूर्व ज्ञान को समुचित महत्त्व देती हुई ज्ञान की मशाल को नित नये क्षितिजों में पहुँचाती है।

आध्यात्मिक ज्ञान के अतिरिक्त अन्य शास्त्र-वर्णित ज्ञान इन्द्रिय और मन की सहायता से ही प्राप्त किया प्रतीत होता है। उपकरणों की सहायता से इन्द्रियज्ञान के निष्कर्षों में काफी परिवर्तन की आवश्यकता हुई है। हम यहाँ एक सामान्य उदाहरण ले सकते हैं, इन्द्रियों की प्राप्यकारिता। यह माना जाता है कि चक्षु को छोड़कर सभी इन्द्रियों का ज्ञान प्राप्यकारित्व के कारण होता है। वस्तुतः चक्षु और श्रोत्र इन्द्रिय की स्थिति लगभग एक-सी है। जैसे चक्षु दृश्य पदार्थ के पास पहुँचकर उसका ज्ञान नहीं करती, वैसे ही श्रोत्र भी शब्दोत्पत्ति के स्थान तक पहुँचकर उसका ज्ञान नहीं करता। जैसे कोलाहल के समय शब्दों के श्रवण की अस्पष्टता होती है, वैसे ही अगणित दृश्य पदार्थों की उपस्थिति में चक्षु भी यथार्थ रूप से सभी पदार्थ नहीं देख पाती। सूक्ष्मान्तरित दूरार्थ वस्तुओं की चक्षुग्राहिता जैसे भिन्न-भिन्न कोटि की होती है, वैसे ही शब्दों की स्थिति है। जैसे कान में शब्दोत्पत्ति कान में विद्यमान शिल्लियों के अनुरूपी कम्पनों के कारण होती है, वैसे ही चक्षु द्वारा रूपादि का ज्ञान भी पदार्थ द्वारा व्यवहित किरणों के चाक्षुष केमरे पर पड़ने के बाद ही होता है। आंतरिक कम्पनों के बिना न शब्द सुनाई पड़ सकता है और वस्तु द्वारा प्रक्षिप्त प्रकाश किरणों के बिना न रूपादि का ज्ञान हो सकता है। इस प्रकार चक्षु और श्रोत्र की प्रक्रिया बिल्कुल एक-सी है। फिर भी, एक को प्राप्यकारी माना गया है और दूसरे को अप्राप्यकारी। इसका कारण स्पष्ट है कि शब्द के सम्बन्ध में कानों में होने वाले कम्पन किञ्चित् अनुभवगम्य हैं। वे भौतिक हैं, अतः इन्द्रिय-ग्राह्य हैं। रूपादि के ज्ञान में प्रकाश किरण का प्रभाव सापेक्षतः सूक्ष्मतर कोटि का होता है, अतः अनुभव या प्रतीतिगम्य नहीं होता। इसलिए इसे अप्राप्यकारी कह दिया गया।

ज्ञान की प्रामाणिकता का आधार अविस्वादिता को माना गया है। यह दो प्रकार से आ सकती है—स्वतः और परतः। जैनदर्शन का यह मत समीचीन लगता है कि ज्ञान की मूल प्रामाणिकता परतः ही होती है। इसके लिए पुरातन ज्ञान एवं अन्य स्रोतों से प्राप्त निष्कर्ष सहायक होते हैं। इस तथ्य का फलितार्थ यह है कि मानसिक एवं मात्र बौद्धिक विचारों को प्रयोग (परतः) संपुष्ट होने पर ही प्रामाणिकता प्राप्त होनी चाहिए। ज्ञान और प्रमाणों के सम्बन्ध में जैन मान्यतायें अन्य मान्यताओं से प्रगतिशील अवश्य हैं, फिर भी उनके पुनर्मूल्यांकन का काम अत्यावश्यक है। आगे के पृष्ठों में प्रयोग संपुष्ट तथ्यों के आलोक में कुछ शास्त्रीय मान्यताओं के सम्बन्ध में चर्चा की गई है।

संसार के मूल तत्त्व

जैन मान्यता के अनुसार संसार के मूलतः सात तत्त्व हैं—जीव, अजीव, आस्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष। तत्त्वों का यह वर्गीकरण जीवन के नैतिक विकास के दृष्टिकोण से किया गया है। वही धर्म का लक्ष्य है। यह वर्गीकरण वस्तुतः तीन मूल तत्त्वों के विस्तार के कारण है : जीव, अजीव और जीव-विकास (मोक्ष)। आस्रव और बन्ध जीव-विकास के बाधक तत्त्व हैं और संवर एवं निर्जरा जीव-विकास के साधक तत्त्व हैं। विकास के साधक और बाधक



तत्त्वों के विषय में जैनों की मूल मान्यता वस्तुतः अचरजकारी है, लेकिन ऐसा लगता है कि विज्ञान उसे सिद्ध करता प्रतीत होता है। मस्तिष्क-लहरियों के ज्ञान ने कर्म-परमाणुओं की भौतिकता की बात को सिद्ध कर दिया है। अब केवल इस प्रश्न का उत्तर देना है कि ये कर्म परमाणु कणात्मक हैं या ऊर्जात्मक हैं। ऊर्जा सूक्ष्मतर होती है। ये परमाणु ही विकास के निरोधक और साधक हैं। जीव सम्बन्धी भौतिक वर्गीकरण और निरूपण वर्तमान तथ्यों की तुलना में काफी विसंवादी लगने लगा है। इसी प्रकार अजीव के सम्बन्ध में भी यह स्पष्ट है कि अमूर्त द्रव्यों की बात तो काफी वैज्ञानिक सिद्ध हुई है, पर मूर्त जगत् की बातों में आज की दृष्टि से पर्याप्त अपूर्णता या त्रुटिपूर्णता लक्षित हो रही है। हम पहले जीव और अजीव सम्बन्धी मान्यताओं पर विचार करेंगे।

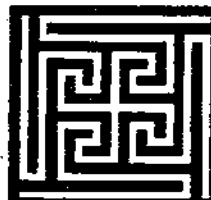
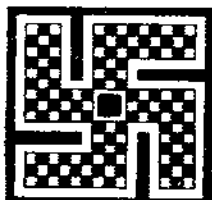
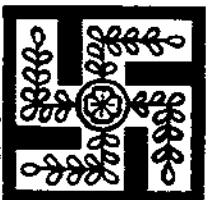
वस्तु और द्रव्यमान संरक्षण नियम

जैनदर्शन में वस्तु को उत्पाद, व्यय एवं ध्रौव्यत्व से युक्त माना गया है। इनमें उत्पाद-व्यय उसके परिवर्तन-शील गुणों को निरूपित करते हैं और ध्रौव्यत्व वस्तु में विद्यमान द्रव्य की अविनाशिता को व्यक्त करता है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु में दो प्रकार के गुण पाये जाते हैं। मूल द्रव्य अविनाशी या नित्य रहता है, उसकी संयोगवियोगादि से पर्याय बदलती रहती है। मूल द्रव्य का यह अविनाशित्व लोमन्सोफ और लेवोशिये के द्रव्यमान-संरक्षण नियम का ही एक रूप है। जैनदर्शन की मान्यता के अनुसार ऊर्जायें (ऊष्मा, प्रकाश आदि) भी पौद्गलिक हैं। अतः द्रव्य के ध्रौव्यत्व के अन्तर्गत द्रव्यमान एवं ऊर्जा—दोनों के ही संरक्षण की बात स्वयमेव समाहित हो जाती है, लेकिन लेवोशिये के नियम में इन दोनों के संयुक्त संरक्षण की बात आइन्स्टीन के ऊर्जा-द्रव्यमान रूपान्तरण-सिद्धान्त की प्रस्तावना के बाद ही (बीसवीं सदी के द्वितीय दशक में) आई है। इस संरक्षण नियम में भी यही बताया गया है कि निरन्तर परिवर्तनों के बावजूद भी मूल द्रव्य के द्रव्यमान और ऊर्जा में कोई परिवर्तन नहीं होता। वर्तमान में परमाणविक विखण्डन-क्रियाओं एवं तीव्रगामी किरणों की बमबारी की क्रियाओं में यह देखा गया है कि यूरेनियम या रेडियम आदि तत्त्व-द्रव्य द्रव्यान्तरित होकर नये तत्त्वों में परिणत हो जाते हैं। यह तथ्य 'समयसार' के उस मंतव्य से मेल नहीं खाता जिसमें यह कहा गया है कि प्रत्येक द्रव्य अपने स्वभाव से ही उत्पन्न होता है, दूसरे द्रव्य से उत्पन्न नहीं हो सकता। इसके बावजूद भी यदि द्रव्य ध्रौव्यत्व से हम द्रव्यमान (भार) के ध्रौव्यत्व का अर्थ ग्रहण करें, तो उसकी अविनाशिता तो बनी ही रहती है। यह उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यत्व-वाद, सत्कार्यवाद या कारण-कार्यवाद का ही एक अनुगत फल है, जिसे वैज्ञानिक संपोषण प्राप्त है।

वस्तुस्वरूप का कारण—परमाणुवाद

जैनमत में दृश्यमान भौतिक जगत् को परमाणुमय एवं पौद्गलिक माना है। परमाणु की प्रकृति पर अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है और उसके कार्यों पर भी विशद प्रकाश डाला गया है। परमाणु अविभागी, अविनाशी, अशब्द, मूर्तिक (पंचगुणी), विविक्त एवं इन्द्रिय-अग्राह्य होते हैं। वे लघुतम कण सदा गतिशील होते हैं। इनमें भार एवं कठोरता का गुण नहीं पाया जाता।

इन लक्षणों में परमाणु की विविक्तता या खोखलापन, गतिशीलता एवं मूर्तिकता वैज्ञानिक तथ्यों से सिद्ध हो चुके हैं। यद्यपि सामान्य इन्द्रियों से परमाणु अब भी अग्राह्य है, फिर भी यांत्रिक इन्द्रियों एवं उपकरणों से उसे भली प्रकार जांच लिया गया है। अब परमाणु में अविभाजित्व, अविनाशित्व एवं भारहीनता नहीं मानी जाती। कुछ लेखकों ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि परमाणु के वर्तमान भौतिक अवयवों को जैनों का परमाणु मानना चाहिए, लेकिन यह ठीक नहीं प्रतीत होता। परमाणुवाद की धारणायें ईसापूर्व सदियों में विश्व के विभिन्न कोनों में व्याप्त थीं और सभी में इन्द्रिय-अग्राह्य अति सूक्ष्म द्रव्य को परमाणु माना गया है। उस समय इससे अधिक की बात नहीं सोची जा सकती थी। हाँ जैनसम्मत परमाणु में कुछ अन्य विशेषतायें मानी गई हैं जैसे परमाणु का ठोस न होकर खोखला होना और संकुचन-प्रसारगुणी होना। गतिशीलता भी ऐसा ही विशिष्ट गुण है। परमाणुओं में शीत-उष्णता एवं स्निग्ध-रुक्षता उनकी गतिशील प्रकृति के परिणाम हैं। ये उन्हें बँधूत-प्रकृति देते हैं जो उनके विविध संयोगों का मूल है। परमाणु के ये गुण जैन दार्शनिकों की तीक्ष्ण निरीक्षण एवं चिन्तन शक्ति को प्रकट करते हैं।



स्कंध-निर्माण के नियम : तीन प्रकार की संयोजकतायें

परमाणुओं के विविध प्रकार के संयोगों से स्कंधों का निर्माण होता है। ये स्कंध वर्तमान अणु के पर्यायवाची हैं। वस्तुतः परमाणुओं के अतिरिक्त बड़े स्कंधों के वियोजन (भेद) से भी छोटे स्कंध बनते हैं। छोटे स्कंधों के संयोजन (संघात) से बड़े स्कंध बनते हैं। संयोजन और वियोजन की इस प्रक्रिया की प्रवृत्ति के विषय में जैन दार्शनिकों के विचार संयोजकता-सिद्धान्त के पूर्णतः अनुरूप हैं। परमाणुओं की प्रकृति वैद्युत होती है और अपनी स्निग्धता और रूक्षता (धनात्मकता या ऋणात्मकता) के कारण वे परस्पर में संयोग करते हैं। इस सम्बन्ध में तत्त्वार्थ-सूत्र के पाँचवें अध्याय के निम्न सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं—

(१) स्निग्धरूक्षत्वान्बंधः—‘सर्वार्थसिद्धि’ में स्निग्ध और रूक्षत्व को विद्युत का मूल माना है। परमाणुओं का संयोग विषम वैद्युत प्रकृति के कारण होता है।

(२) न जघन्यगुणानाम्—जघन्य या शून्य वैद्युत-प्रकृति के परमाणुओं में बंध नहीं होता। आज की अक्रिय गैसों की अक्रियता जघन्य प्रकृति के कारण ही मानी जाती है। हाँ, यदि इन्हें सक्रिय कर दिया जावे, तो ये अल्प-सक्रिय हो सकती हैं।

(३) गुणसाम्ये सदृशानां—इस सूत्र के अर्थ के विषय में विवाद है। इसके अनुसार समान विद्युत प्रकृति के एक ही प्रकार के परमाणुओं में बंध नहीं होता। वस्तुतः यह देखा गया है कि हाइड्रोजन आदि तत्त्वों के दो परमाणु मिलकर उनके अणुओं का निर्माण करते हैं। वर्तमान मान्यता के अनुसार ऐसे संयोग दो परिस्थितियों में होते हैं : (१) सदृश-परमाणुओं का चक्रण या गतिशीलता विरुद्ध दिशा में हो और (२) इन परमाणुओं की वैद्युत-प्रकृति में साझेदारी की प्रवृत्ति पाई जावे। श्वेताम्बर परम्परा में तो बराबर वैद्युत प्रकृति के दो विमहेश परमाणुओं में बंध की मान्यता है, लेकिन दिगम्बर परम्परा इसे नहीं मानती। वस्तुतः यह बात स्निग्ध-रूक्षत्व के कारण होने वाले बंध-सिद्धान्त के भी प्रतिकूल है।

(४) द्व्यधिकविगुणानां तु—जब तुल्य या अतुल्य जातीय परमाणुओं की वैद्युत-प्रकृति में दो भागों का अन्तर होता है, तो उनमें बंध होता है। यह बंध पर्याप्त स्थायी होता है।

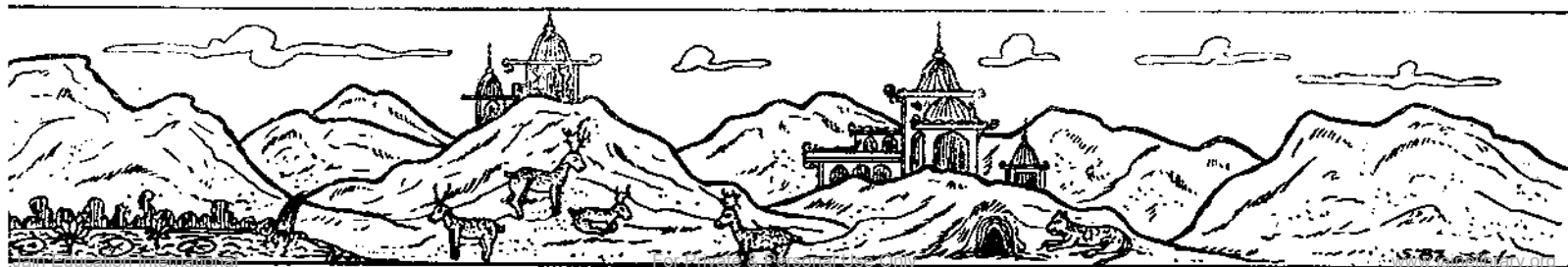
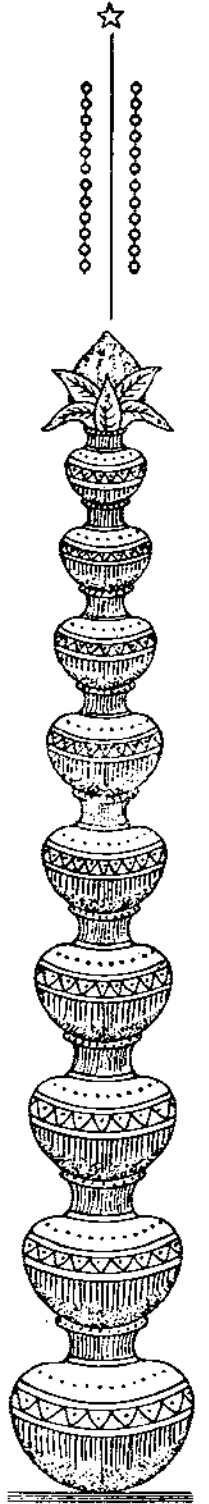
(५) बंधेऽधिकौ पारिणामिकौ च—बंध में अधिक विद्युतीय परमाणु अल्पविद्युतीय परमाणुओं को आत्मसात् कर नया पदार्थ बनाते हैं। वस्तुतः नये पदार्थ में न तो सफेद काले तंतुओं से बने वस्त्र के समान भिन्नता पाई जावेगी और न ही जल-सत्त्व के समान एकता पाई जावेगी क्योंकि ये दोनों ही उदाहरण भौतिक बंधों को निरूपित करते हैं, अणु-बंध को नहीं। भौतिक बंध के अवयव बड़ी सरल विधियों से पृथक् किये जा सकते हैं, अणु-बंधों के अवयव अणुओं को भंजित किये बिना पृथक् नहीं हो सकते।

आधुनिक विज्ञान बंध के तीन प्रकार मानता है। विद्युत-संयोगी बंध स्निग्ध-रूक्षत्व-जन्म बंध का ही पर्याय है। द्व्यधिकादिगुण-जन्य बंध उप-सहयोगी बंध का पर्यायवाची है, जिसमें विद्युत-गुण-युग्म संयोग का कारण माना जाता है। तीसरे प्रकार के बंध को सह-संयोजक बंध कहा जाता है। इसमें समान विद्युतीय परमाणुओं में अथवा विमहेश परमाणुओं में एक विद्युत-गुण की साझेदारी संयोग का कारण मानी जाती है। यदि ‘गुणसाम्ये सदृशानां बंधो भवति’ माना जाये, तभी यह तीसरे प्रकार का बंध सही बैठता है। यदि यह न भी माना जावे, तो भी आज से बारह सौ वर्ष पूर्व परमाणुओं की वैद्युत प्रकृति की कल्पना और उसके आधार पर परमाणु-संयोगों का निरूपण जैन दार्शनिकों की प्रचण्ड तथ्यान्वेषण क्षमता का परिचायक है।

स्थूल रूप में यह बताया गया है कि अणुओं का निर्माण भेद (वियोजन और अपघटन), संघात (संयोजन) और भेद-संघात नामक तीन प्रक्रियाओं से होता है। इन तीनों को उपर्युक्त तीन प्रकार की संयोजनताओं के अनुरूप प्रदर्शित किया गया है, जो तथ्य को अतिरंजित रूप में प्रस्तुत करने के समान है। वस्तुतः इस स्थूल निर्माण प्रक्रिया में वस्तुओं की मूल प्रकृति का कहीं भी उल्लेख नहीं मिलता।

अनिश्चायकता और अवक्तव्यवाद

आइन्स्टीन के सापेक्षवाद के सिद्धान्त ने जैन-दार्शनिकों के अनेकान्तवाद को पर्याप्त बल प्रदान किया है।



यह सही है कि अनेकान्तवाद की प्रस्तावना दार्शनिक क्षेत्र में तत्त्व-विवेचन के लिए हुई थी, लेकिन वह भौतिक जगत् के मूलरूप की सही व्याख्या प्रस्तुत करने में सक्षम है। विज्ञान अब यह मानता है कि निरपेक्ष कुछ भी नहीं है, सभी ज्ञान सापेक्ष है। अतः सापेक्षता के लिए कुछ मानक स्थिर किये जाते हैं। यह सापेक्षता सामान्य लोक-व्यवहार की सीमा को लांघ कर गणितीय रूप में सूक्ष्म तथ्यों के विवेचन में न केवल प्रयुक्त ही की गई है, अपितु इसकी सहायता से बहुत से अव्याख्यात तत्त्वों की व्याख्या भी की जा चुकी है। वस्तुतः वैचारिक पद्धति से विकसित अनेकान्तवाद बौद्धों के शून्यवाद एवं वैज्ञानिकों के सापेक्षवाद से भी श्रेष्ठतर तत्त्वज्ञानोपाय है। दृष्टिकोणों या मानकों की संख्या इतनी है कि वस्तु का स्वरूप परस्पर विरोधी धर्म-समागम के रूप में लक्षित होता है एवं निरपेक्ष रूप से उसे निरूपित करना कठिन हो जाता है। इसीलिए अनेकान्त के सात भंगों में अवक्तव्यता का समावेश हुआ है।

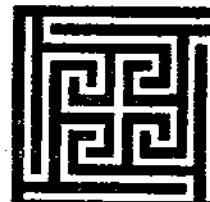
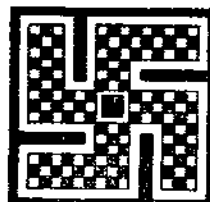
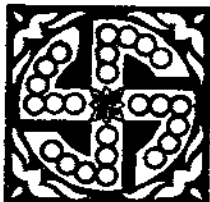
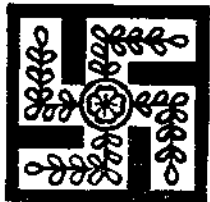
सापेक्षवाद पर आधारित विज्ञान ने वस्तु के मूल कण—इलैक्ट्रॉन—के स्वरूप-निर्धारण के सम्बन्ध में जितने भी प्रयोग किये, उससे उसके अभिलक्षणन की जटिलता ही बढ़ी। उदाहरणार्थ, पहले जहाँ उसे कण माना जाता था, वहाँ वह तरंग माना जाने लगा। उसमें कण और तरंग दोनों के गुण पाये जाते हैं, अतः उसे तरंग-कण कहा जाने लगा। इतने पर भी उसका अभिलक्षण नहीं किया जा सका, क्योंकि वह इतना लघु है कि उस पर आँख की पलक मारने का भी प्रभाव पड़ता है। उसका भार 10^{-29} ग्राम है और आकार 10^{-10} से०मी० है। फलतः प्रायोगिक दृष्टि से उसका रंग, रूप, स्पर्श, स्थिति आदि कुछ भी नहीं निर्धारित किये जा सकते। अतः जर्मन-वैज्ञानिक हीसेनबर्ग ने अनिश्चायकतावाद की प्रस्तावना की, जिसके अनुसार वस्तु का मूल स्वरूप निश्चित रूप से नहीं निर्धारित किया जा सकता। जैनदर्शन का अवक्तव्यवाद इससे आगे जाता है। उसके अनुसार वस्तु को विभिन्न विवक्षाओं से निरूपित किया जा सकता है लेकिन निरपेक्ष रूप से वह अवक्तव्य ही है। उसका सही स्वरूप वचनों की सीमा में नहीं आता।

अवक्तव्यवाद के विषय में जगत् को बहुत कम ज्ञान है फिर भी इसका महत्त्व भौतिकशास्त्र की दृष्टि से बहुत व्यापक है। इस पर यह आरोप लगाया जा सकता है कि एक बार अवक्तव्यत्व के अध्यारोपण से प्रयोग-सरणि की परम्परा में निराशावाद आ सकता है, लेकिन यह तो अनिश्चायकतावाद पर भी लागू होता है। वस्तुतः 'अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति' की विवक्षायें तो प्रयोग-सरणि को प्रोत्साहन ही देती हैं।

अवक्तव्यवाद न केवल भौतिक तत्त्वों पर ही प्रयुक्त होता है, नैतिक मूल्यों की प्रतिष्ठा के लिए भी इसका सामाजिक और राष्ट्रीय उपयोग है। वस्तुतः यह सर्व-धर्म-समभाव एवं उदार दृष्टिकोण का प्रतीक है। यह एक-दूसरे के प्रति समादर एवं सद्भावना को जन्म देता है। संसार के विभिन्न दर्शनों में, विभिन्न प्रकरणों में, वस्तुओं में परस्पर विरोधी धर्मों का अस्तित्व तो प्रतिपादित किया गया है, लेकिन ऐसे सहअस्तित्व को जीवन में उतारने के लिए प्रेरणा नहीं दी गई है। जैनदर्शन इस क्षेत्र में अकेला ही दीपशिखा का काम करता है।

धर्मद्रव्य और अधर्मद्रव्य

बीसवीं सदी की अप्रत्याशित वैज्ञानिक प्रगति के युग में कोई इस बात की कल्पना भी नहीं कर सकता कि आज जैसे वैज्ञानिक सिद्धान्त पच्चीस सौ वर्ष पूर्व ही विकसित कर लिये गये थे। विश्व में गति एवं स्थिति के माध्यम के रूप में धर्म और अधर्म द्रव्य की बात इसी कोटि में आती है। ये माध्यम स्वयं निष्क्रिय हैं, अरूपी हैं और शाश्वत हैं लेकिन ये वस्तुओं के गमन और स्थगन में सहायक होते हैं। वस्तुतः वैज्ञानिकों ने देखा कि ध्वनि आदि प्राकृतिक ऊर्जायें किसी न किसी माध्यम में ही चलती हैं, शून्य में नहीं। लेकिन आकाश में कुछ ऊँचाई पर जाने के बाद वायु नहीं रहती। वह निर्वात स्थान है। फिर वहाँ कैसे इनका संचलन होगा? इसके लिए एक अक्रिय ईश्वर माध्यम की कल्पना की गई जो धर्म द्रव्य का अनुरूपी है। इसी प्रकार गुरुत्वाकर्षण एवं जड़ता के सिद्धान्त अधर्म द्रव्य के अनुरूपी है। इन द्रव्यों के अस्तित्व के लिए जल-मछली और छाया-पथिक का दृष्टान्त दिया जाता है जो बहुत ही उपयुक्त है। लेकिन इन दृष्टान्तों से इन द्रव्यों को मूर्तिक नहीं माना जाता। ये वस्तुतः अरूपी और अमूर्त हैं। ये बातें मिलर, माइकोलसन, न्यूटन और आइन्स्टीन के विचारों और प्रयोगों से सत्य सिद्ध हुई हैं। यह सही है कि गति माध्यम के रूप में ईश्वर को जिस प्रकार मान्यता मिली है, स्थिति माध्यम के रूप में गुरुत्वाकर्षण को उतनी स्पष्ट मान्यता नहीं मिली है, फिर भी सापेक्षवादी विचारधारा के अनुसार गुरुत्वाकर्षण ही अधर्म द्रव्य का अनुरूपी हो सकता



है। इस सम्बन्ध में किये जाने वाले प्रयोग निश्चित स्थिति-माध्यम के अस्तित्व को प्रतिष्ठित करते हैं। वर्तमान में गति-माध्यम के रूप में प्रस्तावित ईथरवाद क्वान्टम सिद्धान्त के कारण तेजोहीन होता जा रहा है। इसलिए आज का वैज्ञानिक निश्चित रूप में इन माध्यमों को स्वीकृति देने में अपने को असमर्थ पाता है।

आकाश और काल द्रव्य

जैनदर्शन में प्रतिपादित छः मूल द्रव्यों में आकाश और काल की भी गणना है। समस्त द्रव्यों को अवगाहन देने वाला आकाश द्रव्य दो प्रकार का है—अन्य द्रव्यविहीन अलोकाकाश और द्रव्य-युक्त लोकाकाश। तिलों में तेल के समान घर्म-अधर्मादि द्रव्य लोकाकाश में औपचारिक रूप से व्याप्त रहते हैं। आधुनिक विज्ञान लोकाकाश को तो मान्यता देता प्रतीत होता है लेकिन अलोकाकाश के विषय में उसका निष्कर्ष नकारात्मक है।

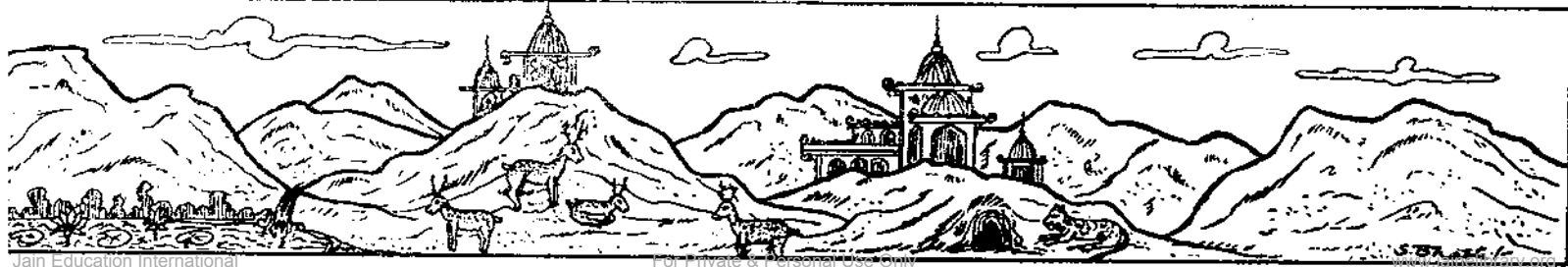
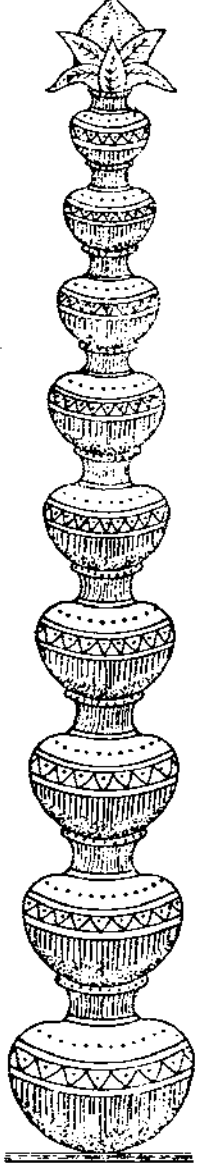
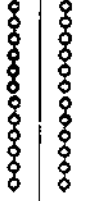
प्रारम्भ में आकाश द्रव्य को गति-माध्यम के ईथर के समकक्ष मानने की बात चली थी क्योंकि उसे भी अमूर्तिक ही माना गया है। लेकिन अब यह स्पष्ट है कि आकाश और ईथर दो अलग द्रव्य हैं। आकाश में ईथर व्याप्त रहता है। जैन मान्यता के अनुसार आकाश अनन्त है लेकिन लोकाकाश सान्त है। विज्ञान के अनुसार लोक प्रसरणशील होते हुए भी सान्त है और उसके बाहर कुछ नहीं है। जैन मान्यता में विश्व की प्रसरणशीलता भी समाहित नहीं होती। लेकिन यदि प्रसरणशीलता की बात सत्य है, तो आकाश के जिस क्षेत्र में प्रसरण होता है, वही अलोकाकाश होगा। इस प्रकार आकाश-द्रव्य के सम्बन्ध में वैज्ञानिक तथ्यों के आलोक में पुनर्विचार की आवश्यकता है।

व्यवहार और निश्चय के रूप में काल भी एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। वस्तुतः वस्तुओं के उत्पाद, व्यय एवं ध्रुव्यत्व का परिचायक काल ही है। अपने दैनिक जीवन में हम समय के महत्त्व से परिचित हैं। शास्त्रों के अनुसार काल केवल सहकारी कारण है, उपादान या निमित्त नहीं। यह स्वयं अक्रिय, अनेक एवं अपरिणामी है। अमूर्त होने के बावजूद भी लोकाकाश के प्रत्येक प्रदेश में काल-परमाणु विद्यमान है। एक परमाणु दूसरे परमाणु के समीप जाने में जितना समय लेता है, वह काल का यूनिट कहलाता है। वस्तुतः कई दर्शनों और दार्शनिकों ने काल को स्वतन्त्र द्रव्य नहीं माना है, वह सूर्य-चन्द्रादि की गति पर आधारित एक व्यवहार है। भूत, भविष्य और वर्तमान भी व्यवहार मात्र हैं। लेकिन जैन मान्यता काल को ऊर्ध्वप्रचयी आयाम के रूप में निरपेक्ष रूप में स्वीकृत करती है। चार आयामों के विश्व में चौथा आयाम काल ही माना गया है। वैज्ञानिक दृष्टि से काल की द्रव्य रूप में सत्ता स्वीकार नहीं की जाती, यद्यपि सभी प्रकार के व्यवहारों में काल के उपयोग के बिना काम नहीं चलता। 'कालाणु' की बात तो और भी जटिल प्रतीत होती है। वस्तुतः निश्चय काल को मान्यता नहीं है, व्यवहार काल को अवश्य ही मान्यता प्राप्त है। काल-द्रव्य सम्बन्धी समस्त विवरण के तुलनात्मक अध्ययन द्वारा सही निष्कर्ष निकालने की बड़ी आवश्यकता है। यह अध्ययन इसलिए भी आवश्यक है कि श्वेताम्बर परम्परा में काल द्रव्य के स्वतंत्र अस्तित्व पर विवाद है।

जीव-विज्ञान

त्रिलोक प्रज्जति के अनुसार चौरासी लाख योनियों में एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक जीव पाये जाते हैं। विज्ञान सभी योनियों या स्पीशीज की संख्या बीस लाख तक ला पाया है। कुछ लोगों ने स्पीशीज की संख्या एक करोड़ तक होने का अनुमान किया है। इससे अधिक योनियाँ वनस्पतिकायिकों की मानी गई हैं।

जीव को दो प्रकार से अभिलक्षणित किया गया है—पौद्गलिक और अपौद्गलिक। पौद्गलिक लक्षणों में असंख्यात प्रदेशिकता, गतिशीलता, परिवर्तनशीलता, देहपरिमाणकता, कर्म-बंध और नानात्व समाहित है। अभौतिक लक्षणों में अविनाशित्व, अमूर्तत्व और चैतन्य का समावेश है। आधुनिक विज्ञान सभी भौतिक लक्षणों को स्वीकार करता है और वह तो चैतन्य को भी भौतिक ही मानता प्रतीत होता है। उसका कारण यह है कि रूस, अमरीका, ब्रिटेन और इटली के वैज्ञानिकों ने प्रयोगशालाओं में जीवित कोशिकाओं का संश्लेषण कर लिया है और उनके विकास व विनाश की सारी प्रक्रिया का सूक्ष्म निरीक्षण किया है। परखनली में तैयार किये जाने वाले जीवों से भी चैतन्य की भौतिकता सत्यापित होती दिखती है। वस्तुतः ऐसा प्रतीत होता है जैसे चैतन्य एक प्रकार की क्वांटिक ऊर्जा हो जो जीवन की जटिल संरचना के फलस्वरूप उत्पन्न होती हो। जीवन की प्रक्रिया अगणित भौतिक एवं रासायनिक प्रक्रियाओं



का समुच्चय है जिनमें आवश्यक ऊर्जा उत्पन्न होती है। बहुत से वैज्ञानिक अपने द्वारा अन्वेषित इन तथ्यों पर स्वयं भी स्तब्ध हैं, क्योंकि उन्हें चैतन्य की भौतिकता पर विश्वास नहीं हो पा रहा है। यही नहीं, चैतन्य का अमूर्त अस्तित्व प्रमाणित करने के लिए अमरीका ने एक करोड़ रुपयों के पुरस्कार की घोषणा भी अभी हाल में की है।

चैतन्य भौतिक हो या अभौतिक, लेकिन वह जीवन का एक लक्षण माना जाता है। चैतन्य का विकास क्रमिक होता है और मानव सबसे उन्नत चेतन प्राणी है। चौदह कुलकरोँ का प्रकरण पढ़ने पर यह ज्ञात होता है कि संसार में जीवन क्रमशः विकसित हुआ है। परिस्थितियों के अनुरूप विभिन्न प्रकार के प्राणियों ने भूतल पर अवतार पाया है। विज्ञानियों का विकासवादी सिद्धान्त भी यही प्रदर्शित करता है। जैन-ग्रन्थों में निरूपित प्राणों और पर्याप्तियों का स्वरूप भी विकासवाद से मेल खाता है।

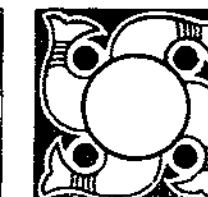
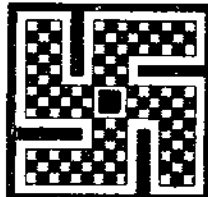
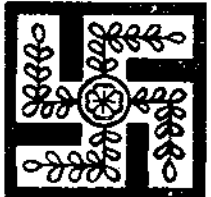
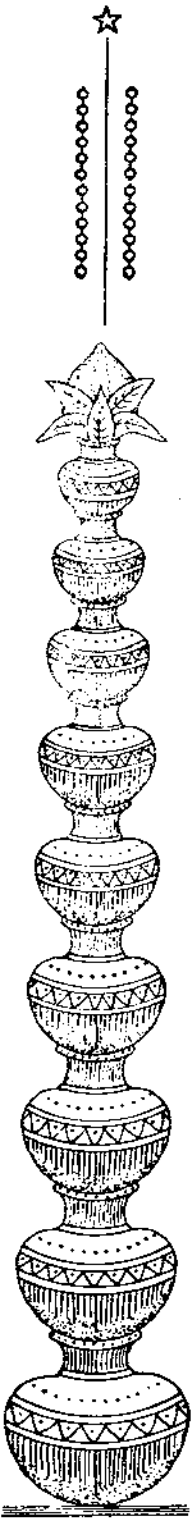
पंचेन्द्रिय जीवों को समनस्क और अमनस्क के रूप में दो प्रकार का बताया जाता है। वस्तुतः मन मस्तिष्क का कार्य है। यह देखा गया है कि प्रायः एकेन्द्रिय जीवों के मन नहीं होता, लेकिन अन्य जीवों में विभिन्न अवस्थाओं में मस्तिष्क पाया जाता है। फलतः विकलेन्द्रिय एवं पंचेन्द्रिय सभी जीव समनस्क होते हैं, केवल एकेन्द्रिय ही असंज्ञी और अमनस्क होते हैं। वस्तुतः वैज्ञानिक यह मानते हैं कि इंद्रिय और मन का विकास युगपत् ही होता है। जिन जीवों की इंद्रियाँ जितनी ही विकसित होंगी, उनका मन भी उतना ही विकसित होगा।

जीवों की आयु के विषय में शास्त्रों में बहुत चर्चा की गई है। प्रत्येक जीव आयु पूर्ण होने पर मृत्यु को प्राप्त होता है। वस्तुतः यह जीव की मृत्यु नहीं, अपितु शरीर का नाश है। जैनदर्शन के अनुसार जीव तो अनादि अनन्त है। शरीर धारण के कारण उसमें पर्यायान्तर मात्र होते रहते हैं। वैज्ञानिक लोग अभी तक जीवन को सादि और सांत मानते रहे हैं। लेकिन आनुवंशिकता की समस्या ने उसको परेशान कर रखा था। नवीन अनुसंधानों से पता चला है कि जीवन तत्त्व की कुछ कोशिकाएँ प्रजनन-प्रक्रिया में अगली पीढ़ी को बीज रूप में मिलती हैं। ये उत्तरोत्तर विकसित होकर उत्तरोत्तर पीढ़ियों में भी जाती हैं। क्या इन स्थानान्तरणीय कोशिकाओं को जैनमत में वर्णित सूक्ष्म-संस्कारी कर्म-परमाणु माना जा सकता है? कर्म-परमाणु भी कोशिकाओं के समान पौद्गलिक होते हैं। शास्त्रों में इन्हें इन्द्रिय अग्रही होने से अदृश्य एवं अति सूक्ष्म कहा गया है लेकिन सूक्ष्मदर्शियों से इन्हें देखा जा सकता है या नहीं, यह विचारणीय है और कोशिकाएँ तो दृश्य हैं। यदि कर्म-परमाणुओं को तरंग-कणिकता की सीमा में रखा जावे, तो उत्तेजनशीलता के कारण होने वाले परिस्पन्द जीव के साथ संयोग-वियोग का कारण बन सकते हैं। विज्ञान के अनुसार अतीन्द्रिय ज्ञान उक्त कोशिकाओं के फलस्वरूप ही सम्भव होता है। फलतः साधारण शरीर की तुलना में आनुवंशिक शरीर दीर्घकालिक होता है लेकिन यह दीर्घकाल अनन्त नहीं है।

जैनदर्शन का नीतिशास्त्र

प्रायः सभी विद्वान यह मानते हैं कि धर्मों का प्रमुख लक्ष्य जीवन में नैतिक गुणों का विस्तार करना है। इन गुणों से ही व्यक्तित्व का पूर्ण विकास होता है और उत्तम सुख प्राप्त होता है। धर्म को समग्र जीवन के समस्त अंगों की पद्धति मानने के कारण धर्मानुयायियों के जीवन में पर्याप्त दुरुहता आ गई है। जीवन के सभी अंगों में बीज रूप में धर्म सूत्र पिरोया रहे, यह बात सही है, पर जीवन गौण हो जावे और धर्म प्रमुख हो जावे, यह मानकर चलना संसारी जीवों के लिए बड़ी समस्या रही है। यह सही है कि जीवन के शुभोपयोग के लिए ही धर्म का महत्त्व है। भूगोल-खगोल आदि के ज्ञान का धर्म से प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं है। शुभोपयोग के लिए जहाँ एक ओर विचारों की उत्तमता एवं सार्व-भौमिकता अपेक्षित है, वहीं दूसरी ओर तदनु रूप प्रवर्तन भी उससे अधिक महत्त्वपूर्ण है। फलतः धर्म का प्रथम लक्ष्य स्व या व्यक्ति ही है। जो अपने विकास से अन्य व्यक्तियों या समाज को विकसित करने में सहायक होता है। संपुष्ट विचार ही क्रिया को प्रेरित करते हैं। फलतः नैतिक जीवन की आधारशिला के रूप में बौद्धिक विचार-सरणि ही प्रमुख है। इस विचार-सरणि के क्षेत्र में जैनदर्शन का अनूठा स्थान है, इसे विश्व के विभिन्न दार्शनिकों ने भी स्वीकृत किया है। यह अत्यंत युक्तियुक्त और मनोवैज्ञानिक है। इसमें पर्याप्त समीचीनता है।

जैनधर्म का सर्वोदयी मव्य प्रासाद अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह के शक्तिशाली स्तम्भों पर खड़ा किया गया है, जो गणितीय रूप में निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—



उत्तम जीवन = अहिंसा + अनेकान्त + अपरिग्रह = अ^३

इस सूत्र का फलितार्थ यह है कि जीवन के तीन कार्यकारी अंग हैं—मन, वचन और काया। इन तीनों की एकरूप परिणति सार्थक जीवन प्रदान करती है। विचारों में अहिंसा, वचनों में परस्पर विरोधी समागम की वाणी और क्रियाओं में स्वावलम्बनमूलक समुचित रूप से नियन्त्रित प्रवृत्तियाँ, एक दूसरे की पूरक और संसाधक हैं। इन तीनों से जीवन में जो पूर्णता आती है, वह इनके योग के बराबर नहीं, अपितु गुणनफल के बराबर होती है, क्योंकि पूर्णता सामान्य योग से कई गुणी होती है। जैनधर्म का कर्मवाद मन, वचन, काय की प्रवृत्तियों पर ही आधारित है। इन प्रवृत्तियों से जो परिस्पन्द होते हैं, उनसे कर्म-परमाणुओं का आस्रव व बंध होता है। इंद्रिय, कषाय और अव्रतों से उत्पन्न होने वाली दर्शन स्पर्शनादि पच्चीस प्रकार की प्रवृत्तियाँ ही संसार के शुभाशुभ रूपों को प्रदर्शित करती हैं। अशुभ प्रवृत्तियों को कम करने या निर्यन्त्रित करने के लिये अहिंसा आदि व्रतों एवं बाह्य एवं आभ्यन्तर तपों की प्रक्रिया अपनाई जाती है। वस्तुतः ये प्रक्रियायें शरीर शुद्धि के माध्यम से भाव शुद्धि करती हैं और जीवन में उदारता एवं समता के भाव विकसित करती हैं। 'तत्त्वार्थसूत्र' के अन्तिम पाँच अध्यायों में जीवन के नैतिक विकास के बाधक एवं साधक कारणों का सांगोपांग विवरण देखकर सहज ही पता चलता है कि जैनदर्शन में इस प्रक्रिया को कितने सूक्ष्मतम धरातल से विचार कर व्यक्त किया गया है। इस विवरण में भक्ति, ज्ञान एवं कर्म की त्रिवेणी के संगम में व्यक्ति स्नान करता है और जीवन को कृतकृत्य बनाता है।

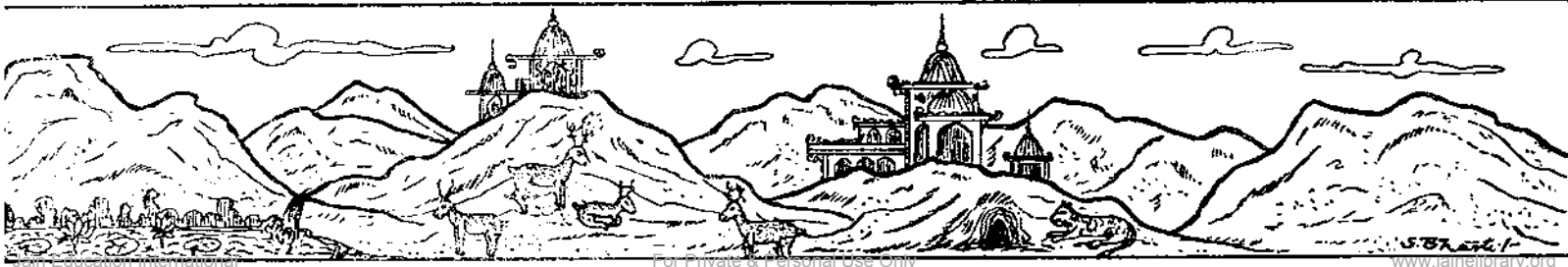
जीवन के नैतिक विकास में कर्मवाद व्यक्ति को स्वावलम्बी बनाता है और अनेकांतवाद उसे उदार और सर्वधर्म-समभावो बनाता है। अपरिग्रहवाद व्यक्ति को इस प्रकार के प्रवर्तनों के लिए प्रेरित करता है जो समाज के सुख, समृद्धि व विकास के हित में हों। अपनी आवश्यकताओं को समाज के स्तर के अनुरूप सीमित रखना ही सच्चा अपरिग्रहवाद है। इस प्रकार जैनधर्म की विचार-सरणि व्यक्ति के सर्वतोमुखी विकास को प्रतिबिम्बित करती है जिससे अभिनवतम सिद्धान्तों के दर्शन होते हैं। वस्तुतः विश्व संघ का आदर्श लक्ष्य इन्हीं तीन अकारों पर आधारित है।

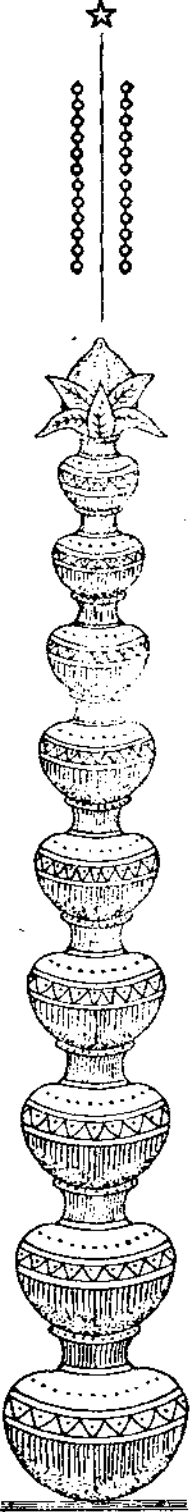
नये चिन्तन की आवश्यकता

यह प्रश्न स्वाभाविक है कि ऐसे श्रेष्ठतर विचार-सरणि से अनुस्यूत धर्म के अंग के रूप में उन बातों का सामंजस्य कैसे होता है जो प्रयोगसिद्ध नहीं बन सकी हैं। इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि धर्म-ग्रन्थों में नैतिक विचार और प्रक्रियाओं के अतिरिक्त जिन अन्य बातों का विवरण है, उसका समावेश धर्म की प्रतिष्ठा एवं महत्त्व को बढ़ाने के लिए किया गया होगा। वैज्ञानिक युग में धार्मिक आस्था को दृढ़ बनाने एवं मानव को नैतिक मूल्यों के प्रति जागरूक बनाये रखने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि इस बात को स्पष्ट रूप से कहा जावे कि नैतिक प्रक्रिया के अतिरिक्त अन्य चर्चायें धर्म की अंग नहीं हैं। वे केवल तत्कालीन ज्ञान को प्रदर्शित करती हैं और प्रसंगवश ही धर्मग्रन्थों का अंग बन गई हैं। आज आधुनिक परिवेश में धर्मग्रन्थों के विवेचन की आवश्यकता है, जिनमें जीवन-विकास के सिद्धान्तों का निरूपण हो। ऐसा होने पर ही आज के व्यक्ति और समाज में धर्म के प्रति अभिरुचि उत्पन्न हो सकेगी।



नोट—लेख में चर्चित सभी प्रश्नों एवं विचारों से सम्पादक मण्डल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। स्वतन्त्र चिन्तन के क्षेत्र में लेखक का आह्वान मनीय है।





स्याद्वाद का अर्थ है—सत्य की खोज !
स्याद्वाद का फलित है—समन्वय ।

□ श्री दलमुख भाई मालवणिया
[अन्तर्राष्ट्रीय ख्यातिप्राप्त जैन विद्या के मनीषी]

स्याद्वाद का सही अर्थ

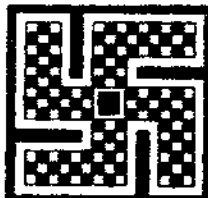
□

भारत में अनेक दर्शन हैं। वस्तु के दर्शन के जो विविध पक्ष हैं, उन्हीं को लेकर ये दर्शन उत्थित हुए हैं। जब इनका उत्थान होता है, तो किसी खास दृष्टि या आग्रह को लेकर होता है। यदि यह दृष्टि या आग्रह कदाग्रह का रूप ले ले तब ही इन्हें मिथ्या कहा जा सकता है, अन्यथा नहीं। अन्य दृष्टि को मिथ्या कहने का प्रघात प्रायः सभी दर्शनों में देखा जाता है। जैनों ने भी, अनेकांतवादी दर्शन होते हुए भी “तमेव सच्चं जं जिणेहि पवेइय” यह उद्घोष किया। तब उसमें भी अन्य दर्शनों को मिथ्या बताने की सूचना छिपी हुई है, ऐसा लगेगा। किन्तु वास्तविक दृष्टि से देखा जाय तो इस उद्घोष में भी अन्य दर्शनों को एकांतिक रूप से मिथ्या बताना यह अनेकांतवादी दर्शन के लिये असम्भव होने से उसका तात्पर्य इतना ही करना पड़ेगा कि यदि अन्य दर्शन अपनी बात का एकांतिक आग्रह रखते हैं तब ही वे मिथ्या होते हैं। यदि वस्तु दर्शन के एक पक्ष को उपस्थित करते हैं तब वे मिथ्या नहीं होंगे। नय के अन्तर्गत होंगे। इसी वजह से नय और दुर्नय का भेद किया गया है। सत्य सम्पूर्ण रूप से भाषा में व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसके किसी अंश को ही भाषा व्यक्त कर सकती है। यही कारण है कि सर्वज्ञ सब कुछ जानकर भी उसके अंश को ही भाषा में व्यक्त कर सकते हैं। इसीलिये किसी की बात को मिथ्या कह देना बड़ा अपराध होगा और अनेकांतवादी तो बैसा करेगा नहीं। अतएव “तमेव सच्चं” इस वाक्य का अर्थ करने में कदाग्रह करके जैनधर्म को ही सत्य मानना और अन्य सभी दर्शन और धर्मों को मिथ्या मानना यह जैन विचारधारा के, अनेकांत विचारधारा के सर्वथा विपरीत है और केवल कदाग्रह का परिणाम है। उस कदाग्रह से जैनों के लिये बचना अनिवार्य है। अन्यथा वे अनेकांतवादी हो नहीं सकते।

इसी दृष्टि से आचार्य जिनमद्र ने “तमेव सच्चं” यह मानकर भी कहा कि संसार में जितने भी मिथ्यादर्शन हैं, उनका जोड़ ही जैनदर्शन है। यदि ये तथाकथित मिथ्यादर्शन सर्वथा मिथ्या होते तो उनका जोड़ सम्यग्दर्शन कैसे बनता? अतएव मानना यह आवश्यक है कि तथाकथित मिथ्यादर्शन सर्वथा मिथ्या नहीं, किन्तु कदाग्रह के कारण ही मिथ्या कहे जा सकते हैं। उनकी बात का जो सत्यांश है, उन्हीं का जोड़ पूर्ण सत्य होता। मिथ्या को भी सत्य बनाने वाली यह दृष्टि स्याद्वाददृष्टि है, अनेकांतदृष्टि है। यही दर्शनों की संजीवनी है, जो मिथ्या को भी सत्य बना देती है।

तात्पर्य इतना ही है कि सत्य की ओर ही दृष्टि जाये, मिथ्या की ओर नहीं। तब सर्वत्र सत्य ही सत्य नजर आयेगा और मिथ्या ही हूँदते जायेंगे तो सर्वत्र मिथ्या ही मिलेगा। हमें अनेकांतवादी होना हो तो हमारी दृष्टि सत्यपरक होनी चाहिए। गुण और दोष तो सर्वत्र रहते हैं। गुण देखने वाले की दृष्टि में गुण आयेगा और दोषदर्शी को दोष ही दिखेगा। अतएव मिथ्यादर्शन से बचना हो तो स्याद्वाद की शरण ही एकमात्र शरण है। अतएव हमें सत्य की खोज में प्रवृत्त होने की आवश्यकता है। यह प्रवृत्ति ऐसी होगी, जिसमें विवाद का कोई प्रश्न ही नहीं होगा, समन्वय ही समन्वय दिखेगा। जीवन में यदि समन्वय आ जाए तो व्यावहारिक और पारमाधिक दोनों जीवन की सफलता सुनिश्चित है।

☆☆



□ डा० अमरनाथ पाण्डेय एम. ए., डी. फिल
[अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग,
काशी विद्यापीठ, वाराणसी]

अनेकान्त एक बौद्धिक व्यायाम नहीं है, वह समता का दर्शन है। समता के बीज से ही अहिंसा का कल्पवृक्ष अंकुरित हुआ है। अतः अनेकान्तदर्शन एक जीवंत अहिंसा-समता का दर्शन है। विद्वान् दार्शनिक डा० पाण्डेय की सार पूरा शब्दावली में पढ़िए।

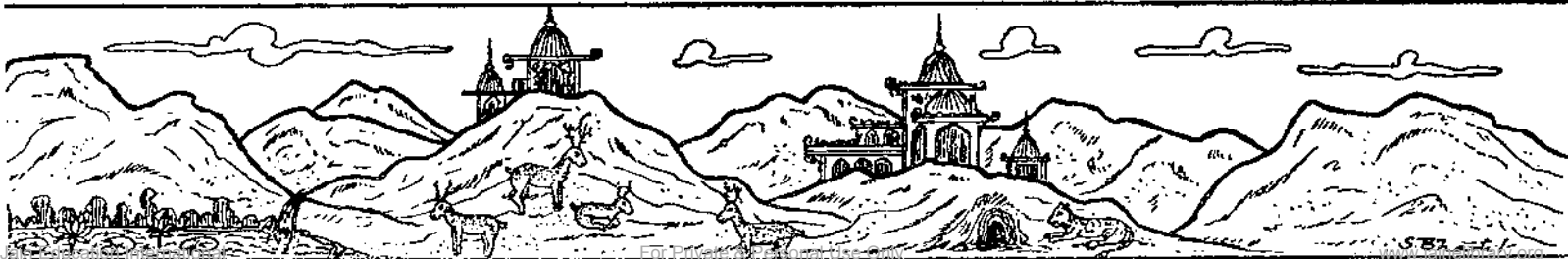
अनेकान्तदर्शन—अहिंसा की परमोपलब्धि

□

जैनदर्शन में आचार का विशेष महत्त्व रहा है, इसीलिए जीवन में अहिंसा के पालन का उपदेश स्थल-स्थल पर विन्यस्त किया गया है। जैन मुनियों के जीवन में अहिंसा व्याप्त रही है। उन्होंने अहिंसा की सूक्ष्म व्याख्या की है और उसके सभी पक्षों का सम्यक् उन्मीलन किया है। सारी परिस्थितियों के समाधान के लिए अहिंसा के मार्ग का निर्देश किया गया है।

मनुष्य जो काम शरीर से नहीं करता, उसके सम्बन्ध में भी चिन्तन करता रहता है। मन में अनेक प्रकार के संकल्प-विकल्प उठते हैं, जिनसे हम आंदोलित होते रहते हैं। हमारा चित्त सदा अशांत रहता है। ऐसा क्यों है? हमारे जीवन में अनेक सम्बन्ध हैं। उनका प्रभाव हमारे चित्त पर पड़ता है। प्रभाव के कारण चित्त में हलचल होती है। इससे चित्त का शांत, गम्भीर स्वभाव विकृत होता है। ऐसी स्थिति में चित्त अपनी निर्मल-शांत प्रकृति में समाहित नहीं रहता। यही कारण है कि हम परम शांति का दर्शन नहीं कर पाते।

साधक प्रयत्न करता है कि उसका जीवन ऐसा हो जाय कि उसके मानस का निर्मल स्वरूप विकृत न हो। उसका मन अगाध शांत सागर की भाँति अवस्थित हो। इस स्थिति की प्राप्ति के लिए निरन्तर साधना करनी पड़ती है। अहिंसा का सम्बल लेकर चलने वाला साधक अपने लक्ष्य तक पहुँचता है। अहिंसा का स्वरूप बड़ा ही सूक्ष्म है। इसके सभी परिवेशों को समझना पड़ता है। कोई किसी जीव को पैर से दबा देता है, कोई किसी पशु को पीट देता है, कोई किसी के शरीर पर प्रहार करता है, कोई किसी की हत्या कर देता है—इस प्रकार की अनेक हिंसाएँ होती रहती हैं। इनसे हिंसक का चित्त आंदोलित होता है, चित्त का शांत-निर्मल स्वभाव विकृत हो जाता है। जितनी बार इस प्रकार की घटनाएँ होती हैं, उतनी बार चित्त पर उसी प्रकार के प्रभाव पड़ते हैं। इससे हिंसक के जीवन में भय, हलचल, उद्वेग आदि व्याप्त हो जाते हैं। मुनियों ने इन सारे प्रसङ्गों का आकलन किया और घोषणा की कि अहिंसा जीवन का लक्ष्य है। अहिंसा के पथ पर चलने वाला साधक पहले बड़ी कठिनाई का अनुभव करता है। वह धीरे-धीरे उन सभी कर्मों से विरत होने का प्रयत्न करता है, जिनसे किसी भी जीव की किसी प्रकार की क्षति होती है। व्यक्ति में उस समय क्रोध उत्पन्न होता है, जब कोई उसे धक्का दे देता है या उसके लिए अपशब्द का प्रयोग करता है। वह धक्का देने वाले व्यक्ति को धक्का देना चाहता है या अपशब्द का प्रयोग करने वाले व्यक्ति के लिए अपशब्द का प्रयोग करना चाहता है। यदि व्यक्ति इन कार्यों से विरत रहे, तो अहिंसा का प्रारम्भ ही जाता है। उद्वेजक प्रसङ्गों से चित्त में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होना चाहिए। जब कर्म, वचन और मन इन तीनों में अहिंसा की प्रतिष्ठा होती है, तभी अहिंसा का सच्चा स्वरूप प्रस्तुत होता है। कर्म की अहिंसा से वचन की अहिंसा सूक्ष्म है और वचन की अहिंसा से मन की अहिंसा सूक्ष्म है। मनुष्य प्रायः ऐसे वचन का प्रयोग करता रहता है, जिससे किसी की हानि हो जाती है, किसी का मन खिन्न हो जाता है। यह भी हिंसा है। इसी प्रकार मनुष्य जब मन में सोचता है कि किसी की हानि हो जाय, तब मानसिक हिंसा होती है। आचार्यों ने हिंसा के इन पक्षों पर विचार किया और बार-बार चेतावनी दी है कि हिंसा न कर्म में आये, न वचन में और न मन में ही। जीवन में कर्म की हिंसा के प्रसङ्ग कम होते हैं, वचन और मन की हिंसा के प्रसङ्ग अनेक। मनुष्य प्रतिदिन वाचनिक और मानसिक हिंसा करता है। वह किसी को डाँटता है, किसी के लिए अपशब्द का प्रयोग



करता है, किसी के विचारों का खण्डन करता है, मन में द्रोह चिन्तन करता है, दूसरों को क्षति पहुँचाने के उपायों की खोज करता रहता है। इससे हिंसा व्याप्त होती है और समाज पीड़ित होता है। मनुष्य अपने वचन से दूसरे का प्रीणन-आह्लादन करे और मन में मानव कल्याण की भावना करे। यही सन्तों की दृष्टि है, उनकी वाणी का अमृतद्रव है।

'स्याद्वाद' से वचन-शुद्धि और 'अनेकांतदर्शन' से मानस-शुद्धि होती है। मैं जो कह रहा हूँ, वही सत्य है और दूसरा जो कहता है, वह सत्य नहीं है, यह दृष्टि तात्त्विक नहीं है। हमें वस्तु के जो धर्म दिखायी पड़ते हैं, उन्हीं के आधार पर हमारा निर्णय होता है। यतः वस्तु के अनन्त धर्म हैं और उनमें से कुछ को ही हमने देखा है, अतः वस्तु के सम्बन्ध में हमारी धारणा विशेष परिधि में सत्य है। दूसरे ने वस्तु के जिन धर्मों को देखा है, उनके आधार पर अपनी धारणा बनायी है, अतः उसकी धारणा भी विशेष स्थिति में सत्य है। अनेकांतदर्शन से मानसशुचिता—अहिंसा की सम्प्राप्ति होती है, अतः अनेकांतदर्शन में अहिंसा की चरम परिणति है।

अनेकांतदर्शन और जीवन

अनेकांतदृष्टि का सम्बन्ध जीवन से है। जीवन की सारी समस्याओं और हलचलों की विभावना के बाद ही इस दृष्टि का उदय हुआ है। अनेकांतदर्शन को केवल चिन्तन के स्तर पर रखना भ्रम है। यह जीवन के विषय में निर्मल दृष्टि है। इसको जीवन से मिलाकर संवारना पड़ेगा। जब अनेकांतदृष्टि से निर्मित जीवन का साक्षात्कार होगा, तभी अनेकांतदृष्टि सार्थक होगी, उसकी सभी आकृतियों की स्पष्ट रूपरेखा अङ्कित की जा सकेगी। अनेकांतदृष्टि जब तक जीवन में उतरेगी नहीं, तब तक वह अरूप रहेगी। यह जीवनदृष्टि जब कर्म के धरातल पर आती है, तब कुछ क्षेत्रों को प्रभावित करती है; जब वचन के धरातल पर आती है, तब उससे अधिक क्षेत्रों को प्रभावित करती है; जब मानस के धरातल पर आती है, तब सारा विश्व प्रभावित होता है। मन में सभी के विचारों के प्रति सद्भाव, सभी प्राणियों के प्रति मङ्गल-भावना के उदय से दिव्य आलोक फैलता है। इसका अभ्यास करके इसके परिणामों को देखा जा सकता है। यदि किसी शत्रु के कल्याण के लिए मन में चिन्तन किया जाय, तो वह मित्र के रूप में परिणत हो जाता है। साधकों ने अपने जीवन में इसे उतारा है।

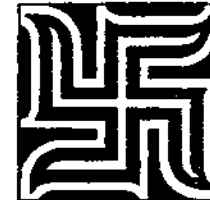
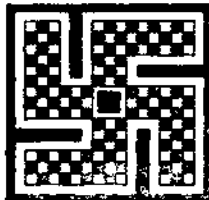
अनेकान्तदर्शन और मानव-कल्याण

अनेकान्तदर्शन में जो उत्कृष्ट रहस्य सन्निहित है, वह है मानव का परम कल्याणसाधन। दूसरे के विचारों की अवहेलना से अनेक समस्याएँ उत्पन्न होती हैं। विश्व में अनेक वाद प्रचलित हैं और प्रत्येक वाद की धोषणा है कि केवल उसी से मानव का कल्याण हो सकता है। इन वादों के समर्थकों में संघर्ष उत्पन्न होता है। एक वाद का समर्थक दूसरे वाद को तुच्छ समझता है और उसे वर्तमान सन्दर्भ में अनुपादेय बताता है। इस प्रकार पारस्परिक संघर्ष से व्यक्ति-व्यक्ति में, समुदाय-समुदाय में, राष्ट्र-राष्ट्र में दरारें पड़ जाती हैं। इससे बड़ी मर्याद स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं, जिससे मानव का बहुत बड़ा अहित होता है, पृथ्वी हिंसा का केन्द्र बन जाती है।

यह बात निश्चित ही निवेदनीय है कि किसी दर्शन के किसी वैशिष्ट्य के कारण समाज में परिवर्तन नहीं हो सकता। समाज के लिए आधार प्रस्तुत किया गया है। व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह निर्दिष्ट मार्ग का अनुगमन करे।

अनेकान्तदर्शन में मानव-कल्याण की भावना निहित है। इससे मानससमता की भूमि का उदय होता है। जब मन में भावना स्थिर हो जाती है कि वस्तुओं के अनन्त धर्म हैं, तब मनुष्य में दूसरे के विचारों के प्रति सद्भावना का उदय होता है। दूसरे के मन की अनुभूतियों को ठीक समझ लेने पर वाणी के द्वारा उसका खण्डन नहीं होगा और न उसके विपरीत कार्य। मन के दूषित हो जाने से वचन दूषित हो जाता है और फिर उससे कर्म दूषित हो जाता है। इससे सारे राष्ट्र में दूषण व्याप्त हो जाता है। मानस-समता की सम्प्राप्ति से वचन-समता की सम्प्राप्ति होती है और वचन-समता की सम्प्राप्ति से कर्म-समता की सम्प्राप्ति। फिर विघटन होगा क्यों ?

अनेकान्तदर्शन के रूप में जैनदर्शन की देन प्रशंसनीय है। जिस दृष्टि से जैनदर्शन में अनेकान्तदर्शन का स्वरूप रखा गया है, उसी दृष्टि से उसके सम्बन्ध में विचार करना चाहिए। सर्वमङ्गलकामना, शान्ति की स्थापना के मूल का अन्वेषण किया गया है। यह मूल अनेकान्तदर्शन है। इसकी सारी भङ्गिमाओं को समझना चाहिए और फिर प्रयत्न करना चाहिए कि जीवन में उसकी परिणति हो। तर्कजाल से अनेकान्तदर्शन की व्याप्ति को नहीं समझा जा सकता। मेरी दृष्टि में इसको समझने के लिए आधारभूत तत्त्व हैं—श्रद्धा, मङ्गलकामना, दया आदि। ☆ ☆



- श्री श्रीचंद्र गोलेचा
- श्री कन्हैयालाल लोढा एम० ए०

गहन-गम्भीर जैन तत्त्वविद्या को समझने की कुंजी है—'नय'। विभिन्न दृष्टियों से वस्तुतत्त्व के परीक्षण की यह विद्या जैन आगमों में पूर्ण विकसित हुई है। अनुयोग-द्वार एवं षट्खंडागम के आधार पर नय का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है।

आगमकालीन नय-निरूपण

□

जैनदर्शन में श्रुतज्ञान को समझने-समझाने की विशेष विधा है। इस विधा का निरूपण करने वाला आगम कालीन शास्त्र अनुयोगद्वार है। इसमें उपक्रम, निक्षेप, अनुगम और नय इन चार अनुयोगों द्वारा 'श्रुत' के अभिप्राय को यथार्थ रूप में समझने की विधि का विशद रूप से वर्णन है।

इन चार अनुयोगों में निक्षेप और नय का वर्णन मुख्य रूप से केवल अनुयोगद्वार सूत्र में ही पाया जाता है और इनका उपयोग मुख्य रूप से षट्खंडागम में हुआ है। भाषा को समझने के लिए कोष और व्याकरण का जो स्थान है, वही स्थान श्रुत (आगम) को समझने के लिए निक्षेप और नय का है।

अनुयोगद्वार और षट्खंडागम के अनुशीलन से यह स्पष्ट हो जाता है कि 'नय' शब्द अर्थात् वाच्य द्वारा प्रतिपादित 'अर्थ' की अवस्था का वास्तविक व निश्चयात्मक ज्ञान कराने का साधन मात्र है। यह अवस्था द्रव्य, गुण, क्रिया और पर्याय में से किसी से भी सम्बन्धित हो सकती है।

प्रस्तुत लेख में अनुयोगद्वार एवं षट्खंडागम इन्हीं दो ग्रन्थों के आधार से नय के स्वरूप का विचार किया जाता है।

'अनुयोगद्वार' में सात नयों का विधान है। परन्तु मुख्यतया पाँच ही नयों का प्रयोग किया गया है। इसी प्रकार षट्खंडागम में भी इन्हीं पाँच नयों के आधार पर ही वर्णन है। शब्द नय के दो भेद समभिरूढ़ तथा एवंबूत नय का इसमें कहीं नाम भी नहीं आया है। किन्तु इसमें कोई सैद्धांतिक अन्तर नहीं है। कारण कि इन दोनों नयों का समावेश शब्द नय में ही हो जाता है। 'तत्त्वार्थसूत्र' में भी इन्हीं पाँच नयों का उल्लेख है।

अनुयोगद्वार में सात नय इस प्रकार हैं—१. नैगम नय, २. संग्रह नय, ३. व्यवहार नय, ४. ऋजुसूत्र नय, ५. शब्द नय, ६. समभिरूढ़ नय और ७. एवंबूत नय।

नैगम नय—वह कथन जिससे एक से अधिक रूपों, अवस्थाओं का बोध हो अर्थात् शब्द द्वारा प्रतिपादित अर्थ जहाँ भेद-प्रभेद को लक्षित करता हो। जहाँ किसी भी द्रव्य, गुण, क्रिया के भेद-उपभेद का अभिप्राय लक्षित हो।

संग्रह नय—वह वर्णन जिससे अनेक रूपों, अवस्थाओं का एकरूपता में कथन हो अर्थात् अपने वर्ग रूप में अर्थ का प्रतिपादन करता हो। द्रव्य, गुण, क्रिया, पर्याय आदि के अनेक रूपों या भेदों के समूह का अभिप्राय लक्ष हो।

व्यवहार नय—वह कथन जिसका बोध किसी अन्य के आश्रय, अपेक्षा, आरोप से सम्बन्धित होने से प्रयास पूर्वक हो।

ऋजुसूत्र नय—वह कथन जिसका आशय सरलता से अनायास समझ में आ जाने। अर्थात् कथन का लक्ष्य सरल सहज अवस्था में हो।

शब्द नय—वह कथन जिसमें शब्द के अर्थ की प्रधानता से बोध हो।

समभिरूढ़ नय—वह कथन जिसमें शब्द का अर्थ किसी विशेष रूप, व्यक्ति, वस्तु आदि में रूढ़ हो।



एवंभूत नय—वह कथन जिसमें शब्द के अर्थ के अनुरूप क्रिया भी हो।

प्रथम चार नय प्रधानतः रूप या वस्तु की अवस्था पर आधारित होने से द्रव्याधिक नय कहलाते हैं और अन्तिम तीन नय शब्द के अर्थ अर्थात् भाव या पर्याय पर आधारित होने से भावार्थिक या पर्यायार्थिक नय कहे जाते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि १. वस्तु का अनेक भेदोपभेद रूप कथन नैगम नय है। २. वर्ग रूप कथन संग्रह नय है। ३. उपचरित कथन व्यवहार नय है। ४. विद्यमान यथारूप कथन ऋजुसूत्र नय है। ५. शब्द के अर्थ के आशय पर आधारित कथन शब्द नय है। ६. शब्द के व्युत्पत्तिरूप अर्थ का सीमित अथवा किसी रूप विशेष का द्योतक कथन समामिरूढ़ नय है और ७. शब्द के व्युत्पत्तिपरक अर्थ का अनुसरण करने वाला एवंभूत नय है।

प्रथम यहाँ अनुयोगद्वारा सूत्र में नय के निरूपण हेतु आए तीन दृष्टान्त—१. प्रस्थक, २. वसति एवं ३. प्रदेश को प्रस्तुत करते हैं।

१. प्रस्थक का दृष्टान्त

नैगम नय—कोई पुरुष प्रस्थक (अनाज नापने का पात्र) बनाने को लकड़ी लाने के लिये जाने से लेकर प्रस्थक बनाने की सब क्रियाओं को 'मैं प्रस्थक बनाता हूँ', ऐसा कहकर व्यक्त करता है। यहाँ प्रस्थक की अनेक अवस्थाओं का वर्णन 'प्रस्थक' से होना नैगम नय का कथन है। कारण कि इस कथन से प्रस्थक बनाने की क्रियाओं—लकड़ी लाने जाना, लकड़ी काटना, छीलना, साफ करना आदि अनेक रूपों (भेदों अथवा अवस्थाओं) का बोध होता है।

एक ही कथन से भेद, उपभेद, अवस्थाएँ आदि रूप में अथवा अन्य किसी भी प्रकार से अनेक बोध हों (आशय प्रकट हों), वह नैगम नय का कथन कहा जाता है।

व्यवहार नय—नैगम नय में वर्णित उपर्युक्त सब कथन व्यवहार नय भी है। कारण कि लकड़ी लाने जाना, लकड़ी छीलना आदि सब क्रियाएँ जो प्रस्थक बनाने की कारण रूप हैं उनका यहाँ प्रस्थक बनाने रूप कार्य पर आरोपण (उपचार) किया जा रहा है। यद्यपि यहाँ प्रत्यक्ष लकड़ी लाने जाने की क्रिया हो रही है न कि प्रस्थक लाने की, क्योंकि अभी तो प्रस्थक बना ही नहीं है और जो अभी बना ही नहीं है, है ही नहीं, उसे कैसे लाया जा सकता है? फिर भी व्यवहार में लकड़ी लाने जाने को प्रस्थक लाने जाना कहना सही है। अतः यह कथन व्यवहार नय है।

संग्रह नय—अनाज नापने में उद्यत अर्थात् नापने के लिये जो पात्र तैयार हो गये हैं, उन विभिन्न पात्रों को प्रस्थक कहना संग्रह नय है।

ऋजुसूत्र नय—'उज्जुसुयस्स पत्थओऽवि पत्थओ मेज्जपि पत्थओ' अर्थात् प्रस्थक शब्द से जहाँ नापने का पात्र अभिप्रेत है या नापी हुई वस्तु अभिप्रेत है वह ऋजुसूत्र नय है। कारण कि यहाँ प्रस्थक शब्द से ये अर्थ सरलता से समझ में आ जाते हैं। अर्थ समझने के लिये न किसी प्रकार का प्रयास करना पड़ता है और न किसी अन्य प्रकार का आश्रय लेना पड़ता है।

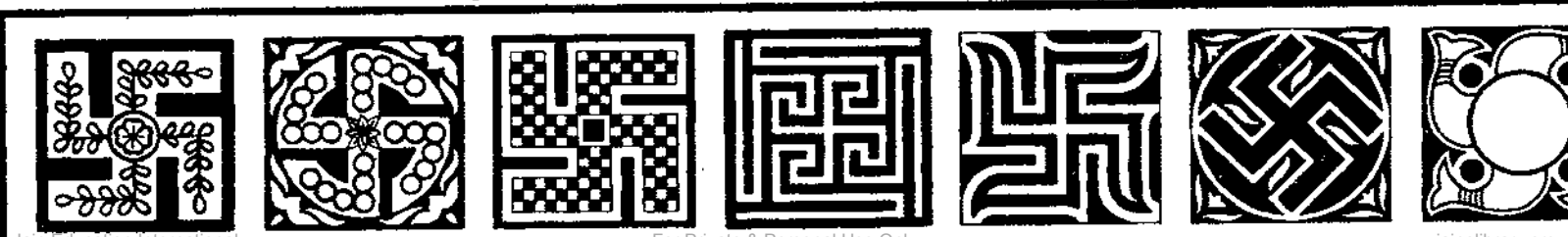
शब्द नय—तिण्हं सट्ठनघाणं पत्थयस्स अत्याहिमार जाणओ जस्स वा वसेणं पत्थओ निप्फज्जइ सेतं यत्थय दिक्षुतेणं।

अर्थात् तीनों शब्द नय से प्रस्थक का अर्थाधिकार ज्ञात होता है अथवा जिसके लक्ष्य से प्रस्थक निष्पन्न होता है वह शब्द नय है। प्रस्थक के प्रमाण व आकार-प्रकार के भाव के लिये प्रयुक्त प्रस्थक शब्द, शब्द नय का कथन है।

२. वसति का दृष्टान्त

नैगम नय—आप कहाँ रहते हैं? इस प्रश्न के उत्तर में यह कहना कि मैं (१) लोक में, (२) तिर्यक् लोक में, (३) जम्बू द्वीप में, (४) भारतवर्ष में, (५) दक्षिण भारत में, (६) अमुक प्रान्त में, (७) अमुक नगर में, (८) अमुक मोहल्ले में, (९) अमुक व्यक्ति के घर में, (१०) घर के अमुक खंड में रहता हूँ। ये सब कथन या इनमें से प्रत्येक कथन नैगम नय है। कारण कि यहाँ बसने विषयक दिये गये प्रत्येक उत्तर से उस स्थान के अनेक भागों में कहाँ पर बसने का बोध होता है, अर्थात् बसने के अनेक स्थानों का बोध होता है। अतः नैगम नय है।

व्यवहार नय—उपर्युक्त सब कथन व्यवहार नय भी है। कारण कि जिस क्षेत्र में वह अपने को बसता



मानता है, उसमें सब जगह व सब समय वह नहीं रहता है। फिर भी उसका यह कथन व्यवहार में सही माना जाता है। यह कथन उपचार रूप होने से व्यवहार नय है।

संग्रह नय—शैथ्या पर आरूढ़ अवस्था को बसता हुआ कहना संग्रह नय है। इस कथन में शैथ्या शब्द से अनेक जगह बसने का अर्थ व्यक्त होता है। कारण कि कोई जहाँ कहीं भी बसता है, शैथ्या पर आरूढ़ कहा जाता है। अतः संग्रह नय है।

ऋजुसूत्र नय—वह वर्तमान में जिस आकाश क्षेत्र में स्थित है, अर्थात् जहाँ पर उपस्थित है, अपने को वहीं पर बसता कहना ऋजुसूत्र नय है। कारण कि उसका यह कथन सामने सदा विद्यमान अवस्था का होने से अनायास सरलता से समझ में आता है। अतः ऋजुसूत्र नय है।

शब्द नय—‘अपने को अपने शरीर (आत्मभाव) में बसता हुआ कहना’ यह कथन तीनों शब्द नयों का है। कारण कि बसने शब्द का अर्थ या भाव है आत्मा का निवास। शरीर में या अपने आप में अपना निवास है। यह कथन शब्द के अर्थ, रूढार्थ रूप अवस्था तथा तदनुसार क्रियावान अवस्था का द्योतक है। अतः शब्द नय, समभिरूढ़ नय तथा एवंभूत नय है।

३. प्रदेश का दृष्टान्त

नैगम नय—छः प्रदेश हैं। यथा—१. धर्मास्तिकाय का प्रदेश, २. अधर्मास्तिकाय का प्रदेश, ३. आकाश का प्रदेश, ४. जीव का प्रदेश, ५. स्कंध का प्रदेश और ६. देश का प्रदेश। इस कथन से प्रदेश के अनेक रूपों (भेद ज्ञान रूप) का बोध होता है। अतः नैगम नय है।

संग्रह नय—पंच प्रदेश हैं। कारण कि उपर्युक्त स्कंध का प्रदेश और देश का प्रदेश अलग-अलग न होकर एक ही है। अतः इन दोनों के एकत्व के मानने वाला कथन संग्रह नय है।

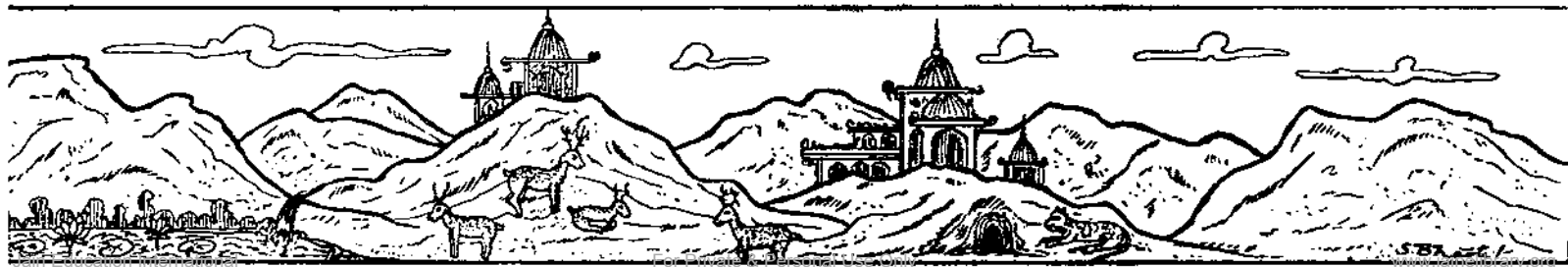
व्यवहार नय—पंच प्रदेश से पाँचों का एक ही प्रदेश है। ऐसा अभिप्राय झलकता है—ऐसा प्रतीत होता है। यह कथन व्यवहार में ठीक नहीं है। अतः पंच प्रदेश न कहकर पंचविध प्रदेश कहना चाहिए। यह कथन भी उपचरित है। कारण कि धर्मास्ति, अधर्मास्ति आदि किसी के भी पाँच प्रकार के प्रदेश नहीं होते हैं। यहाँ आशय में ‘पंचविध’ के स्थान पर ‘पाँच के’ लेना होगा। अतः यह उपचरित कथन होने से व्यवहार नय है।

ऋजुसूत्र नय—पंचविध प्रदेश कहने से धर्मास्ति आदि प्रत्येक के पाँच-पाँच प्रकार के प्रदेश हो जाने से पञ्चीस प्रकार के प्रदेश हो जाएँगे जो उचित नहीं है। जिस स्थान में धर्मास्तिकाय का प्रदेश है उसी में अधर्मास्ति आदि शेष चार के भी प्रदेश हैं। अतः यह कहना कि यह स्यात् धर्मास्तिकाय का प्रदेश है, स्यात् अधर्मास्तिकाय का प्रदेश है। इसी प्रकार आकाश, जीव आदि के साथ भी स्यात् लगाकर कहा गया कथन सरलता से समझ में आ जाता है। अतः ऋजुसूत्र नय है।

संप्रति शब्द नय—पाँचों के साथ स्यात् शब्द लगाने से भी प्रदेश एकमेक हो जाएँगे। सभी स्थानों पर सभी के प्रदेशों के होने का प्रसंग उत्पन्न हो जाएगा और कहने के अभिप्राय को प्रकट करने की कोई अवस्था ही न बन सकेगी। अनवस्था दोष उत्पन्न हो जाएगा। अतः वहाँ स्थित धर्मास्तिकाय के प्रदेश को धर्मास्तिकाय का प्रदेश कहो। इसी प्रकार शेष चार को भी कहो। यह कथन अर्थप्रधान होने से शब्द नय है।

समभिरूढ़ नय—‘धम्मे पएसे से पएसे धम्मे’ इस वाक्य से तत्पुरुष और कर्मधारय इन दो समासों की अभिव्यक्ति होती है। तत्पुरुष समास में धम्मे शब्द अधिकरण कारक में लेने से धर्म में प्रदेश हो जाएगा अर्थात् धर्म और प्रदेश दो भिन्न-भिन्न हो जाएँगे। कर्मधारय समास में धर्म शब्द प्रदेश का विशेषण बन जाएगा। ये दोनों ही अर्थ यहाँ भ्रमोत्पादक होने से इष्ट नहीं हैं। अतः यह कहना चाहिए कि यह प्रदेश धर्मास्तिकाय है। इसी प्रकार शेष अधर्मास्तिकाय आदि के साथ भी जानना चाहिए। यह कथन धर्मास्तिकाय आदि विशेष में रूढ़ होने से समभिरूढ़ नय है।

एवंभूत नय—धर्मास्तिकाय आदि से उनके देश प्रदेश भिन्न है ही नहीं। अतः धर्मास्तिकाय और उसका प्रदेश पर्यायवाची अर्थात् एक ही हुए। धर्मास्तिकाय से उसका प्रदेश अलग वस्तु है ही नहीं। यह कथन एवंभूत नय है।



षट्खंडागम के चतुर्थ वेदनाखंड में नयों का प्रयोग हुआ है। वेदनाखंड के सोलह द्वार हैं। उनमें सात द्वारों में नय से कथन हुआ है। उसे यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

वेदना नय विभाषणता द्वार

वेदना का निक्षेप चार प्रकार का है—१. नाम वेदना, २. स्थापना वेदना, ३. द्रव्य वेदना और ४. भाव वेदना।

वेदना नय विभाषणता के अनुसार कौन नय किन वेदनाओं की इच्छा करता है? उत्तर में कहा है—
जेगम-व्यवहार-संग्रहा सव्वाओ । उजुसुवो दुवणं गेच्छवि । सद्दणओ णामवेयणं भाववेयणं च इच्छवि ॥
अर्थात् नैगम, व्यवहार और संग्रह ये तीन नय सभी वेदनाओं को स्वीकार करते हैं। ऋजुसूत्र नय स्थापना वेदना को स्वीकार नहीं करता है। शब्द नय नाम वेदना व भाव वेदना को स्वीकार करता है।

विवेचन

उपर्युक्त चारों वेदनाएँ भेद-रूप अनेक अवस्थाओं का बोध कराती हैं। इस अपेक्षा से नैगम नय है। इन चारों वेदनाओं में से प्रत्येक वेदना में अपनी जाति की अनेक वेदनाओं का समावेश है। अतः संग्रह नय है। चारों वेदनाएँ अन्व पर आधारित हैं। अतः आरोप या उपचार रूप होने से व्यवहार नय है।

ऋजुसूत्र नय में स्थापना वेदना के कथन का समावेश नहीं होने का कारण यह है कि स्थापना वेदना का बोध उपचार या आरोप से होता है। सहज सरलता से नहीं होता है। शेष नाम वेदना, द्रव्य वेदना और भाव वेदना का बोध सामने विद्यमान होने पर अनायास सरलता से हो जाने की अपेक्षा से ऋजुसूत्र नय है।

शब्द नय का उपयोग केवल नाम और भाव वेदना में होता है। कारण कि वेदना शब्द से अभिप्रेत अर्थ की अनुभूति सामने विद्यमान नाम वेदना और भाव वेदना में ही घटित होती है। स्थापना वेदना और द्रव्य वेदना नहीं होती। अतः शब्द नय से उनका कथन नहीं हो सकता।

वेदना-नाम-विधान द्वार

वेयणाणाम विहाणेत्ति । जेगम-व्यवहाराणं णाणावरणीय वेयणा, दंसणावरणीय वेयणा, वेयणीय वेयणा, आउव वेयणा, णाम वेयणा, गोय वेयणा, अंतराइ वेयणा ॥१॥ संगहस्स अट्ठणां पि कम्मणं वेयणा ॥२॥ उजुसुवस्स णो णाणा-वरणीय वेयणा, णो मोहणीय वेयणा, णो आउव वेयणा, णो णाम वेयणा, णो गोय वेयणा, णो अंतराइ वेयणा, वेयणीयं च वेयणा ॥३॥ सद्दणयस्स वेयणा च वेयणा ॥४॥

अर्थ—वेदना नाम विधान अधिकार के अनुसार नैगम और व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय वेदना, दर्शनावरणीय वेदना, वेदनीय वेदना, मोहनीय वेदना, आयु वेदना, नाम वेदना, गोत्र वेदना और अंतराय वेदना; इस प्रकार वेदना आठ भेद रूप है। यह नैगम और व्यवहार का कथन है ॥१॥ आठों ही कर्मों का एक वेदना शब्द द्वारा कथन संग्रह नय है ॥२॥ ऋजुसूत्र नय से वेदनीय ही वेदना है, शेष ज्ञानावरणीय आदि सात कर्मों की वेदना का कथन नहीं है ॥३॥ शब्द नय से वेदना ही वेदना है ॥४॥

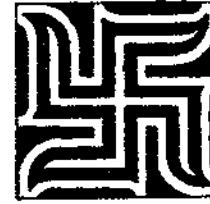
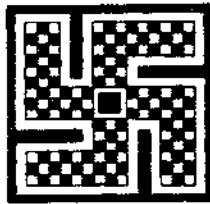
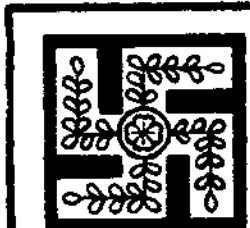
विवेचन—ज्ञानावरणीय की वेदना, दर्शनावरणीय की वेदना... इस प्रकार आठों ही कर्मों की वेदना रूप वेदना के आठ भेद या प्रकार हैं। यह कथन भेद रूप होने से नैगमनय का कथन है। इन आठों ही वेदनाओं का कथन प्राणी में वेदन रूप होने से उपचार या आरोप रूप कथन है, इस अवस्था में ये व्यवहार नय है। वेदना कथन से आठों कर्मों की सर्व वेदनाओं का समावेश हो जाता है। अतः यह कथन संग्रह नय का है।

ऋजुसूत्र नय से केवल वेदनीय कर्मजनित वेदना ही वेदना है। कारण कि साता व असाता रूप वेदना का बोध सरलता से होता है। शेष सात कर्मों के वेदन का बोध अनायास सरलता से नहीं होता है।

वेदन करना ही वेदना है। यह कथन नाम और भाव प्रधान होने से शब्द नय है।

वेदना-प्रत्यय-विधान अधिकार

वेयण पच्चय विहाणेत्ति ॥१॥ जेगम-व्यवहार-संग्रहाणि णाणावरणीय वेयणा पाणाविवावपच्चए ॥२॥ मुसा-



वाह पञ्चए ॥३॥ अदत्तादान पञ्चए ॥४॥ मेहुण पञ्चए ॥५॥ परिग्रह पञ्चए ॥६॥ रादिभोग्यण पञ्चए ॥७॥ एवं कोह-माण-माया-लोह-राग-दोस-मोह-पेम्म पञ्चए ॥८॥ णिदानपञ्चए ॥९॥ अब्भयखण-कलह-पेसुण्ण-अरइ-उवहि-णियदि माण-माय-मोस-मिच्छणाण-मिच्छदंसण-पओ अपञ्चए ॥१०॥ एवं सत्तण्णं कम्मार्णं ॥११॥ उज्जुमुदस्स णाणावरणीय वेयणा जोग पञ्चए पयडि-पवेसगां ॥१२॥ कसाय पञ्चए द्विदि-अणुभाग वेयणा ॥१३॥ एवं सत्तण्णं कम्मार्णं ॥१४॥ सहणयस्स अवत्तव्वं ॥१५॥ एवं सत्तण्णं कम्मार्णं ॥१६॥

अर्थात् वेदना प्रत्यय विधान के अनुसार नैगम-व्यवहार-संग्रह नय के कथन की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना प्राणातिपात प्रत्यय (कारण) से होती है। मृषावाद प्रत्यय से होती है। अदत्तादान, मंथुन, परिग्रह, रात्रि-भोजन, श्लोघ, मान, माया, लोभ, राग, द्वेष, मोह, प्रेम, निदान, अभ्याख्यान, कलह, पैशुन्य, रति-अरति, उपाधि, निकृति, मान, मेय, मोष, मिथ्याज्ञान, मिथ्यादर्शन और प्रयोग इन प्रत्ययों से ज्ञानावरणीय की वेदना होती है। इसी प्रकार सात कर्मों की वेदना के प्रत्ययों की प्ररूपणा करनी चाहिए।

ऋजुसूत्र नय से ज्ञानावरणीय की वेदना योग प्रत्यय से प्रकृति व प्रदेशाग्र (प्रदेश समूह) रूप होती है और ज्ञानावरणीय की स्थिति वेदना और अनुभाग वेदना कषाय प्रत्यय से होती है। इसी प्रकार ऋजुसूत्र नय से शेष सातों कर्मों के प्रत्ययों की प्ररूपणा करनी चाहिए।

शब्द नय से ज्ञानावरणीय की वेदना अवक्तव्य है। इसी प्रकार शब्द नय से शेष सात कर्मों की वेदना के विषय में भी प्ररूपणा करनी चाहिए।

विवेचन—ऊपर ज्ञानावरणीय की वेदना के प्रत्यय प्राणातिपात, मृषावाद आदि से लेकर 'प्रयोग' तक अनेक हैं। ये अनेक भेदरूप प्रत्ययों का कथन होने से नैगम नय है। ये ही प्रत्यय प्राणी की क्रिया या व्यवहार से सम्बन्धित कथन रूप होने पर व्यवहार नय का कथन होगा तथा भेद रूप प्रत्येक प्रत्यय अनेक उपभेदों का संचय होने से संग्रह नय का कथन है। ज्ञानावरणीय के वेदना के प्रत्ययों को इसी प्रकार नैगम, व्यवहार और संग्रह नय से शेष सात कर्मों की वेदना के प्रत्ययों की भी प्ररूपणा समझनी चाहिए।

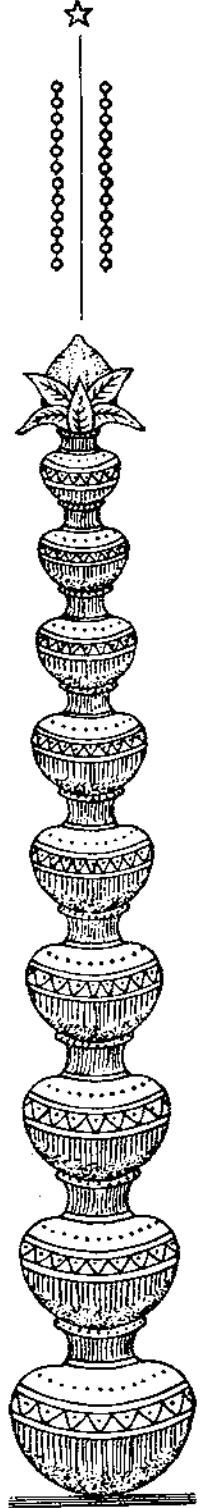
ऋजुसूत्र नय—ज्ञानावरणीय की वेदना योग प्रत्यय से प्रकृति व प्रदेश रूप एवं कषाय प्रत्यय से स्थिति और अनुभाग वेदना होती है। विद्यमान वेदना और प्रत्यय में यह सीधा-सरल संबंध होने से ऋजुसूत्र नय का कथन है। शेष सात कर्मों के प्रत्ययों की भी प्ररूपणा ऋजुसूत्र नय से इसी प्रकार होती है।

शब्द नय—ज्ञानावरणीय वेदना अवक्तव्य है। क्योंकि ये प्रत्यय अनुभूतिपरक हैं। शब्दों में वेदना प्रत्ययों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती है। अतः शब्द के अर्थरूप से इन प्रत्ययों का कथन शक्य नहीं है।

वेदना-स्वामित्व विधान

वेयण सामित्त विहाणेत्ति ॥१॥ नेगम ववहाराणि णाणावरणीय वेयणा सिया जीवस्स वा ॥२॥ सिया णोजीवस्स वा ॥३॥ सिया जीवाणं वा ॥४॥ सिया णोजीवाणं वा ॥५॥ सिया जीवस्स च णोजीवस्स च ॥६॥ सिया जीवस्स च णोजीवाणं च ॥७॥ सिया जीवाणं च णोजीवस्स च ॥८॥ सिया जीवाणं च णोजीवाणं च ॥९॥ एवं सत्तण्णं कम्मार्णं ॥१०॥ संग्रहणयस्स णाणावरणीय वेयणा जीवस्स वा ॥११॥ जीवाणं वा ॥१२॥ एवं सत्तण्णं कम्मार्णं ॥१३॥ सदुज्जुमुदाणं णाणावरणीय वेयणा जीवस्स ॥१४॥ एवं सत्तण्णं कम्मार्णं ॥१५॥

अर्थात् वेदना स्वामित्व विधान के अनुसार नैगम और व्यवहार नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना कथंचित् जीव के होती है। कथंचित् नोजीव के होती है। कथंचित् बहुत जीवों के होती है। कथंचित् बहुत नोजीवों के होती है। कथंचित् एक जीव के और एक नोजीव इन दोनों के होती है। कथंचित् एक जीव के और बहुत नोजीवों के होती है। कथंचित् बहुत जीवों के और एक नोजीव के होती है। कथंचित् बहुत जीवों और बहुत नोजीवों के होती है। इसी प्रकार के प्रभेद नैगम और व्यवहार नय से शेष सात कर्मों की वेदना के सम्बन्ध में भी कथन जानना चाहिए। संग्रह नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना एक जीव के या बहुत जीवों के होती है। इसी प्रकार संग्रह नय से शेष सात कर्मों की वेदना के विषय में भी कथन जानना चाहिए। शब्द और ऋजुसूत्र नय की अपेक्षा ज्ञानावरणीय की वेदना जीव के होती है। इसी प्रकार इन दोनों नय से शेष सात कर्मों की वेदना के विषय में भी जानना चाहिए।



विवेचन—यहाँ वेदना का स्वामी कौन है, इस अधिकार का कथन किया गया है। वेदना का स्वामी जीव है और नोजीव (पुद्गलमय शरीर) है। इन दोनों के एक और बहुत संख्या के संयोग रूप अनेक भेद प्रकार वेदना के स्वामी के बनते हैं। स्वामित्व का भेदरूप अनेक बोधकारी कथन नैगम नय है। ये ही भेदरूप कथन जब प्राणी पर उपचरित होते हैं, व्यवहृत होते हैं तब व्यवहार नय के विषय बन जाते हैं। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि वेदना का स्वामी जीव है या नोजीव है। यह कथन संग्रह नय का है।

ऋजुसूत्र नय से वेदना का स्वामी वह जीव है, जिस जीव को वह वेदना हो रही है। अनेक जीवों की वेदना मिलकर एक नहीं होती है। अतः ऋजुसूत्र नय में अनेक जीव या नोजीव वेदना के स्वामी नहीं होते हैं। कारण कि ऋजुसूत्र नय में यथाभूत रूप कथन ही अपेक्षित होता है। शब्द नय में शब्दार्थ की प्रधानता होती है। अतः इस नय से वेदना शब्द का अर्थ वेदन करना होता है और वेदन प्रत्येक जीव अलग-अलग करता है। नोजीव शरीरादि वेदन नहीं करते हैं और न अनेक जीव सम्मिलित वेदना का अनुभव ही करते हैं। अतः शब्द नय से वेदना जीव के होती है, यह कथन ही उपयुक्त है।

यहाँ वेदना स्वामित्व विधान पर धृष्टित उपर्युक्त नयों को उदाहरण द्वारा प्रस्तुत करते हैं—

किसी रेल दुर्घटना में अनेक व्यक्तियों के चोटें लगीं। कोई पैर की चोट की वेदना से पीड़ित है, कोई हाथ की, कोई सिर की, कोई ज्वर की, कोई पेट की आदि भिन्न-भिन्न वेदना से पीड़ित हैं।

उपर्युक्त दुर्घटनाग्रस्त व्यक्तियों की वेदना को अनेक प्रकार से कहा जा सकता है। यथा—

१. राम को वेदना हो रही है, उसके हाथ को वेदना हो रही है, उसका पैर वेदनाग्रस्त है। पुरुषों को वेदना हो रही है, स्त्रियों को वेदना हो रही है, बच्चों को वेदना हो रही है। हाथ-पैर, उदर में वेदना हो रही है। इस प्रकार के कथन नैगम नय हैं। यहाँ राम जीव है, हाथ नोजीव है, पुरुष बहुत से जीव हैं। हाथ-पैर-उदर नोजीव है। इस प्रकार से वेदना के विविध रूप कथन नैगम नय के विषय हैं।

२. पेट को वेदना हो रही है, हाथ वेदनाग्रस्त है, वह जीव वेदना से मर गया आदि कथन व्यवहार नय से है। वेदना वास्तव में तो जीव को होती है, हाथ-पैर-पेट को नहीं। ये तो उस वेदना के होने में निमित्त मात्र हैं। परन्तु व्यवहार में हम यही अनुभव करते हैं या यही कथन करते हैं। यह कथन कारण रूप (निमित्त) में वेदना रूप कार्य का आरोप होने से है अर्थात् उपचार से है। अतः व्यवहार नय का कथन है। इसी प्रकार वेदना से जीव मर गया यह कथन भी वास्तविक नहीं है। जीव तो अमर है, जीव से शरीर छूटने को अथवा शरीर नाश को व्यवहार में जीव का मरना कहा जाता है। यहाँ कार्य में कारण का आरोप है। अतः व्यवहार नय से कथन है।

३. किसी यात्री की हाथ, पैर, सिर दर्द आदि विविध या अनेक वेदनाओं का अलग-अलग उल्लेख न कर संक्षेप में यह कहना कि यात्री को वेदना हो रही है, इसी प्रकार अनेक वेदनाओं से ग्रस्त अनेक यात्रियों का अलग-अलग उल्लेख न कर समुच्चय रूप से यह कहना कि यात्रियों को वेदना हो रही है। यह संक्षिप्त या सारभूत कथन संग्रह नय कहा जाता है।

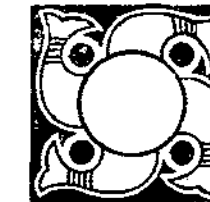
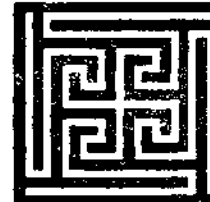
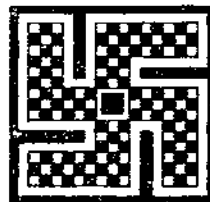
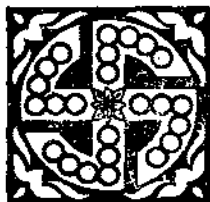
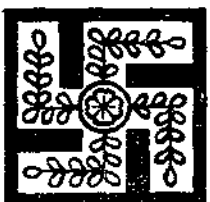
४. 'यह राम अपने हाथ की वेदना से पीड़ित है।' इस कथन से आशय एकदम सीधा समझ में आता है। यह यथाभूत विद्यमान कथन ऋजुसूत्र नय कहा जाता है।

५. 'वेदना जीव के होती है।' यहाँ इस वाक्य में केवल यह कथन किया जा रहा है कि वेदना का स्वामी वेदन करने वाला जीव ही होता है, अन्य कोई नहीं। इस कथन में अर्थ की ही प्रधानता है। किसी जीव या व्यक्ति विशेष से प्रयोजन नहीं है। अतः केवल अर्थ प्रधान होने से यह शब्द नय का कथन है।

वेदना वेदन विधान

आठ प्रकार के कर्म पुद्गल स्कन्धों का जो वेदन (अनुभवन) होता है, यहाँ उसका विधान प्ररूपणा है। वह तीन प्रकार की है—कर्म बंधते समय होने वाली वेदना बध्यमान वेदना है। कर्मफल देते समय होने वाली वेदना उदीर्ण वेदना है और इन दोनों से भिन्न कर्म वेदना की अवरज्या उपशान्त है।

नैगम नय से जानावरणीय की वेदना कथंचित् १. बध्यमान है, २. उदीर्ण वेदना है, ३. उपशान्त वेदना है,



४. बध्यमान वेदनाएँ हैं, ५. उदीर्ण वेदनाएँ हैं, ६. उपशान्त वेदनाएँ हैं। ये ६ भंग एक-एक हैं—१. एक बध्यमान और एक उदीर्ण वेदना है। २. एक बध्यमान और अनेक उदीर्ण ३. अनेक बध्यमान और एक उदीर्ण और ४. अनेक बध्यमान और अनेक उदीर्ण वेदनाएँ हैं। ये चार भंग बध्यमान और उदीर्ण इन दोनों के द्विसंयोगी हैं। इसी प्रकार चार भंग बध्यमान और उपशान्त के तथा चार भंग उदीर्ण और उपशान्त के द्विसंयोगी बनते हैं। इस प्रकार द्विसंयोगी कुल बारह भंग बनते हैं। एक बध्यमान, एक उदीर्ण और एक उपशान्त यह त्रिसंयोगी भंग है। इन तीनों में एक और अनेक विशेषण लगाने से कुल आठ भंग त्रिसंयोगी बनते हैं। इस प्रकार कुल २६ भंग बनते हैं। भेदरूप होने से अनेक का बोध कराने वाला प्रत्येक भेद रूप यह कथन नैगमनय है। शेष सात कर्मों का वेदना वेदन भी इसी प्रकार समझना चाहिए।^१

व्यवहार नय में बध्यमान अनेक वेदनाएँ कथनीय नहीं होने से इसके ६ भंग उपर्युक्त २६ भंग में से कम होकर शेष १७ भंग ही कथनीय हैं। कारण बध्यमान वेदना राग भाव या द्वेष भाव रूप एक ही होती है। ज्ञानावरणीय आदि आठों कर्मों की वेदना वेदन में से प्रत्येक के साथ उपर्युक्त १७ भंग का ही विधान जानना चाहिए।

संग्रह नय में अनेक वेदना भी वेदना में भी गमित होती है। अतः ज्ञानावरणीय की वेदना कथंचित् १. बध्यमान, २. उदीर्ण, ३. उपशान्त, ४. बध्यमान और उदीर्ण, ५. बध्यमान और उपशान्त, ६. उदीर्ण और उपशान्त और ७. बध्यमान, उदीर्ण और उपशान्त ये कुल सात भंग बनते हैं। शेष सात कर्मों के सम्बन्ध में भी इसी प्रकार समझना चाहिए।

ऋजुसूत्र नय—ज्ञानावरणीय की उदीर्ण फल प्राप्त विपाक वाली वेदना है। यह ऋजुसूत्र नय का कथन है। कारण कि वेदना से सीधा, सरल, सहज बोध कर्मफल देते समय अनुभव होने वाली वेदना का होता है। शेष सात कर्मों के बन्धन में भी इसी प्रकार जानना चाहिए।

शब्द नय—ज्ञानावरणीय आदि आठ कर्मों की वेदना वेदन अवक्तव्य है। यह कथन शब्द नय का है। कारण कि वेदना वेदन का अनुभव ही होता है, उसे शब्द से व्यक्त नहीं किया जा सकता है।

वेदना-गति विधान

नैगम, व्यवहार और संग्रह नय से ज्ञानावरणीय की वेदना कथंचित् १. अस्थित है, २. स्थित-अस्थित है। इसी प्रकार शेष दर्शनावरणीय, मोहनीय और अन्तराय इन तीन घाति कर्मों की वेदना के सम्बन्ध में जानना चाहिए। अघाति कर्म वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र की वेदना कथंचित् १. स्थित, २. अस्थित और ३. स्थित-अस्थित है। यहाँ भेद रूप अनेक बोधकारी कथन होने से नैगम नय, उपचरित कथन होने से व्यवहार नय और वेदना की अनेक अवस्थाओं का एकरूप कथन होने से संग्रह नय है।

ऋजुसूत्र नय से आठों ही कर्मों में से प्रत्येक कर्म की वेदना कथंचित् स्थित है और कथंचित् अस्थित है। कारण कि सीधे अनुभव में एक ही प्रकार का परिवर्तनशील अवस्था का या स्थिर अवस्था का ही वेदन होता है। दोनों एक साथ वर्तमान में अनुभव-वेदन नहीं हो सकते हैं। अतः यह कथन ऋजुसूत्र नय है।

शब्द नय से अवक्तव्य है। कारण कि वेदना अनुभवगम्य है। कथनीय नहीं है। उसे भोक्ता ही जानता है।

वेदना-अन्तर विधान

नैगम और व्यवहार नय से आठों ही कर्मों की वेदना—१. अनन्तर बन्ध है, २. परम्परा बन्ध है और ३. तदुभय बन्ध है। यह कथन भेद रूप होने से नैगम नय है। उपचरित होने से व्यवहार नय है। संग्रह नय से अनन्तर बन्ध है और परम्परा बन्ध है। कारण इन दोनों प्रकार के बन्ध में ही बन्ध के सब रूप आ जाते हैं। अतः संगृहीत होने से यह कथन संग्रह नय है।

ऋजुसूत्र नय से परम्परा बन्ध है। कारण कि यह सीधा-सा बोध सभी को है कि नवीन कर्मों का बन्धन पुराने कर्मों के विपाक की अवस्था में ही संभव है।

१ अनुयोगद्वार में भी भंग समुत्कीर्तन में इसी प्रकार नैगमनय में २६ भेदों का व संग्रहनय में ७ भेदों का वर्णन है।



शब्द नय अवक्तव्य है। बन्ध किस प्रकार से हो रहा है, यह प्राणी के अनुभव की बात है। कथन से उसे नहीं जाना जा सकता।

अनुयोगद्वारा सूत्र और षट्खंडागम के उपर्युक्त विवेचन देखने के पश्चात् नयों के विषय में सहज ही निम्नांकित निष्कर्ष प्रकट होता है—

नैगम नय

१. प्रस्थक के दृष्टान्त में प्रस्थक बनाने की अनेक क्रियाओं में से कोई भी क्रिया।
 २. वसति के दृष्टान्त में बसने के अनेक स्थानों में से कोई भी स्थान।
 ३. प्रदेश के दृष्टान्त में प्रदेश की ६ की संख्या।
 ४. वेदना-नय विभाषणता में निक्षेप का प्रत्येक भेद अथवा अनेक भेद।
 ५. वेदना-नाम विधान में आठों कर्मों की वेदनाएँ।
 ६. वेदना-प्रत्यय विधान में वेदना का प्राणातिपात आदि प्रत्येक प्रत्यय।
 ७. वेदना-स्वामित्व विधान में जीव व नोजीव व इनके बहुवचनान्त बनने वाले भेद।
 ८. वेदना-वेदन विधान में आठों ही कर्मों में से प्रत्येक कर्म वेदना की बध्यमान, उदीर्ण, उपशान्तदशा के २६ भंगों में से प्रत्येक भंग।
 ९. वेदना-गति विधान में आठों ही कर्मों में से प्रत्येक कर्म वेदना की स्थित, अस्थित व स्थित-अस्थित अवस्था
 १०. वेदना-अन्तर विधान में आठों ही कर्मों में से प्रत्येक कर्म की वेदना अनन्तर, परम्परा तथा तदुभय रूप-भेद नैगम नय है।
- उपर्युक्त कथनों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि नैगम नय अनेक भेदों व उन भेदों में से प्रत्येक भेद का कथन है, अर्थात् विकल्प रूप कथन नैगम नय है।

व्यवहार नय

उपर्युक्त नैगम नय के कथन के साथ प्रायः सभी स्थलों पर व्यवहार नय का भी वैसे ही कथन है। केवल कुछ कथनों में अन्तर है, वे निम्नांकित हैं—

१. प्रदेश के दृष्टान्त में पाँच प्रदेश के स्थान पर पंचविध प्रदेश कथन है।
२. वेदना-वेदन विधान में नैगम नय में २६ भंग व व्यवहार नय में ९ भंग कम हैं। कारण कि वे ९ भंग तो बनते हैं, परन्तु व्यवहार में वैसे कहीं भी होता नहीं है। इससे इस परिणाम पर पहुँचा जाता है कि जब नैगम नय में वर्णित भेद व भंग या विकल्प का उपचार व्यवहार में होता है, तब वह व्यवहार नय का कथन होता है। इसे समझने के लिये कुछ जोड़ना या आरोपण करना पड़ता है।

संग्रह नय

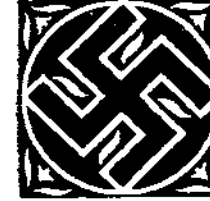
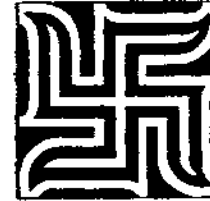
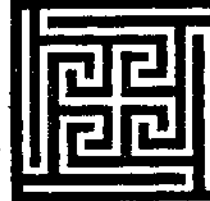
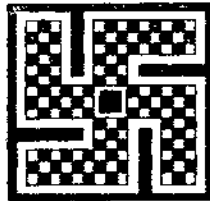
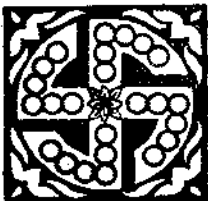
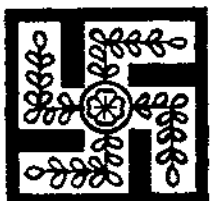
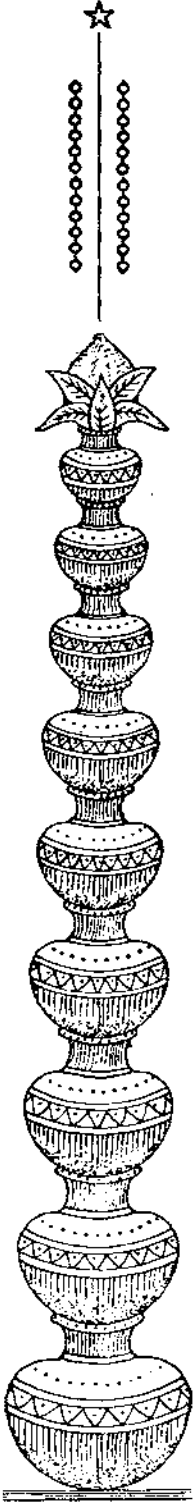
नैगम व व्यवहार में कथित भेदों, भंगों व विकल्पों में से जो एक जाति के या एक वर्ग के हैं अर्थात् जिनमें समानता पाई जाती है, उनका यहाँ एकत्व रूप संक्षेप में कथन संग्रह नय कहा गया है।

ऋजुसूत्र नय

ऐसा कथन जिसकी कथनीय विषय-वस्तु प्रत्यक्ष हो और सुनते ही उसका आशय सरलता से सीधा अनायास समझ में आ जाय अर्थात् जिसे समझने के लिए अलग से कुछ जोड़ने का, आरोपण का प्रयास न करना पड़े। यहाँ ऐसा कथन ऋजुसूत्र नय कहा गया है।

शब्द नय

शब्द के भाव (अर्थ) के रूप में आशय को व्यक्त करने वाला कथन शब्द नय कहा गया है।



समभिरूढ़ नय

शब्द के अनेक अर्थों में से एक रूढ़ अर्थ के रूप में आशय ग्रहण करने वाला कथन समभिरूढ़ नय कहा गया है।

एवंभूत नय

शब्द के अर्थ रूप क्रिया का अनुसरण करने वाले कथन को एवंभूत नय कहा गया है।

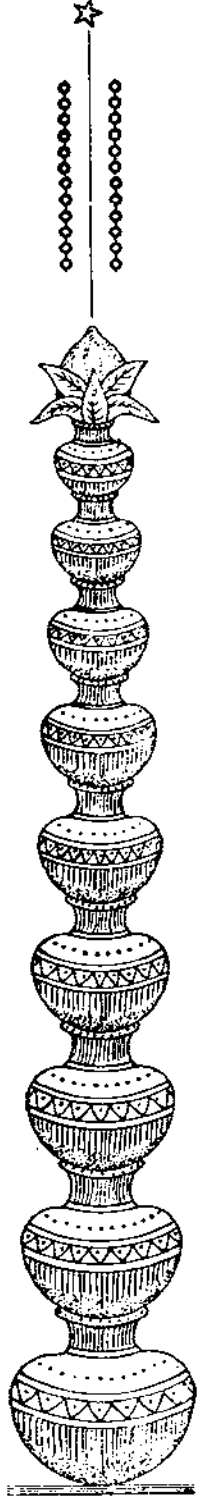
नयों के प्रसंग में अनुयोगद्वारा और षट्खंडागम के उपर्युक्त अनुशीलन से ऐसा लगता है कि आगमकाल में वर्णित नयों का न्याय के ग्रन्थों में वर्णित प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमा आदि प्रमाणों से कोई सम्बन्ध नहीं था और न नयों का स्यात् अस्ति, स्यात् नास्ति आदि भेद रूप स्याद्वाद या अनेकान्त से ही कोई सम्बन्ध था। न नय किसी मत, पंथ या सम्प्रदाय विशेष के दर्शन का प्रतिपादक ही था। पदार्थ के अनन्त गुणों में से नय किसी एक गुण अथवा दृष्टि को अपनाता है, इस रूप में न नय प्रमाण का अंश था और नयों का समुदाय मिलकर प्रमाण बनता है, ऐसा भी कुछ नहीं था। न शुद्ध नय, अशुद्ध नय या दुर्नय का ही वहाँ वर्णन है। वास्तविकता तो यह है कि आगमकाल में चार प्रमाण माने गये हैं। यथा—१. द्रव्य प्रमाण, २. क्षेत्र प्रमाण, ३. काल प्रमाण और ४. भाव प्रमाण। इनमें भाव प्रमाण के तीन भेद—गुण, नय और संख्या कहे गये हैं। इस प्रकार चारों प्रमाणों में से मात्र एक भाव प्रमाण से नय का सम्बन्ध है और वह भी मात्र एक भेद के रूप में। आगम सिद्धान्त के आशय को स्पष्ट करने के लिये चार अनुयोगों का उपयोग करने की प्रणाली रही है, उन चार अनुयोगों में नय भी एक अनुयोग है, जिसका कार्य यह जानना है कि आगम में प्रयुक्त कथन (शब्द) से प्रतिपादित विषय की कौन-सी अवस्था अभिप्रेत है।

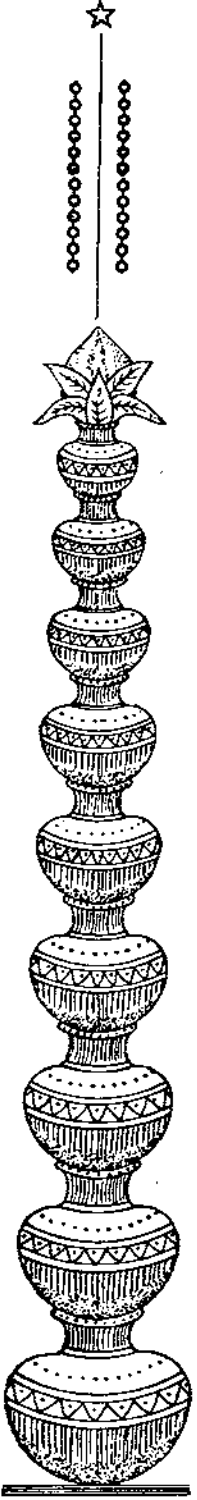
प्रस्तुत लेख लिखने के पीछे भावना यह है कि तत्त्वज्ञ व विद्वद्गण नयों के स्वरूप पर विचार करें और यथार्थ रूप को प्रस्तुत करें।

इच्छा बहुविहा लोए, जाए बद्धो किलिस्सति ।
तम्हा इच्छामणिच्छाए, जिणित्ता सुहमेधति ॥

—ऋषिभाषित ४०।१

संसार में इच्छाएं अनेक प्रकार की हैं, जिनसे बंधकर जीव दुःखी होता है।
अतः इच्छा को अनिच्छा से जीतकर साधक सुख पाता है।





मोक्ष (निर्वाण) के सम्बन्ध में जैनदर्शन का चिन्तन सर्वोत्कृष्ट माना गया है। उसने अत्यंत गहराई व विविध दृष्टियों से उस पर ऊहापोह किया है, मनन किया है, विश्लेषण किया है। आगमों के पृष्ठ पर इतस्ततः विकीर्ण उस व्यापक चिन्तन-करणों को एक धारा के रूप में निबद्ध किया है—प्रसिद्ध आगम अनुसंधाता मुनिश्री कन्हैयालाल जी 'कमल' ने।

□ मुनि कन्हैयालाल 'कमल'
[आगम अनुयोग प्रवर्तक]

जैनागमों में मुक्ति : मार्ग और स्वरूप

जैनागम, त्रिपिटक, वेदों एवं उपनिषदों में मुक्ति के मार्गों (साधनों) का विशद दार्शनिक विवेचन विद्यमान है, किन्तु प्रस्तुत प्रबन्ध की परिधि में केवल जैनागमों में प्रतिपादित तथा उद्धृत मुक्तिमार्गों का संकलन किया गया है।

यह संकलन मुक्तिमार्गानुयायी स्वाध्यायशील साधकों के लिए परम प्रसादरस परिपूर्ण पाथेय बने और इसकी धर्निश अनुप्रेक्षा करके वे परम साध्य को प्राप्त करें।

मुक्ति श्रेष्ठ धर्म है

इस विश्व में धर्म शब्द से कितने व कैसे-कैसे कर्मकाण्ड अभिहित एवं विहित हैं और कितने मत-पथ धर्म के नाम से पुकारे जाते हैं। उनकी इयत्ता का अनुमान लगा सकना भी असम्भव-सा प्रतीत हो रहा है।

इस विषम समस्या का समाधान प्रस्तुत करते हुए जैनागमों में कहा गया है—

“निर्वाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा”

संसार के समस्त धर्मों में निर्वाण अर्थात् मुक्ति ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है।

जिस धर्म की आराधना से आत्मा कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो जाए वही धर्म सब धर्मों में श्रेष्ठ है।

मुक्तिवादी महावीर

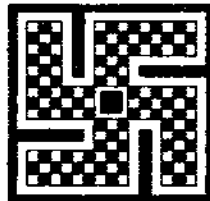
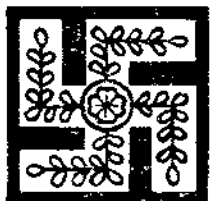
भगवान महावीर के युग में कितने वाद प्रचलित थे—यह तो उस युग के दर्शनों का ऐतिहासिक अध्ययन करके ही जाना जा सकता है। किन्तु यह निश्चित है कि उस युग में अनेकानेक वाद प्रचलित थे और इन वादों में मुक्तिवाद भी एक प्रमुख वाद था।

समकालीन मुक्तिवादियों में भगवान महावीर प्रमुख मुक्तिवादी थे। और अपने अनुयायी विनयी अन्तेवासियों को भी कर्मबन्धनों से मुक्त होने की उन्होंने प्रबल प्रेरणा दी तथा मुक्ति का मार्ग-दर्शन किया।

मुक्ति किसलिये ?

प्राणिमात्र सुखेपी है किन्तु मानव उन सबमें सब से अधिक सुखेपी है। सुख के लिए वह सब कुछ कर लेना चाहता है।

उग्र तपश्चरण, कष्टसाध्य अनुष्ठान और प्रचण्ड परीषह सहना सुखेपी के लिए सामान्य कार्य हैं। पर सुख तो भुक्ति (भोग्य पदार्थों के उपभोग) से भी प्राप्त होता है।



भुक्ति से प्राप्त सुख क्षणिक होता है—इसलिए उसे पाकर प्राणी कभी तृप्त नहीं होता अपितु तृष्णा की ज्वाला में ही अहर्निश झुलसता रहता है।

‘शाश्वत सुख’ मुक्ति से ही मिलता है। उसे पाकर आत्मा असीम आनन्द की अनुभूति भी करता है पर भुक्ति की अपेक्षा मुक्ति का मिलना जरा मुश्किल है।

भुक्ति और मुक्ति का द्वन्द्व

“म” और “म” वर्णमाला के पवर्ग में जनम-जनम के साथी हैं। भोग प्रवृत्ति का “म” और भोग निवृत्ति का “म” प्रतीक है। भुक्ति एवं मुक्ति का शाब्दिक प्रादुर्भाव “म” और “म” की प्रसूति का परिणाम है।

भुक्ति और मुक्ति की व्याप्ति व्यतिरेकव्याप्ति है। लौकिक जीवन में भुक्ति का, लोकोत्तर जीवन में मुक्ति का साम्राज्य है। अतः भुक्ति का भगत मुक्ति का उपासक और मुक्ति का उपासक भुक्ति का भगत नहीं बन सकता।

आत्मा अनादिकाल से भुक्ति के लिए भटकता रहा है। मुक्ति का संकल्प अब तक मन में उदित नहीं हुआ है। क्योंकि वह अनन्तकाल से “तमसावृत” रहा है। अतः अपूर्वकरण के अपूर्व क्षणों में आत्मा का मोहावरण सम्यक्त्व सूर्य की प्रखर रश्मियों से जब प्रतनुभूत हुआ तो उसमें अमित ज्योति की आभा प्रस्फुटित हुई है और उसी क्षण वह भुक्ति से विमुख होकर मुक्ति की ओर मुड़ा है।

भुक्ति आत्मा को अपनी ओर तथा मुक्ति आत्मा को अपनी ओर आकृष्ट करती रहती है। यही स्थिति भुक्ति एवं मुक्ति के द्वन्द्व की सूचक है।

मुक्ति की अनुभूति

(१) रत्नजटित स्वर्णपिंजर में पालित शुक बादाम-पिस्तके आदि खाकर भी सुखानुभव से शून्य रहता है। वह चाहता है—पिंजरे से मुक्ति और अनन्त आकाश में उन्मुक्त विहार।

(२) पुंगी की मधुर स्वरलहरी से मुग्ध एवं पयपान से तृप्त पन्नगराज पिटारी में पड़कर पराधीनता की पीड़ा से अहर्निश पीड़ित रहता है। वह चाहता है—पिटारी की परिधि से मुक्ति और स्वच्छन्द संचरण।

(३) नजर कैद में श्रम किये बिना ही कोमल शय्या, सरस आहार एवं शीतल सरस सलिल आदि की अनेकानेक सुविधाएँ पाकर भी मानव अन्तर्वेदना से अनवरत व्यथित रहता है। वह चाहता है—स्वतन्त्रता एवं स्वैर विहार।

कठोर परिश्रम के बाद भले ही उसे निवास के लिए पर्णकुटी, शयन के लिए भू-शय्या और भोजन के लिए अपर्याप्त अरस-विरस आहार भी क्यों न मिले, वह इतने से ही सन्तुष्ट रहेगा।

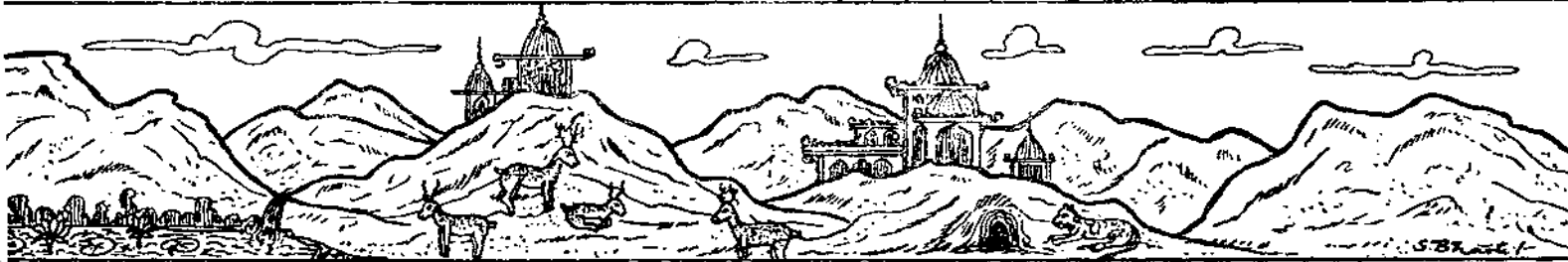
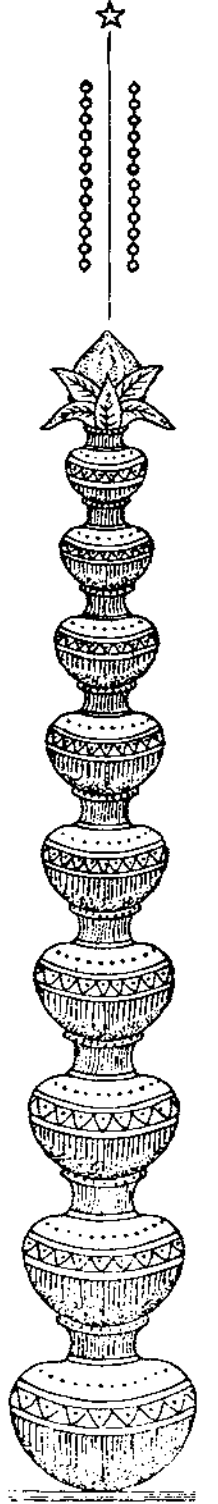
पिंजर से मुक्त पक्षी, पिटारी से मुक्त पन्नग एवं नजरकैद से मुक्त नर मुक्ति के आनन्द की झलक पाकर शाश्वत सुख का स्वर समझ सकता है।

न संसार रिक्त होगा और न मुक्ति भरेगी

मुक्तिक्षेत्र में अनन्तकाल से अनन्त आत्माएँ स्थित हैं। मानव क्षेत्र में से अनेक आत्माएँ कर्म-मुक्त होकर प्रतिक्षण मुक्ति-क्षेत्र में पहुँचती रहती हैं किन्तु मुक्त आत्माएँ मुक्ति क्षेत्र से परावर्तित होकर मानव क्षेत्र में कभी नहीं आती हैं। क्योंकि कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त आत्मा के पुनः बद्ध होकर मानव क्षेत्र में लौट आने का कोई कारण नहीं है।

अल्पज्ञ मन में यदा-कदा यह आशंका उभर आती है कि अनन्तकाल से मुक्त आत्माएँ मुक्ति क्षेत्र में जा रही हैं और लौटकर कभी कोई आत्मा आएगी ही नहीं तो क्या यह विश्व इस प्रकार आत्माओं से रिक्त नहीं हो जाएगा ?

जैनागमों में इस आशंका का समाधान इस प्रकार दिया गया है—



काल अनन्त है। अतीत भी और अनागत भी। आत्माएँ अनन्त हैं। अनन्त अतीत में भी यह विश्व आत्माओं से रिक्त नहीं हुआ तो अनन्त भविष्य में भी यह रिक्त कैसे होगा।

जिस प्रकार भविष्य का एक क्षण वर्तमान बनकर अतीत बन जाता है, पर भविष्य ज्यों का त्यों अनन्त बना हुआ रहता है। वह कभी समाप्त नहीं होता। उसी प्रकार विश्वात्माएँ भी अनन्त हैं, अतः यह विश्व कभी रिक्त नहीं होगा।

मुक्ति की जिज्ञासा कैसे जगी ?

अनन्तकाल से यह आत्मा भवाटवी में मटक रही है। पर इसे सर्वत्र दुःख ही दुःख प्राप्त हुआ है।^१ सुख कहीं नहीं मिला।

‘कभी इसने नरक में निरन्तर कठोर यातनाएँ भोगी हैं^२ तो कभी तिर्यग्योनि में दारुण दुःख सहें हैं।^३ कभी मनुज जीवन में रुग्ण होने पर रुदन किया है तो कभी स्वर्गीय सुखों के वियोग से व्याकुल भी हुई है।’ इस प्रकार अनन्त जन्म-मरण से संव्रस्त आत्मा को एकदा अनायास अपूर्व अवसर प्राप्त हुआ—यह था इस आत्मा का नैसर्गिक उदय।

इस उदय से आत्मा का आर्य क्षेत्र एवं उत्तम कुल में जन्म, स्वस्थ शरीर, स्वजन-परिजन का सुखद सम्बन्ध, अमित वैभव के साथ-साथ सद्गुरु की संगति एवं सद्धर्म-श्रवण-अभिरुचि भी उसमें जाग्रत हुई।

एक दिन उसने धर्मसभा में श्रवण किया—

‘आत्मा ने अतीत के अनन्त जन्मों में अनन्त दुःख भोगे हैं—जब तक इस आत्मा की कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्ति नहीं हो जाती तब तक यह आत्मा शाश्वत सुख प्राप्त नहीं कर सकती।’

इस प्रकार प्रवचन-श्रवण से अतीत की अनन्त दुखानुभूतियाँ उस आत्मा की स्मृति में साकार हो गईं, अतः उसकी अन्तश्चेतना में मुक्ति-मार्गों की जिज्ञासा जगी।

मुक्ति का अभिप्रेतार्थ

मुक्ति भाववाचक संज्ञा है—इसका वाच्यार्थ है—बन्धन आदि से छुटकारा पाने की क्रिया या भाव। आध्यात्मिक साधना में मुक्ति शब्द का अभिप्रेतार्थ है—आत्मा का कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होना।^४

मुक्ति के समानार्थक

मोक्ष—किसी से छुटकारा प्राप्त करना। आध्यात्मिक साधना में आत्मा का कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त होना अभिप्रेत है।^५

निर्वाण—इस शब्द का अर्थ है—समाप्ति। यहाँ अभिप्रेत अर्थ है—कर्मबन्धनों का सर्वथा समाप्त होना।^६

बहिर्विहार—इसका वाच्यार्थ है—बाहर गमन करना। यहाँ इष्ट अर्थ है—जन्म-मरण रूप संसार स्थान से बाहर जाना। मुक्त होने पर पुनः संसार में आवागमन नहीं होता।^७

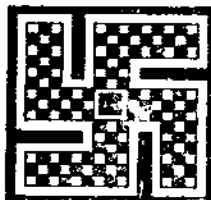
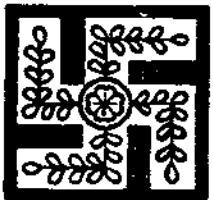
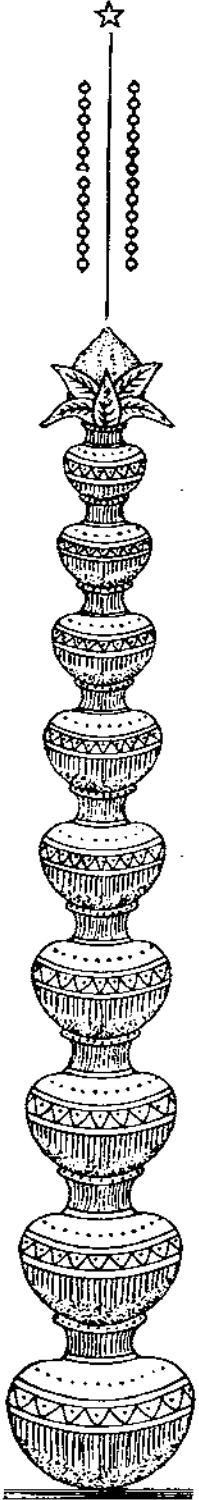
सिद्धलोक—मुक्तात्मा अपना असीष्ट सिद्ध (प्राप्त) कर लेता है अतः मुक्तात्माओं का निवास स्थान ‘सिद्धलोक’ कहा जाता है।^८

आत्मवसति—मुक्तात्माओं की वसति (शाश्वत स्थिति का स्थान) ‘आत्मवसति’ कही जाती है।^९

अनुत्तरगति—कर्मबन्धनों से बद्ध आत्मा नरकादि चार गतियों में आवागमन करती है और कर्मबन्धनों से सर्वथा मुक्त आत्मा इस ‘अनुत्तरगति’ को प्राप्त होती है। क्योंकि आत्मा की यही अन्तिम गति है अतः यह ‘अनुत्तरगति’ कही जाती है।^{१०}

प्रधानगति—बद्धात्मा चार गतियों को पुनः-पुनः प्राप्त होती है और मुक्तात्मा इस गति को प्राप्त होती है। विश्व में इस गति से अधिक प्रधान अन्य गति नहीं है, इसलिए यह ‘प्रधानगति’ कही गई है।^{११}

सुगति—देवगति और मनुष्यगति भी सुगति कही गयी है किन्तु यह कथन नरक और तिर्यग् गति की अपेक्षा से किया गया है। वास्तव में मुक्तात्माओं की जो गति है, वही सुगति है।^{१२}



वरगति—विश्व में इस गति से अधिक श्रेष्ठ कोई गति नहीं है। यह गति मुक्तात्माओं को प्राप्त होती है।^{१३}

ऊर्ध्वदिशा—आत्मा का निज स्वभाव ऊर्ध्वगमन करने का है। मुक्तात्माओं की स्थिति लोकाग्रभाग में होती है, वह ऊर्ध्वदिशा में है, अतः यह नाम सार्थक है।^{१४}

दुरारोह—मुक्ति प्राप्त होना अत्यन्त दुर्लभ है। मुक्त होने की साधना जितनी कठिन है उतना ही कठिन मुक्ति प्राप्त करना है।^{१५}

अपुनरावृत्त—मुक्तात्मा की संसार में पुनरावृत्ति नहीं होती है अतः मुक्ति का समानार्थक नाम 'अपुनरावृत्त' है।^{१६}

शाश्वत—मुक्तात्मा की मुक्ति ध्रुव होती है। एक बार कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होने पर आत्मा पुनः बद्ध नहीं होती है, इसलिए मुक्ति और मुक्ति क्षेत्र दोनों शाश्वत हैं।^{१७}

अव्याबाध—आत्मा के मुक्त होने पर जो उसे शाश्वत सुख प्राप्त होता है, वह समस्त बाधाओं से रहित होता है, इसलिए मुक्ति अव्याबाध है।^{१८}

लोकोत्तमोत्तम—तीन लोक में मुक्ति ही सर्वोत्तम है।^{१९}

मुक्तिक्षेत्र

मुक्तिक्षेत्र ऊपर की ओर लोक के अग्रभाग में है।^{२०} इस क्षेत्र में अनन्त मुक्तात्माएँ स्थित हैं। अतीत, वर्तमान और अनागत इन तीन कालों में मुक्त होने वाली आत्माएँ इसी मुक्तिक्षेत्र में आत्म (निज) स्वरूप में अवस्थित हैं।

मानव क्षेत्र मध्यलोक में है और मुक्ति क्षेत्र ऊर्ध्वलोक में है।

मानव क्षेत्र और मुक्ति क्षेत्र का आयाम विष्कम्भ समान है। दोनों की लम्बाई-चौड़ाई पैंतालीस लाख योजन की है। मानव क्षेत्र के ऊपर समश्रेणी में मुक्तिक्षेत्र अवस्थित है। मुक्तिक्षेत्र की परिधि मानव क्षेत्र के समान लम्बाई-चौड़ाई से तिगुनी है।

मुक्तिक्षेत्र की मोटाई मध्य भाग में आठ योजन की है और क्रमशः पतली होती-होती अन्तिम भाग में मक्खी की पांख से भी अधिक पतली है।

मुक्तिक्षेत्र शंख, अंकरत्न और कुन्द पुष्प के समान श्वेत स्वर्णमय निर्मल एवं शुद्ध है। यह उत्तान (सीधे खुले हुए) छत्र के समान आकार वाला है।

मुक्तिक्षेत्र सर्वार्थसिद्ध विमान से बारह योजन ऊपर है और वहाँ से एक योजन ऊपर लोकान्त है।^{२१}

मुक्तिक्षेत्र के बारह नाम

(१) **ईषत्**—रत्नप्रभादि पृथिव्यों की अपेक्षा यह (मुक्तिक्षेत्र की) पृथ्वी छोटी है, इसलिए इसका नाम ईषत् है।

(२) **ईषत् प्राग्भारा**—रत्नप्रभादि अन्य पृथिव्यों की अपेक्षा इसका ऊँचाई रूप (प्राग्भार) अल्प है।

(३) **तन्वी**—अन्य पृथिव्यों से यह पृथ्वी तनु (पतली) है।

(४) **तनुतन्वी**—विश्व में जितने तनु (पतले) पदार्थ हैं, उन सबसे यह पृथ्वी अन्तिम भाग में पतली है।

(५) **सिद्धि**—इस क्षेत्र में पहुँचकर मुक्त आत्मा स्व-स्वरूप की सिद्धि प्राप्त कर लेती है।

(६) **सिद्धालय**—मुक्तात्माओं को "सिद्ध" कहा जाता है। क्योंकि कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त होने का कार्य मुक्तात्माओं ने सिद्ध कर लिया है, इसलिए इस क्षेत्र का नाम "सिद्धालय" है।

(७) **मुक्ति**—जिन आत्माओं की कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्ति हो चुकी है, उन आत्माओं का ही आगमन इस क्षेत्र में होता है, इसलिए यह क्षेत्र मुक्ति-क्षेत्र है।

(८) **मुक्तालय**—यह क्षेत्र मुक्तात्माओं का आलय (स्थान) है।

(९) **लोकाग्र**—यह क्षेत्र लोक के अग्र भाग में है।

(१०) **लोकाग्र-स्तूपिका**—यह क्षेत्र लोक की स्तूपिका (शिखर) के समान है।



(११) लोकाप्र-प्रतिवाहिनी—लोक के अग्र भाग में जिस क्षेत्र (पृथ्वी) का वहन किया है।

(१२) सर्व प्राण-भूत-जीव-सत्त्व सुखावहा—चतुर्गति के जीव एक भव या अनेक भव करके इस मुक्तिक्षेत्र को प्राप्त होते हैं और वे शाश्वत सुख को प्राप्त होते हैं।^{२२}

मुक्ति के प्रकार

मुक्ति दो प्रकार की है—एक द्रव्यमुक्ति और दूसरी भावमुक्ति।

द्रव्यमुक्ति अनेक प्रकार की है—ऋण चुका देने पर जो ऋण से मुक्ति मिलती है, वह ऋणमुक्ति द्रव्य-मुक्ति है।

कारागार से मुक्ति मिलने पर जो हथकड़ी, बेड़ी आदि बन्धनों से मुक्ति मिलती है, वह बन्धनमुक्ति भी द्रव्यमुक्ति है।

इसी प्रकार अभियोगमुक्ति, देहमुक्ति आदि अनेक प्रकार की द्रव्यमुक्तियाँ हैं।

औदयिक भावों से मुक्त होने पर आत्मा की जो कर्मबन्धनों से मुक्ति होती है। अथवा औपशमिक, क्षायोपशमिक या क्षायिक भावों के आने पर जो कर्मबन्धनों से मुक्ति होती है वह “भावमुक्ति” कही गई है। इस प्रकार भावों द्वारा प्राप्त “भावमुक्ति” ही वास्तविक मुक्ति है। ये भेद व्यवहारनय की अपेक्षा से किए गए हैं। संग्रहनय की अपेक्षा से तो मुक्ति एक ही प्रकार की है।^{२३}

मुक्ति के मूल कारण

(१) काल, (२) स्वभाव, (३) नियति, (४) पूर्वकृत कर्मक्षय और (५) पौरुष। ये मुक्ति के प्रमुख पाँच हेतु हैं।

इन पाँचों के समुदाय से आत्मा मुक्त होती है। इनमें से एक का अभाव होने पर भी आत्मा मुक्त नहीं हो सकती है।

(१) काल—आत्मा के कर्मबन्धन से मुक्त होने में काल की अपेक्षा है। कुछ मुक्तात्माओं का साधना काल अल्प होता है और कुछ का साधना काल अधिक। अर्थात् कुछ आत्माएँ एक भव की साधना से और कुछ आत्माएँ अनेक भव की साधना के बाद मुक्त होती हैं। इसलिए काल मुक्ति का प्रमुख हेतु है।

(२) स्वभाव—मुक्ति का प्रमुख हेतु केवल काल ही नहीं है। आत्मा के कर्मबन्धन से मुक्त होने में स्वभाव की भी अपेक्षा है। केवल काल ही यदि मुक्ति का हेतु होता तो अमव्य भी मुक्त हो जाता, किन्तु मुक्त होने का स्वभाव भव्य का ही है, अमव्य का नहीं। इसलिए स्वभाव भी मुक्ति का प्रमुख हेतु है।

(३) नियति—काल और स्वभाव—केवल ये दो ही मुक्ति के दो प्रमुख हेतु नहीं हैं। आत्मा के कर्मबन्धन से मुक्त होने में नियति की भी अपेक्षा है। यदि काल और स्वभाव—ये दो ही मुक्ति के प्रमुख हेतु होते तो सभी भव्य आत्माएँ मुक्त हो जातीं, किन्तु जिन भव्य आत्माओं के मुक्त होने की नियति होती है वे ही मुक्त होती हैं। इसलिए नियति भी मुक्ति का प्रमुख हेतु है।

(४) पूर्वकृत कर्मक्षय—काल, स्वभाव और नियति—केवल ये तीन ही मुक्ति के प्रमुख हेतु नहीं हैं। आत्मा के कर्मबन्धन से मुक्त होने में पूर्वकृत कर्मक्षय भी अपेक्षित है। काल, स्वभाव और नियति ही यदि मुक्ति के प्रमुख हेतु होते तो राजा श्रेणिक भी मुक्त हो जाते किन्तु उनके पूर्वकृत कर्म जब तक क्षय नहीं हुए तब तक वे मुक्त कैसे होते? इसलिए पूर्वकृत कर्मक्षय भी मुक्ति का प्रमुख हेतु है।

(५) पौरुष—पूर्वकृत कर्मों का क्षय पौरुष के बिना नहीं होता, इसलिए पूर्वोक्त चार हेतुओं के साथ पौरुष भी मुक्ति का प्रमुख हेतु है।

यद्यपि महदेवी माता के मुक्त होने में बाह्य पुरुषार्थ परिलक्षित नहीं होता है किन्तु क्षयक श्रेणी और शुक्ल-ध्यान का अंतरंग पुरुषार्थ करके ही वह मुक्त हुई थी।

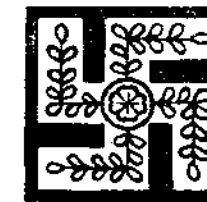
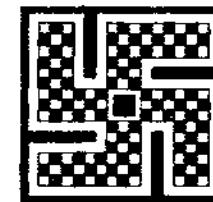
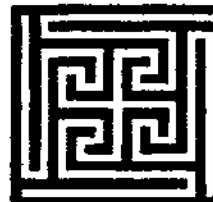
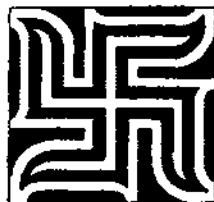
मुक्ति के अन्य मूल कारण

१. असत्त्व—गमनागमन शक्ति सम्पन्नता,

२. पञ्चेन्द्रिय सम्पन्न,

३. मनुष्यत्व

४. आर्यदेश



- | | |
|-----------------|---------------------|
| ५. उत्तम कुल | ६. उत्तम जाति |
| ७. स्वस्थ शरीर | ८. आत्मबल-सम्पन्न |
| ९. दीर्घायु | १०. विज्ञान |
| ११. सम्यक्त्व | १२. शील-सम्प्राप्ति |
| १३. क्षायिक भाव | १४. केवलज्ञान |
| १५. मोक्ष | |

उक्त कारणों में तेरहवाँ क्षायिक भाव है, उसके ९ भेद हैं—

१. केवलज्ञान, २. केवलदर्शन, ३. दानलब्धि, ४. लाभलब्धि, ५. भोगलब्धि, ६. उपभोगलब्धि ७. वीर्य-लब्धि, ८. क्षायिक सम्यक्त्व और ९. यथाख्यात चारित्र्य।

घातिकर्म चतुष्टय के सर्वथा क्षय होने पर जो आत्म-परिणाम होते हैं वे क्षायिक भाव कहे जाते हैं। ये क्षायिक भाव सावि अपर्यवसित हैं। एक बार प्राप्त होने पर ये कभी नष्ट नहीं होते हैं।

मुक्ति सूचक स्वप्न

(१) स्वप्न में अश्व, गज यावत् वृषभ आदि की पंक्ति देखे तथा मैं अश्व आदि पर आरूढ़ हूँ—ऐसा स्वयं अनुभव करता हुआ जागृत हो तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से सिद्ध, बुद्ध—यावत्—सर्व दुःखों से मुक्त होता है।

(२) स्वप्न में समुद्र को एक रज्जू से आवेष्टित करे और 'मैंने ही इसे आवेष्टित किया है'—ऐसा स्वयं अनुभव करता हुआ जागृत हो तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है।

(३) स्वप्न में इस लोक को एक बड़े रज्जू से आवेष्टित करे और 'मैंने ही इसे आवेष्टित किया है'—ऐसा स्वयं अनुभव करता हुआ जागृत हो तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है।

(४) स्वप्न में पाँच रंग के उलझे हुए सूत को स्वयं सुलझाए तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है।

(५) स्वप्न में लोह, ताम्र, कथीर और शीशा नामक धातुओं की राशियों को देखे तथा स्वयं उन पर चढ़े तो स्वप्नद्रष्टा दो भव से मुक्त होता है।

(६) स्वप्न में हिरण्य, सुवर्ण, रत्न एवं वज्र(हीरे)की राशियों को देखे और स्वयं उन पर चढ़े तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है।

(७) स्वप्न में घास यावत् कचरे के बहुत बड़े ढेर को देखे और स्वयं उसे बिकरे तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है।

(८) स्वप्न में शर वीरण वंशीमूल या बल्लीमूल स्तम्भ को देखे और स्वयं उसे उखाड़े तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है।

(९) स्वप्न में क्षीर, दधि, घृत और मधु के घट को देखे तथा स्वयं उठाए तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है।

(१०) स्वप्न में सुरा, सौवीर तेल या बसा भरे घट को देखकर तथा स्वयं उसे फोड़कर जागृत हो तो स्वप्नद्रष्टा दो भव से मुक्त होता है।

(११) स्वप्न में असंख्य उन्मत्त लहरों से व्याप्त पद्म सरोवर को देखकर स्वयं उसमें प्रवेश करे तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है।

(१२) स्वप्न में महान् सागर को भुजाओं से तैरकर पार करे तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है।

(१३) स्वप्न में रत्नजटित विशाल भवन में प्रवेश करे तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है।

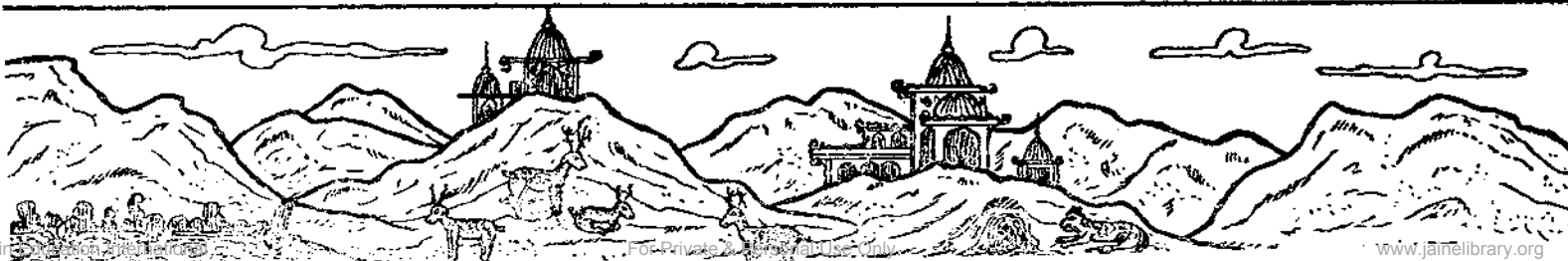
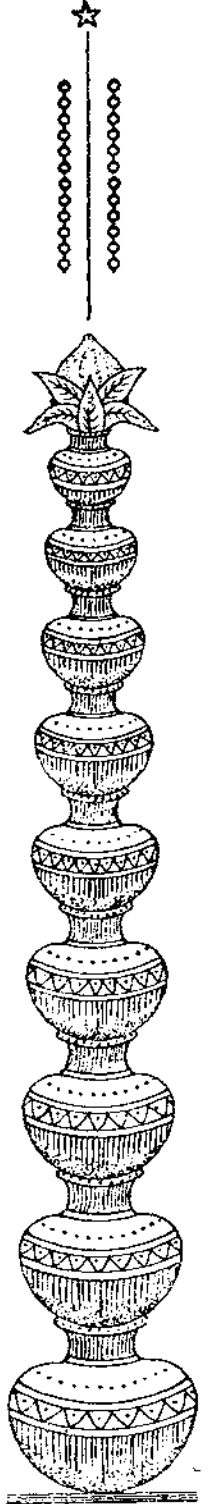
(१४) स्वप्न में रत्नजटित विशाल विमान पर चढ़े तो स्वप्नद्रष्टा उसी भव से मुक्त होता है।

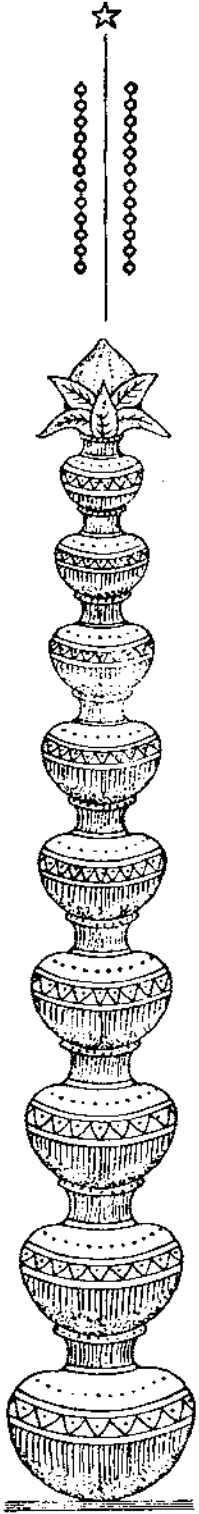
ये चौदह स्वप्न पुरुष या स्त्री देखे और उसी क्षण जागृत हों तो उसी भव से मुक्त होते हैं।

पाँचवा और दसवाँ स्वप्न देखने वाले दो भव से मुक्त होते हैं।^{२४}

मुक्तात्मा के मौलिक गुण

अष्ट गुण—(अष्ट कर्मों के क्षय से ये अष्ट गुण प्रगट होते हैं।)





- १ अनन्त ज्ञान, २ अनन्त दर्शन, ३ अव्याबाध सुख, ४ क्षायिक सम्यक्त्व,
५ अक्षय स्थिति, ६ अमूर्तपत्ता, ७ अगुरुलघु, ८ अनन्त शक्ति ।

इकतीस गुण—(आठ कर्मों की मूल प्रकृतियों के क्षय की अपेक्षा से ये गुण कहे गए हैं ।)

१. ज्ञानावरण कर्म के क्षय से प्रगटे पांच गुण—

- (क) क्षीण आमिनिबोधिक ज्ञानावरण, (ख) क्षीण श्रुतज्ञानावरण, (ग) क्षीण अवधिज्ञानावरण,
(घ) क्षीण मनःपर्यव ज्ञानावरण, (ङ) क्षीण केवलज्ञानावरण ।

२. दर्शनावरण कर्म के क्षय से प्रगटे नौ गुण—

- (क) क्षीण चक्षुदर्शनावरण, (ख) क्षीण अचक्षुदर्शनावरण, (ग) क्षीण अवधिदर्शनावरण,
(घ) क्षीण केवलदर्शनावरण, (ङ) क्षीण निद्रा, (च) क्षीण निद्रानिद्रा,
(छ) क्षीण प्रचला, (ज) क्षीण प्रचलाप्रचला, (झ) क्षीण स्त्यानर्द्धि,

३. वेदनीय कर्म के क्षय से प्रगटे दो गुण—

- (क) क्षीण सातावेदनीय, (ख) क्षीण असातावेदनीय ।

४. मोहनीय कर्म के क्षय से प्रगटे दो गुण—

- (क) क्षीण दर्शनमोहनीय (ख) क्षीण चारित्रमोहनीय ।

५. आयु कर्म के क्षय से प्रगटे चार गुण—

- (क) क्षीण नैरयिकायु, (ख) क्षीण तिर्यचायु (ग) क्षीण मनुष्यायु, (घ) क्षीण देवायु ।

६. नाम कर्म के क्षय से प्रगटे दो गुण—

- (क) क्षीण शुभ नाम, (ख) क्षीण अशुभ नाम ।

७. गोत्र कर्म के क्षय से प्रगटे दो गुण—

- (क) क्षीण उच्चगोत्र, (ख) क्षीण नीचगोत्र ।

८. अन्तराय कर्म के क्षय से प्रगटे पांच गुण—

- (क) क्षीण दानान्तराय, (ख) क्षीण लाभान्तराय, (ग) क्षीण भोगान्तराय, (घ) क्षीण उपभोगान्तराय,
(ङ) क्षीण वीर्यान्तराय ।

अन्य प्रकार से इकतीस गुण

मुक्तात्मा के पांच वर्ण, दो गन्ध, पांच रस, आठ स्पर्श, पांच संस्थान, तीन वेद, काय, संग और रूह—इन इकतीस के क्षय से इकतीस गुण प्रगट होते हैं ।

मुक्तात्मा वर्ण, गन्ध, रस, स्पर्श, संस्थान और वेद रहित होते हैं ।

मुक्तात्मा के औदारिकादि काय (शरीर) न होने से “अकाय” हैं ।

बाह्याभ्यन्तर संग रहित होने से “असंग” हैं ।

मुक्त होने के बाद पुनः संसार में जन्म नहीं लेते, अतः “अरूह” हैं ।

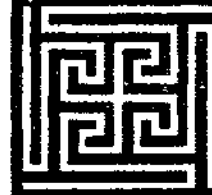
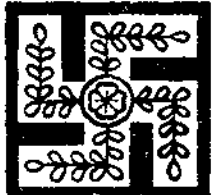
दग्धे बीजे यथाऽत्यन्तं, प्राकुर्भवति नांकुरः ।

कर्मबीजे तथा दग्धे, न रोहति भवांकुरः ॥

बीज के जल जाने पर जिस प्रकार अंकुर पैदा नहीं होता उसी प्रकार कर्म रूप बीज के क्षय हो जाने पर भव (जन्म) रूप अंकुर पैदा नहीं होता ।

मुक्तात्मा की अविग्रह गति

मुक्तात्मा स्थूल (औदारिक) शरीर और सूक्ष्म (तैजस-कार्मण) शरीर छोड़कर मुक्तिक्षेत्र में अविग्रह (सरल) गति से पहुँचता है । इस गति में केवल एक समय (काल का अविभाज्य अंश) लगता है । क्योंकि मनुष्य क्षेत्र में आत्मा जिस स्थान पर देहमुक्त होता है उस स्थान से सीधे ऊपर की ओर मुक्तिक्षेत्र में मुक्त आत्मा स्थित होती है । इसलिए मुक्तात्मा की ऊर्ध्वगति में कहीं विग्रह नहीं होता ।



अविग्रह गति के चार कारण

(१) पूर्व प्रयोग—पूर्वबद्ध कर्मों से मुक्त होने पर जो वेग उत्पन्न होता है उससे मुक्तात्मा ऊर्ध्वगति करता है। जिस प्रकार कुलाल चक्र दण्ड द्वारा घुमाने पर तीव्र वेग से फिरता है। दण्ड के हटा लेने पर भी वह पूर्व प्रयोग से फिरता ही रहता है। इसी प्रकार मुक्तात्मा भी पूर्व प्रयोगजन्य वेग से ऊर्ध्वगति करता है।

(२) संग का अभाव—प्रतिबंधक कर्म का संग-सम्बन्ध न रहने से मुक्तात्मा ऊर्ध्वगति करता है जिस प्रकार अनेक मृत्तिकालेपयुक्त तुम्ब जलाशय के अधस्तल में पड़ा रहता है और मृत्तिका के लेपों से मुक्त होने पर अपने आप जलाशय के उपरितल पर आ जाता है इसी प्रकार मुक्तात्मा भी प्रतिबंधक कर्मबंध से मुक्त होने पर लोक के अग्रभाग पर अवस्थित होता है।

(३) बंध छेद—कर्मबंध के छेदन से आत्मा ऊर्ध्वगति करता है। जिस प्रकार एरंडबीज कोश से मुक्त होने पर स्वतन्त्र ऊर्ध्व गति करता है इसी प्रकार मुक्तात्मा भी ऊर्ध्वगति करता है।

(४) गति परिणाम—आत्मा का स्वभाव ऊर्ध्वगति करने वाला है। जहां तक धर्मास्तिकाय है वहां तक मुक्तात्मा गति करता है। धर्मास्तिकाय लोक के अग्रभाग तक ही है इसलिए अलोक में मुक्तात्मा नहीं जाती।

उक्त चार कारणों से मुक्तात्मा की लोकान्तपर्यन्त अविग्रह गति होती है।^{२५}

मुक्तात्मा का अमूर्तत्व

मुक्तात्मा के न स्थूल शरीर होता है और न सूक्ष्म शरीर। जब तक आत्मा शरीरयुक्त रहता है तब तक उसका परिचय किसी एक प्रकार की विशिष्ट आकृति में दिया जाता है किन्तु शरीर रहित (अमूर्त) आत्मा का परिचय निषेधपरक शब्दों के अतिरिक्त शब्दों द्वारा दिया जाना संभव नहीं है।

यहां ये बत्तीस वाक्य अमूर्त आत्मा के परिचायक हैं।

मुक्त आत्मा—(१) न दीर्घ है, (२) न ह्रस्व है, (३) न वृत्त है, (४) न तिकोन है, (५) न चतुष्कोण है, (६) न परिमण्डल है, (७) न काला, (८) न हरा, (९) न लाल, (१०) न पीला और, (११) न श्वेत है, (१२) न सुगन्ध रूप है और (१३) न दुर्गन्ध रूप है, (१४) न तीक्ष्ण, (१५) न कटुक, (१६) न कषाय, (१७) न अम्ल और (१८) न मधुर है, (१९) न कठोर, (२०) न कोमल, (२१) न गुरु, (२२) न लघु, (२३) न शीत, (२४) न उष्ण, (२५) न स्निग्ध और (२६) न रुक्ष है, (२७) न काय, (२८) न संग और (२९) न रूह है, (३०) न स्त्री (३१) न पुरुष, और (३२) न पुंसक है।

वैदिक परम्परा में मुक्तात्मा के अमूर्तत्व को "नेति-नेति" कहकर व्यक्त किया है।

मुक्तात्माओं का अनुपम सुख

मुक्तात्मा को जैसा सुख होता है वैसा सुख न किसी मनुष्य को होता है और न किसी देवता को—क्योंकि उनके सुख में यदाकदा विघ्न-बाधा आती रहती है किन्तु मुक्तात्मा का सुख अव्याबाध (बाधा रहित) होता है।

यदि कोई समस्त देवों की स्वर्गीय सुखराशि को अनन्त काल के अनन्त समयों से गुणित करे और गुणित सुख राशि को अनन्त बार वर्ग करे फिर भी मुक्तात्मा के सुख की तुलना नहीं हो सकती।

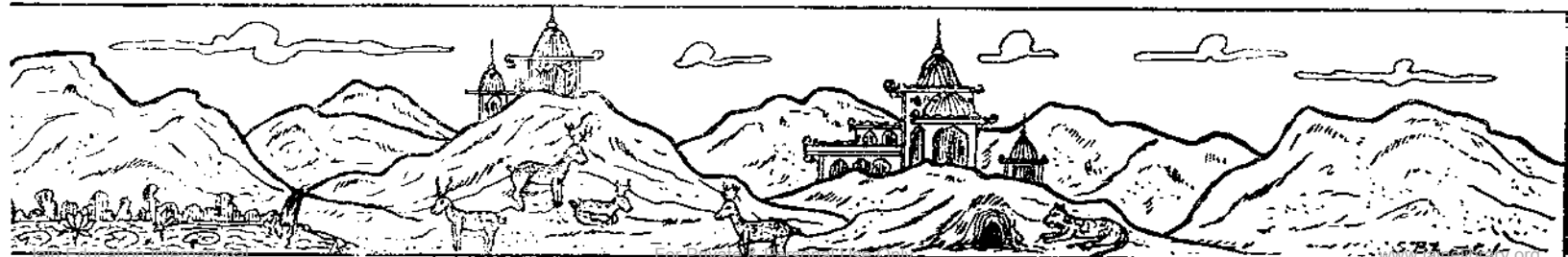
एक मुक्तात्मा के सर्वकाल की संवित सुखराशि को अनन्त वर्गमूल से विभाजित करने पर जो एक समय की सुखराशि शेष रहे—वह भी सारे आकाश में नहीं समाती है।^{२६}

इस प्रकार मुक्तात्माओं का सुख शाश्वत एवं अनुपम सुख है। विश्व में एक भी उपमेय ऐसा नहीं है जिसकी उपमा मुक्तात्मा के सुख को दी जा सके; फिर भी असाधारण सादृश्य दर्शक एक उदाहरण प्रस्तुत है।

जिस प्रकार एक पुरुष सुधा समान सर्वरस सम्पन्न सुस्वादु भोजन एवं पेय से अत्यन्त सन्तुष्ट होकर सुखानुभव करता है—इसी प्रकार अनुपम निर्वाण सुख प्राप्त मुक्तात्मा सर्वदा निराबाध शाश्वत सुख सम्पन्न रहता है।

अनुपम सुख का प्रज्ञापक एक उदाहरण

एक राजा शिकार के लिए जंगल में गया। वहां वह अपने साथियों से बिलुड़ गया। कुछ देर बाद उसे क्षुधा और तृषा लगी। पानी की तलाश में इधर-उधर घूमते हुए उसे किसान की एक कुटिया दिखाई दी।



राजा वहाँ गया। किसान ने राजा को शीतल एवं मधुर जल पिलाया और भोजन कराया।

राजा ने किसान से कहा—एक दिन तू मेरे यहाँ आ—मैं भी तुझे अच्छा-अच्छा भोजन खिलाऊँगा। यह कहकर राजा अपने नगर को चला आया।

एक दिन किसान राजा के पास गया। राजा ने उसे राजमहलों में रखा। अच्छे वस्त्र पहनाए, मिष्ठान्न खिलाए। पर किसान का मन महलों में नहीं लगा। एक दिन वह उकताकर राजा से कहने लगा—मैं अपने घर जाना चाहता हूँ।

राजा ने कहा—जा सकता है।

किसान अपने घर चला आया।

किसान के कुटुम्बियों ने उससे पूछा—राजा के यहाँ तू कैसे रहा ?

किसान राजा के महल का, वस्त्रों का और भोजन का यथार्थ वर्णन नहीं कर सका।

किसान ने कहा—वहाँ का आनन्द तो निराला ही था। मैं तुम्हें क्या बताऊँ। वहाँ जैसी मिठाइयाँ मैंने कभी नहीं खाईं। वहाँ जैसे वस्त्र मैंने कभी नहीं पहने। वहाँ जैसे विछोनों पर मैं कभी नहीं सोया।

किसान जिस प्रकार राजसी सुख का वर्णन नहीं कर सका इसी प्रकार मुक्तात्मा के सुख का वर्णन भी मानव की शब्दावली नहीं कर सकती।^{२७}

मार्ग का अभिप्रेतार्थ

मार्ग भी भाववाचक संज्ञा है—इसका वाच्यार्थ है—दो स्थानों के बीच का क्षेत्र।

जिस स्थान से व्यक्ति गन्तव्य स्थान के लिए गमन-क्रिया प्रारम्भ करता है। वह एक स्थान और जिस अभीष्ट स्थान पर व्यक्ति पहुँचना चाहता है—वह दूसरा स्थान। ये दोनों स्थान कहीं ऊपर या नीचे। कहीं सम या विषम स्थल पर अथवा किसी दिशा या विदिशा में होते हैं।

इन दो स्थानों के मध्य का क्षेत्र कहीं अल्प परिमाण का और कहीं अधिक परिमाण का भी होता है।

आध्यात्मिक साधना में मार्ग शब्द का अभिप्रेतार्थ है—मुक्ति के उपाय। अर्थात् जिन उपायों (साधनों) से आत्मा कर्मबन्धन से सर्वथा मुक्त हो सके। ऐसे उपाय आगमों में “मुक्ति के मार्ग” कहे गये हैं।

मार्ग के समानार्थक^{२८}

(१) पन्थ

(क) द्रव्य विवक्षा—जिस पर चलकर किसी ग्राम या नगर से इष्ट ग्राम या नगर को पथिक पहुँच जाय वह द्रव्य पन्थ है।

(ख) भाव विवक्षा—जिस निमित्त से या उपदेश से मिथ्यात्व से मुक्त होकर सम्यक्त्व प्राप्त हो जाय वह भाव पन्थ है।

(२) मार्ग

(क) द्रव्य विवक्षा—जो मार्ग सम हो और कन्टक, बटमार या श्वापदादि से रहित हो।

(ख) भाव विवक्षा—जिस साधना से आत्मा अधिक शुद्ध हो।

(३) न्याय

(क) द्रव्य विवक्षा—ऐसा सद् व्यवहार जिससे विशिष्ट पद या स्थान की प्राप्ति हो।

(ख) भाव विवक्षा—सम्यग्ज्ञान-दर्शन से सम्यग्चारित्र्य की प्राप्ति हो।

(४) विधि

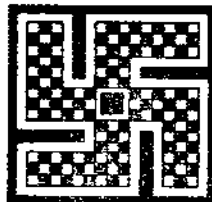
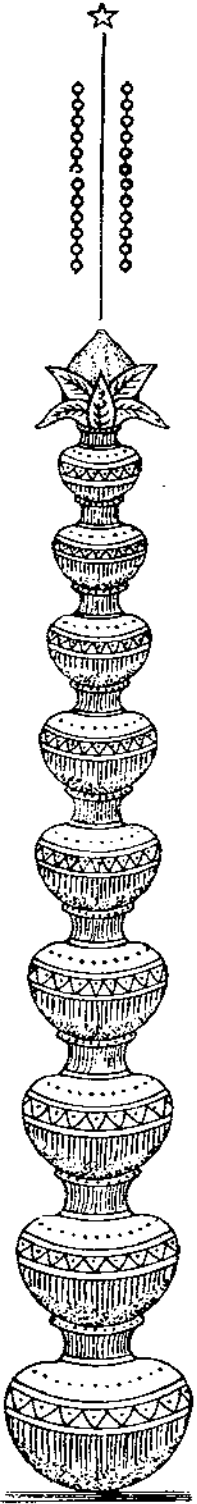
(क) द्रव्य विवक्षा—ऐसे सत् कार्य जिनके करने से इष्ट पद या स्थान की निर्विघ्न प्राप्ति हो।

(ख) भाव विवक्षा—जिस साधना से सम्यग्ज्ञान-दर्शन-चारित्र्य की निर्विघ्न आराधना हो।

(५) धृति

(क) द्रव्य विवक्षा—अनेक विघ्न-बाधाओं के होते हुए भी धैर्य से इष्ट पद या स्थान प्राप्त हो जाय।

(ख) भाव विवक्षा—अनेक परीषह एवं उपसर्गों के होते हुए भी धैर्य से रत्नत्रय की आराधना करते हुए कर्मबन्धन से आत्मा मुक्त हो जाय।



(६) सुगति

- (क) द्रव्य विवक्षा—सुख से (कष्ट के बिना) इष्ट स्थान को पहुँच जाय ।
 (ख) भाव विवक्षा—किसी प्रकार की कठोर साधना किए बिना रत्नत्रय की सामान्य आराधना करते हुए आत्मा का कर्मबन्धन से मुक्त होना ।

(७) हित

- (क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलना हितकर हो ।
 (ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय से आत्म-स्वरूप की प्राप्ति हो क्योंकि आत्मा का वास्तविक हित यही है !

(८) सुख

- (क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलने में सुखानुभूति हो वह सुखकर मार्ग है ।
 (ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की आराधना से आत्मिक सुख की प्राप्ति हो ।

(९) पथ्य

- (क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलने से स्वास्थ्य का सुधार हो ।
 (ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की आराधना से कषायों का उपशमन हो ।

(१०) श्रेय

- (क) द्रव्य विवक्षा—जो मार्ग गमन करने वाले के लिए श्रेयस्कर हो ।
 (ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की साधना से मोह का उपशमन हो ।

(११) निर्वृत्ति

- (क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलने से मानसिक अशान्ति निर्मूल हो ।
 (ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की साधना से मोह का सर्वथा क्षय हो ।

(१२) निर्वाण

- (क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलने से शारीरिक एवं मानसिक दुखों से निवृत्ति मिले ।
 (ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की साधना से घाति कर्म चतुष्टय का निर्मूल होना ।

(१३) शिव

- (क) द्रव्य विवक्षा—जिस मार्ग पर चलने से किसी प्रकार का अशिव (उपद्रव) न हो ।
 (ख) भाव विवक्षा—रत्नत्रय की साधना से शैलेषी (अयोग) अवस्था प्राप्त हो ।

मार्ग के प्रकार

लौकिक लक्ष्य-स्थान के मार्ग तीन प्रकार के हैं—१. जलमार्ग, २. स्थलमार्ग, और ३. नममार्ग । इन मार्गों द्वारा अभीष्ट स्थान पर पहुँचने के लिए तीन प्रकार के साधनों का उपयोग किया जाता है । १. गमन क्रिया करने वाले के पैर, २. धान और ३. वाहन । इसी प्रकार लोकोत्तर लक्ष्य-स्थान “मुक्ति” के मार्ग भी तीन प्रकार के हैं । १. ज्ञान, २. दर्शन और ३. चारित्र । सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग ।^{२६}

मार्ग के प्रकार

मार्ग छह प्रकार के हैं—१. नाम मार्ग, २. स्थापना मार्ग, ३. द्रव्य मार्ग, ४. क्षेत्र मार्ग, ५. काल मार्ग और ६. भाव मार्ग ।

(१) नाम मार्ग—एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने वाला मार्ग जिस नाम से अभिहित हो—वह नाम मार्ग है । यथा—यह इन्द्रप्रस्थ जाने वाला मार्ग है ।

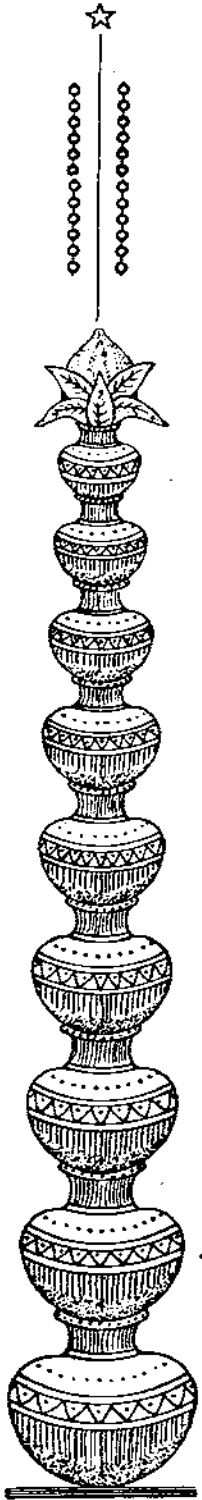
(२) स्थापना मार्ग—एक ग्राम से दूसरे ग्राम जाने के लिए जिस मार्ग की रचना की गई हो—वह स्थापना मार्ग है । यथा—पगदण्डी, सड़क, रेलमार्ग आदि ।

(३) द्रव्य मार्ग—यह मार्ग अनेक प्रकार का है ।

(क) फलक मार्ग—जहाँ पंक अधिक हो वहाँ फलक आदि लगाकर मार्ग बनाया जाय ।

(ख) लता मार्ग—जहाँ लताएँ पकड़कर जाया जाय ।





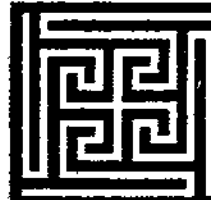
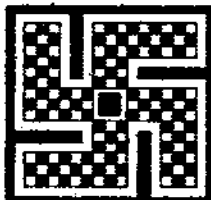
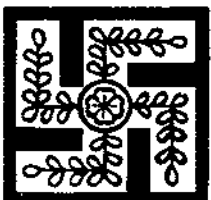
- (ग) आन्दोलन मार्ग—जहाँ झूले से आन्दोलित (ऊपर की ओर उठकर) होकर पहुँचा जाय ।
 (घ) वेत्र मार्ग—बेत के पीछे की पकड़कर नदी पार की जाय ।
 (ङ) रज्जु मार्ग—जहाँ रस्सियाँ बाँधकर जाया जाय ।
 (च) यान मार्ग—जहाँ किसी यान (रेल, मोटर, तांगा, रथ आदि) द्वारा जाया जाए ।
 (छ) बिल मार्ग—जहाँ सुरंग द्वारा जाया जाय ।
 (ज) पाश मार्ग—जहाँ जाने के लिए पाश (जाल) बिछाया गया हो ।
 (झ) कील मार्ग—रेतीले प्रदेश में कीलें गाड़कर बनाया मार्ग ।
 (ञ) अज मार्ग—जहाँ बकरों पर बैठकर जाया जाए ।
 (ट) पक्षि मार्ग—भारण्ड पक्षी आदि पक्षियों पर बैठकर जहाँ जाया जाय ।
 (ठ) छत्र मार्ग—जहाँ छत्र लगाकर जाया जाय ।
 (ड) नौका मार्ग—जहाँ नौका द्वारा जाया जाय ।
 (ढ) आकाश मार्ग—विद्याधर या देवताओं का मार्ग । अथवा वायुयान द्वारा जाने का मार्ग ।
- (४) क्षेत्र मार्ग—यह मार्ग दो प्रकार का है ।
 (क) शालि आदि धान्य के क्षेत्र को जाने वाला मार्ग ।
 (ख) ग्राम नगर आदि को जाने वाला मार्ग ।
- (५) काल मार्ग—यह मार्ग दो प्रकार का है ।
 (क) शिशिर, वसन्त आदि किसी एक ऋतु विशेष में जाने योग्य मार्ग ।
 (ख) प्रातः, सायं, मध्याह्न या निशा में जाने योग्य मार्ग ।
- (६) भाव मार्ग—यह मार्ग दो प्रकार का है । १. प्रशस्त और २. अप्रशस्त ।
 (क) प्रशस्त भाव मार्ग—इस मार्ग का अनुसरण करने से आत्मा सुगति को प्राप्त होता है ।
 (ख) अप्रशस्त भाव मार्ग—इस मार्ग का अनुसरण करने से आत्मा दुर्गति को प्राप्त होता है ।
- इसी प्रकार भाव मार्ग के कुछ अन्य प्रकार भी हैं ।
 (क) १ सत्य मार्ग और २ मिथ्या मार्ग ।
 (ख) १ सुमार्ग और २ कुमार्ग ।
 (ग) १ सन्मार्ग और २ उन्मार्ग ।

द्रव्य मार्ग के अन्य और चार प्रकार

१. क्षेम है और क्षेम रूप है ।
जो मार्ग सम है और बटमार या श्वापदों से रहित है ।
२. क्षेम है किन्तु अक्षेम रूप है ।
मार्ग सम है किन्तु बटमार या श्वापदों से युक्त है ।
३. अक्षेम है किन्तु क्षेम रूप है ।
मार्ग विषम है किन्तु बटमार या श्वापदों से रहित है ।
४. अक्षेम है और अक्षेम रूप है ।
मार्ग भी विषम है और बटमार या श्वापदों से भी युक्त है ।
मार्ग के समान मार्गगामी भी दो प्रकार के होते हैं । यथा—१ सुमार्गगामी और २ कुमार्गगामी ।

भाव मार्गगामी के चार प्रकार

१. क्षेम है और क्षेम रूप है ।
जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से युक्त है और साधुवेष (स्वर्णिग) से भी युक्त है ।



२. क्षेम है किन्तु अक्षेम रूप है ।

जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से तो युक्त है किन्तु साधु वेष (स्वर्लिंग) से युक्त नहीं है ।

३. अक्षेम है किन्तु क्षेम रूप है ।

जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से तो युक्त नहीं है किन्तु साधुवेष (स्वर्लिंग) से युक्त है ।

४. अक्षेम है और अक्षेम रूप है ।

जो सम्यग्ज्ञानादि रत्नत्रय से भी युक्त नहीं है और साधु वेष से भी युक्त नहीं है ।

प्रथम भंग में मुक्ति मार्ग का पूर्ण आराधक है ।

द्वितीय भंग में मुक्ति मार्ग का देश आराधक है ।

तृतीय भंग में मुक्ति मार्ग का देश विराधक है ।

चतुर्थ भंग में मुक्ति मार्ग का पूर्ण विराधक है ।

मुक्ति के कितने मार्ग ?

मानव क्षेत्र से मुक्ति क्षेत्र में पहुँचने का मार्ग एक ही है या अनेक हैं ?

इस जिज्ञासा का समाधान इस प्रकार है ।

मुक्ति मार्ग के सम्बन्ध में जैनागमों में दो विवक्षाएँ हैं ।

(१) संक्षेप में मुक्ति का मार्ग एक है "क्षायिक भाव ।"

(२) विस्तृत विवक्षा के अनुसार मुक्ति के अनेक मार्ग हैं ।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की समवेत साधना ही मुक्ति का एकमात्र मार्ग है ।

तपश्चर्या चारित्र्य का ही एक अंग है । इसलिए आचार्य उमास्वति ने—**"सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र्याणि मोक्षमार्गः"** कहा है ।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य के साथ जो "सम्यक्" विशेषण का प्रयोग है वह विलक्षण प्रयोग है । इस प्रकार का प्रयोग केवल जैनागमों में ही देखा गया है ।

यहाँ मुक्ति का मार्ग केवल दर्शन नहीं अपितु सम्यग्दर्शन है । इसी प्रकार मुक्ति के मार्ग ज्ञान और चारित्र्य नहीं अपितु सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य हैं ।

जिसकी दृष्टि सम्यक् (आत्मस्वरूप चिन्तन परक) है उसे सम्यग्दृष्टि कहा जाता है । उस सम्यग्दृष्टि का दर्शन, ज्ञान और चारित्र्य ही सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यग्चारित्र्य है । इनको संयुक्त साधना ही एकमात्र मुक्ति का मार्ग है ।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की जघन्य, मध्यम और उत्कृष्ट साधना करने वाले भव भ्रमण से मुक्त होकर मुक्ति क्षेत्र में शाश्वत स्थिति को प्राप्त होते हैं ।^{३०}

मुक्ति कब और कैसे ?

आत्मा कर्मबन्धन से बद्ध कब हुई और मुक्त कब होगी ?

यह भी एक जिज्ञासा है । समाधान इस प्रकार है ।

आत्मा अनादिकाल से कर्मों से बद्ध है किन्तु कर्मक्षय होने पर मुक्त होगी ।

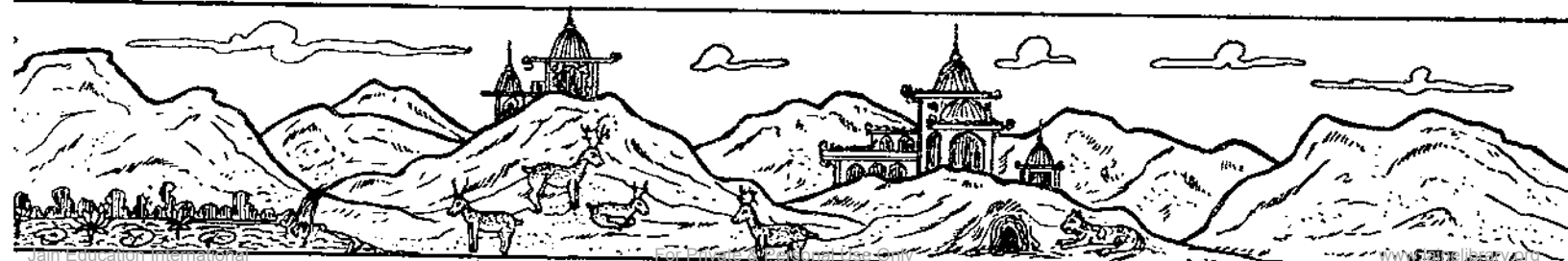
जिस प्रकार स्वर्ण की खान में स्वर्ण अनादिकाल से मिट्टी से मिश्रित है । विधिवत् शुद्ध करने पर स्वर्ण शुद्ध हो जाता है । इसी प्रकार कर्म-रजबद्ध आत्मा तपश्चर्या से कर्म रज मुक्त होती है ।

आत्मा और कर्म का सम्बन्ध अनादि सान्त है । इसलिए आत्मा कर्म रज से मुक्त होकर मुक्ति क्षेत्र में स्थित हो जाती है ।

अन्य दर्शनमान्य मुक्तिमार्ग

जैनागम सूत्रकृताङ्ग में अन्य दर्शनमान्य जिन मुक्ति मार्गों का निर्देश है—यहाँ उनका संक्षिप्त संकलन प्रस्तुत है ।

तारागण आदि ऋषियों ने सच्चित्त जल के सेवन से मुक्ति प्राप्त की है ।



नमि (विदेह) ने आहार का उपभोग करके मुक्ति प्राप्त की है।

राममुप्त ने भी नमि के समान आहार का उपभोग करके मुक्ति प्राप्त की है।

'बाहुक' ने सचित्त जल के सेवन से मुक्ति प्राप्त की है।

नारायण ऋषि ने अचित्त जल के सेवन से मुक्ति प्राप्त की है।

असिल, देवल, द्रौपायन और पाराशर ऋषि ने सचित्त जल, बीज और हरितकाय के सेवन से मुक्ति प्राप्त की है।^{३१}

नमक न खाने से मुक्ति प्राप्त होती है।

शीतल जल के सेवन से मुक्ति प्राप्त होती है।

होम करने से मुक्ति प्राप्त होती है।^{३२}

क्रियावादी केवल क्रिया से ही मुक्ति मानते हैं। ज्ञान का निषेध करते हैं।

अक्रियावादी केवल ज्ञान से ही मुक्ति मानते हैं। क्रिया का निषेध करते हैं।

विनयवादी केवल विनय से ही मुक्ति मानते हैं। ज्ञान-क्रिया आदि का निषेध करते हैं।^{३३}

अन्य दर्शनमान्य मुक्ति मार्गों का अन्य दर्शनों के किन-किन ग्रन्थों में उल्लेख है—यह शोध का विषय है। सूत्रकृताङ्ग के व्याख्या ग्रन्थों में भी मुक्ति विषयक वर्णन वाले अन्य दर्शनमान्य ग्रन्थों का उल्लेख नहीं है इसलिए नवीन प्रकाशमान सूत्रकृताङ्ग के व्याख्या ग्रन्थों के सम्पादकों का यह कर्तव्य है कि उक्त मुक्ति मार्गों का प्रमाण पूर्वक निर्देश करें। श्रुतसेवा का यह महत्त्वपूर्ण कार्य कब किस महानुभाव द्वारा सम्पन्न होता है? यह सविषय ही बताएगा।

जैनदर्शन-सम्मत मुक्ति मार्ग

जो ममत्व से मुक्त है वह मुक्त है।^{३४}

जो मान-बड़ाई से मुक्त है वह मुक्त है।^{३५}

जो वैर-विरोध से मुक्त है वह मुक्त है।^{३६}

जो रागद्वेष से मुक्त है वह मुक्त है।^{३७}

जो मोह से मुक्त है वह मुक्त है।^{३८}

जो कषाय-मुक्त है वह मुक्त है।^{३९}

जो मदरहित है वह मुक्त है।^{४०}

जो भौन रखता है वह मुक्त होता है।^{४१}

जो सम्यग्दृष्टि है वह मुक्त होता है।^{४२}

जो सदाचारी है वह मुक्त होता है।^{४३}

अल्पभोजी, अल्पभाषी, जितेन्द्रिय, अनासक्त क्षमाश्रमण मुक्त होता है।^{४४}

आरम्भ-परिग्रह का त्यागी ही मुक्त होता है चाहे वह ब्राह्मण, सूद्र, चाण्डाल या वर्णशङ्कर हो।^{४५}

हिताहित के विवेक वाला उपशान्त गर्वरहित साधक मुक्त होता है।^{४६}

हिंसा से सर्वथा निवृत्त व्यक्ति ही मुक्त होता है।^{४७}

निदानरहित अणगार ही मुक्त होता है।^{४८}

सावद्य दान के सम्बन्ध में मौन रखने वाला मुक्त होता है।^{४९}

प्रत्याख्यान परिज्ञा वाला मुक्त होता है।^{५०}

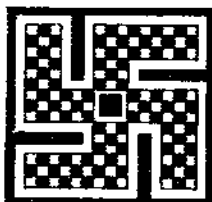
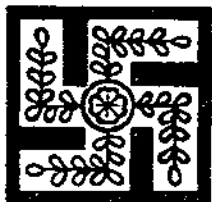
कषाय-मुक्त संवृत दत्तषणा वाला मुनि ही मुक्त होता है।^{५१}

आचार्य की आज्ञानुसार प्रवृत्ति करने वाला मुक्त होता है।^{५२}

गुरु की आज्ञा का पालक मुक्त होता है।^{५३}

कमल के समान अलिप्त रहने वाला मुक्त होता है।^{५४}

विवेकपूर्वक वचन बोलने वाला मुक्त होता है।^{५५}



निर्ग्रन्थ प्रवचन का पालक मुक्त होता है ।^{५६}

जो दीर्घदर्शी लोक के स्वरूप को जानकर विषय-भोगों को त्याग देता है वह मुक्त होता है ।^{५७}

जो दृढ़तापूर्वक संयम का पालन करता है वह मुक्त होता है ।^{५८}

जो लोभ पर विजय प्राप्त कर लेता है वह मुक्त होता है ।^{५९}

शुद्ध चारित्र्य का आराधक सम्यक्त्वी मुक्त होता है ।^{६०}

मृषाभाषा का त्यागी मुक्त होता है ।^{६१}

काम-भोगों में अनासक्त एवं जीवन-मरण से निष्पृह मुनि ही मुक्त होता है ।^{६२}

अन्त-प्रान्त आहार करने वाला ही कर्मों का अन्त करके मुक्त होता है ।^{६३}

विषय-भोग से विरत जितेन्द्रिय ही मुक्त होता है ।^{६४}

शुद्ध धर्म का प्ररूपक और आराधक मुक्त होता है ।^{६५}

रत्नत्रय का आराधक मुक्त होता है ।^{६६}

शत्रु-रहित संयमी मुक्त होता है ।^{६७}

त्रिपदज्ञ ज्ञानी (हेय, ज्ञेय और उपादेय का ज्ञाता) त्रिगुप्तसंवृत जो जीव-रक्षा के लिए प्रयत्नशील है वह मुक्त होता है ।^{६८}

शुद्ध अध्यवसाय वाला, मानापमान में समभाव रखने वाला और आरम्भ-परिग्रह का त्याग करने वाला अनासक्त विवेकी व्यक्ति ही मुक्त होता है ।^{६९}

जिस प्रकार पक्षी पांखों को कम्पित कर रज दूर कर देता है उसी प्रकार अहिंसक तपस्वी भी कर्मरज को दूर कर देता है ।^{७०}

जिस प्रकार धुरी टूटने पर गाड़ी गति नहीं करती उसी प्रकार कर्ममुक्त चतुर्गति में गति नहीं करता ।^{७१}

शुद्धाशय स्त्री-परित्यागी मुक्त होता है ।^{७२}

जो संयत विरत प्रतिहत प्रत्याख्यात पापकर्म वाला संवृत एवं पूर्ण पण्डित है वह मुक्त होता है ।^{७३}

जो सुशील, सुश्रुती, सदानन्दी सुताधु होता है वह मुक्त होता है ।^{७४}

जो धातिकर्मों को नष्ट कर देता है वह मुक्त होता है ।^{७५}

जो हिंसा एवं शोक संताप से दूर रहता है वह मुक्त होता है ।^{७६}

जो आत्म-नियंत्रण करता है वह मुक्त होता है ।^{७७}

जो सत्य (आगमोक्त) आज्ञा का पालन करता है वह मुक्त होता है ।^{७८}

ज्ञान और क्रिया का आचरण करने वाला मुक्त होता है ।^{७९}

संयम में उत्पन्न हुई अरुचि को मिटाकर यदि कोई किसी को स्थिर करदे तो वह शीघ्र ही मुक्त होता है ।^{८०}

तेरहवें क्रियास्थान—ऐर्यापथिक क्रिया वाला अवश्य मुक्त होता है ।^{८१}

सावद्य योग त्यागी अणगार ही मुक्त होता है ।^{८२}

जो परमार्थ द्रष्टा है वह मुक्त होता है ।^{८३}

लघु और रुक्ष आहार करने वाला मुक्त होता है ।^{८४}

जो उग्रतपस्वी उपशान्त-दान्त एवं समिति-गुप्ति युक्त होता है वह मुक्त होता है ।^{८५}

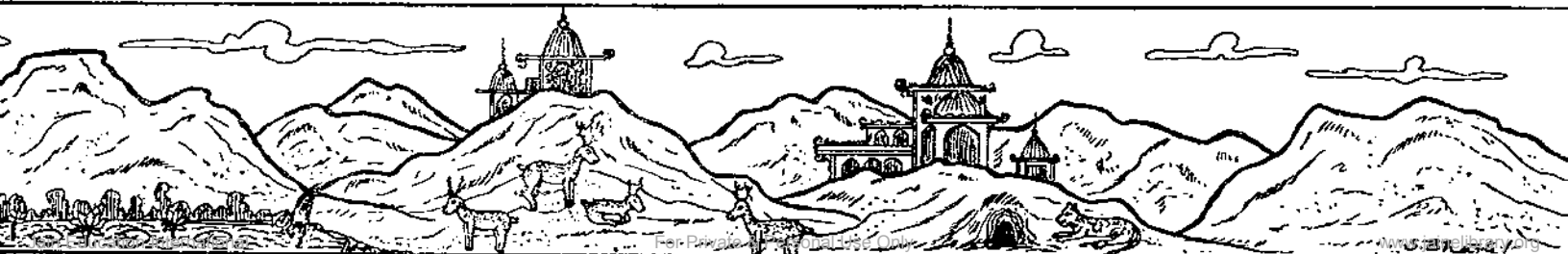
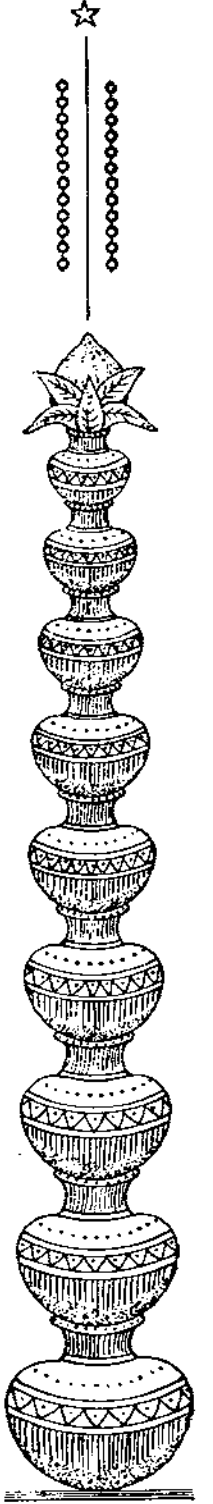
जो आगमानुसार संयमपालन करता है वह मुक्त होता है ।^{८६}

जो सम्यग्दृष्टि सहिष्णु होता है वह मुक्त होता है ।^{८७}

जिस प्रकार अनुकूल पवन से लौका पार पहुँचती है उसी प्रकार उत्तम भावना से शुद्धात्मा मुक्त होता है ।^{८८}

आचार्य और उपाध्याय की मुक्ति

जो आचार्य-उपाध्याय शिष्यों को अज्ञान भाव (रुचिपूर्वक) से सूत्रार्थ का अध्ययन कराते हैं और अज्ञान भाव से ही उन्हें संयम-साधना में सहयोग देते हैं । वे एक, दो या तीन भव से अवश्य मुक्त होते हैं ।^{८९}



धर्मदेव और देवाधिदेव की मुक्ति

धर्म देव अणुगार को कहते हैं। यदि वह समाधिमरण करे तो देवगति या मुक्ति को प्राप्त होता है किन्तु देवाधिदेव तो (तीर्थङ्कर) मुक्ति को ही प्राप्त करते हैं।^{१०}

आत्मा की क्रमिक मुक्ति

- (१) जीव-अजीव का ज्ञान।
- (२) जीव की गतागत का ज्ञान।
- (३) पुण्य-पाप और बन्ध-मोक्ष का ज्ञान।
- (४) ज्ञान से दैविक और मानुषिक भोगों की विरक्ति।
- (५) विरक्ति से आन्वन्तर और बाह्य संयोगों का परित्याग।
- (६) बाह्यान्वन्तर संयोग परित्याग के बाद अनगारवृत्ति की स्वीकृति।
- (७) संवरात्मक अनुत्तर धर्म का आराधन।
- (८) मिथ्यात्व दशा में अर्जित कर्मरज का क्षरण।
- (९) केवलज्ञान और केवलदर्शन की प्राप्ति।
- (१०) योगों का निरोध और शैलेषी अवस्था की प्राप्ति।
- (११) कर्मरज मुक्त-मुक्त।^{११}

मुक्ति का एक और क्रम

प्रश्न—तथारूप (आगमोक्त ज्ञानदर्शनचारित्र्ययुक्त) श्रमण ब्राह्मण की पर्युपासना का क्या फल है ?

उत्तर—सेवा का सुफल शास्त्र श्रवण है।

प्रश्न—शास्त्र श्रवण का फल क्या है ?

उत्तर—शास्त्र श्रवण का फल ज्ञान है।

प्रश्न—ज्ञान का क्या फल है ?

उत्तर—ज्ञान का फल विज्ञान है।

प्रश्न—विज्ञान (सार-असार का विवेक) का क्या फल है ?

उत्तर—विज्ञान का फल प्रत्याख्यान (हिंसा आदि पाप कर्मों से निवृत्त होने का संकल्प) है।

प्रश्न—प्रत्याख्यान का क्या फल है ?

उत्तर—प्रत्याख्यान का फल संयम है।

प्रश्न—संयम का फल क्या है ?

उत्तर—संयम का फल अनास्रव (संवर-पाप कर्मों के करने से रुकना) है।

प्रश्न—अनास्रव का फल क्या है ?

उत्तर—अनास्रव का फल तप है।

प्रश्न—तप का क्या फल है ?

उत्तर—तप का फल व्यपदान (पूर्ववद्ध कर्मों का क्षय) है।

प्रश्न—व्यपदान का क्या फल है ?

उत्तर—व्यपदान का फल अक्रिया (मन, वचन, काया के योगों—व्यापारों का निरोध) है।

प्रश्न—अक्रिया का फल क्या है ?

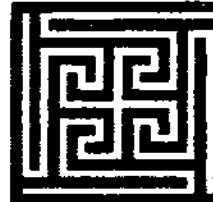
उत्तर—अक्रिया का फल निर्वाण (कर्मरज से आत्मा की मुक्ति) है।

प्रश्न—निर्वाण का फल क्या है ?

उत्तर—निर्वाण का फल मुक्त होना है।^{१२}

आरम्भ-परिग्रह के त्याग से ही मुक्ति

आरम्भ और परिग्रह का त्याग किए बिना यदि कोई केवल ब्रह्मचर्य, संयम और संवर की आराधना से मुक्त होना चाहे तो नहीं हो सकेगा तथा उसे आभिनिबोधिक ज्ञान यावत् केवलज्ञान भी नहीं होगा।^{१३}



मुक्तात्मा के प्राणों का प्रयाण

मुक्तात्मा के प्राण (देहावसान के समय) सर्वांग से निकलते हैं ।

देवगति में जाने वाले के प्राण शिर से निकलते हैं ।

मनुष्य, तिर्यञ्च और नरक गति में जाने वालों के प्राण क्रमशः वक्षस्थल (मध्यभाग) से, पिण्डलियों से और पैरों से (अधोभाग से) निकलते हैं ।^{६४}

चार प्रकार की अन्तक्रिया-मुक्ति^{६५}

प्रथम अन्तक्रिया—कोई अल्पकर्मा व्यक्ति मनुष्य भव में उत्पन्न होता है । वह मुण्डित होकर गृहस्थावस्था से अनगार धर्म में प्रव्रजित होने पर उत्तम, संयम, संवर, समाधि युक्त रुक्ष भोजी, स्वाध्यायी, तपस्वी, भवसागर पार करने की भावना वाला होता है । न उसे कुछ तप करना पड़ता है और न उसे परीषह सहने पड़ते हैं, क्योंकि वह अल्पकर्मा होता है ।

ऐसा पुरुष दीर्घायु की समाप्ति के बाद सिद्ध-बुद्ध मुक्त होकर निर्वाण को प्राप्त होता है और सब दुःखों का अन्त करता है, यथा—भरत चक्रवर्ती ।

द्वितीय अन्तक्रिया—कोई अधिक कर्म वाला मनुष्य भव पाकर प्रव्रजित होता है । संयम, संवर युक्त यावत् तपस्वी होता है उसे उग्र तप करना पड़ता है और असह्य वेदना सहनी पड़ती है ।

ऐसा पुरुष अल्पायु भोग कर सिद्ध बुद्ध मुक्त होता है यावत् सब दुःखों का अन्त करना है, यथा—गजसुकुमार अणगार ।

तृतीय अन्तक्रिया—कोई महाकर्मा मनुष्य मुण्डित-यावत्-प्रव्रजित होकर अनगार धर्म की दीक्षा लेता है । वह उग्र तप करता है और अनेक प्रचण्ड परीषह सहता हुआ दीर्घायुभोग कर सिद्ध बुद्ध मुक्त होता है यावत् सब दुःखों का अन्त करता है, यथा—सनत्कुमार चक्रवर्ती ।

चतुर्थ अन्तक्रिया—कोई अल्पकर्मा व्यक्ति केवल भाव चारित्र्य से सिद्ध बुद्ध और मुक्त होता है । न उसे तप करना पड़ता है और न परीषह सहने पड़ते हैं, यथा—महदेवी माता ।

मुक्ति के दो प्रमुख हेतु

(१) बन्धहेतुओं का अभाव—१ मिथ्यात्व, २ अविरति, ३ प्रमाद, ४ कषाय और ५ योग ये पांच हेतु कर्म-बन्ध के हैं । इनके अभाव में क्रमशः पांच संवर के हेतु प्राप्त होते हैं ।

१ सम्यक्त्व, २ विरति, ३ अप्रमाद, ४ अकषाय और ५ योग गुप्ति—ये पांच हेतु आत्मा को कर्मबन्ध से बचाते हैं । अर्थात् नवीन कर्मों का बन्ध नहीं होता ।

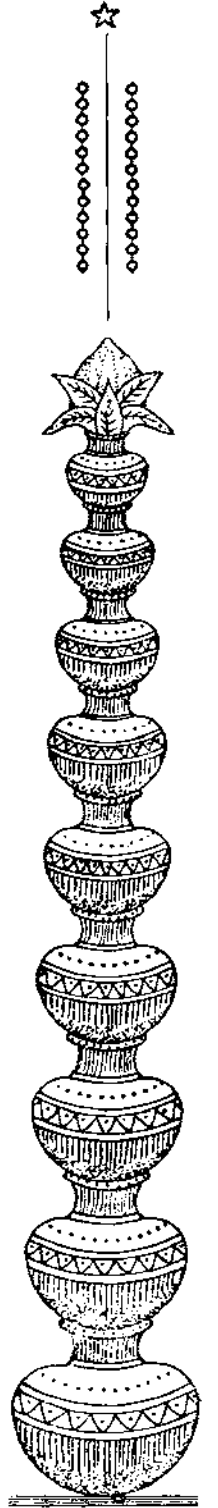
(२) निर्जरा—१-६ अनशन आदि ६ बाह्य तप और ७-१२ प्रायश्चित्त आदि ६ आभ्यन्तर तप—ये बारह भेद निर्जरा के हैं । इनसे पूर्वबद्ध कर्मों का क्षय होता है ।

केवल अनशनादि ६ बाह्य तपों के आचरण से सकाम निर्जरा (विवेकपूर्वक कर्म क्षय) नहीं होती साथ में प्रायश्चित्तादि ६ आभ्यन्तर तपों की आराधना भी आवश्यक है ।

बाह्य तपों की आराधना किए बिना यदि कोई केवल आभ्यन्तर तपों की ही आराधना करे तो उसके सकाम निर्जरा ही जाती है । केवल बाह्य तपों की आराधना से तो अकाम (अविवेकपूर्वक) निर्जरा होती है ।^{६६}

कर्म निर्जरा का एक रूपक

जिस प्रकार किसी बड़े तालाब का जल, आने के मार्ग को रोकने से और पहले के जल को उलीचने से सूर्य-ताप द्वारा क्रमशः सूख जाता है उसी प्रकार संयमी के करोड़ों भवों के संचित कर्म पापकर्म के आने के मार्ग को रोकने से तथा तप करने से नष्ट होते हैं ।^{६७}



शान्तितीर्थ में मुक्ति स्नान

सोमदेव के तीन प्रश्न—

१. आपका नद कौन-सा है ?
२. आपका शान्तितीर्थ कौन सा है ?
३. आप कहां स्नान करके कर्मरज धोते हैं ?

मुनि हरिकेशबल के क्रमशः उत्तर—

१. सरल आत्मा के प्रशान्त परिणाम वाला धर्म मेरा नद है ।
२. ब्रह्मचर्य मेरा शान्तितीर्थ है ।
३. उसमें स्नान करके मैं विमल-विशुद्ध होकर मुक्ति को प्राप्त करूँगा ।

अनेक महर्षि इस शान्तितीर्थ में स्नान करके उत्तम स्थान (मुक्ति) को प्राप्त हुए हैं ।^{६८}

मानव-सेवा से मुक्ति

अज्ञान मिटाने के लिए जन-जन में ज्ञान का प्रचार करने से, मोह मिटाकर प्रेम बढ़ाने से और राग-द्वेष का क्षय करने से एकान्त सुखमय मोक्ष की प्राप्ति होती है ।

गुरुजनों और वृद्धों की सेवा करने से, अज्ञानियों का संसर्ग न करने से, स्वाध्याय एकान्तवास एवं सूत्रार्थ का चिन्तन करने से तथा धैर्य रखने से मुक्ति की प्राप्ति होती है ।^{६९}

मानव देह से मुक्ति

केशीमुनि—महाप्रवाह वाले समुद्र में नौका तीव्र गति से चली जा रही है । गौतम ! तुम उस पर आरुढ़ हो । उस पार कैसे पहुँचोगे ?

गौतम—जो सच्छिद्र नौका होती है वह उस पार नहीं पहुँचती है । किन्तु जो सच्छिद्र नौका नहीं होती वह उस पार पहुँच जाती है ।

केशी—गौतम ? नौका किसे कहते हो ?

गौतम—शरीर को नौका, जीव को नाविक और संसार को समुद्र कहा गया है । महर्षि उसे पार कर मुक्ति पहुँचते हैं ।^{७०}

दुर्लभ चतुरंग और मुक्ति

मनुष्यत्व, धर्मश्रवण, श्रद्धा और संयम में पुरुषार्थ । ये चार अंग प्राणियों के लिए दुर्लभ हैं ।

यह जीव स्वकृत कर्मों से कभी देवलोक में, कभी नरक और कभी तिर्यंच में जन्म लेता है । काल क्रम से कर्मों का अंशतः क्षय होने पर यह जीवात्मा मनुष्यत्व को प्राप्त होता है ।

मनुष्य शरीर प्राप्त होने पर भी धर्म का श्रवण दुर्लभ है ।

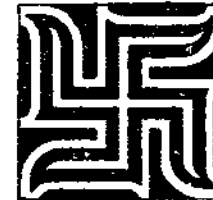
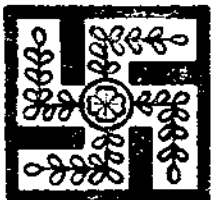
कदाचित् धर्म का श्रवण हो भी जाए फिर भी उस पर श्रद्धा का होना परम दुर्लभ है ।

श्रुति और श्रद्धा प्राप्त करके भी संयम में पुरुषार्थ होना अत्यन्त दुर्लभ है ।

मनुष्यत्व प्राप्त कर जो धर्म को सुनता है, उसमें श्रद्धा करता है—वह तपस्वी संयम में पुरुषार्थ कर संवृत होता है और कर्मरज को दूर कर निर्वाण (मुक्ति) को प्राप्त होता है ।^{७१}

मुक्ति पथ के पथिक

- (१) अरिहन्त भगवान के गुणों की स्तुति एवं विनय-भक्ति करने वाले ।
- (२) सिद्ध भगवान के गुणगान करने वाले ।
- (३) जिन प्रवचन के अनुसार आराधना करने वाले ।
- (४) गुणवन्त गुरु का सत्कार-सम्मान करने वाले ।



- (५) स्थविर महाराज का सत्कार-सन्मान करने वाले ।
- (६) बहुश्रुत की विनय-भक्ति करने वाले ।
- (७) तपस्वी की विनय-भक्ति करने वाले ।
- (८) निरन्तर जानाराधना करने वाले ।
- (९) निरन्तर दर्शनाराधना करने वाले ।
- (१०) ज्ञान और ज्ञानी का विनय करने वाले ।
- (११) भावपूर्वक षडावश्यक करने वाले ।
- (१२) निरतिचार शीलव्रत का पालन करने वाले ।
- (१३) क्षण भर भी प्रमाद न करने वाले ।
- (१४) यथाशक्ति निदान रहित तपश्चर्या करने वाले ।
- (१५) सुपात्र को शुद्ध आहार देने वाले ।
- (१६) आचार्य यावत् संघ की वैयावृत्य—सेवा करने वाले ।
- (१७) समाधि भाव रखने वाले ।
- (१८) निरन्तर नया-नया ज्ञान सीखने वाले ।
- (१९) श्रुत की भक्ति करने वाले ।
- (२०) प्रवचन की प्रभावना करने वाले ।^{१०२}

मुक्ति की मंजिलें

- (१) संवेग—मुक्ति की अमिहृषि ।
- (२) निर्वेद—विषयों से विरक्ति ।
- (३) गुरु और स्वधर्मी की सेवा ।
- (४) अनुप्रेक्षा—सुत्रार्थ का चिन्तन-मनन करना ।
- (५) व्यवधान—मन, वचन और काय योग की निवृत्ति ।
- (६) त्रिविक्त शय्यासन—जन-सम्पर्क से रहित एकांतवास ।
- (७) विनिवर्तना—मन और इन्द्रियों को विषयों से अलग रखना ।
- (८) शरीर-प्रत्याख्यान—देहाध्यास से निवृत्ति ।
- (९) सद्भाव-प्रत्याख्यान—सर्व संबन्ध रूप शैलेशी भाव ।
- (१०) वैयावृत्य—अग्लान भाव से सेवा करना ।
- (११) काय समाधारणा—संयम की शुद्ध प्रवृत्तियों में काया को मली-भ्रांति संलग्न रखना ।
- (१२) चारित्र-सम्पन्नता—निरतिचार चारित्राराधन ।
- (१३) प्रेम—राम-द्वेष और मिथ्यादर्शन विजय ।

ये त्रयोदश मुक्ति के सूत्र हैं । इनकी सम्यक् आराधना से आत्मा अवश्य कर्मबन्धनों से मुक्त होता है ।^{१०३}

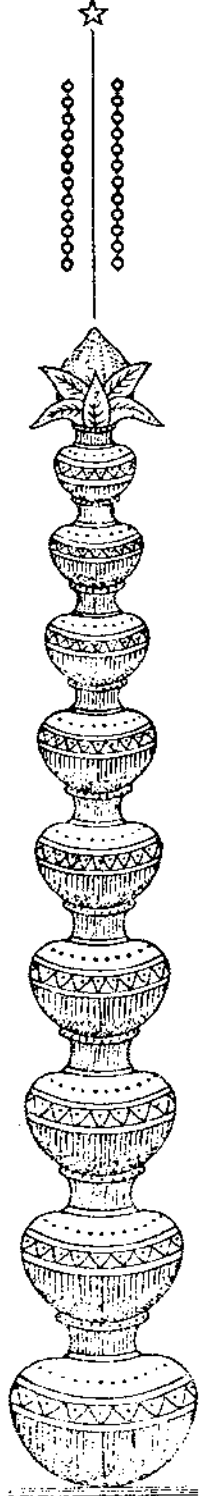
मुक्ति के सोपान

आत्मा की मिथ्यात्वदशा एक निकृष्ट दशा है । उस दशा से उत्क्रान्ति करता हुआ आत्मा शुद्ध आत्मस्वरूप को प्राप्त होता है ।

उत्क्रान्तिकाल में आत्मा को एक के बाद दूसरी, दूसरी के बाद तीसरी, इस प्रकार क्रमिक अवस्थाओं से पार होना पड़ता है । इन अवस्थाओं को जंनागमों में 'गुणस्थान' कहा है । ये चौदह हैं ।

१. मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

मिथ्यात्वमोहनीय कर्म के तीव्रतम उदय से जिस जीव की दृष्टि (श्रद्धा या प्रतिपत्ति) मिथ्या-विपरीत हो जाती है—वह मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाला कहा जाता है ।



२. सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान

औपशमिक सम्यक्त्व वाला आत्मा अनन्तानुबन्धी कषाय के उदय से सम्यक्त्व को छोड़कर मिथ्यात्व की ओर झुकता है जब तक वह आत्मा मिथ्यात्व को प्राप्त नहीं होता तब तक सास्वादान सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाला कहा जाता है।

३. सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान

जिसकी दृष्टि कुछ सम्यक् और कुछ मिथ्या होती है वह सम्यग्मिथ्यादृष्टि गुणस्थान वाला कहा जाता है।

४. अविरतसम्यग्दृष्टि गुणस्थान

जो जीव सम्यग्दृष्टि होकर भी किसी प्रकार के व्रत-प्रत्याख्यान नहीं कर पाता वह अविरत सम्यग्दृष्टि गुणस्थान वाला कहा जाता है।

५. देशविरत गुणस्थान

प्रत्याख्यानानावरण कषाय के उदय से जो जीव सावच्च क्रियाओं से सर्वथा विरत नहीं हो पाता, किन्तु देश (अंश) से विरत होता है। वह देशविरत गुणस्थान वाला 'श्रावक' कहा जाता है।

६. प्रमत्त संयत गुणस्थान

जो जीव प्रत्याख्यानानावरण कषाय के अभाव में सभी प्रकार की सावच्च क्रियाओं का त्याग करके सर्वविरत तो हो जाता है लेकिन प्रमाद का उदय उसे रहता है, वह प्रमत्त संयत गुणस्थान वाला कहलाता है।

७. अप्रमत्तसंयत गुणस्थान

जो संयत मुनि निद्रा, विषय, कषाय, विकषा आदि प्रमादों का सेवन नहीं करता वह अप्रमत्तसंयत गुणस्थान वाला कहा जाता है।

८. निवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान

जिस जीव के बादर (स्थूल) संपराय (कषाय) की सत्ता में से भी निवृत्ति प्रारम्भ हो गई है वह निवृत्ति बादर संपराय गुणस्थानवाला कहा जाता है।^{१०४}

९. अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान

जिस जीव के स्थूल कषाय सर्वथा निवृत्त नहीं हुए हैं अर्थात् सत्ता में जिसके संज्वलन लोभ विद्यमान है। वह अनिवृत्ति बादर संपराय गुणस्थान वाला कहा जाता है।

१०. सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान

जिस जीव के लोभकषाय के सूक्ष्म-खण्डों का उदय रहता है, वह सूक्ष्मसंपराय गुणस्थान वाला कहा जाता है।

११. उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान

जिस जीव के कषाय उपशान्त हुए हैं और राग का भी सर्वथा उदय नहीं है। वह उपशान्तकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान वाला कहा जाता है।

१२. क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान

जिस जीव के मोहनीय कर्म का सर्वथा क्षय हो चुका है किन्तु ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय ये तीन घातिकर्म अभी निर्मूल नहीं हुए हैं। अतः वह क्षीणकषाय वीतराग छद्मस्थ गुणस्थान वाला कहा जाता है।

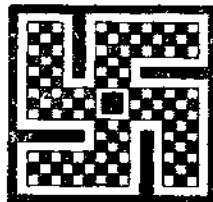
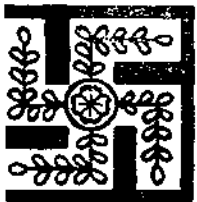
१३. सयोगिकेवली गुणस्थान

चारों घातिकर्मों का क्षय होकर जिसको केवलज्ञान प्राप्त हो गया है किन्तु मन, वचन और काय योग का व्यापार होता है अतः वह सयोगिकेवली गुणस्थान वाला कहा जाता है।

१४. अयोगिकेवली गुणस्थान

तीनों योगों का निरोध कर जो अयोगि अवस्था को प्राप्त हो गए हैं वे अयोगिकेवली गुणस्थान वाले हैं।
मुक्तात्माओं के दो वर्ग

आठवें गुणस्थान में मुक्तात्माओं के दो वर्ग बन जाते हैं। एक उपशमक वर्ग और दूसरा क्षपक वर्ग।



उपशमक वर्ग वाले दर्शनमोह की तीन^{१०५} और चारित्रमोह की चार^{१०६}—इन सात प्रकृतियों का उपशमन करते हैं। वे अष्टम, नवम, दशम और एकादशम गुणस्थान को प्राप्त कर पुनः प्रथम गुणस्थान को प्राप्त हो जाते हैं।

क्षपक वर्ग वाले दशवें गुणस्थान से सीधे बारहवें गुणस्थान को प्राप्त होते हैं। बाद में तेरहवें और चौदहवें गुणस्थान का स्पर्श कर मुक्त हो जाते हैं।

यहाँ गुणस्थानों का अति संक्षिप्त परिचय दिया है। विशेष जिज्ञासा वाले 'गुणस्थान क्रमारोहण' नाम का ग्रन्थ देखें।

मुक्त होने की एक महत्त्वपूर्ण प्रक्रिया

अन्तर्मुहूर्त में मुक्त होने वाले केवली के समुद्घात को 'केवली समुद्घात' कहा जाता है।

सभी केवली 'केवली समुद्घात' नहीं करते हैं। केवल वे ही केवली "केवली समुद्घात" करते हैं जिनके आयु कर्म के दलिक एक अन्तर्मुहूर्त में समाप्त होने योग्य हों और वेदनीय, नाम एवं गोत्र के दलिक इतने अधिक हों जिनकी अन्तर्मुहूर्त में समाप्ति संभव न हो।

केवली समुद्घात में आठ समय लगते हैं।

प्रथम समय में केवली आत्म-प्रदेशों के दण्ड की रचना करते हैं। वह मोटाई में स्वशरीर प्रमाण और लम्बाई में ऊपर और नीचे से लोकान्तपर्यन्त विस्तृत होता है।

द्वितीय समय में केवली उसी दण्ड को पूर्व-पश्चिम और दक्षिण-उत्तर में फैलाते हैं। फिर उस दण्ड का लोक-पर्यन्त फैला हुआ कपाट बनाते हैं।

तृतीय समय में दक्षिण-उत्तर अथवा पूर्व-पश्चिम दिशा में लोकान्तपर्यन्त आत्म-प्रदेशों को फैलाकर उसी कपाट को "मथानी" रूप बना देते हैं। ऐसा करने से लोक का अधिकांश भाग आत्म-प्रदेशों से व्याप्त हो जाता है। किन्तु मथानी की तरह अन्तराल प्रदेश खाली रहते हैं।

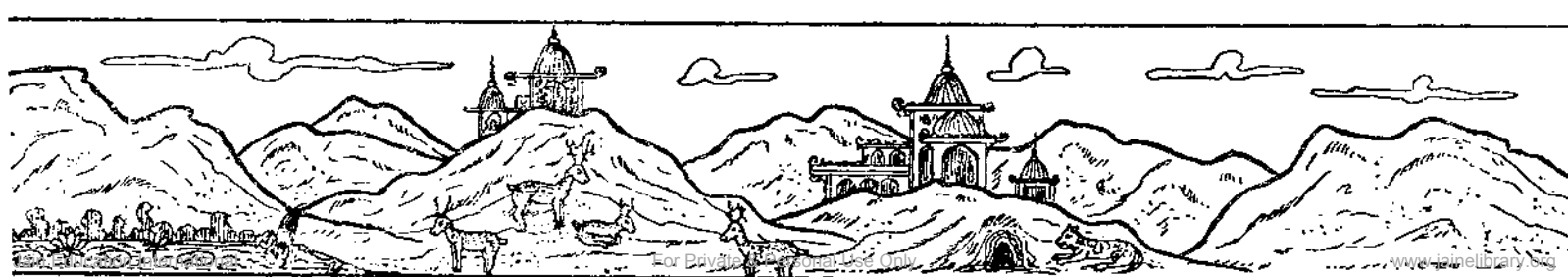
चतुर्थ समय में मथानी के अन्तरालों को पूर्ण करते हुए समस्त लोकाकाश को आत्म-प्रदेशों से भर देते हैं क्योंकि लोकाकाश और जीव के प्रदेश बराबर हैं।

पाँचवें, छठे, सातवें और आठवें समय में विपरीत क्रम से आत्म-प्रदेशों का संकोच करते हैं। इस प्रकार आठवें समय में सब आत्म-प्रदेश पुनः शरीरस्थ हो जाते हैं।

मुक्ति के द्वार

यहाँ मुक्त आत्माओं के सम्बन्ध में क्षेत्रादि द्वादश द्वारों (विषयों) का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है।

- (१) क्षेत्र—(क) जन्म की अपेक्षा पन्द्रह कर्म-भूमियों में उत्पन्न मानव मुक्त होते हैं।
- (ख) संहरण की अपेक्षा सम्पूर्ण मानव क्षेत्र से "मानव" मुक्त हो सकता है।
- (२) काल—(क) जन्म की अपेक्षा अवसर्पिणी, उत्सर्पिणी तथा अनवसर्पिणी। अनुत्सर्पिणी में जन्मा हुआ मानव मुक्त होता है।
- (ख) संहरण की अपेक्षा भी पूर्वोक्त कालों में जन्मा हुआ मानव मुक्त हो सकता है।
- (३) गति—(क) अन्तिम भव की अपेक्षा मानव गति से आत्मा मुक्त होती है।
- (ख) पूर्व भव की अपेक्षा चारों गतियों से आत्मा मुक्त हो सकती है।
- (४) लिंग—(क) लिंग अर्थात् वेद या चिन्ह। वर्तमान की अपेक्षा वेद-विमुक्त आत्मा मुक्त होती है।
- (ख) अतीत की अपेक्षा स्त्रीवेद, पुरुषवेद या नपुंसक वेद से भी आत्मा मुक्त हो सकती है।
- चिन्ह—(क) वर्तमान की अपेक्षा लिंग रहित आत्मा मुक्त होती है।
- (ख) अतीत की अपेक्षा माव लिंग आत्मिक योग्यता—वीतराग भाव से स्वर्लिंग धारी आत्मा की मुक्ति होती है।





(ग) द्रव्य लिंग की अपेक्षा स्वर्लिंग (जैन लिंग), परलिंग और गृहस्थलिंग इन तीनों लिंगों से मुक्ति हो सकती है ।

(५) तीर्थ—(क) कोई तीर्थकर रूप से और कोई अतीर्थकर रूप से मुक्त होते हैं ।

(ख) तीर्थकर के अभाव में यदि तीर्थकर का शासन चल रहा हो या शासन विच्छिन्न हो गया हो—दोनों समयों में आत्मा मुक्त हो सकती है ।

(६) चारित्र—(क) वर्तमान काल की अपेक्षा यथाख्यात चारित्र युक्त आत्मा मुक्त होती है ।

(ख) अतीत की अपेक्षा तीन, चार या पाँचों चारित्र युक्त आत्मा मुक्त हो सकती है । यथा—

तीन चारित्र—१ सामायिक चारित्र, २ सूक्ष्मसम्पराय चारित्र, और ३ यथाख्यात चारित्र ।

तीन चारित्र—१ छेदोपस्थापनीय, २ सूक्ष्मसम्पराय, और ३ यथाख्यात चारित्र ।

चार चारित्र—१ सामायिक चारित्र, २ परिहारविशुद्धि चारित्र, ३ सूक्ष्मसम्पराय चारित्र, और ४ यथाख्यात चारित्र ।

पाँच चारित्र—१ सामायिक चारित्र, २ छेदोपस्थापनीय चारित्र, ३ परिहारविशुद्धि चारित्र, ४ सूक्ष्मसम्पराय चारित्र, और ५ यथाख्यात चारित्र ।

(७) प्रत्येक-बुद्ध बोधित—(क) प्रत्येक बुद्ध बोधित आत्मा मुक्त होती है ।

(ख) बुद्ध बोधित आत्मा भी मुक्त होती है ।

(ग) स्वयं बुद्ध मुक्त होते हैं ।

(८) ज्ञान—(क) वर्तमान काल की अपेक्षा एक केवलज्ञानी मुक्त होता है ।

(ख) अतीत काल की अपेक्षा-दो—मति और श्रुत ज्ञानी, तीन—मति-श्रुत और अवधिज्ञानी, अथवा मति-श्रुत और मनपर्यवज्ञानी, चार—मति, श्रुत, अवधि और मनपर्यवज्ञानी मुक्त होते हैं ।

(६) मुक्तात्मा की अवगाहना

मुक्तात्मा के आत्म-प्रदेश देहावसान के समय जितनी ऊँचाई वाले देह में व्याप्त होते हैं उतनी ऊँचाई में से तृतीय भाग न्यून करने पर जितनी ऊँचाई शेष रहती है, मुक्तिक्षेत्र में उतनी ही ऊँचाई में मुक्तात्मा के आत्म-प्रदेश व्याप्त रहते हैं ।

मुक्तिक्षेत्र में मुक्तात्मा के आत्म-प्रदेश तीन प्रकार की ऊँचाइयों में विभक्त हैं ।

१. उत्कृष्ट, २. मध्यम, और ३. जघन्य ।

(१) उत्कृष्ट ऊँचाई—मुक्तात्मा के देह की ऊँचाई ५०० धनुष की होती है तो मुक्ति क्षेत्र में उसके आत्म-प्रदेश ३३३ धनुष और ३२ अंगुल की ऊँचाई में व्याप्त रहते हैं ।

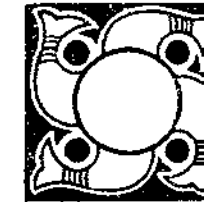
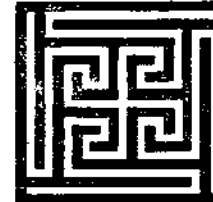
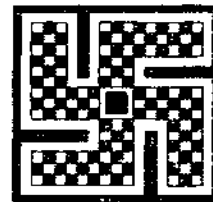
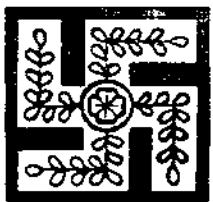
(२) मध्यम ऊँचाई—मुक्तात्मा के देह की ऊँचाई सात हाथ की होती है तो मुक्ति क्षेत्र में उसके आत्म-प्रदेश चार हाथ और सोलह अंगुल की ऊँचाई में व्याप्त रहते हैं ।

(३) जघन्य ऊँचाई—मुक्तात्मा के देह की ऊँचाई यदि दो हाथ की होती है तो मुक्ति क्षेत्र में उसके आत्म-प्रदेश एक हाथ और आठ अंगुल की ऊँचाई में व्याप्त रहते हैं ।

उत्कृष्ट और जघन्य ऊँचाई वाले मुक्तात्माओं के आत्मप्रदेशों की मुक्ति क्षेत्र में जितनी ऊँचाई होती है, उतनी ही ऊँचाइयों का कथन किया जाता तो पर्याप्त था । उत्कृष्ट और जघन्य के मध्य में समस्त मध्यम ऊँचाइयों का कथन स्वतः हो जाता है, फिर भी यहाँ एक मध्यम ऊँचाई का कथन है । इसका अभिप्राय यह है कि जघन्य सात हाथ की ऊँचाई वाले तीर्थकर ही मुक्त होते हैं । उनकी यह ऊँचाई तृतीय भाग न्यून होने पर चार हाथ सोलह अंगुल शेष रहती है । मुक्ति क्षेत्र में आत्मप्रदेशों की यह मध्यम ऊँचाई तीर्थकरों की अपेक्षा से ही कही गई है ।

सामान्य केवलज्ञानियों की अपेक्षा से तो मुक्तिक्षेत्र में मुक्तात्माओं के आत्मप्रदेशों की मध्यम अवगाहना (ऊँचाइयाँ) अनेक प्रकार की हैं ।

(१०) अन्तर—(क) निरन्तर मुक्त—जघन्य दो समय और उत्कृष्ट आठ समय पर्यन्त मुक्त होते हैं ।



(ख) सान्तर मुक्त—जघन्य एक समय और उत्कृष्ट छः मास बाद मुक्त होते हैं ।

(११) संख्या—एक समय में जघन्य एक और उत्कृष्ट एक सौ आठ मुक्त होते हैं ।

(१२) अल्पबहुत्व—(क) क्षेत्र मुक्त—संहरण मुक्त सबसे अल्प होते हैं ।

(ख) उनसे जन्म-मुक्त संख्येय गुण हैं ।

लोक-मुक्त—(क) सबसे अल्प उर्ध्वलोक से मुक्त होते हैं ।

(ख) अधोलोक से मुक्त होने वाले उनसे संख्येय गुण हैं ।

(ग) तिर्यग्लोक से मुक्त होने वाले उनसे संख्येय गुण हैं ।

(घ) समुद्र से मुक्त होने वाले सबसे अल्प हैं । द्वीप से मुक्त होने वाले संख्येय गुण हैं । विस्तृत विवरण जानने के लिए लोक प्रकाश आदि ग्रन्थ देखने चाहिए ।

प्रस्तुत निबन्ध में मुक्ति मार्ग से सम्बन्धित अनेक विषय संकलित किए गए हैं । किन्तु अवशिष्ट भी अनेक रह गए हैं ।

यदि मुक्ति विषयक सारी सामग्री संकलित करने का प्रयत्न किया जाता तो समय एवं श्रम साध्य होता और विशालकाय निबन्ध बन जाता । जो इस ग्रन्थ के लिए अनुपयुक्त होता ।

यदि कहीं अल्पश्रुत होने के कारण अनुचित या विपरीत लिखा गया हो तो, “मिथ्या मे दुष्कृतम् ।”

बहुश्रुत संशोधनीय स्थलों की सूचना देकर अनुग्रहीत करें । यही अभ्यर्थना है ।

१ उत्त० अ० २६, गा० ४५, ४६, ७४ ।

२ उत्त० अ० २६, गा० ४७-७४ ।

३ उत्त० अ० ७, गा० १ से ३ ।

४ मोचनं मुक्तिः । कृत्स्नकर्मक्षयो मोक्षः । अथवा मुच्यते सकल कर्मभिर्यस्यामिति मुक्तिः ।

५ उत्त० अ० ६, गाथा १० ।

६ उत्त० अ० २८, गा० ३० ।

७ जाईजरा मच्चुभयाभिभूया,

बहि विहारामिनिविट्ट चित्ता ।

संसार चक्कस्स तिमोक्खणट्ठा ।

दट्ठण ते कामगुणे विरत्ता ॥

—उत्त० अ० १४, गा० ४ ।

८ उत्त० अ० १० गाथा ३५ ।

९ उत्त० अ० १४ ।

१० उत्त० अ० १७, गाथा ३८ ।

११ उत्त० अ० १६, ६७ ।

१२ उत्त० अ० २८, गाथा ३ ।

१३ उत्त० अ० ३६, गाथा ६७ ।

१४ उत्त० अ० १६, गाथा ८३ ।

१५ उत्त० अ० २३, गाथा ८१ ।

१६ उत्त० अ० २६, सूत्र ४४ ।

१७ उत्त० अ० २३, गाथा ८१ ।

१८ उत्त० अ० २३, गाथा ८३ ।

१९ उत्त० अ० ६, गाथा ५८ ।

२० उत्त० अ० २३, गाथा ८३ ।

२१ उत्त० अ० ३६, गाथा ५७-६१ ।

२२ प्रज्ञापना पद २, सू० २११ ।

२३ ठाणांग अ० १, सू० १० और सू० ४६ ।

२४ भग० श० १६, उ० ६, सूत्र १८ से ३१ ।

२५ पूर्वप्रयोगादसंगत्वाद्द्वन्द्वधेदात्तथागति परिणामाच्च तद्गतिः । तत्त्वार्थ० अ० १० सूत्र ६ ।

२६ प्रज्ञापना पद २, सूत्र २११ ।

२७ प्रज्ञापना पद २ ।

२८ सूत्रकृताङ्ग अ० ११ टीका ।

२९ तत्त्वार्थसूत्र अ० १, सू० १ ।

३० भग० श० ८, उ० १० ।

३१ सूत्रकृताङ्ग श्रु० १, अ० ३, उ० ४ ।

३२ सूत्रकृताङ्ग श्रु० २, अ० ७ ।

३३ सूत्रकृताङ्ग श्रु० १, अ० ६ ।

३४ आचा० १, अ० २, उ० ६ ।

३५ आचा० १, अ० ५, उ० ६ ।

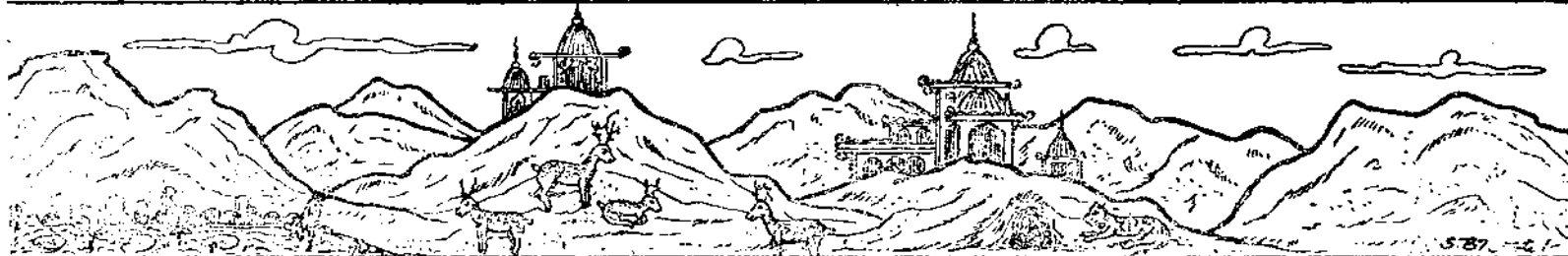
३६ आचा० १, अ० ३, उ० १ ।

३७ आचा० १, अ० ६, उ० ३ ।

३८ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० १४ ।

३९ सूत्र० श्रु० १, अ० ८, गा० १० ।

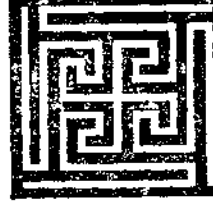
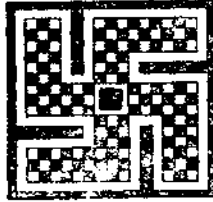
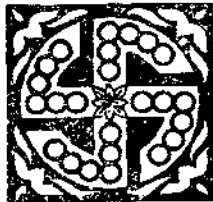
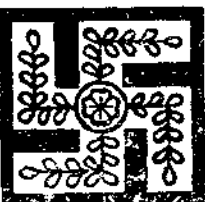
४० सूत्र० श्रु० १, अ० १३, गा० १५-१६ ।





- ४१ आचा० श्रु० १, अ० ५, उ० ३ ।
 ४२ आचा० श्रु० १, अ० ३, उ० २ ।
 ४३ आचा० श्रु० १, अ० ३, उ० २ ।
 ४४ सूत्र० श्रु० १, अ० ८, गा० २३ ।
 ४५ सूत्र० श्रु० १, अ० ६, गा० २-३ ।
 ४६ सूत्र० श्रु० २, अ० ६, गा० ३६ ।
 ४७ सूत्र० श्रु० १, अ० ११, गा० ११ ।
 ४८ सूत्र० श्रु० १, अ० ११, गा० ६ ।
 ४९ सूत्र० श्रु० १, अ० ११, गा० २१ ।
 ५० सूत्र० श्रु० १, अ० ११, गा० ३४ ।
 ५१ सूत्र० श्रु० १, अ० ११, गा० ३८ ।
 ५२ सूत्र० श्रु० १, अ० १४, गा० १५ ।
 ५३ सूत्र० श्रु० १, अ० १४, गा० २७ ।
 ५४ सूत्र० श्रु० २ अ० १, सू० १ ।
 ५५ सूत्र० श्रु० २, अ० ५, गा० ३३ ।
 ५६ सूत्र० श्रु० २, अ० २, गा० १५ ।
 ५७ आचा० श्रु० १, अ० २, उ० ६ ।
 ५८ आचा० श्रु० १, अ० २, उ० २ ।
 ५९ आचा० श्रु० १, अ० २, उ० २ ।
 ६० सूत्र० श्रु० १, अ० ८, गा० २३ ।
 ६१ सूत्र० श्रु० १, अ० १०, गा० २२ ।
 ६२ सूत्र० श्रु० १, अ० १२, गा० २२ ।
 ६३ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० १५ ।
 ६४ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० १२ ।
 ६५ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० १६ ।
 ६६ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० २५ ।
 ६७ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० २४ ।
 ६८ सूत्र० श्रु० १, अ० २, उ० ३, गा० १५ ।
 ६९ सूत्र० श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० ८-११ ।
 ७० सूत्र० श्रु० १, अ० २, उ० १, गा० १४-१५ ।
 ७१ सूत्र० श्रु० १, अ० ७, गा० ३० ।
 ७२ सूत्र० श्रु० १, अ० ४ उ० २ गा० २२ ।
 ७३ सूत्र० श्रु० २ अ० ४, सू० ११ ।
 ७४ सूत्र० श्रु० २, अ० २, सू० ३५ ।
 ७५ आचा० श्रु० १, अ० ३, उ० २ ।
 ७६ आचा० श्रु० १, अ० ३, उ० १ ।
 ७७ आचा० श्रु० १, अ० ३, उ० ३ ।

- ७८ आचा० श्रु० १, अ० ३, उ० ३ ।
 ७९ आचा० श्रु० १, अ० २, उ० ६ ।
 ८० आचा० श्रु० १, अ० २, उ० २ ।
 ८१ सूत्र० श्रु० २, अ० २, सू० ४८ ।
 ८२ सूत्र० श्रु० १, अ० २, उ० ३ ।
 ८३ आचा० श्रु० १, अ० २, उ० ६ ।
 ८४ आचा० श्रु० १, अ० ५, उ० ३ ।
 ८५ आचा० श्रु० १, अ० ४, उ० ४ ।
 ८६ आचा० श्रु० १, अ० ६, उ० ४ ।
 ८७ सूत्र० श्रु० १, अ० ३, उ० ४; गा० २२ ।
 ८८ सूत्र० श्रु० १, अ० १५, गा० ५ ।
 ८९ मग० श० ५, उ० ६ ।
 ९० मग० श० १२, उ० ६ ।
 ९१ दश० अ० ४, माथा १४-२५ ।
 ९२ सबणे णाणे विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संयमे ।
 अण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धि ॥
 (ख) स्थानांग अ० ३, उ० ३, सू० १६० ।
 ९३ ठाणांग—अ० २, उ० २, सू० ६३ ।
 ९४ ठाणांग—अ० ५, उ० ३, सू० ४६२ ।
 ९५ ठाणांग । अ० ४, उ० १, सू० २३५ ।
 ९६ तत्त्वार्थ० अ० १०, सू० २ ।
 ९७ उक्त० अ० ३०, माथा ५-६ ।
 ९८ उक्त० अ० १२, गा० ४५-४७ ।
 ९९ उक्त० अ० ३२, गा० २, ३ ।
 १०० उक्त० अ० २३, गा० ७०-७३ ।
 १०१ उक्त० अ० ३ ।
 १०२ ज्ञाता धर्म कथा अ० ८ ।
 १०३ उत्तराध्ययन के उनतीसवें अध्ययन में बहत्तर सूत्र हैं उनमें से यहाँ केवल त्रयोदश सूत्रों का सार संक्षेप में लिखा है । क्योंकि इन सूत्रों में ही मुक्ति की प्राप्ति का स्पष्ट निर्देश है ।
 १०४ यहाँ "पहिज्जमाणे पहीणे" मग० श० १, उ० १, सूत्र के अनुसार बादर कषाय की निवृत्ति का प्रारम्भ होना भी निवृत्ति माना गया है ।
 १०५ (१) सम्यक्त्वमोहनीय, (२) मिथ्यात्वमोहनीय, (३) मिश्र मोहनीय ।
 १०६ (१) क्रोध, (२) मान, (३) माया, (४) लोभ ।



□ श्री भंवरलाल सेठिया एम० ए०

मोक्ष की पूर्व भूमिका 'वीतरागता' है। यही जैन तत्त्व-
विद्या का प्रास है और इसे ही वैदिक तत्त्वज्ञान में 'स्थित
प्रज्ञ' नाम से जाना गया है। दोनों विचारधाराओं के
आलोक में 'स्थितप्रज्ञ' और 'वीतराग' के स्वरूप एवं
साधना पक्ष पर तुलनात्मक विश्लेषण यहाँ प्रस्तुत है।

ब्राह्मण व श्रमण परम्परा के सन्दर्भ में— स्थितप्रज्ञ और वीतराग : एक समीक्षात्मक विश्लेषण

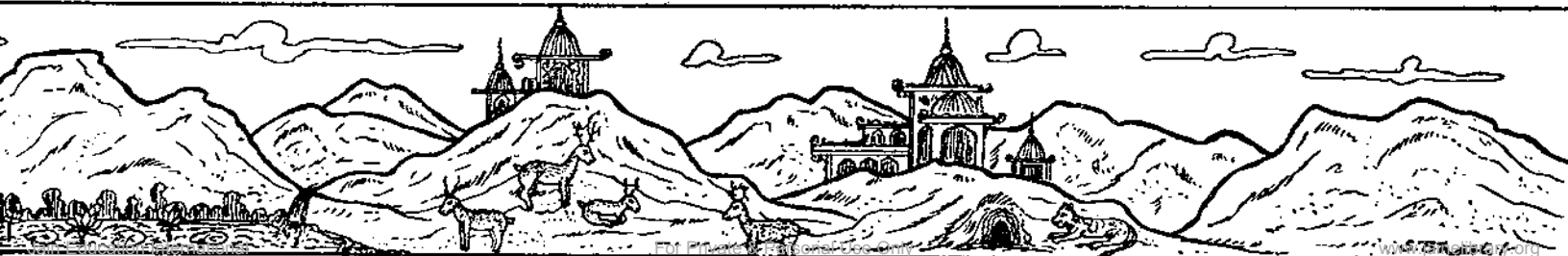
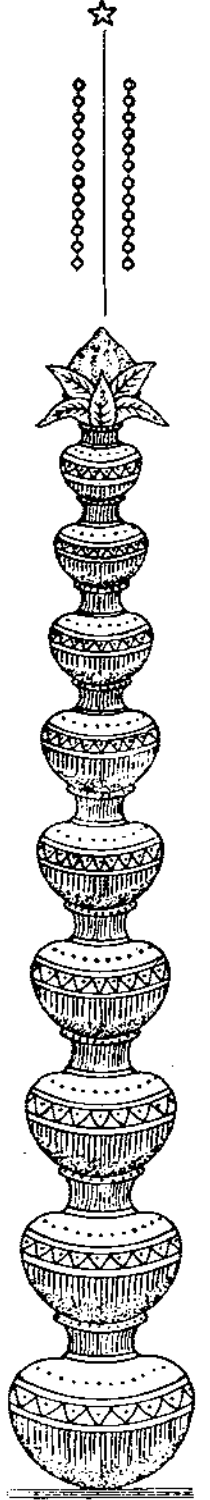
□

भारत के दार्शनिक साहित्य में 'प्रज्ञा' शब्द एक विशेष गरिमा लिए हुए है। वैदिक, जैन और बौद्ध—
तीनों परम्पराओं में इसका विशेष रूप से विभिन्न स्थानों में प्रयोग हुआ है। गीता के दूसरे अध्याय में 'स्थितप्रज्ञ' के
रूप में यह शब्द गम्भीर अर्थ-संपदा लिए हुए है। गीता को सब उपनिषदों का सार कहा गया है। उपनिषद् वैदिक
वाङ्मय के महत्वपूर्ण भाग हैं, जिनमें जीवन के गहनतम विषयों का अत्यन्त सूक्ष्मता तथा गम्भीरता के साथ विश्लेषण
है। भारतीय दार्शनिक चिन्तन-धारा की अपनी यह विशेषता है कि विभिन्न गति-क्रमों में प्रवाहित होते हुए भी, अनेक
ऐसे विश्वजनीन पहलू हैं, जिनमें हमें वहाँ सामरस्य (समरसता) के दर्शन होते हैं। गीता में 'स्थितप्रज्ञ' की जो विराट
कल्पना है, वह निःसन्देह तत्त्व-चिन्तन के क्षेत्र में अपना अनुपम स्थान लिए हुए है। जैनदर्शन में 'वीतराग' का जो
विवेचन है, लगभग उसी दिशा में स्थितप्रज्ञ का गति-प्रवाह है। प्रस्तुत लेख में स्थितप्रज्ञ और वीतराग का तात्त्विक
तथा साधनात्मक दृष्टि से संक्षेप में विश्लेषण करने का प्रयास है।

जीवन की धारा : अधःगमन—ऊर्ध्वगमन

प्रत्येक आत्मा विराट् शक्ति का देदीप्यमान पुञ्ज है। ईश्वरत्व या परमात्मभाव बहिर्गत नहीं है, उसी में
है। विजातीय द्रव्य—जैनदर्शन की भाषा में जिन्हें कर्म-पुद्गल कहा गया है, वेदान्त की भाषा में जो माया-आवरण के
रूप में प्रतिपादित हैं—से उसका शुद्ध स्वरूप आवृत्त है। इस आवरण का मुख्य प्रेरक राग है। राग गुणात्मक दृष्टि से
आत्मा की विराट् सत्ता को संकीर्ण बनाता है। वह संकीर्णता जब उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है, तब जीवन का स्रोत
अधोमुखी बन जाता है। फलतः आकांक्षा, एषणा, लिप्सा और वासना में मानव इस प्रकार उलझ जाता है कि उसे सही
मार्ग सूझता नहीं। गति जो राह पकड़ती है, उसी में उसकी प्रगति होती है। पतनोन्मुखता का परिणाम उत्तरोत्तर
अधिकाधिक निम्नातिनिम्न गत में गिरते जाना है।

अब हम इसके दूसरे पक्ष को लें, जब साधक आत्मा पर छाये रागात्मक केंचुल को उतार फेंकने के लिए
कृत-संकल्प होता है। ज्यों-ज्यों यह प्रयत्न मानसिक और कार्मिक—दोनों दृष्टियों से गति पाने लगता है, त्यों-त्यों जीवन
का स्रोत ऊर्ध्वगामी बनने लगता है। ऊर्ध्वगामी का आशय अपने स्वरूप को अधिगत करते जाने की दृष्टि से उन्नत
होते जाना है। ज्यों-ज्यों यह ऊर्ध्वगामिता बल पकड़ने लगती है, साधक के मन में एक दिव्य ज्योति उजागर होने
लगती है। अन्ततः बाह्य आवरण या माया से विच्छेद हो जाता है और प्राप्य प्राप्त हो जाता है।



स्थितप्रज्ञ का सन्देश

जैसा कि सुविदित है, गीता महाभारत के भीष्म पर्व का एक भाग है। इसे जो गीता कहा गया है, इसमें भी एक विशेष तथ्य है। 'गीता' का अर्थ है जो गाया गया। गान केवल स्वरलयात्मकता का ही द्योतक नहीं है, तन्मयता का सूचक भी है। एक ओर रण-भेरियों का गर्जन था, दूसरी ओर श्रीकृष्ण द्वारा एक प्रकार का संगान यह एक विचित्र संयोग की बात है। युद्ध-क्षेत्र, क्रोध, क्षोभ, असहिष्णुता आदि के उभार का सहज कारण है। उसमें चैतसिक स्थिरता सघ पाना कम संभव है। इसलिए ये दो विपरीत बातें हैं। इन दो विपरीत स्थितियों की संगति बिठाना ही गीता के दर्शन का सार है। महाकवि कालिदास ने एक बड़े महत्त्व की बात कही है। कुमारसंभव का प्रसंग है। भगवान् शंकर हिमाद्रि पर तपस्या में रत थे। देवताओं का अभियान था—उन्हें तप से विचलित किया जाय। तदर्थ काम-राग का उद्दीपन करने वाले, सभी मोहक उपक्रम रचे गये। पर शंकर अडिग रहे। उस प्रसंग पर महाकवि द्वारा उद्गीर्ण निम्नांकित शब्द बड़े महत्त्व के हैं—

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः।”

विकार के अनेकानेक हेतु या साधन विद्यमान हों, फिर भी जो उनके कारण अपने पथ से विचलित न हों, वे ही वैर्यशाली हैं। कृष्ण को यही तो बताना था कि मानव किसी भी प्रतिकूल स्थिति में हो, यदि वह चाहे, प्रयत्न करे तो स्थिर रह सकता है। यहीं से गीता के दर्शन का प्रारम्भ होता है।

स्थितप्रज्ञ का गीताकार ने जो स्वरूप व्याख्यात किया है, वह अपने में संस्थित साधक के जीवन का जीवित चित्र है, जिसे जगत के झंझावात जरा भी हिला नहीं सकते, डिगा नहीं सकते।

जैनदर्शन में आत्म-विकास की विश्लेषण परम्परा में इस तथ्य को विशेष रूप से स्पष्ट किया गया है कि साधक को रागात्मक, द्वेषात्मक परिस्थितियों से क्रमशः ऊँचे उठते-उठते उस मनःस्थिति को पा लेना होगा, जो न कभी विचलित होती है और न प्रकम्पित ही। इसके लिए एक बड़ा सुन्दर शब्द आया है—शैलेशीकरण। शैल का अर्थ पर्वत होता है, शैलेश का अर्थ पर्वतों का अधीश्वर या मेरु। इस उन्नत मनोदशा को स्थिरता और दृढ़ता की अपेक्षा से मेरु से उपमित किया गया है। इस स्थिति तक पहुँचने के बाद साधक कभी नीचे गिरता नहीं। इस तक पहुँचने का जो तात्त्विक क्रम जैनदर्शन में स्वीकृत है, वह अनेक दृष्टियों से स्थितप्रज्ञ की साधना से तुलनीय है।

उपनिषदों में आत्म-ज्ञान, परमात्म-साधना, मानसिक मल के अपगम, अपने सत्यात्मक, शिवात्मक व सौन्दर्यात्मक स्वरूप के साक्षात्कार के सन्दर्भ में जो विवेचन हुआ है, बाह्य शब्दावली में न जाकर यदि उसके अन्तस्तल में जाएं तो यह स्पष्ट प्रतिभासित होगा कि वहाँ का विवेचन जैन तत्त्व चिन्तनधारा के साथ काफी अंश तक सामंजस्य लिये हुए है।

आसक्ति का परिणाम : विनाश

चरम ध्येय या अन्तिम लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए साधना-पथ के पथिक को जो सबसे पहले करना होता है, वह है—मार्ग में आने वाले विघ्नों तथा उनके दुष्परिणामों का बोध, स्थितप्रज्ञ-दर्शन के निम्नांकित दो श्लोकों की गीताकार ने इस सन्दर्भ में जो व्याख्या की है, वह विशेष रूप से मननीय है—

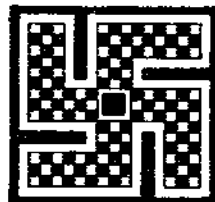
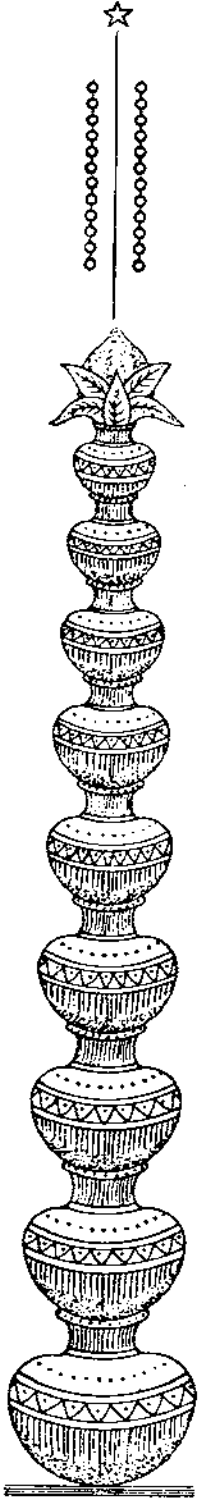
“ध्यायतो विषयान् पुंसः, सङ्गस्तेषूपजायते।

संगात् संजायते कामः, कामात् क्रोधोऽभिजायते ॥

क्रोधाद् भवति संमोहः, संमोहात् स्मृतिविभ्रमः।

स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो, बुद्धिनाशात् प्रणश्यति ॥”^२

व्यक्ति और विषय—भोग्य पदार्थ—इन दो को सामने रखकर गीताकार अपने चिन्तन को अग्रसर करते हैं। जब-जब व्यक्ति की दृष्टि बाह्य सौन्दर्य, माधुर्य एवं सारस्य, जो भोग्य पदार्थों का आकर्षक रूप है, पर होती है; तब बार-बार वे ही याद रहते हैं। उसका ध्यान एकमात्र उनमें ही लग जाता है। उनके अतिरिक्त उसे कुछ भी नहीं सूझता। ऐसी मनःस्थिति हो जाने पर, गीताकार कहते हैं कि उसके मन में आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्ति का



तात्पर्य वह भावनात्मक चिपकाव है, जिसके सट जाने पर व्यक्ति का उधर से हटना बहुत कठिन होता है। उसका परिणाम कामना के रूप में आता है। व्यक्ति चाहता है कि जिस मोग्य पदार्थ का वह ध्यान करता रहा है, जिसमें उसका मन तन्मय है, वह उसे प्राप्त हो। कामना का जगत् अपरिसीम है, वह व्यक्ति के आत्मसात् हो जाय, यह कैसे संभव है? कामना की अपूर्ति मन में क्रोध उत्पन्न करती है। क्रोध का मूल तमस् या तमोगुण है। तमस् अन्धकार का वाचक है। अन्धकार में जिस प्रकार कुछ दीख नहीं पड़ता, उसी प्रकार क्रोधावेश में यथार्थ का दर्शन या अवलम्बन असम्भव नहीं तो दुःसम्भव अवश्य हो जाता है। क्रोध में त्रिवेक लुप्त हो जाता है। इसीलिए गीताकार ने क्रोध से संभूढ़ता पैदा होने की बात कही है। मोह शब्द से पहले जो 'सम्' उपसर्ग लगा है, वह मोह या मूढ़ता के व्यापक व सधन रूप का परिचायक है। अर्थात् तब मूढ़ता भी बहुत भारी कोटि की आती है, साधारण नहीं। मूढ़ता मानव के आन्तरिक अधःपतन का बहुत बड़ा हेतु है।

मानव में स्मृति नाम का एक विशेष आन्तरिक गुण है, जिसमें अतीत के विशिष्ट ज्ञान का संचय रहता है, अनुभूतियों का संकलन रहता है। जब कोई वाञ्छित, अवाञ्छित प्रसंग बनता है, तब जो आन्तर्मानसिक प्रतिक्रिया होती है, उसका उत्तर स्मृति से मिलना है। स्मृति सत् या असत् वैसे विचार या उदाहरण प्रस्तुत कर देती है, जो सन्मार्ग या दुर्मार्ग पर गतिशील होने में प्रेरक बनते हैं। अर्थात् स्मृति यदि सत् को आगे करती जाय तो व्यक्ति में सत्योन्मुखता का भाव जागता है, पनपता है। यदि वह असत् का रूप उपस्थित करती जाती है तो भावना और तत्पश्चात् कर्म का जगत् असत् की ओर अग्रसर होता है। संभूढ़ता से स्मृति विनष्ट हो जाती है। आगे गीताकार का कहना है कि जब स्मृति नष्ट हो गई तो फिर बुद्धि कहाँ रही? बुद्धि का नाश तो एक प्रकार से सर्वनाश ही है।

गीताकार ने यह पतन के क्रम का जो वैज्ञानिक विश्लेषण किया है, निःसन्देह अनेक दृष्टियों से मवेण्य है। इसके बाद गीताकार ने इससे बचने का जो मार्ग बताया है, वह इस प्रकार है—

“रागद्वेष वियुक्तस्तु, विषयानिन्द्रियैश्चरन् ।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा, प्रसादमधिगच्छति ॥”³

इस श्लोक में राग, द्वेष, विषय, इन्द्रिय और आत्मवश्य—इन शब्दों का विशेष रूप से प्रयोग हुआ है। मन में विषयों के प्रति लिप्सा जागती है। उस लिप्सा की पूर्ति इन्द्रियों करती हैं। इन्द्रियों के साथ रागात्मकता या द्वेषात्मकता—जो भी भाव जुड़ा रहता है, उन (इन्द्रियों) की प्रवृत्ति तदनु रूप होती है। यह बन्धन या पारवश्य की दशा है। इसमें आत्मा का स्वरूप आच्छन्न रहता है। उस पर माया या अज्ञान का आवरण छा जाता है। इसका परिणाम अपने स्वरूप से अधःपतित होने में आता है। इसलिए गीताकार ने यहाँ बड़ी मार्मिक बात कही है। जब तक इन्द्रियाँ हैं, तब तक उनके द्वारा अपने-अपने विषय गृहीत होंगे ही। इन्द्रियों के होते विषय-शून्यता की दशा नहीं आ सकती। इसलिए गीताकार ने जिस करणीयता पर विशेष जोर दिया है, वह है राग और द्वेष से वियुक्तता। जब इन्द्रियों का रागात्मक व द्वेषात्मक भाव से यथार्थतः वियोग हो जायेगा, तब उनका विषय-ग्रहण वैसा बहिर्गामी नहीं रहेगा, जैसा राग-द्वेष संयुक्तता में था। सहज ही इन्द्रियाँ आत्मा के वशगत हो जायेंगी, जो पहले राग या द्वेष के अधीन थीं। यथार्थ की भाषा में दुःख तो तब होता है, जब व्यक्ति নিজ स्वरूप से हटकर पर-रूप में चला जाता है। जब इन्द्रियों की आत्मवश्यता सध जाती है, तब गीताकार के शब्दों में व्यक्ति प्रसाद का लाभ करता है। प्रसाद का अर्थ प्रसन्नता, उल्लसित भाव या आनन्द है।

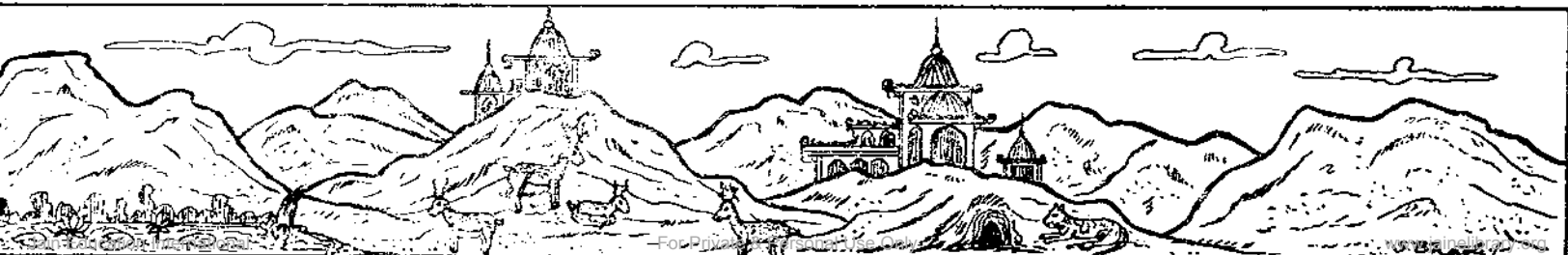
स्नेह-बन्धन का उच्छेद करें

गीता में कर्म-संसार के उत्तरोत्तर विस्तार पाते जाने के मूल में संग या आसक्ति का जो विशेष रूप से चित्रण किया गया है, वैसा ही भाव बहुत ही प्रेरक रूप में हमें उत्तराध्ययन सूत्र की निम्नांकित गाथा में प्राप्त होता है—

“वोच्छिन्द सिणेहमप्पणो, कुमुयं सारइयं व पाणियं ।

से सव्व सिणेहवज्जिए, समयं गोयम ! मा पमायए ॥”⁴

इस गाथा में 'सिणेह' या स्नेह शब्द आसक्ति के अर्थ में आया है। स्नेह का अर्थ चिकनाई भी है। आसक्ति



में भावना को वस्तु-विशेष या विषय-विशेष में अटका लेने का जो स्वभाव है, वह भी एक तरह की चिकनाई या चेष ही तो है। इसीलिए सूत्रकार ने साधक को सम्बोधित करते हुए कहा है कि तुम स्नेह का उच्छेद कर डालो। उच्छेद शब्द का भी अपने आप में एक विशेष महत्त्व है। उच्छेद (उत् + छेद) का अर्थ है विल्कुल मिटा देना। सूत्रकार ने बड़ी सुन्दर कल्पना की है कि यदि स्नेह या आसक्ति का बन्धन टूट गया तो साधक वैसा ही निर्मल बन जायेगा, जैसा शरद ऋतु के निर्मल जल में तैरता हुआ कमल, जो जल से सर्वथा अलिप्त रहता है। भारतीय संस्कृति में कमल निर्मलता और पवित्रता का प्रतीक है। आत्मा में वैसी निर्मलता आने का अर्थ है, उसका वासना-प्रसूत विजातीय भावों से मुक्त होना। गीताकार ने 'प्रसादमधिगच्छति' इन शब्दों द्वारा जो बात कही है, यदि हम उसकी प्रस्तुत प्रसंग से तुलना करें अतोबड़ी अच्छी संगति प्रतीत होगी। इसी प्रकार का एक दूसरा प्रसंग है—

“कहं नु कुञ्जा सामणं, जो कामे न निवारए।

एए एए विसीयंती, संकप्पस्स वसंगओ ॥”^५

यहाँ सूत्रकार ने श्रमण-धर्म, जो जीवन का निर्विकार, आत्म-समर्पित साधना-पथ है, के प्रतिपालन के सन्दर्भ में कहा है कि जो काम-राग का निवारण नहीं कर सकता, वह कदम-कदम पर विषाद पाता है। क्योंकि काम-रागी पुरुष में मन-स्थिरता नहीं आ पाती। वह अपने आपको संकल्प-विकल्प में खोये रखता है, उससे श्रामण्य—श्रमण-धर्म का पालन कैसे हो सकता है? कहने का अभिप्राय यह है कि कामराग, गीताकार के अनुसार विषय-व्यान, संग तथा काम के भाव का उद्बोधक है। गीताकार इस विकार-त्रयी से फलने वाले जिस विनाश की बात कहते हैं, दशवैकालिककार संक्षेप में उसी प्रकार का भाव काम-राग और संकल्प-विकल्प से निष्पन्न होना बतलाते हैं। संकल्प-विकल्प स्मृति-भ्रंश से ही उद्भूत होते हैं, जो बुद्धि के चाञ्चल्य के परिचायक हैं। बुद्धि-विनाश का यही अर्थ है कि उससे जो विवेक-गर्भित चिन्तनमूलक निष्कर्ष आना चाहिए, वह नहीं आता—विपरीत आता है, जिसका आश्रयण मानव को सद्यःविपथगामी बना देता है।

एक और प्रसंग है, साधक कहता है—

“रागद्वोसादओ तिब्वा, नेहपासा भयंकरा।

ते छिन्दित्तु जहानायं, विहरामि जहक्कमं ॥”^६

अर्थात् तीव्र राग-भाव, द्वेष-भाव तथा और भी जो स्नेहात्मक भयावह पाश हैं, मैं यथोचित रूप से उन्हें उच्छिन्न कर अपने स्वभाव में विहार करता हूँ।

यहाँ दो प्रकार के भाव हैं। एक पक्ष यह है कि तीव्र राग, तीव्र द्वेष, आसक्त भाव—ये बड़े भयजनक बन्धन हैं। अर्थात् इनसे मानव स्वार्थी, कुण्ठित तथा संकीर्ण बनता है। ये आत्म-विमुख भाव हैं। इसीलिए इन्हें बन्धन ही नहीं, मयानक बन्धन कहा है। यहाँ प्रयुक्त पाश शब्द बन्धन से कुछ विशेष अर्थ लिये हुए है। यह फन्दे या जाल का बोधक है, जिसमें फँस जाने या उलझ जाने पर प्राणी का निकलना बहुत ही कठिन होता है। दूसरा पक्ष यह है कि अपनी सुषुप्त आत्म-शक्ति को जगाकर मनुष्य यदि इन्हें वशगत कर लेता है, जीत लेता है, दूसरे शब्दों में इन्हें विध्वस्त कर देता है तो असीम आनन्द पाता है। 'विहरामि जहक्कमं' और 'प्रसादमधिगच्छति' का कितना सुन्दर सादृश्य है, जरा चिन्तन करें।

साधक को विकार के पथ पर घकेलने वाली इन वासनात्मक अन्तर्वृत्तियों की विजय के लिए जैन आगम वाङ्मय में अनेक प्रकार से मार्ग-दर्शन दिया गया है, इनके प्रत्याख्यान या परित्याग की आवश्यकता पर बहुत बल दिया गया है। जैसे कहा है—

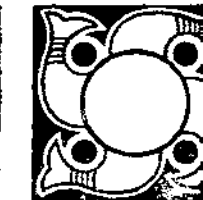
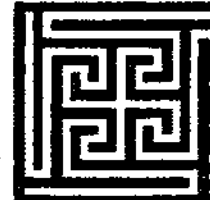
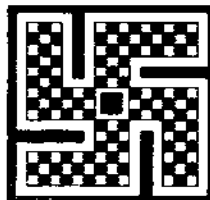
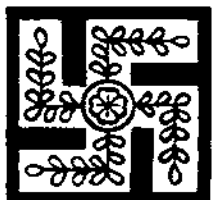
“कोहं माणं च मायं च, लोभं च पाववड्ढणं।

वमे चत्तारि दोसे उ, इच्छन्तो हियमप्पणो ॥

उवसमेण हणे कोहं, माणं मह्वया जिणे।

मायं चाज्जवभावेण, लोभं संतोसओ जिणे ॥”^७

जब किसी व्यक्ति के उदर में, जो शारीरिक स्वास्थ्य का केन्द्र है, विकार उत्पन्न हो जाता है तो यह आवश्यक



होता है कि उसका निष्कासन हो। आयुर्वेद में इस सम्बन्ध में पंच कर्मों के रूप में बड़ा वैज्ञानिक विवेचन है। पंच कर्मों में वमन का अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। वमन द्वारा अपरिपक्व, विकृत तथा विषाक्त पदार्थ जब पेट से निकल जाते हैं, तब सहज ही एक सुख का अनुभव होता है। आयुर्वेदीय चिकित्सा पद्धति के अनुसार प्राचीन काल में प्रचलन भी ऐसा ही था। पहले वमन, विरेचन, स्नेहन, स्वेदन, उद्वासन द्वारा दोषों का निष्कासन हो जाता, तब फिर स्वास्थ्यवर्द्धन, शक्तिवर्द्धन आदि के लिए औषधि दी जाती। वह विशेष प्रभावक सिद्ध होती। यूनान के सुप्रसिद्ध दार्शनिक तथा काव्यशास्त्री अरस्तू ने काव्य-रसास्वादन के सन्दर्भ में भी इस पद्धति को स्वीकार किया है। अरस्तू के अनुसार रस-बोध के लिए अवसाद तथा कुण्ठाजनित विषण्ण भावों का विरेचन, जिसे कैथेरसिस या कैथेसिस कहा गया है, नितान्त आवश्यक है।

सूत्रकार ने यहाँ क्रोध, मान, माया और लोभ—इन चारों को वमन की तरह निकाल फेंकने का निर्देश किया है। इनके साथ जुड़ा हुआ 'पाववड्ढण' विशेषण इस बात का स्रोतक है कि इनसे विकार की धारा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है। इन चारों के लिए दोष शब्द का भी प्रयोग हुआ है। दोष का व्यौत्पत्तिक अर्थ है—'दूषयतीति दोषः' अर्थात् जो दूषित—म्लान या गन्दा बना दे, वह दोष है। सूत्रकार का आशय यह है कि क्रोध, अहंकार, माया-प्रबन्धना, लोभ-लिप्सा या लालसा का उग्र भाव अपने भीतर से उसी प्रकार निकाल दिया जाना चाहिए, जिस प्रकार वमन द्वारा विकृत पदार्थ निकाल दिए जाते हैं। गाथा का अन्तिम पद है—'इच्छन्तो ह्यिमप्यणो' अर्थात् यदि अपना हित चाहते हो तो ऐसा करो। शाब्दिक अर्थ के साथ-साथ हम शब्दगत लयात्मकता की ओर जाएँ तो अनुभव होगा, इस पद में उद्बोधन तथा पुरुषार्थ जागरण का एक जीवित सन्देश है। अर्थात् इनकी वमन की तरह फेंके बिना आत्मा का हित किसी भी तरह सध नहीं सकता।

अब हम जरा दूसरी गाथा की ओर आएँ। सूत्रकार ने इसमें उपर्युक्त विकारों को अपगत करने के लिए एक बहुत सुन्दर पथ-दर्शन दिया है, जो बड़ा मनोवैज्ञानिक है। जीवन में दो पक्ष हैं—विधि और निषेध। धर्मशास्त्रों में प्रायः निषेधमुखी व्याख्याएँ अधिक मिलती हैं। यहाँ कुछ सोचना होगा। निषेधमुखी व्याख्या का आधार 'पर' है क्योंकि निषेध या वर्जन पर का किया जाता है। विधिमुखी व्याख्या का आधार 'स्व' है। निश्चय की भाषा में तो विधिमुखी व्याख्या ही श्रेयस्कर है, निषेधमुखी औपचारिक। आत्मा जब अपने भाव, गुण या स्वरूप को स्वीकार करता है, तब 'पर-भाव', तथा 'पर-स्वरूप' का स्वतः निषेध सधता है। उदाहरणार्थ यदि हम घर में प्रवेश करते हैं तो सहज ही सड़क छूटती है। वहाँ यदि यह भाव बने कि हमने सड़क को छोड़ा तो वह यथार्थ नहीं होगी। गृह में प्रवेश किया, यह विधि-मुखता ही तात्त्विक होगी। इस और स्पष्ट रूप में समझें। यदि ज्ञान का प्रकाश आत्मसात् होगा तो अज्ञान स्वतः ही मिटेगा यह होते हुए भी व्यावहारिक दृष्टि से निषेध पर विशेष जोर दिया जाता रहा है। इसका कारण यह है कि सामान्यतः अधिक लोग सूक्ष्मदर्शी नहीं हैं, स्थूलदर्शी हैं। वे पर से अधिक प्रभावित हैं। उनका दृष्टिबिन्दु 'पर' पर अधिक टिका है। इसलिए 'पर' के वर्जन या निषेध द्वारा उन्हें दिशा-बोध देना आवश्यक होता है।

सूत्रकार ने प्रस्तुत गाथा में विधि और निषेध दोनों विधाओं को स्वीकार करते हुए इन वासनात्मक अन्तर्वृत्तियों से वियुक्त होने का पथ-दर्शन किया है। उन्होंने कहा है कि उपशम या शान्ति से क्रोध का हनन करो। 'हनन' शब्द वीर्य—पुरुषार्थ या वीरत्व को जगाने की दृष्टि से है। उपशम क्रोध का परिपन्थी (विरोधी) है और क्रोध शान्ति का। यदि उपशम या शान्त भाव का स्वीकार होगा तो क्रोध स्वयं ही अस्तित्व शून्य हो जायेगा। परन्तु शान्त भाव, जो आत्मा का स्व-भाव है, को जगाने के लिए अन्तःस्फूर्ति, पुरुषार्थ, अध्यवसाय अपेक्षित होता है। उपशम द्वारा क्रोध-विजय का सन्देश उद्घोषित कर मार्दव से मान को जीतने की बात कही गई है। मार्दव 'मृदु' विशेषण से बना (मृदोर्भावः—मार्दवम्) भाववाचक शब्द है। इसका अर्थ सहज मृदुता या कोमलता है। यह मान या अहंकार का विलोम (प्रतिपक्षी) है। मृदुता के आ जाने पर अहंकार स्वयं ही चला जाता है। इसलिए प्रयत्न अपने में मृदुता लाने का होना चाहिए।

आगे माया को आर्जव से और लोभ को संतोष से जीतने की बात कही गई है। आर्जव ऋजु से (ऋजोर्भावः—आर्जवम्) से बना है। मार्दव जैसे मृदुगत भाव का स्रोतक है, उसी तरह आर्जव ऋजुगत भाव का स्रोतक है। इसका अर्थ सरलता है। सरलता सहज भाव है, जिसमें बनाव नहीं होता। माया प्रबन्धना है ही। उसे छलना भी कहा जाता है क्योंकि वह व्यक्ति को छलती है, धोखा देती है, उसे विभ्रान्त करती है। उसमें जितना हो सकता है, बनाव ही बनाव



होता है। पर, यहाँ भी यह जातव्य है कि सहज सरल भाव के आते ही माया टिक नहीं पाती। इसलिए निश्चय की भाषा यहाँ भी यही बनती है कि सरलता को अपनाओ, माया स्वयं अपगत होगी। लोभ और संतोष के सन्दर्भ में यही वास्तविकता है।

शान्ति, मृदुता, ऋजुता तथा सन्तोष का जीवन में ज्योंही समावेश होभा, आत्मा में एक अभिनन्दन चेतना तथा संस्कृति का संचार होगा। सूत्रकार जिसे आत्म-हित सधना कहते हैं, वह यही तो है। ऐसा होने से ही आत्म-प्रसाद अधिगत होता है जिसकी गीता के सन्दर्भ में ऊपर चर्चा हुई है।

मन : कामनाएँ : संवरण

गीता में जहाँ स्थितप्रज्ञ का प्रकरण प्रारम्भ होता है, वहाँ अर्जुन द्वारा योगिराज कृष्ण से निम्नांकित शब्दों में प्रश्न किया गया था—

“स्थितप्रज्ञस्य का भाषा, समाधिस्थस्य केशव।

स्थितधीः किं प्रभावेत, किमासीत ब्रजेत किम् ॥”^८

अर्जुन ने पूछा—भगवन् ! समाधिस्थ—समता भाव में अवस्थित स्थितप्रज्ञ की क्या परिभाषा है ? वह कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है ?

लगभग इसी प्रकार की जिज्ञासा दशवंकालिक में अन्तेवासी अपने गुरु से करता है—

कहं चरे कहं चिद्रे, कहमासे कहं सए।

कहं भुंजन्तो भासन्तो पावकम्मं न बन्धइ ॥^९

वह कहता है—मैं कैसे चलूँ, कैसे खड़ा होऊँ, कैसे बैठूँ, कैसे सोऊँ, कैसे खाऊँ, कैसे बोलूँ, जिससे मैं निर्मल, उज्ज्वल रह सकूँ।

दोनों ओर के प्रश्नों की चिन्तन-धारा में कोई अन्तर नहीं है। ठीक ही है, मोक्षार्थी जिज्ञामु के मन में इसके अतिरिक्त और आयेगा ही क्या ! जहाँ गीता के इस प्रश्न के समाधान में, जैसा ऊपर विवेचन हुआ है, स्थितप्रज्ञ का दर्शन विस्तार पाता है, उसी प्रकार जैन आचार-शास्त्र का विकास भावतः इसी जिज्ञासा का समाधान है।

स्थितप्रज्ञ : वीतराग : अन्तर्दर्शन

अर्जुन द्वारा किये गये प्रश्न पर श्रीकृष्ण ने स्थितप्रज्ञ की जो परिभाषा या व्याख्या की वह निम्नांकित रूप में है—

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।

वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते ॥

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्राप्य शुभाशुभम्।

नाभिनन्दति न द्वेष्टि, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥

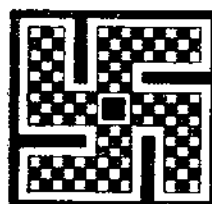
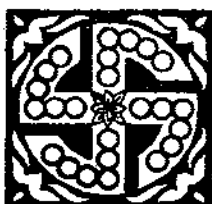
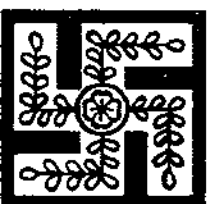
यदा संहरते चायं, कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥^{१०}

गीताकार कहते हैं कि दुःखों के आने पर जो उद्वेग नहीं पाता, सुखों के आने पर जिसकी स्पृहा या आकांक्षा उद्दीप्त नहीं होती, जिसे न राग, न भय और न क्रोध ने ही अपने वशगत कर रखा है अर्थात् जो इन्हें मिटा चुका है, उसकी बुद्धि स्थित या अचञ्चल होती है, वह स्थितप्रज्ञ है—स्थिरचेता उच्च साधक है।

जिसके स्नेह—रागानुरञ्जित आसक्तता का संसार मिट गया है, जो शुभ या प्रियस् का अभिनन्दन नहीं करता, अशुभ या अप्रेयस् से द्वेष नहीं करता, उसकी बुद्धि सम्यक् अवस्थित रहती है, वह स्थितप्रज्ञ है।

जिस प्रकार कलुआ अपने सब अंगों को सम्पूर्णतः अपने में समेट लेता है, उसी प्रकार जो अपनी इन्द्रियों को उनके विषयों से खींच लेता है। उसकी प्रज्ञा अविचल होती है, सम्यक् प्रतिष्ठित होती है, वह स्थितप्रज्ञ है।



जब तक इन्द्रियाँ और उनका प्रेरक मन वैषयिक वृत्ति से सर्वथा परे नहीं हटता, तब तक वह दुःखों की सीमा को लांघ नहीं सकता। ज्योंही वैषयिक वृत्ति क्षीण हो जाती है, दुःख स्वयं ध्वस्त हो जाते हैं। उत्तराध्ययन सूत्र में इस सन्दर्भ में बड़ा सुन्दर विवेचन है—

एविदियत्था य मणस्स अत्था, दुक्खस्स हेउं-मणुयस्स रागिणो ।
ते चेव थोवंपि कयाइ दुक्खं न वीयरगस्स करेन्ति किञ्चि ॥
सद्दे विरत्तो मणुओ विसोगो, एएण दुक्खोहपरंपरेण ।
न लिप्पए भवमज्जे वि संतो, जलेण वा पोक्खरिणीपलासं ॥
न कामभोगा समयं उवेन्ति, न यावि भोगा विगई उवेन्ति ।
जे तप्पओसी य परिग्गही य, सो तेसु मोहा विगई उवेइ ॥^{११}

जो मनुष्य रागात्मकता से ग्रस्त है, इन्द्रियाँ और उनके विषय उसे दुःखी बनाते रहते हैं, किन्तु जिसकी राग भावना विनिर्गत हो गई है उसे ये जरा भी दुःख नहीं पहुँचा सकते।

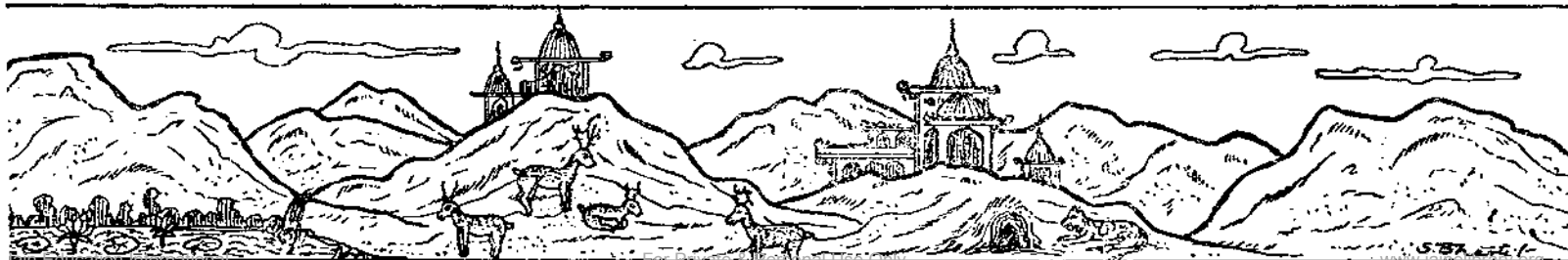
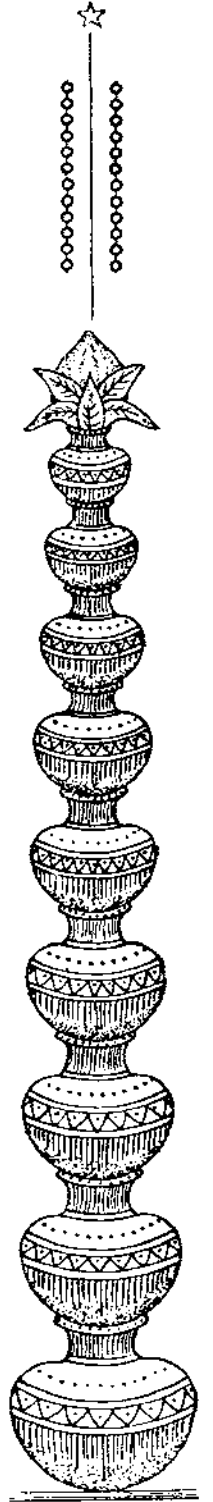
जो पुरुष शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयों से विरक्त होता है, वह शोक-संविन नहीं होता। वह संसार के मध्य रहता हुआ भी उससे लिप्त नहीं होता, जैसे पुष्करिणी में रहते हुए भी पलाश जल से अलिप्त रहता है।

उत्तराध्ययनकार ने यहाँ एक बड़ी महत्त्वपूर्ण बात कही है कि कामनाएँ और भोग न समता या उपशम के हेतु हैं और न वे विकार के ही कारण हैं। जो उनमें राग-भाव या द्वेष-भाव रखता है, वही विकार प्राप्त करता है। इसका आशय यह है कि विषय या भोग्य पदार्थ अपने आप में अपने सत्तात्मक स्वरूप के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। विकृति तो व्यक्ति की अपनी मनोभावना पर निर्भर है। मनोभावना में जहाँ पवित्रता है, वहाँ वैषयिक पदार्थ बलात् कुछ भी नहीं कर सकते। विकार या शुद्धि मूलतः चेतना का विषय है, जो केवल जीव में होती है।

स्थितप्रज्ञ की परिभाषा में ऊपर अनभिस्नेह शब्द का प्रयोग हुआ है। 'अभिस्नेह' स्नेह का कुछ अधिक सघन रूप है। यह अधिक सघनता ही उसे तीव्र राग में परिणत कर देती है। राग में तीव्रता आते ही द्वेष का उद्भव होगा ही। क्योंकि राग प्रियस्कता के आधार पर एक सीमांकन कर देता है। उस अंकन सीमा से परे जो भी होता है, अनभीप्सित प्रतीत होता है। अनभीप्सा का उत्तरवर्ती विकास द्वेष है। यों राग और द्वेष ये एक ही तथ्य के मधुर और कटु—दो पक्ष हैं। इस जंजाल से ऊपर उठने पर साधक की जो स्थिति बनती है, उत्तराध्ययनकार के निम्नांकित शब्दों में उसका अन्तःस्पर्शी चित्रण है—

“निम्ममो निरहंकारो, निस्संगो चत्तमारवो ।
समो अ सव्वभूएसु, तसेसु थावरेसु अ ॥
लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तहा ।
समो निन्दापसंसासु, तहा माणावमाणओ ॥
गारवेसु कसाएसु, दण्डसल्लभएसु य ।
निअत्तो हाससोगाओ, अनियाणो अबन्धणो ॥
अणिस्सिओ इहं लोए, परलोए अणिस्सिओ ।
वासीचन्दणकप्पो अ, असणे अणसणे तहा ॥”^{१२}

जो ममता और अहंकार से ऊँचा उठ जाता है, अनासक्त हो जाता है, जंगम तथा स्थावर—सभी प्राणियों के प्रति उसमें समता का उदार भाव परिव्याप्त हो जाता है। वह लाभ या अलाभ, सुख या दुःख, जीवन या मृत्यु, निन्दा या प्रशंसा, मान या अपमान में एक समान रहता है। लाभ, सुख, जीवन, प्रशंसा एवं मान उसे आनन्द-विमोह नहीं कर सकते तथा अलाभ, दुःख, मृत्यु, निन्दा एवं अपमान उसे शोकान्वित नहीं करते। वह न ऐहिक सुखों की कामना करता है, न पारलौकिक सुखों की ही। चाहे उसे बसोले से काटा जाता हो या चन्दन से लेपा जाता हो, चाहे उसे भोजन मिलता हो, चाहे नहीं मिलता हो, उसके भीतर का समभाव मिटता नहीं, सदा सुस्थिर रहता है।



ऐसा होने पर उत्तराध्ययनकार के शब्दों में—

“सो तस्स सव्वस्स दुहस्स मुक्को, जं बाहई सययं जंतुमेयं ।

दीहामयं विप्पमुक्को पसत्थो, तो होइ अच्चंत सुहीकयत्थो॥”^{१३}

वह (साधक), जो जीव को सतत पीड़ा देते रहते हैं, उन दीर्घ रोगों से विप्रमुक्त हो जाता है। दीर्घ रोग से यहाँ उन आन्तरिक कषायात्मक ग्रन्थियों का सूचन है, जो मानव को सदा अस्वस्थ (आत्म-भाव से बहिःस्थ) बनाये रखती है। जब ऐसा हो जाता है तो आत्मा अत्यन्त सुखमय हो जाती है। यह उसकी कृतकृत्यता की स्वर्णिम धड़ी है। तभी “दुःखेस्वनुद्विग्नमनाः” ऐसा जो गीता में कहा गया है, फलित होता है।

यों आत्म-उल्लास में प्रहृषित साधक की भावना में अप्रतिम दिव्यता का कितना सुन्दर समावेश हो जाता है, उत्तराध्ययनकार के निम्नांकित शब्दों से सुप्रकट है—

“ते पासे सव्वसो छित्ता, निहंतूण उवायओ । मुक्कपासो लहुब्भूओ, विहरामि अहं मुणी ॥

अन्तोहिअयसंभूया, लया चिट्ठइ गोयमा । फलेइ विसभक्खीणि, स उ उद्धरिया कहं ॥

तं लयं सव्वसो छित्ता, उद्धरित्ता समूलियं । विहरामि जहानायं, मुक्कोमि विसभक्खणं ॥

भवत्तण्हा लया वुत्ता, भीमा भीमफलोदया । तमुच्छित्तु जहानायं विहरामि महामुणी ॥”^{१४}

साधक ! जो (रागात्मक) पाश सांसारिक प्राणियों को बांधे रहते हैं, मैं उनका छेदन और निहनन कर मुक्तपाश हो गया हूँ, हल्का हो गया हूँ, सानन्द विचरता हूँ।

भव-तृष्णा—सांसारिक वासना की विष-लता—हृदय में उद्भूत होने वाली विषय-वासना की शृंखला को मैं उच्छिन्न कर चुका हूँ। यही कारण है कि मैं सर्वथा आनन्दित एवं उल्लसित हूँ।

इसी सन्दर्भ में सूत्रकृतांग में बहुत स्पष्ट शब्दों में कहा है—

“लद्धे कामे न पत्थेज्जा, विवेगे एवमाहिए ।

आयरियाइ सिक्खेज्जा, बुद्धाणं अंतिए सया ॥”^{१५}

यदि काम-भोग सुलभ हों, आसानी से प्राप्त हों तो भी साधक को चाहिए कि वह उनकी वाञ्छा न करे। विवेक का ऐसा ही तकाजा है। इस प्रकार की निर्मल अन्तर्वृत्ति को संदीप्त करने के लिए साधक को चाहिए कि वह प्रबुद्ध जनों के सान्निध्य में रहकर ऐसी शिक्षा प्राप्त करे।

इस प्रसंग में औपनिषदिक साहित्य के कुछ सन्दर्भ यहाँ उपस्थित किये जा रहे हैं, जो उपर्युक्त विवेचन से तुलनीय हैं। प्रश्नोपनिषद् में ब्रह्मलोक अर्थात् आत्म-साम्राज्य की अवाप्ति के प्रसंग में कहा है—

“तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु जिहामनृतं न माया चेति ॥”^{१६}

अर्थात् जिनमें कुटिलता नहीं है, अनृत आचरण नहीं है, माया या प्रवञ्चना नहीं है, आत्मा का परम विशुद्ध, विराट् साम्राज्य उन्हीं को प्राप्त होता है।

जब तक ऐसी स्थिति नहीं होती, तब तक उपनिषद् की भाषा में मनुष्य अविद्या में वर्तमान रहता है और उसका दुष्परिणाम भोगता रहता है।^{१७}

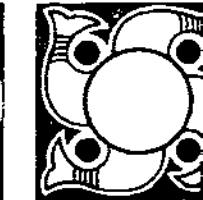
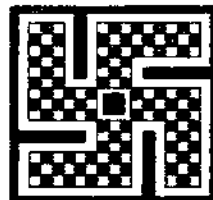
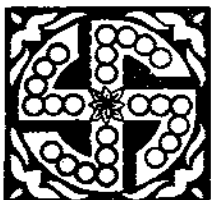
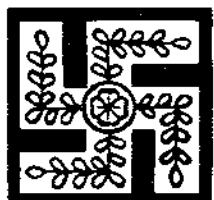
अविद्या से उन्मुक्त होकर साधक किस प्रकार अमृतत्व पाता है, ब्रह्मानन्द का लाभ करता है, कठोपनिषद् में जो कहा है, मननीय है—

“यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि श्रिताः ।

अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते ॥

जो कामना प्रसूत लुब्ध मनोवृत्तियाँ हृदय में आश्रित हैं, जब वे छूट जाती हैं तो मर्त्य—मरणधर्मा मानव अमृत—मरण से अतीत—परमात्म-भाव में अधिष्ठित हो जाता है। वह ब्रह्मानन्द या परमात्म-भाव की अनुभूति की वरेण्य वेला है।

अब हम उस प्रश्न पर आते हैं, जिसकी पहले ‘स्थितप्रज्ञस्य का भाषा’...श्लोक सन्दर्भ में चर्चा की है,



जिसमें साधक, अपने समग्र क्रियाकलाप में परिष्कार कैसे आए, निर्बन्धावस्था कैसे रहे, की जिज्ञासा करता है। वहाँ सूत्रकार थोड़े से शब्दों में बड़ा सुन्दर समाधान देते हैं—

जयं चरे जयं चिद्रे, जयमासे जयं सए ।

जयं भुंजंती भासंती, पावकम्मं न बंधइ ॥^{१५}

साधक यत्न—जागरूकता या विवेकपूर्वक चले, खड़ा हो, बैठे, सोए, बोले तथा खाए। इस प्रकार यत्न या जागरूक भाव से इन क्रियाओं को करता हुआ वह पाप-कर्म से बंधता नहीं।

इस सन्दर्भ में आचारांगसूत्र का एक प्रसंग है, जिसे प्रस्तुत विषय के स्पष्टीकरण के हेतु उपस्थित करना उपयोगी होगा—

“ण सक्का ण सोउं सद्दा, सोतविसयमागया ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
ण सक्का रुवमद्दट्ठं, चक्खुविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
ण सक्का गंधमग्घाउं, णासाविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
ण सक्का रसमस्साउं, जीहाविसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥
ण सक्का फासमवेएउं, फासं विसयमागयं ।
रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्जए ॥^{१६}

जब तक श्रोत्रेन्द्रिय है, चक्षु इन्द्रिय है, घ्राणेन्द्रिय है, रसनेन्द्रिय है, स्पर्शनेन्द्रिय है, शब्द, रूप, गन्ध, रस व स्पर्श का ग्रहण न किया जाए, यह सम्भव नहीं है। पर इन सबके साथ रागात्मक या द्वेषात्मक भाव नहीं जुड़ना चाहिए। यह स्थिति तब बनती है, जब श्रवण, दर्शन, आघ्राण-रसन तथा स्पर्शन मन पर छाते नहीं, मन इनमें जब न रस ही लेता है और न उलझता ही है। गीताकार ने कच्छप के इन्द्रिय-संकोच के उपमान से इन्द्रियों को तत्सम्बद्ध विषयों से विनिवृत्त करने की जो बात कही है, वह प्रस्तुत विवेचन से तुलनीय है। इन्द्रियों की इन्द्रियार्थ से विनिवृत्ति का तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने कार्य में संचरणशील रहते हुए तन्मय नहीं होती, उनमें रमती नहीं। यही अनासक्तता या निर्लेप की अवस्था है।

उत्तराध्ययन सूत्र में एक दृष्टान्त से इसे बड़े सुन्दर रूप में समझाया है—

“उल्लो सुक्खो य दो छुद्धा, गोलया मट्टियामया ।

दो वि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो सोत्थ लगई ॥

एवं लगन्ति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा ।

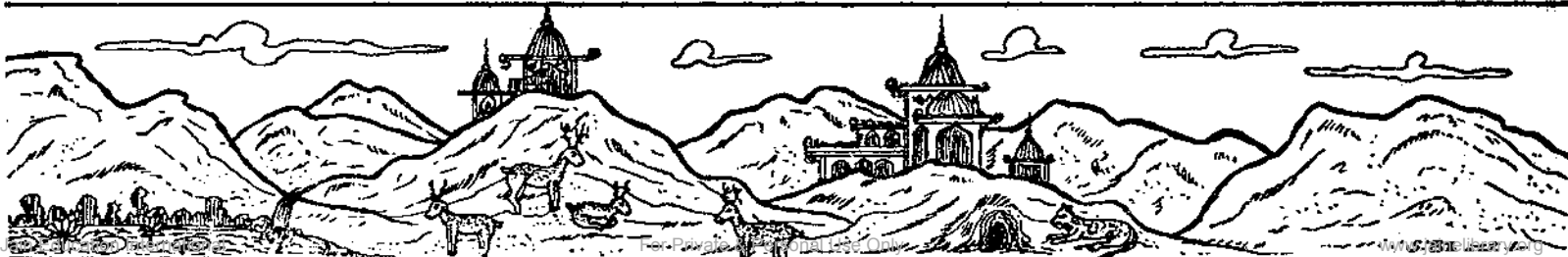
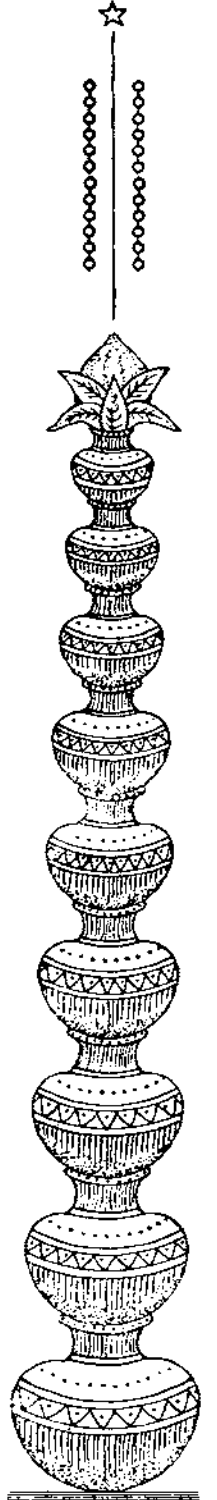
विरत्ता उ न लगन्ति, जहा से सुक्क गोलए ॥^{२०}

मिट्टी के दो गोले हैं—एक सूखा, दूसरा गीला। दोनों यदि दीवाल पर फँके जाएँ तो गीला गोला दीवाल पर चिपक जायेगा और सूखा गोला नहीं चिपकेगा। इसी प्रकार जो कलुषित बुद्धि के व्यक्ति कामनाओं व एषणाओं में फँसे हैं, गीले गोले की तरह उन्हीं के बन्ध होता है। जो विरक्त हैं—काम-लालसा से अनाकृष्ट है, उन्मुक्त है, वे सूखे गोले की तरह नहीं चिपकते, नहीं बंधते।

आचार्य पूज्यपाद ने बड़े उद्बोधक शब्दों में कहा है—

“रागद्वेषादिकल्लोलैरलीलं यन्मनो जलम् ।

स पश्यत्यात्मनस्तत्त्वं तत्त्ववित् नेतरो जनः ॥”



राग, द्वेष आदि की तरंगों से जिसका मन-रूपी जल चञ्चल नहीं होता, वही तत्त्ववेत्ता—वस्तु-स्वरूप को यथावत् रूप में जानने वाला आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार करता है, दूसरा नहीं।

मुण्डकोपनिषद् में एक बहुत सुन्दर रूपक है—

‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया,
समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्य-
नश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥
समाने वृक्षे पुरुषो निमग्नोऽ-
नीशया शोचति मुह्यमानः।
जुष्टं यदा पश्यत्यन्यमीश-
मस्य महिमानमिति वीतशोकः ॥’^{१२९}

दो पक्षी थे। एक साथ रहते थे। दोनों मित्र थे। एक ही वृक्ष पर बैठे थे। उनमें से एक उस पेड़ का स्वादिष्ट फल खा रहा था। पर आश्चर्य है कि दूसरा (पक्षी) कुछ भी नहीं खा रहा था, केवल आनन्दपूर्वक देख रहा था। अर्थात् कुछ भी न खाते हुए भी वह परम आल्लासित था। यहाँ ये दोनों पक्षी जीवात्मा और परमात्मा के प्रतीक हैं पहला जीवात्मा का और दूसरा परमात्मा का। यहाँ इस पद्य का आशय यह है कि जीवात्मा शरीर की आसक्ति में डूबा हुआ कर्मों के फल का उपभोग कर रहा है, अविद्या के कारण उसमें सुख, जिसे सुखाभास कहना चाहिए, मान रहा है। परमात्मा स्वयं आनन्दस्वरूप है। कर्मों के फल-भोग से उसका कोई नाता नहीं।

इसी प्रसंग में आगे कहा गया है कि जीवात्मा शरीर की आसक्ति में डूबा रहने से दैन्य का अनुभव करता है जब वह परमात्मा को देखता है, परमात्म-भाव की अनुभूति में संविष्ट होता है, तब उसको उनकी महिमा का भान होता है और वह शोक-रहित बन जाता है।

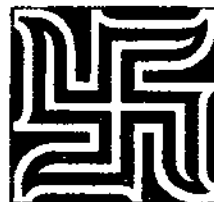
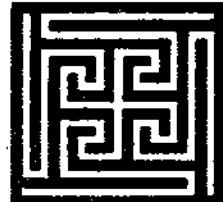
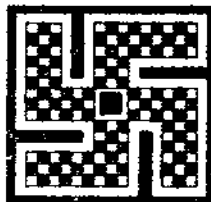
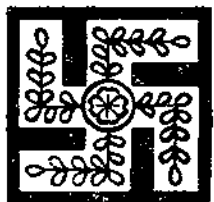
इन पद्यों में उपनिषद् के ऋषि ने आसक्ति और अनासक्ति का अपनी भाषा में अपनी शैली में निरूपण किया है। जीवात्मा और परमात्मा व्यक्तिशः दो नहीं हैं। जब तक वह अविद्या के आवरण से आवृत है, उसकी संज्ञा जीवात्मा है। ज्योंही वह आवरण हट जाता है, शुद्ध स्वरूप, जो अब तक अवगुण्ठित था, उन्मुक्त हो जाता है। तब उसकी संज्ञा परमात्मा हो जाती है।

यहाँ बहुत उत्सुकता से फल को चखने, खाने और उसमें आनन्द मानने की जो बात ऋषि कहता है, उसका अभिप्राय सांसारिक भोग्य पदार्थों में आसक्ति हो जाना या उनमें रम जाना है। चिन्तन की गहराई में डुबकी लगाने पर अज्ञान से दुःख में सुख मानने की भ्रान्ति अथमत होने लगती है, परमात्मता अनुभूत होने लगती है। पर पदार्थ निरपेक्ष परमात्म-भाव की गरिमा उसे अभिभूत कर लेती है। परमात्म-भाव की उज्ज्वलता, दिव्यता, सतत सुखमयता, चिन्मयता जीवात्मा में एक सजग प्रेरणा उत्पन्न करती है। अविद्या का पर्दा हटने लगता है, शोक मिटने लगता है, जीवात्मा की यात्रा परमात्म-भाव की ओर और तीव्र होने लगती है।

इन्द्रियों की बुर्ज्यता : आत्म-शक्ति की अवतारणा

आसक्ति-वर्जन, इन्द्रिय-संयम आदि के सन्दर्भ में ऊपर विस्तार से चर्चा की गई है। पर, जीवन में वैसा सष पाना कोई सरल कार्य नहीं है। यही कारण है, गीताकार ने कहा है—

“यत्ततो ह्यपि कौन्तेय ! पुरुषस्य विपश्चित्तः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि, हरन्ति प्रसभं मनः॥
इन्द्रियाणां हि चरतां, यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां, वायुर्नाविवाम्भसि ॥



नास्ति बुद्धिरयुक्तस्थ, न चायुक्तस्य भावना ।

न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥^{२२}

अर्जुन ! इन्द्रियों को जीत पाना वास्तव में बड़ा कठिन है। इन्द्रियाँ प्रमथनशील हैं—इतनी वेगशील हैं कि मानव के विचारों को मथ डालती हैं, विचलित कर देती हैं। साधारण मनुष्य की तो बात ही क्या, वे ज्ञानी का भी मन हर लेती हैं।

मन स्वच्छन्दतापूर्वक विचरने वाली इन्द्रियों का अनुगमन करने लगे तो और अधिक संकट है। जिस प्रकार वायु जल में बहती (तैरती) नौका को डुबा देता है, उसी प्रकार वह इन्द्रियानुगत मन प्रज्ञा का हरण कर लेता है।

ऐसी स्थिति में जो, गीताकार के अनुसार अयुक्त—योगविरहित, अजागरूक या अनवस्थित दशा है, बुद्धि और भावना का अपगम हो जाता है। तब फिर कहाँ शान्ति और कहाँ सुख ?

इन्द्रियाँ और मन को वशगत करने के लिए आत्म-शक्ति को जमाना होता है। आत्मा अपरिसीम, विराट शक्ति का संस्थान है पर जब तक शक्ति सुषुप्त रहती है, तब तक उससे कुछ निष्पन्न नहीं होता।

मुण्डकोपनिषद् का ऋषि बड़े प्रेरक शब्दों में कहता है—

नायमात्मा बलहीनेन लभ्यो, न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात् ।

एतैरूपायैर्यतते यस्तु विद्वांस्तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम ॥

आत्मा को—आत्मा के शुद्ध एवं निर्मल भाव को बलहीन पुरुष नहीं पा सकता, प्रमादी नहीं पा सकता, अयथावत् तप करने वाला भी नहीं पा सकता। जो ज्ञानी यथावत् रूप में ज्ञानपूर्वक तप करता है, उसकी आत्मा ब्रह्म-साख्य पा लेती है।

शक्ति-जागरण के सन्दर्भ में स्वामी विवेकानन्द ने लन्दन में अपने एक भाषण में कहा था—

“अपने में वह साहस लाओ, जो सत्य को जान सके, जो जीवन में निहित सत्य को दिखा सके, जो मृत्यु से न डरे, प्रत्युत उसका स्वागत करे, जो मनुष्य को यह ज्ञान करा दे कि वह आत्मा है और सारे जगत् में ऐसी कोई भी वस्तु नहीं, जो उसका विनाश कर सके। तब तुम मुक्त हो जाओगे। तब तुम अपनी प्रकृत आत्मा को जान लोगे। तुम आत्मा हो, शुद्ध स्वरूप, अनन्त और पूर्ण हो। जगत् की महाशक्ति तुम्हारे भीतर है। हे सखे ! तुम क्यों रोते हो ? जन्म-मरण तुम्हारा भी नहीं है और मेरा भी नहीं है। क्यों रोते हो ? तुम्हें रोग-शोक कुछ भी नहीं है।”^{२३}

उत्तराध्ययन सूत्र का प्रसंग है, जहाँ साधक का आत्म-बल जगते हुए प्रमाद से ऊपर उठने की प्रेरणा देते हुए कहा गया है—

अवले जह भारवाहए, मा मग्गे विसमेऽवगाहिया ।

पच्छा पच्छाणुतावए, समयं गोयम मा पमायए ॥

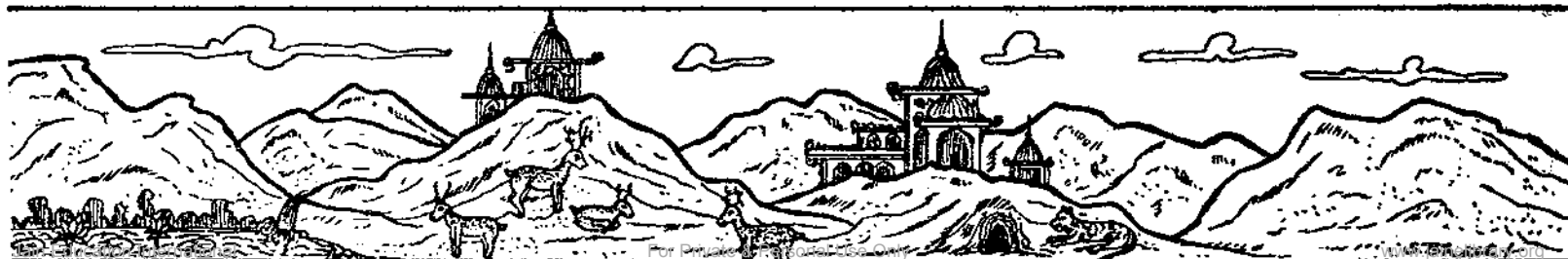
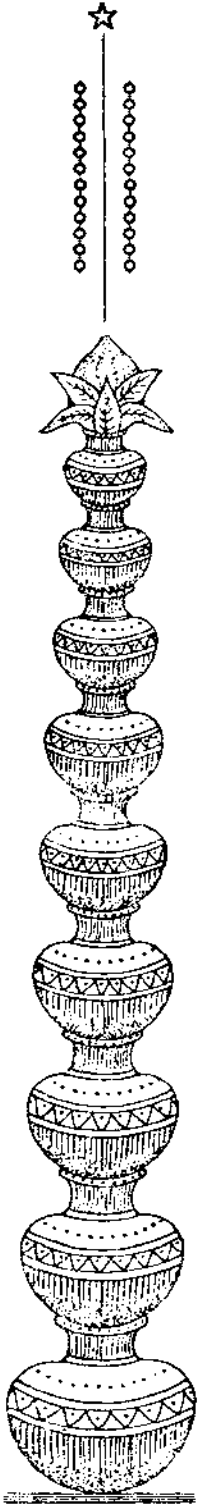
जैसे निर्बल भारवाहक विषम—ऊबड़-खाबड़ मार्ग में पड़कर फिर पछताता है, तुम्हारे साथ कहीं वैसा न हो। सबल भारवाहक के लिए वैसा नहीं होता। क्योंकि अपने बल या शक्ति से सारी विषमताओं को वह पार कर सकता है। पर, दुर्बल वैसा नहीं कर सकता। दुर्बलता—आत्म-दौर्बल्य निश्चय ही एक अभिशाप है। उसके कारण मानव अनेकानेक विषमताओं में प्रस्त होता जाता है, जीवन का प्रकाश धूमिल हो जाता है। इसीलिए सूत्रकार ने इस भाषा के अन्तिम पद में कहा है कि साधक ! तू क्षणभर भी प्रमाद न कर।

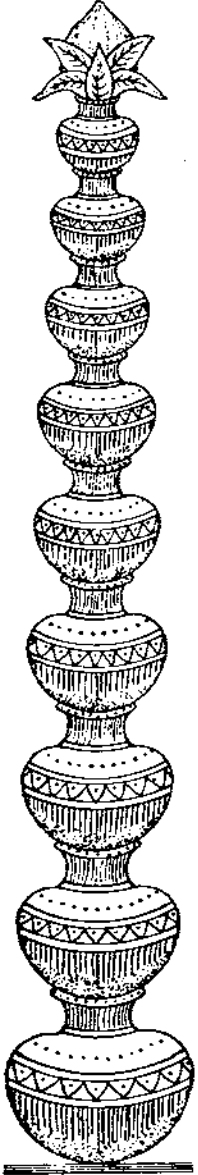
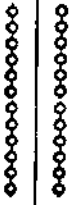
साधक में आत्म-बल जागे, अपने अन्तरतम में सन्निहित शक्ति-पुञ्ज से वह अनुप्राणित हो, इस अभिप्रेत से जैन आगमों में अनेक स्थानों पर बड़ा महत्त्वपूर्ण उद्बोधन है।

उत्तराध्ययन सूत्र में साधक को सम्बोधित कर कहा गया है—

“जो सहस्सं सहस्साणं, संगामे दुज्जए जिए ।

एगं जिणेज्ज अप्पाणं, एस से परमो जओ ॥





अप्पाणमेव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेण बज्झओ ।
अप्पाणमेवमप्पाणं, जइत्ता सुहमेहे ॥^{२३}
अप्पाचेव दमेयब्बो, अप्पा हु खलु दुट्ठो ।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य ॥^{२४}

दुर्जय संग्राम में सहस्रों योद्धाओं को जीत लेना संभव है पर, उससे भी बड़ी बात यह है कि साधक अपनी आत्मा को जीते । यह जय परम जय है । सहस्रों व्यक्तियों को शस्त्र-बल से जीतने वाले अनेक लोग मिल सकते हैं पर आत्म-विजेता आत्मबल के धनी कोई विरले ही होते हैं ।

साधक ! तुम अपने आपसे जूझो, बाहर से जूझने पर क्या बनेगा । आत्मा द्वारा आत्मा को जीत लोगे तो वास्तव में सुखी बन पाओगे ।

तुम आत्मा का—अपने आपका दमन करो । अपने आपका दमन करना ही कठिन है । जो आत्म-दमन साध लेता है, वह इस लोक में और पर-लोक में सुखी होता है ।

आचारांग सूत्र में भी इसी प्रकार के शब्दों में साधक को प्रेरित किया गया है—

“इमेण चेव जुज्झाहि किं ते जुज्झेण बज्झओ ।

जुद्धारिह खलु दुल्लभं ॥”^{२५}

अर्थात् मुमुक्षो ! इसी आत्मा से तुम युद्ध करो, बाहरी युद्ध से तुम्हारा क्या सधेगा । यह आत्मा ही युद्ध योग्य है । क्योंकि इसे वशगत करना बहुत कठिन है ।

सूत्रकृतांग सूत्र में यह सन्देश निम्नांकित शब्दों में मुखरित हुआ है—

“संबुज्झह किं न बुज्झह संबोही खलु पेच्च दुल्लहा ।

नो ह्वणमन्ति राइयो, नो सुलभं पुणरावि जीवियं ॥”^{२७}

साधक ! तुम जरा समझो, क्यों नहीं समझ रहे हो ! यदि यह मनुष्य जीवन गंवा दिया तो फिर सम्बोधि-सद्बोध—सम्यक्ज्ञान प्राप्त करना ही कठिन होगा । स्मरण रखो, जो रातें बीत जाती हैं, वे लौटकर नहीं आतीं । यह मानव-भव बार-बार नहीं मिलता ।

अपनी शक्ति को जगाने के लिए यह आवश्यक है कि व्यक्ति सबसे पहले यह अनुभव करे कि वह वस्तुतः दुर्बल नहीं है । जैसा कि स्वामी विवेकानन्द ने कहा है, मानव में असीम शक्तियों का निधान भरा है । गलती यही है कि वह उन्हें भूले रहता है । शक्ति-बोध के साथ-साथ करणीयता-बोध भी आवश्यक है । ऊपर उद्धृत गाथाओं में आत्म-जागरण के इन दोनों पक्षों को जैन-सत्त्वदर्शियों ने जिस सशक्त व ओजपूर्ण शब्दावली में उपस्थित किया है, वह निःसन्देह मानव के भावों में उत्साह और स्फूर्ति का संचार करते हैं ।

आनन्द की स्वर्णिम बेला

कामना, लालसा, लिप्सा और आसक्ति के परिवर्जन से जीवन में सहज भाव का उद्भव होता है । तब साधक जिस पर-पदार्थ-निरपेक्ष, आत्म-प्रसूत असीम सुख का अनुभव करता है, न उसके लिए कोई उपमान है और न शब्द-व्याख्येयता की सीमा में ही वह आता है । तब साधक इतना आत्मभिन्न हो जाता है कि जगत् के विभ्रामक जीवन से स्वयं उसमें पराङ्मुखता आ जाती है । तभी तो गीताकार ने कहा है—

या निशा सर्वभूतानां, तस्यां जागर्ति संयमी ।

यस्यां जाग्रति भूतानि, सा निशा पश्यतो मुनेः ॥^{२८}

सब प्राणियों के लिए जो रात है, संयमानुरत साधक उसमें जागता है । अर्थात् जिस आत्म-संस्मृति, स्वभाव-रमण रूप कार्य में संसार सुषुप्त है—अक्रियाशील है, अप्रबुद्ध है, साधक उसमें सतत उद्बुद्ध एवं चरणशील-गतिशील है । जिस अनाध्यात्मिक एषणा व आसक्तिमय कार्यकलाप में सारा जगत् जागृत है, वहाँ वह सुषुप्त है ।



जब साधक कामनाओं को पी जाता है, अपने में लीन कर लेता है तो पर्वत की तरह स्थिर-अडिग हो जाता है, समुद्र की तरह गम्भीर और विराट् हो जाता है। गीता में उसका बड़ा सुन्दर शब्द चित्र है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं, समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् ।
तद्वत् कामा य प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी ॥२४

नदियाँ बहती-बहती समुद्र में पहुँचती जाती हैं, उसकी विराट्ता में विलीन होती जाती हैं। फिर उनका कोई अस्तित्व रह नहीं जाता उसी तरह जिस साधक की कामनाओं की सरिताएँ विलीन हो जाती हैं उसके लिए शांति, का निर्मल निर्झर प्रस्फुटित हो जाता है।

ऐसी दशा, जहाँ जीवन में शान्त भाव परिव्याप्त होता है, एक निराज्ञी ही स्थिति होती है। अध्यात्मयोगी श्रीमद् राजचन्द्र ने कहा है—

देह छूतां जेहनी दशा, बरते देहातीत ।
ते ज्ञानीनां चरणमां, हो वंदन अगणीत ॥

श्रीमद् राजचन्द्र के कथन का आशय यह है कि देह विद्यमान रहता है, रहेगा ही—जब तक संयोग है। ज्ञानी देह में देहभाव मानता है, आत्म-भाव नहीं। इसलिए उसे देहातीत कहा जाता है। वैसा ज्ञानी सबके लिए बंध और नमस्व है। पहले अनेक प्रसंगों में यह चित्रित हुआ है कि पदार्थ का अस्तित्व एक बात है और राग भाव से ग्रहण, दूसरी बात। राग भाव से जब पदार्थ ग्रहीत होता है, तब ग्रहीता पर पदार्थ-भाव हावी हो जाता है, उसका अपना स्व-भाव विस्मृत या विमुक्त हो जाता है। थोड़े से शब्दों में श्रीमद् राजचन्द्र ने बड़े मर्म की बात कही है।

गीताकार ने ऐसी दशा को ब्राह्मी दशा के नाम से व्याख्यात किया है। वहाँ लिखा है—

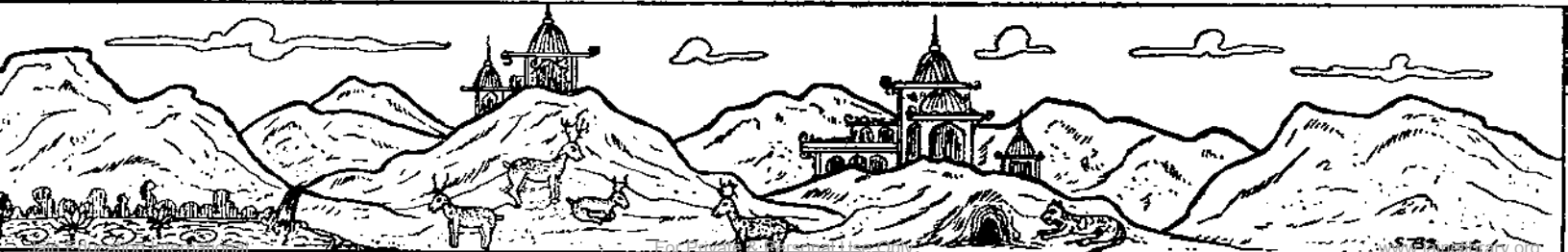
“एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ ! नैनां प्राप्य विमुह्यति ।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति ॥” ३०

स्थितप्रज्ञ दर्शन का यह अन्तिम श्लोक है। प्रज्ञा की स्थिरता के सम्बन्ध में सब कुछ कह चुकने के अनन्तर योगिराज कृष्ण कहते हैं कि अर्जुन ! मैंने प्रज्ञा के स्थिरीकरण, अनासक्तीकरण, स्वायत्तीकरण के सम्बन्ध में जो व्याख्यात किया है, उसकी परिणति ब्राह्मी स्थिति में होती है। ब्रह्म शब्द परमात्मा या विराट्ता का वाचक है। अनासक्तता आने से वैयक्तिक संकीर्णता टिक नहीं पाती वहाँ व्यष्टि और समष्टि में तादात्म्य हो जाता है। वेदान्त की भाषा में जीवात्मा मायिक आवरणों को ज्ञान द्वारा अपगत कर ब्रह्म की विराट् सत्ता में इस प्रकार एकीभूत हो जाता है कि फिर भिन्नता या भेद जैसी स्थिति रहती ही नहीं। जैन-दर्शन इस राग-वर्जित, आसक्ति शून्य दशा का आत्मा के परम शुद्ध स्वरूप के अनावृत या उद्घाटित होने के रूप में आख्यान करता है। दूसरे शब्दों में इसे यों समझा जा सकता है कि आत्मा की जान, दर्शन, चारित्रात्मक विराट्ता, जो कर्मों के आवरण से ढकी रहती है, राग का अपगमन हो जाने से अनावृत हो जाती है। वहाँ न विकार रहता है और न कोई दोष। ऐहिक सुख-दुःखात्मकता वैकारिक है। इस दशा में पहुँची हुई आत्मा वैकारिकता से सर्वथा ऊँची उठ जाती है। यह स्थिति भीता की ब्राह्मी स्थिति से तुलनीय है। गीताकार कहते हैं कि ऐसी स्थिति प्राप्त हो जाय तो फिर साधक विमोह में नहीं जाता। क्योंकि विमूढता के हेतुभूत संस्कार वहाँ विद्यमान नहीं रहते।

स्वरूपावबोध के बाद लौकिकता का परिवेश स्वयं उच्छिन्न हो जाता है। केवल अपने शुद्ध स्वरूप की अनुभूति रहती है। आचार्य शंकर के शब्दों में वह इस प्रकार है—

न मृत्युर्न शंका न मे जातिभेदः,
पिता नैव मे नैव माता न जन्म ।
न बन्धुर्न मित्रं गुरुर्नैव शिष्य-
श्चिदानन्दरूपः शिवोऽहं शिवोऽहम् ॥

जब अपने आपका बोध हो जाता है, तब जन्म व मृत्यु जिनका सम्बन्ध केवल देह से है, माता-पिता, भाई,



मित्र, गुरु, शिष्य आदि जिनके सम्बन्ध बाह्य एवं औपचारिक हैं, स्वयं विस्मृत हो जाते हैं। मय और शंका का फिर स्थान ही कहाँ? आत्मा का चिदानन्दात्मक, शिवात्मक रूप ही समक्ष रहता है, चिन्तन में, अनुभूति में, परिणति में।

उत्तराध्ययन सूत्र में ऐसे वीतराग-स्वरूपगत साधक को कृतकृत्य कहा है—

स वीतरागो कयसव्वकिच्चो खवेइ नाणावरणं खणेण ।

तहेव जं दंसणमादरेइ जं चंतरायं पकरेइ कम्म ॥

वह वीतराग सर्वथा कृतकृत्य हो जाता है—जो करने योग्य है, वह सब कर चुका, जो साधने योग्य है, वह साध चुका। शुद्ध आत्मा के लिए जागतिक दृष्ट्या कुछ करणीय रहता ही नहीं। अपने अव्याबाध-आनन्दात्मक स्वरूप में परिणति, चिन्मयानुभूति ही उसका करणीय होता है, जो किया नहीं जाता, सहजतया होता रहता है। यह सहजावृत्ति ही साधना की पराकाष्ठा है।

सूत्रकार जैनदर्शन की भाषा में आगे इसका विस्तार इस प्रकार करते हैं—यों वीतराग-भाव को प्राप्त साधक अपने ज्ञानावरणीय (ज्ञान को आवृत करने वाले) कर्म का क्षणभर में क्षय कर देता है। दर्शन को आवृत करने वाले दर्शनावरणीय कर्म को भी वह क्षीण कर डालता है, आत्म-सुख के परिपन्थी अन्तराय कर्म को भी मिटा देता है।

उत्तराध्ययनकार एक दूसरे प्रकार से इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—

“विरज्जमाणस्स य इदियत्था,

सद्दाहया तावइयप्पगारा ।

न तस्स सव्वे वि मणुन्नयं वा,

निव्वत्तयमेती अमणुन्नयं वा ॥”^{३२}

जब राग का अस्तित्व नहीं रहता अर्थात् वीतरागता प्राप्त हो जाती है, तब शब्द आदि विषय उस (वीतरागदशा प्राप्त साधक) को मनोज्ञ—सुन्दर, अमनोज्ञ—असुन्दर नहीं लगते।

इस प्रकार राग-जनित, एषणा-प्रसूत मन-स्थिति से ऊपर उठते जाते साधक में परमात्म-भाव की अनुभूति होने लगती है तो उसका आत्म-परिणमन एक नया ही मोड़ लेने लगता है। आचार्य पूज्यपाद ने इष्टोपदेश में कहा है—

“यः परात्मा स एवाहं योऽहं स परमस्ततः ।

अहमेव मयोपास्यो, नान्यः कश्चिदिति स्थितिः ॥”

अर्थात् जो परमात्मा है, वही मैं हूँ। जो मैं हूँ, वही परमात्मा है। मैं ही मेरे द्वारा उपास्य हूँ, दूसरा कोई नहीं। आचार्य पूज्यपाद की शब्दावली में वीतराग और स्थितप्रज्ञ—दोनों के प्रकर्ष का सुन्दर सम्बन्ध स्वयं सध गया है। स्थितप्रज्ञ की भूमिका जहाँ से प्रारम्भ होती है, वीतराग-पथ पर आरूढ़ साधक लगभग वही से अपनी मंजिल की ओर बढ़ना शुरू करता है। मंजिल तक पहुँचने के पूर्व जो वैचारिक उद्वेग, परिष्करण, सम्मार्जन की स्थितियाँ हैं, उनमें भी शब्द-भेद, शैली-भेद तथा निरूपण-भेद के अतिरिक्त तत्त्व-भेद की स्थिति लगभग नहीं आती।

खूब गहराई तथा सूक्ष्मता में जाने पर ऐसा प्रतिभाषित होता है कि आत्मजनीन या परमात्मजनीन चिन्तन की स्रोतस्विनियाँ यहाँ जो बहीं, उनमें भीतर ही भीतर परस्पर सहस्र वैचारिक स्फुरणा है, जो मित्रता में अभिन्नता तथा अनेकता में एकता की अवतारणा करती है। आज यह वांछनीय है कि विभिन्न परम्पराओं के शास्त्रों का इसी दृष्टि से गम्भीर, तुलनात्मक अध्ययन किया जाय। विशेषतः जैन विचारधारा तथा औपनिषदिक विचार-प्रवाह गीता जिसका नवनीत है, इस अपेक्षा से विशेषरूप से अध्येतव्य हैं।

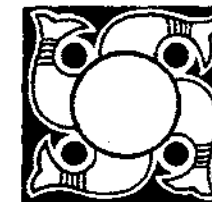
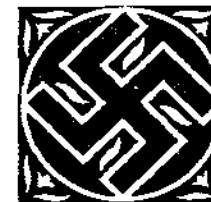
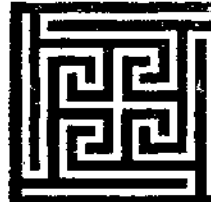
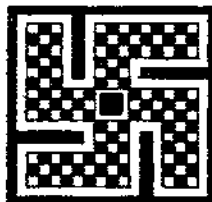
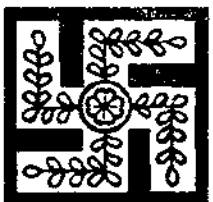
१ सर्वोपनिषदो गावो, दोग्धा गोपालनन्दनः । पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतं महत् ॥

—गीतामाहात्म्य ६

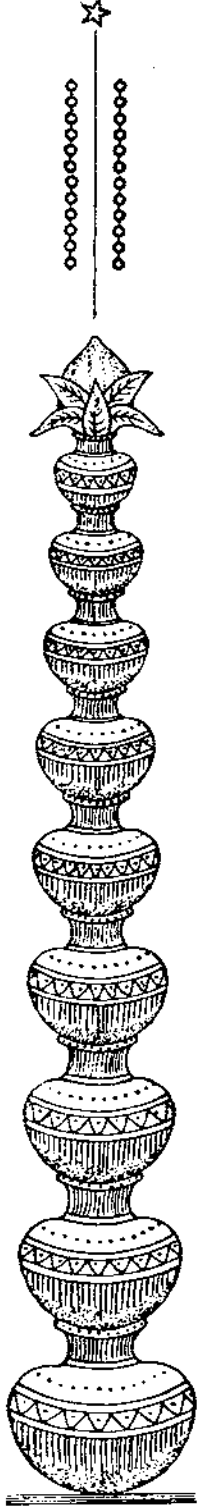
२ गीता अध्याय २, श्लोक ६२, ६३ ।

३ गीता अध्याय २, श्लोक ६४ ।

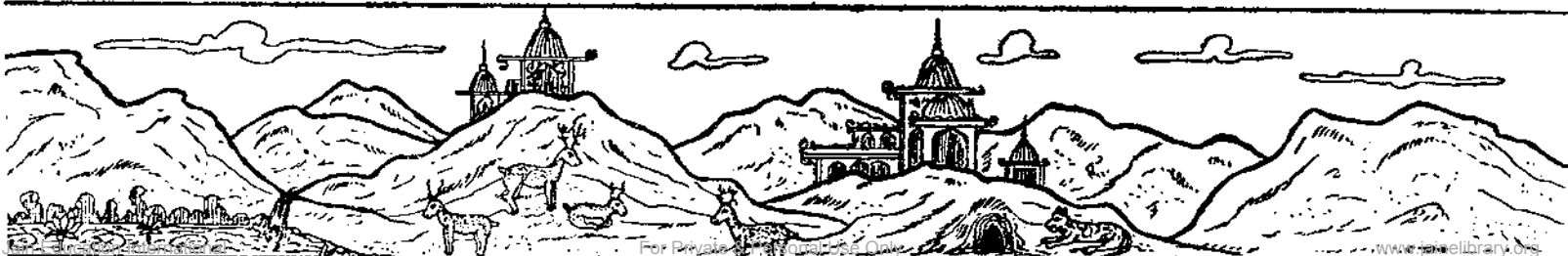
४ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १०, गाथा २८ ।

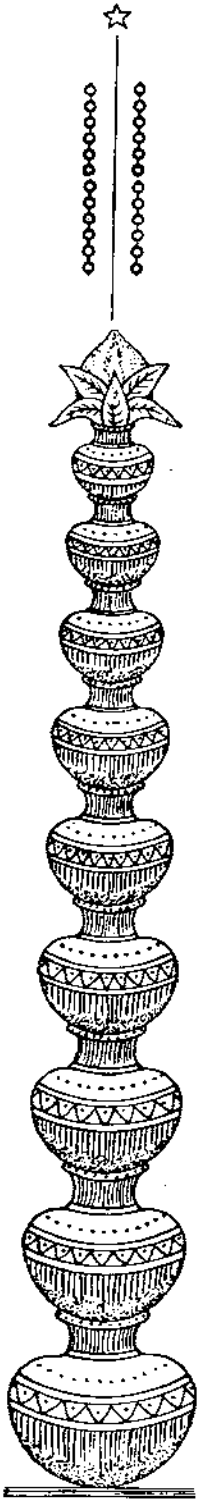


- ५ दशवैकालिक सूत्र अध्ययन २, गाथा १ ।
 ६ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २३, गाथा ४३ ।
 ७ दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ८, गाथा ३७, ३६ ।
 ८ गीता अध्याय २, श्लोक ५४ ।
 ९ दशवैकालिक सूत्र अध्ययन ४, गाथा ७ ।
 १० गीता अध्याय २, श्लोक ५५-५७ ।
 ११ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा १००, ४७, १०१ ।
 १२ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १६, गाथा ८६-९२ ।
 १३ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा ११० ।
 १४ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन २३, गाथा ४१, ४५, ४६, ४८ ।
 १५ सूत्रकृतांग सूत्र श्रुत स्कन्ध १, अध्ययन ६ गाथा ३२ ।
 १६ प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १, पाठ १६ ।
 १७ अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
 स्वयं धीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
 दन्द्रम्यमाणाः परियन्ति मूढा
 अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः ॥
 —कठोपनिषद् अध्याय १, वल्ली २, श्लोक ५ ।
 अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः
 स्वयंधीराः पण्डितम्मन्यमानाः ।
 जड्घन्यमानाः परियन्ति मूढा
 अन्धेनेव नीयमाना यथान्धाः ॥
 —मुण्डकोपनिषद् मुण्डक १, खण्ड २, श्लोक ८ ।
 १८ कठोपनिषद् अध्याय २, वल्ली ३ श्लोक १४ ।
 १९ आचारांगसूत्र अध्ययन २३, गाथा १-५ ।
 २० उत्तराध्ययनसूत्र अध्ययन २५, गाथा ४२, ४३ ।
 २१ (क) मुण्डकोपनिषद् मुण्डक ३, खण्ड १, श्लोक १, २ ।
 (ख) श्वेताश्वतरोपनिषद् अध्याय ४, श्लोक ६, ७ ।
 २२ गीता अध्याय २, श्लोक ६०, ६७, ६६ ।
 २३ ज्ञानयोग पृष्ठ ६७ ।
 २४ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ६, गाथा ३४, ३५ ।
 २५ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन १, गाथा १५ ।
 २६ आचारांग सूत्र अध्ययन ५ उद्देशक ३ गाथा १५३ ।
 २७ सूत्रकृतांग सूत्र श्रुतस्कन्ध १, अध्ययन २, उद्देशक १, गाथा १ ।
 २८ गीता अध्याय २, श्लोक ६६ ।
 २९ गीता अध्याय २, श्लोक ७० ।
 ३० गीता अध्याय २, श्लोक ७२ ।
 ३१ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा १०८ ।
 ३२ उत्तराध्ययन सूत्र अध्ययन ३२, गाथा १०६ ।



☆☆





चेतनावादी जैनदर्शन ने चेतन (जीव) के विषय में जितना गहरा चिन्तन किया है, अचेतन (जड़-पुद्गल) के विषय में भी उतनी ही गम्भीरता से अन्वेषण किया है।

पुद्गल (Matter) के सम्बन्ध में जैन तत्त्वविद्या का यह चिन्तन पाठकों को व्यापक जानकारी देगा।

□ आचार्य श्रीआनन्द ऋषि
[धम्मण संघ के प्रभावक आचार्य]

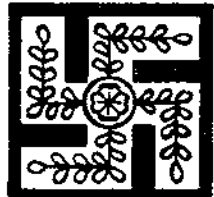
जैनदर्शन में अजीव द्रव्य

जैनदर्शन यथार्थवादी और द्वैतवादी है। स्पष्ट है कि वह चैतन्य मात्र को ही एक मात्र तत्त्व के रूप में स्वीकार न करके अजीव द्रव्य को भी स्वीकार करता है। अजीव वह द्रव्य है जो तीनों प्रकार की चेतनाओं-चेतना (Consciousness), अर्ध-चेतना (Sub-Consciousness) और अलौकिक चेतना (Super-Consciousness) से रहित है। अर्थात् जिसमें चेतनागुण का पूर्ण अभाव है। जिसे सुख-दुःख की अनुभूति नहीं होती है वह अजीव द्रव्य है।¹ पर यह भावात्मक तत्त्व है, अभावात्मक नहीं। इसके चार भेद हैं—अजीवकाया; धर्माधर्माकाशपुद्गलाः।²

धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय आकाशास्तिकाय पुद्गलास्तिकाय³ ये चार अजीवकाय हैं। इन्हें अस्तिकाय कहने का तात्पर्य है कि ये विस्तार युक्त हैं अर्थात् ये तत्त्व सिर्फ एक प्रदेश रूप या अवयव रूप नहीं हैं किन्तु प्रदेशों के समूह रूप हैं। यद्यपि पुद्गल मूलतः एक प्रदेश रूप है लेकिन उसके प्रत्येक परमाणु में प्रचय रूप होने की शक्ति है। काल की गणना इन अस्तिकायों में नहीं की गयी है। क्योंकि कुछ जैनाचार्य उसको स्वतन्त्र द्रव्य के रूप में नहीं स्वीकार करते हैं और जो उसे द्रव्य मानते हैं। वे भी उसे प्रदेशात्मक ही मानते हैं। प्रदेश प्रचय रूप नहीं।

आकाश और पुद्गल ये दो तत्त्व न्याय सांख्य आदि दर्शनों में माने गये हैं परन्तु धर्मास्तिकाय व अधर्मास्तिकाय जैन-दर्शन की देन है। इनके अस्तित्व की पुष्टि विज्ञान से भी होती है। विज्ञान तेजोवाही ईथर, क्षेत्र (Field) और आकाश (Space) इन तीनों को मानता है। उसकी दृष्टि में तेजोवाही ईथर सम्पूर्ण जगत में व्याप्त है तथा विद्युत चुम्बकीय तरंगों की गति का माध्यम है। प्रो० मैक्सवान ने लिखा है कि ईथर सामान्य पार्थिव वस्तुओं से भिन्न होना चाहिए। वैज्ञानिक सूर्य, चन्द्र, ग्रह, नक्षत्र आदि की स्थिरता का कारण गुरुत्वाकर्षण को मानते हैं। संभव है वे थामे जाकर इसकी अपीद्गलिकता को स्वीकार कर लें।

अब हम साधर्म्य व वैधर्म्य के दृष्टिकोण से इन द्रव्यों पर विचार करेंगे। अपने सामान्य तथा विशेष स्वरूप से च्युत न होना नित्यत्व है और अपने से भिन्न तत्त्व के स्वरूप को प्राप्त न करना अवस्थितत्व है। ये दोनों धर्म सभी द्रव्यों में समान हैं। इससे स्पष्ट है कि जगत अनादि निधन है तथा इसके मूल तत्त्वों की संख्या एकसी है। पुद्गल को छोड़कर अन्य कोई द्रव्य मूल नहीं है क्योंकि वे द्रव्य इन्द्रियों से ग्राह्य नहीं हैं, अतएव अरूपित्व पुद्गल को छोड़कर शेष चार द्रव्यों का साधर्म्य है। धर्म, अधर्म, आकाश ये द्रव्य संख्या में एक व्यक्ति हैं और ये निष्क्रिय भी हैं अतः व्यक्तित्व और निष्क्रियत्व ये दोनों उक्त द्रव्यों का साधर्म्य तथा जीव और पुद्गल का वैधर्म्य है। यहाँ निष्क्रियत्व से तात्पर्य गतिक्रिया से है न कि परिणमन से, क्योंकि प्रत्येक द्रव्य परिणमनशील है। आकाश के जितने स्थान को एक अविभागी पुद्गल-परमाणु रोकता है, वह प्रदेश है। परमाणु जबकि अपने स्कन्ध से अलग हो सकता है पर प्रदेश नहीं। प्रदेश की अपने स्कन्ध से विमुक्त होने की कल्पना सिर्फ बुद्धि से की जाती है। धर्म, अधर्म, आकाश एक ऐसे अखण्ड स्कन्ध रूप हैं जिनके असंख्यात अविभागी सूक्ष्म अंश सिर्फ बुद्धि से कल्पित किये जा सकते हैं। इनमें से धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय प्रदेशी हैं। आकाश अन्य द्रव्यों से बड़ा होने के कारण अनन्त प्रदेशी है। इस प्रकार अखण्डता पुद्गल को छोड़कर बाकी



तीन द्रव्यों का साधर्म्य है। निश्चयनय की दृष्टि से यों तो सभी द्रव्य स्वप्रतिष्ठित हैं पर व्यवहारनय की दृष्टि से आकाश इतर द्रव्यों का आधार है। धर्मास्तिकाय और अधर्मास्तिकाय आदि द्रव्यों के सम्बन्ध के कारण आकाश के दो भेद हो जाते हैं—(१) लोकाकाश, (२) अलोकाकाश। आइन्स्टाइन ने कहा है कि आकाश की सीमितता उसमें रहने वाले Matter के कारण है अन्यथा आकाश अनन्त है। इसी तरह जैनदर्शन की भी मान्यता है कि जहाँ तक धर्म, अधर्म आकाश से सम्बन्धित हैं वहाँ तक लोकाकाश है, उसके परे अलोकाकाश है जो कि अनन्त है। धर्म, अधर्म और आकाश ये तीनों द्रव्य अमूर्त होने के कारण इन्द्रियगम्य न होने के कारण लौकिक प्रत्यक्ष के द्वारा इनकी सिद्धि नहीं हो सकती। आगम प्रमाण से और उनके कार्यों को देखकर किये गये अनुमान प्रमाण से उनकी सिद्धि की जाती है।

जीव और पुद्गल की गति एवं स्थिति के उपादान कारण तो वे स्वयं हैं लेकिन निमित्त कारण, जो कार्य की उत्पत्ति में अवश्य अपेक्षित है एवं जो उपादान कारण से भिन्न है, धर्म-अधर्म द्रव्य हैं। इस प्रकार इन द्रव्यों की गति में निमित्त कारण धर्मास्तिकाय है तो अधर्मास्तिकाय उनकी स्थिति में निमित्त कारण है। ये दोनों उदासीन हेतु हैं—जैसे मछली की गति में जल और श्रान्त पथिक को विश्राम के लिए वृक्ष^३। इन सब द्रव्यों को आश्रय देने वाला आकाश है। आधुनिक विज्ञान में स्थिति, गति और गति निरोध को Space के कार्यों के रूप में माना गया है लेकिन जैन दर्शन में इन तीन द्रव्यों के ये तीन स्वतन्त्र कार्य हैं। Locality की दृष्टि से ये तीनों द्रव्य समान हैं पर कार्यों की दृष्टि से उनमें भेद है।

अब हम काल द्रव्य को भी देख लें। “वर्तनापरिणामक्रियापरत्वावरत्वे च कालस्य”^४ वर्तना, परिणाम, क्रिया, परत्वं, अपरत्वं काल के ही कारण संभव है। फ्रांस के प्रसिद्ध वैज्ञानिक बर्गसत् ने सिद्ध किया है कि काल एक Dynamic reality है। काल भी उपर्युक्त द्रव्य की तरह अनुमेय है। भिन्न-भिन्न क्षणों के वर्तमान रहना वर्तना है। परिणामः अर्थात् अवस्थाओं का परिवर्तन भी बिना काल के सम्भव नहीं है। कोई कच्चा आम समय पाकर पक जाता है। आम की दोनों विभिन्न अवस्थाएँ एक समय में एक साथ नहीं हो सकतीं। क्रिया व गति तब भी सम्भव होती है जब कोई वस्तु पूर्वापर क्रम से भिन्न अवस्थाओं को धारण करती है और यह बिना काल के सम्भव नहीं है। प्राचीन व नवीन, पूर्व और पाश्चात्य आदि व्यवहार भी काल के बिना सम्भव नहीं हो पाते हैं। काल के दो भेद हैं—(१) पारमार्थिक काल, (२) व्यावहारिक काल। इनमें से पारमार्थिक काल नित्य, निराकार, अनन्त है एवं इसे ही भिन्न-भिन्न उपाधियों से सीमित करने से या विभक्त करने से दण्ड, दिन, मास, वर्ष आदि समय के रूप बनते हैं जो कि व्यावहारिक काल हैं। व्यावहारिक काल का प्रारम्भ और अन्त होता है।

हव्यात्मक अखिल जगत् पुद्गलमय है।^५ तत्त्वार्थ-सूत्र के अनुसार इसकी परिभाषा है—“स्पर्शरसगन्धवर्ण-वन्तः पुद्गलाः” तथा सर्वदर्शनसंग्रह के अनुसार “पूरयन्ति गलन्ति च पुद्गलाः।” वैशेषिक के पृथ्वी, जल, अग्नि आदि तत्त्वों का अन्तर्भाव पुद्गल द्रव्य में हो जाता है। विज्ञान में Matter को ठोस, तरल एवं गैस (Gases) के रूप में माना गया है। इस दृष्टि से पृथ्वी, जल तथा वायु पुद्गल द्रव्य में अन्तर्भूत हो जाते हैं। विज्ञान जिसको Matter और न्याय-वैशेषिक जिसे भौतिक तत्त्व या सांख्य जिसे प्रकृति कहते हैं, जैनदर्शन में उसे पुद्गल की संज्ञा दी गई है। यद्यपि पुद्गल शब्द का प्रयोग बौद्ध-दर्शन में भी हुआ है लेकिन वह भिन्न अर्थ में—आलयविज्ञान, चेतना-संतति के अर्थ में हुआ है। वैशेषिक आदि दर्शन में पृथ्वी को चतुर्गुणयुक्त, जल को गन्धरहित अन्य तीन गुणों वाला, तेज को गन्ध और रस रहित अन्य दो गुणों वाला तथा वायु को मात्र स्पर्श युक्त माना गया है; परन्तु जैन-दर्शन में पृथ्वी, जल, तेजस्, वायु का भेद मौलिक और नित्य नहीं है अपितु व्युत्पन्न और गौण है, क्योंकि पृथ्वी जल आदि सभी के पुद्गलों में वर्ण, गन्ध, रस और स्पर्श ये चारों गुण पाये जाते हैं। विज्ञान भी मानता है कि वर्ण, गन्ध, रस व स्पर्श इन चतुष्कोटि में से किसी एक के प्राप्त होने पर शेष गुण भी उस वस्तु में व्यक्त या अव्यक्त रूप से रहते हैं। गन्धवहन की प्रक्रिया से सिद्ध हुआ है कि अग्नि में भी गन्ध पायी जाती है।

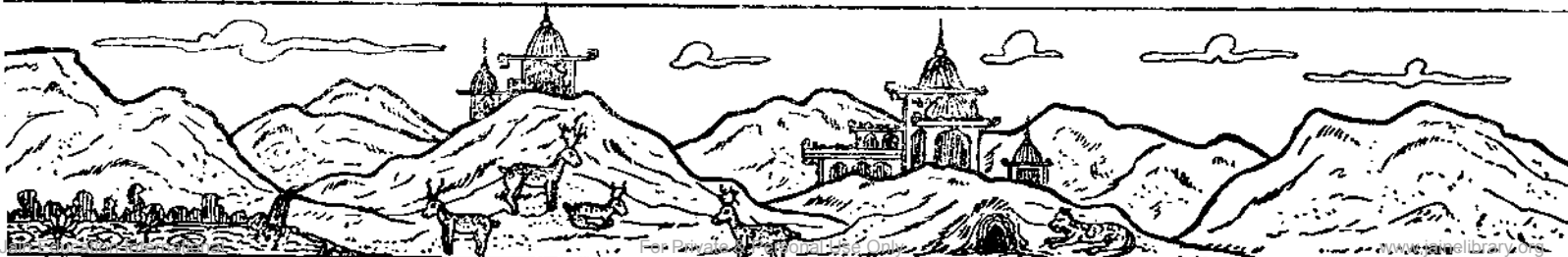
वर्ण के पाँच, गन्ध के दो, रस के पाँच तथा स्पर्श के आठ प्रकार हैं—

वर्ण—(१) काला, (२) नीला, (३) लाल, (४) पीला, (५) सफेद,

गन्ध—(१) सुगन्ध, (२) दुर्गन्ध,

रस—(१) तिक्त, (२) कडुआ, (३) कषैला, (४) खट्टा, (५) मीठा,

स्पर्श—(१) कठिन, (२) मृदु, (३) गुह्य, (४) लघु, (५) शीत, (६) उष्ण, (७) रूक्ष, (८) स्निग्ध।^६



यह सब बीस, पुद्गल के असाधारण गुण हैं जो तारतम्य एवं सम्मिश्रण के कारण संख्यात, असंख्यात और अनन्त रूप ग्रहण करते हैं। शब्द, छाया, आतप और उद्योत को भी पौद्गलिक माना गया है। शब्द आकाश का गुण नहीं है; पर भाषा वर्गणा के पुद्गलों का विशिष्ट परिणाम है। छाया प्रकाश के ऊपर आवरण आ जाने से पैदा होती है। विज्ञान में भी तमरूप एवं ऊर्जा का रूपान्तरण रूप छाया दो प्रकार की मानी गई है और प्रो० मैक्सवॉन के अनुसार ऊर्जा और Matter अनिवार्य रूप से एक ही है। अतः स्पष्ट है कि छाया भी पौद्गलिक ही है। तम (अन्धकार) जो दर्शन में बाधा डालने वाला एवं प्रकाश का विरोधी परिणाम है, को विज्ञान भी भावात्मक मानता है क्योंकि उसमें अदृश्य तापकिरणों का सद्भाव पाया जाता है।

पुद्गल अणुरूप और स्कन्धरूप होते हैं। पुद्गल के संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश होते हैं। साधारणतया कोई स्कन्ध बादर और कोई सूक्ष्म होते हैं। बादर स्कन्ध इन्द्रियगम्य और सूक्ष्म इन्द्रिय अगम्य होते हैं (अनुयोग द्वार)। इनको छः भागों में विभक्त किया गया है—

बादर-बादरस्कन्ध—जो टूटकर जुड़ न सके, जैसे लकड़ी, पत्थर।

बादर स्कन्ध—प्रवाही पुद्गल जो टूटकर जुड़ जाते हैं।

सूक्ष्म बादर—जो देखने में स्थूल किन्तु अकाश्य हो, जैसे—धूप।

बादर सूक्ष्म—सूक्ष्म होने पर भी इन्द्रियगम्य हो, जैसे—रस, गन्ध, स्पर्श।

सूक्ष्म—इन्द्रियों से अगोचर स्कन्ध तथा कर्मवर्गणा।

सूक्ष्म-सूक्ष्म—अत्यन्त सूक्ष्म स्कन्ध यथा कर्मवर्गणा से नीचे के द्रव्ययुक्त पर्यन्त पुद्गल।

पुद्गल का वह अंश जो एक प्रदेशी (एक प्रदेशात्मक) है। जिसका आदि, मध्य व अन्त नहीं पाया जाता, या दूसरी भाषा में कहें तो जो स्वयं अपना आदि, मध्य व अन्त है।^१ जो अविभाज्य सूक्ष्मतम है, परमाणु कहलाता है। यह सृष्टि का मूल तत्त्व है। उपनिषदों की तरह जैन-दर्शन भी भौतिक जगत के विश्लेषण को पृथ्वी इत्यादि तत्त्वों में पहुँचकर नहीं रोक देता बल्कि वह विश्लेषण की प्रक्रिया को और पीछे पहुँचा देता है। ग्रीक दार्शनिक डेमोक्रीट्स और ल्युपिकस के समान वह परमाणुओं में गुणात्मक भेद नहीं मानता। विज्ञान की मान्यता है कि मूलतत्त्व अणु (atom) अपने चारों ओर गतिशील इलेक्ट्रॉन, प्रोटॉन के संख्या भेद से चाँदी, ताँबा, लोहा, ऑक्सीजन आदि अवस्थाओं को धारण करता है। जैन-दर्शन का परमाणु भी विभिन्न संयोगों द्वारा भिन्न-भिन्न तत्त्वों को बनाता है। परमाणु स्वभावतः गतिशील है—इनमें स्निग्धता और रूक्षता होने के कारण परस्पर बन्ध होता है। इस तरह द्रव्ययुक्त, त्र्ययुक्त...स्कन्ध आदि बनते हैं। सृष्टि की प्रक्रिया में सृष्टिकर्ता ईश्वर की आवश्यकता नहीं है।

पुद्गल परमाणु जब तक अपनी सम्बन्ध शक्ति से शिथिल या घने रूप से परस्पर जुड़े रहते हैं तब वे स्कन्ध कहलाते हैं। स्कन्ध की उत्पत्ति संघात और भेद दोनों से होती है। उत्पत्ति प्रक्रिया के आधार पर स्कन्ध के भेद यों हैं—(१) स्कन्धजन्य स्कन्ध (२) परमाणुजन्य स्कन्ध (३) स्कन्धपरमाणुजन्य स्कन्ध।

सांख्य प्रकृति को अनित्य व पुरुष को नित्य, तो वेदान्त परम तत्त्व को एकात्मतः नित्य और बौद्ध यथार्थ को क्षणिक मानते हैं, पर जैन-दर्शन की दृष्टि में सभी द्रव्य स्पष्ट हैं कि पुद्गल भी द्रव्यार्थिक दृष्टि से नित्य व पर्यायाधिक दृष्टि से अनित्य हैं। चूंकि पुद्गल इस तरह अविनाशी ध्रुव है अतः शून्य में से सृष्टि का निर्माण संभव नहीं है, सिर्फ परिवर्तन होता, न तो पूर्णतः नयी उत्पत्ति संभव है और न पूर्णतः विनाश ही। वैज्ञानिक लैन्हाइजर के शब्दों में सृष्टि में कुछ भी निर्मय नहीं सिर्फ रूपान्तर होता है।

१ पञ्चास्तिकाय, २।१२४-१२५

३ व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र श० १३, उद्देश्य ४, सू. ४८१

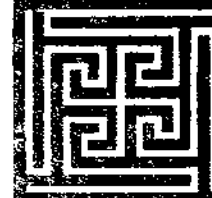
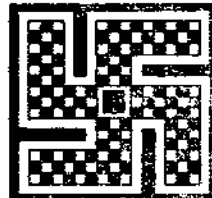
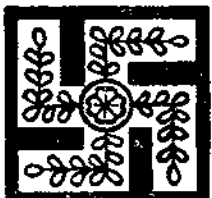
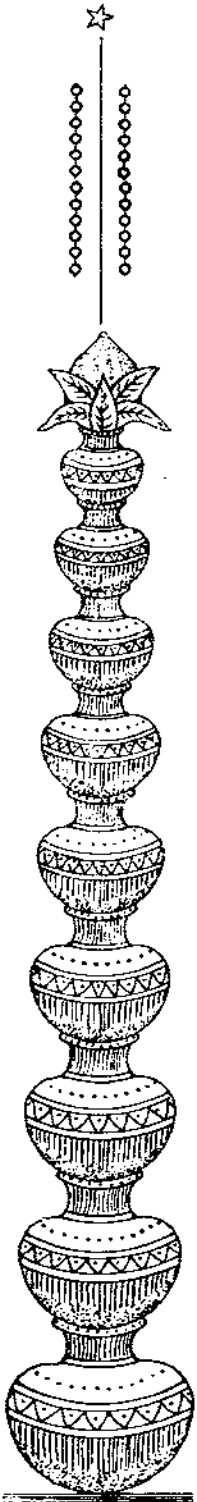
५ मगवती सूत्र श० १३, उद्देश्य ४, सूत्र ४८१

७ राजवार्तिक ५।७५

२ तत्त्वार्थसूत्र, अ० ४

४ तत्त्वार्थसूत्र अ० ५, सूत्र २३

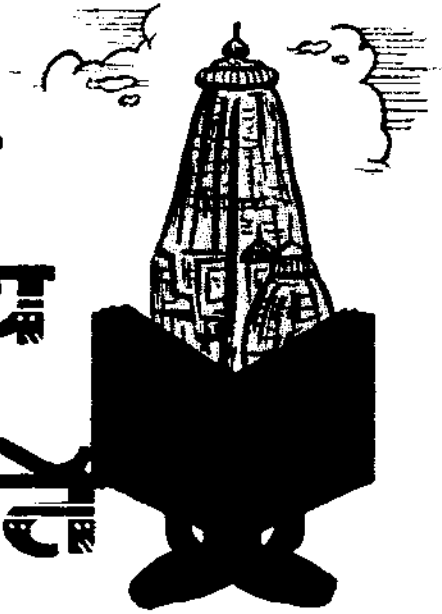
६ मगवती सूत्र श० १२ उद्देश्य ४, सूत्र ४५०



चतुर्थ खण्ड

जैनधर्म की साधनाविधि, अनुशासन, ध्यान, योग,
तप, आचर-धर्म, साहित्य सर्जक विशिष्ट विभूतियाँ
एवं जैन संस्कृति तथा पर्वों का पर्यवलोकन

जैन
साहित्य
संस्कृति
पर्यवलोकन



□ डा० मुक्ताप्रसाद पट्टेरिया

शक्ति का मूल स्रोत साधना है। साधना के द्वारा ही जीवन व मृत्यु पर नियन्त्रण प्राप्त किया जा सकता है। आत्म-विकास के चरम शिखर पर चढ़ने का मार्ग साधना ही है। प्रस्तुत में 'जैन साधना-पद्धति' का एक तुलनात्मक विश्लेषण पढ़िए।

जैन-साधना-पद्धति : एक विश्लेषण

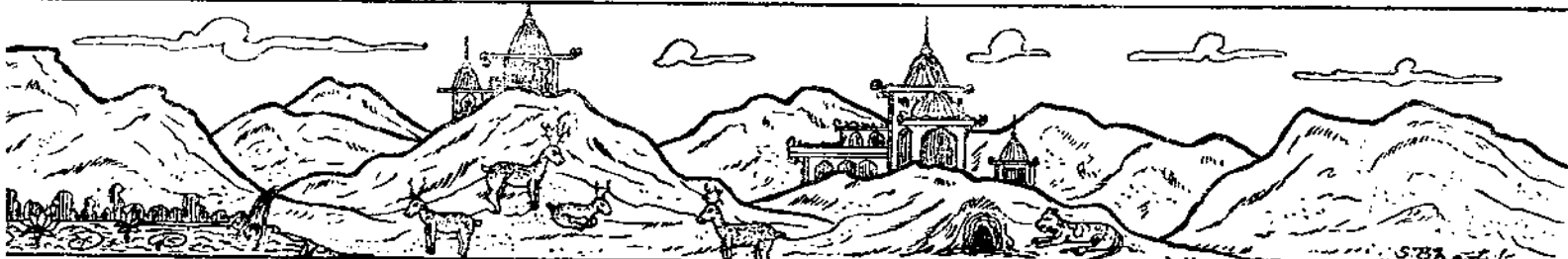
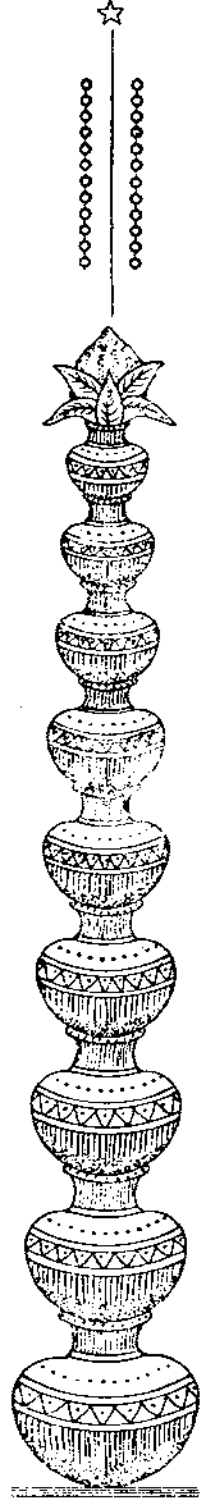
□

भारतीय इतिहास की सांस्कृतिक पृष्ठभूमि में साधना का महात्म्य प्रारम्भ से ही रहा है। ऐहिक-सुखों की सहज सुलभता तथा चरम पुरुषार्थ—'मोक्ष' (कर्मविमुक्ति) की उपलब्धि समान रूप में साधना से सम्भव होती है। श्राप और बरदान, मुक्ति व भुक्ति की सनातन परम्परा का मूल केन्द्र साधना-शक्ति ही रही है। जीवन और मृत्यु के झूले में दोलायमान मानव का चिन्तनशील मन सदा से ही यह समाधान ढूँढने में संलग्न रहा है। भारतीय संस्कृति का मूल अध्यात्मपरक है। इसकी दृष्टि में जीवन और मृत्यु भी एक विशिष्ट कला रूप है। इस कला में भी निपुणता प्राप्ति का मूल साधन 'साधना' है, जिसके बल पर मानव इन दोनों—'जीवन व मृत्यु', पर नियन्त्रण प्राप्त कर सकता है।

इस परिप्रेक्ष्य में शक्ति के मूल स्रोत के अन्वेषक तत्त्वद्रष्टा ऋषियों एवं मुनियों ने तर्क की अपेक्षा—'श्रद्धा' और बहिर्दर्शन की अपेक्षा 'अन्तर्दर्शन' को महत्त्वपूर्ण सिद्ध करते हुए कहा कि—'जहाँ पर काय वाक् एवं मनोवृत्तियों की चरम सीमा है, वहाँ से अन्तर्दर्शन की प्रवृत्ति का शुभारम्भ होता है। सत्य की उपलब्धि को इन्होंने 'अन्तर्दर्शन' के रूप में स्वीकारा है। यहाँ 'सत्य' से तात्पर्य शक्ति के स्रोत 'आत्मा' से है। आत्मा के दर्शन—'अन्तर्दर्शन' का साधन जैन परिभाषा में 'मोक्षमार्ग' के रूप में प्रतिपादित मिलता है। जैनतर दार्शनिक भाषा में इसे 'योग' तथा जनसाधारण की भाषा में 'साधना' भी कह सकते हैं। यहाँ 'साधना' का स्पष्ट तात्पर्य है—'इन्द्रियनिग्रह'। जैन-दर्शन में इसका नामान्तर 'संवर'¹ शरीर, मन और वाणी की प्रवृत्तियों का पूर्ण निरोध, कहा गया है। महर्षि पतञ्जलि ने इन्द्रियनिग्रह को 'योग' तथा बौद्धाचार्यों ने 'विशुद्धि मार्ग' के नाम से सम्बोधित किया है किन्तु जैनाचार्यों ने 'मोक्षमार्ग'² के साथ-साथ 'योग'³ नाम से भी इसे अभिहित किया है।

योग का अर्थ—'युज्' धातु और 'घञ्' प्रत्यय से योग शब्द सम्पन्न होता है। संस्कृत व्याकरण में युज् धातु दो हैं। एक का अर्थ है—'जोड़ना'⁴—संयोजित करता और दूसरी का अर्थ है—'समाधि'⁵—मन की स्थिरता। भारतीय दर्शन में योग शब्द का प्रयोग दोनों ही अर्थों में हुआ है। चित्तवृत्ति के निरोध रूप में महर्षि पतञ्जलि ने, 'समाधि' के रूप में बौद्ध विचारकों ने योग को माना है। जबकि जैनाचार्यों ने योग को कई अर्थों में प्रयुक्त किया है। आचार्य हरिभद्र ने उन समस्त साधनों को योग माना है जिनसे आत्म-विशुद्धि होती है, कर्ममल का नाश होता है और मोक्ष के साथ⁶ संयोग होता है। उपाध्याय यशोविजय जी ने भी यही⁷ व्याख्या की है। आचार्य हरिभद्र के अनुसार आध्यात्मिक भावना और समता का विकास करने वाला, मनोविकारों का क्षय करने वाला तथा मन, वचन और कर्म को संयत रखने वाला 'धर्म व्यापार'⁸ ही श्रेष्ठ योग है।

इस प्रकार साधना के सन्दर्भ में 'योग' की भिन्न-भिन्न व्याख्याएँ दार्शनिकों ने की हैं। जिनके विश्लेषण के सन्दर्भ में अनेकों ग्रंथों की रचना की गयी। जैनतर दार्शनिकों में योग के प्रमुख आचार्य महर्षि पतञ्जलि की योगिक व्याख्याओं के आधार पर दर्शन की एक प्रमुख शाखा ही प्रादुर्भूत हो गयी। इसी परम्परा में जैनाचार्यों ने भी अनेक ग्रंथों



की रचना अपनी मान्यताओं के आधार पर की है। इन ग्रंथों में विश्लेषण की यह एक विशेषता है कि अन्य दार्शनिकों ने जहाँ एकमात्र बाह्य प्रवृत्तियों के निग्रह को विश्लेषण का प्रमुख विषय बनाया, वहाँ जैन दार्शनिकों ने इसके साथ-साथ अन्तःप्रवृत्तियों का भी विश्लेषण किया है। यही 'अन्तःप्रवृत्ति' ही आत्मोपलब्धि-‘मोक्ष’ का प्रमुख साधन है। इसी को 'धर्म' कहा जाता है। इस धर्म का जितना परिशुद्ध व्यापार होगा, वह सारा का सारा योग में अन्तर्हित^१ होता है।

योग की व्यावहारिकता और पारमार्थिकता—योग एक साधना है। इसके दो रूप होते हैं—१. बाह्य और २. आभ्यन्तर। 'एकाग्रता' इसका बाह्य स्वरूप है और अहंभाव, ममत्व आदि 'मनोविकारों का न होना' आभ्यन्तर स्वरूप है। एकाग्रता योग का शरीर और अहंभाव एवं ममत्व आदि का परित्याग इसकी आत्मा है। क्योंकि मनो-विकारों के परित्याग के अभाव में काय-वाक् एवं मन में स्थिरता नहीं आ सकती और न ही इनमें 'समता' का स्वरूप प्रस्फुटित हो सकता है। 'समत्व' के बिना योग-साधना नहीं हो सकती। जिस साधना में मात्र एकाग्रता है, अहंत्व, ममत्व आदि का परित्याग नहीं है, वह साधना मात्र 'व्यावहारिक' या 'द्रव्य-साधना' है। किन्तु जिसमें एकाग्रता और स्थिरता के साथ मनोविकारों का परित्याग भी है, वही साधना 'पारमार्थिक' या 'भावयोग साधना' होती है।

योग की पञ्चाङ्ग व्यवस्था—सामान्यतः जैन दार्शनिकों ने जगत के समस्त पदार्थों एवं समस्त प्रक्रियाओं को दो रूपों से स्वीकारा है—१. व्यवहार दृष्टि, २. निश्चय दृष्टि। योग के विश्लेषण में इस परम्परा का यथावत् पालन किया गया है। फलतः योग को मूल दो भेदों में विभाजित किया गया है। व्यावहारिक दृष्टि से स्थान-आसन आदि एकाग्रता के विशेष प्रयोग को 'कर्मयोग' तथा निश्चय दृष्टि से मोक्ष से सम्बन्ध-योग, कारक-पद्धति विशेष को 'ज्ञानयोग' माना गया है। इनमें 'कर्मयोग' दो प्रकार का तथा 'ज्ञानयोग' तीन^{१०} प्रकार का है। इस प्रकार आचार्य हरिभद्रसूरि के अनुसार योग के पाँच^{११} प्रकार हैं—

कर्मयोग—(१) **स्थानयोग**—पर्यङ्कासन, पद्यासन आदि के माध्यम से काय-वाङ्-मन की चञ्चलता का निरोध।

(२) **ऊर्णयोग**—मन्त्र-जाप आदि के द्वारा शब्दों के उच्चारण से काय-वाङ्-मन की चञ्चलता का निरोध।

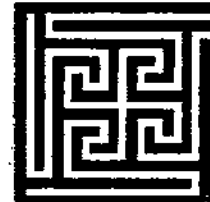
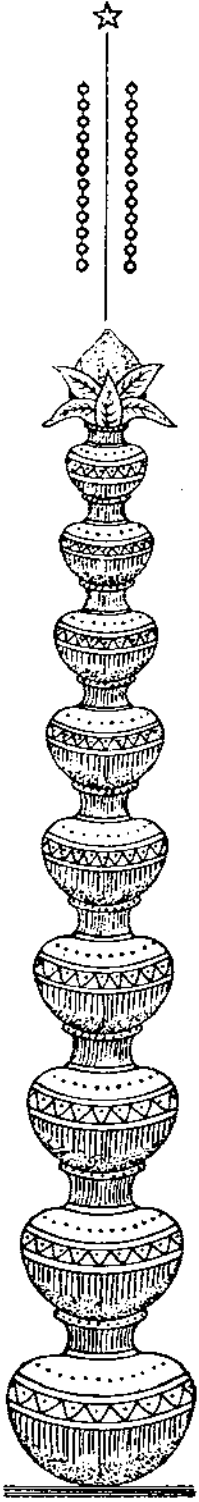
ज्ञानयोग—(३) **अर्थ योग**—नेत्रादि पदार्थों के वाच्यार्थ चिन्तन में एकाग्रता।

(४) **आलम्बन योग**—पदार्थ विशेष (पुद्गलमात्र) में मन को केन्द्रित करना।

(५) **रहितयोग**—समस्त पदार्थों के आलम्बन से रहित होकर मात्र आत्मचिन्तनात्मक निर्विकल्प समाधि।

साधना में आहार की अपेक्षा

आचार्य हरिभद्र की यह पञ्चाङ्ग व्यवस्था आधुनिक है। प्राचीन परम्परा जैन साधना पद्धति में द्वादशाङ्ग योग की व्यवस्था रही है। इस द्वादशांग व्यवस्था को 'तप' के नाम से भी व्यवहृत किया गया है। यद्यपि जैनयोगाचार्यों ने पतञ्जलि की अष्टांग योग व्यवस्था का अनुसरण अक्षरशः नहीं किया है, फिर भी उनके प्रथम पाँच 'अंतरंग' और बाद के 'तीन बहिरंग' भेदों का सादृश्य इन द्वादशांगों की बाह्याभ्यन्तर भेद कल्पना में स्पष्ट परिलक्षित होता है। इन द्वादशांगों में से प्रथम चार बाह्यांगों का सम्बन्ध आहार से है। जन-साधारण की अपेक्षा साधक को आहार की अपेक्षा अधिक होती है। फिर भी साधना पद्धति में स्वस्थता का स्थान शरीर में कम, मन में अधिक रहता है। मन की स्वस्थता में आहार का 'ग्रहण और परित्याग' समान रूप से महत्वपूर्ण है। जैनैतर योग-साधकों ने आहार की उपयोगिता के समर्थन में अनाहार का जहाँ निषेध^{१२} किया है, वहाँ जैन-साधकों ने अनाहार पर विशेष बल दिया है। जैनाचार्यों का मत है कि उपवास से शरीर में रासायनिक परिवर्तन होते हैं और इन परिवर्तनों से 'संकल्पसिद्धि' सहज या सुलभ हो जाती है। वर्तमान युग में जैन धर्म एवं साधना के प्रवर्तक भगवान महावीर ने इस तत्त्व का बोध होने के उपरान्त दीर्घ-कालीन उपवास लगातार छः^{१३} महीनों तक के किए हैं। इसीलिए जैन सिद्धान्त में उपवास का लक्ष्य 'संकल्पसिद्धि' माना गया है, न कि 'शरीरकोषण', जैसी कि प्रायः लोगों की सामान्य धारणा बनी रहती है। ऊनोदरी, अल्पाहार सीमिताहार को प्रायः सभी साधकों ने समान^{१४} रूप से महत्वपूर्ण माना है। आहार के सन्दर्भ में साधक को 'अस्वादवृत्ति की व्याख्या करते हुए जैनाचार्यों ने कहा है कि 'साधक को मनोज्ञ आहार ग्रहण करते हुए भी उसका चिन्तन और स्मरण आदि नहीं करना चाहिए'। यहाँ पर 'अस्वादवृत्ति' से तात्पर्य है—'विकारवर्द्धक रसों का परित्याग'। यह वृत्ति साधक योगी के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण होती है।



साधना में सहयोगी शरीर का संयम—शरीर का योगसाधना में एक विशिष्ट स्थान है। इसका संयम, इसकी उपेक्षा, साधना में अत्यन्त सहयोगी सिद्ध होते हैं किन्तु शरीर की सुरक्षा और सज्जा आदि अत्यन्त बाधक होते हैं। फलतः इस बाधा को सदा के लिए साधनापथ से दूर रखने के निमित्त से “कायक्लेश” नामक पंचम योगांग की व्यवस्था जैन साधना पद्धति में निर्धारित की गई है। इसके चार प्रमुख^{१४} भेद हैं—१. आसन २. आतापना ३. विभूषा तथा ४. परिकर्म वर्जना।

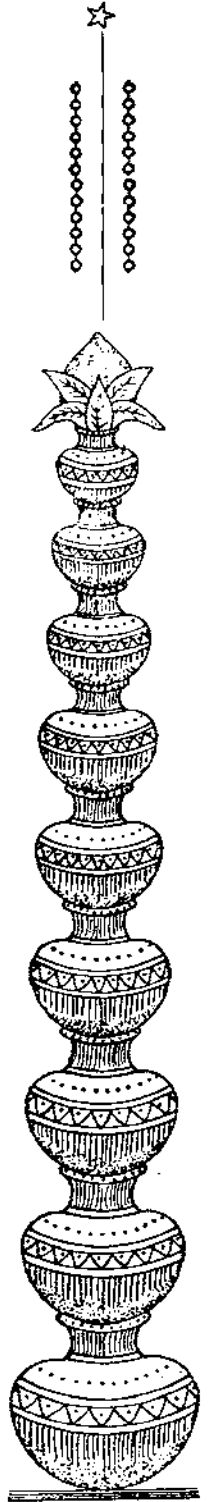
साधना में आसन का स्थान—चित्त की एकाग्रता तथा धैर्य की प्राप्ति के लिए साधना पद्धति में आसनों का अपना एक विशिष्ट स्थान है। जैनाचार्यों ने आसनों के तमाम भेदों को मूलतः दो भेदों में विभाजित किया है—१. शरीरासन २. ध्यानासन। इनमें से प्रथम प्रकार के आसन चित्त की एकाग्रता के निमित्त होते हैं तथा द्वितीय प्रकार के आसन धैर्यप्राप्ति के साधन होते हैं। जैन आगमों में प्रमुखतः सात^{१५} प्रकार के आसनों का विश्लेषण उपलब्ध होता है—

- (१) **स्थानस्थिति**—दोनों भुजाओं को फैलाकर तथा पैर की दोनों एड़ियों को परस्पर मिलाकर, अथवा एक बालिस्त जितना अन्तर रखकर, सीधे खड़ा होना।
- (२) **स्थान**—स्थिर रूप में शान्त होकर बैठना।
- (३) **उकड़**—पैर और नितम्ब दोनों भूमि से लगाकर^{१७} बैठना।
- (४) **पद्मासन**—बायीं जांघ पर दायाँ, दायीं जांघ पर बायाँ पैर रखकर हृदयेलियों को नाभि के नीचे एक दूसरे के ऊपर सीधा रखकर बैठना।
- (५) **वीरासन**—इसके कई प्रकारों का उल्लेख जैन आगमों में मिलता है। जैसे—बायाँ पैर दायीं सांथल पर, दायाँ पैर बायीं सांथल पर रखकर दोनों हाथों को नाभि के नीचे रखना। अथवा सिंहासन पर बैठकर पैरों को नीचे भूमि पर टिकाकर रखना। अथवा एक पैर से दोनों अण्डकोषों को दबाकर दूसरे पैर को दूसरी जांघ पर रखकर सरल भाव से बैठना।
- (६) **गोदेहिका**—गोदोहन के समय जैसी स्थिति में बैठना।
- (७) **पर्यङ्कासन**—दोनों जांघों के अधोभाग को पैरों पर टिकाकर, दोनों हाथों को नाभि के सामने दक्षिणोत्तर रखकर बैठना।

जैन परम्परा में वीरासन आदि कठोर आसनों तथा पद्मासन प्रभृति आसनों को सुखावह^{१८} माना गया है तथा इन दोनों को ध्यान के निमित्त उपयोगी स्वीकारा गया है। इनमें से पद्मासन आदि को चित्त की एकाग्रता के लिए तथा वीरासन आदि को धैर्य की प्राप्ति में सहयोगी माना गया है।

साधना में मनोविकारों का अभाव—साधना के मार्ग में शरीर को सुखी बनाना और विभूषित करना जिस प्रकार निषिद्ध है उसी तरह से मनोविकारों का भाव भी निषिद्ध माना गया है। दोनों के सदभाव में साधकयोगी साधना पथ पर अग्रगामी नहीं हो सकता। इसलिए जैन पद्धति ने ‘आतापना’ के अन्तर्गत सूर्य की प्रखर किरणों के ताप, शीत आदि को सहन करना विधियुक्त माना है। शरीर के लिए साज-सज्जा आदि का परित्याग ‘विभूषा’ तथा शृंगार आदि का निषेध ‘परिकर्म’ के अन्तर्गत व्यवहित किया गया है। इन तीनों प्रक्रियाओं के साथ कायक्लेश के चारों प्रकार शरीर को संयमित रखने एवं उससे निर्मोह स्थिति उत्पन्न करने के साधन होते हैं।

शरीर के इस नियन्त्रणपूर्वक संयम की ही तरह मनोनियंत्रण की विधि का भी जैनागमों में विधान किया गया है। मन के नियंत्रण से पंचेन्द्रियों का नियंत्रण भी स्वभाविक रूप में सम्पन्न हो जाता है। इसके अनन्तर मानसिक विकारों क्रोध, मान, माया और लोभ आदि मनोविकारों का नियंत्रण कर सकना भी सरल हो जाता है। मन चूँकि स्वभावतः चञ्चल है इसलिए एक बार उसका नियंत्रण कर लेने पर यह आवश्यक हो जाता है कि वह निरन्तर बना रहे। अन्यथा कारावास से छूटे हुए अपराधी की भाँति वह अपनी पूर्ण सामर्थ्य से विषयाभिमुख होकर मागने लग जाता है और फिर उसका नियंत्रण करना असम्भव हो जाता है। इस प्रक्रिया का जैन साधकों ने स्वयं अनुभव किया और उन्होंने यह विशेष रूप से विधान किया कि इन्द्रियों और मनोविकारों पर नियग्रह प्राप्त करने के बाद साधक स्वयं को शरीर, वाणी और मन की प्रवृत्तियों से सुरक्षित रखे तथा विविक्त स्थान में ही अपना शयन, बैठना आदि किया करे।

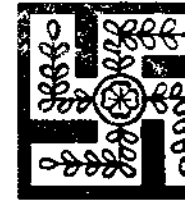
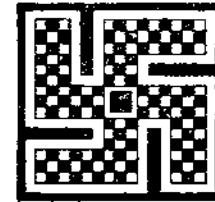
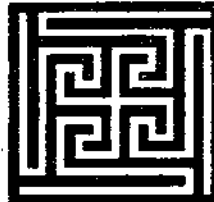


इस चार प्रकार की प्रक्रिया को इस परम्परा में 'संलीनता' के नाम से सम्बोधित किया गया है और इन प्रक्रियाओं के आधार पर संलीनता को चार भागों में विभाजित किया है। ये भेद^{१६} हैं—१. इन्द्रिय संलीनता, २. कषाय संलीनता, ३. योग संलीनता, तथा ४. विविक्त शयनासन संलीनता। यहाँ पर विविक्त शयनासन को स्पष्ट करते हुए जैनागम ने यह निर्देश किया है कि साधक को श्मशान, शून्यागार और वृक्षमूल आदि स्थानों पर रहना, बैठना, सोना आदि करना^{१७} चाहिए।

आत्मिक विकारों का अभाव—आभ्यन्तर तप—जैनसंस्कृति श्रमणसंस्कृति, मूलतः आध्यात्मिक संस्कृति है। इस संस्कृति ने जीव के जगत बन्धनों की मुक्ति के लिए जिस प्रकार शरीर, इन्द्रियों और मन के विकारों का अभाव अपेक्षित माना है उसी प्रकार आत्मिक विकारों का अभाव भी 'मोक्षप्राप्ति' में विशिष्ट स्थान रखता है। फलतः जैन पद्धति में योग की जो प्राचीन द्वादशांग परम्परा प्रचलित है, इसकी प्रथम छः विधाएँ १. अनशन, २. ऊनोदरी, ३. भिक्षा-चरिका, ४. रसपरित्याग, ५. कायक्लेश तथा ६. संलीनता, बाह्य तप के रूप में स्वीकार की गई हैं। यह छहों विधाएँ विषयों से व्यावृत्ति की निमित्तभूत हैं। इसलिए इन्हें 'बाह्य तप' कहा गया है। किन्तु शेष ६ विधाएँ—१. प्रायश्चित्त, २. विनय, ३. वैयावृत्य, ४. स्वाध्याय ५. ध्यान और ६. वपुरसर्ग, आत्मा के आन्तरिक विकारों को शुद्ध बनाने में निमित्तभूत होती हैं, इसलिए इन्हें 'आभ्यन्तर तप' की संज्ञा से विभूषित किया गया है। इसकी प्रथम विधा (प्रायश्चित्त) को पूर्वकृत दोषों को शुद्ध करने का निमित्त होने के कारण साधना पथ के लिए प्रशस्त माना गया है। जबकि दूसरी विधा (विनय) संयम या शुद्धि के साधनों का अवलम्बन होती है। इस विधा के सात प्रकार होते हैं जिन्हें क्रमशः— १. ज्ञान विनय, २. दर्शन विनय, ३. चारित्र्य विनय, ४. मन-विनय, ५. वाग्विनय, ६. काय विनय तथा ७. लोकोपचार विनय कहा गया है। तीसरी विधा—'वैयावृत्य' में साधक को दूसरे सभी साधकों को यथासम्भव हर प्रकार का सहयोग देने का विधान किया गया है।

जैन योगसाधना में स्वाध्याय का महत्त्व—आभ्यन्तर तप की चतुर्थ एवं पञ्चम विधाओं में परम्पराश्रय-भाव जैन साधना में माना गया है। साधक योगी के लिए दोनों विधाएँ परमात्मभाव के साधन^{१९} रूप में स्वीकार की गई हैं। स्वाध्याय रहित ध्यान और ध्यान रहित स्वाध्याय को साधना-पथ में असहयोगी सिद्ध किया गया है। इस प्रकार स्वाध्याय अपने से अनन्तरभावी साधना स्थिति की पोषक एक महत्त्वपूर्ण विधा है। इसे भी पञ्चांगी रूप से स्वीकार किया गया है। ये पञ्चांग हैं—१. वाचना—आध्यात्मिक ग्रन्थों, आगमों आदि का पढ़ना, २. प्रच्छन्ना—आगमों के अध्ययनो-परान्त उनके भर्मस्थलों के सन्दर्भ में प्रश्न पूछना, ३. परिवर्तना—पठित आगम ग्रंथों के उपदेशों के अविस्मरण हेतु उनकी बार-बार अनुवृत्ति करना, ४. अनुप्रेक्षा—अनुवर्तन के समय प्रत्येक उपदेश पर मानसिक चिन्तन तथा मनन करना, तथा ५. धर्मकथा—साधुमण्डल अथवा भक्त जनसमूह के मध्य शास्त्रों का प्रवचनपूर्वक धार्मिक कथाओं को कहना, अर्थात् स्वोपाजित अध्ययनजन्य ज्ञान का मानव-मात्र के कल्याण के निमित्त प्रवचन करना। जैनागमों के इस स्वाध्याय स्वरूप का सादृश्य 'स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्' वेद वाक्य से कितना है, यह विद्वज्जन स्वयं अनुमान लगा सकते हैं। इस पञ्चांगी स्वाध्याय को 'मोक्ष प्राप्ति का चरम साधन' माना गया है। क्योंकि इससे 'ज्ञानावरणीय कर्म' का क्षय^{२०} होता है और इसके अन्तर्गत से आत्मा में स्वाभाविक ज्ञान की विमलता प्रस्फुटित होती है। ज्ञान का प्रस्फुटिकरण दर्शनपूर्वक होता है और मोक्ष प्राप्ति में 'ज्ञानदर्शन' का अपना एक वैशिष्ट्य है।

ध्यान और जैन साधना—यद्यपि स्वाध्याय और ध्यान एक-दूसरे के पूरक हैं। एक के अभाव में दूसरे की सफलता अथवा सार्थकता संदिग्ध मानी गई है, किन्तु जैन साधना पद्धति में ध्यान से पूर्व 'एकाग्रमनः सन्निवेशना' को स्थान दिया गया है। आलम्बन विशेष में मन की स्थापना इसकी विशेष प्रक्रिया है और इसका उद्देश्य है—चित्त^{२१} का निरोध'। यही ध्यान का प्रथम स्वरूप है। 'चल-अध्यवसाय' को चित्त तथा अचल स्थिर अध्यवसाय को 'ध्यान'^{२२} कहा गया है। चित्त की स्थिरता ही ध्यान का प्रारम्भिक प्रथम स्वरूप है और द्वितीय स्वरूप है काय-वाक् और मन की प्रवृत्तियों की सर्वथा स्थिरता। सामान्य दृष्टि से ध्यान का यही रूप द्वैविध्य है। किन्तु साधना की दृष्टि से ध्यान के दूसरे प्रकार से दो भेद माने गए हैं, जिन्हें १. धर्मध्यान और २. शुक्लध्यान की संज्ञाओं से व्यवहृत किया गया है। चित्त-चाञ्चल्य के निरोध के लिए प्रारम्भिक अभ्यास रूप 'धर्मध्यान' को माना है। इन्द्रियाँ स्वभावतः अपने विषय ग्रहण की प्रवृत्ति में संलग्न रहती हैं। वे अपनी इस प्रक्रिया की सफलता के लिए चित्त को अपनी ओर आकर्षित करती रहती हैं और उसे



भी अपने साथ चञ्चल बनाए रखती हैं। फलतः स्वयं चञ्चलशील चित्त की चञ्चलता चित्त में और अधिक वृद्धि हो जाती है। जिससे वह जगत के चतुर्दिक अपेक्षाकृत तीव्र गति से संक्रमण करने लगता है। इस संक्रमणशील चित्त को जगत की विषय परिधि से हटाकर किसी एक विषय-विशेष पर केन्द्रित करना ध्यान का धर्म है। यह केन्द्रीयकरण ज्यों-ज्यों वृद्धिशील होता है, चित्त की चञ्चलता भी शान्ति में परिवर्तित होने लगती है और वह शनैः-शनैः निष्कम्प-स्थिति के समीप पहुँचता जाता है। अभ्यास की यह स्थिति धर्मध्यान में प्रारम्भिक अवस्था में रहती है, किन्तु शुक्लध्यान में परिपक्वता को प्राप्त होने लगती है तथा क्रमशः शुक्लध्यान के चतुर्थ चरण में चित्त प्रवृत्तियों का सर्वथा निरोध अर्थात् 'समाधि' की प्राप्ति हो जाती है।

ध्यान के विशेष भेद—१. धर्मध्यान—'समाधि' साधना की पूर्णता लक्ष्य है। साधनापथिक इस लक्ष्य तक विभिन्न स्थितियों को पार करता हुआ अन्त में पहुँचता है। लक्ष्य प्राप्ति और साधनाप्रारम्भ की स्थितियों के मध्य मूल दो विशिष्ट स्थितियाँ मानी गयी हैं जिन्हें 'धर्मध्यान' और 'शुक्लध्यान' कहा गया है। इन दोनों स्थितियों को ही पृथक्-पृथक् भेदों में विभाजित किया गया है, जिन्हें चरण भी कहा जा सकता है। इस प्रकार 'ध्यान' के 'विभेद' कई प्रकार के हो जाते हैं।

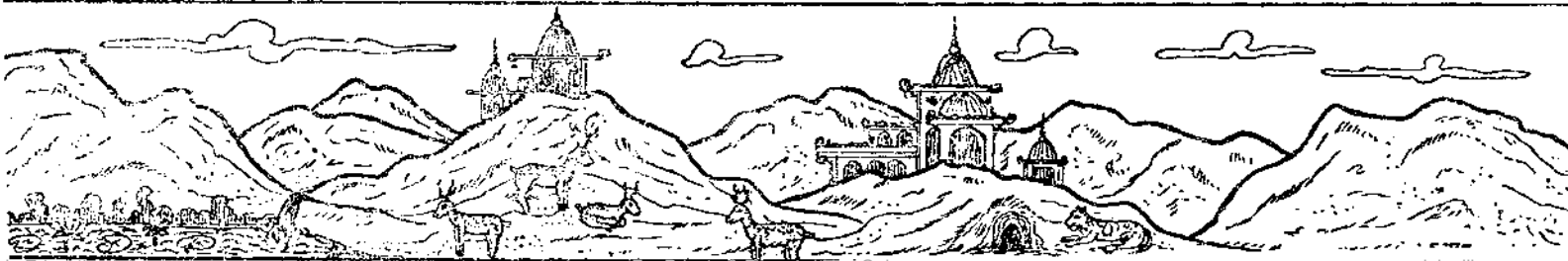
धर्मध्यान की चार विशेष स्थितियाँ चरण—मानी गई हैं। जैनागमों के अनुसार इनका यह स्वरूप निर्धारित किया गया है—१. सूक्ष्म पदार्थों का चिन्तन 'आज्ञाविचय', २. इस चिन्तन के उपरान्त पदार्थों की हेयोपादेयता का चिन्तन 'अपायविचय' ३. तराश्चात् हेय पदार्थों के ग्रहणोपरान्त तज्जन्य अनभीप्सित अनुपादेय परिणामों का चिन्तन 'विपाकविचय', और ४. लोक एवं पदार्थों की आकृति तथा स्वरूपों का चिन्तन 'संस्थानविचय' कहा गया है। इन चारों स्थितियों में विभिन्न चिन्तन का परिणाम निर्देश करते हुए जैनागमों में कहा गया है कि आज्ञाविचय के चिन्तन से वीतराग भाव, अपायविचयात्मक चिन्तन से राग, द्वेष, मोह तथा तज्जन्य दुःखों से मुक्ति, विपाकविचयात्मक चिन्तन से दुःख हेतुओं, उनकी उदयादि अवस्थाओं तथा परिणामों का ज्ञान एवं संस्थानविचयात्मक चिन्तन से विश्व की उत्पाद, व्यय और ध्रुवता तथा इसके नाना परिणामों का ज्ञान कर लिया जाता है। इन विभिन्न परिणामों के ज्ञान से साधक को जगत से घृणा होने लगती है। फलतः हास्य, शोक आदि विकारों से उसका मन दूर हटने लगता है।

इन चिन्तनों की संज्ञा 'ध्येय' भी है। जिस प्रकार साधक को किसी सूक्ष्म या स्थूल पदार्थविशेष पर आलम्बन मानकर चित्त की एकाग्रता अपेक्षित होती है, उसी प्रकार इन ध्येय विषयों पर भी साधक को चित्त की एकाग्रता आवश्यक होती है। क्योंकि इन ध्येय विषयों के चिन्तन से चित्त निरुद्ध होकर शुद्ध हो जाता है। अतः इस चिन्तन पद्धति को 'धर्मध्यान' के रूप में स्वीकार किया गया है।

धर्मध्यान के लक्षण, आलम्बन एवं अनुप्रेक्षाएँ—ध्यान का लक्षण सामान्यतः मन और इन्द्रियों की बहिर्मुखी प्रवृत्ति को अन्तर्मुखी बनाने के सामान्यहेतुओं का स्वरूप है, इसी सिद्धान्त के अनुसार धर्मध्यान जिन-जिन हेतुओं के माध्यम से प्रस्फुटित होता है उन-उन हेतुओं के आधार पर इसके लक्षणों के चार स्वरूपों का प्रतिपादन जैन शास्त्रों में उपलब्ध होता है। ये चतुर्विध लक्षण हैं—१. आज्ञारुचि—शास्त्रों में धर्मोपदेष्टाओं की आज्ञानुसार राग, द्वेष एवं मोह का नाश हो जाने से मिथ्या-आग्रह का अभाव, २. निसर्गरुचि—मिथ्या-आग्रह के अभाव से उत्पन्न स्वामाविक आत्मकान्ति रूप, ३. सूत्ररुचि—सूत्रों और आगमों के अध्ययन से उत्पन्न ज्ञान रूप तथा ४. अवगारुचि—तत्त्वचिन्तन के उपरान्त तत्त्वावगाहना से उत्पन्न रूप। इस प्रकार इन चारों लक्षणों में धर्मध्यान संयुक्त होता है।

इन चार लक्षणों की ही तरह धर्मध्यान के आलम्बन के भी चार प्रकार हैं। आगमों में स्वाध्याय और ध्यान को परस्परापेक्षी निर्दिष्ट किया गया है। धर्मध्यान ध्यान का प्रारम्भिक स्वरूप है। अतः इसका आलम्बन भी स्वाध्याय-परक होना स्वामाविक है। ये प्रकार हैं १. वाचना, २. प्रच्छन्ना, ३. परिवर्तना और ४. अनुप्रेक्षा। इनका यहाँ पर भी वही अभिप्राय है जोकि स्वाध्याय के अंग रूप में है।

धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाओं का भी चतुर्विध योग साधकों ने माना है। ये हैं—१. एकत्वानुप्रेक्षा—मैं अकेला हूँ, स्त्री, पुत्र, पिता आदि कोई भी दूसरा मेरा नहीं है, इत्यादि भावना। २. अनित्यानुप्रेक्षा—संयोग, सम्बन्ध, सभी अनित्य हैं। कोई भी किसी का साथ स्थायी नहीं देता इत्यादि भावना। ३. अशरणानुप्रेक्षा—दुःखों की स्थिति में कोई भी मुझे शरण देने वाला नहीं है, मैं स्वयं ही अपनी शरण हूँ, इत्यादि भावना तथा चतुर्थ अनुप्रेक्षा है—४. संसारानुप्रेक्षा



मैं संसार में परिभ्रमण कर रहा हूँ। यह संसार अनित्य है। जब तक मैं इससे बंधा हूँ, तब तक ही मैं संसारी हूँ, इत्यादि भावना का होना। धर्मध्यान के लक्षण, आलम्बन एवं अनुप्रेक्षाओं को दृष्टिगत करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इसके लिए श्रद्धा (दर्शन) स्वाध्याय एवं भावना की विशेष अपेक्षा होती है।

२. शुक्लध्यान—धर्मध्यान की तरह शुक्लध्यान की भी चार विशेष स्थितियाँ (चरण) हैं। इस ध्यान की इन स्थितियों को पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध (शुक्लध्यान) के रूप में दो युग्मों में भी विभाजित किया जा सकता है। क्योंकि इन दोनों युग्मों की दोनों स्थितियाँ परस्परापेक्षित स्वभाववाली हैं। इन चारों प्रकार की स्थितियों का स्वरूप जैनागम के अनुसार इस प्रकार माना गया है—

(१) पृथक्त्ववितर्क—(सविचारी)—शुक्लध्यान सामान्यतः विशिष्टज्ञानी (पूर्वधर) मुनि को होता है। यह मुनि पूर्वश्रुत के अनुसार द्रव्य विशेष के आलम्बन से ध्यान करता है किन्तु उसकी किसी भी एक परिणति पर या किसी भी एक स्थिति पर स्थिर नहीं रहता है। उस द्रव्य की विविध परिणतियों पर परिभ्रमण करता हुआ शब्द से अर्थ एवं अर्थ से शब्द पर तथा काय-वाङ्-मन में एक से दूसरी प्रकृति पर संक्रमण करता हुआ भिन्न-भिन्न दृष्टियों से उन पर चिन्तन करता है। ऐसे मुनि को 'पृथक्त्ववितर्क'—सविचारी, माना गया है। जैनपद्धति में 'वितर्क' को 'श्रुतावलम्बी विकल्प' तथा 'विचार' को 'परिवर्तन' के रूप में माना गया है, जबकि योगदर्शन में शब्द, अर्थ तथा ज्ञान के विकल्पों से संकीर्ण समाप्ति को 'सवितर्क' की संज्ञा दी गयी है। यह मुनि पूर्वश्रुत के अनुसार जब किसी एक द्रव्य विशेष का आलम्बन लेकर उसके किसी एक परिणाम विशेष पर अपने चित्त को स्थिर करता है, अर्थात् उसका मन शब्द, अर्थ, वाणी तथा संसार में संक्रमण नहीं करता है तब ऐसे ध्यान को (२) एकत्ववितर्क—(अविचारी) कहा जाता है।

इन दोनों प्रकारों में स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकार के पदार्थ आलम्बन रूप होते हैं। इन दोनों के ही अभ्यास से मोहनीय, ज्ञानावरण, दर्शनावरण और अन्तराय कर्म क्षीण होते हैं। ततश्च आत्मा सर्वज्ञ, सर्वदृष्टा, तथा अनन्तशक्ति से सम्पन्न एवं विरक्त हो जाता है। इस स्थिति के उपरान्त साधक तब तक 'जीवनक्रिया' या 'जीव-पर्याय' से संयुक्त रहता है जब तक कि उसका 'आयुर्कर्म' शेष रहता है।

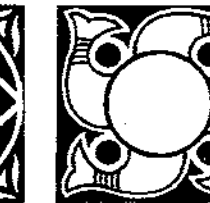
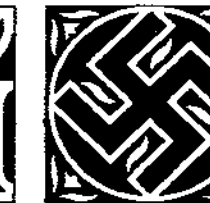
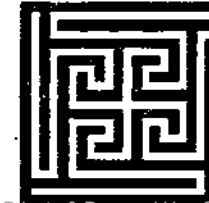
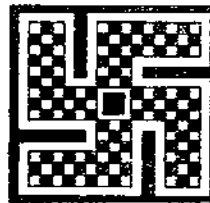
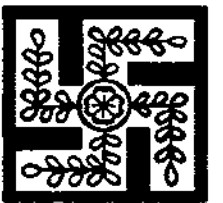
(३) सूक्ष्म क्रिय—(अप्रतिपात्ती)—इस ध्यानस्थिति में साधक के मन, वाणी और काय का क्रमशः निरोध होता है। अतः योगी के एकमात्र सूक्ष्मक्रिया—'श्वासोच्छ्वास' शेष रह जाती है। किन्तु (४) समुच्छिन्नक्रिय (अनिवृत्ति) ध्यानस्थिति में इस क्रिया का भी निरोध हो जाता है। इस प्रक्रिया के निरोध के तुरन्त पश्चात् 'पञ्चमात्राकालमात्र' (अ, इ, उ, ऋ, लृ, पाँच ह्रस्व स्वरों के उच्चारणकाल मात्र) तक ही साधक सशरीरी रहता है। तत्पश्चात्-मुक्ति को प्राप्त हो जाता है।

अर्थात् साधक योगी 'एकत्ववितर्क' शुक्लध्यान तक 'सयोगिकेवली' की स्थिति में रहता है किन्तु 'सूक्ष्मक्रिय' ध्यान की स्थिति से उसकी 'अयोगिकेवली-अवस्था' प्रारम्भ होती है और 'समुच्छिन्नक्रिय' शुक्लध्यान की स्थिति में उसे पूर्णता प्राप्त हो जाती है। इसी स्थिति में 'तपोयोग' के द्वारद्वेष तथा 'आभ्यन्तर तप' के छठवें तप व्युत्सर्ग की सत्ता स्पष्ट हो जाती है जिसका अर्थ है—'देहाध्यास से मुक्ति'।

शुक्लध्यान के लक्षण, आलम्बन एवं अनुप्रेक्षा—धर्मध्यान की तरह शुक्लध्यान के भी लक्षण, आलम्बन एवं अनुप्रेक्षाओं का चातुर्विध्य स्वीकार किया गया है। लक्षण चातुर्विध्य का प्रारम्भ इस प्रकार है—

१ अव्यथ—जिससे व्यथा का अनुभव न हो अर्थात् कष्टों के सहन करने में अचल धैर्य की प्राप्ति।
२ असम्मोह—जगत के स्थूल सूक्ष्म उभयविध पदार्थों के प्रति मोह का अभाव अर्थात् जगत के माया जाल में मौढ्य का न होना।
३ विवेक—ज्ञान के साक्षात्कार के उपरान्त देह और आत्मा में स्पष्टतः भेदबुद्धि, तथा ४ व्युत्सर्ग—शरीर तथा इसके सुख-शृंगारदि के उपकरणभूत साधनों के प्रति निलिप्तभाव।

आलम्बन चातुर्विध्य का स्वरूप इस प्रकार जैनागमों में उपलब्ध होता है—(१) क्षमा—(अक्रोध)—क्रोध रहित होकर कटु, अपमान सूचक प्रसङ्गों में शब्दों एवं व्यवहारों को उपेक्षामात्र से देखना, (२) मुषित (लोभराहित्य)—जगत के सर्वविध पदार्थों के प्रति अनुपादेय बुद्धि से सम्बन्धविच्छेद। (३) मार्दव (अभिमान शून्यता)—जगत के प्रति विरक्त भाव होने पर 'यह मुझ में भाव है' अतः मैं अन्य जगत जीवों से विशिष्ट हूँ, अथवा 'मैं इन्द्रियनिग्रही हूँ' इत्यादि



सभी प्रकार के अभिमानों से शून्य होकर मृदुस्वभाव ग्रहण करना। (४) आर्जव (सहजता)—समस्त आचार एवं व्यवहार में सहज स्वाभाविकता की स्वीकृति। इन्हीं चार विधाओं को शुक्लध्यान का आलम्बन माना गया है।

अनुप्रेक्षाओं की चतुर्विधता निम्न प्रकार है—

(१) अनन्तवृत्ति अनुप्रेक्षा—यह भव परम्परा कभी भी समाप्त नहीं होने वाली है। इसलिए यह अनुपादेय है इत्यादि भावना, (२) विपरिणामानुप्रेक्षा—सभी पदार्थ नित्य परिणमनशील हैं और इनका विपरीत परिणाम आत्मा पर होता है, इत्यादि भावना। (३) अशुभानुप्रेक्षा—जगत के सभी प्रकार के सम्बन्ध आत्मप्राप्ति के लिए अकल्याणकारी हैं, इत्यादि भावना, (४) अपायानुप्रेक्षा—जगत सम्बन्धानुसार समस्त कर्मों के आसन्न बन्ध के हेतु हैं, अतः ये सभी कर्म हेय या अनुपादेय हैं, इत्यादि भावना।

शुक्लध्यान के लक्षण आदि के अवलोकन से यह स्पष्ट होता है कि इसके लिए आत्म स्वभाव में अवगाहना तथा आत्मिक भावनाओं की विशेष अपेक्षा होती है। अनित्य-अशरण आदि भावनाओं के बारह प्रकार हैं। इनमें से प्रथम की चार भावनाएं धर्मध्यान की अनुप्रेक्षाओं के रूप में स्वीकार की गयी है।

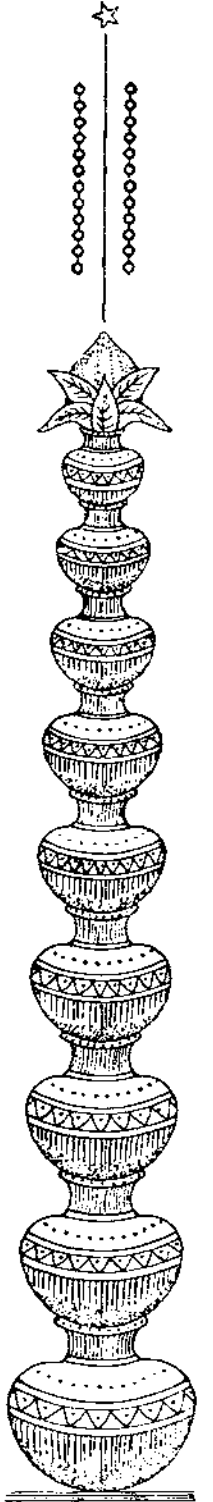
ध्यान की प्रमुख स्थितियाँ—जैन साधना पद्धति पर विशेष दृष्टिपात करने पर यह तत्त्व निष्कर्ष रूप में प्रकट होता है कि जैन साधना पद्धति की परम्परा मोक्ष प्राप्ति तक एक निर्धारित क्रम के अनुसार चलती है जिसे साधक की 'सांसारिक स्थिति' से लेकर 'मोक्ष-प्राप्ति' पर्यन्त तक ग्यारह^{२४} प्रमुख अवस्थाओं में विभाजित किया जा सकता है। इन अवस्थाओं की संज्ञा 'भूमिका' भी स्वीकार की गयी है। ये अवस्थाएँ हैं—१ सम्यक्दृष्टि, २ देशव्रती, ३ महाव्रती ४ अप्रमत्त, ५ अपूर्वकरण, ६ अनिवृत्ति, बादर ७ सूक्ष्मलोभ, ८ उपशान्तमोह, ९ क्षीणमोह, १० सयोगि केवली और ११ अयोगि केवली।

इनमें से प्रथम तीन स्थितियों में धर्मध्यान मात्र होता है। किन्तु चतुर्थ स्थिति में धर्मध्यान के साथ-साथ अंशतः शुक्लध्यान^{२५} भी होता है। यहाँ से प्रारम्भ कर ७वीं स्थिति-सूक्ष्म लोभ तक शुक्ल ध्यान का मात्र प्रथम चरण होता है। क्षीणमोह वीतराग नामक ९वीं स्थिति में शुक्लध्यान का द्वितीयचरण पूर्णता को प्राप्त^{२६} हो जाता है। १०वीं सयोगि केवलि स्थिति के अन्त में शुक्लध्यान का तृतीयचरण पूर्ण होता है। क्योंकि इस अवस्था में केवली योगी के शरीर की सत्ता^{२७} वर्तमान रहती है। जबकि ११वीं स्थिति में यह ध्यान चतुर्थ चरण के साथ-साथ स्वयं भी पूर्णता^{२८} को प्राप्त कर लेता है।

ध्यान का उद्देश्य—आत्मा सूक्ष्म और स्थूल द्विविध शरीरों से वेष्टित है। इस सामान्य सांसारिक स्थिति में बद्ध आत्मा के ज्ञान के साधन मन और इन्द्रियाँ होती हैं। इनकी स्वामाविक प्रवृत्ति बाह्य विषयों की जानकारी में होती है। ध्यान की प्रारम्भिक अवस्था में इस बाह्य प्रवृत्ति को अन्तः की ओर अग्रसर करने का अभ्यास किया जाता है। इसलिए ध्यान का सामान्य उद्देश्य है—“लब्धि” किन्तु इस प्रारम्भिक स्थिति को ही अन्त नहीं माना जा सकता। ध्यान का अन्त होता है ११वीं अयोगि केवली स्थिति में और इस स्थिति का दूसरा रूप होता है—‘परमात्मभाव’। अतः ध्यान का चरम उद्देश्य भी जैन परम्परा में यही स्वीकार किया गया है। जीव की सामान्य बाह्य-बहिर्दर्शन-प्रवृत्ति को जब तक समाप्त नहीं किया जाता और परमात्मभाव-अस्तदर्शन की ओर अभिमुख नहीं हुआ जा सकता। फलतः ध्यान के स्वभावतः मुख्य एवं गौण, दो सामान्य भेद बन जाते हैं। ध्यान की चरम स्थिति में पदार्पण करने पर साधक योगी में जगत के तमाम जीवों को कर्मबन्धन से मुक्त कर सकने की सामर्थ्य^{२९} सुलभ हो जाती है भले ही इसका प्रयोग वे कभी न करे।

ध्यान का महत्त्व—जैनागमों में ध्यान का महत्त्व इसी से जाना जा सकता है कि जैन मुनियों के लिए यह आवश्यक विधान किया गया है—“जैनमुनि दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में आहार और चतुर्थ प्रहर में पुनः^{३०} स्वाध्याय करे। इसी प्रकार रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में निद्रा तथा चतुर्थ प्रहर में पुनः^{३१} स्वाध्याय करे। किन्तु काल-क्रमानुसार मुनियों के इस विधान में काफी परिवर्तन हुआ है। फलतः जैनमुनियों एवं साधु, साधवियों में ज्ञान-दर्शन की क्षति हुई है।

भ्रमण साधना का लक्ष्य—विश्व की किसी भी वस्तु को पूर्ण बनाने के लिए पदार्थ विषयक ज्ञान एवं क्रिया



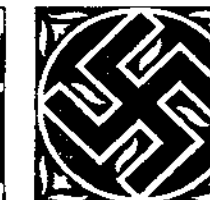
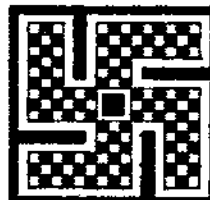
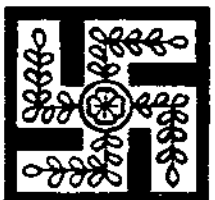
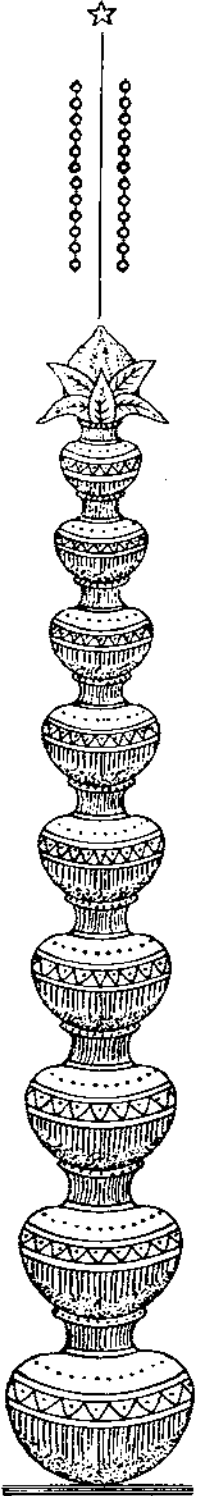
दोनों की परम अपेक्षा होती है। लौकिक एवं पारलौकिक उभयविध कार्यों की सिद्धि में भी इन दोनों का समन्वय परम आवश्यक होता है। योग साधन भी एक क्रिया है। इस साधना में प्रवृत्त होने वाले के लिए आत्मा, योग, साधना आदि आध्यात्मिक तत्त्वों का ज्ञान होना आवश्यक है।

जैन परम्परा-श्रमणपरम्परा के मूल ग्रन्थ आगम हैं। उनमें वर्णित साध्वाचार का अध्ययन करने से यह स्पष्टतः परिज्ञात होता है कि पाँच महाव्रत, समिति, गुप्ति, तप, ध्यान और स्वाध्याय आदि जो योग के मुख्य अंग हैं; उनको श्रमण-साधना के अनुयायी साधु जीवन का प्राण^{३४} माना है। वस्तुतः आचार साधना-श्रमण साधना का मूल, प्राण और जीवन है। आचार के अभाव में श्रमणत्व की साधना मात्र कंकाल एवं शवस्वरूप होकर निष्प्राण रह जाएगी।

जैनागमों में 'योग' शब्द 'समाधि' या 'साधना' के अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है। यहाँ इसका अर्थ है—'मन, वचन एवं काय की प्रवृत्ति' यह दो प्रकार का है शुभ और अशुभ। दोनों का ही निरोध करना श्रमण साधना का ध्येय है। अतः जैनागमों में साधु को आत्मचिन्तन के अतिरिक्त अन्य कार्य करने की आज्ञा नहीं दी गयी है। यदि साधु के लिए अनिवार्य रूप से प्रवृत्ति करना आवश्यक है तो आगम द्वारा निवृत्तिपरक प्रवृत्ति करने की अनुमति दी गई है। इस प्रवृत्ति को आगमिक भाषा में 'समिति गुप्ति' कहा जाता है। इसे 'अष्ट प्रवचन माता' भी कहा जा सकता है।

श्रमण साधना का मुख्य लक्ष्य है—योग—काय-वाक्, मन की चञ्चलता का पूर्ण निरोध। किन्तु इसके लिए हठयोग की साधना को बिल्कुल महत्व नहीं दिया गया है। क्योंकि इससे बलात्-हठपूर्वक, रोका गया मन कुछ क्षणों के अनन्तर ही सहसा नियंत्रण मुक्त होने पर स्वाभाविक वेग की अपेक्षा तीव्रगति से प्रवाहित होने लगता है। और सारी साधना को नष्ट-भ्रष्ट कर देता है। जैनागमों में 'योगसाधना के अर्थ में 'ध्यान' शब्द का प्रयोग हुआ है। जिसका अभिप्राय है अपने योगों को 'आत्मचिन्तन में प्रवृत्त करना'। इसमें कायिक स्थिरता के साथ-साथ मन और वचन को भी स्थिर किया जाता है। जब मन चिन्तन में संलग्न हो जाता है, तब उसे यथार्थ में 'ध्यान' एवं 'साधना' कहते हैं।

- १ उत्तराध्ययन २६।२५-२६ ।
- २ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः । —तत्त्वार्थ० १।१
- ३ मोक्षोपायो योगः ज्ञान-श्रद्धान-चरणात्मकः । —अभिधानचिन्ता० १।७७
- ४ युजूषी योगे—हेमचन्द्र धातुपाठ—गण ७
- ५ युजिच समाधौ " " —गण ४
- ६ मोक्षेण जोयणाओ जोगो —योगविशिका १
- ७ मोक्षेण योजनादेव ! योगो ह्यत्र निरुच्यते —द्वान्त्रिशिका ।
- ८ अध्यात्मभावनाध्यानं समतावृत्ति संक्षयः ।
मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥ —योगविन्दु ३१ ॥
- ९ योगविशिका—१ (व्याख्या)
- १० दुग्मित्थ कम्मजोगो, तथा तियं नाणजोगो उ—योगविशिका २
- ११ द्ढाणुन्तत्थालंबण-रहिओ तं तम्मिह पंचहाएसो— " २
- १२ प्रातः स्नानोषवासादिकायक्लेशविधिं विना ।
एकाहारं निराहारं यामत्ति च न कारयेत् ॥ —धेरण्ड सं० ५।३० ॥
- १३ आवश्यकनिर्युक्तिपत्र-२३६।३०० ॥
- १४ (क) दशवैका०—८
(ख) मित्ताहारं विना यस्तु योगारंभं तु कारयेत् ।
नाना रोगो भवेत्तस्य कश्चित् योगो न सिञ्चति ॥ —धेरण्ड सं० ५।१६ ।



- १५ औपपातिक० तपोऽधिकार ।
 १६ वही ।
 १७ अंगुष्ठाभ्यामवष्टभ्य धरां गुल्फे च खेगती ।
 तत्रोपरि गुढं न्यस्य विधेयमुत्कटासनम् ॥
 १८ ठाणांग०, उत्तरा० ३०।२७
 १९ औपपातिक तपोऽधिकार ।
 २० मुस्साणे सुन्नगारे वा हक्कमूले वा एगओ । —औपपा० तपोऽधिकार ।
 २१ स्वाध्यायाद् ध्यानमध्यास्तां, ध्यानात्स्वाध्यायमामनेत् ।
 ध्यानस्वाध्यायसम्पत्त्या परमात्मा प्रकाशते । —सम०
 २२ सज्ज्ञाएण नाणावरणिज्जं कम्मं खवेइ —उत्तरा० २९।१८
 २३ एगममणसन्निवेशणाए णं चित्तिनिरोहं करेइ —उत्तरा० २९।२५
 २४ एकाग्रचिन्तायोगनिरोधो वा ध्यानम् —जैन सिद्धान्तदीपिका ॥
 २५ समवायांग-१४ ।
 २६ धर्मध्यानं भक्त्यत्र मुख्यकृत्या जिनोदितम् ।
 रूपातीतं तथा शुक्लमपि स्यादसमात्रतः ॥ —गुणस्थान क्रमारोह-३५ ॥
 २७ गुणस्थान क्रमारोह ५१ तथा ७४
 २८ वही-१०१
 २९ वही-१०५
 ३० क्षपक श्रेणिपरगतः सः समर्थः सर्वकर्मिणां कर्म ।
 क्षपयितुमेको यदि कर्मसंक्रमः स्यात्परकृतस्य ॥ —प्रश्नमरति० २६४ ॥
 ३१ पढमं पोरिसि सज्ज्ञायं, वीर्यं ज्ञाणं क्षियायइ । तइयाए भिक्खायरियं, पुणोच्चउत्थीए सज्ज्ञायं । —उत्तरा० २६।१२ ॥
 ३२ पढमं पोरिसि सज्ज्ञायं, वीर्यं ज्ञाणं क्षियायइ । तइयाए निह्मोक्खं तु, चउत्थी भुज्जो वि सज्ज्ञायं ॥
 —उत्तरा० २६।१८ ॥
 ३३ आचारांग, सूत्रकृतांग, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक आदि ।
 ३४ अट्ठपववणमायाओ, समीए गुत्ती तहेव य ।
 पंचेव य समिईओ तओ गुत्ती उ आहिया ॥ —उत्तरा० २४।१ ॥





साधक का साध्य-मोक्ष है। मोक्ष प्राप्ति का उपाय-साधन-योग है। आत्मा से परमात्मा के रूप में मिलन की प्रक्रिया (—योग) पर जैन मनीषियों के चिन्तन का तुलनात्मक अध्ययन यहाँ प्रस्तुत है।

□ विद्यामहोदधि डा० छगनलाल शास्त्री
[एम० ए०, हिन्दी, संस्कृत व जैनीलोजी, स्वर्णपदक
समाहृत, पी-एच० डी० काव्यतीर्थ]

जैन योग : उद्गम, विकास, विश्लेषण, तुलना

चरम ध्येय

भारतीय दर्शनों का अन्तिम लक्ष्य मोक्ष है। दुःखों की ऐकान्तिक तथा आत्यन्तिक निवृत्ति को मोक्ष कहा गया है। मोक्ष शब्द, जिसका अर्थ छुटकारा है, से यह स्पष्ट है। यदि गहराई में जायें तो इसकी व्याख्या में थोड़ा अन्तर भी रहा है, ऐसा प्रतीत होता है। कुछ दार्शनिकों ने दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति के स्थान पर शाश्वत तथा सहज सुख-लाम को मोक्ष कहा है।

इस प्रकार के सुख की प्राप्ति होने पर दुःखों की आत्यन्तिक और ऐकान्तिक निवृत्ति स्वयं सध जाती है। वैशेषिक, नैयायिक, सांख्य, योग और बौद्ध दर्शन प्रथम पक्ष के समर्थक हैं और वेदान्त तथा जैन दर्शन दूसरे पक्ष के। वेदान्त दर्शन में ब्रह्म को सच्चिदानन्द-स्वरूप माना है, इसलिए अविद्यावच्छिन्न ब्रह्म-जीव में अविद्या के नाश द्वारा नित्य-सुख की अभिव्यक्ति ही मोक्ष है। जैन दर्शन में भी आत्मा को अनन्त सुख-स्वरूप माना है, अतः स्वाभाविक सुख की अभिव्यक्ति ही उसका अभिप्रेत है, जो उसका मोक्ष के रूप में अन्तिम लक्ष्य है।

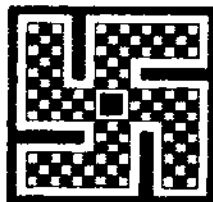
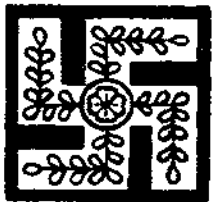
ध्येय : साधना-पथ

मोक्ष प्राप्ति के लिए विभिन्न दर्शनों ने अपनी-अपनी दृष्टि से ज्ञान, चिन्तन, मनन, अनुशीलन, निदिध्यासन, तदनुकूल आचरण या साधना आदि के रूप में एक व्यवस्था-क्रम दिया है, जिसका अपना-अपना महत्त्व है। उनमें महर्षि पतञ्जलि का योग दर्शन एक ऐसा क्रम देता है, जिसकी साधना या अभ्यास-सरणि बहुत ही प्रेरक और उपयोगी है। यही कारण है, योग मार्ग को सांख्य, न्याय, वैशेषिक आदि के अतिरिक्त अन्यान्य दर्शनों ने भी बहुत कुछ स्वीकार किया है। यों कहना अतिरंजन नहीं होगा कि किसी न किसी रूप में सभी प्रकार के साधकों ने योग निरूपित अभ्यास का अपनी अपनी परम्परा, बुद्धि, रुचि और शक्ति के अनुरूप अनुसरण किया है, जो भारतीय संस्कृति और विचार-दर्शन के समन्वयमूलक झुकाव का परिचायक है।

जैन परम्परा और योग-साहित्य

भारतीय चिन्तन-धारा वैदिक, बौद्ध और जैन वाङ्मय की त्रिवेणी के रूप में बही है। वैदिक ऋषियों, बौद्ध-मनीषियों, जैन तीर्थंकरों और आचार्यों ने अपनी निःसंग साधना के फलस्वरूप ज्ञान के वे दिव्यरत्न दिये हैं, जिनकी आभा कभी धुंधली नहीं होगी। तीनों ही परम्पराओं में योग जैसे महत्त्वपूर्ण, व्यावहारिक और विकास-प्रक्रिया से सम्बद्ध विषय पर उत्कृष्ट कोटि का साहित्य रचा गया।

यद्यपि बौद्धों की धार्मिक भाषा पालि, जो मागधी प्राकृत का एक रूप है तथा जैनों की धार्मिक भाषा अर्द्ध-मागधी^१ और शौरसेनी^२ प्राकृत रही है पर दोनों का लगभग सारा का सारा दर्शन सम्बन्धी साहित्य संस्कृत में लिखा



गया है। गम्भीरतापूर्ण विशाल भाव-राशि को संक्षिप्ततम शब्दावली में अत्यन्त स्पष्टता और प्रभावशालिता के साथ व्यक्त करने की संस्कृत की अपनी अनूठी क्षमता है। दोनों परम्पराओं में योग पर भी प्रायः अधिकांश रचनाएँ संस्कृत-भाषा में ही हुईं।

जैन योग पर लिखने वाले मुख्यतः चार आचार्य हैं—हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र और यशोविजय। ये चारों विभिन्न विषयों के प्रौढ़ विद्वान् थे, जो इन द्वारा रचित ग्रन्थों से प्रकट है।

आचार्य हरिभद्र (ई० ८वीं शती) ने योग पर संस्कृत में योगबिन्दु और योगदृष्टि समुच्चय, आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र, आचार्य शुभचन्द्र ने ज्ञानार्णव तथा उपाध्याय यशोविजय ने अध्यात्म-सार, अध्यात्मोपनिषद् व सटीक द्वात्रिंशत् द्वात्रिंशिकाओं की रचना की है। आचार्य हेमचन्द्र का समय ई० १२वीं शती है। आचार्य शुभचन्द्र भी इसी आसपास के हैं। उपाध्याय यशोविजय का समय १८वीं ई० शती है।

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत भाषा में भी योग पर योगशतक और योग विशिका नामक दो पुस्तकें लिखीं। उनका संस्कृत में रचित षोडशक प्रकरण भी प्रसिद्ध है जिसके कई अध्यायों में उन्होंने योग के सम्बन्ध में विवेचन किया। उपाध्याय यशोविजय ने आचार्य हरिभद्र रचित योग विशिका तथा षोडशक पर संस्कृत में टीकाएँ लिखकर प्राचीन गूढ तत्त्वों का बड़ा विशद विश्लेषण किया इतना ही नहीं उन्होंने पतञ्जलि के योगसूत्र पर भी एक छोटी-सी वृत्ति लिखी। कलेवर में छोटी होने पर भी तात्त्विक दृष्टि से उसका बड़ा महत्त्व है।

योगसार नामक एक और ग्रन्थ भी श्वेताम्बर जैन साहित्य में उपलब्ध है, जिसके रचयिता का उसमें उल्लेख नहीं है। उसमें प्रयुक्त दृष्टान्त आदि से अनुमित होता है कि आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के आधार पर ही किसी श्वेताम्बर जैन आचार्य ने उसकी रचना की हो।

जैन तत्त्वज्ञान का मुख्य स्रोत अर्द्धमागधी प्राकृत में ग्रथित अंग, उपांग, मूल, छेद, चुलिका एवं प्रकीर्णक सूत्र हैं।

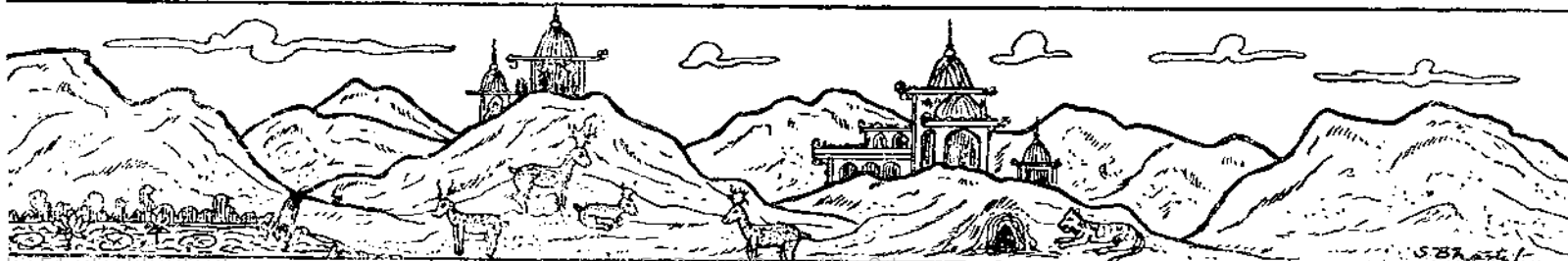
इन आगम-सूत्रों पर प्राकृत तथा संस्कृत में निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि, टीका आदि के रूप में व्याख्या और विश्लेषणमूलक साहित्य निर्मित हुआ। संस्कृत-प्राकृत के मिश्रित रूप के प्रयोग की जैनों में विशेष परम्परा रही है, जिसे वे 'मणि-प्रवाल' न्याय के नाम से अभिहित करते हैं। आचार्य भूतबलि और पुष्पदत्त (लगभग प्रथम-द्वितीय शती) द्वारा रचित पट् खण्डागम पर ई० ८वीं ११वीं शती में वीरसेन और जिनसेन ने इसी शैली में (मणि-प्रवाल न्याय से) संस्कृत प्राकृत-मिश्रित धवला नामक अतिविशाल व्याख्या लिखी।

मूल आगम और उन पर रचित उपर्युक्त निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि आदि व्याख्या साहित्य में जैन दर्शन के विभिन्न अंगों पर हमें विशद और विस्तृत निरूपण उपलब्ध है। योग के सम्बन्ध में मूल आगमों में सामग्री तो प्राप्त है और पर्याप्त भी, पर है विकीर्णरूप में। व्याख्या-ग्रन्थों में यत्र-तत्र उसका विस्तार है, जो मननीय है। पर वह सामग्री क्रमबद्ध या व्यवस्थित नहीं है। जिस प्रसंग में जो विवेचन अपेक्षित हुआ, वह कर दिया गया और उसे वहीं छोड़ दिया गया।

ई० ६ठी ७वीं शती में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण एक बहुत ही समर्थ और आगम-कुशल विद्वान् हुए। उनका 'विशेषावश्यक भाष्य' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। उसमें अनेक स्थानों पर योग सम्बन्धी विषयों का विवेचन है। जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण की 'समाधि-शतक' नामक एक और पुस्तक भी है, जो योग से सम्बद्ध है। पर उन्होंने आगम और निर्युक्ति आदि में वर्णित विषय से कुछ अधिक नहीं कहा है। शैली भी आगमिक जैसी है।

साधक-जीवन के लिए अत्यन्त अपेक्षित योग जैसे महत्त्वपूर्ण विषय पर जैन परम्परा में सबसे पहले व्यवस्थित रूप में सामग्री उपस्थित करने वाले आचार्य हरिभद्र सूरि हैं। जैन साधक के जीवन का मूल वैचारिक आधार जैन आगम हैं। आचार्य हरिभद्र ने जैन आगम-गत योग-विषयक तत्त्व तो दृष्टि में रखे ही, साथ ही साथ इस सम्बन्ध में अपना मौलिक चिन्तन भी दिया।

आचार्य शुभचन्द्र और हेमचन्द्र के माध्यम से वह परम्परा और आगे बढ़ी। इन दोनों आचार्यों के आदर्श एकमात्र आचार्य हरिभद्र नहीं थे। इनकी अपनी सरणि थी। फिर भी हरिभद्र के विचारों की जहाँ उन्हें उपयोगिता लगी, उन्होंने रुचिपूर्वक उन्हें ग्रहण किया। हेमचन्द्र और शुभचन्द्र यद्यपि जैन परम्परा के श्वेताम्बर और दिगम्बर दो भिन्न सम्प्रदायों से सम्बद्ध थे, पर योग के निरूपण में दोनों एक दूसरे से काफी प्रभावित प्रतीत होते हैं।



उपाध्याय यशोविजय, जो अपने समय के बहुत अच्छे विद्वान थे, उन्होंने जैन योग की परम्परा को और अधिक पल्लवित तथा विकसित किया।

पतञ्जलि का अष्टांग योग तथा जैन योग-साधना

“योगश्चित्तवृत्ति निरोधः”^३—चित्त की वृत्तियों का सम्पूर्णतः निरोध योग है, यह पतञ्जलि की परिभाषा है। वस्तुतः चित्त वृत्तियाँ ही संसार है, बन्धन है। जब तक वृत्तियाँ सर्वथा निरुद्ध नहीं हो पाती, आत्मा को अपना शुद्ध स्वरूप विस्मृत रहता है। उसे मिथ्या सत्य जैसा प्रतीत होता है। यह प्रतीति ध्वस्त हो जाय, आत्मा अपना शुद्ध स्वरूप अधिगत करले, अथवा दूसरे शब्दों में अविद्या का आवरण क्षीण हो जाय, आत्मा परमात्म-स्वरूप बन जाय यही साधक का चरम ध्येय है। यही बन्धन से छुटकारा है। यही सत्चित् आनन्द की प्राप्ति है।

इस स्थिति को पाने के लिए चैतसिक वृत्तियों को सर्वथा रोक देना, मिटा देना आवश्यक है। इस आवश्यकता की पूर्ति का मार्ग योग है। महर्षि पतञ्जलि ने योग के अंगों का निम्नांकित रूप में उल्लेख किया। “यम नियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।”^४ अर्थात् यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणाध्यान तथा समाधि—पतञ्जलि ने योग के ये आठ अंग बताये हैं। इनका अनुष्ठान करने से चैतसिक मल अपमत्त हो जाता है। फलतः साधक या योगी के ज्ञान का प्रकाश विवेकख्याति तक पहुँच जाता है। दूसरे शब्दों में उसे बुद्धि, अहंकार और इन्द्रियों से सर्वथा भिन्न आत्मस्वरूप का साक्षात्कार हो जाता है। यही “तदा द्रष्टुःस्वरूपेवस्थानम्”^५ की स्थिति है। तब द्रष्टा केवल अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाता है।

जैन दर्शन के अनुसार केवल ज्ञान, केवल दर्शन, आत्मिक सुख, क्षायिक सम्यक्त्व आदि आत्मा के मूल गुण हैं, जिन्हें ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय आदि कर्मों ने अवरुद्ध या आवृत्त कर रखा है। आत्मा पर आच्छन्न इन कर्मावरणों के सर्वथा अगकरण से आत्मा का शुद्ध स्वरूप प्रकट हो जाता है। उसी परम शुद्ध निरावरण आत्म-दशा का नाम मोक्ष है।

योग-साधना में आचार्य हरिभद्र का मौलिक चिन्तन

आचार्य हरिभद्रसूरि अपने युग के परम प्रतिभाशाली विद्वान् थे। वे बहुश्रुत थे, समन्वयवादी थे, माध्यस्थ वृत्ति के थे। उनकी प्रतिभा उन द्वारा रचित अनुयोग-चतुष्टयविषयक धर्मसंग्रहणी (द्रव्यानुयोग), क्षेत्रसमास-टीका (गणितानुयोग), पञ्चवस्तु, धर्म बिन्दु (चरणकरणानुयोग), समराश्चकहा (धर्मकथानुयोग) तथा अनेकान्त जय पताका (न्याय) व भारत के तत्कालीन दर्शन आम्नायों से सम्बद्ध षड्दर्शन समुच्चय आदि ग्रन्थों से प्रगट है।

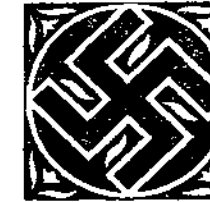
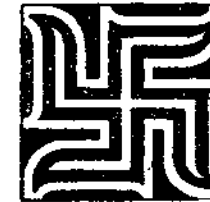
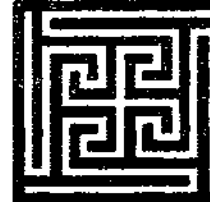
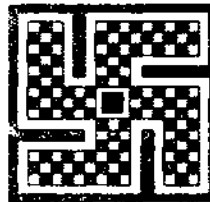
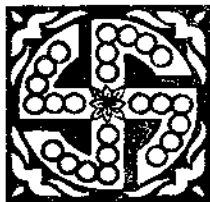
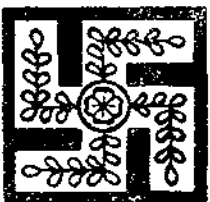
योग के सम्बन्ध में जो कुछ उन्होंने लिखा, वह केवल जैन-योग साहित्य में ही नहीं, बल्कि आर्यों की समग्र योग-विषयक चिन्तन-धारा में एक मौलिक वस्तु है। जैन शास्त्रों में आध्यात्मिक विकास-क्रम का वर्णन चतुर्दश गुणस्थान तथा बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा—इन आत्म-अवस्थाओं आदि को लेकर किया गया है। आचार्य हरिभद्र ने उसी अध्यात्म-विकास क्रम को योगरूप में निरूपित किया है। उन्होंने ऐसा करने में जिस शैली का उपयोग किया है, वह संभवतः अब तक उपलब्ध योग विषयक ग्रन्थों में प्राप्त नहीं है। उन्होंने इस क्रम को आठ योग दृष्टियों के रूप में विभक्त किया है। योग दृष्टि समुच्चय में उन्होंने निम्नांकित प्रकार से आठ दृष्टियाँ बताई हैं—

“मित्रा^१ तारा^२ बला^३ दीप्रा^४, स्थिरा^५ कान्ता^६ प्रभा^७ परा^८।

नामानि योगदृष्टीनां, लक्षणं च निबोधत ॥

इन आठ दृष्टियों को आचार्य हरिभद्र ने ओषदृष्टि और योग-दृष्टि के रूप में दो भागों में बाँटा है। ओष का अर्थ प्रवाह है। प्रवाह-पतित दृष्टि ओष-दृष्टि है। दूसरे शब्दों में अनादि संसार-प्रवाह में प्रसत और उसी में रस लेने वाले भवाभिनन्दी प्रकृत जनों की दृष्टि या लौकिक पदार्थ विषयक सामान्य दर्शन ओष-दृष्टि है।

योग-दृष्टि ओष-दृष्टि का प्रतिरूप है। ओष-दृष्टि जहाँ जागतिक उपलब्धियों को अभिप्रेत मानकर चलती है, वहाँ योग-दृष्टि का प्राप्य केवल बाह्य जगत् ही नहीं आन्तर जगत् भी है। उत्तरोत्तर विकास-पथ पर बढ़ते-बढ़ते अन्ततः केवल आन्तर जगत् ही उसका लक्ष्य रह जाता है।



बोध ज्योति की तरतमता की दृष्टि से उन्होंने इन आठ^६ दृष्टियों को क्रमशः तृण, गोमय व काष्ठ के अग्नि-कणों के प्रकाश, दीपक के प्रकाश तथा रत्न, तारे, सूर्य एवं चन्द्रमा की आभा से उपमित किया है। इन उपमानों से ज्योति का क्रमिक वैशद्य प्रकट होता है।

यद्यपि इन आरम्भ की चार दृष्टियों का गुणस्थान प्रथम (मिथ्यात्व) है, पर क्रमशः उनमें आत्म-उत्कर्ष और मिथ्यात्व-अपकर्ष बढ़ता जाता है। गुणस्थान की शुद्धिमूलक प्रकर्ष-पराकाष्ठा-तद्गत उत्कर्ष की अन्तिम सीमा चौथी दृष्टि में प्राप्त होती है। अर्थात् मित्रा आदि चार दृष्टियों में उत्तरोत्तर मिथ्यात्व का परिमाण घटता जाता है और उसके फलस्वरूप उत्पन्न होते आत्म-परिष्कार रूप गुण का परिमाण बढ़ता जाता है। यों चौथी दृष्टि में मिथ्यात्व की मात्रा कम से कम और शुद्धिमूलक गुण की मात्रा अधिक से अधिक होती है अर्थात् दीप्रा दृष्टि में कम से कम मिथ्यात्व वाला ऊँचे से ऊँचा गुणस्थान होता है। इसके बाद पांचवीं-स्थिरा दृष्टि में मिथ्यात्व का सर्वथा अभाव होता है। सम्यक्त्व प्रस्फुटित हो जाता है। साधक उत्तरोत्तर अधिकाधिक विकास-पथ पर बढ़ता जाता है। अन्तिम (आठवीं) दृष्टि में अन्तिम (चतुर्दश) गुणस्थान-आत्म-विकास की सर्वोत्कृष्ट स्थिति अयोग केवली के रूप में प्रकट होती है। इन उत्तरवर्ती चार दृष्टियों में योग-साधना का समग्ररूप समाहित हो जाता है।

योगविशिका में योग की परिभाषा

आचार्य हरिभद्र ने प्राकृत में रचित योगविशिका नामक अपनी पुस्तक में योग की व्याख्या निम्नांकित रूप में की है—

मोक्षेण जोयणाओ, जोगो सव्वो वि धम्मवानारो ।

परिसुद्धो विन्नेओ, ठाणाइगओ विसेसेण ॥१॥

संस्कृत छाया—मोक्षेण योजनातो योगः सर्वोपि धर्म-व्यापारः

परिशुद्धो विज्ञेयः स्थानादिगतो विशेषेण ॥

हरिभद्र का आशय यह है कि यह सारा व्यापार-साधानोपक्रम, जो साधक को मोक्ष से जोड़ता है, योग है। उसका क्रम वे उसी पुस्तक की निम्नांकित गाथा में लिखते हैं—

ठाणुन्नत्थालंबणरहिओ, तंतम्मि पंचहा एसो ।

दुगमित्थ कम्मजोगो, तहा तिय नाणजोगो उ ॥२॥

संस्कृत छाया—स्थानोणार्थालम्बन रहितस्तन्त्रेषु पञ्चधा एषः ।

द्वयमत्र कर्मयोगस्तथा त्रयं ज्ञानयोगस्तु ॥

स्थान, ऊर्ण, अर्थ, आलम्बन और निरालम्बन योग के ये पांच प्रकार हैं। इनमें पहले दो अर्थात् स्थान और ऊर्ण क्रिया योग के प्रकार हैं और बाकी के तीन ज्ञान योग के प्रकार हैं।

स्थान का अर्थ—आसन, कायोत्सर्ग, ऊर्ण का अर्थ—आत्मा को योग-क्रिया में जोड़ते हुए प्रणव प्रमृति मन्त्र-शब्दों का यथा विधि उच्चारण, अर्थ-ध्यान और समाधि आदि के प्रारम्भ में बोले जाने वाले मन्त्र आदि। तत्सम्बद्ध शास्त्र उनकी व्याख्याएँ—आदि में रहे परमार्थ एवं रहस्य का अनुचिन्तन, आलम्बन—बाह्य प्रतीक का आलम्बन लेकर ध्यान करना, निरालम्बन—मूर्तद्रव्य बाह्य प्रतीक के आलम्बन के बिना निविकल्प, चिन्मात्र, सच्चिदानन्दस्वरूप का ध्यान करना।

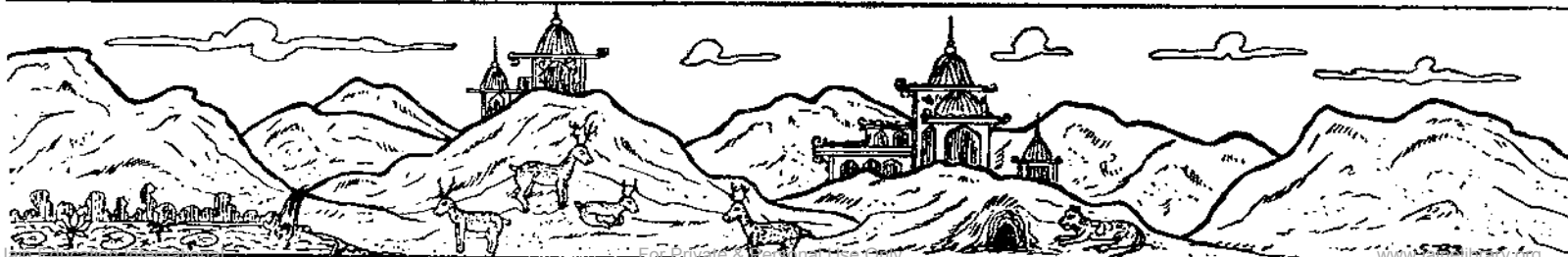
हरिभद्र द्वारा योग विशिका में दिये गये इस विशेष क्रम के सम्बन्ध में यह इंगित मात्र है, जिस पर विशद गवेषणा की आवश्यकता है।

जैन वाङ्मय में योग-साधना के रूप : आचार्य हेमचन्द्र प्रभृति विद्वानों की देन

आचार्य हेमचन्द्र ने योग की परिभाषा निम्नांकित रूप से की है—

चतुर्वर्गोऽग्रणी मोक्षो योगस्तस्य च कारणम् ।

ज्ञान-श्रद्धान चारित्ररूपं रत्नत्रयं च सः ॥७॥



धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों में मोक्ष अग्रणी या मुख्य है। योग उस (मोक्ष) का कारण है अर्थात् योग-साधना द्वारा मोक्ष लभ्य है। सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र्य रूप रत्नत्रय ही योग है। ये तीनों जिनसे सघते हैं, वे योग के अंग हैं। उनका आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योग शास्त्र के बारह प्रकाशों में वर्णन किया है।

योग के अंग

महर्षि पतञ्जलि ने योग के जो आठ अंग माने हैं, उनके समकक्ष जैन परम्परा के निम्नांकित तत्त्व रखे जा सकते हैं—

१. यम...	...	महाव्रत
२. नियम...	...	योग-संग्रह
३. आसन...	...	स्थान, काय-क्लेश
४. प्राणायाम...	...	भाव प्राणायाम
५. प्रत्याहार...	...	प्रतिसंलीनता
६. धारणा...	...	धारणा
७. ध्यान...	...	ध्यान
८. समाधि...	...	समाधि

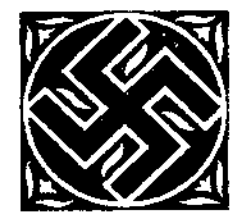
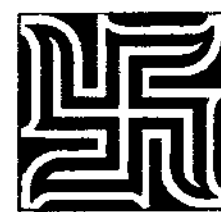
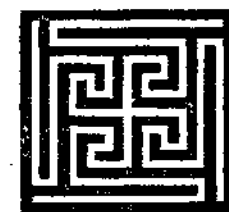
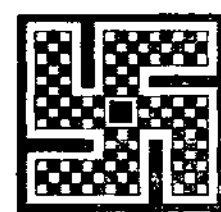
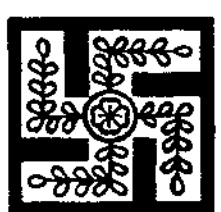
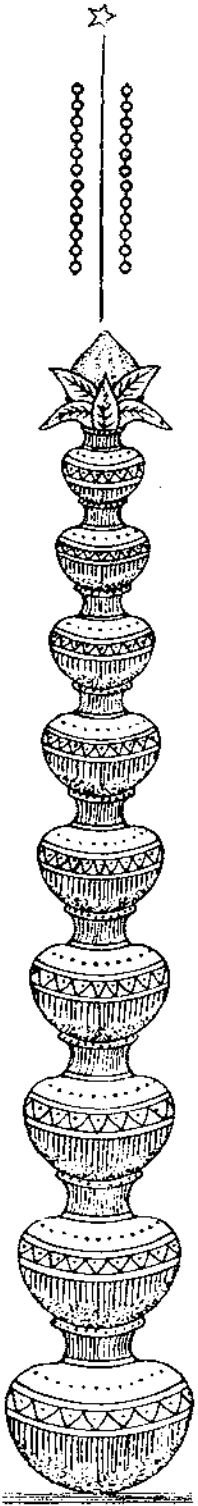
महाव्रतों के वही पाँच नाम हैं, जो यमों के हैं। परिपालन की दृष्टि से महाव्रत के दो रूप होते हैं—महाव्रत, अणुव्रत। अहिंसा आदि का निरपवाद रूप में सम्पूर्ण परिपालन महाव्रत हैं, जिनका अनुसरण श्रमणों के लिए अनिवार्य है। जब उन्हीं का पालन कुछ सीमाओं या अपवादों के साथ किया जाता है, तो वे अणु अपेक्षाकृत छोटे व्रत कहे जाते हैं। स्थानांग (५/१) समवायांग (२५) आवश्यक, आवश्यक निर्बुक्ति आदि में इस सम्बन्ध में विवेचन प्राप्त है।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र के प्रथम, द्वितीय तथा तृतीय प्रकाश में व्रतों का विस्तृत वर्णन किया है। गृहस्थों द्वारा आत्म-विकास हेतु परिपालनीय अणुव्रतों का वहाँ बड़ा मार्मिक विश्लेषण हुआ है। जैसा कि वर्णन प्राप्त है, आचार्य हेमचन्द्र ने गुर्जरेश्वर कुमारपाल के लिए योग-शास्त्र की रचना की थी। कुमारपाल साधना-परायण जीवन के लिए अति उत्सुक था। राज्य-व्यवस्था देखते हुए भी वह अपने को आत्म-साधना में लगाये रख सके, उसकी यह भावना थी। अतएव गृहस्थ-जीवन में रहते हुए भी आत्म-विकास की ओर अग्रसर हुआ जा सके, इस अभिप्रेत से हेमचन्द्र ने गृहस्थ जीवन को विशेषतः दृष्टि में रखा।

आचार्य हेमचन्द्र ऐसा मानते थे कि गृहस्थ में भी मनुष्य उच्च साधना कर सकता है, ध्यान-सिद्धि प्राप्त कर सकता है। उनके समक्ष उत्तराध्ययन का वह आदर्श था जहाँ “संति एगेहि भिक्खुहि गारत्या संजमुत्तरा” इन शब्दों में त्यागनिष्ठ, संयमोग्मुख गृहस्थों को किन्हीं २ साधुओं से भी उत्कृष्ट बताया है। आचार्य शुभचन्द्र ऐसा नहीं मानते थे। उनका कहना था कि बुद्धिमान और त्याग-सम्पन्न होने पर भी साधक, गृहस्थाश्रम, जो महा दुःखों से भरा है, अत्यन्त निन्दित है, उसमें रहकर प्रमाद पर विजय नहीं पा सकता, चञ्चल मन को वश में नहीं कर सकता। अतः आत्म-शान्ति के लिए महापुरुष गार्हस्थ्य का त्याग ही करते हैं। इतना ही नहीं, उन्होंने तो और भी कड़ाई से कहा कि किसी देश-विशेष और समय विशेष में आकाश-कुसुम और गर्दभ-शृंग का अस्तित्व मिल भी सकता है परन्तु किसी काल और किसी भी देश में गृहस्थाश्रम में रहते हुए ध्यान-सिद्धि अधिगत करना शक्य नहीं है।

आचार्य शुभचन्द्र ने जो यह कहा है, उसके पीछे उनका जो तात्त्विक मन्तव्य है, वह समीक्षात्मक दृष्टि से विवेच्य है।

सापवाद और निरपवाद व्रत-परम्परा तथा पतञ्जलि द्वारा प्रतिपादित यमों के तरतमार्त्मक रूप पर विशेषतः ऊहापोह किया जाना अपेक्षित है। पतञ्जलि यमों के सार्वभौम रूप को महाव्रत^५ शब्द से अभिहित करते हैं, जो विशेषतः जैन परम्परा से तुलनीय है। योगसूत्र के व्यास-भाष्य में इसका तल-स्पर्शी विवेचन हुआ है।



नियम

यमों के पश्चात् नियम आते हैं। नियम साधक के जीवन में उत्तरोत्तर परिस्कार लाने वाले साधन हैं। समवायांग सूत्र के बत्तीसवें समवाय में योग-संग्रह के नाम से बत्तीस नियमों का उल्लेख है, जो साधक की व्रत-सम्पदा की वृद्धि करने वाले हैं। आचरित अशुभ कर्मों की आलोचना, कष्ट में धर्म-दृढ़ता, स्वावलम्बी, तप, यश की अस्पृहा, अलोम, तितिक्षा, सरलता, पवित्रता, सम्यक् दृष्टि, विनय, धैर्य, संवेग, माया-शून्यता आदि का उनमें समावेश है।

पातञ्जलि द्वारा प्रतिपादित नियम तथा समवायांग के योग-संग्रह परस्पर तुलनीय हैं। सब में तो नहीं पर, अनेक बातों में इनमें सामंजस्य है। योग-संग्रह में एक ही बात को विस्तार से अनेक शब्दों में कहा गया है। इसका कारण यह है—जैन आगमों में दो प्रकार के अध्येता बताये गये हैं—संक्षेप-रुचि और विस्तार-रुचि। संक्षेप-रुचि अध्येता बहुत थोड़े में बहुत कुछ समझ लेना चाहते हैं और विस्तार-रुचि अध्येता प्रत्येक बात की विस्तार के साथ सुनना-समझना चाहते हैं। योग-संग्रह के बत्तीस भेद इसी विस्तार-रुचि-सापेक्ष निरूपण-शैली के अन्तर्गत आते हैं।

आसन

प्राचीन जैन परम्परा में आसन की जगह 'स्थान' का प्रयोग हुआ है। ओष निर्युक्ति-भाष्य (१५२) में स्थान के तीन प्रकार बतलाये गये हैं—ऊर्ध्व-स्थान, निषीदन-स्थान तथा शयन-स्थान।

स्थान का अर्थ गति की निवृत्ति अर्थात् स्थिर रहना है। आसन का शाब्दिक अर्थ है बैठना। पर, वे (आसन) खड़े, बैठे, सोते—तीनों अवस्थाओं में किये जाते हैं। कुछ आसन खड़े होकर करने के हैं, कुछ बैठे हुए और कुछ सोये हुए करने के। इस दृष्टि से आसन शब्द की अपेक्षा स्थान शब्द अधिक अर्थ-सूचक है।

ऊर्ध्व-स्थान—खड़े होकर किये जाने वाले स्थान—आसन ऊर्ध्व-स्थान कहलाते हैं। उनके साधारण, सविचार, सन्निरुद्ध, व्युत्सर्ग, समपाद, एकपाद तथा गृद्धोद्गीन—ये सात भेद हैं।

निषीदन-स्थान—बैठकर किये जाने वाले स्थानों—आसनों को निषीदन-स्थान कहा जाता है। उसके अनेक प्रकार हैं—निषद्या, वीरासन, पद्मासन, उत्कटिकासन, गोदोहिका, मकरमुख, कुक्कुटासन आदि।

आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में चतुर्थ प्रकाश के अन्तर्गत पर्यकासन, वीरासन, वज्रासन, पद्मासन, मद्रासन, दण्डासन, उत्कटिकासन या गोदोहासन व कायोत्सर्गासन का उल्लेख किया है।

आसन के सम्बन्ध में हेमचन्द्र ने एक विशेष बात कही है—जिस-जिस आसन के प्रयोग से साधक का मन स्थिर बने, उसी आसन का ध्यान के साधन के रूप में उपयोग किया जाना चाहिए।

हेमचन्द्र के अनुसार अमुक आसनों का ही प्रयोग किया जाय, अमुक का नहीं, ऐसा कोई निबन्धन नहीं है।

पातञ्जल योग के अन्तर्गत तत्सम्बद्ध साहित्य जैसे शिवसंहिता, घेरण्डसंहिता, हठयोगप्रदीपिका आदि ग्रन्थों में आसन, बन्ध, मुद्रा, पट्कर्म, कुम्भक, रेचक, पूरक आदि बाह्य योगांगों का अत्यन्त विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

काय-क्लेश

जैन-परम्परा में निर्जरा^{१०} के बारह भेदों^{११} में पाँचवाँ काय-क्लेश है। काय-क्लेश के अन्तर्गत अनेक दैहिक स्थितियाँ भी आती हैं तथा शीत, ताप आदि को समभाव से सहना भी इसमें सम्मिलित है। इस उपक्रम का काय-क्लेश नाम सम्भवतः इसलिए दिया गया है कि दैहिक दृष्टि से जन-साधारण के लिए यह क्लेश कारक है। पर, आत्म-रत साधक, जो देह को अपना नहीं मानता, जो क्षण-क्षण आत्माभिरुचि में संलग्न रहता है, ऐसा करने में कष्ट का अनुभव नहीं करता। औपपातिक सूत्र के बाह्य तप-प्रकरण में तथा दशाश्रुतस्कन्ध सूत्र की सप्तम दशा में इस सम्बन्ध में विस्तृत विवेचन है।

प्राणायाम

जैन आगमों में प्राणायाम के सम्बन्ध में विशेष वर्णन नहीं मिलता। जैन मनीषी, शास्त्रकार इस विषय में उदासीन से प्रतीत होते हैं। ऐसा अनुमान है, आसन और प्राणायाम को उन्होंने योग का बाह्यांग मात्र माना, अन्तरंग



नहीं। वस्तुतः ये हठयोग के ही मुख्य अंग हो गये। (लगभग छठी शती के पश्चात्) भारत में एक ऐसा समय आया, जब हठयोग का अत्यन्त प्राधान्य हो गया। वह केवल साधन नहीं रहा, साध्य बन गया। तभी तो हम देखते हैं, धेरण्ड-संहिता में आसनों को चौरासी से लेकर चौरासी लाख तक पहुँचा दिया गया।

हठयोग की अतिरंजित स्थिति का खण्डन करते हुए योगवासिष्ठकार ने लिखा है—

इस प्रकार की (चिन्तन-मननात्मक) युक्तियों—उपायों के होते हुए भी जो हठयोग द्वारा अपने मन को नियन्त्रित करना चाहते हैं, वे मानो दीपक को छोड़कर (काले) अंजन से अन्धकार को नष्ट करना चाहते हैं।

जो मूढ हठयोग द्वारा अपने चित्त को जीतने के लिए उद्यत हैं, वे मानो मृगाल-तन्तु से पागल हाथी को बाँध लेना चाहते हैं।^{१२}

आचार्य हेमचन्द्र और शुभचन्द्र ने प्राणायाम का जो विस्तृत वर्णन किया है, वह हठयोग-परम्परा से प्रभावित प्रतीत होता है।

भाव-प्राणायाम

कुछ जैन विद्वानों ने प्राणायाम को भाव-प्राणायाम के रूप में नई शैली से व्याख्यात किया है। उनके अनुसार बाह्य भाव का त्याग-रेचक, अन्तर्भाव की पूर्णता—पूरक तथा समभाव में स्थिरता कुम्भक है। श्वास प्रश्वास मूलक अभ्यास-क्रम को उन्होंने द्रव्य (बाह्य) प्राणायाम कहा। द्रव्य-प्राणायाम की अपेक्षा भाव-प्राणायाम आत्म-दृष्ट्या अधिक उपयोगी है, ऐसा उनका अभिमत था।

प्रत्याहार

महर्षि पतञ्जलि ने प्रत्याहार की व्याख्या करते हुए लिखा है—

“अपने विषयों के सम्बन्ध से रहित होने पर इन्द्रियों का चित्त के स्वरूप में तदाकार-सा हो जाना प्रत्याहार है।”^{१३}

जैन-परम्परा में निरूपित प्रतिसंलीनता को प्रत्याहार के समकक्ष रखा जा सकता है। प्रतिसंलीनता जैन वाङ्मय का अपना पारिभाषिक शब्द है। इसका अर्थ है—अशुभ प्रवृत्तियों से शरीर, इन्द्रिय तथा मन का संकोच करना। दूसरे शब्दों में इसका तात्पर्य अप्रशान्त से अपने को हटाकर प्रशस्त की ओर प्रयाण करना है। प्रतिसंलीनता के निम्नांकित चार भेद हैं—

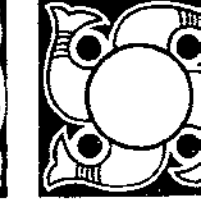
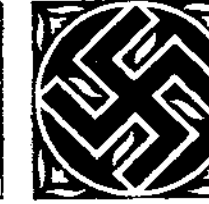
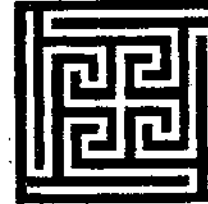
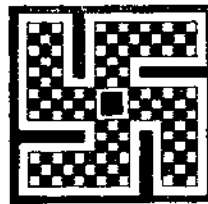
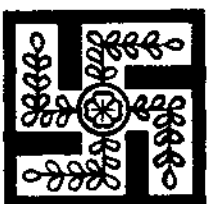
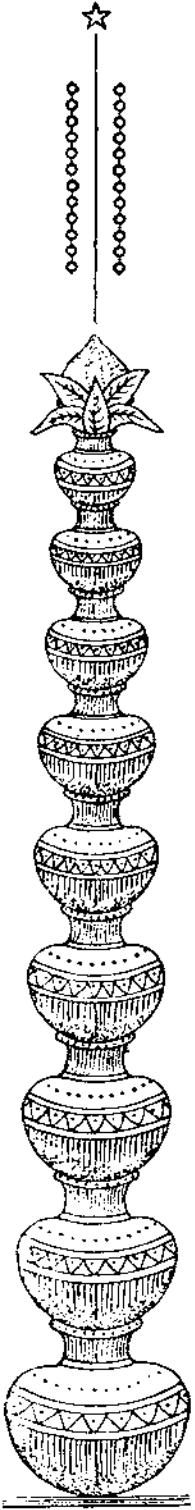
१. इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता—इन्द्रिय-संयम।
२. मनः प्रतिसंलीनता—मनः-संयम।
३. कषाय-प्रतिसंलीनता—कषाय-संयम।
४. उपकरण-प्रतिसंलीनता—उपकरण-संयम।

स्थूल रूपेण प्रत्याहार तथा प्रतिसंलीनता में काफी दूर तक समन्वय प्रतीत होता है। पर दोनों के आम्यन्तर रूप की सूक्ष्म गवेषणा अपेक्षित है, जिससे तद्गत तत्त्वों का साम्य, सामीप्य अथवा पार्थक्य आदि स्पष्ट हो सकें। औप-पातिक सूत्र बाह्य तप अधिकार तथा व्याख्या प्रज्ञप्ति सूत्र (२५-७-७) आदि में प्रतिसंलीनता का विवेचन है। निर्युक्ति, चूर्ण तथा टीका-साहित्य में इसका विस्तार है।

धारणा, ध्यान, समाधि

धारणा, ध्यान, समाधि—ये योग के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग हैं। पातञ्जल व जैन—दोनों योग-परम्पराओं में ये नाम समान रूप में प्राप्त होते हैं। आचार्य हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र, यशोविजय आदि विद्वानों ने अपनी-अपनी शैली द्वारा इनका विवेचन किया है।

धारणा के अर्थ में एकाग्र मनःसन्निवेशना शब्द भी प्रयुक्त हुआ है। धारणा आदि इन तीन अंगों का अत्यधिक महत्त्व इसलिए है कि योगी इन्हीं के सहारे उत्तरोत्तर दैहिकता से छूटता हुआ आत्मोत्कर्ष की उन्नत भूमिका पर आरूढ़



होता जाता है। प्रश्न व्याकरण सूत्र के सम्बन्ध द्वारा तथा व्याख्याप्रज्ञप्ति सूत्र के पञ्चीसवें शतक के सप्तम उद्देशक आदि अनेक आगमिक स्थलों में ध्यान आदि का विशद विश्लेषण हुआ है।

महर्षि पतञ्जलि ने बाहर—आकाश, सूर्य, चन्द्र आदि; शरीर के भीतर नाभिचक्र, हृत्कमल आदि में से किसी एक देश में चित्त-वृत्ति लगाने को धारणा^{१४} कहा है। उसमें—ध्येय-वस्तु में वृत्ति की एकतानता अर्थात् उसी वस्तु में चित्त का एकाग्र हो जाना ध्यान^{१५} है। जब केवल ध्येय मात्र की ही प्रतीति हो तथा चित्त का अपना स्वरूप शून्य जैसा हो जाय, तब वह ध्यान समाधि^{१६} हो जाता है। धारणा, ध्यान और समाधि का यह संक्षिप्त वर्णन है। भाष्यकार व्यास ने इनका बड़ा विस्तृत तथा मार्मिक विवेचन किया है।

आन्तरिक परिष्कृति, आध्यात्मिक विशुद्धि के लिए जैन साधना में भी ध्यान का बहुत बड़ा महत्त्व रहा है। अन्तिम तीर्थंकर महावीर का अन्यान्य विशेषणों के साथ एक विशेषण ध्यान-योगी भी है। आचारांग सूत्र के नवम अध्ययन में जहाँ भगवान महावीर की चर्या का वर्णन है, वहाँ उनकी ध्यानारम्भक साधना का भी उल्लेख है। विविध आसनों से विविध प्रकार से, निरान्त असंग भाव से उनके ध्यान करते रहने के अनेक प्रेरक प्रसंग वहाँ वर्णित हैं। एक स्थान पर लिखा गया है कि वे सोलह दिन-रात तक सतत ध्यानशील रहे। अतएव उनकी स्तवना में वहीं पर कहा गया है कि वे अनुत्तर ध्यान के आराधक हैं। उनका ध्यान शंख और इन्द्र की भांति परम शुक्ल है।

वास्तव में जैन-परम्परा की जैसी स्थिति आज है, महावीर के समय में सर्वथा वैसी नहीं थी। आज लम्बे उपवास, अनशन आदि पर जितना जोर दिया जाता है, उसकी तुलना के मानसिक एकाग्रता, चैतन्य वृत्तियों का नियन्त्रण, ध्यान, समाधि आदि गौण हो गये हैं। फलतः ध्यान सम्बन्धी अनेक तथ्यों का लोप हो गया है।

स्थानांग सूत्र अध्ययन चार उद्देशक एक, समवायांग सूत्र समवाय चार, आवश्यक-निर्युक्ति कायोत्सर्ग अध्ययन में तथा और भी अनेक आगम-ग्रन्थों में एतत्सम्बन्धी सामग्री पर्याप्त मात्रा में बिखरी पड़ी है।

आचार्य हेमचन्द्र और शुभचन्द्र ने ध्याता की योग्यता व ध्येय के स्वरूप का विवेचन करते हुए ध्येय को पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत—यों चार प्रकार का माना है। उन्होंने पार्थिवी, आग्नेयी, वायवी, वाहणी और तत्त्व भू के नाम से पिण्डस्थ ध्येय की पाँच धारणाएँ बताई हैं, जिनके सम्बन्ध में ऊहापोह की विशेष आवश्यकता है। इसी प्रकार पदस्थ, रूपस्थ और रूपातीत ध्यान का भी उन्होंने विस्तृत विवेचन किया है, जिनका सूक्ष्म अनुशीलन अपेक्षित है।

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र के सप्तम, अष्टम, नवम, दशम और एकादश प्रकाश में ध्यान का विशद वर्णन है।

धर्म-ध्यान और शुक्ल-ध्यान, जो आत्म-नैर्मल्य के हेतु हैं, का उक्त आचार्यों (हरिभद्र, हेमचन्द्र, शुभचन्द्र) ने अपने ग्रन्थों में सविस्तार वर्णन किया है। ये दोनों आत्मलक्षी हैं। शुक्ल^{१७} ध्यान विशिष्ट ज्ञानी साधकों के होता है। वह अन्तःस्थैर्य या आत्म-स्थिरता की पराकाष्ठा की दशा है। धर्म-ध्यान उससे पहले की स्थिति है, वह शुभ मूलक है। जैन-परम्परा में अशुभ, शुभ और शुद्ध इन तीन शब्दों का विशेष रूप से व्यवहार हुआ है। अशुभ पापमूलक, शुभ पुण्यमूलक तथा शुद्ध पाप-पुण्य से अतीत निरावरणात्मक स्थिति है।

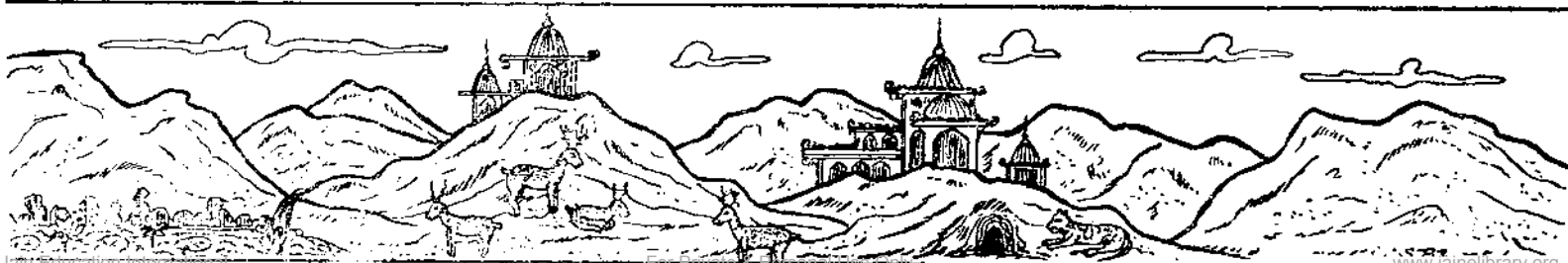
धर्म-ध्यान के चार भेद^{१८} हैं—आज्ञा-विचय, अपाय-विचय, विपाक-विचय तथा संस्थान-विचय। स्थानांग, समवायांग, आवश्यक आदि अर्द्धमागधी आगमों में विकीर्ण रूप में इनका वर्णन मिलता है।

आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थान—ये ध्येय हैं। जैसे स्थूल या सूक्ष्म आलम्बन पर चित्त एकाग्र किया जाता है। वैसे ही इन ध्येय विषयों पर चित्त को एकाग्र किया जाता है। इनके चिन्तन से चित्त की शुद्धि होती है, चित्त निरोध दशा की ओर अग्रसर होता है, इसलिए इनका चिन्तन धर्म-ध्यान कहलाता है।

धर्म-ध्यान चित्त-शुद्धि या चित्त-निरोध का प्रारम्भिक अभ्यास है। शुक्ल-ध्यान में यह अभ्यास परिपक्व हो जाता है।

मन सहज ही चञ्चल है। विषयों का आलम्बन पाकर वह चञ्चलता बढ़ती जाती है। ध्यान का कार्य उस चंचल एवं भ्रमणशील मन को शेष विषयों से हटा, किसी एक विषय पर स्थिर कर देना है।

ज्यों-ज्यों स्थिरता बढ़ती है, मन शान्त और निष्प्रकम्प होता जाता है। शुक्ल-ध्यान के अन्तिम चरण में मन



की प्रवृत्ति का पूर्ण निरोध—पूर्ण सम्भर हो जाता है अर्थात् समाधि अवस्था प्राप्त हो जाती है। आचार्य उमास्वाति ने शुक्ल-ध्यान के चार भेद^{१६} बतलाये हैं—

१. पृथक्त्व-वितर्क-सविचार, २. एकत्व-वितर्क-अविचार, ३. सूक्ष्म-क्रिया-प्रतिपात्ति, ४. व्युपरत-क्रिया-निवृत्ति।

आचार्य हेमचन्द्र ने शुक्ल-ध्यान के स्वामी, शुक्ल-ध्यान का क्रम, फल, शुक्ल ध्यान^{२०} द्वारा घाति-अघाति कर्मों का अपचय आदि अनेक विषयों का विश्लेषण किया है, जो मनीष्य है।

जैन परम्परा के अनुसार वितर्क का अर्थ श्रुतावलम्बी विकल्प है। पूर्वधर-विशिष्ट ज्ञानी मुनि पूर्व श्रुत-विशिष्ट ज्ञान के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन लेकर ध्यान करता है किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय (क्षण-क्षणवर्ती अवस्था विशेष) पर स्थिर नहीं रहता। वह उसके विविध परिणामों पर संचरण करता है—शब्द से अर्थ पर, अर्थ से शब्द पर तथा मन, वाणी एवं देह में एक दूसरे की प्रकृति पर संक्रमण करता है—अनेक अपेक्षाओं से चिन्तन करता है। ऐसा करना पृथक्त्ववितर्क-शुक्ल-ध्यान है। शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह पर संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही होता है, अतः उस अंश में मन की स्थिरता बनी रहती है। इस अपेक्षा से इसे ध्यान कहने में आपत्ति नहीं है।

महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में सवितर्क-समापत्ति^{२१} (समाधि) का जो वर्णन किया है, वह पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्ल ध्यान से तुलनीय है। वहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के विकल्पों से संकीर्ण—मिलित समापत्ति-समाधि को सवितर्क-समापत्ति कहा है। इन (पातञ्जल और जैन योग से सम्बद्ध) दोनों की गहराई में जाने से अनेक दार्शनिक तथ्य स्पष्ट होंगे।

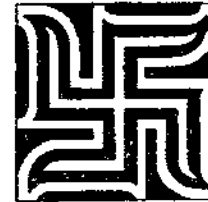
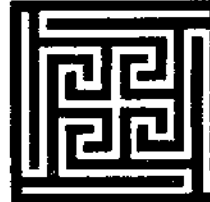
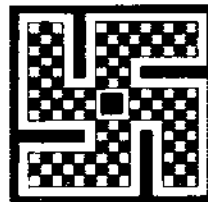
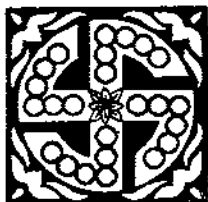
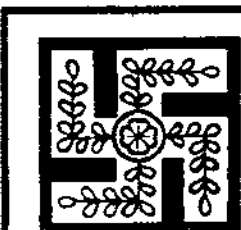
पूर्वधर विशिष्ट ज्ञानी पूर्वश्रुत—विशिष्ट ज्ञान के किसी एक परिणाम पर चित्त को स्थिर करता है। वह शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह पर संक्रमण नहीं करता। वैसा ध्यान एकत्व विचार-अवितर्क कहा जाता है। पहले में पृथक्त्व है अतः वह सविचार है, दूसरे में एकत्व है अतः वह अविचार है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि पहले में वैचारिक संक्रम है, दूसरे में असंक्रम। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र^{२२} में इन्हें पृथक्त्व-श्रुत-सविचार तथा एकत्व-श्रुत अविचार के नाम से अभिहित किया है।

महर्षि पतञ्जलि द्वारा वर्णित निर्वितर्क-समापत्ति एकत्व-विचार-अवितर्क से तुलनीय है। पतञ्जलि लिखते हैं कि जब स्मृति परिशुद्ध हो जाती है अर्थात् शब्द और प्रतीति की स्मृति लुप्त हो जाती है, चित्तवृत्ति केवल अर्थमात्र का। ध्येय मात्र का निर्भास कराने वाली ध्येय मात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष कराने वाली हो, स्वयं स्वरूप-शून्य की तरह बन जाती है, तब वैसी स्थिति निर्वितर्क समापत्ति के नाम से अभिहित होती है।

यह विवेचन स्थूल ध्येय पदार्थों की दृष्टि से है। जहाँ ध्येय पदार्थ सूक्ष्म हों, वहाँ उक्त दोनों की संज्ञा सविचार और निर्विचार समाधि^{२३} है, ऐसा पतञ्जलि कहते हैं।

निर्विचार-समाधि में अत्यन्त वैशद्य—नैर्मल्य रहता है, अतः योगी को उसमें अध्यात्म-प्रसाद-आत्म-उल्लास प्राप्त होता है। उस समय योगी की प्रज्ञा ऋतम्भरा होती है। ऋतभू का अर्थ सत्य है। वह प्रज्ञा या बुद्धि सत्य को ग्रहण करने वाली होती है। उसमें संशय और शुभ का लेश भी नहीं रहता। उस ऋतम्भरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों के प्रभाव से अन्य संस्कारों का अभाव हो जाता है। अन्ततः ऋतम्भरा प्रज्ञा से जनित संस्कारों में भी आसक्ति न रहने के कारण उनका भी निरोध हो जाता है। यों समस्त संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं। फलतः संसार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाने से निर्बीज-समाधि-दशा प्राप्त होती है।

इस सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण कुछ भिन्न है। जैसाकि पहले उल्लेख हुआ है, जैन दर्शन के अनुसार आत्मा पर जो कर्मावरण छाये हुए हैं, उन्हीं ने उसका शुद्ध स्वरूप आवृत्त कर रखा है। ज्यों-ज्यों उन आवरणों का विलय होता जायेगा, आत्मा की वैभाविक दशा छूटती जायेगी और वह (आत्मा) स्वाभाविक दशा प्राप्त करती जायेगी। आवरणों के अपचय का नाश के जैन दर्शन में तीन क्रम हैं—क्षय, उपशम और क्षयोपशम। किसी कार्मिक आवरण का सर्वथा निर्मूल या नष्ट हो जाना क्षय, अवधि-विशेष के लिए मिट जाना या शान्त हो जाना उपशम तथा कर्म की कतिपय प्रकृतियों का सर्वथा क्षीण हो जाना और कतिपय प्रकृतियों का समय विशेष के लिए शान्त हो जाना क्षयोपशम कहा जाता है। कर्मों के उपशम से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह सबीज है, क्योंकि वहाँ कर्म-बीज का सर्वथा उच्छेद



नहीं हुआ है, केवल उपशम हुआ है। कार्मिक आवरणों के क्षय से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह निर्बीज है; क्योंकि वहाँ कर्म-बीज सम्पूर्णतः दग्ध हो जाता है। कर्मों के उपशम से प्राप्त उन्नत दशा फिर अबनत दशा में परिवर्तित हो सकती है, पर कर्म-क्षय से प्राप्त उन्नत दशा में ऐसा नहीं होता।

पातञ्जल और जैन योग के इस पहलू पर गहराई से विचार करने की आवश्यकता है।

कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग जैन परम्परा का एक पारिभाषिक शब्द है। इसका ध्यान के साथ विशेष सम्बन्ध है, कायोत्सर्ग का शाब्दिक अर्थ है—शरीर का त्याग—विसर्जन। पर जीते जी शरीर का त्याग कैसे संभव है? यहाँ शरीर के त्याग का अर्थ है शरीर की चंचलता का विसर्जन—शरीर का शिथिलीकरण, शारीरिक ममत्व का विसर्जन—शरीर मेरा है, इस भावना का विसर्जन। ममत्व और प्रवृत्ति मन और शरीर में तनाव पैदा करते हैं। तनाव की स्थिति में ध्यान कैसे हो? अतः मन को शांत व स्थिर करने के लिए शरीर को शिथिल करना बहुत आवश्यक है। शरीर उतना शिथिल होना चाहिए, जितना किया जा सके। शिथिलीकरण के समय मन पूरा खाली रहे, कोई चिन्तन न हो, जप भी न हो, यह न हो सके तो ओम् आदि का ऐसा स्वर-प्रवाह हो कि बीच में कोई अन्य विकल्प आ ही न सके। उत्तराध्ययन सूत्र, आवश्यक-नियुक्ति, दशवैकालिक-चूर्ण आदि में विकीर्ण रूप में एतत्सम्बन्धी सामग्री प्राप्य है। अमितगति-श्रावका चार और मूलाचार में कायोत्सर्ग के प्रकार, काल-मान आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला गया है। कायोत्सर्ग के काल-मान में उच्छ्वासों की गणना^{२५} एक विशेष प्रकार वहाँ वर्णित है, जो मननीय है।

कायोत्सर्ग के प्रसंग में जैन आगमों में विशेष प्रतिमाओं का उल्लेख है। प्रतिमा अभ्यास की एक विशेष दशा है। भद्रा प्रतिमा, महा भद्रा प्रतिमा, सर्वतोभद्रा प्रतिमा तथा महाप्रतिमा में—कायोत्सर्ग की विशेष दशाओं में स्थित होकर भगवान महावीर ने ध्यान किया था, जिनका उन उन आगमिक स्थलों में उल्लेख है, जो महावीर की साधना से सम्बद्ध हैं। स्थानांग सूत्र में सुभद्रा प्रतिमा का भी उल्लेख है। इनके अतिरिक्त समाधि-प्रतिमा, उपधान-प्रतिमा, विवेक-प्रतिमा, व्युत्सर्ग-प्रतिमा, क्षुत्सिकाकामोद-प्रतिमा, यवमध्या प्रतिमा, वज्रमध्या प्रतिमा आदि का भी आगम-साहित्य में उल्लेख मिलता है। पर इनके स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विशेष प्राप्त नहीं हैं। प्रतीत होता है, यह परम्परा लुप्त हो गई। यह एक गवेषणा-योग्य विषय है।

आलम्बन, अनुप्रेक्षा, भावना

ध्यान को परिपुष्ट करने के लिए जैन आगमों में उनके आलम्बन, अनुप्रेक्षा आदि पर भी विचार किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने योगशास्त्र में इनकी विशेष चर्चा की है। उदाहरणार्थ—उन्होंने शान्ति, मुक्ति, मार्दव तथा आर्जव को शुक्ल-ध्यान का आलम्बन कहा है। अनन्तवृत्तिता अनुप्रेक्षा, विपरिणाम-अनुप्रेक्षा, अशुभ-अनुप्रेक्षा तथा उपाय-अनुप्रेक्षा में शुक्ल ध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ हैं।

ध्यान के लिए अपेक्षित निद्वन्द्वता के लिए जैन आगमों में द्वादश भावनाओं का वर्णन है। आचार्य हेमचन्द्र, शुभचन्द्र आदि ने भी उनका विवेचन किया है। वे भावनाएँ निम्नांकित हैं—

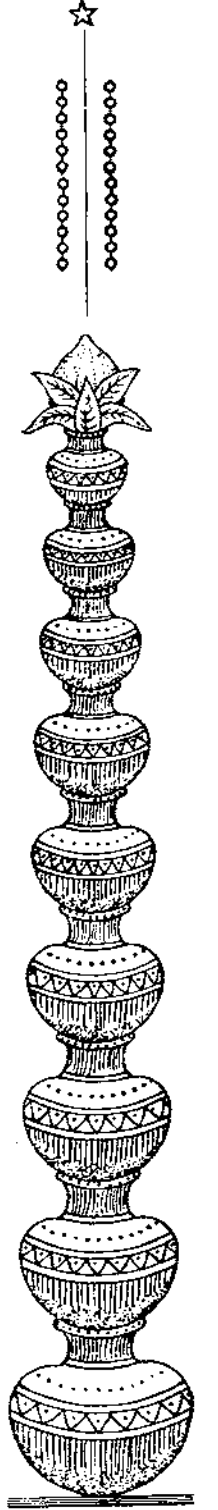
अनित्य, अशरण, मव, एकत्व, अन्यत्व, अशौच, आसव, सम्बर, निर्जरा, धर्म, लोक एवं बोधि-दुर्लभता।

इन भावनाओं के विशेष अभ्यास का जैन परम्परा में एक मनोवैज्ञानिकता पूर्ण व्यवस्थित क्रम रहा है। मानसिक आवेगों को क्षीण करने के लिए भावनाओं के अभ्यास का बड़ा महत्त्व है।

आलम्बन, अनुप्रेक्षा, भावना आदि का जो विस्तृत विवेचन जैन (योग के) आचार्यों ने किया है, उसके पीछे विशेषतः यह अभिप्रेत रहा है कि चित्त-वृत्तियों के निरोध के लिए अपेक्षित निर्मलता, विशदता एवं उज्वलता का अन्तर्मन में उद्भव हो सके।

आचार्य हेमचन्द्र का अनुसूत विवेचन

आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र का अन्तिम प्रकाश (अध्याय) उनके अनुभव पर आधृत है। उसका प्रारम्भ करते हुए वे लिखते हैं—



“शास्त्र रूपी समुद्र से तथा गुरु-मुख से जो मैंने प्राप्त किया, वह पिछले प्रकाशों (अध्यायों) में मैंने मली-भांति विवेचित कर ही दिया है। अब, मुझे जो अनुभव से प्राप्त है, वह निर्मल तत्त्व प्रकाशित कर रहा है, २७।”

इस प्रकाश में उन्होंने मन का विशेष रूप से विश्लेषण किया है। उन्होंने योगाभ्यास के प्रसंग में विक्षिप्त, यातायात, श्लिष्ट तथा सुलीन—यों मन के चार भेद किये हैं। उन्होंने अपनी दृष्टि से इनकी विशद व्याख्या की है। योग-शास्त्र का यह अध्याय साधकों के लिए विशेष रूप से अध्येतव्य है।

हेमचन्द्र ने विविध प्रसंगों में बहिरात्मा, अन्तरात्मा, परमात्मा, ओदासीन्य, उम्मनीभाव, दृष्टि-जय, मनो जय आदि विषयों पर भी अपने विचार उपस्थित किये हैं। बहिरात्मा, अन्तरात्मा तथा परमात्मा के रूप में आत्मा के जो तीन भेद किये जाते हैं, वे आगमोक्त हैं। विशेषावश्यक भाष्य में उनका सविस्तार वर्णन है।

इस अध्याय में हेमचन्द्र ने और भी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों की चर्चा की है, जो यद्यपि संक्षिप्त हैं पर विचार-सामग्री की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण हैं।

करणिय

योग-दर्शन, साधना और अभ्यास के मार्ग का उद्बोधक है। उसकी वैचारिक पृष्ठ-भूमि या तात्त्विक आधार प्रायः सांख्य दर्शन है। अतएव दोनों को मिलाकर सांख्य-योग कहा जाता है। दोनों का सम्मिलित रूप ही एक समग्र दर्शन बनता है, जो ज्ञान और चर्चा जीवन के उभय पक्ष का समाधायक है। सांख्य दर्शन अनेक पुरुषवादी है। पुरुष का आशय यहाँ आत्मा से है। जैन दर्शन के अनुसार भी आत्मा अनेक है। जैन दर्शन और सांख्य दर्शन के अनेकात्मवाद पर गवेषणात्मक दृष्टि से सम्भीर परिशीलन वाञ्छनीय है।

इसके अतिरिक्त पातञ्जल योग तथा जैन योग के अनेक ऐसे पहलू हैं, जिन पर गहराई में तुलनात्मक अध्ययन किया जाना चाहिए। क्योंकि इन दोनों परम्पराओं में काफी सामंजस्य है। यह सामंजस्य केवल बाह्य है या तत्त्वतः उनमें कोई ऐसी सूक्ष्म आन्तरिक समन्विति भी है, जो उनका सम्बन्ध किसी एक विशेष स्रोत से जोड़ती हो, यह विशेष रूप से गवेषणीय है।

१ श्वेताम्बर जैनों का आगम-साहित्य अर्द्धमागधी प्राकृत में है।

२ दिगम्बर जैनों का साहित्य शौरसेनी प्राकृत में है।

३ योगसूत्र १-२

४ योगसूत्र २, २६

५ योगसूत्र १, ३।

६ तृणगोमयकाष्ठाग्निकण दीपप्रभोपमाः।

रत्नताराकचन्द्रामाः सद्दृष्टेर्दृष्टिरदृष्टधा ॥—योगदृष्टि समुच्चय १५

७ योगशास्त्र १, १५

८ जाति देशकाल समयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम्।—योगसूत्र २, ३१

९ जायते येन येनेह, विहितेन स्थिरं मनः।

तत्तदेव विधातव्यमासनं ध्यानसाधनम् ॥—योगशास्त्र ४-१३४

१० शुभ प्रवृत्ति से होने वाली आत्मा की आंशिक उज्ज्वलता निर्जरा कहलाती है।

११ १. अनशन, २. अनोदरी (अवमोदर्य), ३. निश्वाचरी, ४. रस-परित्याग, ५. काय-व्लेश, ६. प्रतिसंलीनता, ७. प्राय-श्चित्त, ८. विनय, ९. वैयावृत्य (सेवा), १०. स्वाध्याय, ११. ध्यान, १२. कायोत्सर्ग।

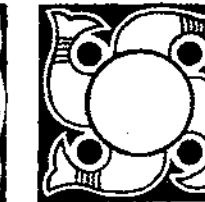
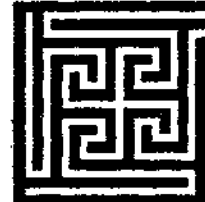
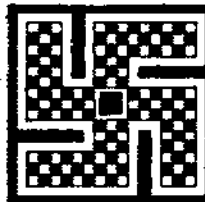
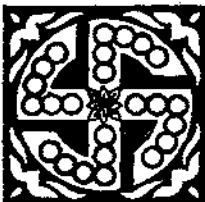
१२ सतीषु युक्तिस्वेतासु, हठान्नियमयन्ति ये।

चेतस्ते दीपमुत्सृज्य, विनिध्नन्ति तमोऽञ्जनैः ॥

विमूढाः कर्तुमुद्युक्ता, ये हठाच्चेतसो जयम्।

ते निबध्नन्ति नागेन्द्रमुन्मत्तं विसतन्तुभिः ॥

—योगवासिष्ठ उपशम प्रकरण ६, ३७-३८

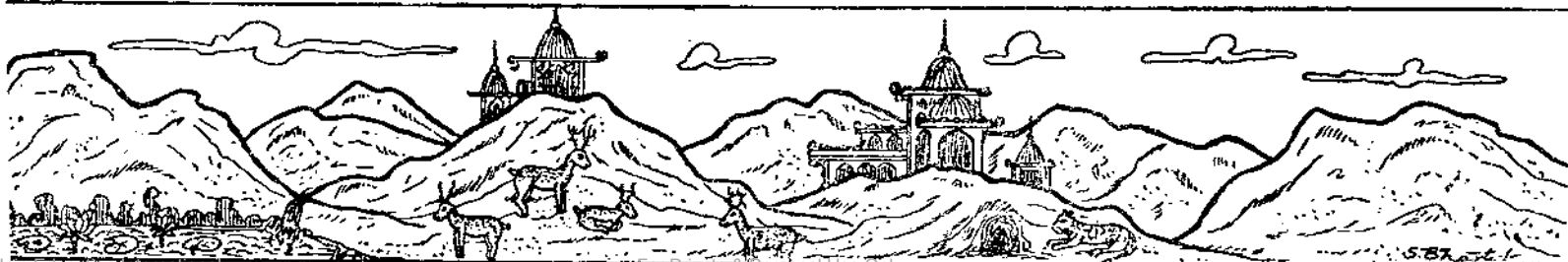


- १३ स्वविषया सम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः ।—योगसूत्र २-५४
 १४ देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।—योगसूत्र ३, १
 १५ तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।—योगसूत्र ३, २
 १६ तदेवार्थमात्रनिर्मासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः ।—योगसूत्र ३, ३
 १७ शुचं बलमयतीति शुक्लम्—शोकं ग्लपयतीत्यर्थः ।—तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक १
 १८ आज्ञाऽपायविपाकसंस्थानविचयाय धर्ममप्रमत्तसंयतस्य ।—तत्त्वार्थसूत्र ६.३७
 १९ पृथक्त्वैकत्ववितर्कसूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिव्युपरतक्रियानिवृत्तीनि ।—तत्त्वार्थसूत्र ६.४१
 २० आत्मा के मूल गुणों का घात करने वाले ।
 २१ तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णां सवितर्कां समापत्तिः ।—योगसूत्र १.४२
 २२ ज्ञेयं नानात्वं श्रुतविचारमैक्यं श्रुताविचारं च ।
 सूक्ष्मक्रियमुत्सन्नक्रियमिति भेदैश्च चतुर्धा तत् ॥ ११.५
 २३ स्मृति परिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्र निर्मासा निर्वितर्का ।—योगसूत्र १.४३
 २४ एतयैव सविचारा निर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।—योगसूत्र १.४४
 २५ अष्टोत्तरशतौच्छ्वासः कायोत्सर्गः प्रतिक्रमे ।
 सान्ध्ये प्राभातिके वार्ध-मन्यस्तत्सप्तविंशतिः ॥
 सप्तविंशतिरुच्छ्वासाः संसारोन्मूलनक्षमे ।
 सन्ति पञ्च नमस्कारे, नवधा चिन्तिते सति ॥—अमितिगति श्रावकाचार ६. ६५-६६
 २६ श्रुतसिन्धोर्गुरुमुखतो, यदधिगतं तदिह दक्षितं सम्यक् ।
 अनुभवसिद्धमिदानीं, प्रकाश्यते तत्त्वमिदममलम् ॥—योगशास्त्र १२.१

जीवदया दम सच्चं अचोरियं बभचेर सतोसे ।
 सम्मद्दंसण-णाणे तओ य सीलस्स परिवारो ॥

—शीलपाहुड १६

जीव दया, दम, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, सम्यग्दर्शन, ज्ञान और तप—
 यह सब शील का परिवार है । अर्थात् शील-सदाचार के अंग हैं ।





साधना पथ के दृढब्रती साधक—जैन श्रमण की आचार-विधि का आगम-सम्मत एवं सर्वांगीण-सरल विवेचन विदुषी आर्या चन्द्रावती जी ने यहीं प्रस्तुत किया है।

□ आर्या चन्द्रावती 'जैन सिद्धान्ताचार्य'
[विदुषी लेखिका तथा साधनानिष्ठ श्रमणी]

श्रमणाचार : एक अनुशीलन

आर्य संस्कृति का मौलिक तत्त्व—आचार

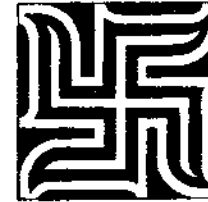
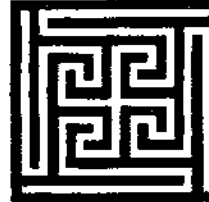
आर्य संस्कृति में एक ऐसा मौलिक महत्त्व है जिसके आधार पर भारत के गौरव की प्राण प्रतिष्ठा हुई है। उसका नाम है 'आचार'। 'आचार' भारत का ऐसा चमचमाता सितारा है जिसकी अत्युज्वल यशोरश्मियाँ विराट्-विश्व में यत्र-तत्र-सर्वत्र परिध्याप्त हो रही हैं। आचार आर्य संस्कृति की महिमा का मूलाधार है, और जन-जीवन की प्रतिष्ठा का प्राण है। आचार के बल पर ही मानव-महामानव एवं आत्मा-परमात्मा के चरमोत्कृष्ट गौरव के गगनचुम्बी शिखर पर चढ़कर अत्युच्च पद पर प्रतिष्ठित होता है। भारतीय संस्कृति से यदि आचार जैसा मौलिक तत्त्व निकाल दिया जाय तो वह नवनीत-विहीन दुग्धवत निस्सार है, जीवशून्य देहवत मृतक है, एवं अंक रहित शून्यवत शून्य है। 'आचार' ही भारत को जगद्गुरु बनाने की योग्यता का उपहार दिलाने का सर्वथा समर्थ साधन है। इसीलिए महान श्रुतधर आचार्य भद्रबाहु ने कहा है—अंगणं कि सारो—आयारो !—अंगों (श्रुतज्ञान) का सार क्या है? आचार !

भारत देश जितना कृषि प्रधान है उतना ही अधिक ऋषि प्रधान भी है। यहाँ जहाँ नोलांचल फहराती अन्न की फसलें झूमती हैं तो वहीं उनके चारों ओर चक्कर लगाती रंग-विरंगे वसन पहने कोकिल कंठी कृषक वधुएँ एवं कृषक कन्याएँ ऋषि-मुनियों की अमर यशोगाथाएँ अपने स्वर्गीय संगीतों से मुखर करती रहती हैं।

विराट् हृदय भारत के पुण्य प्रांगण में अनेक धर्मों की संस्कृतियों का उद्गम, संरक्षण एवं संवर्द्धन हुआ है। जैन, बौद्ध, ईसाई, इस्लाम, पारसी, सिक्ख इत्यादि। किन्तु शत सहस्र लक्षाधिक धर्म संस्कृतियों में भारत की अति-प्राचीन एवं अपनी निजि दो मौलिक संस्कृतियाँ हैं एक है श्रमण संस्कृति, दूसरी है ब्राह्मण संस्कृति। दोनों संस्कृतियों में कहीं एकरूपता है, तो कहीं अनेकरूपता भी है। फिर भी दोनों एक-दूसरे के समीप हैं। दोनों के तुलनात्मक संशोधन करने में अतीव-गंभीर अध्ययन व श्रम अपेक्षित है। अतः यहाँ एकमात्र श्रमण संस्कृति के एक महान् तत्त्व 'श्रमणाचार' पर विवेचन कर रहे हैं।

श्रमण साधना में आचार का स्थान—परिभाषा व प्रभाव

अध्यात्म विज्ञान के आविष्कार का फल है धर्म और धर्म के आविष्कर्ता या संशोधक है धर्म-गुरु। भौतिक-विज्ञान के आविष्कर्ता वैज्ञानिक होते हैं और उसका फल है बाहर के जड़ परिवर्तन, वायुयान, पंखे, रेडियो, सिनेमा, विद्युत्, प्रेस, टेलीफोन, टेलिविजन, रेफ्रीजरेटर इत्यादि लाखों यांत्रिक साधन भौतिक विज्ञान के प्रतीक हैं। और आत्म-विज्ञान के आविष्कर्ता होते हैं धर्म-गुरु। जो बाहर के समस्त साधनों को सीमित कर एकमात्र शुद्धात्मा की खोज में लग जाते हैं। यद्यपि भौतिक विज्ञान एवं आत्म-विज्ञान दोनों का एकमात्र उद्देश्य है सुख, किन्तु दोनों से प्राप्त हुए सुख में दिन-रात अथवा आकाश-पाताल का अन्तर है। एक अशाश्वत है तो दूसरा शाश्वत। एक की प्राप्ति संरक्षण एवं



विनाश। तीनों में दुःख है, श्रम है, किन्तु दूसरा सहज है और उसकी प्राप्ति भी सरल एवं स्वाभाविक है। आत्म-विज्ञान का उद्देश्य भी विश्व की सुख-शान्ति है किन्तु विश्व-शान्ति आत्म-शान्ति के बिना असम्भव है। अतः धर्मगुरु आत्म-शान्ति के प्रमुख साधन से ही विश्व-शान्ति का अमृत झरना प्रवाहित करता है।

विश्व के प्रत्येक धर्मगुरु का जीवन आचार पर अवलम्बित है किन्तु आधुनिक विश्व में सर्वोत्कृष्ट स्वावलम्बन एवं स्वन्त्रता की कसौटी पर परीक्षण करने पर जैन श्रमण का आचार सर्वोच्च माना जाता है। जैनश्रमण की आचार पद्धति इतनी महान् है कि जन-जन ही नहीं विश्व-विजेता चक्रवर्ती सम्राट् भी उसके समादर में सहज नत हो जाता है। श्रमणाचार की परिभाषा से उसका वास्तविक मूल्यांकन निर्धारित होता है।

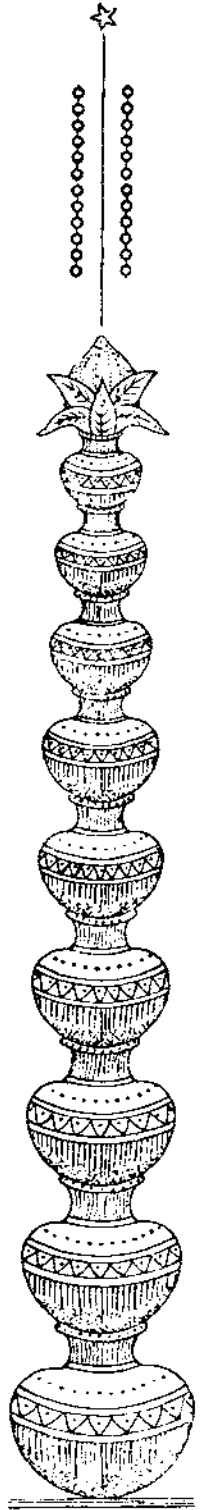
'श्रमण' और 'आचार' इन दोनों शब्दों के समन्वय से श्रमणाचार की निष्पत्ति हुई है। संस्कृत भाषा के अनुसार 'आ' उपसर्गपूर्वक 'चर' धातु से 'आचार' शब्द बनता है उसका तात्पर्य है 'आ-समगतात् चर्यत इति आचारः' "जीवन की प्रत्येक क्रिया में जो ओतप्रोत हो वह आचार है। उसमें क्या खाना, कैसे खाना ऐसे ही चलना, बोलना, सोना, बैठना, चिन्तन करना इत्यादि जीवन की समस्त आन्तरिक एवं बाह्य क्रियाओं का समावेश हो जाता है। आचार से पूर्व इसमें 'श्रमण' शब्द संयुक्त है। श्रमण शब्द की अनेक शास्त्रीय व्याख्याएँ हैं। 'श्रम' शब्द अनेक तात्पर्यों से विभूषित है जैसे श्रम, सम, शमन, सुमन, आदि-आदि उसमें एक अर्थ है "श्राम्यतीति श्रमणः" अर्थात् जो मोक्ष के लिए श्रम पुरुषार्थ करता है वह श्रमण है। द्वितीय तात्पर्य है "समता से श्रमण" होता है। "जो सन्तु और मित्र को समान भाव से देखता है वह श्रमण है। जो विश्व के सभी भूत अर्थात् जीवात्माओं को अपनी आत्मा के समान समझकर आत्मवत व्यवहार करता है वह श्रमण है।" यही बात वैदिक दर्शन में भी है। उत्तराख्ययन सूत्र के उन्नीसवें अध्याय में श्रमण की बहुत सुन्दर व्याख्या की गई, वह है—"जो लाभ एवं हानि में, सुख व दुःख में, जीवन तथा मृत्यु में निन्दा व प्रशंसा में, मान तथा अपमान में समभाव रखता है वह श्रमण है।" "जो इस लोक में अनिश्रित है, परलोक में अनिश्रित है अर्थात् किसी भी आशा तृष्णा के प्रतिबन्ध से मुक्त है तथा जो चन्दन के वृक्ष समान काटे जाने पर भी सौरभ प्रदान करने के समान अपना अहित करने वाले पर भी समभाव की सुधा वर्षाता है तथा भोजन में भिक्षा देने और नहीं देने वाले पर भी प्रसन्न रहता है वह श्रमण है।" यह है 'श्रमणाचार' शब्द की एक शास्त्रीय व्याख्या। अब उसके उद्देश्य एवं बाह्य अन्तर के आचार पर विविध दृष्टियों से विवेचन किया जावेगा।

श्रमणाचार का शास्त्रीय स्वरूप

श्रमणत्व का जन्म—मानवमात्र कोई जन्मजात श्रमण नहीं होता किन्तु श्रमणत्व एक साधना विशेष है जिसे समझपूर्वक स्वीकृत किया जाता है। अथवा श्रमण एक विशिष्ट पद विशेष है जिसे पुरुषार्थ से प्राप्त किया जाता है। जैसे एक मानव शिशु-विद्यालय में प्रविष्ट होकर अपने विशेष श्रम से बी० ए०, एम० ए०, डाक्टर, इन्जिनियर, वैज्ञानिक इत्यादि एक विषय में निष्णात होकर बाहर आता है, इसी प्रकार श्रमण भी आत्मसाधना के केन्द्र में प्रवेश करके सर्वोच्च आत्म-विकास की स्थिति को प्राप्त करता है। इसीलिए श्रमण का जन्म माता के गर्भ से नहीं किन्तु गुरु के समीप होता है जैसे श्रमण भगवान् महावीर प्रभु के समीप गौतम स्वामी सुधर्मा आदि चौदह सहस्र साधकों ने श्रमण-दीक्षा स्वीकार की थी। उन साधकों के लिए शास्त्रों में यत्र-तत्र-सर्वत्र 'अणगारे जाए' शब्द प्रयुक्त है अर्थात् श्रमण अनगर का जन्म हुआ।

श्रमण का उद्देश्य

प्रत्येक साधना का कोई न कोई उद्देश्य अवश्य होता है वह साधना चाहे लौकिक हो या लोकोत्तर। ऐसे विश्व में चार पुरुषार्थ विशिष्ट माने जाते हैं, वे हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें दो लौकिक हैं, दो लोकोत्तर। प्रथम में अर्थ साधन है तो काम साध्य। द्वितीय लोकोत्तर पुरुषार्थ में धर्म साधन है और मोक्ष साध्य। श्रमण एक साधक है तो उसके भी साधन व साध्य अवश्य है। क्योंकि निरुद्देश्य कोई प्रवृत्ति नहीं होती। श्रमण का साध्य है मोक्ष। अर्थात् आत्मा को संसार के दुःखों से मुक्त करने के लिए ही श्रमणत्व की साधना की जाती है। महात्मा बुद्ध भी संसार को दुःखमय मानकर अपने अबोध शिशु राहुल, प्रिय पत्नी यशोधरा एवं विशाल राज्य को त्याग कर निकल



पड़े थे और भगवान महावीर भी विराट् साम्राज्य एवं विलखते प्रिय परिवार के ममत्व बन्धन को तोड़ कर निकल पड़े थे श्रमण साधना के लिए। उनका एकमात्र उद्देश्य था आत्मा की दुःख से मुक्ति। अतएव श्रमण का उद्देश्य है आत्मा। आत्मा के लिए ही श्रमणत्व की साधना में प्रवेश होता है। सूत्रकृतांग में बताया है 'एकमात्र आत्मा के लिये प्रव्रज्या है।'^३ 'आत्मा के लिए संवृत होते हैं,' संसार दुःख से व्याप्त है, आत्मा जब तक संसार के किनारे नहीं पहुँचती तब तक दुःख से मुक्त नहीं होती।' उत्तराध्ययन सूत्र में श्रमणत्व को एक नौका के समान बताया है। 'जो नौका सछिद्र होती है वह समुद्र के तट पर नहीं पहुँच पाती। और जो नौका निश्छिद्र होती है वह सागर पार हो जाती है।' तात्पर्य यह है कि जीवन नौका-रूप है, उसमें पाप-रूप छिद्र है जिनसे कर्मरूप पानी आता है किन्तु जिसने संयम के द्वारा वे छिद्र ढक दिये हैं तो वह आत्मा संसार के पार मोक्ष के किनारे पहुँच जाती है। इससे आगे चलकर शास्त्रकार ने शरीर को नौका की उपमा दी है। जैसे—'शरीर नौका है, आत्मा नाविक है संसार एक महासागर है, जिसे महर्षिगण अपने श्रमणत्व की साधना से पार करके मुक्ति पा लेते हैं।'^४

श्रमण का अन्तराचार

एक श्रमण की पहचान क्या गृहस्थ का वेश छोड़कर श्रमण का वेश पहन लेना है। मुख पर पट्टी, रजोहरण, एवं काष्ठ पात्र रखना, भिक्षाचर्या से उदरपूर्ति एवं केशों का लुंचन करना ये सभी श्रमण के बाह्याचार हैं। एकमात्र बाह्यलक्षण से ही कोई श्रमण नहीं कहला सकता, इसीलिए भगवान महावीर स्वामी ने कहा "सिर का मुंडन करने से कोई श्रमण नहीं हो सकता, ओंकार जप से ब्राह्मण, अरण्यवास से मुनि एवं बत्कल चीर पहनने से कोई तापस नहीं हो सकता। अपितु समता से श्रमण, ब्रह्मचर्य से ब्राह्मण, मौन से मुनि एवं तप से ही तापस कहलाता है।"^६ इसीलिए किसी अनुमवी ने कहा है—"बाना बदले सौ-सौ बार बदले बान तो बेड़ा पार" तात्पर्य यह है कि बान अर्थात् आदत, अभ्यास एवं संस्कारों में परिवर्तन होना चाहिये। ठाणांग सूत्र में श्रमण के लिए दस प्रकार का मुंडन बतलाया है। वह है श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षु, घ्राण, रसना एवं स्पर्शेन्द्रिय के विषयों पर रागद्वेष का निग्रह करना एवं क्रोध, मान, माया तथा लोभ पर विजय करना, इन नौ प्रकार के आन्तरिक कुसंस्कारों पर पहले विजय करने पर दसवां सिर के बालों का मुंडन करना सार्थक होता है।^७

श्रमण धर्म की दस विशेषताएँ

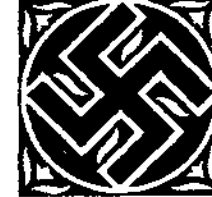
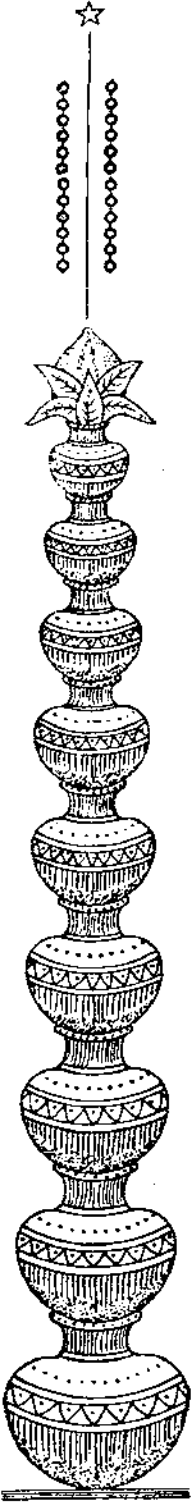
श्रमण के लक्षणों को श्रमण धर्म कहा जाता है। श्रमण के प्रमुख दस धर्म इस प्रकार हैं—१. क्षमा—शत्रुमित्र पर समभाव, २. मुक्ति—निलोभ वृत्ति, ३. आर्जव—सरलता, मन, वचन, काय योग की एकरूपता, ४. मार्दव—मृदुलता निरभिमानता, ५. लाघव—परिग्रह एवं ममत्व मोहरहित, ६. सत्य, ७. संयम, ८. तप—द्वादशविध बाह्य-भ्यान्तर तप, ९. त्याग, १०. ब्रह्मचर्य।

श्रमण, अनगार के सत्ताईस मूल गुण

श्रमण साधना के सहस्रों गुण होते हैं किन्तु उनमें कुछ प्रमुख गुणों का वर्णन करने से उनमें सभी गुणों का समावेश हो जाता है। श्रमणाचार के नियमों को लेकर जैन वाङ्मय में अपार सामग्री यत्र-तत्र-सर्वत्र बिखरी पड़ी है, यदि उन्हें सम्यक् प्रकार से व्यवस्थित किया जाय तो 'श्रमणाचार' के एक ही विषय पर बहुत बड़ी पुस्तक तैयार हो सकती है। किन्तु इस छोटे से निबन्ध में भी यथाशक्ति 'गामर में सागर' भरने की उक्ति चरितार्थ हो सकती है। समवायांग सूत्र में अनगार के २७ गुण हैं वे इस प्रकार हैं—

"प्राणातिपात विरमण" ऐसे ही सर्वथा प्रकार से मूषावाद का त्याग, अदत्तादान त्याग, मैथुन त्याग, परिग्रह त्याग, श्रोत्रेन्द्रियनिग्रह आदि ५वीं स्पर्शेन्द्रिय निग्रह, क्रोधविवेक, मानविवेक, माया-विवेक, लोभ विवेक, भावसत्य, करणसत्य, योगसत्य, क्षमा, वैराग्य, मन समाधारणता, वचन समाधारणता, काय समाधारणता, ज्ञान-संपन्नता, दर्शन-संपन्नता, चरित्र-संपन्नता, वेदना सहन एवं मृत्यु सहिष्णुता।^८

इन २७ गुणों को श्रमण के मूलगुण कहते हैं। प्रायः जैन समाज की सभी सम्प्रदायों एवं शाखाओं को श्रमण के ये २७ मूलगुण मान्य हैं उनमें मूर्तिपूजक, स्थानकवासी, तेरह पन्थ, सभी सम्प्रदायों सम्मत हैं, किन्तु दिगम्बर जैन शाखा



श्रमण के २८ मूलगुण मानती है। उनके नियमों में कुछ भिन्नता है। वह इस प्रकार है—अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह ये ५ महाव्रत एवं पांच इन्द्रियों का निग्रह, पंच समिति, ६ आवश्यक, स्नान त्याग, शयनभूमि का शोधन, वस्त्रत्याग, केशलुंचन, एक बार भोजन, दन्तधावन त्याग, खड़े-खड़े भोजन करना। इन गुणों में ५ महाव्रत एवं ५ इन्द्रिय निग्रह हैं। दस गुण श्वेताम्बरों से मिलते हैं। शेष १८ गुण बाह्याचार से सम्बन्धित हैं।

सत्रह प्रकार का नियम

जैन श्रमण १७ प्रकार से संयम साधता है, वह इस प्रकार है—पृथ्वीकाय संयम, अपकाय संयम, तेजस (अग्नि) काय संयम, वायुकाय संयम, वनस्पतिकाय संयम, बेइन्द्रिय संयम, त्रीन्द्रिय संयम, चतुरिन्द्रिय संयम, पचेन्द्रिय संयम, अजीवकाय संयम, प्रेक्षा संयम—सोते, बैठते समय, वस्त्रादि उपकरण लेते रखते हुए अच्छी तरह से देखना, उपेक्षा संयम—सांसारिक कार्यों की उपेक्षा अपहृत्य संयम—श्रमण-धर्म का अध्ययन करना व कराना तथा आहार, शरीर, उपाधि, मलमूत्रादि परिष्ठापन करते हुए जीवरक्षा करना। प्रमार्जना संयम—जिन वस्त्र, पात्र, मकान, शरीर का उपयोग करते हैं उन्हें प्रमार्जनी, गुच्छक विशेष से पूजना। मन संयम—मन संक्लेश कपायरहित प्रसन्न रखना। वचन संयम—हिंसाकारी असत्य, मिश्र, सिद्धान्त विरुद्ध वचन न बोलना, काय संयम—सोने, बैठने, खाने, पीने, चलने आदि शारीरिक क्रिया के समय जीवरक्षा का विवेक रखना।^६

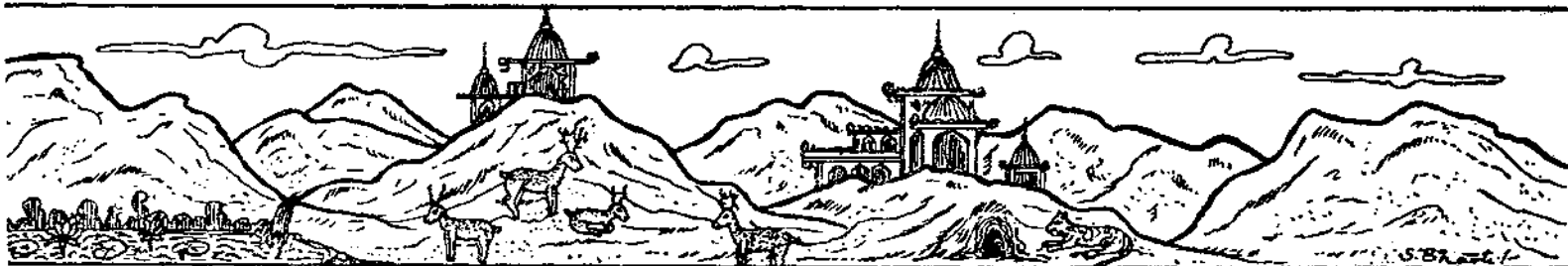
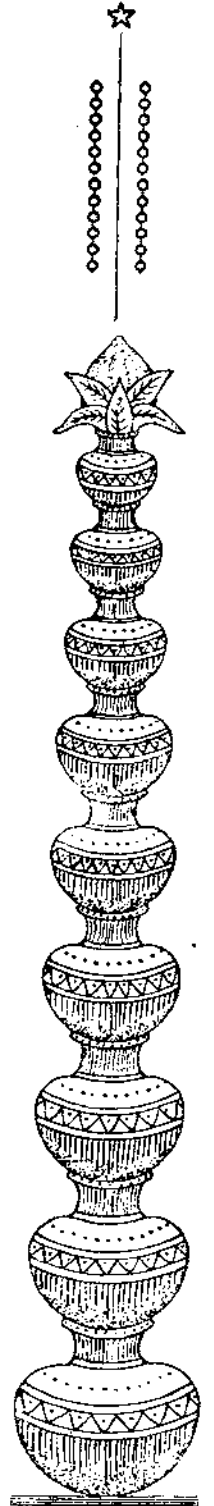
यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाय तो संयम एक ही प्रकार का है और वह है असंयम से निवृत्ति और संयम में प्रवृत्ति।^{१०}

असंयम क्या है? इसकी व्याख्या अत्यन्त विस्तृत है। सूत्रकार कहते हैं कि—राग व द्वेष जनित वृत्ति ही असंयम है। इससे असंयम के दो भेद हुए, उन पर विजय करना संयम है। इस तरह एक से लगाकर तेतीस बोल तक असंयम से संयम की व्याख्या की गई है—जैसे तीन दण्ड हैं—मन, वचन, काया। तीन शल्य हैं—माया शल्य, निदान शल्य, मिथ्यादर्शन शल्य। तीन उपसर्ग हैं—देव, मनुष्य, तिर्यच कृत। ऐसे चार कषाय, चार संज्ञा, चार ध्यान में से दो ध्यान हेय हैं। ५ इन्द्रियां ५ समिति, ५ क्रिया, लेश्याषटक, कायाषटक, सप्तभय, सप्तप्रतिमा, अष्ट मदस्थान, ब्रह्मचर्य रक्षा की ९ बाड़ें, इस यतिधर्म, एकदश उपासक प्रतिमा, द्वादश मिश्रप्रतिमा, त्रयोदश क्रियास्थान, चतुर्दश भूतग्राम, पंचदश परमाधार्मिक, षोडश गाथा, सप्तदश असंयम, उन्नीस ज्ञात अध्याय, बीस असमाधि स्थान, इक्कीस सबल दोष, २२ परीषह, २३ सूत्रकृत, २४ देवकृत, २५ मावना, २६ दशाश्रुत स्कन्ध, २७ अनगारगुण, २८ आचारकल्प, २९ पापसूत्र, ३० महामोह, ३१ सिद्धातिशय, ३२ योग संग्रह, ३३ आशातना। इस प्रकार अनेकों आन्तरिक विकृतियाँ हैं, उन पर विजय करके आत्मा को पूर्ण समाधिस्थ, प्रसन्न एवं स्वस्थावस्था में ले जाने का पुरुषार्थ करने वाला श्रमण पद से अलंकृत हो सकता है। श्रमणत्व एक महीषधी है जो आत्मा की अनेक आन्तरिक व्याधियों का उपशमन करके आत्मा को स्वस्थ व प्रसन्न बना देती है।

श्रमणत्व का अधिकारी

श्रमण साधना के केन्द्र में प्रविष्ट होने वाले को सर्वप्रथम सम्यक्ज्ञान एवं सम्यक्दर्शन से सम्पन्न होना चाहिये। जो जीव एवं अजीव का स्वरूप नहीं जानता है वह संयम का अधिकारी कैसे हो सकता है। जो जीव और अजीव का ज्ञाता है वही संयम का सच्चा अधिकारी है। जीवादि तत्त्वों का सम्यक्ज्ञान होने पर ही जीवों की दया-रक्षा रूप संयम में स्थित रह सकता है।

दशवैकालिक सूत्र^{११} में संयम का क्रम ज्ञान से आरम्भ करके श्रमणत्व के साध्य सिद्धत्व पर्यन्त पहुँचाया गया है। यथा—“जो जीवाजीव का ज्ञाता है वह जीवों की रक्षा व दयारूप संयम का ज्ञाता है। जो संयम को जानता है वह जीवों की बहुविध दुर्गति सद्गति को जानेगा। जो जीवों की गति का ज्ञाता है वह पुण्य-पाप भी जानेगा, क्योंकि पाप से जीव की दुर्गति व पुण्य से सुगति होती है। जो पुण्य-पाप का ज्ञाता है तो बन्ध-मोक्ष भी समझेगा और बन्ध-मोक्ष समझने पर देव, मनुष्य सम्बन्धी भोगों से निर्वेद अर्थात् अनासक्ति या वैराग्य भाव करेगा और जब विरक्त साधक बाहर-भीतर के संयोगों से विरक्त होगा तब संयोग से मुक्तात्मा मुंडित होकर उत्कृष्ट संवर-आत्मरमण को स्पर्श करेगा। संवर होने पर अबोध-अज्ञान कृत कल्मष कर्मरज को दूर करता है। जो अज्ञानकृत कलुषित कर्मरज को दूर कर देता है



वह सम्पूर्ण ज्ञान, दर्शन का अधिकारी होता है। जब सम्पूर्ण ज्ञानदर्शन प्राप्त होता है तब उस ज्ञान के महाप्रकाश में अखिल लोक एवं अलोक के स्वरूप को जानता है। जब अखिल लोकालोक के स्वरूप को जानता है तब वह राग-द्वेष का विजेता वीतराग एवं जिन हो जाता है तथा केवली कहलाता है। जब जिन केवली होता है तब मन, वचन, काया के योगों का निरुध्दन करके शील-पर्वतवत् स्थिरता को प्राप्त कर शैलेशी अवस्था को पाता है। जब शैलेशी अवस्था पाता है तब नीरज, निरंजन होकर सिद्धि को पाता है और जब सिद्धि अर्थात् योग में सफलता मिलती है तब लोक अर्थात् विश्व के मस्तक समान लोक के अत्युच्च स्थान पर स्थित होकर शाश्वत सिद्ध हो जाता है। तात्पर्य यह है कि श्रमणत्व का जो साध्य सिद्धावस्था प्राप्त होती है, उसकी सर्वप्रथम श्रेणी एवं मूल भूमिका ज्ञान एवं दर्शन है। जैन वाङ्मय के संक्षिप्त सूत्रकार आचार्य श्री उमास्वाति ने भी अपने तत्त्वार्थ सूत्र के प्रथम सूत्र में यही सिद्धान्त रखा है कि—

“सम्यक् दर्शन ज्ञानपूर्वक चारित्र ही मुक्ति का साधन है।”^{१२}

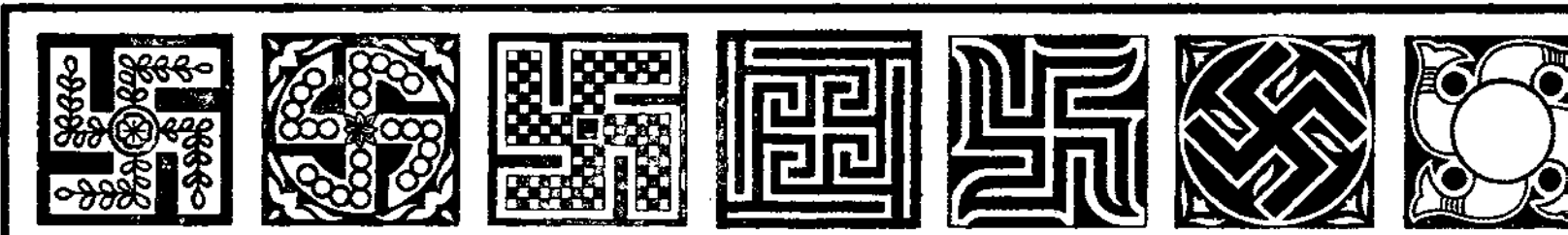
वैसे ही उन्होंने वैराग्योत्पत्ति का कारण भी ज्ञान को ही माना है, जब विश्व एवं देह की अनित्यता के स्वभाव का ज्ञान होता है तब संवेग एवं वैराग्य की उत्पत्ति सहज ही होती है।^{१३} ज्ञान को निश्चय, विश्वास एवं श्रद्धा को दर्शन कहते हैं। दर्शन के बिना ज्ञान मिथ्याज्ञान अर्थात् अज्ञान माना जाता है अतः श्रद्धापूर्वक ज्ञान ही सम्यक् ज्ञान है। दर्शन के बिना ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती और ज्ञान के बिना चारित्र नहीं तथा चारित्र के अभाव में मुक्ति नहीं होती।^{१४} इसीलिए साधक के हृदय में यह लोक है, यह अलोक है, जीव है, अजीव है पुण्य है, पाप है, बन्धन है, मोक्ष है, लोक है, परलोक है—इस प्रकार जिनोक्त सिद्धान्त पर सुदृढ़ विश्वास हो तभी वह श्रमणत्व का सच्चा अधिकारी हो सकता है। ये प्रमुख गुण हैं, इसके अतिरिक्त श्रमण धर्म स्वीकार करने वाले आत्मा के अन्य बाह्य विशेषताएँ भी देखी जाती हैं। वे निम्न हैं—१. आर्य देशोत्पन्न—इसमें विशेष योग्यता होने पर अनार्य देशवासी एवं निम्न कुलोत्पन्न भी कभी-कभी दीक्षा के पात्र माने जा सकते हैं, २. शुद्धजाति कुलान्वित, ३. क्षीणप्राय अ-शुभ कर्म, ४. विशुद्ध धी, ५. विज्ञात संसार, ६. विरक्त, ७. मन्दकषायमाक्, ८. अल्पहास्यादि, अकौतुहली ९. कृतज्ञ, १०. विनीत, ११. राजसम्मत, १२. अत्रोही, १३. सुन्दरांग भूत-पंचेन्द्रिय पूर्ण हों, कोई भी अंग भंग न हो, १४. श्रद्धावान, १५. स्थिर—स्वीकृत व्रतों को यावज्जीव निवाहे, १६. समुपसम्मत—पूर्ण इच्छा से अपना पूरा जीवन संयम में बिताने आया हो। इस प्रकार अनेक अन्तर बाह्य सद्गुणों से अलंकृत व्यक्ति श्रमणधर्म पालने, उसमें प्रवेश करने का योग्य पात्र माना जाता है।

श्रमण के बाह्याचार

श्रमण का अन्तराचार के साथ-साथ बाह्याचार भी अत्यन्त विशुद्ध होता है क्योंकि दोनों का कारण कार्य सम्बन्ध है। जहाँ-जहाँ कारण होता है वहाँ-वहाँ कार्य भी अवश्य होता है। कारण बीजवत् है तो कार्य अंकुरवत् है। निमित्त और उपादान, निश्चय और व्यवहार ये दोनों सदैव साथ होने पर ही कार्य की सिद्धि होती है। कभी-कभी व्यवहार शुद्धि होने पर निश्चय नहीं भी होता है किन्तु निश्चय शुद्ध होने पर व्यवहार अवश्य ही शुद्ध होता है। काल, स्वभाव, नियति, भाग्य एवं पुरुषार्थ इन पाँच समवायों के मिलने पर ही साध्य की सिद्धि होती है। कोई यह न सोचे कि श्रमण को अन्तराचार से ही सिद्धि प्राप्त हो सकती है अतः बाह्याचार निरर्थक है, किन्तु ऐसा नहीं है। श्रमण के लिये जितना अन्तराचार, आन्तरिक सद्गुण आवश्यक है उतना ही बाह्याचार भी अत्यावश्यक है। दशवैकालिक सूत्र में साधक ने जीवन के बाह्याचार के सम्बन्ध में बहुत ही महत्वपूर्ण प्रश्न किया है, वह है—“कैसे चले, कैसे खड़े रहे, कैसे बैठे, कैसे सोये, कैसे भोजन करे, कैसे बोले, जिससे पाप कर्मों का बन्धन न हो?”^{१५} इन प्रश्नों का समाधान भी सूत्रकार ने बहुत सुन्दर दिया है, वह है—यतना अर्थात् जीवों की रक्षा करते हुए चलने, खड़े रहने, बैठने, सोने, भोजन करने एवं भाषण करने में पापकर्म का बन्धन नहीं होता और न उसका कदुफल ही होता है।^{१६} यह बाह्याचार दैहिक कार्य है।

श्रमण के बाह्य उपकरणों के साधन

श्रमण अपने सम्पूर्ण अन्तर और बाह्य संयोग-जन्य पदार्थों का परित्याग करके साधना के लिए निकल पड़ता है। फिर भी उसके साथ शरीर तो रहता ही है। यह नहीं हो सकता कि आयु का अन्त वह स्वयं ही अनुचित साधनों से कर ले। यह तो आत्महत्या होगी, किन्तु साधना नहीं। अतः संयम के साथ-साथ वह देह का संरक्षण भी



करता है। देह रक्षा के लिए भोजन भी आवश्यक है। वस्त्र, पात्र एवं मकान भी आवश्यक है। उन्हें यदि वह स्वयं उपाजित करता है तो हिंसादि अनेक पाप होंगे। अतः वह एक मात्र निर्दोष भिक्षावृत्ति से जीवन निर्वाह करता है। उत्तराध्ययन सूत्र में बताया गया है “जो संयोग से मुक्त है वह अनगार है”^{१७} और जो अनगार साधक है वह भिक्षु है।” साधक का भिक्षावृत्ति से निर्वाह करना अत्यावश्यक है। साधक ती प्रकार के बाह्य संयोग-परिग्रह एवं चौदह प्रकार के आभ्यन्तर संयोग से मुक्त होता है। बाह्य निम्न हैं : १. क्षेत्र, (खुली धरती), २. वस्तु (मकान, भवन), ३. हिरण्य, ४. सुवर्ण, ५. धन मुद्रादि, ६. घान्य, ७. दासी, ८. दास, ९. कुप्य-वस्त्रपात्रादि। आभ्यन्तर परिग्रह, १४. निम्न है—१. मिथ्यात्व, २. वेद, ५. हास्प, ६. रति, ७. अरति, ८. शोक, ९. मय, १०. जुगुप्सा, ११. क्रोध, १२. मान, १३. माया, १४. लोभ। इनसे मुक्त हो वह निर्ग्रन्थ होता है। सब कुछ त्यागने पर भी श्रमण को अपनी देह रक्षा के लिए चार वस्तुएँ आवश्यक होती हैं वह हैं—१. पिंड-अन्तजल औषधी आदि, २. शैया-स्थान, मकान, निवासार्थ, ३. वस्त्र, ४. पात्र ?^{१८}

पात्र विधि, वस्त्र विधि, स्थान एवं आहार विधि

श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने जब सर्वसंग परित्याग कर श्रमण साधना आरम्भ की तब उन्होंने कोई भी पात्र अन्तजल ग्रहण करने के लिये नहीं रखा। माढ़े बाहर वर्ष तक वे एकाकी रहे तब तक वे करपात्र भोजी थे। यह एक ऐतिहासिक खोज का विषय है कि उन्होंने देह-विशुद्धि के लिये भी कोई एक भी काष्ठ पात्र, तुम्बा अथवा कमण्डलु रखा था या नहीं। हाँ, जलपान या दुग्धपान तो करपात्र में भी किया जा सकता है। कहते हैं कि तीर्थकरों के पाणिपात्र कर संपुट निश्छिद्र होते हैं, उनसे जल अथवा किसी तरल पदार्थ की एक बूँद भी नीचे नहीं गिरती यह हो सकता है असम्भव नहीं। भगवान महावीर साढ़े बारह वर्ष तक दो दिन से लेकर अर्धमाह, माह, दो माह एवं चार मास एवं छः महीने तक की लम्बी तपश्चर्याएँ करते रहे। साढ़े बारह वर्ष में उन्होंने ३४६ दिन ही भोजन किया था, फिर भी इतने दिन भी देह विशुद्धि के लिये जल ग्रहण करने को पात्र की आवश्यकता हुई होगी। बहुत सम्भव है कि आवश्यकता होने पर उन्होंने मृण्मयपात्र ग्रहण किया हो और फिर त्याग दिया हो। कुछ भी हो किन्तु वे किसी एक भी पात्र को सदैव साथ हाथ में लेकर नहीं घूमते थे, यह एक तथ्य है। कल्पसूत्र के अनुसार भगवान महावीर स्वामी ने श्रमण-साधना के प्रथम चानुर्मास में पांच प्रतिज्ञाएँ ग्रहण की थीं, उनमें एक प्रतिज्ञा थी पाणिपात्र में भोजन करना किन्तु गृहस्थ के पात्र में भोजन नहीं करना। वे पांच प्रतिज्ञाएँ निम्नः थीं—१. अप्रीतिकर स्थान में निवास न करना, २. पूर्ण ज्ञान बिना उपदेश न करना, पांच कारण त्याग कर सदैव मौन रहना, ३. गृहस्थ पात्र में भोजन न कर पाणिपात्र में भोजन करना ४. एकाकी रहना, ५. गृहस्थ का विनय न करना। “इसका तात्पर्य यह है कि श्रमण धर्म के महान् व्याख्याता एवं श्रमणत्व के सर्वोत्कृष्ट प्रतिनिधि की जीवनचर्या जब देखते हैं तो वे वस्त्र, पात्र एवं स्थान विशेष के परिग्रह से भी सर्वथा मुक्त थे। श्वेताम्बर मतानुसार दीक्षा के समय देवराज उन पर एक देवदूष्य वस्त्र कंधों पर रखते हैं किन्तु उन्होंने उसकी अपेक्षा न की और उसे सँभाला भी नहीं अतः तेरह मास पश्चात् वह वस्त्र सहज रूप से दूर हो गया और वे निर्वसन हो गये। इसे जिनकल्प माना गया है। इसे एक अलौकिक चमत्कार के रूप में भी स्वीकृत किया गया है। कहते हैं कि तीर्थकरों की दिव्य देहदृष्टि निर्वसन होते हुए भी एक वस्त्र की तरह एवं शोभायुक्त दृष्टिगत होती थी। श्वेताम्बर एवं दिगम्बर आहार एवं स्थान ग्रहण करने इन दो बातों में एकमत हैं, किन्तु पात्र ग्रहण एवं वस्त्र ग्रहण में विरोध है। निष्पक्षभाव से हमें इनकी खण्डन-मण्डन या विधि-निषेध की गम्भीर चर्चा में नहीं उतरना है। क्योंकि इन बाह्य गहराइयों में जाने पर भी कोई अलौकिक, अलम्ब्य आत्मतत्त्व या वीतराग भाव तो प्राप्त होने का है ही नहीं अपितु रागद्वेष की वृद्धि से संसार वृद्धि ही संभवित है। इसी सिद्धान्त को लक्ष्य में रखकर आचार्य श्री अमितगति ने बहुत ही सुन्दर श्लोक रचा है। वह निम्न है—

“नाशाम्बरत्वे न सिताम्बरत्वे न तत्त्ववादे न च तर्कवादे।

न पक्षसेवा श्रयणेन मुक्तिः, कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव।”

निष्पक्ष भाव से वीतराग दृष्टि से देखने पर वास्तविक सत्य यह सामने आता है कि—श्रमण साधकों की दो

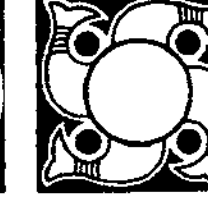
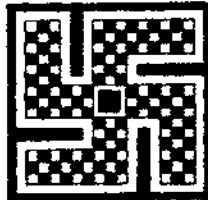


श्रेणियाँ थीं, उनके नाम हैं—जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। इनका प्रमुख तात्पर्य है आत्मसेवी और समाजसेवी। जिनकल्पी श्रमण केवल अपना ही आत्मोद्धार करते हैं, बहुत लम्बीतपस्या करके वनों में निवास करते हैं तथा यदा-कदा मिश्राग्रहण करने बस्ती में आते हैं और मिश्रा होते ही फिर एकान्तवास करते हैं। वे चाहे वस्त्र पात्र नहीं रखें तब भी चल सकता है। किन्तु स्थविरकल्पी स्व-पर उभय-आत्मोद्धारक होते हैं। अतः वे ग्राम, नगर के मध्य या एक किनारे ठहरते हैं, समाज के सहस्रों स्त्री-पुरुषों के मध्य धर्मोपदेश करते हैं। अतः उनका सीमित-मर्यादित वस्त्र, पात्र रखना शास्त्र सम्मत है। भगवान महावीर जब सर्वज्ञ सर्वदर्शी एवं पूर्णज्ञानी होकर धर्मोपदेष्टा के रूप में समाज के सम्मुख आये और एक व्यवस्थित संघ की संरचना हुई तो श्रमणाचार के अनेक नियम-उपनियमों का प्रशिक्षण होने लगा। अतः भगवान महावीर एकाकी अवस्था में पाणिपात्र भोजी रहे किन्तु उनके शिष्य गणधर, गीतम आदि चौदह सहस्र शिष्यों के लिये काष्ठ के तीन पात्र एवं पहनने के लिये तीन वस्त्रों का विधान किया। भोजन भी एक श्रमण किसी एक घर में न करके थोड़ी-थोड़ी भिक्षा बहुत घरों से लाकर मधुकरी एवं सामुदायिक गोचरी करके आचार्य के समीप आकर एकान्त में आहार करने लगे। श्रमण संघ में कोई श्रमण वृद्ध हो, बीमार हो नवदीक्षित हो, बाल हो तो उनकी वैया-वृत्य करने के लिये पात्र में भोजन लाकर उन्हें देना होता है, अतः श्रमणसंघीय व्यवस्था में तीन पात्रों का विधान है। एक पात्र जलपान के लिये, द्वितीय आहारादि ग्रहणार्थ और तृतीय देह शुद्धि के लिये। दिग्म्बर श्रमण भी देह शुद्धि के लिये एक पात्र कमण्डल रखते ही हैं।

ठाणांग सूत्र में तीन प्रकार के पात्रों का कल्प-विधान है वे^{१६} हैं—१. तुम्बे का पात्र, २. काष्ठ का पात्र एवं ३. मिट्टी का पात्र। इसी प्रकार तीन कारणों से श्रमण वस्त्र धारण कर सकते हैं, वे हैं—लज्जा निवारण करने के लिये, जनता की घृणा (दुमुच्छा) दूर करने के लिये और शीत, तापादि परिषह असह्य होने पर। जैसे मुनि स्वर्ण, रजत, लौह, ताम्र, पीतल आदि धातु के पात्र नहीं रखते हैं वैसे ही वस्त्र भी बहुमूल्य एवं रंग-बिरंगे नहीं रख सकते, क्योंकि उन्हें अपनी देह पर वस्त्रालंकार नहीं सजाना है। ठाणांग सूत्र में श्रमण के लिये तीन प्रकार के वस्त्र का कल्प बताया है, वे हैं १. ऊनके, २. कपास के, ३. सण के। वस्त्र की मर्यादा में श्रमण के लिये ७२ हाथ एवं श्रमणी को ६६ हाथ से अधिक वस्त्र नहीं रखने का विधान है। ठाणांग सूत्र में श्रमणी के लिये चार चदरें रखने का नियम बताया गया है। उनमें एक चादर दो हाथ की दो चादर तीन-तीन हाथ की एवं चौथी चादर चार हाथ की लम्बी-चौड़ी होती है। प्रथम चदर स्थानक में रहते समय, दो चादरें गोचरी एवं बाहर भूमि में तथा चौथी चादर समवशरण अर्थात् स्त्री-पुरुषों की धर्म सभा में धर्मोपदेश करते हुए काम में आती है।

दशवैकालिक सूत्र तथा अन्यत्र भी श्रमण के कुछ उपकरणों का वर्णन मिलता है तथा जो श्रमणोपासक ग्रहस्थ होते हैं वे मुनि को चौदह प्रकार का निर्दोष दान देते हैं वह इस प्रकार है—१. असन, २. पान, ३. खादिम, ४. खादिम, ५. वस्त्र, ६. प्रतिग्रह (काष्ठ पात्रादि), ७. कंबल, ८. पादपोछन, ९. पीठ, १०. बैठने का बाजोट, १०. फलक-सोने का पाट। ११. शय्या-मकान, १२. संथारा-तृण घास आदि सोने के लिये १३. रजोहरण-ऊनका गुच्छक जीव-रक्षाहित, १४. औषध भेषज आदि। आचारांग सूत्र १-६-३ टीका तथा बृहत्कल्पभाष्य गाथा ३६६२ में बताया है कि तीर्थंकर को छोड़कर मुखवस्त्रिका और रजोहरण, चोलपट्टक तो प्रत्येक साधु-साध्वी को रखना अत्यावश्यक है क्योंकि ये श्रमण की पहचान के चिन्ह विशेष हैं तथा जीवरक्षा संयम के लिये प्रमुख उपकरण है। अनेक सूत्रों की साक्षी में मुनियों के कुछ प्रमुख उपकरण निम्नलिखित हैं—

१. मुखवस्त्रिका—बीस अंगुल लम्बा, सोलह अंगुल चौड़ा, आठ पट का वस्त्र विशेष जो सूत्र कानों में लेकर मुख पर बांधते हैं। २. रजोहरण—ऊनका गुच्छक वस्त्रावृत्त दण्ड में लगा कर चींटी आदि नन्हे जीवों की रक्षा का साधन। ३. पात्र—आहार पानी लाने तथा देहशुद्धि के लिये तीन काष्ठ पात्र। ४. चोलपट्टक—कमर से नीचे अर्धांग ढकने का वस्त्र। ५. वस्त्र—७२ हाथ मर्यादित श्वेत वस्त्र। ६. कम्बल—शीत रक्षार्थ। ७. आसन—बैठने के लिये। ८. पाद-पोछन—वस्त्र खण्ड, ९. शय्या—ठहरने का मकान, १०. संथारा—बिछाने का पराल, घास आदि, ११. पीठ—बैठने की चौकी, १२. फलक—सोने का पाट, १३. पात्रबंध—पात्र बांधने का वस्त्र, १४. पात्र स्थापन—वस्त्र खण्ड, १५. पांच केसरिका—प्रमाजनी, १६. पटल—पांच ढकने का वस्त्र, १७. रजस्त्राण—वस्त्र पात्र लपेटने का,



१८. दण्ड—दण्डा वृद्धों का सहारा, १९. मात्रक—लघु नीति—परठने का पात्र विशेष, २०. उडक—उच्चारप्रसवण परठने का पात्र ।

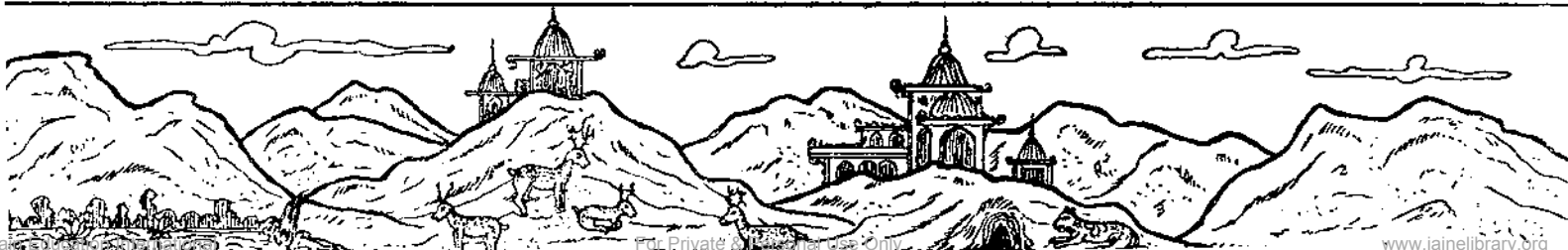
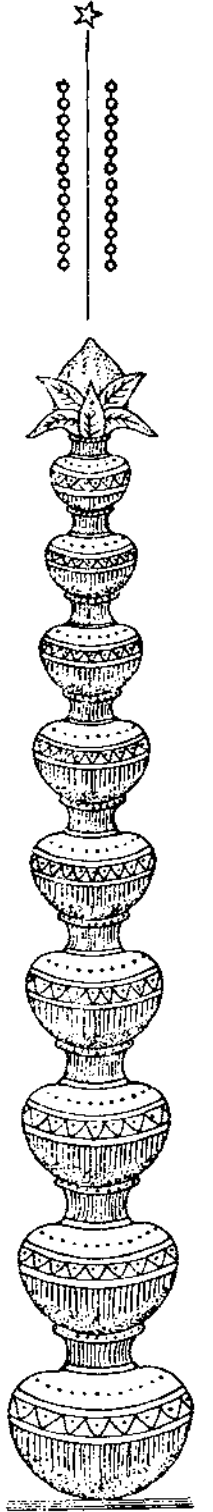
इनमें से कुछ उपकरण सर्वद्वय साथ रखने योग्य स्थायी और कुछ अस्थायी आवश्यकतानुसार लेकर फिर देने योग्य हैं ।

जैन श्रमणों की भिक्षा विधि

विश्व इतिहास में दृढ़ने पर भी जैन श्रमण जैसी निर्दोष अहिंसात्मक भिक्षा विधि किसी भी धर्म गुरु की नहीं मिल सकती है । जैन श्रमण की भिक्षाचर्या मात्र भिक्षा ही न होकर एक विशिष्ट तपश्चर्या है । जैन भिक्षाचरी को मधुकरी एवं गोचरी भी कहते हैं । जिसका तात्पर्य है कि जिस गृहस्थ से भिक्षा ले उसे कष्ट नहीं अपितु आनन्द होता है । गृहस्थ श्रमण के लिए भोजन नहीं बनाता किन्तु अपने लिये बने हुये भोजन से थोड़ा-सा अंश वह श्रमण को प्रदान करता है । भिक्षाचरी के लिये श्रमणों के लिए सहस्रों नियम-उपनियम हैं । भिक्षाचरी के लिए एक पृथक समिति का विधान है, उसका नाम है एषणा समिति । पाँच समिति में एषणा समिति अत्यन्त विस्तृत है । इसमें सोलह उद्गम के एवं सोलह उत्पाद के एवं दस एषणा के इस तरह ४२ दोष टाल कर आहार पानी लिया जाता है और ४७ दोष टाल कर आहार को भोगा जाता है । छह कारणों से आहार करते हैं । वे हैं—१. क्षुधा वेदना सहन न होने पर, २. वैयावृत्य के लिये, ३. इयांशोधनाथ अर्थात् चलते समय जीवरक्षा करने के लिये नेत्ररक्षा आवश्यक है, ४. संयम पालने के लिए, ५. प्राणरक्षा के लिए एवं जीवन रक्षार्थ और ६. धर्म चिन्तनार्थ । इसी तरह छः कारण उपस्थित हों तो आहार त्याग करते हैं—१. रोगादि बढ़ने पर, २. संयम त्याग का उपसर्ग होने पर, ३. ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए, ४. प्राणियों की रक्षानिमित्त, ५. तपस्या के लिए एवं ६. शरीर त्याग के अवसर पर आहार का त्याग किया जाता है । तात्पर्य यह है कि आहार का ग्रहण भी संयम की रक्षा एवं वृद्धि के लिए है और आहार का त्याग भी संयम रक्षा के उद्देश्य से किया जाता है ।

श्रमणों की दिनरात्रि की चर्या—नित्याचरण

श्रमण का उद्देश्य है सिद्धत्व और उसका साधन है स्वाध्याय और ध्यान । श्रमण स्वाध्याय और ध्यान के द्वारा सिद्धपद को पा सकता है । अतः वह दिन के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय करता है । दूसरे प्रहर में ध्यान करता है, तृतीय प्रहर में भिक्षाचर्या करता है और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करता है । स्वाध्याय और ध्यान यही श्रमण के दो प्रमुख कार्य हैं । भिक्षाचरी एवं आहारग्रहण करने का उद्देश्य भी स्वाध्याय एवं ध्यान है । स्वाध्याय के द्वारा वह जीवादि तत्त्वों का ज्ञान करता है और ध्यान के द्वारा जीव स्वभाव दशा में स्थिर रहना सीखता है । आचार्य उमास्वाति की व्याख्या से “चित्त की समस्त बाह्यवृत्तियों की चिन्ता का निरन्धन करके आत्मा में एकाग्र होकर स्थिर हो जाना ध्यान है । आत्मा में लीनता, आत्मा में एकरूपता होने पर आत्मा निर्विकल्प ध्यान तक पहुँचता है । अध्यात्म योगी सन्त श्री आनन्दघनजी ने ध्यान के विषय में बहुत ही सुन्दर व्याख्या की है, वह यह है सारे संसारी जीव इन्द्रियादि बाह्य विषयों में रमते हैं किन्तु मुनिमण एक मात्र अपनी आत्मा में रमते हैं और जो आत्मा में रमते हैं वे निष्कामी होते हैं । श्रमण गण आर्तध्यान और रौद्र ध्यान को त्याज्य समझते हैं और धर्म-ध्यान, शुक्ल ध्यान को ध्येय समझते हैं । जैनागमों में धर्म ध्यान और शुक्ल ध्यान की बहुत विस्तृत व्याख्याएँ हैं । जो श्रमण धर्म ध्यान, शुक्ल ध्यान का निरन्तर अभ्यास करते हैं उन्हें दिव्य आत्मज्ञान अर्थात् क्रमशः अवधि, मनपर्येव एवं केवल ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है । जब तक साध्य सिद्ध न हो तब तक ध्यान की साधना निरन्तर चलती रहती है । जैसे एक तैराक जब तक तिरना पूरा न आये तब तक अभ्यास करता ही रहता है । वैसे चित्रकला की सफलता के लिए चित्रकार, विज्ञान के लिए वैज्ञानिक, भाषा ज्ञान के लिये भाषा का विद्यार्थी चिकित्सा के लिए वैद्य, इत्यादि निरन्तर श्रम करते हैं, वैसे ही श्रमण मोह पर विजय करने के लिए निरन्तर ध्यान साधना करता ही रहता है । तभी सफलता की संभावना रहती है । श्रमण की रात्रिचर्या में भी स्वाध्याय और ध्यान प्रमुख कार्य हैं । जैसे—रात्रि के प्रथम प्रहर में स्वाध्याय, द्वितीय प्रहर में ध्यान, तृतीय प्रहर में निद्रा और चतुर्थ प्रहर में पुनः स्वाध्याय करते हैं । निद्रा लेना श्रमण का उद्देश्य नहीं है किन्तु ध्यान की निर्विघ्नता के लिए वह विश्राम करता है । जब ध्याता, ध्यान



और ध्येय तीनों एक रूप हो जाते हैं, तब सफलता प्राप्त होती है। किन्तु जब किसी रुग्ण, तपस्वी, वृद्ध आदि श्रमण की सेवा का अवसर होता है तो श्रमण परोपकार के लिए अपनी स्वाध्याय एवं ध्यान की साधना छोड़कर भी वैयावृत्य में लग जाता है। क्योंकि इस कार्य के द्वारा वह स्व-पर उभय का आत्मोद्धार करता है। इससे स्वयं उसका ही ध्यान स्थिर नहीं होता अपितु दूसरे का भी ध्यान स्थिर करने में सहायक सिद्ध होता है।

श्रमणों की श्रेणियां

जैसे विद्यालय में प्रविष्ट सभी विद्यार्थी एक-समान श्रेणी में नहीं होते, वैसे ही श्रमण साधना के केन्द्र में प्रविष्ट सभी श्रमण एक समान श्रेणी में नहीं होते। यद्यपि बाह्य वेश विन्यास, वस्त्र पात्रादि उपकरण में विशेष विभिन्नता नहीं होती किन्तु अन्तर के चरित्र में अन्तर होता है।

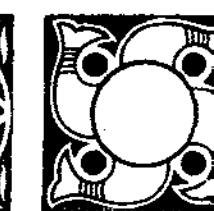
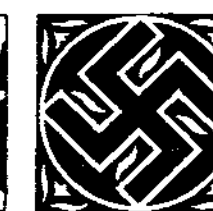
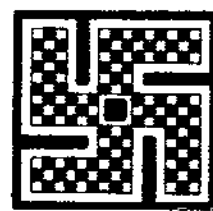
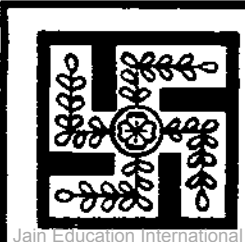
भगवती सूत्र के २५वें शतक, छठे उद्देशक में छः प्रकार के निर्ग्रन्थ की श्रेणियां, प्रज्ञप्त की गई हैं, वे हैं—पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना, कषाय-कुशील, निर्ग्रन्थ एवं स्नातक। इनमें प्रथम चावल की शालि समान जिसमें शुद्धि कम अशुद्धि अधिक, द्वितीय खेत से कटी शालिवत् शुद्धि अशुद्धि समान, तृतीय खलिहान में उफनी शालिवत् शुद्धि अधिक अशुद्धि कम, चतुर्थ छिलके सहित शालिवत्, पंचम अर्ध छिलके रहित चावल वत्, षष्ठम पूर्ण शुद्ध। इनमें पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना में दो चारित्र्य होते हैं—सामायिक चारित्र्य एवं छेदोपस्थापनीय तथा कषायकुशील में चार चारित्र्य होते हैं—सामायिक, छेदोपस्थापनीय, परिहार-विशुद्धि एवं सूक्ष्मसंपराय। निर्ग्रन्थ एवं स्नातक में एक यथाख्यात चारित्र्य होता है। इनमें पुलाक, बकुश, प्रतिसेवना में छटा, सातवां, गुणस्थान होता है। कषाय कुशील में छठे से लगा कर दसवां, ग्यारहवां गुणस्थान हो सकता है एवं निर्ग्रन्थ में बारहवां गुणस्थान होता है तथा स्नातक में तेरहवां चौदहवां गुणस्थान होता है।

भगवती सूत्र में आराधना के भेद से भी श्रमणों की श्रेणियां विभाजित की गई हैं। जैसे गौतम स्वामी ने प्रश्न किया है—हे प्रभु! आराधना कितने प्रकार की है? भगवान महावीर ने प्रत्युत्तर दिया—हे गौतम! आराधना तीन प्रकार की है वह है, १. जानाराधना, २. दर्शनाराधना एवं ३. चारित्र्याराधना।^{२०} इनमें जानाराधना तीन प्रकार की है जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट। इसी प्रकार दर्शनाराधना एवं चारित्र्याराधना के भी तीन-तीन भेद हैं। ज्ञान जघन्य अष्ट प्रवचन का, मध्यम एकादश अंग का, उत्कृष्ट चौदह पूर्व का होता है। ऐसे ही दर्शन में जघन्य सास्वादन मध्यम क्षायोपशमिक, उत्कृष्ट क्षायिक सम्यक्त्व है। चारित्र्य में जघन्य सामायिक चारित्र्य, मध्यम परिहार विशुद्ध चारित्र्य एवं उत्कृष्ट यथाख्यात चारित्र्य। इसके पश्चात् श्री गौतम गणधर ने तीनों आराधना का फल पूछा है। उसके प्रत्युत्तर में भगवान ने कहा कि जघन्य आराधना वाले उसी भव में, तीन भव में अथवा १५ भव में अवश्य सिद्धि प्राप्त करते हैं। मध्यम आराधना वाले उसी भव में, दो भव में एवं तीसरे भव में सिद्धि प्राप्त करते हैं और उत्कृष्ट आराधना वाले साधक उसी भव में सिद्ध होते हैं अथवा दूसरे भव में तो अवश्य सिद्धि प्राप्त करते हैं। इस प्रकार साधना के अनुसार साधकों के भेद भी होते हैं।

सभी साधकों में सर्वोत्कृष्ट सिरमौर पूर्ण निर्ग्रन्थ अरिहन्त प्रभु माने जाते हैं। यद्यपि सिद्ध भगवान उनसे भी उच्च स्थिति में हैं किन्तु मोक्ष मार्ग प्रकाशक भास्करवत् सभी आत्माओं के परमोपकारी होने से अरिहन्त प्रभु का परमेष्ठी मंत्र में सर्वप्रथम स्मरण एवं नमस्कार किया गया है। अरिहन्त प्रभु के लक्षणों में चौतीस अतिशय, पैंतीस वाणी के एवं द्वादशमूल गुण बताये जाते हैं। ऐसे सिद्ध प्रभु में अष्ट गुण, आचार्यों के छत्तीस गुण उपाध्यायों के पच्चीस गुण एवं सर्व साधुजनों के सत्ताईस मूलगुण हैं। यद्यपि अरिहन्तों से लेकर पाँचवें पद साधुजन तक के पाँचों पदों में सिद्धों के अतिरिक्त श्रमण का पद तो सभी में है किन्तु उनकी श्रेणी में आकाश-पाताल का अन्तर है। फिर भी साध्य सभी का एक है।

श्रमण साधना में दुःख है अथवा सुख : एक प्रश्न

श्रमणत्व की साधना का एकमात्र साध्य है सुख। सुख भी क्षणिक नहीं अपितु शाश्वत सुख। उस सुख की प्राप्ति के लिए यदि थोड़ा-सा दुःख भी सहना पड़े तो वह नगण्य है। जैसे एक भयंकर रोग की उपशान्ति के लिए व्यक्ति कड़वी से कड़वी औषधी हँसते-हँसते पी जाता है। इंजेक्शनों की सुइयाँ अपने फूलों-सी कोमल देह में चुभाता है।



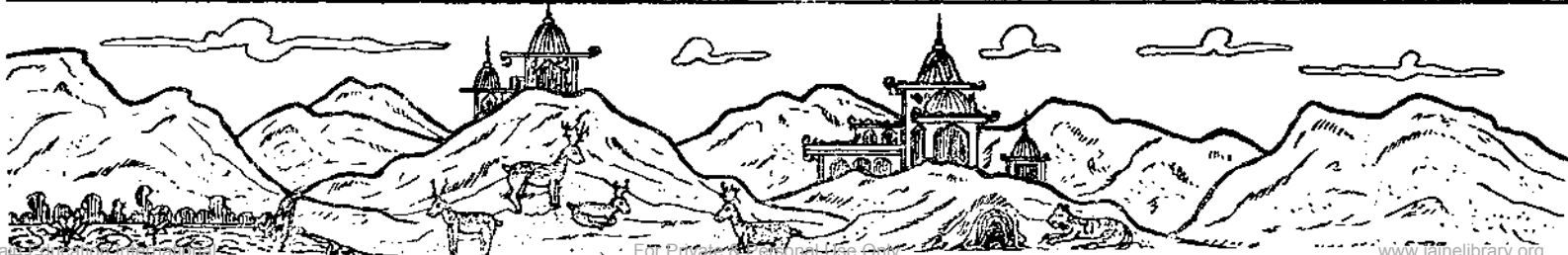
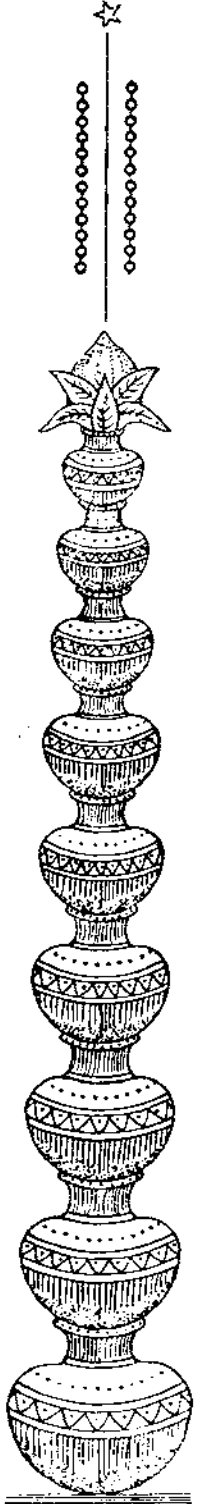
बड़े-बड़े आपरेशन कराके चीर-फाड़ करवाने से नहीं हिचकता वैसे ही अनन्त सौख्य के लिए श्रमण साधना के समय आने वाले कष्टों को साधक हँसते-हँसते सह जाता है। श्रमण साधकों के जीवन में अनेक अनुकूल एवं प्रतिकूल परीषह आते हैं। उसके पथ में फूल भी हैं और शूल भी किन्तु वह फूलों में लुभाता नहीं और शूलों से पीछे हटता नहीं। क्षुधा, तृषा, शीत, तप, आदि बावीस परीषह उत्पन्न होते हैं। किन्तु ज्यों-ज्यों साधक की साधना आगे बढ़ती है त्यों-त्यों ये परीषह सहज रूप से कम हो जाते हैं और जो साधक श्रमणत्व के सर्वोच्च अरिहन्त पद पर पहुँच जाता है उसके लिए एकादश परीषह ही शेष रहते हैं एवं जो सिद्ध पद में पहुँचता है उसके समूल परीषहों का नाश हो जाता है।

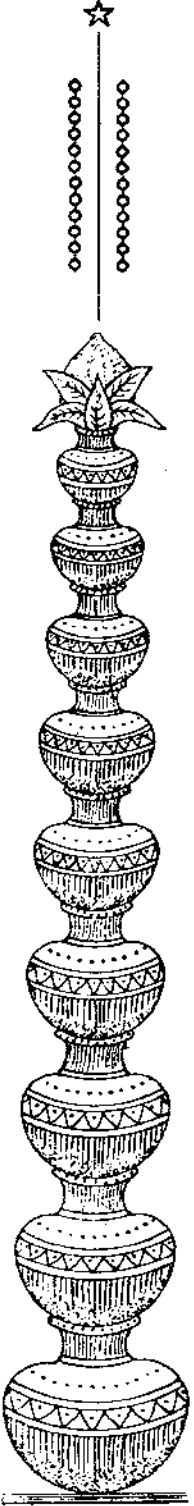
श्रमणत्व ग्रहण करते समय सुग्रीव नगर के राजकुमार मृगापुत्र को उनकी माता ने श्रमणत्व के अनेक दुःख बताये किन्तु मृगापुत्र ने अविचल भाव से उत्तर दिया कि श्रमण साधना की अपेक्षा संसार में अनन्त दुःख भरे पड़े हैं, वे दुःख असह्य हैं। वे दुःख निम्न हैं—जन्म, जरा, मृत्यु, रोग इन दुःखों से जीव क्लेश पा रहे हैं। अतः इस जन्म-मरण के चक्र में एक क्षण भी सुख नहीं मान सकता हूँ। मैंने अनन्त बार शारीरिक मानसिक आदि भयानक वेदनाएँ नरकादि दुर्गत्वों में सहन की हैं उनके सामने श्रमणत्व की साधना के दुःख तो अणु जितने भी नहीं हैं। जैसे एक मृग अरण्य में एकाकी निवास करता है किन्तु अपने को दुःखी नहीं मानता। इसी प्रकार मैं भी एकाकी रह कर धर्म की साधना करूँगा।” एक बार श्रमण भगवान महावीर स्वामी ने अपने सभी शिष्यों की आमन्त्रित करके एक महान् सिद्धान्त बताया। उन्होंने अपने शिष्यों से प्रश्न किया कि—‘आर्यों प्राणियों को किसका भय है? जब शिष्यों ने भगवान से ही इसका प्रति प्रश्न किया तो भगवान ने कहा—अहो आमुष्यमान श्रमणो ! सभी प्राणी दुःखों से भयभीत होते हैं। शिष्यों ने पूछा—भगवन्, वह दुःख किसने उत्पन्न किया? भगवान ने कहा—वह दुःख जीवों ने अपने प्रमाद से, अर्थात् अज्ञान व असंयम से उत्पन्न किया है और उस दुःख को जीव अपने अप्रमाद अर्थात् सम्यक् ज्ञान एवं सम्यक् क्रिया संयम से दूर कर सकते हैं।

श्रमण-साधना में दुःखानुभूति है अथवा सुखानुभूति ?

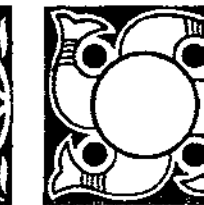
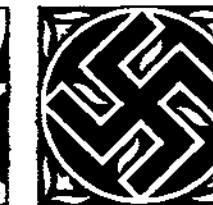
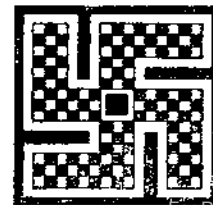
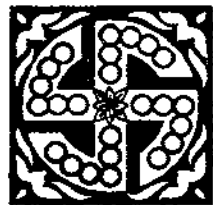
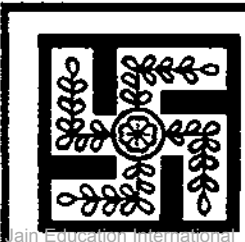
यह श्रमण की उसकी मानसिक स्थिति पर निर्भर है। जो श्रमण श्रमणत्व में सुख मानता है उसके लिए उसमें स्वर्ग से भी अधिक सौख्य की अनुभूति होती है और जो श्रमणत्व में पराजित होकर बाह्य बन्धन से उसमें रहता है उसके लिए श्रमणत्व सातवीं नरक से भी अधिक दुःखप्रद है। क्योंकि परिस्थिति की अनुकूलता प्रतिकूलता कमी-कमी कर्ता के अधीन होती है। जो परिस्थिति को अपने पुरुषार्थ से स्वेच्छानुसार स्वस्थिति बनाने में समर्थ होता है उसके लिए कहीं दुःख नाम का तत्त्व है ही नहीं। क्योंकि सुख-दुःख दोनों का कर्ता आत्मा ही है। आत्मा ही वैतरणी नदी एवं नन्दन वन के दुःख-सुख का कर्ता भोक्ता है।

- १ (क) “समयाए समणो होइ,”
(ख) सब्भूयप्प-भूयस्स सम्मं भूयाइ पासओ—‘दशर्व० अ० ४, गा० ६
(ग) आत्मवत् सर्वंभूतेषु यः पश्यति स पण्डितः।
- २ लाभालाभे सुहे दुक्खे, जीविए मरणे तद्दा ।
समो निन्दा पसंसासु तद्दा माणावमाणओ ॥—उत्त० अ० १६, गा० ६०
अणिसिओ इहं लोए परलोए आणीस्सओ
वासी चन्दण कप्पो य, असणे अणसणे तद्दा ।—उत्त० अ० १६, गा० ६२
- ३ ‘अतत्ताए परिव्वए’—सूत्र कृतांग अ० ३, उ० ३, गा० ११
- ४ अतत्ताए संबुडस्स’—सूत्र०, अ० २
- ५ “जा उ अस्साविणी नावा, न सा पारस्स गामिणी ।
जा निरस्साविणी नावा सा उ पारस्स गामिणी ।” —
सरीर माहु नावित्ति जीवो वुच्चइ नाविओ ।
संसारो अण्णवो वुत्तो जं तरन्ति महेसिणो ।” —उत्त० २३





- ६ न मुंडिएण समणो, ओंकारेण न बम्भणो
न मुणी रण्णवासेण कुसचीरेण तावसो ॥
समयाए समणो होइ बम्भचेरेण बम्भणो ।
मोषेण य मुणी होइ तवेण होइ तावसो ॥—उत्तराध्ययन
- ७ दस मुंडा पं० तं०—सोइंदिय मुंडे, चक्खुन्दिय मुंडे, धाणिन्दिय मुंडे, रसेन्दिय मुंडे, फासिन्दिय मुंडे, कोह मुंडे, माण मुंडे, माया मुंडे, जाव लोममुंडे, दसमे सिरमुंडे ।” ठाणांग सूत्र १० वां ठाणा’
दसविहे समणधम्मे पण्णत्ते तंजहा—खंति, मुत्ति, अज्जवे मद्दवे, लाघवे, सच्चे, संजमे, तवे, चियाए, बंमचेरवासे ।
—स्थानांग १०
- ८ सत्तावीसं अणगारगुणा पन्नत्ता तंजहा—पाणाइवायाओ वेरमण मुसावायाओ वेरमणं, अदिन्नादाणाओ वेरमणं, मेहुणत्तओ वेरमणं, परिग्गहाओवेरमणं, सोइंदियनिग्गहे, चक्खिन्दियनिग्गहे, धाणिन्दियनिग्गहे जिबिन्दियनिग्गहे फासिन्दियनिग्गहे, कोण विवेगे, माण विवेगे मायाविवेगे, लोमविवेगे, भावसच्चे, करण सच्चे, जोगसच्चे खभा, विरागथा, मण समाहरणया, वयसमाहरणया, कायसमाहरणया, णाणसंपण्णया, दंसण संपण्णया, चरित्त संपण्णया वेयण अहियासणया, मारणंतिय अहियासणया ।
- ९ सत्तरसविहे संजमे पं० तं० पुढवीकाय संजमे, आउकाय संजमे, तेउकाय संजमे, वाउकाय संजमे, वणस्सइकाय संजमे, बेइन्दिय संजमे, तेइन्दिय संजमे, चउरिन्दिय संजमे, पंचिन्दिय संजमे, अजीवकाय संजमे, पेहा संजमे, उवेहा संजमे, अवहट्टु संजमे, अप्पमज्जणा संजमे, मण संजमे, वइ संजमे, काय संजमे ।
—समवायांगं सूत्र २७
- १० “असंजमे नियत्ति व संजमे य पवत्तण” ।—उत्तरा० सू० ३१-२
- ११ दशवैकालिक अध्ययन ४, गाथा १० से २४
- १२ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः—आ० उमास्वाति,
- १३ “जगत्काय स्वभावो व संवेग वैराग्यार्थम्”—आ० उमा० तत्त्वार्थं सूत्र
- १४ नादंसणिसस नाणं, नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा—उत्तराध्ययन
- १५ कहं चरे, कह चिट्ठे, कहमासे, कहं सए ।
कहं भुंजन्तो मासन्तो पावकम्मं न बन्धइ ॥
- १६ जयं चरे जयंचिट्ठे जयमासे जयं सए
जयं भुंजन्तो मासन्तो पावकम्मं ण बन्धइ ।
- १७ “संजोगा विष्पमुक्कस्स अणगारस भिक्खुणो ।” —उत्तरा० ?
- १८ पिडं, सिज्जं च वत्थं च चउत्थं पाय मेव य ।
अकप्पियं न इच्छिज्जा, पडिगाहिज्ज कप्पियं ।—दशवै, अ० ६, गा० ४८
- १९ ठाणांग सू० ३ ठाणा
- २० “कइविहा णं भंते आराहणा पण्णत्ता ? गोयसा ! तिविहा आराहणा पण्णत्ता
तेजहा—नाणाराहणा दंसणाराहणा चरित्ताराहणा ।—मगवती सूत्र श० ८ उद्देशक १०वां



□ श्री गोदूलाल मांडोत 'निर्मल'

[रायपुर]

तप एक ज्योति है, एक ज्वाला है। आत्मा से संलग्न कर्म कालुष्य को भस्मसात् कर उसके तेजस स्वरूप को निखारने वाले उस अग्नि-तत्व-तप-साधना की विचित्र प्रक्रियाएँ जैन-धर्म में प्रचलित हैं। तप के उन विविध स्वरूपों को एक रूपवाही व्याख्या यहाँ पढ़िए :

जैन साधना में तप के विविध रूप

[एक संकलन]

□

नव तत्त्वों में कर्मों को क्षय करने वाला तत्व निर्जरा है। आत्मा से कर्म-वर्गणाओं का पृथक् होना निर्जरा कहलाता है। निर्जरा के सामान्यतः बारह भेद हैं। ये ही बारह भेद तपस्या के माने जाते हैं, इनका क्रमशः नामोल्लेख इस प्रकार है—(१) अनशन, (२) ऊनोदरी, (३) मिश्राचर्या, (४) रसपरित्याग, (५) कायक्लेश, (६) प्रति संलीनता (७) प्रायश्चित्त, (८) विनय, (९) वैयाकृत्य, (१०) स्वाध्याय, (११) ध्यान और (१२) व्युत्सर्ग।

इनमें से प्रथम छह बाह्य तप के तथा अन्तिम छह आभ्यन्तर तप के भेद हैं। तपों के ये बारह भेद आत्मा को मोक्ष तक पहुंचाने में आगम सम्मत सीढ़ियाँ हैं बाह्य तपों में आत्मा जब शरीर को समर्पित कर देती है तो वह इतनी निर्मल बन जाती है कि वह आभ्यन्तर तप को सहज ही स्वीकार कर लेती है।

जैनागमों में तप को महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। उत्तराध्ययन सूत्र में लिखा है—“भव कोडि संचियं कम्मं तवसा निज्जारिज्जई” करोड़ों भवों में संचित कर्म तपस्या से नष्ट किये जाते हैं। तप के इन बारह भेदों पर जैन साहित्य में विपुल वर्णन उपलब्ध है, प्रस्तुत निबन्ध में तप के प्रथम स्थान अनशन पर ही विवेचनात्मक विचार प्रस्तुत किये जा रहे हैं—

आहार चार प्रकार के माने गए हैं—

१. अशन—अन्न से निमित्त वस्तुएँ, सभी पक्वान्न आदि।
२. पान—पानी।
३. खादिम—दाख, बादाम आदि सूखा मेवा।
४. स्वादिम—चूर्ण, चटनी आदि मुखवास की चीजें।

इन चार प्रकार के आहार का त्याग करना अथवा पान (पानी) को छोड़कर शेष तीन आहारों का त्याग करना अनशन कहलाता है।

अनशन के मुख्य दो भेद हैं—इत्वरिक और यावत्कथिक।

इत्वरिक—अल्पकाल के लिये जो उपवास किया जाता है उसे इत्वरिक अनशन कहते हैं, इसके निम्न चौदह भेद हैं—

१. चतुर्थ भक्त, २. षष्ठ भक्त, ३. अष्कम भक्त, ४. दशम भक्त, ५. द्वादश भक्त, ६. चतुर्दश भक्त,
७. षोडश भक्त, ८. अर्द्धमासिक, ९. मासिक, १०. द्विमासिक, ११. त्रिमासिक, १२. चातुर्मासिक, १३. पंचमासिक,
१४. षाण्मासिक।

इनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है—

जिस उपवास के पहले दिन एक समय के भोजन का, दो समय उपवास के दिन का और पारणे के दिन एक समय के भोजन का त्याग किया जाता है उसे चतुर्थ भक्त कहते हैं। आजकल व्यवहार में चारों समय आहार का त्याग



न होने पर भी तथा केवल उपवास के दिन के दोनों समय आहार का त्याग करने पर भी उपवास मान लिया जाता है। वस्तुतः चतुर्थ भक्त ही उपवास की संज्ञा है, इसी प्रकार षष्ठ भक्त से तात्पर्य बेला यानि दो उपवास तथा अष्टम भक्त यानि तेला से है। कहा है—चतुर्थमेकेनोपवासेन षष्ठं द्वाभ्यां अष्टमं त्रिभिः।

यावत्कथिक—जो अनशन अल्प समय के लिये नहीं किया जाता है उसे यावत्कथिक अनशन कहते हैं—इसके तीन भेद हैं—(१) पादपोषगमन, (२) भक्त प्रत्याख्यान, (३) इंगित मरण।

पादपोषगमन—पादप का अर्थ वृक्ष है, जिस प्रकार कटा हुआ वृक्ष अथवा वृक्ष की कटी हुई डाली हिलती नहीं, उसी प्रकार संथारा करके जिस स्थान पर जिस रूप में एक बाद लेट जाय फिर उसी जगह उसी रूप में लेटे रहने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाना पादपोषगमन मरण है। इसमें हाथ-पैर हिलाने का आगार भी नहीं होता है। इसमें चारों आहार का त्याग करके अपने शरीर के किसी भी अंग को किंचित मात्र भी न हिलाते हुए निश्चय रूप से संथारा करना पादपोषगमन कहलाता है। पादपोषगमन के दो भेद हैं—(१) व्याघातिम (२) निर्व्याघातिम।

सिंह, व्याघ्र, अग्नि आदि का उपद्रव होने पर जो संथारा किया जाता है वह व्याघातिम पादपोषगमन संथारा कहलाता है। तीर्थंकर महावीर के दर्शनार्थ जाते हुए सुदर्शन ने अर्जुनमाली के शरीर में रहे यक्ष से आते उपसर्ग को जान यही अनशन स्वीकार किया था।

जो किसी भी प्रकार के उपद्रव के बिना स्वेच्छा से संथारा किया जाता है वह निर्व्याघातिम पादपोषगमन संथारा कहलाता है।

भक्त प्रत्याख्यान—यावज्जीवन तीन या चारों आहारों का त्याग कर जो संथारा किया जाता है उसे भक्त-प्रत्याख्यान अनशन कहते हैं इसी को भक्त परिजा भी कहते हैं।

इंगित मरण—यावज्जीवन पर्यन्त चारों प्रकार के आहार का त्याग कर निश्चित स्थान में हिलने-डुलने का आगार रखकर जो संथारा किया जाता है, उसे इंगित मरण अनशन कहते हैं, इसे इङ्गिनीमरण भी कहते हैं। इंगित मरण संथारा करने वाला अपने स्थान को छोड़कर कहीं नहीं जाता है एक ही स्थान पर रहते हुए हाथ-पैर आदि हिलाने का उसे आगार रहता है वह दूसरों से सेवा भी नहीं करवाता है।

उपरोक्त तीनों प्रकार के संथारा (अनशन), निहारिम और अनिहारिम के भेद से दो तरह के होते हैं, निहारी संथारा नगर आदि के अन्दर और अनिहारी ग्राम-नगर आदि से बाहर किया जाता है।

अनशन तप के दूसरी तरह से और भी भेद किये जाते हैं।

इतरी अनशन तप के छह भेद हैं—श्रेणी तप, प्रतर तप, घन तप, वर्ग तप, वर्ग वर्ग तप और प्रकीर्णक तप। श्रेणी तप आदि तपश्चर्याएँ मिन्न-मिन्न प्रकार से उपवासादि करने से होती हैं।

यावत्कथिक अनशन के काय चेष्टा की अपेक्षा से दो भेद हैं। क्रिया सहित (सविचार) और क्रिया रहित (अविचार), अथवा सपरिकर्म (संधारे में सेवा कराना) और अपरिकर्म (संधारे में सेवा नहीं करवाना)।

इदरिक्त अनशन के श्रेणी तप आदि का विस्तार से निम्नोक्त वर्णन किया जा रहा है—

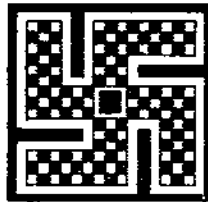
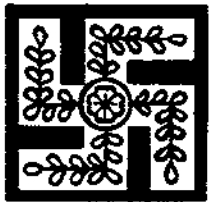
१. **नवकार सहिअं** (नवकारसी) सूर्योदय से दो घड़ी के बाद नवकार मन्त्र न कहे तब तक चारों आहारों का त्याग प्रथम और द्वितीय इन दो आगारों से किया जाता है। (आगारों की क्र० सं०, नाम और अर्थ इसी निबन्ध में आगे दिये जा रहे हैं)।

२. **पौरिसियं (पौरिसी)** सूर्योदय से लेकर प्रहर तक (दिन के चौथे भाग तक चारों आहारों का त्याग करना पौरिसियं प्रत्याख्यान कहलाता है इसमें आगार संख्या एक से छह तक की होती है।

३. **साहु पौरिसियं**—(डेढ़ पौरिसी) सूर्योदय से लेकर एक डेढ़ प्रहर तक चारों आहारों का त्याग करना डेढ़ पौरिसी प्रत्याख्यान कहलाता है। पौरिसियं वाले सभी आगार इसमें होते हैं।

४. **पुरिमडं** (दो पौरिसी)—सूर्योदय से लेकर दोपहर तक चारों आहारों के त्याग करने के पुरिमडु प्रत्याख्यान कहते हैं। इसमें पूर्वोक्त ६ के अतिरिक्त महत्तरागोरण आगार विशेष होता है।

५. **तीन पौरिसी** (अवडु) सूर्योदय से लेकर तीन पहर तक चारों आहारों का त्याग अवडु प्रत्याख्यान कहलाता है इसमें पूर्वोक्त ७ आगार होते हैं।



उपरोक्त पाँचों त्यागों को लेने के लिये निम्न पाठ बोलते हैं—उग्गएसूरे.....(प्रत्याख्यान का नाम) पच्चक्खामि चउव्विहंपि आहारं असणं पाणं खाइमं साइमं.....(आहारों के नाम) वोसिरामी, जहाँ प्रत्याख्यान देने वाले गुरु महाराज या बड़े श्रावक जी हों तो लेने वाले को वोसिरामि बोलना चाहिये क्योंकि देने वाले वोसिरे शब्द का उच्चारण करते हैं। स्वयं ही प्रत्याख्यान लेने पर वोसिरामि शब्द का उच्चारण करना है।

६. एगासनं (एकासन) —पौरिसी या दो पौरिसी के बाद दिन में एक बार एक ही आसन से भोजन करने को एकासन प्रत्याख्यान कहते हैं इसमें पूर्वोक्त सात तथा सागारिआगारेणं आगार विशेष होता है।

७. बे आसनं (दो आसन) —पौरिसी या दो पौरिसी के बाद दिन में एक बार दो आसन से भोजन करने को बे आसन प्रत्याख्यान कहते हैं दिन में दो बार भोजन के सिवाय मुंह में कुछ न खाने को भी बे आसन प्रत्याख्यान कहते हैं इसमें पूर्वोक्त आठ आगार होते हैं। एगासन और बेआसन में चारों आहारों में से धारणा पूर्व त्याग किया जाता है यानि एकासन और बे आसन के बाद स्वादिम और पानी लेना हो तो दुविहंपि कहना चाहिये।

८. एगठ्ठाणं (एक स्थान) —एगलठाणा और एकासना के त्याग मिलते-जुलते हैं परन्तु आउट्ठण पसारेणं का आगार नहीं रहता है अर्थात् मुँह और हाथ के सिवाय अंगोपांग का संकोचन—प्रसारण नहीं करते हैं। 'सव्व समाहि-वत्तियागारेणं' रोगादि की शान्ति के लिये भी औषधादि नहीं लेवे इस आगार का भी पालन यथासम्भव किया जाता है।

९. तिविहार उपवास—पानी के सिवाय तीन आहारों का त्याग करने पर तिविहार उपवास होता है। तिविहार उपवास में पानी के कुछ विशेष आगार होते हैं। जैसे लेप वाला दूध या छाछ के ऊपर वाला, अन्न के कणों से युक्त तथा धोवन आदि। इसमें आगार सं० १, २, ६, ७ और ११वां होते हैं।

१०. चउव्विहार उपवास—चारों आहारों का त्याग करने पर चउव्विहार उपवास होता है इसमें आगार सं० १, २, ६, ७, ११ होते हैं।

११. अभिग्रह—उपवास के बाद या बिना उपवास के भी अपने मन में निश्चय कर लेना कि “अमुक बातों के मिलने पर ही पारणा या आहार ग्रहण करूँगा” इस प्रकार द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की प्रतिज्ञा विशेष को अभिग्रह कहते हैं। सारी प्रतिज्ञाएँ मिलने पर ही पारणा किया जाता है। इसमें आगार सं० १, २, ६, ७ होते हैं। अभिग्रह में जो बातें धारण करनी हों उन्हें मन में या वचन द्वारा गुरु के समक्ष निश्चय करके दूसरों के विश्वास के लिये एक पत्र में लिख देना चाहिये। प्रभु महावीर को चन्दनवाला द्वारा दिया गया उड़द के बाकुले का दान अभिग्रह का सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

१२. दिवस चरिम—सूर्य अस्त होने से पहले से दूसरे दिन सूर्योदय तक चारों या तीनों आहारों का त्याग करना दिवस चरिम प्रत्याख्यान है इसमें अभिग्रह के चारों आगार हैं।

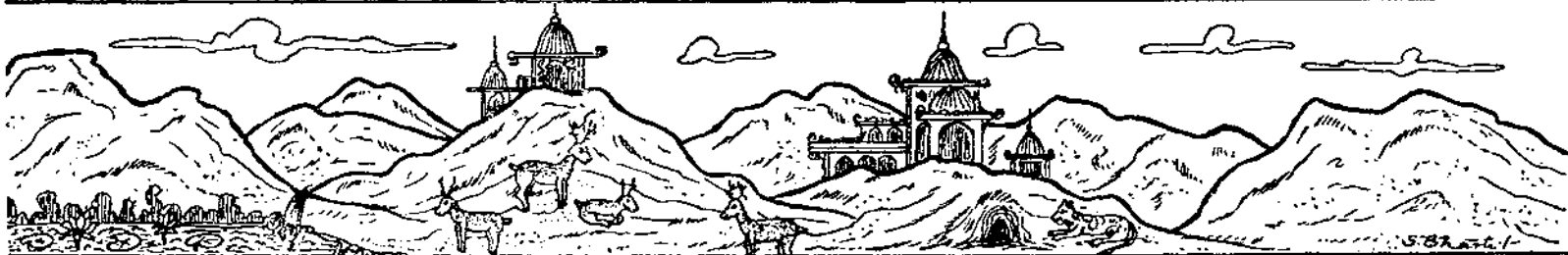
१३. भव चरिम (यावज्जीवन का त्याग) त्याग करने के समय से लेकर यावज्जीवन तीनों या चारों आहारों का त्याग करना भव चरिम प्रत्याख्यान कहलाता है। इसमें पूर्वोक्त चारों आगार हैं किन्तु घटाये जा सकते हैं।

१४. आयम्बिल—पौरिसी या दो पौरिसी के बाद दिन में एक बार नीरस और विगयों से रहित आहार करने को आयम्बिल (आचाम्ल) प्रत्याख्यान कहते हैं इसमें आगार सं० १, २, ६, ७, ११, १२, १३ और १४ होते हैं।

१५. नीवी—(निव्विगइयं) विकार उत्पन्न करने वाले पदार्थों को विकृति (विगय) कहते हैं। दूध, दही आदि मध्य तथा मांसादि अमध्य विकृतियाँ हैं। श्रावक के अमध्य विकृतियों का तो त्याग ही होता है और मध्य विकृतियों को छोड़ना निव्विकृतिक (निव्वीगय) तप कहलाता है। इसमें आयम्बिल के अलावा पडुच्चमक्खिएण आगार विशेष होता है। किसी विगय का त्याग करने पर विगईप्रत्याख्यान तथा समस्त विगय का त्याग करने पर निव्विगइ प्रत्याख्यान कहते हैं।

१६. गंठि सहियं मुट्ठिसहियं—चट्टर डोरा आदि के गांठ देकर जहाँ तक न खोले वहाँ तक चारों आहारों के त्याग करने पर गंठि सहियं तथा मुट्ठी के बीच अंगूठा रहे वहाँ तक आहार त्याग को मुट्ठी सहियं कहते हैं। अंगूठी आदि के आगार रहते हैं। ऐसे ही संकल्प अन्य भी होते हैं।

आजकल घण्टे-घण्टे के प्रत्याख्यान भी किये जाते हैं। छोटी डायरियों में पन्नों पर कई खाने बनाकर उनमें घण्टों के त्यागानुसार चिह्न लगा देते हैं, बाद में उन्हें जोड़ लिया जाता है। जिह्वा की स्वाद-लोलुपता पर आंशिक नियंत्रण का यह भी बेजोड़ साधन है।



आगारों के अर्थ

१. अन्नत्यागभोगेण—भूल से (बिना उपयोग से) अज्ञात अवस्था में कोई भी वस्तु मुख में डालने से त्याग नहीं टूटते हैं। यदि प्रत्याख्यान याद आने से तुरन्त थूक देवे तो भी त्याग में दोष नहीं आता है, बिना जाने खा लिया, बाद में स्मरण हो जाने पर भी दोष नहीं लगता है किन्तु शुद्ध व्यावहारिकता के लिए प्रायश्चित्त लेकर निशंक होना जरूरी है।

२. सहस्सागारेण—जो त्याग लिये हुए हैं वे याद तो जरूर हैं परन्तु आकस्मिक स्वाभाविक रूप से दधि-मंथन करते मुख में बूंद गिर जाय अथवा गाय-भैंस को दोहते, घृतादिक मंथन करते, घृतादिक तोलते, अचानक पदार्थ मुख में आ जाए, वर्षा की बूंदें चौविहार उपवास में भी मुख में पड़ जावे तो भी त्याग भंग नहीं होते हैं।

३. पच्छन्नकालेण—काल की प्रच्छन्नता अर्थात् मेघ, ग्रह, दिग्दाह, रजोवृष्टि, पर्वत और बादलादि से सूर्य ढक जाने पर यथातथ्य काल की मालूम न हो उस समय बिना जाने अपूर्ण काल में खाते हुए भी त्याग भंग नहीं होता।

४. दिशा मोहेण—दिशा का मूढ़पना अर्थात् दृष्टि विपर्याय से अज्ञानपूर्वक पूर्व को पश्चिम और पश्चिम को पूर्व समझ के भोजन करे, खाने के बाद दिशा ज्ञान हो तो भी व्रत भंग नहीं होता है।

५. साह्वयणेण—साधुजी (आप्त पुरुष या आगम ज्ञानी) के वचन-पहर दिन चढ़ गया ऐसा सुनकर आहार करे तो त्याग भंग नहीं होता है।

६. सध्वसमाह्वित्तियागारेण—सर्व प्रकार की समाधि रखने के लिए अर्थात् त्याग करने के पश्चात् शूलादिक रोग उत्पन्न हुए हों या सर्पादिकों ने डंक दिया हो, उन वेदनाओं से पीड़ित होकर आर्तध्यान करे तब सर्व शरीरादिक की समाधि के लिए त्याग पूर्ण नहीं होने पर भी औषधादिक ग्रहण करे तो उसका नियम भंग नहीं होता है। उपशान्ति (समाधि) होने पर यथातथ्य नियम पालना कर ली जाती है।

७. महत्तरागारेण—महत् आगार यानि बड़ा आगार जैसे कोई रत्नानादिक की बंधावृत्त के लिए या अन्य से कार्य न होता हो तो गुरु या संघ के आदेश से समय पूर्ण हुए बिना ही आहार करे तो नियम भंग नहीं होता है। कोई भी बड़ा कार्य यानि त्याग किये हुए हैं उनसे भी अधिक निर्जरा के लाभ का कोई कार्य हो ऐसी स्थिति में महत्तरागारेण रखा गया है।

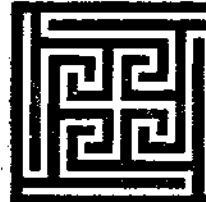
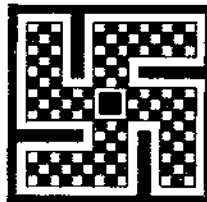
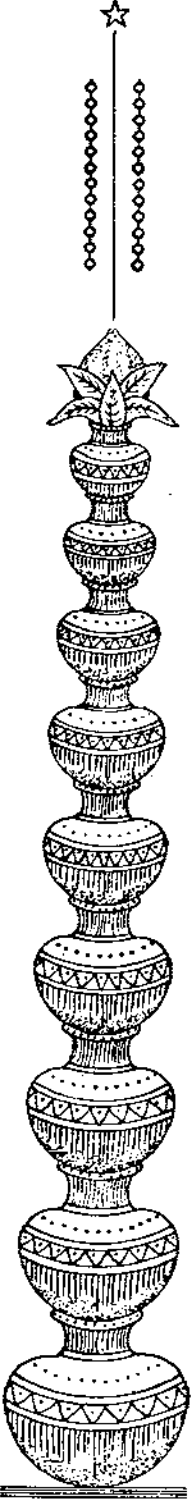
८. सागारियागारेण—साधु आहार के लिए बैठे हुए हैं वहाँ पर अचानक कोई गृहस्थ आ जाते हैं तो उनके सामने आहार ग्रहण नहीं किया जाता है। यदि गृहस्थ वहाँ स्थित रहा हुआ जाना जाय या गृहस्थ की दृष्टि आहार पर पड़ती हो तो वहाँ से उठकर अन्य स्थान पर जाकर आहार करें, क्योंकि गृहस्थ के सामने आहार ग्रहण करने से प्रवचन घातिक महत्दोष सिद्धान्त में कहे हैं। गृहस्थ एकासन करने बैठे हो, उस समय सर्प आता हो, अकस्मात् अग्नि लगी हो मकान गिरता हो, पानी आदि का बहाव आता हो तो भी वहाँ से उठकर अन्य स्थान पर जाते हुए भी एकासनादि नियम भंग नहीं होता है।

९. आउट्टणपसारेण—भोजन करते समय हाथ-पंर और अंगोपाङ्गादिक संकोचते या पसारते आसन से चलित हो जाय तो नियम भंग नहीं होता है।

१०. गुरु अब्बुट्टाणेण—एकासन करते समय गुरु, आचार्य, उपाध्याय और मुनिराज पधार जायें तो उनकी विनय भक्ति के लिए उठ-बैठ करने पर भी नियम भंग नहीं होता है।

११. पारिठावाणिद्यागारेण—निर्दोष रीति से ग्रहण किया हुआ आहार शास्त्रोक्त रीति से खाने के बाद भी अधिक हो जाय तथा उस स्निग्ध विंग्यादिक आहार को डालने से जीव विराधानादिक कई दोष उत्पन्न हो जायें यह जान के शेष बचे हुए आहार को गुरु की आज्ञा से एकासनादि तप से लेकर उपवास पर्यन्त तप धारक साधु उस आहार को ग्रहण करे फिर भी नियम भंग नहीं होता है यह आगार साधुजी के लिए ही माना गया है।

१२. लेवालेवेण—घृतादिक से हाथ अथवा वर्तन के कुछ अंश भोजन में लगे उसे लेप कहते हैं। वस्त्रादि से उसे पोछ लेने पर लेप दृष्टिगत न हो उसे अलेप कहते हैं। ऐसे लेप और अलेप वाले वर्तनों में भोजन लेने से नियम भंग नहीं होता है।



१३. गिहृत्य संसङ्गेण—विगयों से भरे हाथ, चम्मच आदि से आहार दिया-लिया जाने पर भी नियम भंग नहीं होता है।

१४. उखिलतचिवेगणं—ऊपर रखे हुए गुड़, शक्कर आदि को उठा लेने पर भी उनका अंश जिसमें लगा रह गया हो ऐसे आहार को लेने से नियम भंग नहीं होता है।

१५. पञ्चकमखिलणं—रोटी आदि पदार्थ को नरम बनाने के लिए घी, तैल आदि लगाए गये हों तो वह आहार लेने से नियम भंग नहीं होता है।

श्री भगवती सूत्र के सातवें शतक के आठवें उद्देशक में सर्व उत्तर गुण पञ्चकखण के दस भेद इस प्रकार किये गये हैं—

१. अणागय—चतुर्दशी आदि के दिन तप करना हो उस दिन यदि आचार्यादिक की विनय वैयावृत्यादि कराना हो तो एक दिन पहले तप करे उसे अनागत कहते हैं।

२. महवकंतं—आचार्यादिक की वैयावृत्यादि करने के बाद तप करे सो अतिक्रान्त तप है।

३. कोडीसहियं—आदि, अन्त और मध्य में लिए हुए तप को अनुक्रम से पूर्ण करना कोडीसहियं तप कहलाता है।

४. नियन्ठियं—अमुक दिन तप ही करूँगा, उसे नियन्त्रित कहते हैं।

५. सागार—आगार सहित तप करने को सागारिक तप कहते हैं।

६. अनागारं—बिना आगार का तप अनागारिक तप कहलाता है।

७. परिमाणकडं—अमुक दिन तक ऐसा ही तप करूँगा सो परिमाणकृत तप कहलाता है।

८. निरवसेसं—सर्वथा आहारादिकों के त्याग करने को निर्विशेष तप कहते हैं।

९. संक्रियं—गंठी-मुट्टी आदि के त्याग करने को संकेत प्रत्याख्यान कहते हैं।

१०. अद्वाए—नमुक्कारसी-पोरिसी आदि को अद्वा तप कहते हैं।

'पञ्चकखणभवे दसहा' इस प्रकार पञ्चकखण दस प्रकार से होता है।

अतिचार

तप के ५ अतिचार हैं उनका संक्षिप्त अर्थ इस प्रकार है—

१. इहलोगासंसप्पज्जे—इस लोक में ऋद्धि प्राप्त करने के लिए तप करना प्रथम अतिचार है।

२. परलोगासंसप्पज्जे—परलोक के लिए इन्द्रादि सुखों की इच्छा से तप करे यह द्वितीय अतिचार है।

३. जीवियासंसप्पज्जे—अपनी महिमा देख जीने की इच्छा से तप करे यह तृतीय अतिचार है।

४. मरणासंसप्पज्जे—महिमा न हो ऐसा जान मरने की इच्छा से तप करे यह चतुर्थ अतिचार है।

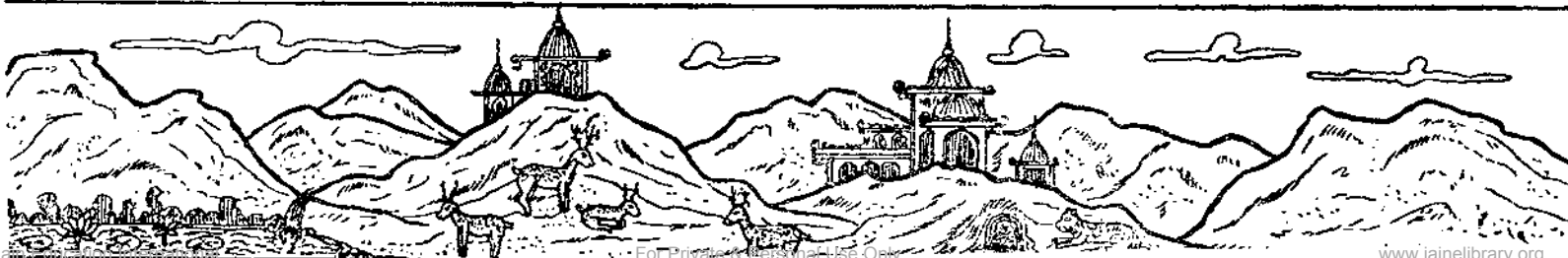
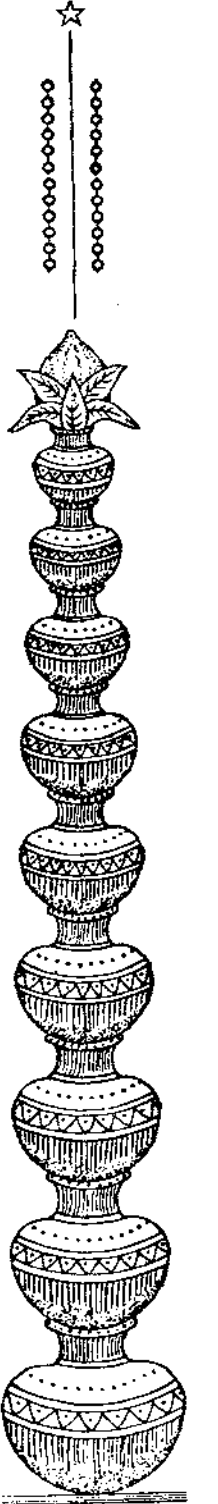
५. कामभोगासंसप्पज्जे—काम-भोग प्राप्त करने की इच्छा से तप करे यह पंचम अतिचार है।

इन अतिचारों को जानकर निष्काम भाव से तपाराधना की जानी चाहिए। की गई तपस्या का निदान कभी नहीं करना चाहिए।

ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की अभिवृद्धि के लिए कई तिथियों पर विशेष तप प्रारम्भ किये जाते हैं। संक्षेप में कनकावली आदि तपों का तथा पर्व और व्रतों की तिथियों का वर्णन (जिन तिथियों पर अनशन तपाराधना की जाती है) किया जा रहा है।

(१) रत्नावली तप—रत्नावली तप की एक लड़ी में एक वर्ष, तीन महीने और बावीस दिन लगते हैं जिनमें से तीन सौ चौरासी दिन उपवास के और अठ्यासी दिन पारणे के, यों कुल चार सौ बहत्तर दिन होते हैं। इसकी विधि इस प्रकार है।

उपवास करके पारणा, फिर बेला करके पारणा, तैला करके पारणा, पारणा करके आठ बेले किए जाते हैं। इसके बाद उपवास→पारणा→बेला→पारणा इस तरह अन्तर से सोलह तक उपवास करके चौतीस बेले किए जाते हैं। फिर जिस क्रम से तपस्या प्रारम्भ की थी उसके विपरीत लड़ी में उपवास तक उतरा जाता है। फिर आठ बेले करके पारणा→बेला→पारणा→बेला→पारणा→उपवास किया जाता है। रत्नावली तप की चार लड़ियों की जाती हैं, दूसरी लड़ी में विगयों का त्याग रहता है, तीसरी लड़ी के पारणों में लेप वाले पदार्थों का भी त्याग रहता है तथा चौथी लड़ी के पारणों में आयम्बिल किए जाते हैं।



(२) कनकावली तप—रत्नावली तप में जहां तीन बेले किए जाते हैं वहाँ कनकावली में तीन तैले किए जाते हैं। इसकी एक लड़ी में एक वर्ष, पाँच महीने और बारह दिन लगते हैं। जिसमें से अठासी दिन पारणे के और एक वर्ष दो महीने और चौदह दिन तपस्या के होते हैं। इसकी भी चार लड़ी होती है तथा ३४ बेलों की जगह भी ३४ तैले किए जाते हैं।

(३) लघुसिंहनिष्क्रीडित तप—इसमें तैंतीस दिन तो पारणे के तथा पाँच महीने चार दिन की तपस्या एक लड़ी में होती है।

(४) महासिंहनिष्क्रीडित तप—इसमें इकसठ दिन तक पारणा किया जाता है तथा एक वर्ष चार माह और सत्रह दिन अर्थात् चार सौ सत्तानवें दिन तपस्या के होते हैं। इस तप की भी चार लड़ी की जाती है।

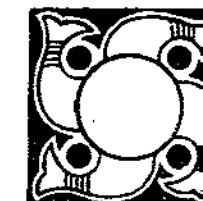
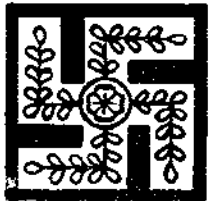
(५) सप्त-सप्तमिका तप—सात दिन तक नित्यप्रति एक वक्त में रोटी का पाव हिस्सा और एक बार की धारा में जितना पानी आता हो उतना ही उस रोज खाते-पीते हैं। यही क्रम सात दिन तक रखा जाता है। दूसरे सप्ताह में दो बार भोजन में पाव-पाव रोटी व इसी तरह पानी ग्रहण करना, इसी तरह क्रमशः तीसरे सप्ताह में तीन बार सातवें सप्ताह में सात बार गृहस्थों द्वारा दिए गए भोजन और पानी को ग्रहण कर उसी पर अपने प्राणों की प्रतिपालना की जाती है इसे ही सप्त-सप्तमिका मिक्षु पडिमा कहते हैं।

अष्टम-अष्टमिका आदि तप—सप्तम-सप्तमिका तप की तरह ही अष्टम-अष्टमिका तप किया जाता है, अन्तर केवल इतना ही है कि यह आठ सप्ताह तक किया जाता है। नवम-नवमिका नौ सप्ताह तक तथा दशम-दशमिका—दस सप्ताह तक किया जाता है।

(६) लघु सर्वतोभद्र तप—सर्वप्रथम उपवास → पारणा → बेला → पारणा → तेला यों चोला, पंचोला, तेला, चोला, पंचोला, उपवास, बेला, पंचोला, उपवास, बेला, तेला, चोला, बेला, तेला, चोला, पंचोला, उपवास चोला, पंचोला उपवास, बेला और तेला किया जाता है इसमें पचहत्तर दिन तपस्या के तथा पन्चीस दिन पारणे के होते हैं। इस तप की भी चार लड़ियाँ होती हैं।

(७) महासर्वतोभद्र तप—इस तप की एक परिपाटी करने में तपस्या के दिन १६६ लगते हैं और पारणे के दिन ४९ होते हैं यों एक परिपाटी में कुल दो सौ पैंतालीस दिन लगते हैं इसका चित्र इस प्रकार है—

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	१	२	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	१	२	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
५	६	७	१	२	३	४



(८) भद्रोत्तर तप—एक परिपाटी में एक सौ पिचहत्तर तपस्या के तथा पच्चीस दिन पारणे के होते हैं इस का क्रम इस प्रकार है—

५	६	७	८	९
७	८	९	५	६
९	५	६	७	८
६	७	८	९	५
८	९	५	६	७

(९) मुक्तावली तप—इसमें उपवास करके पारणा, फिर बेला करके पारणा, फिर उपवास करके पारणा, तेला करके पारणा, फिर उपवास। इस तरह एक-एक उपवास के अन्तर से सोलह तक पहुँचते हैं, फिर उसी क्रम से उतरकर उपवास तक आया जाता है। इसकी एक परिपाटी में उनसाठ दिन पारणे के तथा दो सौ छियासी दिन तपस्या के होते हैं।

(१०) आयम्बिल बर्द्धमान तप—इसमें एक आयम्बिल दूसरे दिन उपवास, फिर दो आयम्बिल—उपवास→तीन आयम्बिल—उपवास→चार आयम्बिल—उपवास—यों बीच-बीच में उपवास करते हुए सौ तक आयम्बिल किए जाते हैं तपस्या की इस एक लड़ी में चौदह वर्ष, तीन मास और बीस दिन लगते हैं।

(११) बृहद् ज्ञान पञ्चमी तप—प्रत्येक माह की शुक्ला पंचमी को लगातार साढ़े पाँच वर्ष तक व्रताराधना सम्यक् ज्ञान प्राप्ति के लिए की जाती है। कार्तिक शुक्ला पंचमी को तो अवश्य ही व्रत किया जाना चाहिए। तप पूर्ति पर ज्ञानोपकरण प्रदान किए जाने चाहिए। 'ओ३म् ह्रीं श्रीं नमो नाणस्स' पद का सवा लक्ष जाप किया जाना श्रेयस्कर है।

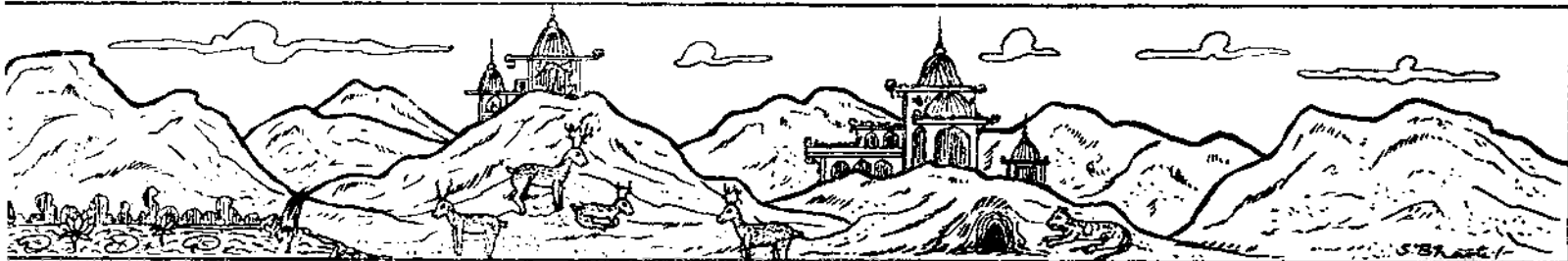
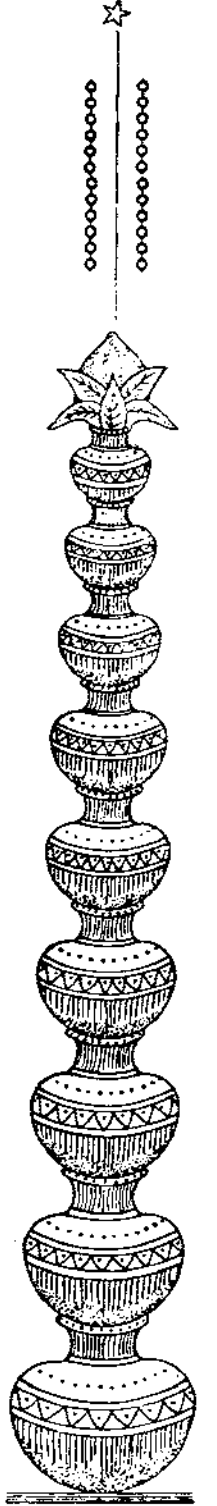
(१२) रोहिणी तप—रोहिणी नक्षत्र के दिन उपवास, नीविगय या आयम्बिल से सात वर्ष सात मास तक यह व्रत किया जाता है।

(१३) वर्षी तप व्रत विधि—३६० उपवास फुटकर या उपवासों को एकान्तर कर दो वर्ष में इस तप को पूरा किया जाता है अक्षय तृतीया को इसका पारणा किया जाता है।

(१४) दश प्रत्याख्यान तप—नमोकारसी १, पोरसी २, साठ पोरसी ३, पुरिमड्ड ४, एकासना ५, नीवी ६, एगलठाणा ७, दात्त ८, आयम्बिल ९, उपवास फिर १० अभिग्रह इस प्रकार दश विधि प्रत्याख्यान की आराधना की जाती है।

(१५) ढाई सौ प्रत्याख्यान तप—२५ नमोकारसी, २५ पोरसी, २५ डेढ़ पोरसी, २५ एकासना, २५ एकलठाणा, २५ नीविगय, २५ आयम्बिल, २५ अभिग्रह और २५ पौषधोपवास तप करने पर ढाई सौ प्रत्याख्यान तप पूरा होता है।

(१६) चन्दनबाला तप व्रत—साधु-साध्वीजी का समागम अपने क्षेत्र में होने पर ही यह व्रत करना लाभदायक रहता है क्योंकि सुपात्र दान देने के लिए ही यह तप किया जाता है। अष्टम भक्त (तेला) करके चौथे दिन (पारणे के दिन) मुनिराज को गोचरी बहिरा कर उड़द का वाकुले का पारणा करना चाहिए। आयम्बिल का प्रत्याख्यान करना



चाहिए। हाथ में सूत की आंटी डालकर तथा सूपड़े में उड़द का बाकुला रखकर भी दान दिया जा सकता है। संघ स्नेह का कार्य अवश्यमेव किया जाना चाहिए।

(१७) पचरंगी तप—पहले दिन पांच पुरुष या स्त्रियाँ उपवास या आयम्बिल या दया व्रत करे, दूसरे दिन वे पांच तथा अन्य, तीसरे दिन पांच और इस तरह पाँचवें दिन २५ ही व्यक्ति व्रताराधना करें तो एक पचरंगी तप पूर्ण होता है।

(१८) धर्म चक्र—४२ व्यक्ति एक साथ बेला करें तथा एक अन्य व्यक्ति तेला करे तो एक धर्म चक्र होता है।

(१९) आयम्बिल ओली व्रत—अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यग् चारित्र और तप इन नौ पदों से सम्बन्धित व्रत नवपद या सिद्ध चक्र या आयम्बिल ओली व्रत कहलाते हैं। चैत्र शुक्ला १ से ९ तक तथा आसोज शुक्ला एकम से नवमी तक नौ-नौ आयम्बिल किए जाते हैं। नवपद जी की ओली साढ़े चार वर्ष तक करने की मान्यता है। यथासम्भव नौ ही दिन आयम्बिल भिन्न-भिन्न पदार्थों से किए जाते हैं।

(२०) मौन एकादशी—मार्गशीर्ष शुक्ला एकादशी के दिन अनेक तीर्थकरों के कल्याणक हुए हैं यथा—

(१) अठारहवें तीर्थकर ने इसी दिन दीक्षा ली।

(२) उन्नीसवें तीर्थकर के जन्म, दीक्षा और केवल इसी दिन हुए।

(३) इक्कीसवें तीर्थकर को केवलज्ञान इसी दिन हुआ। इसी दिन पाँच भरत में, पाँच एरावत क्षेत्रों में, पाँच-पाँच सब मिलाकर पचास कल्याणक तथा अतीत और अनागत के भेद से डेढ़ सौ कल्याणकों से सम्बन्धित यह पर्व आराधना के लिए अति उत्तम माना जाता है। मौन सहित उपवास मार्गशीर्ष महीने की सुदी ग्यारस को करना चाहिए। ग्यारह वर्षों तक प्रति वर्ष मौन एकादशी का उपवास अथवा ग्यारह महीनों तक सुदी ग्यारस को किया जाना लाभकारी रहता है। तीर्थकरों के कल्याणक की माला अवश्य फेरनी चाहिए।

(२१) मेरु त्रयोदशी—वर्तमान अवसर्पिणी काल के सुषमसुषमा नामक तीसरे आरे के तीन महीने पन्द्रह दिन बाकी रहे तब माघ वदी १३ के दिन प्रथम तीर्थकर श्री ऋषभदेव जी मोक्ष में पधारे। अट्टाई द्वीप में पाँच मेरु हैं प्रभु के साथ दस हजार मुनियों ने शैलेशीकरण करके मेरु जैसी अचल स्थिति को प्राप्त कर ली थी। साधक पूर्वकाल में रत्नों के मेरु रचकर व्रताधराना करते थे अब साकर के पाँच मेरु रचने का व्यवहार प्रचलित है।

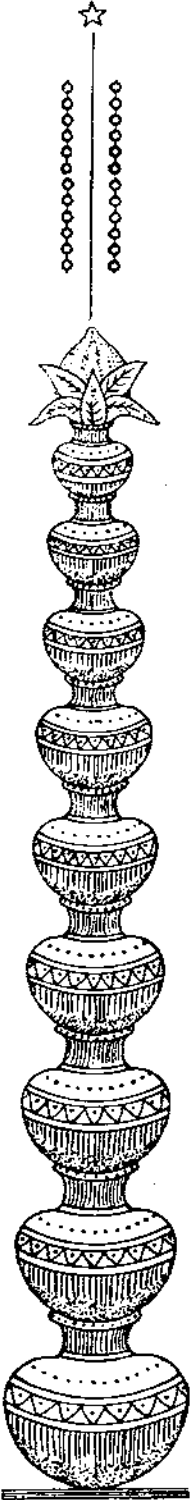
(२२) चंद्रो पूर्णिमा व्रत—मान्यता है कि पाँच करोड़ मुनिवरों के साथ इस दिवस को श्री सिद्ध गिरि जी पर पुण्डरीक स्वामी मोक्ष पधारे। श्री पुण्डरीक स्वामी भगवान ऋषभदेव के प्रथम गणधर थे। चैत्र मास की ओली का भी यह दिन है। पूर्णिमा पर्व तिथि भी है। त्रिवेणी रूप यह व्रत लाभदायक है।

(२३) पञ्च कल्याणक तप—यह व्रत एक वर्ष में भी पूरा होता है। इसमें १२० उपवास और १२० पारणा होते हैं, जिस-जिस तिथि में तीर्थकर का कल्याणक हुआ हो उस तिथि का उपवास करना चाहिए। पाँच वर्ष में भी यह तप पूरा किया जाता है प्रथम वर्ष में तीर्थकरों के गर्भ की तिथियों के २४ उपवास करे इसी प्रकार द्वितीय वर्ष में जन्म के २४, तीसरे वर्ष में संयम (तप) के २४, चौथे वर्ष केवल ज्ञान के २४ और पाँचवें वर्ष निर्वाण के २४ उपवास किये जाते हैं। निर्वाण कल्याणक के बेले करने पर २४ बेले और २४ पारणे होते हैं, इसे निर्वाण कल्याणक बेला व्रत कहते हैं।

(२४) कर्मनिर्जरा व्रत—यह व्रत आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी से प्रारम्भ होता है अर्थात् दर्शन विशुद्धि के निमित्त आषाढ़ शुक्ला चतुर्दशी का उपवास करना चाहिये। दर्शन विशुद्धि की भावना माननी चाहिए। 'ओं ह्रीं दर्शन विशुद्धये नमः' इस मन्त्र का जाप करना चाहिए। सम्यग्ज्ञान भावना के निमित्त श्रावण शुक्ला चतुर्दशी को उपवास करके सम्यग्ज्ञान भावना का चितवन करना चाहिए। 'ओं ह्रीं सम्यग्ज्ञानाय नमः' इस मंत्र की माला फेरनी चाहिए।

सम्यक्चारित्र के लिए भाद्रपद शुक्ला चतुर्दशी को उपवास करके सम्यक्चारित्र भावना का चितवन करे। 'ओं ह्रीं सम्यक्चारित्राय नमः' इस मंत्र की माला फेरनी चाहिए।

सम्यक् तप के निमित्त आसोज शुक्ला चतुर्दशी को उपवास करके तप की भावना का चितवन करना तथा 'ओं ह्रीं सम्यक् तपसे नमः' मंत्र की माला फेरनी चाहिए।



(२५) नवनिधि व्रत—नवनिधियों की नव नवमियों के उपवास ४ माह और एक पक्ष में करके फिर रत्नत्रय के तीन उपवास तीन तीजों को डेढ़ माह में करें। पाँच ज्ञान के उपवास पंचमी को ढाई महिने में करना चाहिए। चौदह रत्नों के उपवास किसी भी मास की चतुर्दशी से प्रारम्भ किए जा सकते हैं, सात माह में १४ चतुर्दशियों के उपवास करना चाहिए इस प्रकार एक वर्ष ३ माह और एक पक्ष में यह नव विधि व्रत पूर्ण होता है।

(२६) अशोक वृक्ष तप व्रत—अषाढ़ शुक्ला पड़वा, दोज, तीज, चौथ और पंचमी तक एकासना तथा आयम्बिल एक वर्ष तक हर माह में किये जाते हैं, मनोनिग्रह के लिये यह व्रत किया जाता है।

(२७) षड्काय आलोचना तप व्रत विधि—एकेन्द्रिय का एक उपवास, बेइन्द्रिय के दो उपवास, तेइन्द्रिय का तेला, चतुरेन्द्रिय का चोला तथा पंचेन्द्रिय का पंचोला और समुच्चय छः काय का छः उपवास करना चाहिए। 'खामेमी सब्बे जीवा.....न केणई' इस गाथा का साढ़े बारह हजार जप करना चाहिए।

(२८) पंचामृत तेला तप व्रत—किसी भी मास की शुक्ल पक्ष की पड़वा से पाँच तेले किये जाते हैं। पारणे के लिए अभिग्रह रखने की मान्यता है।

(२९) पाक्षिक तप व्रत विधि—शुभ दिन, मुहूर्त, वार देखकर गुरुमुख से पखवासा तप ग्रहण करे और शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से पूर्णमासी तक लगातार पन्द्रह दिन के उपवास करे यदि एक साथ में १५ उपवास करने की शक्ति न हो तो प्रथम माह में सुदी प्रतिपदा को, दूसरे माह में बीज को इस तरह पन्द्रहवें दिन सुदी १५ को व्रत पूर्ण करे, प्रत्येक व्रत के दिन पौषध करके देवसी-रायसी प्रतिक्रमण करना चाहिए। मुनिसुव्रत स्वामी का सवा लक्ष जप मौन सहित करना चाहिए।

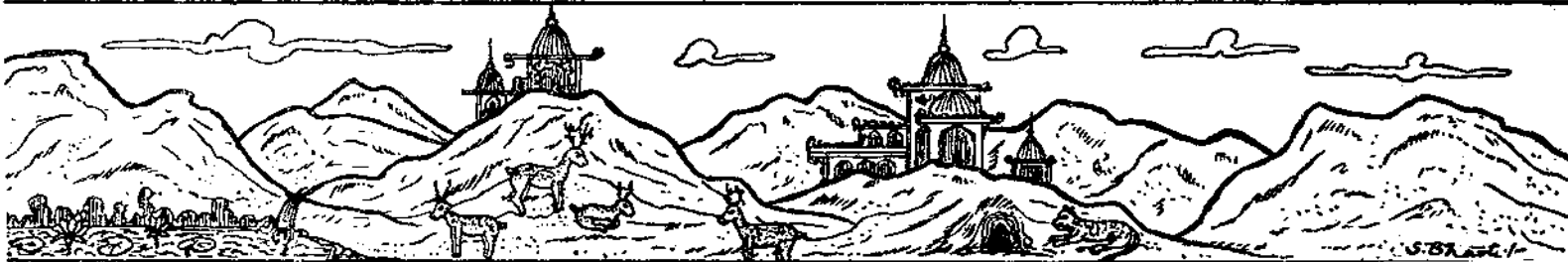
(३०) दीपावली व्रत—कार्तिक कृष्णा अमावस्या को तीर्थंकर महावीर ने निर्वाण पद प्राप्त किया था, उन्होंने निर्वाण से पूर्व निरन्तर १६ प्रहर तक धर्मदेशना दी थी, स्मृति स्वरूप दीपावली के दिन उपवास किया जाता है। यदि दीपावली अमावस्या की हो तो तेरस से तथा चतुर्दशी की हो तो बारस से तेला व्रत कई मुनिराज व श्रावक करते हैं। दीपावली पर तेला करना अत्यन्त शुभ माना जाता है।

(३१) कषाय-जय तप व्रत विधि—क्रोध, मान, माया और लोभ इन चारों कषायों के अनन्तानुबन्धी, अप्रत्याख्यानी, प्रत्याख्यानी और संज्वलन की चौकड़ियों के चार चार भेद करने से कषायों के सोलह भेद होते हैं। इन सोलह कषायों को जय करके प्रकृतियों की उपशान्ति के लिये एकासन निविगय, आयम्बिल उपवास इस प्रकार सोलह दिन तक तप करे। 'ओ३म निरंजनाय नमः' इस पद के सवालक्ष जप मौन युक्त करना चाहिए।

(३२) तीर्थंकर गोत्र कर्मोपार्जन करने की तप व्रत विधि—इस तप को किसी भी मास की शुक्ला प्रतिपदा से प्रारम्भ करना चाहिए। एक ओली को जघन्य दो मास में और उत्कृष्ट ६ मास में पूर्ण करे। यदि ६ मास में ओली पूर्ण नहीं कर सके तो ओली गिनती में नहीं गिनी जाती। बीसों ओलियों के बीस भेद हैं। चाहे बीसों दिन में एक ही पद जपे चाहे अलग-अलग। यथासम्भव जिस पद की ओली हो उसी पद की माला फिरानी चाहिए। तेले की शक्ति होने पर तेले से अथवा बेले से और बेले से भी सम्भव न हो तो चौविहार या तिविहार उपवास करके व्रताराधना करनी चाहिए। शक्ति न होने पर आयम्बिल तथा एकासना भी किये जा सकते हैं। चारसौ तेले या बेले या उपवास करने से इसकी बीस ओलियाँ पूर्ण होती हैं जिस पद में जितने गुण हों उतने ही लोगस्स का कायोत्सर्ग करना चाहिए। पद के गुणों का हृदय में स्मरण कर उदात्त स्वर से स्तुति करनी चाहिए। तप पूर्ति पर दयान्नत पलाकर संस्थाओं को यथाशक्ति सहायता देनी चाहिए। इस प्रकार बीसों पदों की आराधना करने वाली आत्मा तीर्थंकर गोत्र कर्मोपार्जन करती है।

बीसों पदों की २१-२१ मालाएँ फेरनी चाहिए तथा प्रत्येक पद के साथ 'ओम् ह्रीं' लगाना चाहिए पद और उनके गुणों की सारणी इस प्रकार है—

(१) नमो अरिहंताणं	१२
(२) नमो सिद्धाणं	८
(३) नमो पद्मयणस्स	१५
(४) नमो आयरियाणं	३६



(५) नमो थेराणं	१५
(६) नमो उवज्जायाणं	२५
(७) नमो लोए सव्वसाहूणं	२७
(८) नमो नाणस्स	५
(९) नमो दंसणस्स	१७
(१०) नमो विनय संपन्नाणं	१०
(११) नमो चरित्तस्स	५
(१२) नमो बम्भवयधारीणं	६
(१३) नमो किरियाणं	२५
(१४) नमो तवस्तीणं	१५
(१५) नमो गोयमस्स	१७
(१६) नमो जिणाणं	१०
(१७) नमो चरणस्स	१२
(१८) नमो नाणस्स	५
(१९) नमो सुयनाणस्स	१०
(२०) नमो तित्थयरस्स	५

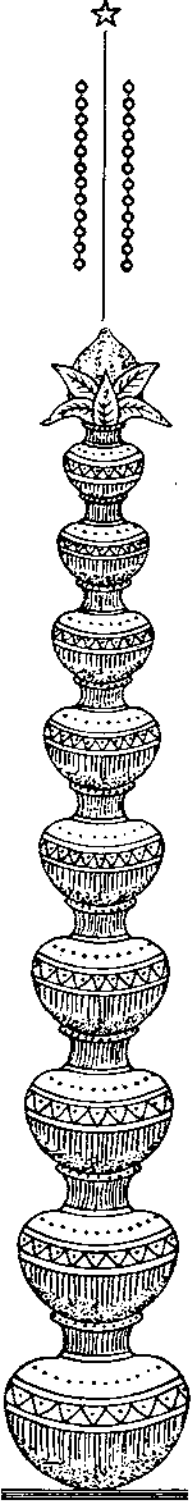
यों तो अनशन तप से सम्बन्धित कई व्रत और भी हैं किन्तु मुख्य-मुख्य व्रतों का संकलन इस निबन्ध में किया गया है।

प्रत्येक तप में माला फेरना चाहिए। व्रत के पूर्ण होने पर धर्म लाभ (दानादि) शक्ति व सामर्थ्यानुसार करना चाहिए। तप से आत्मा निर्मल होती है क्योंकि आत्मा के शत्रु क्रोधादि कषाय को तप समाप्त कर देते हैं। कर्मों की निर्जरा इससे होती है। तप के विषय में विस्तृत जानकारी एवं शास्त्रीय परिभाषाएं समझने के लिए—'जैन धर्म में तपः स्वरूप और विश्लेषण' (श्री मरुधर केसरी) पुस्तक अवश्य पढ़ना चाहिए।

तप व्रताराधन अतिचारों से मुक्त रहना चाहिए। संसार वर्धन के लिये व्रताराधना की आवश्यकता नहीं है क्योंकि वह तो अपने आप ही रहा है। संसार के भोगोपभोगों से आत्मा क्षोभ व संक्लेश परिणामों से संयुक्त होता है अतः आत्म जागृति ही इसका परम लक्ष्य होना चाहिए। चित्त की आकुलता से अस्थिर भावोंके कारण तप व्रत निर्मल नहीं हो पाता है अतः चित्त की स्थिरता तथा व्रतों को भार न मानकर ही व्रत करने चाहिए। तपों का मुख्य प्रयोजन यह होना चाहिए कि आत्मा अपने स्वभाव को जानने का प्रयास करे। उसे धीरे-धीरे यह ज्ञान हो कि जिस शरीर के आश्रित मैं हूँ अथवा संसार के प्राणी मेरे आश्रित हैं वह एक स्वप्न से अधिक नहीं है।

शुभ कर्मों का फल भी शुभ होगा और अशुभकर्मों का फल अशुभ होगा यानि जैसी करनी वैसी भरनी। पूर्व जन्म के शुभकर्मोंद्वय से हमें आर्य क्षेत्र, मनुष्य शरीर, उत्तमकुल और निर्ग्रन्थ धर्म की प्राप्ति हुई है, तो वीतराग वाणी पर श्रद्धा रखकर इन्द्रिय और मन को आत्मा के वशवर्ती बनाना चाहिए। तप के बारह भेद अनशन से प्रारम्भ होते हैं, अनशन बाह्य तप का भेद होते हुए भी यदि इसे बाल-तप संज्ञा से मुक्त रखा जाय तो इसे स्वीकार करने वाली आत्मा हल्की होती जाती है, प्रायश्चित्त आदि तप को सहज बनाने के लिए अनशन तप परमावश्यक है क्योंकि मन और इन्द्रियाँ जब भूल-तृषा आदि पर विजय प्राप्त कर लेती हैं तो अन्य परिषहों को जय करना सरल हो जाता है, इसीलिए जैन धर्म में अनशन को नींव का पत्थर कहकर इसे महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया है।

☆☆



□ ओंकारलाल सेठिया, सनवाड़

वेश-भूषा एक विशेष व्यक्तित्व तथा विशिष्ट जीवन पद्धति का परिचायक है। संन्यासी और गृही की वेश-भूषा का अन्तर उसकी जीवन-पद्धति का अन्तर सूचित करते हैं। जैन श्रमण की विशेष वेश-भूषा का मनोवैज्ञानिक तथा ऐतिहासिक औचित्य तथा अन्तर्हित जीवन दृष्टि का विश्लेषण पढ़िए—

जैन-श्रमण : वेशभूषा— एक तात्त्विक विवेचन

□

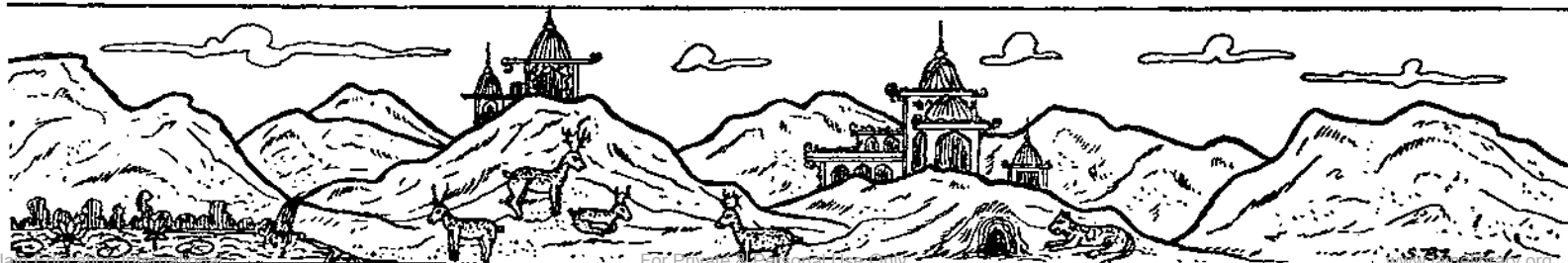
जीवन के दो पक्ष हैं, अन्तरंग तथा बहिरंग। अन्तरंग का सम्बन्ध वस्तु स्थिति से है, जिसे दर्शन की भाषा में निश्चय नय कहा जाता है। वह सत्य का निरावरण और ठेठ रूप है। यथार्थतः साध्य उसी से सधता है। इसलिए उसका निर्व्यजि महत्त्व है। बहिरंग निश्चय का परिवेश है, जिसे व्यवहार कहा जाता है। तात्त्विक उपयोगिता तो निश्चय की ही है पर व्यवहार भी स्थूल जीवन और लौकिकता की दृष्टि से सर्वथा उपेक्षणीय नहीं। इसलिए वह जहाँ जिस स्थिति में परिगठित होता है—निश्चयपरक होता है। जैन श्रमण का जीवन अध्यात्म-साधना में सम्पूर्णतः समर्पित जीवन है—प्रमाद, मोह, राग और एषणा के जगत् को विजित करते हुए आत्मा के अपने साम्राज्य में पहुँचने का जीवन है। अतः श्रमण के लिये जो व्रत गठन की भूमिका है, वह इन्हीं विजातीय-अनध्यात्म भावों के विजय मूलक आधार पर अधिष्ठित है। चतुर्दश गुणस्थान का क्रम इसका स्पष्ट परिचायक है।

साधक के लिए निश्चय की भाषा में बहिरंग परिगठन अनिवार्य नहीं है। पर, व्यावहारिक साहाय्य तथा स्व-व्यतिरिक्त अन्य सामान्य-जनों के हेतु उसकी अपनी दृष्टि से उपादेयता है। यही कारण है कि भारतीय जीवन में संन्यासी और गृही की वेश-भूषा में एक अन्तर रहा है। संन्यासी की वेश-भूषा, वस्त्र आदि के निर्धारण में मुख्य दृष्टिकोण यह रहा है कि उस द्वारा गृहीत परम पावन जीवन की बाह्य अभिव्यक्ति उससे सधती रहे। दर्शकों के लिए यह परिवेश अध्यात्म मूलक उदात्त भाव की जागृति का प्रेरक या हेतु बने। इस सन्दर्भ में हम यहाँ जैन श्रमण की वेश-भूषा पर तात्त्विक और मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संक्षेप में विचार करेंगे।

अवस्त्र : सधस्त्र

जैन परम्परा में यह बहुर्चिचत प्रश्न है कि श्रमण सधस्त्र हो या निर्वस्त्र। कुछ का अभिमत यह है कि वस्त्र परिग्रह है, इसलिए परिह्येय है। उनका यह भी कहना है कि श्रमण के लिए लज्जा-विजय भी आवश्यक है। वस्त्र लज्जा का आच्छादन है, इसलिये दुर्बलता है। दूसरा पक्ष है कि लज्जा या अम्यान्य मनोरामों का विजय मन की वृत्तियों पर आधृत है। वस्त्र आदि वस्तुएँ गौण हैं। जैन परम्परा में दिगम्बर-श्वेताम्बर के रूप में जो भेद है, इसकी मूल भित्ति यही है। दिगम्बर और श्वेताम्बर की प्राचीनता-अर्वाचीनता, मौलिकता-अमौलिकता आदि पर यहाँ विचार नहीं करना है। यह एक स्वतन्त्र विषय है और विशदता से आलोच्य है, यहाँ इसके लिये अवकाश नहीं है। अस्तु—

प्रा गैतिहासिक स्थिति पर हम न जाकर ऐतिहासिक दृष्टिकोण से विचार करें तो जैन-परम्परा में तेईसवें तीर्थंकर भगवान् पार्श्व एक इतिहास-पुरुष के रूप में हमारे समक्ष हैं क्योंकि उनके सम्बन्ध में प्राचीन वाङ्मय में



अनेक ऐसी बातें मिलती हैं, जिनसे उनका इतिवृत्त ऐतिहासिक शृंखला से जुड़ जाता है। जैन, बौद्ध, वैदिक सभी परम्पराएँ अपने आगमिक और पौराणिक साहित्य में वर्णित घटनाक्रमों को ऐतिहासिक कहती हैं परन्तु आज की परिभाषा में जिसे इतिहास कहा जाता है, उसमें वे नहीं आतीं। पार्श्वनाथ की गणना आज की तथारूप ऐतिहासिक मान्यता में आती है। बौद्ध विटकों में कुछ ऐसे संकेत मिलते हैं, जिनसे पार्श्व-परम्परा का हम कुछ अनुमान कर सकते हैं। अर्द्ध-मागधी जैन आगम जो भगवान महावीर के उपदेशों का प्रतिनिधित्व करते माने जाते हैं, में पार्श्व-परम्परा के सम्बन्ध में हमें स्पष्ट और विशद उल्लेख प्राप्त होता है। यद्यपि दिगम्बर सम्प्रदाय अर्द्ध-मागधी आगमों को प्रामाणिक नहीं मानता पर भाषा, वर्णन तथा अन्यान्य आधारों से समीक्षक विद्वान् उनकी प्रामाणिकता स्वीकार करते हैं। आगमों की विवेचन-पद्धति का अपना प्रकार है इसलिए उनमें अपनी कोटि की सज्जा, प्रशस्ति आदि तो है पर, उनमें वैचारिक दृष्टि से जो ऐतिहासिक मौलिकता है वह अमान्य नहीं है।

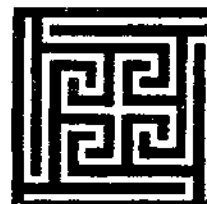
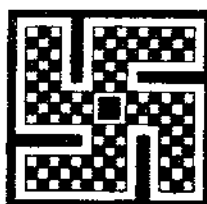
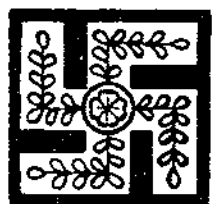
पार्श्व एवं महावीर की परम्परा में वस्त्र

भगवान पार्श्व की परम्परा में जो श्रमण थे, उन्हें पार्श्वपत्निक कहा जाता था। वे विविध रंगों के वस्त्र पहनते थे, ऐसा माना जाता है। अर्थात् श्वेत वर्ण के वस्त्र तो उनके थे ही पर अन्य रंगों के वस्त्रों का भी निषेध नहीं था। भगवान महावीर की परम्परा में सबस्त्रता भी थी और निर्वस्त्रता भी। वहाँ साधुओं की दो कोटियाँ मानी गई हैं—जिनकल्पी और स्थविरकल्पी। जिनका अर्थ वीतराग है तथा कल्प का अर्थ आचार-परम्परा है। उनके आचार की तरह जिन श्रमणों का आचार होता था, वे जिनकल्पी कहे जाते थे। जिनकल्पी वस्त्र नहीं पहनते थे। नागरिक वस्तियों से बाहर रहते थे। प्रायः गिरि-कन्दराओं में रहते थे। भिक्षा के सिवाय प्रायः उनका जन-समुदाय में जाना नहीं होता था। स्थविर कल्पी श्वेत वस्त्र धारण करते थे। स्थविर कल्पियों का आचार यद्यपि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह मूलक व्रतों के पालन की दृष्टि से तो उनसे कुछ भी भिन्न नहीं था पर जीवन के बहिरंगी पक्षों को लेकर वस्त्र आदि बाह्य परिवेश के सन्दर्भ में भिन्नता लिये हुये थे। कहने का सारांश यह हुआ कि भगवान महावीर के श्रमण-संघ में सबस्त्र और निर्वस्त्र दोनों प्रकार के श्रमण विद्यमान थे।

उत्तराध्ययन सूत्र का एक प्रसंग है, एक बार पार्श्व परम्परा के श्रमण केशी और भगवान महावीर के प्रमुख गणधर गौतम का श्रावस्ती के तिन्दुक उद्यान में मिलन हुआ।^१ इससे तथा कतिपय अन्य उल्लेखों से सूचित होता है कि भगवान महावीर के समय में भी पार्श्वपत्निक परम्परा चल रही थी। भगवान महावीर के पिता सिद्धार्थ भी उसी परम्परा के थे। केशी और गौतम का अनेक बातों को लेकर एक विचार विमर्शात्मक संवाद हुआ क्योंकि एक ही विचार-दर्शन की मिति पर आधृत दो भिन्न परम्पराओं को देखकर जन-साधारण को कुछ शंका होना सहज था। दोनों के संवाद के पीछे शायद यही आशय रहा हो कि इससे स्पष्टीकरण हो जाय, जिससे यह आशंका उत्पन्न नहीं हो। जिन मुद्दों पर बातचीत हुई उनमें एक मुद्दा था—वस्त्र-सम्बन्धी। केशी ने पूछा—हम दोनों परम्पराओं के साधक जब एक ही आदर्श पर चलते हैं तब अचेलक—निर्वस्त्र, सान्तरौत्तर-सबस्त्र—यह भेद क्यों? गौतम ने बहुत संक्षेप में और बहुत सुन्दर समाधान दिया, जिसके अनुसार श्रामण्य न सबस्त्रता पर टिका है, न निर्वस्त्रता पर। वह तो ज्ञान, दर्शन व चारित्र्य पर टिका है। निर्वेद पूर्ण परिणामों पर आधृत है। वस्त्र केवल जीवन-यात्रा के निर्वाह, पहचान आदि के लिये है। व्यावहारिक व औपचारिक है। इस विवाद में उलझने जैसी कोई तात्त्विकता नहीं है।

जिनकल्प : स्थविरकल्प : लोक संग्रह

अध्यात्म-साधना, साधक की दृष्टि से सर्वथा पर-निरपेक्ष है। समाज भी उस 'पर' के अन्तर्गत आता है। वहाँ साधक का एक ही लक्ष्य होता है कि वह अपनी आत्मा का उत्थान करे। ऐसी स्थिति का साधक बाह्य औपचारिकताओं का पालन करे, न करे, कम करे इसका कोई महत्त्व नहीं है। प्रायः होता भी यह रहा कि ऐसे साधकों ने निरोपचारिक जीवन ही पसन्द किया। परन्तु भगवान बुद्ध की महाकरुणा के सन्देश की व्यापकता और लोक जनीनता का भी एक प्रभाव था कि अन्यान्य परम्पराएँ भी धार्मिक दृष्टि से लोक-जागरण की ओर विशेषतः गतिशील हुई। गृहस्थ की करुणा जहाँ भौतिक पदार्थ और दैहिक सेवा से सम्बद्ध है, वहाँ श्रमण या संन्यासी की करुणा धर्माभूत के प्रवाह में है, जिससे जन-जन को शान्ति और सुख का सही मार्ग प्राप्त हो सके। महाकरुणा से लोक-संग्रह सधता है।



लोक-सम्पर्क तो बढ़ता ही है अतएव समाज में जब श्रमणों का पूर्वपिक्षया अधिक समागमन होता गया, तब यह आवश्यक था कि उनका वहिरंग जीवन इस प्रकार का हो, जो सहसा लोक-प्रतिकूल भासित न हो। अर्थात् वस्त्रादि की दृष्टि से वह समुचिततया समायोजित हो।

जैन परम्परा में श्रमण जीवन के, जैसा कि ऊपर कहा गया है, दो प्रकार के क्रम थे ही, आगे स्थविर-कल्प के विशेष रूप में प्रसृत होने में इसका अपना एक विशेष हाथ है। दूसरी बात यह भी हुई कि दैहिक संहनन-संघटन, जो उत्तरोत्तर अपेक्षाकृत दुर्बल होता जा रहा था, जिनकल्प के यथावत् परिपालन में बाधक बना। फलतः स्थविर कल्प बढ़ता गया। श्वेताम्बरो में मान्यता है कि भगवान महावीर से दो पीढ़ी बाद अर्थात् सुधर्मा और जम्बू के अनन्तर जिन-कल्प विच्छिन्न हो गया।

श्वेतवस्त्र : एक वैशिष्ट्य

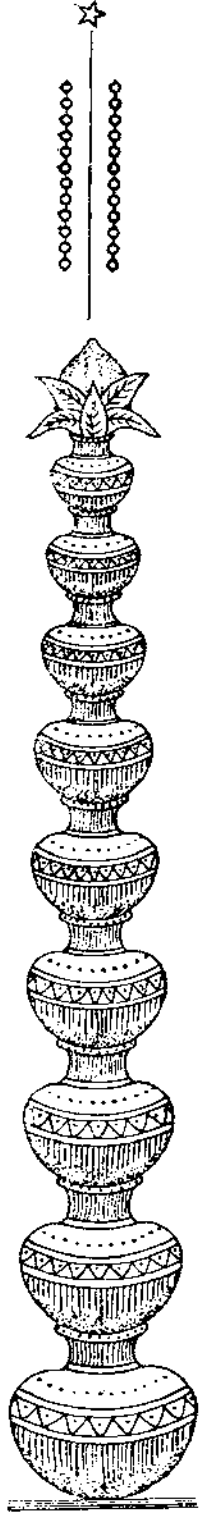
ऊपर के वर्णन में जैसा कि हमने उल्लेख किया है, भगवान पार्श्व की परम्परा में श्वेत वस्त्रों के साथ-साथ रंग-बिरंगे वस्त्रों का भी प्रचलन था तथा भगवान महावीर की परम्परा में स्थविर कल्प में श्वेत वस्त्र का व्यवहार था। तत्पश्चात् केवल श्वेत वस्त्र का प्रयोग ही चालू रहा। भगवान पार्श्व के श्रमणों के सम्बन्ध में आगम साहित्य में चर्चा हुई है, वे ऋजुप्राज्ञ कहे गये हैं। अर्थात् वे बहुत सरल चेता थे। दिखावे का भाव तक उनके मन में नहीं आता था। जैसे वस्त्र उपलब्ध हुए, सफेद या रंगीन, ले लिये, धारण कर लिये। पर आगे चलकर कुछ लोक-वातावरण ऐसा बना कि साधुओं में भी ऋजुप्राज्ञता नहीं रही। इसलिए वस्त्रों के सम्बन्ध में भी यह निर्धारण करना आवश्यक हो गया कि वे केवल सफेद ही हों।

श्वेत : निर्मलता का प्रतीक

स्थूल दृष्टि से श्वेतता एक सहज रूप है। उसे किसी वर्ण या रंग की कोटि में नहीं लिया जाता। उस पर ही अन्य रंग चढ़ाये जाते हैं। अन्य रंग चाहे किसी भी प्रकार के हों, पौद्गलिक दृष्टि से मल ही हैं। मल का अर्थ मूल या गन्दगी नहीं है। मल एक विशेष पारमाणविक पुंज-स्टफ (Stuff) है। वह जब किसी से संयुक्त होता है तो उस मूल वस्तु के रूप में किंचित् परिवर्तन या विकार आ जाता है। विकार शब्द यहाँ खराबी के अर्थ में नहीं है—रूपान्तरण के अर्थ में है। यों पारमाणविक पुंज विशेष द्वारा प्रभावित या उसके सम्मिश्रण से विपरिणत वस्तु एक असहज अवस्था को पा लेती है। विभिन्न रंग की वस्तुएँ या वस्त्र जो हम देखते हैं, वे मूलभूत श्वेतता में विभिन्न रंगों के पारमाणविक पुंजों के सम्मिलन के परिणाम हैं। वह सम्मिलित भाग एक प्रकार का मल ही तो है, चाहे द्युतिमान्—कान्तिमान् हो। इससे फलित हुआ कि श्वेत उस प्रकार के मल से विरहित है। इसीलिए जैन परम्परा में इसका स्वीकार हुआ कि वह जैन श्रमण के निर्मल जीवन की प्रतीकात्मक रूप में अभिव्यक्ति दे सके। जैन श्रमण के जीवन में सांसारिक मल-जिनके मूल में एषणा और अविरति है, नहीं होता। इसके साथ-साथ सूक्ष्मतया बचे-खुचे इस प्रकार के रागात्मक मल, कर्मात्मक मल के सर्वथा उच्छिन्न और उन्मूलित करने को एक जैन श्रमण कृत संकल्प होता है। उसका परम ध्येय है—अपने जीवन को कर्मपुंज और कषायों से उन्मुक्त कर शुद्ध आत्म-स्वरूप को अधिगत करना, जो निरावरण है, निर्द्वन्द्व है—निष्कलंक है। इस दिव्य निर्मलता को प्रकट करने में श्वेत वर्ण की अपनी अप्रतिम विशेषता है।

परिवेश का स्वरूप

भारतीय धर्मों की विभिन्न परम्पराओं में प्रायः इस ओर विशेष ध्यान रहा है कि श्रमण, भिक्षु, संन्यासी या परिव्राजक के वस्त्र कसे हुए न होकर ढीले हों। इसलिए सिले हुए वस्त्रों का भी प्रायः समी परम्पराओं में विशेषतः वैदिक और जैन परम्पराओं में स्वीकार नहीं रहा। शायद यह भय रहा हो कि सिले हुए वस्त्रों का प्रयोग चल पड़ने से आगे सम्भवतः वस्त्रों में ढीलेपन या मुक्तता का रूप सुरक्षित न रह पाये। देह के लिए वस्त्र का दो प्रकार का उपयोग है। एक तो देह की अवांछित प्राकृतिक उपादानों से रक्षा तथा दूसरे अपने विचारों की अभिव्यंजना। वस्त्रों का ढीला होना शान्त, निर्विकार और सहज जीवन का प्रतीक है। चुस्त वस्त्र किसी न किसी रूप में मानसिक तनाव के प्रतीक हैं। जिन लोगों की लड़ाकू प्रकृति होती है, जो स्वभाव से तेज होते हैं, प्रायः हम उन्हें चुस्त वस्त्रों में पायेंगे।



सैनिकों के लिए जिस प्रकार के वस्त्रों का निर्धारण हुआ, इससे यह स्पष्ट झलकता है। सैनिक का यह सहज कर्तव्य है कि प्रतिक्षण वह, यदि अपेक्षित हो तो लड़ने को, वार करने को, शत्रु द्वारा किये जाने वाले वार से अपने को बचाने को सर्वथा सन्नद्ध रहे। उसके कपड़े इस बात के प्रेरक हैं।

इसी प्रकार नागरिकजनों में भी जो लोग चुस्त कपड़े पहनने का शौक रखते हैं, यदि हम पता लगायें तो मालूम पड़ेगा कि वे असहिष्णु प्रकृति के हैं। उनमें तेजी की मात्रा अधिक रहती है।

ढीले वस्त्रों की उपयोगिता का दूसरा प्रमाण हम यह देखते हैं कि संन्यासियों के अतिरिक्त जो सन्तकोटि के व्यक्ति हुए, वे भी ढीला लम्बा कुर्ता, धोती जैसा परिवेश ही धारण करते रहे हैं।

संन्यासियों के लिए ढीले, अतएव अनसिले वस्त्रों का जो प्रचलन रहा, वैदिक परम्परा में व्यवहारतः उसमें परिवर्तन भी आता गया। यद्यपि दण्डी संन्यासी तो आज भी ढीले-अनसिले वस्त्र ही धारण करते हैं, पर अन्य संन्यासियों में सिले वस्त्रों के पहनने का भी क्रम चल गया। जैन श्रमणों में वस्त्रों के समदर्भ में प्राग्वर्ती परम्परा आज भी अक्षुण्ण रूप में संप्रवृत्त है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से

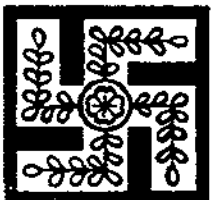
देह की स्वस्थता व नीरोगिता के लिए यह आवश्यक है कि वायु और घूप का सीधा संस्पर्श देह को मिलता रहे। वस्त्र जितने चुस्त या कसे हुए होंगे, उतना ही घूप व वायु का संस्पर्श, संसर्ग कम होगा। जैन श्रमण के जिस प्रकार के ढीले वस्त्र होते हैं, उसमें यह बाधा नहीं है। वायु, प्रकाश आदि के साक्षात् ग्रहण का वहाँ सुयोग रहता है। यद्यपि श्रमण के लिए देह-पोषण परम ध्येय नहीं है परन्तु नैमित्तिक रूप में देह संयम-जीवितव्य का सहायक तो है। दूसरे साधना के जितने कठिन नियमों में एक जैन श्रमण का जीवन बंधा है, उसमें यह कम सम्भव हो पाता है कि रुग्ण हो जाने पर उन्हें अपेक्षित समुचित चिकित्सा का अवसर प्राप्त हो सके, इसलिए अधिक अच्छा यह होता है कि जहाँ तक हो सके, वह रुग्ण ही न हो। क्योंकि रुग्ण श्रमण यथावत् रूप में साधना भी नहीं कर सकता।

निष्पादत्राणता

भारतीय संन्यास-परम्परा में संन्यासी या साधु के लिए वाहन-प्रयोग का सदा से निषेध रहा है। इसलिए वैदिक, बौद्ध एवं जैन—तीनों परम्पराओं के परिव्राजक या साधु प्रारम्भ से ही पाद-विहारी रहे हैं। जहाँ अनिवार्य हुआ, जैसे नदी पार करना, वहाँ नौका या जलपोत के प्रयोग की आपवादिक अनुमति रही है, सामान्यतः नहीं। ज्यों-ज्यों सुविधाएँ बढ़ती गईं। संन्यास या साधुत्व के कठोर नियमों के परिपालन में कुछ अनुत्साह आता गया। कतिपय परम्पराओं में वह (पाद-विहार) की बात नहीं रही। धर्म-प्रसार या जन-जागरण आदि हेतुओं से वाहन प्रयोग को क्षम्य माने जाने की बात सामने आती है। कहा जाता है कि इससे कितने लोग धर्मानुप्राणित होंगे, कितना लाभ होगा। पर, जरा गहराई से सोचें, वस्तुस्थिति यह नहीं है। जन-जन के धर्मानुप्राणित एवं सत्प्रेरित होने का यथार्थ कार्य तो पाद-विहार से ही सधता है। पाद-विहारी सन्त अपने पद-यात्रा क्रम के बीच गाँव-गाँव में पहुँचते हैं, जहाँ भिन्न-भिन्न जातियों और धर्मों के ऐसे अनेक अशिक्षित, असंस्कृत लोग उनके संपर्क में आते हैं, जो धर्मोपदेश के सही पात्र हैं, जिन तक तथाकथित धर्मप्रसारक पहुँचते तक नहीं। पाद-विहार का ही यह विशेष लाभ है, यदि पाद-विहारी की प्रचारात्मकता में रुचि न हो तो भी अपने यात्रा-क्रम में उन्हें गाँवों में तो आना ही पड़ता है, जिससे यह सहज रूप में सधता है। क्योंकि सन्त तो स्वयं धर्म के जीवित प्रतीक हैं अतः उनका सान्निध्य ही जन-समुदाय के लिए प्रेरणास्पद है।

वाहन-प्रयोग द्वारा बड़े-बड़े नगरों में धर्म-प्रसार हेतु जो पहुँचते हैं, वह उनकी अपनी महत्त्वाकांक्षा हो सकती है, वस्तुतः धर्म-जागरण की दृष्टि से कोई बड़ी बात नहीं सधती। बड़े नगरों में प्रायः वहीं पहुँचना होता है, जहाँ उनके परिचित लोग होते हैं। पूर्व परिचय और संपर्क के कारण उनके लिए उन (धर्म-प्रसारक सन्तों) के उपदेश में कोई नवीनता या विशेषता नहीं रहती। दूसरे, बड़े नगरों के निवासी शिक्षित तथा सुसंस्कृत होते हैं, साहित्य आदि भी पढ़ सकते हैं, स्वयं पहुँचकर भी लाभ ले सकते हैं, पर ग्रामीणों के लिए यह कुछ भी सम्भव नहीं है।

दूसरी बात और है, जैसाकि ऊपर कहा गया है, पादविहार संन्यासी या साधु का अपना सैद्धान्तिक आदर्श है, जिसका अखण्डित रूप में सम्यक् परिपालन उसका प्रथम तथा नितान्त आवश्यक कर्तव्य है। वाहन-प्रयोग द्वारा



वह खण्डित होता है। वास्तव में सिद्धान्त या आदर्श तभी अपने आप में परिपूर्ण है, जब उसमें विकल्पों या अपवादों का यथेच्छा स्वीकार न हो। क्योंकि यदि विकल्पों और अपवादों को बहुत अधिक मान्यता दी जायेगी तो सम्भव है, एक दिन ऐसा आ जाए, जब आदर्श या सिद्धान्त के स्थान पर केवल विकल्पों और अपवादों का पुंज ही रह जाए।

जैन श्रमणों में पाद-विहार की परम्परा आज तक समीचीन रूप में प्रचलित है। हजारों में एक आध अपवाद हो सकता है पर अपवाद स्वीकार करने वाला व्यक्ति श्रमण-संघ में स्थान पाने योग्य नहीं रहता।

पैरों की सुरक्षा की दृष्टि से बहुत प्राचीनकाल से पाद-रक्षिका, पादत्राण या उपानह, के नाम से जूतों का स्वीकार रहा है। संन्यासियों के लिए जूते वर्जित रहे हैं। वैदिक परम्परा में काष्ठ-पादुका स्वीकृत है। जैनों और बौद्धों में उसका भी स्वीकार नहीं है। बदलते हुए युग के परिवेश में आज जैन-परम्परा के श्रमणों के सिवाय प्रायः सभी ने बस्त्र, कैनवैस, रबर, प्लास्टिक, नाइलोन आदि के पादत्राण स्वीकार कर लिए हैं। केवल जैन-श्रमण-संघ ही ऐसा रह गया है, जिसमें आज भी किसी प्रकार के जूते का, खड़ाऊ, चप्पल आदि का स्वीकार नहीं है। यहाँ तक कि मौजे भी वे प्रयोग में नहीं लेते।

आयुर्वेदिक दृष्टिकोण

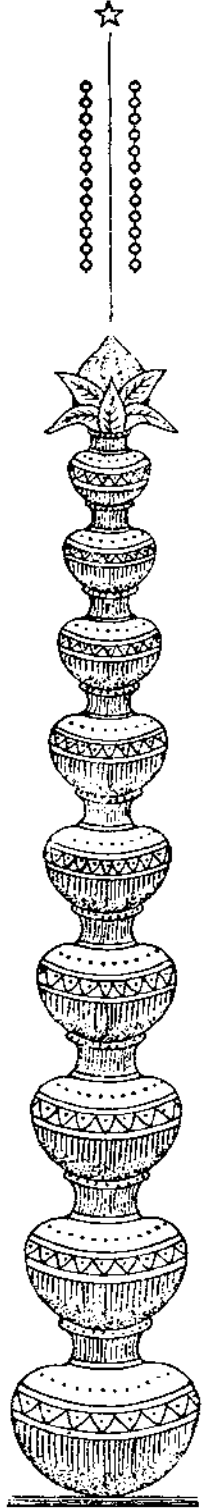
नंगे पैर चलने में भूमि का पैरों के साथ सीधा संस्पर्श होता है। स्नायविक दृष्टि से सारा शरीर परस्पर सम्बद्ध है। पैरों को जिस प्रकार का संस्पर्श मिलता है, तद्गत ऊष्मा, शैत्य सारे देह में स्नायविक ग्राहकता के अनुरूप पहुँच जाते हैं। इसके दो प्रकार के परिणाम आते हैं। यदि जलती भूमि पर चला जाता है तो भूमिगत उष्णता पग-थलियों के माध्यम से देह में पहुँचती है, जिसकी अधिकता देह के लिए हानिप्रद है। प्रातःकालीन शीतल रेत पर नंगे पैर चलना अनेक पैतृक व ऊष्माजनित रोगों के निवारण की दृष्टि से उपयोगी है। नेत्रों में जलन, हाथ-पैरों में जलन, जिनका हेतु देह में पित्त-विकार की वृद्धि है, इससे शान्त हो जाती है। नेत्र-शक्ति बढ़ती है, मस्तिष्क में स्फूर्ति का संचार होता है। जैन-मुनियों का पाद-विहार का कार्यक्रम अधिकांशतः प्रातःकाल ही होता है, जिससे यह लाम उन्हें अनायास ही प्राप्त होता रहता है। दिन में वे अध्ययन, लेखन, सत्संग आदि कार्यों में रहते हैं अतः अधिक ऊष्मा, जिससे कई प्रकार के उपद्रव होने आशंकित हैं, से सहज ही बच जाते हैं।

अपरिग्रह एवं तप की भावना

श्रमण के लिए जितनी अनिवार्य रूप से आवश्यक वस्तुओं अर्थात् संयम-जीवन के लिए उपयोगी बाह्य-उपकरणों का निर्धारण किया गया है, उसमें यह दृष्टि बिन्दु भी रहा है कि उसका तपस्वी जीवन उद्भावित होता रहे। उसके पीछे अपरिग्रह की भावना सन्निहित है। सुविधा या अनुकूलता से विलग रहते हुए श्रमण अधिकाधिक आत्म-मिरत रह सके, ऐसा भाव उसके पीछे है। पादत्राण या पादरक्षिका श्रमण के लिए अनिवार्य उपकरणों में नहीं आती। यदि सुविधा का दृष्टिकोण न रहे तो पादरक्षिका के लिए वह चिन्तन ही नहीं कर सकता। हाँ, इसमें कुछ दैहिक कष्ट अवश्य है, जो श्रमण के लिए गौण है। इस कष्ट संज्ञा की सार्थकता दैहिक अनुकूलता के साथ जुड़ी हुई है। दैहिक अनुकूलता इसमें से निकल जाय तो कष्ट तपस्या की भूमिका में चला जाता है। अन्यान्य संन्यासी परम्पराओं में पादत्राण का अस्वीकार लगभग इसी कारण रहा है। वह जो विच्छिन्न हुआ, उसका कारण स्पष्ट ही सुविधा या अनुकूलता की ओर झुकाव है। जैन श्रमण जो अब तक उसी निष्पाद त्राणतामय उपकरण व्यवस्था में चले आ रहे हैं, उसका कारण बाह्य सुविधाओं का अनाकर्षण और अपनी अध्यात्म-साधना में सतत संलग्न रहने का भाव है, जो उनकी उन्नत मनो-भूमिका का चोतक है। यह अ-युगीन कहा जा सकता है। पर, यह अ-युगीनता की चिन्तनधारा संयमात्मक भावना से अनुप्राणित नहीं है। केवल अपनी अनुकूलता या सुविधा पर टिकी हुई है।

मुखवस्त्रिका : एक विश्लेषण

श्रमण की वेशभूषा में मुखवस्त्रिका का भी एक महत्त्वपूर्ण स्थान है। दार्शनिक दृष्टि से मुखवस्त्रिका स्वीकार के पीछे यह आशय है कि बोलते समय ध्वनि की टक्कर से या आहट से जो वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है, श्रमण उससे बचता रहे।



शास्त्रों में 'यतना' या जागरूकता से बोलने का जो स्थान-स्थान पर निर्देश हुआ, यह विषय उससे भी सम्बन्धित है। अयतना से बोलने से वायुकायिक जीवों की हिंसा होती है, यह तो स्पष्ट ही है।

मुखवस्त्रिका का प्रयोग मुख पर बांध कर किया जाय या हाथ में रखते हुए अपेक्षित समय पर किया जाय, यह विषय विवाद-ग्रस्त है पर इतना तो निश्चित है कि यतना से बोलने के लिए खुले मुँह नहीं बोलना चाहिए। व्यावहारिक दृष्टि से यह ज्यादा उपयोगी प्रतीत होता है कि हाथ में रखने के बजाय उसे मुँह पर धारण किया जाय, क्योंकि बोलना जीवन की अन्यान्य प्रवृत्तियों के साथ-साथ सतत प्रवर्तनशील क्रिया है। इसलिए हाथ में रखते हुए पुनः-पुनः उसके प्रयोग में शायद यतना की पूरकता नहीं सधती। आखिर तो श्रमण भी एक मानव है, साधारण लोगों में से गया हुआ एक साधक है, दुबलताओं को जीतने का उसका प्रयास है पर सम्पूर्णतः वह जीत चुका हो यह स्थिति नहीं है। इसलिए उसके द्वारा प्रमाद होना, चाहे थोड़ा ही सही, आशंकित है। उस स्थिति में मुँह पर धारण की हुई मुखवस्त्रिका उसके यतनामय जीवन में निश्चय ही सहायक सिद्ध होती है। जो मुखवस्त्रिका को मुँह पर धारण करना मान्य नहीं करते, उनमें भी देखा जाता है कि जब वे मन्दिरों में पूजा करते हैं तो मुँह को वस्त्र से बाँधे या ढके रहते हैं। इसके पीछे श्रूक आदि न गिरे इस पवित्रता की भावना के साथ-साथ हिंसात्मक अयतना के निरोध की भावना भी अवश्य रही होगी।

मुखवस्त्रिका मुँह पर नहीं बाँधना, यह मान्यता वास्तव में सांप्रदायिक परिवेश के तनावों में बड़ी देरी से महत्वपूर्ण स्थान पा गई। अन्यथा मुखवस्त्रिका नहीं बाँधने के विषय में आज जैसा आग्रह आज के कुछ पचास वर्षों पहले नहीं था। ऐतिहासिकता के सन्दर्भ में संवत् १९२६ में प्रकाशित एक पुस्तिका के निम्नांकित चित्र व परिचय दृष्टव्य है—



एहवी छवी थी बाँचवानो आगम ग्रन्थ प्रकरण रास परम्परा विदमान थी शुद्ध जाणवो ॥ ए

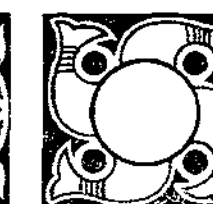
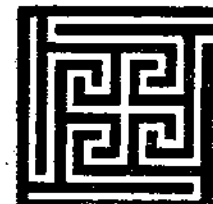
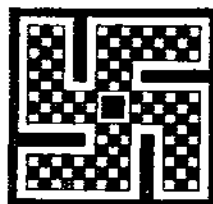
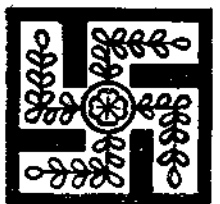
मारग

अथ पण्डित श्री वीरविजय जी कृत पूजाओ आदी प्रभु पूजा गर्भित भक्ति धर्म विनंति रूप अरजी।

आ चोपडि श्री अमदाबाध विद्याशालाथी सा. रवचंद जयचन्दे छपवी सम्यक्त्व धर्म वृद्धि हेते ॥ स०॥ १९२६ आ चोपडि छापनारा बाजी भाइ। अमीचंद ठेकार्णु श्री अमदाबाधमां रायपुरमां आका सेठ ना कुवानी पोलमां ॥ पृ० २६४ ॥

तेमने पाटे जिनविजयजी, बीजा शिष्य जसविजयजी थया, ते जसविजयजी गुरु खंभातमां देसना देता हता ते अवसर केशव नग्रमां फरतो थको, गुरुनी देसनानो वरणव साँभली, ते गुरुना दर्शन नी इच्छा धरतो उपाश्रय मांयी आवी केशव गुरु पासे जइ बाँदी यथायोग्य थानके बैसी देसना साँभले छे।

एहवी छवी थी बाँचवानो आगम ग्रन्थ प्रकरण रास परम्परा विदमान थी शुद्ध जाणवो ॥ ए



पृ० २६८.....ते गुरु १६ वर्ष धरवास
रह्या ५५ वर्ष सुधी दिक्षा पाली, ७३ वर्ष
सर्व आयु पाली काल कर्यो ते साँभली, सर्व
संघ मली, शोकसहित शुभ गुरुना देह नु मृत
कार्य करता हवा ।

यहाँ मृत-संस्कार के सन्दर्भ में मुँह पर मुख-
वस्त्रिका बाँधने का प्रसंग विशेष रूप से विचार-
णीय है। यदि साधुओं के दैनन्दिन जीवन में
अपने मुँह पर मुखवस्त्रिका बाँधना सामान्य नहीं
होता तो दाह-संस्कार के समारोह में यह कभी
संभव नहीं था कि मृत मुनि के मुँह पर मुख-
वस्त्रिका बाँधी जाए, जैसा कि प्रस्तुत चित्र में
किया गया है।

पारसी धर्म में, जो विश्व के पुराने धर्मों में
ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण स्थान लिये हुए
है, पूजा के समय, विशेषतः अग्नि में आर्घ्य
पदार्थों के डालने के समय मुँह को वस्त्र से बाँधे
रहने की परम्परा है। इसकी गहराई में हम
नहीं जायेंगे। पर यह, जो आंशिक ही सही
अतिक्रम सादृश्य हम देखते हैं उसके पीछे भी
क्या इसी प्रकार का कोई भाव रहा है, यह
समीक्षकों के लिए गवेषणा का विषय है।

साधारणतया स्थूल दृष्टि से यह भी हम सोच सकते हैं कि अवाञ्छित विजातीय पदार्थ कण—मुँह जो देह
का मुख्य प्रवेश-द्वार है, उसमें समाविष्ट न हों, यह भी इससे सधता ही है। चिकित्सक जब शल्य-क्रिया (Operation)
करते हैं तो मुख को विशेष रूप से ढके रहते हैं। वहाँ कोई धार्मिक भाव नहीं है किन्तु दूषित वायु, दूषित गन्ध, दूषित
परमाणु आदि मुख के द्वार देह में प्रवेश न कर सकें, ऐसा दृष्टिकोण है। श्रमण के लिए यद्यपि यह उतना तात्त्विक
तो नहीं है पर, दूषित पदार्थों के अपहार या अ-समावेश की दृष्टि से कुछ अर्थ तो लिये हुए है ही।

काष्ठपात्र : अपरिग्रह के परिचायक

जैन श्रमण किसी भी प्रकार की धातु के पात्र नहीं रख सकता, उसके लिए काष्ठ-पात्र प्रयोग में लाने का
विधान है। अपरिग्रह की दृष्टि से इसका अपना महत्त्व है। क्योंकि यद्यपि परिग्रह मूर्च्छा या आसक्ति पर टिका है पर,
मूर्च्छा-विजय या आसक्ति-वर्जन के लिए बाह्य दृष्टि से स्वीक्रियमाण या व्यवहियमाण पदार्थ भी उपेक्ष्य नहीं है। उनके
चयन में भी मूल्यवत्ता का ध्यान रखना आवश्यक माना गया है। क्योंकि यदि पात्र आदि मूल्यवान् होंगे तो हो सकता
है, गृहीता का मन उनमें कुछ अटक जाय। यद्यपि जैन श्रमण त्याग की जिस पवित्र भूमिका में संस्थित है, वहाँ यह
कम आशंकित है पर खतरा तो है ही। इससे इन्कार नहीं किया जा सकता। ज्यों ही कुछ आसक्ति या मोह आया,
साधक का अन्तर-द्वेखन कुछ श्लथित हो ही जाता है। दूसरी बात यह है कि मूल्यवान् पदार्थ या वस्तु को देखकर
किसी पदार्थ लुब्ध व्यक्ति का मन भी ललचा सकता है। यदि साधक के मन में इस प्रकार की कुछ भी आशंका बन
जाय तो उसे यत्किञ्चित् चिन्ता-निमग्न भी रहना होता है जो उसके लिए सर्वथा अवाञ्छित है।

जैन श्रमण अपने लिये अपेक्षित और स्वीकृत जो भी उपकरण हैं, उन्हें स्वयं वहन करता है, वह न किसी



वाहन पर रखवा सकता है, न किसी अन्य व्यक्ति को दे सकता है। ऐसा करने से तो उसका जीवन पराश्रित हो जायगा, जबकि जैन श्रमण का जीवन सर्वथा स्वावलम्बी और स्व-आश्रित होना चाहिए। यदि कहा जाय कि अपने थोड़े से उपकरण किसी को दे दिये जायें तो इसमें वैसी क्या हानि है—साधारण सहयोग ही तो लिया पर, गहराई से सोचने पर हम देखेंगे कि यदि ऐसा क्रम थोड़े को लेकर ही चल जाय तो यह थोड़ा आगे जाकर बहुत बड़ा हो जाय, अनाशङ्कनीय नहीं। व्यक्ति का मन ही तो है, जहाँ उसमें जरा भी दौर्बल्य का समावेश होने लगे, वह उसके औचित्य के लिए दलीलें गढ़ने लगता है। फिर यह औचित्य की सीमा न जाने आगे जाकर कितनी विस्तृत हो जाय, कुछ कहा नहीं जा सकता। फलतः औचित्य के परिवेश में अनौचित्य आ घमकता है, जो साधक-जीवन के ध्वंस का हेतु बनता है।

भावनात्मक दृष्टि से सोचें तो काठ हलकेपन का प्रतीक है, वह पानी पर तैरता है, यह उसकी विशेषता है श्रमण को संसार-सागर पार करना है। हर समय उसके ध्यान में रहना चाहिए कि उसका संयमी जीवन अनुप्राणित, परिपोषित और विकसित होता जाए।

संसार एक सागर है, निर्वाण या मोक्ष उसके पार पहुँचना है। इस हेतु संसार रूपी सागर को सन्तीर्ण करना है। यह सन्तरण अध्यात्म की साधना है। इस भाव का रूपक प्रायः सभी धर्मों में रहा है। काष्ठपात्र स्थूल दृष्टि से इसकी प्रतीकात्मकता ले सकते हैं। यद्यपि यह विवेचन कुछ कष्ट कल्पना की सीमा में तो जाता है पर प्रेरणा की दृष्टि से इसकी ग्राह्यता है।

रजोहरण

संयमी जीवन के निर्वाह के हेतु श्रमण के लिए और भी कतिपय उपकरणों का विधान है, जिनमें रजोहरण मुख्य है। यह ऊन के मुलायम धागों से बना होता है। साधुओं द्वारा सदा इसे अपने पास रखे जाने के पीछे अहिंसा का दृष्टिकोण है। चलना, फिरना, उठना, बैठना, सोना आदि दैनन्दिन क्रियाओं के प्रसंग में कृमि, कीड़े चींटी जैसे छोटे-छोटे जीव-जन्तुओं की हिंसा आशङ्कित है, उससे बचने के लिए रजोहरण की अपनी उपादेयता है। उन-उन क्रियाओं के सन्दर्भ में प्रयुज्यमान स्थान का रजोहरण द्वारा प्रोच्छन्न, प्रमार्जन आदि कर लिया जाता है, कोई जीव-जन्तु हों तो उन्हें बहुत धीरे से रजोहरण द्वारा हटा दिया जाता है। यों हिंसा का प्रसंग टल जाता है।

उपसंहार

जैन-श्रमण की वेशभूषा, उपकरण आदि की संख्या, परिमाण, प्रयोग, परिष्ठापन आदि और भी अनेक पहलू हैं, जिन पर विवेचन किया जा सकता है पर विषय-विस्तार के भय से यहाँ केवल उन्हीं कुछ उपकरणों को लिया गया है, जो एक श्रमण के दैनन्दिन जीवन में प्रस्फुट रूप से हमारे सामने आते हैं। इनके परिशीलन से यह स्पष्ट है कि श्रमण की जो पंचमहाव्रतात्मक चारित्रिक भूमिका है, उसमें यह नैमित्तिक दृष्टि से निस्सन्देह सहायक है। यद्यपि उपादान तो स्वयं अपनी आत्मा ही है पर निमित्त की सहकारिता का भी अपना स्थान है। कार्य-निष्पत्ति में उपादान-निमित्त की उपस्थिति की जो मांग करता है, वह अनिवार्य है।

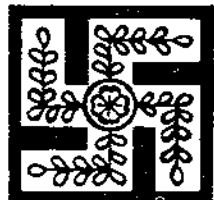
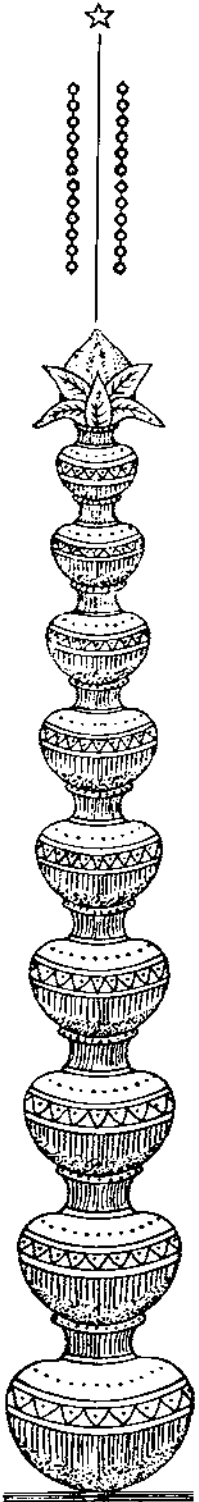
जैसा कि हमने देखा, उपकरण चयन में अपरिग्रह की भावना विशेष रूप से समाविष्ट है पर यह भी सर्वथा सिद्ध है कि महाव्रत अन्योन्याश्रित हैं। एक व्रत के खंडित होते ही दूसरे स्वयं खंडित हो जाते हैं। इसलिए अपरिग्रह की मुख्यता से सभी महाव्रतों के परिरक्षण और परिपालन में उपकरण-शुद्धता का महत्त्व है। संयम-मूलक शुद्धि के साथ-साथ सरल, निःस्पृह, सात्त्विक और पवित्र जीवन की स्थूल प्रतीकात्मकता भी इनमें है, जिसका आपाततः बहुत महत्त्व है।

१ उत्तराध्ययन सूत्र अध्यायन २३, गाथा १-१६

२ अचेलगो य जो धम्मो, जो इमो सन्तरुत्तरो। देसियो वद्धमाणेण, पासेण य महाजसा ॥

एककज्जपवभारणं, विसेसे कि नु कारणं। लिगे दुविहे मेहावी, कहं विप्पच्चओ न ते ॥

—उत्तराध्ययन सूत्र अध्यायन २३, गाथा २६-३० ●



□ बसन्तकुमार जैन शास्त्री

गृहस्थ साधक (श्रावक) की उपासना विधि—
(आचार संहिता) पर जैनधर्म ने प्रारम्भ से ही बड़ा मनो-
वैज्ञानिक तथा समाजवादी चिन्तन किया है। विश्व के
विभिन्न धर्मों के परिप्रेक्ष्य में उसकी तुलनात्मक उप-
योगिता पर एक चिन्तन यहाँ प्रस्तुत है।

विश्वधर्मों के परिप्रेक्ष्य में जैन उपासक का साधना-पथ : एक तुलनात्मक विवेचन

□

सुख : छलना : यथार्थ

जागतिक भाषा में जिसे सुख कहा जाता है, तत्त्व की भाषा में वह सुख नहीं सुखाभास है। वह एक ऐसी मधुर छलना है, जिसमें निमग्न मानव अपने आपको विस्मृत किये रहता है। यह सब मानव को तब आत्मसात् हुआ, जब उसने जीवन-सत्य में गहरी डुबकियाँ लगाईं। उसे अनुभूत हुआ, सुख कुछ और ही है, जिसका अधिष्ठान 'स्व' या आत्मा है। भौतिक पदार्थ तथा धन-वैभव आदि पर वह नहीं टिका है। इतना ही नहीं, वे उसके मार्ग में एक प्रकार का अवरोध है। क्योंकि इनमें सुख की कल्पना कर मानव इन पर अटकता है। उसकी सत्य-प्रवण गति कुण्ठित हो जाती है। जिसे हम सच्चा सुख कहते हैं, दर्शन की भाषा में मोक्ष, निर्वाण, ब्रह्मसारूप्य आदि शब्दों से उसे संज्ञित किया गया है। तत्त्वद्रष्टाओं ने उसे अधिगत करने का विधि-क्रम भी अपने-अपने चिन्तन के अनुसार प्रस्तुत किया है, जिसे साधना या अध्यात्म-साधना कहा जाता है।

भारत की गरिमा : साधना का विकास

अध्यात्म-साधना के क्षेत्र में भारत की अपनी गरिमा है, विश्व में उसका गौरवपूर्ण स्थान है। यहाँ के ऋषियों, मनीषियों और चिन्तकों ने इस पहलू पर बड़ी गहराई से चिन्तन किया। इतना ही नहीं, उन्होंने स्वयं सतत अभ्यास द्वारा इस सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण अनुभूतियाँ अर्जित कीं। उन द्वारा प्रदर्शित साधना पद्धतियों में इन सबका प्रतिबिम्ब हमें प्राप्त होता है। साधना के क्षेत्र में साधक की अपेक्षा से दो प्रकार का वर्गीकरण हुआ—संन्यासी, परिव्राजक या भिक्षु तथा गृही, गृहस्थ अथवा श्रावक या उपासक।

प्रथम कोटि में वे साधक आते हैं, जो सम्पूर्णतः अपने को आत्म-साधना या मोक्ष की आराधना में लगा देते हैं। दैहिक किंवा भौतिक जीवन उनके लिए सर्वथा गौण होता है तथा (अध्यात्म) साधनामय जीवन सर्वथा उपादेय या मुख्य। दूसरे वर्ग में वे व्यक्ति लिये गये हैं, जो लौकिक (गाहस्थ्य) जीवन में समाविष्ट हैं, साथ ही साथ आत्म-साधना के अभ्यास में भी जितना शक्य होता है, संलग्न रहते हैं।

इन दोनों वर्गों के साधकों अर्थात् साधुओं और गृहस्थों के साधना-क्रम या अभ्यास-कोटि पर हमारे देश के तत्त्व-चिन्तकों ने अत्यन्त मनोवैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन कर विशेष प्रकार की आचार संहिताएँ निर्धारित की हैं, जिनका अवलम्बन कर साधक अपने गन्तव्य की ओर सफलता पूर्वक अग्रसर होते जायें।

भारतीय दर्शकों में जैन दर्शन का अनेक दृष्टियों से अपना महत्त्वपूर्ण स्थान है। जैन साधना-पद्धति भी अपनी कुछ ऐसी विशेषताएँ लिये हुए है, जिनके कारण उसकी उपादेयता त्रिकालाबाधित है। प्रस्तुत निबन्ध में विभिन्न धर्मों



द्वारा अभिमत गृहस्थ की साधना पद्धतियों के परिप्रेक्ष्य में जैन गृही या श्रावक की साधना पर तुलनात्मक दृष्टि से विवेचन किया जायेगा ।

वैदिक धर्म में गृहस्थाश्रम

वैदिक धर्म का आशय उन धर्म-संप्रदायों से है, जिनका मुख्य आधार वेद हैं तथा दार्शनिक दृष्टि से जो पूर्व मीमांसा, उत्तर मीमांसा (वेदान्त), सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक आदि से सम्बद्ध हैं । वैदिक धर्म मनुष्य के जीवन को चार भागों में बाँटा है, जिन्हें आश्रम कहा जाता है । आश्रम का सामान्य अर्थ आश्रय, ठहरने का स्थान या विश्राम करने का स्थान है । आश्रम चार हैं—ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ एवं संन्यास । पच्चीस वर्ष की आयु तक गुरुकुल में ब्रह्मचर्य पूर्वक विद्याभ्यास का समय इस आश्रम के अन्तर्गत है । तात्पर्य यह हुआ कि तब तक व्यक्ति सांसारिक जीवन में सफलता पूर्वक चलते रहने की क्षमताएँ अर्जित कर चुकता है । फलतः उसका लौकिक जीवन भारभूत न होकर आनन्दमय होता है । इससे आगे पचास वर्ष तक की आयु का कार्यकाल गृहस्थ आश्रम में लिया गया है, जिस पर हम आगे विशेष रूप से प्रकाश डालेंगे । पचास से पचहत्तर वर्ष तक का काल वानप्रस्थ आश्रम का है, जो एक प्रकार से संन्यास के पूर्वाभ्यास का समय है । इससे आगे का सौ वर्ष तक का समय संन्यास का माना गया है ।

वेद के ऋषि के निम्नांकित शब्द इस बात के द्योतक हैं कि तब 'शतापूर्व' पुरुषः' के अनुसार मानव सौ वर्ष के जीवन की कामना करता था :—

“पश्येम शरदः शतम् । जीवेम शरदः शतम् । शृणुयाम शरदः शतम् । प्रब्रवामशरदः शतम् । अदीनाः स्याम शरदः शतम् । भूयश्च शरदः शतात् ॥”

अर्थात् सौ वर्ष तक हमारी चक्षु इन्द्रिय कार्यशील रहे, सौ वर्ष तक हम जीएं, सौ वर्ष तक श्रवण करें, सौ वर्ष तक बोलें, सौ वर्ष तक अदीन भाव से रहें । इतना ही क्यों, हम सौ से भी अधिक समय तक जीएं ।

प्राचीन काल के आयु अनुपात के अनुसार यह वर्ष सम्बन्धी कल्पना है । इसलिए हम इसे इयत्ता मूलक निश्चित नहीं कह सकते, आनुपातिक कह सकते हैं ।

गुरुकुल से निर्गमन : संसार में आगमन

जब ब्रह्मचारी अपना विद्याध्ययन तथा भावी जीवन की अन्यान्य तैयारियाँ परिपूर्ण कर पुनः संसार में अर्थात् पारिवारिक या सामाजिक जीवन में आने को उद्यत होता है, तब वैदिक ऋषि उसे जो शिक्षाएँ देता है, वे बहुत महत्त्वपूर्ण हैं और उनमें उसके भावी लौकिक जीवन के लिए बड़े सुन्दर आदेश-निर्देश हैं । वे शिक्षाएँ इस प्रकार हैं :—

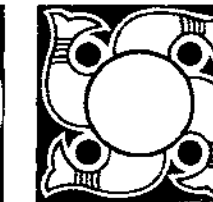
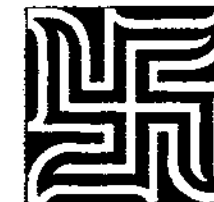
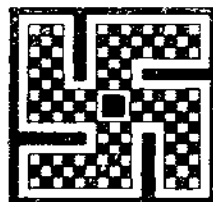
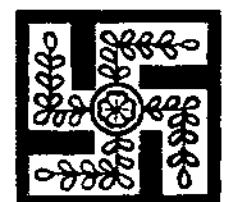
“वेद मनुच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति—सत्यं वद, धर्मं चर, स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्यान्य प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूर्यं न प्रमदितव्यम् । स्वाध्याय प्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् । देव पितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥”^२

ब्रह्मचारी ! तुम सांसारिक जीवन में जा रहे हो । मैं जो कह रहा हूँ, उन बातों पर पूरा ध्यान रखना—सदा सच बोलना, धर्म का आचरण करना । जो तुमने पढ़ा है, उसमें प्रमाद मत करना, उसे भूल मत जाना । आचार्य को वक्षिणा के रूप में वाञ्छित धन देकर, गृहस्थ में जाकर सन्तति-परम्परा का उच्छेद मत करना—उसे संप्रवृत्त रखना ।

ऋषि शिष्य को सदाचरण में सुस्थित करने के हेतु पुनः कहता है—सत्य में प्रमाद मत करना, धर्म में प्रमाद मत करना, पुण्य कार्यों में प्रमाद मत करना, ऐश्वर्यप्रद शुभ कार्यों में प्रमाद मत करना, स्वाध्याय और प्रवचन में प्रमाद मत करना, देव-कार्य तथा पितृ-कार्य में प्रमाद मत करना ।

“ऋषि आगे कहता है—

“मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्य देवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यवद्यानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि , नो इतराणि । यान्यस्माकम् सुचरितानि, तानि त्वयोपास्यानि , नो इतराणि । ये के चास्म-



च्छे, यासो ब्राह्मणाः, तेषां त्वया ऽऽसनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । संविदा देयम् ।”^३

अर्थात् माता को देवता समझना, पिता को देवता समझना । गुरु को देवता समझना । अतिथि को देवता समझना । जो अनवद्य—निर्दोष कार्य हों, वे ही करना, दूसरे (सदोष) नहीं । जो सुचरित—पवित्र कार्य हों, वे ही करना, दूसरे नहीं । जो हमारे लिए कल्याणकारी ब्राह्मण हों, उनका आसन आदि द्वारा आदर करना । श्रद्धा पूर्वक दान करना । अश्रद्धा से मत करना । अपनी सांपत्तिक क्षमता के अनुरूप दान देना । लज्जा से दान देना । भय से दान देना । विवेक पूर्वक दान देना ।

ऋषि की शब्दावली में एक ऐसे जीवन का संकेत है, जिसमें प्रेम, सद्भावना, सौजन्य, उदारता, सेवा और कर्तव्यनिष्ठा का भाव है । कहने का अभिप्राय यह है कि ऋषि ब्रह्मचारी को एक ऐसे गृही के रूप में जीने का उपदेश करता है, जो समाज में सर्वथा सुसंगत और उपयुक्त सिद्ध हो । वह एक ऐसा नागरिक हो, जो केवल अपने लिये ही नहीं जीए, प्रत्युत समष्टि के लिए जीए ।

तीन ऋण

वैदिक धर्म में एक बड़ी ही सुन्दर भावात्मक कल्पना है—प्रत्येक व्यक्ति पर तीन प्रकार के ऋण हैं—ऋषि-ऋण, देव-ऋण तथा पितृ-ऋण । यज्ञोपवीत के तीन सूत्र—धागे इसके सूचक हैं ।

ऋषियों—द्रष्टाओं या ज्ञानियों ने अनवरत साधना द्वारा ज्ञान की अनुपम निधि अर्जित की है । प्रत्येक द्विजाति (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य) जन का यह पुनीत कर्तव्य है कि वह उस ज्ञान का परिशीलन करे, शास्त्राध्ययन करे । ब्रह्मचर्याश्रम में यह ऋण अपाकृत हो जाता है । ब्रह्मचारी गुरु से वेद, शास्त्र आदि का अध्ययन कर इस ऋण से मुक्त होता है ।

पितृऋण की अपाकृति गृहस्थाश्रम में होती है । गृही अपने पूर्व पुरुषों के श्राद्धतर्पण आदि करता है, जो पितृ-ऋण की शुद्धि के हेतु हैं । देव-ऋण से (गृहस्थ) वानप्रस्थ आश्रम में उन्मुक्ति होती है । क्योंकि देव-ऋण यज्ञ द्वारा देवताओं को आहुति देने से अपाकृत होता है । इस प्रकार तीनों ऋणों का उन्मोचन वानप्रस्थ आश्रम तक हो जाता है । तदन्तर संन्यास का विधान है । इसीलिए कहा है—

“ऋणानि त्रीण्यपाकृत्य मनो मोक्षे निवेशयेत् ।”

अर्थात् इन तीन ऋणों का अपाकरण—समापन कर अपना मन मोक्ष में लगाए ।

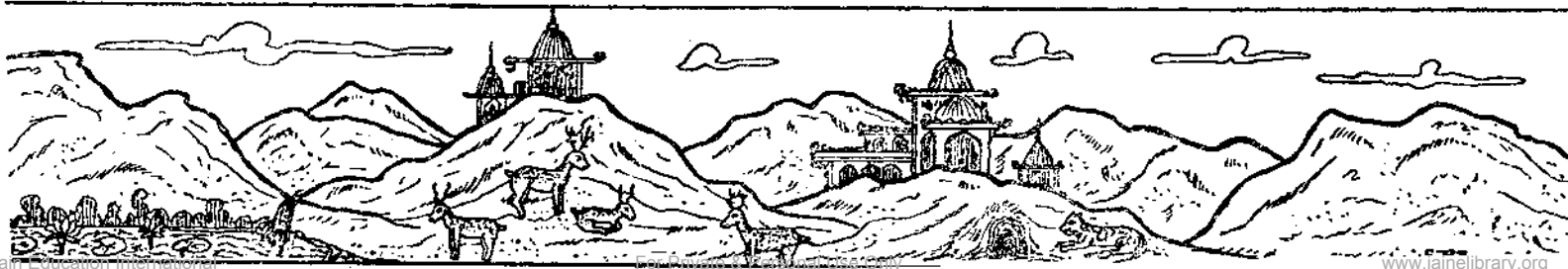
इस व्यवस्था के अनुसार “आश्रमाश्वाश्रमं गच्छेत्” अर्थात् ब्रह्मचर्य आदि आश्रमों को क्रमशः प्राप्त करना चाहिए, एक-एक आश्रम का यथा समय यथावत् रूप में निर्वाह करते हुए आगे बढ़ना चाहिए ।

एक अपवाद

यद्यपि वैदिक धर्म में आश्रम-व्यवस्था का विधान है परन्तु जहाँ किसी में वैराग्य का अतिशय का आधिक्य हो, उसके लिए अपवादरूप में इस व्यवस्था का अस्वीकार भी है । श्रुति में कहा गया है—“यदहरेव विजेत् तदहरेव प्रब्रजेत्; ब्रह्मचर्याद्वा गृहाद्वा वनाद्वा ।” अर्थात् जिस दिन वैराग्य हो जाय, उसी दिन मनुष्य संन्यास ग्रहण कर ले । वह ब्रह्मचर्याश्रम से, गृहस्थाश्रम से या वानप्रस्थाश्रम से—जिस किसी आश्रम से ऐसा कर सकता है । आश्रमों के क्रमिक समापन का नियम वहाँ लागू नहीं होता । यह आपवादिक नियम है, वैधानिक नहीं । अतः इसके आचार पर संन्यस्त होने वाले व्यक्तियों के उदाहरण बहुत कम प्राप्त होते हैं ।

प्रजातन्तु अव्यवच्छिन्न रहे

ऊपर पितृऋण की जो बात आई है, उसके सन्दर्भ में इतना और ज्ञातव्य है कि वैदिक धर्म वंश परम्परा के निर्बाध परिचालन में विश्वास रखता है । यथाविधि सन्तानोत्पत्ति वहाँ धर्म का अंग माना गया है । पुत्र शब्द की व्याख्या में कहा गया है—पुत्रान्नो नरकात् त्रायत इति पुत्रः । अर्थात् जो अपने माता, पिता अथवा पूर्व पुरुषों को



श्राद्ध, तर्पण आदि के द्वारा पुन्नामक नरक से बचाता है, वह पुत्र है, इसे और स्पष्ट समझें—जिनके सन्तति नहीं होती, उन्हें जलाञ्जलि, तर्पण, श्राद्ध आदि कुछ भी प्राप्त नहीं होता ! उनकी सद्गति नहीं होती । यदि किसी के पुत्र न हो तो उसकी पूर्ति के लिए हिन्दू धर्म में अपने किसी पारिवारिक व्यक्ति के बच्चे को पुत्ररूप में ग्रहण करने की व्यवस्था है, जिसे दत्तक पुत्र कहा जाता है । इसका उद्देश्य विशेषतः यही है कि औरस पुत्र द्वारा करणीय धर्म-विधान वह सम्पादित करे । तैत्तिरीयोपनिषद् में 'प्रजातन्तु मा व्यवच्छेत्सी' जो कहा गया है, उसके पीछे यही भाव है ।

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि ब्रह्मचर्याश्रम के पश्चात् व्यक्ति विधिवत् विवाह करे, सन्तान उत्पन्न करे तथा पारिवारिक व सामाजिक कर्तव्यों का निर्वाह करे ।

गृहस्थ के पाँच महायज्ञ

यदि हम गहराई में जाएँ तो प्रतीत होगा कि जीवन में हिंसा का क्रम अनवरत चलता है । संन्यासी या भिक्षु तो उससे बहुत कुछ बचा रहता है परन्तु गृहस्थ के लिए ऐसा संभव नहीं है । मनु ने गृहस्थ के यहाँ पाँच हिंसा के स्थान (वध-स्थल) बतलाये हैं । उन्होंने कहा है—

“पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।

कण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यास्तु वाहयन् ॥”^३

चूल्हा, चक्की, झाड़ू, ओखली तथा जल-स्थान इनके द्वारा गृहस्थ के यहाँ जीवों की हिंसा प्रायः होती ही रहती है इसलिए मनु ने इन्हें वध-स्थल कहा है ।

इन पाँच स्थानों या हेतुओं से होने वाली हिंसा की निष्कृति या निवारण के लिए मनु ने पाँच महायज्ञों का विधान किया है—

“तासां क्रमेण सर्वासां, निष्कृत्यर्थं महर्षिभिः ।

पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः, प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥”^४

वे पञ्च महायज्ञ इस प्रकार हैं—

“अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः, पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।

होमो देवो बलिर्भौतो, नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥”^५

ब्रह्म-यज्ञ, पितृ-यज्ञ, देव-यज्ञ, भूत-यज्ञ तथा मनुष्य-यज्ञ—ये पाँच महायज्ञ हैं । द्विजाति जन अपनी अधीत विद्या औरों को पढ़ाए, यह ब्रह्म-यज्ञ है । अपने पितृगण का तर्पण करे, यह पितृ-यज्ञ है, हवन करना देव-यज्ञ है, बलि वैश्वदेव यज्ञ, भूत-यज्ञ है तथा अतिथियों का सत्कार मनुष्य-यज्ञ है ।

बलि वैश्वदेव यज्ञ के सम्बन्ध में मनु ने कहा है—

“शुनां च पतितानां च, श्वपचां पापरोणिणाम् ।

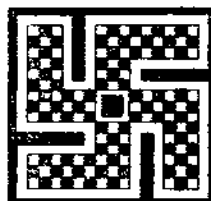
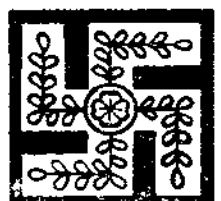
वायसानां कृमीणां च, शनकैर्निविपेद् भुवि ॥”^६

कुत्ते, पतित मनुष्य, चाण्डाल, पापरोमी, कौए और कीड़े-मकोड़े—इनके लिए भोजन में से छः भाग करके धीरे से भूमि पर डाल देना बलि वैश्वदेव यज्ञ है ।

यदि हम ध्यान से देखें तो इन पाँच महायज्ञों में तीन तो वे ही हैं, जिनका उपर्युक्त तीन ऋणों से सम्बन्ध है । उनके अतिरिक्त जो दो और हैं, उनका विशेष आशय है ।

बलि वैश्वदेव यज्ञ से यह प्रकट है कि वैदिक धर्म ने नीच और पतित कहे जाने वाले प्राणियों के प्रति भी दया का बर्ताव करने का स्पष्ट निर्देश किया है और उसे भी उतना ही पवित्र माना है, जितना अध्यापन, तर्पण व हवन जैसे उच्च कार्यों को माना है । उसके लिए प्रयुक्त यज्ञ शब्द इसका द्योतक है ।

अतिथि-सत्कार का भी वैदिक धर्म में बहुत बड़ा महत्त्व है । इसलिए उसे मनुष्य-यज्ञ कहा है । अतिथि के सम्बन्ध में तो यहाँ तक कहा है—



अतिथिर्यस्य भग्नाशो, गृहात् प्रतिनिवर्तते ।

स तस्मै दुस्कृतं दत्त्वा, पुण्यमादाय गच्छति ॥

अर्थात् अतिथि जिसके घर से निराश होकर लौट जाता है, वह उसे (उस गृहस्थ को) अपना पाप देकर तथा उसका पुण्य लेकर चला जाता है ।

यदि सूक्ष्मता में जाएँ तो पता चलेगा कि इसके पीछे समाज-विज्ञान की व्यापक भावना संलग्न है । यह स्वाभाविक है कि सर्वत्र प्रत्येक क्रिया की प्रतिक्रिया होती है । एक अपरिचित व्यक्ति किसी अपरिचित स्थान में किसी अपरिचित व्यक्ति से स्नेह और श्रद्धापूर्वक सत्कृत और संपूजित होता है तो सहज ही उसके मन में यह भाव उभरता है कि उसके यहाँ भी कमी वसा प्रसंग बनेगा तो वह सत्कार व आदर में कोई कमी नहीं रख छोड़ेगा । इससे मानव एक निःशंक तथा सुरक्षित भाव पाता हुआ सर्वत्र आ-जा सकता है, अपना कार्य कर सकता है । एक व्यापक मैत्री-भाव के उद्गम का यह सहज स्रोत है । इससे कोई भी व्यक्ति कहीं भी जाते हुए नहीं हिचकेगा कि वहाँ उसका कौन है ?

गृहस्थ और कर्म-योग

गीता में गृहस्थ को बड़ा मार्मिक व उपयोगी पथ-दर्शन दिया गया है । उसे कहा गया है कि यदि आसक्ति और मोह के बिना वह अपना कर्त्तव्य करता जायेगा तो उसे समझ लेना चाहिए कि इससे उसकी आत्म-साधना भी सधती जायेगी । उसका अनासक्त कर्म उसके लिए योग बन जायेगा । कर्म-योग के सन्दर्भ में श्रीकृष्ण ने बहुत जोर देकर कहा है कि जब तक देह है, इन्द्रियाँ हैं, तब तक कोई कर्म-शून्य नहीं हो सकता अतः कर्म करने में अपनी पद्धति को एक नया मोड़ देना होगा, जो मोह, ममता और आसक्त भाव से परे होगा । इस प्रकार कर्म करता हुआ मनुष्य कर्मों के लेप से अछूता रहेगा ।

निष्कर्ष-रूप में श्रीकृष्ण ने कहा है—

“कर्मण्येवाधिकारस्ते, मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ॥

योगस्थः कुरु कर्माणि, सङ्गं त्यक्त्वा धनंजय ।

सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा, समत्वं योग उच्यते ॥”^५

अर्थात् कर्म करने में तुम्हारा अधिकार है—तुम कर्म करने के अधिकारी हो, फल के नहीं । इसलिए कर्म के फल की आशा मत रखो । पर, साथ ही साथ यह भी ध्यान रखने की बात है कि कर्म-फल की आशा तो छोड़ दो पर अकर्मण्य मत बनो । सङ्ग—आसक्ति या आशा छोड़कर तुम योगपूर्वक—अनासक्त भाव से, कर्त्तव्य-बुद्धि से कर्म करो । सफलता और असफलता की भी चिन्ता मत करो । दोनों में समान रहो । यह समत्व ही योग है ।

वैदिक धर्म के अनुसार गृही के साधक-जीवन का यह संक्षिप्त लेखा-जोखा है । पारिवारिक जनों के प्रति कर्त्तव्य, देवोपासना, दान, सेवा आदि और भी अनेक पहलू हैं, जिनका गृहस्थ के जीवन से बहुत सम्बन्ध है । पर, यहाँ उनका विस्तार करने का अवकाश नहीं है ।

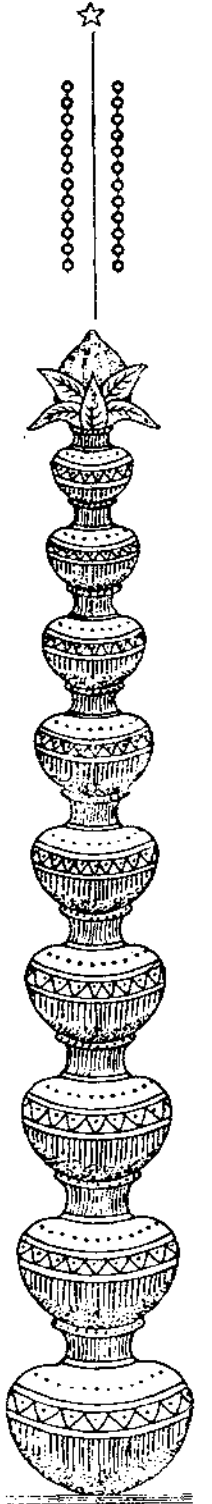
विवेचन का सारांश यह है कि वैदिक धर्म के अनुसार सांसारिक कर्त्तव्य और आध्यात्मिक साधना—इन दोनों का समन्वित महत्त्व है । जैसे ब्रह्मचर्य यद्यपि आदर्श है पर गृही के लिए अपनी परिणीता पत्नी का सेवन धार्मिक दृष्टि से भी दोषपूर्ण नहीं है, ऋतुकालाभिगमन तो विहित भी है । कहने का आशय यह है कि संसार और निश्चयस दोनों का वहाँ स्वीकार है । यही कारण है कि वैशेषिक दर्शन में धर्म की परिभाषा करते हुए लिखा गया है—

“यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ॥”^६

अर्थात् जिससे लौकिक अभ्युदय या उन्नति तथा मोक्ष की सिद्धि हो, वह धर्म है ।

बौद्धधर्म में गृही उपासक

बौद्धधर्म में मज्झिम पडिपदा—मध्यम प्रतिपदा या मध्यम मार्ग कहा जाता है । भगवान बुद्ध ने अध्ययन तथा



तपस्या के पश्चात् यह अनुभव किया कि जन-साधारण के लिए वही धर्म उपयोगी होगा, जो न अत्यन्त कड़ा हो और न अत्यन्त सरल। क्योंकि अत्यन्त कठोर या ऊँचे नियमों का परिपालन उनसे शक्य नहीं होगा तथा अत्यन्त साधारण कोटि के नियमों से कुछ विशेष सधेगा नहीं।

चार आर्य सत्य

भगवान बुद्ध ने जिस मध्यम-मार्ग मूलक धर्म की अवतारणा की, वह निम्नांकित वास्तविकताओं पर आधृत है—जगत् में दुःख है, जिसमें जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा, रोग, प्रियजनों का वियोग, अप्रिय पदार्थों का संयोग, अभीप्सित का अलाम इत्यादि का समावेश हो जाता है।

दुःख की गहराई में जाते हैं तो पता चलता है कि उसका कोई न कोई कारण अवश्य है। कारण के जान लेने पर यह सम्भावित होता है कि उस दुःख को मिटाया जा सकता है। जब मिटाया जा सकता है तो उसका कोई विधि-क्रम भी होना चाहिए।

इन्हीं वास्तविकताओं को भगवान बुद्ध ने चार 'आर्य सत्य' के नाम से अभिहित किया—

१. दुःख, २. दुःख-समुदय, ३. दुःख-निरोध, ४. दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद्। कहा गया है, यह बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म है, श्रेय है, उत्तम शरण है। इसे अपनाने से प्राणी सब दुःखों से छूट जाता है, जैसे—

यो च बुद्धं च धम्मं च संघं च सरणं गतो ।
चत्तारि अरियसञ्चानि सम्मप्पञ्चाय पस्सति ।
दुक्खं दुक्खसमुप्पादं दुक्खस्स च अतिक्कमं ।
अरियं चट्ठङ्गिकं मग्गं दुक्खूपसमगामिनं ॥
एतं खो सरणं खेमं एतं सरणमुत्तमं ।
एतं सरणमागम्मं सव्वदुक्खा पमुच्चति ॥

इन गाथाओं में चार आर्य-सत्यों की चर्चा के साथ-साथ अष्टांगिक आर्य मार्ग की ओर संकेत किया गया है। उसे दुःख का उपशामक कहा गया है।

अष्टांगिक मार्ग

चौथे आर्य-सत्य (दुःख-निरोधगामिनी प्रतिपद्) के अन्तर्गत भगवान बुद्ध ने एक व्यवस्थित विधिक्रम या मार्ग दिया है, जिसका अवलम्बन कर साधक दुःख से छुटकारा पा सकता है। वही अष्टांगिक आर्य मार्ग है, जिसके निम्नांकित आठ अंग हैं—

१. सम्यक् ज्ञान—चार आर्य सत्यों को भली-भाँति समझ लेना।

२. सम्यक् संकल्प—समझ लेने के बाद मन में जमाने की बात आती है। वैसे किये बिना समझना विशेष हितकर नहीं होता। समझी हुई बात को मन में जमाने के लिए पक्का निश्चय करना पड़ता है। इसी का नाम सम्यक् संकल्प है।

३. सम्यक् वचन—सत्य बात कहना।

४. सम्यक् कर्मान्त—हिंसा, शत्रुता, दूषित आचरण आदि से बचते रहना। इन्हें कर्मान्त इसलिए कहा गया है कि ऐसा करने से कर्मों का अन्त होता है।

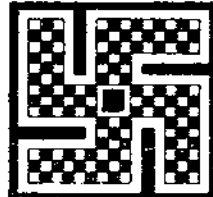
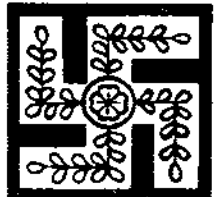
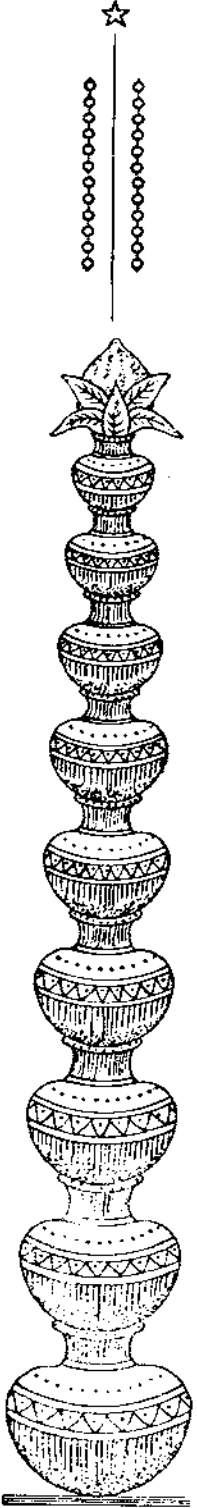
५. सम्यक् आजीव—न्याय-नीति पूर्वक आजीविका चलाना।

६. सम्यक् व्यायाम—सात्त्विक कर्मों के लिए निरन्तर उद्यमशील रहना।

७. सम्यक् स्मृति—लोग आदि वृत्तियों चित्त को सन्तप्त करती रहती हैं, उनसे बचना।

८. सम्यक् समाधि—रागात्मक व द्वेषात्मक वृत्तियों से चित्त को हटाकर एकाग्र करना।

यह अष्टांगिक मार्ग बौद्ध धर्म में सर्वत्र स्वीकृत है। पर, हीनयान सम्प्रदाय के बौद्ध इस पर विशेष जोर देते हैं। महायान सम्प्रदाय में अष्टांगिक मार्ग का स्वीकार तो है पर उसका विशेष बल पारमिता-मार्ग पर है।



‘पारमिता’ शब्द पारम् + इता से बना है, अर्थात् पार पहुँची हुई अत्युत्कृष्ट अवस्था। महायान सम्प्रदाय में छः पारमिताएँ मुख्य मानी गई हैं, जो निम्नांकित हैं—

१. दान-पारमिता, २. शील-पारमिता (उत्कृष्ट सदाचार का पालन)—३. शान्ति पारमिता (क्षमाशीलता), ४. वीर्य पारमिता (अशुभ को त्याग कर शुभ के स्वीकार-हेतु अत्यन्त उत्साह), ५. ध्यान-पारमिता, ६. प्रज्ञा-पारमिता (सत्य का साक्षात्कार)।

बौद्ध धर्म का आचार की दृष्टि से सारा विस्तार इन तथ्यों पर हुआ है। इनके परिपालन की दृष्टि से बौद्ध साधक दो वर्गों में विभक्त है, भिक्षु और उपासक। भिक्षु इन आदर्शों का पूर्णतया पालन करने का संकल्प लेकर इस ओर उद्यमशील रहते हैं। वे स्वयं अपनी साधना में लगे रहने के साथ-साथ जन-जन को उस ओर अप्रसर करने के लिए उपदेश करते हैं। गृहस्थों या उपासकों के लिए भी अष्टांगिक मार्ग आदर्श है पर, वे उस ओर प्रयत्नशीलता की अवस्था में होते हैं, जबकि भिक्षु सम्पूर्णतः परिपालन की स्थिति में। भिक्षुओं के लिए आहार, विहार, भिक्षा, वस्त्र, अन्यान्य उपकरण आदि का ग्रहण, प्रयोग प्रभृति के सम्दर्भ में एक आचार-संहिता है, जिसका विनयपिटक में विस्तृत विवेचन है। बौद्ध परम्परा में ‘विनय’ शब्द आचार के अर्थ में है। ‘विनयपिटक’ संज्ञा इसी आधार पर है।

प्रव्रज्या सावधिक : निरवधिक

बौद्ध धर्म में एक विशेष बात और है। वहाँ भिक्षु-दीक्षा या संन्यास-प्रव्रज्या एकान्त रूप से समग्र जीवन के लिए हो, ऐसा नहीं है। वहाँ दो प्रकार के भिक्षु होते हैं। एक वे, जो जीवन भर के लिए भिक्षु-संघ में आते हैं। दूसरे वे, जो समय-विशेष के लिए भिक्षु-जीवन में प्रव्रजित होते हैं। वह समयावधि वर्षों, महीनों अथवा दिनों की भी हो सकती है।

प्रत्येक बौद्ध उपासक अपने मन में यह आकांक्षा रखता है कि कम से कम जीवन में एक बार, चाहे थोड़े ही समय के लिए, भिक्षु बनने का सुअवसर उसे मिले। वह निर्धारित समय तक भिक्षु रहकर पुनः अपने गृहस्थ-जीवन में ससम्मान वापिस आ सकता है। वह तथा उसके पारिवारिक-जन अपना सौभाग्य मानते हैं कि कुछ समय तक तो एक व्यक्ति का जीवन भिक्षु के रूप में व्यतीत हुआ। वैदिक तथा जैन धर्म में ऐसा नहीं है। वहाँ संन्यास-दीक्षा जीवन भर के लिए होती है। उसे वापिस लौटना हेय माना जाता है। वैदिक धर्म में जब कोई व्यक्ति संन्यास में दीक्षित होता है, तो इस बात के प्रतीक के रूप में कि वह अपने विगत जीवन को समाप्त कर सर्वथा नये जीवन में जो पिछले से बिल्कुल अस्पृष्ट है, आ रहा है, अपनी चित्ता तैयार करता है, जिसका तात्पर्य है कि उसका पिछला शरीर भी जल गया है।

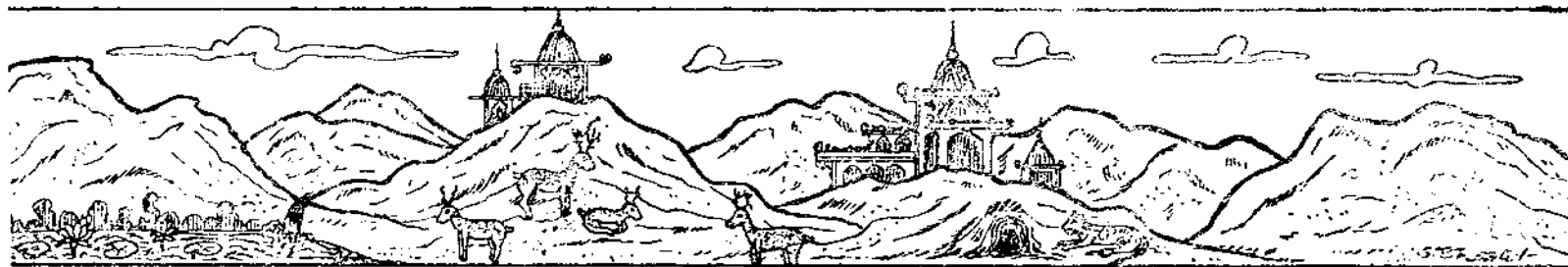
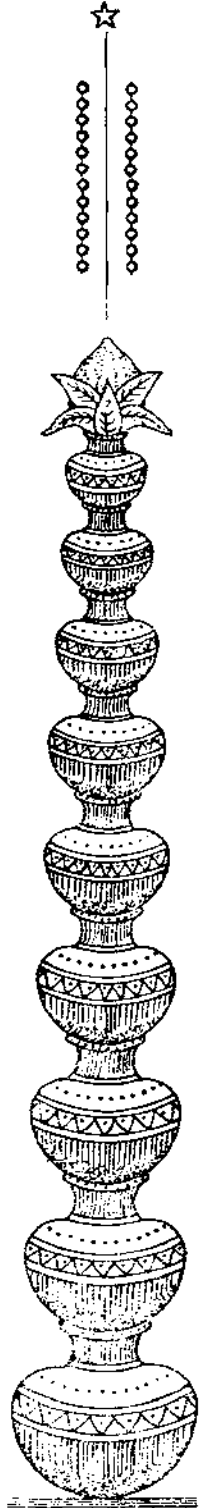
बुद्ध ने जो सावधिक भिक्षु-जीवन की स्वीकृति दी, उसके पीछे उनका यही अभिप्राय रहा हो कि थोड़े समय के लिए ही सही सद् वस्तु का ग्रहण तो हुआ। इस पर बुद्ध के मध्यम मार्ग के दार्शनिक चिन्तन का प्रभाव स्पष्टतया दृष्टिगत होता है। पर, एक बात अवश्य है, संन्यास की दिव्य तथा पावन स्थिति इससे व्याहत होती है। जो एक क्षण भी संन्यस्त जीवन के परवस्तुनिरपेक्ष सहज आनन्द का आस्वाद अनुभव कर चुका है, क्या वह उसे छोड़ सकता है, उधर से हट सकता है, यह बहुत गहराई से चिन्तन का विषय है।

उपासक के कर्त्तव्य

मज्झिम-निकाय में जहाँ गृहस्थ (गृही उपासक) के कर्त्तव्यों पर प्रकाश डाला गया है, वहाँ चार कर्म-क्लेश बताये गये हैं। उन्हें कर्म-मल भी कहा गया है, जो इस प्रकार हैं—

१. प्राणातिपात—प्राणियों का वध करना।
२. अदत्तादान—किसी द्वारा नहीं दी गई वस्तु ग्रहण करना अर्थात् चोरी करना।
३. परदार-गमन।
४. मृषावाद—असत्य-भाषण करना।

वहाँ पाप के चार स्थानों का भी वर्णन है, जो छन्द, द्वेष, मोह और भय के रूप में व्याख्यात हुए हैं। अर्थात् छन्द—राग, द्वेष, मोह तथा भय के कारण अनेकविध पाप-कर्मों में प्रवृत्त होना इन-इन स्थानों से सम्बद्ध माना गया है। वहीं पर छः अपाय-मुखों का वर्णन है।



१. मदिरा-पान ।
२. सन्ध्या के समय चौरस्ते पर घूमना ।
३. नृत्य, खेल-तमाशा आदि देखना ।
४. छूत-झीडा करना ।
५. दुष्ट से मित्रता करना ।
६. आलस्य-रत रहना ।

इन्हें अपाय-सुख कहने के पीछे यह भाव रहा है कि बाह्य दृष्टि से ये सुख प्रतीत होते हैं किन्तु इनका परिणाम भीषण दुःख है ।

इनके सम्बन्ध में उपदेश किया गया है कि आर्य श्रावक या उपासक इन चौदह (चार कर्म-बलेश, चार पाप-स्थान तथा छः अपाय सुख—चौदह) प्रकार से होने वाले पापों से बचे । ऐसा करने वाला लोक और परलोक दोनों को जीत लेता है ।

करुणा पर विशेष बल

उपासक के लिए बौद्ध धर्म में करुणा या दया पर बहुत जोर दिया गया है । आर्य उपासक को इतना करुणा-शील होना चाहिए कि उसे अपने-पराये का भान तक न रहे ।

करुणा के तीन प्रकार बताये गये हैं—

१. स्वार्थमूला करुणा—जैसे माता की पुत्र के प्रति ।
२. सहैतुकी करुणा—किसी को कष्ट में देखा, हृदय द्रवित हुआ, करुणा-भाव जागा, इस कोटि की ।
३. अहैतुकी करुणा—बिना स्वार्थ, बिना कारण तथा पात्र, अपात्र के भेद के बिना प्राणी मात्र के प्रति होने वाली ।

अहैतुकी करुणा को 'महाकरुणा' कहा जाता है । बौद्ध धर्म के महायान सम्प्रदाय में इसका बहुत विकास हुआ ।

ईसाई धर्म में साधक के वर्ग

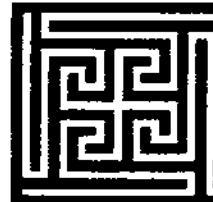
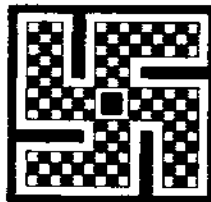
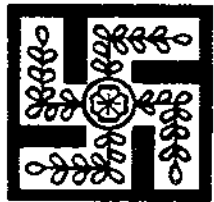
ईसाई धर्म का मुख्य आधार प्रेम व दया है । मुख्यतः वही भगवान की प्राप्ति का माध्यम है । उसी से ईसाई धर्म में सेवा-भाव का विकास हुआ, जिसका संसार में अपना अद्वितीय स्थान है ।

ईसाई धर्म में प्रारम्भ से ही साधकों की दो श्रेणियाँ चली आती हैं । एक वह है, जो धर्म की शिक्षा और प्रेरणा देती है, सांसारिक जीवन से पृथक् रहती है, जिसे भारतीय धर्मों की परिभाषा में संन्यासी या साधु कह सकते हैं । दूसरी श्रेणी जन-साधारण या नागरिक अनुयायियों की है, जो गृहस्थ या पारिवारिक जीवन जीते हैं । त्यागी वर्ग के पुरुष फादर (Fathers) कहे जाते हैं और स्त्रियाँ नन (Nuns) । सादा और सरल जीवन जीते हुए, धर्म-प्रसार करते हुए जन-जन की सेवा में लगे रहना, उस ओर अपने अनुयायियों को प्रेरित करना उनका मुख्य कार्य है । उनके दैनन्दिन जीवन-व्यवहार के सन्दर्भ में अपनी आचार-संहिता है ।

ईसाई-धर्म में मुख्यतः दो सम्प्रदाय हैं—रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टैन्ट । रोमन कैथोलिक प्राचीन है, प्रोटेस्टैन्ट पश्चाद्बर्ती । रोमन कैथोलिक सम्प्रदाय में यह त्यागी वर्ग—फादर्स व नन्स अविवाहित रहते हैं । उनके किसी प्रकार का गृहस्थ-सम्बन्धी लगाव नहीं होता । प्रोटेस्टैन्ट सम्प्रदाय में उन्हें (Fathers, nuns को) विवाह की सुविधा है ।

गृहस्थ अनुयायी

गृहस्थ अनुयायियों के लिए ईसाई धर्म में अध्यात्म-साधना का कोई विशेष सूक्ष्म अभ्यास-क्रम नहीं मिलता । ईश्वर की प्रार्थना में वे विश्वास करते हैं । सप्ताह के सात दिनों में एक-रविवार का दिन इसके लिए विशेषतः निर्धारित है ।



ईसाई धर्म मुख्यतः नीति एवं सद्व्यवहार प्रधान है। ईसा मसीह ने मानव-समाज को विशेषरूप से पाँच आदेश दिये—

(१) पुराने धर्मग्रन्थ में कहा है कि 'किसी की हत्या मत करो' जो आदमी हत्या करता है, वह गुनहगार है। पर, मैं तुमसे कहता हूँ कि जो आदमी अपने भाई पर गुस्सा करता है, वह परमात्मा की नजर में गुनहगार है। प्रार्थना करने से पहले अपने भाई पर मन में जो क्रोध हो, उसे निकाल दो। उससे सुलह करलो।

(२) मैं तुमसे कहता हूँ कि व्यभिचार तो करना ही नहीं चाहिए, किसी स्त्री पर बुरी नजर भी नहीं डालनी चाहिए। किसी पर कुदृष्टि डालने वाला भी ईश्वर के आगे गुनहगार है। जो आदमी पत्नी को तलाक देता है, वह खुद व्यभिचार करता है और पत्नी से भी व्यभिचार कराने का कारण बनता है, जो आदमी उससे विवाह करता है, उसे भी वह गुनहगार बनाता है।

(३) पुराने धर्मग्रन्थ में कहा है कि 'कसम न खाओ किन्तु परमात्मा के आगे अपनी प्रतिज्ञाओं पर डटे रहो।' पर, मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें किसी भी हालत में कसम नहीं खानी चाहिए। किसी के बारे में पूछा जाय तो 'हां' या 'ना' में जवाब देना चाहिए।

(४) पुराने धर्मग्रन्थ में कहा है कि 'आँख के बदले में आँख फोड़ दो, दाँत के बदले दाँत तोड़ दो।' पर मैं तुमसे कहता हूँ कि बुराई का बदला बुराई से मत दो। कोई तुम्हारे दाहिने गाल पर चाँटा मारे, तो तुम बाँया गाल भी उसके सामने कर दो।

(५) पुराने धर्मग्रन्थ में कहा है कि 'केवल अपनी ही जाति के लोगों से प्रेम करो।' पर मैं तुमसे कहता हूँ कि तुम्हें हर आदमी से प्रेम करना चाहिए। जो तुम्हारे दुश्मन हों, उनसे भी प्रेम करना चाहिए। सभी मनुष्य एक ही पिता की सन्तान हैं। सब भाई-भाई हैं।^{१०} सबके साथ तुम्हें प्रेम का व्यवहार करना चाहिए।'

उपर्युक्त विवेचन का सारांश यह है कि ईसाई धर्म के अनुसार गृही साधकों का आदर्श यह हो कि वे सबके साथ मैत्री से रहें, सात्त्विक-दृष्टि हों, वचन के धनी हों, बदले की भावना न रखें, सबसे प्रेम करें।

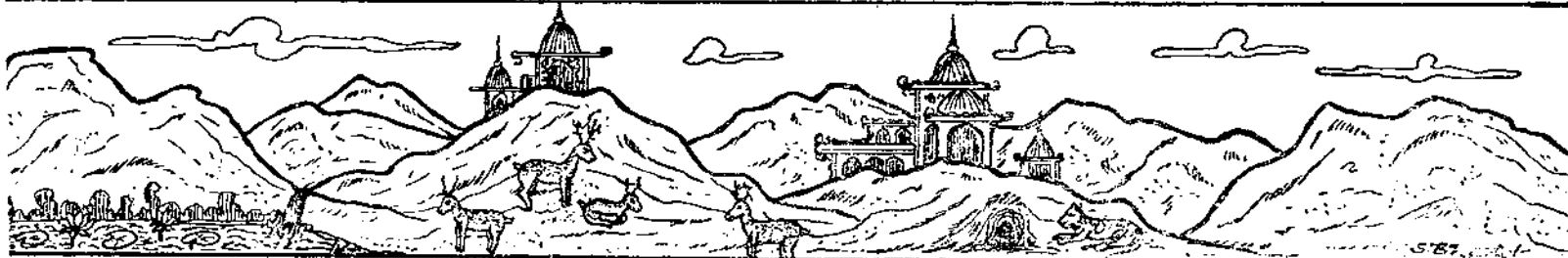
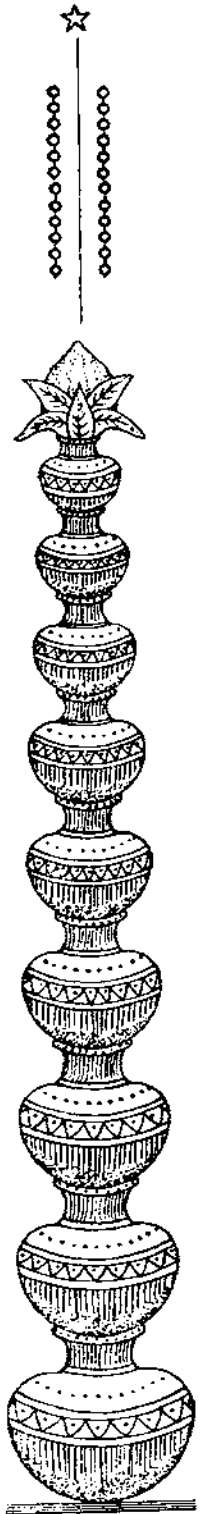
जैसा कि पहले कहा गया है, ईसाई धर्म में सेवा का बड़ा महत्व है। प्रभु की प्रसन्नता का यह मुख्य कारण है। यहाँ तात्त्विक दृष्टि से एक बात विशेष विचारणीय है, ईसाई धर्म के अनुयायियों में सेवा की जो इतनी विराट् भावना पनप सकी, उसका वास्तविक प्रेरक हेतु क्या है? गहराई में जाने से प्रतीत होता है कि सेवा करने वाला ईसाई अपने मन में यह भावना लिये रहता है कि उसकी सेवा के परिणामस्वरूप लाभान्वित व्यक्ति स्वयं उसके धर्म में प्रविष्ट होगा, जो उसके लिए सच्चा धर्म है। एक ईसाई की लोक-सेवा में जो अत्यधिक तन्मयता देखी जाती है, उसके पीछे यही मुख्य तात्त्विक हेतु है। दार्शनिक दृष्टि से यह उपयोगितावादी, दूरदर्शितापूर्ण चिन्तन है, जिसका परिणाम भारत, अफ्रीकन देश आदि विश्व के अनेक भागों में स्पष्ट देखा जा सकता है। ईसाई धर्म के अत्यधिक विस्तार का भी मुख्य कारण इसे ही कहा जा सकता है।

अन्यान्य धर्मों में गृहस्थ की धार्मिक स्थिति

सर्वप्रथम भारतीय धर्मों में सिक्ख धर्म पर कुछ विचार करें। दार्शनिक दृष्टि से इसे हिन्दू धर्म से पृथक् नहीं कहा जा सकता। जिस अकाल पुरुष या निराकार परमात्मा की उपासना का जो स्वरूप सिक्ख धर्म के प्रवर्तक गुरु नानकदेव ने बताया, वह या वैसा—विवेचन-भेद से हमें उपनिषद्-वाङ्मय में प्राप्त होता है। पर, व्यवहारतः धर्मों की गणना में इसे एक स्वतन्त्र धर्म गिना जाता है। गुरुनानकदेव का चिन्तन तात्त्विक दृष्टि से कुछ-कुछ इसी सरणि का था, जैसा कबीर आदि निर्गुणोपासक सन्तों का था। यही कारण है कि गुरु ग्रन्थ साहब में कबीर, रैदास आदि सन्तों की वाणी का भी समावेश है। सन्त मत में जिस प्रकार संन्यास का कोई स्थान नहीं है, सिक्ख धर्म में भी वैसा ही है। गुरु पद पर अधिष्ठित व्यक्ति भी गृहस्थ ही होते रहे हैं।

गुरुनानकदेव ने अपने अनुयायियों को तीन आदेश—आचरण के तीन सूत्र दिये, जो इस प्रकार हैं :—

“(१) नाम जपो, (२) किरत करो और (३) वण्ड के छको। पत्नीने की कमाई मिल बाँटकर खाओ। जो ऐसा करते हैं, उन्हीं को वाह गुरु का, परम प्रभु का प्रसाद मिलता है।”^{११}



भगवत्-नाम-स्मरण, तद्गुणकीर्तन तथा सेवा-भाव का यहाँ स्पष्ट निर्देश है, जो सिक्ख-धर्म के विचारात्मक तथा आचारात्मक पक्ष की मूल भित्ति है।

जरथुश्त्र—पारसी धर्म के लोग ईरान से लगभग बारह शताब्दी पूर्व भारत में आये। उनका भारत-आगमन यहाँ एक ओर व्यावसायिक दृष्टि से था, वहाँ दूसरी ओर अरब द्वारा होने वाले धार्मिक आक्रमणों से बचने के हेतु भी था। ऋग्वेदकालीन वैदिक धर्म की छाप इस धर्म पर है। इस धर्म में, जिस रूप में आज यह प्राप्त है, संन्यासी और गृही के रूप में वर्ग-भेद नहीं है। धार्मिक पूजा-उपासना में मार्ग-दर्शन करने वाला पुरोहित-वर्ग अवश्य है, जिसमें गृहस्थ होते हैं। इनकी हम वैदिक धर्म के ब्राह्मण-पुरोहितों से तुलना कर सकते हैं।

पारसी-धर्म में एक धर्माधारक मानव के जो कर्तव्य बतलाये गये हैं, वे निम्नांकित हैं :—

“सबसे प्रेम करे। सबकी सेवा करे। ईश्वर की पूजा-उपासना करे। देवताओं और सन्तों का आदर करे। सभी सत्कर्मों में मदद करे। उनमें हाथ बँटाये। सभी भले पशुओं की रक्षा करे। उन पर दया करे। दान दे। सब पर कृपा करे। न्याय पर चले। श्रम करे। अपने पैरों पर खड़ा हो। असत् से सदा दूर रहे। बुराइयों को नष्ट करे। ईश्वर पर विश्वास रखकर सत् का सदा समर्थन करते रहने से मनुष्य अपना कर्तव्य पूरा कर सकता है।”^{१२}

इस्लाम धर्म में जो विचार और आचार-कर्म स्वीकृत है, उनके अनुसार शुरू से ही संन्यासी और गृहस्थ जैसा भेद नहीं है। इसके प्रवर्तक हजरत मुहम्मद साहब स्वयं एक गृहस्थ थे। उनके उत्तराधिकारी खलीफा जहाँ धर्म-नायक थे, वहाँ शासक भी थे। वे भी गृहस्थ ही थे।

इस्लाम धर्म में अपने हर अनुयायी या मुसलमान के लिए चार इबादतें आवश्यक बतलाई गई हैं, जो इस प्रकार हैं :—

१. हर रोज फज्र, जुहर, अस्त्र, मगरिब और इंशा—इन पाँच वक्तों पर नमाज कायम करे।
२. रमजान के महीने भर रोजा रखे।
३. अल्लाह की राह में कम से कम ढाई फीसदी खैरात करे, जकात दे।
४. हो सके तो जिन्दगी में एक दफा हज करे, मक्का, खान ए काबा की जियारत करे।^{१३}

आचार-व्यवहार की दृष्टि से सत्य बोलना, मधुर बोलना, किसी की निन्दा नहीं करना, अभिमान नहीं करना, परिश्रम की कमाई खाना, ईमानदारी बरतना, चुगली, चापलूसी नहीं करना, शराब नहीं पीना, ब्याज नहीं लेना, व्यभिचार नहीं करना, कजूसी नहीं करना, किसी का धन नहीं हड़पना आदि के रूप में अनुयायियों को अनेक शिक्षाएँ दी गई हैं।

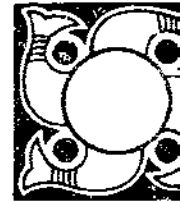
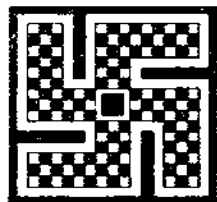
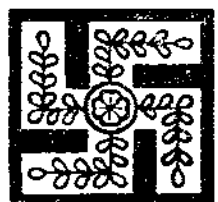
कहने का अभिप्राय यह है कि समाज-संगठन, गृहस्थ-जीवन के सुव्यवस्थित निर्वाह, सामाजिक भाव आदि की दृष्टि से इस्लाम में ये महत्त्वपूर्ण बातें अवश्य हैं, आध्यात्मिक प्रगति, साधना, अभ्यास-क्रम आदि के सन्दर्भ में वहाँ कोई विशेष विश्लेषण प्राप्त नहीं होता।

जैसा कि पहले कहा गया है, इस्लाम धर्म में केवल एक ही गृहस्थों का वर्ग है, वहाँ संन्यास के लिए कोई स्थान नहीं है। इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि जिन्हें यथावत् रूप में इस्लाम के प्रतिनिधि तो नहीं कह सकते पर उसी की उत्तरवर्ती शृंखला में सूफी सन्तों की परम्परा आती है, जो (सूफी सन्त) अद्वैत वेदान्त और इस्लाम का समन्वित आधार लिये हुए वासनात्मक प्रेम को भगवत्प्रेम में रूपान्तरित कर निराकारोपासना का सन्देश दे रहे थे। वे त्यागी फकीरों के रूप में थे। पर, एक धर्म-सम्प्रदाय के रूप में उनका स्थायित्व नहीं बना।

जैन धर्म में गृहस्थ की साधना

जैन धर्म का मुख्य आधार सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चरित्र है। इन्हीं की आराधना मोक्ष का मार्ग^{१४} है। जैन धर्म आचार-पालन के भेद से दो रूपों में विभक्त होता है—महाव्रत एवं अणुव्रत।^{१५}

अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह—ये पाँच व्रत हैं। जब कोई साधक इनका बिना किसी अपवाद के सम्पूर्ण रूप से परिपालन करता है, तब इनके साथ 'महा' विशेषण जुड़ जाता है। इनके सम्पूर्ण निरपवाद स्वीकार की भाषा इस प्रकार बनती है, जैसे—मैं हिंसा नहीं करूँगा, हिंसा नहीं कराऊँगा, हिंसा का अनुमोदन नहीं करूँगा।



फिर मन, वचन तथा काय को जोड़कर प्रत्येक के तीन-तीन भंग बनाये जाते हैं। जैसे—मैं मन से हिंसा नहीं करूँगा, मन से हिंसा नहीं कराऊँगा, मन से हिंसा का अनुभोदन नहीं करूँगा। यही क्रम वचन व काय के साथ जोड़ना होगा। यों नौ भंग या नौ कोटियाँ बनेंगीं, अतः यह (महाव्रत सम्बन्धी) नव कोटि प्रत्याख्यान कहा जाता है।

यह तो एक उदाहरण है, पाँचों महाव्रतों में यही क्रम लागू होता है। इस प्रकार इन पाँचों महाव्रतों को ग्रहण कर उनका यथावत् रूप में जो परिपालन करता है, वह भुनि, साधु या श्रमण कहा जाता है।

ये पाँच व्रत जब परिपालन की क्षमता की अपेक्षा से तरलमतापूर्वक स्वीकार किये जाते हैं अर्थात् विविध अपवादों के साथ ग्रहण किये जाते हैं, तब ये अणुव्रत कहलाते हैं। 'अणु' शब्द यहाँ 'महा' की अपेक्षा छोटे का द्योतक है।

अणुव्रतों की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि

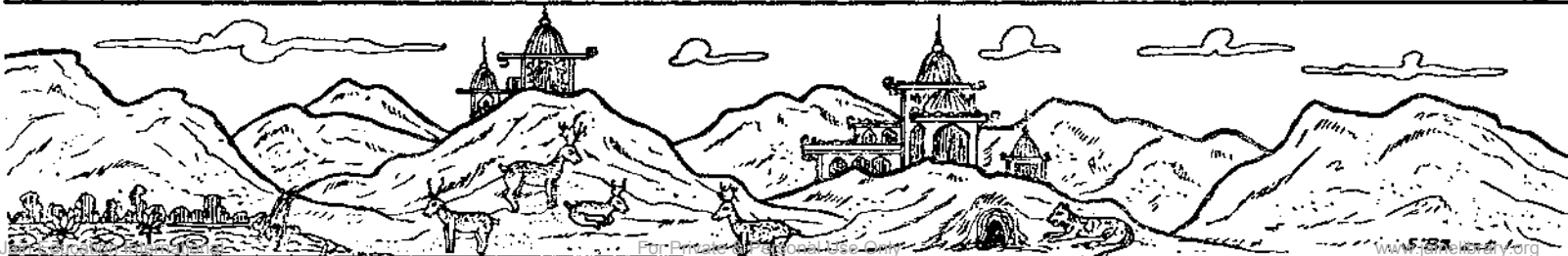
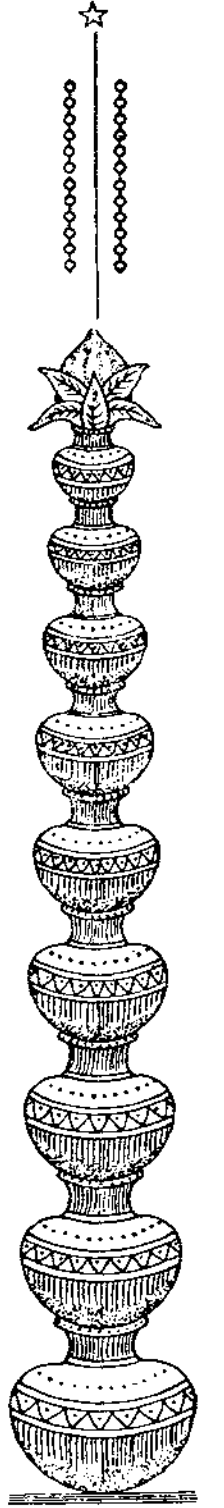
जैन तत्त्व-द्रष्टाओं ने अणुव्रतों की जो संघटना की है, उसके पीछे उनका अत्यन्त सूक्ष्म, वैज्ञानिक चिन्तन है। इस पर हम जरा गहराई से विचार करें। संसार में जितने व्यक्ति हैं, उन सब की रुचि, शक्ति, क्षमता, उत्साह आदि में भिन्नता है। किम मार्ग पर कौन, कितना, किस रूप में चल सकता है, इस बात का निर्णय चलने वाला अपनी शक्ति को तौलकर करता है। उपदेश, प्रेरणा इत्यादि जो भी उसे मिले पर उनका अनुवर्तन या अनुसरण उससे उतना ही सधेगा, जितनी शक्तिमत्ता उसमें है। यही कारण है कि अणुव्रतों के स्वीकार में जो अपवाद सम्बन्धी विकल्प बनते हैं, वे इयत्ता की परिसीमा में नहीं आते। हिंसा या असत्य आदि के वर्जन में उपासक अपनी-अपनी स्थितियों और क्षमताओं के अनुरूप नियम ग्रहण करते हैं। उदाहरणार्थ सौ व्यक्ति सौ प्रकार से त्याग—असत् के ग्रहण का परिसीमन कर सकते हैं। यह सहस्रों से भी अधिक प्रकार के विकल्पों में किया जा सकता है।

इसका दार्शनिक प्रतिफल यह होता है कि एक साधनोन्मुख गृहस्थ यथारुचि, यथाशक्ति अपने को साधना में जोड़ सकता है। फिर ज्यों-ज्यों उसकी अभिरुचि, उत्साह, अध्यवसाय, उद्यम, क्षमता विकसित होती जाती है, त्यों-त्यों वह अपने आपवादािक विकल्पों की सीमा कम करता जाता है। फलतः व्रत का स्वीकार-पक्ष बढ़ता जाता है। यह क्रम अनेक व्यक्तियों में अनेक प्रकार से अनेक रूपों में घटित होता है। सचमुच यह बड़ा वैज्ञानिक क्रम है। इससे साधक को आगे बढ़ने के लिए एक उन्मुक्त, निर्बन्ध एवं निर्द्वन्द्व विशाल राजपथ प्राप्त होता है, जहाँ किसी भी प्रकार का अवरोध आगे नहीं आता।

बहुत अधिक विकल्पों के साथ व्रत विशेष को स्वीकार करते गृही साधक को देख सहसा वह व्यक्ति, जो बहिर्द्रष्टा है, कह सकता है कि यह कैसा त्याग है? पर गहराई में जाने पर स्वतः उसकी समझ में आ जायेगा कि सत् का अल्पतम स्वीकार भी इतनी उन्मुक्त सरणि में है कि वह अल्पतमता घटते-घटते अल्प से आगे बृहत् या महत् तक आ सकती है। अणुव्रतों की इस वैज्ञानिक परम्परा पर जितनी सूक्ष्मता से चाहिए, उतना चिन्तन अभी तक नहीं किया जा सका है। विश्व के प्रमुख धर्मों के आचार एवं साधना-पक्ष के परिप्रेक्ष्य में अणुव्रतों पर विशेष तथा विशद परिशीलन किया जाना चाहिए।

वैदिक धर्म की आश्रम-परम्परा के विवेचन के सन्दर्भ में हमने देखा कि वहाँ एक गृही साधक के लिए जो उपदेश व कार्यक्रम दिया गया है, प्रथमतः तो आचारमूलक है, प्रयामूलक है। जो उसमें साधना व प्रत्याख्यान का पक्ष है, वह सबके लिए समान है। वैयक्तिक भिन्नता, जिसका आधार क्षमता, लगन, अध्यवसाय, पुरुषार्थ आदि हैं, उससे कैसे संगत हो सकेगी? अर्थात् भिन्न-भिन्न योग्यताओं के व्यक्ति उस एक ही सरणि का अवलम्बन कर क्या आगे बढ़ने में विघ्न, अवरोध या बाधा अनुभव नहीं करेंगे? यह बड़ा विवेच्य विषय है।

पीछे सांकेतिक रूप में जिन धर्मों के सम्बन्ध में हमने चर्चा की, उनमें अधिकांश ऐसे हैं, जहाँ संन्यासी और गृही के रूप में विशेष भेद दृष्टिगत नहीं होता। बौद्ध परम्परा पर जरा विचार करें। वहाँ भिक्षु और गृही के रूप में दो वर्गों का अस्तित्व स्पष्ट है। दोनों का गन्तव्य पथ अत्यन्त भिन्न या तरलमतापूर्ण नहीं है। एक गृही उपासक के नियमोपनियम जिस रूप में परिगठित है, उनमें लौकिक जीवन के सम्मार्जन, परिष्कार एवं मुष्टुता का भाव अधिक है, साधना कम। यद्यपि प्रज्ञा-पारमिता आदि के रूप में एक ज्ञानप्रधान उच्च साधना-पक्ष भी आचार-शोभक पक्ष के साथ-साथ विशेषतः स्वीकृत है परन्तु उस पर आरुढ़ होने, उत्तरोत्तर अग्रसर होने के हेतु क्षमतानुरूप ऊर्ध्वगामी वैज्ञानिक मार्ग अप्राप्य है, जिसके अवलम्बन के बिना श्रेयःपरक विकास और प्रगति कैसे सम्भव हो सकती है?



व्रत : क्रियान्विति : अतिचार : स्थिरता

अणुव्रतों के परिचालन में साधक क्रमशः अपनी दुर्बलताओं को जीतता हुआ उस ओर सफलतापूर्वक अग्रसर होता जाए, इस परिप्रेक्ष्य में व्रतों के साथ सम्बद्ध अतिचारों का परिशीलन बहुत उपयोगी है। जो व्रत जिन प्रत्याख्यानात्मक परिसीमाओं पर आधृत हैं, उनके परिपन्थी या प्रतिकूल कार्य, जो उन (व्रतों) पर सीधी चोट करते हैं, अतिचार कहे गये हैं। जैसे अहिंसा-व्रत के अतिचार इस प्रकार हैं :—

“बन्धवधच्छविच्छेदाजतिभारारोपणाऽन्नपाननिरोधाः।”^{१६}

बन्ध, वध, छवि-छेद, अतिभारारोपण तथा अन्न-पान का निरोध—अहिंसा अणुव्रत के ये पाँच अतिचार हैं, जिनका संक्षिप्त विवेचन इस प्रकार है :—

(१) बन्ध—कोई प्राणी अपने अभीप्सित स्थान की ओर जा रहा है, उसे बाँधकर रोक दिया गया। उसकी अभीप्सा पूर्ति में बन्धन आया। यह बन्ध अतिचार है।

(२) वध—वध शब्द यहाँ पारिभाषिक है। वह जान से मारने के अर्थ में नहीं है। डण्डे या कोड़े आदि से पीटने के अर्थ में है।

(३) छवि-छेद—किसी के अंगों को काटकर या नष्ट कर उसे कुरूप बना देना। जैसे किसी का नाक, कान आदि काट देना, चमड़ी को गोदना, छेदना आदि।

(४) अतिभार आरोपण—मनुष्य या पशु पर उसकी शक्ति से अधिक भार लादना, यों उसे दुःखी बनाना इस अतिचार के अन्तर्गत है।

(५) अन्न-पान निरोध—अपने आश्रित या अनाश्रित व्यक्ति के भोजन-पानी में बाधा डालना।

अहिंसा अणुव्रत की तरह सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह अणुव्रत के भी ऐसे ही अतिचार^{१७} हैं, जिनकी उन-उन व्रतों में निहित भावना के प्रतिकूल कार्यों के साथ संलग्नता है। अर्थात् ऐसे निन्द्य कार्य, जो उन-उन व्रतों की पवित्रता को परिम्लान करते हैं, का वहाँ समावेश है। अतिचारों का अनुशीलन हेतु के परिवर्जन और उपादेय के संचयन की अन्तर्वृत्ति को स्थायित्व देने में बहुत सहायक होता है। अतिचारों की परिकल्पना परिहेयतामुखी है। परिहेय कार्यों की परिवर्ज्यता के माध्यम से व्रतों के सत्-स्वरूप में अवस्थित रहने का एक सक्रिय दिशा-बोध इनसे प्राप्त होता है।

गृही साधक जब सायंकाल प्रतिक्रमण करता है, तब इनके सम्बन्ध में आलोचना करता है, ज्ञात-अज्ञात रूप में आचीर्ण दोषों के लिए पश्चात्ताप करता है, जिससे उसकी मनोवृत्तियों व्रत-पालनमुखी सक्रियता तथा स्फूर्ति सजग रहे।

गुणव्रत : सूक्ष्म चिन्तन के परिचालक

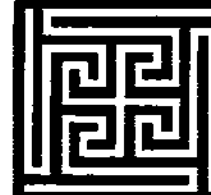
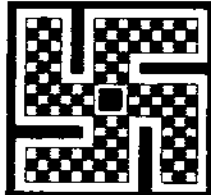
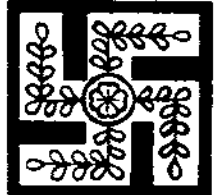
अणुव्रतों के विकास और परिपोषण के लिए जैन गृही की साधना-पद्धति में तीन गुणव्रत स्वीकार किये गये हैं। इसे यों भी समझा जा सकता है कि अणुव्रतों के अनुसरण से जो गुणात्मक निष्पत्ति होती है, इन गुणव्रतों में उसका समावेश है। वे इस प्रकार हैं—

(१) दिशा-विरति

(२) अनर्थ-दण्डविरति

(३) देशावकाशिक।

दिशा-विरति—मानव की क्रिया-प्रक्रिया का मुख्य आधार एषणा या कामना है, इनका जगत जितना विस्तृत होगा, उसी अनुपात पर क्रिया विस्तार मानी जायेगी। एषणा या संयमन-नियमन के आधार पर इस गुणव्रत की सृष्टि हुई है। इसके अनुसार एक अणुव्रती या गृही साधक व्यापार व्यवसाय आदि के क्षेत्र को परिमित करता है। वह स्थानिक या क्षेत्रीय दृष्टि से अपने कार्य को परिसीमित करता है। उसकी विरति की माषा यों बनती है कि वह ऊपर, नीचे तथा चारों ओर की दिशाओं में गमन, आममन एक विशेष परिमाण के अन्तर्गत स्वीकार करेगा। जैसा कि गृही द्वारा व्रत-ग्रहण के क्षमतानुरूप स्वीकार क्रम के विवेचन के प्रसंग में कहा गया है कि वह (गृहस्थ व्रती) व्रत स्वीकार में अपवादों का जिस रूप में ग्रहण करता है, वे भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की अपेक्षा से भिन्न-भिन्न प्रकार के हो सकते हैं, उसी



तरह इस (दिशा विरति या दिग्ब्रत नामक गुणव्रत) में भी सीमाकरण या परिमितीकरण का आधार वैसा ही स्व-स्व-क्षमता आधृत है।

इस गुणव्रत का अभिप्राय यह है कि मानव की विस्तारोन्मुख आकांक्षाएँ एक सीमा, व्यवस्था या नियन्त्रण में आँ। यों यह साधक के संयमात्मक गुण को बढ़ाता है, इसलिए इसका गुणव्रत नाम अम्बर्थक है।

अनर्थ-दण्ड-विरति—दण्ड का अर्थ हिंसा या दूषित आचरण है। कई ऐसे प्रसंग होते हैं कि गृही को अनिवार्य तया हिंसा करनी होती है। यद्यपि हिंसा तो हिंसा ही है, पर वहाँ उस गृही का लक्ष्य हिंसा करना नहीं है, अपना आवश्यक कार्य करना है, जिसके बिना वह नहीं रह सकता। इसलिए इस प्रकार की हिंसा सार्थक कही जाती है। सार्थक से यह न समझ लें कि वह उपयोगी या निर्दोष है। केवल इतना ही समझना होगा कि वाध्यतावश उसे करना होता है, जिसके लिए गृही को किसी अपेक्षा से (गृहस्थ के अनिवार्य कर्तव्य के नाते) क्षम्य माना जा सकता है। फिर कुछ ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो किसी भी अनिवार्य प्रयोजन के बिना हिंसा आदि पाप कार्य करते रहते हैं। ऐसे कार्य अनर्थ-दण्ड के अन्तर्गत आते हैं। जैन शास्त्रों में इसे चार प्रकार का बताया है—(१) अपध्यान—बुरा चिन्तन, (२) प्रमादपूर्ण आचरण, (३) किसी को हिंसा के उपकरण आदि देना, (४) किसी को पाप-कार्य करने का उपदेश देना।

देशावकाशिक—तीसरा गुणव्रत देशावकाशिक नाम से अभिहित हुआ है। इसके पीछे यह भाव है कि जिस देश या स्थान में जाने से गृही साधक या श्रावक का कोई व्रत भंग होता हो या उसमें दूषितता आती हो, उस स्थान में न जाया जाए। अर्थात् श्रावक उधर जाने से निवृत्त होता है।

गुणव्रतों की सरचना से यह स्पष्ट है कि अणुव्रतों के माध्यम से आगे बढ़ता हुआ श्रावक इनके (गुणव्रतों के) द्वारा विशेष स्फूर्ति प्राप्त करता जाता है। कर्म, पद्धति, चिन्तन—इन तीनों का समन्वित स्वीकार गृही की गतिशीलता में एक विशेष प्रेरणा उत्पन्न करता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सोचने पर लगता है कि अणुव्रतों के साथ-साथ गुणव्रतों का परिगठन जैन मनीषियों की सूक्ष्म सूझ का परिचायक है।

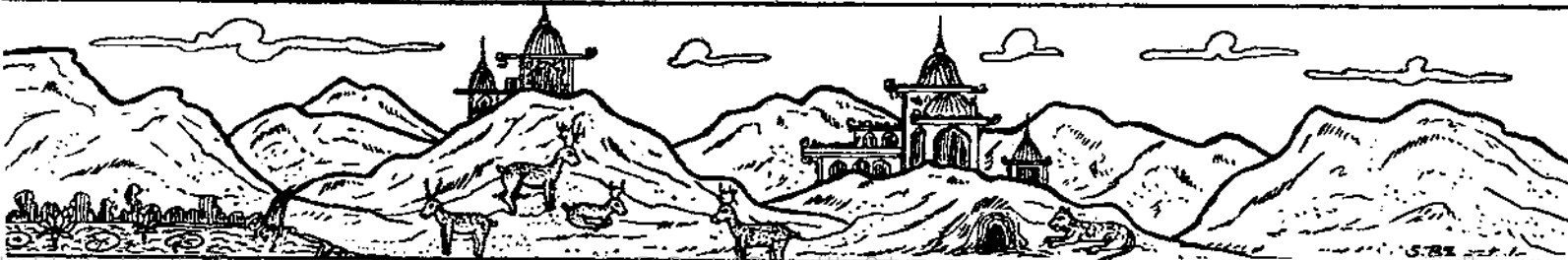
साधना का उत्कर्ष : शिक्षाव्रतों की विशेषता

गुणव्रतों के परचात् शिक्षाव्रतों के नाम से चार व्रत और निर्दिष्ट हुए हैं। वैसे इन्हें शिक्षाव्रत कहे जाने के पीछे संभवतः यह भाव रहा हो कि इनके परिपालन से गृही का व्रताभ्यास बढ़ता जाए। चार शिक्षाव्रत इस प्रकार हैं—(१) भोगोपभोग का परिमाण, (२) सामायिक, (३) पौषधोपवास, तथा (४) अतिथि संविभाग।

भोगोपभोग-परिमाण—भोग ही संसार में वह वस्तु है, जिसका आकर्षण मानव को उसकी आत्म-स्थिति से विचलित कर उसे बहिर्मुख बना देता है। फलतः मानव संग्रह और संचय में जुट जाता है। जहाँ धन का संग्रह ही लक्ष्य हो जाता है, वहाँ औचित्य, अनौचित्य, न्याय, अन्याय, नीति, अनीति आदि का भाव स्वयं अपगत हो जाता है। यह मानव की प्रमत्त या उन्मत्त दशा है, जहाँ विवेक कुण्ठित रहता है। इस वैकारिक विस्तार का मुख्य हेतु भोग-लिप्सा है। एक साधनोन्मुख गृही की लिप्सा मिटनी चाहिए, यह आवश्यक है, यह शिक्षाव्रत इसी विचार-बिन्दु पर आधृत है। इसके अनुसार साधक अपने भोग्य-उपभोग्य पदार्थों का सीमाकरण करता है। इसका एक लक्ष यह भी है कि अपने अन्यान्य कार्यों या व्यवसायों का भी परिसीमन करता है, जिनका भोगपरक अथवा हिंसापरक जीवन से सीधा सम्बन्ध है।

सामायिक—गृही साधक अंशतः व्रत पालन करता है पर, उसका अन्तिम लक्ष्य निरपवाद व्रतमय जीवन का स्वीकार है। सामायिक, अल्पकालिक ही सही, अव्यात्म-अभ्यासक्रम का एक ऐसा दिव्य प्रयोग है, जहाँ साधक भोग एवं हिंसा आदि अकरणीय कार्यों से विरत रहता हुआ आत्म-रस की अनुभूति की ओर अग्रसर होने का प्रयास करता है। अर्थात् कुछ समय (कम से कम एक मुहुर्त) के लिए वह एक साधु का सा जीवन अपनाता है। वहाँ उसके व्रत-स्वीकार की माषा बनती है—मैं सभी सावद्य योग-पापपूर्ण प्रवृत्तियों का प्रत्याख्यान करता हूँ।

सामायिक शिक्षाव्रत संघटना के पीछे गम्भीर तात्त्विक चिन्तन है। थोड़ी देर के लिए ही सही, श्रमण-जीवन की अनुभूति का यह सुन्दर उपक्रम है। यदि इसमें तन्मयता बढ़ती जाय, रसानुभूति होती जाय तो एक दिन ऐसा भी हो सकता है कि वह (साधक) स्वतः समय भौतिक एषणाओं का परित्याग कर सम्पूर्णरूपेण साधना-रत हो जाए।



पौषधोपवास व्रत—इस व्रत का आशय जीवन में तितिक्षा-क्रम को बढ़ाना है। भौगिक जीवन से सम्पूर्ण विरति सध सकने के चरम लक्ष्य की ओर आगे बढ़ने के अभ्यास का यह एक प्रशस्त चरण है। आहार, देह-सज्जा अब्रह्मचर्य तथा आरम्भ-समारम्भ का त्याग—ये इसके अन्तर्गत हैं।

वाह्य पदार्थों के परित्याग के पीछे मुख्य भाव यह है कि व्यक्ति अधिकाधिक आत्मानुगत हो सके। जीवन में 'स्व' और 'पर' इन दो का ही संघर्ष है। मानव जितना परमुखापेक्षी होता है, उतना ही वह 'स्व' से विमुख होता जाता है। साधना की चरम सिद्धि तो वह है, जहाँ 'स्व' के अतिरिक्त समग्र पर-भाव विजय पाले। पर-भाव से क्रमशः हटते जाना, स्व-भाव की ओर बढ़ते जाना—यह एक सरणि है, जिससे साधक अपनी आखिरी मंजिल तक सहजतया पहुँच सकता है। पौषधोपवास व्रत, चाहे अल्पसामयिक ही सही, इस दिशा की ओर एक जीवित अभियान है। इसकी संरचना के पीछे भी एक बहुत ही चिन्तनपूर्ण मनोवैज्ञानिक आधार रहा है। क्योंकि कुछ असाधारण व्यक्तियों की बात और है, साधारण व्यक्ति सहसा किसी परमोच्च ध्येय या स्थान को नहीं पा सकता। उसके लिए क्रमिक विकासमय सोपान-मार्ग चाहिए, जिससे वह अभ्यासनिरत होता हुआ क्रमशः उत्तरोत्तर ऊर्ध्वगामी होता जाए।

अतिथिसंविभाग-व्रत—इस शिक्षा-व्रत में 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना अन्तर्निहित है। अतिथि शब्द के साथ यहाँ संविभाग शब्द का प्रयोग हुआ है, दान का नहीं इसका आशय यह है कि अतिथि का भी एक प्रकार से एक गृहस्थ के यहाँ अपना भाग है, इसलिए गृही उसे जो देता है, उसमें विशेषतः श्रद्धा और आदर का भाव बना रहता है। धार्मिक दृष्टि से यह पुण्यबन्ध का हेतु तो है ही पर वस्तुतः इसका शब्द-चयन बड़ा मनोवैज्ञानिक है। इससे न तो देने वाले में अहंभाव उत्पन्न होता है और न लेने वाले में किसी तरह का हीन भाव। अपरिचित का ससम्मान सहयोग करने की बहुत ही स्वस्थ परम्परा यह है। आश्चर्य है, आध्यात्मिक के साथ-साथ कितनी मनोवैज्ञानिक व सामाजिक सूझ-बूझ इसके संरचयिताओं में थी।

जैन परम्परा की दृष्टि से इस व्रत के अन्तर्गत दो प्रकार के गृहीता आते हैं—(१) श्रमण या भिक्षु, (२) अन्य आगन्तुक, जिनके आने की कोई तिथि या निश्चित समय नहीं अर्थात् वे अपरिचित व्यक्ति, जो चाहे जब आ जाएं, श्रमण तो ठीक हैं पर सामान्य आगन्तुक जनों का सेवा-सत्कार करना भी व्रतात्मक साधना में स्वीकृत किया गया है, यह विशेष महत्त्व की बात है।

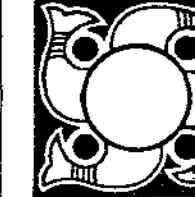
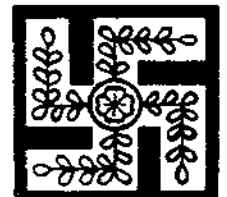
सप्त कुव्यसन : प्रत्याख्यान : आत्म-संयमन

कुत्सित कार्यों से बचाये रखने के लिए जैन-चार्यों ने सात कुव्यसनों के त्याग का विशेष उपदेश किया है। कहा गया है—

जुयं मज्जं मंसं वेसा पारद्विचोर परयारं ।
दुग्गइमणस्सेदाणि हेउभूदाणि पावाणि ॥^{१८}

छूत (जुआ), मदिरा माँस, वेश्या, आखेट, चोरी तथा परस्त्री—इनका सेवन ये सात कुव्यसन हैं। ये दुर्गति-गमन के हेतु हैं।

ऊपर श्रावक के व्रत, आचार आदि का जो विवेचन हुआ है, उसके परिप्रेक्ष्य में यदि इन कुव्यसनों पर दृष्टि-पात करें तो प्रतीत होगा कि उन्हीं का कुछ विशादीकरण, स्पष्टीकरण या विस्तार इनमें है। कुत्सित कार्यों के वर्जन द्वारा सात्त्विक कार्यों के स्वीकार की ओर गृही साधक को प्रवृत्त करने का इनमें एक मनोवैज्ञानिक प्रयत्न दृष्टिगोचर होता है। संक्षेप में कहा जाए तो बात लगभग एक जैसी है पर, ग्राह्यता, अग्राह्यता के आशय से विभिन्न आकर्षक रूपों में उसे प्रकट किया गया है, जो वास्तव में बहुत उपयोगी है। साहित्य में जहाँ पौनःपुन्य अनाहत है, आचार में वह नितान्त उपयोगी है। क्योंकि मनुष्य स्वभावतः सुविधाप्रिय है। जहाँ भी व्रताचरण में उसे कठिनाई लगती है, उसके विचलित होने का भय बना रहता है। बार-बार कहे जाते रहने से वह फिसलन की बेला में जागरूक रह सकता है। और अधिक स्पष्ट शब्दों में कहें तो इसे यों समझा जा सकता है कि साधक को प्रतिक्षण जागरूक तथा व्रत-पालन में सन्नद्ध बनाये रखने के लिए अनेक प्रकार से उसे शिक्षा दी जाती रही है। प्रकार की मित्रता या विविधता से निरूपण या कथन अनाकर्षक नहीं बनता। इसीलिए कहीं मूल गुणों के रूप में, कहीं कुव्यसनों के रूप में, कहीं अतिचारों के रूप में कहीं गुणव्रतों के रूप में, कहीं शिक्षाव्रतों के रूप में श्रावक को उपदिष्ट किया जाता रहा है, जिसका एक ही अभिप्राय



हैं, अपने द्वारा गृहीत अणुव्रत मूलक चारित्र्य-पथ पर वह उत्तरोत्तर गतिशील रहे। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह सब उसके लिए एक सम्बल या पाथेय है, जिनके कारण उसकी गति में अवसन्नता या कुण्ठा नहीं व्यापती।

इस प्रसंग में यह भी ज्ञातव्य है कि श्रावक के लिए प्रतिक्रमण की जो संरचना है, उसका उसके जीवन को अध्यात्म-प्रगति में अग्रसर बनाये रखने में बड़ा महत्त्वपूर्ण स्थान है। आत्म-चिन्तन, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि के संपुटपूर्वक अपने द्वारा ज्ञात-अज्ञात रूप में आचरित पाप-कार्यों के पश्चात्ताप का जो क्रम उसमें है, उपासक को पुनः उधर जाने से रोकने में निश्चय ही बड़ा उत्प्रेरक है तथा उसे आत्म-प्रकर्ष की ओर ले जाने में सहायक।

उपसंहार

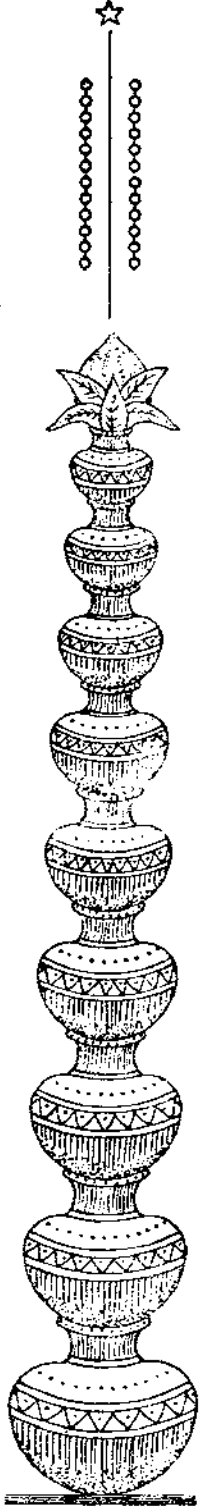
वैदिक बौद्ध, आदि अनेक धर्मों की साधना-पद्धतियों के सन्दर्भ में जैन गृही उपासक की साधना पर अनेक दृष्टियों से प्रस्तुत निबन्ध में विचार उपस्थित किये गये हैं। इस सन्दर्भ में यह कहना अतिरंजित नहीं होगा कि गृही की आचार-संहिता में परिष्कार-संयोजन की दृष्टि से साधना-जगत् में जैन आचार-संघटकों की निःसन्देह यह अप्रतिम देन है।

गृही उपासक की आचार-संघटना में दार्शनिक किंवा सात्त्विक दृष्टिकोण के साथ-साथ मनोवैज्ञानिकता का भी पूरा ध्यान रखा गया है, जिससे वह (आचार-संहिता) केवल आदर्श रूप न रहकर व्यवहार्य हो सके, उपासक के जीवन में क्रमशः संयम की दृष्टि से एक व्यवस्था, नियमानुवर्तिता तथा प्रगतिशीलता आ सके। विकल्प या अपवाद-स्वीकार की अपनी अनुपम सरणि इसका उदाहरण है। वस्तुतः कोई भी दर्शन सही मानने में तभी सार्थक कहा जा सकता है, जब वह अपने अनुयायियों के जीवन में अपना क्रियान्वयन पा सके। वैसे वैदिक ऋषियों, बौद्ध आचार्यों व भिक्षुओं ने भी जीवन-शुद्धि या आत्म-विकास के सन्दर्भ में काफी महत्त्वपूर्ण बातें कही हैं पर, जब हम दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक दृष्टि से तुलनात्मक रूप में विचार करते हैं तो निःसंकोच यह कहा जा सकता है कि इन चिन्तन-धाराओं में गृही की आचार-संहिता के प्रसंग में जैन चिन्तन का अपना एक वैशिष्ट्य है। सिद्धान्त और व्यवहार पूर्व व पश्चिम की तरह विपरीतमुखी न रहकर समन्वय एवं सामंजस्य के सूत्र में पिरोये रहें, इसे आवश्यक मान जैन मनीषियों ने सिद्धान्त-सत्य के साथ-साथ व्यवहार-सत्य या आचार-सत्य का विविध रूपों में तलस्पर्शी प्रतिपादन किया है।

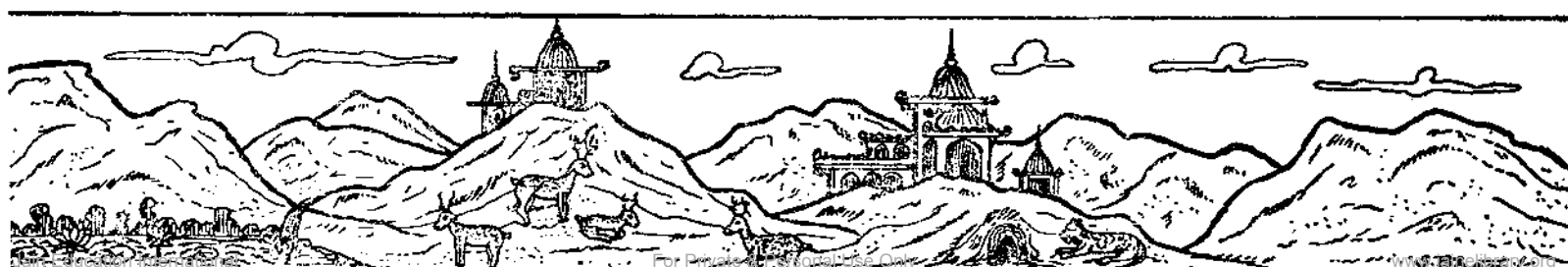
जैनधर्म में स्वीकृत व्रत-संघटना पर और अधिक सूक्ष्मता तथा गम्भीरता से विचार किया जाना अपेक्षित है। क्योंकि वहाँ जिन तथ्यों का स्वीकार है, वे किसी वर्ग-विशेष से सम्बद्ध न होकर विश्व मानवता से सम्बद्ध है। युगीन सन्दर्भ में आज उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विश्वजनीन व्याख्या की जानी चाहिए। यदि समीक्षक विद्वानों एवं बहुश्रुत श्रमणों का इस ओर ध्यान गया तो आशा की जा सकती है कि इस सम्बन्ध में अनेक मनोवैज्ञानिक निष्कर्ष प्रकट होंगे, जो विश्व में संप्रवृत्त आचार परिष्कार तथा जन-जन के आध्यात्मिक जागरण सम्बन्धी अभियानों के लिए बड़े उपयोगी सिद्ध होंगे।

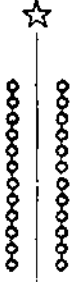
- १ यजुर्वेद ३६, २३।
- २ तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली १, अनुवाक ११
- ३ तैत्तिरीयोपनिषद् वल्ली १, अनुवाक ११
- ४ मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ६८
- ५ मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ६९
- ६ मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ७०
- ७ मनुस्मृति अध्याय ३, श्लोक ६२
- ८ गीता अध्ययन २, श्लोक ४७, ४८
- ९ वैशेषिक दर्शन १. १. २
- १० ईसाई धर्म क्या कहता है ? पृष्ठ २०-२२

- ११ सिक्ख धर्म क्या कहता है ? पृष्ठ १५
- १२ पारसी धर्म क्या कहता है ? पृष्ठ १३
- १३ इस्लाम धर्म क्या कहता है ? पृष्ठ १०
- १४ सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।—तत्त्वार्थसूत्र १.१
- १५ हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्ब्रतम्।
देशसर्वतोऽणुमहती। —तत्त्वार्थसूत्र ७. १, २
- १६ तत्त्वार्थसूत्र ७.२०
- १७ तत्त्वार्थसूत्र ७, २१-२४
- १८ वसुनन्दि-श्रावकाचार ५६



□





जैन आगम एवं ग्रन्थों में
वर्णित संलेखना (मृत्युकला) पर
एक सर्वाङ्गीण अनुचितन ।

□ मालव केशरी मुनि श्री सौभाग्यमल जी
[वयोवृद्ध संत, विद्वान् एवं प्रसिद्ध वक्ता]

संलेखना : एक श्रेष्ठ मृत्युकला

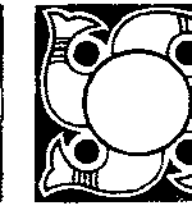
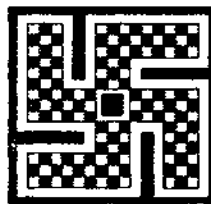
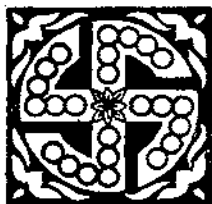
□

जीवन को कैसे जीये, आनन्दपूर्वक कैसे बितायें, इसकी शिक्षा देने वाले सैकड़ों शास्त्र आज हमारे सामने हैं, हजारों युक्तियाँ खोजी गई हैं, लाखों औषधों का अनुसंधान हुआ है और होता ही जा रहा है। मनुष्य सदा-सदा से इस खोज में लगा हुआ है कि वह कैसे आनन्दपूर्वक जिये। इसलिये वह आकाश-पाताल एक करता रहा है, किन्तु जीवन का अन्तिम चरण जहाँ समाप्त होता है। उसके विषय में शायद उसने बहुत ही कम सोचा है। वह चरण है, मृत्यु। मनुष्य ने आनन्दपूर्वक जीने की कला तो सीखी है, लेकिन आनन्दपूर्वक मरने की कला के विषय में वह अनभिज्ञ-सा है। बहुत कम, करोड़ों में एकाध विचारशील ऋषियों ने ही इस विषय पर सोचा है कि जीवन को सुखपूर्वक जीने के बाद प्राणों को सुखपूर्वक कैसे छोड़े? जैसे वचपन, यौवन और बुढ़ापा सुखपूर्वक बीता है, वैसे ही मृत्यु भी सुख एवं आनन्दपूर्वक आनी चाहिए। इस विषय पर सोचना बहुत आवश्यक है, जीवन कला तभी सार्थक है, जब मृत्यु कला सीख ली हो। मनुष्य जीवन भर आनन्द करे, खान-पान में, भोग-विलास में, राग-रंग और हँसी-खुशी में समय बिताये, चिन्ता, शोक, आपत्ति क्या होती हैं? इसका नाम भी न जाने, अर्थात् हर दृष्टि से सुख का अनुभव करे, किन्तु आखिरी समय, जब मृत्यु आ धेरती है, मौत का नगाड़ा बजता है। तब हाथ-पाँव काँपने लगे, अशांति और पीड़ा से व्यथित होकर तड़पता हुआ, विलखता हुआ, सबको धन-वैभव, भाई-बन्धु, पत्नी-पुत्र, मित्र आदि को छोड़कर चला जाय तो यह जीवन की कला, पूर्ण कला नहीं कही जा सकती, क्योंकि मृत्यु का भय और पीड़ा सम्पूर्ण जीवन के आनन्द को, चैन को यों नष्ट कर देता है, जैसे ओलों की वृष्टि का तेज प्रहार अगूरों की लहलहाती वर्षों से देखी-सँभाली खेती को चौपट कर डालता है। मृत्यु समय की व्यथा जीवन के सब आनन्द को मिट्टी में मिला देती है।

इसलिए जीवन कला के साथ-साथ मृत्यु कला भी सीखना जरूरी है। जैसे मोटर गाड़ी का चलाना सीखने वाला उसे रोकना भी सीखता है। यदि किसी को गाड़ी चलाना तो आता हो, मगर रोकना नहीं आता हो तो उस चालक की क्या दशा होगी, चलाने की सब कला उसकी व्यर्थ। इसी प्रकार जीवन कला के साथ मृत्यु कला का सम्बन्ध है। एक कवि ने कहा है—

“जिसे मरना नहीं आया, उसे जीना नहीं आया।”

भारतवर्ष के ऋषियों ने जितना जीवन के विषय में चिन्तन किया है, उतना ही मृत्यु के विषय में भी सोचा है। जीवन कला के साथ-साथ उन्होंने मृत्यु कला पर भी गहरा मनन किया है, और इस रहस्य को प्राप्त कर लिया है कि मृत्यु के समय हम किस प्रकार हँसते हुए शान्ति और कृतकृत्यता का अनुभव करते हुए प्राणों को छोड़ें। देहत्याग के समय हमें कोई मानसिक उद्वेग या चिन्ता न हो। किन्तु जैसे हम अपना पुराना, फटा हुआ वस्त्र उतार कर एक ओर रख देते हैं, उसी प्रकार की अनुभूति देहत्याग के समय रहे। जिस प्रकार पथ पर चलता हुआ यात्री मंजिल पर पहुँचकर विश्रान्ति का अनुभव करता है। उसी प्रकार की शान्ति और विश्रान्ति हमें देहत्याग के समय अनुभव हो। हमारी दृष्टि में शरीर त्याग-वस्त्र परिवर्तन या यात्रा की समाप्ति से अधिक कुछ नहीं है। जीवन की यह दृष्टि की मृत्यु कला है। और इस कला को सिखाने का सबसे अधिक प्रयत्न जैन श्रमण मनीषियों ने किया है, जिसे हम 'संलेखना' या 'मारणांतिक संलेखना' कहते हैं। प्रस्तुत लेख में हम इसी विषय पर शास्त्रीय दृष्टि से चिन्तन करेंगे।



मृत्यु-विज्ञान

मनुष्य ने जीवन को जितनी गहराई से समझने का प्रयत्न किया है, मृत्यु को उतनी गहराई से कभी समझने की चेष्टा नहीं की। मृत्यु के विषय में वह अज्ञान रहा है। मृत्यु क्या है, क्यों आती है आदि प्रश्न ही उसे भयानक लगते हैं। मृत्यु के सम्बन्ध में वह सदा भयभीत रहा है। 'मृत्यु' शब्द ही उसे बहुत अप्रिय लगता है। इसका कारण क्या है? हम जानते हैं कि सूर्योदय के बाद मध्याह्न होगा और फिर संध्या होकर अंधेरा हो जायेगा, सूर्य डूब जायेगा, काली रात्रि आयेगी। यह रोज का अनुभव होते हुए भी यदि हम सूर्यास्त या रात्रि शब्द सुनकर डरें, संध्या के विषय में सोचने से कतरायें या सूर्यास्त शब्द सुनने पर बुरा-भला कहें तो क्या यह हमारी मूर्खता नहीं होगी? सूर्योदय अगर जन्म है तो क्या सूर्यास्त मृत्यु नहीं है? दिन यदि जीवन है तो क्या रात्रि मृत्यु नहीं है? फिर दिन-रात और प्रातः-सायं की तरह जीवन-मृत्यु को एक-दूसरे का पर्याय क्यों नहीं समझते हैं? और यदि समझते हैं तो उससे डरते क्यों हैं?

इस प्रश्न का उत्तर सरल नहीं है। जानते-बूझते भी मनुष्य मृत्यु से डरता है और कहता रहता है—“मरण समं नत्थि भयं” मृत्यु के समान दूसरा कोई भय नहीं है। “भयः सीमा मृत्यु” —सबसे बड़ा और अन्तिम भय है, मृत्यु! एक बार बादशाह ने लुकमान हकीम से कहा—“मैं मोटा होता जा रहा हूँ। दुबला होने की कोई दवा दो।” लुकमान ने कहा—“खाना कम खाइये, घी-दूध, मिठाई छोड़ दीजिए।”

बादशाह ने कहा, “यही सब करना होता तो आपसे दवा क्यों पूछता? ऐसी दवा बताइये कि खाना-पीना भी न छोड़ना पड़े और मुटापा भी कम हो जाए।” दो-चार दिन बाद लुकमान हकीम ने एक दिन बादशाह से कहा—“आप चालीस दिन के भीतर ही मर जायेंगे।” मरने का नाम सुनते ही बादशाह को ऐसी दहशत बँठी कि बस, खाने-पीने में कोई मजा नहीं रहा। मरने के भय से ही सूखने लग गया। चालीस दिन में बादशाह की तौंद छट गई, मुटापा काफी कम हो गया। तब लुकमान ने कहा—“बस, अब नहीं मरेंगे।”

बादशाह ने ऐसा कहने का कारण पूछा तो लुकमान हकीम ने बताया—“दुबला होने की दवा है, भय! भय मनुष्य को कमजोर और जर्जर कर देता है।” भयों में सबसे बड़ा भय है, मृत्यु। भगवान महावीर ने प्राणियों की मनःस्थिति का वर्णन करते हुए कहा है—“असायं अपरिनिव्वाणं महंभयं।” प्राणवध रूप असाता कष्ट ही सब प्राणियों को महाभय रूप लगता है।

साधारणतः मनुष्य किसी दुःख से घबरा कर, व्याकुल होकर, निराश और हताश होकर कह उठता है—“इस जीने से तो मरना अच्छा है।” किसी ने कहा है—“गुजर की जब न हो सूरत गुजर जाना ही अच्छा है।” कभी-कभी जीवन से इतनी निराशा हो जाती है कि भगवान के सामने मौत भी माँगने लगते हैं। “हे भगवान मुझे मौत दे। प्रभो! अब मुझे उठा ले, अब मैं जीना नहीं चाहता। मेरी पत्नी चूहे खा गये क्या?” इस प्रकार की बहकी हुई-सी बातें करने लगते हैं। किन्तु कब तक? जब तक मौत सामने नहीं आये। मौत आने पर तो गिड़गिड़ा कर बचने की ही कोशिश करते हैं।

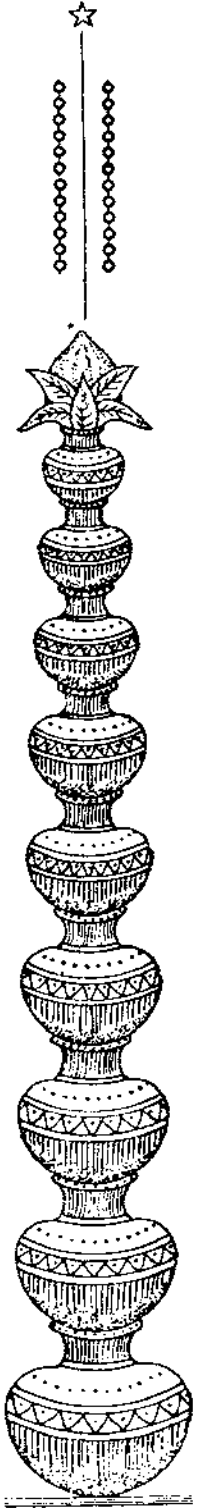
इस सन्दर्भ में एक हृष्टान्त याद आता है। एक दुखियारी बुढ़िया रोज सिर पीटकर कहती थी, “हे परमेश्वर! सब दुनिया को मौत दे रहा है, पर मेरी पत्नी कहाँ भूल गया! मुझे उठा ले! मेरी मौत आ जाए तो अच्छा है।” एक दिन रात को घर में साँप निकल आया। बुढ़िया ने जैसे ही साँप देखा तो “साँप-साँप” कहकर चिल्लाई और बाहर दौड़ी। अड़ोसी-पड़ोसी को बुलाया। सब लोग आये। साँप देखकर एक व्यक्ति ने कहा—“दादी! तू रोज पुकारती थी—परमेश्वर मौत दे दो, आज भगवान ने मौत भेज दी तो तू डर रही है?”

दुःख री दाधी डोकरी कहे परमेश्वर मार।

साँपज कालो निकल्यो, न्हाठी घर सूँ बार ॥

तो क्रोध, भय, गरीबी, बीमारी आदि स्थितियों से घबराकर भले ही कोई मरना चाहे या मरने की इच्छा करे, पर वास्तव में जब मौत विकराल रूप लेकर सामने आती है तब व्यक्ति उससे बचने की चेष्टा करता है और उस दिन हरिण की भाँति बेतहाशा दौड़ता है, जिसके पीछे कोई शिकारी पड़ा हो।

सोचना यह है कि मृत्यु से इतना भय क्यों? मृत्यु क्या है, इस विषय पर विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि जो शरीर इन्द्रियाँ आदि प्राप्त हुए हैं उनका सर्वथा क्षीण हो जाने का नाम ही मृत्यु है। जैन सिद्धान्त में दस



प्राण बताये हैं। आयुष्य, पाँच इन्द्रिय, मन, वचन, काया और स्वासोच्छ्वास-बल-इन दस प्राणों का संयोग जन्म है और इनका वियोग मृत्यु है। जन्म के पश्चात् और मृत्यु के पूर्व प्राणी आयुष्कर्म का प्रतिक्षण भोग करता रहा है। एक प्रकार से वह प्रतिक्षण आयुष्य की डोरी काटता जाता है। अंजलि में भरे हुए पानी की तरह आयुष्य का जल बूंद-बूंद करके प्रतिफल, प्रति समय घटता जाता है। इस समय को हम जीवन कहते हैं। वास्तव में वह जीवन प्राणी की प्रतिक्षण मृत्यु (अविचिमरण) का ही दूसरा नाम है। गीता की भाषा में मृत्यु का अर्थ है, पट-परिवर्तन। कहा है—

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृण्हाति नरोऽपराणि
तथा शरीराणि विहाय जीर्णा-
न्यन्यानि संयाति नवानि देही।^{१२}

अर्थात् जैसे मनुष्य पुराने, फटे हुए वस्त्रों को छोड़कर शरीर पर नये वस्त्र धारण कर लेता है। वैसे ही यह देहधारी जीव पुराने शरीर को छोड़कर नया शरीर धारण करता है। इस कथन से स्पष्ट है कि मृत्यु वस्त्र परिवर्तन की तरह देह-परिवर्तन का नाम है। पुराना वस्त्र छोड़ने पर जैसे शोक नहीं होता, वैसे ही पुराना शरीर त्यागने पर शोक नहीं होना चाहिए, किन्तु व्यवहार में इसके विपरीत ही दीखता है। मृत्यु के नाम से ही हाय-तोबा मच जाती है। इसके तीन कारण हैं—(१) मृत्यु के सम्बन्ध में भ्रान्त धारणा, (२) जीवन के प्रति आसक्ति और (३) भवान्तर में सद्गति योग्य कर्म का अभाव।

मृत्यु प्रतिक्षण हो रही है

यह तो निश्चित है कि जन्म के साथ मृत्यु प्रारम्भ हो जाती है। जैन सूत्रों में पाँच प्रकार के मरण बताये हैं, उनमें प्रथम मरण है—‘आवीचि मरण’। वीचि का अर्थ है, समुद्र की लहर। समुद्र में जैसे एक लहर उठती है, वह आगे चलती है, उसके पीछे दूसरी, फिर तीसरी। यों लहर पर लहर उठती जाती है। और लगातार अनन्त लहरों का नर्तन समुद्र की छाती पर होता रहता है। समुद्र की लहर की भाँति मृत्युरूपी लहर भी निरन्तर एक के पीछे दूसरी आती-जाती है। प्रथम क्षण बीता, दूसरा क्षण प्रारम्भ हुआ। पहले क्षण की समाप्ति जीवन के एकक्षण की समाप्ति—मृत्यु है। वृत्तिकार आचार्य ने ‘आवीचि मरण’ की व्याख्या करते हुए कहा है—

“प्रति समयमनुभूयमानायुषोऽपराऽयुर्दलिको-दयात् पूर्वपूर्वाऽयुर्दलिक विच्युतिलक्षणाः।”^{१३}

अर्थात् प्रत्येक समय अनुभूत होने वाले आयुष्य के पूर्व-पूर्व दलिक का भोग (क्षय) और नये-नये दलिकों का उदय (जन्म) फिर उसका भोग। इस प्रकार प्रतिक्षण आयु दलिक का क्षय होना—आवीचि मरण है।

आचार्य अकलंक ने इसे ही ‘नित्यमरण’ कहा है। आचार्य ने कहा है—मरण के दो भेद हैं। ‘नित्यमरण’ और ‘तद्भव मरण’ प्रतिक्षण आयुष्य आदि का जो क्षय हो रहा है, वह नित्यमरण है तथा प्राप्त शरीर का समूल नाश हो जाना तद्भव मरण है।^{१४}

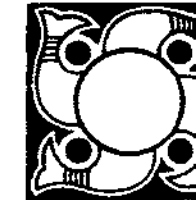
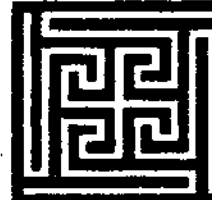
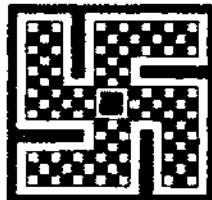
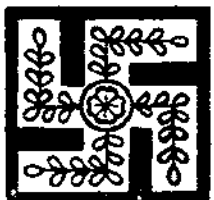
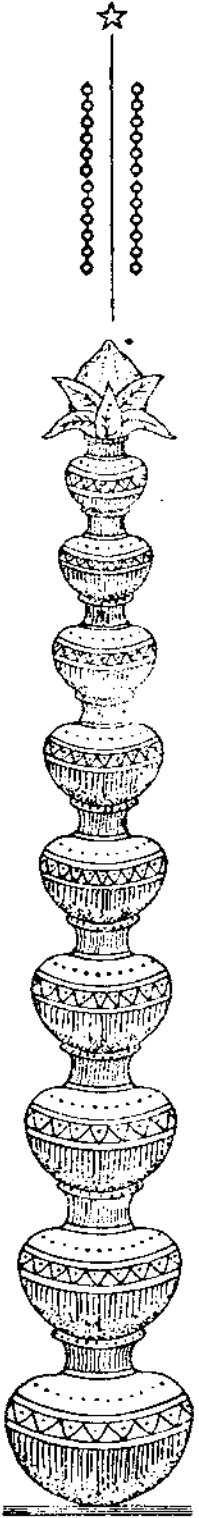
इससे यह स्पष्ट समझना चाहिए कि हम जिसे आयु वृद्धि कहते हैं, वह वास्तव में वृद्धि नहीं, ह्रास है, मृत्यु की ओर बढ़ते हुए कदम का ही नाम अवस्था बढ़ना है। मृत्यु का प्रतिक्षण जीवन में अनुभव हो रहा है, हम प्रति समय मृत्यु की ओर जा रहे हैं, अर्थात् मरण का अनुभव कर रहे हैं। फिर भी हम उससे भयभीत नहीं होते, अतः इसी प्रकार की वृत्ति बनानी चाहिए कि मृत्यु को प्रतिफल देखते हुए भी हम निर्भय बने रहे और यह सोचें कि मृत्यु कोई नई वस्तु नहीं है।

दूसरी बात यह भी समझ लेनी चाहिए कि मृत्यु निश्चित है—

जातस्थहि ध्रुवो मृत्युः^{१५}

अर्थात् जो जन्मा है, वह निश्चित ही मरेगा। भगवान महावीर ने कहा है—

ताले जह बंधणच्छुए एवं आउखयंमि तुट्टइ।^{१६}



जिस प्रकार ताल का फल वृन्त से टूटकर नीचे गिर पड़ता है, उसी प्रकार आयुष्य क्षीण होने पर प्रत्येक प्राणी जीवन से च्युत हो जाता है।

चाहे जितना बड़ा शक्तिशाली समर्थ पुरुष हो, उसे यहीं समझना चाहिए कि—

नाणागमो मच्चमुहस्स अत्थि^०

अर्थात् मृत्यु का अनागम (नहीं आना) नहीं है, अर्थात् मृत्यु अवश्य ही आवेगी। यह अवश्यंभावी योग है, अपरिहार्य स्थिति है। लाख प्रयत्न करने पर भी इससे नहीं बचा जा सकता। अर्थात् प्राणी की एक मजबूरी है कि वह जन्मा है, इसलिए मरना भी होगा, फिर इससे डरना क्यों ?

जिस प्रकार एक जुलाहा (तंतुवाय) वस्त्र बनाना शुरू करता है, ताना-बाना बुनता हुआ वह दस-बीस गज का पट बना लेता है, किन्तु कहाँ तक बनाता जाएगा ? आखिर तो एक स्थिति आवेगी, जहाँ पर ताना-बाना काटकर पट को पूरा करना होगा और थान को समेटना पड़ेगा। जीवन का ताना-बाना भी इसी प्रकार चलता है। काल का जुलाहा इस पट को बुनता जाता है, किन्तु एक स्थिति अवश्य आती है, जब थान को समेटना भी पड़ेगा। थान का समेटना ही एक प्रकार की मृत्यु है। जो सुबह जगा है, उसे रात को सोना भी पड़ता है। यदि नौद न हो तो मनुष्य का क्या हाल हो ? जागरण और शयन का चक्र चलता है, वैसे ही जन्म और मृत्यु का चक्र सतत चलता है, चलता ही रहेगा। इसे कोई टाल नहीं सकेगा।

कल्पसूत्र में वर्णन आता है कि भगवान महावीर से देवराज शक्रेन्द्र ने प्रार्थना की—“भगवन ! आपकी जन्म-राशि पर भस्म ग्रह बैठा है, अतः आप अपना आयुष्य कुछ क्षण के लिए आगे बढ़ा दीजिए।”

भगवान ने कहा, “सक्का ण एवं भूयं वा भविस्सई वा”.....” हे शक्र ! यह न कमी हुआ और न कमी होगा कि अनन्त बली तीर्थङ्कर भी अपने आयुष्य का एक क्षण-भर भी घटा ले या बढ़ा ले।

इससे यह ध्वनित होता है कि मृत्यु को सर्वथा टालना तो दूर रहा, किन्तु उसे हम एक क्षण के लिए भी टालने में समर्थ नहीं हैं। आयुष्य कर्म के दलिक का क्षय होने के बाद एक दलिक भी बढ़ा लेना किसी के सामर्थ्य की बात नहीं है।

मरण-शुद्धि भी करें

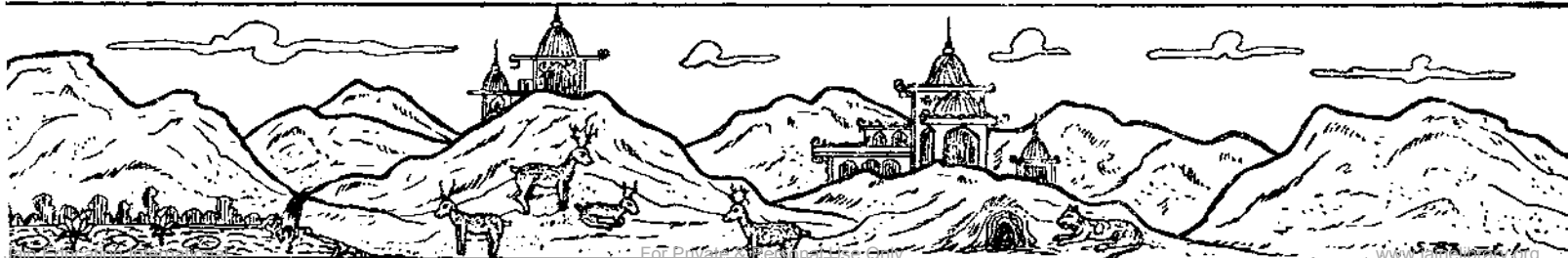
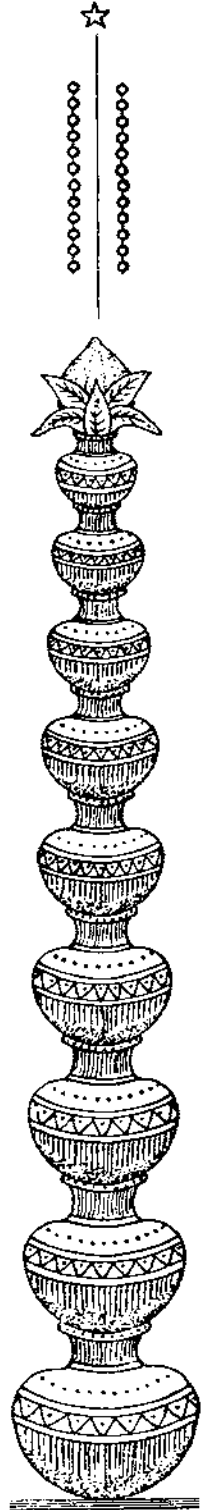
तो मृत्यु का भय दूर करने के लिए पहली बात है—हम उसका यह स्वरूप समझ लें कि वह एक प्रकार से वस्त्र-परिवर्तन की भाँति ही देह-परिवर्तन है—अवश्यंभावी भाव है और प्रतिक्षण मृत्यु की छाया में से गुजर रहे हैं, इसलिए उससे डरने की कोई बात नहीं है।

जैसे सुभट शास्त्रों से सन्नद्ध होकर अपनी सुरक्षा और विजय के सभी साधन जुटाकर यदि युद्ध में जाता है तो वह कभी डरता नहीं, उसका मन प्रफुल्लित रहता है, उत्साहित रहता है कि मेरे पास सब तैयारी है, मैं अवश्य ही विजयी बनूँगा। यात्रा पर जाता हुआ पथिक साथ में पाथेय (नास्ता) लेकर चलता है तो उसे निश्चिन्तता रहती है कि मेरे पास सब साधन है। जहाँ धन की जरूरत होगी, धन है, अन्न की जरूरत होगी तो अन्न है। सब साधनों से सम्पन्न होने पर यात्रा पर प्रस्थान करते समय वह अगली मंजिल के प्रति कभी भयभीत नहीं होता। इसी प्रकार जिस व्यक्ति ने जीवन के सत्कर्म, पुण्य, तप, ध्यान-योग आदि की साधना की हो, उसे परलोक की यात्रा पर प्रस्थान करते समय कभी भी भय व उद्वेग नहीं सताता। वह कहता है—

गहिओ सुग्गइ मग्गो नाहं मरणस्स बीहेमि^०

अर्थात् मैंने सद्गति का मार्ग ग्रहण कर लिया है, जीवन में धर्म की आराधना की है। अब मैं मृत्यु से नहीं डरता। मुझे मृत्यु का कोई भय नहीं है।

वास्तव में जन्म के विषय में हम अपनी ओर से कुछ भी परिवर्तन नहीं कर सकते। स्थान, समय, कुल आदि सब कुछ देवायत्त—भाग्य के अधीन रहते हैं, किन्तु मृत्यु के विषय में यह नियम इतना कठोर नहीं है। जन्म कहीं भी हो, किन्तु जीवन को कैसा बनाना और मृत्यु के लिए कैसी तैयारी करना—यह हमारे पुरुषार्थ पर निर्भर है। हम तप, ध्यान आदि के द्वारा जन्म पर न सही, किन्तु मृत्यु पर अधिकार कर सकते हैं। पुरुषार्थ द्वारा जीवन-शुद्धि,



मरण-शुद्धि भी कर सकते हैं, और जो मृत्यु संसार के लिए शोक का कारण बनती है, वही मृत्यु हमारे लिए महोत्सव बन सकती है।^६

प्रश्न यह है कि हम मरण-शुद्धि किस प्रकार करें, मृत्यु के भय को उल्लास के रूप में किस प्रकार बदलें? बस, यही कला मृत्यु कला है। जीने की कला सीखना आसान है। किन्तु मरने की कला सीखना कठिन है। जैन-शास्त्र मनुष्य को जीने की कला ही नहीं सिखाते, बल्कि मरने की कला भी सिखाते हैं। मृत्यु से अभय होकर मृत्युंजय बनने का मार्ग बताते हैं। इस सम्बन्ध में मरण-विषयक चर्चा पर हमें गम्भीरता से विचार करना है।

मरण के विविध भेद

भगवती सूत्र में एक प्रसंग है। स्कन्दक परिव्राजक ने भगवान् से पूछा—“भगवन्! किस प्रकार का मरण प्राप्त करने से भव परम्परा बढ़ती है और किस प्रकार के मरण से घटती है?”

उत्तर में भगवान् ने मृत्युशास्त्र की काफी विस्तृत व्याख्या स्कन्दक के समक्ष प्रस्तुत की।

भगवान् ने कहा—“बाल-मरण प्राप्त करने से जन्ममरण की परम्परा बढ़ती है और पंडित मरण प्राप्त करने से भव परम्परा का उच्छेद हो जाता है।”^७

उत्तराध्ययन में भी इसी तरह दो प्रकार के मरण की चर्चा है—सकाम मरण और अकाम मरण। यहाँ सकाम का अर्थ है—‘विवेक एवं चारित्र्य युक्त’ तथा—‘सदसद्विवेक विकलतया तेषां अकाम’—विवेक रहित मरण अकाम मरण है। अकाम मरण (बाल मरण) अज्ञानी जीव बार-बार करते रहते हैं, किन्तु सकाम मरण (पंडित मरण) जीवन में एक बार ही होता है।^८

यहाँ पंडित मरण एक बार ही बताया गया है, जिसका अर्थ है—ऐसी मृत्यु जो बस अन्तिम मृत्यु हो, जानी कर्म क्षयकर ऐसी मृत्यु प्राप्त करते हैं कि पुनः मरना ही न पड़े। वास्तव में वही मृत्यु तो महान् मृत्यु है, जिसको स्वीकार कर लेने पर फिर कभी मृत्यु न आये। ‘मरण विमक्ति’ नामक ग्रन्थ में एक जगह कहा है—

‘तं मरणं मरियब्बं जेणमओ मुक्कओ होई।’^९

अर्थात् मरना ही है तो ऐसा मरण करो कि जिससे मरकर सीधे ही मुक्त हो जाएँ। मृत्यु के चक्र से सदा-सदा के लिए छुटकारा हो जाए, ऐसा मरण मरना ही पंडित मरण है।

पंडित मरण की व्याख्या के पूर्व बालमरण का स्वरूप भी समझ लेना चाहिए। स्कन्दक के प्रश्न के उत्तर में भगवान् ने बालमरण के बारह भेद इस प्रकार बताये हैं—

(१) बलन्मरण—सामान्यतः बलन्मरण का अर्थ करते हैं, भूख-व्यास से तड़पते हुए प्राण त्यागना। किन्तु प्राचीन ग्रन्थों में बलन्मरण का अर्थ इस प्रकार बताया है—

संजम जोग विसन्ना मरंति जे तं तु बलायमरणं तु।^{१०}

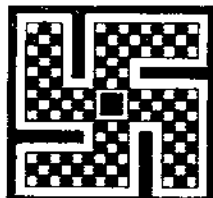
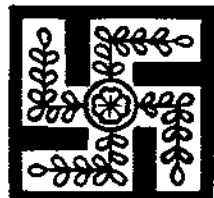
अर्थात् संयम-साधना स्वीकार कर लेने के बाद उसमें मन नहीं रहे, उसकी दुष्करता से घबरा जाए और व्रतों का पालन छोड़ दे, साधु वेश का भी त्याग करना चाहें, किन्तु लोक-लज्जा आदि कारणों से साधु वेश का त्याग न करते हुए उसी रूप में देह त्यागना। इस स्थिति में व्रत का सर्वथा भंग तो हो ही जाता है, किन्तु वेश जहूर रहता है। इसी कारण इसे बलन् मरण-संयम का त्याग करते हुए मरना कहते हैं।

(२) बसट्ट मरण—इन्द्रिय विषयों में आसक्त हुए प्राण त्यागना, जैसे—दीपक की लौ पर गिरकर मरने वाला पतंगा, अपनी प्रियसी आदि के लिए मरने वाले का भी बसट्टमरण समझना चाहिए।

(३) अन्तःशल्य मरण—इसके दो भेद हैं १. द्रव्य अन्तःशल्य मरण—शरीर में बाण आदि घुसने से होने वाली मृत्यु तथा २. भाव अन्तःशल्य मरण-अतिचार आदि की शुद्धि किये बिना मरना।

(४) तद्भव मरण—मनुष्य आदि शरीर को छोड़कर फिर उसी शरीर की प्राप्ति की इच्छा रखते हुए मरना।

(५) निरिपडण—पर्वत आदि से गिर कर मरना।



- (६) तरुपडण—वृक्ष आदि से गिरकर मरना ।
- (७) जलप्यवंस—जल में डूबकर मरना ।
- (८) जलणप्यवंस—ज्वलन, अर्थात् अग्नि में गिरकर मरना ।
- (९) विसभक्खण—जहर आदि मारक पदार्थ खाकर प्राण त्यागना ।
- (१०) सत्थोवाडण—फुरी, तलवार आदि शस्त्र द्वारा प्राण वियोजन होना या करना ।
- (११) बिहाणस—पत्ते में फाँसी लगाकर, वृक्ष आदि की डाल पर लटककर मृत्यु प्राप्त करना ।
- (१२) गिद्ध पविट्टमरण—गृध्र, शृगाल आदि मांसलोलुप जंगली जानवरों द्वारा शरीर का विदारण होना ।

यह बारह प्रकार का बाल मरण है। क्रोध आदि कषाय, भय, वासना तथा निराशा आदि से प्रताड़ित होकर प्राणी जीवन को समाप्त करने पर उतारू हो जाता है। उसमें विवेक ज्ञान की ज्योति लुप्त हो जाती है। हीन भावनाएँ प्रबल रहती हैं, जिनके आवेश में वह शरीर का नाश कर बैठता है। बाल-मरण प्राप्त करने वाला जीव बार-बार जन्म-मरण के चक्र में भटकता रहता है। बाल-मरण एक प्रकार से जीवन की दुर्भाग्यपूर्ण समाप्ति है। अमूल्य जिन्दगी को कौड़ियों के मोल खो देने वाला सौदा है। इसमें प्राणी की मोक्ष कामना सफल नहीं हो पाती, इसीलिए इसे अकाम मरण कहा है। सकाम-मरण के भी दो भेद किये गए हैं—

(१) पंडित मरण, (२) बाल-पंडित मरण। आचार्यों ने बताया है—

अविरय मरणं बाल मरणं विरयाण पंडियं बिति ।

जाणाहि बाल पंडिय-मरणं पुण देसविरयाणं ॥१४

—विषय-वासना में आसक्त अविरत जीवों का मरण 'बाल-मरण' है। विषय-विरक्त संयमी जीवों का मरण 'बाल-पंडित मरण' है। स्थानांग सूत्र^{१४} में तीनों ही प्रकार के मरण के तीन-तीन भेद भी बताये हैं, जिनमें उनकी लेश्याओं की क्रमिक शुद्धि-अशुद्धि को लक्ष्य कर जघन्य-मध्यम-उत्कृष्ट स्थिति दर्शायी गई है।

पंडित मरण और बाल पंडित मरण में मुख्यतः पात्र का भेद है। वैसे तो दोनों ही जीवन की अन्तिम स्थिति में समाधिपूर्वक प्राण त्याग करते हैं, किन्तु 'साधु' का पंडित मरण कहलाता है। जबकि श्रावक का 'बाल-पंडित मरण' इसलिए बाल पंडित मरण का वर्णन स्वतन्त्र रूप से नहीं किया गया है। किन्तु पंडित मरण में ही इसका अंतर्भाव किया गया है।

स्थानांग^{१५} में ही दो प्रकार के प्रशस्त मरण का वर्णन किया है—जहाँ 'पादपीपगमन मरण' और 'भक्त प्रत्याख्यान मरण'—ये दो भेद बताये हैं।

भगवती सूत्र में भी स्कन्दक के सामने इन्हीं दो प्रकार के पंडित मरण की व्याख्या की गई है। किन्तु उत्तराध्ययन की प्राकृत टीका में पंडित मरण के तीन भेद और पाँच भेद बताये हैं। तीन भेद हैं—भक्त परिणना, इगिणि पाओव गमं च तिग्णि मरणाइं^{१६}।

अर्थात्—(१) भक्त परिज्ञा मरण,

(२) इगिणि मरण,

(३) पादपीपगमन मरण ।

इसी टीका में चौथा छद्मस्थ मरण और पांचवां केवल मरण ये दो भेद और कर पाँच भेद भी बताये गए हैं।

पंडित मरण—वास्तव में मरण की कला है। साधक मृत्यु को मित्र मान कर उसके स्वागत की तैयारी करता हुआ अपने जीवन की समीक्षा करता है, अपने आचरण पर स्वयं टिप्पणी लिखता है। एक प्रकार से स्वयं को स्वयं के आइने में देखता है। भूलों पर पश्चात्ताप और आलोचना कर आत्म-विशुद्धि करता है। मन को प्रसन्न और उल्लासमय बनाता है तथा भावी जीवन के प्रति भी अनासक्त होकर निर्भयतापूर्वक मरण का वरण करता है। ज्ञानी व्यक्ति के उदात्त चिन्तन की एक झलक प्राचीन आचार्यों ने स्पष्ट की है—

धीरेणइवि मरियव्वं कापुरसेणावि अवस्स मरियव्वं ।

तम्हा अवस्स मरणे, वरं खु धीरत्तेण मरिउं ॥१५



धीर-वीर की भी मृत्यु निश्चित है और कायर कमजोर की भी। मरना तो अवश्य ही है, फिर कायरता-पूर्वक क्यों मरें? क्यों न साहस के साथ वीर मृत्यु प्राप्त करें। वीर मृत्यु प्राप्त करने का यह संकल्प ही हमें समाधि मरण की ओर ले जाता है। जिसे हम 'पंडित मरण' कह चुके हैं। मरण विमक्ति में बताया है—

सुत्तथ जाण एणं समाहि मरणं तु कायव्वं ।

सूत्र और अर्थ के ज्ञाता मनीषी को तो समाधि मृत्यु प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

पण्डित-मरण के तीन भेद

पंडित-मरण के तीन मुख्य भेद इस प्रकार हैं—

(१) भक्त प्रत्याख्यान मरण—जीवन पर्यन्त (यावज्जीवन) तीन या चार प्रकार के आहार का त्याग कर देह छोड़ना।

(२) इंगिनी मरण—यावज्जीवन चारों आहार का त्याग करने के बाद एक निश्चित सीमा और स्थान पर स्थिर हो जाना, उसी स्थान के भीतर रहते हुए शान्तिपूर्वक देह त्याग करना।

(३) पादपोगमन मरण—इंगिनी मरण में स्थान की सीमा तो बांध दी जाती है, किन्तु शरीर की हलन-चलन क्रिया, हाथ-पैर आदि का हिलाना चालू रहता है, किन्तु पादपोगमन में पादप वृक्ष की भांति निश्चल होकर लेटे रहना होता है। यह परमस्थिर और प्रशन्न दशा है। मृत्यु की आकांक्षा न करते हुए साधक शरीर की समस्त चेष्टाओं को छोड़कर आत्मचिन्तन में निमग्न हो जाता है। ये तीनों ही स्थितियाँ क्रमशः एक-दूसरे से अधिक कठिन और संयम की कठोरतम साधना है। इन उक्त प्रकार की स्थितियों में संसार की वासना और भावना से मुक्त रहकर सिर्फ आत्मदर्शन और आत्मचिन्तन में लीनता प्राप्त की जाती है, अतः ये तीनों ही पंडित मरण या समाधि-मरण कहे जाते हैं।

मरण की इच्छा क्यों?

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि चाहे बाल मरण हो या पंडित मरण, क्या हमें मृत्यु की इच्छा करनी चाहिए। जैसे कुछ लोग या अधिकांश लोग जीने की इच्छा रखते हैं। इससे उनकी जिजीविषा, जीने के प्रति आसक्ति, प्राणों का मोह झलकता है। इसी प्रकार यदि कोई मरने की इच्छा करे तो वह जीवन की अनिच्छा है। और उसमें क्या जीवन के प्रति अनासक्ति और निर्मोह भाव माना जाएगा?

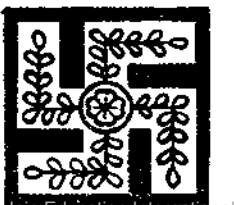
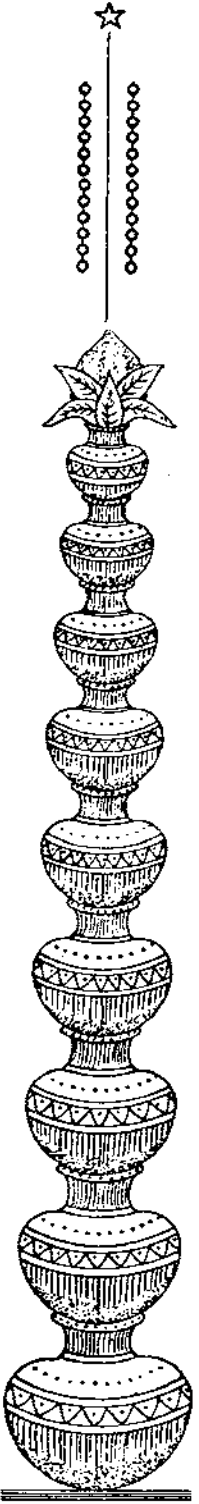
इसका समाधान है कि जैसे जीने की इच्छा प्राणों का मोह है, वैसे मरने की इच्छा भी एक मोह है दुर्बलता है। मृत्यु की अभिलाषा करना भी उतना ही बुरा है, जितना जीने का मोह रखना। मृत्यु की तो इच्छा रखने का सीधा अर्थ है—वह व्यक्ति जीवन से निराश हो चुका होगा। जीवन में असफल होने वाला या हताश होने वाला ही मृत्यु की इच्छा करता है, अन्यथा कौन ऐसा होगा, जो हाथ के लड्डू को छोड़कर कढ़ाई में पड़े लड्डू की इच्छा करे?

भगवान महावीर ने साधक के लिए दोनों ही बातें अचिन्तनीय-अनभिलषणीय बताई हैं—

जीवियं नाभिकखेज्जा मरणं नाभिपत्थए ।

दुहओ वि न सज्जज्जा जीविए मरणे तहा ॥^{१६}

जीवन की आकांक्षा भी नहीं करनी चाहिए और मृत्यु की कामना भी नहीं रखनी चाहिए। जीवन-मरण दोनों ही विकल्पों से मुक्त रहकर अनासक्त भाव से आत्मस्थित रहना चाहिए। जब तक शरीर में प्राण टिके हुए हैं, साधक को आत्मदर्शन में स्थिर रहना चाहिए। यही नहीं कि यहाँ के कष्टों से छुटकारा पाने के लिए और आगे स्वर्ग या निर्वाण के सुखों को शीघ्र प्राप्त करने के लिए जीवन की डोरी को काट दिया जाए। जीवन की डोरी को काटने का प्रयत्न भी एक प्रकार की आत्म-हत्या है। इसमें किसी न किसी प्रकार का लोभ, भय, ग्लानि या निराशा आदि मुख्य रहता है, जबकि साधक को तो इन सब द्वन्द्वों से विमुक्त होकर मन को निर्द्वन्द्व बनाना है। अतः यह तो स्पष्ट स्थिति है कि कषाय विकार, उद्वेग तथा मानसिक दुर्बलता से व्रत हुआ व्यक्ति कभी भी समाधि मरण प्राप्त नहीं कर सकता। समाधि मरण जैसे जीने की इच्छा नहीं है वैसे मरने की भी इच्छा नहीं है। किन्तु मृत्यु के भय से मुक्त



होकर शरीर द्वारा कर्म निर्जरा की एक विशुद्ध भावना है। समाधि मरण के लिये वही प्रस्तुत हो सकता है, जिसके मन में आहार आदि भौतिक सुखों के प्रति सर्वथा अनासक्ति पैदा हो गई हो और जो शरीर को कर्म निर्जरा के युद्ध में लगाकर अधिक से अधिक आत्म विशुद्धि करने के लिए कृतसंकल्प हो।

अनशन (संभारा) या संलेखना कब करना, किस स्थिति में करना, इस सम्बन्ध में भगवान महावीर ने बार-बार चिन्तन स्पष्ट किया है। कहा गया है^{२०}—

“जिस मिथु के मन में यह संकल्प जगे कि अब मैं अपने इस शरीर से अपनी नित्य क्रियाएँ करने में अक्षम हो रहा हूँ, शरीर काफी क्षीण हो चुका है, शक्ति क्षय हो गई है, उठने-बैठने और चलने में मुझे क्लेश का अनुभव हो रहा है। और शरीर धर्म-साधना में जुटे रहने से जवाब देने लगा है। अब इस शरीर को धारण किये रखने का कोई विशेष लाभ नहीं दीखता है और बहुत जल्दी ही इस शरीर से प्राण अलग होने की दशा आ रही है।” तब उसे स्वयं ही शरीर और मन पर नियन्त्रण कर आहार का संवरण (संक्षेप या त्याग) करने की ओर अग्रसर हो जाना चाहिए। मात्र आहार का ही नहीं, कषायों को भी क्षीण करते जाना चाहिए। शान्ति, क्षमा, सहिष्णुता और एकाग्रता का विशेष अभ्यास शुरू कर देना चाहिए। उसे फलगावयट्टी, फलक-काण्ड पट्ट की भाँति स्थिर चेता सहिष्णु और ध्यान योगारूढ़ हो जाना चाहिए।”

यदि हम इस शास्त्र वचन के प्रकाश में चिन्तन करें तो स्पष्ट ही समझने में आयेगा कि इस शब्दावली में कहीं भी मरण की इच्छा नहीं झलक रही है और न जीवन के प्रति निराशा का ही कोई स्वर सुनाई देता है। किन्तु स्पष्टतः साधक की आत्म दृष्टि परिलक्षित होती है। वह आत्म-कल्याण के लिए समुद्यत होने का संकल्प लेकर ही अनशन की ओर प्रवृत्त होता है, तो इस प्रकार के महान संकल्प को, वीरता और साहसपूर्ण चिन्तन को हम कायरता के प्रतीक आत्म-हत्या जैसे लाञ्छित शब्दों के साथ कैसे बोल सकते हैं? आत्म-हत्या हीन मनोवृत्ति है, कायरता है, विलट और आवेशपूर्ण दशा है, जबकि अनशन (संलेखना) जीवन शुद्धि का उच्च संकल्प है। इसमें चित्त प्रशान्त, उद्वेग रहित, अध्यवसाय निर्मल और मन वीरता से परिपूर्ण रहता है।

संलेखना का स्वरूप

संलेखना मन की इसी उच्चतम आध्यात्मिक दशा का सूचक है। संलेखना-मृत्यु का आकस्मिक वरण या मौत का आह्वान नहीं है, किन्तु वह जीवन के अन्तिम पथ पर सावधानीपूर्वक निर्भय होकर चलना है। मृत्यु को सामने खड़ा देखकर साधक उसकी ओर बढ़ता है। पर धीमे कदम से, शान्ति के साथ और उसे मित्र की भाँति पुकारता हुआ। हे काल मित्र! तुम आना चाहते हो तो आओ। इस शरीर को उठाना चाहते हो तो उठा लो, मुझे न तुम्हारा भय है और न शरीर का मोह है। मैं जिस कार्य के लिये इस मनुष्य भव में आया था, उसको पूर्ण करने में सतत संलग्न रहा हूँ। मैंने अपना कर्त्तव्य पूर्ण किया है, मैं कृतकाम हूँ, इसलिए मुझे न मृत्यु का भय है और न जीवन का लोभ है।

लहिओ सुगइ मग्गो नाहं मच्चुस्स बीहेमी।

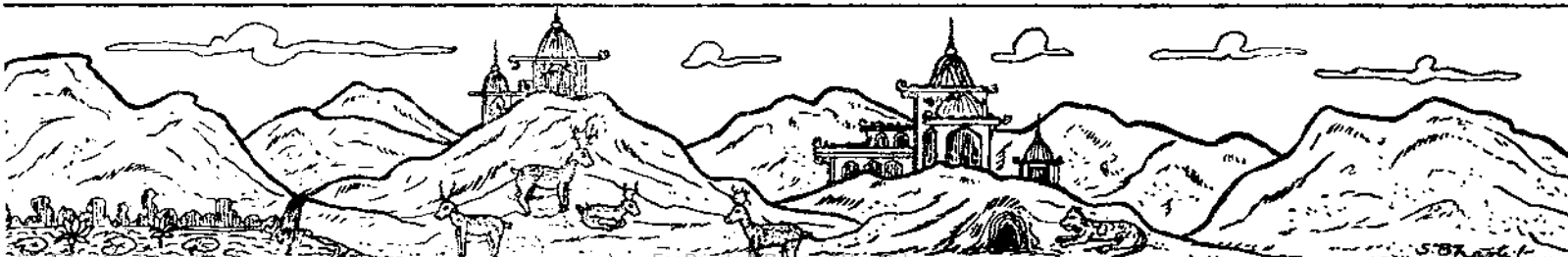
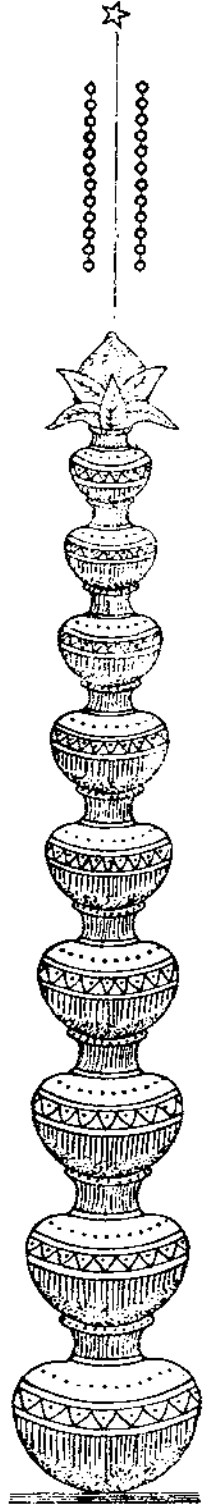
अगले जन्म के लिए भी मैंने सुगति का मार्ग पकड़ लिया है। इसलिए अब मुझे मृत्यु का कोई भय नहीं है, मैं काल से नहीं डरता।

संलेखना का वर्णन आगमों में अनेक प्रकारों में आता है। गृहस्थ साधक श्रावक भी जीवन की कृत-कृत्यता का चिन्तन कर अन्तिम समय में संलेखना करता है और साधु भी करता है। चाहे श्रावक हो या श्रमण, संलेखना प्रत्येक आत्मार्थी के जीवन का अन्तिम व आवश्यक कृत्य है। यह जीवन मन्दिर का कलश है। यदि संलेखना के बिना साधक प्राण-त्याग कर देता है तो उसके लिए एक कमी जैसी मानी जाती है।

प्रश्न होता है कि जीवन मन्दिर के कलश रूप संलेखना का अर्थ क्या है तथा इसे संलेखना क्यों कहा गया है? आगमों के पाठ तथा उन पर आचार्य कृत विवेचन के प्रकाश में देखे तो संलेखना की निम्न परिभाषाएँ प्राप्त होती हैं—

संलिख्यतेऽनया शरीर कषायादि इति संलेखना।^{२१}

—जिस क्रिया के द्वारा शरीर एवं कषाय को दुर्बल व कृश किया जाता है, वह 'संलेखना' है।



कषाय शरीरकृशतायाम् ।^{२२}

—कषाय एवं शरीर को कृश करने के अर्थ में 'संलेखना' शब्द का प्रयोग होता है ।

आगमोक्तविधिना शरीराद्यपकर्षणम् ।^{२३}

—शास्त्र में बताई हुई विधि के अनुसार शरीर एवं कषाय आदि अन्तर वृत्तियों का आकर्षण क्षीण करता ।

आगमप्रसिद्ध चरमानशनविधि क्रियायाम् ।^{२४}

—शास्त्रों में प्रसिद्ध चरम अनशन की विधि को 'संलेखना' के रूप में बताया गया है ।

उक्त परिभाषाओं से दो-तीन प्रश्न समाहित हो जाते हैं ।

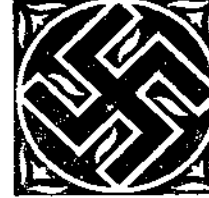
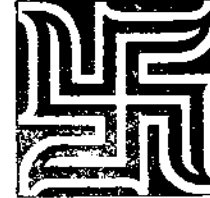
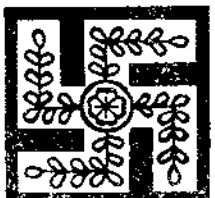
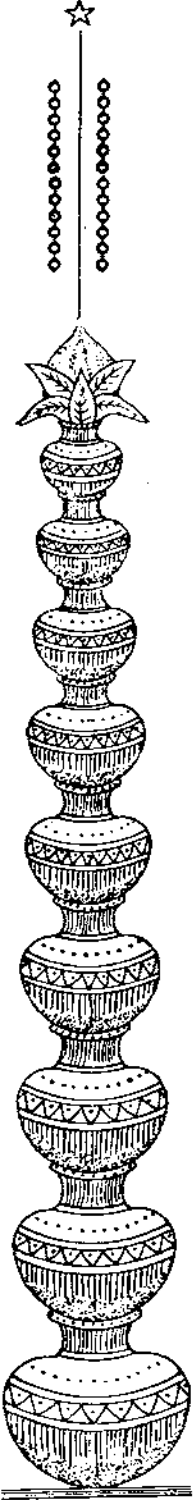
पिछले प्रकरण में पण्डित-मरण के तीन भेदों में प्रथम भेद 'भक्त प्रत्याख्यान' बताया गया है । भक्त प्रत्याख्यान के भी दो भेद हैं—यावत्कथिक और इत्वरिक । यावत्कथिक को मारणान्तिक अनशन भी कहते हैं ।^{२५} इत्वरिक अनशन एक निश्चित समय तक का होता है, जैसे—उपवास, बेला आदि से छह मासी तप तक । इस तप की अवधि पूर्ण होने पर आहार की इच्छा रहती है, इसलिए इसे 'सावकांक्ष' कहा गया है । इत्वरिक अनशन की प्रक्रिया जीवन में बार-बार अपनाई जाती है । अनेक प्रकार की तपोविधियाँ अपनाकर साधक कर्म-निर्जरा करता रहता है । यावत्कथिक तप को 'मारणांतिक तप' इसीलिए कहा गया है कि यह मरण पर्यन्त स्वीकार किया जाता है । इस तप को स्वीकार करने वाला आहार की इच्छा से सर्वथा मुक्त हो जाता है । भोजन पानी की किञ्चिन्मात्र वासना भी उसके मन में नहीं रहती । वह साधक अध्यात्म भाव में इतना गहरा लीन हो जाता है कि आहार के अभाव में भी उसे किसी भी प्रकार की पीड़ा या संक्लेश नहीं होता ।^{२६}

संलेखना के साथ भी आगमों में प्रायः 'मारणांतिक' विशेषण जोड़ा गया है । 'मारणांतिय संलेहण' शब्द स्थान-स्थान पर प्रयुक्त होता है । इससे अन्य तपःकर्म से संलेखना का पार्थक्य और वैशिष्ट्य सूचित होता है । पार्थक्य तो यह है कि यह इत्वरिक तप के अन्तर्गत नहीं आता, इत्वरिक तप का कालमान छह मास तक का है, जबकि संलेखना का उत्कृष्ट काल मान बारह वर्ष का माना गया है । प्रवचन सारोद्धार में कहा है^{२७}—“संलेहणा दुवालस वरित्से”—संलेखना उत्कृष्ट रूप में बारह वर्ष की होती है । उसके तीन भेद भी बड़े मननीय है ।

यावत्कथिक तप में भी संलेखना की गणना नहीं होनी चाहिए, क्योंकि यावत्कथिक का स्वरूप है—जीवन-पर्यन्त आहार आदि की आकांक्षा से विरत हो जाना । संलेखना यद्यपि जीवन के अन्तिम समय में की जाती है, किन्तु मृत्युपर्यन्त आहार का त्याग इसमें नहीं होता । इस क्रिया में विविध प्रकार के तपःकर्म द्वारा शरीर को कृश किया जाता है । बीच-बीच में आहार भी लिया जाता है । हाँ, छहमास से लम्बा उपवास (अनशन) इसमें नहीं है, इसलिए स्वरूप विवक्षा करने पर इत्वरिक तप के अन्तर्गत इसका समावेश हो जाता है । साथ ही कषायों को क्षीण कर क्षमा, सहिष्णुता का अभ्यास किया जाता है तथा आलोचना आदि करके मन को निःशक्त बनाया जाता है ।

संलेखना श्रमण और श्रमणोपासक दोनों के लिए ही विहित और आवश्यक अनुष्ठान है । उपासक दशा के वर्णन से यह मली-भाँति स्पष्ट हो जाता है कि आनन्द कामदेव आदि श्रावकों ने भी बहुत वर्षों तक गृहस्थ जीवन में मृग्य भोग करने के पश्चात् यह संकल्प किया कि “हमने जीवन में समाज, परिवार, राजनीति आदि प्रत्येक क्षेत्र में प्रवृत्ति कर अपना यश, वैभव आदि बढ़ाया है, परिवार व आश्रितों का पालन किया है । किन्तु इस प्रवृत्तिमय जीवन में पूर्ण रूप से आत्मचिन्तन नहीं कर सका । भगवान द्वारा प्ररूपित धर्म प्रज्ञप्ति का पूर्णतः पालन नहीं कर सका । अब मुझे इन सब प्रवृत्तियों से विरक्त होकर भगवद् प्ररूपित धर्म प्रज्ञप्ति को स्वीकार कर विचरना चाहिए ।” यह निश्चय कर वह अपनी पीषधशाला में आता है और आस-पास की भूमि को प्रतिलेखना कर “दग्ध संथारयं संथरइ” धर्म का संथारा विछाता है और धर्म प्रज्ञप्ति अंगीकार कर विविध तपःकार्यों द्वारा उपासक प्रतिमाओं की आराधना द्वारा शरीर को कृश कर डालता है ।

यहाँ यह चिन्तनीय है कि हम जिसे—'संथारा' कहते हैं, वह अनशन का वाचक है, जबकि आगमों में 'संथारा' का अर्थ 'दर्म का बिछौना' के रूप में ही आता है । संलेखना शब्द के विषय में भी सामूहिक प्रयोग हुए हैं । जैसे—मासियाए संलेहणाए अत्ताणं झूसिता सट्ठि भत्ताइ अणसणाए छेदेत्ता ।” यहाँ पर यह चिन्तनीय है कि क्या



मासिक संलेखना और साठ भक्त अनशन दोनों का कालमान अलग-अलग है या एक अनशन के ही वाचक है ? इस पर आगम मर्मज्ञों को विचार करना चाहिए । वास्तव में संलेखना भी जीवन की अन्तिम आराधना ही है, किन्तु वह अनशन की पूर्व भूमिका मानी जानी चाहिए । प्रवचन सारोद्धार की वृत्ति में इसका स्पष्ट संकेत है कि द्वादश वर्षीय उत्कृष्ट संलेखना करके फिर कन्दरा-पर्वत, गुफा आदि में जाकर अथवा किसी भी निर्दोष स्थान पर जाकर पादपोषगमन अनशन करे अथवा भक्त परिजा तथा इंगिनीमरण की आराधना करे ।^{२५} इस वर्णन से तो यही ध्वनित होता है कि संलेखना अनशन की पूर्व भूमिका है, अनशन की तैयारी है । संलेखना करने वाला साधक शरीर को तथा कषाय आदि को इतना कृश कर लेता है कि अनशन की दशा में उसे विशेष प्रकार की क्लामना नहीं होती । शरीर एवं मन को उसके लिए तैयार कर लेता है, कषाय वस्तियाँ अत्यन्त मन्द हो जाती है तथा शरीर बल इतना क्षीण हो जाता है कि अनशन दशा में स्वतः ही स्थिरता की साधना सम्भव हो जाती है । शरीर त्याग हुआ या अकस्मात् करने जैसा नहीं है । शरीर के साथ-साथ आयुष्य कर्म की क्षीणता भी होनी चाहिये । कल्पना करें यदि अनशन कर शरीर को क्षीण करने की प्रक्रिया तो प्रारम्भ कर दी जाए, लेकिन आयुष्य कर्म बलवान हो तो वह अनशनकाल बहुत लम्बा सुदीर्घ हो सकता है अति दीर्घकालीन अनशन में भावों की विशुद्धि, समता तथा मनोबल एक-जैसा बना रहे तो ठीक है, अन्यथा विकट स्थिति भी आ सकती है । इसलिए यावज्जीवन अनशन ग्रहण करने के पूर्व जैसे दीपक के तेल और बाती का एक साथ ही क्षय होने से ही दीपक विलय हो जाता है, उसी प्रकार देह और आयुष्य कर्म का एक साथ क्षय होने से अनशन की स्थिति ठीक से पूर्ण होती है । अनशन से पूर्व संलेखना की आराधना करने का यही हेतु है ।

संलेखना की विधि

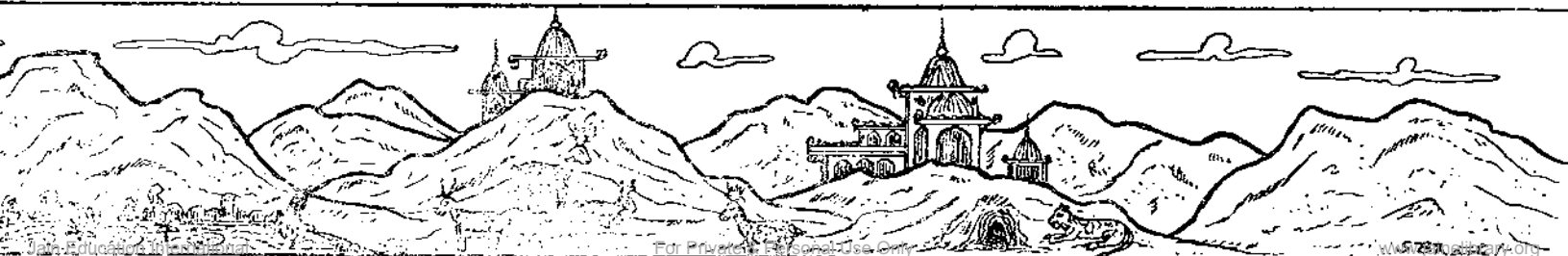
संलेखना की व्याख्या तथा उद्देश्य स्पष्ट होने के बाद हमें उसकी विधि के सम्बन्ध में भी जानना है । जैसा कि पूर्व में उल्लेख किया जा चुका है—“संलेखना दुवालस वरिसे”—संलेखना का उत्कृष्ट काल बारह वर्ष का है । उसके तीन भेद बताये गये हैं—“सा जयन्या मध्यमा उत्कृष्टा च ।”^{२६} जयन्य मध्यम और उत्कृष्ट—ये तीन भेद संलेखना के हैं ।

प्रवचन सारोद्धार में उत्कृष्ट संलेखना का स्वरूप बताते हुए कहा है—

चत्तारि विचिन्ताइ विगइ निज्जूहियाइ चत्तारि ।
संवच्छरे य दोन्नि एगंतरियं च आयामं । ६८२ ।
नाइविगिट्ठो य तवो छम्मास परिमिअं च आयामं ।
अवरे विय छम्मासे होई विगिट्ठं तवो कम्मं । ६८३ ।

प्रथम चार वर्ष तक चतुर्थ-षष्ठ अष्टम आदि तप करता रहे और पारणे में सभी प्रकार के योग्य शूद्र आहार का ग्रहण करे । अगले चार वर्ष में उक्त विधि से विविध और विचित्र प्रकार के तप करता रहे किन्तु पारणे में रस-निर्वृद्ध सविगय का त्याग कर दे । आठ वर्ष तक तपः साधन करने के बाद नौवें दसवें वर्ष में एकान्तर तप (चतुर्थ भक्त) व एकान्तर आयम्बिल करे, अर्थात् एक उपवास, उपवास के पारणे में आयम्बिल, फिर उपवास और फिर पारणे में आयम्बिल । इस प्रकार दस वर्ष तक यह तपः कर्म करे । ग्यारहवें वर्ष के प्रथम छहमास में सिर्फ चतुर्थ व षष्ठ तप करे, इससे अधिक नहीं और पारणे में आयम्बिल करे, किन्तु आयम्बिल ऊनोदरी पूर्वक करे । अगले छह मास में चतुर्थ-षष्ठ से अधिक अष्टम, दशम आदि तप करे और पारणे में आयम्बिल करे, इसमें ऊनोदरी का विधान नहीं है ।

संलेखना के बारहवें वर्ष के सम्बन्ध में आचार्यों के अनेक मत हैं । निशीथ चूर्णिकार का मत है कि “दुवालसयं वरिसं निरन्तरं हायमाणं उसिणोदराण आयम्बिलं करेइ तं कोडीसहियं भवइ जेणयं बिलस्त कोडी कोडीए मिलइ ।” बारहवें वर्ष में निरन्तर उष्ण जल के आगार के साथ हायमान आयम्बिल करे । इससे एक आयम्बिल का अन्तिम क्षण दूसरे आयम्बिल के आदि क्षण से मिल जाता है, जिसे कोडीसहियं आयम्बिल कहते हैं । हायमान का अर्थ निरन्तर घटाते जाना । भोजन व पानी की मात्रा क्रमशः कम करते-करते वर्षान्त में उस स्थिति में पहुँच जाए कि एक दाना अन्न और एक बूँद पानी ग्रहण करने की स्थिति आ जाए । प्रवचनसारोद्धार की वृत्ति में भी इसी क्रम का निदर्शन है ।



द्वादशे वर्षे भोजनं कुर्वन् प्रतिदिनमेकैक कवल-हान्यातावदूनो दरतां करोति यावदेकं कवलमाहारयति ।

बारहें वर्ष में भोजन करते हुए प्रतिदिन एक-एक कवल कम करते जाना चाहिए। यों कम करते-करते, जब एक कवल आहार पर आजाए तब उसमें से एक-एक दाना (कण) कम करना शुरू करे। एक-एक कण (सिक्क्य) प्रतिदिन कम करते-करते अन्तिम चरण में एक ही सिक्क्य-दाना भोजन पर टिक जाए। इस स्थिति में पहुंचने के पश्चात् फिर पादयोगम अथवा इंगिनी मरण आदि अनशन ग्रहण कर समाधि मरण प्राप्त करे।

यह उत्कृष्ट संलेखना विधि है। मध्यम संलेखना बारह मास की और जघन्य संलेखना बारह पक्ष (छह मास) की होती है—“जघन्या च द्वादशभिः पक्षे परिमावनीया ।”

संलेखना में प्रायः तप की विधि ही बताई गई है, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिए कि सिर्फ तप करना ही संलेखना है। तप के साथ कषायों की मंदता और विषयों की निवृत्ति तो मुख्य चीज है ही। उसके अभाव में तो तप ही असार है। फिर भी भावना-विशुद्धि, ध्यान, कायोत्सर्ग आदि का उपक्रम भी चालू रखना होता है। बृहत्कल्प भाष्य में बताया है—साधक रात्रि के पश्चिम प्रहर में धर्म जागरण करता हुआ उत्तम प्रशस्त भावनाओं के प्रवाह में बहता-बहता यह सोचता है—

अणुपालिओ उ दीहो परियाओ वायणा तथा दिण्णा ।

णिण्णफ्फाइया य सीसा मज्झं कि संपयं जुत्तं ॥३७३॥

—मैंने दीर्घकाल तक निर्दोष संयम की परिपालना की है। शिष्यों को वाचना आदि द्वारा शास्त्र ज्ञान भी दिया है। अनेक व्यक्तियों को संयम में प्रेरणा और प्रवर्तन भी किया है। इस प्रकार मैं अपने जीवन में कृतकृत्य हो गया हूँ, अब मुझे अपने लिए क्या करना उपयुक्त है? यह सोचकर वह अपने जीवन को संलेखना की ओर मोड़े—“संलेखण पुरस्सरं मेअ पाराण वा तथ पुंथिव” —इस संलेखना में अनेक प्रकार के विचित्र तपः कर्म के साथ प्रशस्त भावनाओं का अनुचिन्तन करे, अप्रशस्त भावनाओं को छोड़े और अन्तिम आराधना करे “कालं अणवकंखेमाणो ।” —मृत्यु की इच्छा न करता हुआ आत्म शुद्धि के प्रयत्न में संलग्न रहे।

उक्त वर्णन से संलेखना के स्वरूप पर विशुद्ध प्रकाश पड़ता है। संलेखना धीरे-धीरे शान्त भाव से मृत्यु की ओर प्रस्थान है। शरीर और मन को धीरे-धीरे कसा जाता है, और विषय निवृत्ति का अभ्यास बढ़ा दिया जाता है। हठात् किसी दुष्कर काम को हाथ लगाना और फिर बीच में विचलित हो जाना बहुत खतरनाक है। अतः साधक के लिए यह मनोवैज्ञानिक भूमिका है कि वह क्रमशः तप और ध्यान के पथ पर बढ़े, मनोनिग्रह का अभ्यास बढ़ाये और मन को इतना तैयार करले कि अन्तिम स्थिति में पहुँचते-पहुँचते वह परमहंस दशा—जिसे शास्त्रों की भाषा में ‘पादोपगमन अनशन’ कहते हैं कि स्थिति को स्वतः प्राप्त कर ले।

जीवन और मृत्यु से सर्वथा असंलीन होकर शुद्ध चैतन्य दशा में रमण करने लगे। उसका शरीर भी स्वतः ही इस प्रकार की निश्चेष्टता ग्रहण करले कि न हाथ हिलाने का संकल्प हो, न शरीर खुजलाने का। यह परम शान्त और आह्लादमय स्थिति है, जिसमें साधक को आत्मा के मिवाय और कुछ नहीं दीखता है। वह प्राण-धारण किये रहता है। किन्तु फिर भी निश्चेष्ट और निर्विकल्प और अन्त में उस स्थिति में देह त्याग कर वह अपनी मंजिल तक पहुँच जाता है।

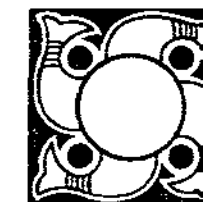
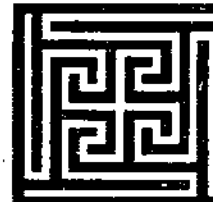
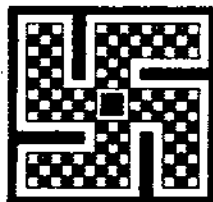
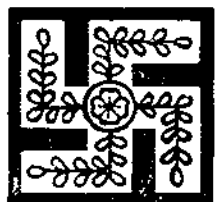
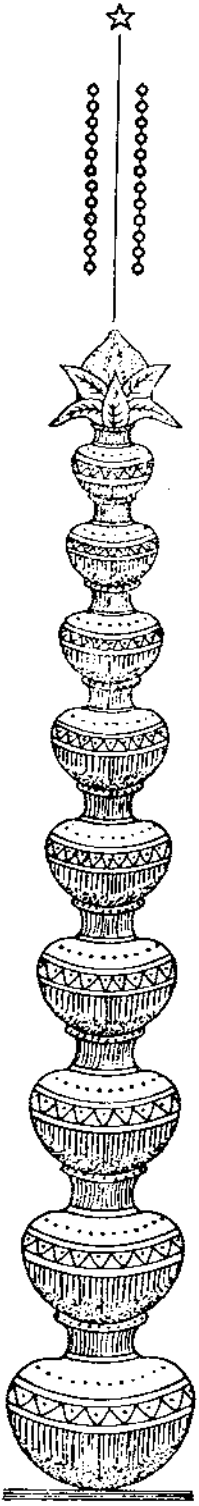
तो संलेखना हमें मृत्यु को जीतने की यह कला सिखाती है। वास्तव में जीवन-शुद्धि और मरण शुद्धि की वह प्रक्रिया है जिसे सामान्य मनोबल वाला साधक भी धीरे-धीरे करता हुआ विशिष्ट मनोबल प्राप्त कर सकता है। संलेखना द्वारा जीवन विशुद्धि करने वाले की मृत्यु, मृत्यु नहीं—समाधि है, परम शान्ति है और सम्पूर्ण व्रत-तप ज्ञान आदि का यही तो फल है कि साधक अन्तिम समय में आत्मदर्शन करता हुआ समाधिपूर्वक प्राण त्यागे।

तप्तस्य तपश्चापि पालितस्य व्रतस्य च ।

पठितस्य श्रुतस्यापि फलं मृत्युः समाधिना ॥

—मृत्यु महोत्सव २३

समाधि मरण की कला पर जैन आगमों में जो विस्तृत विचार किया गया है। उसकी यहाँ एक झलक प्रस्तुत निबन्ध में है। इस पर चिन्तन कर हम मृत्यु की श्रेष्ठ और उत्तम कला सीख सकते हैं और मृत्यु-जय बन सकते हैं।



- १ आचारांग १।४।२
- २ गीता २।१२
- ३ भगवती सूत्र १३।७
- ४ तत्त्वार्थराजवार्तिक २।२२
- ५ गीता २।२७
- ६ सूत्रकृतान्त २।१।३
- ७ आचारांग १।४।२
- ८ आतुर प्रात्याख्यान ६३
- ९ (क) संसारासक्तचित्तानां मृत्युर्भीत्यै भवेन्नुणाम् ।
मोदायते पुनः सोऽपि ज्ञान-वैराग्यवासिनाम् ॥—मृत्यु महोत्सव १७
(ख) संचित तपोधन न नित्यं व्रतनियम संयमरतानाम् ।
उत्सवभूतं मन्ये मरणमनपराधवृत्तीनाम् ॥—वाचक उमास्वाति
(अमिधान राजेन्द्र, भाग ६, पृ० ११७)
- १० भगवती शतक २१, उद्देशक ?
- ११ बालाणं अकामं तु मरणं असह्यं भवे ।
पंडियाणं सकामं तु उक्कोसेण सह्यं भवे ॥ उत्तरा० ५।३-४
- १२ मरण विमक्ति प्रकरण १०।२४५
- १३ भक्त परिज्ञा २१७ (अमि० रा० भाग ६, पृ० ११२७)
- १४ उत्त० पाइय टीका, आ० ५
- १५ स्थानांग ३, पृ० ४
- १६ स्थानांग २।३।४
- १७ भगवती २।१
- १८ उत्त० पाइय टीका, अ० ५, गा० २२५
- १९ आचारांग ८।८।४
- २० जस्सणं भिवखुस्स एवं भवइ, से गिलामि च खुल अहं, इमंसि समये इमं सरीरमं अणुपुब्बेण परिवहित्तए, से अणु
पुब्बेण आहारं संवट्ठिज्जा । कसाये पयणु किच्चा, समाहियच्चे फलगावयट्ठी उट्ठाय भिवखु अमिनिब्बुडे ।
—आचारांग, विमोक्ष अध्ययन उद्दे० ६, सूत्र २२१
- २१ स्थानांग २, उ० २ वृत्ति
- २२ ज्ञाता १।१। वृत्ति
- २३ प्रवचन सारोद्धार १३५
- २४ पंचाशक विवरण १
- २५ इत्तरिय मरण कालाय अणसणा दुविहा भवे ।
इत्तरिया सावकंखा निरवकंखा उ विइज्जिया ॥—उत्तरा० ३० । ६
- २६ जीवियासंस्पओगि वोच्छिदित्ता जीवे आहारमंतरेण न संकिलिस्सेइ ।—उत्तरा० २६।३५
- २७ प्रवचन सारोद्धार १३४ द्वार
- २८ द्वादश वार्षिकीमुत्कृष्टां संलेखनां कृत्वा गिरिकन्दरं गत्वा उपलक्षणमेतद् अन्यदपि षट् कायोपमहं रहितं विविक्तं
स्थानं गत्वा पादपोषणमनं वा शब्दाद् भक्त परिज्ञामिद्धिनी मरणं च प्रपद्यते ।
—प्रवचन० द्वार १३४ (अमि० रा० भाग ६, पृ० २१७)
- २९ व्यवहार भाष्य २०३.



ज्ञान और अनुभव का आलोक स्तम्भ है—उपाध्याय । उपाध्याय पद की गरिमा, उपयोगिता और उसकी विशिष्ट भूमिका का जैन परम्परागत एक सर्वांगीण अवलोकन यहाँ प्रस्तुत किया गया है ।

□ मुनिश्री रूपचन्द्र 'रजत'
[घोर तपस्वी]

जैन परम्परा में उपाध्याय पद

क्रिया और ज्ञान

प्रत्येक धर्म का अन्तिम लक्ष्य मुक्ति है । निर्वाण प्राप्त करना प्रत्येक धर्म-आराधक का लक्ष्य है । अतः कहा है—

निव्वाण सेट्ठा जह सव्वधम्मा¹

सब धर्मों में निर्वाण को श्रेष्ठ माना है । निर्वाण प्राप्ति के साधन या मार्ग की सीमांसा विभिन्न धर्मों में विभिन्न प्रकार से की गई है । कोई धर्म सिर्फ ज्ञान से ही मुक्ति मानते हैं—“सुयंसेय”² श्रुत ही श्रेय है, ज्ञान से ही मुक्ति मिलती है, और कुछ धर्म वाले “शीलं सेयं” शील आचार ही श्रेय है । इस प्रकार एकांत ज्ञान और एकान्त आचार की प्ररूपणा करते हैं । किन्तु जैन धर्म, ज्ञान और क्रिया का रूप स्वीकार करता है । उसका स्पष्ट मत है—

आहंमु विज्जा चरणं पमोक्खो³

विद्या-ज्ञान और चरण-क्रिया के मिलन से ही मुक्ति होती है । न अकेला ज्ञान मुक्ति प्रदाता है और न अकेला आचार । जैन साधक ज्ञान की आराधना करता है और आचार की भी । आचार मूलक ज्ञान से ही निर्वाण की प्राप्ति होती है । सद्ज्ञान पूर्वक किया गया आचरण ही मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करता है । इस कारण जैन शास्त्रों में ज्ञान और आचार पर समान रूप से बल दिया गया है ।

हाँ, यह बात जरूर ध्यान में रखने की है कि ज्ञान प्राप्त करने से पूर्व आचार की शुद्धि अवश्य होनी चाहिए जिसका आचार शुद्ध होता है वही सद्ज्ञान प्राप्त कर सकता है । मनुस्मृति में भी यही बात कही गई है—

आचाराद् विच्युतो विप्रः न वेद फलमश्नुते ।

आचार से भ्रष्ट हुआ ब्राह्मण वेद ज्ञान का फल प्राप्त नहीं कर सकता । आचार्य भद्रबाहु से जब पूछा गया कि अंग शास्त्र जो कि ज्ञान के अक्षय भंडार हैं, उनका सार क्या है ?

अंगाणं कि सारो ? [अंगों का सार क्या है ?]

आयारो ! [आचार, अंग का सार है]

दूसरा भाव है—ज्ञान का सार आचार है, इसलिए ज्ञान प्राप्ति वही कर सकता है जो सदाचारी होगा । भगवान महावीर ने अपने अन्तिम प्रवचन में कहा है—

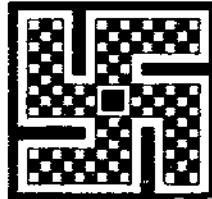
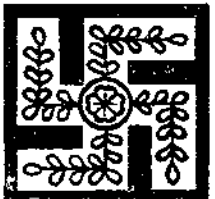
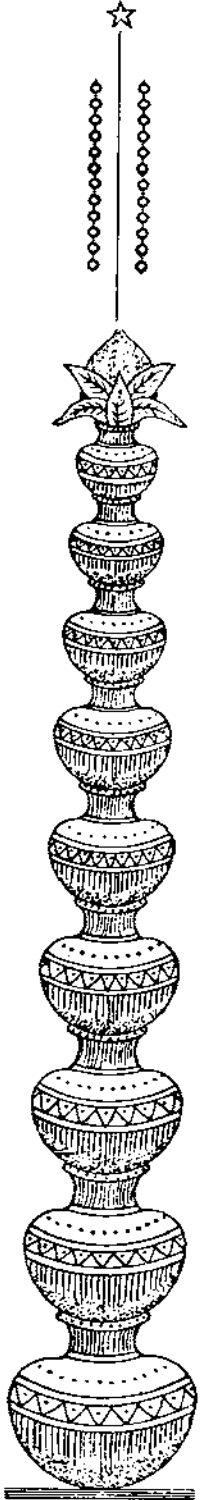
अह पंचहि ठाणेहि जेहि सिक्खा न लब्धई ।

थंभा कोहा पमाएणं रोगेणालस्स एण वा ॥

—उत्त० १११३

जो व्यक्ति क्रोधी, अहंकारी, प्रमादी, रोगी और आलसी है । वह ज्ञान प्राप्त नहीं कर सकता है ।

आचार की विशेषता रखने के लिए ही जैन संघ में पहले आचार्य और फिर उपाध्याय का स्थान बताया



गया है। आचार्य का अर्थ ही है आचार की शिक्षा देने वाले।^४ नव दीक्षित को पहले आचार-सम्पन्न करने के बाद फिर विशेष ज्ञानाभ्यास कराया जाता है इसलिए आचार्य के बाद उपाध्याय का स्थान सूचित किया गया है। आचार-शुद्धि के बाद ज्ञानाभ्यास कर साधक आध्यात्मिक वैभव की प्राप्ति कर लेता है। प्रस्तुत में हम उपाध्याय के अर्थ एवं गुणों पर विचार करते हैं।

उपाध्याय : शब्दार्थ

उपाध्याय का सीधा अर्थ शास्त्र-वाचना या सूत्र अध्ययन से है। उपाध्याय शब्द पर अनेक आचार्यों ने जो विचार-चिन्तन किया है, पहले हम उस पर विचार करेंगे।

मगवती सूत्र में पाँच परमेष्ठी को सर्वप्रथम नमस्कार किया है, वहाँ 'नमो अरिहंताणं, नमो सिद्धाणं, नमो आयरियाणं' इन तीन के बाद 'नमो उवज्जायाणं' पद आया है। इसकी वृत्ति में आवश्यक निर्युक्ति की निम्नगाथा उल्लेखित करते हुए आचार्य ने कहा है—

वारसंगो जिणक्खाओ सज्जाओ कहिओ बुहे।

तं उवइस्संति जम्हा, उवज्जाया तेण वुच्चंति ॥^५

जिन भगवान द्वारा प्ररूपित बारह अंगों का जो उपदेश करते हैं, उन्हें उपाध्याय कहा जाता है। इसी गथा पर टिप्पणी करते हुए आचार्य हरिमद्र ने लिखा है—

उपेत्य अधीयतेऽस्मात् साधवः सूत्रमित्युपाध्यायः।^६

जिनके पास जाकर साधुजन अध्ययन करते हैं, उन्हें उपाध्याय कहते हैं। उपाध्याय में दो शब्द हैं—

उप + अध्याय। 'उप' का अर्थ है—समीप, नजदीक। अध्याय का अर्थ है—अध्ययन, पाठ।

जिनके पास में शास्त्र का स्वाध्याय व पठन किया जाता है वह उपाध्याय है। इसीलिए आचार्य शीलांक ने उपाध्याय को अध्यापक भी बताया है।

‘उपाध्याय अध्यापकः’

—आचारांग शीलांकवृत्ति सूत्र २७६

दिग्म्बर साहित्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ मगवती आराधना की विजयोदया टीका में कहा है—

रत्नत्रयेषूद्यता जिनागमार्थं सम्यगुपदिशंति ये ते उपाध्यायाः।

—म० आ० वि० टीका ४६

—ज्ञान, दर्शन एवं चारित्र्य रूप रत्नत्रय की आराधना में स्वयं निपुण होकर अर्ग्यों को जिनागम का अध्ययन कराने वाले उपाध्याय कहे जाते हैं।

एक प्राचीन आचार्य ने उपाध्याय (उवज्जाय) शब्द की निर्युक्ति करते हुए एक नया ही अर्थ बताया है।

उ त्ति उवगरण 'वे' ति वेयज्जाणस्स होइ निद्वेसे।

एएण हो इ उज्जा एसो अण्णो वि पज्जाओ ॥^७

‘उ’ का अर्थ है—उपयोगपूर्वक।

‘व’ का अर्थ है—ध्यान युक्त होना।

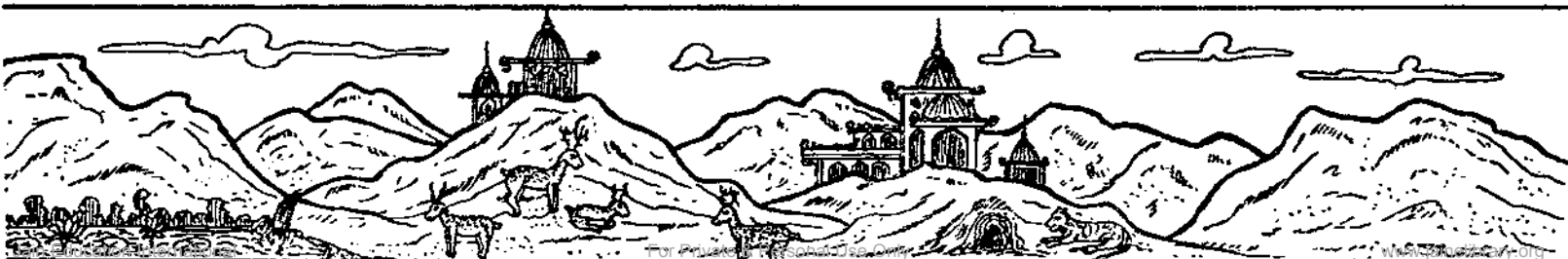
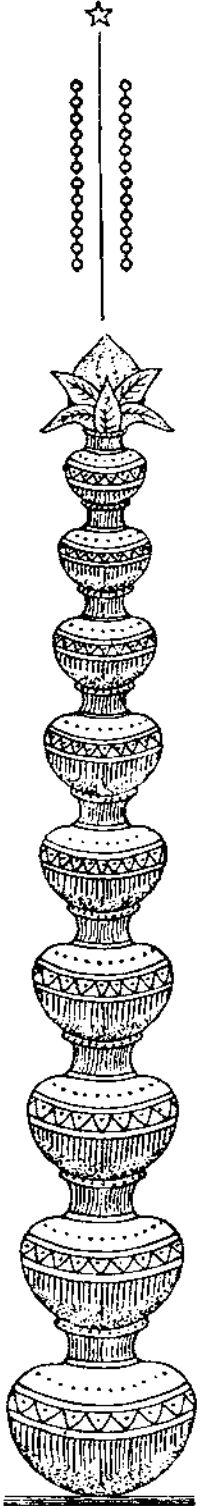
—अर्थात् श्रुत सागर के अवगाहन में सदा उपयोगपूर्वक ध्यान करने वाले 'उज्जा' (उवज्जय) कहलाते हैं।

इस प्रकार अनेक आचार्यों ने उपाध्याय शब्द पर गम्भीर चिन्तन कर अर्थ व्याकृत किया है।

योग्यता व गुण

यह तो हुआ उपाध्याय शब्द का निर्वचन, अर्थ। अब हम उसकी योग्यता व गुणों पर भी विचार करते हैं।

शास्त्र में आचार्य के छत्तीस गुण और उपाध्याय के २५ गुण बताए हैं। उपाध्याय उन गुणों से युक्त होना चाहिए। उपाध्याय पद पर कौन आरूढ़ हो सकता है, उसकी कम से कम क्या योग्यता होनी चाहिए? यह भी एक प्रश्न है। क्योंकि किसी भी पद पर आसीन करने से पहले उस व्यक्ति की शारीरिक, मानसिक एवं शैक्षिक योग्यता को



कसीटी पर कसा जाता है। यदि अयोग्य व्यक्ति किसी पद पर आसीन हो जाता है तो वह अपना तो गौरव घटायेगा ही, किन्तु उस पद का और उस संघ या शासन का भी गौरव मलिन कर देगा। इसलिए जैन मनीषियों ने उपाध्याय पद की योग्यता पर विचार करते हुए कहा है।

कम से कम तीन वर्ष का दीक्षित हो, आचार कल्प (आचारांग व निशीथ) का ज्ञाता हो, आचार में कुशल तथा स्व-समय पर-समय का वेत्ता हो, एवं व्यञ्जनज्ञात (उपस्थ व काँख में रोम आये हुए) हो।^{१५}

दीक्षा और ज्ञान की यह न्यूनतम योग्यता जिस व्यक्ति में नहीं, वह उपाध्याय पद पर आरूढ़ नहीं हो सकता।

पच्चीस-गुण—

इसके बाद २५ गुणों से युक्त होना आवश्यक है। पच्चीस गुणों की गणना में दो प्रकार की पद्धति मिलती है। एक पद्धति में पच्चीस गुण इस प्रकार हैं—११ अंग, १२ उपांग, १ करणगुण १ चरण गुण सम्पन्न—=२५।^{१६}

दूसरी गणना के अनुसार २५ गुण निम्न हैं—

- १२, द्वादशांगी का वेत्ता—आचारांग आदि १२ अंगों का पूरा रहस्यवेत्ता हो।
- १३, करण गुण सम्पन्न—पिण्ड विशुद्धि—आदि के सत्तरकरण गुणों से युक्त हो।
- १४, चरणगुण सम्पन्न—५ महाव्रत श्रमण धर्म आदि सत्तरचरण गुणों से सम्पन्न हो।
- १५-२२, आठ प्रकार की प्रभावना के प्रभावक गुण से युक्त हो।
- २३, मन योग को वश में करने वाले।
- २४, वचन योग को वश में करने वाले।
- २५, काययोग को वश में करने वाले।^{१७}

बारह अंग

- | | |
|-----------------------|--------------------|
| १. आचारांग | २. सूत्रकृतांग |
| ३. स्थानांग | ४. समवायांग |
| ५. व्याख्याप्रज्ञप्ति | ६. ज्ञाता धर्मकथा |
| ७. उपासक दशा | ८. अन्तगड दशा |
| ९. अणुत्तरोववाइय दशा | १०. प्रश्न व्याकरण |
| ११. विपाकश्रुत | १२. दृष्टिवाद |

उपाध्याय इन बारह अंगों का जानकार होना चाहिए।

करण-सत्तरी

१३—करण सत्तरी—करण का अर्थ है—आवश्यकता उपस्थित होने पर जिस आचार का पालन किया जाता हो वह आचार विषयक नियम। इसके सत्तर बोल निम्न हैं—

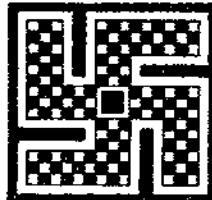
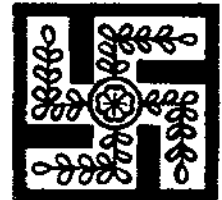
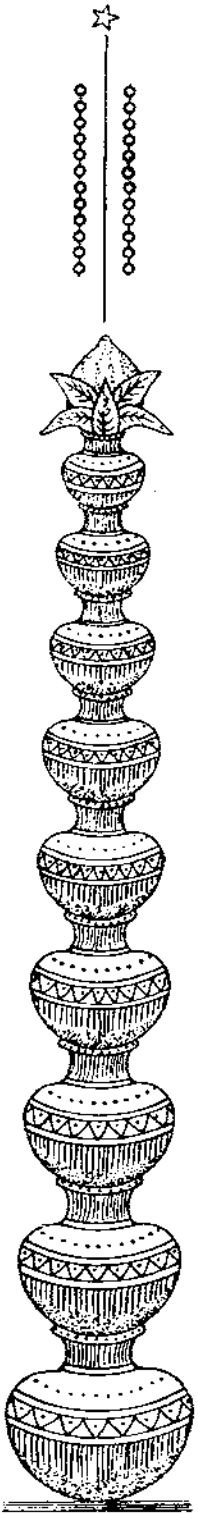
पिण्ड विसोही समिद्ध भावण पडिमा य इंदिय निरोहो,
पडिलेहण गुत्तीओ अभिगहा चैव करणं तु।^{१८}

४ चार प्रकार की पिण्ड विशुद्धि—

(१) शुद्ध आहार, (२) शुद्ध पात्र, (३) शुद्ध वस्त्र, (४) शुद्ध शय्या। इनकी शुद्धि का विचार ४२ दोषों का वर्जन।

५-९, इर्यासमिति, भाषा समिति, एषणा समिति, आदान भांडमात्र निक्षेपणा समिति, उच्चार प्रस्रवण समिति। इन पाँच समिति का पालन करना।

१०-२१, अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अत्यत्व, अशीच, आस्रव, संवर, निर्जरा, धर्म, लोक, वीधिदुर्लभ। इन बारह भावनाओं का अनुचिन्तन करना।



२२-३३, बारह भिक्षु प्रतिमाएँ निम्न हैं^{१२}—

- १—मासिकी भिक्षु प्रतिमा
- २—द्वि मासिकी भिक्षु प्रतिमा
- इसी प्रकार सातवीं सप्त मासिकी भिक्षु प्रतिमा
८. प्रथमा सप्त रात्रि दिवा भिक्षु प्रतिमा
९. द्वितीया सप्त रात्रि दिवा भिक्षु प्रतिमा
१०. तृतीया सप्त रात्रि दिवा भिक्षु प्रतिमा
११. अहो रात्रि की भिक्षु प्रतिमा
१२. एक रात्रि की भिक्षु प्रतिमा

३४-५८, पचीस प्रकार की प्रति लेखना, ६ वस्त्र प्रतिलेखना, ६ अप्रमाद प्रतिलेखना, १३ प्रमाद प्रतिलेखना ये पच्चीस भेद प्रतिलेखना के हैं।^{१३}

५९-६३, पाँच इन्द्रियों का निग्रह ।

६४-६६, मन, वचन, काय गुप्ति ।

६७-७०, द्रव्य क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार अभिग्रह करना । ये सत्तर भेद हैं करण गुण के जिसे 'करण सत्तरी' कहते हैं ।

चरण-सत्तरी

चरण-सत्तरी के सत्तर बोल निम्न हैं—

वय समण धम्मं संजम वेयावच्चं च बंभगुत्तीओ ।

नाणाइतियं तव कोह निग्गहा इह चरणमेयं ॥

—धर्मसंग्रह ३

चरण गुण का अर्थ है, निरन्तर प्रतिदिन और प्रति समय पालन करने योग्य गुण । साधु का सतत पालन करने वाला आचार है । इसके सत्तर भेद हैं—

१-५ अहिंसा आदि पाँच महाव्रत,

६-१५, दस प्रकार का श्रमण धर्म—

क्षमा, निर्लोभता, सरलता, मृदुता, लाघव, सत्य, संयम, त्याग, ब्रह्मचर्य श्रमण धर्म के ये दस प्रकार हैं।^{१४}

१६-३२, सत्रह प्रकार का संयम इस प्रकार।^{१५}

(१-५) पृथ्वी, अप, तेजस्, वायु, वनस्पतिकाय संयम

(६-९) द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय, चतुरिन्द्रिय, पंचेन्द्रिय संयम

(१०) अजीवकाय संयम, वस्त्र-पात्र आदि निर्जीव वस्तुओं पर भी ममत्व न करना, उनका संग्रह न करना ।

(११) प्रेक्षा-संयम—प्रत्येक वस्तु को अच्छी तरह देखे बिना काम में न लेना ।

(१२) उपेक्षा-संयम—पाप कार्य करने वालों पर उपेक्षा भाव रखे, द्वेष न करे ।

(१३) प्रमार्जना संयम—अन्धकार पूर्ण स्थान पर बिना पूजे गति स्थिति न करना ।

(१४) परिष्ठापना संयम—परठने योग्य वस्तु निर्दोष स्थान पर परठे ।

(१५) मन संयम ।

(१६) वचन संयम ।

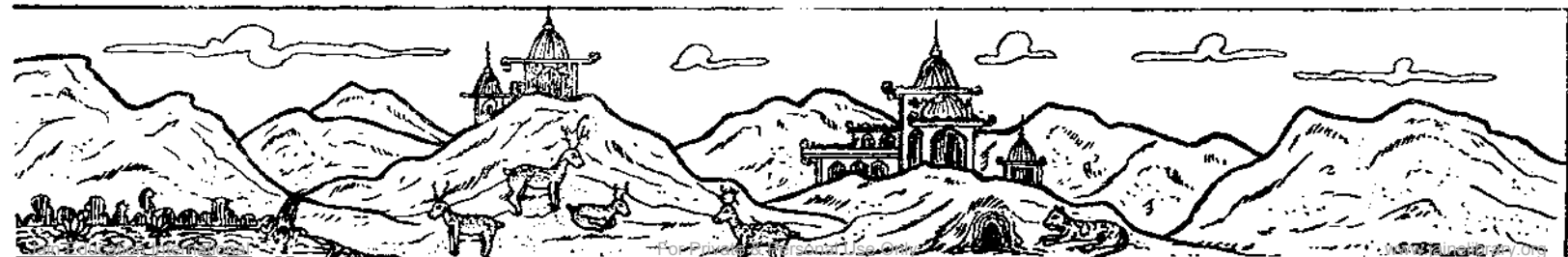
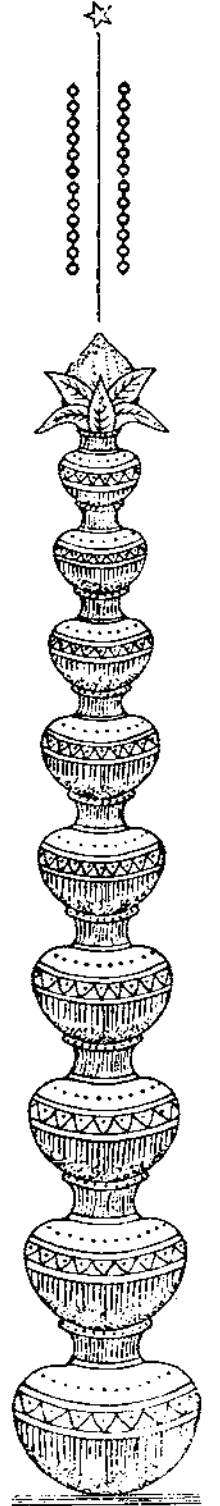
(१७) काय संयम ।

३३-४२, दस प्रकार की वैयावृत्य करना।^{१६} आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, तपस्वी, रोगी, नवदीक्षित, कुल, गण, संघ और साधर्मिक की सेवा करना ।

४३-५१, ब्रह्मचर्य की नव गुप्तियों का पालन करना।^{१७}

(१) शुद्ध स्थान सेवन

(२) स्त्री-कथा वर्जन



- | | |
|---------------------|--------------------|
| (३) एकासन त्याग | (४) दर्शन-निषेध |
| (५) श्रवण-निषेध | (६) स्मरण-वर्जन |
| (७) सरस-आहार त्याग | (८) अति-आहार त्याग |
| (९) विभूषा-परित्याग | |

५२-५४, ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य की शुद्ध आराधना करना ।

५५-६६, बारह प्रकार के तप का आचरण करना ।^{१८}

६७-७०, क्रोध, मान, माया, लोभ, इन चार कषायों का निग्रह करना ।

इस प्रकार चरण सत्तरी के ये ७० बोल हैं ।

आठ प्रभावना—

उपाध्याय की उक्त विशेषताओं के साथ वे प्रभावशील भी होने चाहिए । आठ प्रकार की प्रभावना बताई गई है । उपाध्याय इनमें निपुण होना चाहिए । आठ प्रभावना निम्न हैं—^{१९}

- (१) प्रावचनी—जैन व जैनेतर शास्त्रों का विद्वान ।
- (२) धर्मकथी—चार प्रकार की धर्म कथाओं^{२०} के द्वारा प्रभावशाली व्याख्यान देने वाले ।
- (३) वादी—वादी-प्रतिवादी, सभ्य, सभापति रूप चतुरंग सभा में सुपुष्ट तर्कों द्वारा स्वपक्ष-पर-पक्ष के मंडन-खंडन में सिद्धहस्त हों ।
- (४) नैमित्तिक—भूत, भविष्य एवं वर्तमान में होने वाले हानि-लाभ के जानकार हों ।^{२१}
- (५) तपस्वी—विविध प्रकार की तपस्या करने वाले हों ।
- (६) विद्यावान—रोहिणी प्रज्ञप्ति आदि चतुर्विंश विद्याओं के ज्ञाता हों ।
- (७) सिद्ध—अंजन, पाद लेप आदि सिद्धियों के रहस्यवेत्ता हों ।
- (८) कवि—गद्य-पद्य, कथ्य और गेय, चार प्रकार के काव्यों^{२२} की रचना करने वाले हों ।

ये आठ प्रकार के प्रभावक उपाध्याय होते हैं ।

२३-२५, मन, वचन एवं काय योग को सदा अपने वश में रखना ।

इस प्रकार उपाध्याय में ये २५ गुण होने आवश्यक माने गये हैं ।

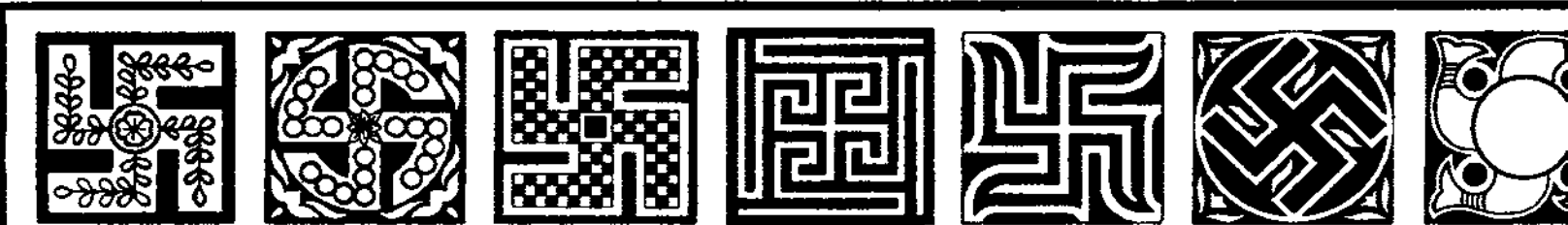
उपाध्याय का महत्त्व

जैन आगमों के परिशीलन से यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि संघ में जो महत्त्व आचार्य का है, लगभग वही महत्त्व उपाध्याय को भी प्रदान किया गया है । उपाध्याय का पद संव-व्यवस्था की दृष्टि से भले ही आचार्य के बाद का है, किन्तु इसका गौरव किसी प्रकार कम नहीं है । स्थानांग सूत्र में आचार्य और उपाध्याय के पाँच अतिशय बताये हैं । संघ में जो गौरव व सम्मान की व्यवस्था आचार्य की है उसी प्रकार उपाध्याय का भी वही सम्मान होता है । जैसे आचार्य उपाश्रय (स्थान) में प्रवेश करें तो उनके चरणों का प्रमांजन (धूल-साफ) किया जाता है, इसी प्रकार उपाध्याय का भी करने का विधान है ।^{२३} इसी सूत्र में आचार्य-उपाध्याय के सात संग्रह स्थान भी बताये हैं, जिनमें गण में आज्ञा (आदेश), धारणा (निषेध) प्रवर्तन करने की जिम्मेदारी आचार्य उपाध्याय दोनों की बताई है ।^{२४}

उपाध्याय : भाषा वैज्ञानिक

वास्तव में आचार्य तो संघ का प्रशासन देखते हैं, जबकि उपाध्याय मुख्यतः श्रमण संघ की ज्ञान-विज्ञान की दिशा में अत्यधिक अग्रगामी होते हैं । श्रुत-ज्ञान का प्रसार करना और विशुद्ध रूप से उस ज्ञान धारा को सदा प्रवाहित रखने की जिम्मेदारी उपाध्याय की मानी गयी है ।

आचार्य की आठ प्रकार की गणि सम्पदा का वर्णन शास्त्र में आया है । वहाँ बताया गया है कि आगमों की अर्थ-वाचना आचार्य देते हैं ।^{२५} आचार्य शिष्यों को अर्थ का रहस्य तो समझा देते हैं किन्तु सूत्र-वाचना का कार्य उपाध्याय का माना गया है । इसलिए उपाध्याय को—उपाध्यायः सूत्र ज्ञाता (सूत्र वाचना प्रदाता)^{२६} के रूप में माना गया है ।



इसका तात्पर्य यह है कि सूत्रों के पाठोच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्त्यता तथा स्थिरता बनाये रखने की सब जिम्मेदारी उपाध्याय के हाथों में है। आज की भाषा में उपाध्याय एक भाषा वैज्ञानिक की दृष्टि से आगम पाठों की शुद्धता तथा उनके परम्परागत रहस्यों के वेत्ता के प्रतीक है।

लेखनक्रम अस्तित्व में आने से पहले, जैन, बौद्ध एवं वैदिक परम्पराओं में अपने आगम कंठस्थ रखने की परम्परा थी। मूल पाठ का रूप अधुण बना रहे, परिवर्तन, समय का उस पर प्रभाव न पड़े, उनके पाठक्रम और उच्चारण आदि में अन्तर न आए इसके लिए बड़ी सतर्कता बरती जाती थी। शुद्ध पाठ यदि उच्चारण में अशुद्ध कर दिया जाए तो अर्थ का अनर्थ हो सकता है। एक अक्षर का, एक अनुस्वार भी यदि आगे-पीछे हो जाए तो उसमें समस्त अर्थ का विपर्यय हो जाता है। कहा जाता है—सम्राट अशोक ने अपने पुत्र कुणाल को जो तक्षशिला में था, एक पत्र में सन्देश भेजा—“अधीयतां कुमारः” पुत्र ! पढ़ते रहो। किन्तु कुमार कुणाल की विमाता तिष्यरक्षिता ने उसे अपनी आँखों के काजल से ‘अधीयतां’ के ऊपर अनुस्वार लगाकर ‘अधीयतां’ कर दिया। जिसका अर्थ हुआ अंधा कर दो। एक अनुस्वार के फर्क से कितना भयंकर अनर्थ हो गया। शब्दों को आगे-पीछे करके पढ़ने से भी अनर्थ हो जाते हैं। एक मारवाड़ी भाई पाठ कर रहा था—“स्वाम सुधर्मा रे, जनम-मरण से बकरा काटे।” इसमें “सेवक” ‘रा’ शब्द है जिसका उच्चारण करते हुए “से बकरा” करके अनर्थ कर डाला।

अनुयोगद्वार सूत्र में उच्चारण के १४ दोष बताते हुए उनसे आगम पाठ की रक्षा करने की सूचना दी गई है।^{१०} जिसमें हीनाक्षर, व्यत्याम्नेडित आदि की चर्चा है। इन दोषों से आगम पाठ को बचाए रखकर उसे शुद्ध, स्थिर और मूल रूप में बनाये रखने का कार्य उपाध्याय का है। इस दृष्टि से उपाध्याय संघ रूप नन्दन-वन के ज्ञान रूप वृक्षों की शुद्धता, निर्दोषता और विकास की ओर सदा सचेष्ट रहने वाला एक कुशल माली है। उद्यान पालक है।

उक्त विवेचन से हम यह जान पायेंगे कि जैन परम्परा में उपाध्याय का कितना गौरवपूर्ण स्थान है और उनकी कितनी आवश्यकता है। ज्ञान दीप को संघ में प्रज्वलित रखकर श्रुत परम्पराओं को आगे से आगे बढ़ाते रखने का सम्पूर्ण कार्य उपाध्याय करते हैं। यह सम्भव है कि वर्तमान में आगम कथित सम्पूर्ण गुणों से युक्त उपाध्याय का मिलना कठिन है, किन्तु जो भी विद्वान-विवेकी श्रमण स्वयं श्रुत ज्ञान प्राप्त कर अन्य श्रमणों को ज्ञान-दान करते हैं, वे भी उपाध्याय पद की उस गरिमा के कुछ न कुछ हकदार तो हैं ही। वे उस सम्पूर्ण स्वरूप को प्राप्त करने के इच्छुक भी हैं। अतः ऐसे ज्ञानदीप उपाध्याय के चरणों में भक्तिपूर्वक वन्दन करता हुआ—‘आचार्य अमितमति’ के इस श्लोक के साथ लेख को सम्पूर्ण करता हूँ।

येषां, तपः श्रीरनघा शरीरे,
विवेचका चेतसि तस्वबुद्धिः।
सरस्वती तिष्ठति वक्त्रपद्मे,
पुनन्तु ते ऽध्यापक पुंगवा वः॥^{२५}

—जिनकी निर्मल तपः श्री शरीर पर दीप्त हो रही है। जिनकी विवेचनाशील तस्व बुद्धि चित्त में सदा स्फुरित रहती है। जिनके मुखकमल पर सरस्वती विराजमान है, वे उपाध्याय पुंगव (अध्यापक) मेरे मन-वचन को पवित्र करें।

१ सूत्र कृतांग ६

२ भगवती

३ सूत्र कृतांग

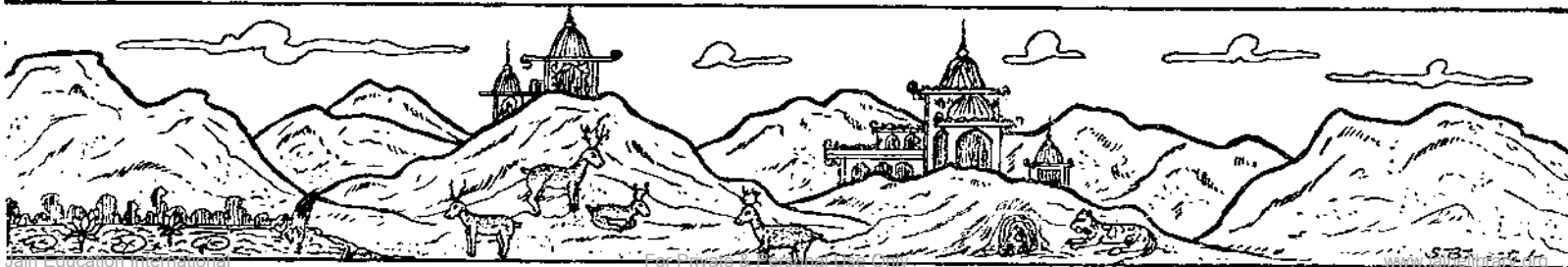
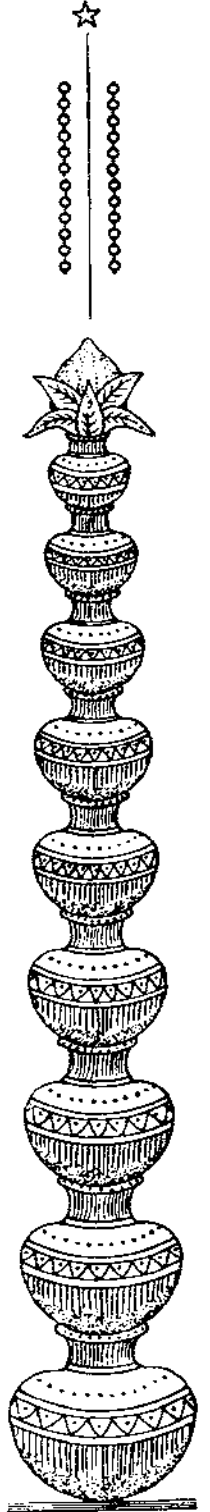
४ पंचविहं आचारं आयरमाणा तथा पगासंता।

आचारं दंसंता आयरिया तेण वुच्चंति।—आवश्यक निर्युक्ति ६६४।

५ भगवती सूत्र १. १. १. मंगलाचरण में आ० नि० ६६७ की गाथा।

६ आव. नि० हरि वृ. पृ. ४४६।

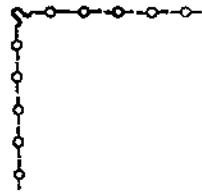
७ अमिघान राजेन्द्र कोष, भाग २, पृ० ८८३





- ८ व्यवहार सूत्र ३।३, ७।१६, १०।२६
 ९ जैन सिद्धान्त बोल संग्रह, भाग ६, पृ० २१५
 १० चारित्र-प्रकाश, पृ० ११५
 ११ प्रवचन सारोद्धार द्वार ६८, गाथा ५६६
 १२ दशाश्रुत स्कन्ध ७। भगवती २।१ समवायांग १२
 १३ उत्तराध्ययन २६।२६ से ३० प्रतिलेखना के २५ भेद अन्य प्रकार से भी हैं । नव अखोड़ा, नव पखोड़ा, ६ पुरिम,
 १ पडिलेहणा—देखें जैन तत्त्व प्रकाश, प्रकरण ३।
 १४ स्थानांग १०
 १५ समवायांग १७
 १६ भगवती २५।७
 १७ उत्तराध्ययन १६
 १८ उत्तराध्ययन ३०।८
 १९ प्रवचन सारोद्धार १४८, गाथा ६३४
 २० स्थानांग ४
 २१ निमित्त के छः व आठ भेद । —स्थानांग ६ तथा ८ में देखें ।
 २२ काव्य के चार भेद स्थानांग ४ में देखें ।
 २३ स्थानांग सूत्र ५।२, सूत्र ४३८
 २४ स्थानांग सूत्र ७, सूत्र ५४४
 २५ दशाश्रुत स्कन्ध बोधोदशा
 २६ स्थानांग सूत्र ३।४।३२३ की वृत्ति
 २७ अनुयोगद्वार सूत्र १६
 २८ अमितगति श्रावकाचार १-४

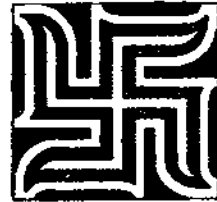
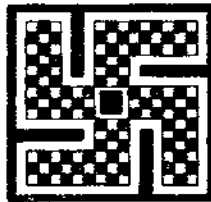
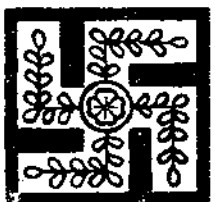
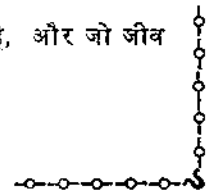
□ □



मुह-दुःखसहियं, कम्मखेत्तं कसन्ति जे जम्हा ।
 कलुसंति जं च जीवं, तेण कसाय त्ति वुच्चंति ॥

—प्रज्ञापनापद १३, टीका

मुख-दुःख के फलयोग्य—ऐसे कर्मक्षेत्र का जो कर्षण करता है, और जो जीव
 को कलुषित करता है, उसे कषाय कहते हैं ।



□ श्रीमती शान्तिदेवी जैन
[एम० ए०, 'विशारद', प्रभाकर]

तीर्थंकरों की धर्म-देशना लोक भाषा में होती है, जिसे आज हम 'आगम' के नाम से जानते हैं। आगमों की भाषा अर्धमागधी किंवा प्राकृत का विशाल साहित्य न केवल धार्मिक दृष्टि से भी किन्तु भाषा-विज्ञान की दृष्टि से भी अत्यन्त महत्व रखता है।

जैन आगम और प्राकृत : भाषा-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में एक परिशीलन

□

विचार और भाषा

भाषा विचार-संवहन का माध्यम है। महापुरुषों या महान् साधकों के अपने लिए तो यह अपेक्षित नहीं होता कि उनके सत्त्व-संभृत विचार वागात्मक या शाब्दिक रूप लें क्योंकि आत्मा-शान्ति-शब्द, जो अनात्म है, पर अवस्थित नहीं है। वह तो आत्मालोचन, अन्तर्मन्थन, स्वरूप परिणति एवं स्वभाव-विहार पर आधृत है। पर, यह भी महापुरुषों के लिए उनके आत्म-सुख का अभिवर्द्धक है, जो शाश्वत सत्य उन्हें उपलब्ध हुआ, संसार के अन्य प्राणी भी, जो दुःखा-क्रान्त हैं—उसे आत्मसात् करें, दुःखों से छूटें, उनकी तरह वे भी सुखी बनें। यह करुणा का निर्मल स्रोत वाग्धारा के रूप में फूट पड़ता है, जो आगे चलकर एक शाश्वत साहित्य का रूप ले लेता है।

लोक-कल्याण-हेतु लोक-भाषा में धर्म-देशना

उनके विचारों से जन-जन, प्राणी मात्र लाभान्वित हों, सबकी उन तक सीधी पहुँच हो, किसी दूसरे के माध्यम से नहीं, स्वयं सहज भाव से वे उन (विचारों) को आत्मसात् कर पाएँ, इसी हेतु तीर्थंकरों की धर्म-देशना लोक-भाषा में होती है, उस भाषा में जो जन-जन की है—जिसे साधारणतः (उस क्षेत्र का) हर कोई व्यक्ति बिना किसी कठिनाई के समझ सके। इसीलिए कहा गया है—

बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणां, नृणां चारित्रकाक्षिणाम् ।

अनुग्रहार्थं तत्त्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृतः कृतः ॥”^१

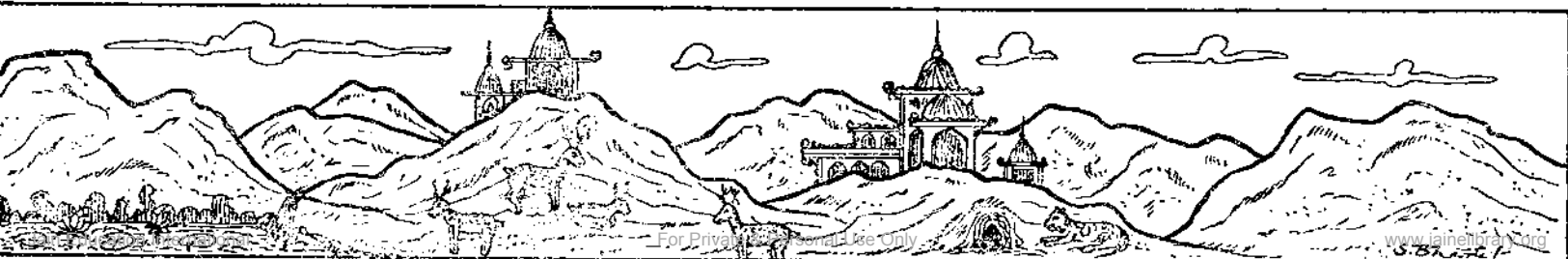
इसका पाठान्तर यों भी है—

बालस्त्री-मन्द-मूर्खाणां, नृणां चारित्रकाक्षिणाम् ।

अनुग्रहार्थं सर्वज्ञैः, सिद्धान्तः प्राकृते कृतः ॥

अर्थात् बालक, महिलाएँ, वृद्ध, अनपढ़—सब, जो सत् चारित्र्य—सद् आचार—सद् धर्म की आकांक्षा रखते हैं, पर अनुग्रह करने के हेतु तत्त्वज्ञों या सर्वज्ञों ने प्राकृत भाषा में धर्म-सिद्धान्त का उपदेश किया।^२

इस युग के अन्तिम उपदेश, धर्म-तीर्थ के संस्थापक, चौबीसवें तीर्थंकर भगवान् महावीर जे। इस समय जो आगम या आर्ष वाङ्मय के रूप में साहित्य उपलब्ध है, वह उन्हीं की धर्म-देशना का प्रतीक है। भगवान् महावीर जो भी बोले अथवा उनके मुख से जो भी शब्दात्मक या ध्वन्यात्मक उद्गार निकले, वे प्राकृत—अर्द्धमागधी प्राकृत में परिणत हुए, श्रोतृगण उन (विचारों) से अभिप्रेरित हुए, उद्बोधित हुए। (भगवान् के प्रमुख शिष्य गणधरों ने उन्हें ग्रथित किया। उनका अन्ततः जितना जो संकलन हो सका, वही आज का (अर्द्धमागधी) आगम-वाङ्मय है।



प्रशस्ति की भाषा में यहाँ तक कहा गया है कि भगवान द्वारा अर्द्धमागधी में अभिव्यक्त उद्गारों को मनुष्यों के साथ-साथ देवता भी सुनते थे, पशु-पक्षी भी सुनते थे, समझते थे। क्योंकि वे भिन्न-भिन्न भाषाभाषियों के अपनी-अपनी भाषाओं के पुद्गलों में परिणत हो जाते थे। यह भी कहा गया है कि अर्द्धमागधी आर्य भाषा है। देवता इसी में बोलते हैं।^३

इस सम्बन्ध में हमें यहाँ विचार नहीं करना है। अतएव केवल संकेत मात्र किया गया है। विशेषतः भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र के ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में हम यहाँ संक्षेप में प्राकृत पर विचार करेंगे।

आर्य भाषा परिवार और प्राकृत

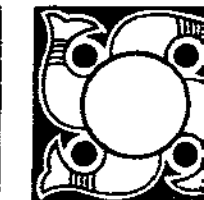
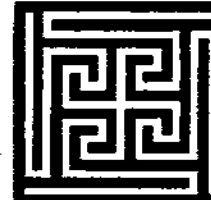
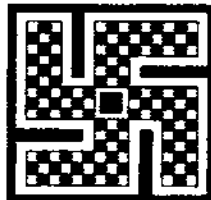
विगत शताब्दी से संसार के विभिन्न देशों के विश्वविद्यालयों तथा विद्या केन्द्रों में भिन्न-भिन्न भाषाओं के वैज्ञानिक दृष्टि से समीक्षात्मक अध्ययन का विशेष क्रम चला है, जिसे भाषा-विज्ञान या भाषा-शास्त्र (Linguistics) कहा जाता है। वैसे देखा जाए तो हमारे देश के लिए यह कोई सर्वथा नवीन विषय नहीं है। व्युत्पत्ति-शास्त्र के महान् पण्डित यास्क, जिनका समय ईसा पूर्व आठवीं शताब्दी माना जाता है, द्वारा रचित निरुक्त नामक व्युत्पत्ति शास्त्रीय ग्रन्थ से प्रकट है कि देश में इस विषय पर व्यवस्थित रूप में अध्ययन चलता था। निरुक्त विश्व-वाङ्मय में व्युत्पत्ति शास्त्र-सम्बन्धी प्रथम ग्रन्थ है। यास्क ने अपने ग्रन्थ में अग्रायण, औदुम्बरायण, और्णनाम, गालव, चर्मशिरा, शाकटायन तथा शाकत्य आदि अपने प्राग्वर्ती तथा समसामयिक व्युत्पत्ति शास्त्र व व्याकरण के विद्वानों की चर्चा की है, जिससे अध्ययन की इस शाखा की ओर अधिक प्राचीनता सिद्ध होती है। यास्क ने अपने इस ग्रन्थ में १२६८ व्युत्पत्तियाँ उपस्थित की हैं, जिनमें सैकड़ों बहुत ही विज्ञान सम्मत एवं युक्ति पूर्ण हैं।

अस्तु—पर, यह अध्ययन-क्रम आगे नहीं चला, अवरूढ़ हो गया, पिछली शताब्दी में जर्मनी व इङ्ग्लैण्ड आदि पाश्चात्य देशों के कतिपय विद्वानों ने प्रस्तुत विषय पर विशेष रूप से कार्य किया, जिनमें विशप काट्जवेल, जान बीम्स डी० ट्रम्प, एस० एच० केलाग, हार्नली, सर जार्ज ग्रियर्सन, टर्नर, जूल ब्लाक आदि विशेष प्रसिद्ध हैं। डॉ० सर रामकृष्ण मंडारकर पहले भारतीय हैं, जिन्होंने आधुनिकता के सन्दर्भ में भाषा-विज्ञान पर कार्य किया।

इससे पूर्व प्राच्य-प्रतीच्य भाषाओं के तुलनात्मक एवं भाषा-शास्त्रीय अध्ययन के सन्दर्भ में जिनसे विशेष प्रेरणा प्राप्त हुई, उनमें सर विलियम जोन्स का नाम बहुत विख्यात है, वे कलकत्ता में भारत के सर्वोच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश थे। विद्या-व्यसनी थे। लैटिन, ग्रीक, गार्थिक आदि प्राचीन पाश्चात्य भाषाओं के बहुत अच्छे विद्वान् थे। हिन्दू लों के निर्माण के प्रसंग में उन्होंने संस्कृत पढ़ने का निश्चय किया। बड़ी कठिनाई थी, कोई भारतीय पण्डित तैयार नहीं होता था। अन्ततः बड़ी कठिनाता से एक विद्वान् मिला, जिसके सर्वथा अनुकूल रहते हुए विलियम जोम्स ने संस्कृत का गम्भीर अध्ययन किया। पाश्चात्य भाषाओं के विशेषज्ञ वे थे ही, उनकी विद्वत्ता निखर गई। उन्होंने पुरानी पश्चिमी और पूर्वी भाषाओं के तुलनात्मक तथा समीक्षात्मक अध्ययन-अनुसन्धान के परिणामस्वरूप ऐसे सैकड़ों शब्द खोज निकाले, जो सहस्रों मीलों की दूरी पर अवस्थित लैटिन, ग्रीक तथा संस्कृत के पारस्परिक साम्य या सादृश्य के द्योतक थे। अपनी अनवरत गवेषणा से प्रसूत तथ्यों के आधार या उन्होंने उद्घोषित किया कि जहाँ तक वे अनुमान करते हैं, संस्कृत, लैटिन, ग्रीक, गार्थिक, काल्टिक तथा पुरानी फारसी आदि पश्चिमी एवं पूर्व भाषाओं के व्याकरण, शब्द, धातु, वाक्य-रचना आदि में इस प्रकार का साम्य है कि इनका मूल या आदि स्रोत एक होना चाहिए।

सर विलियम जोम्स का कार्य विद्वानों के लिए वास्तव में बड़ा प्रेरणाप्रद सिद्ध हुआ।

भाषा-विज्ञान का अध्ययन और विकसित होता गया। इसमें संस्कृत-भाषा बड़ी सहायक सिद्ध हुई। अपने गम्भीर अध्ययन-अन्वेषण के परिणामस्वरूप विद्वान् इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि संसार में सहस्रों की संख्याओं में प्रसूत भाषाओं के अपने-अपने भिन्न-भिन्न परिवार हैं। मुख्यतः एक ही स्रोत से एकाधिक भाषाएँ निकलीं, उत्तरोत्तर उनकी संस्थाएँ विस्तार पाती गईं, परिवर्तित होते-होते उनका रूप इतना बदल गया कि आज साधारणतः उन्हें सर्वथा भिन्न और असम्बद्ध माना जाता है पर, सूक्ष्मता तथा गहराई से खोज करने पर यह तथ्य अज्ञात नहीं रहता कि उन भाषाओं के अन्तरतम में ध्वनि, शब्द, पद-निर्माण, वाक्य-रचना, व्युत्पत्ति आदि की दृष्टि से बड़ा साम्य है। इसी गवेषणा के परिणाम-स्वरूप आज असन्दिग्ध रूप से यह माना जाता है कि परिचय की लैटिन, ग्रीक, जर्मन, अंग्रेजी आदि भाषाओं



तथा मध्य पूर्व की पुरानी फारसी, पूर्व की संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, हिन्दी, पंजाबी, बंगला, उड़िया, मैथिली, असमिया, गुजराती तथा मराठी आदि भाषाओं का एक ही परिवार है, जिसे भारोपीय कहा जाता है। इसका अमिप्राय यह है कि कभी इनका केन्द्रभूत स्रोत एक या समान रहा था, जिसका इन भाषाओं के रूप में आज हम वैविध्य देख रहे हैं। तभी तो समुद्रों पार के व्यवधान के बावजूद हम उनके भीतर एक आश्चर्य कर समरसवाहिता पाते हैं।

इस सन्दर्भ में हम केवल एक उदाहरण उपस्थित कर रहे हैं—संस्कृत का पितृ शब्द ग्रीक में पेटर (Pater) लैटिन में भी पेटर (Pater), फारसी में पेटर व अंग्रेजी में फादर (Father) दूसरी ओर इसी देश में प्रसूत, प्रसूत एवं प्रचलित कन्नड़, तमिल, तेलगू, मलयालम्, तुलु, कुडागू, टोडा, कोंड, कुरुख, कोलामी, ब्राहुई, आदि भाषाओं से संस्कृत आदि का वंसा साम्य नहीं है क्योंकि ये (तमिल आदि) द्रविड-परिवार की भाषाएँ हैं। यही बात इस देश के कतिपय भीतरी व सीमावर्ती भागों में प्रचलित मुंडा भाषाओं के सम्बन्ध में है, जो आग्नेय परिवार की हैं।

भारोपीय परिवार की एक शाखा आर्य-परिवार है, जिसका क्षेत्र मध्य एशिया से लेकर ईरान, अफगानिस्तान, पाकिस्तान, समग्र उत्तरी भारत तथा बंगलादेश तक फैला हुआ है। प्राकृत इसी शाखा—आर्य-परिवार की भाषा है।

प्राकृत का उद्गम

साधारणतया यह मान्यता रही है कि प्राकृत की उत्पत्ति संस्कृत से है। सुप्रसिद्ध विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र ने अपने द्वारा रचित व्याकरण सिद्धहैम शब्दानुशासन के अष्टम अध्याय के प्रारम्भ में, जो उनके व्याकरण का प्राकृत सम्बन्धी अंश है, प्राकृत की प्रकृतियाँ उद्भव के विषय में लिखा है—“प्रकृतिः संस्कृतं, तत्र भवं तत आगतं वा प्राकृतम्” अर्थात् प्राकृत की प्रकृति—उद्गम-स्रोत संस्कृत है। प्राकृत-चन्द्रिका, षड्भाषा-चन्द्रिका, प्राकृत-संजीवनी आदि में इसी सरणि का अनुसरण किया गया है। इसी प्रकार दशरूपक (सिंहदेवगणिरचित) तथा वाग्मटालंकार की टीका में भी विवेचन हुआ है।

प्राचीन विद्वानों में सुप्रसिद्ध अलंकार शास्त्री श्री नमि साधु आदि कुछ ऐसे विद्वान् हैं, जो उपर्युक्त मन्तव्य से सहमत नहीं हैं। वे प्राकृत को किसी भाषा से उद्गत न मानकर उसे अन्य भाषाओं का उद्गम-स्रोत मानते हैं।

श्री नमि साधु ने प्राकृत शब्द की बड़ी सुन्दर व्याख्या की है। वे लिखते हैं—“प्राकृतम्-पूर्वं कृतम्—प्राकृतम्, बालमहिलादि सुबोधम्, सकल भाषा निबन्धनभूतं वचनं मुच्यते।” अर्थात् इस भाषा का नाम प्राकृत इसलिए है कि पहले से—बहुत पहले से—अति प्राचीन काल से यह चली आ रही है। इसे बालक, स्त्रियाँ आदि सभी सरलता से समझ सकते हैं। यह सब भाषाओं का मूल या आधार है।

वे आगे लिखते हैं—“भेध निर्मुक्त जलमिवैक-स्वरूपं तदेव विभेदानान्प्रोति।” अर्थात् बादल से छूटा हुआ जल वस्तुतः एक स्वरूप होता हुआ भी जहाँ-जहाँ गिरता है, तदनुसार अनेक रूपों में परिवर्तित हो जाता है। वही बात इस भाषा के लिए है।

नमि साधु आगे इसी संदर्भ में संस्कृत की भी चर्चा करते हैं। वे लिखते हैं—“पाणिन्यादि-व्याकरणोदित शब्द लक्षणैः संस्करणात् संस्कृतमुच्यते।” अर्थात् पाणिनि आदि द्वारा रचित व्याकरणों के नियमों से परिमार्जित या संस्कार युक्त होकर वह (प्राकृत) संस्कृत कहलाती है।

उपर्युक्त वर्णन के अनुसार प्राचीन विद्वानों के दो प्रकार के अभिमत हैं।

हेमचन्द्र का निरूपण : समीक्षा

आचार्य हेमचन्द्र ने प्राकृत की प्रकृति या उद्भव—उत्स के सम्बन्ध में जो लिखा, उसके पीछे उनका सूक्ष्म अमिप्राय क्या था, इस पर विचार करना होगा। हेमचन्द्र जैन परम्परा के आचार्य थे। जैन आगमों में आस्थावान् थे। वे ऐसा कैसे कह सकते थे कि प्राकृत संस्कृत से उद्भूत है। क्योंकि जैन शास्त्र ऐसा नहीं मानते। उन (हेमचन्द्र) द्वारा प्रणीत काव्यानुशासन व (उस पर) स्वोपज्ञ टीका का जो उद्धरण पीछे टिप्पणी में दिया गया है, उससे जैन परम्परा का अभिमत स्पष्ट है।



गहराई से सोचने पर ऐसा प्रतीत होता है कि हेमचन्द्र के कहने का आशय, जैसा बाह्य रूप में दृष्टिगत होता है, नहीं था। उनके समय में प्राकृत लोक-भाषा नहीं रही थी। क्योंकि प्राकृत-उद्भूत अपभ्रंश से उत्पन्न गुजराती, मराठी, पंजाबी, वज्रभाषा, अवधी, भोजपुरी, मैथिली, मगही, बंगला, उड़िया, असमिया आदि आधुनिक भाषाएँ लोक (जन-जन द्वारा प्रयुज्य) भाषाओं के रूप में अस्तित्व में आ चुकी थीं। प्राकृत का स्वतन्त्र पठन-पाठन अवरुद्ध हो गया था। उसके अध्ययन का माध्यम संस्कृत बन चुकी थी। अधिकांशतः पाठक प्राकृत को समझने के लिए संस्कृत-छाया का अवलम्बन लेने लगे थे। ऐसा कैसे और क्यों हुआ? यह एक स्वतन्त्र विचार का विषय है, जिस पर यहाँ कुछ कहने का अवकाश नहीं है। संस्कृत के आधार पर प्राकृत के समझे जाने व पढ़े जाने के क्रम के प्रचलन के कारण ही हेमचन्द्र ने संस्कृत को प्राकृत की प्रकृति बतलाया हो, ऐसा बहुत संभव लगता है। अर्थात् वे संस्कृत के प्रातिपदिक तथा क्रिया रूपों के आधार पर प्राकृत-रूप समझाना चाहते थे।

ऐसा लगता है कि हेमचन्द्र के उत्तरवर्ती प्राकृत-वैयाकरण हेमचन्द्र के इस सूक्ष्म भाव को यथावत् रूप में आत्मसात् नहीं कर पाये। केवल उसके बाह्य कलेवर को देख वे प्राकृत की संस्कृत-मूलकता का आख्यान करते गये। यह एक ढर्रा जैसा हो गया।

संस्कृत अर्थात् संस्कार युक्त

संस्कृत का अर्थ ही संस्कार की हुई, शुद्ध की हुई या परिमार्जित की हुई भाषा है। संस्कार, शोधन या मार्जन उसी भाषा का होता है, जो लोक-भाषा हो, व्याकरण आदि की दृष्टि से जो अपरिनिष्ठित हो। ये बातें अपने लोक-भाषा-काल में प्राकृत में थीं, संस्कृत में नहीं। संस्कृत जैसी परिनिष्ठित, सुव्यवस्थित तथा व्याकरण-निबद्ध भाषा से, प्राकृत जैसी जन-भाषा, जो कभी एक बोली (Dialect) के रूप में थी, कैसे उद्भूत हो सकती है? भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से अन्वेषण करने पर यह तथ्य स्पष्ट होता है कि संस्कृत तो स्वयं किसी लोक-भाषा का (जिसे हम प्राकृत का ही कोई रूप मानें तो असंगत नहीं होगा) परिष्कृत रूप है।

भारतीय आर्य भाषाएँ : भाषा वैज्ञानिक विभाजन

आर्य शब्द का आशय, व्यापकता, आर्य शब्द से संज्ञित जातीय लोगों का मूल निवास-स्थान, बाहर से आगमन या अनागमन—आदि विषयों पर भारतीय एवं पारश्चात्य विद्वानों ने अनेक दृष्टियों से विचार किया है, विविध प्रकार की स्थापनाएँ की हैं। फिर भी यह विषय अब तक विवादों से सर्वथा मुक्त होकर 'इत्थंभूत' स्थिति तक नहीं पहुँच पाया है। यहाँ इस पर चर्चा करना विषयान्तर होगा। स्वीकृत मान्यता के उपस्थापन पूर्वक हम यहाँ आर्य भाषाओं के सन्दर्भ में कुछ चर्चा करेंगे।

भाषा शास्त्रियों ने भारतीय आर्य भाषाओं का कालिक दृष्टि से निम्नांकित रूप में विभाजन किया है—

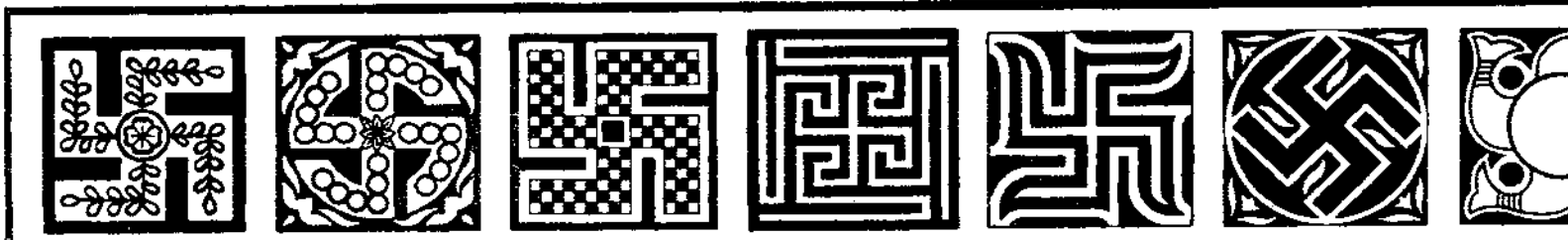
- (१) प्राचीन भारतीय आर्य (Early Indo Aryan) भाषा-काल।
- (२) मध्यकालीन भारतीय आर्य (Middle Indo Aryan) भाषा-काल।
- (३) आधुनिक भारतीय आर्य (Later Indo Aryan) भाषा-काल।

विद्वानों ने प्राचीन आर्य भाषाओं का समय १५०० ई० पूर्व से ५०० ई० पूर्व तक, मध्यकालीन आर्य भाषाओं का समय ५०० ई० पूर्व से १००० ई० तक तथा आधुनिक आर्य भाषाओं का समय १००० ई० से २० वीं शती तक स्वीकार किया है।

इस विभाजन के प्रथम विभाग में भाषा वैज्ञानिकों ने वैदिक संस्कृत और लौकिक संस्कृत को लिया है। वैदिक संस्कृत को छन्दस् भी कहा जाता है। वेदों में तथा तत्सम्बद्ध ब्राह्मण, आरण्यक व उपनिषद् आदि ग्रन्थों में उसका प्रयोग हुआ है। लौकिक संस्कृत का लिखित रूप हमें वाल्मीकि रामायण और महाभारत से प्राप्त होता है।

द्वितीय विभाग में शिलालेखी प्राकृत, पालि, मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, पेशाची, महाराष्ट्री आदि प्राकृतें तथा अपभ्रंश को ग्रहण किया गया है।

तृतीय विभाग में अपभ्रंश-निःसृत आधुनिक भाषाएँ स्वीकार की गई हैं।



हमें विशेषरूप से द्वितीय विभाग—मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-काल के सन्दर्भ में विचार करना है, जिसे प्राकृत-काल भी कहा जाता है। इसे भी तीन भागों में बाँटा गया है—

- (१) प्रथम प्राकृत-काल (Early Middle Indo Aryan)
- (२) द्वितीय प्राकृत-काल (Middle Middle Indo Aryan)
- (३) तृतीय प्राकृत-काल (Later Middle Indo Aryan)

प्रथम प्राकृत-काल में पालि और शिलालेखी प्राकृतों, द्वितीय प्राकृत-काल में मागधी, अर्द्धमागधी, शौरसेनी, पेशाची आदि साहित्यिक (जो आगे चलकर लोक-भाषा से साहित्यिक भाषा के रूप में परिवर्तित हो गई थीं) प्राकृतों तथा तृतीय प्राकृत-काल में अपभ्रंशों का स्वीकार किया गया है।

आलोचना

उपर्युक्त काल विभाजन में प्राकृतों को वैदिक व लौकिक संस्कृत के पश्चात् रखा है। जैसाकि पहले संकेतित हुआ है, प्राचीनकाल से ही एक मान्यता रही है कि प्राकृत संस्कृत से निकली है। अनेक विद्वानों का अब भी ऐसा ही अभिमत है। आर्य-भाषाओं का यह जो काल-विभाजन हुआ है, इस पर इस मान्यता की छाप है। यह आलोच्य है।

वैदिक संस्कृत का कान लौकिक संस्कृत से पहले का है। वैदिक संस्कृत एक व्याकरणनिष्ठ साहित्यिक भाषा है। यद्यपि इसके व्याकरण सम्बन्धी बन्धन लौकिक संस्कृत की तुलना में अपेक्षाकृत कम हैं, फिर भी वह उनसे मुक्त नहीं है। वैदिक संस्कृत कभी जन-साधारण की बोलचाल की भाषा रही हो, यह सम्भव नहीं जान पड़ता। तब सहज ही यह अनुमान होता है कि वैदिक संस्कृत के समय में और उससे भी पूर्व इस देश में ऐसी लोक-भाषाएँ या बोलियाँ अवश्य रही हैं, जिन द्वारा जनता का व्यवहार चलता था। उन बोलियों को हम प्राचीन स्तरीय प्राकृतें कह सकते हैं। इनका समय अनुमानतः २००० ई० पूर्व से ७०० ई० पूर्व तक का माना जा सकता है। सर जार्ज ग्रियर्सन ने भी इस ओर कुछ इंगित किया है। उन्होंने उन लोक-भाषाओं के लिए Primary Prakritas (प्राथमिक प्राकृतें) शब्द का व्यवहार किया है।

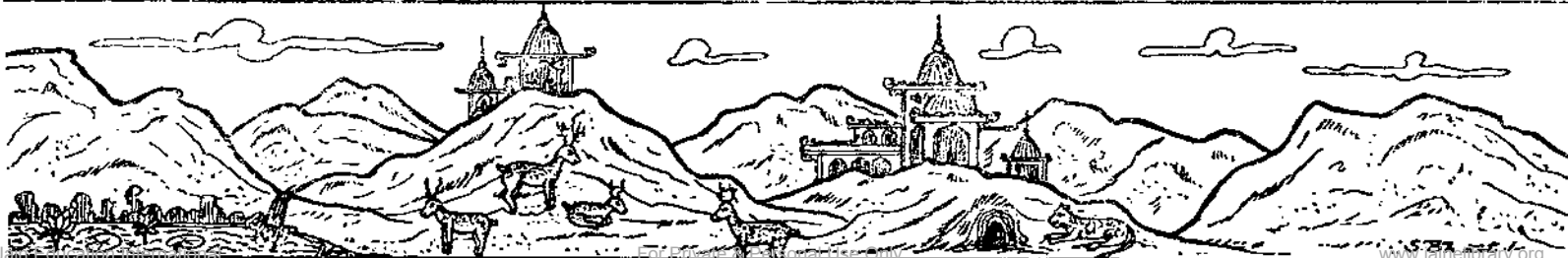
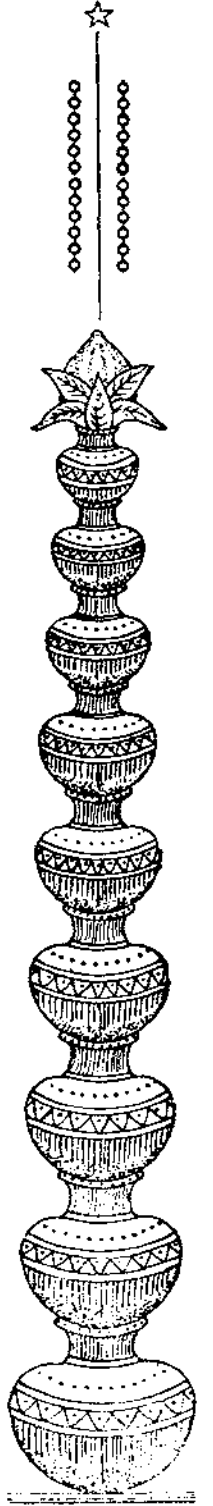
इससे यह अनुमेय है कि वे जो लोक-भाषाएँ (बोलियाँ) या प्रथम स्तरीय प्राकृतें वैदिक संस्कृत या छन्दस् से पूर्व से ही चली आ रही थीं, उन्हीं में से, फिर जब अपेक्षित हुआ, किसी एक जन-भाषा बोली या प्राकृत के आधार पर वैदिक संस्कृत का गठन हुआ हो, जो वस्तुतः एक साहित्यिक भाषा है। बोली और भाषा में मुख्यतया यही अन्तर है, बोली का साहित्यिक दृष्टि से कोई निश्चित रूप नहीं होता क्योंकि वह साधारणतः बोलचाल के ही प्रयोग में आती है। जब लेखन में, साहित्य-सर्जन में कोई बोली प्रयुक्त होने लगती है तो उसका कलेवर बदल जाता है। उसमें परिनिष्ठितता आ जाती है ताकि वह तत्सम्बद्ध विभिन्न स्थानों में एकरूपता लिए रह सके। वैदिक संस्कृत इसी प्रकार की भाषा है। यदि तुलनात्मक दृष्टि से देखा जाए तो प्राकृत की निकटता लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वैदिक संस्कृत के साथ अधिक है। इस युग के महान् प्राकृत वैयाकरण, जर्मन विद्वान् डॉ० आर० पिशल (R. Pischel) के वैदिक संस्कृत तथा प्राकृत के कतिपय ऐसे सदृश रूप अपने व्याकरण में तुलनात्मक दृष्टि से उद्धृत किये हैं, जिनसे उपर्युक्त तथ्य पुष्ट होता है।

इस विवेचन से यह स्पष्ट है कि साधारणतः भाषा वैज्ञानिक जिन प्राकृतों को मध्यकालीन आर्य भाषा-काल में रखते हैं, वे द्वितीय स्तर की प्राकृतें हैं। प्रथम स्तर की प्राकृतें, जिनकी ऊपर चर्चा की है, का कोई भी रूप आज उपलब्ध नहीं है। यही कारण है कि अनेक भाषा-शास्त्रियों का उनकी ओर विशेष ध्यान नहीं गया। पर, यह, अविस्मरणीय है कि वैदिक संस्कृत का अस्तित्व ही इस तथ्य का सर्वाधिक साधक प्रमाण है।

अब हम संक्षेप में इस मध्यकालीन आर्य भाषा-काल की या द्वितीय स्तर की प्राकृतों पर संक्षेप में विचार करेंगे।^४

पालि

पालि इस (मध्यकालीन आर्य भाषा) काल की मुख्य भाषा है। इसका समय ई० पूर्व ५वीं शती से प्रथम



या द्वितीय ईसवी शती माना जाता है। वस्तुतः यह मागधी प्राकृत है, जिसमें भगवान बुद्ध ने उपदेश किया। पालि इसका पश्चाद्बर्ती नाम है, जिसके सम्बन्ध में विद्वानों ने अनेक प्रकार की कल्पनाएँ की हैं। कइयों ने इसे पंक्ति (पंक्ति > पन्ति > पत्ति > पट्टि > पल्लि > पालि), कइयों ने पल्लि (पल्लि > पालि), कइयों ने प्राकृत (प्राकृत > पाकट > पाऊड > पाऊल > पालि), कइयों ने प्रालेय (प्रालेय > पालेय > पालि) कइयों ने पाठ (पालि में ठ का ल हो जाता है अतः पाठ > पाल > पाल > पालि), कइयों ने प्रकट (प्रकट > पाऊड > पाऊल > पालि), कइयों ने पाटलि (पाटलि > पाअलि > पालि) तथा कइयों ने परियाय (परियाय > पलियाय > पालियाय > पालि) को इसका मूल माना है। इस मत के पुरस्कर्ता पालि के सुप्रसिद्ध विद्वान् बौद्ध भिक्षु श्री जगदीश काश्यप हैं, जिसे (इस मत को) सर्वाधिक मान्यता प्राप्त है।

भगवान बुद्ध के वचन (उपदेश) त्रिपिटक के रूप में पालि में सुरक्षित हैं।

शिलालेखी प्राकृत

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-काल के प्रथम युग में पालि के साथ शिलालेखी प्राकृतें भी ली गई हैं। ये अशोकिय प्राकृतें भी कही जाती हैं। सम्राट् अशोक के अनेक आदेश-लेख लाटों, चट्टानों आदि पर उत्कीर्ण हैं। इसी कारण उनमें प्रयुक्त प्राकृतों को शिलालेखी प्राकृतें कहा जाता है। अशोक की भावना थी कि उसके विभिन्न प्रदेशवासी प्रजाजन उनके विचारों से अवगत हों, लाभान्वित हों अतः एक ही लेख भिन्न-भिन्न प्रदेशों में प्रचलित भिन्न-भिन्न प्राकृतों के प्रभाव के कारण कुछ-कुछ भिन्नता लिये हुए है।

प्राकृतें

मध्यकालीन भारतीय आर्य भाषा-काल का दूसरा भाग उन प्राकृतों का है, जिनका समय ईसवी सन् के प्रारम्भ से ५०० ई० तक माना जाता है।

कुछ विद्वानों ने इसका थोड़े भिन्न प्रकार से भी स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार—पालि और शिलालेखी प्राकृत का समय छठी शती ईसवी पूर्व से दूसरी शती ईसवी पूर्व तक तथा साहित्यिक प्राकृतों का समय दूसरी ईसवी शती से छठी शती तक का है। दो सौ ईसवी पूर्व से दो सौ ईसवी सन् तक का—चार शताब्दियों का समय बीच में आता है। इसे प्राकृतों के संक्रान्ति-काल के नाम से अभिहित किया गया है। इस संक्रान्ति-काल की प्राकृत सम्बन्धी सामग्री तीन रूपों में प्राप्त हैं—(१) अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत, (२) धम्मपद की प्राकृत तथा (३) निय प्राकृत।

संक्रान्ति-काल के रूप में जो यह स्थापना की जाती है, अध्ययन की दृष्टि से यद्यपि कुछ उपयोगी हो सकती है पर, वास्तव में यह कोई पृथक् काल सिद्ध नहीं होता। यह मध्यकालीन आर्य भाषा-काल के द्वितीय युग में ही आ जाता है।

परिचय की दृष्टि से उपर्युक्त प्राकृतों पर संक्षेप में कुछ प्रकाश डालना आवश्यक है

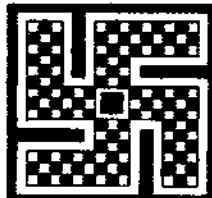
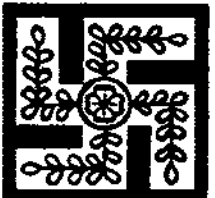
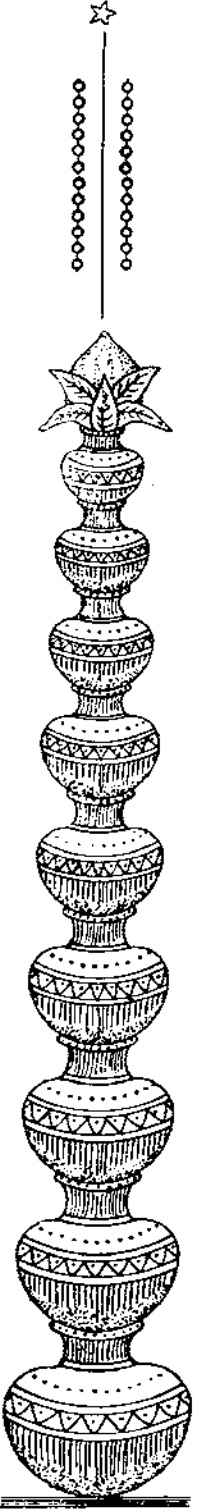
अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत

अश्वघोष प्रथम शती के एक विद्वान् बौद्ध भिक्षु थे। संस्कृत-काव्य-रचनाकारों में उनका प्राचीनता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। बुद्ध चरितम्, सोन्दरनन्दम् संज्ञक काव्यों के अतिरिक्त उन्होंने संस्कृत में दो नाटक भी लिखे। इन नाटकों की खण्डित प्रतियाँ मध्य एशिया में प्राप्त हुई हैं। संस्कृत-नाटकों में आभिजात्य वर्गीय—उच्च कुलीन पात्रों की भाषा जहाँ संस्कृत होती है, वहाँ जन-साधारण—लोकजनीन पात्रों की भाषा प्राकृत होती है। अश्वघोष के इन नाटकों में प्रयुक्त प्राकृतें पुरानी मागधी, पुरानी शौरसेनी तथा पुरानी अर्द्धमागधी हैं। संभवतः अश्वघोष वे प्रथम नाटककार हैं, जिन्होंने नाटकों में सामान्य पात्रों के लिए प्राकृतों का प्रयोग आरम्भ किया।

अश्वघोष के इन नाटकों का जर्मन विद्वान् ल्यूडर्स ने संपादन किया है।

धम्मपद की प्राकृत

मध्य एशिया स्थित खोतान नामक स्थान में खरोट्टी लिपि में सन् १८६२ में कुछ लेख प्राप्त हुए। प्राप्तकर्ता



फ्रान्स के पर्यटक दुचुइल द रां थे। कतिपय भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों ने उन लेखों पर कार्य किया। अन्ततः यह प्रमाणित हुआ कि वह प्राकृत में लिखा हुआ धम्मपद है। भारत के मध्य-भाग तथा पूर्व-भाग में तब प्रायः ब्राह्मी लिपि का प्रचलन था और उत्तर-पश्चिमी भारत तथा मध्य पूर्व एशिया के कुछ भागों में खरोष्ठी लिपि प्रचलित थी। खरोष्ठी लिपि में लिखा हुआ होने से यह प्राकृत-धम्मपद खरोष्ठी धम्मपद भी कहा जाता है। इसका समय ईसा की दूसरी शती माना जाता है। इसमें जो प्राकृत प्रयुक्त है, भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेश से सम्बद्ध प्रतीत होती है।

निय प्राकृत

निय एक प्रदेश का नाम है, जो चीनी तुर्किस्तान के अन्तर्गत है। वहाँ ई० सन् १६००-१६१४ के मध्य खरोष्ठी लिपि में कुछ लेख मिले। प्राप्तकर्ता आरैल स्टेन नामक विद्वान् थे। अनेक विद्वानों ने इन लेखों का बारीकी से अध्ययन किया। अन्ततः सुप्रसिद्ध भाषा-शास्त्री श्री टी० बरो ने इनका माषात्मक दृष्टि से गम्भीर परिशीलन करने के पश्चात् इन्हें प्राकृत-लेख बताया। इनमें प्रयुक्त प्राकृत भी प्रायः भारत के पश्चिमोत्तर-प्रदेश से सम्बद्ध जान पड़ती है। लेख प्राप्ति के स्थान के आधार पर इसकी प्रसिद्धि 'निय प्राकृत' के नाम से हुई। इसका समय ई० तीसरी शती माना जाता है।

इस क्रम में अब वे प्राकृतें आती हैं, जिनमें अर्द्ध मागधी शौरसेनी आदि हैं। हम अर्द्ध मागधी पर विशेष रूप से विचार करेंगे। श्वेताम्बर, जैन-आगम, जो अर्द्ध मागधी में संग्रहित हैं मध्यकालीन आर्य-भाषा-काल की एक अमूल्य साहित्य-निधि है।

अर्द्ध मागधी

अर्द्ध मागधी शब्द की व्याख्या दो प्रकार से की जाती है। शूरसेन-प्रदेश (मथुरा-ब्रजभूमि से लेकर पश्चिमी उत्तर-प्रदेश का काफ़ी भाग) में शौरसेनी प्राकृत तथा मगध-प्रदेश में मागधी प्राकृत का प्रचलन था। पूर्व भारत के उस भाग की भाषा, जो मागधी और शौरसेनी भाषी क्षेत्रों के बीच की थी अर्द्ध मागधी कहलाई। एक व्याख्या तो यह है।

दूसरी व्याख्या के अनुसार वह भाषा जिसमें मागधी के आधे लक्षण मिलते थे, अर्द्ध मागधी के नाम से अभिहित हुई। मागधी के मुख्य तीन लक्षण हैं—

१. मागधी में तालव्य श मूर्धन्य ष और दन्त्य स—तीनों के स्थान पर या सर्वत्र तालव्य श का प्रयोग होता है।

२. र के स्थान पर ल होता है।

३. अकारान्त शब्दों की प्रथमा विभक्ति के एक वचन का प्रत्यय ए होता है।

मागधी के ये तीन लक्षण अर्द्ध मागधी में पूरे घटित नहीं होते, आधे घटित होते हैं। जैसे—

१. अर्द्ध मागधी में तालव्य श का प्रयोग नहीं होता।

२. र के स्थान पर ल का कहीं-कहीं प्रयोग होता है।

३. अकारान्त शब्दों की प्रथमा विभक्ति के एकवचन में प्रायः ए प्रत्यय प्रयुक्त होता है।

यों 'ए' के प्रयोग की प्रायः पूरी तथा ल के प्रयोग की आधी व्यापकता अर्द्ध मागधी में है। अर्थात् मागधी के तीन लक्षणों का लगभग अर्द्ध अंश इस पर लागू होता है इसलिए इसकी संज्ञा अर्द्ध मागधी हुई।

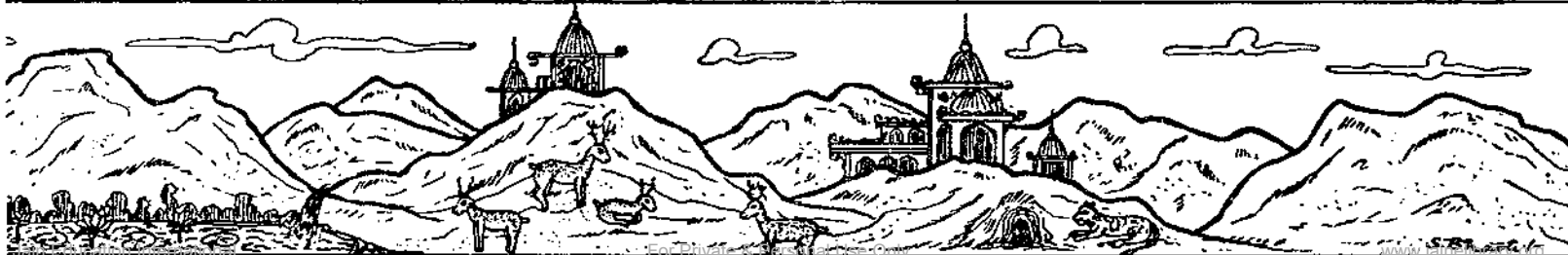
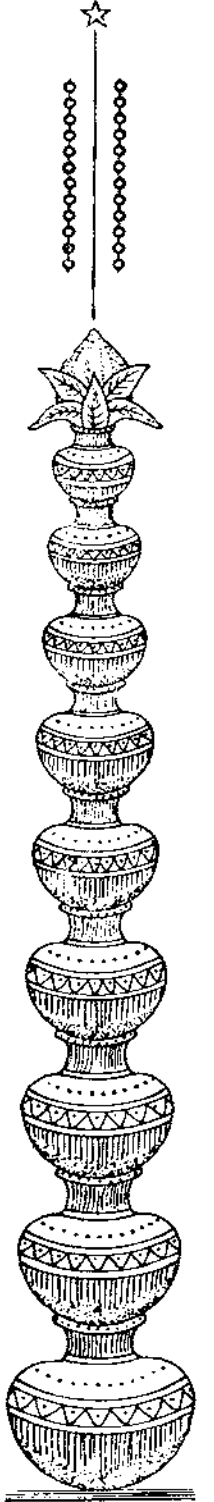
सामान्यतः अर्द्ध मागधी की निम्नांकित पहचान है—

१. इसमें तालव्य श, मूर्धन्य ष तथा दन्त्य स—तीनों के लिए केवल दन्त्य स का ही प्रयोग होता है। शौरसेनी तथा महाराष्ट्री में भी ऐसा ही है।

२. दन्त्य वर्ण अर्थात् तवर्ण आदि मूर्धन्य वर्ण टवर्ण आदि के रूप में प्राप्त होते हैं।

३. दूसरी प्राकृतों में प्रायः स्वरों के मध्यवर्ती स्पर्श (कवर्ण से पवर्ण तक के) वर्ण लुप्त हो जाते हैं—वहाँ अर्द्ध मागधी में प्रायः 'य' श्रुति प्राप्त होती है।

४. सप्तमी विभक्ति—अधिकरण कारक में इसमें ए और ष्मि के सिवाय अंसि प्रत्यय का भी प्रयोग पाया जाता है।



यह सामान्यतः प्राकृतों का तथा तदन्तर्गत अर्द्धमागधी का भाषा-वैज्ञानिक निरूपण है। यही अर्द्धमागधी श्वेताम्बर आगमों की भाषा है। पर, आगमों का जो रूप हमें प्राप्त है, उसका संकलन शताब्दियों पश्चात् का है। उस सम्बन्ध में दया स्थान चर्चा करेंगे।

एक प्रश्न : एक समाधान

महावीर तथा बुद्ध समसामयिक थे, दोनों का प्रायः समान क्षेत्र में विहरण हुआ फिर दोनों की भाषा में अन्तर क्यों है? यह एक प्रश्न है। बुद्ध मागधी में बोले और महावीर अर्द्धमागधी में। विस्तार में न जाकर बहुत संक्षेप में कुछ तथ्यों की यहाँ चर्चा कर रहे हैं। बुद्ध कौशल के राजकुमार थे। उनका कार्य-क्षेत्र मुख्यतः मगध और विदेह था। कौशल में प्रचलित जन-भाषा मगध और विदेह में साधारण लोगों द्वारा सरलता व सहजता से समझी जा सके, यह कम संभव रहा होगा। अतः बुद्ध को मागधी, जो मगध साम्राज्य की केन्द्रीय भाषा होने से उस समय बहुसम्मत भाषा थी, मगध और विदेह में तो वह समझी ही जाती थी, कौशल आदि में भी उसे अधिक न सही, साधारणतया लोग संभवतः समझ सकते रहे हों, अपनाने की आवश्यकता पड़ी हो। महावीर के लिए यह बात नहीं थी। वे विदेह के राजकुमार थे। जो भाषा वहाँ प्रचलित थी, वह मगध, विदेह आदि में समझी ही जाती थी अतः उन्हें यह अपेक्षित नहीं लगा हो कि वे मगध की केन्द्रीय भाषा को स्वीकार करें।

जैन आगमों का परिगठन

हमारे देश में प्राचीन काल से शास्त्रों को कण्ठस्थ रखने की परम्परा रही है। वेदों को जो श्रुति कहा जाता है, वह इसी भाव का द्योतक है। अर्थात् उन्हें गुरु-मुख से सुनकर याद रखा जाता था। बौद्ध पिटकों और जैन आगमों की भी यही स्थिति है। आगे चलकर बौद्ध तथा जैन विद्वानों को यह अपेक्षित प्रतीत हुआ कि शास्त्रों का क्रम व रूप भादि सुव्यवस्थित किये जाएँ ताकि उनकी परम्पराएँ अक्षुण्ण रहें। बौद्ध पिटकों की संगीतियाँ और जैन आगमों की वाचनाएँ इसका प्रतिफल है। बौद्ध पिटकों की मुख्यतः क्रमशः तीन संगीतियाँ हुईं, यद्यपि समय का अन्तर है पर, जैन आगमों की भी तीन वाचनाएँ हुईं।

प्रथम वाचना

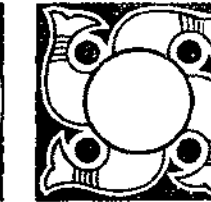
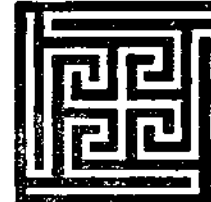
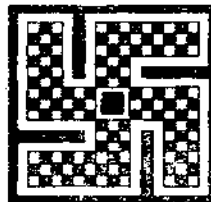
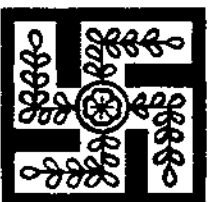
जैन आगमों की पहली वाचना अग्निम श्रुत-केवली आचार्य भद्रबाहु के शिष्य आचार्य स्थूलभद्र के समय में पाटलिपुत्र में हुई। तत्कालीन द्वादशवर्षीय दुष्काल के कारण अनेक श्रुतधर साधु दिवंगत हो गये थे। जो थोड़े-बहुत बचे हुए थे, वे इधर-उधर बिलरे हुए थे। यह भय था कि श्रुत-परम्परा कहीं विच्छिन्न न हो जाए अतः बुभिक्ष की समाप्ति के पश्चात् इसकी आयोजना की गई। इसमें दृष्टिवाद के अतिरिक्त ग्यारह अंगों का संकलन हुआ। दृष्टिवाद के संकलन का प्रयत्न तो हुआ पर उसमें पूर्ण सफलता नहीं मिल सकी।

इस द्वादशवर्षीय दुष्काल का समय वीर निर्वाण के १६० वर्ष पश्चात् अर्थात् लगभग ई० पूर्वं ३६७ वर्ष माना जाता है। तब उत्तर भारत में चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्य था। समय का तारतम्य बिठाने के लिए यह भी ज्ञातव्य है कि आचार्य स्थूलभद्र का दिवंगमन वीर निर्वाण के २१६ वर्ष पश्चात् माना जाता है।

द्वितीय वाचना

दूसरी वाचना का समय वीर निर्वाण के ८२७ वर्ष या ८४० वर्ष पश्चात् तदनुसार ईसवी सन् ३०० या ३१३ माना जाता है। यह वाचना आर्य स्कन्दिल के नेतृत्व में मथुरा में हुई। इस वाचना के साथ भी बुभिक्ष का सम्बन्ध जुड़ा है। भयानक अकाल के कारण भिक्षा मिलना दुर्लभ हो गया। विश्व साधु बहुत कम रह गये थे। आगम छिन्न-भिन्न होने लगे। इस दुष्काल के पश्चात् आयोजित सम्मेलन में उपस्थित साधुओं ने अपनी स्मृति के अनुसार आगम संकलित किये। मथुरा में होने के कारण इसे माथुरी वाचना कहा जाता है।

लगभग इसी समय सौराष्ट्र के वलभी नामक नगर में एक और साधु-सम्मेलन हुआ। आगम संकलित हुए।



इसका नेतृत्व श्री नागार्जुन सूरि ने किया। अतः इसे नागार्जुनी वाचना कहा जाता है। बलभी में होने से प्रथम बलभी-वाचना भी कहा जाता है।

माथुरी और नागार्जुनी वाचना में आगम-सूत्रों का पृथक्-पृथक् संकलन हुआ। परस्पर कहीं-कहीं पाठ-भेद भी रह गया। संयोग ऐसा बना कि वाचना के पश्चात् आर्य स्कन्दिल और नागार्जुन सूरि का परस्पर मिलन नहीं हो सका। इसलिए वाचना-भेद जैसा था, बना रह गया।

तृतीय या अन्तिम वाचना

भगवान महावीर के निर्वाण के ६८० वर्ष बाद या कइयों के मत में ६६३ वर्ष के अनन्तर तदनुसार इसवी सन् ४५३ या ४६६ में बलभी में एक साधु-सम्मेलन का आयोजन हुआ। इसके अधिनेता देवद्विगणी क्षमाश्रमण थे। आगम व्यवस्थित रूप से पुनः संकलित कर लिपिबद्ध किये जाएँ, यह सम्मेलन का उद्देश्य था। क्योंकि लोगों की स्मृति पहले जितनी नहीं रह गई थी। इसलिए भय होता जा रहा था कि यदि स्मृति के सहारे रहा जायेगा तो शायद हम परम्परा-प्राप्त श्रुत खो बैठेंगे।

इसे तृतीय या अन्तिम वाचना और बलभी की द्वितीय वाचना कहा जाता है। आगमों का संकलन हुआ। वे लिपिबद्ध किये गये। वही संकलन श्वेताम्बर जैन आगमों के रूप में आज प्राप्त है।

दिगम्बर-मान्यता

दिगम्बर जैन श्रुतांगों के नाम आदि तो प्रायः श्वेताम्बरों के समान ही मानते हैं। पर उनके अनुसार आगम-श्रुत का सर्वथा विच्छेद हो गया। दिगम्बरों द्वारा षट्खण्डागम-साहित्य आगम-श्रुत की तरह ही समाहृत है। षट्खण्डागम की रचना आचार्य भूतबलि और पुष्पदन्त द्वारा की गई, जिनका समय ईसा की प्रथम-द्वितीय शती के आस-पास माना जाता है।

षट्खण्डागम की भाषा शौरसेनी प्राकृत है, इसे जैन शौरसेनी कहा जाता है क्योंकि इस पर अर्द्ध मागधी की छाप है। दिगम्बर आचार्यों द्वारा और भी जो धार्मिक साहित्य रचा गया, वह (जैसे आचार्य कुन्द-कुन्द के समयसार, प्रवचन सार, पञ्चास्तिकाय आदि ग्रन्थ तथा इसी तरह अन्यान्य आचार्यों की कृतियाँ प्रायः इसी (शौरसेनी प्राकृत) में है। ऐसा प्रतीत होता है कि उत्तर भारत में शूरसेन-प्रदेश दिगम्बर-जैनों का मुख्य केन्द्र रहा था अतः वहीं की प्राकृत को दिगम्बर-आचार्यों व लेखकों ने धार्मिक भाषा के रूप में स्वीकार कर लिया। इसी का यह परिणाम था कि द्रविड-भाषा-परिवार के क्षेत्र—दक्षिण देश के दिगम्बर-आचार्यों ने भी धार्मिक ग्रन्थों की रचना शौरसेनी में ही की, जबकि उनकी मातृभाषाएँ तमिल, कन्नड़ या तेलगू आदि थी। शौरसेनी के साथ कुछ धार्मिक पावित्र्य का भाव जुड़ गया था। महान् लेखक आचार्य कुन्द-कुन्द, जिन्हें दिगम्बर-परम्परा में श्रद्धास्पदता की कोटि में आर्य जम्बू के बाद सर्वातिशायी गिना जाता^५ है, वे (तमिल देशोत्पन्न) दक्षिणात्य ही थे।

आगम : रूप : भाषा : प्रामाणिकता

प्रश्न उठना स्वाभाविक है, २५०० वर्ष पूर्व जो श्रुत अस्तित्व में आया, अन्ततः लगभग एक सहस्र वर्ष पश्चात् जिसका संकलन हुआ और लेखन भी; उद्भव और लेखन की मध्यवर्ती अवधि में आगम-श्रुत में क्या कुछ भी परिवर्तन नहीं आया, भगवान महावीर के अनन्तर जैन-धर्म केवल बिहार या उसके आस-पास के क्षेत्रों में ही नहीं रहा, वह भारत के दूर-दूर के प्रदेशों में फैलता गया, जहाँ प्रचलित भाषाएँ भिन्न थीं। इसके अतिरिक्त अनेक भिन्न-भिन्न प्रदेशों के लोग श्रमण-धर्म में प्रवृत्त हुए, जिनकी मातृभाषाएँ भिन्न-भिन्न थीं, फिर यह कैसे संभव है कि उनके माध्यम से आगे बढ़ता आगमिक वाक्प्रवाह उसी रूप में स्थिर रह सका, जैसा भगवान महावीर के समय में था। किसी अपेक्षा से बात तो ठीक है, कोई भी भाषा-शास्त्रीय विद्वान् यह कहने का साहस नहीं कर सकता कि आगमों का आज ठीक अक्षरशः वही रूप है, जो उनके उद्भव-काल में था। पर यह तथ्य भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है कि शब्द-प्रामाण्य में सर्वाधिक आस्था और अमिहृति होने के कारण इस ओर सभी श्रमणों का प्रबल झुकाव रहा कि आगमिक शब्दावली में जरा भी परिवर्तन न हो।



आगमों की शब्द-संरचना का अधिकांशतः यह प्रकार है—गणधर गौतम तीर्थंकर महावीर से जिज्ञासा करते हैं, महावीर उत्तर देते हैं। आगे जम्बू सुधर्मा से प्रश्न करते हैं, सुधर्मा समाधान करते हैं पर, वे अपनी समाधायक शब्दावली का तांता तीर्थंकर महावीर की वाणी से जोड़ते हैं अर्थात् उनके उत्तर की भाषा कुछ इस प्रकार की बनती है कि यही प्रश्न गौतम द्वारा पूछे जाने पर भगवान महावीर ने इसका इस प्रकार उत्तर दिया था। तीर्थंकरभाषिता या आर्षता का सम्बन्ध शब्द-समुच्चय के साथ सदा बना रहे, ऐसा भाव रहने की ध्वनि इससे निकलती है, जिससे उपर्युक्त तथ्य समर्थित होता है।

आगम-पाठ के परम्परा-स्रोत के सम्बन्ध में एक बात और ज्ञातव्य है। जैन-शास्त्रों के अनुसार आचार्य आगमों की अर्थ-वाचना देते हैं अर्थात् वे आगम पाठगत अर्थ—आशय का विश्लेषण-विवेचन कर उसका भाव अन्तेवासियों को हृदयंगम कराते हैं। उपाध्याय सूत्र-वाचना देते हैं, जिसका तात्पर्य यह है कि सूत्रों के पाठोच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्त्यता या स्थिरता बनाये रखने के हेतु उपाध्याय पारम्परिक तथा शब्दशास्त्रीय दृष्टि से अन्तेवासी श्रमणों को मूल पाठ का सांगोपांग शिक्षण देते हैं।

अनुयोग द्वार सूत्र में 'आगमतः द्रव्यावश्यक' के सन्दर्भ में पाठन या वाचन का विवेचन करते हुए तत्सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रतीत होता है कि पाठ की एक अक्षुण्ण तथा स्थिर परम्परा जैन-श्रमणों में रही है। आगम-पाठ को यथावत् बनाये रखने में इससे बड़ी सहायता मिली है।

आगम-गाथाओं का उच्चारण कर देना मात्र पाठ या वाचन नहीं है। अनुयोग द्वार सूत्र में पद के शिक्षित, स्थित, जित, भित, परिजित, नामसम, दोषसम, अहीनाक्षर, अनत्यक्षर, अव्याविद्धाक्षर, अस्खलित, अमिलित, अव्यत्या-अडित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्ण घोष तथा कण्ठोष्ठविप्रमुक्त—ये सोलह विशेषण दिये गये हैं।

इन सबके विश्लेषण का यहाँ अवकाश नहीं है। इस सारे विवेचन का तात्पर्य यही है कि आगम-वाङ्मय का शाब्दिक रूप यथावत् रहे, इस ओर प्राचीनकाल से ही अत्यधिक जागरूकता बरती जाती रही है।

इतना सब होते हुए भी यह नहीं कहा जा सकता कि आगमों के शाब्दिक रूप में किञ्चित् मात्र भी परिवर्तन नहीं हुआ। यदि ऐसा होता तो आचारंग व सूत्रकृतांग में प्रयुक्त भाषा के समकक्ष या सदृश भाषा का ही प्रयोग अन्य अंग, उपांग आदि ग्रन्थों में भी होता। पर, वैसा नहीं है। थोड़ी ही सही भाषात्मक भिन्नता है, जो कालिक स्तर-भेद पर आवृत्त है। इससे यह सिद्ध होता है कि आगमों में शाब्दिक या भाषात्मक कुछ न कुछ परिवर्तन हुआ ही है पर, उपर्युक्त अत्यधिक जागरूकता के कारण वह अपेक्षाकृत कम हुआ है, जिससे आगम आज भी अपने मूल रूप से इतने दूर नहीं कहे जा सकते, जिससे उनकी मौलिकता व्याहत हो।

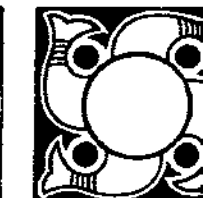
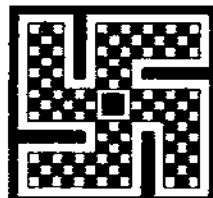
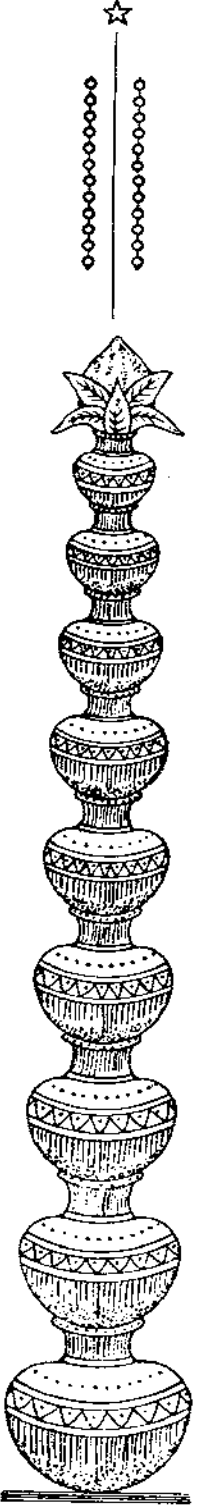
महाराष्ट्री में रचनाएँ

प्राकृत में प्रबन्ध-काव्य, आख्यायिका, चरित-कथा आदि जो साहित्य रचा गया, वह महाराष्ट्री (प्राकृत) में है। डॉ० सुकुमार सेन, डॉ० मनमोहन घोष आदि भारतीय भाषा वैज्ञानिक महाराष्ट्री को शौरसेनी का उत्तरवर्ती विकसित रूप मानते हैं।

महाराष्ट्री में व्यञ्जन-लोप तथा य श्रुति की प्रधानता है; जिससे श्लेष, यमक आदि पद-सौन्दर्य प्रधान, अनेकार्थक रचनाएँ बड़ी सुगमता और उत्कृष्टता से साध्य हैं। महाराष्ट्री का साहित्य बहुत समृद्ध है। महाकवि हाल की गाहासत्तसई (गाथा-सप्तशती), प्रवरसेन का रावणवहो (रावणवधः) या सेतुबन्ध, जयवल्लभ का वज्जालम्भ (वज्जालम्भ), हरिमद्र की समराइच्चकहा (समरादित्य-कथा), उद्योतन की कुवलयमाला आदि इस भाषा की अमर कृतियाँ हैं।

तृतीय प्राकृतकाल या अपभ्रंशकाल

प्राकृतों का विकास अपभ्रंशों के रूप में हुआ। इनका समय ७०० ईसवी से १००० ईसवी तक माना जाता है। अपभ्रंशों के भी प्राकृतों की तरह अनेक भेद थे। उनमें नागर, उपनागर एवं घ्रायड़ मुख्य थे। अवहट्ट, अवहत्थ, अवहंस आदि इसके पर्याय हैं। इनका संस्कृत रूप अपभ्रष्ट या अपभ्रंश है। यहाँ एक बात और ध्यान देने योग्य है। जब कोई बोली साहित्यिक रूप ले लेती है, तदनुसार व्यवस्थित तथा परिनिष्ठित हो जाती है, तब उसका बोलचाल में प्रयोग नहीं



रहता। फलतः लोक-व्यवहार हेतु एक नई बोली का उद्भव होता है, जिसमें सरलीकृत, सर्व सुगम शब्दों का प्रयोग होने लगता है। व्याकरण-शुद्धता का स्थान वहाँ गौण होता है, भावज्ञापन का मुख्य। इस प्रकार नवोद्भूत बोलियों या प्राक्तन बोलियों के जन-जन द्वारा व्याहृत्यमाण ये सरल एवं सुबोध्य शब्द, जो उक्त साहित्यिक भाषा के व्याकरण से असिद्ध होते हैं, पण्डितों द्वारा विकृत, अशुद्ध, भ्रष्ट, अपभ्रष्ट या अपभ्रंश युक्त माने जाते हैं। ऐसे शब्दों के प्रयोग में दोष तक कहा गया है।

महामाष्य का एक प्रसंग है। व्याकरण के प्रयोजनों के विश्लेषण के सन्दर्भ में कहा गया है कि वह शब्दों का शुद्ध प्रयोग सिखाती है। उसी प्रसंग में शब्दों के शुद्ध प्रयोग पर विशेष बल देते हुए कहा है—

“शब्दों के प्रयोग में निपुण व्यक्ति व्यवहार करते समय शब्दों का यथावत् रूपेण शुद्ध प्रयोग करता है। वाक्-योग अर्थात् शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानने वाला वह व्यक्ति परलोक में अनन्त जय, अपरिसीम सौभाग्य प्राप्त करता है। जो व्यवहार में अपशब्दों का प्रयोग करता है, वह दोष—पाप का भागी होता है। ऐसा क्यों? इसलिए कि जो शब्दों को जानता है, वह अपशब्दों को भी जानता है। जैसे शब्दों के जानने में धर्म है, वैसे ही अपशब्दों के जानने में अधर्म है, अपशब्द बहुत हैं, शब्द थोड़े हैं।”^७

आगे अपशब्दों के उदाहरण देते हुए महामाष्यकार ने कहा है—

“एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश अर्थात् अपभ्रष्ट (विगड़ते हुए) रूप हैं। जैसे गौः के लिए गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका आदि अनेक अपभ्रंश हैं।”

महामाष्यकार के कथन से स्पष्ट है कि व्याकरण-परिविकृत भाषा के साथ-साथ जन-साधारण में प्रसृत लोक-भाषा के अनेक रूप उनके समक्ष थे, जिनमें प्रयुज्यमान शब्दों का शुद्ध भाषा—संस्कृत में प्रयोग न करने की ओर उनका विशेष रूप से संकेत है।

इस सन्दर्भ में भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से चिन्तन का प्रकार दूसरा है। वहाँ परिनिष्ठित, व्याकरण की सीमाओं से परिवर्द्ध भाषा से उद्गत जन-भाषा, जिसमें जन-साधारण की सुविधा के हेतु असंश्लिष्ट तथा सरलीकृत शब्द प्रयुक्त होते हैं, विकृति नहीं कही जाती, भाषा-वैज्ञानिकों के शब्दों में वह पिछली भाषा की विकासावस्था है। भाषा-जगत् में यह विकास-क्रम अनवरत चलता रहता है, जिसकी अपनी उपयोगिता है।

अस्तु-उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि अपभ्रंश शब्द आर्यभाषा-काल के प्राचीन युग में भी प्रयोग में आता रहा है पर, वह भाषा-विशेष के अर्थ में नहीं था। वह उन शब्दों के अर्थ में था, जो पंडितों की दृष्टि से विकृत तथा भ्रष्ट थे और भाषावैज्ञानिकों की दृष्टि से विकसित।

यहाँ मध्यकालीन आर्यभाषा-काल के विवेचन में प्रयुक्त अपभ्रंश शब्द जैसा कि पहले संकेत किया गया है, उन भाषाओं के लिए है, जो विभिन्न प्राकृतों के उत्तरवर्ती विकसित रूप लिये हुए थीं। आगे चलकर अपभ्रंश में प्रचुर परिमाण में लोक-साहित्य रचा गया। आचार्य हेमचन्द्र ने अपने प्राकृत-व्याकरण में प्राकृत (महाराष्ट्री), मागधी, अर्द्ध-मागधी (आर्ध), शौरसेनी, पेशाची, चूलिका पेशाची—इन प्राकृत भेदों के साथ अपभ्रंश को भी प्राकृत का एक भेद मानते हुए विवेचन किया है। विशेषतः अपभ्रंश के वे उदाहरण, जो हेमचन्द्र ने उपस्थित किये हैं, अनेक अपेक्षाओं से महत्त्वपूर्ण हैं। हेमचन्द्र जिस प्रदेश में थे, वह नागर-अपभ्रंश का क्षेत्र रहा था। नागर का अपभ्रंशों में विशिष्ट स्थान है।

अपभ्रंशों के साथ मध्यकालीन आर्यभाषा-काल परिसमाप्त हो जाता है। विकास-क्रम के नैसर्गिक नियम के अनुसार विभिन्न अपभ्रंश आधुनिक भाषाओं के रूप में परिणत हो जाते हैं।

प्राकृत-वाङ्मय : परिशीलन : महत्त्व

प्राकृत-साहित्य, विशेषतः अर्द्धमागधी आगमों के रूप में संग्रहित प्राकृत-वाङ्मय के अध्ययन का केवल जैन-सिद्धान्त ज्ञान की दृष्टि से ही नहीं, अनेक दृष्टियों से असाधारण महत्त्व है। इस प्राचीन भाषा का इतना विराट् और विपुल साहित्य और किसी भी रूप में कहीं भी उपलब्ध नहीं है। सहस्राब्दियों पूर्व का भारतीय लोक-जीवन, सामाजिक परम्पराएँ, धार्मिक मान्यताएँ, चिन्तन-धाराएँ, व्यापार-व्यवसाय, कृषि, कला, वाणिज्य, राजनीति, अध्यात्म-साधना



की विभिन्न पद्धतियाँ आदि अनेक ऐसे सन्दर्भ हैं, जिनके व्यापक एवं तुलनात्मक ज्ञान के दृष्टिकोण से इस वाङ्मय का परिशीलन नितान्त उपयोगी है।

भाषाशास्त्रीय अध्ययन तथा मध्यकालीन आर्य-भाषाओं के अन्तिम रूप अपभ्रंश से विकसित आधुनिक आर्य-भाषाओं के व्यापक व तलस्पर्शी ज्ञान की दृष्टि से भी प्राकृतों का अध्ययन अत्यन्त उपयोगी है, आवश्यक है। सुप्रसिद्ध विद्वान् स्व० डॉ० वामुदेवशरण अग्रवाल ने लिखा है—

“.....प्राकृत का ज्ञान केवल पुरानी हिन्दी को समझने के लिए ही नहीं प्रत्युत पुरानी राजस्थानी, पुरानी गुजराती, पुरानी मराठी, पुरानी बंगला, पुरानी मैथिली के साहित्य को समझने के लिए भी एक अनुपम आधार है। वास्तव में प्राकृत का ज्ञान मध्यकालीन आर्य-भाषा परिवार की सभी भाषाओं को समझने में एक-सा उयोगी है।”^१

खेद के साथ लिखना पड़ता है कि हमारे देश में प्राकृतों के अध्ययन की परम्परा के उत्तरोत्तर क्षीण होते जाने के कारण ज्ञान के क्षेत्र में भाषात्मक सूक्ष्म परिशीलन का पक्ष अपेक्षाकृत दुर्बल हो गया। आज इस ओर अध्ययन के क्षेत्र में कुछ चेतना दृष्टिगोचर हो रही है। वह उत्तरोत्तर प्रगतिशील तथा विकसित बनती जाए, यह सर्वथा वाञ्छनीय है।

१ दशकैकालिक वृत्ति, पृ० २०३

२ अकृत्रिमस्वादुपदां, परमार्थाभिधायिनीम् ।

सर्वभाषा परिणतां, जैनीं वाचमुपास्महे ॥

—(आचार्य हेमचन्द्र रचित काव्यानुशासन प्रथम कारिका)

—काव्यानुशासन की अलंकार चूडामणि नामक स्वोपज्ञ टीका में इस कारिका की व्याख्या के अन्तर्गत—अकृत्रिमणि असंस्कृतानि, अतएव स्वादूनि मन्दधियामपि पेशलानि पदानि यस्यामिति विग्रहः।.....तथा सुरनर तिरश्चां विचित्रासु भाषासु परिणतां तन्मयतां गतां सर्वभाषा परिणताम् । एक रूपाऽपि हि भगवतोऽर्धमागधी भाषा वारिद विमुक्तवारिवद् आश्रयानुरूपतया परिणमति ।

इसी प्रसंग में निम्नांकित प्राचीन श्लोक भी उद्धृत किया गया है—

देवा देवीं नरा नारीं, शबराश्चापि शबरीम् ।

तिर्यञ्चोऽपि हि तैरर्चोर्ची, भेनिरे भगवद् गिरम् ॥

३ आरिसवयणे सिद्धं देवाणं अद्धमागहा वाणी ।

४ Comparative grammar of the Prakrit languages, Page 4

५ मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं गौतमो गणी ।

मंगलं कुन्दकुन्दार्यो, जैनधर्मस्तु मंगलम् ॥

६ अनुयोगद्वार सूत्र १६

७ यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे, शब्दान् यथावद् व्यवहार काले ।

सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र, वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ॥

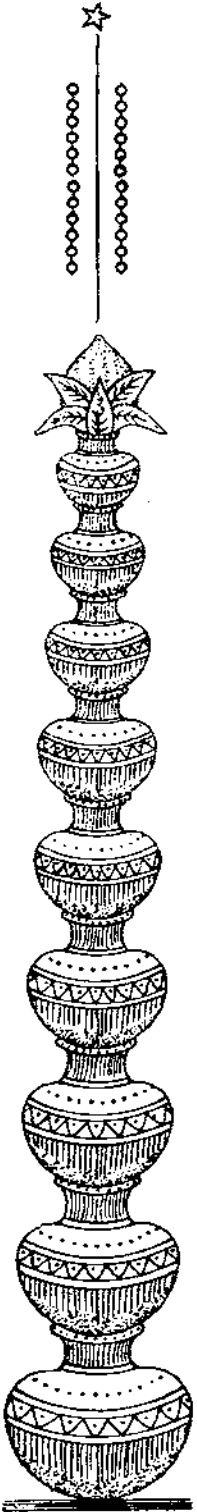
कः ? वाग्योगविदेव ! कृत एतत् ? यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमप शब्दज्ञानेऽप्यधर्मः, अथवा भूयान् धर्मः प्राप्नोति । भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति ।—महाभाष्य प्रथम आह्निक पृष्ठ ७-८

८ एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा—गौदित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येव मादयोऽपभ्रंशः ।

—महाभाष्य प्रथम आह्निक पृष्ठ ८

9the knowledge of Prakrit in an ambrosia for understanding not only the old-Hindi literature but also the literature in Old-Rajasthani, Old-Gujarati, Old-Marathi, Old-Bengali, Old-Maithili etc., and in fact for all the languages of the Middle Indo-Aryan group.

—पाइस सह महण्णवो की प्रस्तावना, पृष्ठ I



□ देवेन्द्र मुनि शास्त्री, साहित्यरत्न

जैन परम्परा में तर्क-विद्या और तर्क-प्रधान वाङ्मय के आद्य प्रणेता आचार्य सिद्धसेन का अन्तरंग परिचय ऐतिहासिक विवेचना के साथ प्रस्तुत है।

जैन न्याय के समर्थ पुरस्कर्ता : सिद्धसेन दिवाकर

□

भारतवर्ष पर सरस्वती की बड़ी कृपा रही है जिसके फलस्वरूप यहाँ पर समय-समय पर अनेक लेखक, कवि, दार्शनिक और विचारक हुए हैं जिन्होंने महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों का निर्माण कर अपनी प्रकृष्ट प्रतिभा का परिचय दिया। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर भी उन्हीं मूर्धन्य लेखकों में से एक हैं जिन्होंने जैन साहित्य को अनेक दृष्टियों से समृद्ध बनाया जैन परम्परा में तर्क-विद्या और तर्क-प्रधान संस्कृत वाङ्मय के वे आद्य प्रणेता हैं।¹ कवित्व की दृष्टि से जब हम उनके साहित्य का अध्ययन करते हैं, तो कवि कुल गुरु कालिदास और अश्वघोष का सहज ही स्मरण हो आता है। पण्डित सुखलालजी ने उनको प्रतिभा-मूर्ति कहा है,² यह अत्युक्ति नहीं है। जिन्होंने उनका प्राकृत ग्रन्थ 'सन्मति तर्क' देखा है, या उनकी संस्कृत द्वात्रिंशिकाएँ देखी हैं, वे उनकी प्रतिभा की तेजस्विता से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सकते। जैन-साहित्य की जो न्यूनता थी, उसी की पूर्ति की ओर उनकी प्रतिभा का प्रयाण हुआ। उन्होंने चवित-चवंगेण नहीं किया। उन्होंने टीकाएँ नहीं लिखीं किन्तु समय की गतिविधि को निहार कर उन्होंने तर्क-संगत अनेकान्तवाद के समर्थन में अपना बल लगाया। सन्मति तर्क जैसे महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थ का सृजन किया। सन्मति तर्क जैन दृष्टि से और जैन मन्तव्यों को तर्क शैली से स्पष्ट करने तथा स्थापित करने वाला जैन-साहित्य में सर्वप्रथम ग्रन्थ है। उत्तरवर्ती सभी श्वेताम्बर और दिगम्बर आचार्यों ने उसका आश्रय लिया है।

सन्मति तर्क में नयवाद का अच्छा विवेचन है। इसमें तीन काण्ड हैं। प्रथम काण्ड में द्रव्याधिक और पर्यायाधिक दृष्टि का सामान्य विचार है। दूसरे काण्ड में ज्ञान और दर्शन पर सुन्दर चर्चा है। तृतीय काण्ड में गुण और पर्याय, अनेकान्त दृष्टि और तर्क के विषय में अच्छा प्रकाश डाला गया है।

नय सात हैं। आगमों में सात नयों का उल्लेख है।³ नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्र, शब्द, सममिरुद्ध और एवंभूत। इन सभी नयों को द्रव्याधिक और पर्यायाधिक इन दो नयों में समाविष्ट किया जा सकता है। द्रव्याधिक दृष्टि में सामान्य या अभेदमूलक समस्त दृष्टियों का समावेश हो जाता है। विशेष या भेदमूलक जितनी भी दृष्टियाँ हैं उन सबका समावेश पर्यायाधिक दृष्टि में हो जाता है। आचार्य सिद्धसेन ने इन दोनों दृष्टियों का समर्थन करते हुए लिखा कि श्रमण भगवान महावीर के प्रवचन में मूलतः दो ही दृष्टियाँ हैं—द्रव्याधिक और पर्यायाधिक, शेष सभी दृष्टियाँ इन्हीं की शाखाएँ-प्रशाखाएँ हैं।⁴ तत्त्व का कोई पहलू इन दो दृष्टियों का उल्लंघन नहीं कर सकता। क्योंकि या तो वह सामान्य होगा या विशेषात्मक। इन दो दृष्टियों को छोड़कर वह कहीं नहीं जा सकता।⁵ आचार्य सिद्धसेन ने अनुभव किया कि दार्शनिक जगत् में इन दो दृष्टियों के कारण ही झगड़ा होता है। कितने ही दार्शनिक द्रव्याधिक दृष्टि को ही अन्तिम सत्य मानते हैं, तो कितने ही पर्यायाधिक दृष्टि को। इन दोनों दृष्टियों का एकान्त आग्रह ही क्लेश का कारण है। अनेकान्त दृष्टि ही दोनों का समान रूप से सम्मान करती है। वही सत्य दृष्टि है।

इस प्रकार कार्य-कारण भाव का जो संघर्ष चल रहा है, उसे अनेकान्तवाद की दृष्टि से सुलझाया जा सकता है। कार्य और कारण का एकान्त भेद मिथ्या है। न्याय-वैशेषिक दर्शन एतदर्थ ही अपूर्ण है। सांख्य का यह मन्तव्य है कि कार्य और कारण में एकान्त अभेद है। कारण ही कार्य है अथवा कार्य, कारण रूप ही है। यह अभेद-दृष्टि भी



एकांगी है। आचार्य सिद्धसेन ने द्रव्याधिक और पर्यायाधिक दृष्टि के आधार से कार्य और कारण का प्रस्तुत विरोध नष्ट किया। कारण और कार्य में द्रव्याधिक दृष्टि से कोई भेद नहीं है। पर्यायाधिक दृष्टि से दोनों में भेद है। अनेकान्त दृष्टि से दोनों को सही माना जाता है। सत्य तथ्य यह है, कि न कार्य-कारण में एकान्त भेद है न एकान्त अभेद ही है। यही समन्वय का श्रेष्ठ मार्ग है। असत्कार्यवाद और सत्कार्यवाद ही सम्यक् दृष्टि है।⁵

तत्त्व चिन्तन के सम्यक् पथ का विश्लेषण करते हुए उन्होंने आठ बातों पर बल दिया। वे आठ बातें यह हैं— (१) द्रव्य, (२) क्षेत्र, (३) काल, (४) भाव, (५) पर्याय, (६) देश, (७) संयोग और (८) भेद।⁶ इन आठ में पहले की चार बातें स्वयं भगवान महावीर ने बताई हैं। उनमें पीछे की चार बातों का भी समावेश हो जाता है किन्तु सिद्धसेन ने दृष्टि और पदार्थ की सम्यक् प्रकार से व्याख्या करने के लिये आठ बातों पर प्रकाश डाला।

आचार्य सिद्धसेन पूर्ण तार्किक थे तथापि वे तर्क की मर्यादा समझते थे। तर्क की अप्रतिहत गति है, ऐसा वे नहीं मानते। उन्होंने अनुभव को श्रद्धा और तर्क इन दो भागों में बाँटा। एक क्षेत्र में तर्क का साम्राज्य है, तो दूसरे क्षेत्र में श्रद्धा का। जो बातें विशुद्ध आगमिक हैं जैसे भव्य और अभव्य, जीवों की संख्या का प्रश्न आदि, उन बातों पर उन्होंने तर्क करना उचित नहीं समझा। उन बातों को उसी रूप में ग्रहण किया गया। किन्तु जो बातें तर्क से सिद्ध या असिद्ध की जा सकती थीं उन बातों को अच्छी तरह से तर्क की कसौटी पर कस कर स्वीकार किया।

अहेतुवाद और हेतुवाद ये धर्मवाद के दो प्रकार हैं। भव्याभव्यादिक भाव अहेतुवाद का विषय है, और सम्यक् दर्शन, ज्ञान, चारित्र्य आदि हेतुवाद के अन्तर्गत।⁷ आचार्य सिद्धसेन के द्वारा किया गया यह हेतुवाद और अहेतुवाद का विभाग हमें दर्शन और धर्म की स्मृति दिलाता है। हेतुवाद तर्क पर प्रतिष्ठित होने से दर्शन का विषय है और अहेतुवाद श्रद्धा पर आधृत होने से धर्म का विषय है। इस तरह आचार्य सिद्धसेन ने परोक्ष रूप में दर्शन और धर्म की मर्यादा का संकेत किया है।

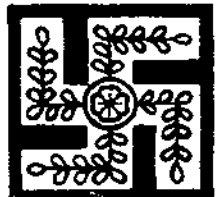
जैनागमों की दृष्टि से सर्वज्ञ के ज्ञान और दर्शन को भिन्न माना गया है किन्तु आचार्य सिद्धसेन ने तर्क से यह सिद्ध किया है, कि सर्वज्ञ के ज्ञान और दर्शन में कोई भेद नहीं है। सर्वज्ञ के स्तर पर पहुँचकर ज्ञान और दर्शन दोनों एकरूप हो जाते हैं।⁸ इसके अतिरिक्त अवधि और मनः पर्यवज्ञान को तथा ज्ञान और श्रद्धा को भी एक सिद्ध करने का प्रयत्न किया। जैनागमों में विश्रुत नैगम आदि सात नयों के स्थान पर छः नयों की स्थापना की। नैगम को स्वतन्त्र नय न मानकर उसे संग्रह और व्यवहार में समाविष्ट कर दिया। उन्होंने यहाँ तक कहा कि जितने वचन के प्रकार हो सकते हैं उतने ही मत-मतान्तर भी हो सकते हैं। अद्वैतवादी को उन्होंने द्रव्याधिक नय के संग्रह नय रूप प्रभेद में समाविष्ट किया। क्षणिकवादी बौद्धों की दृष्टि को पर्यायनयान्तर्गत ऋजु सूत्र नयानुसारी बताया। सांख्य दृष्टि का समावेश द्रव्याधिक नय में किया और काणाद दर्शन को उभयनयान्त्रित सिद्ध किया।⁹

ज्ञान और क्रिया के ऐकान्तिक आग्रह को चुनौती देते हुए सिद्धसेन ने कहा कि ज्ञान और क्रिया दोनों आवश्यक ही नहीं परम आवश्यक है। ज्ञान रहित क्रिया व्यर्थ है और क्रिया रहित ज्ञान निकम्मा है। ज्ञान और क्रिया का समन्वय ही वास्तविक सुख का कारण है। जन्म-मरण से मुक्त होने के लिये ज्ञान और क्रिया दोनों आवश्यक हैं।¹⁰

इस प्रकार सन्मति तर्क में उन्होंने अपने विचारों को स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त किया है।

बत्तीसियाँ

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने बत्तीस बत्तीसियाँ रची थीं जिनमें से इक्कीस बत्तीसियाँ वर्तमान में उपलब्ध हैं। ये बत्तीसियाँ संस्कृत भाषा में रचित हैं। प्रथम की पाँच बत्तीसियाँ और ग्यारहवीं बत्तीसी स्तुति-परक है। प्रथम पाँच बत्तीसियों में श्रमण भगवान महावीर की स्तुति की गई है और ग्यारहवीं बत्तीसी में किसी पराक्रमी राजा की स्तुति की गई है। इन स्तुतियों को पढ़कर अश्वघोष के समकालीन बौद्ध स्तुतिकार मातृचेत रचित 'अध्यर्धशतक' और आर्यदेव रचित 'चतुःशतक' की स्मृति हो आती है। सिद्धसेन ही जैन-परम्परा के आद्य-स्तुतिकार हैं। आचार्य हेमचन्द्र ने अपनी दोनों बत्तीसियाँ सिद्धसेन की बत्तीसियों का आदर्श सामने रखकर ही रची है। यह उनकी रचना से स्पष्ट होता है।¹² आचार्य समन्तमद्र की 'स्वयंभूस्तोत्र' और युक्त्यनुशासन' नामक दार्शनिक स्तुतियाँ भी आचार्य सिद्धसेन दिवाकर की स्तुतियों का अनुकरण है।



आचार्य हेमचन्द्र ने व्याकरण के उदाहरण में 'अनुसिद्धसेनं कवयः' लिखा है। यदि उसका भाव यह हो कि जैन-परम्परा के संस्कृत कवियों में आचार्य सिद्धसेन का स्थान सर्वप्रथम है, तो यह कथन आज भी जैन वाङ्मय की दृष्टि से पूर्ण सत्य है।

आचार्य सिद्धसेन ने इन्द्र और सूर्य से भी भगवान महावीर को उत्कृष्ट बताकर उनके लोकोत्तरत्व का व्यंजन किया।^{१३} उन्होंने व्यतिरेक अलंकार के द्वारा भगवान की स्तुति की। हे भगवन्, आपने गुरुसेवा किये बिना ही जगत् का आचार्य पद पाया है जो दूसरों के लिये कदापि सम्भव नहीं।^{१४} उन्होंने सरिता और समुद्र की उपमा के द्वारा भगवान में सब दृष्टियों के अस्तित्व का कथन किया है, जो अनेकान्तवाद की जड़ है।^{१५}

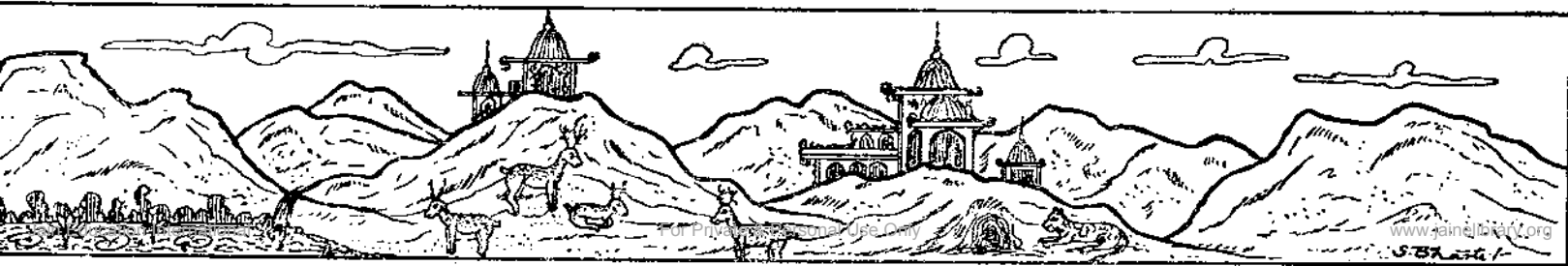
सिद्धसेन सर्वप्रथम जैन वादी हैं। वे वाद विद्या के पारंगत पण्डित हैं। उन्होंने अपनी सातवीं वादोपनिषद् बत्तीसी में वादकालीन सभी नियम और उपनियमों का वर्णन कर विजय पाने का उपाय भी बताया है; साथ ही उन्होंने आठवीं बत्तीसी में वाद विद्या का परिहास भी किया है। वे कहते हैं, कि एक मांसपिण्ड के लुब्ध और लड़ने वाले दो कुत्तों में कभी मंत्री की सम्भावना भी है, पर दो सहोदर भी वादी हों तो उनमें कभी सत्य की सम्भावना नहीं हो सकती।^{१६} उन्होंने स्पष्ट कहा है कि कल्याण का मार्ग अन्य है और वाद का मार्ग अन्य है। क्योंकि किसी भी मुनि ने वाग्बुद्ध को शिव का उपाय नहीं कहा है।^{१७}

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने ही सर्वप्रथम दर्शनों के वर्णन की प्रथा का श्रीगणेश किया। उसके पश्चात् अन्य आचार्यों ने उनका अनुसरण किया। आठवीं शताब्दी में आचार्य हरिभद्र ने षड्दर्शन समुच्चय लिखा और चौदहवीं शताब्दी में मध्वाचार्य ने सर्वदर्शन संग्रह ग्रन्थ लिखा, जो सिद्धसेन द्वारा प्रस्तुत शैली का विकास था। अभी जो बत्तीसियाँ उपलब्ध हैं, उनमें न्याय, वैशेषिक, सांख्य, बौद्ध, आजीवक और जैन दर्शन का वर्णन है किन्तु चार्वाक और मीमांसक दर्शन का वर्णन नहीं है। सम्भव है उन्होंने चार्वाक और मीमांसक दर्शन का वर्णन किया होमा पर वे बत्तीसियाँ वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं। जैन दर्शन का वर्णन उन्होंने अनेक बत्तीसियों में किया है। उनकी पुरातनत्व समालोचना विषयक बत्तीसियों के सम्बन्ध में पण्डित सुखलालजी लिखते हैं, मैं नहीं जानता कि भारत में ऐसा कोई विद्वान हुआ हो जिसने पुरातनत्व की इतनी क्रान्तिकारिणी तथा हृदयहारिणी एवं तलस्पशिनी निर्भय समालोचना की हो। मैं ऐसे विद्वान को भी नहीं जानता कि जिस अकेले ने एक बत्तीसी में प्राचीन सब उपनिषदों तथा गीता का सार वैदिक और औपनिषद् भाषा में ही शाब्दिक और आर्थिक अलंकार युक्त चमत्कारिणी सरणी से वर्णित किया हो। जैन परम्परा में तो सिद्धसेन के पहले और पीछे आज तक ऐसा कोई विद्वान् हुआ ही नहीं है जो इतना गहरा उपनिषदों का अभ्यासी रहा हो और औपनिषद् भाषा में ही औपनिषद् तत्व का वर्णन भी कर सके। पर जिस परम्परा में सदा एकमात्र उपनिषदों की तथा गीता की प्रतिष्ठा है उस वेदान्त परम्परा के विद्वान् भी यदि सिद्धसेन की उक्त बत्तीसी को देखेंगे तब उनकी प्रतिभा के कायल होकर यही कह उठेंगे कि आज तक यह ग्रन्थ रत्न दृष्टि पथ में आने से क्यों रह गया! मेरा विश्वास है, कि प्रस्तुत बत्तीसी की ओर किसी भी तीक्ष्ण-प्रज्ञ वैदिक विद्वान् का ध्यान जाता तो वह उस पर कुछ न कुछ बिना लिखे न रहता। मेरा यह भी विश्वास है, कि यदि कोई मूल उपनिषदों का साम्नाय अध्येता जैन विद्वान् होता तो भी उस पर कुछ न कुछ लिखता।^{१८}

आचार्य सिद्धसेन ने लिखा—पुराने पुरुषों ने जो व्यवस्था निश्चित की है, वह विचार की कसौटी पर क्या उसी प्रकार सिद्ध होती है? यदि समीचीन सिद्ध हो, तो हम उसे समीचीनता के नाम पर मान सकते हैं, पर प्राचीनता के नाम पर नहीं। यदि वह समीचीन सिद्ध नहीं होती, तो केवल मरे हुए पुरुषों के झूठे गौरव के कारण 'हाँ में हाँ' मिलाने के लिए मैं उत्पन्न नहीं हुआ हूँ। मेरी सत्य-प्रियता के कारण यदि विरोधी बढ़ते हैं तो बढ़ें।^{१९} पुरानी परम्परा अनेक हैं उनमें परस्पर विरोध भी है अतः बिना समीक्षा किये प्राचीनता के नाम पर यों ही झटपट निर्णय नहीं दिया जा सकता। किसी कार्य विशेष की सिद्धि के लिये यही प्राचीन व्यवस्था ठीक है अन्य नहीं; यह बात केवल पुरातन प्रेमी जड़ ही कह सकते हैं।^{२०} आज जिसे हम नवीन कहकर उड़ा देना चाहते हैं, वही व्यक्ति मरने के बाद नयी पीढ़ी के लिए पुराना हो जायेगा, जबकि प्राचीनता इस प्रकार अस्थिर है, तब बिना विचार किए पुरानी बातों को कौन पसन्द कर सकता है।^{२१}

न्यायावतार

जिस प्रकार दिग्नाग ने बौद्ध दर्शन मान्य विज्ञानवाद को सिद्ध करने के लिए पूर्व परम्परा में किञ्चित् परि-



वर्तन करके बौद्ध प्रमाण शास्त्र को व्यवस्थित रूप प्रदान किया उसी प्रकार सिद्धसेन दिवाकर ने भी पूर्व परम्परा का सर्वथा अनुकरण न करके अपनी स्वतन्त्र बुद्धि से न्यायावतार की रचना की। उन्होंने जैन दृष्टि को अपने सामने रखते हुए भी लक्षण-प्रणयन में दिग्नाग के ग्रन्थों का पर्याप्त मात्रा में उपयोग किया और स्वयं सिद्धसेन के लक्षणों का उपयोग परवर्ती जैनाचार्यों ने अत्यधिक मात्रा में किया है।

आगम साहित्य में चार प्रमाणों का वर्णन है।^१ आचार्य उमास्वाति ने प्रत्यक्ष और परोक्ष ये दो प्रमाण माने और उन्हीं में पाँच ज्ञानों को विभक्त किया। आचार्य सिद्धसेन ने भी प्रमाण के दो ही भेद माने हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष, किन्तु उन्होंने प्रमाण का निरूपण करते समय जैन परम्परा सम्मत पाँच ज्ञानों को प्रमुखता प्रदान नहीं की है, लोक-सम्मत प्रमाणों की मुख्यता दी है। उन्होंने प्रत्यक्ष की व्याख्या में लौकिक और लोकोत्तर दोनों प्रत्यक्षों का समावेश किया है और परोक्ष प्रमाण में अनुमान और आगम का। इस प्रकार सिद्धसेन ने सांख्य और प्राचीन बौद्धों का अनुकरण करके प्रत्यक्ष अनुमान और आगम का वर्णन किया है।

आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ही प्रथम जैन दार्शनिक हैं जिन्होंने न्यायावतार जैसी लघुकृति में प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय और प्रमिति इन चार तत्त्वों की जैन दर्शन सम्मत व्याख्या करने का सफल प्रयास किया। उन्होंने प्रमाण और उनके भेद-प्रभेदों का लक्षण किया है। अनुमान के सम्बन्ध में उनके हेत्वादि समी अंग-प्रत्यंगों की संक्षेप में मायिक चर्चा की है।

उन्होंने केवल प्रमाण निरूपण की ही चर्चा नहीं की किन्तु नयों का लक्षण और विषय बताकर जैन न्याय-शास्त्र की ओर मनीषी दार्शनिकों का ध्यान आकर्षित किया।

प्रस्तुत ग्रन्थ में स्वमतानुसार न्यायशास्त्रोपयोगी प्रमाणादि पदार्थों की व्याख्या करके ही आचार्य सिद्धसेन सन्तुष्ट नहीं हुए किन्तु उन्होंने संक्षेप में परमत का निराकरण भी किया है। लक्षण निर्माण में दिग्नाग जैसे बौद्धों का यत्र-तत्र अनुकरण करके भी उन्हीं के 'सर्वमालम्बने भ्रान्तम्' और पक्षाप्रयोग के सिद्धान्तों का युक्ति-पुरस्सर खण्डन भी किया। बौद्धों ने जो हेतु-लक्षण किया था, उसके स्थान में अन्तर्व्याप्ति के बौद्ध सिद्धान्त से ही फलित होने वाला 'अन्यथा मुपपत्तिरूप' हेतु लक्षण अपनाया। वह आज भी जैनाचार्यों द्वारा प्रमाणभूत माना जाता है।^२

इस प्रकार हम देखते हैं कि विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के ज्योतिर्धर आचार्य सिद्धसेन दिवाकर ने साहित्यिक क्षेत्र में जो मौलिकता दी है, वह महान है। वे जैन न्याय के प्रथम पुरस्कर्ता हैं।

१ दर्शन और चिन्तन, पृ० २७०—पंडित सुखलाल जी (हिन्दी)

२ वही, पृ० २६६

३ (क) अनुयोग द्वार सूत्र १५६
(ख) स्थानाङ्ग सूत्र ७।५५२

४ तित्थयरव्ययणसंगह—विसेसपत्थारमूलवागरणी।

दब्बट्ठिओ य पज्जवणओ य सेसा वियप्पासि ॥—सन्मति तर्क प्रकरण १।३

५ दब्बं पज्जवविययं दब्बविउत्ता य पज्जवा गत्थि।

उप्पादक्वयाट्ठिइ-भंगा, हंदि दब्बलक्खणं एयं ॥—सन्मति तर्क १।१२

६ जे संतवायदोसे सक्कोलूया भणंति संखाणं।

संखा य असव्वाए तेसि सव्वे वि ते सच्चा ॥

ते उ भयणोवणिया सम्मदंसणमणुत्तरं होंति।

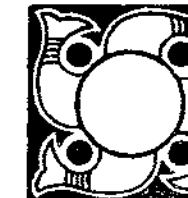
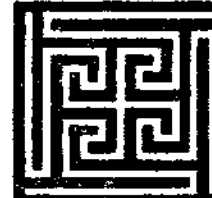
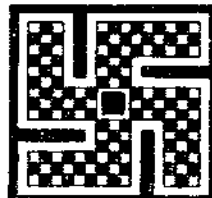
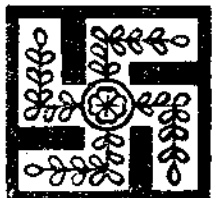
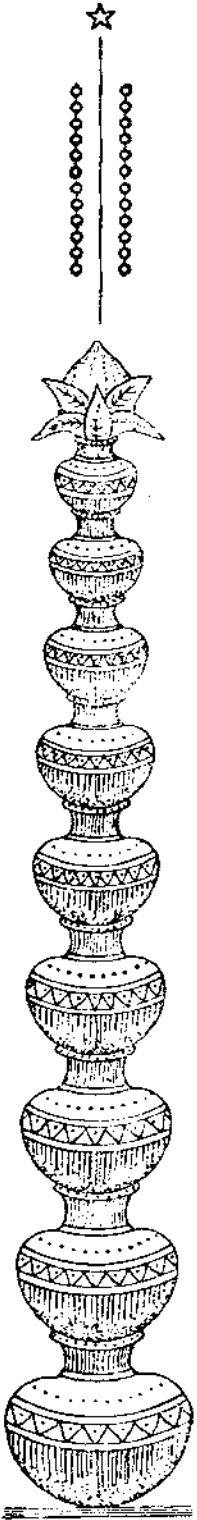
जं भवदुक्खविमोक्खं दो वि न पूरेंति पाडिक्कं ॥—सन्मति तर्क प्रकरण ३।५०।५१

७ दब्बं खित्तं कालं मावं पज्जाय-देस-संजोगे।

मेदं च पडुच्च समा भावार्णं पण्णवणयज्जा ॥—सन्मति तर्क ३।६०

८ दुविहो धम्मावाओ अहेउवाओ य हेउवाओ य।

तत्थ उ अहेउवाओ भवियासभवियादओ भावा ॥



भविओ सम्मद्दसण-णाणं-चरित्तपडिवत्तिसंपन्नो ।

णियमा दुक्खंतकडो त्ति लक्खणं हेउवायस्स ॥—सन्मति तर्क प्रकरण ३।४३-४४

६ जं अप्पुट्टे भावे जणणइ पासइ य केवली णियमा ।

तम्हा तं णाणं दंसणं च भविसेसओ सिद्धं ॥—सन्मति तर्क २।३०

१० जावइया वयणपहा, तावइया चेव होति णयवाया ।

जावइया णयवाया, तावइया चेव परसमया ॥

जं काविलं दरिसणं, एयं दब्बट्टियस्स वत्तब्बं ।

मुद्धोअणतणअस्स उ, परिसुद्धो पज्जवविअण्णो ॥

दोहि वि णएहि णीअं, सत्थमुल्लूएण तह वि मिच्छत्तं ।

जं सविसअप्पणहाणत्तणेण, अण्णोण्णणिरवेक्खा ॥—सन्मति ३।४७-४८-४९

११ णाणं किरियारहियं, किरियामेत्तं च दो वि एगंता ।

असमत्था दाएउं जम्म-मरणदुक्ख मा भाई ॥—सन्मति तर्क ३।६८

१२ क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्था अशिक्षितालापकला क्व चैषा ?

तथापि यूथाधिपतेः पथस्थः स्खलद्गतस्तस्य शिशुर्न शोच्यः ?—अयोगव्यवच्छेदिका श्लोक ३

१३ कुलिशेन सहस्रलोचनः, सविता चांशुसहस्रलोचनः ।

न विदारयितुं यदीश्वरो, जगतस्तद्भवता हृतं तमः ॥

१४ न सदस्सु वदन्नशिक्षितो, लभते वक्त्रविशेषगौरवम् ।

अनुपास्य गुरुं त्वया पुनर्जगदाचार्यकमेव निमितम् ॥

१५ उदधाविव सर्वसिध्दः, समुदीर्णास्त्वयि सर्वदृष्टयः ।

न च तासु भवानुदीक्ष्यते, प्रविभक्तासु सरित्स्विबोदधिः ॥

१६ ग्रामान्तरोपगतयोरेकामिषसंगजातमत्सरयोः ।

स्यात् सख्यमपि शुनोर्मात्रोरपि वादिनोर्न स्यात् ॥—बत्तीसी ८।१

१७ अन्यत एव श्रेयांस्यन्यत एव विचरन्ति वादिवृषाः ।

वाक्संरंभं क्वचिदपि न जगाद मुनिः शिवोपायम् ॥

१८ दर्शन और चिन्तन (हिन्दी), पृ० २७५

१९ पुरातनैर्या नियता व्यवस्थितिस्तथैव सा किं परिचिन्त्य सेत्स्यति ।

तथेति वक्तुं मृतरूढगौरवादहं न जातः प्रथयन्तु विद्विषः ॥—बत्तीसी ६।३

२० बहुप्रकाराः स्थितयः परस्परं, विरोधयुक्ताः कथमाशु निश्चयः ।

विशेषसिद्धावियमेव नेति वा पुरातन-प्रेम जडस्य युज्यते ॥—बत्तीसी ६।४

२१ जनोऽयमन्यस्य स्वयं पुरातनः पुरातनैरेव समो भविष्यति ।

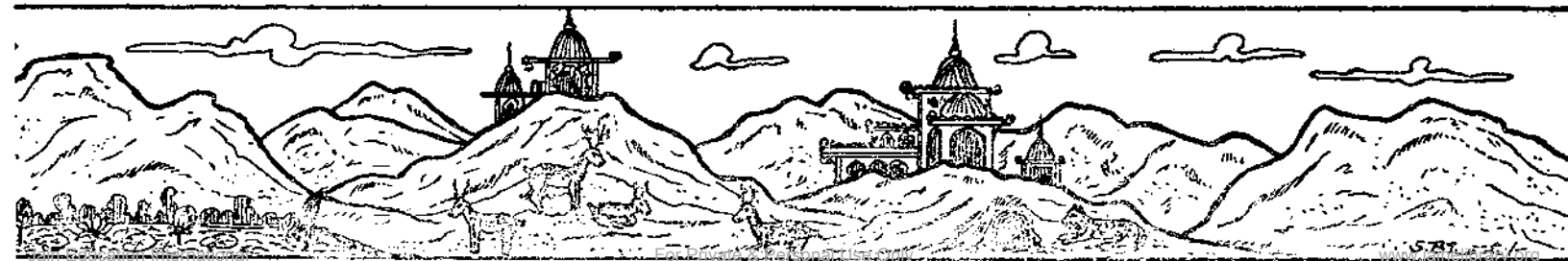
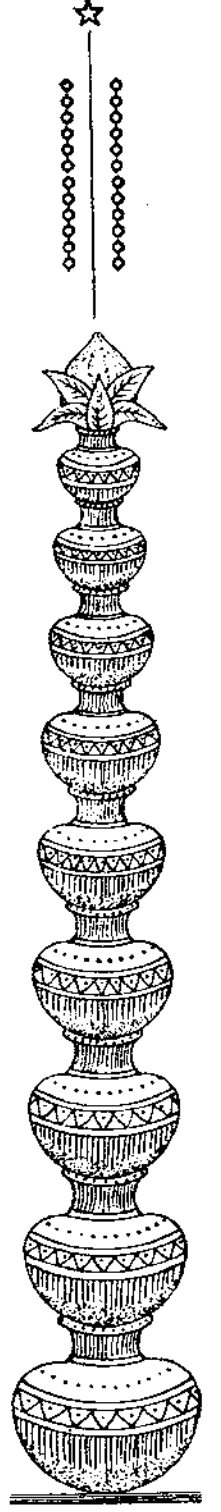
पुरातनैष्वित्यनवस्थितेषु कः पुरातनोक्तान्यपरीक्ष्य रोचयेत् ॥—बत्तीसी ६।५

२२ (क) पमाणे चउव्विहे पण्णत्ते तं जहा पच्चक्खे अणुमाणे ।

ओवम्मे आगमे जहा अणुओगदारे तहा णेयव्वं पमाणं ॥—अगवती ५।३।१९१-१९२

(ख) अहवा हेऊ चउव्विहे पण्णत्ते, तंजहा पच्चक्खे, अणुमाणे, ओवम्मे, आगमे ।—स्यानाङ्ग सूत्र ३३८

२३ आगम युग का जैन दर्शन, पृ० २७५-२७६ का सारांश





जैन साधना एवं तर्क-विद्या में बौद्ध योग एवं न्याय-शास्त्र का सामंजस्य कर योग के क्षेत्र में नई दृष्टि प्रदान करने वाले आचार्य हरिभद्र सूरि का सांस्कृतिक परिचय।

□ प्रो० सोहनलाल पटनी एम. ए.
[संस्कृत-हिन्दी]

जैन योग के महान् व्याख्याता-हरिभद्रसूरि

आचार्य हरिभद्रसूरि चित्रकूट (चित्तौड़) के समर्थ ब्राह्मण विद्वान थे। जैन सम्प्रदाय में इनका विशिष्ट स्थान है एवं इनका समय (वि० सं० ७५७ से ८२७ पर्यन्त) जैन साहित्य में हरिभद्र युग के नाम से अभिहित किया जाता है। आसम परम्परा के महान् संरक्षक सिद्धसेन दिवाकर एवं जिनभद्र गण के पश्चात् जैन जगत में हरिभद्र सूरि का अपना नाम था। विक्रमी संवत् १०८० में विरचित जिनेश्वर सूरि कृत—“हरिभद्रसूरि कृत अष्टक वृत्ति” में उनकी वन्दना इस प्रकार की गई है—

“सूर्यप्रकाश्यं क्व नु मण्डलं दिवः
खद्योतकः क्वास्य विभासनोद्यतः ।
क्व धीश गम्यं हरिभद्र सद्वचः
क्वाधीरहं तस्य विभासनोद्यतः ॥”

आकाश मंडल को प्रकाशित करने वाला कहाँ तो सूर्य प्रकाश और स्वयं को उद्भासित करने वाला जुगनू कहाँ ?

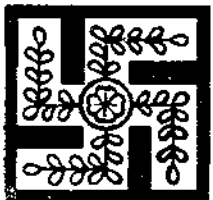
बुद्धि सम्राट हरिभद्र के सद्वचन कहाँ और उनका स्पष्टीकरण करने वाला मैं कहाँ ? अर्थात् उनके वचन तो उनसे ही स्पष्ट हो सकते हैं।

संवत् ११६० में आचार्य वादिदेवसूरि ने अपने स्याद्वाद रत्नाकर में सिद्धसेन दिवाकर के साथ आचार्य हरिभद्रसूरिजी की वन्दना की है—

“श्री सिद्धसेन हरिभद्र मुखा प्रसिद्धास्ते,
सूरयो मयि भवन्तु कृपा प्रसादाः ।
येषां विमुश्य सततं विविधान् निबन्धान्,
शास्त्रं चिकीर्षन्ति तनु प्रतिभोऽपि माहृक् ॥”

वे श्री सिद्धसेन, हरिभद्र प्रमुख प्रसिद्ध आचार्य मुझ पर कृपावन्त हों कि जिनके विभिन्न निबन्धों को पढ़कर मुझ सा अल्पमति शास्त्र की रचना करना चाहता है।

तो यह निर्विवाद सत्य है कि आचार्य हरिभद्रसूरि ने अपने युग में वह काम कर दिखाया था कि जिसके कारण वे आने वाले समय में महान् आचार्यों के प्रेरणास्रोत रहे। उनके उपलब्ध साहित्य से ही हमें उनकी बहुश्रुतता एवं कारयित्री प्रतिभा का परिचय मिलता है। उनकी नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा का परिचय तत्कालीन दार्शनिक ग्रन्थों में मिलता है। जैन न्याय, योग शास्त्र और जैन कथा साहित्य में उन्होंने युगान्तर उपस्थित किया। श्री हरिभद्रसूरि जैन योग साहित्य में नये युग के प्रतिष्ठादायक माने जाते हैं। जैन धर्म मूलतः निवृत्ति प्रधान है एवं निवृत्ति में योग का



अत्यधिक महत्व है। जैनागमों में योग शब्द का प्रयोग ध्यान के अर्थ में किया गया है एवं ध्यान के लक्षण और प्रभेद आलम्बन आदि का पूर्ण विवरण आगमों में है। तत्कालीन परिस्थितियों के अनुसार आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग विषयक अनेक ग्रंथ लिखे एवं एक नयी शैली में योग का निरूपण किया जो अनूठा था। उनके द्वारा रचित योग बिन्दु, योग दृष्टि समुच्चय, योग विशिष्टा, योग शतक एवं योग षोडशक ग्रन्थों में जैन मार्गानुसार योग का वर्णन किया गया है। जैन शास्त्र में आध्यात्मिक विकास क्रम के प्राचीन वर्णन में चौदह गुणस्थानक पदस्थ, रूपस्थ आदि चार ध्यान रूप बहिरात्म आदि तीन ध्यानावस्थाओं का वर्णन मिलता है, पर आचार्य हरिभद्रसूरि ने जैनों के इस आध्यात्मिक विकास क्रम का योग मार्गानुसार वर्णन किया। इस वर्णन में उन्होंने जिस शैली का अनुसरण किया, उसके दर्शन अन्यत्र नहीं होते।

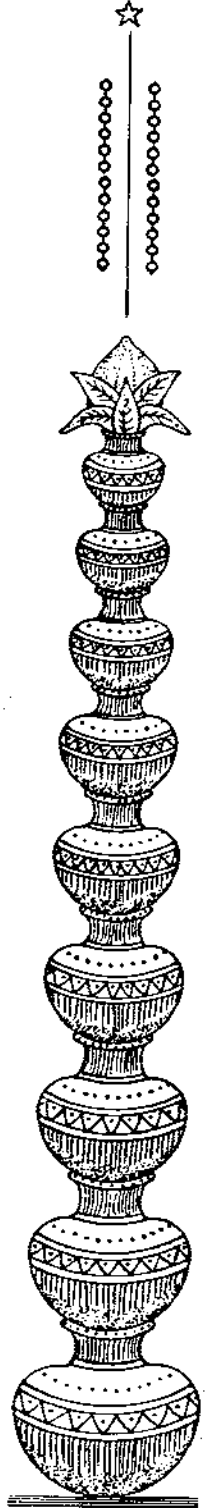
उन्होंने अपने ग्रन्थों में अनेक जैन जनेत्तर योगियों का नामोल्लेख किया है जैसे गोपेन्द्र कालातीत, पतंजलि, भदन्त, भास्कर, बन्धु, भगवदत्त आदि। पंडित सुखलाल जी ने अपने योगदर्शन निबन्ध में वह स्वीकार किया है कि आचार्य हरिभद्रसूरि वर्णित योग वर्णन योग साहित्य में एक नवीन दिशा है।

समराइच्चकहा महाराष्ट्री प्राकृत में लिखित है एवं कथा साहित्य में युगान्तरकारी है। उसमें वर्णित कथा मंगा के शान्त प्रवाह की भांति स्थिर तथा सौम्य रूप से अपने लक्ष्य की ओर बढ़ती है। पुरातत्ववेत्ता पद्मश्री जिन विजयजी के अनुसार साधारण प्राकृत समझने वाले व्यक्ति भी उसे आसानी से समझ सकते हैं।

एक जन श्रुति के अनुसार उन्होंने १४४४ प्रकरण ग्रन्थों का प्रणयन किया था, पर, मेरी मान्यता के अनुसार ये सब विषय होंगे जिन पर उनकी समर्थ लेखनी चली होगी। वास्तव में अपनी बहुमुखी प्रतिभा के कारण ये जैन धर्म के पूर्वकालीन तथा उत्तरकालीन इतिहास के मध्यवर्ती समा स्तम्भ रहे हैं। संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं पर उनका समान अधिकार रहा है। जैन ग्रन्थों तथा उनके स्वयं के सन्दर्भों से उनके विषय में यह जानकारी मिलती है कि विद्वत्ता के अभिमान में उन्होंने एक बार प्रतिज्ञा की कि जिसका कहा उनकी समझ में नहीं आयेगा वे उसी के शिष्य बन जायेंगे। एक दिन वे जैन उपाश्रय के पास से निकल रहे थे, उस समय साध्वी याकिनी महत्तरा के मुख से निकली प्राकृत गाथा उनकी समझ में नहीं आई एवं वे तुरन्त अपनी प्रतिज्ञानुसार उनका शिष्यत्व ग्रहण करने के लिए तैयार हो गये। साध्वी याकिनी महत्तराजी ने उन्हें अपने गुरु आचार्य जिनभद्र से दीक्षा दिला दी पर, हरिभद्रसूरि ने याकिनी महत्तरा को सदैव अपनी धर्म जननी माना एवं अपने प्रत्येक ग्रन्थ की समाप्ति पर “याकिनी महत्तरा धर्म सून” विशेषण का प्रयोग किया है। इनका गच्छ श्वेताम्बर सम्प्रदाय का विद्याधर गच्छ था।

आचार्य हरिभद्रसूरि की विविधोन्मुखी रचना शक्ति इससे प्रकट होती है कि उन्होंने सांख्य, योग, न्याय, वैशेषिक, अद्वैत, चार्वाक, बौद्ध, जैन आदि सभी मतों की आलोचना प्रत्यालोचना की है। इस आलोचना प्रत्यालोचना की यह विशेषता है कि उन्होंने अपने विरोधी मत वाले विचारकों का भी नामोल्लेख बहुत आदर के साथ किया है। उनके प्रमुख ग्रन्थ निम्न हैं—

१. अनेकान्त वाद प्रवेश
२. अनेकान्त जय पताका—स्वोपज्ञ वृत्ति सहित
३. अनुयोगद्वार सूत्र वृत्ति
४. अष्टक प्रकरण
५. आवश्यक सूत्र—वृहद् वृत्ति
६. उपदेशपद प्रकरण
७. दशवैकालिक सूत्र वृत्ति
८. दिङ्नाग कृत न्याय प्रवेश सूत्र वृत्ति
९. धर्म-बिन्दु प्रकरण
१०. धर्म-संग्रहणी प्रकरण
११. नन्दी सूत्र लघु वृत्ति



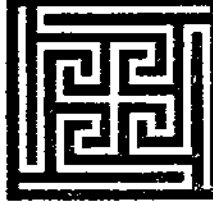
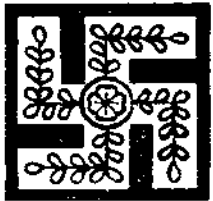


१२. पंचाशक प्रकरण
१३. पंचवस्तु प्रकरण टीका
१४. प्रज्ञापना सूत्र प्रदेश व्याख्या
१५. योग दृष्टि समुच्चय
१६. योग त्रिन्दु
१७. ललित विस्तरा चैत्य वन्दन सूत्र वृत्ति
१८. लोक तत्त्व निर्णय
१९. विशति विशतिका प्रकरण
२०. पङ्दर्शन समुच्चय
२१. श्रावक प्रज्ञप्ति
२२. समराइच्च कहा (समरादित्य कथा)
२३. सम्बोध प्रकरण
२४. सम्बोध सप्ततिका प्रकरण
२५. आवश्यक सूत्र टीका

डा० हर्मन याकोबी ने लिखा है कि इन्होंने प्राकृत भाषा में लिखित जैनाग्रमों की संस्कृत टीकायें निर्युक्तियाँ एवं चूर्णियाँ लिखकर जैन एवं जैनेतर जगत का बहुत उपकार किया। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भी उनके ८२ ग्रंथ और हैं जिनमें उनकी बहुमुखी रचना शक्ति के दर्शन होते हैं। इन ८२ ग्रंथों का उल्लेख पं० हरगोविन्ददास कृत 'हरिभद्र चरित्रम्', स्व मनमुखलाल किरनचन्द मेहता, पं० बेचरदासजी कृत 'जैन-दर्शन' आदि के आधार पर हुआ है। उनके द्वारा रचित आध्यात्मिक तथा तात्विक ग्रन्थों के अध्ययन से पता चलता है कि वे प्रकृति से अति सरल एवं सौम्य थे। गुणानुरागी तथा जैन धर्म के अनन्य समर्थक होते हुए भी वे सदैव सत्यान्वेषी थे। तत्त्व की विचारणा करते समय वे मदा माध्यस्थ्य भाव रखते थे।

उनका समय वि० सं० ७५७ से ८२७ के बीच में माना जाता है। कुमारिल भट्ट वि० सं० ७५० के आस-पास हुए हैं एवं धर्मपाल के शिष्य धर्मकीर्ति ६९१ वि० सं० ७०६ वि० तक विद्यमान रहे हैं। हरिभद्रसूरि ने इन सबका उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। संवत् ८३४-३५ में रचित कुवलय माला प्राकृत कथा के रचनाकार उद्योतन सूरि हरिभद्र सूरि के शिष्य थे।

आचार्य श्री ने अष्टक, षोडशक एवं पंचाशक आदि प्रकरण लिखकर तत्कालीन असाधु आचार को मार्ग निर्देश दिया। चैत्यवासियों को उन्होंने ललकारा कि वे धर्म के पथ से च्युत हो रहे हैं। उनके द्वारा देव द्रव्य का भक्षण रोकने के लिए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा कि देव द्रव्य का भक्षण करने वाला नरकगामी होता है। वे निरचय ही युग द्रष्टा, सृष्टा एवं क्रान्तिकारी थे। आज उनके साहित्य के पठन पाठन की आवश्यकता है जिससे हम चतुर्विध संघ को पतन के रास्ते से हटाकर वीर प्रदर्शित मार्ग पर आरूढ़ कर सकते हैं।



□ श्री पुष्कर मुनि जी महाराज
[प्रसिद्ध वक्ता एवं राजस्थान केसरी]

जैन सूत्रों के गुरु-गंभीर रहस्यों का उद्घाटन करने वाले भाष्य, ज्ञान-विज्ञान, संस्कृति और इतिहास के अक्षय कोष हैं।

प्रस्तुत में जैन सूत्रों के भाष्य एवं भाष्यकारों का प्रामाणिक परिचय दिया है अधिकारी विद्वान् श्री पुष्कर मुनिजी ने।

जैन आगमों के—

भाष्य और भाष्यकार

□

जैन आगम साहित्य ज्ञान-विज्ञान का अक्षय कोश है। उनके गुरु-गंभीर रहस्यों को जानना सहज नहीं है। उन रहस्यों के उद्घाटन के लिए प्रतिभामूर्ति आचार्यों ने समय-समय पर व्याख्याएँ लिखीं। व्याख्या साहित्य में सर्वप्रथम स्थान निर्युक्तियों का है और उसके पश्चात् भाष्य-साहित्य का। निर्युक्तियाँ और भाष्य ये दोनों प्राकृत-भाषा में पद्य बद्ध टीकाएँ हैं। अनेक स्थलों पर मागधी और शौरसेनी के प्रयोग भी दृष्टिगोचर होते हैं। मुख्य छन्द आर्या है। भाष्य साहित्य में अनेक प्राचीन अनुश्रुतियाँ, लौकिक कथाएँ और परम्परागत निर्गन्धों के आचार-विचार की विधियों का प्रतिपादन किया है। भाष्यकारों में जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण और संघदासगणी ये दो प्रमुख हैं। विशेषावश्यक भाष्य और जीतकल्प-भाष्य ये आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण की कृतियाँ हैं और वृहत्कल्प लघुभाष्य, पंचकल्प महाभाष्य ये संघदास गणी की रचनाएँ हैं। व्यवहार भाष्य और वृहत्कल्प-वृहद भाष्य के रचयिता कौन आचार्य हैं। इनका निर्णय अभी तक इतिहास कार नहीं कर सके हैं। विज्ञों का ऐसा अभिमत है कि इन दोनों भाष्यों के रचयिता अन्य आचार्य रहे होंगे। वृहदभाष्य के रचयिता, वृहत्कल्प चूर्णिकार और वृहत्कल्प विशेष चूर्णिकार के पश्चात् हुए हैं। संभव है कि ये आचार्य हरिभद्र के समकालीन या कुछ पहले रहे हों। व्यवहार भाष्य के रचयिता आचार्य जिनभद्र से पहले होने चाहिए।

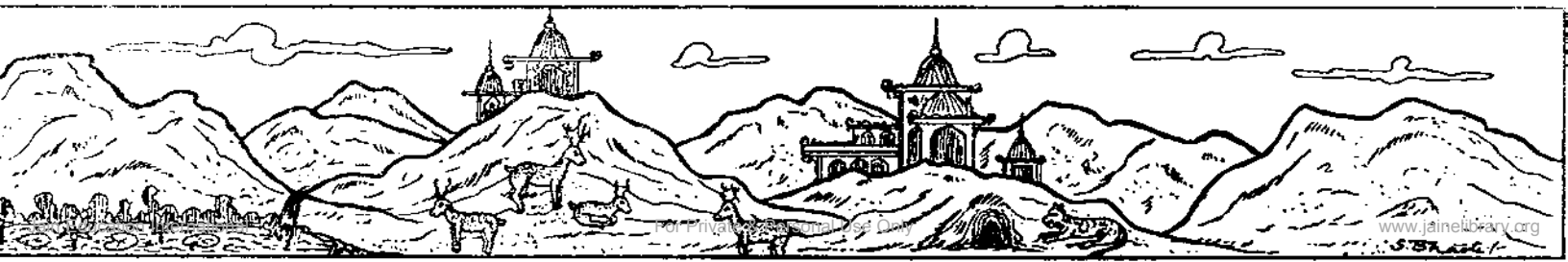
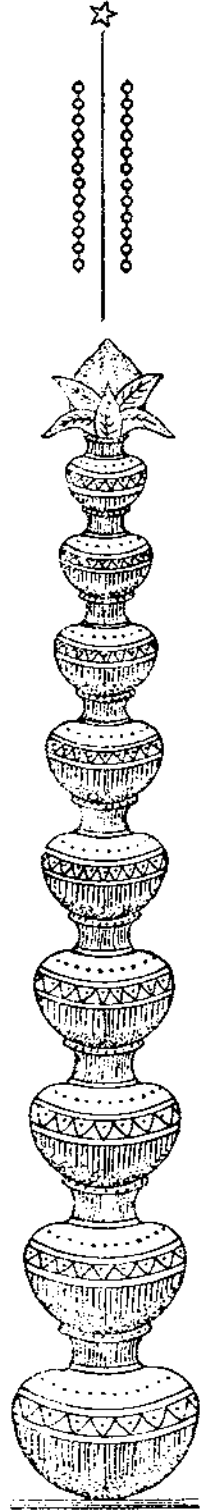
जिनभद्रगणी

जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण का जैन-साहित्य में विशिष्ट व गौरवपूर्ण स्थान है। उनकी जन्म-स्थली, माता-पिता आदि के सम्बन्ध में अन्वेषण करने पर भी सामग्री प्राप्त नहीं हो सकी है। विज्ञों की ऐसी धारणा है कि उन्हें अपने जीवन काल में विशिष्ट महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं हुआ था। उनके स्वर्गवास होने के पश्चात् उनके महत्त्वपूर्ण मौलिक ग्रन्थों को देखकर गुणग्राही आचार्यों ने आचार्य परम्परा में स्थान देना चाहा, किन्तु वास्तविकता न होने से विभिन्न-आचार्यों के विभिन्न मत प्राप्त होते हैं। यहाँ तक कि उनके सम्बन्ध में विरोधी उल्लेख भी मिलते हैं। सबसे आश्चर्य की बात तो यह है कि १५वीं १६वीं शताब्दी की रचित पट्टावलियों में उन्हें हरिभद्र सूरि का पट्टघर शिष्य लिखा है। जबकि हरिभद्र सूरि जिनभद्र से सौ वर्ष के बाद में हुए हैं।

विशेषावश्यक भाष्य की एक प्रति शक सं० ५३१ में लिखी हुई वलमी के जैन मण्डार में प्राप्त हुई है, जिससे यह सहज ही ज्ञात होता है कि जिनभद्र का वलमी के साथ अवश्य ही सम्बन्ध रहा होगा।

विभिन्न तीर्थकल्प में आचार्य जिनभद्र लिखते हैं कि जिनभद्र क्षमाश्रमण ने पन्द्रह दिन तक तप की साधना कर एक देव की आराधना की और उसकी सहायता से दीमकों द्वारा खाये गये महानिशीथ सूत्र का उद्धार किया। इससे यह ज्ञात होता है कि उनका सम्बन्ध मथुरा से भी था।

डा० उमाकान्त प्रेमानन्द शाह को अंकोट्टक—अकोटा गाँव में ऐसी प्रतिमाएँ उपलब्ध हुई हैं जिन पर यह



उद्धृत है—“ओ३म् देवधर्मोयं निवृत्तिकुले जिनभद्र वाचनाचार्यस्य” एवं “ओ३म् निवृत्तिकुले जिनभद्र वाचनाचार्यस्य ।”^२

इन लेखों में जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण को निवृत्ति कुल का बताया है और साथ ही उन्हें वाचनाचार्य भी लिखा है। पं० दलमुखभाई मालवणिया का अभिमत है कि “प्रारम्भ में ‘वाचक’ शब्द शास्त्र विशारद के लिए प्रचलित था परन्तु जब वाचकों में क्षमाश्रमणों की संख्या बढ़ती गई तब ‘क्षमाश्रमण’ शब्द भी वाचक के पर्याय के रूप में विश्रुत हो गया। अथवा ‘क्षमाश्रमण’ शब्द आवश्यक सूत्र के सामान्य गुरु के अर्थ में भी प्रयुक्त हुआ है अतः संभव है कि शिष्य विद्यागुरु को क्षमाश्रमण के नाम से भी सम्बोधित करते रहे हों, अतः क्षमाश्रमण और वाचक ये पर्यायवाची बन गये। जैन समाज में जत्र वादियों की प्रतिष्ठा स्थापित हुई तब शास्त्र विशारद के कारण वाचकों को ‘वादी’ कहा होगा और कालान्तर में वादी वाचक का ही पर्यायवाची बन गया। आचार्य सिद्धसेन को शास्त्र विशारद होने के कारण दिवाकर की पदवी दी गई, अतः वाचक का पर्यायवाची दिवाकर भी है। आचार्य जिनभद्र का युग क्षमाश्रमणों का युग था अतः उनके पश्चात् के लेखकों ने उनके लिए वाचनाचार्य के स्थान पर क्षमाश्रमण शब्द का प्रयोग किया हो।”^३ इस प्रकार वाचक वाचनाचार्य, क्षमाश्रमण आदि शब्द एक ही अर्थ के सूचक हैं।

जिनभद्र क्षमाश्रमण निवृत्ति कुल के थे। निवृत्ति कुल का उद्भव कैसे हुआ? इस सम्बन्ध में पट्टावलियों में लिखा है कि भगवान महावीर के सत्तरहवें पट्ट पर आचार्य वज्रसेन आसीन हुए। उनके पास जिनदत्त (जिनदास) के चार पुत्रों ने आर्हती दीक्षा ग्रहण की। उनके नागेन्द्र, चन्द्र, निवृत्ति और विद्याधर ये चार नाम थे। उन्हीं के नाम पर चार मुख्य कुल हुए।^४

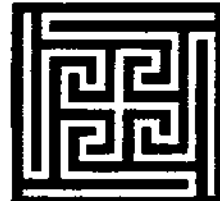
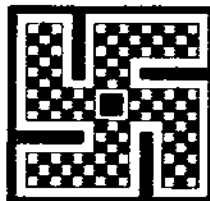
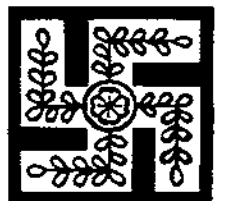
उपर्युक्त तथ्यों के अतिरिक्त जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण के जीवन के सम्बन्ध में कोई सामग्री प्राप्त नहीं होती। सिद्धसेन गणी ने जीतकल्प चूर्णि में जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण के गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है—

“जो अनुयोग धर, युगप्रधान, प्रधान ज्ञानियों से बहुमत, सर्वश्रुति और शास्त्र में कुशल तथा दर्शन-ज्ञानोपयोग के मार्ग-दर्शक हैं। जिस प्रकार कमल की मधुर सौरभ से आकर्षित होकर भ्रमर कमल की उपासना करते हैं उसी प्रकार ज्ञानरूप मकरन्द के पिपासु मुनि जिनके मुख रूप निर्झर से प्रवाहित ज्ञानरूप अमृत का सर्वदा सेवन करते हैं। स्व-समय तथा पर-समय के आगम, लिपि, गणित, छन्द और शब्दशास्त्रों पर किये गए व्याख्यानों से निर्मित जिनका अनुपम यश-पट्टह दसों दिशाओं में बज रहा है। जिन्होंने अपनी अनुपम बुद्धि के प्रभाव से ज्ञान, ज्ञानी, हेतु, प्रमाण तथा गणधरवाद का सविशेष विवेचन विशेषावश्यक में ग्रन्थ-निबद्ध किया है। जिन्होंने छेदसूत्रों के अर्थ के आधार पर पुरुष विशेष के पृथक्करण के अनुसार प्रायश्चित्त की विधि का विधान करने वाले जीतकल्प सूत्र की रचना की है। ऐसे पर-समय के सिद्धान्तों में निपुण संयमशील श्रमणों के मार्ग के अनुगामी और क्षमाश्रमणों में निधानभूत जिनभद्रगणि क्षमाश्रमण को नमस्कार हो।”^५

इस वर्णन से यह स्पष्ट परिज्ञात होता है कि जिनभद्रगणी आगमों के गंभीर रहस्यों के ज्ञाता थे। परवर्ती अन्य विद्वान आचार्यों ने भी उनके लिए अनेक विशेषणों का प्रयोग किया है।

पुरातत्त्ववेत्ता मुनि जिनविजय जी ने जैसलमेर मण्डार से प्राप्त विशेषावश्यक भाष्य की प्रति के अन्त में जो दो गाथाएँ हैं उसके आधार से भाष्य का रचनाकाल विक्रम सं० ६६६ माना है।^६ उन गाथाओं का अर्थ है शक संवत् ५३१ (विक्रम सं० ६६६) में बलमी में जिस समय शीलादित्य राज्य करता था, उस समय चैत्र शुक्ला पूर्णिमा, बुधवार और स्वाति नक्षत्र में विशेषावश्यक भाष्य की रचना पूर्ण हुई।

पं० दलमुख भाई मालवणिया मुनि जिनविजय जी के कथन से सहमत नहीं हैं। उनका अभिमत है कि उपर्युक्त गाथाओं में रचना विषयक किसी भी प्रकार का उल्लेख नहीं हुआ है। खण्डित अक्षरों को यदि हम किसी मन्दिर विशेष का नाम मान लें तो इन गाथाओं में कोई क्रियापद नहीं रहता। ऐसी स्थिति में इसकी रचना शक सं० ५३१ में हुई, यह निश्चय पूर्वक नहीं कह सकते। अधिक संभव तो यही लगता है कि उस समय यह प्रति लिखकर मन्दिर को समर्पित की गई हो। चूंकि ये गाथाएँ केवल जैसलमेर की प्रति में ही हैं, अन्य किसी भी प्राचीन प्रतियों में नहीं है। यदि ये गाथाएँ मूलभाष्य की ही होती तो सभी में होनी चाहिए थी। दूसरी बात ये गाथाएँ रचनाकाल सूचक हैं ऐसा माना जाय तो यह भी मानना होगा कि इन गाथाओं की रचना जिनभद्र ने की, तो इन गाथाओं की टीकाएँ भी मिलनी



चाहिए। कोट्याचार्य और मलधारी हेमचन्द्र की विशेषावश्यक की टीकाओं में इन गाथाओं पर टीकाएँ नहीं हैं और न उन टीका ग्रन्थों में ये गाथाएँ ही हैं अतः इन गाथाओं में जो समय निर्दिष्ट किया गया है वह रचना का नहीं किन्तु प्रति लेखन का है।^{१०}

जेसलमेर स्थित प्रति के आधार पर विशेषावश्यक भाष्य का प्रति लेखन समय सक संवत् ५३१ अर्थात् विक्रम सम्बत् ६६६ मानते हैं तो इसका रचना समय इससे पूर्व का होना चाहिए। विशेषावश्यक भाष्य जिनभद्र की अन्तिम कृति है। उनकी स्वोपज्ञ वृत्ति भी मृत्यु हो जाने से पूर्ण नहीं हो सकी थी। इस प्रकार जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण का उत्तरकाल विक्रम सं० ६५०-६६० के आस-पास रहना चाहिए।

आचार्य जिनभद्र गणी की ९ रचनाएँ उपलब्ध हैं—

- (१) विशेषावश्यक भाष्य—प्राकृत पद्य में
- (२) विशेषावश्यक भाष्य स्वोपज्ञ वृत्ति—अपूर्णा-संस्कृत गद्य
- (३) बृहत्संग्रहणी—प्राकृत पद्य
- (४) बृहत्क्षेत्र समाप्त—प्राकृत पद्य
- (५) विशेषणवती " "
- (६) जीतकल्प " "
- (७) जीतकल्प भाष्य " "
- (८) अनुयोग द्वार चूर्णि^{११} प्राकृत गद्य
- (९) ध्यान शतक " पद्य

ध्यान शतक के निर्माता के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।

विशेषावश्यक भाष्य

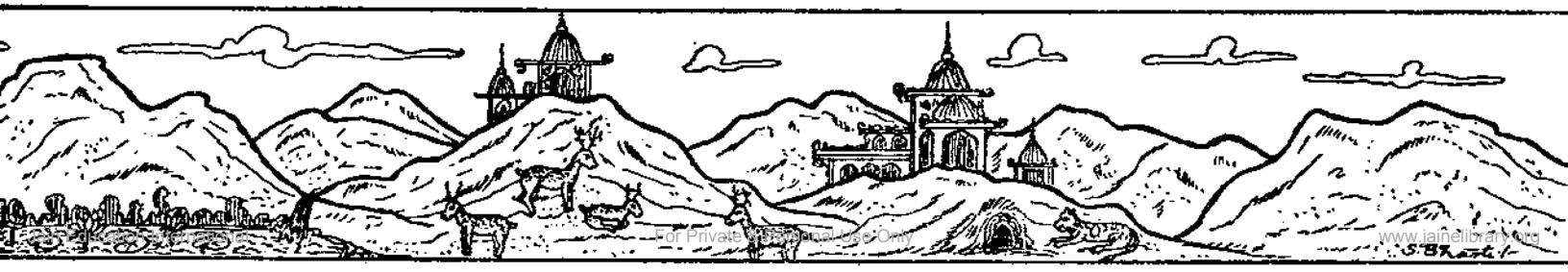
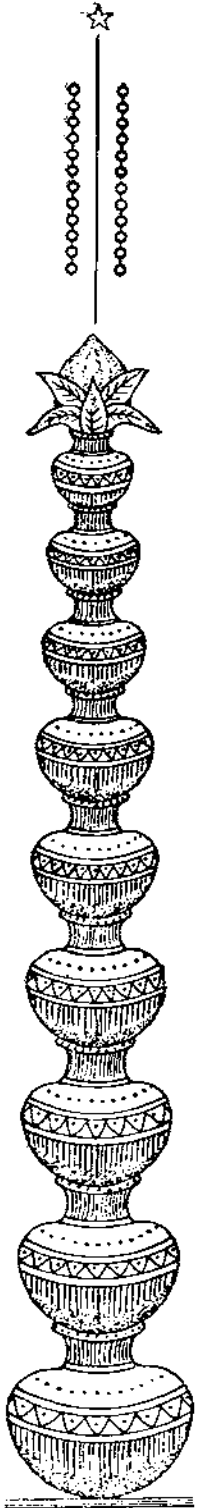
हम पहले ही बता चुके हैं कि विशेषावश्यक भाष्य जिनदास गणी की एक महत्त्वपूर्ण कृति है। यों आवश्यक सूत्र पर तीन भाष्य लिखे गये हैं—(१) मूल भाष्य, (२) भाष्य और (३) विशेषावश्यक भाष्य। प्रथम दो भाष्य बहुत ही संक्षेप में लिखे गये हैं और उनकी बहुत-सी गाथाएँ विशेषावश्यक भाष्य में मिला दी गई हैं। इस प्रकार विशेषावश्यक भाष्य तीनों भाष्यों का प्रतिनिधित्व करता है।

विशेषावश्यक भाष्य एक ऐसा ग्रन्थ रत्न है जिसमें जैन आगमों में वर्णित सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर चर्चा-विचारणा की गई है। ज्ञानवाद, प्रमाण, आचार-नीति, स्याद्वाद, नयवाद, कर्मवाद प्रभृति सभी विषयों पर विस्तार से विश्लेषण है। सबसे बड़ी विशेषता इस ग्रन्थ की यह है कि जैन-तत्त्वज्ञान का जो विश्लेषण किया गया है उसमें जैन दृष्टि के साथ अन्यान्य दार्शनिक दृष्टियों के साथ भी तुलना की गई है। आगमिक विचारधाराओं का जैसा तर्कपुरस्सर विवेचन प्रस्तुत ग्रन्थ में हुआ है वैसे अन्य ग्रन्थों में देखने को नहीं मिलता। बाद के आचार्यों व लेखकों ने प्रस्तुत भाष्य की सामग्री का खुलकर उपयोग किया है और तर्क पद्धति को भी अपनाया है। यह साधिकार कहा जा सकता है—प्रस्तुत भाष्य के पश्चात् रचित जितने भी आगम की व्याख्या करने वाले महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं, उन्होंने किसी न किसी रूप में भाष्य का आधार लिया ही है।

विशेषावश्यक भाष्य में आवश्यक सूत्र की व्याख्या की गई है, किन्तु सम्पूर्ण आवश्यक सूत्र पर व्याख्या न होकर प्रथम अध्ययन सामायिक से सम्बन्धित जो निर्युक्ति की गाथाएँ हैं उन्हीं पर विवेचन है। एक अध्ययन पर होने पर भी इसमें ३६०३ गाथाएँ हैं। ग्रन्थ में सर्वत्र आचार्य की प्रबल तर्कशक्ति, अभिव्यक्ति की कुशलता विषय प्रतिपादन की पटुता और व्याख्यान की विदग्धता का सहज ही परिचय प्राप्त होता है। जैन आचार और विचार के उन मूलभूत सभी तत्त्वों का संग्रह है। जहाँ दर्शन की गहनता का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है वहाँ चारित्र्य की बारीकियों का भी निरूपण है, इस प्रकार विशेषावश्यक भाष्य जैन तत्त्वज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रत्न है।

जीतकल्प भाष्य

आचार्य जिनभद्र गणी की दूसरी कृति जीतकल्प भाष्य है। इसमें उन्होंने बृहदकल्प लघुभाष्य, व्यवहार भाष्य,



पंचकल्प महाभाष्य, विण्ड निर्युक्त प्रभृति अनेक ग्रन्थों से गाथाएँ उद्धृत की हैं अतः यह एक संग्रह ग्रन्थ है।^{१०} मुख्य रूप से इसमें प्रायश्चित्त के विधिविधान हैं। भाष्यकार ने लिखा है—जो पाप का छेद करता है वह पापच्छिन्न-प्रायश्चित्त है, या प्रायः जिससे चित्त शुद्ध होता है वह पच्छिन्न-प्रायश्चित्त है।^{११} जीत-व्यवहार का विवेचन करते हुए आगम, श्रुत, आज्ञा, धारणा और जीत ये पाँच व्यवहार बताये हैं। जीतव्यवहार वह है जो आचार्य परम्परा से प्राप्त है, श्रेष्ठ पुरुषों द्वारा अनुमत है, और बहुश्रुतों द्वारा सेवित है। इस व्यवहार का आधार परम्परा है आगम नहीं। भाष्यकार ने प्रायश्चित्त का अठारह, बत्तीस, और छत्तीस स्थानों का वर्णन किया है। प्रायश्चित्त देने वाले की योग्यता अयोग्यता पर चिन्तन करते हुए लिखा है—प्रायश्चित्त देने की योग्यता केवली या चतुर्दश पूर्वधर में होती है किन्तु वर्तमान में उनका अभाव होने से कल्प (बृहत्कल्प) प्रकल्प (निशोय) और व्यवहार के आधार पर प्रायश्चित्त दिया जा सकता है। चारित्र्य की त्रिशुद्धि के लिए प्रायश्चित्त की अनिवार्य आवश्यकता है। प्रायश्चित्त देते समय दाता के हृदय में दयाभाव की निर्मल स्रोतस्विनी बहनी चाहिए। जिसे प्रायश्चित्त देना हो उसकी शक्ति-अशक्ति का पूर्ण ध्यान होना चाहिए। आलोचना, प्रतिक्रमण, मिश्र, विवेक व्युत्सर्ग, तप, छेद, मूल, अनवस्थाप्य, और पारार्चिक इन दस प्रकार के प्रायश्चित्त और उनके स्वरूप का विश्लेषण करते हुए अपराध स्थानों का भी वर्णन किया है। यह भी लिखा है कि 'अनवस्थाप्य और पारार्चिक प्रायश्चित्त आचार्य भद्रबाहु तक प्रचलित थे। उसके पश्चात् उनका विच्छेद हो गया।'^{१२}

जीतकल्प भाष्य आचार्य जिनभद्र की जैन आचार-शास्त्र पर एक महत्त्वपूर्ण कृति है इसमें किञ्चित्त मात्र भी सन्देह नहीं है।

संघदास गणी

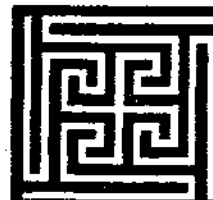
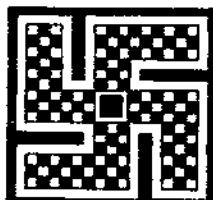
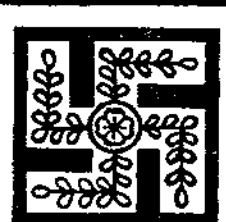
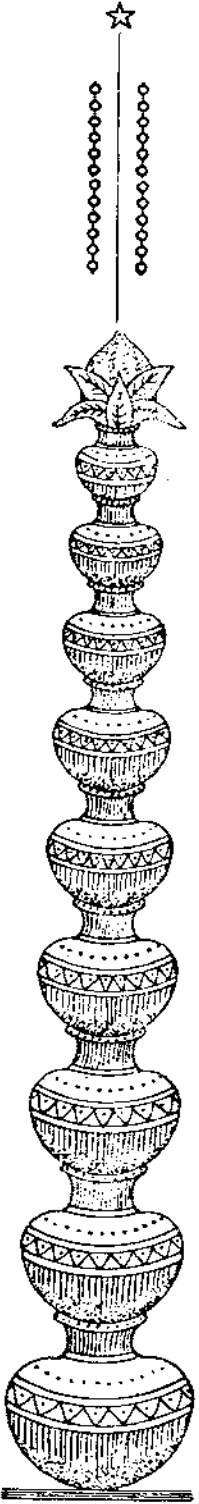
द्वितीय भाष्यकार संघदास गणी है। संघदास के जीवन वृत्त के सम्बन्ध में इतिहासकार मौन है। इनके माता-पिता कौन थे, कहाँ इनकी जन्मस्थली थी और किन आचार्य के पास प्रव्रज्या ग्रहण की आदि कुछ भी जानकारी नहीं मिलती है। आगम प्रमाकर मुनि श्री पुष्यविजय जी म० के अभिमतानुसार संघदास गणी नामक दो आचार्य हुए हैं। एक आचार्य ने बृहत्कल्प-लघुभाष्य और पञ्चकल्प-महाभाष्य लिखा है। दूसरे आचार्य ने वसुदेवहिंडि-प्रथम खण्ड की रचना की है। भाष्यकार संघदास गणी 'क्षमाश्रमण' पद से विभूषित हैं तो वसुदेव हिंडि के रचयिता 'वाचक' पद से अलंकृत हैं। दूसरी बात आचार्य जिनभद्र गणी क्षमाश्रमण ने अपनी विशेषवती नामक ग्रन्थ में वसुदेव हिंडी नामक ग्रन्थ का अनेक बार उल्लेख किया है और वसुदेव हिंडि में जो ऋषभ देव चरित्र है उनकी गाथाओं का संग्रहणी के रूप में अपने ग्रन्थ में प्रयोग किया है। इससे यह स्पष्ट है वसुदेव हिंडि के प्रथम खण्ड के रचयिता संघदास गणी आचार्य जिनभद्र से पहले हुए हैं।

भाष्यकार संघदास गणी भी आचार्य जिनभद्रगणी क्षमाश्रमण से पहले हुए हैं। जब तक अन्य प्रबल साक्ष्य प्राप्त न हों तब तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि संघदास गणी एक हुए हैं या दो हुए हैं। पर यह स्पष्ट है। संघदास गणी आगम साहित्य के मर्मज्ञ व छेदसूत्रों के तलस्पर्शी विद्वान थे। उनके जोड़ का और कोई भी छेद सूत्रज्ञ आचार्य आज के विज्ञों की जानकारी में नहीं है। वे जिस विषय को उठाते हैं, उसे उतनी गहराई में ले जाते हैं कि साधारण विद्वानों की कल्पना भी वहाँ नहीं पहुँच पाती।

बृहत्कल्प-लघुभाष्य

बृहत्कल्प-लघुभाष्य संघदास गणी की महत्त्वपूर्ण कृति है। इसमें बृहत्कल्प सूत्र के पदों का सविस्तृत विवेचन है। लघुभाष्य होने पर भी इसकी गाथा संख्या ६४६० है। यह छह उद्देश्यों में विभक्त है। इसके अतिरिक्त भाष्य के प्रारम्भ में एक विस्तृत पीठिका है, जिसकी गाथा संख्या ८०५ है। प्रस्तुत भाष्य में भारत की महत्त्वपूर्ण सांस्कृतिक सामग्री का भी अङ्कन किया गया है। डा० मोतीचन्द्र ने इस भाष्य की सामग्री को लेकर अपनी पुस्तक 'सार्थवाह' में 'यात्री और सार्थवाह' का परिचय प्रदान करने के लिए उपयोग किया है। प्राचीन भारतीय संस्कृति की दृष्टि से इस भाष्य का विशेष महत्त्व है। जैन श्रमणों के आचार का सूक्ष्म एवं तर्क-पुरस्सर विवेचन इस भाष्य की प्रमुख विशेषता है।

पीठिका में मंगलवाद, ज्ञानपंचक, अनुयोग, कल्प, व्यवहार, प्रभृति विषयों पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम



उद्देश्य की व्याख्या में तालवृक्ष से सम्बन्धित नाना प्रकार के दोष और प्रायश्चित्त, ताल प्रलम्ब के ग्रहण सम्बन्धी अपवाद निर्ग्रन्थ-निर्ग्रन्थियों के देशान्तर गमन के कारण और उसकी विधि, श्रमणों की बीमारी के विधि-विधान, वैद्यों के प्रकार, दुष्काल आदि विशेष परिस्थिति में श्रमण-श्रमणियों के एक-दूसरे के अवगृहीत क्षेत्र में रहने की विधि, ग्राम, नगर, खेड़, कर्वेटक, मडम्बन, पत्तन, आकर, द्रोणमुख, निगम, राजधानी, आश्रम, निवेश, संवाध, घोष, अंशिका, पुटभेदन, शंकर आदि पदों का विवेचन किया गया है। नक्षत्रमास, चन्द्रमास, ऋतुमास, आदित्य मास और अभिविधित मास का वर्णन है। जिनकल्पिक और स्थविरकल्पिक की क्रियाएँ, समवसरण, तीर्थकर, गणधर, आहारक शरीरी, अनुत्तर देव, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव आदि की शुभ और अशुभ कर्म प्रकृतियाँ, तीर्थकर की भाषा का विभिन्न भाषा में परिणमन, आपण-गृह रध्यामुख, शृङ्गाटक, चनुष्क, चत्वर, अन्तरापण, आदि पदों पर विवेचन किया गया है और उन स्थानों पर बने हुए निर्ग्रन्थियों को जिन दोषों के लगने की संभावनाएँ हैं उनकी चर्चा की है।

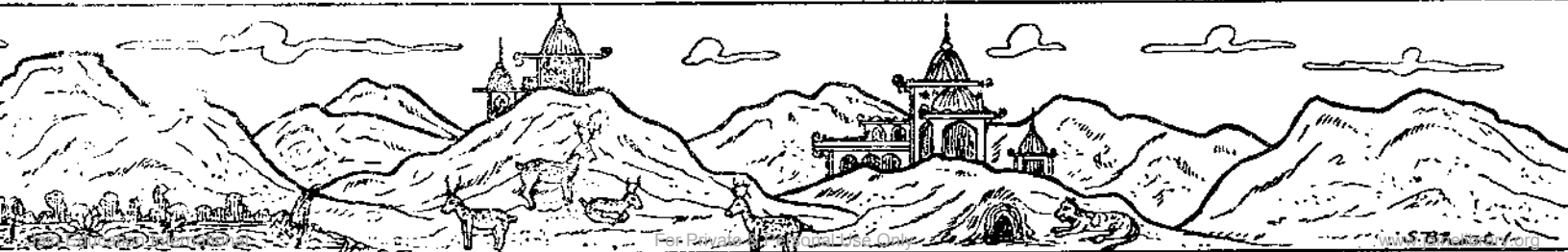
भाष्यकार ने बारह प्रकार के ग्रामों का उल्लेख किया है (१) उत्तानकमल्लक, (२) अवाङ्मुखमल्लक, (३) सम्पुटकमल्लक, (४) उत्तानकखण्डमल्लक, (५) अवाङ्मुखखण्डमल्लक, (६) सम्पुटखण्डमल्लक, (७) मिति, (८) पडालि, (९) बलमि (१०) अक्षाटक, (११) रूपक, (१२) काश्यपक।

तीर्थकर, गणधर, और केवली के समय ही जिनकल्पिक होते हैं। जिनकल्पिक की समाचारी का सत्ताइस द्वारों में वर्णन किया है—(१) श्रुत (२) संहनन, (३) उपसर्ग, (४) आतंक, (५) वेदना, (६) कतिजन, (७) स्थंडिल (८) वसति, (९) क्रियाचिह्न, (१०) उच्चार, (११) प्रस्रवण, (१२) अवकाश, (१३) तृणफलक, (१४) संरक्षणता, (१५) संस्थापनता, (१६) प्राभृतिका, (१७) अग्नि, (१८) दीप, (१९) अवधान, (२०) वत्स्य, (२१) भिक्षाचर्या, (२२) पानक, (२३) लेपालेप, (२४) अलेप, (२५) आचाम्ल, (२६) प्रतिमा, (२७) मासकल्प।

स्थविर कल्पिक की प्रव्रज्या, शिक्षा, अर्थग्रहण, अनियतवास, और निष्पत्ति जिनकल्पिक के सदृश ही है।

विहार की चर्चा करते हुए, विहार का समय, विहार करने के पूर्वगच्छ के निवास एवं निर्वाह योग्य क्षेत्र का परीक्षण, उत्सर्ग और अपवाद की दृष्टि से योग्य-अयोग्य क्षेत्र प्रत्युपेक्षकों का निर्वाचन, क्षेत्र की प्रति लेखना के लिए किस प्रकार गमनागमन करना चाहिए, विहार-मार्ग, एवं स्थंडिल भूमि, जल, विश्राम स्थान, भिक्षा, वसति, उपद्रव आदि की परीक्षा प्रतिलेखनीय क्षेत्र में प्रवेश करने की विधि, भिक्षा के द्वारा उस क्षेत्र के निवासियों के मानस की परीक्षा, भिक्षा, औषध आदि सुगम व कठिनता से मिलने का ज्ञान, विहार करने से पहले वसति के स्वामी की अनुमति, विहार करते समय शुभ-शकुन देखना, आदि।

स्थविर कल्पिकों की समाचारी में निम्न बातों पर प्रकाश डाला है—(१) प्रतिलेखना—वस्त्र आदि के प्रति लेखना का समय, प्रति-लेखना के दोष और प्रायश्चित्त, (२) निष्क्रमण—उपाश्रय से बाहर निकलने का समय, (३) प्राभृतिका—गृहस्थ के लिए जो मकान तैयार किया है उसमें रहना चाहिए या नहीं रहना चाहिए। (४) भिक्षा के लेने का समय, और भिक्षा सम्बन्धी आवश्यक वस्तुएँ, (५) कल्पकरण—पात्र साफ करने की विधि, लेपकृत और अलेपकृत पात्र, पात्र-लेप से लाभ। (६) गच्छशतिकादि—आधाकर्मिक, स्वगृहयतिमिश्र, स्वगृह पाषण्ड मिश्र, यावर्दाधिक मिश्र, क्रीतकृत, पूतिकर्मिक, और आत्मार्यकृत। (७) अनुयान-रथ यात्रा का वर्णन और उस सम्बन्धी दोष। (८) पुरःकर्म-भिक्षा लेने से पहले सचित्त जल से हाथ आदि धोने से लगने वाला दोष, (९) ग्लान-रूग्ण सन्त की सेवा से होने वाली निर्जरा, उसके लिए पथ्यापथ्य की गवेषणा, वैद्य के पास चिकित्सा के लिए जाने की विधि, उनके साथ वार्तालाप, आदि किस प्रकार करना। रुग्ण साधु को निर्दयता-पूर्वक उपाश्रय आदि में छोड़कर चले जाने वाले आचार्य को लगने वाले दोष और उनका प्रायश्चित्त (१०) गच्छ प्रतिबद्ध यथालंघिक-वाचना आदि कारणों से गच्छ से सम्बन्ध रखने वाले यथालंघिक कल्पधारियों के साथ बन्दन आदि व्यवहार (११) उपरिदोष—ऋतुबद्ध काल से अतिरिक्त समय में एक क्षेत्र में, एक मास से अधिक रहने से लगने वाले दोष। (१२) अपवाद—एक मास से अधिक रहने के आपवादिक कारण, निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थियों के विहार का विस्तृत वर्णन है।



भाष्य में कहीं-कहीं पर सुभाषित भी दिखाई देते हैं—

कत्थ व न जलइ अग्गी, कत्थ व चंदो न पायडो होइ ।
कत्थ वरलक्खागधरा, न पायडा होंति सप्पुरिसा ॥
उदए न जलइ अग्गी, अब्भच्छिन्नो न दीसइ चंदो ।
मुक्खेसु महाभागा, बिज्जापुरिसो न मायति ॥

अग्नि कहां प्रकाश मान नहीं होती ? चन्द्रमा कहां प्रकाश नहीं करता ? शुभ लक्षण के धारक सत्पुरुष कहां प्रकट नहीं होते ?

अग्नि जल में बुझ जाती है, चन्द्रमा मेघाच्छादित आकाश में दिखाई नहीं देता और विद्या सम्पन्न पुरुष मूर्खों की सभा में शोभा को प्राप्त नहीं होते ।

वर्षाकाल में गमन करने से वृक्ष की शाखा आदि का सिर पर गिर जाने से, कीचड़ से पैर फिसल जाने, नदी में बह जाने, कांटा लग जाने आदि का भय रहता है, इसलिए निर्ग्रन्थ और निर्ग्रन्थिनियों को वर्षाकाल में गमन करने का निषेध है । विरुद्धराज्य में संक्रमण करने से बन्द बन्ध, आदि का भय रहता है । रात्रि या विकाल में विहार करने से गड्डे आदि में गिरने, साँप, कुत्ते से काटे जाने, बैल से मारे जाने, या कांटा आदि के लग जाने का भय रहता है । प्रस्तुत प्रसंग पर कालोदाई नाम के मिश्रु की कथा दी है । वह मिश्रु रात्रि के समय किसी ब्राह्मणी के घर मिक्षा मांगने गया था । वह गर्भवती थी । अन्धेरे से ब्राह्मणी को कील दिखाई नहीं दी, कील पर गिर जाने से उसकी मृत्यु हो गई ।

सदा जागृत रहने का उपदेश दिया है कि हे मनुष्यो ! सदा जागृत रहो । जागृत मनुष्य की बुद्धि का विकास होता है जो जागता है वह सदा धन्य है—

जागरह नरा ! णिच्चं, जागरमाणस्स बड्ढते बुद्धि ।

जो सुवति ण सो धण्णं, जो जग्गति सो सया धण्णो ॥

शील और लज्जा को स्त्रियों का भूषण कहा है । हार आदि आभूषणों से स्त्री का शरीर विभूषित नहीं होता । उसका भूषण तो शील और लज्जा ही है । सभा में संस्कार युक्त असाधुवादिनी वाणी प्रशस्त नहीं कही जा सकती ।

ण भूसणं भूसयते सरीरं, विभूसणं सीलहिरी य इत्थिए ।

गिरा हि संखारज्जुया वि संसती, अपेसला होइ असाहुवादिणी ॥

जिन शासन का सार बताते हुए लिखा है जिस बात की अपने लिए इच्छा करते हो, उसकी दूसरे के लिए भी इच्छा करो, और जो बात अपने लिए नहीं चाहते हो उसे दूसरे के लिए भी न चाहो—यही जिन शासन है—

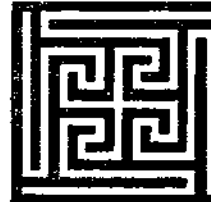
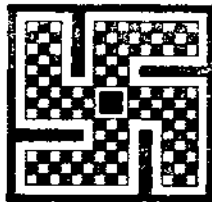
जं इच्छसि अप्पणतो, जं च ण इच्छसि अप्पणतो ।

तं इच्छ परस्स वि या, एत्तियगं जिणसासणयं ॥

विस्तार भय से भाष्य में आई हुई सभी बातों पर प्रकाश नहीं डाल सके हैं । किन्तु भारतीय साहित्य में प्रस्तुत भाष्य का महत्त्वपूर्ण व अनूठा स्थान है ।

पञ्चकल्प महाभाष्य

आचार्य संघदासगणी की द्वितीय कृति पञ्चकल्प महाभाष्य है, जो पञ्चकल्प नियुक्ति के विवेचन के रूप में है । इसमें कुल २६५५ गाथाएँ हैं, जिसमें भाष्य की २५७४ गाथाएँ हैं । इसमें पाँच प्रकार के कल्प का संक्षिप्त वर्णन है, फिर उसके छह, सात, दस, बीस, और बयालीस भेद किये गये हैं । पहला कल्प-मनुज जीव कल्प छह प्रकार का है—प्रजाजन, मुंडन, शिक्षण उपस्थ, भोग, और संवसन, । जाति, कुल, रूप और विनय सम्पन्न व्यक्ति ही प्रज्या के योग्य है । बाल, वृद्ध, नपुंसक, जड़, क्लीब, रोगी स्तेन, राजापकारी, उन्मत्त, अदर्शी, दास दुष्ट, मूढ़, अज्ञानी, जुंमित,



भयभीत, पलायित, निष्कासित, गर्भिणी, बालवत्सास्त्री—ये बीस प्रकार के व्यक्ति प्रव्रज्या के अयोग्य है। क्षेत्रकल्प की चर्चा में साढ़े पच्चीस देशों को आर्य क्षेत्र कहा है जहाँ पर श्रमण विचरण कर सकते हैं। उन जनपदों व राजधानियों का नाम भी बताया है।

द्वितीय कल्प के सात भेद हैं—स्थितकल्प, अस्थितकल्प, जिनकल्प, स्थविरकल्प, लिंगकल्प, उपधिकल्प और संभोगकल्प,।

तृतीय कल्प के दस भेद हैं—कल्प, प्रकल्प, विकल्प, संकल्प, उपकल्प, अनुकल्प, उत्कल्प, अकल्प, दुष्कल्प, और सुकल्प।

चतुर्थ कल्प के बीस भेद हैं—नामकल्प, स्थापनाकल्प, द्रव्यकल्प, क्षेत्रकल्प, कालकल्प, दर्शनकल्प, श्रुतकल्प, अध्ययनकल्प, चारित्रकल्प, आदि।

पञ्चम कल्प के द्रव्य, भाव, तदुभयकरण, विरमण, सदाधार, निर्वेश, अन्तर, नयांतर, स्थित, अस्थित, स्थान आदि बयालीस भेद है।

इस प्रकार पाँच कल्पों का वर्णन प्रस्तुत भाष्य में हुआ है।

निशीथ भाष्य

निशीथ भाष्य के रचयिता भी संघदासगणी माने जाते थे। उसकी अनेक गाथाएँ वृहत्कल्प भाष्य और व्यवहार भाष्य से मिलती है। भाष्य में अनेक सरस लौकिक कथाएँ भी हैं। श्रमणों के आचार-विचार सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का प्रतिपादन किया है। जैसे पुलिंद आदि अनार्य जंगल में जाते हुए श्रमणों को आर्य समझकर मार देते थे। सार्थवाह व्यापार के लिए दूर-दूर देशों में जाते थे। अनेक प्रकार के सिक्के उस युग में प्रचलित थे। इसमें वृहत्कल्प नन्दिसूत्र, सिद्धसेन और गोविन्द-वाचक का उल्लेख है।

व्यवहार भाष्य

हम पहले ही बता चुके हैं कि व्यवहार भाष्य के रचयिता का नाम अभी तक ज्ञात नहीं हो सका है। वृहत्कल्प भाष्य के समान ही प्रस्तुत भाष्य में भी श्रमण-श्रमणियों के आचार की चर्चा है। सर्वप्रथम पीठिका में व्यवहार, व्यवहारी एवं व्यवहर्तव्य के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है। व्यवहार में दोष लगने की दृष्टि से प्रायश्चित्त का अर्थ, भेद, निमित्त आदि दृष्टियों से विवेचन किया है। विवेचन करते हुए अनेक दृष्टान्त भी दिये हैं। उसके पश्चात् भिक्षु, मास, परिहार, स्थान, प्रतिसेवना, आलोचना आदि पदों पर निक्षेपपूर्वक व्याख्यान किया है। आधाकर्म से सम्बन्धित अतिक्रम, व्यतिक्रम, अतिचार, अनाचार के लिए अलग-अलग प्रायश्चित्त का विधान है। प्रायश्चित्त से मूलगुण और उत्तर गुण दोनों की विशुद्धि होती है।

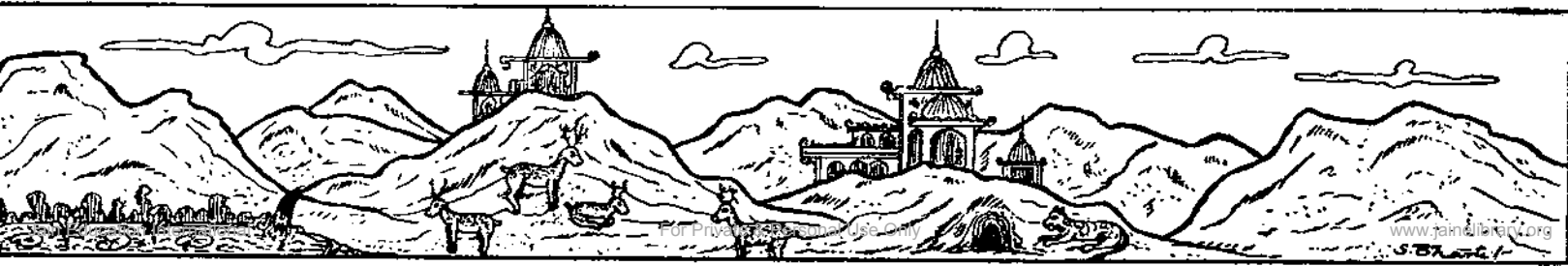
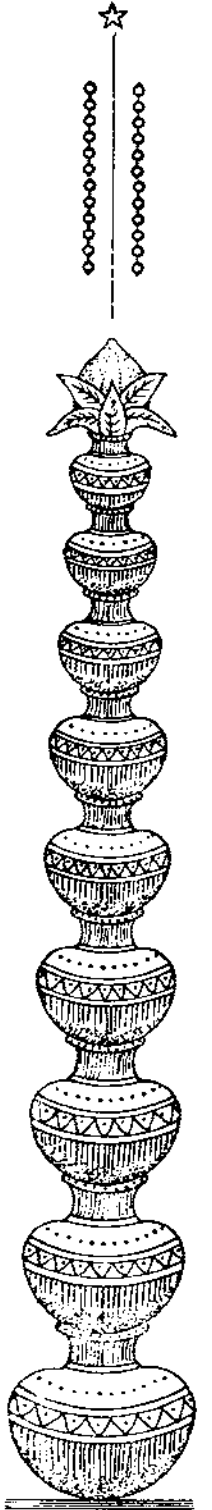
प्रायश्चित्त के योग्य पुरुष चार प्रकार के होते हैं—उभयतर—जो स्वयं तप करता हुआ दूसरों की भी सेवा कर सकता है। आत्मतर—जो केवल तप ही कर सकता है, परतर—जो केवल सेवा ही कर सकता है। अन्यतर—जो तप और सेवा दोनों में से किसी एक समय में एक का ही सेवन कर सकता है।

शिथिलता के कारण गच्छ का परित्याग कर पुनः गच्छ में सम्मिलित होने के लिए विविध प्रायश्चित्तों का विधान किया है और पश्वस्थ, यथाच्छन्द, कुशील, अनसन्न एवं संसक्त के स्वरूप पर भी प्रकाश डाला है।

भाष्यकार ने साधुओं के विहार की चर्चा करते हुए एकाकी विहार का निषेध किया है और उनके लगने वाले दोषों का निरूपण किया है।

विविध प्रकार के तपस्वी व रुग्ण व्यक्तियों की सेवा का विधान करते हुए क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त श्रमणों की सेवा करने की मनोवैज्ञानिक पद्धति पर प्रकाश डाला है। क्षिप्तचित्त होने के राग, भय और अपमान ये तीन कारण हैं। दीप्तचित्त होने का मुख्य कारण सम्मान है। विशेष सम्मान होने से उसमें मद पैदा है। दुर्जय शत्रुओं पर विजय वैजयन्ती फहराने के मद से उन्मत्त होकर वह दीप्तचित्त हो जाता है। क्षिप्तचित्त और दीप्तचित्त में मुख्य अन्तर यह होता है, क्षिप्तचित्त प्रायः मौन रहता है और दीप्तचित्त बोलता रहता है।

भाष्यकार ने गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय, प्रवर्तक, स्थविर, प्रवर्तिनी आदि पदवियों के धारण करने वाले की योग्यता पर चिन्तन किया है। जो एकादशाम के ज्ञाता हैं, नवम पूर्व के ज्ञाता हैं, कृतयोगी हैं, बहुश्रुत हैं,



बह्वागम हैं, सूत्रार्थ विशारद हैं, धीर हैं, श्रुत निर्वर्ष हैं, महाजन हैं वे ही आचार्य आदि पदवियाँ प्राप्त कर सकते हैं।

साधुओं के विहार सम्बन्धी नियमों पर चिन्तन करते हुए कहा है—आचार्य को कितने सन्तों के साथ रहना चाहिए। वर्षाकाल में निम्नलिखित स्थान श्रेष्ठ बताये गये हैं—जहाँ अधिक कीचड़ न हो, द्वीन्द्रियादि जीवों की बहुलता न हो, प्रासुक भूमि हो, रहने योग्य दो तीन वस्तियाँ हों, गोरस की प्रचुरता हो, बहुत लोग रहते हों, कोई बँध हो, औषधियाँ प्राप्त होती हों, धान्य की प्रचुरता हो, राजा सम्यक् प्रकार से प्रजा को पालता हो, पाखण्डी साधु कम रहते हों, मिक्षा सुलभ हो और स्वाध्याय में कोई विघ्न न हो। जहाँ पर कुत्ते अधिक हों वहाँ पर साधु को विहार नहीं करना चाहिए।

जाति-जुगित, कर्म-जुगित, और शिल्प-जुगित ये तीन प्रकार के हीन लोग बताये हैं। जाति-जुगितों में पाण, डोंब, किणिक और स्वपच तथा कर्म-जुगितों में पोषक, संवर-शोधक, नट, लेख, व्याध, मछुए, रजक, और वागुरिक शिल्प-जुगितों में पट्टकार और नापितों का उल्लेख है।

आर्यरक्षित, आर्य कालक, राजा सातवाहन, प्रद्योत, मुहण्ड, चाणक्य, चिन्तात पुत्र, अवन्ति सुकुमाल, रोहिण्य आदि की कथाएँ भी इसमें आई हैं। आर्य समुद्र, आर्यमगु का भी वर्णन है। पाँच प्रकार के व्यवहार, बालदीक्षा की विधि, दस प्रकार की सेना आदि पर भी विवेचन किया है।

ओष नियुक्ति—लघु भाष्य

व्यवहार भाष्य के समान ओषनियुक्ति लघुभाष्य के कर्ता का नाम नहीं मिलता है। ओषनियुक्ति लघुभाष्य की ३२२ गाथाएँ हैं। ओष, पिण्ड, व्रत, श्रमणधर्म, संयम, वैद्यावृत्य, गुप्ति, तप, समिति, भावना, प्रतिमा, इन्द्रिय निरोध, प्रतिलेखना, अभिग्रह अनुयोग, कायोत्सर्ग, औपधातिक, उपकरण आदि विषयों पर संक्षेप में विवेचन है। इसके बृहद्भाष्य में विस्तार से विवेचन है।

ओषनियुक्ति भाष्य

ओषनियुक्ति बृहद्भाष्य की एक हस्तलिखित प्रति मुनि श्री पुण्यविजयजीय के संग्रह में थी, जिसमें २५१७ गाथाएँ थीं। सभी गाथाएँ भाष्य की नहीं किन्तु उसमें नियुक्ति की गाथाएँ भी सम्मिलित हैं। नियुक्ति की गाथाओं के विवेचन के रूप में भाष्य का निर्माण हुआ है। भाष्य में कहीं पर भी भाष्यकार के नाम का उल्लेख नहीं हुआ है।

पिण्डनियुक्ति भाष्य

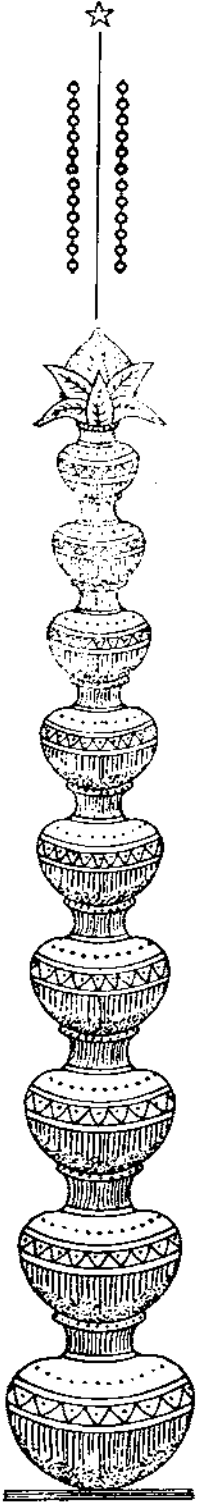
पिण्डनियुक्ति भाष्य के रचयिता का भी नाम प्राप्त नहीं होता है। इसमें ४६ गाथाएँ हैं। 'गौण' शब्द की व्युत्पत्ति, पिण्ड का स्वरूप, लौकिक और सामयिक की तुलना, सद्भाव स्थापना और असद्भाव स्थापना के रूप में पिण्ड स्थापना के दो भेद हैं। पिण्ड निक्षेप और वातकाय, आधाकर्म का स्वरूप, अधःकर्मता हेतु विभागोद्देशिक के भेद, मिश्रजात का स्वरूप, स्वस्थान के स्थान स्वस्थान, भाजनस्वस्थान, आदि भेद, सूक्ष्म प्राभृतिका के दो भेद-अपसर्पण और उत्सर्पण। विशोधि और अविशोधि की कोटियाँ। अहृदय होने का चूर्ण और दो क्षुल्लक मिक्षुओं की कथा है।

उत्तराध्ययन भाष्य

उत्तराध्ययन भाष्य स्वतन्त्र रूप से नहीं मिलता। शान्तिसूरि की प्राकृत टीका में भाष्य की गाथाएँ प्राप्त होती हैं। वे केवल ४५ हैं। ज्ञात होता है अन्य भाष्यों की गाथाओं के समान प्रस्तुत भाष्य की गाथाएँ भी नियुक्ति के साथ मिल गई हैं। इनमें बोटिक की उत्पत्ति, पुलाक, बकुश, कुशील, निर्ग्रन्थ और स्नातक आदि के स्वरूप का विश्लेषण किया गया है।

दशवैकालिक भाष्य

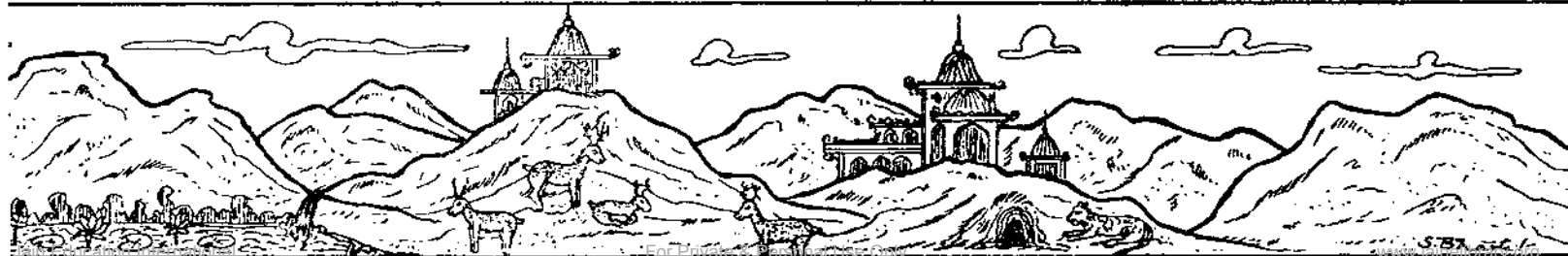
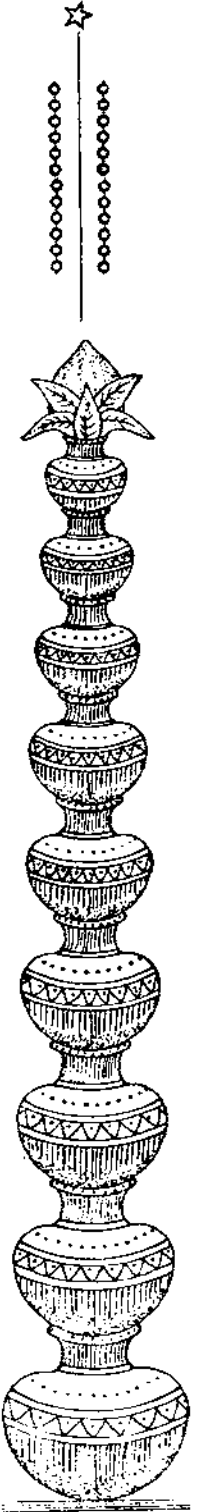
दशवैकालिक भाष्य की ६३ गाथाएँ हैं, जिसका उल्लेख हरिमद्रिया वृत्ति में है। हरिमद्र ने जिन गाथाओं को



भाष्यगत मानी हैं, वे चूर्णि में हैं इससे जान पड़ता है कि भाष्यकार चूर्णिकार से पूर्ववर्ती हैं। इसमें हेतु विशुद्धि, प्रत्यक्ष-परोक्ष तथा मूलगुण और उत्तर गुणों का प्रतिपादन है। अनेक प्रमाणों से जीव की सिद्धि की गई है।

इस प्रकार आवश्यक, जीतकल्प, बृहत्कल्प, पंचकल्प, निशीथ, व्यवहार, ओषनिर्युक्ति, पिण्ड निर्युक्ति, उत्तराध्ययन, दशवैकालिक पर भाष्य प्राप्त होते हैं जिन पर हमने बहुत ही संक्षेप में चिन्तन किया है। इनमें से कुछ भाष्य प्रकाशित हो गये और कुछ भाष्य अभी तक अप्रकाशित हैं। भाष्य साहित्य में जो भारतीय संस्कृति, सभ्यता, धर्म और दर्शन व मनोविज्ञान का जो विश्लेषण हुआ है वह अपूर्व है अनूठा है।^{१३}

- १ विविधतीर्थकल्प, पृ० १९
- २ जैन सत्यप्रकाश अंक १९६
- ३ गणधरवाद प्रस्तावना, पृ० ३१
- ४ (क) नागेश्वर, चन्द्र, निर्वृत्ति, विद्याधराख्यान चतुरः सकुटुम्बान्, इभ्यपुत्रान्- प्रव्राजितकान् । तेभ्यश्च स्व-स्व नामाङ्कितानि चत्वारि कुलानि संजातानीति ।—तपागच्छ पट्टावली भाग १, स्वोपज्ञवृत्ति (पं० कल्याण विजय जी, पृ० ७१)
- (ख) जैन साहित्य संशोधक खण्ड २, अ० ४, पृ० १०
- (ग) जैन गुर्जर कविओ, भाग २, पृ० ६६९
- ५ जीतकल्प चूर्णि गा० ५-१०
- ६ पंचसता इगतीसा सगाणिव कालस्स वट्टमाणस्स ।
तो चेतपुण्णिमाए बुद्धदिण सातिमि णवखत्ते ॥
रज्जे णु पासणपरे सी (लाइ) धम्मिणर वरिन्दम्मि ।
वलंभीणगरीए इयं महविमि जिणभवणे ॥
- ७ गणधरवाद प्रस्तावना, पृ० ३२-३३
- ८ जैन-साहित्य का बृहद्भूतिहास भाग ३, पृ० १३५
प्रकाशक—पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान जैनाश्रम वाराणसी ५
- ९ प्रस्तुत चूर्णि जिनदास की चूर्णि व हरिभद्र की वृत्ति में अक्षरशः उद्धृत की गई।
- १० जीतकल्प सूत्र—स्वोपज्ञभाष्य सहित, प्रस्तावना, पृ० ४-५
- ११ जीतकल्पभाष्य गा० १-५
- १२ जीतकल्पभाष्य गा० २५६६-२५६७
- १३ विशेषावश्यक भाष्य, जीतकल्प भाष्य, बृहद् लघुभाष्य व्यवहार भाष्य, ओषनिर्युक्ति लघुभाष्य, पिण्ड निर्युक्ति भाष्य, निशीथ भाष्य ये प्रकाशित हो गये हैं।



जैन साहित्य के व्यास—कलिकाल सर्वज्ञ आचार्य हेम-
चन्द्र के व्यक्तित्व एवं कृतित्व की एक विरल भांकी यहाँ
प्रस्तुत है।

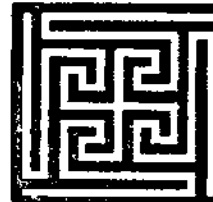
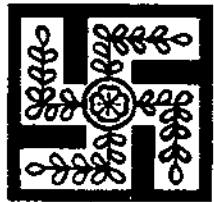
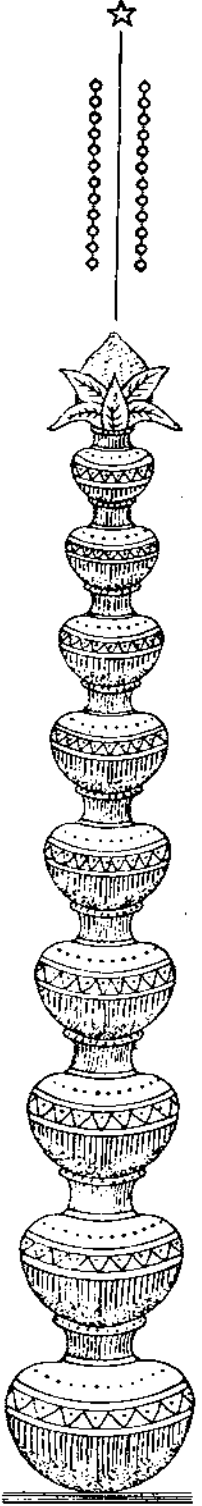
□ अभयकुमार जैन, एम० ए०, बी० एड०
साहित्यरत्न (बीना, म० प्र०)

आचार्य हेमचन्द्र : जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व

भारतीय वाङ्मय के विकास में जिन आचार्यों ने महान् योगदान दिया है उनमें 'कलिकाल सर्वज्ञ' की उपाधि से विभूषित आचार्य हेमचन्द्र का स्थान अन्यतम है। वे 'ज्ञान के सागर' थे। उनका व्यक्तित्व व्यापक, विशाल, प्रेरक व गौरवपूर्ण था। कलिकाल सर्वज्ञ की उपाधि ही उनके व्यक्तित्व की विशालता एवं व्यापकता की द्योतक है। वे अद्भुत प्रतिभा के धनी थे। उनकी सर्वतोमुखी प्रतिभा किसी विषय विशेष तक ही सीमित नहीं थी; अपितु उन्होंने विभिन्न विषयों पर महान् ग्रन्थों का प्रणयन कर वाङ्मय के प्रत्येक क्षेत्र को अपनी लेखिनी से विभूषित और समृद्ध किया। वे एक मूर्तिमान ज्ञानकोष थे। 'इनमें एक साथ ही वैद्याकरण, आलङ्कारिक, दार्शनिक, साहित्यकार, इतिहासकार पुराणकार, कोषकार, छन्दोनुशासक, धर्मोपदेशक और महान् युगकवि का अन्यतम समन्वय हुआ है।¹ केवल साहित्यिक क्षेत्र में ही नहीं, अपितु सामाजिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं राजनैतिक क्षेत्रों में भी आचार्य श्री ने अपूर्व योगदान दिया है। वे सर्वजनहिताय, सर्वजनमुखाय तथा सर्वोपदेशाय इस भूतल पर अवतरित हुए थे। निःसन्देह भारत के मनीषियों और ऋषियों की परम्परा में उनका नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाने योग्य है।

आचार्य श्री का जन्म गुजरात प्रदेश के अहमदाबाद नगर से लगभग ६६ किलोमीटर दूर दक्षिण-पश्चिम में स्थित 'धुंधुकानगर' या 'धुंधुक्य' में वि०सं० ११४५ की कार्तिक-पूर्णिमा की रात्रि की मंगलवेला में हुआ था। प्राचीनकाल में यह एक समृद्ध सम्पन्न और सुविख्यात नगर था। संस्कृत के इतर ग्रन्थों में इस नगर के नाम 'धुंधुकपुर' अथवा 'धुंधुक' नगर भी मिलते हैं।² इनके पिता का नाम 'चच्च' अथवा 'चाचिग' तथा माता का नाम 'चाहिणी' अथवा 'पाहिणी' था। ये मोड़वंशीय³ वैश्य थे। चूँकि इनके पूर्वजों का निष्क्रमण ग्राम 'मोढ़ेरा' से हुआ था इसी से ये मोड़वंशीय कहे जाते थे। कहा जाता है कि इनके पिता शैवधर्मावलम्बी थे तथा माता जैनधर्मावलम्बी⁴ थीं। धार्मिक सहिष्णुता और प्रेम का यह एक अच्छा उदाहरण था। पाहिणी का भाई (चङ्गदेव का मामा) नेमिनाग था जो पूर्णतः जैनधर्मावलम्बी था और जिसने अन्त में जैनीदीक्षा⁵ भी ग्रहण की थी। प्रारम्भिक अवस्था में बालक का नाम 'चङ्गदेव' रखा गया था। बालक का यह नामकरण इनकी कुलदेवी 'चामुण्डा' और कुलपक्ष 'गोनस' के आद्यक्षरों के मेल से उनकी स्मृति स्वरूप किया गया था।⁶ सोमप्रभसूरि के वर्णन के अनुसार जिस समय चङ्गदेव अपनी माता के गर्भ में थे उस समय उनकी माता ने अद्भुत स्वप्न देखे थे। 'प्रभावक चरित' में भी माता द्वारा अद्भुत स्वप्न देखे जाने का वर्णन है तथा राजशेखर ने भी 'प्रबन्ध कोश' में माता के इस स्वप्न के विषय में लिखा है।

जन्मोपरान्त बालक चङ्गदेव का क्रमिक विकास शीघ्र सम्पन्न हुआ। 'होनहार बिरवान के होत चीकने पात' की लोकोक्ति के अनुसार बालक चङ्गदेव अपनी प्रारम्भिक अवस्था से ही अत्यधिक होनहार व निपुण था। माता-पिता और धर्मगुरुओं के सम्पर्क से बालक में सद्गुणों का विकास होना प्रारम्भ हुआ। जब ये केवल आठ वर्ष के ही थे तभी (वि०सं० ११५४ में) इन्होंने अपने समय के प्रसिद्ध आचार्य देवचन्द्र से साधुदीक्षा ग्रहण कर ली थी। ये ही इनके दीक्षागुरु, शिक्षागुरु और विद्यागुरु थे। आ० हेमचन्द्र ने भी अपने इन गुरु के नाम का स्पष्ट उल्लेख अपने 'त्रिषष्टिशला का पुरुष चरित' में किया है।⁷ दीक्षोपरान्त चङ्गदेव का नाम 'सोमचन्द्र' रखा गया था।

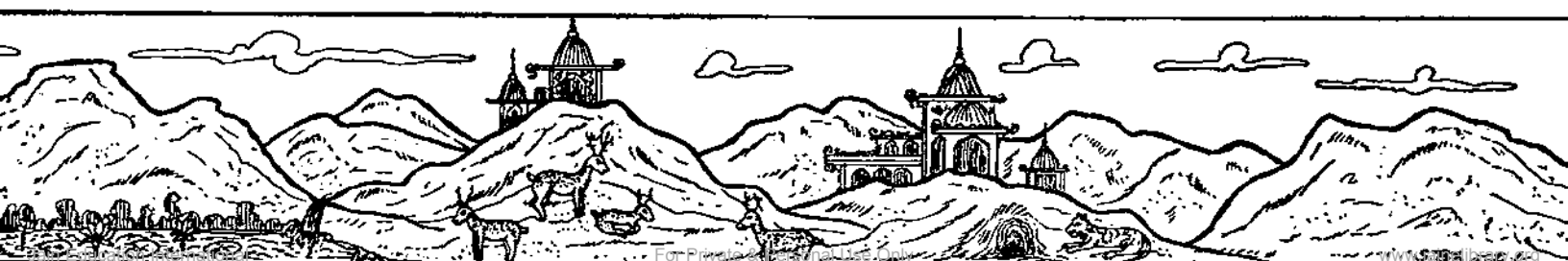
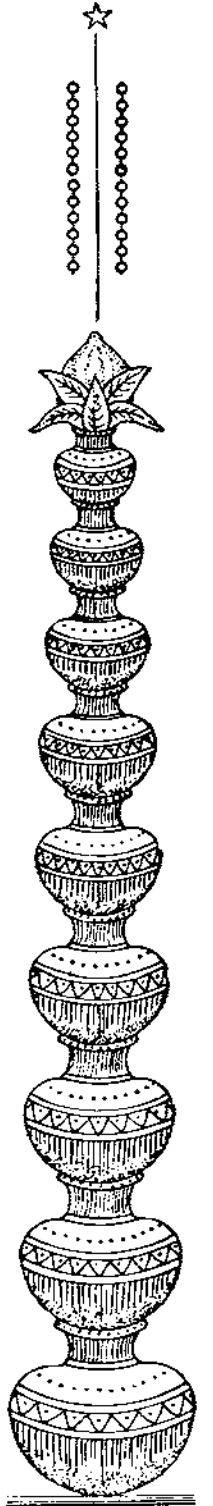


चङ्गदेव की साधुदीक्षा के सम्बन्ध में प्रबन्धकोश, प्रभावकचरित तथा प्रबन्धचिन्तामणि में कुछ प्रसङ्ग उपलब्ध होने हैं। प्रबन्धकोश (हेमसूरिप्रबन्ध^६) में राजशेखर ने लिखा है कि चङ्गदेव के मामा नेमिनाग ने आ० देवचन्द्र से धर्मसभा में चङ्गदेव का परिचय कराया। तत्पश्चात् नेमिनाग ने घर जाकर बहिन पाहिणी देवी से चङ्गदेव को साधु-दीक्षा दिलाने की प्रार्थना की। प्रभावक चरित^{१०} के वर्णन के अनुसार माता जब अपने पुत्र के साथ देवमन्दिर गयी तो बालक चङ्गदेव आ० देवचन्द्र की गद्दी पर जा बैठा और आचार्यश्री ने पाहिणी को स्वप्न की याद दिलाकर पुत्र को शिष्य के रूप में मांग लिया। प्रबन्ध चिन्तामणि के अनुसार एक समय आचार्य देवचन्द्र 'अणहिलपत्तन' नगर से प्रस्थान कर तीर्थयात्रा के प्रसङ्ग में धुन्धुका पहुँचे और वहाँ मोढ़वंशियों की वसही (जैन मन्दिर) में देवदर्शन के लिए पधारे। उस समय शिशु चङ्गदेव खेलते-खेलते अपने साथियों के साथ वहाँ आ गया और अपने बालचापत्यस्वभाव से देवचन्द्राचार्य की गद्दी पर बड़ी कुशलता से जा बैठा। उसके शुभलक्षणों को देखकर आचार्य कहने लगे—'यदि यह बालक क्षत्रिय कुलोत्पन्न है, तो सार्वभौम राजा बनेगा, और यदि यह वैश्य अथवा विप्रकुलोत्पन्न है तो महामात्य बनेगा और यदि कहीं इसने दीक्षा ग्रहण कर ली तो यह युग-प्रधान के समान अवश्य ही इस युग में कृतयुग की स्थापना करेगा।'

चङ्गदेव से इस प्रकार प्रभावित होकर आ० देवचन्द्र ने यह बालक (चङ्गदेव) उसकी मां तथा अन्य सम्बन्धियों से मांग लिया और साधुदीक्षा देकर इसकी शिक्षा का उत्तम प्रबन्ध स्तम्भतीर्थ में उदयन मंत्री के घर पर किया। अल्पकाल में ही इन्होंने तर्क, लक्षणा और साहित्य विद्याओं में अपना अधिकार प्राप्त कर अत्यन्त पाण्डित्य एवं प्रवीणता प्राप्त कर ली। समस्त वाङ्मयरूप जलराशि को अगस्त्यऋषि की भाँति आत्मसात् कर लिया। तत्पश्चात् मुनि सोमचन्द्र ने अपने गुरु आचार्य देवचन्द्र के साथ स्थान-स्थान पर परिभ्रमण कर अपने शास्त्रीय एवं व्यावहारिक ज्ञान में काफी वृद्धि की^{११} और २१ वर्ष की अल्प आयु में ही मुनि सोमचन्द्र सभी शास्त्रों में तथा व्यावहारिक ज्ञान में परिपूर्ण हो गये। इसी समय वि०सं० ११६६ में इनके गुरु ने ३६ आचार्यों से विभूषित आचार्य पद पर प्रतिष्ठित करके इन्हें 'हेमचन्द्र' नाम दिया जिससे ये आचार्य हेमचन्द्र कहलाये। ऐसा भी कहा जाता है कि मुनि सोमचन्द्र चन्द्रमा के समान सुन्दर थे और इनका शरीर सोने के समान तेजस्वी था तथा इनमें कुछ असाधारण शक्तियाँ भी विद्यमान थीं अतः इन्हीं सब कारणों से सोमचन्द्र को हेमचन्द्र कहा जाने लगा था। अस्तु, आचार्यपद-भूषित हेमचन्द्र का पाण्डित्य, सर्वाङ्गमुखी प्रतिभा, प्रभाव एवं व्यक्तित्व बड़ा ही आकर्षक एवं प्रभाव युक्त था। अतः इन्होंने अपने प्रभावी व्यक्तित्व एवं ओजस्वी तथा आकर्षक वाणी द्वारा समाज को अपनी ओर आकृष्ट किया और काफी लम्बे समय तक साहित्य एवं समाज की सेवा की।

अमात्र पाण्डित्य, अद्भुत प्रतिभा और गहन अध्ययन के फलस्वरूप इन्होंने व्याकरण, कोश, अलङ्कारशास्त्र, छन्दशास्त्र, काव्य, दर्शन, योगशास्त्र, पुराण, इतिहास तथा स्तोत्र आदि विविध विषयों पर अपनी लेखनी चलायी और प्रत्येक विषय पर बड़ी ही योग्यता पूर्वक लिखा। 'साहित्य की विपुलता एवं विस्तार की दृष्टि से आचार्य हेमचन्द्र को यदि 'साहित्य सम्राट्' भी कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं होगी।'^{१२} इनके विद्वत्तापूर्णग्रन्थों ने डा० पिटर्सन महोदय को भी आश्चर्य में डाल दिया। डा० पिटर्सन महोदय ने इनको 'ज्ञान महोदधि' (Ocean of knowledge) के विशेषण से अलंकृत किया है। सोमप्रभसूरि ने भी शतार्थकाव्य की टीका में लिखा है—'जिन्होंने नया व्याकरण, नया छन्द शास्त्र, नया द्वयाश्रय, नया अलङ्कार, नया तर्कशास्त्र और नये जीवन-चरित्रों की रचना की हैं, उन्होंने (हेमचन्द्रसूरि ने) किस-किस प्रकार से मोह दूर नहीं किया है ?'^{१३}

आ० हेमचन्द्र ने जिस विपुल साहित्य का प्रणयन किया वह समग्ररूप में तो प्राप्त नहीं होता तथापि विद्वानों का अनुमान है कि इन्होंने शताधिक ग्रन्थों का सृजन किया था। श्रद्धेय मुनिश्री पुण्यविजयजी ने हेमचन्द्र सूरि द्वारा प्रणीत २५ कृतियों के नाम गिनाये हैं उनमें सिद्धहेमशब्दानुशासन, अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह, निघण्टुकोष, देशीनाममाला, सिद्धहेमलिगानुशासन, धातुपारायण, योगशास्त्र, द्वयाश्रयकाव्य, काव्यानुशासन, छन्दोऽनुशासन तथा त्रिषष्टिशालाका पुरुष चरित आदि महत्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इन्होंने कुछ द्वात्रिंशिकाएँ तथा स्तोत्र भी लिखे हैं। श्रद्धेय डा० आनन्दशंकर ध्रुव के अनुसार 'द्वात्रिंशिकाएँ तथा स्तोत्र, साहित्यिक दृष्टि से हेमचन्द्राचार्य की उत्तम कृतियाँ हैं। उत्कृष्ट बुद्धि तथा हृदय की भक्ति का उनमें सुभग संयोग है।' संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश इन तीनों भाषाओं पर



इसका समान अधिकार था। इनका 'शब्दानुशासन' संस्कृत, प्राकृत अथा अपभ्रंश भाषाओं के व्याकरण का ज्ञान कराने में अत्यधिक उपयोगी है। अपभ्रंश भाषा के लिए उनका महत्वपूर्ण योगदान है। शब्दानुशासन में अपभ्रंश भाषा का भी व्याकरण लिखकर आचार्यश्री ने एक बड़ा ही ऐतिहासिक कार्य सम्पन्न किया है तथा अपभ्रंश भाषा को संरक्षण प्रदान किया है। बाद के विद्वानों द्वारा अपभ्रंश की जो खोज हो सकी है, उसका मुख्य श्रेय आ० हेमचन्द्र को ही है। लघु होते हुए भी इनका अपभ्रंश व्याकरण सर्वांगपरिपूर्ण, सरल व स्पष्ट है। पं० चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने हेमचन्द्र के तीन महत्वों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित किया है—

हेमचन्द्र ने पीछे न देखा तो आगे देखा, उधर का छूटा तो इधर बढ़ा लिया। अपने समय तक की भाषा का विवेचन कर डाला। यही हेमचन्द्र का पहला महत्व है कि और व्याकरणों की तरह केवल पाणिनि के लोकोपयोगी अंश को अपने ढाँचे में बदलकर ही वह संतुष्ट न रहा, पाणिनि के समान पीछा नहीं तो आगा देखकर अपने समय तक की भाषा का व्याकरण बन गया।

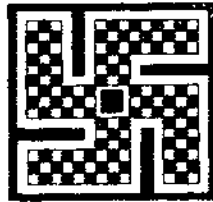
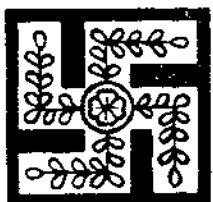
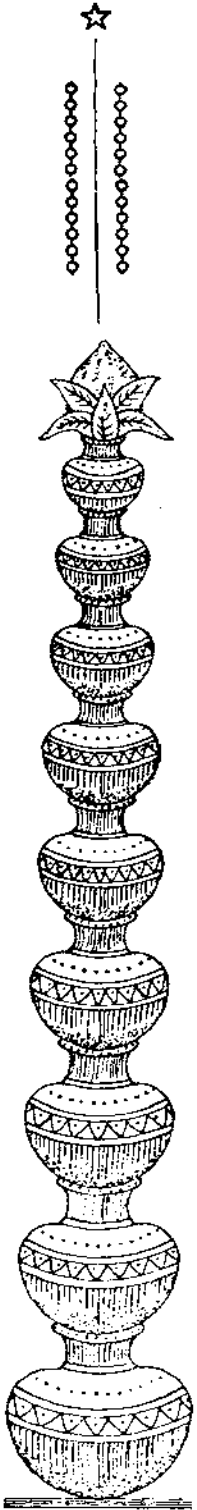
'अपभ्रंश के अंश में उसने पूरी गाथाएँ, पूरे छन्द और पूरे अवतरण दिये। यह हेमचन्द्र का दूसरा महत्व है।—अपभ्रंश के नियम यों समझ में नहीं आते। मध्यम पुरुष के लिए 'पइ' शपथ में 'थ' की जगह 'ध' होने से 'सवध' और मक्कडधुगिध का अनुकरण प्रयोग बिना पूरा उदाहरण दिये समझ में नहीं आता।'

तीसरा महत्व हेमचन्द्र का यह है कि वह अपने व्याकरण का 'पाणिनि' और 'भट्टोजिदीक्षित' होने के साथ-साथ उसका 'भट्टि' भी है। उसने अपने संस्कृत-प्राकृत द्वयाश्रय काव्य में अपनी व्याकरण के उदाहरण भी दिए हैं तथा सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल का इतिहास भी लिखा है। भट्टि और भट्टमौमिक की तरह वह अपने सूत्रों के क्रम से चलता है।

आ० हेमचन्द्र के व्यक्तित्व और कृतित्व से आकृष्ट होकर गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह ने इनको पर्याप्त सम्मान दिया। सिद्धराज से ही प्रेरणा पाकर इन्होंने 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' की रचना की थी। वि० सं० ११९९ में सिद्धराज की मृत्यु होने के पश्चात् कुमारपाल सिंहासनारूढ़ हुआ। हेमचन्द्र से प्रभावित होकर उसने अपने राज्य में जीवहत्या बन्द करा दी थी तथा कुछ समय पश्चात् जैनधर्म धारण कर जुआ और मद्यपान को भी प्रतिबन्धित कर दिया था। उसने अपने राज्य को सदैव दुर्व्यसनों से मुक्त रखने का प्रयत्न किया और अनेक जैनमन्दिरों, तालाबों धर्मशालाओं और विहारों का भी निर्माण कराया। इस प्रकार वह बहुत समय तक भली-भाँति प्रजा का पालन करता रहा। कुमारपाल की मृत्यु सन् ११७४ (वि० सं० १२३१) में हुई। कुमारपाल की मृत्यु से छह माह पहले हेमचन्द्र का स्वर्गवास हो गया था।

ऐसा माना जाता है कि अन्तिम समय में आ० हेमचन्द्र ने 'प्रमाण-मीमांसा' की रचना की थी। यह उनकी अपूर्ण रचना है। पाँच अध्यायों में इसकी रचना किये जाने का यद्यपि उल्लेख मिलता है; परन्तु वर्तमान में प्रथम अध्याय पूर्ण (प्रथम तथा द्वितीय आह्निक) तथा द्वितीय अध्याय अपूर्ण (प्रथम आह्निक मात्र) ही मिलता है। शेष ग्रन्थ को आचार्यश्री या तो वृद्धावस्था के कारण पूर्ण नहीं कर सके हैं अथवा पूर्ण कर भी लिया है तो फिर यह काल-कवलित हो जाने से आज उपलब्ध नहीं हैं। सूत्रशैली में ग्रथित और स्वोपज्ञवृत्ति सहित इस लघुग्रन्थ में प्रमाण और प्रमेय की साङ्गोपाङ्ग जानकारी दी गयी है। प्रमाण, प्रमाता, प्रमेय आदि तत्त्वों का इसमें सुन्दर निरूपण है। अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से इन्होंने बहुत कुछ ग्रहण किया तथा बहुत-सी मौलिक उद्भावनाएँ भी की हैं। जैनदर्शन तथा अन्यदर्शन सम्बन्धी कृतियों के परिप्रेक्ष्य में प्रमाण-मीमांसा का अध्ययन करने पर यह बात सहज ही स्पष्ट हो जाती है। भर्द्वाय पं० सुखलाल जी संघवी ने इस दृष्टि से प्रमाणमीमांसा पर एक विस्तृत टिप्पण लिखा है, जिसकी विद्वानों ने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है।

आ० हेमचन्द्र की अमाध विद्वत्ता का दाय उनके शिष्यों को मिला और उन्होंने साहित्य की श्रीवृद्धि करने में चार-चाँद लगा दिए। उनके शिष्यों में रामचन्द्रसूरि की प्रसिद्धि सम्पूर्ण देश में फैली हुई थी और उस समय के विद्वानों में हेमचन्द्र के बाद इन्हीं का नाम लिया जाता था। इसके अतिरिक्त गुणचन्द्र, महेंद्रसूरि, वर्धमानगणि, देवचन्द्र, उदयचन्द्र, यशश्चन्द्र, बालचन्द्र आदि दूसरे शिष्य थे। इन सबका साहित्यिक क्षेत्र में महान योगदान है।



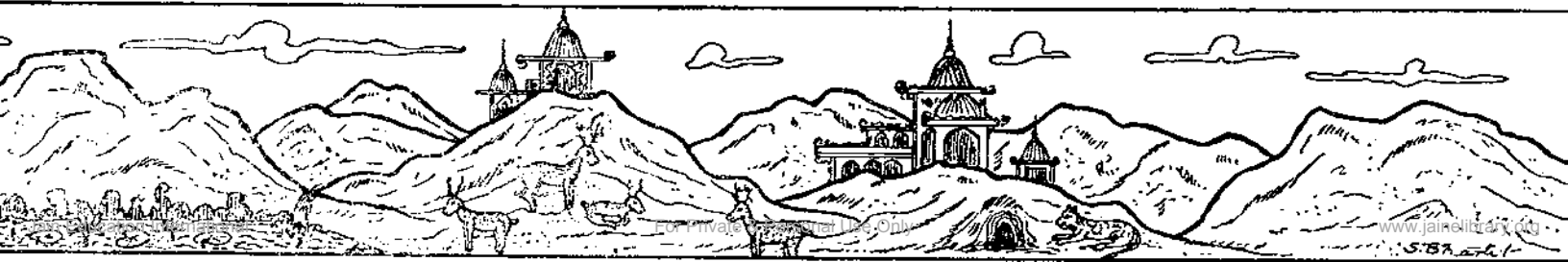
मनीषियों की दृष्टि में आचार्य हेमचन्द्र

- १—'Creator of Gujarat consciousness'—'गुजरात का चेतनदाता—> By के. एम. मुन्शी.
 २—'Intellectual gaini'—'बौद्धिक राक्षस'—By प्रो० पारीख.
 ३—'गुजरात के ज्योतिर्धर'—By गुजरात के साहित्यिक मनीषी
 ४—'Ocean of knowledge'—'ज्ञान के महोदधि—डा० पिटर्सन
 ५—'विद्याम्भोनिधि :—By. सोमप्रभसूरि—(शतार्थकाव्य)

- १ डा० वि०भा० मुसलगांवकर—'आचार्य हेमचन्द्र', पृ० १६६
 २ प्रबन्धकोश—धुन्धकपुर । प्रबन्ध चिन्तामणि—'धुन्धुक' । पुरा०प्र०सं०—'धुन्धुक' ।
 ३ प्रबन्धचिन्तामणि—मोढवंश । प्रबन्धकोश—मोढजातीय । पुरा०प्र०सं०—मोढकुल ।
 ४ प्रबन्धकोश—(हेमसूरि प्रबन्ध)
 ५ प्रबन्धचिन्तामणि, पृ० ८३
 ६ (क) प्रबन्धचिन्तामणि (हेमप्रभसूरिचरित), पृ० ८३ ।
 (ख) कुमारपाल प्रतिबोध, पृ० ४७८
 ७ प्रबन्धकोश, प्रबन्धचिन्तामणि, कुमारपाल प्रतिबोध तथा पुरातन प्रबन्ध संग्रह में इनकी साधुदीक्षा के समय की आयु आठ वर्ष ही बतलायी गयी है ।
 ८ त्रिषष्टि श० पु० चरित—प्रशस्ति, श्लोक १४ ।
 ९ प्रबन्धकोश (हेमसूरि प्रबन्ध)
 १० प्रभावक चरित, पृ० ३४७, श्लोक ८४८ ।
 ११ काव्यानुशासन की अंग्रेजी प्रस्तावना—प्रो० पारीख ।
 १२ डा० वि०भा० मुसलगांवकर—'आचार्य हेमचन्द्र'
 १३ (क) 'क्लृप्तं व्याकरणं नवं विरचितं छन्दो नवं द्र्याश्रया—
 लंकारौ प्रथितौ नवौ प्रकटितं श्रीयोगशास्त्रं नवम् ।
 तर्कः संजनितं नवो जिनवरादीनां चरित्रं नवं,
 बद्धं येन न केन केन विधिना मोहः कृतो दूरतः ॥ —शतार्थकाव्य
 (ख) 'विद्याम्भोनिधिः मधमंदरगिरिः श्री हेमचन्द्रो गुरुः' —शतार्थकाव्य
 १४ अन्ययोग व्यवच्छेद की स्याद्वाद मञ्जरी टीका—सम्पादित—आ० शं० ध्रुव
 १५ पुरानी हिन्दी, पृ० १२६



☆☆





राजस्थान की ऊर्वरा भूमि में जैन संस्कृति एवं साहित्य का जो अंकुरण एवं पल्लवन हुआ, उसके अमृत फलों से सम्पूर्ण भारत एवं विश्व लाभान्वित होता रहा है।

प्रस्तुत में प्राकृत भाषा के श्वेताम्बर साहित्यकारों का अधुनातन परिचय दिया गया है।

□ श्री देवेन्द्र मुनि शास्त्री

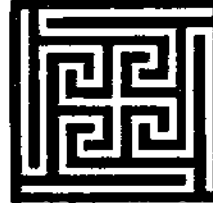
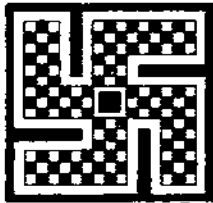
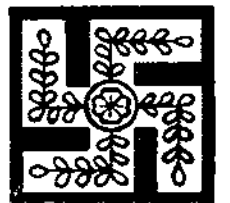
राजस्थान के प्राकृत श्वेताम्बर साहित्यकार

भारतीय इतिहास में राजस्थान का गौरवपूर्ण स्थान सदा से रहा है। राजस्थान की धरती के कण-कण में जहाँ वीरता और शौर्य अंगड़ाई ले रहा है, वहाँ साहित्य और संस्कृति की सुमधुर स्वर लहरियाँ भी झनझना रही हैं। राजस्थान के रण-बांकुरे वीरों ने अपनी अनूठी आन-वान और शान की रक्षा के लिए हँसते हुए जहाँ बलिदान दिया है, वहाँ वैदिक-परम्परा के भावुक भक्त-कवियों ने व श्रमण संस्कृति के श्रद्धालु श्रमणों ने मौलिक व चिन्तन-प्रधान साहित्य सृजन कर अपनी प्रताप पूर्ण प्रतिभा का परिचय भी दिया है। रणधम्भीर, कुम्भलगढ़, चित्तौड़, भरतपुर, मांडोर, जालोर जैसे विशाल दुर्ग जहाँ उन वीर और वीराङ्गनाओं की देश-भक्ति की गौरव-गाथा को प्रस्तुत करते हैं, वहाँ जैसलमेर, नागौर, बीकानेर, जोधपुर, जयपुर अजमेर, आमेर, डुंगरपुर प्रभृति के विशाल ज्ञान-भंडार साहित्य-प्रेमियों के साहित्यानुराग को अमिष्यञ्जित करते हैं।

राजस्थान की पावन-पुण्य भूमि अनेकानेक मूर्धन्य विद्वानों की जन्मस्थली एवं साहित्य-निर्माण स्थली रही है। उन प्रतिभा-मूर्ति विद्वानों ने साहित्य की विविध विधाओं में विपुल साहित्य का सृजन कर अपने प्रकाण्ड पाण्डित्य का परिचय दिया है। उनके सम्बन्ध में संक्षेप रूप में भी कुछ लिखा जाय, तो एक विराट्काय ग्रन्थ तैयार हो सकता है, मुझे उन सभी राजस्थानी विद्वानों का परिचय नहीं देना है, किन्तु श्वेताम्बर परम्परा के प्राकृत साहित्यकारों का अत्यन्त संक्षेप में परिचय प्रस्तुत करना है। श्रमण संस्कृति का श्रमण घुमकड़ है, हिमालय से कन्याकुमारी तक और अटक से कटक तक पैदल घूम-घूमकर जन-जन के मन में आध्यात्मिक, धार्मिक व सांस्कृतिक जागृति उद्बुद्ध करता रहता है। उसके जीवन का चरम व परम लक्ष्य स्व-कल्याण के साथ-साथ पर-कल्याण भी रहा है। स्वान्तःसुखाय एवं बहुजन-हिताय साहित्य का सृजन भी करता रहा है।

श्रमणों के साहित्य को क्षेत्र विशेष की संकीर्ण सीमा में आवद्ध करना मैं उचित नहीं मानता। क्योंकि श्रमण किसी क्षेत्र विशेष की धरोहर नहीं है। कितने ही श्रमणों की जन्म-स्थली राजस्थान रही है, साहित्य-स्थली गुजरात रही है। कितनों की ही जन्म-स्थली गुजरात है, तो साहित्य-स्थली राजस्थान। कितने ही साहित्यिकों के सम्बन्ध में इतिहास वेत्ता संदिग्ध है, कि वे कहाँ के हैं, और कितनी ही कृतियों के सम्बन्ध में भी प्रशस्तियों के अभाव में निर्णय नहीं हो सका कि वे कहाँ पर बनाई गई हैं। प्रस्तुत निबन्ध में मैं उन साहित्यकारों का परिचय दूँगा जिनकी जन्म-स्थली राजस्थान रही है या जिनकी जन्म-स्थली अन्य होने पर भी अपने ग्रन्थ का प्रणयन जिन्होंने राजस्थान में किया है।

श्रमण-संस्कृति के श्रमणों की यह एक अपूर्व विशेषता रही है कि अध्यात्म की महन साधना करते हुए भी उन्होंने प्रान्तवाद, भाषावाद और सम्प्रदायवाद को विस्मृत कर विस्तृत साहित्य की साधना की है। उन्होंने स्वयं एकचित्त होकर हजारों ग्रन्थ लिखे हैं, साथ ही दूसरों को भी लिखने के लिए उत्प्रेरित किया है। कितने ही ग्रन्थों के अन्त में ऐसी प्रशस्तियाँ उपलब्ध होती हैं, जिनमें अध्ययन-अध्यापन की लिखने-लिखाने की प्रबल प्रेरणा प्रदान की गई है। जैसे—



जो पढ़इ पढावई एक चित्तु,
सइ लिहइ लिहावइ जो गिरत्तु,
आयरणं भण्णइं सो पसत्थु।
परिभावइ अहिणिसु एउ सत्थु ॥^१

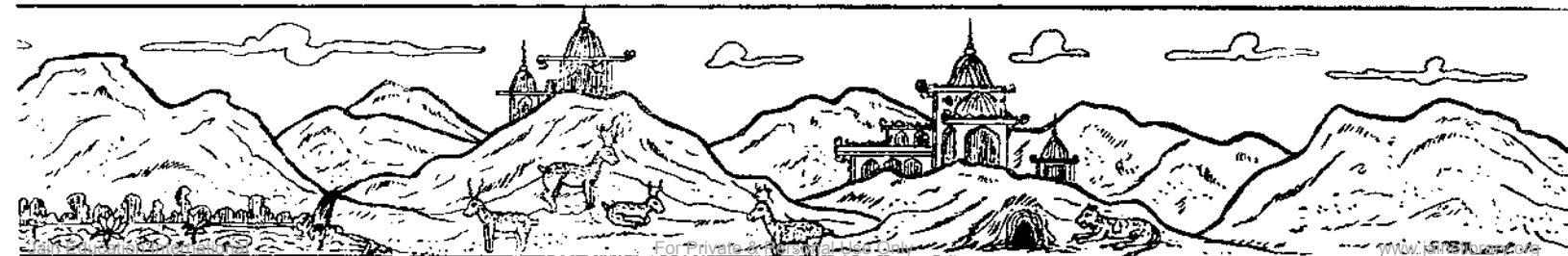
आचार्य हरिभद्र

हरिभद्रसूरि राजस्थान के एक ज्योतिर्धर नक्षत्र थे। उनकी प्रबल प्रतिभा से भारतीय साहित्य जगमगा रहा है, उनके जीवन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम उल्लेख कहावली में प्राप्त होता है। इतिहासवेत्ता उसे विक्रम की १२वीं शती के आस-पास की रचना मानते हैं। उसमें हरिभद्र की जन्मस्थली के सम्बन्ध में 'पिबंगुई बंभपुणी' ऐसा वाक्य मिलता है।^२ जबकि अन्य अनेक स्थलों पर चित्तौड़-चित्रकूट का स्पष्ट उल्लेख है।^३ पंडित प्रवर सुखलाल जी का अभिमत है, कि 'बंभपुणी' ब्रह्मपुरी चित्तौड़ का ही एक विभाग रहा होगा, अथवा चित्तौड़ के सन्निकट का कोई कस्बा होगा।^४ उनकी माता का नाम गंगा और पिता का नाम अंकरमट्ट था।^५ सुमतिगणि ने गणधर सार्धशतक में हरिभद्र की जाति ब्राह्मण बताई है।^६ प्रभावक चरित में उन्हें पुरोहित कहा गया है।^७ आचार्य हरिभद्र के समय के सम्बन्ध में विद्वानों में विभिन्न मत थे, किन्तु पुरातत्त्ववेत्ता मुनि श्री जिनविजय जी ने प्रबल प्रमाणों से यह सिद्ध कर दिया है कि वीर संवत् ७५७ से ८२७ तक उनका जीवन काल है अब इस सम्बन्ध में किसी भी प्रकार का मतभेद नहीं रहा है।^८ उन्होंने व्याकरण, न्याय, धर्मशास्त्र और दर्शन का गम्भीर अध्ययन कहाँ पर किया था, इसका उल्लेख नहीं मिलता है। वे एक बार चित्तौड़ के मार्ग से जा रहे थे, उनके कानों में एक गाथा पड़ी।^९

गाथा प्राकृत भाषा की थी। संक्षिप्त और संकेतपूर्ण अर्थ लिए हुए थी। अतः उसका मर्म उन्हें समझ में नहीं आया। उन्होंने गाथा का पाठ करने वाली साध्वी से उस गाथा के अर्थ को जानने की जिज्ञासा व्यक्त की। साध्वी ने अपने गुरु जिनदत्त का परिचय कराया। प्राकृत साहित्य और जैन-परम्परा का प्रामाणिक और गम्भीर अभ्यास करने के लिए उन्होंने जैनेन्द्रदीक्षा धारण की और उस साध्वी के प्रति अपने हृदय की अनन्त श्रद्धा को स्वयं को उनका धर्मपुत्र बताकर व्यक्त की है।^{१०} वे गृहस्थाश्रम में संस्कृत भाषा के प्रकाण्ड पण्डित थे। श्रमण बनने पर प्राकृत-भाषा का गहन अध्ययन किया। दशवैकालिक, आवश्यक, नन्दी, अनुयोगद्वार, प्रज्ञापना, ओघनिर्युक्ति, चैत्य-वन्दन, जम्बुद्वीप प्रज्ञप्ति, जीवाभिगम और पिण्ड निर्युक्ति आदि आगमों पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखीं। आगम साहित्य के वे प्रथम टीकाकार हैं। अष्टक प्रकरण, धर्मबिन्दु, पञ्चसूत्र, व्याख्या भावनासिद्धि, लघुशेखर, समासवृत्ति, वर्ग केवली सूत्रवृत्ति, हिंसाष्टक, अनेकान्त जय पताका, अनेकान्तवाद प्रवेश, अनेकान्तसिद्धि, तत्त्वार्थसूत्र लघुवृत्ति, द्विज वदन चपेटा, न्याय-प्रवेश टीका, न्यायावतार वृत्ति, लोकतत्त्व निर्णय, शास्त्रवार्ता समुच्चय, सर्वज्ञ सिद्धि, षड्दर्शन समुच्चय, स्याद्वाद कुचोद्य परिहार योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, षोडशक प्रकरण वीरस्तव, संसार दावानल स्तुति प्रभृति अनेक मौलिक ग्रन्थ उन्होंने संस्कृत भाषा में रचे हैं। प्राकृत भाषा में भी उन्होंने विपुल साहित्य का सृजन किया है। संस्कृतवत ही प्राकृत-भाषा पर भी उनका पूर्ण अधिकार था। उन्होंने धर्म, दर्शन, योग, कथा, ज्योतिष और स्तुति प्रभृति सभी विषयों में प्राकृत भाषा में ग्रन्थ लिखे हैं। जैसे—उपदेशपद, पञ्चवस्तु, पंचाशक, वीम विशिकाएँ, श्रावक धर्मविधि प्रकरण, सम्बोध प्रकरण, धर्म संग्रहणी योगविशिका, योगशतक, धूर्ताख्यान समराइच्च कहा, लग्नशुद्धि, लग्नकुंडलियाँ आदि।

समराइच्च कहा प्राकृत भाषा की सर्वश्रेष्ठ कृति है। जो स्थान संस्कृत साहित्य में कादम्बरी का है वही स्थान प्राकृत में 'समराइच्च कहा' का है। यह ग्रन्थ जैन महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया है, अनेक स्थलों पर शौरसेनी भाषा का भी प्रभाव है।

'धूर्ताख्यान' हरिभद्र की दूसरी उल्लेखनीय रचना है। निशीथ चूर्णि की पीठिका में धूर्ताख्यान की कथाएँ संक्षेप में मिलती हैं। जिनदासगणि महत्तर ने वहाँ यह सूचित किया है, कि विशेष जिज्ञासु 'धूर्ताख्यान' में देखें। इससे यह स्पष्ट है कि जिनदासगणि के सामने 'धूर्ताख्यान' की कोई प्राचीन रचना रही होगी जो आज अनुपलब्ध है। आचार्य हरिभद्र ने निशीथ चूर्णि के आधार से प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ में पुराणों में वर्णित अतिरिक्त कथाओं पर करार व्यंग्य करते हुए उसकी अयथार्थता सिद्ध की है।



भारतीय कथा साहित्य में शैली की दृष्टि से इसका मूर्धन्य स्थान है। लाक्षणिक शैली में इस प्रकार की अन्य कोई भी रचना उपलब्ध नहीं होती, यह साधिकार कहा जा सकता है कि व्यङ्ग्योपहास की इतनी श्रेष्ठ रचना किसी भी भाषा में नहीं है। धूर्तों का व्यंग्य प्रहार ध्वंसात्मक नहीं अपितु निर्माणात्मक है।

कहा जाता है कि आचार्य हरिमद्र में १४४४ ग्रन्थों की रचना की थी। किन्तु वे सभी ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं। डॉ० हर्मन जेकोबी, लांयमान विन्टान्त्स, प्रो० सुवाली और सुब्रिग प्रभृति अनेक पाश्चात्य विचारकों ने हरिमद्र के ग्रन्थों का सम्पादन और अनुवाद भी किया है।^{१२} उनके सम्बन्ध में प्रकाश भी डाला है। जिससे भी उनकी महानता का सहज ही पता लग सकता है।

उद्योतनसूरि

उद्योतनसूरि श्वेताम्बर परम्परा के एक विशिष्ट मेधावी सन्त थे। उनका जीवनवृत्त विस्तार से नहीं मिलता— उन्होंने वीरभद्रसूरि से सिद्धान्त की शिक्षा प्राप्त की थी और हरिमद्र सूरि से युक्ति शास्त्र की। कुवलयमाला प्राकृत साहित्य का उनका एक अनुपम ग्रन्थ है।^{१३} गद्य-पद्य मिश्रित महाराष्ट्री प्राकृत की यह प्रसाद पूर्ण रचना चम्पू शैली में लिखी गई है। महाराष्ट्री प्राकृत के साथ इसमें पंजाबी अपभ्रंश व देशी भाषाओं के साथ कहीं-कहीं पर संस्कृत भाषा का भी प्रयोग हुआ है। प्रेम और शृंगार के साथ वैराग्य का भी प्रयोग हुआ है। सुभाषित मार्मिक प्रश्नोत्तर प्रहेलिका आदि भी यत्न-तत्र दिखलाई देती है। जिससे लेखक के विशाल अध्ययन व सूक्ष्म दर्शन का पता लगता है। ग्रन्थ पर बाण की कादम्बरी, त्रिविक्रम की दमयन्ती कथा और हरिमद्रसूरि के 'समराइच्च कहा' का स्पष्ट प्रभाव है। प्रस्तुत ग्रन्थ लेखक ने ई० सन् ७७६ में जावालिपुर जिसका वर्तमान में 'जालोर' नाम है, वहाँ पर पूर्ण किया है।^{१४}

जिनेश्वरसूरि

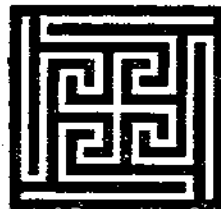
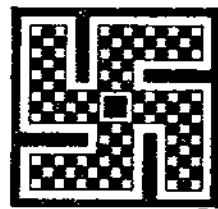
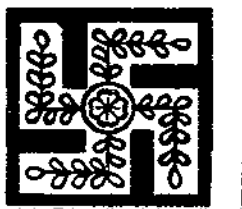
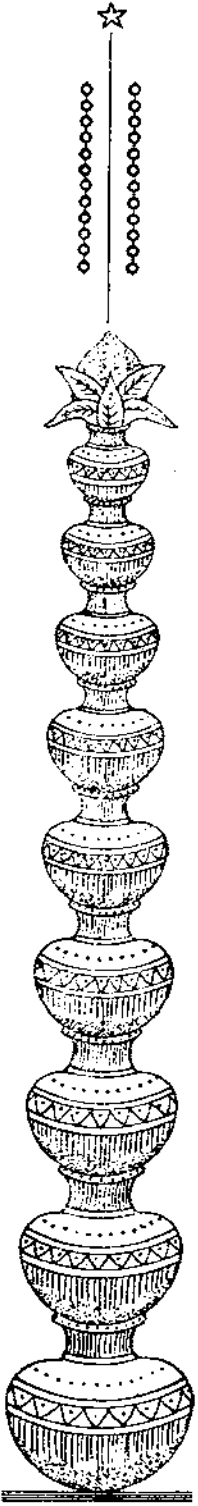
जिनेश्वर सूरि के नाम से जैन सम्प्रदाय में अनेक प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य हुए हैं। प्रस्तुत आचार्य का उल्लेख धनेश्वरसूरि^{१५} अभयदेव^{१६} और गुणचन्द्र^{१७} ने युगप्रधान के रूप में किया है। जिनेश्वर सूरि का मुख्य रूप से विहार स्थल राजस्थान, गुजरात और मालवा रहा है। इन्होंने संस्कृत और प्राकृत दोनों भाषाओं में रचनाएँ की। उसमें हरिमद्रकृत अष्टक पर वृत्ति, पंचालिगी प्रकरण, वीरचरित्र, निर्वाण लीलावती कथा, षट्स्थानक प्रकरण और कहाणय कोष मुख्य है। कहाणय कोष में ३० गाथाएँ हैं और प्राकृत में टीका हैं। जिसमें छत्तीस प्रमुख कथाएँ हैं। कथाओं में उस युग की समाज, राजनीति और आचार-विचार का सरस चित्रण किया गया है। समासयुक्त पदावली अनावश्यक शब्द-आडम्बर और अलंकारों की भरमार नहीं है। कहीं-कहीं पर अपभ्रंश भाषा का प्रयोग हुआ है। उनकी निर्वाण लीलावती कथा भी प्राकृत भाषा की श्रेष्ठ रचना है। उन्होंने यह कथा स० १०८२ और १०६५ के मध्य में बनाई है। पद-लालित्य, श्लेष और अलंकारों से यह विभूषित है। प्रस्तुत ग्रन्थ का श्लोकवद्ध संस्कृत भाषान्तर जैसलमेर के मण्डार में उपलब्ध हुआ है। मूलकृति अभी तक अनुपलब्ध है। प्राकृत भाषा में उनकी एक अन्य रचना 'गाथाकोष' भी मिलती है।

महेश्वरसूरि

महेश्वर सूरि प्रतिभा सम्पन्न कवि थे। वे संस्कृत-प्राकृत के प्रकाण्ड पंडित थे। इनका समय ई० सन् १०५२ से पूर्व माना गया है। 'गाणपञ्चमी कहा'^{१८} इनकी एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसमें देशी शब्दों का अभाव है। भाषा में लालित्य है यह प्राकृत भाषा का श्रेष्ठ काव्य है। महेश्वर सूरि सज्जन उपाध्याय के शिष्य थे।^{१९}

जिनदत्तसूरि

जिनचन्द्र जिनेश्वरसूरि के शिष्य थे। अपने लघु गुरुबन्धु अभयदेव की अभ्यर्थना को सम्मान देकर संवेग रंगशाला नामक ग्रन्थ की रचना की। रचना का समय वि० सं० ११२५ है। नवाङ्गी टीकाकार अभयदेव के शिष्य जिन वल्लभसूरि ने प्रस्तुत ग्रन्थ का संशोधन किया। संवेगभाव का प्रतिपादन करना ही ग्रन्थ का उद्देश्य रहा है। ग्रन्थ में सर्वत्र शास्त्ररस छलक रहा है।



जिनप्रभसूरि

जिनप्रभसूरि ये विलक्षण प्रतिभा के धनी आचार्य थे। इन्होंने १३२६ में जैन दीक्षा ग्रहण की और आचार्य जिनसिंह ने इन्हें योग्य समझकर १३४१ में आचार्य पद प्रदान किया। दिल्ली का सुलतान मुहम्मद तुगलक बादशाह इनकी विद्वत्ता और इनके चमत्कारपूर्ण कृत्यों से अत्यधिक प्रभावित था। इनके जीवन की अनेक चमत्कारपूर्ण घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। 'कातन्त्रविभ्रमश्रुति, श्रेणिकचरित्र द्वयाश्रयकाव्य', 'विधिमार्गप्रपा' आदि अनेक ग्रन्थों की रचना की। विधिप्रपाप्राकृत साहित्य का एक सुन्दर ग्रन्थ है श्रीयुव अगरचन्द जी नाहटा का अभिमत है, कि ७०० स्तोत्र भी इन्होंने बनाये। वे स्तोत्र संस्कृत, प्राकृत देश्य भाषा के अतिरिक्त भाषा में भी लिखे हैं। वर्तमान में इनके ५५ स्तोत्र उपलब्ध होते हैं।^{२०}

नेमिचन्द्रसूरि

नेमिचन्द्रसूरि ये बृहद्गच्छीय उद्योतन सूरि के प्रशिष्य थे और आन्नदेव के शिष्य थे। आचार्य पद प्राप्त करत के पूर्व इनका नाम देवेन्द्रगणि था। 'महावीर चरियं' इनकी पद्यमयी रचना है। वि. सं. ११४१ में इन्होंने प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की। इनके अतिरिक्त 'अकलाणयमणिकोस' (मूल) उत्तराख्ययन की संस्कृत टीका, आत्मबोधकुलकप्रभृति इनकी रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

गुणपालमुनि

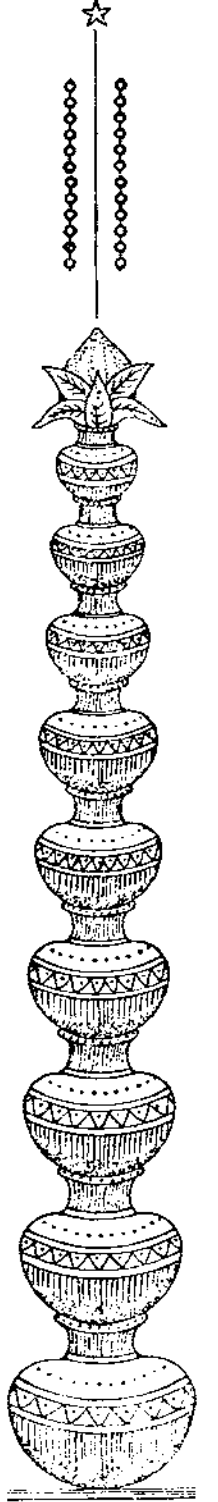
गुणपालमुनि श्वेताम्बर परम्परा के नाइलगच्छीय वीरभद्रसूरि के शिष्य अथवा प्रशिष्य थे। 'जम्बुचरियं' इनकी श्रेष्ठ रचना है।^{२१} ग्रन्थ की रचना कब की इसका संकेत ग्रन्थकार ने नहीं किया है, किन्तु ग्रन्थ के सम्पादक मुनि श्री जिनविजयजी का अभिमत है कि ग्रन्थ ग्यारहवीं शताब्दी में या उससे पूर्व लिखा गया है। जैसलमेर के भण्डार से जो प्रति उपलब्ध हुई है वह प्रति १४वीं शताब्दी के आसपास की लिखी हुई है।

जम्बुचरियं की भाषा सरल और सुबोध है। सम्पूर्ण ग्रन्थ गद्य-पद्य मिश्रित है। इस पर 'कुवलयमाला' ग्रन्थ का सीधा प्रभाव है। यह एक ऐतिहासिक सत्य तथ्य है कि कुवलयमाला के रचयिता उद्योतनसूरि ने सिद्धान्तों का अध्ययन वीरभद्र नाम के आचार्य के पास किया था। उन्होंने वीरभद्र के लिये लिखा 'दिग्गजहिच्छिद्यफलो भवरो कप्प-रूक्खोव्व' गुणपाल ने अपने गुरु प्रद्युम्नसूरि की वीरभद्र का शिष्य बतलाया है। गुणपाल ने भी 'परिचिन्तियदिल्लफलो आसी सो कप्परूक्खो' ऐसा लिखा है, जो उद्योतन सूरि के वाक्य प्रयोग के साथ मेल खाता है। इससे यह स्पष्ट है कि उद्योतन सूरि के सिद्धान्त गुरु वीरभद्राचार्य और गुणपालमुनि के प्रगुरु वीरभद्रसूरि ये दोनों एक ही व्यक्ति होंगे। यदि ऐसा ही है, तो गुणपालमुनि का अस्तित्व विक्रम की ६वीं शताब्दी के आसपास है।

गुणपाल मुनि की दूसरी रचना 'रिसिकन्ताचरियं' है। जिसकी अपूर्ण प्रति भाण्डारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर पूना में है।

समयसुन्दरगणि

ये एक वरिष्ठ मेधावी सन्त थे। तर्क, व्याकरण साहित्य के ये गम्भीर विद्वान् थे। उनकी अद्भुत प्रतिभा को देखकर बड़े-बड़े विद्वानों की अँगुली भी दाँतों तले लग जाती थी। संवत् १६४६ की एक घटना है—बादशाह अकबर ने कश्मीर पर विजय वैजयन्ती फहराने के लिये प्रस्थान किया। प्रस्थान के पूर्व विशिष्ट विद्वानों की एक सभा हुई। समय सुन्दर जी ने उस समय विद्वानों के समक्ष एक अद्भुत ग्रन्थ उपस्थित किया। उस ग्रन्थ के सामने आज दिन तक कोई भी ग्रन्थ ठहर नहीं सका है। 'राजानो वदते सोख्यम्' इस संस्कृत वाक्य के आठ अक्षर हैं, और एक-एक अक्षर के एक-एक लाख अर्थ किये गये हैं। बादशाह अकबर और अन्य सभी विद्वान् प्रतिभा के इस अनूठे चमत्कार को देखकर नत-मस्तक हो गये। अकबर कश्मीर विजय कर जब लौटा, तो अनेक आचार्यों एवं साधुओं का उसने सम्मान किया। उनमें एक समयसुन्दरजी भी थे। उन्हें वाचक पद प्रदान किया गया। इन्होंने वि. सं. १६५६ ई. सन् १६२६ में 'गाथा सहस्री'



ग्रन्थ का संग्रह किया। इस ग्रन्थ पर एक टिप्पण भी है पर, उसके कर्ता का नाम ज्ञात नहीं हो सका है। इसमें आचार्य के द्वासीस गुण, साधुओं के गुण, जिनकल्पिक के उपकरण, यति दिनचर्या, साढ़े पच्चीस आर्य देश, ध्याता का स्वरूप, प्राणायाम, बत्तीस प्रकार के नाटक, सोलह शृंगार, शकुन और ज्योतिष आदि विषयों का सुन्दर संग्रह है। महा निशोथ, व्यवहार भाष्य, पुष्पमाला वृत्ति आदि के साथ ही महाभारत, मनुस्मृति आदि संस्कृत के ग्रन्थों से भी यहाँ पर श्लोक उद्धृत किये गये हैं।

ठक्कुर फेरू

ठक्कुर फेरू ये राजस्थान के कन्नौषा के निवासी श्वेताम्बर श्रावक थे। इनका समय विक्रम की १४वीं शती है। ये श्रीमाल वंश के धोंधिया (धंधकुल) भोजीय श्रेष्ठी कालिम या कलश के पुत्र थे। इनकी सर्वप्रथम रचना युग-प्रधान चतुष्पादिका है, जो संवत् १३७७ में वाचनाचार्य राजशेखर के समीप अपने निवास-स्थान कन्नौषा में बनाई थी। इन्होंने अपनी कृतियों के अन्त में अपने आपको 'परम जैन' और जिणदपय भत्तो' लिखकर अपना कट्टर जैनत्व बताने का प्रयास किया है। 'रत्न परीक्षा' में अपने पुत्र का नाम 'हेमपाल' लिखा है। जिसके लिए प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की गयी है। इनके भाई का नाम ज्ञात नहीं हो सका है।

दिल्ली पति सुलतान अलाउद्दीन खिलजी के राज्याधिकारी या मन्त्रिमण्डल में होने से इनको बाद में अधिक समय दिल्ली रहना पड़ा। इन्होंने 'द्रव्य परीक्षा' दिल्ली की टंकसाल के अनुभव के आधार पर लिखी। गणित सार में उस युग की राजनीति पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। गणित प्रश्नावली से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि ये शाही दरबार में उच्च पदासीन व्यक्ति थे। इनकी सात रचनाएँ प्राप्त होती हैं, जो बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। जिनका सम्पादन मुनिश्री जिनविजयजी ने 'रत्नपरीक्षादि सप्त ग्रन्थ संग्रह'^{२३} के नाम से किया है। युग प्रधान चतुष्पादिका तत्कालीन लोकभाषा चौपाई व छप्पय में रची गई है, और शेष सभी रचनाएँ प्राकृत में हैं। भाषा सरल व सरस है, उस पर अपभ्रंश का प्रभाव है।

जयसिंहसूरि

"धर्मोपदेश माला विवरण"^{२३} जयसिंह सूरि की एक महत्त्वपूर्ण कृति है, जो गद्य-पद्य मिश्रित है। यह ग्रन्थ नागौर में बनाया था।^{२४}

वाचक कल्याण तिलक

वाचक कल्याण तिलक ने छप्पन गाथाओं में कालकाचार्य की कथा लिखी।^{२५}

हीरकलशमुनि

हीरकलश मुनि ने संवत् १६२१ में 'जोइस-हीर' ग्रन्थ की रचना की। यह ग्रन्थ ज्योतिष की गहराई को प्रकट करता है।^{२६}

मानदेवसूरि

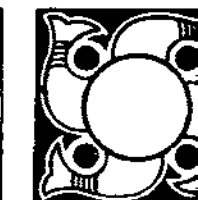
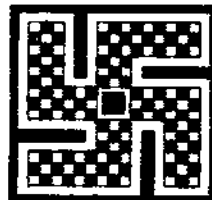
मानदेवसूरि का जन्म नाडोल में हुआ। उनके पिता का नाम धनेश्वर व माता का नाम धारिणी था। इन्होंने 'शांतिस्तव और तिजयपहूत' नामक स्तोत्र की रचना की।^{२७}

नेमिचन्द्रजी भण्डारी

नेमिचन्द्रजी भण्डारी ने प्राकृत भाषा में 'षष्टिशतक प्रकरण' जिनबल्लम सूरि गुण वर्णन एवं पाद्वर्नाय स्तोत्र आदि रचनाएँ बनाई हैं।^{२८}

स्थानकवासी मुनि

राजस्थानी स्थानकवासी मुनियों ने भी प्राकृत भाषा में अनेक ग्रन्थों की रचनाएँ की हैं। किन्तु साक्ष्यभाव



से उन सभी ग्रन्थकारों का परिचय देना सम्भव नहीं है। श्रमण हजारीमल जिनकी जन्मस्थली मेवाड़ थी, उन्होंने 'साहु गुणमाला' ग्रन्थ की रचना की थी। जयमल सम्प्रदाय के मुनि श्री चैनमलजी ने भी श्रीमद् गीता का प्राकृत में अनुवाद किया था। पण्डित मुनि श्री लालचन्द्रजी 'श्रमणलाल' ने भी प्राकृत में अनेक स्तोत्र आदि बनाए हैं। पं० फूलचन्द्रजी महाराज 'पुष्प भिक्खु' ने सुत्तामने का सम्पादन किया और अनेक लेख आदि प्राकृत में लिखे हैं। राजस्थान केसरी पण्डित प्रवर श्री पुष्कर मुनिजी महाराज ने भी प्राकृत में स्तोत्र और निबन्ध लिखे हैं।

आचार्य श्री घासीराम जी

आचार्य घासीरामजी महाराज एक प्रतिभासम्पन्न सन्त रत्न थे। उनका जन्म संवत् १६४१ में जसवन्तगढ़ (मेवाड़) में हुआ उनकी माँ का नाम विमलाबाई और पिता का नाम प्रभुदत्त था। जवाहिराचार्य के पास आर्हती दीक्षा ग्रहण की। आपने बत्तीस आगमों पर संस्कृत भाषा में टीकाएँ लिखीं। और शिवकोश नानार्थ उदयसामर कोश, श्रीलाल नाममाला कोश, आर्हत् व्याकरण, आर्हत् लघु व्याकरण, आर्हत् सिद्धान्त व्याकरण, शांति सिन्धु महाकाव्य, लोकाशाह महाकाव्य, जैनागम तत्त्व दीपिका, वृत्तबोध, तत्त्व प्रदीप, सूक्ति संग्रह, गृहस्थ कल्पतरु, पूज्य श्रीलाल काव्य, नागम्बर मञ्जरी, लवजीमुनि काव्य, नव-स्मरण, कल्याण मंगल स्तोत्र, वर्धमान स्तोत्र आदि संस्कृत भाषा में मौलिक ग्रन्थों का निर्माण किया। तत्त्वार्थ सूत्र, कल्प सूत्र और प्राकृत व्याकरण आदि अनेक ग्रन्थ प्राकृत भाषा में भी लिखे हैं। अन्य अनेक सन्त प्राकृत भाषा में लिखते हैं।

आचार्य श्री आत्माराम जी

श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के प्रथम आचार्य श्री आत्माराम जी महाराज प्राकृत संस्कृत के गहन विद्वान और जैन आगमों के तलस्पर्शी अध्येता थे। आपका जन्म पंजाब में हुआ, बिहार क्षेत्र भी पंजाब रहा। प्रस्तुत लेख में विशेष प्रसंग न होने से आपकी प्राकृत रचनाओं के विषय थोड़ा अधिक लिखना प्रासंगिक नहीं होगा, पर यह निश्चित ही कहा जा सकता है कि आपने प्राकृत साहित्य एवं आगमों की टीकाएँ लिखकर साहित्य भण्डार की श्री वृद्धि की है। आपके शिष्य श्री ज्ञानमुनि भी प्राकृत के अच्छे विद्वान हैं।

तेरापन्थ सम्प्रदाय के अनेक आधुनिक मुनियों ने भी प्राकृत भाषा से लिखा है। 'रयणवालकहा' चन्दनमुनि जी की एक श्रेष्ठ रचना है। राजस्थानी जैन श्वेताम्बर परम्परा के सन्तों ने जितना साहित्य लिखा है, उतना आज उपलब्ध नहीं है कुछ तो मुस्लिम युग के धर्मान्धशासकों ने जैन शास्त्र भण्डारों को नष्ट कर दिया और कुछ हमारी लापरवाही से चूहों, दीमक एवं शीलन से नष्ट हो गये। तथापि जो कुछ अवशिष्ट है, उन ग्रन्थों को आधुनिक दृष्टि से सम्पादित करके प्रकाशित किये जायें तो अज्ञात महान साहित्यकारों का सहज ही पता लग सकता है।

१ श्री चन्द्रकृत रत्न करण्ड

२ पाटण संघवी के—में जैन भण्डार की वि० सं० १४६७ की हस्तलिखित ताड़पत्रीय पोथी खण्ड २, पत्र ३००

३ (क) उपदेश पद मुनि श्री चन्द्रसूरि की टीका वि० सं० ११७४

(ख) गणधर सार्धशतक श्री सुमतिगणिकृत वृत्ति

(ग) प्रभावक चरित्र ६ श्रृंग वि० सं० १३३४

(घ) राजशेखरकृत प्रबन्धकोष वि० सं० १४०५

४ समदर्शी आचार्य हरिभद्र, पृ० ६

५ 'संक्रोनाम भट्टो तस्स गंगा नाम भट्टिणी। तीसे हरिभद्रो नाम पंडिओ पुत्तो।' —कहावली, पत्र ३००

६ 'एवं सो पंडितगव्वमुव्वहमाणो हरिभद्रो नाम माहणो।'।

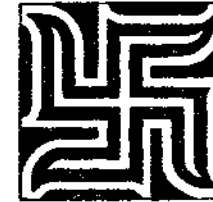
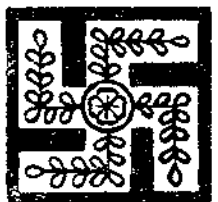
७ प्रभावक चरित्र श्रृंग ६, श्लोक ८

८ जैन साहित्य संशोधक वर्ष १, अंक १





- ६ 'चक्किदुमं हरिपणगं, पणगं चक्कीणं केसवो चक्की ।
केसव चक्की केसव दु चक्की, केसी अ चक्की अ ॥ —आवश्यक निर्युक्ति गाथा ४२१
- १० 'धर्मतो याकिनी महत्तरा सूनुः —आवश्यक वृत्ति
- ११ सिधी जैन ग्रन्थमाला भारतीय विद्याभवन बम्बई से प्रकाशित
- १२ देखिए—डॉ० हर्मन जेकोबी ने समराइच्च कहा का सम्पादन किया, प्रो० सुवाली ने योगदृष्टि समुच्चय, योगबिन्दु, लोकतत्त्व निर्णय एवं षड्दर्शन समुच्चय का सम्पादन किया और लोकतत्त्व निर्णय का इटालिन में अनुवाद किया ।
- १३ सिधी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन बम्बई वि० सं० २००५ मुनि जिनविजय जी
- १४ तुणमलंघं जिण-भवण, मणहरं सावयाउलं विसभं ।
जावालिउरं अट्टावयं व अह अत्थि पुहइए ॥ —कुवलयमाला प्रशस्ति, पृ० २८२
- १५ सुरमुन्दरीचरियं की अस्तिम प्रशस्ति गाथा २४० से २४८
- १६ भगवती, जाता, समवायाङ्ग, स्थानाङ्ग, औपपातिक की वृत्तियों में प्रशस्तियाँ ।
- १७ महावीरचरियं प्रशस्ति ।
- १८ सम्पादक—अमृतलाल, सवचन्द गोपाणी, प्रकाशन-सिधी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई संवत् १९४९
- १९ दो पक्खुज्जोयकरो दोसासंगेणवज्जिओ अमओ ।
सिरि सज्जण उज्जाओ, अउवच्चं दुव्वअक्खत्थो ॥
सीसेण तस्स कहिया दस विकहाणा इमेउपंचमिए ।
सूरिमहेसरएणं भवियाणं बोहणट्टाए ॥ —णाण १०।४९६-४९७
- २० विधिप्रथा सिधी जैन ग्रन्थमाला बम्बई से प्रकाशित ।
- २१ प्रकाशक वही
- २२ प्रकाशक—सिधी जैन ग्रन्थमाला, बम्बई
- २३ प्रकाशक—वही
- २४ नागउर—जिणायउज्जणे समाणियं विवरणं एयं'
—धर्मोपदेशमाला, प्रशस्ति २९, पृ० २३०
- २५ तीर्थङ्कर वर्ष ४, अंक १, मई १९७४
- २६ मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि, अष्टक शताब्दी स्मृति ग्रन्थ 'जोइसहीर'—महत्त्वपूर्ण खरतरमच्छीय ज्योतिष ग्रन्थ लेख पृष्ठ ९५ ।
- २७ (क) प्रभावक चरित्र, भाषान्तर, पृष्ठ १८७ । प्रकाशक—आत्मानन्द जैन समा, भावनगर वि० सं० १९८७ में प्रकाशित ।
(ख) जैन परम्परा नो इतिहास भाग १, पृ० ३५९ से ३६१
- २८ मणिधारी श्री जिनचन्द्रसूरि अष्टम शताब्दी, स्मृति ग्रन्थ



□ रमेशकुमार जैन

राजस्थानी साहित्य भण्डार विश्व की किसी भी भाषा के साहित्य भण्डार से कम नहीं है। परिमाण एवं श्रेष्ठता दोनों ही दृष्टियों से राजस्थानी साहित्य काफी समृद्ध है। इस समृद्धि में चार चाँद लगाने वाले जैन साहित्यकारों का एक विस्तृत परिचय यहाँ प्रस्तुत है।

राजस्थानी जैन साहित्य

□

राजस्थानी जैन-साहित्य बहुत विशाल है। विशाल इतना कि चारण साहित्य भी उसके समक्ष न्यून है। उसकी मौलिक विशेषताएँ भी कम नहीं हैं।

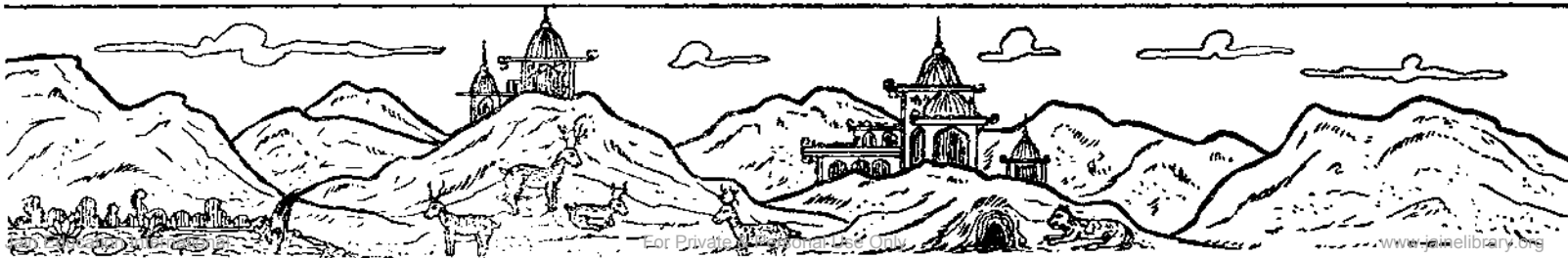
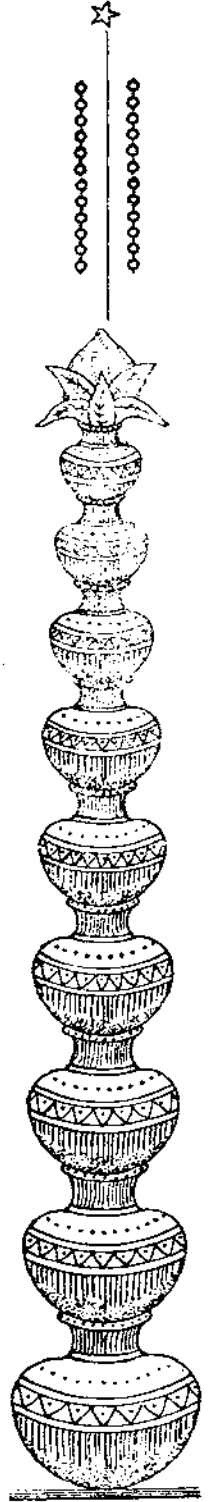
प्रथम विशेषता यह है कि वह जन-साधारण की भाषा में लिखा गया है। अतः वह सरल है। चरणों आदि ने जिस प्रकार शब्दों को तोड़-मरोड़कर अपने ग्रन्थों की भाषा को दुरुह बना लिया है वैसा जैन विद्वानों ने नहीं किया है।

दूसरी विशेषता है जीवन को उच्च स्तर पर ले जाने वाले साहित्य की प्रचुरता।

जैन मुनियों का जीवन निवृत्ति प्रधान था, वे किसी राजा-महाराजा आदि के आश्रित नहीं थे, जिससे कि उन्हें अतिशयोक्ति पूर्ण वर्णन करने की आवश्यकता होती। युद्ध के लिए प्रोत्साहित करना भी उनका धर्म नहीं था और श्रृङ्गार साहित्य द्वारा जनता को विलासिता की ओर अग्रसर करना भी उनके आचार से विरुद्ध था। अतः उन्होंने जनता के कल्याणकारी और उनके जीवन को ऊँचे उठाने वाले साहित्य का ही निर्माण किया। चारण-साहित्य वीर-रस प्रधान है और उसके बाद श्रृङ्गार-रस का स्थान आता है। भक्ति रचनाएँ भी उनकी प्राप्त है पर, जैन साहित्य धर्म और नैतिकता प्रधान है। उसमें शान्त रस यत्र-तत्र-सर्वत्र देखा जा सकता है। जैन कवियों का उद्देश्य जन-जीवन में आध्यात्मिक जागृति पैदा करना था। नैतिक और भक्तिपूर्ण जीवन ही उनका चरम लक्ष्य था। उन्होंने अपने इस उद्देश्य के लिए कथा-साहित्य को विशेष रूप से अपनाया। तत्त्वज्ञान सूखा एवं कठिन विषय है। साधारण जनता की वहाँ तक पहुँच नहीं और न उसकी रुचि ही हो सकती है। उसको तो कथाओं व दृष्टान्तों द्वारा धर्म का मर्म समझाया जाय तभी उसके हृदय को वह धर्म छू सकता है। कथा-कहानी सबसे अधिक लोकप्रिय विषय होने के कारण उनके द्वारा धार्मिक तत्त्वों का प्रचार शीघ्रता से हो सकता है। इस बात को ध्यान में रखते हुए उन्होंने तप, दान, शील तथा धार्मिक व्रत-नियमों का महात्म्य प्रगट करने वाले कथानकों को धर्म-प्रचार का माध्यम बनाया। इसके पश्चात् जैन तीर्थकरों एवं आचार्यों के ऐतिहासिक काव्य आते हैं। इससे जनता के सामने महापुरुषों के जीवन-आदर्श सहज रूप से उपस्थित होते हैं। इन दोनों प्रकार के साहित्य से जनता को अपने जीवन को सुधारने में एवं नैतिक तथा धार्मिक आदर्शों से परिपूर्ण करने में बड़ी प्रेरणा मिली।

राजस्थानी जैन-साहित्य के महत्त्व के सम्बन्ध में दो बातें उल्लेखनीय हैं—प्रथम—भाषा-विज्ञान की दृष्टि से उसका महत्त्व है, द्वितीय—१३वीं से १५वीं शताब्दी तक के अजैन राजस्थानी ग्रन्थ स्वतन्त्र रूप से उपलब्ध नहीं है। उसकी पूर्ति राजस्थानी जैन-साहित्य करता है।

अनेक विद्वानों की यह धारणा है कि जैन-साहित्य जैन धर्म से ही सम्बन्धित है, वह जनोपयोगी साहित्य



नहीं है पर, यह धारणा नितान्त भ्रमपूर्ण है। वास्तव में जैन-साहित्य की जानकारी के अभाव में ही उन्होंने यह धारणा बना रखी है। इसलिये वे जैन-साहित्य के अध्ययन से उदासीन रह जाते हैं। राजस्थानी जैन-साहित्य में ऐसे अनेक ग्रन्थ हैं जो जैन-धर्म के किसी भी विषय से सम्बन्धित न होकर सर्वजनोपयोगी दृष्टि से लिखे गये हैं—

१—व्याकरण-शास्त्र—जैन कवियों की अनेक रचनाएँ व्याकरण-साहित्य पर मिलती हैं। इन रचनाओं में से निम्न रचनाएँ उल्लेखनीय हैं—

बाल शिक्षा, उक्ति रत्नाकर, उक्ति समुच्चय कातन्त्र बालावबोध, पंच-सन्धि बालावबोध, हेम व्याकरण भाषा टीका, सारस्वत बालावबोध आदि।

२—छन्द शास्त्र—राजस्थानी जैन कवियों ने छन्द-शास्त्र पर भी रचनाएँ लिखी हैं—

पिंगल शिरोमणि, दूहा चन्द्रिका, राजस्थान गीतों का छन्द ग्रंथ, वृत्त रत्नाकर बालावबोध आदि।

३—अलंकार-शास्त्र—वाग्मट्टालंकार बालावबोध, विदग्ध मुखमंडन बालावबोध, रसिक प्रिया बालावबोध आदि।

४—काव्य टीकाएँ—मर्तृहरिशतक-भाषा टीका त्रय, अमरशतक, लघुस्तव बालावबोध, किसन-रुक्मणी की टीकाएँ, घूर्त्ताख्यान कथासार, कादम्बरी-कथा सार।

५—बौद्धिक-शास्त्र—माधवनिदान टब्बा, सन्निपात कलिका टब्बाद्वय, पथ्यापथ्य टब्बा, वैद्य जीवन टब्बा, शतश्लोकी टब्बा व फुटकर संग्रह तो राजस्थानी भाषा में हजारों प्राप्त हैं।

६—गणित-शास्त्र—लीलावती भाषा चौपाई, गणित सार चौपाई आदि।

७—ज्योतिष-शास्त्र—लघुजातक वचनिका, जातक कर्म पद्धति बालावबोध, विवाहपडल बालावबोध, भुवन दीपक बालावबोध, चमत्कार चितामणि बालावबोध, मुहूर्त्त चिन्तामणि बालावबोध, विवाहपडल भाषा, गणित साठीसो, पंचांग नयन चौपाई, शकुन दीपिका चौपाई, अंग फुरकन चौपाई, वर्षफलाफल सञ्ज्ञाय आदि। कवि हीरकलश ज्योतिष के प्रकाण्ड पण्डित थे। इनकी प्राकृत भाषा में रचित 'ज्योतिष सार' तथा राजस्थानी में रचित 'जोइसहीर' इस विषय की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ हैं। इसकी पद्य संख्या १००० के लगभग है।

८—नीति, व्यवहार, शिक्षा, ज्ञान आदि—प्रायः प्रत्येक कवि ने इनके लिए किसी न किसी रूप में कहीं न कहीं स्थान ढूँढ़ ही लिया है। इन विषयों से सम्बन्धित स्वतन्त्र रचनाएँ भी मिलती हैं, जिनमें "छीहल-बावनी", "डूंगर-बावनी" आदि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कृतियाँ हैं। इनमें प्रवाहपूर्ण बोलचाल की भाषा में, व्यवहार और नीति विषयक बातों को बड़े ही धार्मिक ढंग से कहा है। उक्त विषयों से सम्बन्धित अन्य रचनाओं में 'संवाद, कक्का-मातृका-बावनी' और कुलक' आदि के नाम लिये जा सकते हैं।

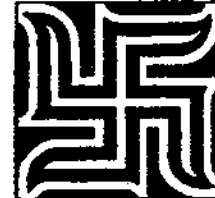
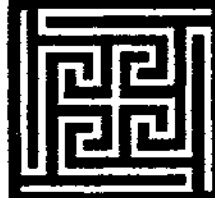
चाणक्य नीति टब्बा, पंचाख्यान चौपाई व नीति प्रकाश आदि ग्रन्थ भी इस दिशा में उल्लेखनीय हैं।

९—ऐतिहासिक ग्रन्थ—मुहणोत नैणसी की ख्यात, राठीड़ अमरसिंह की बात, खुमाण रासो, गोरा-बादल चौपाई, जैतचन्द्र प्रबन्ध चौपाई, कर्मचन्द्र वंश प्रबन्ध आदि रचनाएँ ऐतिहासिक ग्रन्थों में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इनसे इतिहास की काफी सामग्री उपलब्ध हो सकती है। जैन गच्छों की पट्टावलिखाँ व गुर्वावलिखाँ गद्य व पद्य दोनों में लिखी गई हैं। जैनेतर ख्यातों एवं ऐतिहासिक बातों आदि की अनेक प्रतियाँ कई जैन भण्डारों में प्राप्त हैं।

१०—सुभाषित-सूक्तियाँ—राजस्थानी साहित्य में सुभाषित सूक्तियों की संख्या भी बहुत अधिक है। अनेक सुभाषित उक्तियाँ राजस्थान के जन-जन के मुख व हृदय में रमी हुई हैं। कहावतों के तौर पर उनका प्रयोग पद-पद पर किया जाता है। जैन विद्वानों ने भी प्रासंगिक विविध विषयक राजस्थानी सैकड़ों दोहे बनाये हैं श्री अगरचन्द नाहटा ने उदयरज व जिनहर्ष की सुभाषित सूक्तियों का एक संग्रह प्रकाशित किया है।

११—विनोदात्मक—राजस्थानी साहित्य में विनोदात्मक रचनाएँ भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध हुई हैं। इन रचनाओं में ऊन्दररासो, मांकण रासो, मखियों रो कजियो, जती जंग आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

१२—ऋतुकाव्य : उत्सव काव्य—बारहमासे—चौमासे संज्ञक अनेक राजस्थानी जैन रचनाएँ उपलब्ध हैं। ये रचनाएँ अधिकांश नेमिनाथ और स्थूलिमद्र से सम्बन्धित होने पर भी ऋतुओं के वर्णन से परिपूरित हैं। सबसे प्राचीन ऋतुकाव्य बारहमास—“जिन धर्मं सूरि बारह नावऊँ” है।



१३—सम्वाद—सम्वाद संज्ञक जैन रचनाओं से बहुत सों का सम्बन्ध जैनधर्म नहीं है। इनमें कवियों ने अपनी सूझ एवं कवि प्रतिभा का परिचय अच्छे रूप में दिया है। मोतीकपासिया सम्वाद, जोम-दान्त सम्वाद, आँख-कान सम्वाद, उद्यम-कर्म सम्वाद, यौवन-जरा सम्वाद, लोचन-काजल सम्वाद आदि रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

१४—देवता-देवियों के छन्द—यक्ष, शनिचर आदि ग्रह, त्रिपुर आदि देवों की स्तुति रूप छन्द, जैन कवियों द्वारा रचित मिलते हैं। इन देवी-देवताओं का जैन धर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। रामदेव जी, पाबूजी, सूरजजी और अमरसिंह जी की स्तुतिरूप भी कई रचनाएँ प्राप्त होती हैं।

१५—स्तुति-काव्य—स्तुति-काव्यों में तीर्थंकरों, जैन महापुरुषों, साधुओं, सतियों, तीर्थों आदि के गुणों के वर्णन करते हैं। तीर्थों की नामावली जिसे 'तीर्थमाला' कहते हैं इसी के अन्तर्गत है। ये रचनाएँ ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। और स्तुति, स्तवन, सज्ज्ञाय, कीर्तनी, गीत, नमस्कार आदि नामों से उपलब्ध है। जैन-साहित्य का एक बड़ा भाग स्तुति-परक है।

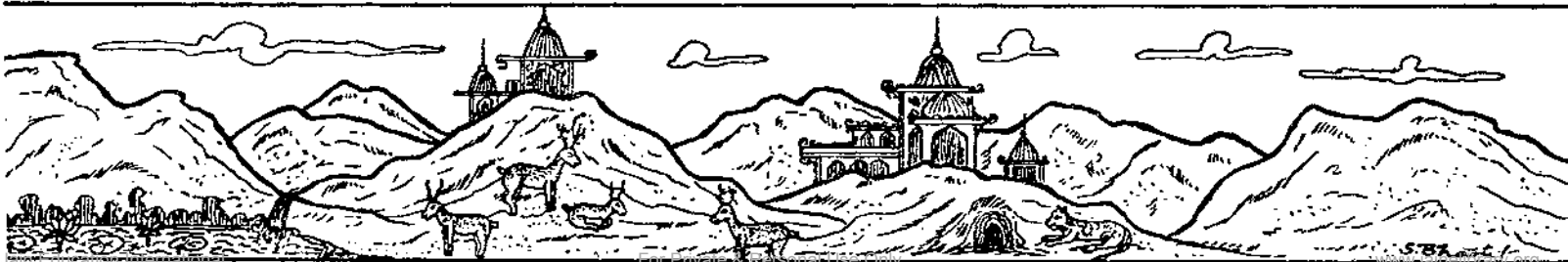
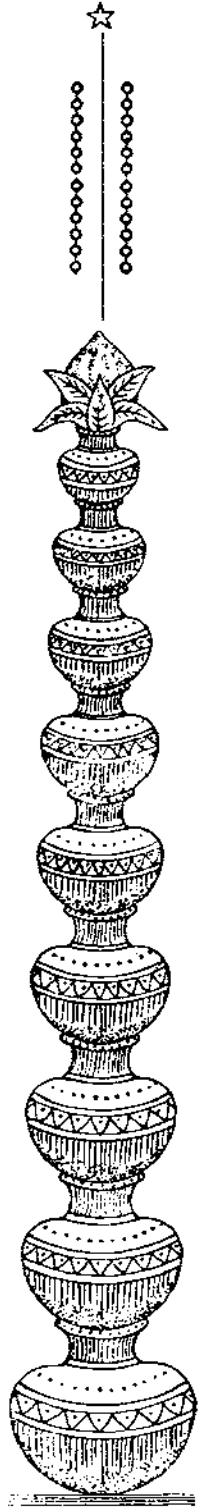
१६—लोक कथानक सम्बन्धी ग्रन्थ—लोक-साहित्य के संरक्षण में जैन विद्वानों की सेवा महत्वपूर्ण है। सैकड़ों लोकवार्ताओं को उन्होंने अपने ग्रन्थों में संग्रहित की है। बहुत-सी लोकवार्ताएँ यदि वे न अपनाते तो विस्मृति के गर्भ में कमी की विलीन हो जाती। लोक-कथानकों को लेकर निम्न काव्यों का सृजन हुआ—

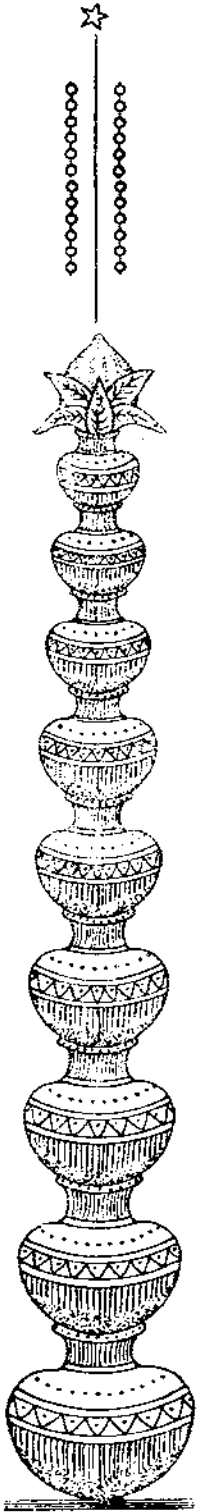
- (१) भोजदेव चरित = मालदेव, सारंग, हेमानन्द।
- (२) अबंड चरित = विनय समुद्र, मंगल माणिक्य।
- (३) धनदेव चरित (सिंहलसी चरित) = भलय चन्द।
- (४) कपूर मंजरी = मतिसार।
- (५) ढोला-मारू = कुशल लाम।
- (६) पच्याख्यान = बच्छराज, रत्नमुन्दर, हीरकलश।
- (७) नंद बत्तीसी = सिंह कुल।
- (८) पुरन्दर कुमार चौपाई = मालदेव।
- (९) श्रीपाल चरित साहित्य = मांडण, ज्ञान सागर, ईश्वर-सूरि, पय सुन्दर।
- (१०) विल्हण पंचारीका = ज्ञानाचार्य, सारंग।
- (११) शशिकला = सारंग।
- (१२) माधवानल कामकन्दला = कुशल लाम।
- (१३) लीलावती = कक्क सूरि शिष्य।
- (१४) विद्याविलास = हीरानन्द सूरि, आज्ञा सुन्दर।
- (१५) सुदयवच्छ् बीर चरित = अज्ञात कवि कृत, कीर्तिवर्द्धन।
- (१६) चन्द राजा मलयागिरी चौपाई = मद्रसेन जिनहर्ष सूरि के शिष्य द्वारा रचित।
- (१७) गोर-बादल = हेम रत्न, लब्धोदय।
- (१८) इसी प्रकार मुनि कीर्ति सुन्दर द्वारा संग्रहीत 'वाग्विलास लघु-कथा संग्रह' से विभिन्न प्रचलित लोक-

कथाओं का पता चलता है।

महाराज विक्रम का चरित्र विभिन्न लोक-कथाओं का मुख्य आधार और प्रेरणा स्रोत रहा है। मरु-गुर्जर भाषा में भी ४५ रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं। उनमें से कुछ प्रसिद्ध रचनाओं के नाम ये हैं—

- (१) विक्रम चरित कुमार रास = साधुकीर्ति।
- (२) विक्रम सेन रास = उदयभानु।
- (३) विक्रम रास = धर्मसिंह।
- (४) विक्रम रास = मंगल माणिक्य।
- (५) वैताल पच्चीसी = ज्ञानचन्द्र।
- (६) पंचदण्ड चौपाई = मालदेव।





(७) सिंहासन बत्तीसी = मलयचन्द्र, ज्ञानचन्द्र, विनय समुद्र, हीरकलश, सिद्ध सूरि ।

(८) विक्रम खापरा चोर चौपाई = राजशील ।

(९) विक्रम लीलावती चौपाई = कवक सूरि शिष्य ।

लोक-कथा सम्बन्धी कतिपय ग्रन्थ ये हैं—

(१) शुक बहोत्तरी = रत्न सुन्दर, रत्नचन्द्र ।

(२) शृंगार मंजरी चौपाई = जयवन्त सूरि ।

(३) स्त्री चरित रास = ज्ञानदास ।

(४) समालसा रास = कनक सुन्दर ।

(५) सद्यवत्स सर्वांगी चौपाई = केशव ।

(६) कान्हड कठियारा चौपाई = मान सागर ।

(७) रतना हमीर री बात = उत्तमचन्द भंडारी ।

(८) राजा रिसूल की बात = आनन्द विजय ।

(९) लघुवार्ता संग्रह = कीर्ति सुन्दर ।

लोकवार्ताओं के अतिरिक्त लोक-गीतों को भी जैन विद्वानों ने विशेष रूप से अपनाया है । लोक गीतों की रागनियों पर भी उन्होंने अपनी रचनाएँ लिखी हैं ।

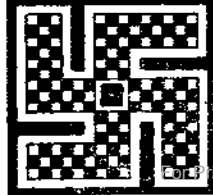
राजस्थानी जैन-साहित्य व कवि—राजस्थानी रचनाओं की संख्या पर दृष्टि डालने से पता चलता है कि अजैन राजस्थानी साहित्य के बड़े ग्रन्थ तो बहुत ही कम हैं । फुटकर दोहे एवं गीत ही अधिक हैं । जबकि राजस्थानी जैन ग्रन्थों, रास आदि बड़े-बड़े ग्रन्थों की संख्या सैकड़ों में है । दोहे और डिगल गीत हजारों की संख्या में मिलते हैं । उनका स्थान जैन विद्वानों के स्तवन, सञ्ज्ञाय, गीत, भास-पद आदि लघु कृतियाँ ले लेती हैं, जिनकी संख्या हजारों पर है ।

कवियों की संख्या और उनके रचित-साहित्य से परिणाम से तुलना करने पर भी जैन-साहित्य का पलड़ा बहुत भारी नजर आता है । अजैन राजस्थानी-साहित्य निर्माताओं में दोहा व गीत निर्माताओं को छोड़ देने पर बड़े-बड़े स्वतन्त्र ग्रन्थ निर्माता कवि थोड़े से रह जाते हैं । उनमें से भी किसी कवि ने उल्लेखनीय ४-५ बड़ी-बड़ी और छोटी २०-३० रचनाओं से अधिक नहीं लिखी । जैनोत्तर राजस्थानी भाषा का सबसे बड़ा ग्रन्थ 'वंश भास्कर' है । जबकि जैन कवियों में ऐसे बहुत से कवि हो गये हैं जिन्होंने बड़े-बड़े रास ही अधिक संख्या में लिखे हैं । यहाँ कुछ प्रधान राजस्थानी जैन कवियों का परिचय दिया जा रहा है—

(१) **कविवर समय सुन्दर**—इनका जन्म समय अनुमानतः संवत् १६२० है । (जीवनकाल—१६०-१७०२), तथापि इनकी भाषा कृतियाँ आलोच्यकाल के पश्चात् लिखी गई है । कवि ने सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से मृत्यु पर्यन्त, अर्धशताब्दी तक निरन्तर, सभीप्रकार के विशाल साहित्य का निर्माण किया । इसी से कहावत है—“समय सुन्दर रा गीतड़ा, कुंभ राणै रा भीतड़ा ।” इससे पता लगता है कि कवि के गीतों की संख्या अपरिमेय है । इसमें कोई सन्देह नहीं कि समय सुन्दर अपने समय के प्रख्यात कवि और प्रौढ़ विद्वान थे । इनकी प्रमुख कृतियों में—साम्बप्रद्युमन चौपाई, सीताराम चौपाई, नल-दयमन्ती रास, प्रियमेलक रास, थावच्चा चौपाई, क्षुल्लक कुमार प्रबन्ध, चंपक श्रेष्ठि-चौपाई, गौतम पृच्छा चौपाई, धनदत्त चौपाई, साधुवन्दना, पूजा ऋषिरास, द्रौपदी चौपाई, केशी प्रबन्ध, दानादि चौदालिया एवं क्षमा छत्तीसी, कर्म छत्तीसी, पुण्य छत्तीसी, दुष्काल वर्णन छत्तीसी, सर्वैया छत्तीसी, आलोयण छत्तीसी आदि उल्लेखनीय हैं ।

(२) **जिनहर्ष**—इनका दीक्षा पूर्व नाम जसराज था । यह राजस्थानी के बड़े भारी कवि है । राजस्थानी भाषा और गुजराती मिश्रित भाषा में ५० के लगभग रास एवं सैकड़ों स्तवन आदि फुटकर रचनाएँ लिखी हैं ।

(३) **वेगड़ जिन समुद्र सूरि**—इन्होंने भी राजस्थानी में बहुत से रास, स्तवन आदि बनाये हैं । कई ग्रन्थ अपूर्ण मिले हैं ।



(४) तेरह पन्थ के पूज्य जीतमल जी (जयाचार्य)—इनका “भगवती सूत्र की ढाला” नामक ग्रन्थ ही ६० हजार श्लोक का है जो राजस्थानी का सबसे बड़ा ग्रन्थ है।

१७वीं शताब्दी प्रथमाद्ध के कुछ अन्य प्रमुख कवियों में विजयदेव सूरि, जय सोम, नयरंग, कल्याणदेव सारंग, मंगल माणिक्य, साधुकीर्ति, चर्म रत्न, विजय शेखर, चारित्रसिंह आदि के नाम स्मरणीय हैं।

राजस्थानी जैन-साहित्य की प्रमुख विशेषताएँ—राजस्थानी जैन-साहित्य का परिवार बड़ा विशाल है। इस साहित्य का बहुत बड़ा अंश अभी जैन-अजैन भण्डारों में सुरक्षित है। अब जैन भण्डारों की पर्याप्त शोध हो रही है। अतः इस साहित्य की जानकारी में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है। संक्षेप में राजस्थानी जैन-साहित्य की विशेषताएँ निम्नलिखित हैं—

१. एक विशिष्ट शैली सर्वत्र लक्षित होती है, जिसको जन-शैली कहा जा सकता है।

२. अधिकांश रचनाएँ शान्त-रसात्मक हैं।

३. कथा-काव्यों, चरित-काव्यों और स्तुतिपरक रचनाओं की बहुलता है।

४. मुख्य स्वर धार्मिक है, धार्मिक दृष्टिकोण की प्रधानता है।

५. प्रारम्भ से लेकर आलोच्य-काल तक और उसके पश्चात् भी साहित्य की धारा अविच्छिन्न रूप से मिलती है।

६. विविध काव्य रूप अपनाए गये, जिनमें कुछ प्रमुख ये हैं—

रास, चौपाई, संधि, चंचरी, ढाल, प्रबन्ध-चरित-सम्बन्ध—आख्यानक-कथा, पवाड़ी, फागु, धमाल, बारहमासा, विवाहलो, बेलि, धवल, मंगल, संवाद, कक्का-मातृका-बावनी, कुलुक, हीयाली, स्तुति, स्तवन, स्तोत्र, सज्जाय, माला, वीनती, वचनिका आदि-आदि।

७. साहित्य के माध्यम से जैन धर्मानुसार आत्मोत्थान का सर्वत्र प्रयास है।

८. परिमाण और विविधता की दृष्टि से सम्पन्न है।

९. जैन कवियों ने लोकगीतों और कुछ विशिष्ट प्रकार के लोक कथानकों को जीवित रखने का स्तुत्य प्रयास किया है।

१०. जैन कवियों ने राजस्थानी के अतिरिक्त संस्कृत तथा प्राकृत-अपभ्रंश में भी रचनाएँ की हैं।

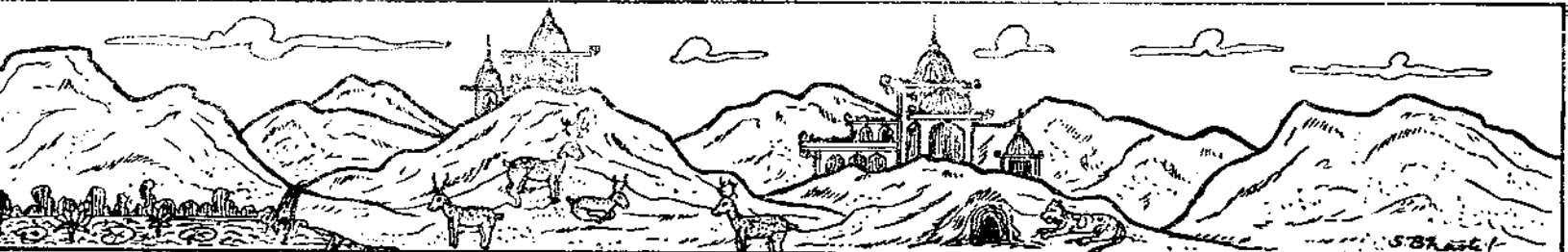
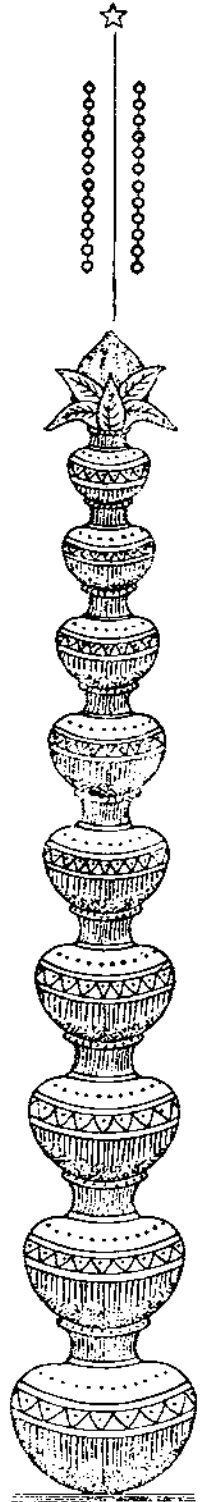
११. जैन साहित्य के अतिरिक्त विपुल अजैन साहित्य के संरक्षण का श्रेय जैन विद्वानों और कवियों को है।

१२. भाषा-शास्त्रीय अध्ययन के लिए जैन-साहित्य में विविध प्रकार की प्रचुर सामग्री उपलब्ध है। प्रत्येक शताब्दी के प्रत्येक चरण की अनेक रचनाएँ प्राप्त हैं, जिनसे भाषा के विकासक्रम का वैज्ञानिक विवेचन किया जा सकता है। डॉ० टैसीटोरीका पुरानी पश्चिमी राजस्थानी सम्बन्धी महान् कार्य जैन रचनाओं के आधार पर ही है।

आज राजस्थानी जैन-साहित्य के एक ऐसे बृहद् इतिहास की आवश्यकता है, जिसमें कुछ वर्षों या विचारों के विभाजन के आधार पर उसका क्रमबद्ध अध्ययन प्रस्तुत किया जा सके। स्फुट रूप से जैन-साहित्य पर बहुत सामग्री प्रकाश में आ चुकी है; किन्तु उसकी क्रमबद्धता का अभी भी अभाव बना हुआ है। राजस्थानी जैन-साहित्य का ऐसा प्रतिनिधि-इतिहास ग्रन्थ न होने के कारण तथा संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश साहित्य की बहुत-सी उन्नत दिशाएँ आज भी धुंधली हैं।

१ राजस्थानी भाषा और साहित्य—डॉ० हीरालाल माहेश्वरी, पृष्ठ २७१

नोट:—प्रस्तुत लेख में श्री अमरचन्द नाहटा के अनेक लेखों जो कि विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं, से सहायता ली गई है। उनका मैं हृदय से आभारी हूँ।—लेखक





जैनाचार्यों ने धर्म, दर्शन, इतिहास एवं काव्यों पर ही नहीं, किन्तु ज्योतिष एवं आयुर्वेद जैसे सार्वजनिक विषयों पर भी अनुपम ज्ञान पूर्ण लेखनी चलाई है और काफी जनोपयोगी साहित्य का निर्माण किया है। पढ़िए आयुर्वेद में जैन साहित्य की देन।

□ कविराज राजेन्द्रप्रकाश भटनागर [एम० ए०, मिषगाचार्य (स्वर्ण पदक प्राप्त) आयुर्वेदाचार्य, एच० पी० ए० (जाम०), साहित्यरत्न, प्राध्यापक, राजकीय आयुर्वेद महाविद्यालय, उदयपुर (राज०)]

जैन आयुर्वेद साहित्य : एक समीक्षा

भारतीय संस्कृति में चिकित्सा का कार्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और प्रतिष्ठित माना जाता रहा है। सुप्रसिद्ध आयुर्वेदीय ग्रन्थ चरक संहिता में लिखा है—“न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद् विशिष्यते” (च०चि० १।४।६१) जीवनदान से बढ़कर अन्य कोई दान नहीं है। चिकित्सा (स्वास्थ्य के संरक्षण और रोगमुक्ति के उपाय) से कहीं धर्म, कहीं अर्थ (धन), कहीं मैत्री, कहीं यश और कहीं कार्य का अभ्यास ही प्राप्त होता है; अतः चिकित्सा कभी निष्फल नहीं होती—

क्वचिद्धर्मः क्वचिदर्थः क्वचिन्मैत्री क्वचिद्यशः ।

कर्माभ्यासः क्वचिच्छापि चिकित्सा नास्ति निष्फला ॥

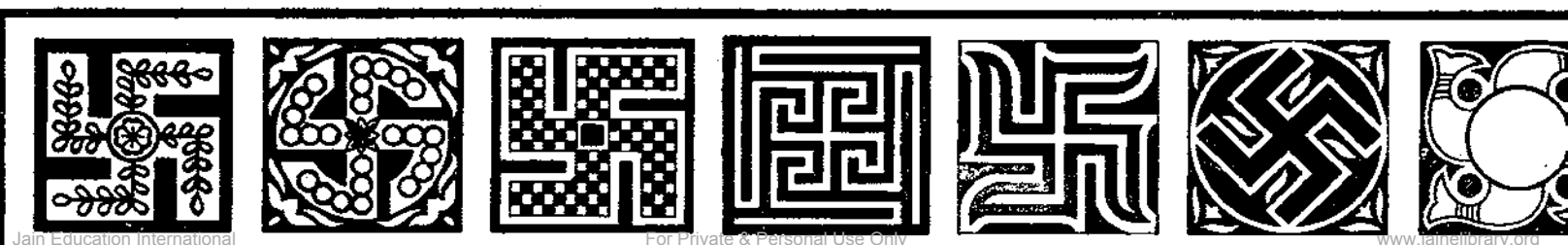
अतएव, प्रत्येक धर्म के आचार्यों और उपदेशकों ने चिकित्सा कार्य द्वारा लोक-प्रभाव स्थापित करना उपयुक्त समझा। बौद्ध-धर्म के प्रवर्तक भगवान् बुद्ध को ‘मैषज्यगुरु’ का विशेषण प्राप्त था। इसी भाँति, जैन आचार्यों ने भी चिकित्सा कार्य को धार्मिक शिक्षा और नित्य-नैमित्तिक कार्यों के साथ प्रधानता प्रदान की। धर्म के साधनभूत शरीर को स्वस्थ रखना और रोगी होने पर रोगमुक्त करना आवश्यक है। अद्यावधि प्रचलित ‘उपाश्रय’ (उपासरा) प्रणाली में जहाँ जैन यति सामान्य विद्याओं की शिक्षा, धर्माचरण का उपदेश और परम्पराओं का मार्गदर्शन करते रहे हैं, वहीं वे उपाश्रयों को चिकित्सा-केन्द्रों के रूप में समाज में, प्रतिस्थापित करने में भी सफल हुए थे।

इस प्रकार सामान्यतया वैद्यक-विद्या को सीखना और निःशुल्क समाज की सेवा करना जैन यति के दैनिक जीवन का अंग बन गया, जिसका उन्होंने सफलता-पूर्वक निर्वाह, ऐलोपैथिक चिकित्सा-प्रणाली के प्रचार-प्रसार पर्यन्त यथावत् किया ही है। परन्तु, नवीन चिकित्सा प्रणाली के प्रसार से उनके इस लोक-हितकर कार्य का प्रायः लोप होता जा रहा है।

जैन-आयुर्वेद “प्राणावाय”

जैन आयुर्वेद को ‘प्राणावाय’ कहा जाता है। जैन तीर्थंकरों की वाणी अर्थात् उपदेश को विषयों के अनुसार मोटे तौर पर बारह भागों में विभाजित किया गया है। जैन आगम में इनको ‘द्वादशांग’ कहते हैं। इन बारह अंगों में अन्तिम अंग का नाम ‘दृष्टिवाद’ है। दृष्टिवाद के पाँच भेद हैं—१ पूर्वगत, २ सूत्र, ३ प्रथमानुयोग, ४ परिकर्म, ५ शूलिका। ‘पूर्व’ के १४ प्रकार हैं। इनमें से बारहवें ‘पूर्व’ का नाम ‘प्राणावाय’ है। इस पूर्व में मनुष्य के आभ्यन्तर—मानसिक और आध्यात्मिक तथा बाह्य—शारीरिक स्वास्थ्य के उपायों, जैसे—यम, नियम, आहार, विहार और औषधियों का विवेचन है तथा दैविक, भौतिक, आधिभौतिक, जनपदध्वंसी रोगों की चिकित्सा का विस्तार से विचार किया गया है।

“काय-चिकित्सा आदि आठ अंगों में संपूर्ण आयुर्वेद का प्रतिपादन, भूतशांति के उपाय, विषचिकित्सा और



प्राण-अपान आदि वायुओं के शरीर धारण करने की दृष्टि से कार्य के विभाजन का, जिसमें वर्णन किया गया है, उसे 'प्राणावाय' कहते हैं।^१

इसी 'प्राणावाय' के आधार पर जैन विद्वानों ने आयुर्वेदीय ग्रन्थों की रचना में महाद् योगदान किया। ये ग्रन्थ अनेक हैं और राजस्थान, पंजाब, गुजरात, महाराष्ट्र, कर्णाटक के ग्रंथागारों में भरे पड़े हैं। दुर्भाग्य है कि इनमें से कुछ ही प्रकाशित हुए हैं।

निश्चय ही, बाह्य हेतु—शरीर को सबल और उपयोगी बनाकर आभ्यन्तर—आत्मसाधना व संयम के लिए जैन विद्वानों ने आयुर्वेद को अपनाकर अकाल जरा—मृत्यु के निवारण हेतु दीर्घ व सशक्त जीवन हेतु प्रयत्न किया है, क्योंकि धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थों की प्राप्ति के लिए शरीर का स्वस्थ रहना अनिवार्य है—'धर्मार्थकाम-मोक्षाणामारोग्यं मूलमुत्तमम्।'

जैनागम के 'मूलवार्तिक' में आयुर्वेद—प्रणयन के सम्बन्ध में कहा गया है—'आयुर्वेद प्रणयनान्यथानुपपत्तेः।' अर्थात् अकाल, जरा (वाधक्य) और मृत्यु को उचित उपायों द्वारा रोकने के लिए आयुर्वेद का प्रणयन किया गया है।

दिगम्बराचार्य उग्रदित्य के 'कल्याणकारक' की प्रस्तावना में आयुर्वेद—अवतरण की इसी मूल बात का प्रकाशन हुआ है।

यही कारण रहा कि जैन आचार्यों और यतिमुनियों द्वारा वैद्यक-ग्रन्थों का प्रणयन होता रहा है। यह निश्चित है कि जैन विद्वानों द्वारा वैद्यक-कार्य अंगीकार किये जाने पर चिकित्सा में निम्न दो प्रभाव स्पष्टतया परिलक्षित हुए—

(१) अहिंसावादी जैनों ने शवच्छेदन-प्रणाली और शल्यचिकित्सा को हिंसक कार्य मानकर चिकित्सा कार्य से उन्हें अप्रचलित कर दिया। परिणामस्वरूप हमारा शरीर सम्बन्धी ज्ञान शनैःशनैः क्षीण होता गया और शल्यचिकित्सा छूटती गयी। उनका यह निषेध भारतीय शल्यचिकित्सा की अवनति का एक कारण बना।

(२) जहाँ एक ओर जैन-विद्वानों ने शल्यचिकित्सा का निषेध किया, वहाँ दूसरी ओर उन्होंने रसयोगों और सिद्ध-योगों का बाहुल्येन उपयोग प्रारम्भ किया। एक समय ऐसा आया, जब सब रोगों की चिकित्सा सिद्ध-योगों द्वारा ही की जाने लगी। जैसाकि आजकल ऐलोपैथिक चिकित्सा में सब रोगों के लिए पेटेन्ट योग प्रयुक्त किये जा रहे हैं! नवीन सिद्धयोग और रसयोग (पारद और धातुओं से निर्मित योग) भी प्रचलित हुए।

(३) भारतीय दृष्टिकोण के आधार पर रोग निदान के लिए नाड़ी परीक्षा, मूत्र परीक्षा आदि को भी जैन वैद्यों ने प्रश्रय दिया। यह उनके द्वारा इन विषयों पर निर्मित अनेक ग्रन्थों से ज्ञात होता है।

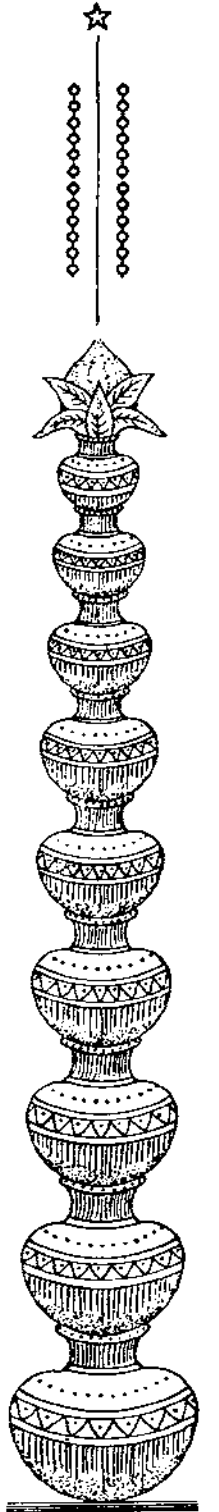
(४) औषधि चिकित्सा में मांस और मांस—रस के योग जैन वैद्यों द्वारा निषिद्ध कर दिये गये। मद्य (सुराओं) का प्रयोग भी वर्जित हो गया। 'कल्याणकारक' में तो मांस के निषेध की युक्ति-युक्त विवेचना की गई है।

(५) इस प्रकार केवल बानस्पतिक और खनिज द्रव्यों से निर्मित योगों का जैन वैद्यों द्वारा चिकित्सा कार्य में विशेष प्रचलन किया गया। यह आज भी सामान्य चिकित्सा-जगत् में परिलक्षित होता है।

(६) सिद्ध-योग-चिकित्सा प्रचलित होने से जैन वैद्यक में त्रिदोषवाद और पंचभूतवाद के गम्भीर तत्त्वों को समझने और उनका रोगों से व चिकित्सा से सम्बन्ध स्थापित करने की महान् व गूढ़ आयुर्वेद प्रणाली का ह्रास होता गया और केवल लाक्षणिक चिकित्सा ही अधिक विकसित हुई।

जैनाचार्यों ने स्वानुभूत एवं प्रायोगिक प्रत्यक्षीकृत प्रयोगों व साधनों द्वारा रोग-मुक्ति के उपाय बताये हैं। शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य के लिए परीक्षणोपरांत सफल सिद्ध हुए प्रयोगों और उपायों को उन्होंने लिपिबद्ध कर दिया। जैन-धर्म के श्वेताम्बर और दिगम्बर—दोनों ही सम्प्रदायों के आचार्यों ने इस कार्य में महान् योगदान किया है।

(७) जैन वैद्यक-ग्रन्थ अधिक संख्या में प्रादेशिक भाषाओं में उपलब्ध हैं। फिर भी संस्कृत में रचित जैन वैद्यक ग्रन्थों की संख्या न्यून नहीं है। अनेक जैन वैद्यों के चिकित्सा और योगों सम्बन्धी गुटके (परम्परागत नुस्खों के



संग्रह, जिन्हें “आम्नाय” ग्रन्थ कहते हैं) भी मिलते हैं। इनका अनुभूत प्रयोगावली के रूप में अवश्य ही बहुत महत्त्व है।

(८) जैनाचार्यों ने अपने धार्मिक सिद्धान्तों के आधार पर ही मुख्यरूप से चिकित्सा-शास्त्र का प्रतिपादन किया है। जैसे अहिंसा के आदर्शानुरूप उन्होंने मद्य, मांस और मधु के प्रयोग का सर्वथा निर्देश नहीं किया है, क्योंकि इसमें प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अनेक प्राणियों की हिंसा होती है। इस अहिंसा का आपत्काल में भी विचार रखा है। इसका यही एकमात्र उद्देश्य था कि मनुष्य जीवन का अन्तिम लक्ष्य पारमाधिक स्वास्थ्य प्राप्त कर मोक्ष प्राप्त करना है।

(९) चिकित्सा में उन्होंने वनस्पति, खनिज, क्षार, रत्न, उपरत्न, आदि का विशेष उपयोग बताया है।

(१०) शरीर को स्वस्थ, हृष्ट-पुष्ट और नीरोग रखकर केवल ऐहिक भोग (इन्द्रिय सुख) भोगना ही अन्तिम लक्ष्य नहीं है, अपितु शारीरिक स्वास्थ्य के मध्यम से आत्मिक स्वास्थ्य व सुख प्राप्त करना ही जैनाचार्यों का प्रधान उद्देश्य था। इसके लिए उन्होंने भक्ष्याभक्ष्य, सेव्यासेव्य आदि पदार्थों का उपदेश दिया है। जैन वैद्यक-ग्रन्थों के अपने सर्वेक्षण से मैं जिस निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ उसके निम्न तीन पहलू हैं—

एक—जैन विद्वानों द्वारा निर्मित वैद्यक साहित्य अधिकांश में मध्ययुग में (ई० सन् की ७ वीं शती के १९वीं शती तक) निर्मित हुआ है।

द्वितीय—उपलब्ध सम्पूर्ण वैद्यक-साहित्य से तुलना करें तो जैनों द्वारा निर्मित साहित्य उसके एक तृतीयांश से भी अधिक है।

तृतीय—अधिकांश जैन वैद्यक ग्रन्थों का प्रणयन पश्चिमी भारत में यथा—पंजाब, राजस्थान, गुजरात—कच्छ सौराष्ट्र और कर्णाटक में हुआ है। कुछ माने में राजस्थान को इस सन्दर्भ में अग्रणी होने का गौरव और श्रेय प्राप्त है। राजस्थान में निर्मित अनेक जैन वैद्यक ग्रन्थों, जैसे वैद्यकल्लम (हस्तिरुचिकृत), योगचित्तामणि (हर्षकीर्तिसूरिकृत) आदि का वैद्य जगत् में बाहुल्येन प्रचार-प्रसार उपलब्ध होता है। जैन विद्वानों द्वारा मुख्यतया निम्न तीन प्रकार से वैद्यक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ—

(१) जैन यति—मुनियों द्वारा ऐच्छिक रूप से ग्रन्थ-प्रणयन।

(२) जैन यति-मुनियों द्वारा किसी राजा अथवा समाज के प्रतिष्ठित व धनी श्रेष्ठी पुरुषों की प्रेरणा या आज्ञा से ग्रन्थ-प्रणयन।

(३) स्वतन्त्र जैन विद्वानों और वैद्यों द्वारा ग्रन्थ-प्रणयन।

जैन आयुर्वेद-साहित्य का समीक्षात्मक अध्ययन

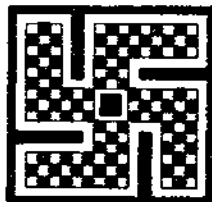
जैन-विद्वानों द्वारा प्रणीत आयुर्वेद साहित्य को हम दो भागों में बाँट सकते हैं—

प्रथम—जैन-धर्म के आगम-ग्रन्थों और उनकी टीकाओं आदि में आये हुए आयुर्वेद-विषयक सन्दर्भों का अध्ययन।

द्वितीय—जैन विद्वानों द्वारा प्रणीत ‘प्राणावाय’—सम्बन्धी ग्रन्थ और आयुर्वेद-सम्बन्धी स्वतन्त्र ग्रन्थ-टीकाएँ और योगसंग्रह आदि।

जैन आगम-साहित्य में उपलब्ध आयुर्वेद-परक उल्लेख

उपलब्ध प्राचीनतम जैन-धर्म-साहित्य ‘द्वादशांग आगम’ या ‘जैन श्रुतांग’ कहलाता है। जैन-धर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर के उपदेशों को सुनकर उनके ही शिष्य गौतम ने विषयानुसार १२ विभागों में बाँटकर निर्मित किया था। इस साहित्य के पुनः दो विभाग हैं—(१) अंगप्रविष्ट, और (२) अंगबाह्य। ‘अंग-प्रविष्ट’ के अन्तर्गत आचारांग आदि बारह ग्रन्थ हैं। वीरनिर्वाणोपरान्त १०वीं शताब्दी में ग्यारह अंगों का पुनः श्रुत-परम्परा द्वारा संकलन किया गया। ‘अंगबाह्य’ के १४ भेद माने गये हैं। इनमें ‘दशवैकालिक’ और ‘उत्तराध्ययन’ नामक ग्रन्थ बहुत महत्त्वपूर्ण हैं। श्वेताम्बर आगम-साहित्य में इन दोनों ग्रन्थों को विशेष उच्चस्थान प्राप्त है।^{१२}



कालक्रमानुसार जैन आगम-साहित्य अर्धमागधी, शौरसेनी, प्राकृत, अपभ्रंश और संस्कृत भाषाओं में मिलता है।

आगम—ग्रन्थ संक्षेप में और मूढ़ हैं। अतः, बाद के काल में उन पर निर्युक्ति, भाष्य, चूर्णि और टीका नामक रचनाएँ निमित्त हुईं।^{१४} इनकी रचना ई० १ ली शती से १६वीं शती तक होती रही है। इनका प्रयोजन आगमों के विषयों को संक्षेप या विस्तार से समझाना है।^{१५} इन सब रचनाओं का सामूहिक नाम “आगम-साहित्य” है।

आगम-साहित्य में प्रसंगवशात् आयुर्वेद-विषयक अनेक संदर्भ आये हैं। यहाँ उनका दिग्दर्शन मात्र कराया जायेगा।

‘स्थानांगसूत्र’ में आयुर्वेद या चिकित्सा (तेगिच्छ—चैकित्स्य) को नौ पापश्रुतों में गिना गया है।^{१६} ‘निशीथ-चूर्णि’ से ज्ञात होता है कि धन्वन्तरि इस शास्त्र के मूल-प्रवर्तक थे। उन्होंने अपने निरन्तर ज्ञान से रोगों का ज्ञानकर वैद्यक शास्त्र या आयुर्वेद की रचना की। जिन लोगों ने इस शास्त्र का अध्ययन किया वे ‘महावैद्य’ कहलाये।^{१७} आयुर्वेद के आठ अंशों का भी उल्लेख इन आगम ग्रन्थों में मिलता है—कौमारभृत्य, सालाक्य, शल्यहृत्य, कायचिकित्सा, जांगुल (विषनाशन), भूतविद्या, रसायन और वाजीकरण।^{१८} चिकित्सा के मुख्य चार पाद हैं—वैद्य, रोगी, औषधि और प्रतिचर्या (परिचर्या) करने वाला (परिचारक)।^{१९} सामान्यतया विद्या और मंत्रों कल्पचिकित्सा और वनीषधियों (जड़ी-बूटीयों) से चिकित्सा की जाती थी और इसके आचार्य यत्र-तत्र मिल जाते थे।^{२०} चिकित्सा की अनेक पद्धतियाँ प्रचलित थीं। इनमें पंचकर्म, वमन, विवेचन आदि का भी विपुल प्रचलन था।^{२१} रसायनों का सेवन कराकर भी चिकित्सा की जाती थी।^{२२}

चिकित्सक को ‘प्राणाचार्य’ कहा जाता था।^{२३} पशुचिकित्सक भी हुआ करते थे।^{२४} निष्णात वैद्य को ‘दृष्टपाठी’ (प्रत्यक्षकर्माभ्यास द्वारा जिसने वास्तविक अध्ययन किया है) कहा गया है।^{२५}

‘निशीथचूर्णि’ में अनेक शास्त्रों का नामतः उल्लेख मिलता है।^{२६} तत्कालीन अनेक वैद्यों का उल्लेख भी आगम ग्रन्थों में मिलता है। ‘विषाकसूत्र’ में विजय नगर के धन्वन्तरि नामक चिकित्सक का वर्णन है।^{२७}

रोगों की उत्पत्ति वात, पित्त, कफ और सन्निपात से बताया गया है।^{२८} रोग की उत्पत्ति के नौ कारण बताये गये हैं—अत्यन्त भोजन, अहित कर भोजन, अतिनिद्रा, अतिजागरण, पुरीष का निरोध, मूत्र का निरोध, मार्ग-गमन, भोजन की अनियमितता, काम विकार।^{२९} पुरीष के वेग को रोकने से मरण, मूत्र-वेग रोकने से दृष्टिहानि और वमन के वेग को रोकने से कुष्ठरोग की उत्पत्ति होती है।^{३०}

‘आचारांगसूत्र’ में १६ रोगों का उल्लेख है—गंडी (गंडमाला), कुष्ठ, राजयक्ष्मा, अपस्मार, कार्णिक्य (काण्य, अक्षिरोग), जिमिय (जड़ता), कुणिय (हीनांगता), खुज्जिय (कुबड़ापन) उदर रोग, मूकत्व, सूनीय (शोथ), गिलासणि (मस्मक रोग), वेवई (कम्पन), पीठसंवि (पंगुत्व), सिलीक्य (श्लीपद) और मधुमेह।^{३१}

इसी प्रकार आगम साहित्य में व्याधियों की औषधि चिकित्सा और शल्यचिकित्सा का भी वर्णन मिलता है। सर्पकीट आदि के विषों की चिकित्सा भी वर्णित है। सुवर्ण को उत्तम विषनाशक माना गया है। गंडमाला, अर्श, भगंदर, व्रण, आघात या आगन्तुज व्रण आदि के शल्यकर्म और सीवन आदि का वर्णन भी है।

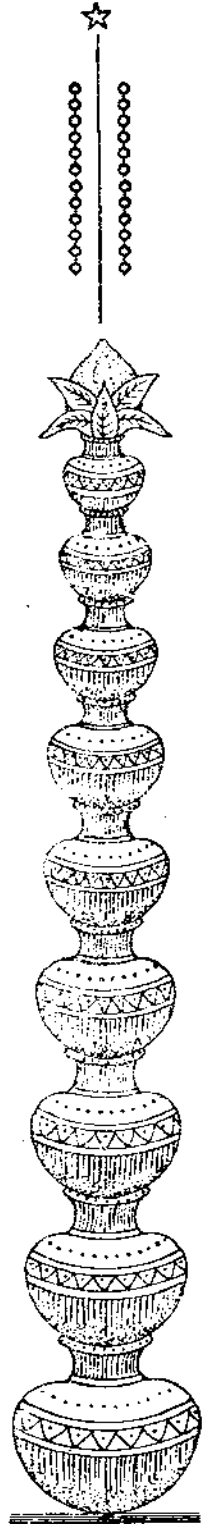
मानसिक रोगों और भूतावेश-जन्य रोगों में मीतिक चिकित्सा का भी उल्लेख मिलता है।

जैन आगम ग्रन्थों में आरोग्यशालाओं (तेगिच्छयशाल—चिकित्साशाला) का उल्लेख मिलता है। वहाँ वेतन भोगी चिकित्सक, परिचारक आदि रखे जाते थे।^{३२}

वास्तव में, सम्पूर्ण जैन आगम साहित्य में उपलब्ध आयुर्वेदीय संदर्भों का संकलन और विश्लेषण किया जाना अपेक्षित है।

‘प्राणावाय’-परम्परा का साहित्य

जैन-आयुर्वेद ‘प्राणावाय’ का ऊपर उल्लेख किया गया है। इसका विपुल साहित्य प्राचीनकाल में अवश्य रहा होगा। अब केवल उग्रदित्याचार्य विरचित “कल्याणकारक” नामक ग्रंथ मिलता है।^{३३} यही एकमात्र प्राणावाय सम्बन्धी उपलब्ध ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ के प्रारम्भ में प्राणावाय के अवतरण की कथा वर्णित है। इस परम्परा के अनुसार



आदि भगवान् ऋषभनाथ से भरत चक्रवर्ती, आदि ने गृह्य, रोम, औषध और काल—इन चार भागों में आयुर्वेद विषयक समग्र ज्ञान प्राप्त किया। गणधरों से प्रतिगणधरों ने, फिर उनसे श्रुतकेवलियों ने और बाद में अल्पज्ञ मुनियों ने इस ज्ञान को प्राप्त किया। उसी क्रम-प्राप्त ज्ञान के आधार पर कल्याणकारक नामक ग्रन्थ की रचना उग्रदित्य ने की। इस ग्रन्थ में प्राणावाय सम्बन्धी पूर्वाचार्यों द्वारा प्रणीत अनेक ग्रन्थों का नामोल्लेख हुआ है। उसमें लिखा है—पूज्यपाद ने शालाक्य पर, पात्रस्वामी ने शल्यतन्त्र, सिद्धसेन ने विष और उग्रग्रहशमनविधि का, दशरथ गुरु ने कायचिकित्सा पर मेघनाद ने बालरोगों पर और सिहनाद ने बाजीकरण और रसायन पर वैद्यक ग्रन्थों की रचना की थी।^{२४} इसी ग्रन्थ में आगे यह भी कहा गया है कि—समन्तमद्र ने विस्तारपूर्वक आयुर्वेद के आठों अंगों पर ग्रन्थ रचना की थी (जिस प्रकार वृद्धवाग्भट ने 'अष्टांगसंग्रह' नामक ग्रन्थ लिखा था)। समन्तमद्र के अष्टांगविवेचन पूर्ण ग्रन्थ के आधार पर ही उग्रदित्य ने संक्षेप में अष्टांगयुक्त 'कल्याणकारक' नामक ग्रन्थ की रचना की।^{२५}

'कल्याणकारक' में वर्णित उपर्युक्त सभी प्राणावाय सम्बन्धी ग्रन्थ अब अनुपलब्ध हैं।^{२६} पूज्यपाद के वैद्यक ग्रन्थ की प्रति मांडारकर ओरियंटल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पुना के संस्कृत हस्तलेख ग्रन्थागार में सुरक्षित है। इस संदर्भ में यह ज्ञातव्य है कि पूज्यपाद के कल्याणकारक का कन्नड में अनूदित ग्रन्थ अब भी मिलता है, जो सोमनाथ का लिखा हुआ है।

संक्षेप में, प्राणावाय की परम्परा अब लुप्त हो चुकी है। इसके ग्रन्थ, 'कल्याणकारक' के सिवा, अब नहीं मिलते। 'कल्याणकारक' का रचनाकाल ई० ६वीं शती है।

जैन विद्वानों द्वारा प्रणीत आयुर्वेदीय ग्रन्थ

आयुर्वेद के ग्रन्थों पर टीकाएँ, संग्रह ग्रन्थ, मौलिक ग्रन्थ और योग ग्रन्थों की रचना कर जैन विद्वानों ने 'भारतीय' वैद्यकविद्या के इतिहास में अपने को अमर कर दिया है। यहाँ कतिपय ग्रन्थों पर संक्षेप में प्रकाश डाला जायेगा। यह अधिकांश साहित्य अभी तक अज्ञात और अप्रकाशित रहा है। जैन विद्वानों ने संस्कृत के अतिरिक्त प्रादेशिक भाषाओं में भी व्याख्या और ग्रन्थों का निर्माण किया था।

आशाधरकृत अष्टांग हृदयोद्योतिनी टीका^{२७}

इसके प्रणेता पं० आशाधर थे। यह जैन श्रावक थे और मूलतः 'मांडलगढ़' प्राचीन सम्पादलक्ष राज्य के अंतर्गत, (जिला भीलवाड़ा, राज०) के निवासी होने पर भी मोहम्मद गौरी के अजमेर पर आधिपत्य कर लेने पर मालवा के राजा विषयवर्मा की राजधानी धारानगरी और बाद में नालछा में जाकर रहने लगे। इन्होंने ई० १२४० के लगभग वाग्भट पर 'उद्योतिनी टीका' लिखी थी। परन्तु यह ग्रन्थ अब अप्राप्य है। इसका उल्लेख आशाधर के अन्य ग्रन्थों की प्रशस्ति में मिलता है—

“आयुर्वेदविदामिष्टं व्यक्तुः वाग्भटसंहिताम् ।

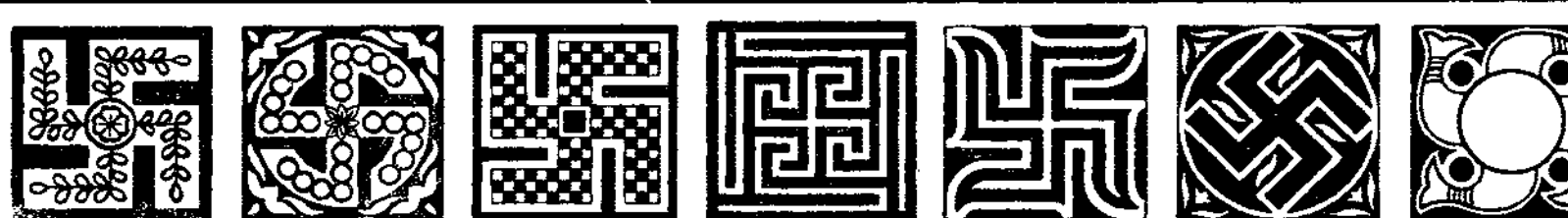
अष्टांगहृदयोद्योतं निबन्धमसृजच्च यः ॥”

गुणाकर सूरि—इन्होंने संवत् १२६६ (ई० १२३६) में नागार्जुनकृत 'योगरत्नमाला' पर 'वृत्ति' लिखी है। यह श्वेतांबर साधु व पण्डित थे। यह टीका संस्कृत में मिलती है।^{२८}

नयन सुख—यह केशरराज के पुत्र और जैन श्रावक थे। यह अकबर के शासनकाल में जीवित थे। इन्होंने गुजराती मिश्रित हिन्दी में पद्यबद्ध 'वैद्यमनोत्सव' नामक ग्रन्थ लिखा था। इसका रचनाकाल सं० १६४६ है। इसमें रोगों का निदान और चिकित्सा दी गई है।

नर्बुदाचार्य—यह तपागच्छीय साधु कनक के शिष्य थे। संभवतः इनका निवास-स्थान गुजरात में कहीं था। इन्होंने सं० १६५६ में 'कोककला चौपाई' नामक ग्रन्थ की रचना की थी। यह कोकशास्त्र (कामशास्त्र) पर गुजराती में पद्यबद्ध रचना है।

हर्षकीर्ति सूरि—यह जैन साधु थे। यह नागपुरीय (नागरी) तपागच्छीय श्री चन्द्रकीर्ति सूरि के शिष्य थे। इन्होंने संवत् १६३० के आसपास 'योगचिन्तामणि वैद्यकसारसंग्रह' या 'योगचिन्तामणि' या 'योगसंग्रह' या 'वैद्यकचिकित्सा



संग्रह' नामक चिकित्सा सम्बन्धी योगों का संग्रह ग्रन्थ बनाया था। ज्यूलियस जॉली ने इस ग्रन्थ का रचनाकाल ई० १६६० या १६६६ माना है।^{२६} इसका रचनाकाल इससे भी पूर्वका होना चाहिए। मैंने रा० प्रा० वि० प्र० जोधपुर में इस ग्रन्थ की सं० १६६६ की ह० लि० प्रति देखी है। इस ग्रन्थ में फिरंग, कबाब चीनी, अहीफेन और पारद का उल्लेख है। इसमें पाक, चूर्ण, गुटिका, क्वाथ, घृत, तैल और मिश्रक सात अध्याय हैं।

लक्ष्मी कुशल—यह तपागच्छीय विमलसोमसूरि के परिवार में जयकुल के शिष्य थे। इन्होंने संवत् १६६४ में ईडर (गुजरात) के समीप ओड़ा नामक ग्राम में 'वैद्यकसार रत्नप्रकाश' नामक आयुर्वेदीय ग्रन्थ की गुजराती चौपाइयों में रचना की थी।

हस्तिरुचि गणि—इनका 'वैद्यवल्लभ' नामक ग्रन्थ बहुत प्रसिद्ध है। इसका रचनाकाल ई० सन् १६७० है। यह योगसंग्रह व चिकित्सा पर है। गौडल के इतिहास में हस्तिरुचि के स्थान पर हस्तिसूरि नाम दिया है। मोहनलाल दलीचंद देसाई ने 'जैन साहित्यको इतिहास' (पृ. ६६४) में इनका ग्रन्थ रचनाकाल सं. १७१७ से १७३६ तक माना है। इसमें आठ अध्याय हैं। यह चिकित्सा संबंधी संग्रह ग्रन्थ है। सं. १७२६ में मेघ भद्र ने वैद्यवल्लभ पर संस्कृत में टीका लिखी थी।

पीतांबर—इन्होंने सं. १७५६ में उदयपुर में "आयुर्वेदसार संग्रह" नामक भाषा-ग्रन्थ रचा था।

हंसराज—यह १७वीं शती में विद्यमान थे। इनका 'हंसराज निदान' (अपरनाम 'मिषक्चक्रचित्तोत्सव') नामक निदान विषयक ग्रन्थ है।

जिनसमुद्रसूरि—इनका काल वि.सं. १६७० से १७४१ तक माना जाता है। राजस्थानी भाषा में इनका 'वैद्यचिंतामणि' या 'वैद्यकसारोद्धार' नामक पद्यमय ग्रंथ मिलता है। इसमें रोगों का निदान और चिकित्सा का वर्णन है।

महेन्द्र जैन—यह कृष्णवैद्य के पुत्र थे। इन्होंने वि. सं. १७०६ में पंचनरि निघंटु के आधार पर उदयपुर में 'द्रव्यावलीसमुच्चय' ग्रन्थ की रचना की थी। यह द्रव्यशास्त्र संबंधी ग्रंथ है।

नयनशेखर—यह अंचलगच्छीय पालीताणा शाखा के मुनि थे तथा गुजरात के निवासी थे। इन्होंने सं. १७३६ में गुजराती भाषा में 'योगरत्नाकर चौपाई' नामक चिकित्सा ग्रन्थ लिखा था।

विनयमेशगणी—यह खरतरगच्छीय जिनचंद की परम्परा में सुमतिमेरु के भ्रातृ पाठक थे। इनका काल १८वीं शती प्रमाणित होता है। इनके ग्रन्थ 'विद्वन्मुलमंडनसारसंग्रह' की एक अपूर्ण प्रति (मस्तक रोगाधिकार तक) रा. प्रा. वि. प्र. जोधपुर में विद्यमान है।

रामलाल महोपाध्याय—यह बीकानेर के निवासी तथा धर्मशील के शिष्य थे। इनका 'रामनिदानम्' या 'राम ऋद्धिसार' नामक ग्रन्थ प्राप्त है। इसमें संक्षिप्तरूप से ७१२ श्लोकों में सब रोगों का निदान वर्णित है।

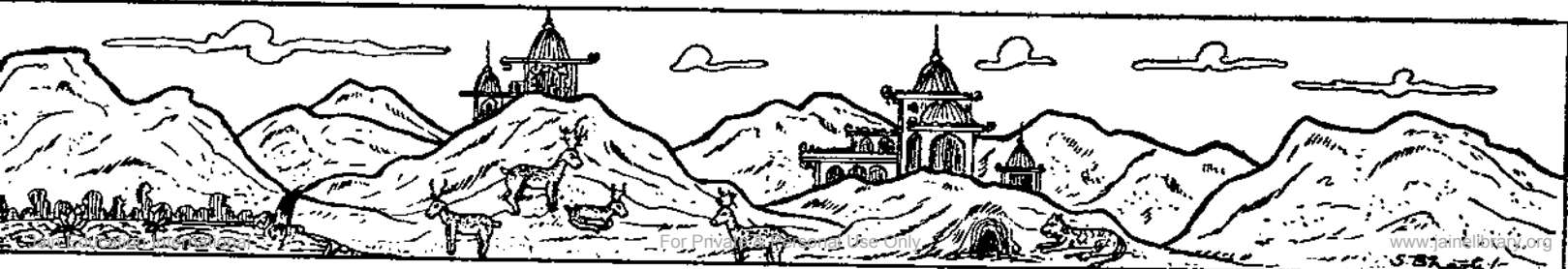
दीपकचन्द्र वाचक—यह खरतरगच्छीय वाचक मुनि थे। इनको जयपुर में महाराजा जयसिंह का राज्याश्रय प्राप्त था। इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं—संस्कृत में 'पथ्यलंघननिर्णय' (लंघनपथ्यनिर्णय, पथ्यापथ्यनिर्णय, लंघनपथ्यविचार) और राजस्थानी में 'बालतंत्रभाषावचनिका'। प्रथम ग्रन्थ में रोगों के पथ्य और अपथ्य तथा द्वितीय में बालतंत्र की राजस्थानी में टीका है। पथ्यलंघन निर्णय का रचनाकाल सं. १७६२ है।

रामचन्द्र—यह खरतरगच्छीय पद्मरंग के शिष्य थे। इनके राजस्थानी में वैद्यक पर दो ग्रन्थ 'रामविनोद' (वि. सं. १७२०) और 'वैद्यविनोद' (वि. सं. १७२६) तथा ज्योतिष पर 'सामुद्रिकभाषा' नामक ग्रन्थ मिलते हैं।

धर्मसौ—इन्होंने सं० १७४० में 'डंमक्रिया' नामक दाहकर्म चिकित्सा पर २१ पद्यों में राजस्थानी में छोटी-सी कृति लिखी थी।

लक्ष्मीवल्लभ—यह खरतरगच्छीय शाखा के उपाध्याय लक्ष्मीकीर्ति के शिष्य थे। इन्होंने संस्कृत के 'काल जानम्' (शंभुनाथ कृत) का राजस्थानी में पद्यानुवाद किया था। इसका रचनाकाल सं० १७४१ है। लेखक की अन्य कृति 'युत्रपरीक्षा' नामक राजस्थानी में मिलती है।

मानमुनि (मुनिमान)—यह खरतरगच्छीय भट्टारक जिनचंद के शिष्य वाचक सुमति सुमेरु के शिष्य थे। वैद्यक पर इनकी दो रचनाएँ मिलती हैं—कविनिनोद और कविप्रमोद। 'कविनिनोद' (वि० सं० १७४५) प्रथम खंड में



योग-कल्पनाएँ और द्वितीय में निदान-चिकित्सा का वर्णन है। 'कविप्रमोद' (वि०सं० १७४६) में नौ अध्यायों में संग्रहात्मक चिकित्सा का वर्णन है।

जोगीदास—यह बीकानेर-निवासी थे। इनका अन्य नाम 'दास' कवि प्रसिद्ध है। बीकानेर के तत्कालीन महाराजा जोरावरसिंह की आज्ञा से इन्होंने सं० १७६२ में 'वैद्यकसार' नामक ग्रन्थ की रचना की थी।

समरथ—यह श्वेताम्बर खरतरगच्छीय मतिरत्न के शिष्य थे। इन्होंने शालिनाथ-प्रणीत संस्कृत को 'रसमंजरी' की प्रथम भाषा टीका सं० १७६४ में की थी। यह रसशास्त्र विषयक ग्रंथ है।

जैन सुखयति—यह फतहपुर (सीकर) के निवासी थे। इनके वैद्यक पर दो ग्रन्थ मिलते हैं—१ बोपदेवकृत 'शतश्लोकी' की राजस्थानी गद्य में भाषा टीका (वि.सं. १८२०) तथा २ लोलिबराजकृत वैद्यजीवन की राजस्थानी में टीका 'वैद्यजीवन टवा'।

मलुकचन्द—यह बीकानेर के जैन श्रावक थे। इनने यूनानी चिकित्साशास्त्र के प्रसिद्ध ग्रंथ 'तिब्ब सहाबी' का राजस्थानी भाषा में पद्यानुवाद किया है।

विश्राम—यह आगम गच्छ के यति थे। इनका निवास स्थान अर्जुनपुर (अंजार, कच्छ) था। इनके दो ग्रन्थ मिलते हैं—अनुपानमंजरी' (वि. सं. १८४२) तथा व्याधिनिग्रह' (वि. सं. १८३६) प्रथम ग्रन्थ में विष-उपविष आदि के शोधन, मारण, विषनाशनोपाय और अनुपानों का तथा द्वितीय ग्रंथ में रोगों की संक्षिप्त चिकित्सा का वर्णन है।

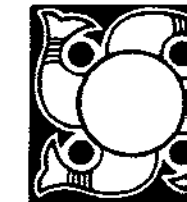
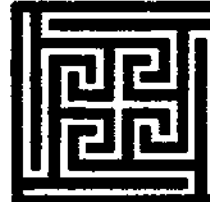
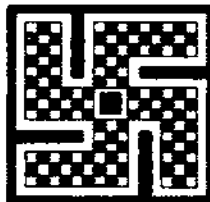
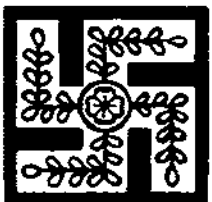
लक्ष्मीचन्द—इनका वि.सं. १६३७ में रचित 'लक्ष्मी प्रकाश' नामक रोगों के निदान और चिकित्सा संबंधी ग्रन्थ मिलता है।

इन जैन ग्रन्थकारों और ग्रन्थों के अतिरिक्त सैकड़ों हस्तलिखित ग्रन्थ जैन ग्रन्थ-भंडारों में अप्रकाशित व अज्ञात रूप में भरे पड़े हैं। पादलिप्ताचार्य और उनके शिष्य नामार्जुन (जो ई. प्रथमशती में हो चुके हैं) का वर्णन भी जैन ग्रन्थों में मिलता है। वे रस विद्या और रसायन चिकित्सा के प्रसिद्ध विद्वान थे। पंजाब में मेघमुनि ने वि.सं. १८१८ में 'मेघविनोद' नाम का चिकित्सा संबंधी ग्रन्थ और गंगाराम यति ने वि.सं. १८७८ में 'गंगयतिनिदान' नामक रोगनिदान संबंधी ग्रन्थों का प्रणयन किया था।

उपर्युक्त परम्पराओं से भिन्न ही जैन विद्वानों की परम्परा दक्षिणी भारत में, विशेषतः कन्नड़ प्रांत में उपलब्ध होती है। कर्नाटक में समंतभद्र (ई. ३-४ थी शती) और पूज्यपाद (ई. ५वीं शती) ने प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों की रचना की थी। वे ग्रन्थ अब नहीं मिलते। उनके संदर्भ उग्रादित्यचार्य के 'कल्याणकारक' में प्रचुर मात्रा में प्राप्त हैं। 'कल्याणकारक' की रचना आचार्य उग्रादित्य ने दक्षिण के राष्ट्रकूट-वंशीय सम्राट नृपतुंग अमोघवर्ष प्रथम (ई. ८१५ से ८७७) के शासनकाल में समाप्त की थी। इस ग्रन्थ के अंत में परिशिष्टा-ध्याय के रूप में मांसभक्षणनिषेध का गद्य में विस्तृत विवेचन है, जिसे उग्रादित्य ने अनेक विद्वानों और वैद्यों की उपस्थिति में नृपतुंग राजा अमोघवर्ष की राजसभा में प्रस्तुत किया था। अमोघवर्ष की सभा में आने से पूर्व उग्रादित्य और उनके गुरु श्रीनन्दि का निवास पूर्वी चालुक्य राजा विष्णुवर्धन चतुर्थ (ई. ७६४-७६६) के संरक्षण में उनके ही राज्य के अन्तर्गत विजागापट्टम जिले की रामतीर्थ या रामकोंड नामक पहाड़ियों की कंदराओं में था। उस समय यह स्थान बेंगि प्रदेश का उत्तम सांस्कृतिक केन्द्र था। यहीं पर श्रीनन्दि से उग्रादित्य ने 'प्राणावाय' की शिक्षा प्राप्त कर कल्याणकारक ग्रंथ की रचना की थी। बाद में इस प्रदेश को अमोघवर्ष प्रथम द्वारा जीत लिये जाने पर इन्हें भी अमोघवर्ष की राजसभा में आना पड़ा। यहाँ पर उन्होंने कल्याणकारक में नवीन अध्याय जोड़कर ग्रन्थ को संपूर्ण किया। इस प्रकार उग्रादित्य का काल ई. ८वीं शती का अंतिम और ९वीं शती का प्रारंभिक चरण प्रमाणित होता है। कल्याणकारक में मद्य, मांस, आसव, प्राणिज द्रव्य आदि का प्रयोग नहीं बताया गया है। सभी योग, वानस्पतिक और खनिज द्रव्यों से निमित्त हुए हैं। रसयोगों का बाहुल्य इसी ग्रंथ में सर्वप्रथम मिलता है।

उग्रादित्य के बाद भी कर्नाटक में अनेक वैद्यकग्रन्थ निर्मित होते रहे। विजयनगर साम्राज्य के अभ्युदयकाल में सर्वाधिक वैद्यक ग्रन्थ लिखे गये।

प्रारंभिक विजयनगर-काल में राजा हरिहरराज के समय में मंगराज प्रथम नामक कानडी कवि ने वि.सं. १४१६ (१३६० ई.) में 'खनेन्द्रमणिदर्पण' नामक ग्रंथ की रचना की थी। इसमें स्थावरवृषियों की क्रिया और उनकी चिकित्सा वर्णन है। श्रीधरदेव (१५०० ई.) ने 'वैद्यामृत' की रचना की थी। इसमें २४ अधिकार हैं।



बाचरस (१५०० ई.) ने अश्ववैद्यक की रचना की। इसमें अश्वों की चिकित्सा का वर्णन है।

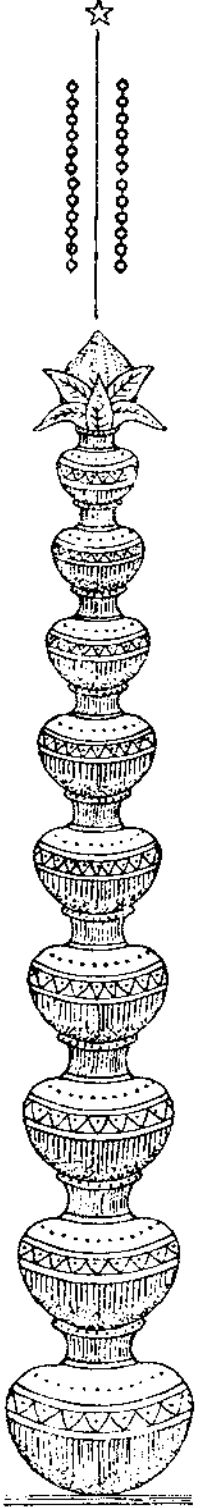
पद्मरस ने (१६२७ ई. में) 'हयसारसमुच्चय' (अश्वशास्त्र) नामक ग्रंथ की रचना मैसूर नरेश चामराज के आदेशानुसार की थी। इसमें भी अश्वों की चिकित्सा का वर्णन है।

दक्षिण के ही जैन देवेन्द्र मुनि ने 'बालग्रहचिकित्सा' पर कन्नड़ी में ग्रंथ लिखा था। रामचन्द्र और चंद्रराज ने 'अश्ववैद्य' कीतिमान चालुक्य राजा नो 'गौचिकित्सा', वीरभद्र ने पालकाप्य के गजायुर्वेद पर कन्नड़ी भाषा में टीका लिखी थी। ९वीं शती में अमृतनन्दि ने 'वैद्यकनिघण्टु' की रचना की थी। साल्व ने रसरत्नाकर और वैद्यसागत्य तथा जगदेव ने 'महामंत्रवादि' लिखा था।^{२८}

तामिल आदि भाषाओं के जैन वैद्यकग्रन्थों का संकलन नहीं हो पाया है।

प्रस्तुत लेख लेखक के "जैन आयुर्वेद साहित्य" नामक ग्रन्थ की लघुकृति है। ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक जैन विद्वानों द्वारा प्रणीत वैद्यक ग्रन्थों का और उनके ग्रन्थकारों का परिचय विश्लेषणात्मक रूप से उपस्थित किया है।

- १ कायचिकित्साष्टांग आयुर्वेदः भूतिकर्मजांगुलिप्रक्रमः ।
प्राणपानविभागोऽपि यत्र विस्तरेण वर्णितस्तत् प्राणावायम् ॥ —तत्त्वार्थ राजवार्तिक, अ० १, सू० २०
- २ डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान', पृ० ५४-५५
- ३ डॉ० हीरालाल जैन, भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, पृ० ७२-७३
- ४ डॉ० जगदीशचन्द्र जैन, जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, प्रास्ताविक, पृ० ५
- ५ स्थानांग सूत्र ६।६।७८;
- ६ निशीथ चूर्णि १५, पृ० ५१२
- ७ स्थानांग सूत्र ८, पृ० ४०४-अ; विपाक सूत्र ७, पृ० ४१
- ८ उत्तराध्ययन २०।२३; सुखबोधां पत्र २६६
- ९ उत्तराध्ययन, २०।२२; सुखबोधां पत्र २६६
- १० उत्तराध्ययन, १५।८
- ११ बृहद्वृत्ति, पत्र ११
- १२ बृहद्वृत्ति, पत्र ४७५
- १३ वही, पत्र ४६२
- १४ निशीथचूर्णि ७।१७५७
- १५ निशीथचूर्णि ११।३४३६
- १६ विपाकसूत्र ७, पृ० ४१
- १७ आवश्यकचूर्णि पृ० ३८५
- १८ स्थानांग सूत्र ६।६६७
- १९ बृहत्कल्प माष्य ३।४३८०
- २० आचारांग सूत्र ६।१।१७३
- २१ जातु धर्मकथा १३, पृ १४३
- २२ कल्याणकारक, परिच्छेद १, श्लोक १-११
- २३ कल्याणकारक, पृ० २०, श्लोक ८५
- २४ कल्याणकारक, पृ० २०, श्लोक ८६
- २५ उप्रादित्य का 'कल्याणकारक' शोलापुर (महाराष्ट्र) से सन् १९४० में पं० वर्धमान पार्ष्वनाथ शास्त्री ने हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित किया है।
- २६ Aufrecht, Catalogus Catalogomn, Part I, p. 36.
- २७ मो०द० देसाई, जैन साहित्य नो इतिहास, पृ० ३६७
- २८ Julius Jolly, Indian Medicine, p. 4.





मनुष्य स्वभावतः उत्सव प्रेमी है। उत्सव और पर्व जीवन में उत्साह और प्रेरणा जगाते हैं। जैन संस्कृति के पर्व सिर्फ आनंद-प्रमोद के लिए नहीं, किन्तु प्रमोद के साथ प्रबोध, उल्लास के साथ आत्मोल्लास जगाने की प्रेरणा देते हैं। यहाँ पर उन सांस्कृतिक पर्वों का एक संक्षिप्त-सार परिचय प्रस्तुत है।

□ श्री गोदूलाल मांडावत

जैन संस्कृति के प्रमुख पर्वों का विवेचन

आत्मा को पावन और पवित्र करे वह पर्व है। पर्व शब्द के दो अर्थ मुख्य हैं—उत्सव और ग्रन्थ। उत्सव शब्द कुछ संकुचित सा है। हर दिन ही कोई न कोई उत्सव हो सकता है, परन्तु जिस दिन विशिष्ट उत्सव आ जाए उसे पर्व कहते हैं।

पर्व लौकिक और लोकोत्तर दो प्रकार के होते हैं। सामान्य लौकिक पर्व हर सांसारिक व्यक्ति को आनन्द-दायक प्रतीत होते हैं जबकि लोकोत्तर पर्व हलुकर्मों जीवों को आकर्षक लगते हैं, क्योंकि उनके लिए उल्लाम युक्त समय ही पर्व है।

लोकोत्तर पर्व दो प्रकार के होते हैं—नित्य पर्व और नैमित्तिक पर्व। अष्टमी, चतुर्दशी आदि तिथियों के पर्व नित्य पर्व कहलाते हैं, जिनमें खाने-पीने आदि प्रवृत्तियों में अन्य तिथियों से थोड़ा अन्तर रहता है, नैमित्तिक पर्व वर्ष में किसी समय विशेष पर ही आते हैं।

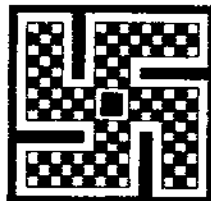
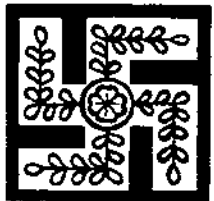
जैन संस्कृति में लोकोत्तर पर्वों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है, किन्तु लगता ऐसा है कि प्रत्येक लोकोत्तर पर्व के साथ लौकिक व्यवहार जुड़ गया है क्योंकि स्वाभाविक है कि अपने उल्लास को प्रकट करने के लिए व्यक्ति नाना प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। जैन संस्कृति के पर्वों पर स्पष्ट और विशेष झलक है जो तर्क और विज्ञान सम्मत है। वर्षारम्भ से वर्षान्त तक कई पर्व मनाए जाते हैं, जिन्हें देखकर लगता है कि कई पर्वों की नकल हम अन्य संस्कृतियों से करते हैं परन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। इन पर्वों की ऐतिहासिकता जैन साहित्य से निर्वादा प्रमाणित होती है।

अक्षय तृतीया

श्रमण हो जाने के पश्चात् ऋषभदेव निर्मोह भाव से मौनव्रती होकर विचरते रहे। जनता को आहार विधि का ज्ञान न होने से वह श्रद्धा भक्ति सहित भावाभिभूत होकर भाँति-भाँति के पदार्थ प्रभु के सम्मुख लाते परन्तु श्रमणों के लिए अकल्पनीय होने से वे उसे ग्रहण नहीं कर सकते थे। करीब एक वर्ष की निरन्तर हो रही तपश्चर्या के बाद प्रभु हस्तिनापुर में पधारे। वहाँ बाहुबली के पौत्र एवं राजा सोमप्रभ के पुत्र श्रेयांस युवराज थे उन्होंने रात्रि में स्वप्न देखा कि सुमेरु पर्वत श्याम वर्ण का हो गया है, उसे मैंने अमृत सींचकर चमकाया है।¹

उसी रात्रि सुबुद्धि सेठ को स्वप्न आया कि सूर्य की हजार किरणें जो अपने स्थान से विचलित हो रही थीं श्रेयांस ने उन्हें पुनः सूर्य में स्थापित कर दिया जिससे वह अधिक चमकने लगा।² महाराज सोमप्रभ ने स्वप्न देखा कि शत्रुओं से युद्ध करते हुए किसी बड़े सामन्त को श्रेयांस ने सहायता प्रदान की और श्रेयांस की सहायता से उसने शत्रु सैन्य को हरा दिया।³

प्रातः होने पर सभी स्वप्न के सम्बन्ध में चिन्तन-मनन करने लगे। चिन्तन का नवनीत निकला कि अवश्य ही श्रेयांस को विशिष्ट लाभ होने वाला है।⁴



विचरण करते हुए उसी दिन ऋषभदेव हस्तिनापुर पधारे, नगरनिवासी आह्लादित हुए। भगवान् परिभ्रमण करते हुए श्रेयांस के यहाँ पधारे। भगवान् को देखकर श्रेयांस को जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हुआ। ऋषभदेव के दर्शन और चिन्तन से पूर्व भव की स्मृति उद्बुद्ध हुई^४ स्वप्न का सही तथ्य ज्ञात हुआ। उसके हृदय में प्रभु को निर्दोष आहार देने की भावना उठी। संयोग से उसी समय सेवकों द्वारा इक्षु रस के घड़े लाये गये थे। कुमार प्रभु के सामने पधारे और आहार लेने की प्रार्थना की। प्रभु ने हाथ फैला दिये। श्रेयांस ने भाव विभोर हो अंजली में रस उड़ेल दिया।^५ अछिद्र पाणी होने से एक बूँद रस भी नीचे नहीं गिरा। भगवान् का यह वार्षिक तप अक्षय तृतीया को पूर्ण हुआ था। अहोदानं, की ध्वनि से आकाश गूँज उठा और देवों ने पंचदिव्य की वर्षा की। श्रेयांस इस युग के प्रथम भिक्षा दाता हुए तो प्रभु ने इस युग को प्रथम तप का पाठ पढ़ाया। प्रभु के पारणे का वैशाख शुक्ला तृतीया का वह दिन अक्षयकरणी के कारण संसार में अक्षय तृतीया या आखा तीज के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस महान् दान से तिथि भी अक्षय हो गई। त्रिषष्टि० पु० च०, कल्पलता, कल्पद्रुम कलिका तथा समवायांग में इस तिथि पर पूर्ण सामग्री उपलब्ध है।

पर्युषण एवं संवत्सरी

जैन संस्कृति का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पर्व संवत्सरी है। आत्मा को कर्म से मुक्त करने के लिए इसकी उपासना की जाती है। पर्युषण अत्यन्त प्राचीन काल से चले आ रहे हैं। संवत्सरी पर्युषण की अन्तिम तिथि है।

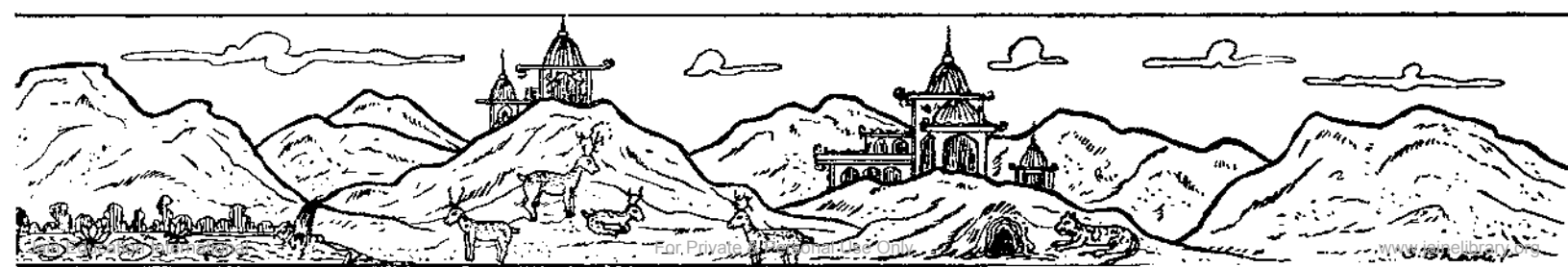
ऐसा माना जाता है कि भगवान् पार्वनाथ के काल में चानुर्मास की समाप्ति भाद्रपद शुक्ला पंचमी को हो जाती थी, इस दृष्टि से इसे वर्ष का अन्तिम दिन माना जाता और इसी के अनुसार संवत्सरिक प्रतिक्रमण करने से यह पर्व संवत्सरी के नाम से प्रचलित हुआ। प्रत्येक उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी आरों का प्रारम्भ भी भाद्रपद शुक्ला पंचमी को होता है।^७

कई आचार्य इसे शाश्वत पर्व मानते हैं, जम्बू द्वीप पन्नति में वर्णन आता है कि श्रावण कृष्णा प्रतिपदा को उत्सर्पिणी काल का प्रथम व २१०० वर्ष बाद दूसरा आरा प्रारम्भ हुआ। पुष्कलावर्त महामेघ के सात अहोरात्रि बरसने से धरती की तपन शान्त हुई फिर सात अहोरात्रि तक 'क्षीर' महामेघ बरसा जिससे भूमि के अशुभ वर्ण नष्ट हो गये और वेशुभ रूप में परिवर्तित हुए। सात दिन तक आकाश के खुले रहने के बाद सात दिन 'घृत' नामक महामेघ ने बरस कर धरती में सरसता का संचार किया, फिर 'अमृत' मेघ की सात दिन तक वर्षा हुई जिसमें वनस्पति के अंकुर प्रस्फुरित हुए, फिर आकाश के सात दिन निर्मल रहने के बाद 'रस' नामक महामेघ ने बरस कर वनस्पति में ५ प्रकार के रसों का संचार किया इस प्रकार वनस्पति मानव के भोग योग्य बनी। आरे के प्रारम्भ के ५०वें दिन बिल-गत मानव जब बाहर निकले तो धरती को हरी भरी देखकर उन्होंने समवेत स्वर में घोषणा की कि 'हे देवानुप्रिय! आज से हममें से जो कोई अशुभ पुद्गलों का आहार करेगा उसकी छाया से भी हम दूर रहेंगे।'^८ इसके अनुसार मानवों में स्वतः सत्प्रेरणा का यह पर्व अनावि रूप से चला आ रहा है।

भ्रमण भगवान् महावीर ने वर्षावास के एक मास और बीस रात्रि बीतने पर तथा सत्तर रात्रि दिन शेष रहने पर पर्युषण पर्वाराधना की।^९

संवत्सरी शब्द मूल आगमों में कहीं-कहीं ही मिलता है। कुछ दिनों पूर्व आगम अनुयोग प्रवर्तक पं० मुनि श्री कन्हैयालाल जी म० सा० से इसका कारण पूछा तो उन्होंने बताया कि 'पञ्जुसणा' शब्द का अर्थ संवत्सरी में निहित है।

पर्युषण पर्व के दिनों में चारों जाति के देवता समारोहपूर्वक अठई महोत्सव करते हैं।^{१०} पर्युषण पर्वाराधना का उल्लेख कई आगमों में प्राप्त होता है, अधिकांश में आठ दिनों का स्पष्ट उल्लेख नहीं है संभव है कि भावनाओं को उच्चतम बनाने के लिए आठ दिन नियत किये गये हों। संवत्सरी को चूँकि जैन मान्यतानुसार वर्ष का अन्तिम दिन मानते हैं। इसलिए इसी दिन आलोचना पाठ तथा पाटावली पढ़ने सुनने की परम्परा है। स्थानकवासी समाज में अन्तकृत सूत्र तथा मूर्तिपूजक सम्प्रदाय में कल्प सूत्र वाचन की परम्परा है। यों संवत्सरी भाद्रपद शुक्ला चौथ या पंचमी को कालगणना के अनुसार आती है, परन्तु ऐसा वर्णन भी मिलता है कि संवत्सरी की आराधना कालकाचार्य द्वितीय से पहले तक कालगणना के अनुसार भाद्रपद शुक्ला चौथ या पंचमी को ही की जाती थी।



धारा नगरी के कुमार कालक और कुमारी सरस्वती ने गुणाकर मुनि के पास संयम स्वीकार किया। वीर नि० सं० ४५३ में कालक को आचार्य पद प्रदान किया गया। वीर नि० सं० ४७० से ४७२ के बीच इनका चातुर्मास मंडौच था। वहाँ से विशेष परिस्थितिवश चातुर्मास अवधि में ही आचार्य कालक ने प्रतिष्ठानपुर की ओर विहार कर दिया तथा वहाँ के श्रमण संघ को सन्देश पहुँचाया कि वे पर्युषण के पूर्व प्रतिष्ठानपुर पहुँच रहे हैं, अतः पर्युषण सम्बन्धी कार्य उनके वहाँ पहुँचने के पश्चात् निश्चित किया जाय। वहाँ पहुँच कर आचार्य ने पंचमी को संवत्सरी (सामूहिक पर्युषण) मनाने की सूचना दी, परन्तु वहाँ के जैन धर्मावलम्बी राजा सातवाहन को इन्द्र महोत्सव में भाग लेना था, इसलिए उसने छठ या चौथ को पर्युषण मनाने का निवेदन किया। कालकाचार्य ने चौथ को संवत्सरी मनाने की बात स्वीकार करली। इस प्रकार कालकाचार्य ने देशकाल को देखते हुए भाद्रपद शुक्ला चतुर्थी को पर्वाराधना किया।^{१२}

दशाश्रुत स्कन्ध चूर्णि तथा जिन विजय जी द्वारा सम्पादित जैन साहित्य के अनुसार कालकाचार्य का समय वीर निर्वाण सं० ६६३ माना जाता है, काल गणना के अनुसार इस समय को सही मानने की मान्यता कम है। इस सम्बन्ध में आचार्य श्री हस्तीमल जी म० सा० द्वारा दिया गया समय वीर निर्वाण संवत् ४७२ सही माना जाता है। कई प्रमाणों से आचार्य श्री ने जैनधर्म के मौलिक इतिहास में इसका विशद विवेचन किया है।

चतुर्थी की इस परम्परा को स्थायी महत्त्व प्राप्त नहीं हो सका। वर्तमान में यदि कभी चतुर्थी को संवत्सरी पर्व की आराधना की जाती है तो इसका कारण यह नहीं कि कालकाचार्य की परम्परा का पालन हो रहा है, बस्तु स्थिति यह है कि वास्तव में संवत्सरी पंचमी को ही मनाई जाती है, कभी-कभी कालगणना के कारण ही पर्वाराधना चतुर्थी को की जाती है।

दिगम्बर जैन अपना पर्युषण पर्व महोत्सव भाद्रपद शुक्ला से पूर्णिमा तक मनाते हैं वे इस पर्व को पर्युषण न कहकर दश लक्षण पर्व कहते हैं। संभव है मत विभिन्नता के कारण पृथक समय अपनी पृथकता और विशेषता तथा विभिन्नता को बनाए रखते हुए उन्होंने पर्युषण के बजाय दस लक्षण पर्व प्रारम्भ किया हो। दस लक्षण पर्व की क्रिया आदि की सारी भावना पर्युषण से मिलती-जुलती है। दस लक्षण धर्म का उल्लेख आचार्य उमास्वाती कृत तत्त्वार्थ सूत्र के तीव्रे अध्याय में इस प्रकार है।

उत्तम क्षमामार्दवाजं च शोच सत्य संयमतपस्त्यामाकिञ्चन्य ब्रह्मचर्याणि धर्मः ।

क्षमा, नम्रता, सरलता, पवित्रता, सत्य, संयम, तप, त्याग आकिञ्चन्य और (निष्परिग्रहता) ब्रह्मचर्य ये दस धर्म हैं। जैन समाज के सभी घटक निर्विवाद रूप से तत्त्वार्थ सूत्र की मान्यता को स्वीकार करते हैं। यह पर्व आत्मा-वलोकन समालोचना का भी पर्व है। कृत कर्मों का लेखा-जोखा कर पापों को वोसराया जाता है। पर्युषण के शाब्दिक विवेचन से स्पष्ट होता अर्थ इस प्रकार है।

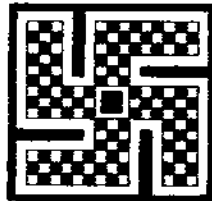
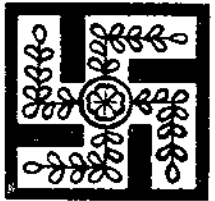
“परिसमन्तात् उष्यन्ते दहन्ते कर्माणि यस्मिन् पर्युषणम्।” पर्युषण का दूसरा अर्थ आत्मा में निवास करना होता है और आध्यात्मिक अर्थ में आत्मा में निवास करना सार्थक है।

पर्युषण का नामोल्लेख निशीथ सूत्र में इस प्रकार पाया जाता है।

“साधु प्रमादवश पर्युषण आराधना न करे तो दोष लगता है।^{१३} केश लोच पर्युषण पर करना अत्यन्त आवश्यक है, गौ के रोम जितने बाल भी न रखे^{१४} साधु पर्युषण में क्वचित भी आहार न करे।^{१५}”

कल्प सूत्र में पर्युषण के लिए एक विशेष कल्प है जिनमें विस्तार से विवेचना की गई है “संवत्सरी के दिन केशलोच नहीं करने वाले साधु को संघ में रहने योग्य नहीं माना है।^{१६}”

पर्युषण क्षमा का अनुपम पर्व है, महावीर के शासन-काल में उदायन द्वारा अपराधी चण्डप्रद्योतन को क्षमा कर गले मिलने का उदाहरण कितना सुन्दर लगता है, उसी परम्परा का पालन आज भी जैन-जैनेतर समाज द्वारा किया जाता रहा है। निशीथ सूत्र के कथाकार ने यह लिखते हुए एक कथा का समापन किया है कि ‘जब अज्ञान और असंयत ग्रामीणों ने भी क्षमायाचना की और कुम्भार ने क्षमा प्रदान की तो संयमी साधुओं का तो कहना ही क्या है? जो भी अपराध किया हो उस सब को पर्युषण के समय क्षमा लेना चाहिये। इससे संयम की आराधना होती है।^{१६} उक्त सभी प्रमाणों से ज्ञात होता है कि पर्युषण महापर्व जैन संस्कृति का अत्यन्त प्राचीन पर्व है।



निर्वाण पर्व—दीपावली

गों पंचकल्याणकों में निर्वाण पर्व का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सभी तीर्थंकरों के निर्वाण महोत्सव तप त्यागादि की आराधना से मनाये जाते हैं, पर विशेष उल्लास और उत्साह से चरम तीर्थंकर महावीर का निर्वाण पर्व मनाया जाता है। भारत में दीपावली कई संस्कृतियों की ऐतिहासिक विरासत की देन है। जैन दृष्टि से इस पर्व का शुभारम्भ भगवान महावीर की देह-मुक्ति से हुआ है।

राजगृही का ४१वां वर्षावास कर तीर्थंकर महावीर मल्लों की राजधानी अपापापुरी (पावापुरी) में राजा हस्तिपाल की लेखशाला में पधारे। छद्मतप युक्त प्रभु ने अपना निर्वाण समीप देखकर पंचावन अध्ययन पुण्यफल विपाक के और पंचावन अध्ययन पापफल विपाक के कहे^{१७}, फिर छत्तीस अध्ययनों का अमृतमय उपदेश 'उत्तराध्यन' प्रदान किया^{१८} निर्वाण समथ समीप जान तथा गौतम के सर्वज्ञत्व में स्नेह को बाधक जान प्रभु ने गौतम को समीप के गाँव में देवशर्मा को प्रतिबोध देने भेजा^{१९}, विनयावनत गौतम प्रभु को वन्दना कर प्रस्थित हुए। निर्वाण के समय प्रभु से इन्द्र ने निवेदन किया कि भस्मग्रह संक्रमण तक आयुष्य को रोक लें, तो प्रभु ने कहा कि आयु को बढ़ाने-घटाने की सामर्थ्य किसी में नहीं है। कार्तिक कृष्ण अमावस्या की रात्रि के अन्तिम प्रहर में प्रभु संसार त्याग कर चले गये, सभी बन्धन नष्ट हो गये, सब दुःखों का अन्त कर परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।^{२०}

निर्वाण हुआ जान स्वर्ग से देवी, देवता शक्र और इन्द्र वहाँ आए। सभी देवों ने अपनी-अपनी सामर्थ्य और गुणों के अनुरूप अन्तिम क्रिया में योग दिया। रज्जुम सभा में काशी कौशल के नौ लिच्छवी तथा नौ मल्ल इस तरह अठारह गण राजा भी उपस्थित थे। अठारह ही राजाओं ने उपवास युक्त पौषध किया हुआ था। अमावस्या की घोरकाली रात्रि थी अतः उन्होंने निश्चय किया कि प्रभु के निर्वाणान्तर भाव उद्योत के उठ जाने से महावीर के ज्ञान के प्रतीक रूप में स्मरणार्थ द्रव्य प्रकाश करेगे।^{२१}

जिस रात्रि में श्रमण भगवान महावीर काल धर्म को प्राप्त हुए, उस रात्रि में बहुत-सी देव-देवियाँ ऊपर-नीचे आ-जा रही थीं जिससे वह रात्रि खूब उद्योतमयी हो गई थी।^{२२}

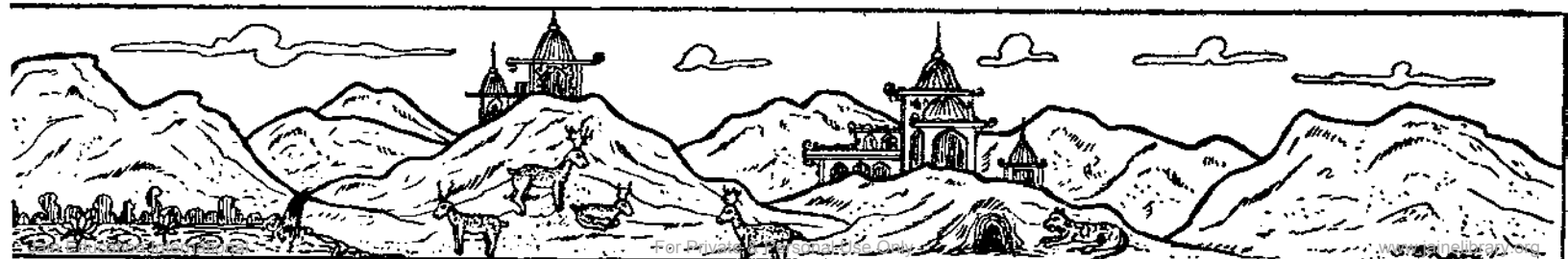
उस दिन देवताओं ने दुर्लभ रत्नों से द्रव्य प्रकाश किया था, मनुष्यों ने भी दीप संजोए तब से दीपावली पर्व प्रारम्भ हुआ।

हरिवंश पुराण में आचार्य जिनसेन ने दीपावली के प्रारम्भ का बड़ा भावमय वर्णन दिया है—

उवलत्प्रदीपालिकया प्रवृद्धया, सुरासुरैः दीपितया प्रदीप्तया ।
तदास्म पावानगरी समन्ततः प्रदीपिता काशतला प्रकाशते ॥
ततस्तु लोकः प्रतिवर्षमादरात् प्रसिद्ध दीपावलीकयात्र भारते ।
समुद्यतः पूजयति जिनेश्वरं जिनेन्द्रनिर्वाण विभूति-भक्ति भाग् ॥

—प्रस्तुत श्लोक में दीपावली का समग्र दृश्य सारसंक्षेप रूप से वर्णन किया गया है। ऐसा ही वर्णन त्रिषष्टि-शलाका पुरुष चरित्र में प्राप्त होता है।

परिनिर्वाण वि० पू० ४७१ तथा ई० पू० ५२७ माना जाता है। महावीर निर्वाण के १६६६ वर्ष बाद कुमारपाल का जन्म हुआ था, ई० ११४२ में। अतः महावीर का निर्वाण काल १६६६-११४२=५२७ ई० पू० है। कुछ विद्वान् ४६८ और ४८२ तथा ५२७ और ५४६ ई० पू० के बीच निर्वाणकाल मानते हैं किन्तु परम्परानुसार महावीर का निर्वाण ५२७ ई० पू० माना जाता है^{२३} "प्रोफेसर परशुराम कृष्ण गोडे, ओरिएण्ट रिसर्च, भगवान महावीर का निर्वाण दीपावली के रूप में होना स्वीकार करते हैं, महावीर का सदैव के लिए शरीर का त्याग होने से इसे कालरात्रि कहते हैं। इस उपलक्ष में तत्कालीन नरेश और श्रेष्ठीमंडल ने नया संवत् प्रारम्भ किया और पुण्य-पाप के लेखे-जोखे की तरह हानि-लाभ का लेखा-जोखा रखा जाने लगा। दिगम्बर जैनाचार्य जिनसेन ने हरिवंश पुराण में ७८३ ई० में, सर्ग ६६, श्लोक १५, १६.....२० में, उत्तर पुराण (गुणभद्र) के १६वें सर्ग में, सोमदेव सूरि के यशस्तिलक चम्पू में, अब्दुल रहमान ने (११०० ई० में) संदेश रसिक में, अकबर ने नौवें रत्न अबुल फजल ने आइने अकबरी में (१५६०),



तथा लोकमान्य तिलक व रवीन्द्रनाथ टैगोर ने भी वीर निर्वाण के उपलक्ष में दीपावली मनाना स्वीकार किया है। मार्ग स्टीवेन्सन ने इन्साइक्लोपीडिया आफ रीलिजन एण्ड इथिक्स भाग ५, पृष्ठ ८७५ से ८७८ में दीपावली का प्रारम्भ वीर निर्वाण से बताया है।^{१४}

यों २५०० वर्षों की लम्बी अवधि में इस पर्व का सम्बन्ध कई महापुरुषों से हो गया है। मान्यता है कि दयानन्द सरस्वती का स्वर्गवास, स्वामी रामतीर्थ की समाधिमरण इसी दिन हुआ था। प्राप्त मान्यताओं में सबसे प्राचीन मान्यता भगवान महावीर के निर्वाण प्राप्त करने की है।

प्रभु महावीर पर गणधर गौतम की अनन्य श्रद्धा थी। महावीर उसे जानते थे, इसलिए उन्होंने अपने निर्वाण से पूर्व गौतम को देवशर्मा के यहाँ प्रतिबोध देने भेज दिया था। वहीं गौतम को प्रभु के निर्वाण के समाचार मिले जिससे वे द्रवित हो गये। वे स्वयं को हतभागी समझने लगे। भावनाओं पर बुद्धि ने विजय प्राप्त की और उसी रात्रि में गौतम ने भी केवलज्ञान प्राप्त किया।^{१५} कार्तिक अमावस्या की मध्य रात्रि में भगवान महावीर का परिनिर्वाण हुआ और अन्तिम रात्रि में गौतम गणधर ने केवल ज्ञान, केवल दर्शन प्राप्त किया इसी कारण कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा गौतम प्रतिपदा के नाम से विश्रुत है। इसी दिन अरुणोदय के प्रारम्भ से ही अभिनव वर्ष का आरम्भ होता है।^{१६} भगवान के निर्वाण का दुःखद वृत्तान्त सुनकर भगवान के ज्येष्ठ भ्राता महाराज नन्दनीवर्धन शोक विह्वल हो गये। उनके नेत्रों से आँसुओं की वेगवती धारा प्रवाहित होने लगी, बहिन सुदर्शना ने उनको अपने यहाँ बुलाया और सांत्वना दी। तभी से मीया दूज के रूप में यह पर्व स्मरण किया जाता है।^{१७}

रक्षाबन्धन

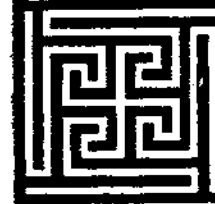
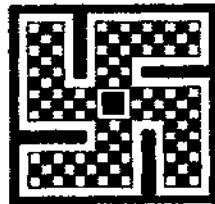
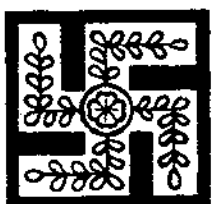
कुरु जांगल देश में हस्तिनापुर नामक नगर था। वहाँ के महापद्म राजा के दो पुत्र पद्मराज और विष्णु कुमार थे, छोटे पुत्र विष्णुकुमार ने पिता के साथ ही संयोग स्वीकार कर लिया।

उस समय उज्जयिनी में श्रीवर्मा राजा राज्य करते थे उनके बलि, नमुचि, वृहस्पति और प्रह्लाद चार मन्त्री थे। एक बार अकम्पनाचार्य जैन मुनि ७०० शिष्यों के साथ वहाँ आए। चारों मंत्री जैन मत के कट्टर आलोचक थे इसलिए आचार्य ने उनसे विवाद करने के लिए सभी मुनियों को मना कर दिया था, एक मुनि नगर में थे। उन्हें आचार्य की आज्ञा ज्ञात नहीं थी इसलिए मार्ग में आए चारों मन्त्रियों से श्रुत सागर मुनि ने शास्त्रार्थ किया। चारों को पराजित कर वे गुरु के पास गये। गुरु ने मावी अनर्थ को जान श्रुतसागर मुनि को उसी स्थान पर निशंक ध्यान लगाने का आदेश दिया। मुनि गये और ध्यान में लीन हो गये। चारों मंत्री रात्रि को वहाँ गये, उन्होंने तलवार से मुनि को मारना चाहा पर, वन रक्षक देव ने उनकी अपने स्थान पर यथास्थिति से कील दिया। अच्छी संख्या में लोगों के इकट्ठे होने पर वन रक्षक देव ने सारा वृत्तान्त सुनाया जिसे सुनकर राजा ने चारों को देश निकाला दिया। अपनी प्रतिभा का उपयोग करते हुए वे हस्तिनापुर पहुँचे और मन्त्री पद प्राप्त किया। एक बार मन्त्रियों ने राजा से किसी विशेष अवसर पर प्रसन्न कर इच्छानुसार वर लेने को राजी कर लिया। संयोग से ७०० मुनियों का यह संघ विचरते हुए हस्तिनापुर पहुँचा। मन्त्री बलि ने, अपने अपमान का बदला लेने का अच्छा अवसर जान राजा से ७ दिन के लिए राज्य ले लिया। उसने मुनियों के निवास-स्थान पर कांटेदार बाड़ बनाकर उनके विनाश के लिए नरमेध यज्ञ की रचना कर दी। इस प्रलयकारी घटना से लोग दुःखी हो गये, परन्तु वे राज्य शक्ति के आगे कुछ करने में असमर्थ थे।

उस समय मिथिलापुर नगर के वन में सागर चन्द्रमुनि को अवधिज्ञान से मुनियों पर आए इस मरणान्तिक उपसर्ग का ध्यान हुआ और वे हा ! हा ! महाकष्ट ! इस प्रकार बोल उठे। गुरुदेव ने स्थिति की गम्भीरता को समझा और उन्होंने अपने शिष्य पुष्पदन्त को आकाशगामी विद्या से धरणी भूषण पर्वत पर विष्णुकुमार मुनि के पास विपत्ति का वर्णन करने के लिए भेजा।

वैक्रिय ऋद्धिधारी मुनि विष्णुकुमार तुरन्त हस्तिनापुर पहुँचे और पद्मराज के महलों में गये, बातचीत की किन्तु पद्मराज कुछ भी कर पाने में असमर्थ थे क्योंकि वे वचनबद्ध बने हुए थे।

निदान उन्होंने ५२ अंगुल का शरीर धारण किया और नरमेध यज्ञ के स्थान पर बलि के पास गये, बलि ने उनका उचित सत्कार किया और दानादि से उनका सम्मान करना चाहा। विष्णुकुमार ने तीन पैर जमीन की मांग की,



मांग स्वीकार होने पर उन्होंने पहली डग सुमेरू और दूसरी मानुषोत्तर पर्वत पर रखी। तीसरी डग के लिए उन्होंने बलि के कहने से उसकी पीठ पर पैर रखा तो उसका शरीर थर-थर कांपने लगा, आखिर मुनियों के कहने से उसे मुक्त किया गया। उस दिन श्रवण नक्षत्र व श्रावण सुद १५ का दिन था, इसी दिन विष्णुकुमार मुनि द्वारा ७०० मुनियों की रक्षा की गई थी, इससे यह दिन पवित्र माना जाता है। इस दिन की स्मृति बनाए रखने के लिए परस्पर सबने प्रेम से बड़े मारी उत्सव के साथ हाथ में सूत का डोरा चिन्ह स्वरूप बांधा, तभी से यह श्रावण सुद १५ का दिन रक्षाबन्धन के नाम से जाना जाता है। मुनियों को उपसर्ग से मुक्त हुआ जानकर ही श्रावकों ने भी भोजन करने की इच्छा की और उन्होंने घर-घर खीर तथा नानाविध प्रकार की मिठाइयाँ बनाई, परम्परागत रूप से डोरा बाँधने और मिठाइयाँ बनाने की प्रथाएँ चली आ रही हैं।^{३५}

विशेष—प्रस्तुत कथा का साम्य कई पुस्तकों में देखने को मिला किन्तु जैन मान्यतानुसार यह पर्व कब से प्रारम्भ हुआ, इसका कोई प्रमाण मेरे देखने में नहीं आया, उचित प्रमाण के अभाव में समयोल्लेख नहीं किया है।

पंचकल्याणक

जैन संस्कृति के पर्वों में पंचकल्याणक का भी महत्वपूर्ण स्थान है। तीर्थंकरों की आत्मा देवलोक से च्यवकर माता के भर्म में प्रवेश करती है, जन्म लेती है, तीर्थंकर दीक्षा ग्रहण करते हैं, कैवल्य प्राप्त होता है तथा मोक्ष में पधारते हैं तब मान्यता है कि देवता हर्षोल्लास से अष्टान्हिका महोत्सव का आयोजन करते हैं, उन तिथियों के स्मृति स्वरूप आज भी पंचकल्याणक महोत्सव मनाये जाते हैं। विशेष कर प्रथम और अन्तिम तीर्थंकरों के ये महोत्सव मूर्तिपूजक समाज अत्यन्त हर्ष और उल्लास के साथ सम्पन्न करता है। इन तिथियों पर त्याग-तपस्या का भी अपूर्व क्रम चलता है।

पंचकल्याणक की तिथियों का वर्णन किसी एक ही ग्रन्थ में प्राप्त नहीं होता। कल्पसूत्र, त्रिषष्टिशलाका पुरुष चरित्र, महावीर चरित्र, आवश्यकनियुक्ति, महापुराण, आवश्यक चूर्णि और कल्प सुबोधिका टीका में कहीं-कहीं तीर्थंकरों के इन पंचकल्याणक की तिथियाँ प्राप्त होती हैं। शोध की दृष्टि से देखा जाए तो इन तिथियों पर कई पन्ने लिखे जा सकते हैं, इनका संक्षिप्त रूप अगले पृष्ठ पर है—

आयम्बिल ओली पर्व—

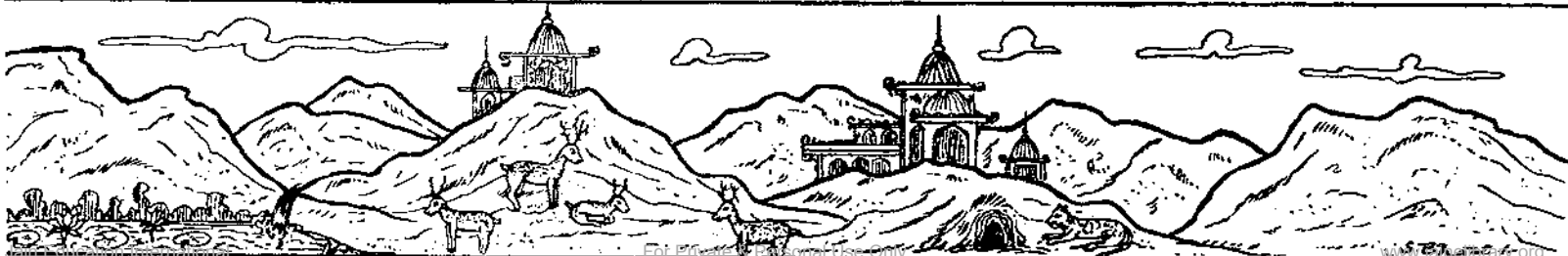
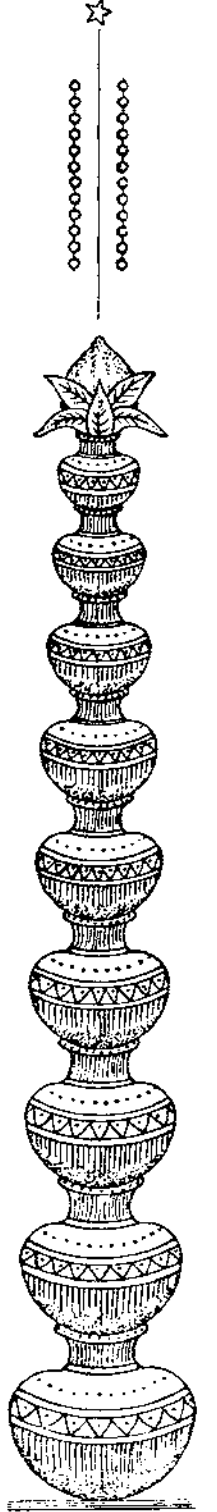
उज्जयिनी नगर में प्रजापाल राजा राज्य करते थे, उनके सौभाग्य सुन्दरी और रूप सुन्दरी दो रानियाँ थीं। जिनके क्रमशः सुर-सुन्दरी और मैना सुन्दरी नाम की पुत्रियाँ थीं।

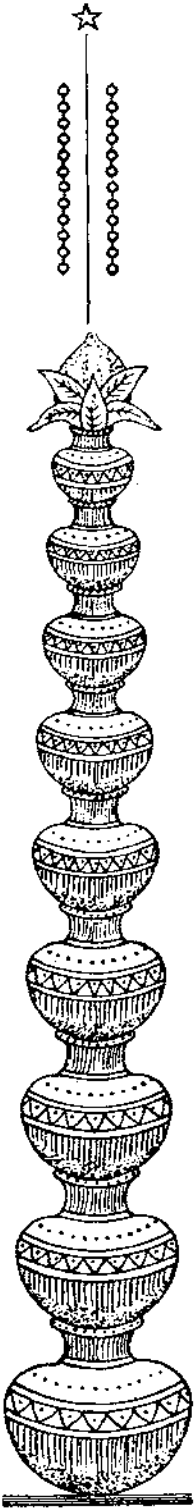
ज्ञानाम्यास की समाप्ति के बाद एक बार दोनों राजकुमारियाँ अपने कलाचार्यों के साथ राज्य समा में उपस्थित हुई राजा ने दोनों राजकुमारियों से प्रश्न पूछे। सुरसुन्दरी और मैनासुन्दरी ने उनके यथोचित उत्तर दिये। राजा ने प्रसन्न होकर उनसे वर माँगने का कहा, तब मैना सुन्दरी ने कर्म की प्रमुखता बतलाते हुए राजा की कृपा को गौण कर दिया। राजा मैनासुन्दरी पर अत्यन्त कुपित हुआ।

श्रीपाल की अल्पायु अवस्था में उसके पिता चम्पा नरेश सिंहर्ष की मृत्यु हो गई थी। प्राण वचाने के लिए रानी कमल प्रमा श्रीपाल को लेकर वन में रवाना हो गई, वहाँ प्राण रक्षा के निमित्त उनको सात सौ कोढ़ियों के एक दल में सम्मिलित होना पड़ा। संयोग से कोढ़ियों का यह दल उन्हीं दिनों उज्जयिनी में आया हुआ था। राजा ने कोढ़ियों के राजा श्रीपाल (उम्बर राजा) से मैना सुन्दरी का विवाह कर दिया।

विवाह के अनन्तर दोनों को एक जैन मुनि के दर्शन प्राप्त हुए, मैनासुन्दरी ने गुरुदेव से कुष्ठरोग से मुक्ति पाने का उपाय पूछा, गुरुदेव ने कहा—मयणा ! हम साधु हैं, निर्ग्रन्थ मार्ग की उपासना हमारा कर्तव्य है, यंत्र, मंत्र और तन्त्र बताना हमारे लिए निषिद्ध है, हमारी मान्यता है कि अर्हत, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय, साधु, दर्शन, ज्ञान चारित्र और तप इन नौ पदों से बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है। सिद्ध पद को पाने वालों की सिद्धि में इन नव पदों की आराधना अवश्य होती है। शान्त दान्त जितेन्द्रिय और निरारंभ होकर जो इनको आराधना करता है वह सौख्य प्राप्त करता है।”

सुबला सप्तमी से नव दिन तक आयम्बिल तप करके नवपद का ध्यान करे, इसी तरह चैत्र में भी

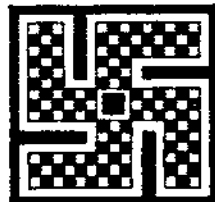
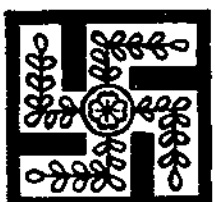




तीर्थकर संख्या	गर्भ कल्याणक	जन्म कल्याणक	वीक्षा कल्याणक	कंचल्य कल्याणक	निर्वाण कल्याणक
१	आ० कृ० २	चै० कृ० ६	चै० कृ० ६	फा० कृ० ११	मा० कृ० १४
२	ज्ये० कृ० ३०	पी० शु० १०	पी० शु० ६	पी० शु० ११	चै० शु० ५
३	फा० शु० ८	मार्ग शु० १५	मार्ग शु० १५	का० कृ० ४	चै० शु० ६
४	वै० शु० ६	पी० शु० १२	पी० शु० १२	पी० शु० १४	चै० शु० ६
५	श्रा० शु० २	वै० कृ० १०	वै० शु० ६	चै० शु० ११	चै० शु० ११
६	माघ कृ० ६	का० कृ० १३	मग० कृ० १०	चै० शु० १५	फा० कृ० ४
७	भाद्र शु० ६	ज्ये० शु० १२	ज्ये० शु० १२	फा० कृ० ६	फा० कृ० ७
८	चै० कृ० ५	पी० कृ० ११	पी० कृ० ११	फा० कृ० ७	फा० कृ० ८
९	फा० कृ० ६	मग० शु० ६	मग० शु० १	का० शु० २	भाद्र० शु० ८
१०	चै० कृ० ८	पी० कृ० १२	पी० कृ० १२	पी० कृ० १४	आश्वि० शु० ८
११	ज्ये० कृ० ६	फा० कृ० ११	फा० शु० ११	माघ० कृ० ३०	श्रा० शु० १५
१२	आषा० कृ० ६	फा० कृ० १४	फा० कृ० १४	माघ० शु० २	भाद्र० शु० १४
१३	ज्ये० कृ० १०	पी० शु० ४	पी० शु० ४	माघ० शु० ६	आषा० कृ० ८
१४	कार्तिक कृ० १	ज्ये० कृ० १२	ज्ये० कृ० १२	चै० कृ० ३०	चै० कृ० ३०
१५	वै० शु० १३	पी० शु० १३	पी० शु० १३	पी० शु० १५	ज्ये० शु० ४
१६	भाद्र० कृ० ७	ज्ये० कृ० १४	ज्ये० कृ० १४	पी० शु० ११	ज्ये० कृ० १४
१७	श्रा० कृ० १०	वै० शु० १	वै० शु० १	चै० शु० ३	वै० शु० १
१८	फा० शु० २	मग० शु० १४	मग० शु० १४	का० शु० १२	चै० कृ० ३०
१९	चै० शु० १	मग० शु० ११	मग० शु० ११	मग० शु० ११	फा० शु० ५
२०	श्रा० कृ० २	वै० कृ० १०	वै० कृ० १०	वै० कृ० ६	फा० कृ० १२
२१	आसो० कृ० २	आषा० कृ० १०	आषा० कृ० १०	मग० शु० ११	वै० कृ० १४
२२	का० शु० ६	श्रा० कृ० ६	श्रा० कृ० ६	आसो० कृ० १	आषा० शु० ७
२३	वै० कृ० ३	पी० कृ० १०	पी० कृ० १०	चै० कृ० ४	श्रा० शु० ७
२४	आषा० शु० ६	चैत्र शु० १३	चै० शु० १३	वै० शु० ७	का० कृ० ३०

यह सारणी 'जैन व्रत विधान संग्रह' लेखक पं० बारेलाल जैन, टीकमगढ़, पुस्तक से उद्धृत की गई है।

नोट—इस सारणी से कुछ प्रचलित मान्यताओं में अन्तर है। —प्र० सं०



नौ दिन तक आयम्बिल करे। इस प्रकार नौ ओली होने पर इक्यासी आयम्बिल होते हैं और यह तप पूरा होता है इस तप की आराधना से दुष्ट कुष्ठ ज्वर क्षय भगंदरदि रोग नष्ट होते हैं, उपासक सब प्रकार से सुखी होता है।

श्रीपाल ने अवसरानुसार प्रथम ओली की जिसके परिणामस्वरूप उसका कुष्ठ रोग समाप्त हो गया तथा उसने सातसौ कोटियों का यह रोग समाप्त करने में भी योग दिया, श्रीपाल के अब तक के मंद भाग्य भी खुलने लगे और वह असीम ऋद्धि-सिद्धि का स्वामी बना। यह पर्व सिद्धचक्र के नाम से भी जाना जाता है। नवपद पर्व भी आयम्बिल ओली पर्व का ही नाम है।^{१२६}

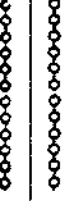
ज्ञानपंचमी—कार्तिक शुक्ला पंचमी, ज्येष्ठ शुक्ला पंचमी और श्रावण शुक्ला पंचमी को अलग-अलग मान्यतानुसार इस पर्व की आराधना की जाती है। मान्यता है कि इन दिनों ज्ञान की आराधना से विशिष्ट फल प्राप्त होते हैं। ज्ञानावरणीय कर्म क्षय होकर ज्ञान योग्य सामग्री सुलभ बनती है, इस पर्व से सम्बन्धित कथा का सार यही है कि ज्ञान, ज्ञानी और ज्ञान के उपकरणों की आशातना, अवज्ञा, विराधना और तिरस्कार से जीव को दारुण दुःखदायी यातनाएँ प्राप्त होती हैं तथा ज्ञान की आराधना करने से जीव सम्यक् सुख प्राप्त करता है। ज्ञान की आराधना के लिए किसी दिन विशेष को नियत करने की मान्यता आज का वातावरण स्वीकार नहीं करता है क्योंकि प्रत्येक समय ज्ञाना राधना की जा सकती है तथा जानाराधना भी की जानी चाहिए।

अन्य पर्व—जैन संस्कृति के कुछ प्रमुख पर्वों का विवेचन प्रस्तुत निबन्ध में किया गया है। पर्वों से सम्बन्धित साहित्य को देखने पर मृजे अन्य कई और पर्वों से सम्बन्धित सामग्री भी प्राप्त हुई प्रत्येक पर्व की आराधना के महत्त्व को प्रदर्शित करने के लिए उसके साथ कथाएँ भी जुड़ी हुई हैं, उन कथाओं का उद्भव कब हुआ इसके बारे में समय निर्धारण ज्ञात नहीं किया जा सका, अतः उनके नामोल्लेख कर देना ही पर्याप्त समझता है, इन पर्वों के साथ फल प्राप्ति के लिए व्रत आराधना की जाती है तथा ये पूरे वर्ष चलते रहने वाले सामान्य पर्व हैं अतः इन्हें नित्य पर्व की संज्ञा देना उचित लगता है। मूर्तिपूजक समाज के साहित्य में इन पर्वों के बारे में उल्लेख मिलता है। अधिकांश पर्व तीर्थकरों के कल्याणकों की तिथियों पर ही आते हैं—कुछ पर्वों के नाम निम्नांकित हैं—अष्टान्हिका, रत्नत्रय, लाब्धिविधान, आदित्यवार, कोकिलापंचमी, पुष्पाञ्जली, मौन एकादशी, गरुडपंचमी, मोक्ष सप्तमी, श्रावण द्वादशी, मेघमाला, त्रिलोक तीज, आकाश पंचमी, चन्दन षष्ठी, सुगन्ध दशमी, अनन्त चतुर्दशी, रोहिणी, नागपंचमी, मेरुत्रयोदशी आदि।

टीकमगढ़ से प्रकाशित 'जैन व्रत विधान संग्रह' पुस्तक में ही १६४ पर्वों का उल्लेख है। विस्तार मय से उनका नामोल्लेख भी संभव नहीं है। प्रत्येक पंचांग में सम्बन्धित तिथि के सामने पर्वों का उल्लेख रहता है, धारणा है कि ये सामान्य पर्व केवल लौकिक लाभों को प्राप्त करने के लिए ही आचार्यों द्वारा नियत किये गये हों, इनसे जुड़ी कथाएँ केवल लौकिक लाभ का प्रदर्शन ही करती हैं जबकि अक्षय तृतीय, संबत्सरी, दीपमालिका आदि विष्णु रूप से लोकोत्तर पर्व हैं उनके बारे में जैन ही नहीं जैनेतर साहित्य में भी सामग्री प्राप्त होती है।

प्रस्तुत निबन्ध में पर्वों की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवेचन ही प्रस्तुत किया गया है, इन पर्वों की आराधना एक अलग से पूर्ण विषय है, जिस पर विद्वानों को लिखने की आवश्यकता है। पर्वों की सम्यक् आराधना करने पर लोकोत्तर-पथ प्रशस्त बनता है तथा आत्मा सिद्ध स्थान के निकट पहुँचती है।

- १ आवश्यक चूर्णि, पृ० १६२-१६३, आव. नियुक्ति, त्रिषष्टि श० पु० च०
- २ आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, पृ० १४५।१, त्रि० श० पु० च० आवश्यक चूर्णि १३३
- ३ आवश्यक हारिभद्रीया वृत्ति, आव० मल० वृत्ति, त्रि० श० पु० च०
- ४ आवश्यक मल० वृ०, पृ० २१८।१
- ५ महापुराण जिन० ७८।२०।४५२
- ६ समवायांग सूत्र १५६।१५, १६, १७, आव० नि० माथा ३४४, ३४५, त्रिषष्टि० आदि
- ७ पर्युषण पर्व : आर्य जैन, सुखमुनि
- ८ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, वक्ष २, काल अधिकार, पृ० ११४-११७



- ६ समणे भगवं महावीरे वासाणं सवीसई राएमासे वइक्कते सत्तरिएहि राइदिहेहि सेसेहि वासावासे पज्जोसहेई
(क) समवायांग सूत्र १७०वां समवाय
(ख) कल्पसूत्र समाचारी

१० तत्थणं बहुवे भवणवई...संवच्छरीयंसु विहरति, —जीवाभिगम (संवत्सरी पर्व : आत्मारामजी म. सा.)

११ निशीथ चूर्णि उ. १०, भाम ३, पृ० १३?

—करणिया चउत्थी अज्ज कालगायरिएण पवत्तिया ।

१२ पज्जोसवणाए न पज्जोसवेइ, —निशीथ सूत्र उद्दे० १०

१३ पज्जोसवणाए गोलोमाइपि बालाई उवाइणावेई, —निशीथ ४४

१४ पज्जोसवणाए इत्तिरियपि आहारं आहारेई, —निशीथ उद्दे १०-४५

१५ जेणं निग्गंथो निग्गन्थी वा परं पज्जोवणासी अहिगरणं वमई सेणं निज्जूहियब्बेसिया ।

१६ निशीथ उ० १०-३१८०-८१ कल्पसूत्र २३वां समाचारी

१७ समणे भगवं महावीरे अन्तिमराइयंसि पणपन्नं अज्जयणाई कल्लाण फल विवागाई, पणपन्ने अज्जयणाई पात्र फल विवागाई वागरित्ता सिद्धे जाव सव्व दुवसप्पहीणे । —समवाय ५५, सूत्र ४, कल्पसूत्र, सूत्र १४६

१८ कल्पसूत्र, सूत्र १४६

१९ सिरि महावीर चरियं, पृ० ३३७

२० कल्पसूत्र १२३वां सूत्र

२१ कल्पसूत्र, सूत्र १२७ (गते से भावुज्जोये वव्युज्जोयं करिस्सामो)

२२ कल्पसूत्र, सूत्र १२४

२३ अमर भारती, महावीर परिनिर्वाण विशेषांक, पृ० ४५

२४ दिगम्बरदास जैन, वीर परिनिर्वाण, अमर भारती, आगरा ।

२५ जं रयणि च णं समणे भगवं महावीरे काल गए जाव सव्व दुवस पहिणे तं रयणि च णं जेट्ठस्स गोयमस्स इंदभूटस्स...केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने । —कल्पसूत्र, १२७ सूत्र

२६ कल्प सुबोधिका टीका

२७ वही

२८ जैन व्रतकथा संग्रह, मोहनलाल जैन शास्त्री, जबलपुर ।

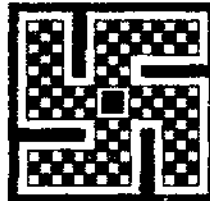
२९ सभी पुस्तकों में कथा साम्य पाया गया

१ श्रीपाल चरित्र, महधर केशरी मिश्रीमल जी म० सा०

२ श्रीपाल चरित्र, काशीनाथ जैन, बम्बोरा

३ श्रीपाल चरित्र, जैन दिवाकर चौधमल जी म० सा०

४ पर्वकथा संचय, मुनि देवेन्द्रविजय ।



पंचम खण्ड

सुदूर अतीत-यौगलिक युग परम्परा से लेकर तीर्थंकर, गणधर, प्रभावक आचार्यों की घट्ट परम्परा जैन इतिहास के अवक्रमण-उत्क्रमण का इतिहास तथा वर्तमान युग तक का प्रामाणिक एवं संक्षिप्त इतिवृत्त । श्री सौभाग्य मुनि जी की प्रवाह-मयी लेखनी द्वारा अंकित ।



□ श्री सीभाग्य मुनि 'कुमुद'
[प्रधान संपादक—पू.प्र.अ. अभिनन्दन ग्रंथ]

जैन परम्परा : एक ऐतिहासिक यात्रा

□

यौगलिक युग

जड़ और चैतन्य के संयोग से प्रवर्तमान यह विराट विश्व अनन्तकाल से विविध परिवर्तनों के बीच गुजरता चला आ रहा है।

अनन्त युगों पूर्व भी ऐसा क्षण कभी नहीं आया कि यह नहीं था और अनन्त युगों के बाद भी ऐसा क्षण कभी नहीं आयेगा कि यह नहीं होगा।

सदा सर्वदा प्रवर्तमान इस विश्व के काल का पर्यवेक्षण हम केवल उतना ही कर पाते हैं, जहाँ तक कि हमें कुछ जानने को मिल सके।

कालचक्र समय को नापने-जानने का एक साधन है। समय की गतिविधि में उत्थान-पतन चलते रहते हैं। प्रकृति अपने आप में बनती-बिगड़ती रहती है, समय उसका साथी है। जहाँ तक बनने-बिगड़ने का प्रश्न है, यह भी मात्र परिवर्तन है, कोई बनाने वाला या बिगड़ने वाला, एक नियामक नहीं है। विश्व में अनन्त अणु-परमाणु हैं, अनन्त जीवात्माएँ हैं। संयोग-वियोग की इनकी अपनी अलग-अलग कहानियाँ हैं। परिवर्तन के ये ही मूल हैं। अलग-अलग कोई एक सत्ता जिम्मेदार नहीं है।

एक कालचक्र के दो विभाग हैं। एक उत्सर्पिणी दूसरा अवसर्पिणी के नाम से विख्यात है। इनमें प्रत्येक भाग के छह विभाग होते हैं।

१. सुषमा-सुषम—चार कोड़ाकोड़ी सागर
२. सुषम—तीन कोड़ाकोड़ी सागर
३. सुषम-दुःषम—दो कोड़ाकोड़ी सागर
४. दुषम-सुषम—४२ हजार वर्ष कम एक कोड़ाकोड़ी सागर
५. दुषम—२१ हजार वर्ष
६. दुषमा-दुषम—२१ हजार वर्ष

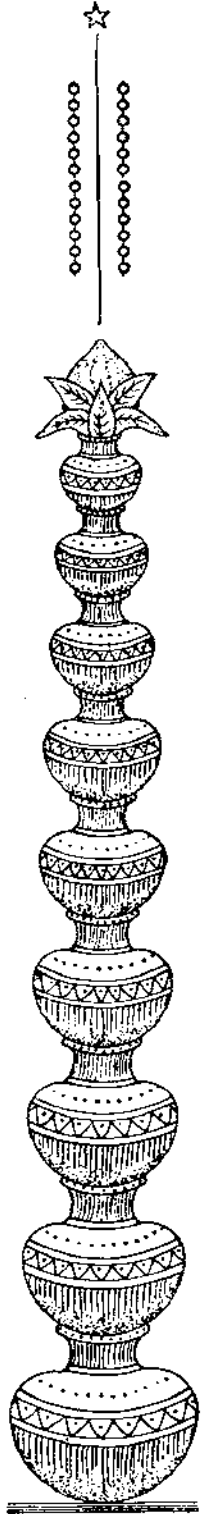
जब कालचक्र का उत्सर्पिणी काल चलता है तो दुषमा-दुषम यह पहला आरक होता है और सुषमा-सुषम

अन्तिम।

सृष्टिक्रम की दृष्टि से जैनधर्म अनादि होते हुए भी अवसर्पिणी एवं उत्सर्पिणी काल की दृष्टि से उसका प्रारम्भ भी माना गया है।

वर्तमान अवसर्पिणीकाल के सुदूर अतीत से लेकर आज तक की परम्परा का इतिवृत्त अपने आप में बहुत ही उलझा हुआ, अस्पष्ट और उतार-चढ़ाव से पूर्ण है।

विभिन्न विद्वानों द्वारा लिखे जाने पर तथ्यों की पुनरावृत्ति संभव है, अतः हमारे विद्वान लेखक श्री सीभाग्य मुनिजी 'कुमुद' ने, जो ग्रन्थ के प्रधान संपादक भी हैं, साथ ही इतिहास और परम्परा के अधिकारी विद्वान भी हैं। अनेक ऐतिहासिक खोजें व प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर कठिन परिश्रम के साथ यौगलिक युग से वर्तमान तक की ऐतिहासिक यात्रा का संक्षिप्त किन्तु सारग्राही वर्णन प्रस्तुत किया है।



इस काल में प्रकृति में बराबर उत्कर्ष चलता रहता है। प्रकृति की कई अद्भुत शक्तियाँ उभर आती हैं। चेतनाएँ भी क्रमशः सुख-सुविधाओं को प्राप्त करती रहती हैं।

उत्सर्पिणी के बाद अवसर्पिणी का प्रारम्भ हो जाता है। प्रकृति ह्लासोग्मुल हो जाती है। उत्सर्पिणी से प्राप्त विशेषताएँ सुख-सुविधाएँ एक-एक कर विलुप्त होती रहती हैं और प्रकृति रसहीन शुष्क और कठोर हो जाती है।

ऐसी स्थिति में जनजीवन भी अनेकों कष्टों से परिपूर्ण होता चला जाता है।

तीसरे आरक के मध्य के बाद जब कल्पवृक्षों का अभाव होने लगता है, जनजीवन त्रस्त होता है, तब कुलकर समाज को कुछ व्यवस्था देते हैं।

छोटे-छोटे कुलों में समाज को व्यवस्थित करने के कारण उन्हें 'कुलकर' कहते हैं।

भगवान ऋषभदेव के पूर्व सात कुलकर हुए। उनमें 'नाभि' अन्तिम कुलकर हैं।

उस युग में समस्त सुख-सुविधाओं के केन्द्र केवल कल्पवृक्ष होते थे, जो दस प्रकार के थे।

जीवन के सभी आवश्यक साधनों के लिये वे लोग प्रायः उन्हीं पर निर्भर करते थे। किन्तु अवसर्पिणी में एक समय बाद उनका अभाव एक निश्चित सत्य है। और जब वे नहीं होते हैं तो जनजीवन एक गम्भीर खतरे में पड़ जाता है। ऐसा द्यौगलिक युग के निवर्तन तथा मानवीय युग के प्रवर्तन के सन्धि काल में सर्वदा होता ही है।

तीर्थकर युग (तीर्थकर युग के कुछ विशिष्ट व्यक्तित्व)

१. भगवान ऋषभ

आप और हम अभी कालगणना के अनुसार अवसर्पिणी काल की चपेट में हैं। जो कुछ भी सत्यं शिवं सुन्दरम् है, वह घटता चला जा रहा है। प्रकृति का यह ह्लासोग्मुख परिवर्तन है। यह आज से प्रारम्भ नहीं हुआ है, भगवान ऋषभदेव के करोड़ों वर्ष पहले से यह चला आ रहा है। स्वयं ऋषभदेव का जन्म भी इस अवसर्पिणी काल के दो विभाग व्यतीत होकर तृतीय विभाग के उत्तरार्द्ध के आसपास हुआ।

कल्पवृक्ष उस समय विच्छेदप्राय हो रहे थे। जनजीवन लगभग कष्ट में घुल रहा था। जीवन को बनाये रखने का उन्हें कोई उचित साधन नहीं सूझ रहा था। ऐसी स्थिति में ऋषभदेव जैसी दिव्य आत्मा का अभ्युदय उस युग के लिये बहुत बड़े महत्त्व की बात थी। क्योंकि उस समय लोक-जीवन को ऐसे बुद्धिमान व्यक्ति की आवश्यकता थी जो उनकी कठिनाइयों को हल करने में मदद दे सके। संयोग से उन्हें वह व्यक्तित्व भगवान ऋषभदेव के रूप में मिला।

नाभि कुलकर की पत्नी मरुदेवी ने जब एक बच्चे को जन्म दिया तब जनता यह देखकर दंग रह गई कि देवों ने फूल बरसाए और उत्सव किया।

भगवान ऋषभदेव के इस प्रभावशाली जन्मोत्सव से ही जनगण इतना प्रभावित हुआ कि वह यह प्रतीक्षा करने लगा कि कब यह बालक वयस्क होकर हमारा नेतृत्व करे।

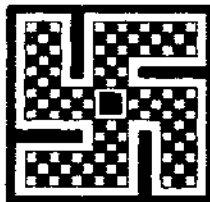
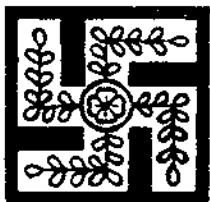
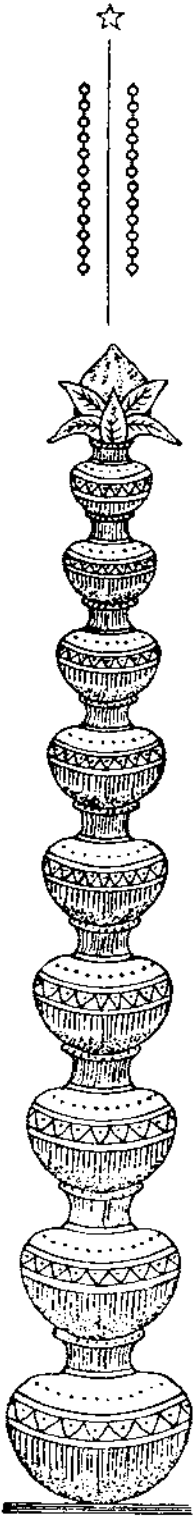
तीर्थकरों की आत्माएँ अवधिज्ञान जैसी कई विशिष्ट योग्यताओं के साथ ही जन्म लिया करती हैं। अतः उन्हें सुयोग्य बनाने के लिये माता-पिता और गुरुजनों को वस्तुतः कोई श्रम नहीं करना पड़ता।

बीस लाख पूर्व (काल की एक शास्त्रीय गणना) कौमार्य काल व्यतीत होने पर ऋषभदेव के विवाह दो सुन्दर कन्याओं से सम्पन्न हुए। एक का नाम सुनंदा तथा दूसरी का नाम सुमंगला था। सुमंगला ने भरत और ब्राह्मी—दोनों को एक साथ और क्रमशः ६८ कुमार, यों सौ संतानों को जन्म दिया। ये सभी भ्राता दो-दो की जोड़ी से जन्मे।

सुनंदा के दो संतानों हुई—एक बाहुबली तथा दूसरी का नाम सुन्दरी था।

विवाह के साथ ही उन्होंने आर्यावर्त का शासन-संचालन करना प्रारम्भ कर दिया। उनकी विशिष्ट योग्यता से जनता और स्वयं नाभि भी यही चाहते थे कि यह जनजीवन का नेतृत्व कर इसे कष्टों से मुक्त करे।

कुल ६३ लाख पूर्व तक अयोध्या के सिंहासन पर समारूढ़ रहकर जनजीवन को व्यवस्थित करने का कार्य ही नहीं किया, अपितु भगवान ऋषभदेव ने सभी आवश्यक ७२ और ६४ कलाओं का ठीक-ठीक प्रतिपादन कर हजारों व्यक्तियों को उनमें पारंगत किया। ब्राह्मी नामक एक लिपि तथा प्राकृत नामक एक भाषा देकर जनजीवन की अभिव्यक्ति को सहज और सरल बना दिया।



वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक तथा राजनैतिक, जो भी व्यवस्थाएँ आज विश्व में प्रचलित हैं, उनमें जितना-जितना श्रेष्ठ अंश है, वह भगवान ऋषभदेव का ही प्रसाद है। मानव-समाज उनसे कमी भी उत्कृष्ट नहीं हो सकता।

भगवान ऋषभ का कुल ८४ लाख पूर्व का आयुष्य था। जीवन का बहुत बड़ा भाग उन्होंने गृही जीवन में बिताया, क्यों ?

आध्यात्मिक दृष्टि से संयम का उदयकाल ही नहीं था, किन्तु व्यावहारिक दृष्ट्या उतने बड़े विशाल परिवर्तन के लिये उनके अस्तित्व की वहाँ अनिवार्यता भी कुछ कम नहीं थी।

भगवान ऋषभदेव ने सुयोग्य पुत्र भरत को सिंहासनारूढ़ कर संयम स्वीकार किया। आत्मोत्कर्ष के लिये उस युग में यह भी एक नया प्रयोग था जो केवल अपने लिये ही नहीं लोकजीवन के लिये भी बड़ा आवश्यक था।

जैसे अत्रोत्पादन, लेखन आदि कलाओं को उस युग के लोगों ने बड़े आश्चर्य के साथ लिया, उसी तरह संयम भी उन लोगों के लिये एक नयी बात थी। जैसे अन्य कलाओं से उन लोगों को भौतिक लाभ पहुँचा, उसी तरह इसे भी भौतिक कला समझ कई व्यक्ति भगवान के साथ उनकी तरह बाह्य रूप में विरक्त हो धूमने लगे। किन्तु परीषहों की भीषणता तथा अभावों में जीने की स्थिति का वे सामना नहीं कर सके। फलतः एक-एक कर सभी ने प्रभु का साथ छोड़ दिया। ऋषभ अपनी साधना में अकेले रह गये। उन्हें किसी दूसरे की अपेक्षा भी नहीं थी।

लोग मुनि को दान देना ही नहीं जानते थे। जहाँ कहीं भगवान ऋषभ पहुँचते, उनका हाथी-घोड़ों, हीरों-पत्तों और सुन्दर कन्याओं से स्वागत किया जाता। किन्तु कोई भोजन की बात तो सोचता ही नहीं था और यदि कोई भोजन लाता भी तो विधि नहीं जानने से वह भोजन भगवान ऋषभदेव के लिये अग्राह्य हो जाता।

पूरे एक वर्ष भगवान को आहार नहीं मिल पाया।

उस समय हस्तिनापुर के राजा सोम (बाहुबली के पुत्र) के पुत्र श्रियांस को स्वप्न आया कि उसने सूखते कल्पवृक्ष को अमृत सींचकर हरा किया। वह अपने इस अद्भुत स्वप्न पर विचार कर रहा था, तभी उसे जाति-स्मरण नामक विशेष ज्ञान प्रकट हो गया। उसने भगवान ऋषभदेव के उत्कृष्ट तप और पारणा की अनुपलब्धि को देखा। उन दिनों भगवान ऋषभदेव हस्तिनापुर पधारे हुए थे। ज्यों ही श्रियांस को अनुकूल अवसर मिला। उसने इक्षुरस से भगवान के वर्षीय तप का पारण कराया। वह वैशाख शुक्ला तृतीया का दिन था। वह दिन सदा के लिये महत्त्वपूर्ण हो गया।

भगवान ऋषभदेव की संयम साधना के एक हजार वर्ष व्यतीत होने पर पुरिमतालनगर के उद्यान में फाल्गुन कृष्णा एकादशी को उन्हें केवलज्ञान की समुपलब्धि हुई।

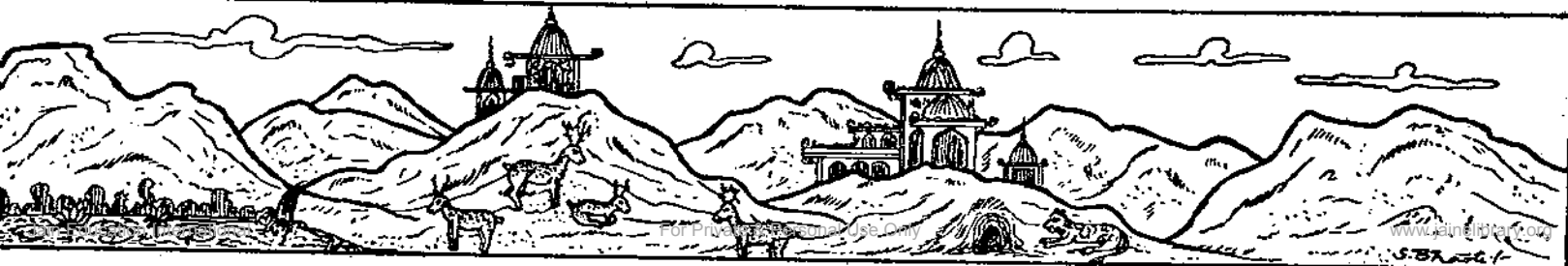
जन-हिताय भव्य चार तीर्थों की स्थापना कर उन्होंने अवसर्पिणी काल में कल्याण मार्ग प्रकट कर दिया।

माता मरुदेवी ने भगवान के परम वीतराग भाव को जब तक नहीं जाना-समझा तब तक वह केवल यों समझती रही कि मेरा ऋषभ कोई विद्या सिद्ध करने गया है। किन्तु जब उसने उनके परम वीतराग भाव को पूर्ण रूप से समझ लिया तो वह स्वयं इतने उच्च भावों में रमण करने लगी कि उसका बाह्य भाव नितांत समाप्त हो गया। एक बार वह भगवान को बंदन करने जा रही थी, वहीं हाथी पर बैठे-बैठे ही शुद्धात्म-दशा की ऐसी लहर आई कि उसे केवल्य प्राप्ति हो गई। आयुष्य पूर्ण हो जाने से तत्काल मुक्ति-स्थल को भी प्राप्त कर लिया।

भरत को चक्र रत्न प्राप्त हो गया था। वह भरत-खंड का प्रथम चक्रवर्ती था। उसने षड्खंड सिद्ध किये। किन्तु लघुभ्राता बाहुबली उसे अपना शासक मानने को तैयार नहीं था। अन्त में दोनों के बीच युद्ध ठना। किन्तु उन्होंने उस युद्ध को दोनों अपने तक सीमित रखा। राज्य के लिये लाखों का खून बहाना उन्होंने उचित नहीं समझा।

भरत और बाहुबली के मध्य दृष्टि-युद्ध, मुष्टि-युद्ध, वाक्-युद्ध आदि युद्ध हुए। किन्तु विजय बाहुबली की रही। अन्त में प्रहार-युद्ध का प्रयोग हुआ। बाहुबली भरत के प्रहार को सह गये। लेकिन जब भरत पर प्रहार की बारी आई, बाहुबली ने हाथ उठाया भी, किन्तु अग्रज के प्रति समादर की महान सम्यता की प्रेरणा से बाहुबली भरत के सिर पर प्रहार नहीं कर पाये। देवों, मानवों ने बाहुबली की इस महान सम्यता को बड़ा महत्त्व दिया। बाहुबली अपनी इस नैतिक विवशता से इतने संप्रेरित हुए कि वे महान होकर ही रहे। मुनि का पद चक्रवर्ती के सहस्र पदों से भी गुह्यतर है। बाहुबली उसी पर समारूढ़ हो गये। भरत बाहुबली की महान सम्यता और उत्कृष्ट त्याग के समक्ष नतमस्तक हो गया।

बाहुबली महान से महत्तर हो गये। किन्तु महत्तम बनने में अभी कुछ कमी थी।



बाहुबली अनुपम त्याग के शिखर पर समारूढ़ थे। फिर भी भरत की अधीनता से इन्कार करने वाला, युद्ध में अग्रज को हराने वाला, अन्त में साधुत्व के बल पर ही सही, किंतु भरत को झुका देने वाला, मानस के किसी एकांत अँधेरे कोने में पलने वाला, छोटा-सा अहं उसने उन्हें भगवान ऋषभ के पास नहीं पहुँचने दिया। कारण आगे भगवान के पास छोटे ६८ भाई पूर्व दीक्षित थे। बाहुबली जाते तो उन्हें नमस्कार करना अनिवार्य होता। किंतु जो बड़े भाई के आगे भी नहीं झुका तो छोटे के आगे क्या झुकेगा? बाहुबली किसी वन में ही अटक गये। सोचा—यहीं से मुक्ति की मंजिल पा लेंगे, किंतु तप करते वर्ष चला गया, पर कुछ मिला नहीं।

अन्त में ब्राह्मी और सुन्दरी, जो गृही जीवन की बहनें थीं, किंतु अभी साध्वियाँ थीं, भगवान की संप्रेरणा से, वन में बाहुबली को संबोध देने पहुँचीं। उन्होंने कहा—“भाई हाथी से नीचे उतरो!” बाहुबली यह सुनकर अपना हाथी ढूँढने लगे तो उन्हें तुरन्त समझ में आ गया कि अहं हाथी है, जिस पर मैं चढ़ा हुआ हूँ।

ठीक समय पर दिया गया ठीक सन्देश था। बाहुबली सजग हो गये। संयम के साथ अहं का मेल नहीं। बाहुबली खूब समझ चुके थे। अब उन्हें भगवान के पास पहुँचने में कोई आपत्ति नहीं थी। चलने को एक पाँव ही उठाया था कि उन्हें वहीं केवलज्ञान प्रकट हो गया। बाहुबली महात्मा से परमात्मा बन गये। अब झुकने-झुकाने की सारी औपचारिकता समाप्त।

चक्रवर्ती सम्राट् भरत षड्विंशतिप होकर भी अन्तर से बड़े अनासक्त थे।

एक बार भगवान ने भरत के मोक्ष जाने की बात कही तो एक व्यक्ति को संशय हुआ। भरत ने उसके हाथ में तैल का पूरा भरा कटोरा देकर उसे पूरे नगर में घूमने को कहा। साथ ही कहा कि यदि कटोरे से तैल की एक भी बूँद छलक गई तो तुम्हारा सिर उड़ा दिया जाएगा।

बिचारा वह व्यक्ति ज्यों-त्यों नगर भ्रमण कर आया। पर बराबर उसे डर था कि कहीं बूँद न गिर जाए।

भरत ने उसे पुछा—तुमने नगर में क्या देखा? उसने उत्तर दिया—मैंने तो तैल का कटोरा देखा, मेरा ध्यान इसी में था। भरत ने कहा—इसी तरह मेरा ध्यान तो लगातार वीतराग भाव की तरफ रहता है। संसार की तरफ मैं बहुत कम देखता हूँ। मौत का डर तो मुझे भी है। उस व्यक्ति का संशय हट गया।

भरत को एक बार आदर्श भवन (काँच के महल) में अद्भुत अनुभूति हुई। वहाँ वह वस्त्रालंकार (राज्य योग्य) धारण करने गये थे। वस्त्राभूषण धारण करते समय उनकी अँगुली से अँगूठी अचानक गिर पड़ी। अँगूठी के गिरने से अँगुली ही नहीं, पूरा हाथ उन्हें श्री-हीन लगा। यहीं भरत के अन्तर में एक आध्यात्मिक नवोन्मेष हुआ। उन्होंने सोचा—हम पर (पुद्गल, विकारभाव) में कितने उलझे हुए हैं। वह होता है तो ठीक, नहीं तो हम श्री-शोभा से विहीन हो जाया करते हैं। लेकिन जो पर है, वह तो हटने का ही है। हमें अपनी आत्मकांति से दमकना चाहिए। पर का पूर्ण त्याग ही आत्मकान्ति का सर्जक है। ऐसी परम वीतराग भाव की स्थिति में भरत को वहीं कैवल्य प्राप्त हो गई।

भगवान ऋषभदेव ने अपने जीवन-काल में चौरासी लाख मुनि, तीन लाख साध्वियाँ, तीन लाख पाँच हजार श्रावक तथा पाँच लाख चौवन हजार श्राविकाओं को तैयार कर परम वीतराग मार्ग की साधना में अग्रसर किया।

भगवान ऋषभदेव ने अष्टापद पर्वत पर निर्वाण प्राप्त किया। वह दिन माघ कृष्ण त्रयोदशी का था। उनके साथ दस हजार साधु और भी थे। ऋषभ निर्वाण के समय तीसरा आरक समाप्त होने को ही था, केवल तीन वर्ष और साढ़े आठ मास शेष थे।

पचास लाख करोड़ सागर के बाद भगवान अजितनाथ दूसरे तीर्थकर हुए।

तीस लाख करोड़ सागर के बाद भगवान संभवनाथ तीसरे तीर्थकर हुए।

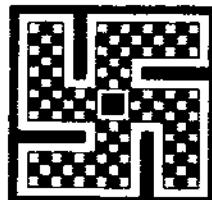
दस लाख करोड़ सागर के बाद भगवान अभिनन्दन चौथे तीर्थकर हुए।

नव लाख करोड़ सागर के बाद भगवान सुमति नामक पाचवें तीर्थकर हुए।

नब्बे हजार करोड़ सागर के बाद श्री पद्मप्रभ छठे तीर्थकर हुए।

नव हजार करोड़ सागर के बाद सातवें तीर्थकर भगवान सुपाश्वर्य हुए।

नव करोड़ सागर के बाद आठवें तीर्थकर भगवान चन्द्रप्रभ हुए।



नब्बे करोड़ सागर के बाद भगवान सुविधिनाथ नवें तीर्थंकर हुए ।
नव करोड़ सागर के बाद दसवें तीर्थंकर भगवान शीतलनाथ का अभ्युदय हुआ ।
एक करोड़ सागर में ६६ लाख २६ हजार एक सौ सागर कम होंगे । इतने समय बाद ग्यारवें तीर्थंकर भगवान श्रेयांसनाथ हुए ।

इनसे ५४ सागर बाद भगवान वासु पूज्य बारहवें तीर्थंकर हुए ।
तीस सागर बाद श्री विमलनाथ नामक तेरहवें तीर्थंकर भगवान हुए ।
नव सागर बाद चौदहवें तीर्थंकर अनन्तनाथ का अभ्युदय हुआ ।
चार सागर बाद पन्द्रहवें तीर्थंकर धर्मनाथ हुए ।

१६. तीर्थंकर भगवान शान्तिनाथ

भगवान धर्मनाथ के बाद तीन सागर में तीन पल्योपम कम थे । इतने समय बाद भगवान शान्तिनाथ का अभ्युदय हुआ ।

परम पवित्र परमात्मा भगवान शान्तिनाथ का भरतक्षेत्र में किसी भी तीर्थंकर के नाम की अपेक्षा सर्वाधिक नाम जप होता है ।

'शान्ति' यह प्राणिमात्र की हार्दिक आकांक्षा की अमिष्यक्ति का शब्द है । भगवान शान्तिनाथ के रूप में होकर यह शब्द और अधिक महत्त्व पा गया ।

भगवान शान्तिनाथ का स्मरण करते ही परम शान्ति के मौलिक आदर्श का संदर्शन हो जाया करता है । सचमुच 'शान्ति' इस नाम में अद्भुत प्रेरणा है । इस कारण केवल मनचाही स्थिति के व्यक्तिकरण की इसमें सशक्तता होना नहीं, अपितु 'शान्ति' नामक तीर्थंकर के रूप में जो महामानव हो गया है उसका उदात्त चरित्र और उसे पाने की साधना आदि का समवेत सम्यक् बोध इस नाम के साथ रहा हुआ है ।

पुण्डरीकिणी नगर का राजा मेघरथ बड़ा दयालु और हृदयशील था । एक दिन शरधराता एक कबूतर उसकी गोद में आ बैठा । उसके पीछे एक वधिक दौड़ता हुआ आया । वह उस कबूतर को पाने की चेष्टा करने लगा । मेघरथ ने कहा—कबूतर नहीं मिल सकता । बदले में तुम जो चाहो सो लो ! वधिक ने कहा—मुझे मांस चाहिए और वह भी ताजा जो केवल इस कबूतर से मिल सकता है । मेघरथ ने कहा—यदि तू ऐसा ही चाहता है तो लो मैं इसके बराबर अपना ताजा मांस ही दे देता हूँ । ऐसा कहकर तराजू मँगाकर वह कबूतर के बराबर अपना मांस काट-काटकर धरने लगा ।

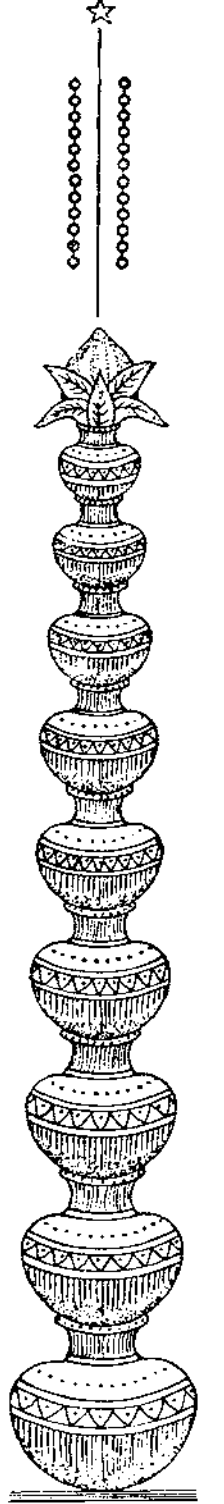
दृश्य बड़ा रोमांचक था । हजारों व्यक्ति राजा को रोकने के यत्न में थे । किन्तु राजा के सामने शरणागत कबूतर की रक्षा का प्रश्न था ।

शरीर के कई अंग काटकर धर दिये । किन्तु कबूतर तुला ही नहीं । अन्त में स्वयं मेघरथ उस तराजू में बैठ जाते हैं । वधिक, मेघरथ की इस महान दयालुता को देख अत्यन्त प्रभावित हो अपने वास्तविक रूप में उपस्थित होता है । वह रूप देव का था । उसने कहा—मैं तुम्हारी करुणा का चमत्कार देखना चाहता था । सचमुच तुम करुणावतार हो, तुम्हारी जय हो । ऐसा कहकर देव निज स्थान पर गया । परम करुणा से मेघरथ ने शान्ति का महामार्ग प्राप्त कर लिया ।

वही मेघरथ सर्वार्थ सिद्ध विमानवासी देव होकर ज्यवित हो हस्तिनापुर के महाराजा विश्वसेन की महाराणी अचला की कुक्षि से एक दिव्य पुत्र के रूप में जन्मे, जिनका नाम 'शान्ति' रखा गया ।

'शान्ति' नामकरण के पीछे भी यह रहस्य था कि हस्तिनापुर और आसपास में 'मृगी' नामक महामारी का बड़ा प्रकोप था । जब शान्तिनाथ गर्भ में आये तभी से महामारी का आतंक समाप्त होकर चारों ओर शान्ति व्याप्त हो गई । अतः उस पुत्र का नाम भी 'शान्ति' रखा गया ।

भगवान शान्तिनाथ का आयुष्य एक लाख वर्ष का था । उनमें से पच्चीस हजार वर्ष उन्होंने संघम में बिताये ।



शेष पचहत्तर हजार वर्ष गृहस्थ रहे। उसमें योग्यावस्था में विवाहित होकर राज्यशासन भी चलाया। ये पाँचवें चक्रवर्ती भी थे।

भगवान शान्तिनाथ के अर्धपत्योपम बाद भगवान कुन्धुनाथ सत्रहवें तीर्थकर हुए। एक हजार करोड़ वर्ष कम पावपत्य के बाद अठारहवें अरह तीर्थकर हुए। इनसे एक हजार करोड़ वर्ष बाद उन्नीसवें मल्लीनाथ तीर्थकर हुए। ये स्त्रीलिंग थे। इससे चौवन लाख वर्ष बाद भगवान मुनि सुव्रत बीसवें तीर्थकर हुए।

दशरथनन्दन मर्यादापुरुषोत्तम राम इसी युग की महान विभूति थे। श्री राम के आदर्श लोकोपकारी महान चरित्र का भारतीय जनजीवन पर आज भी जबरदस्त प्रभाव है। श्री राम आर्यसंस्कृति का जीवन्त तत्त्व हैं, जो कभी अलग नहीं हो सकता।

परम विदुषी महासती सीता की गौरवगाथा भारतीय नारी जीवन की पवित्र धाती है जिसे आर्याङ्गना कभी भी विस्मृत नहीं कर सकतीं।

भरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न भ्रातृत्व के अनूठे आदर्श हैं, जो भूले-भटके 'भाई' नाम के प्राणियों को सर्वदा सन्मार्ग बताते रहेंगे।

भगवान मुनिसुव्रत के छह लाख वर्ष बाद इक्कीसवें भगवान नमिनाथ का अभ्युदय हुआ।

२२. भगवान अरिष्टनेमी

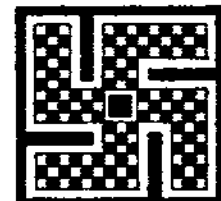
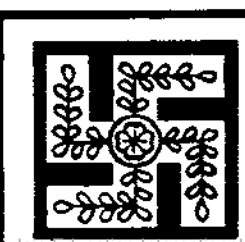
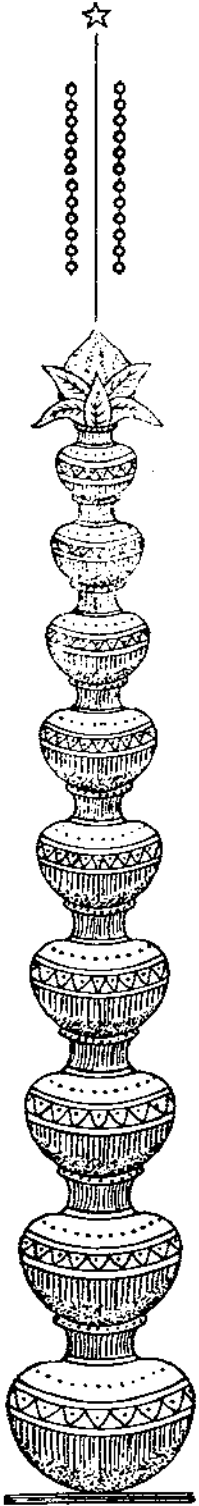
नमिनाथ भगवान को मुक्ति गये लगभग पाँच लाख वर्ष हुए। तीर्थ तो भगवान नमिनाथ का चल ही रहा था, किन्तु किसी दिव्य चेतना के अभाव में एक शैथिल्य-सा व्याप्त था। ऐसी स्थिति में 'सोरीपुर' के महाराजा समुद्रविजय के राजमहलों में महारानी शिवादेवी की कुक्षि से एक महान आत्मा ने जन्म लिया, जिसका नाम अरिष्टनेमी रखा गया। कहते हैं, माता शिवादेवी ने अरिष्ट रत्नों से बने चक्र की नेमी का स्वप्नदर्शन किया, अतः पुत्र का नाम अरिष्टनेमी रखा गया, जो सार्थक ही था।

अरिष्टनेमी जन्म से ही अर्वाधज्ञान, अनासक्ति, संसारोपेक्षा, आत्मोन्मुखी ध्यान आदि विशेषताओं से युक्त थे। श्रीकृष्ण नेमीनाथ के चचेरे भाई थे। श्रीकृष्ण अवसर्पिणीकाल के नवें वासुदेव थे। बल, पुरुषार्थ और पराक्रम का समुद्र उनकी रग-रग में ठाठें मारता था। उन्होंने अपने उत्कृष्ट बल-पौरुष से जरासन्ध और कंस जैसे आततायियों से आर्य प्रजा को मुक्त किया।

किसी विशेष कारण से उन्होंने सोरीपुर का परित्याग कर द्वारिका में आकर निवास किया था। द्वारिका को देवताओं ने श्रीकृष्ण के लिए ही स्थापित किया था। वहीं कृष्ण का राज्याभिषेक हुआ और तीन खण्ड पर द्वारिका से ही शासन होता था।

श्रीकृष्ण इस बात से खूब अवगत हो चुके थे कि अरिष्टनेमी अद्भुत शक्ति और शौर्य के पुंज हैं। किन्तु वैराग्य में रहते हैं। श्री अरिष्टनेमि का संसारातीत स्थिति में रमण करना श्रीकृष्ण के लिए चिन्ता का विषय था। वे अनुमान करते थे कि कभी ये मुनि बनकर चले जायेंगे। श्रीकृष्ण उन्हें सदा-सर्वदा अपने साथ रखना चाहते थे। जरासन्ध के युद्ध में वे अरिष्टनेमि के प्रबल पौरुष को पहचान चुके थे। उनका विश्वास था कि यह शक्तिपुंज यदि मेरा रक्षक और साथी बना रहे तो मेरी तरफ कोई आँख उठाकर देखने की हिम्मत नहीं करेगा। अरिष्टनेमि को संसार से बाँधकर रखें, पर रखें कैसे? यह एक समस्या थी। उनकी निरोह वृत्ति, एकान्त प्रेम, गांभीर्य को चुनौती देना आसान बात नहीं थी।

उन्होंने अपनी महाराणियों को स्थिति बताई। उन्होंने अरिष्टनेमि को भोगवाद में आकृष्ट करने का बीड़ा उठाया। एक दिन सामूहिक जलक्रीड़ा का आयोजन किया। नेमि को भी किसी तरह वहाँ तक ले गये। श्रीकृष्ण और उनकी अंगनाओं की जलकैल के मध्य नेमिनाथ को घेर लिया। किन्तु नेमिनाथ तो नितान्त अनासक्त थे। उन्होंने कोई रुचि नहीं ली। अङ्गनाओं ने कहा—“कुछ कन्याओं से विवाह कर ऐसे ही जलकेलियाँ रचाओ राजकुमार!” किन्तु राजकुमार नेमि तो ऐसे स्थिर बने रहे, मानों ये सारी बातें हवा को कही जा रही हों।



राजकुमार नेमि की अध्यात्म-दृष्टि को समाप्त करना आसान नहीं था। उनके प्रयत्न सफल नहीं हुए। अन्त में श्रीकृष्ण ने उनका विवाह रच देना ही निश्चित किया। मथुरा के राजा उग्रसेन की राजकुमारी राजीमती को योग्य समझ श्रीकृष्ण ने लगन निश्चित कर दिये। श्री नेमि के समक्ष श्रीकृष्ण आदि ने विवाह का प्रस्ताव रखा तो श्री नेमि ने अनमने भाव से उनकी बातें सुनीं। उत्तर में मौन रहे तो उन्होंने इसका अर्थ स्वीकृति लिया और ठीक समय पर वरदाना की पूर्ण तैयारी कर श्री नेमि को दूल्हा बना रथ पर बिठला दिया।

श्री नेमि के निर्विरोध रथ में बैठने की सभी यादव कुल ने बड़ी खुशी मनाई।

वे समझ रहे थे, अब श्री नेमि बँध जाएँगे। बरात श्री कृष्ण के द्वारा अपूर्व उल्लास से सजाई बनाई गई थी। अतः उसके वैभव का कहना ही क्या ?

मानव तो क्या, देवाङ्गनाएँ भी उस दृश्य को अपलक नेत्रों से देख रहे हैं। कहते हैं, इन्द्र ने पहले ही सोच लिया, यह विवाह होने का नहीं। अतः ब्राह्मण का रूप बनाकर वह श्रीकृष्ण के पास आया और कहने लगा—क्योंजी ! विवाह का यह मुहूर्त किसने दिया ? इसमें तो अमङ्गल योग है। श्रीकृष्ण ने सुनते ही ब्राह्मण को अपने पास से भगा दिया। जाते हुए ब्राह्मण ने कहा—“यह शादी हमिज नहीं होने की।” किन्तु उस उल्लास ठाठ में किसी ने उस तरफ ज्यादा ध्यान नहीं दिया।

बरात बहुत बड़े समारोह के साथ मथुरा पहुँची। स्वागत भी उसी स्तर का हुआ। राजकुमारी राजुल के चारों ओर उमंगें लहरा रही थीं। सभी तरफ उल्लास और उत्साह का वातावरण था। नगरनिवासी बरात पर पुष्पवृष्टि कर स्वागत कर रहे थे।

श्री नेमिनाथ का रथ मन्थर गति से राजप्रासाद के प्रमुख द्वार की तरफ बढ़ रहा था। तभी श्रीनेमिनाथ की दृष्टि एक बाड़े में बन्द पशुओं की तरफ गई, जो करुण-क्रन्दन करते चिल्ला रहे थे। नेमिनाथ ने सारथि से पूछा—ये पशु यहाँ क्यों बन्द हैं ? सारथि ने कहा—आपकी बरात में जो मांसाहारी हैं उन्हें इनका भोजन दिया जाएगा।

सुनते ही, नेमिनाथ सन्न रह गये। उनके विचारों में एक नई क्रान्ति आई। सारथि से वे बोले—“मेरा रथ उलटा ले चल !”

सारथि ने कहा—नाथ, क्यों ? श्रीनेमि ने कहा—बन्द व्यक्तियों के आमोद-प्रमोद के लिये इतने जीवों का संहार, हत्याकाण्ड, मैं इस पाप को प्रोत्साहन नहीं दे सकता ! न मुझे शादी करनी है, न इन्हें कटवाना है।

रथ उलटा चल पड़ा। चारों ओर सनसनी फैल गई। बराती और हजारों नर-नारी दौड़कर सामने आ खड़े हुए। स्वयं राजा उग्रसेन राजकुमार को रोकने खड़े थे।

भगवान नेमिनाथ ने कहा—आप सब की आत्मीयता का मैं आदर करता हूँ। किन्तु इस आर्यभूमि को इस मदिरापान और मांसाहार के कलंक ने कलुषित कर दिया है।

इसे हटाने के लिए हमें त्याग करना ही होगा। एक व्यक्ति की क्षणिक खुशी के लिये किसी जीव का संपूर्ण विनाश करना, यह घोर अज्ञान और क्रूरता है। मेरे विवाह के निमित्त इकट्ठे किए इन प्राणियों को मैं अभय देता हूँ, ऐसा कह नेमिनाथ बाड़े के निकट आये और उसके द्वार को खोल दिया।

उग्रसेन को धैर्य देते हुए नेमिनाथ ने कहा—आपकी बालिका कुमारिका है। उसका विवाह किसी अन्य से हो सकता है। मैं विवाह का अभिलाषी नहीं हूँ, मैं तो पहले से ही उपरत हूँ। यह कहकर श्री नेमिनाथ द्वारका चले आये और वर्षादान देकर उन्होंने संयम स्वीकार कर लिया।

राजकुमारी राजुल, जिसने भाव के स्तर पर श्रीनेमि को अपना पति स्वीकार कर लिया था, श्रीनेमिनाथ के इस तरह चले जाने से बड़ा झटका खा गई। पहले तो अत्यधिक शोक ने उसे विलाप के सरोवर में डुबो दिया, किन्तु ज्यों ही श्रीनेमिनाथ के अपूर्व त्याग का उसे स्मरण हो आया, उसने अपने में एक नयी स्फूर्ति अनुभव की। जो विकल विरहिणी बनकर तड़प रही थी, अब सिहिनी के समान बड़े शौर्य के साथ खड़ी हो गई।

पिता किसी अन्य सुयोग्य वर की तलाश में थे। किन्तु राजुल ने स्पष्ट घोषणा कर दी—“जो पति की राह, वही पत्नी की।”



मुझे भी संयम पथ पर चलना है। ज्यों ही भगवान नेमिनाथ ने तीर्थ स्थापना की, राजीमती प्रथम साध्वी बनकर सामने आई।

भारत की आर्याजनाओं के कितने उच्च आदर्श थे। सचमुच ऐसी सभारियों के महान उपक्रमों ने ही भारतीय संस्कृति का ताना-बाना बुना, जो हजारों वर्ष चलेगा।

एक बार महासती राजुल गिरिनार पर्वत पर विराजित तीर्थकर महाप्रभु के दर्शनार्थ जा रही थीं। मार्ग में वर्षा होने से एक गुफा में उन्हें ठहरना पड़ा। वहाँ रथनेमि नामक एक साधु ध्यानस्थ था। एकाकी राजुल को वहाँ देख वह उस पर मुग्ध हो गया, उससे भोग-प्रार्थना करने लगा।

महासती राजुल ने अपने अनूठे आत्मज्ञान तथा गम्भीर वैराग्य से इतना प्रभावित किया कि वह अपनी भावनात्मक च्युति पर पश्चात्ताप करने लगा। इतना ही नहीं, वह सदा के लिए अपनी साधना में स्थिर हो गया।

भगवान नेमिनाथ चौदह दिन छह मास छद्मस्थ रहे। संयम के बाद पंद्रहवें दिन उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गई। कुल एक हजार वर्ष के जीवन में केवल तीन-सौ वर्ष उनका कुमार जीवन चला। ७०० वर्ष संयमी रहे। भगवान नेमि अहिंसा, दया के संस्थापक त्याग के महान् आदर्श तथा भारतीय मुनि परंपरा की मुकुट-मणि हैं। कर्णप्रेरित हो राजुल का परित्याग कर उन्होंने आर्यावर्त को एक नई दिशा दी। हम जितने वहाँ से मटक रहे हैं, उतने ही क्लेशों को निमन्त्रण दे रहे हैं।

भगवान नेमिनाथ के धर्मशासन के कुछ दिव्य रत्न

गजसुकुमार

गजसुकुमार श्रीकृष्ण के नन्हें भाई थे। जीवन की देहलीज पर पाँव रखा भी नहीं था कि भगवान नेमिनाथ के दुर्लभ संपर्क से उनमें वैराग्य ज्योति दमकने लगी। दृढ़ वैराग्य था। आखिर आज्ञा मिली। संयम लिया और मिश्रु की प्रतिमा नामक तप की साधना के सन्दर्भ में श्मशान में ध्यान कर बैठे, तभी सोमल नामक ब्राह्मण ने गजसुकुमार मुनि को देखकर पहचान लिया। वह उन्हें देखते ही बड़ा क्रोधित हुआ। बात यह थी कि गजसुकुमार का सम्बन्ध इसकी कन्या सोमा से हो चुका था। सोमल इस बात से रुष्ट था कि इस दुष्ट ने संयम लेकर मेरी कन्या का तिरस्कार कर दिया। मैं इसे जीवित नहीं छोड़ूँगा। ऐसा क्रूर निश्चय कर उसने मुनि के सिर पर दहकते अंगारे डाल दिये। अंगारे अच्छी तरह टिकें, इसके लिये उसने सिर पर कुछ गीली मिट्टी से एक घेरा बना दिया।

अंगारे अच्छी तरह टिक गये। मुनि का सुकोमल सिर उन ज्वाज्वल्यमान अंगारों से सिगड़ी की तरह जल उठा। मुनि देहभाव का त्याग कर चुके थे, आत्मरमण में थे। अनन्त वेदना थी, किन्तु मुनि का ध्यान वेदना से परे था। आत्मलीनता की पराकृष्टा में मुनि को केवलज्ञान प्रकट हो गया और उसी समय मुनि मुक्ति को भी पा गये।

बड़ा अनोखा चरित्र रहा गजसुकुमार मुनि का, उठे, बड़े और पहुँच गये अपने स्थान को।

ढंढण मुनि

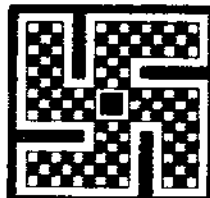
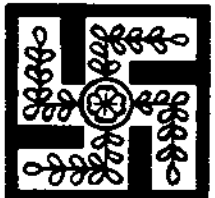
ढंढण मुनि श्रीकृष्ण की ढंढणा राणी के पुत्र थे। प्रभु के सदुपदेश से मुनि बने। पूर्वाजित अन्तराय के उदय से उनको आहार नहीं मिलता था, यदि उनके साथ कोई होता तो उस मुनि को भी आहार-प्राप्ति नहीं होती।

यह स्थिति देख ढंढण मुनि ने प्रतिज्ञा की। मुझे केवल मेरे प्रभाव (लब्धि) से मिला आहार ही ग्रहण करूँगा, अन्यथा त्याग। ऐसी प्रतिज्ञा से मुनि के तप होने लगे।

एक दिन श्रीकृष्ण ने मध्य बाजार में मुनि को वन्दन किया। एक व्यक्ति ने देखा, मुनि बड़े प्रभावशाली हैं, श्रीकृष्ण भी झुकते हैं, उसने साग्रह निवेदन कर लड़्डू बहराए। मुनि ने समझा—यह तो मेरे प्रभाव के ही, किन्तु स्थान पर भगवान ने बताया कि ये श्रीकृष्ण के वन्दन-प्रभाव से मिले, तो ढंढण मुनि उन्हें एकांत में परठने गये। वहीं भावों की श्रेष्ठता से उन्हें केवलज्ञान हुआ।

थावच्चा पुत्र

एक हजार पुरुषों सहित थावच्चा पुत्र ने भगवान नेमिनाथ के पास संयम ग्रहण किया। इन्होंने शुक आदि



एक हजार परिव्राजकों को प्रतिबोधित कर जिन-मार्ग में दीक्षित किया। शुक ने शैलक पंथक आदि पाँच-सौ को प्रतिबोध देकर जिन शासन का श्रमण धर्म प्रदान किया।

२३. भगवान पार्श्वनाथ

भगवान अरिष्टनेमि के मोक्ष जाने के बाद तिरासी हजार सात-सौ पचास वर्ष बाद भगवान पार्श्वनाथ नामक तेवीसवें तीर्थंकर से हमारा भारत क्षेत्र धन्य हुआ।

भारत का प्रसिद्ध नगर वाराणसी उनका जन्मस्थान है। तत्कालीन राजा अश्वसेन तथा महारानी वामा के वे सुपुत्र कहलाये। पौष कृष्ण दशमी उनका जन्म दिन था।

अनेकों विशेषताओं से भरपूर भगवान पार्श्व बचपन से ही बड़े निर्भीक तथा प्रभावशाली व्यक्तित्व के धनी थे।

एक बार वाराणसी के निकट एक तपस्वी चारों तरफ अग्नि जलाकर बीच में बैठ कर 'बाल तप' कर रहा था। उसका नाम कमठ था। उसकी कष्टसहिष्णुता से जनगण बड़ा प्रभावित था। एक दिन पार्श्वनाथ वहाँ पहुँचे। उन्होंने अपने ज्ञान से देखा—जलते काष्ठ में एक नाग भी जल रहा है। उन्होंने उस काष्ठ को तुरन्त बाहर खींचकर जलते-तड़पते नाग को परमात्मा का शरण दिया। कहते हैं, नाग मरकर 'धरणेन्द्र' नामक नागजाति का भवन-पति-देव हुआ।

हजारों उपस्थित व्यक्ति पार्श्वनाथ की तत्परता और कठुणा से बड़े प्रभावित हुए। पार्श्व ने कहा—“तप तो स्व-पर कल्याणक होता है। जिस तप में किसी प्राणी की हिंसा होती हो, वह तप कैसे हो सकता है? आग जीव-हिंसा का कारण है। तप के लिए किसी आग की आवश्यकता नहीं रहती।” पार्श्व ने आगे कहा—“कमठ! सच्चा तप इन्द्रियदमन तथा आत्मलीन रहना है। आग में तपने से किसी का कल्याण नहीं हो सकता।”

भगवान पार्श्व के इस उद्बोधन से उपस्थित जनता तो अत्यन्त प्रभावित हुई। किन्तु कमठ के हृदय में क्रोधाग्नि प्रज्वलित हो गई। वह मन ही मन पार्श्वनाथ का कट्टर दुश्मन बन गया।

जब भगवान पार्श्वनाथ संयम लेकर आत्मसाधना में प्रवृत्त हुए तब तक कमठ मृत्यु पाकर 'मेघमाली' नाम का असुर बन गया था। उसने हाथी, सिंह, बिच्छू के रूप बना-बनाकर भगवान को कई कष्ट दिये।

अन्त में उसने भयंकर पानी बरसा कर भगवान को डुबो देना चाहा तो धरणेन्द्र ने आकर भगवान के पाँवों के नीचे कमलासन तथा सिर पर फण कर दिया। कमलासन तैरता रहा और फन-छाया के कारण वृष्टि-प्रहार भी नहीं हो सका।

उसने मेघमाली को उसकी अधमता और भगवान की महानता का परिचय दिया। धरणेन्द्र ने कहा—भगवान तो इसी भव में मुक्त हो जाएँगे, किन्तु तू इन पर द्वेष-बुद्धि रखकर अपने लिये नरक का निर्माण क्यों कर रहा है? धरणेन्द्र के सद्बोध से मेघमाली की बुद्धि स्वस्थ हुई।

भगवान पार्श्वनाथ का कुल सौ वर्ष का आयुष्य था। उसमें सत्तर वर्ष संयमी जीवन रहा।

सम्मेत शिखर पर्वत पर धरिनिर्वाण को प्राप्त हुए। तैंतीस मुनि और भी थे, जिन्होंने भगवान पार्श्व के साथ मोक्ष प्राप्त किया।

अर्धकैकय देश के राजा प्रदेशी को परम नास्तिक से परम धार्मिक बनाने वाले केशी श्रमण मुनि पार्श्वनाथ के ही संत-रत्न थे।

श्रावस्ती में भगवान गौतम स्वामी के साथ परम आध्यात्मिक धर्मचर्चा करने वाले केशीकुमार श्रमण मुनि भी पार्श्वनाथ के प्रमुख श्रमण रत्न थे। इन्होंने चातुर्याम के स्थान पर पंच महाव्रत रूप भगवान महावीर की शासन-पद्धति को स्वीकार कर लिया था।



☆☆



२४. भगवान महावीर

भगवान पार्श्वनाथ के २५० वर्ष पश्चात् अवसर्पिणी काल के अन्तिम तीर्थंकर भगवान महावीर स्वामी का अभ्युदय हुआ। यह समय ईसा पूर्व छठी शताब्दी में होता है।

देशकाल-परिस्थितियाँ

भारत ही नहीं लगभग सम्पूर्ण विश्व में उस समय धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से एक अंधेरा सा व्याप्त था।

विश्व का सर्वश्रेष्ठ व्यक्तित्व, जो मानव था, वह नैतिक दृष्टि से अपने महत्त्व को लगभग खो चुका था। हिंसा और अधिनायकवाद का जबर्दस्त बोलबाला था। कमजोर वर्ग शक्तिशालियों के चंगुल में था।

ब्राह्मण वर्ग, जो धर्म और नैतिकता का प्रतिनिधित्व करता था, अपने दायित्व को लगभग भूल चुका था। धर्म-अधर्म का पर्यायमात्र था।

यज्ञों में होने वाली हिंसा धर्म के सर्वोच्च सिंहासन पर प्रतिष्ठित थी। सूद्र और स्त्री समाज को शास्त्रों के अध्ययन की रोक थी। जात्यभिमान चरम सीमा पर था।

ऐसा उस समय भारत में ही नहीं हो रहा था, विश्व के अन्य देशों, भूखंडों में भी उनके परिवेशानुसार कुछ इसी तरह की निकृष्टताएँ बन रही थीं, चल रही थीं।

लाओत्से (चीन), पाइथागोरस, सुकरात (यूनान), जरथुस्त (ईरान) आदि विश्व के अन्य क्रान्तिकारी महापुरुषों के अभ्युदय का भी लगभग वही समय था। उनके वहाँ की परिस्थितियाँ भी कुछ ऐसी ही तमसपूर्ण थीं।

परिवर्तन प्रकृति का ध्रुव धर्म है। दिन के बाद रात तो रात के बाद दिन यह क्रम है। पतन के बाद उत्थान तो ध्वंस के बाद निर्माण अनायास ही होता है।

महावीर के अभ्युदय के समय आर्यावर्त के लोकजीवन का पतनपूर्ण अध्याय चल रहा था और वह लगभग चरम स्थिति पर था।

जन्म : एक प्रकाश-पुंज का

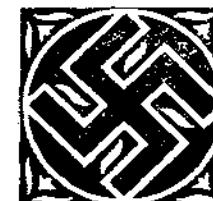
भारतीय तत्त्व-चिन्तन में 'आत्मा' अविनाशी तत्त्व है। भगवान महावीर, जिन्होंने पतनोन्मुख भारतीय जीवन को एक चिर सत्य प्रदान कर उसे ऊर्ध्वगामी होने को प्रेरित किया, वे महावीर केवल महावीर-भव की साधना का ही परिणाम नहीं थे, महावीर वाले जीवन से पूर्व अनेकों भव उन्होंने साधना में बिताए। महावीर, देवानन्दा की कुक्षि से अवतरित हुए, उससे पूर्व वे 'प्राणत' नामक दसवें स्वर्ग में देव थे।

वहाँ से आषाढ शुक्ला षष्ठी को च्यवित होकर ब्राह्मण कुण्ड ग्राम के विख्यात विद्वान द्विजश्रेष्ठ श्री ऋषभदेव की धर्मपत्नी श्री देवानन्दा के गर्भ में जन्मे। उस रात्रि में देवानन्दा ने प्रसिद्ध चौदह स्वप्न देखे।

जिस रात्रि को भगवान महावीर का देवानन्दा के गर्भ में जन्म हुआ, देवराज इन्द्र ने इस महान घटना को अपने अवधिज्ञान द्वारा जान लिया और चरम तीर्थंकर भगवान महावीर के अभ्युदय का स्वागत करते हुए अपने सिंहासन से उतरकर उसने प्रभु को नमस्कार किया।

देवराज इन्द्र ने भगवान महावीर को ब्राह्मण कुलोत्पन्न देखकर बड़ा आश्चर्य अनुभव किया। उसका ऐसा विश्वास था कि तीर्थंकर वीरोचित कुलों में ही जन्म लिया करते हैं। किन्तु ब्रह्मकुल तो वीरोचित नहीं, ब्रह्मकर्मोचित कुल माना जाता है। महावीर का ब्रह्मकुल में आना इन्द्र के लिए आश्चर्यजनक नहीं, अपितु चिन्तनीय भी था। इन्द्र ने हरिर्णगमेशी देव का आह्वान किया और देवानन्दा के गर्भ को परिवर्तित करने का आदेश दिया।

भगवान महावीर श्री देवानन्दा के गर्भ में ८२ दिन-रात रहे। ८३वीं रात्रि में देव ने इन्द्र की आज्ञा के अनुसार महावीर को श्री देवानन्दा के गर्भ से लेकर क्षत्रिय कुण्ड ग्राम के वीर क्षत्रिय श्रेष्ठ सिद्धार्थ की पत्नी त्रिशला की



कुक्षि में स्थापित किया और त्रिशला का गर्भ देवानन्दा की कुक्षि में अवस्थित कर दिया। यह कार्य दैविक शक्ति से इतना शीघ्र और सूक्ष्मता से हुआ कि देवानन्दा या त्रिशला किसी को भी इस परिवर्तन की जानकारी नहीं हो सकी।

गर्भापहरण एक आश्चर्य है, न कि असंभव। आधुनिक वैज्ञानिकों ने गर्भ-परिवर्तन के कई सफल ऑपरेशन किये हैं। अतः देव द्वारा गर्भ-परिवर्तन को असत्य कहना अनुचित है।

श्री देवानन्दा को अपने गर्भापहार का ज्ञान तब हुआ, जब उसे उसी रात्रि में ऐसा स्वप्न आया कि उसके चौदह स्वप्न मंहु से निकलकर कहीं विलीन हो गये। इस अशुभ स्वप्न का उसे बड़ा खेद हुआ।

उसी रात्रि में त्रिशला ने चौदह स्वप्न देखे और उसी दिन से उसकी खुशियाँ वढ़ने लगीं।

महावीर जब गर्भ में थे, उन्हें अवधि नामक दिव्य ज्ञान भी था। उन्होंने सोचा—संभवतः मेरे हिलने-डुलने से माता को कष्ट होता होगा। उन्होंने अपने को स्थिर कर दिया। किन्तु इसका परिणाम विपरीत रहा। गर्भ की क्रिया स्थगित होने से माता त्रिशला ने समझा—मेरा गर्भ तष्ट हो गया, तभी वह चुप है। बस, इस कल्पना से ही उसे असीम परिताप होने लगा।

महावीर ने माँ की तड़पन देखी तो वे द्रवित हो गये। उन्होंने हिलना-डुलना तो शुरू किया ही, साथ ही निश्चय किया कि माता-पिता की उपस्थिति में मेरा दीक्षित होना इनके लिए परिताप का कारण होगा। अतः इनके देहावसान के बाद ही मैं संयमी बर्नूंगा।

गर्भ की सक्रियता को पाकर त्रिशला का मन-मथूर नाच उठा। गर्भ-काल की परिपूर्णता होने पर चैत्र शुक्ला त्रयोदशी की अर्द्धरात्रि में भगवान महावीर का शुभ जन्म हुआ।

जिस समय शिशु महावीर का जन्म हुआ, एक क्षण के लिए त्रिभुवन में प्रकाश की एककिरण फैल गई। एक क्षण के लिए नारकों का भी कष्ट-उत्पीडन रक गया।

नवजात प्रभु के सुन्दर-सुकुमार मुख-मंडल पर ज्योतिर्मयी आभा लहरा रही थी, जिसे देखकर माँ का मन-कमल खिल-खिल-सा गया।

जन्माभिषेक

परम्परानुसार देवराज इन्द्र, अन्य देवतागण और अप्सराएँ आईं, उन्होंने भगवान का जन्मोत्सव मनाया। क्षत्रिय कुण्ड के सभी नर-नारी भी उसमें सम्मिलित थे।

इन्द्र ने अपने पाँच रूप बनाकर प्रभु को अपने हाथों में लिया। माँ त्रिशला के पास उस समय देवकृत प्रतिरूप मात्र था। इन्द्र देवों सहित भगवान को सुमेरु पर ले गया और उनका जन्माभिषेक किया।

इन्द्र ने सोचा—भगवान का कोमल तन कहीं जल-धारा से लेदित न हो जाए। अतः जल-धारा हल्की फुहार-ही हो। इन्द्र के प्रस्तुत विचारों को भगवान ने जाना तो उन्होंने उसको अशक्त करने के लिए वाम अंगुष्ठ को सुमेरु पर दबाया, जिससे सारा सुमेरु काँप उठा।

इन्द्र ने पहले तो यह किसी दुष्टदेव का उपद्रव समझा, किन्तु ज्ञान द्वारा देखने पर उसे अपनी भूल समझ में आ गई।

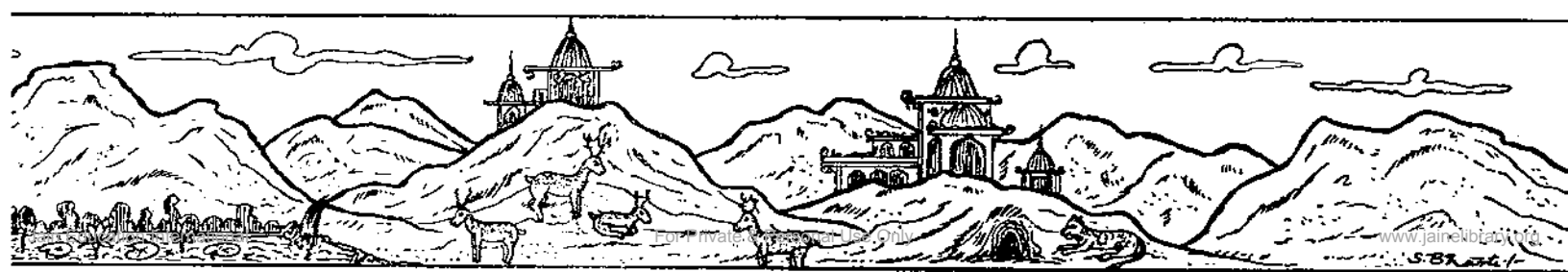
उसने भगवान को साधारण शिशुओं की तरह समझने की जो भूल की थी, उसकी मन ही मन प्रभु से क्षमा-याचना की।

नामकरण

जब से शिशु का जन्म हुआ, सिद्धार्थ के वैभव, सत्ता, सुयश और स्वास्थ्य में श्रीवृद्धि होने लगी, अतः शिशु का नाम 'वर्द्धमान' रखा गया।

बाल-क्रीड़ाएँ

स्वभाव से सौम्य तथा गंभीर होते हुए भी महावीर समवयस्क बच्चों के मनोविनोद के लिए क्रीड़ाएँ कर लिया करते थे।



एक बार महावीर ने एक वृक्ष से लिपटे सर्प को निर्भयतापूर्वक पकड़ कर एक तरफ छोड़ दिया। एक देव महावीर के बल-वीर्य को परखने बच्चे का रूप बनाकर बालमंडली में घुस गया और उनके साथ खेलने लगा। बच्चे एक-दूसरे के कंधे पर बैठकर उस युग का प्रसिद्ध खेल 'संकुली' खेल रहे थे। उस छद्मदेव ने महावीर को सात ताड़ जितना ऊँचा बना लिया। सारे बच्चे डर के मारे चिल्लाने लगे। किन्तु महावीर निर्भय थे। उन्होंने देव की पीठ पर एक मुष्टि-प्रहार किया। देव का विकृत रूप विलीन हो गया। वह महावीर के चरणों में नतमस्तक हो क्षमा-याचना करता हुआ स्वस्थान सिधाय।

सुविज्ञ शिशु

महावीर कुछ योग्य अवस्था में आये तो सिद्धार्थ ने एक विद्वान को उन्हें विद्याध्ययन कराने को नियुक्त किया। कहते हैं—इन्द्र ने देखा, ये लोग कितने अनजान हैं। जो त्रयज्ञानधारी भगवान त्रिभुवन को संबोधन देने में समर्थ हैं, उन्हें ही साधारण बालक की तरह पढ़ाने का यत्न कर रहे हैं।

देवराज इन्द्र ब्राह्मण बनकर उस समय वहाँ उपस्थित हुआ और महावीर से अद्भुत प्रश्न किये जिनके समाधान महावीर ने स्पष्ट रूप से दिये।

कलाचार्य यह देख-सुनकर दंग रह गया। उसने नमस्कार करते हुए कहा—ऐसे सुविज्ञ शिशु को मैं क्या ज्ञान दूँ! मैं तो इनके समक्ष अल्पज्ञ हूँ!

शिशु साक्षात् सरस्वती-पुत्र है। असीम ज्ञान-राशि स्वरूप है। इतना ही नहीं, विश्व में इसकी तुलना का ज्ञानी मिल पाना ही कठिन है।

यह सुनकर सिद्धार्थ को महावीर की लोकोत्तरता का सम्यक् बोध हुआ।

विवाह भी

निरन्तर उपराम वृत्ति में रमण करने वाले महावीर को भी माता-पिता के आग्रह से लोक-व्यवहार का प्रचलन तथा भोगावली कर्मोदय ने विवाह के बन्धन में बाँधा। उनकी पत्नी का नाम यशोदा था। वह समरवीर सामन्त की पुत्री थी। यशोदा ने एक कन्या-रत्न को भी जन्म दिया। उसका नाम प्रियदर्शना था, जिसका विवाह जमाली नामक क्षत्रिय के साथ किया गया।

संयम के पथ पर

जब भगवान महावीर २८ वर्ष के थे, उनके माता-पिता का स्वर्गवास हो गया।

आर्यावर्त के लोक-जीवन में धर्म के नाम पर जो अंधविश्वास और हिंसा फैले हुए थे, उन्हें देखकर तथा आत्मा की अनन्त गहराइयों में पहुँचकर जीवन की वास्तविक सिद्धि पाने को महावीर संयमयुक्त एकांत चाहते थे।

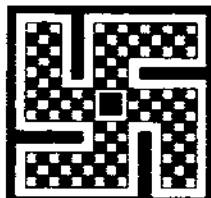
वे स्वयं अपने जीवन को आध्यात्मिक ऊँचाइयों तक पहुँचाकर लोक-जीवन को पापों से मुक्त करना चाहते थे। महावीर ने अपने परिजनों के समक्ष गृहत्याग कर संयमी होने का प्रस्ताव रखा, जिसे परिजनों ने हृदय के साथ ठुकरा दिया। महावीर चाहते थे कि परिवार के साथ अब तक मेरा जीवन अनुस्यूत रहा है। अतः इनकी अनुमति लेकर ही आगे कदम बढ़ाना चाहिए।

वे उनको दुःखी नहीं करना चाहते थे। महावीर के बड़े भाई थे नन्दिवर्द्धन। उन्होंने दो वर्ष और रुकने का आग्रह किया, जिसे प्रभु ने स्वीकार किया और निवृत्ति प्रधान जीवन जीने लगे।

इस बीच प्रभु ने ३८८०००००० स्वर्ण मुद्राओं का दान दिया।

दो वर्ष का समय पूर्ण हुआ। उस समय भगवान की उम्र ३० वर्ष की थी। बड़ी हृदय के साथ उन्होंने संयम मार्ग पर कदम बढ़ाया।

सर्प जिस तरह कँचुली का परित्याग कर सभी तरह से मुक्त हो जाता है उसी तरह महावीर भी सांसारिक बंधनों से सर्वथा मुक्त हो गये।



अश्रुपूरित हजारों आँखें भगवान को अपलक नेत्रों से निहार रही थीं। प्रभु नितांत निर्मोह भाव में रमण करते हुए वन की ओर चले गये।

उपसर्ग और भगवान का असीम धैर्य

भगवान कुमारग्राम के बाहर ध्यानस्थ थे। वहाँ ग्वालों के बैल कहीं इधर-उधर चले गये। ग्वालों ने भी भगवान को ही चोर समझकर पीटना चाहा। किन्तु देवराज इन्द्र ने उपस्थित होकर ग्वालों को रोक दिया। देवराज इन्द्र ने भगवान से आग्रह किया कि हम आपके कष्टों का निवारण करते रहें, इसके लिए अनुमति दें! इस पर प्रभु ने कहा—जिन, स्वयं ही अपने कर्मों का क्षय कर सकते हैं, सब सहकर अपनी साधना सिद्ध करते हैं, वे किसी की सहायता नहीं लेते।

कुछ विशेष प्रतिज्ञाएँ

भगवान महावीर अपने साधना के क्षेत्र में प्रखर वीर की तरह उतरे उन्होंने कहीं भी दीनता का आश्रय नहीं लिया।

“मोराक सन्निवेश” में एक आश्रम में ठहरे थे। कुलपति ने बड़े प्रेम से महावीर की निवासाथ एक कुटिया दी थी। महावीर तो अपने ध्यान में मग्न थे, वे अपने देह की सुधि भी कम ही लेते तो कुटिया की तरफ उनका ध्यान होने का तो प्रश्न ही नहीं था। कुटिया के घासफूस को गोएँ चरने लगीं तो तापस कुलपति ने महावीर को कहा—आपको अपनी कुटिया की तो संभाल करनी चाहिए। कुलपति के कहने का आशय महावीर समझ चुके थे। उन्होंने वहाँ से विहार कर दिया और प्रतिज्ञाएँ कीं—

- (१) किसी को नहीं सुहाए, ऐसे स्थान पर नहीं रहूँगा।
- (२) सदा ध्यान करूँगा।
- (३) मौन रहूँगा।
- (४) हाथ में आहार लूँगा।
- (५) गृहस्थों का विनय नहीं करूँगा।

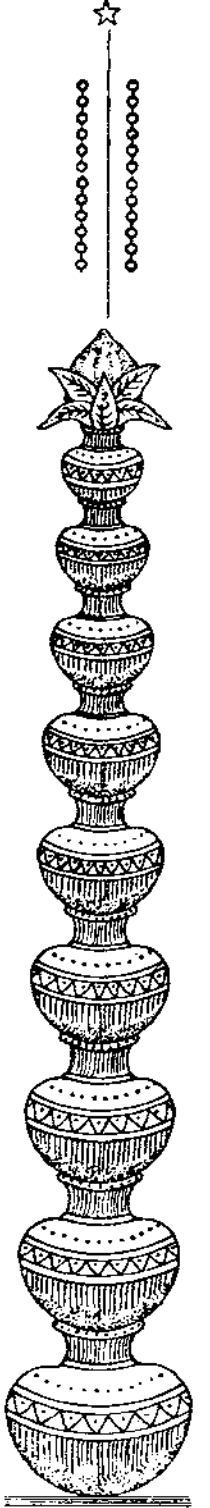
यक्ष का उपद्रव और स्वप्न

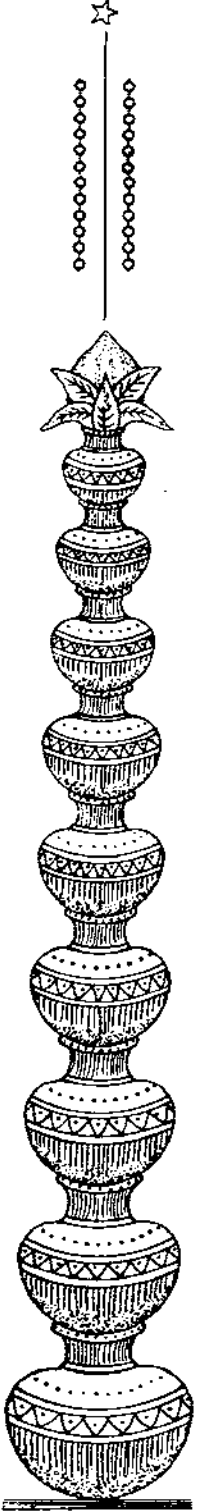
भगवान अस्थिग्राम के बाहर शूलपाणी यक्षायतन में ठहरे थे। पुजारी इन्द्र शर्मा ने उपद्रव की आशंका व्यक्त की किन्तु प्रभु निर्मय ध्यानस्थ हो गये।

रात्रि के प्रथम प्रहर में ही यक्ष ने महावीर को कष्ट देना प्रारम्भ कर दिया। उसने हाथी बनकर महावीर को शूल चुभोए, पिशाच बनकर नखों से महावीर के शरीर को नोँचा। सर्प बनकर उनके अंग-प्रत्यंगों पर डंक लगाये किन्तु भगवान महावीर, सुमेरु की तरह अडिग रहे।

भगवान की स्थिरता से ‘यक्ष’ का हृदय परिवर्तित हो गया। वह भगवान की स्तुति करने लगा। भगवान को रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब मुहुर्त्त भर रात्रि शेष रह गई तनिक निद्रा आई, उसमें दश स्वप्न देखे—

- (१) पिशाच को हाथों से पछाड़ा।
- (२) श्वेत पुँस्कोकिला।
- (३) विचित्र पुँस्कोकिल।
- (४) दो रत्न मालाएँ।
- (५) श्वेत गो वर्ग।
- (६) विकसित पद्म-सरोवर।
- (७) भुजाओं से महा समुद्र तैरा।
- (८) सहस्र किरण सूर्य देखा।
- (९) अपनी आँतों से मानुषोत्तर पर्वत को वेष्टित किया।





- (१०) अपने आपको मेरु पर्वत पर स्थित किया ।
 प्रातःकाल नैमित्तिक ने स्वप्नों का परिणाम प्रकट करते हुए कहा—
- (१) मोह का अन्त होगा ।
 - (२) शुक्ल ध्यान प्राप्त होगा ।
 - (३) विविध श्रुत ज्ञान की देशना प्रकट होगी ।
 - (४) साधु-श्रावक धर्म रूप द्विविध धर्म की प्ररूपणा होगी ।
 - (५) चतुर्विध संघ की स्थापना होगी ।
 - (६) देव सेवा करेंगे ।
 - (७) संसार सागर पार करेंगे ।
 - (८) कैवल्य ज्योति प्रकट होगी ।
 - (९) सम्पूर्ण मनुष्य लोक तक कीर्ति फैलेगी ।
 - (१०) लोक में सर्वोत्तम धर्मोपदेश करेंगे ।
- चौथे स्वप्न का परिणाम नैमित्तिक को नहीं सूझा, स्वयं प्रभु ने बताया ।

एक क्षीन पर दया

भगवान मोराक पधारे । भगवान के एक भक्त देव 'सिद्धार्थ' ने प्रभु को अतीत अनागत के ज्ञात होने की बात प्रकाशित करदी ।

प्रभु तो ध्यानस्थ थे किन्तु देव सभी के प्रश्नों का उत्तर देता !

वहाँ एक अच्छंदक नैमित्तिक था । प्रभु के प्रबल प्रभाव से उसका व्यवसाय समाप्त हो गया । वह प्रभु के सामने आकर अपना दुःख रोने लगा । प्रभु ने उसकी पीड़ा को पहचान कर तत्काल वहाँ से विहार कर दिया ।

वस्त्र अटक गया

प्रभु ने संयम लिया उस समय देवों ने देखदूष्य वस्त्र प्रभु पर डाल दिया था । वह वस्त्र प्रभु के तन पर था, एक ब्राह्मण उस वस्त्र को पाने को, भगवान के साथ-साथ चल रहा था । अचानक एक जगह-वस्त्र काटों में अटक गया प्रभु अवस्त्र हो गये । वह वस्त्र ब्राह्मण ने उठा लिया ।

चण्डकौशिक को प्रतिबोध

प्रभु उत्तर वाचाला की ओर पधार रहे थे, मार्ग में ग्वालों ने प्रभु को रोका, उन्होंने कहा—आगे बड़ा भयंकर सर्प है, जिसकी विष-फुत्कारों से वृक्ष भी छूँट हो चुके हैं झरने सूख गये हैं । वातावरण विषमय हो चुका है । गमनगामी पक्षी भी इस ओर निकल आए तो मृत्यु पा जाते हैं, अतः आप उधर न जाएँ किन्तु भगवान ने चण्डकौशिक को भव्य समझकर उसके अभ्युदय हेतु उधर ही विहार किया । भगवान ने उसी वन में ध्यान किया जहाँ चण्डकौशिक का निवास था ।

चण्डकौशिक ने तमतमाकर भगवान के अँगूठे पर डंक लगा दिया ।

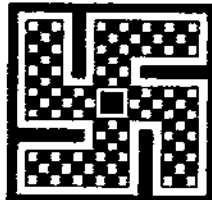
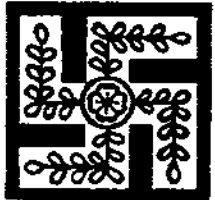
डंक लगने पर रक्त निकलना चाहिए था किन्तु निकली "दुग्ध" जैसी श्वल धारा ।
 किसी कवि की भाषा में इस परिवर्तन का कारण था कि—

एक पुत्र का प्यार ही माँ के स्तन को करता दुग्धागार ।

सब जीवों के प्यार निधि का, तन क्यों नहीं हो पय भंडार ॥

जहरीली डंक के प्रत्युत्तर में भगवान ने उसे जाग्रत और शांत होने का संदेश दिया ।

चण्डकौशिक यद्यपि विष-कीट था किन्तु प्रभु के मार्मिक संदेश का उसके अन्तस्थल पर चमत्कारिक प्रभाव हुआ । उसी दिन से उसने हिंसा परित्याग कर दिया ।



तूफानों के बीच

प्रभु का विहार सुरभिपुर की ओर हो रहा था मार्ग में गंगा बह रही थी। मार्ग अवहट्ट था, नाव ही उस तट जाने का साधन था। प्रभु नाव में ध्यानस्थ हो बैठे। सुदंष्ट्र नामक एक दुष्ट देव ने एक भयंकर उपद्रव खड़ा कर दिया। नाव के चारों ओर तूफान उमड़ आये, नाव भयंकर संकट में गिर गई, अन्य जितने भी व्यक्ति नाव में बैठे थे कांपने लगे। तभी संबल कंबल नामक प्रभु के भक्तदेवों ने उस उपसर्ग का निवारण किया। भयंकर तूफानों के बीच भी प्रभु स्थिर थे।

चरण-चिन्ह

भगवान स्तूणाक पधारे थे। पुष्य नामक एक चिन्ह विशेषज्ञ ने भगवान के चरण-चिन्ह देखे, उसने समझा कोई चक्रवर्ती है। वह यदि मिल जाए तो मुझे अच्छी राशि दक्षिणा में मिलेगी। वह चरण चिन्हों के सहारे भगवान तक पहुँचा। निष्परिग्रही प्रभु को एक भिक्षुक के रूप में देखकर उसे बड़ा दुःख हुआ। उसने कहा चिन्ह-शास्त्र झूठा है, उसने ग्रन्थों को नदी में बहा देने का निश्चय किया था तभी देवराज इन्द्र ने उपस्थित होकर उससे कहा “द्वैज, ग्रन्थों में अश्रद्धा मत करो, ये कोई सामान्य भिक्षुक नहीं है। साक्षात् महाप्रभु तीर्थंकर हैं ये धर्म चक्रवर्ति हैं, अतः तुम्हारा निर्णय दूषित नहीं है। इस तरह पुष्य का समाधान हो गया। उसने प्रभु की अभिवन्दना की।

गोशालक मिला

एक बार भगवान राजगृह के तन्तुवायशाला में ठहरे हुए थे, मंखली पुत्र गोशालक भी वहीं था। प्रभु जहाँ पारणा करते, वहाँ पंच दिव्य प्रकट होते, इससे गोशालक बड़ा प्रभावित हुआ। एक दिन उसने भगवान से अपनी भिक्षा के लिये पूछा। प्रभु ने कहा—खट्टी छाछ, कोदों का भात और खोटा रुपया मिलेगा और वसा ही मिला। इससे गोशालक को भगवान के अतीन्द्रिय ज्ञान का परिचय मिल गया। प्रभु ‘कोल्लाग’ पधारे, गोशालक भी वहीं पहुँचा और उसने प्रभु को अपना धर्माचार्य स्वीकार किया।

क्षीर नहीं मिलेगी

स्वर्णखल के पास एक जगह क्षीर पक रही थी। गोशालक ने भगवान से ठहरने का आग्रह किया क्योंकि क्षीर मिलने की सम्भावना थी किन्तु भगवान ने कहा—क्षीर नहीं मिलेगी। प्रभु तो आगे बढ़ गये किन्तु गोशालक ठहरा किन्तु हँडिया फूट जाने से क्षीर नष्ट हो गई और गोशालक की आशा मन की मन में धरी रह गई।

चोर समझ लिया

भगवान चौराक सन्निवेश पधारे। वहाँ नगर रक्षकों ने उन्हें कई यातनाएँ दी किन्तु प्रभु मौन रहे। जब यह सूचना नगर में फैली तो उत्पल नैमेत्तिक की बहनें “सोमा और जयन्ति” ने जब यह सुना, उन्होंने भगवान को देखते ही अपने निमित्त से जनता को भगवान का सही परिचय दिया।

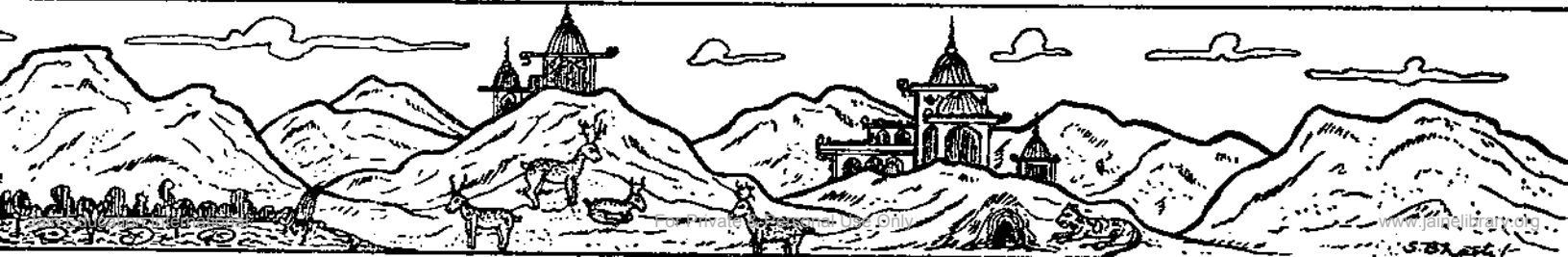
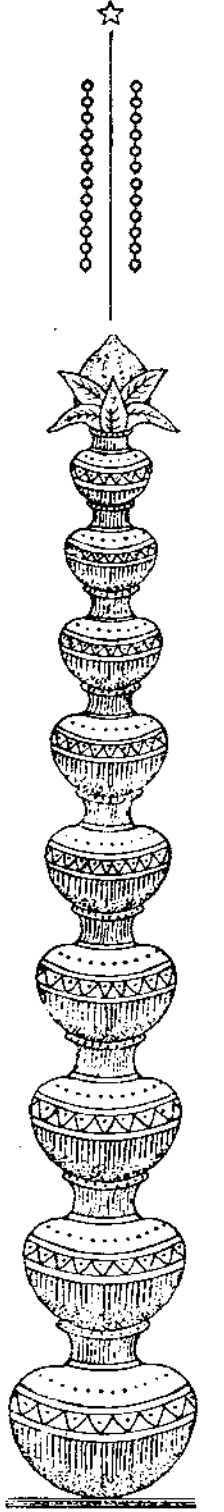
पहरेदारों ने अपनी भूल स्वीकार कर क्षमा याचना की।

लपटों में भी स्थिर

प्रभु हलिदुम नामक एक वृक्ष के नीचे ध्यानस्थ थे अन्य व्यक्ति भी वहाँ विश्राम कर रहे थे। उन्होंने शीत निवारण हेतु आग जलाई किन्तु वे जाते समय बुझाना भूल गये। आग फैलती गई प्रभु के पैर झुलस गये किन्तु वे अडिग ध्यानस्थ रहे।

बंधन में

प्रभु कलंबुका पधारे, वहाँ के रक्षक कालहस्ति ने प्रभु को दस्यु (चोर) समझ कर कई यातनाएँ दी और बंधन में डालकर अपने माई ‘मिघ’ के सामने उपस्थित किया। ‘मिघ’ प्रभु को पहचानता था, देखते ही वह चरणों में नतमस्तक हो गया और कालहस्ति को वास्तविकता से परिचित किया। कालहस्ति प्रभु से क्षमा-याचना करने लगा।



अनार्य देश में

प्रभु अपने विकट कर्मों का क्षय करने को अनार्य देश में विचरे। वहाँ मानव स्वभाव से ही दुष्ट प्रकृति के होते हैं। भगवान को वहीं उन लोगों ने असीम यातनाएँ दीं। उन पर कुत्ते छोड़ दिये जाते थे। उन्हें रस्सों से बांधा और पीटा गया। तीखे शूलों से पीड़ित किया गया। कहीं प्रभु को लट्ठ से मारा गया तो कहीं लात घुँसों से प्रभु को प्रताड़ना दी गई। इतने भयंकर कष्टों के बीच भी प्रभु कभी चिंतित नहीं हुए, तूफानों के मध्य खिले कमल की तरह प्रभु का मुखमण्डल सर्वदा शांत और खिला ही रहा।

गुप्तचर समझा

भगवान कुविय सन्निवेश पधारे। वहाँ पहरेदारों ने भगवान को गुप्तचर समझ कर बंदी बना लिया किन्तु प्रभु बराबर मौन रहे। भगवान पार्श्वनाथ की दो शिष्याएँ “विजया और प्रगल्भा” को जब यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने प्रभु का परिचय देकर उन्हें मुक्त कराया।

गोशालक अलग

अब तक गोशालक प्रभु के साथ था किन्तु उसने अनुभव किया कि प्रभु के साथ अनेक कष्ट सहने पड़ते हैं, कई परीषह आते हैं प्रभु बचाव भी नहीं करते अतः अलग हो जाना ही ठीक है। ऐसा निश्चय कर अपने मनोभाव प्रभु को बताकर वह अलग विचरण करने लगा।

प्रहार व्यर्थ

भगवान वैशाली में एक लुहार की ‘कर्मशाला’ में ध्यान कर रहे थे, लोहकर्मी कई दिनों से अस्वस्थ था। वह उसी दिन स्वस्थ हुआ और अपनी शाला में कार्य हेतु पहुँचा, वहाँ प्रभु को ध्यानस्थ देखा तो अपशकुन समझकर क्रोधित हो उठा और हथौड़ा का प्रहार करने लगा किन्तु भक्तदेव के प्रभाव से वह प्रहार निष्फल गया।

व्यन्तरी हार गई

एक बार प्रभु शालिशीर्ष उद्यान में ध्यानस्थ थे। वहाँ ‘कटपूतना’ नामक व्यन्तरी ने प्रभु को कई उपसर्ग दिये, उसने भयंकर वर्षा वर्षाई, बड़ी तीक्ष्ण हवा चलाकर प्रभु को विचलित करने लगी किन्तु प्रभु अविचल रहे। कटपूतना हार कर क्षमा-याचना करने लगी।

इसी तरह एक शालार्य नामक व्यन्तरी ने भी शालवन में उपसर्ग खड़े किए किन्तु अन्ततोगत्वा प्रभु की स्थिरता की ही विजय हुई।

तिल फिर खड़ा हो गया

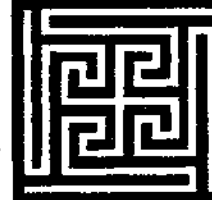
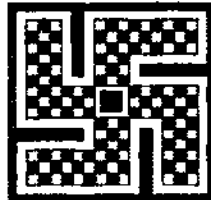
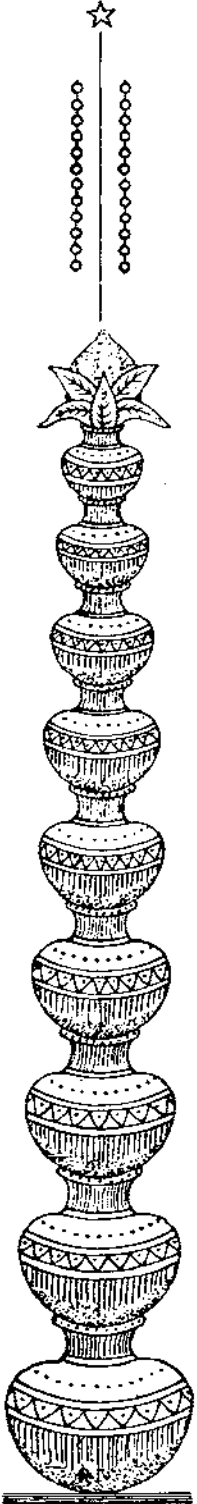
गोशालक कुछ समय अलग रहकर फिर आ मिला। एक बार प्रभु को मार्ग में गोशालक ने पूछा—इस तिल का क्या होगा ?

प्रभु ने कहा—सात फूलों के सातों जीव एक फली में पैदा होंगे। गोशालक ने प्रभु के आगे बढ़ते ही पीछे से तिल के पीछे को उठा फेंका किन्तु वर्षा के कारण पीछा फिर जमकर खड़ा हो गया।

कुछ समय बाद जब प्रभु फिर उधर पधारे, गोशालक ने तिल के विषय में पूछा तो प्रभु ने बताया—पीछा खड़ा है और सात बीज हैं। इस पर गोशालक को विश्वास नहीं हुआ, उसने फली तोड़कर देखी और सातों बीज देखे तो उसका विश्वास नियतिवाद में हो गया। उसने सोचा—सब कुछ पहले से नियत होता है वही होता है, पुरुषार्थ व्यर्थ है। उसने भिन्न मत चलाने का निश्चय किया।

भस्म होता बचा

गोशालक जलकर भस्म हो जाता किन्तु बच गया। बात यह थी कि जब प्रभु से उसने तिल के विषय में



पहली बार पूछा वहीं 'वैश्यायन' नामक तापस तप कर रहा था। उसकी जटाओं में 'जुएं' थीं, गोशालक ने उसे कई बार 'जूओं का बिछोना' कह-कहकर चिढ़ाने का प्रयास किया, कई बार तो तापस सह गया किन्तु जब वह अधिक सताया गया तो, क्रोधित हो उठा और अपनी लब्वि का प्रयोग करते हुए 'उग्रतेजोलेश्या' (आग्नेय दृष्टि) का गोशालक पर प्रहार कर दिया। गोशालक एक भयंकर तेज को अपनी तरफ लपकते देख कांप उठा और दौड़कर भगवान के चरणों में चला गया। प्रभु गोशालक की भयानुर मुद्रा को देखकर अनुकम्पा से द्रवित हो उठे। उन्होंने शीतलेश्या (अमृतमय शीतल दृष्टि) का प्रयोग कर तेजोलेश्या को निष्प्रभ कर दी।

यह देख, तापस प्रभु के आध्यात्मिक प्रभाव से बड़ा प्रभावित हुआ।

यह भी सहना पड़ा

एक बार प्रभु वैशाली से वाणिज्य ग्राम पधार रहे थे, मार्ग में गंडकी नदी नाव से पार करनी पड़ी।

नाव से उतरने पर नाविक ने किराया मांगा किन्तु प्रभु मौन रहे। उनके पास देने को कुछ था भी नहीं, नाविक ने प्रभु को तपती 'रैत' में खड़ा कर दिया, संयोगवश चित्र नामक राजकुमार वहाँ आ पहुँचा और प्रभु को नाविक के बंधन से मुक्त किया।

एक श्रावक का निर्णय

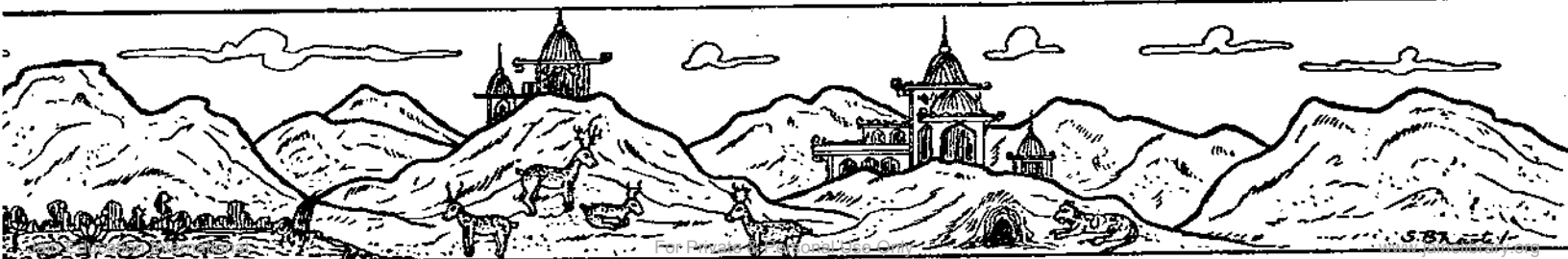
भगवान पार्श्वनाथ का श्रावक था, आनंद। बड़ा तपस्वी, बेले-बेले पारणा करता था, आतापना लेता था, उससे अवधिज्ञान भी प्राप्त था, उसने भगवान महावीर के सुदृढ़ आत्मबल तथा उत्कृष्ट तपाराधना को देखकर उसने प्रभु से कहा—प्रभु, आपको शीघ्र ही केवलज्ञान की उपलब्धि होगी। यह घटना वाणिज्य ग्राम की है।

संगम का पराजय

कष्टजयी भगवान महावीर अपने साधनाकाल में सुमेरु से स्थिर थे। प्रायः प्रभु की सहनशीलता की देवराज इन्द्र प्रशंसा किया ही करते जिसका प्रायः सभी देव समर्थन करते, किन्तु एक संगम नामक देव को किसी मानव की यों प्रशंसा की जाय, अच्छी नहीं लगी। वह इन्द्र के द्वारा की गई प्रशंसा को समाप्त करने को प्रभु को अपने साधना-पथ से विचलित करने का निश्चय किया और पैडाल नामक उद्यान में जहाँ प्रभु ध्यानस्थ थे उपस्थित हुआ और उन्हें कई भयंकर उपसर्ग देकर विचलित करना चाहा।

उसने उस रात में प्रभु को बीस भयंकर कष्ट दिये—

- (१) पिशाच बनकर प्रभु को डराया।
- (२) भयंकर घूल वर्षा की।
- (३) चींटियाँ बन तन को काटा।
- (४) डांस मच्छर बनकर खून चूसा।
- (५) दीमक बनकर रोम-रोम छेदा।
- (६) बिच्छु बनकर डंक लगाए।
- (७) सर्प बनकर डसा।
- (८) नेवला बनकर नोंचा।
- (९) चूहे बनकर तन को कुतरा।
- (१०) हाथी बन तन को रोंधा।
- (११) हथिनी बनकर शूल चुभोए।
- (१२) बाघ बनकर पंजे लगाये।
- (१३) माता-पिता बनकर करुण विलाप किया।
- (१४) पाँवों में आम जलाई।
- (१५) शरीर पर पक्षी बन चोंचें लगाई।
- (१६) आँधी चलाकर उड़ाने का प्रयास किया।



- (१७) घुटनों तक शरीर को भूमि में उतार दिया ।
 (१८) चक्रक वायु से भगवान चक्र दिये ।
 (१९) विमान में बिठाने और स्वर्ग का लालच दिया ।
 (२०) अप्सरा बनकर राग माद प्रदर्शित किया ।

इतने मयंकर उपसर्गों के बीच भी प्रभु स्थिरतापूर्वक आत्म-ध्यान में स्थित रहे, कहीं भी दीनता नहीं लाये तो संगम ने एक नया मार्ग अपनाया । साधु रूप बनकर एक घर में सेंध लगाने लगा, लोगों ने चोर समझकर पकड़ा तो उसने कहा—मैं तो मेरे गुरु की आज्ञा का पालन कर रहा हूँ, आप मेरे गुरु से बात करें । मैं अपराधी नहीं हूँ । उसने महावीर को अपना गुरु बता दिया, जनता ने उन्हें चोर समझकर पकड़ा और पीटने लगी तो, महाभूतिल नामक एक ऐन्द्रजालिक व्यक्ति ने भगवान की पहचानकर छोड़ाया । जनता ने उस पहले वाले चोर को ढूँढ़ना चाहा किंतु वह नहीं मिला ।

संगम ने इस तरह प्रभु पर कई बार चोरी के आरोप लगवाए ।

एक बार प्रभु के पास शस्त्र संग्रहित कर दिये । यह घटना 'तोसलिगांव' की है । वहाँ के अधिकारी ने दुश्मन समझ कर प्रभु को फाँसी पर लटकाया किंतु फाँसी का फंदा टूट गया । ऐसा सात बार हुआ फिर प्रभु को छोड़ दिया गया । संगम प्रभु की भिक्षा में भी अन्तराय खड़ी कर देता था । शुद्ध आहार भी सदोष बना देता तो प्रभु आहार भी नहीं ले सकते । इस तरह संगम ने छह मास तक प्रभु को कई उपसर्ग और कष्ट दिये किंतु प्रभु अक्षुभित समुद्र की तरह स्थिर रहे, अन्त में संगम क्षमा-याचना करता हुआ स्वस्थान गया ।

जीर्ण तिर गया

वैशाली का जिनदत्त जिसे अभावग्रस्तता के कारण लोग "जीर्ण" सेठ कहा करते थे किंतु वह भावों से बड़ा समृद्ध था, वह प्रभु की आहार-दान के लिये आकांक्षा लिये प्रतीक्षा किया करता था । एक दिन प्रभु की प्रतीक्षा में था तभी प्रभु आहार के लिये निकले मार्ग में एक 'पूर्णसेठ' जो नव धनाढ्य था प्रभु वहीं पहुँच गये, उसने अनादर भाव से प्रभु को थोड़े से कुलत्थ देने के लिये दासी को कहा । दासी ने थोड़े से कुलत्थ वे भी उपेक्षा भाव से प्रभु को दिये । इस तरह प्रभु का पारणा हो गया । भावुक जीर्ण भावना ही भाता रह गया, उसे अवसर नहीं मिला फिर भी उसने बारहवें देवलोक की गति का शुभ आयुष्य बंध किया । दो घड़ी दुन्दुभी शब्द नहीं सुनता तो उसे केवल्य हो जाता ।

चमरेन्द्र की रक्षा

प्रभु 'सुन्सुमार' में थे, असुरेन्द्र चमरेन्द्र से शक्रेन्द्र की दिव्यता देखी न गई वह ईर्ष्यावश प्रभु के नाम का सहारा ले, सौधर्म देवलोक में जा पहुँचा और श्री शक्रेन्द्र को ललकारा । शक्रेन्द्र अतुल बलशाली होते हैं उन्होंने स्व-स्थान से ही चमरेन्द्र पर वज्र फेंक मारा, जो आग की लपटें छोड़ता चमरेन्द्र पर लपका । चमरेन्द्र अब डरा और प्राण बचाने की कोई स्थान ढूँढ़ने लगा । वह सीधा प्रभु के चरणों के बीच आ समाया ।

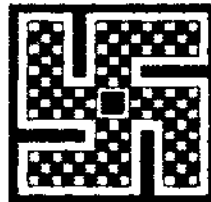
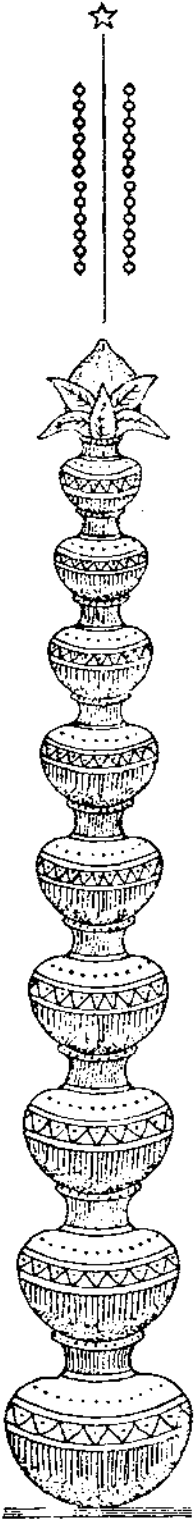
शक्रेन्द्र को जब यह ज्ञान हुआ तो उन्होंने कहीं प्रभु को कष्ट न हो जाये, इस दृष्टि से वज्र को वापस खींच लिया । वज्र प्रभु के चरणों से चार अंगुल ही दूर रहा था । प्रभु को कोई कष्ट नहीं हुआ किन्तु चमरेन्द्र के प्राण बच गये ।

कठिन अभिग्रह

प्रभु ने एकदा कौशाम्बी में विचरण करते हुए कठिन अभिग्रह धारण किया, उसमें तरह बोल थे (१) राज-कुमारी दासी हो, (२) शिर मुंडा हो, (३) हाथों में हथकड़ी हो, (४) पावों में बेड़ी हो, (५) उड़द के बाकुले हो, (६) सूप के कोने में हो, (७) भिक्षा का असमय हो, (८) आँखों में आँसू हो, (९) तेल का तप हो, (१०) देहली में बैठी हो, (११) एक पाँव बाहर हो, एक पाँव भीतर हो, (१२) अविवाहिता हो, (१३) बिकी हुई हो ।

दान देने वाले की ऐसी स्थिति का मिलना लगभग असंभव ही था । प्रभु प्रतिदिन गोचरी के लिए हो आते, किन्तु ऐसा कठिन अभिग्रह फल जाए यह आसान नहीं था ।

नगर के महामात्य की पत्ति नन्दा ने प्रभु के भिक्षा नहीं लेने पर बड़ी चिन्ता व्यक्त की, यह बात नगराधिपति सम्राट शतानीक को भी ज्ञात हुई । उनकी महारानी मृगावती भी इस बात से बड़ी चिन्तित हुई कि प्रभु चार माह



से आहार ग्रहण नहीं कर रहे हैं। राजा ने नगर के नर-नारियों को आहार देने की विधि भी बता दी किन्तु अमिग्रह की बात को कोई जानता ही नहीं।

संयोगवश एक दिन प्रभु घन्ना श्रेष्ठि के घर गोचरी को पधारे। वहाँ सेठानी ने चन्दना नामक राजकुमारी को तल घर में बन्द कर रखा था। चन्दना चम्पापति दधिवाहन की राज दुलारी थी, चम्पा को राजा शतानीक ने अचानक लूटा, दधिवाहन वीहड़ वनों में चले गये। धारिणी और कन्या को एक सैनिक उठा लाया, सैनिक धारिणी से पापेच्छा प्रकट करने लगा तो, धारिणी ने जिह्वा खींचकर अपना बलिदान दे दिया। शील की वेदी पर धारिणी का यह महान् बलिदान सर्वदा अमर रहेगा। सैनिक ने कन्या को लाकर घन्ना को बेच दिया। घन्ना पुत्रीवत् उसे पालने लगे किन्तु सेठानी ईर्ष्यावश द्वेष करने लगी, एक दिन अवसर देखकर सेठानी ने चन्दना का शिर मूँडकर हथकड़ी-बेड़ी डाल, तल घर में डाल दिया। चन्दना ने वहाँ तीन दिन ब्रिताये उसने तेल कर दिया। चौथे दिन घन्ना, कहीं बाहर से आये तो चन्दना की यह स्थिति देखकर बड़े दुखी हुए। वे लोहकर्मी को बुलाने गये कि चन्दना के लोह बन्धन काटदे तभी प्रभु महावीर का उधर पदार्पण हो गया।

प्रभु को देख चन्दना अप्रत्याशित आनन्द से विभोर हो उठी किन्तु प्रभु आकर पुनः लौटने लगे, चन्दना के लिए यह असह्य हो गया कि प्रभु बिना ही आहार लिए पुनः लौट जायें। चन्दना का हृदय अपनी विपन्नावस्था पर रो उठा और उसकी आँखों से अश्रुधारा प्रवाहित हो चली। प्रभु की अमिग्रह पूर्ति में केवल यह एक बात की ही तो कमी थी, अश्रु नहीं देखकर ही तो प्रभु लौट रहे थे अब जबकि अश्रु उमड़ आये प्रभु ने अपने अमिग्रह की पूर्ति देखकर चन्दना के द्वार पर फिर पहुँचे और पाँच माह और पचचीस दिन के बाद चन्दना के हाथों उड़द के बाकुले ग्रहण किये। तभी देवताओं ने दानोत्सव मनाया। चन्दना के बन्धन टूट पड़े और वह सामान्य स्व-स्थिति को पा गई। सारा कौशाम्बी नगर हर्षित हो उठा।

कान में कीलें ठोंक दीं

प्रभु छम्माणि ग्राम के बाहर उद्यान में ध्यानस्थ थे। किसी ग्वाले ने ध्यानस्थ महावीर को अपने बैलों की रखवाली का सन्देश दिया किन्तु प्रभु मौन रहे। वह कहीं जाकर जब वापस आया तो उसे बैल नहीं मिले। प्रभु को ही बैलों का चोर समझ कर उसने क्रुद्ध हो भयंकर कुकृत्य कर दिया।

उसने प्रभु के दोनों कानों में कीलें ठोंक दीं। यह असह्य वेदना थी किन्तु प्रभु ने कोई प्रतिकार नहीं किया।

वहाँ से प्रभु मध्यम पावा पधारे। वहाँ "खरक" नामक वैद्य और सिद्धार्थ नामक वणिक् ने मिलकर प्रभु के कानों से कीलें निकालीं और समुचित उपचार किया। प्रभु पर उनके समस्त उपसर्गों में यह कीलों वाला उपसर्ग घोर पीड़ाकारक था।

प्रभु की विशाल तपाराधना

साढ़े बारह वर्ष से कुछ अधिक काल तक प्रभु छद्मस्थ रहे, इस बीच अनेकों उपसर्ग तो सहे ही, तप भी प्रभु ने कम नहीं किया। इतने लम्बे समय में केवल तीन सौ उनचास दिन ही आहार लिया। शेष समय तपश्चर्या में व्यतीत हुआ।

प्रभु ने निम्न तपाराधनाएँ सम्पन्न कीं—

छहमासी, तप, १

पाँच दिन कम छहमासी तप १

चानुमासिक तप ६

त्रैमासिक तप २

ढाई मासिक तप २

द्वि मासिक तप ६

मासिक तप १२

पाक्षिक तप ७२



दो दिन की भद्र प्रतिमा १
 चार दिन की महामद्र प्रतिमा १
 दश दिन की सर्वतो भद्र प्रतिमा १
 छट्ठ मत्त (बेले) २२६
 अठ्ठम मत्त (तेले) १२
 इस तरह प्रभु ने अपना अधिकांश समय केवल तप में व्यतीत किया ।

केवल ज्ञानोपलब्धि

प्रभु ने अप्रतिम सहनशीलता तथा उत्कृष्ट तपाराधन से अपने अधिकांश कर्मों का क्षय कर दिया था ।
 आग में तपे शुद्ध स्वर्ण की तरह उनकी आध्यात्मिक कान्ति दमक रही थी । मानसिक वाचिक एवं कायिक विकारों से वे नितान्त शुद्ध हो चुके थे, ऐसी स्थिति में एक दिन ऋजुवालिका नदी के तट जृम्भिका ग्राम के निकट श्यामाक नामक माथापति के खेत (क्षेत्र) में शालवृक्ष के नीचे 'गोदुह' आसन में ध्यानस्थ थे, उस दिन प्रभु का छट्ठ मत्त चौविहार तप था, प्रभु आतापना ले रहे थे, उस समय प्रभु ने ध्यान की सर्वोत्कृष्ट स्थिति परम शुक्ल ध्यान में प्रवेश किया तभी ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय, इन चार घनघाती कर्मों का एक साथ क्षय हुआ और प्रभु को अनन्त केवलज्ञान अनन्त केवलदर्शन स्वरूप सिद्धि प्राप्त हो गई ।

देवों ने पुष्प वृष्टि आदि पंच दिव्य प्रकट कर ज्ञानोत्सव मनाया, यह घटना वैशाख शुक्ला दशमी के दिन की है ।

प्रभु ने वही प्रथमोपदेश दिया किन्तु मानवों की उपस्थिति नहीं होने से कोई व्रत नहीं ले सका इस तरह प्रभु का पहला उपदेश सार्थक नहीं हुआ । किसी तीर्थंकर का प्रथमोपदेश सार्थक न हो यह आश्चर्य की बात थी, फिर भी, भगवान महावीर के जीवन में यह घटी ।

इन्द्रभूति को प्रतिबोध

भगवान मध्यमा पावा पधारे । वहा आर्य सोमिल द्वारा यज्ञायोजन किया हुआ था । इन्द्रभूति गौतम आदि प्रधान वैदिक विद्वान, इसी आयोजन को सम्पन्न करने वहाँ उपस्थित थे ।

प्रभु के आगमन पर देवों ने समवसरण रचाया । देव-देवी आने लगे इससे इन्द्रभूति को बड़ा क्रोध आया । उसने सोचा—वह दुष्ट कौन है जो भेरे यज्ञ में आते देवों को अपनी तरफ खींच रहा है ।

इन्द्रभूति क्रोधित हो, प्रभु को वाद कर पराजित करने को भगवान के पास आये किन्तु प्रभु ने दूर से ही उसके नाम गौत्र से उसका सम्बोधन किया । इतना ही नहीं प्रभु ने उनकी मनोगत शंकाओं का तत्काल समाधान कर दिया ।

इन्द्रभूति जो क्रोध एवं ईर्ष्या से दग्ध हुए आये थे, प्रभु का शान्त सुमधुर एवं आत्मीय व्यवहार पाकर बड़े प्रभावित हुए । उन्हें जो समाधान मिले वे तो सचमुच अनुपम थे । गौतम प्रभु की ज्ञान-गरिमा से बड़े आकर्षित हुए और कई तरह से धर्मचर्चा करने लगे ।

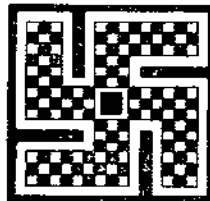
इन्द्रभूति गौतम वेद के तीन दकार द, द, द, के विषय में शंकाग्रस्त थे । प्रभु ने दान, दया और दमन स्वरूप लोकोत्तर अर्थ बताकर उन्हें चमत्कृत कर दिया । आत्मा के अस्तित्व के विषय में भी सन्देह था, प्रभु ने अनेक अकाट्य तर्कों से आत्मा का अस्तित्व सिद्ध कर दिया ।

इस सारी धर्मचर्चा ने गौतम को प्रभु के प्रति श्रद्धावन्त कर दिया ।

तत्त्वार्थ समझकर इन्द्रभूति प्रभु के प्रथम शिष्य बने ।

अग्निभूति आदि शेष दश विद्वान भी, इन्द्रभूति की तरह प्रभु से विवाद करने को आये और अन्त में प्रभु के चरणों में समर्पित हो गये ।

वैशाख शुक्ला एकादशी के शुभ दिन, आर्यावर्त में प्रभु के द्वारा तीर्थ स्थापना सम्पन्न हुई ।



उस दिन चार हजार चार सौ मुनि बने। चन्दनबाला प्रथम साध्वी और अनेक साध्वियाँ हुईं। शंख शतक आदि श्रावकों ने धर्म-ग्रहण किया तथा सुलसा आदि ने श्राविका स्वीकार किया।

प्रभु ने अर्ध मागधी भाषा में तत्त्वोपदेश प्रकट किया।

अनेकों उपकार

प्रभु की अमृत वाणिणी वाणी के प्रवाहित होते ही, अनेकों उपकारों के फूल खिलने लगे।

राजगृह के राजकुमार 'मिष' और नन्दिषेण ने संयम ग्रहण किया।

अमयकुमार व्रतधारी श्रावक बने, सम्राट श्रेणिक ने सम्यक्त्व ग्रहण किया।

माता-पिता मिले

प्रभु ब्राह्मण कुण्ड नगर के बहुशाल चैत्य में विराजित थे। वहाँ ऋषभदत्त ब्राह्मण और देवानन्दा दर्शनार्थ उपस्थित हुए।

प्रभु को देखते ही देवानन्दा के हृदय में प्रभु के प्रति एक अनोखे वात्सल्य की धारा बह चली, उसके स्तनों में स्पष्ट दुग्ध उमड़ आया। प्रभु ने गौतम को कहा—गौतम ! ये मेरे माता-पिता हैं। प्रभु ने गर्भापहरण के पूर्व से सम्बन्ध का परिचय दिया।

देवानन्दा और ऋषभदत्त दोनों प्रतिबोधित होकर संयमी हुए।

आत्म-कल्याण के पथ पर अनेकों

प्रभु क्षत्रिय कुण्ड नगर पधारे। वहाँ पुत्री प्रियदर्शना और जामाता जमाली प्रतिबोधित हुए और मागवती प्रव्रज्या स्वीकार की।

प्रभु कौशाम्बी पधारे। वहाँ विदुषी श्राविका जयन्ति के प्रश्नों का सम्यक् समाधान किया।

प्रभु वाणिय ग्राम पधारे। वहाँ आनन्द माथापती ने श्रावक की धर्म प्रज्जित ग्रहण की।

प्रभु राजगृह पधारे। वहाँ प्रसिद्ध धनाढ्य श्रेष्ठि धन्ना और मुकुमार शालीमद्र को संयम धर्म प्रदान किया।

प्रभु चम्पा नगर पधारे, वहाँ राजकुमार, महाचन्द्र प्रतिबोधित हुआ।

वाराणसी में चुल्लनीपिता और उनकी पत्नि ने श्रावक धर्म प्राप्त किया।

आलंभिया में, पुद्गल परिव्राजक की शंकाओं का समाधान कर उसे प्रव्रजित किया।

प्रभु ने राजगृह में धर्मोपदेश देकर तथा सम्राट श्रेणिक को प्रेरित कर धर्म-मार्ग की बड़ी प्रभावना स्थापित की। श्रेणिक की प्रेरणा से जाली मयाली आदि अनेक राजकुमार और तेरह महारानियों ने निर्ग्रन्थ पर्याय धारणा की।

प्रभु एक बार कौशाम्बी पधारे। वहाँ चण्डप्रद्योत ने मृगावती के लिये घेरा डाल रखा था, मृगावती जो शतानीक की पत्नि थी, शतानीक की मृत्यु हो चुकी थी उदयन छोटा था। मृगावती ही राज्य व्यवस्था संभालती थी, वह सुन्दरी भी अनुपम थी।

चण्डप्रद्योत प्रभु के आगमन को सुनकर वन्दन को आया। मृगावती भी वहाँ आ पहुँची, उसने प्रभु का उपदेश सुनकर चण्डप्रद्योत की आज्ञा से प्रव्रजित होने की बात प्रकट की। समा में चण्डप्रद्योत से पूछा तो वह इन्कार नहीं कर सका इस तरह संयम लेकर मृगावती अपनी शील सुरक्षा कर पाई।

प्रभु, "काकंदी" पधारे। वहाँ श्रेष्ठि पुत्र "धन्यकुमार" बत्तीस रमणियों का परित्याग कर संयमी बना।

धन्ना मुनि बड़े तपस्वी हुए।

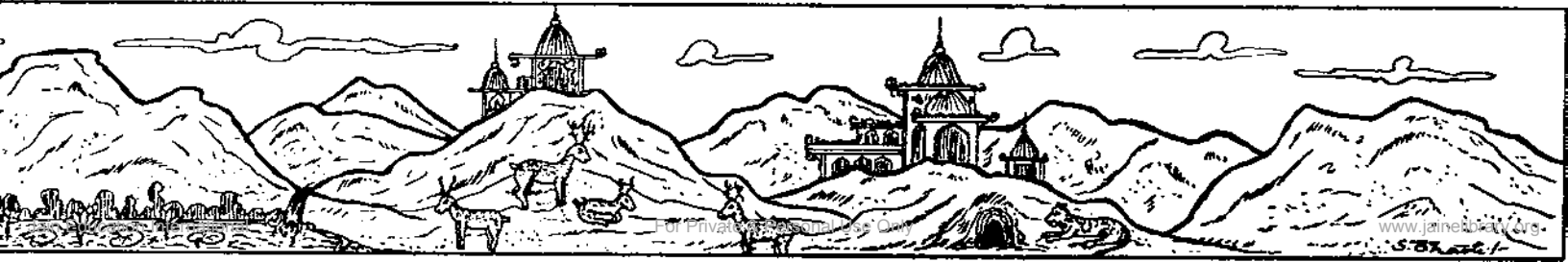
सु-वक्षत्र कुमार ने भी वहीं संयम ग्रहण किया।

प्रभु ने कपिलपुर में कूडकोलिक तथा पोलासपुर में सहालपुत्र को बारह व्रत प्रदान किये।

एकबार प्रभु राजगृह में प्रवासित थे, प्रतिबोधित हो महाशतक ने व्रत ग्रहण किये।

रोहक के प्रदनों का भी वहीं समाधान किया।

इस प्रसंग में प्रभु ने लोक-अलोक को सापेक्ष, पूर्व पश्चाद् बताया। इसी तरह जीव-अजीव का भी कोई क्रम



नहीं है, दोनों सापेक्ष हैं। मुर्गी और अण्डे के विषय में भी प्रभु ने पूर्वापरता का निषेध करते हुए अनादि परम्परा सिद्ध की। प्रभु ने कहा—ये शाश्वत है, इनमें पहले पीछे का क्रम कभी भी नहीं बना।

एक प्रसंग में प्रभु ने गौतम के प्रश्नों का समाधान करते हुए कहा—

आकाश पर वायु है

वायु पर पानी

पानी पर पृथ्वी

पृथ्वी पर वस-स्थावर

अजीव, जीव पर आधारित

जीव कर्म वेष्टित है

अजीव पुद्गल जीव ग्रहित है

जीव कर्म द्वारा संग्रहित है।

प्रभु एक बार 'कर्यमला' पधारे, वहाँ छत्रपलास उद्यान में 'स्कन्धक' नामक परिव्राजक अपनी कतिपय शंकाएँ लेकर उपस्थित हुआ।

प्रभु ने उनके सभी प्रश्नों का सम्यक् समाधान किया।

प्रभु की तत्त्वज्ञता, सर्वज्ञता से प्रभावित हो, स्कन्धक प्रभु के पास प्रव्रजित हुआ।

स्कन्धक भगवान के शासन में अच्छे तपस्वी मुनिराज सिद्ध हुए।

भगवान ने चम्पा में प्रवास करते हुए, पद्म, महापद्म आदि श्रेणिक के दश पौत्र और अनेक व्यक्तियों को श्रमण व्रतज्ञा प्रदान की।

काकन्दी में गाथापति खेमक और धृतिधर को मुनिपद प्रदान किया।

एक बार प्रभु चम्पा नगरी में पुनः पधारे, तब महाराज चेटक और कौणिक का युद्ध चल रहा था। राजा श्रेणिक की काली आदि दस महारानियाँ प्रभु के पास उपस्थित हो अपने पुत्रों के विषय में, जो युद्ध रत थे, कुछ प्रश्न पूछे—प्रभु ने कहा—वे युद्ध में मारे गये। इस पर दसों रानियाँ वैराग्यवती होकर प्रभु के शासन में दीक्षित हो गईं।

इन रानियों ने कनकावली रत्नावली आदि अद्भुत तप किये।

जिन शासन में इन महारानियों का तप बड़ा प्रसिद्ध है।

हल्ल, विहल्ल जिनके हार-हाथी को लेकर वंशाली में विशाल युद्ध लड़ा गया, समय पाकर दोनों श्रावस्ती में प्रभु के निकट पहुँचकर संयमी हो गये।

एक भयंकर दुर्घटना

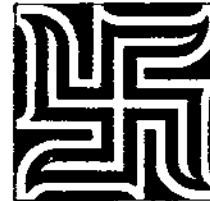
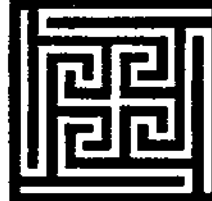
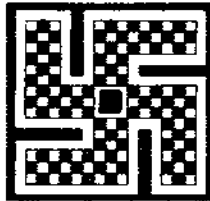
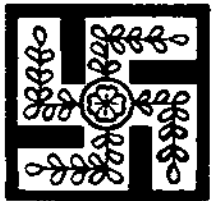
प्रभु उस समय श्रावस्ती में ही थे, गोशालक भी वहीं था।

वह जिन या तीर्थंकर नहीं था, फिर भी अपने आपको तीर्थंकर प्रदर्शित कर रहा था। वह आजीवक मत की प्ररूपणा में रत था।

श्री इन्द्रभूति गौतम ने प्रभु से गोशालक के जिनत्व के विषय में पूछा। प्रभु ने कहा—वह जिन नहीं है। यह संवाद गोशालक के पास पहुँचा तो वह अत्यन्त क्रुद्ध हो उठा।

क्रोधान्ध हो, वह भगवान महावीर के निकट पहुँच गया और उनसे अपने रूपान्तरित होने की मिथ्याचर्चा करने लगा, ज्योंही प्रभु ने उसके कथन को मिथ्या कहा, अंगार की तरह क्रोध में जाज्वल्यमान होकर प्रभु को अपशब्द कहने लगा। वहाँ सर्वानुभूति नामक मुनि उपस्थित थे, उनसे प्रभु का अपमान सहा न गया। उन्होंने गोशालक को हित-बोध देने हेतु केवल इतना ही कहा था कि प्रभु का ही शिष्य होकर तुम्हें अपने गुरु का इस तरह अनादर नहीं करना चाहिए।

इस पर गोशालक और अधिक क्रोध में उबल पड़ा। उसने तम-तमा कर तपोसाधना द्वारा प्राप्त "तेजो-लेख्या" (आग्नेय दृष्टि) का तीव्र प्रयोग किया। सर्वानुभूति मुनि तरक्षण जलकर भस्म हो गये।



इतने बड़े कुकृत्य के बाद भी गोशालक का उबलता क्रोध थमा नहीं, वह महावीर को फिर अयोम्य बोलने लगा। उपस्थित अन्य मुनिगण तो मौन ही रहे, किन्तु “सुनक्षत्र” नामक मुनि चाह कर भी अपने आपको नहीं रोक सके। उन्होंने ज्यों ही गोशालक का प्रतिवाद किया, गोशालक ने अपनी निर्दयता और निम्नता का परिचय देते हुए तत्काल, उस मुनि पर भी ‘तेजो’ प्रहार किया, किन्तु यह प्रहार पिछले प्रहार से मंद था, मुनि को दाह होने लगा, मुनि ने अन्तिम आलोचना करते हुए समाधिपूर्वक पण्डित मरण प्राप्त किया।

दो मुनि को भस्मीभूत कर देने के बाद भी गोशालक वहाँ से नहीं हटा, उसे तो अभी अपने निशाने पर वार करना था, और उसका निशाना भगवान महावीर थे।

प्रभु ने उसे सद्बोध देने को कुछ शब्द कहे कि उसे प्रभु पर वार करने का अवसर मिल गया। वह जाज्वल्यमान क्रोध में दहकता कहने लगा—महावीर ‘अब तुझे जलकर भस्म होना है, ऐसा कहते ही’ प्रभु पर तेजोलेश्या का भरपूर प्रहार किया, किन्तु प्रभु पर इस प्रहार का कोई असर नहीं हो सका। ‘तेजोलेश्या’ प्रभु के चारों तरफ प्रदक्षिणा कर जलती आग की तरह पुनः गोशालक की तरफ चली गई और उसी के शरीर में प्रवेश कर गई। फलस्वरूप उसका देह तेजोलेश्या के तीव्र दाह से जलने लगा।

उसके शरीर में बड़ी वेदना होने लगी अतः अब वह वहाँ अधिक नहीं ठहर सका। जाते हुए उसने भगवान से कहा—मेरी लेश्या के प्रभाव से तुम छह माह में जल मरोगे, किन्तु प्रभु ने कहा—मैं तो अभी सोलह वर्ष विचरूँगा। तुम्हारी लेश्या के प्रति प्रहार से तुम्हें केवल सात दिन में ही मृत्यु पाना होगा।

वास्तव में गोशालक सात दिन में तेजो दाह से जलता हुआ मृत्यु के मुख में चला गया। मृत्यु से पूर्व उसने भगवान महावीर की सच्चाई और अपने मिथ्या होने के सत्य को सार्वजनिक रूप से सच्चाई के साथ स्वीकार किया।

स्वास्थ्य हानि

गोशालक के द्वारा तेजोलेश्या के प्रहार से तथा तत्कालीन असातावेदनीय के उदय से प्रभु के सुन्दर देह में ‘रक्तातिसार’ जैसी व्याधि का उदय हो गया।

प्रभु के व्याधिग्रस्त होने से चतुर्विध संघ बड़ा चिन्तित था, किन्तु ‘सिंह’ नामक मुनि तो शोक संतप्त ही हो गये। मावी अनिष्ट की आशंका से ‘सिंह’ मुनि रो उठे। प्रभु ने उन्हें अपने पास बुलाकर समझाया और मेडिय ग्राम निवासिनी सुधाविका ‘रेवती’ के यहाँ से ‘बिजोरा पाक’ मंगवाकर सेवन किया और प्रभु स्वस्थ हो गये।

प्रभु के स्वास्थ्य लाभ से चतुर्विध संघ में हर्ष की लहर छा गई।

गौतम का समाधान

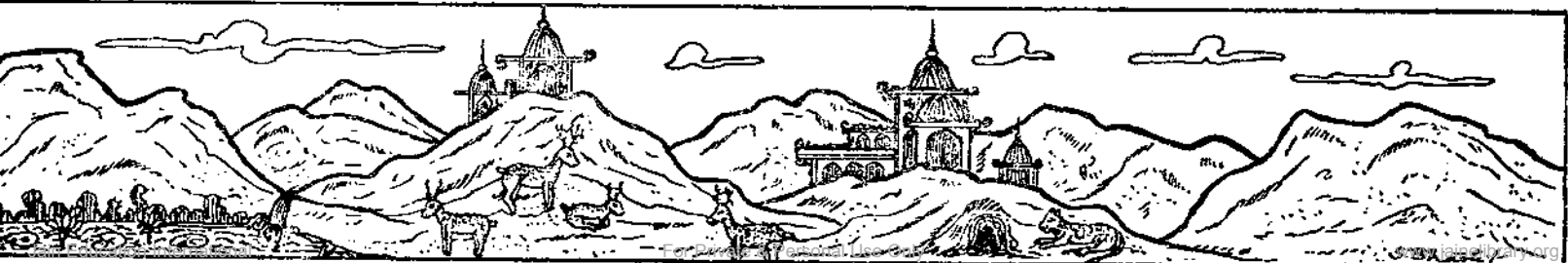
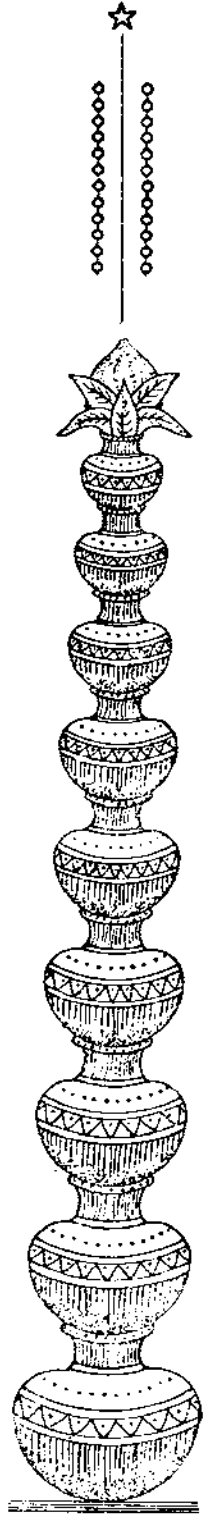
एक प्रश्न के उत्तर में प्रभु ने कहा कि—गौतम ! सर्वानुभूति मुनि आठवें देवलोक तथा सुनक्षत्र मुनि बारहवें देवलोक में, देवरूप में उत्पन्न हुए।

जहाँ तक गोशालक का प्रश्न है, उसने अन्तिम समय में आत्म-आलोचना की थी। सत्य को स्वीकार किया था। अतः वह बारहवें देवलोक को प्राप्त हुआ। जन्मांतरों में दृढ़ प्रतिज्ञा मुनि बनकर आत्म-कल्याण साधेगा।

शिव राजषि, प्रभु के चरणों में

हस्तिनापुर का शासक सम्राट ‘शिव’ वैराग्याप्लावित हो कठोर तापस संयम की साधना करने लगा उसे विभंग अवधि जान हुआ था। वह सात समुद्र और सातद्वीप की प्ररूपणा करता था।

एकदा प्रभु हस्तिनापुर पधारे। गौतम ने जब शिव राजषि की प्ररूपणा जनसमुदाय द्वारा सुनी तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ। उन्होंने इस विषय में प्रभु से पूछा। प्रभु ने शिवराषि के कथन को असम्पक् बताया और यह बात जब शिव ऋषि को ज्ञात हुई तो उन्हें अपने ही ज्ञान की परिपूर्णता में संशय होने लगा। वे भगवान महावीर के निकट पहुँचे। उनसे सम्पक समाधान पाकर वे प्रभु के पास दीक्षित हो गये।



इन्द्र का पराभव

एक बार प्रभु दशार्णपुर पधारे । तत्रस्थ नृप 'दशार्ण मद्र' बड़े वैभव के साथ प्रभु को वन्दन करने निकला । वह अपने विशाल वैभव पर इठला रहा था किन्तु तत्काल उसने गगन से धरती की तरफ प्रभु की वन्दना को आते इन्द्र और उसके विशाल वैभव को देखा तो उसका वैभव गर्व चकनाचूर हो गया । भौतिक वैभव की दृष्टि से हार गया । दशार्ण मद्र प्रभु की वाणी से प्रभावित हो राज्य वैभव का परित्याग कर, जब प्रभु के चरणों में दीक्षित हुआ तो इन्द्र चरणों में प्रस्तुत हो कहने लगा—मुनीश्वर ! बाह्य वैभव की दृष्टि से मैं आपको पीछे रख सका किन्तु आपने जो अध्यात्मिक वैभव प्रकट किया वह इतना अद्भुत है कि मैं इस क्षेत्र में आपको परास्त नहीं कर सकता । आपकी अद्भुत विजय पर इन्द्र नत मस्तक है ।

सोमिल श्रावक बना

वेद-वेदांग जाता सोमिल ब्राह्मण बड़ा तार्किक व्यक्ति था । प्रभु जब वाणिज्य ग्राम पधारे । वह अपने सौ छात्रों सहित प्रभु के पास पहुँचा और उनसे कई प्रश्न किये ।

उसके प्रश्न कुछ अध्यात्मिक कुछ व्यावहारिक तथा कुछ दार्शनिक थे । प्रभु ने सभी प्रश्नों का यथायोग्य ठीक-ठीक समाधान कर दिया । इससे प्रभावित हो उसने वीतराग-विज्ञान को गहराई से समझा और प्रभु के समीप उसने श्रावक-धर्म स्वीकार किया ।

उपासक अम्बड़

कम्पिलपुर में सात सौ शिष्यों सहित अम्बड़ परिव्राजक का निवास था । एकदा प्रभु कम्पिलपुर के सहस्राश्रमन में पधारे । अम्बड़ प्रभु के तप, संयम एवं सर्वज्ञता से बड़ा प्रभावित हुआ और उसने अपने शिष्यों सहित वीतराग-विज्ञान समझ कर श्रावक धर्म को स्वीकार किया ।

अम्बड़ को बिना आज्ञा किसी वस्तु के लेने का त्याग था ।

एक बार एक घने विपिन में उन्हें प्यास लगी । पानी भी बह रहा था किन्तु आज्ञा देने वाला कोई न था अतः उन्होंने वह जल नहीं लिया । प्राणान्त का अवसर उपस्थित हो गया तो समभाव ममाधि पूर्वक अनशन स्वीकार कर लिया । इस तरह अम्बड़ और उनके शिष्यों का प्रतिज्ञा के पथ पर हुआ बलिदान साधकों के समुज्ज्वल इतिहास में सर्वदा अमर हो गया ।

गौतम का सारथ्य

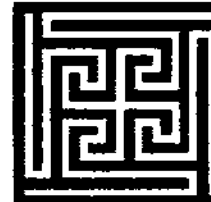
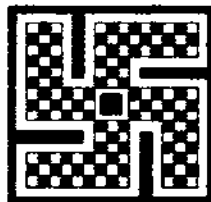
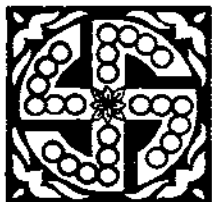
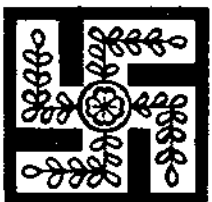
प्रभु एक बार वाणिज्य ग्राम पधारे । श्रीमद्गौतम स्वामी भी नगर में भिक्षार्थ भ्रमण कर रहे थे । कोल्लाम सन्निवेश में आनन्द श्रावक द्वारा अनशन ग्रहण करने के सभाचार मिले । कोल्लाम सन्निवेश निकट ही था । श्री गौतम स्वामी आनन्द से मिलने को वहीं पहुँच गये ।

आनन्द गौतम स्वामी के दर्शन कर बहुत हर्षित हुआ, उसने वार्तालाप के प्रसंग में बताया कि, मुझे अवधि ज्ञान हुआ है । मुझे लवण समुद्र में ५००, योजन तक उत्तर में बुल्लहिमवन्त पर्वत, ऊपर सौधर्म देवलोक तथा नीचे लोलुच्चुअ नरकावास तक दिखाई दे रहा है ।

श्री गौतम स्वामी यह सुनकर चकित हो गये । उन्हें इतना बड़ा अवधिज्ञान किसी श्रावक को होने में संदेह हुआ । उन्होंने कहा यह सम्भव नहीं । आनन्द, कहीं तुम्हें झूठ तो नहीं लग रहा है । तुम्हें इस असत्य की आलोचना कर प्रायश्चित्त लेना चाहिए ।

आनन्द ने कहा—स्वामी आलोचना, सच्चा करे या अन्य ? श्री गौतम ने कहा—सच्चे को प्रायश्चित्त नहीं प्रायश्चित्त झूठ का होता है तो आनन्द ने कहा—इस सत्य-झूठ का निर्णय तो केवल प्रभु कर सकते हैं ।

गौतम स्वामी ज्योंही प्रभु के निकट आये, प्रभु ने ज्ञान द्वारा दृष्ट सारी घटित वार्ता प्रकट कर दी । प्रभु ने यह भी कहा, उक्त प्रसंग में आनन्द का पक्ष सत्य है । यह सुनते ही श्री गौतम स्वामी तुरन्त पुनः आनन्द के आवास पर



पहुँच कर उससे क्षमायाचना की और सत्य को सहर्ष स्वीकार किया। श्रीमद् गौतम स्वामी का यह सारल्य जीवन निर्माण के लिए एक प्रेरक सूत्र है।

विलक्षण रत्न चर्चा

साकेत निवासी जिनदेव एक श्रावक रत्न था। वह व्यापारार्थ 'कोटिवर्ष' नामक नगर में पहुँचा जहाँ एक "चिलात" (किरात) म्लेच्छ राजा का राज्य था। जिनदेव ने उन्हें कुछ रत्न मँट किये, अष्टौ पूर्व होने के कारण वह उन्हें पाकर बड़ा प्रसन्न हुआ। उसकी इच्छा और कई रत्न देखने की हुई। जिनदेव ने कहा—हमारे देश में कई अनोखे रत्न होते हैं आप चलो तो बताएँ।

किरात भी देखने की उत्सुकता लिये जिनदेव के साथ साकेत आ गया। उन दिनों भगवान महावीर वहाँ पधारे हुए थे। हजारों नरनारी उनके दर्शनार्थ उमड़े जा रहे थे। चिलात ने पूछा, ये कहाँ जा रहे हैं? जिनदेव ने कहा, एक बड़ा रत्न व्यापारी आया है सभी वहाँ रत्न लेने जा रहे हैं।

किरात को भी उत्सुकता हुई। वह भी जिनदेव के साथ वहाँ पहुँचा। किन्तु वहाँ कोई रत्न दिखाई नहीं दिया। धर्मोपदेश के बाद भगवान महावीर से रत्नों के विषय में बड़ी सुन्दर चर्चा हुई।

किरात के प्रश्नों के उत्तर में प्रभु ने कहा—द्रव्य और भाव यों दो तरह के रत्न होते हैं। द्रव्य रत्न, भौतिक तथा क्लेशवर्धक और उपाधि-जन्म होते हैं। किन्तु भाव रत्न, प्रशस्त और आनन्द के सर्जक आत्म-कल्याण के विधायक होते हैं, वे ज्ञान रत्न, दर्शन रत्न और चारित्र्य रत्न यों तीन तरह के होते हैं। प्रभु ने इनके स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सांसारिक विकारों की हेयता सिद्ध कर दी।

प्रभु के तत्त्वोपदेश से किरात को स्वरूप ज्ञान हुआ और वह प्रभु के पास दीक्षित हो अनुपम संयम रत्न का अधिकारी बन गया।

एक निषेध

राजशुह में महाशतक भगवान का श्रेष्ठ श्रावक था किन्तु उसकी पत्नि रेवती बड़ी तुच्छ व क्षुद्र स्वभाव की और कर्कशा स्त्री थी। वह महाशतक के धर्माराधन से अप्रसन्न थी।

एक बार महाशतक पौषध में था। रेवती उसके सामने आकर बड़ा अश्लील बोलने लगी, अपने बालों को बिखेर कर और चिल्लाकर महाशतक को ध्यान भ्रष्ट करने लगी। ऐसा उसने दो तीन बार किया तो महाशतक आतंकित हो उठा और उसने उसके नरक-गमन का निश्चय प्रकाशित कर दिया।

प्रभु महावीर तब राजशुह ही थे। उन्हें अपने ज्ञान से यह ज्ञात हुआ तो उन्होंने गौतम स्वामी को महाशतक के निकट भेजा। श्री गौतम स्वामी ने महाशतक को समझाया कि ऐसा सद्भूत निश्चय भी श्रावक को पौषध में प्रकट करना नहीं कल्पता। महाशतक ने आत्मशुद्धि की।

पुण्यपाल के आठ स्वप्न

पावा के राजा पुण्यपाल को एक रात्रि में दश स्वप्न दिखाई दिये। उस समय प्रभु का चातुर्मास पावा में ही था। यह प्रभु का अन्तिम चातुर्मास था। हाथी, बन्दर, क्षीर तरु, कौशा, सिंह, पक्ष, बीज और कुंभ ये कुल आठ स्वप्न राजा को आये, ये सभी अशुद्धावस्था पूर्ण थे।

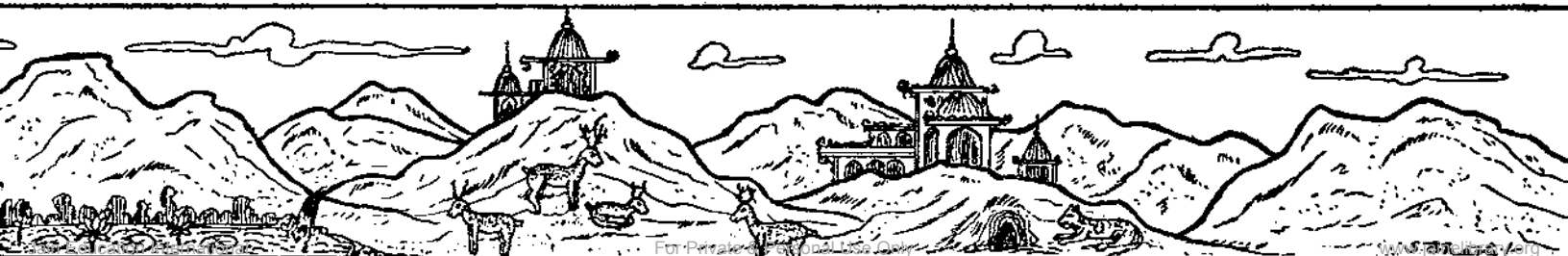
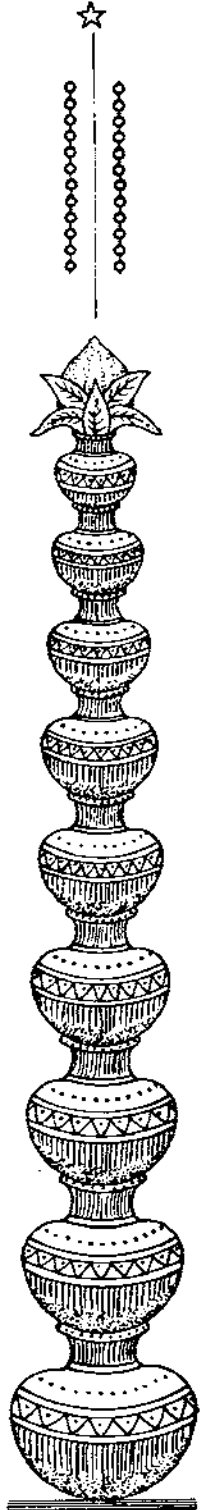
इन स्वप्नों से राजा का मन चिन्तित और आतंकित-सा हो गया। उसने प्रभु के समक्ष अपने स्वप्नों की बात रखी। स्पष्टीकरण करते हुए प्रभु ने कहा, राजन्! ये अशुद्ध स्वप्न अशुद्ध भावी युग के सूचक हैं। अब श्रेष्ठत्व कम होकर आर्यावर्त में हीनत्व का प्रभाव बढ़ेगा।

हाथी, स्वप्न की सूचना यह है कि श्रमणोपासक क्षणिक सामान्य ऋद्धि पाकर भी अहं में हाथी की तरह फूल जाएँगे।

कपि दर्शन का परिणाम यह होगा कि कई संपत्ति आचार्य चंचल प्रकृति के और क्षुद्र होंगे।

क्षीर तरु का तात्पर्य यह है कि यशादि लाभार्थ दान देने वाले व्यक्तियों को कुसायु बड़ा महत्त्व देंगे।

काक स्वप्न का अर्थ यह है कि साधु संस्था में अनुशासनहीनता की अभिवृद्धि होगी।



सिंह किन्तु क्लान्तावस्था में दिखाई दिया, इसका तात्पर्य यह है कि जैनधर्म का प्रकाश मन्द होगा। मिथ्यात्व बढ़ेगा।

कमल को कीचड़ में लिप्त देखा इसका अर्थ है कि श्रेष्ठ कुलोत्पन्न व्यक्ति भी हीनाचरण से ग्रस्त हो जाएगा। प्रायः कुसंग करेगा।

सातवें स्वप्न में बीज देखा, राजन् ! गृहस्थ मूर्ख किसान की तरह उपजाऊ, सुपात्र मुनि को छोड़ ऊसर, पाखण्डियों की अधिक सेवा करेंगे।

आठवें स्वप्न कुंभ का निर्णय देते हुए प्रभु ने कहा—खाली घड़ा मोटा तो दिखता है किन्तु उसमें सार तत्त्व की कमी होती है ऐसे ही निःसार, पाखंडी शिथिलाचारी साधु ही अधिक होंगे।

प्रभु के द्वारा अपने स्वप्नों का निर्णय सुन कर राजा पुण्यपाल को आश्चर्य तो हुआ ही साथ ही, परिवर्तनशील संसार के स्वभाव को पहचान कर उसे विरक्ति हो गई। और उन्होंने प्रभु के चरणों में संयम स्वीकार कर लिया।

प्रभु अपनी आयु बढ़ावें

प्रभु का निर्वाण निकट ही था। शक्रेन्द्र से यह बात छिपी हुई नहीं थी।

उन्होंने सेवा में उपस्थित हो आग्रह किया—प्रभु ! आपकी जन्म-राशि पर मस्म ग्रह संक्रान्त होने वाला है। वह दो हजार वर्ष रहेगा अतः आप अपने निर्वाण को कुछ आगे बढ़ा दें। जिससे यह अशुभ योग टल जायेगा। प्रभु ने कहा—यह नहीं हो सकता।

आने वाली परिस्थितियां जिन शासन के लिए विकट हैं। उनका विकट निवारण संभव नहीं।

इन्द्रमूर्ति को अन्तिम आज्ञा

इस चातुर्मास के अन्तिम मास कार्तिक में, अपना निर्वाण निकट जान कर कार्तिकी अमावस्या के एक दिन पूर्व ही प्रभु ने बेले का तप कर उपदेश प्रारम्भ किया।

यह प्रवचन सोलह प्रहर तक चला।

प्रभु ने गौतम स्वामी का अपने प्रति असीम अनुराग देखकर सोचा—यदि यह मेरे निर्वाण के समय उपस्थित रहा तो शोक द्रवित हो असीम रुदन करेगा अतः प्रभु ने उन्हें एक देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोधित करने का आदेश देकर उसके स्थान पर भेज दिया। श्री गौतम स्वामी तो केवल 'आणाए धम्मो' के पालक थे। वे देवशर्मा को प्रति बोधित करने गये।

परिनिर्वाण

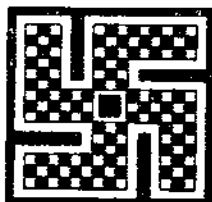
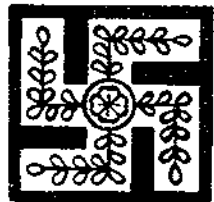
कार्तिक कृष्णा अमावस्या की अर्धरात्रि का समय था मुहूर्तानुसार, चन्द्र संवत्सर प्रीतिवर्धनमास, नन्दीवर्धन पक्ष, उपशम दिन, देवानन्दारात्रि अर्ध नामक लव था। सर्वार्थ सिद्ध मुहूर्त्त में स्वाति नक्षत्र का शुभयोग था।

प्रभु ने अपना अन्तिम अवसर देख, उत्कृष्ट शुकल ध्यान किया। शैलेशी दशा को प्राप्त करते हुए शेष अघाती कर्मों का क्षय कर योग निरुद्ध होते ही पंचाक्षारोचनारण जितने अल्प समय में ही सिद्ध हो गये।

गौतम स्वामी को कैवल्य

प्रभु के निर्वाण होने की सूचना क्षणभर में चारों ओर फैल गई। देवनिर्वाणोत्सव करने लगे, धर्मानुरागी नरनारी प्रभु के वियोग में शोकाकुल रुदन करने लगे, ज्ञानीजन, वीतराग भाव में रमण करने लगे। त्रैलोक्य दीप के बुझ जाने के कारण सारा वातावरण तमसावृत-सा हो गया।

श्री गौतम स्वामी तुरन्त निर्वाण-स्थल पर पहुँच कर शोकाकुल हो गये। कहते हैं, उस समय इन्द्र ने श्री गौतम स्वामी को भक्तिभाव पूर्वक बड़े मधुर शब्दों में धैर्य दिया और ज्योंही श्री गौतम धैर्यस्थ हुए उनका वीतराग भाव जाग्रत हो गया। वे शोक का परित्याग कर आत्म-चिन्तन में लग गये। उसी क्षण उन्हें कैवल्य की प्राप्ति हो गई।



उस रात द्रव्य प्रकाश किया गया

प्रभु के निर्वाण साथ ही के विश्व का माव प्रकाश उठ गया। देवों ने अहम-प्रकाश के अभाव को व्यक्त करते हुए नगर में रत्नों के द्वारा द्रव्य प्रकाश किया। उस समय देश के अठारह गणराज्यों के प्रधान नृप भी वहाँ पौषध-साधना रत थे। उन्होंने अपने-अपने स्थानों पर यह द्रव्य प्रकाश की उस परम्परा को चालू रखी।

आज भी दीप-माला के रूप में वह क्रम चल रहा है।

दाह-क्रिया

प्रभु के पार्थिव शरीर की दाहक्रिया देवों द्वारा संपन्न हुई। मानव भी सम्मिलित थे।

श्रेष्ठ सुगन्धित पदार्थ से शरीर सिञ्चित किया गया। अग्निकुमार नामक देवों ने आग प्रज्वलित की। वायु कुमार देवों ने आग को व्यापक किया। मेघकुमार ने सुगन्धित जल से चिता शान्त की।

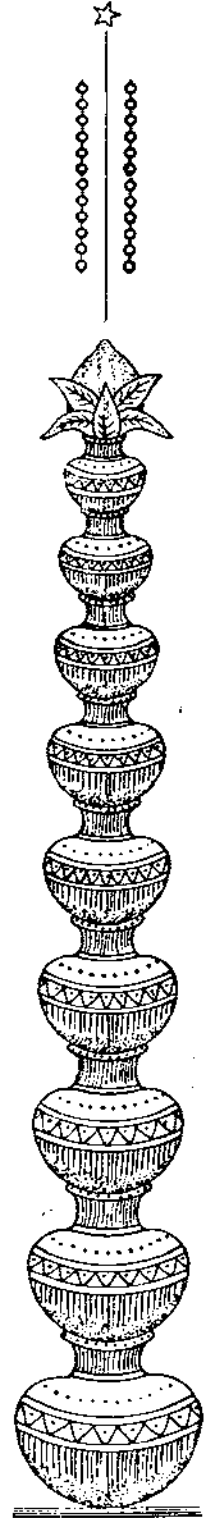
भगवान महावीर के विषय में कतिपय ज्ञातव्य—

भगवान तीस वर्ष गृहवास, बारह वर्ष से कुछ अधिक छद्मस्थ, कुछ कम तीस वर्ष केवली रहे। इस तरह कुल बहत्तर वर्ष का आयुष्य पाये।

प्रभु ने अस्थिग्राम में एक, चम्पा और पृष्ठ चम्पा में तीन, वैशाली में बारह, नालंदा (राजगृह) में चौदह मिथिला में छह, भद्रिका में दो, आलमिया में एक, सावत्थी में एक, अनार्य देश में एक और अन्तिम चातुर्मास पावा में यों कुल बियालीस चातुर्मास किये।

भगवान महावीर के शासन में ७०० केवली, ५०० मनपर्यवज्ञानी ३०० अवधिज्ञानी, ३०० चौदह पूर्वधारी ४०० वादी, ७०० बैक्रिय लब्धि धारक, ८०० अनुत्तरोपपातिक मुनि, १४००० साधु, ३६००० आर्यिका, १५६००० श्रावक तथा ३१८००० श्राविकार्ण थीं।

श्रावक-श्राविकाओं की यह संख्या व्रत-धारियों की दृष्टि से है।



केवलि-काल

प्रधान शिष्य श्री इंद्रभूति गौतम

भगवान महावीर के परिनिर्वाण के बाद उनके पट्ट पर श्री सुधर्मा स्वामि को स्थापित किया गया, किन्तु भगवान महावीर के प्रधान शिष्यरत्न श्री गौतम स्वामि के परिचय के बिना इतिहास को आगे बढ़ाना एक ऐतिहासिक कमी होगी।

श्री गौतम स्वामी का भगवान महावीर के शासन में इतना विशाल व्यक्तित्व रहा कि उसकी कोई उपेक्षा कर ही नहीं सकता।

जन्म

श्री गौतम का जन्म स्थान गोब्बर ग्राम माना जाता है जो राजगृह के निकट था। गौतम गौत्रीय ब्राह्मण परिवार में ईसा पूर्व ६०७ वर्ष में श्री गौतम का जन्म हुआ। इंद्रभूति नाम रखा गया। वसुभूति पिता था और 'पृथ्वी' माता का नाम था।

अग्निभूति और वायुभूति, ये दो छोटे भाई थे।

पाण्डित्य

इंद्रभूति गौतम आदि तीनों भ्राता बाल्यावस्था से ही बड़े बुद्धिमान और तत्त्व जिज्ञासु थे।

पच्चीस वर्ष की वय तक विविध प्रकार की विद्याओं, वेद वेदांगों आदि का विस्तृत अध्ययन कर श्री गौतम अधिकृत विद्वान सिद्ध हो गये। उन्होंने अपने वाक्चातुर्य तथा सुदृढ़ ज्ञान-शक्ति के द्वारा अनेकों विद्वानों को विवाद में पराजित किया और वादि-गर्जसिंह, जैसी अनेकों उपाधियाँ प्राप्त कीं।

श्री गौतम के पाण्डित्य से प्रभावित हों, सहस्रों विद्यार्थी इनके पास ज्ञानार्जन ढूँको आया करते थे। पाँच सौ विद्यार्थी तो प्रायः विद्याध्ययन के लिए निरन्तर निकट ही रहते थे।

बड़े-बड़े विद्वान ब्राह्मण तथा घनाढ्य व्यक्ति अपने यज्ञादि अनुष्ठान श्री गौतम के हाथों सम्पन्न कराने में अपना सौभाग्य समझते थे।

श्री गौतम वैदिक कर्मकाण्ड के भी सफल साधक थे। विधि-विधान युक्त क्रियाकाण्ड सम्पन्न करने में वे बेजोड़ थे।

प्रभु के चरणों में

अपाषा निवासी सोमिल ब्राह्मण ने बहुत बड़े यज्ञ का आयोजन किया था। उसने अपने उस विशाल यज्ञ में इंद्रभूति के अलावा अग्निभूति, वायुभूति, व्यक्त, सुधर्मा, मंडित, मौर्य, अकंपित, अचल भ्राता और प्रभास जैसे श्रेष्ठ कर्मकाण्डी प्रसिद्ध विद्वानों को भी निमन्त्रित किया। सम्पूर्ण यज्ञ श्री इंद्रभूति की अध्यक्षता में सम्पन्न हो रहा था।

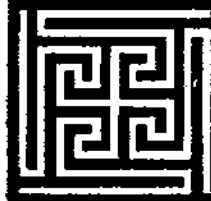
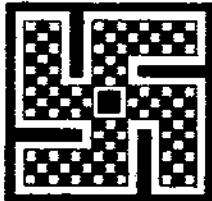
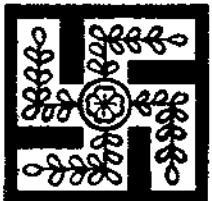
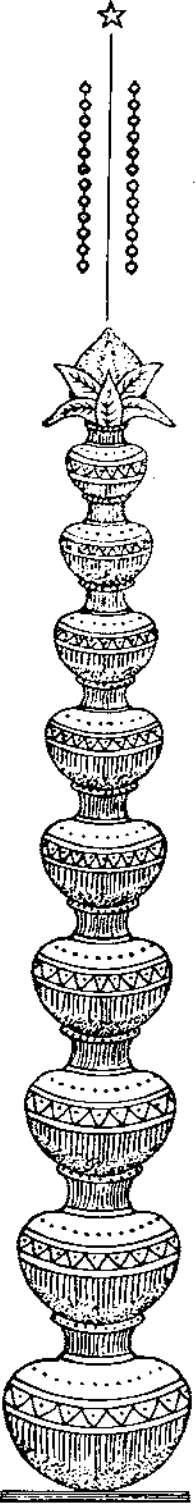
उन दिनों विश्व ज्योति भगवान महावीर भी वहीं पधारे हुये थे। समवसरण की रचना थी। देवगण गगन मार्ग से प्रभु के दर्शनार्थ उमड़ रहे थे।

यज्ञानुष्ठान जहाँ संपन्न हो रहा था देवगण वहीं होकर समवसरण की तरफ बढ़ रहे थे। यज्ञकर्ता प्रायः समझ रहे थे कि हमारी आहुतियों से प्रसन्न होकर देव यज्ञ में उपस्थित हो रहे हैं किन्तु जब देवगण आगे बढ़ जाते तो उन्हें बड़ी निराशा होती। इतना ही नहीं, इंद्रभूति को तो यह अपना सबसे बड़ा अपमान लगा। वे तिलमिला उठे। उन्होंने लगभग चिल्लाते हुए कहा—वह इंद्रजालिया कौन है जो मेरे यज्ञ में आते देवों को आकृष्ट करता है? मैं उसे अभी वाद और विद्या दोनों तरह से पराजित करके रहूँगा।

किसी ने भगवान महावीर का परिचय दिया तो इंद्रभूति क्रोधित हो उधर ही चल पड़े उन्हें अपनी विद्या और कर्मकाण्ड का बड़ा गर्व था।

भगवान समवसरण के मध्य विराजमान थे।

इंद्रभूति गौतम ज्यों ही प्रभु के निकट पहुँचे, प्रभु की आकर्षक दिव्य आकृति, सौम्य मुखमंडल तथा देवकृत



सातिशायी भव्य संरचना देखकर दंग रह गये। वे अपलक नेत्रों से प्रभु के भव्य आनन की तरफ निहारते ही रह गये। वे एक शब्द भी नहीं बोल पाये। प्रभु ने पहले नामोच्चारण करते हुए गौतम के चाकचिक्य को भंग किया। प्रभु ने स्नेहसिक्त वाणी से गौतम से वार्तालाप करते हुए उनके हृदयगत भावों की स्पष्ट प्रकट कर दिया।

वेदों के कुछ वाक्यों के विषय में इन्द्रभूति गौतम के मन में शंकाएँ थीं। प्रभु ने उनका ठीक-ठीक समाधान करते हुए दृढ़ता के साथ जीव का अस्तित्व सिद्ध कर दिया।

प्रभु ने कहा—गौतम ! आत्मा एक नहीं अनेक हैं और वह देह से भिन्न है। पाँच भूतों से आत्मा की उत्पत्ति संभव नहीं, आत्मा अलग द्रव्य है।

प्रभु की आत्म-विवेचना से गौतम के अन्तर्चक्षु खुल गये। प्रभु के तत्त्वोपदेश से गौतम वैराग्योत्साह से तरंगित होने लगे। उन्होंने अपने पाँच सौ विद्यार्थियों को भी तत्त्वोपदेश दिया। इस तरह सभी ने एक साथ प्रभु के चरणों में 'जैनेन्द्रिया' दीक्षाग्रहण कर अपने जीवन को अध्यात्म मार्ग पर बढ़ा दिया।

विक्रम पूर्व ५०० वैशाख शुक्ला एकादशी के दिन यह प्रव्रज्या ग्रहण समारोह संपन्न हुआ।

४४०० शिष्यों के साथ

इन्द्रभूति गौतम प्रभु के पास दीक्षित हो गये। इस संवाद के विस्तृत होते ही अन्य विद्वानों में आक्रोश और आश्चर्य की लहर दौड़ गई। प्रभु को वाद कर परास्त करने की उम्मीद लेकर अग्निभूति, वायुभूति अपने पाँच-पाँच सौ शिष्यों को लेकर उपस्थित हुए, किन्तु इन्द्रभूति की तरह उनका भी समाधान कर प्रभु ने उन्हें प्रतिबोधित किया और उन्होंने संयम स्वीकार कर आश्चर्य को और अधिक विस्तृत कर दिया।

व्यक्त और सुधर्मा भी अपने सहस्र शिष्यों सहित उपस्थित हुए किन्तु वे सभी पूर्ववत् प्रव्रजित हो गये।

मंडित और मौर्य पुत्र के साढ़े तीन-तीन सौ शिष्य थे, अकम्पित अचलभ्राता मैतार्य और प्रमास के तीन-तीन सौ शिष्य थे। ये सभी प्रभु के पास इन्द्रभूति की ही तरह उपस्थित हुए। प्रभु ने सभी की विविध शंकाओं का बिना कहे ही समाधान कर दिया और उन्हें प्रतिबोध देकर संयम प्रदान किया। इस तरह पहली देशना में ही प्रभु के ४४११ शिष्य (११ विद्वान एवं उनके ४४०० शिष्य) हुए।

प्रभु ने इन्द्रभूति आदि को त्रिपदी, उत्पाद व्यय और ध्रौव्य का सद्बोध देकर वस्तु स्वरूप का सम्यक्बोध दिया। इन गणधरों ने त्रिपदी पर मनन कर चौदह पूर्व^१ की रचना की।

'अत्थं भासेइ अरहा, सुत्तं गत्थंति गणहरा' इस सिद्धान्त के अनुसार इन गणधरों के द्वारा द्वादशांगी की रचना सम्पन्न हुई।

प्रभु ने सुयोग्य समझ कर इन प्रधान ग्यारह मुनियों को 'गणधर' पद प्रदान किया।

इनमें अकम्पित और अचल का एक ही गण था। इसी तरह मैतार्य और प्रमास का भी एक गण था।

अन्य सभी का गण भिन्न था, यह समुदाय की भिन्नता नहीं थी, अपितु प्रभु के द्वारा दी गई वाचना की अपेक्षा ये गण थे।

प्रभु से अनन्यता

यद्यपि प्रभु के शासन में ग्यारह गणधर थे किन्तु इसमें कोई संदेह नहीं कि उनमें सर्वाधिक महत्त्व केवल गौतम स्वामी को मिला।

- | | |
|-----------------------------|-------------------------|
| १ उत्पाद पूर्व | ८ कर्म प्रवाद पूर्व |
| २ अग्रायणी पूर्व | ९ प्रत्याख्यान पूर्व |
| ३ वीर्य प्रवाद पूर्व | १० विद्यानुप्रवाद पूर्व |
| ४ अस्ति नास्ति प्रवाद पूर्व | ११ कल्याणवाद पूर्व |
| ५ ज्ञान प्रवाद पूर्व | १२ प्राणावाय पूर्व |
| ६ सत्य प्रवाद पूर्व | १३ क्रिया विशाल पूर्व |
| ७ आत्म-प्रवाद पूर्व | १४ लोकबिन्दुसार पूर्व |



प्रभु प्रायः गौतम स्वामी को उद्दिष्ट कर उपदेश देते और गौतम भी किसी भी तरह की शंका का समाधान तत्काल केवल प्रभु से पूछते ।

चार ज्ञान तथा चौदह पूर्व के अधिकृत विद्वान् होते हुए भी उन्हें तनिक भी गर्व नहीं था । प्रतिक्षण प्रभु की आज्ञा को शिरोधार्य करने में तत्पर रहते ।

आनन्द के अवधिज्ञान के प्रसंग में आनन्द का पक्ष सत्य था और जब गौतम स्वामी को प्रभु के द्वारा निर्णय होने पर उस सत्यता का बोध हो गया तो, प्रभु आज्ञा शिरोधार्य कर, उन्होंने तत्काल गाथापति आनन्द के निकट पहुँच कर “खमत खामणा” किये ।

श्री गौतम स्वामी प्रायः प्रभु के साथ ही विचरण किया करते । वे निरन्तर अनन्य भाव से सेवा करते ।

भगवान् महावीर के प्रति श्री गौतम स्वामी का असीम राग-भाव था, कहते हैं—यही कारण था कि भगवान् महावीर की उपस्थिति में उन्हें कैवल्य नहीं हो सका ।

भगवान् महावीर ने इस असीम अनुराग भाव का कारण कई भवों का संगर्ग बताया । कहते हैं—भगवान् महावीर की आत्मा जब त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में थी तब गौतम की आत्मा उनके सारथी के रूप में निकट सम्बन्ध में थी इस तरह कई भवों का पारस्परिक स्नेह-सम्बन्ध प्रभु ने स्पष्ट किया ।

श्री गौतम स्वामी के असीम अनुराग को देखकर ही प्रभु ने अपने निर्वाण से पूर्व उन्हें देवशर्मा नामक ब्राह्मण को प्रतिबोधित करने भेज दिया । श्री गौतम स्वामी प्रभु आज्ञा शिरोधार्य कर वहाँ गये । पीछे से प्रभु का निर्वाण हो गया ।

यही प्रसंग श्री गौतम स्वामी के केवलोपार्जन का बना ।

श्री गौतम स्वामी को उक्त अवसर पर बड़ा शोक हुआ किन्तु कहते हैं—इन्द्र ने अनुनय विनय पूर्वक उन्हें धैर्य प्रदान किया । उस अवसर पर उनकी आध्यात्मिकता ने निर्मोह की भूमिका का क्रांतिकारी संस्पर्श किया और परम कृष्णकर्मी श्री गौतम स्वामी को तत्काल केवल ज्ञान हो गया ।

निर्वाण

श्री गौतम स्वामी ने केवली बनने के बाद बारह वर्ष तक भूमण्डल पर सार्थक विचरण किया । अन्त में राजगृह के गुणशील चैत्र्य में संलेखना संधारा सहित मोक्ष पद प्राप्त किया ।

भगवान् श्री गौतम स्वामी ५० वर्ष की वय में सयमी बने । तीस वर्ष प्रभु की सेवा में रहे और बारह वर्ष केवली; यों कुल ६२ वर्ष की कुल उम्र पाये ।

(१) भगवान् महावीर के प्रथम पट्टधर 'आर्य सुधर्मा'

भगवान् महावीर के प्रधान शिष्यरत्न श्री गौतम स्वामी को प्रभु निर्वाण के तुरन्त बाद केवल ज्ञान हो चुका था । केवली सर्वथा संसार निरपेक्ष होते हैं अतः उन्हें किसी पद पर स्थापित नहीं किया जाता । वे नितान्त आत्मानन्द विलासी, अपने में परिपूर्ण होते हैं ।

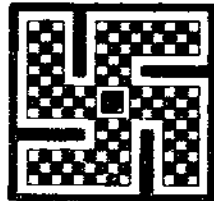
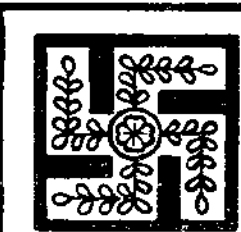
आर्य सुधर्मा को छोड़कर शेष-गणधर प्रभु की उपस्थिति में ही निर्वाण पा गये थे । उस स्थिति में प्रभु निर्वाण के बाद प्रभु द्वारा स्थापित विशाल चतुर्विध संघ की समुचित धार्मिक व्यवस्था हेतु प्रभु के ही सुयोग्य शिष्य श्री सुधर्मा-स्वामी को कार्तिक शुक्ला प्रतिपदा के दिन प्रभु के गरिमापूर्ण, धर्म पट्ट पर स्थापित किया ।

अन्य गणधरों के जो गण थे—उनका भी श्री सौधर्म गच्छ में विलीनीकरण हो गया । इस तरह, प्रभु के बाद वीर-संघ की सम्पूर्ण व्यवस्था का भार पुण्यश्लोकी, गुणालय आर्य सुधर्मा के सुयोग्य स्कन्धों पर उतर आया ।

जन्मादि अन्य परिचय

श्री सुधर्मा स्वामी का जन्म ईसा पूर्व ६०७ वर्ष विदेह प्रदेश के कोल्लाग नामक ग्राम में हुआ । पिता का नाम धम्मिल्ल था तथा माता का नाम भद्रिला । बाल्यावस्था से ही धर्म के प्रति अनुराग होने के कारण 'सुधर्म' के नाम से प्रसिद्ध हुए ।

संसारिकता के प्रति बाल्यावस्था से ही एक उदासीनता उनके मन में छाई हुई थी, नहीं चाहते हुए भी पारिवारिक जनों ने एक कन्या से लग्न कर दिया । इन्हें एक कन्या की भी प्राप्ति हुई ।



सांसारिकसुख के सभी साधन उपलब्ध होते हुए भी ये निरन्तर ज्ञानाभ्यास तथा अध्यापन कार्य में लगे रहते ।
श्रीराम स्वामी की तरह सुधर्मा भी उस युग के वेद-वेदांगों के श्रेष्ठ विद्वानों में से थे । इनके पास पांच सौ छात्र प्रायः अध्ययन के लिये बने रहते ।

अपापा में जब भी इन्द्रभूति, अग्निभूति, वायुभूति और व्यक्तभूति अपनी शंकाओं का समाधान पाकर प्रभु के चरणों में दीक्षित हो गये तो श्री सुधर्मा भी अपना समाधान पाने प्रभु के निकट पहुँचे और सदा के लिये जिन शासन के अधीन हो गये ।

श्री सुधर्मा पचास वर्ष की उम्र में दीक्षित हुए । तीस वर्ष प्रभु की सेवा में रहे । बीस वर्ष संघ संचालन किया—इनमें आठ वर्ष अन्त के केवली पर्याय रूप थे । कुल १०० वर्ष का आयुष्यपूर्ण कर राजगृह के गुणशील चैत्य में पादोप गमन संवारा युक्त हो मुक्ति पद पाये ।

जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है अन्य गण सौधर्म मन्त्र में सम्मिलित हो चुके थे अतः वर्तमान श्रमण परम्परा सौधर्म मन्त्रीय ही है, साथ ही अन्य गणों की जो वाचनाएँ थीं वे भी आज नहीं हैं । आज जो अंगादि शास्त्र हैं वे सौधर्म वाचना के ही अंग हैं ।

(२) वैराग्य रत्नाकर “श्री जम्बू स्वामी”

आर्य सुधर्मा स्वामी के परिनिर्वाण के बाद वैराग्य रत्नाकर श्री जम्बू स्वामी को पट्टाधीश निश्चित किया गया ।

राजगृह नगर में ऋषभदत्त नामक एक धर्मनिष्ठ श्रेष्ठि का निवास था । गृहिणी का नाम धारिणी था । दोनों पति-पत्नी सदगुणी, सुन्दर और धर्मानुरागी थे । वैभव उनके पास बहुत था किन्तु पुत्र की कमी से उनका सारा गृह लगभग शून्यवत् था । सेठ की अपेक्षा सेठानी के मन पर इस कमी का अधिक प्रभाव था ।

एकदा भगवान सुधर्मा स्वामी के दर्शनार्थ दोनों पति-पत्नी वैभार गिरि की तरफ जा रहे थे, वहीं मार्ग में यश-मित्र नाम का एक नैमित्तिक उन्हें मिला और निमित्त के बल से उसने एक सुन्दर सुपुत्र होने की भविष्य वाणी की, साथ ही इसके लिये जम्बू नामक देव की आराधना के लिये १०८ आर्यबिल करने की प्रेरणा भी प्राप्त हुई ।

सेठानी ने अपना अभिष्ट सिद्ध करने को वैसा ही किया ।

कालान्तर में एक रात्रि उसने सुन्दर सिंह शावक और सरस जम्बू फल के स्वप्न देखे । कुछ ही दिनों में उसे अपने देह में किसी नये जीवन का आविर्भाव भी स्पष्ट प्रतीत हुआ ।

ज्यों-ज्यों गर्भकाल व्यतीत होता गया । ऋषभदत्त के गेह में श्री वृद्धि होने लगी । धारिणी भी सद संस्कारों से अपने गर्भ को प्रतिपालित करती रही ।

गर्भकाल की परिपक्वता के बाद धारिणी ने एक सुन्दर शिशु को जन्म दिया उसका नाम स्वप्न के आधार पर “जम्बू” रखा ।

‘जम्बू कुमार’ जो कि ऋषभदत्त के पतझड़ पूर्ण जीवन में वसन्त की तरह उग आया, हाथों-हाथ चलने लगा ।

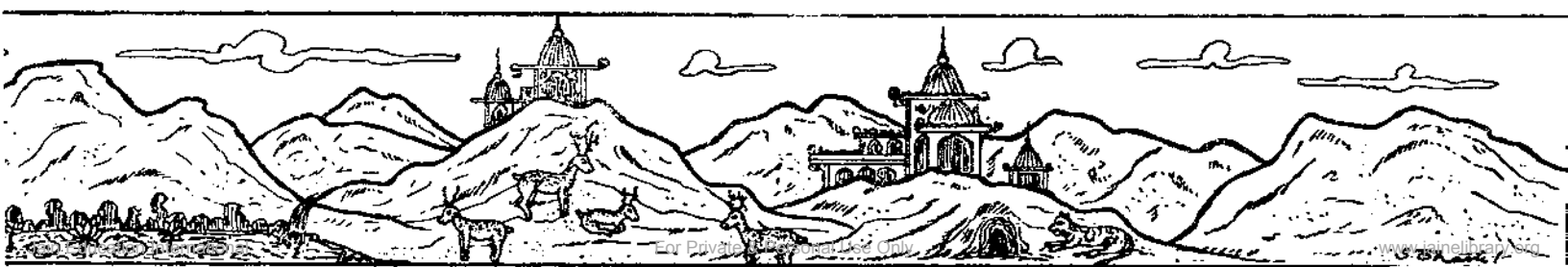
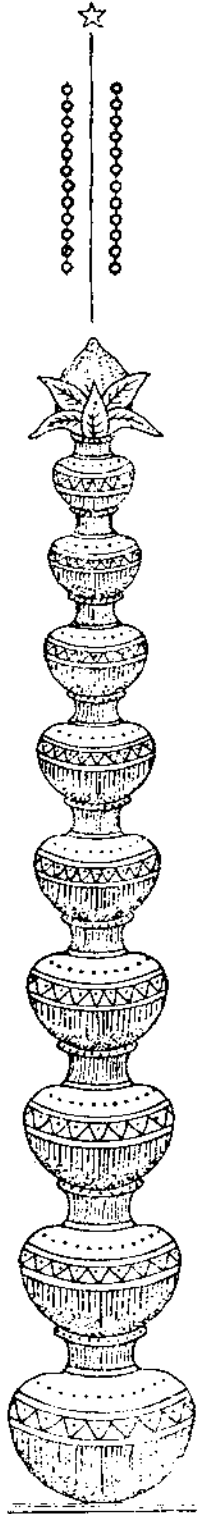
सुवर्ण और सुडौल देहाकृति से युक्त जम्बू जन-जन का प्रिय और माता-पिता की आँखों का तारा था ।

ज्यों ही वह योग्यावस्था में आया श्रेष्ठ कलाचार्य के नेतृत्व में नियुक्ति कर पुरुष योग्य ७२ कलाओं में उसे निपुण बनाया गया ।

जम्बू कुमार अब तन और बुद्धि से पूर्ण विकसित युवक रत्न था । दमकता हुआ बाल-रवि मध्याह्न में आते-आते जिस तरह अपनी सम्पूर्ण तेजस्विता के साथ चमकने लगता है । ऐसे ही जम्बू ज्योंही यौवन की देहली पर आया उसकी विशाल, सुडौल देह राशि पर यौवन सूर्य-तेजस्विता के साथ दमकने लगा ।

श्रेष्ठि-श्रेष्ठि ऋषभदत्त ने अपने सुपुत्र के लिये आठ कन्याओं के साथ सम्बन्ध निश्चित किये । आठों कन्याएँ श्रेष्ठ कुलों में जन्मीं, सदसंस्कारों में पलीं तथा अप्सराएँ भी लज्जित हों ऐसी सुन्दरियाँ थीं । उनके नाम क्रमशः थे—

समुद्र श्री, पद्मश्री, पद्म सेना, कनक सेना, नभ सेना, कनकश्री, कनकवती, जयश्री ।



वैराग्योदय

उन्हीं दिनों भगवान महावीर के पट्टधर शिष्य श्री सुधर्मा स्वामी का राजगृह पदार्पण हुआ। सहस्रों व्यक्तियों की तरह श्री जम्बू भी दर्शनार्थ गया और उनके अमृतमय उपदेशों का सरस पान कर अपने आपको धन्य बनाया।

श्री सुधर्मा स्वामी के उपदेशों में आत्मा के अनन्तकालिक भवभ्रमण का बड़ा सजीव विवेचन था, जिसे श्रवण कर जम्बू का हृदय वैराग्य की तरंगों में लहराने लगा। ज्यों-ज्यों, जम्बू श्री सुधर्मा स्वामी के उपदेशों पर मनन करता गया त्यों-त्यों सांसारिकता की असारता और संयम की श्रेष्ठता का तत्त्व-रत्न उसे मिलता रहा।

उसे अनुभव हुआ कि जीवन का सर्वाधिक करणीय पुरुषार्थ तो केवल यह है कि आत्मा अपने अनन्त कालिक भव भ्रमण की संतति को काट सके।

जम्बू जब पुनः अपने गृह की ओर बढ़ रहे थे उनके अन्तर में, दृढ़ निश्चय भी होता जा रहा था। उन्होंने अपने भवन पर पहुँच कर अपने सम्यक् निर्णय और दृढ़ निश्चय का परिचय माता-पिता को स्पष्ट दे दिया।

श्री जम्बू का निश्चय संयम मार्ग पर बढ़ने का था। अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय-पुत्र के द्वारा संयम का निश्चय सुनकर माता तो मूर्च्छित ही हो गई—पिता भी आहत से हो चिन्तित हो गये। उन्होंने पुत्र के इस वज्र संकल्प का कई तरह विरोध किया। उसे कई तरह से समझाया किन्तु उन्हें सफलता नहीं मिली।

वैराग्य पूर्वक विवाह

जम्बू कुमार के माता-पिता के लिये जम्बू का दृढ़ निश्चय लगभग असह्य था किन्तु श्री जम्बू का निश्चय, तत्त्वार्थ पर आधारित आत्मा के धरातल से उठा एक परम सत्य था। जीवन में परम सत्य को पा जाना ही बहुत बड़े भाग्य की बात है। जम्बू उसे पाकर खोना नहीं चाहते थे।

माता-पिता को भी लगभग निश्चय हो गया कि अब जम्बू का निश्चय परिवर्तित होना सम्भव नहीं फिर भी उन्होंने एक अंतिम प्रयास और किया।

उन्होंने कहा—हमने बड़ी आशाएँ लगा रखी थीं तुम पर, जम्बू ! तुम्हारे इस नवीन-निश्चय से हमारी लगभग सभी इच्छाओं पर पानी फिर गया।

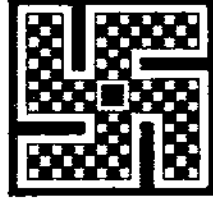
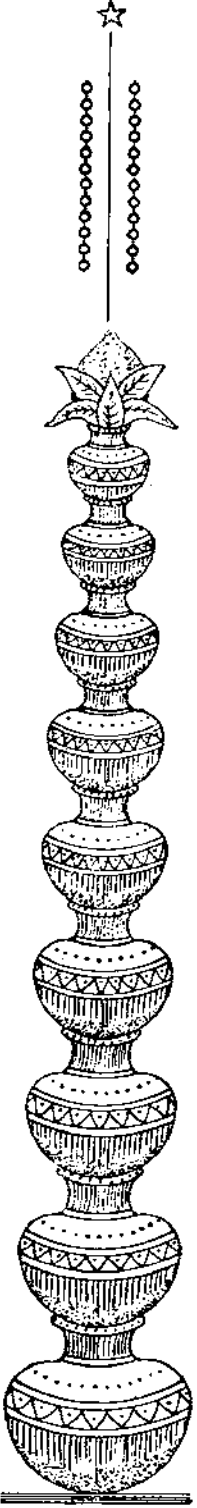
अब अन्त में हमारा एक छोटा-सा आग्रह है—यदि तुम संयम-पथ पर बढ़ना ही चाहते हो तो बड़ो, किन्तु विवाह कर एक बार हमारे आँगन पर पुत्र-वधुओं के आभूषणालंकृत पद चाप की मधुर झंकार झंकृत हो जाने दो। फिर अपनी पत्नियों को मनाकर तुम संयमी बनो, हमारी कोई आपत्ति नहीं। यह सुनकर जम्बू ने कहा—मैंने आजीवन ब्रह्मचर्य का नियम लिया है, मुझसे अब विवाह करने को कोई कन्या क्यों तैयार होगी, मेरा निश्चय स्पष्ट है, किसी को अनजान भी नहीं रखना है फिर भी यदि कोई विवाह को तैयार हो जाए तो मुझे आपत्ति नहीं। मैं आपकी इस अंतिम अमिलाषा को खण्डित नहीं करना चाहता।

जम्बूकुमार का यह अनुकूल उत्तर पाकर माता-पिता बड़े प्रसन्न हुए। उन्हें विश्वास था कि आने वाली कन्याएँ इसे अपने आकर्षण में बाँध लेंगी और पुत्र संयम के पथ पर बढ़ने से रुक जाएगा।

ऋषभदत्त सेठ ने अपने आठों सम्बन्धियों को अपनी सारी वास्तविकता से अवगत किया और विवाह का प्रस्ताव रखा। ऐसी स्थिति में कोई विवाह करे यह सम्भव नहीं था किन्तु आठों कन्याओं ने मिलकर, विवाह करने का निश्चय कर लिया था। उन्हें अपनी सुन्दरता का मान तो था ही साथ ही उन्होंने यह भी निश्चय किया कि एक व्यक्तिके प्रति पति-भाव का निश्चय कर अन्य का वरण करना अधर्म है।

उन्होंने निश्चय किया कि हमें त्याग कर जाना आसान नहीं है—हम अपनी राग-पाश में बाँधकर उन्हें निश्चय से हटा देंगी।

कन्याओं के निश्चयानुसार उनके माता-पिता, विवाह को तैयार हो गये और उचित समय पर बड़े समारोह के साथ विवाह कार्य-संपन्न हुआ। कन्याओं को विदा करते समय माता-पिता उनकी विजय की मंगलकामना के साथ उनकी भावी सुरक्षा के लिये अतुल धन-वैभव भी साथ दिया।



विवाहित जम्बूकुमार ने आठों कमल-किसलय-सी सुकुमार पत्नियों के साथ जब गृह-प्रवेश किया तो धारिणी का रोम-रोम पुलकित हो उठा। मंगल आरतियाँ कर उनका स्वागत किया।

जम्बू-विवाह के प्रारम्भ से अंत तक, एक आज्ञाकारी की तरह सारे कार्यक्रम निभाते रहे उन्हें कहीं भी तो रस नहीं था।

अनोखी सुहागरात

नव दम्पति के लिये सुहागरात मम्मोहन और विमुग्धता लेकर आती है किन्तु, जम्बू की सुहागरात तो अनोखी थी।

रात्रि के प्रथम प्रहर में एक सजे हुए भवन में—जब जम्बू और उनकी आठों पत्नियाँ मिले तो, वहाँ नितान्त अनोखा वातावरण था।

कामनियाँ जहाँ मोहोद्रेक में छुकी ससज्ज बंकिम चित्तवन से श्री जम्बू को आकर्षित करने में लगी थीं वहाँ श्री जम्बू वैराग्य आभा से देवीप्यमान, सौम्य दृष्टि से उन्हें देख रहे थे।

नीरवता को भंग करते हुए श्री जम्बू ने कामिनियों को विकार पूर्ण संसार की भीषणता बताते हुए, मुक्ति मार्ग की ओर बढ़ने का आग्रह किया।

पद्मश्री आदि ने अपने आकर्षण पूर्ण हाव-भाव के साथ अप्रत्यक्ष-मुक्ति के आग्रह को अनुपयोगी और भ्रमपूर्ण बताया।

जम्बू और आठों के मध्य तर्कपूर्ण प्रश्नोत्तर चल रहे थे। तभी—

‘प्रभव’ तस्कर का आगमन

जयपुर नरेश ‘विन्ध्यराज’ का पुत्र प्रभव राजा की अप्रसन्नता से राज्याधिकार से वंचित होने के कारण क्रुद्ध हो, राजमहलों से बाहर आ गया और बागी बन कर बड़े-बड़े डाके डालने लगा। ‘प्रभव’ के गिरोह में पाँच-सौ डाकू सम्मिलित थे। ये डाका भी डाला करते। कमी-कमी बड़ी-बड़ी चोरियाँ भी कर लिया करते। राजगृह और उसके आस-पास ही नहीं, दूर-दूर तक भी प्रभाव के नाम का बड़ा आतंक था। प्रभव क्रूर और कलापूर्ण तो था ही साथ ही वह कई विद्याओं का स्वामी भी था।

उसने राजगृह और उसके आस-पास अपने कई सहयोगी भी बना रखे थे जो शहर और अन्य जगह की उसे बराबर खबर दिया करते थे।

प्रभव को जब यह ज्ञात हुआ कि ऋषभदत्त सेठ जो पहले से ही बड़ा धनाढ्य है, उसके वहाँ—अपने पुत्र—विवाह में और बहुत-सा धन आ पहुँचा है। अभी उस धन को वह सुनियोजित नहीं कर पाया होगा अतः उसने उसी दिन उसके वहाँ चोरी करने का निश्चय कर लिया और अपने पाँच-सौ चोरों के साथ वह उस भवन में पहुँच गया।

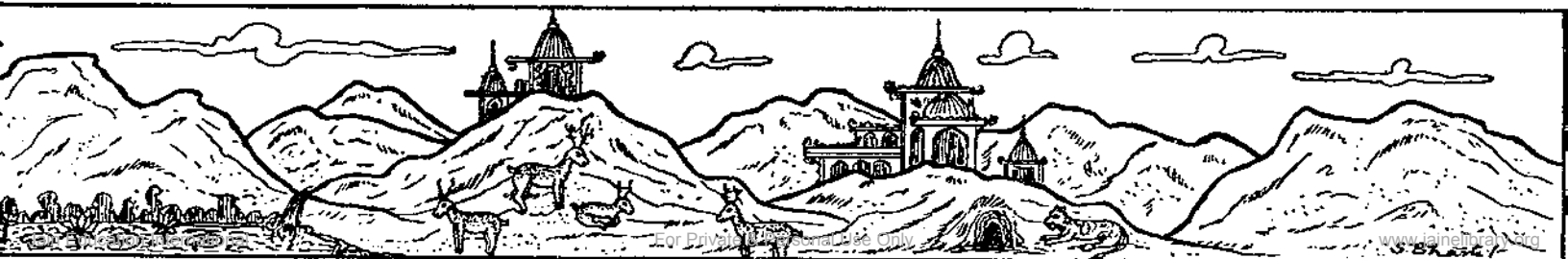
उसने अपनी स्वापिनी और तालोद्घाटिनी विद्याओं का प्रयोग कर सभी को सुला दिया और ताले भी हटा दिये किन्तु अचानक वहाँ कुछ और ही स्थिति बन गई। एक प्रभव को छोड़ सभी के पाँव जहाँ के तहाँ चिपक गये।

उसे बड़ा आश्चर्य हुआ साथ ही उसे इस घटना से बड़ी बेचैनी भी हुई। वह हैरान इधर-उधर हूँढ़ने लगा उस व्यक्ति को जिसके प्रबल प्रभाव का चमत्कार उसे संकट में डाल रहा था।

‘प्रभव’ हूँढ़ता हुआ अचानक उस सुसज्जित भव्य-भवन में पहुँच गया जहाँ, अम्पररातुल्य आठों कमलता-सी कामिनियों के मध्य इन्द्र कल्प, वीतराग भाव मण्डित जम्बू शोभायमान हो रहा था और आठों कामिनियों को वैराग्यप्रद संदेश देता हुआ उन्हें संसार की असारता से परिचित करा रहा था।

प्रभव यह सब देखकर ठिठक गया। वह कुछ देर खड़ा रहा तथा उस दुर्लभ दृश्य को देखता रहा जो उसके लिये नितान्त अकल्पनीय तथा अनुपम था।

राग और विराग का ऐसा सुस्पष्ट द्वन्द्व उसे कभी भी कहीं भी देखने को नहीं मिला था। जम्बू की ओजपूर्ण सत्योक्तियों से वह बड़ा प्रभावित हो रहा था किन्तु कोमलांगिनी कामिनियों की तिरोहित होती हुई भावोक्तियों के प्रति भी वह कम संवेदनशील नहीं था। उसे बार-बार उनके प्रति सहानुभूति जग रही थी। उसे अनुभव हो रहा था कि जम्बू का मार्ग सत्य हो सकता है किन्तु नवविवाहिता इन सुन्दरियों के साथ जो कुछ हो रहा है वह भी कम अन्यायपूर्ण नहीं है।



वह कुछ देर ऐसे ही विचारों में खो गया कि अचानक उसे अपनी सुधि आई। उसके पाँच-सी साथी चिपके हुए हैं उसे तो तत्काल इसका कोई समाधान ढूँढना है।

उसे समझते देर नहीं लगी कि सारा चमत्कार इस दिव्य पुरुष जम्बू का ही हो सकता है।

उसने हिम्मत कर आगे पांव बढ़ाया और कहा—जम्बू !

अचानक एक नये स्वर के गूँजने से वातावरण में एक चौकन्नापन आ गया किन्तु जम्बू घबराये नहीं उन्होंने आगन्तुक को निर्भयता पूर्वक अपने निकट आने का संकेत करते हुए रात्रि में उस भवन में आ पहुँचने का प्रयोजन पूरा।

अपनी सारी स्थिति स्पष्ट बताते हुए प्रभव ने विनयपूर्वक आग्रह रखा कि जम्बू ! मुझसे स्वापिनी और तालोदधाटिनी विद्या लेकर स्तम्भनी और विमोचिनी ये दो विद्याएँ दो। हम तुम से बड़े उपकृत होंगे।

जम्बू ने कहा—प्रभव ! मैं तो इस सारे वैभव का परित्याग कर कल ही प्रव्रजित होने वाला हूँ मुझे इन विद्याओं की कोई स्पृहा नहीं है। आत्म कल्याण के पथिक को इनसे प्रयोजन ही क्या ?

प्रभव यह सुनकर चकित होता हुआ जम्बू को प्राप्त भोगोपभोग का उपभोग करने का आग्रह करने लगा, किन्तु जम्बू ने सुयुक्तिओं के द्वारा प्रभव को ऐसा सद्बोध दिया कि वह स्वयं वैराग्यभाव में झूमने लगा। उसने यावज्जीवन स्तेय-कर्म का वहीं परित्याग कर दिया, तत्काल उसके साथी भी अनायास मुक्त हो गये। सभी जम्बू के सामने उपस्थित हुए।

श्री जम्बू ने सभी को प्रतिबोधित किया। अनमोल तत्त्व-मार्ग को समझ सभी ने जम्बू के साथ संयम लेने का निश्चय किया।

आठों कामनियाँ जो जम्बू को विकार मार्ग में प्रवृत्त करने की समुद्यत थीं। श्री जम्बू के सातिशय तत्त्वोपदेश से प्रबोधित हो, संयम मार्ग को स्वीकार करने को तत्पर हो गईं।

सम्पूर्ण वातावरण में एक वैराग्य रस की लहर छा गई। जम्बूकुमार के अद्भुत वैराग्य को धन्य है जिसने वैकारिक तम सम्पूर्ण वातावरण में विराग का अगमगाता सूर्य चमका दिया।

श्री जम्बू की इस महान सफलता से उसके माता-पिता भी कम प्रभावित नहीं हुए, जब आठों वालाओं के माता-पिताओं को भी यह सारा वृत्त ज्ञात हुआ तो उन्होंने भी जम्बूजी के साथ ही संयम लेने का निश्चय कर लिया। इस तरह वैराग्य भाष्कर श्री जम्बू जी ने ५२७ व्यक्तियों सहित परमोज्ज्वल संयम मार्ग को स्वीकार किया।

‘तिष्णाणं तारयाणं’ अर्थात् तिरने और तिराने वाले का ऐसा अद्भुत उदाहरण अन्यत्र मिल पाना कठिन है।

अन्तिम केवली

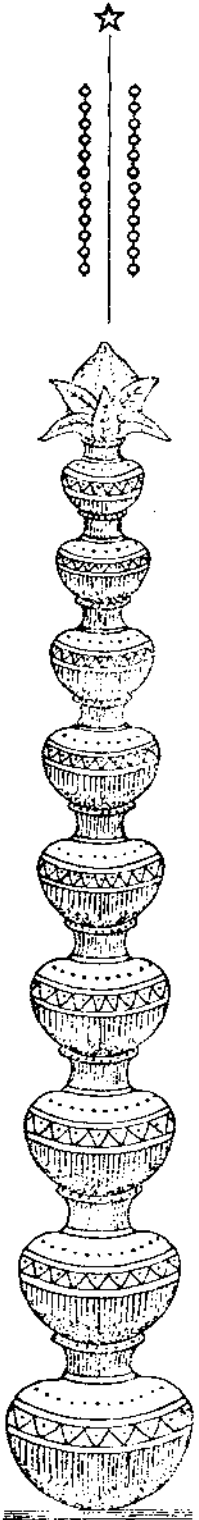
परम श्रेष्ठ वीतराग भाव मंडित पूज्य श्री जम्बू स्वामी जिस प्रकर्ष वैराग्य से दीक्षित हुए संयमी जीवन भी उनका उससे भी कहीं अधिक वैराग्यपूर्ण रहा।

श्रेष्ठतम आत्म-साधना में तल्लीन रहते हुए श्री जम्बू स्वामी ने श्री सुधर्मास्वामी से अनेक बार तात्त्विक पृच्छाएँ कीं जिसके फलस्वरूप कई शास्त्र प्रकाश में आये।

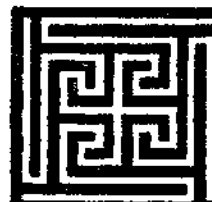
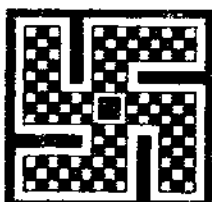
श्री जम्बू स्वामी वीर निर्वाण संवत् २० में श्री सुधर्मा स्वामी के निर्वाण होने पर भगवान महावीर के द्वितीय पट्टधर हुए। उन्हीं दिनों श्री जम्बू स्वामी को केवलज्ञान भी प्रकट हुआ। भरत क्षेत्र के इस काल के ये अन्तिम केवली थे। ४४ वर्ष केवल पर्याय से प्रदीप्त होते हुए संघ संचालन करते रहे।

वीर निर्वाण ६४ वर्ष में श्री जम्बू स्वामी का परिनिर्वाण सम्पन्न हुआ। १६ वर्ष की उम्र में संयमी हुए। इस तरह श्री जम्बू स्वामी का ८० वर्ष का कुल आयुष्य था। श्री जम्बू स्वामी के निर्वाण होने के साथ ही भरत क्षेत्र से निम्नांकित १० बोल विच्छेद हुए।

(१) मन पर्यवज्ञान, (२) परमावधिज्ञान, (३) पुलाक लब्धि (४) आहारक शरीर, (५) क्षपक श्रेणी, (६) उपशम श्रेणि, (७) जिनकल्प, (८) परिहार विशुद्ध, सूक्ष्मसंपराय, यथाख्यात ये तीन चारित्र, (९) केवलज्ञान (१०) मुक्तिगमन।



□



पूर्वधर काल

(३) श्री प्रभव स्वामी

वैराग्यादर्श श्री जम्बूस्वामी के निर्वाण बाद, श्री प्रभव स्वामी को भगवान का तृतीय पट्ट धर नियुक्त किया।

जन्म आदि परिचय

श्री प्रभव राजकुमार थे। इनका जन्म जयपुर नरेश के यहाँ ईसा पूर्व ५५७ में हुआ। योग्यावस्था में सर्व-कलाओं में पारंगत होने पर ज्यों ही प्रभव युवावस्था में आये। किसी कारण से पिता इनसे अप्रसन्न हो गये। राज्याधिकार का जो कि इनका जन्म-सिद्ध अधिकार था, छीन लिया और उनके स्थान पर लघुभ्राता को राज्य दे दिया।

इस पर प्रभव बड़े खिन्न हुए और राजधानी छोड़ कर बाहर निकल गये। उन्होंने दल बनाकर डाका डालना प्रारम्भ कर दिया।

श्री प्रभव के जीवन की आगे की घटनाओं से पाठक जम्बू के जीवनवृत्त के साथ ही परिचित हो चुके हैं।

डाकू अर्थात् पतित से पावन होने का प्रभव जैसा पुरुषार्थ, विश्व में बहुत कम दिखाई देता है।

उत्तराधिकारी की शोध

श्री प्रभव स्वामी ने ७५ वर्ष संयम पालन किया उसमें से अन्तिम ११ वर्ष तक बड़ी निपुणता के साथ चतुर्विध संघ का संचालन किया।

अपने आग्निरी वर्षों में उन्हें इस बात का बड़ा विचार था कि संघ में कोई मुनि ऐसा सुयोग्य दिखाई नहीं दे रहा था जो भविष्य में संघ का संचालन कर सके।

एक रात ऐसी ही विचारधारा में डूबे चिन्तन-रत थे तभी एक व्यक्तित्व उन्हें ध्यान में आया जो संघ संचालन के लिए सुयोग्य सिद्ध हो सकता था।

उन्होंने दूसरे ही दिन राजगृह की तरफ विहार कर दिया। राजगृह के बाहर उद्यान में ठहर कर दो मुनियों को नगर में कुछ आदेश के साथ विदा किया। दोनों मुनि जहाँ आर्य शय्यंभव यज्ञानुष्ठान में रत थे, वहाँ आकर बोले, "अहो कष्ट-अहो कष्ट कष्टं तत्त्वं न ज्ञायते" जब यह शय्यंभव ने सुना तो, उन्होंने सोचा, क्या इतना कष्ट उठाकर जो अनुष्ठानादि कर रहे हैं, ये तत्त्व स्वरूप नहीं है? क्या इनसे भी अधिक कोई तत्त्व हो सकता है? ये मुनि हैं, असत्य के त्यागी हैं, अवश्य इनके कथन में सच्चाई है, मुझे और विशेष तत्त्व ज्ञान की समझना चाहिये।

यज्ञानुष्ठान सम्पन्न कर पं० शय्यंभव ने आचार्य प्रभव के पास पहुँचकर विशेष तत्त्व जानने की जिज्ञासा प्रकट की। आचार्य ने शुभावसर देल शय्यंभव को वीतराग-मार्गीय तत्त्व-ज्ञान का सम्यक्बोध प्रदान किया जिसे सुनकर शय्यंभव बड़े प्रभावित हुए।

उन्होंने आचार्य प्रभव के पास संयम लेकर आत्म-कल्याण का पथ स्वीकार कर लिया। आचार्य, प्रभव भी अपनी एक चिन्ता से मुक्त हुए।

थोड़े ही समय में आचार्य प्रभव शय्यंभव को संघभार देकर अपने को निश्चिन्त बना दिया।

स्वर्ग गमन

आचार्य प्रभव ३० वर्ष गृहस्थ रहे, ६४ वर्ष सामान्य मुनि पद पर तथा ११ वर्ष संघ के आचार्य पद पर रहे इस तरह ७५ वर्ष दीर्घ संयम का पालन कर वीर निर्वाण संवत् ७५ में स्वर्ग गति प्राप्त हुए।

(४) आचार्य शय्यंभव

महान् प्रभाविक आचार्य रत्न श्री प्रभव स्वामी के स्वर्गवास बाद, उनके पवित्र गौरवशाली पट्ट पर, श्री शय्यंभव मुनि रत्न को विराजित किया गया।

आचार्य शय्यंभव कैसे प्रतिबोधित हुए? वह तो पाठक पूर्वाचार्य के वृत्त में पढ़ ही चुके हैं।



मणक की दीक्षा और दशवैकालिक की रचना

श्री सयंभव भट्ट आचार्य प्रभव द्वारा प्रतिबोधित होकर संयमी हुए, तब वे अपने पीछे एक सुन्दर पत्नि को गर्भवती अवस्था में छोड़ आये थे।

सयंभव से सम्बन्धित व्यक्ति इस चिन्ता में थे कि कोई पुत्र भी नहीं था जो भट्ट वंश को प्रगति दे।

सम्बन्धित कुछ स्त्रियाँ, श्री सयंभव की पत्नि से यह जानने का यत्न करने लगीं कि कोई आशावत्तरी विद्यमान है या नहीं ?

किसी ने पूछा तो भट्ट जी की पत्नि ने मनाक् शब्द का उच्चारण किया जिसका अर्थ 'कुछ' होता है। यह मनाक् शब्द ही मणक के रूप में फैला और कालान्तर में जब पुत्रोपलब्धि हुई तो उसका नाम ही 'मणक' प्रसिद्ध हो गया।

'मणक' बाल भाव से मुक्त होते ही ज्योंही कुछ सयाना हुआ, अपने पिता के विषय में जानने का प्रयास करने लगा। एक दिन अपनी माता से ही पिता के विषय में पूछ बैठा तो मा ने पिता के दीक्षित होने का सारा वृत स्पष्ट बता दिया।

मणक ने निश्चय किया मैं अपने पिता के दर्शन करूँगा। वह उन्हें ढूँढ़ने को घर से निकल पड़ा।

एक दिन वह चम्पा नगरी में पहुँच रहा था कि नगर के बाहर ही उन्हें एक मुनि मिले। वे मुनि और कोई नहीं, आचार्य सयंभव ही थे जो जंगल को आये थे। मणक ने बहुत ही मोले भाव से आचार्य को पूछा कि क्या आप मेरे पिता सयंभव आचार्य को जानते हैं? मैं उनका पुत्र मणक हूँ, मैं उन्हें ढूँढ़ रहा हूँ। कहीं मिलें तो मैं उनके दर्शन करूँ ?

आचार्य सयंभव ने कहा—हाँ, वे आचार्य यहीं हैं तुम हमारे उपाश्रय में उन्हें पहचान लोगे। 'मणक' साथ चला और उपाश्रय में उन्हीं मुनि को आचार्य के पट्ट पर बैठा देख, वह बड़ा प्रसन्न हुआ। वह समझ गया कि मुझे यहाँ तक लाने वाले मुनि ही मेरे पिता हैं। वह उनकी चरणोपासना करने लगा। आचार्य ने उसे उपदेश देते हुए कहा कि वह अपने पिता पुत्र के सम्बन्ध को प्रकाशित न करे।

'मणक' प्रतिबोधित हो संयम पथ पर आ गया।

आचार्य सयंभव ने 'मणक' के आयुष्य को बहुत थोड़ा देखकर लघु और सारगर्भित दशवैकालिक सूत्र की संरचना कर उसे द्वादशांगी का सारभूत ज्ञान प्रदान किया।

'मणक' कुल छह माह संयमी जीवन में रहा। समाधि पूर्वक काल कर स्वर्गगति प्राप्त की।

आचार्य सयंभव ने मुनियों को "मणक" का परिचय देते हुए अपना सम्बन्ध प्रकट किया।

मुनि बड़े आश्चर्य चकित हुए, इतने लम्बे समय तक परिचय नहीं देने का कारण बताते हुए आचार्य ने कहा—परिचय ज्ञात होने पर अन्य मुनि सेवा लाभ नहीं लेने देते तथा अन्य मुनिगण उसकी सेवा करते, सेवा से वंचित होने से उसकी आत्मा सेवा एवं निर्जरा का लाभ नहीं उठा सकती।

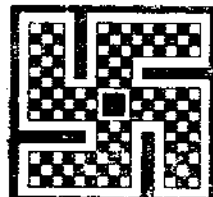
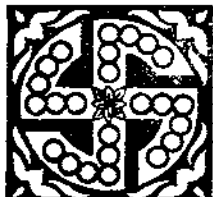
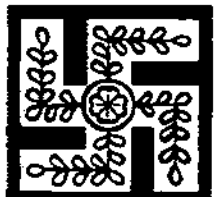
स्वर्गगमन

श्री सयंभव ने २८ वर्ष की युवावस्था में संयम ग्रहण किया। ११ वर्ष सामान्य मुनि पद पर रहे। २२ वर्ष आचार्य पद पर रह कर जिन शासन को तेजस्विता के साथ चमकाया और वीर निर्वाण संवत् ६६ में ६२ वर्ष की आयु पूर्ण कर स्वर्गवासी हुए।

स्वर्गवास से पूर्व, सुयोग्य शिष्य यशोभद्र को अपना उत्तराधिकारी घोषित किया।

५. आचार्य श्री यशोभद्र स्वामी

आचार्य श्री यशोभद्र के विषय में अधिक जानकारी नहीं मिल सकी, ये याज्ञिक ब्राह्मण गोत्रीय थे। आचार्य सयंभव से प्रतिबोधित होकर २२ वर्ष की वय में संयमी हुए। आचार्यसयंभव के स्वर्गगमन के बाद आपको पट्टारोहण किया गया। ५० वर्ष आचार्य पद पर रहे। वीर निर्वाण संवत् १४८ में श्री संभूति विजय को उत्तराधिकारी घोषित कर स्वर्गवास प्राप्त किया।



इन्होंने २२ वर्ष गृहस्थ में १४ वर्ष सामान्य मुनि पद पर तथा १० वर्ष आचार्य पद पर बिताये । कुल ४६ वर्ष का आयुष्य था ।

(६) आचार्य श्री सम्भूतिविजय

भगवान महावीर के छट्टे पट्टधर आचार्य सम्भूति विजय का जन्म वीर निर्वाण संवत् ६६ में हुआ था । ४२ वर्ष की वय में आचार्य प्रवर श्री यशोभद्र से प्रतिबोधित होकर संयमी हुए । ये पाठक गोत्रीय ब्राह्मण थे । ४० वर्ष सामान्य मुनिपर्याय तथा ८ वर्ष आचार्य पद पर रहकर वीर निर्वाण संवत् १५६ में स्वर्ग गति प्राप्त हुए ।

(७) आचार्य श्री भद्रबाहु

आचार्य श्री सम्भूति विजय के पट्ट पर श्री भद्रबाहु समासीन हुए ।

आचार्य भद्रबाहु का जन्म वी० नि० सं० १४ प्रतिष्ठानपुर में एक प्राचीन मोवीय ब्राह्मण परिवार में हुआ । ४५ वर्ष गृहस्थावस्था में व्यतीत करने पर आचार्य यशोभद्र स्वामी के शिष्य हुए ।

वीर नि०सं० १५६ में आचार्य पद प्राप्त हुआ । १४ वर्ष तक आचार्यत्व काल में जिनशासन में सूर्य के समान प्रखरता के साथ तप कर अनेकों उपकार सम्पन्न करते हुए वीर नि० सं० १७० में आपका स्वर्गगमन हुआ ।

आचार्य भद्रबाहु, अन्तिम श्रुतकेवली तथा उत्कृष्ट श्रुत सेवी परमोपकारक महान् आचार्य थे ।

इन्होंने चार छेद सूत्रों की रचनाएँ कीं । स्थूलभद्र महामुनि को दो वस्तु कम दश पूर्व का ज्ञान प्रदान किया ।

आचार्य भद्रबाहु ज्ञानी ही नहीं, बहुत बड़े योगी भी थे । १२ वर्ष तक निरन्तर महाप्राण ध्यान की उत्कृष्ट साधना कर परम निर्जरा की आराधना की । यह ध्यान साधना नेपाल देश में सम्पन्न हुई ।

उत्कृष्ट शासन-प्रभावक

आचार्य भद्रबाहु श्रेष्ठ शासन प्रभावक थे । इसका प्रमाण यह है कि वराहमिहिर इनका छोटा भाई था । दोनों साथ ही दीक्षित हुए किन्तु भद्रबाहु को आचार्य पद मिलने से वह खिन्न हो, संयम-भ्रष्ट हो गया और निमित्त ज्ञान का चमत्कार बताकर आजीविका चलाने लगा । चमत्कार से प्रभावित हो, प्रतिष्ठानपुर के राजा ने राज्य पुरोहित का पद दे दिया । वह यह अधिकार पाकर मुनियों का बड़ा द्वेषी बन गया ।

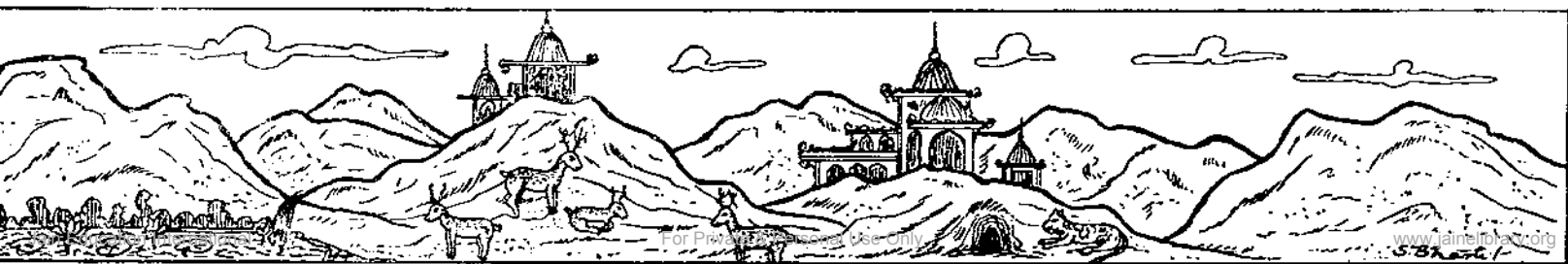
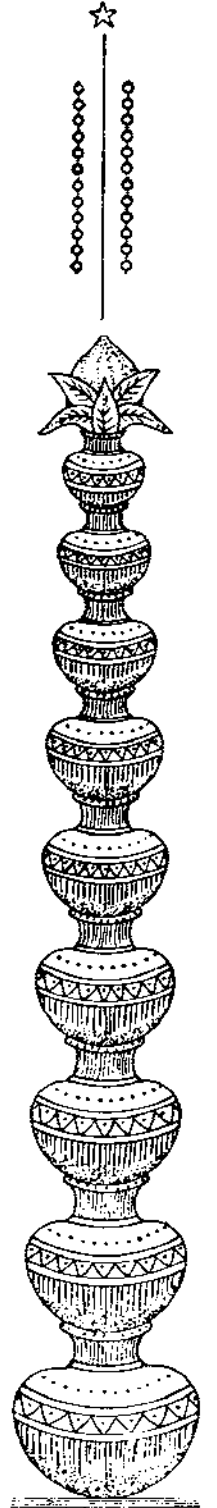
एक बार आचार्य भद्रबाहु वहाँ पधारे । राजा सहित सभी सेवा में उपस्थित थे । वराहमिहिर भी साथ था तभी एक व्यक्ति ने सन्देश दिया "पुरोहित जी के घर पुत्र-जन्म हुआ है" इस सन्देश से राजा आदि सभी को प्रसन्नता हुई । राजा ने पुरोहित से पूछा, शिशु का भविष्य क्या है ? उसने कहा, मेरा पुत्र शतायु होगा, किन्तु आचार्य ने शासन की प्रभावना हेतु निमित्त प्रकाशित करते हुए कहा—बच्चा सातवें दिन बिल्ली से मारा जाएगा । वराहमिहिर ने बच्चे की सुरक्षा का बड़ा प्रवन्ध किया किन्तु सातवें दिन अर्गला (आगल) के मिरने से बच्चा मर गया । आगल पर बिल्ली का चित्र अंकित था । आचार्य की बात सत्य सिद्ध होने से वराहमिहिर बड़ा खिन्न हुआ और परिव्राजक बन, घोर तप कर, व्यन्तर देव हुआ और जिन धर्मियों को शारीरिक व्याधियों से पीड़ित करने लगा । आचार्य भद्रबाहु ने 'उवसग्गहर' स्तोत्र की रचना कर, उसकी आराधना प्रारम्भ करवाई । व्यन्तर का सारा उपद्रव समाप्त हो गया ।

(८) आचार्य स्थूलभद्र

आचार्य स्थूलभद्र का जन्म वीर नि० सं० ११६ में पाटलिपुत्र के प्रसिद्ध महामात्य शकटार की धर्मपत्नी लक्ष्मीदेवी की कुक्षि से हुआ था । ये गौतम गोत्रीय श्रेष्ठ ब्राह्मण थे । शकटार नवम नंद के प्रधानमंत्री थे । श्रीयक, श्री स्थूलभद्र के अनुज थे, साथ ही इनके यक्षा आदि सात बहनें थीं जो बड़ी बुद्धिमती थीं ।

युवावस्था में पहुंचने तक स्थूलभद्र अनेक विद्याओं में पारंगत हो गये किन्तु व्यावहारिकता के प्रति नितांत उदासीनता देखकर शकटार ने श्री स्थूलभद्र को 'कोशा' नामक नृत्यांगना के यहाँ भेज दिया जिससे वह सांसारिकता का पूर्ण ज्ञान प्राप्त कर सके ।

कोशा के यहाँ, सांसारिकता का अनुभव करते स्थूलभद्र कोशा के प्रति इतने अनुरक्त हुए कि बारह वर्ष उन्होंने कोशा के भवन से बाहर पांव तक नहीं रखा ।



महामात्य शकटार के देहावसान के बाद श्री स्थूलभद्र को महामात्य पद लेने का आग्रह किया गया, किन्तु राज्य व्यवस्था के लिये किये जाते स्वार्थपूर्ण प्रपञ्चों को देखकर उनके मन में वैराग्य भाव का उदय हो गया।

उन्होंने वीर नि० सं० १४६ में आचार्य श्री संभूति विजय के निकट संयम मार्ग स्वीकार किया।

संयम लेकर श्री स्थूलभद्र मुनि ज्ञान संपादन और गुरुसेवा में रत हो गये।

कठिन अभिग्रह

चातुर्मास काल निकट आने पर स्थूलभद्र के साथी मुनियों ने कई विचित्र अभिग्रह किए। एक मुनि ने सिंह की गुफा में चातुर्मास बिताने का, एक मुनि ने सर्प की बांवी पर ध्यान करने का, एक ने कुए के किनारे चातुर्मास करने का इस तरह उस समय श्री स्थूलभद्र ने भी एक विचित्र निर्णय किया “कोशा के भवन में निर्विकार दशा में चार माह बिताने का।”

गुरुजी ने सभी को आज्ञाएँ प्रदान कर दीं। सभी अपने निर्धारित स्थान पर चातुर्मासार्थ पहुंचे तो स्थूलभद्र भी कोशा के भवन पर पहुंचे।

कोशा जो स्थूलभद्र के वियोग में तड़प रही थी उसका प्रतिफल प्रतीक्षा में बीत रहा था। स्थूलभद्र को आते देख बड़ी प्रसन्न हुई। उसने बड़े सम्मान के साथ अपने भवन में मुनि को ठहराया और वह तन्मय होकर सेवा लाम उठाने लगी।

कोशा की सेवा में विकार का पुट था। वह निरन्तर श्री स्थूलभद्र मुनि को भोग में प्रवृत्त करने को प्रयास करती रही। उसने हास, परिहास, नृत्य, शृंगार प्रत्येक विकारोत्तेजक क्रीड़ा द्वारा मुनि को आकर्षित करने का यत्न किया किन्तु उसे सफलता नहीं मिली, मुनि स्थूलभद्र स्फटिक रत्न की तरह निर्विकार दशा में ही झूलते रहे।

इतना ही नहीं, वे समय-समय पर कोशा को सद्बोध भी देते रहे।

कोशा और स्थूलभद्र के मध्य 'योग और भोग' का यह विलक्षण संघर्ष चार माह तक चला। अन्ततोगत्वा स्थूलभद्र की आध्यात्मिकता की पूर्ण विजय हुई। कोशा व्रत धारिणी श्राविका बनी।

चातुर्मास समाप्त के बाद जब सब मुनि गुरुसेवा में आये तो, गुरु ने सभी को 'दुक्कर'(तुम्हारा तप दुष्कर है) कहकर सम्बोधित किया किन्तु जब स्थूलभद्र आये तो 'अइ दुक्कर' (अति दुष्कर) कहकर, अत्यन्त आत्मीयतापूर्वक स्नेह-आशीर्वाचन कहे।

इस पर, अन्य मुनि हष्ट हुए। उन्होंने सोचा कोशा के यहाँ सभी तरह की सुविधा में रह आये, फिर क्या कष्ट था। उनमें से एक मुनि कोशा के यहाँ, फिर चातुर्मास करने को गया किन्तु परीक्षण करने हेतु कोशा ने ज्यों ही विकार चेष्टा की, वह मुनि संयम मार्ग से भ्रष्ट हो गया।

कोशा ने अपनी विशेष युक्तिपूर्वक उसे पुनः संयम में स्थिर किया।

उस मुनि को अनुभव हुआ, वास्तव में स्थूलभद्र की निर्विकारता की साधना, सभी से श्रेष्ठतम थी।

दश पूर्वधर

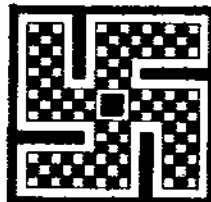
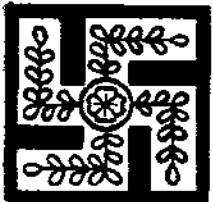
श्री स्थूलभद्र दश पूर्व धर थे। देश के मध्य प्रान्तों में उस समय भीषण अकाल था। अनेक मुनि विदेशों की तरफ बह गये। श्रीभद्रबाहु स्वामी नेपाल देश में ध्यान लीन हो गये। साधुसंघ विशृंखलित-सा हो गया। श्रुत लुप्त होता दिखाई देने लगा। यह दुर्भिक्ष १२ वर्षोंय था।

बड़ी कठिनाई से यह समय निकला। फिर सुभिक्ष आया, साधुसंघ एकत्रित हो श्रुत सेवा में जुट गया। पाटलिपुत्र में श्री स्थूलभद्र के नेतृत्व में आगम की प्रथम वाचना सम्पन्न हुई।

आगम पाठ मिलाये गये, उन्हें स्थिर किया तथा भविष्य में सुरक्षित रखने हेतु निर्णय लिये। यह उस युग का महानतम कार्य था, जो श्रीमद् स्थूलभद्र मुनि के नेतृत्व में सम्पन्न हुआ।

पूर्व जो विच्छेद होने जा रहे थे उन्हें सुरक्षित प्राप्त करने और सुरक्षित करने हेतु श्री स्थूलभद्र मुनि पाँच सौ मुनियों के साथ नेपाल देश गये और बड़े श्रम के साथ भद्रबाहु स्वामी से दश पूर्व का ज्ञान प्राप्त किया।

ध्यान की साधना संपन्न होने पर श्री भद्रबाहु स्वामी सभी मुनियों के साथ मध्य देश में आए। पाटलिपुत्र में संघ ने उनका हादिक स्वागत किया।



वर्षों से स्थूलमद्र मुनि आये अतः उनकी बहनों दर्शनार्थ गईं। वे भी साध्वियाँ ही थीं। श्री स्थूलमद्र मुनि ने अपनी बहनों को चमत्कार बताने हेतु सिंह का रूप धारण कर लिया।

यह घटना जब मद्रबाहु ने सुनी तो उन्होंने शेष चार पूर्वों की वाचना देना वन्द कर दिया।

आचार्य स्थूलमद्र जिन शासन के जगमगाते दीप थे।

उन्होंने आगम वाचना सम्पन्न कराकर संघ पर अनन्त उपकार किया।

ये कुल ३० वर्ष गृहस्थ रहे। २४ वर्ष सामान्य मुनि और ४५ वर्ष आचार्य पद को सुशोभित किया। इस तरह ६६ वर्ष का आयुष्य भोग कर वैभार गिरि (राजगृह) पर १५ दिन के संवारे सहित स्वर्गलोक को प्राप्त हुए।

(६) आचार्य महागिरि

आचार्य महागिरि एलापत्य गोत्रीय थे, ३० वर्ष गृहस्थ पर्याय में पले। आचार्य श्री स्थूलमद्र द्वारा प्रतिबोधित हो संघमी बने। ४० वर्ष सामान्य मुनिपद तथा ३० वर्ष आचार्य पद पर सुशोभित होकर वीर नि. सं. २४५ स्वर्गवास पाये।

आचार्य महागिरि एकांत निष्ठ दृढ़ साधनानिरत उग्र तपस्वी, दश पूर्वधर, बड़े प्रभावक मुनिराज थे। इन्होंने अपने जीवन काल में ही संघ का भार अपने परम सहयोगी आचार्य सुहस्ति को सौंप दिया था। ये त्याज्य आहार का सेवन करते और प्रायः एकांत ध्यान करते। आचार्य महागिरि सुदृढ़ आचारवादी महात्मा थे।

(१०) आचार्य सुहस्ति

आचार्य सुहस्ति का माहर्ष्यकाल २३ वर्ष, सामान्य मुनिव्रत ३१ वर्ष तथा आचार्य काल ४६ वर्ष, इस तरह कुल १०० वर्ष का आयुष्य पाया।

आचार्य महागिरि की तरह सुहस्ति भी आचार्य स्थूलमद्र से दीक्षित हुए तथा स्थूलमद्र और आचार्य महागिरि के सानिध्य में दीर्घकाल तक ज्ञानाराधना कर, दश पूर्वधर बने।

इन्होंने अपने आचार्य काल में जिनशासन की महती सेवाएँ कीं।

आचार्य सुहस्ति ने राजा सम्प्रति को सद्बोध देकर जिनमार्ग का सुदृढ़ अनुयायी बनाया।

राजा सम्प्रति ने जैनधर्म के प्रचार हेतु अनेक प्रयत्न किये। उन्होंने अपने पुत्र तथा पुत्रियों को मुनिवेश पहना कर विदेशों तक में भेजा और जनता को श्रमणाचार का परिचय दिया जिससे मुनियों को विचरने में कठिनाई का सामना नहीं करना पड़े।

जैन इतिहास प्रसिद्ध अवन्ति सुकुमार मुनि इन्हीं आचार्य सुहस्ति के सुशिष्य थे। श्मशान में ध्यान करते हुए शृगालिनी के द्वारा इस मुनि का वध हुआ था। मुनि बड़ी धैर्यता से आत्मरत रहे और मृत्यु प्राप्त कर नलिनी गुल्म विमान में देव बने।

(११) आर्य बालिस्सह

आचार्य सुहस्ति के स्वर्गवास के बाद गणाचार्य, वाचनाचार्य आदि परम्पराएँ संघ व्यवस्था और श्रुतसेवा की दृष्टि से प्रवर्तमान हुईं। आर्य बालिस्सह गणाचार्य थे। आर्य महागिरि के स्वर्गगमन तथा दुष्काल आदि कारणों से नष्ट होते श्रुतज्ञान की सुरक्षा हेतु भिक्खुराय ने कुमारगिरि पर श्रुत सभा बुलाई उसमें २०० जिनकल्प, मुनि, ३०० स्थविर कल्प मुनि, ३०० साध्वियाँ, ७०० श्रावक तथा ७०० श्राविकाएँ उपस्थित थीं।

इस सभा में आर्य बालिस्सह प्रधान थे। ये पूर्वधर थे।

(१२) आर्य इन्द्रदिन्न

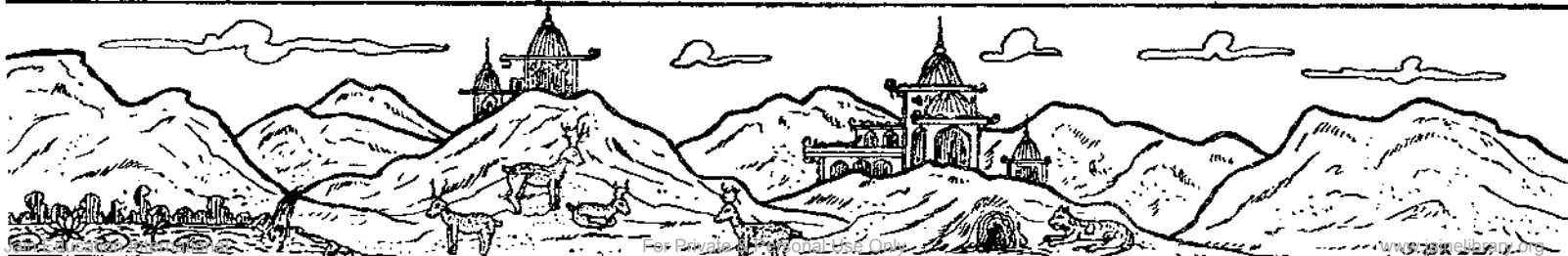
गणाचार्य की परम्परा में आर्य सुहस्ति के पट्टधर आर्य सुप्रतिवद्ध भी गणाचार्य थे, आर्य इन्द्रदिन्न इन्हीं के पट्ट पर वीर नि. संवत् ३३६ में पट्टासीन हुए।

(१३) आर्य आर्यदिन्न

गणाचार्य इन्द्रदिन्न के पट्ट को इन्होंने सुशोभित किया। ये गौतम गोत्रीय ब्राह्मण थे।

(१४) आर्य वज्र स्वामी (वहेर स्वामी)

जैन शासन को दैदीप्यमान करने वाले युग-प्रधान श्रेष्ठ आचार्यों में आचार्य वज्र स्वामी का नाम भी कम



महत्त्वपूर्ण नहीं है। इनका जन्म वीर नि. संवत् ४९६ में तुम्बववन नामक नगर में हुआ। पिता का नाम धनगिरि तथा माता का नाम सुनन्दा था। धनगिरि वैराग्य प्राप्त कर दीक्षित हुए तब “वज्र” माँ के गर्भ में थे।

कहते हैं जन्म के कुछ समय बाद ही पिता के दीक्षित होने का संवाद सुनकर बालक वज्र को जाति स्मरण ज्ञान हो गया।

उसने मन ही मन दीक्षा लेने का निर्णय ले लिया। दीक्षा का आधार बनाने को वह बराबर रोता रहता था। एक दिन धनगिरि गोचरी को आये। सुनन्दा ने परेशान हो बच्चा उनकी झोली में डाल दिया, मुनि ले आये। मुनि ने उस बच्चे को संघ को सौंप दिया। बच्चा बघ सम्पन्न हो जाने पर, माता ने मोहवश बच्चे को प्राप्त करने को अगड़ा किया। संघ मुनि के सौंपे बच्चे को कैसे दे सकता था। आखिर यह झगड़ा राजा के समक्ष उपस्थित हुआ, राजा ने बच्चे को मध्य में खड़ा रख एक तरफ रजोहरण मुनि-वस्त्र, पात्र आदि धरे दूसरी तरफ गृहस्थ के वस्त्र भूषण आदि रखे, बच्चे ने मुनि वस्त्रों को धारण कर लिया। बच्चा संघ को सौंप दिया गया। संघ ने बड़े उत्सव के साथ “वज्र” का संयम समारोह सम्पन्न किया। पात्र में बहराने के कारण भी इनको वहेर स्वामी कहा जाता है, वैसे वज्र का अपभ्रंश उच्चारण भी वयर होता है। श्री वज्र स्वामी श्रमण श्रेष्ठ सिंहगिरि के शिष्य थे।

वीर निर्वाण संवत् ५४८ में इन्हें आचार्य पद दिया गया।

आचार्य वज्र बड़े प्रभाविक सुन्दर तथा श्रेष्ठ व्याख्याता थे।

एक वार पाटलिपुत्र निवासी धनश्रेष्ठी की कन्या रुक्मिणी ने जब वज्र स्वामी की बड़ी प्रशंसा सुनी तो वह उन पर मुग्ध हो गई, उसने उन्हीं के साथ विवाह करने का प्रण ले लिया। श्रेष्ठीधन ने अपनी पुत्री को समझाया किन्तु वह अपने प्रण से तिल मर भी नहीं हटी तो, धन—कन्या और विपुल धनराशि लेकर आचार्य के पास उपस्थित हो सारी बात बताई और कन्या के प्रण की पूर्ति करने का आग्रह किया।

आचार्य वज्र ने कन्या और धन को बड़े ही मृदुल भावों से तत्त्वबोध दिया। फलतः दोनों ने संयम मार्ग स्वीकार कर आत्म-कल्याण साधा।

आचार्य वज्र ने अपने जीवन काल में अनेक शासनोपयोगी उपकार किये।

(१५) आर्य वज्रसेन

प्राप्त पट्टावली के अनुसार वहेर स्वामी के पट्ट पर वज्रसेन स्वामी आचार्य बने। वज्रसेन आर्य वहेर स्वामी के प्रमुख शिष्य थे।

(१६) आर्यरथ

आचार्य वज्रसेन के पट्ट पर आचार्य रथ (रह-रोह) समासीन हुए।

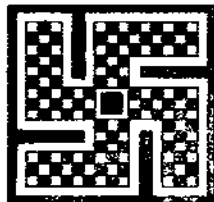
(१७) आर्य मुखगिरि

आचार्य रथ के बाद आर्य मुखगिरि प्रधान गणाचार्य के रूप में स्थापित हुए।

दिगम्बर मत का उदय

वीर निर्वाण संवत् ६०६ में रथवीर पुर में राज-पुरोहित शिवभूति (कहीं-कहीं सहस्रामल्ल) राज्य वैभव में मत्त रात तक इतस्ततः भ्रमण किया करता था। एक दिन बहुत देरी से घर पहुँचा तो माँ ने कहा—यहाँ तो द्वार बन्द है जहाँ खुला द्वार हो वहीं चले जाओ। शिवभूति भी कभी वापस नहीं आने की प्रतिज्ञा कर दूसरी तरफ निकल गया। उस समय जैनाचार्य कृष्ण वहीँ विराजित थे, उनके उपाश्रय का द्वार खुला था। वह उसी में प्रविष्ट हो गया। श्री कृष्णा-चार्य ने प्रारम्भिक परिचय पूछ कर सद्बोध दिया। शिवभूति दीक्षित होगया। स्थानीय राजा ने भी यह संवाद सुना तो दर्शनार्थ आया। उसने भक्ति निर्भर हो एक रत्न कम्बल बहराई जिसे शिवभूति ममत्त्व से गट्टर में बाँधकर ही रक्खा करता।

आचार्य कृष्ण ने कई वार कहा कि कम्बल को काम में लेना चाहिये किन्तु शिवभूति नहीं माना—एक दिन आचार्य ने कम्बल के टुकड़े कर सभी साधुओं को दे दिये। इस पर शिवभूति बड़ा कुपित हुआ। आचार्य ने कहा ममत्त्व रखना पाप है। शिवभूति ने कहा—ममत्त्व तो कपड़ा रखने वालों के भी होता ही है। आचार्य ने कहा—ऐसा मत कहो, वस्त्र संयम की रक्षार्थ है, न कि ममत्त्व हेतु।



शिवभूति को समझाया किन्तु उसने अपनी विरुद्ध प्ररूपणा छोड़ी नहीं। उसने कहा—सवस्त्र सग्रंथ है, निर्यन्थ नहीं।

निर्यन्थ को वस्त्र कल्पता ही नहीं, ऐसा कहकर वह निर्वस्त्र हो विचरने लगा।

उसने आचारंगमादि शास्त्रों के विच्छेद होने की भी प्ररूपणा की। विद्यमान शास्त्रों को कृत्रिम कहने लगा। उसके साथ कहते हैं उसकी बहन भी नग्न हुई थी, किन्तु किसी सज्जन ने किसी उच्च भवन से उस पर वस्त्र डाल दिया। शिवभूति ने कहा—स्त्रियाँ निर्यन्थ नहीं हो सकतीं। इन्हें मोक्ष भी नहीं। इस तरह कई विरुद्ध प्ररूपणाएँ करते हुए इसने एक मित्र मत की स्थापना की जो 'दिगम्बर' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

(१८) आचार्य फल्गुमित्र

आचार्य मुखगिरि के पट्ट पर आचार्य फल्गुमित्र सुशोभित हुए। इनके बाद क्रमशः—

(१९) धारण गिरि, (२०) आचार्य शिवभूति, (२१) आर्यभद्र, (२२) आर्यनक्षत्र, (२३) आर्य रक्षित, (२४) आर्य नाग स्वामी, (२५) जेहल विष्णु, (२६) सडील अणगार, (२७) देवधि क्षमाश्रमण।

प्राप्त पट्टावली में वह क्रम है, अधिक परिचय भी उसमें उपलब्ध नहीं है। अन्य पट्टावलियों में देवधि क्षमाश्रमण के पूर्व कई अन्य नामोल्लेख के साथ क्रम चलता है। वस्तुतः कई गच्छ और उपगच्छों के अस्तित्व में आ जाने से कोई निश्चित एक क्रम बन नहीं सका।

जैन-धर्म के मौलिक इतिहास में इससे मित्र क्रम दिया गया है। इस क्रम के अनुसार स्थूलभद्र के बाद क्रमशः आचार्य महागिरि, आचार्य सुहस्ति, आचार्य गुण सुन्दर, आचार्य श्याम, आचार्य सांडिल्य, आचार्य रेवती मित्र, आचार्य-धर्म, आचार्य भद्रगुप्त, आचार्य श्री गुप्त, आचार्य वज्र, आचार्य रक्षित, आचार्य दुर्बलिका पुष्यमित्र, आचार्य वज्रसेन, आचार्य नागहस्ति, आचार्य रेवती मित्र, आचार्य सिंह, आचार्य नागहस्ति, आचार्य भूतदिप्त, आचार्यकालकाचार्य, आचार्य सत्यमित्र, आचार्य देवधिगणी क्षमाश्रमण।

इस तरह विविध कई क्रम उपलब्ध होते हैं।

पट्टावलीगत आचार्यों में से जिनका जितना परिचय प्राप्त हो सका वह संक्षिप्त में नीचे दिया जाता है।

(२३) आचार्य रक्षित

आचार्य रक्षित का जन्म वीर नि० सं० ५२२ का माना जाता है। २२ वर्ष की वय में संयम स्वीकार किया, ४२ वर्ष सामान्य मुनि पद पर रहे, ६३ वर्ष आचार्य पद पर, इस तरह वीर नि० सं० ५९७ में स्वर्गवास प्राप्त हुए।

इनके बचपन की बात है जब ये पाटिलपुत्र से विशेष शिक्षा लेकर अपने जन्म-स्थान दशपुर आये तो, सभी ने स्वागत किया किन्तु माता रुद्रसोमा जो जैन तत्त्वानुरागिनी थी उसने कहा, यदि दृष्टिवाद पढ़कर आता तो मुझे प्रसन्नता होती।

सुपुत्र रक्षित दृष्टिवाद पढ़ने आचार्य गुरु तोषली पुत्र के पास गये और दृष्टिवाद पढ़ने लगे। शास्त्राभ्यास करते हुए वैराग्योदय हुआ और संयमी बन गये।

आचार्य तोषली पुत्र ने रक्षित मुनि को सुयोग्य समझकर पूर्वज्ञान प्राप्त करने हेतु आर्य वज्र के पास भेजा। आर्य वज्र की सेवा में पहुँच कर आर्य रक्षित ने नी पूर्वों का ज्ञान प्राप्त किया। घर से प्रस्थान करने पर पुनः रक्षित के घर नहीं लौटने से सभी को बड़ी चिन्ता हुई। उन्हें ढूँढ़ने को छोटा भाई फल्गुरक्षित को भेजा। फल्गुरक्षित ढूँढ़ता हुआ वहाँ पहुँचा जहाँ आर्यरक्षित पूर्वज्ञान प्राप्त कर रहे थे।

वहाँ पहुँचकर फल्गुरक्षित ने घर लौटने का आग्रह किया। उसने कहा कि यदि तुम जन्मभूमि में आओगे तो बड़े उपकार होंगे, कई पारिवारिक-जन दीक्षित होंगे। रक्षित मुनि ने कहा, यदि ऐसा है तो पहले तुम तो दीक्षित हो जाओ।

फल्गुरक्षित ने आज्ञा शिरोधार्य कर संयम ले लिया। उसकी तत्परता देख रक्षित मुनि का जन्मभूमि की तरफ जाने का आकर्षण बन गया, फिर वे वहाँ अधिक ज्ञान लाभ नहीं ले पाये और आज्ञा लेकर अपने जन्मस्थान की तरफ



बढ़ गये। इस तरह नौ पूर्व ही शेष रह पाये। एक पूर्व आचार्य वज्र किसी को दे भी नहीं पाये और उनका स्वर्गवास हो गया।

अनुयोग पृथक्कर्ता

आचार्यरक्षित ने अनुभव किया कि युग प्रभावानुसार श्रमणों और विद्यार्थियों की बुद्धि क्रमशः क्षीण होती जा रही है। ऐसी स्थिति में समग्र श्रुत का एक ही साथ अध्ययन संभव नहीं होगा और अध्ययन ठीक नहीं होने पर श्रुत के विलुप्त होने का भय था, अतः उन्होंने चारों अनुयोगों को पृथक् कर दिया। अनुयोगों का यह पृथक्करण सामान्य प्रजा वालों के लिये बड़ा उपयोगी रहा। अल्पधी व्यक्ति भी श्रुत लाभ पा सके।

(२४) आर्य नाग स्वामी

श्रीनाग स्वामी का दीक्षा काल वीर नि. सं. ५६२-५६३ का माना जाता है। २८ वर्ष सामान्य मुनिपद पर रहकर तथा ६६ वर्ष आचार्य पद निभाकर सुदृढ़ शासन सेवाएँ की वी.नि.सं. ६८६ में स्वर्गवास पाये। आप कुछ न्यून १० पूर्व के ज्ञाता थे।

(२६) आर्य सढील अणगार (स्कन्दिल)

आर्य स्कन्दिल के विषय में सर्वाधिक प्रसिद्ध घटना उनके द्वारा माथुरी वाचना करवाना है। इनका कार्य काल वी.नि.सं. ८२३ से ८४० के आस-पास का मान्य है।

देश में दुर्मिक्ष आदि कई कठिन कारणों से साधु समुदाय विच्छिन्न हो रहा था। श्रुतोपस्थिति की बड़ी हानि हो रही थी। ऐसी स्थिति में आर्य स्कन्दिल का मथुरा में साधु समुदाय को एकत्रित कर व्यवस्थित वाचना करना बड़ा महत्वपूर्ण कार्य रहा। उपलब्ध आगम माथुरी वाचना के ही माने जाते हैं।

चैत्यवास, आचार शैथिल्य का पर्याय

भगवान महावीर ने श्रमण पर्याय की सुरक्षा और श्रमण के अध्यात्मिक अभ्युदय को प्रगतिशील रखने हेतु एक व्यवस्थित आचार संहिता का निर्देश किया। तदनुसार भगवान महावीर का श्रमण संघ वीर निर्वाण बाद भी ६-७ शताब्दियों तक विधिवत् आचार धर्म का पालन करता हुआ प्रगति करता रहा।

दुष्काल आदि कठिनाइयों तथा श्रमण संघ में सुविधा स्नेही मनोवृत्ति का यत्र तत्र प्रवेश होने से सातवीं शताब्दी में कहीं-कहीं आचार शैथिल्य प्रकट होने लगा जो क्रमशः बढ़ता ही गया।

वी.नि. की आठवीं शताब्दी के मध्य और उत्तरार्ध तक तो यह शैथिल्य अपनी चरम सीमा तक पहुँचने लगा था।

उस स्थिति का चित्रण करते हुए आचार्य हरिभद्र कहते हैं।

‘ये चैत्य में निवास करते हैं। पूजादि आरम्भ कार्य कराते हैं। देव द्रव्य भोगते हैं तथा जिन शालाएँ, मन्दिर आदि बनवाते हैं।’^१

हरिभद्र कहते हैं कि अधिक क्या कहें। ये चैत्यवासी बिना नाथ (नकेल) के बँल की तरह हैं।^२

ये किसी नियम में बंधे नहीं हैं।

चैत्यवास की स्थिति में शिथिलाचार सुलकर फैला। श्रमण धर्म लगभग विलुप्त-सा हो रहा था।

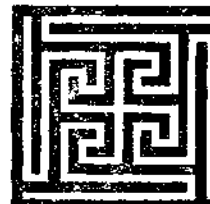
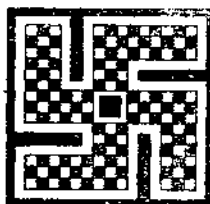
सुविहित आचार धाले मुनि बिलकुल नहीं थे ऐसी बात तो नहीं थी किन्तु आठवीं शताब्दी (वी. नि.) के अन्त तक लगभग चैत्यवासियों का प्राबल्य हो चुका था। मूर्ति और मूर्तिवाद चैत्यवास युग की ही देन है।

नितान्त आत्मानुलक्षी, निराडम्बरी जैनधर्म चैत्यवास के पनपने के साथ ही अपने मौलिक स्वरूप से बहुत कुछ हट चुका था।

१ चैत्य मढाइ वासं, पूयारंभाइ निच्च वासितं ।

देवाइ दव्व भोगं, जिणहर सालाइ करणं च ॥

२ अन्नस्थिय घसहा इव ।—संबोध प्रकरण



चैत्यवासियों ने यन्त्र मन्त्रादि के प्रयोग व अन्य कई चमत्कारों के द्वारा जनमत को अपनी तरफ खींच रखा था। कई नगर में तो केवल चैत्यवासी ही जा-आ सकते थे। सुविहित मुनियों का प्रवेश तक निषिद्ध था।

तथाकथित चैत्यवासी मुनियों ने अपने वष में भी मनमाना परिवर्तन किया।

मुख वस्त्रिका का वास्तविक उपयोग समाप्त हो गया। साथ ही निरन्तर दण्ड धारण जैसी अनावश्यक प्रवृत्तियाँ भी तब चल पड़ीं।

चैत्यवास के प्रबल प्रभुत्व के होते हुए भी आर्य मुहस्ति आर्य महागिरि आदि कुछ प्रधान आचार्यों की सुविहित परम्परा अविच्छिन्न चली आई जिससे मुमुक्षुओं को जैनधर्म तथा श्रमणाचार के सत्य स्वरूप का जब तब परिचय मिल जाया करता था।

(२७) आचार्य देवद्विगणी क्षमाश्रमण

आचार्य देवद्विगणी क्षमाश्रमण वीर निर्वाण दशवीं शताब्दी की देन है। आचार्य देवद्वि का जन्म बेरावल पाटण में काश्यप गोत्रीय कामद्वि क्षत्रीय की पत्नि कलावती की कुक्षि से हुआ था।

स्वप्न में देवताओं की समृद्धि देखने से बालक का नाम देवद्वि रखा गया। युवावस्था में दो कन्याओं के साथ लग्न हुए। कहते हैं कुसंग के कारण इनके जीवन में कई तरह की बुराइयाँ भी आ गई थीं उनमें आखेट प्रधान था। ऐसा भी कहते हैं कि देवद्वि पूर्वजन्म में हरिणगमैषी देव था। वहाँ से च्यवित होने पर उस स्थान पर जिस देव ने जन्म लिया उसने देवद्वि को सद्बोध देने को एक बार शिकार के लिये दौड़ते देवद्वि को बड़ी भयंकर स्थिति में डाल दिया। एक तरफ गहरी खाई, दो तरफ भयंकर क्रूर सूकर सामने गुराँता हुआ सिंह यह स्थिति देख देवद्वि के प्राण सूखने लगे। उसी समय पृथ्वी कंपित हुई और देववाणी हुई अब भी सम्भल, अन्यथा मृत्यु ध्रुव है।

देवद्वि ने कहा—मैं आज्ञानुसार करने को उपस्थित हूँ। उसी समय देव ने उसे उठाकर दूष्य-गणी के पास पहुंचा दिया।

सद्बोध पाकर देवद्वि ने संयम धर्म प्राप्त किया और लगनपूर्वक शास्त्राभ्यास करना प्रारम्भ किया।

बल्लभी वाचना

आचार्य स्कन्दिल के सानिध्य में जो आगम वाचना सम्पन्न हुई उसे १५० वर्ष के लगभग हो चुके थे। कहते हैं औषधि हेतु लाये सोंठ के एक टुकड़े को आचार्य ने अपने कान पर लगा दिया, वह पुनः सूर्यास्त पूर्व गृहस्थ को सौंपना था किन्तु भूल गये। प्रतिक्रमण के समय वन्दन करते हुए देखा कि टुकड़ा कान से नीचे आ पड़ा। अपनी इस विस्मृति से वे तत्काल सावधान हो गये। उन्होंने हीनमान कालक्रम के अनुसार भन्द प्रजा तथा विस्मृति आदि को देखते हुए आचार्य देवद्वि ने आगम वाचना का गुह्यतर कार्य अपने हाथ में लिया।

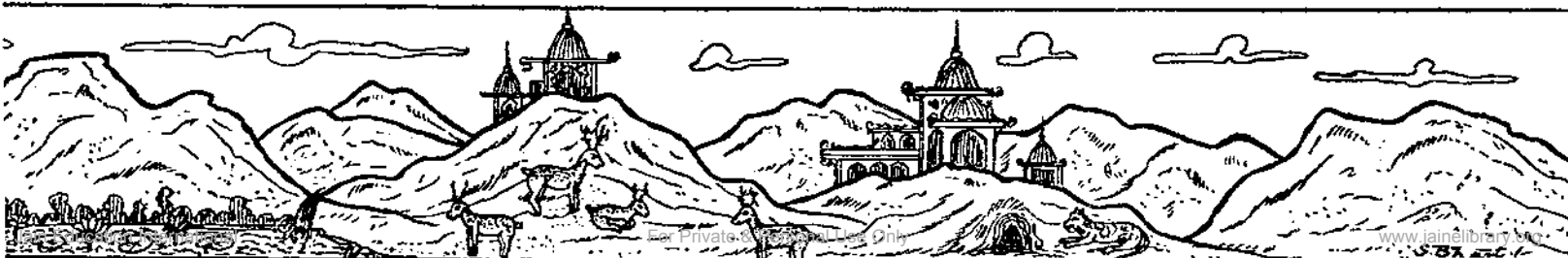
वीर नि० सं० ६८० में बल्लभी में विशाल मुनि सम्मेलन बुलाया गया तथा मुनियों से जिसको जैसा याद था शास्त्र पाठ लिया। विविध वाचनाओं से हुए पाठान्तरों को भी अलग से सुरक्षित रखे तथा स्मृतिपथ पर जीवित रहे आगमों को लिखित रूप देने का प्रथम बार महान् उपक्रम किया गया।

प्रस्तुत कार्य में अनेक आचार्यों का महत्त्वपूर्ण योग था। उनमें आचार्य कालक (चतुर्थ) का सहयोग अत्यधिक प्रशंसनीय था।

विस्मृति के अन्ध गर्त में जाते आगमों को लिपिबद्ध करके आचार्य देवद्वि गणी क्षमा श्रमण ने आप और हम जैसे अल्प प्रज्ञा वाले साधकों पर अनन्त-अनन्त उपकार किया है जिसे जिह्वा या लेखनी से किसी भी तरह प्रकट नहीं किया जा सकता।

आचार्य देवद्विगणी क्षमाश्रमण जिन शासन की महती सेवा कर वीर नि०सं० ६९० में स्वर्गवासी हुए।

आचार्य देवद्वि गणी क्षमाश्रमण के स्वर्गवास होने के साथ ही पूर्वज्ञान का भी विच्छेद हो गया।



अवक्रमण युग

भगवान महावीर और इन्द्र के मध्य हुआ एक प्रश्नोत्तर बड़ा प्रसिद्ध है।
इन्द्र ने पूछा—प्रभु ! आपके निर्वाण बाद जैनधर्म का भविष्य क्या होगा ?

प्रभु ने कहा—विशेष उत्साहप्रद नहीं, निर्वाण के समय राशि पर भ्रम ग्रह का योग है—और वह जिन शासन की अवनति का सूचक है। दो हजार वर्ष का यह अवक्रमण काल होगा। इन्द्र ने कहा—क्या यह योग टल भी सकता है ? प्रभु ने कहा—असम्भव, योग तो निमित्त मात्र है। वस्तुतः तो होना ही है।

उक्त संवाद से पाठक समझ गये होंगे कि भगवान महावीर के परिनिर्वाण के बाद, जिन शासनका नवोदय रुक सा गया। अवक्रमण का प्रारम्भ निर्वाणोत्तर काल में प्रारम्भ हो चुका था किन्तु जम्बू, प्रभव, सयंभव जैसी महान चेतनाओं की उपस्थिति तथा उनके बाद भद्रबाहु स्थूलभद्र जैसे, अत्युच्च कोटि के महात्माओं के प्रभाव से वह लोक जीवन में व्यक्त नहीं हो सका किन्तु गच्छ भेद तथा अनेक आचार्यों की निष्पत्ति वह मूल था जिसके कटुफल लगने-संभव थे।

वीर निर्वाण छठी शताब्दी में दिगम्बर भेद तथा आठवीं शताब्दी में चैत्यवास का प्रावलय, इतने बड़े प्रमाण हैं कि जो ह्लासोन्मुखता को स्पष्ट व्यक्त करते हैं।

जिन शासन को विकृत करने वाले विकार कृमि यद्यपि बहुत पहले से उत्पन्न हो चुके थे। किन्तु युग प्रधान तेजस्वी महात्माओं के प्रभाव से वे यथेष्ट प्रभाव नहीं बता सके किन्तु देवद्विगण जैसी आदर्श विभूति के विलुप्त होने के साथ ही उन विकृतियों को, पनपने और खुलकर खेलने का अवसर मिल गया।

वीर निर्वाण संवत् १००० में श्रीमद् देवद्विगणी क्षमाश्रमण के स्वर्गवास के साथ ही पूर्वों का विच्छेद हो गया। तदन्तर लगभग १००० वर्ष का काल जैन समाज के लिये नितांत अवक्रमण काल रहा। उन वर्षों में नवांभी टीकाकार श्री अमयदेवसूरि, श्रीमद् हेमचन्द्राचार्य, श्रीमद् हरिभद्र सूरि, श्रीमद् सिद्धसेन दिवाकर आदि कुछ तेजस्वी साहित्य प्रणेता तथा आचारनिष्ठ प्रसिद्ध श्रमण भी हुए किन्तु या तो वे चैत्यवास का विरोध ही नहीं कर सके या विरोध भी किया तो उसे विकसित करने और सार्थक बनाने में सिद्ध नहीं हो सके।

श्रमणों में व्याप्त शिथिलाचार का परिचय हरिभद्रसूरि के सम्बोध प्रकरण से स्पष्ट मिल जाता है। कुछ परिचय तो पाठकों को चैत्यवास वाले प्रकरण में मिला ही है कुछ और यहाँ परिचय देना असंगत नहीं होगा। तात्कालिक श्रमण स्थिति का परिचय देते आचार्य हरिभद्र कहते हैं—

ये साधु-आहार का संग्रह करते हैं। आधा कर्म भोगते हैं, जल-फलफूल सभी सचित सेवन करते हैं। नित्य दो समय भोजन लेते हैं, सभी विगय और लवंग ताम्बोल आदि का भी सेवन करते हैं।^१

ये तथाकथित मुनि कहलाने वाले नरक गति का हेतु ज्योतिष निमित्त, मन्त्र योग आदि का प्रयोग करते रहते हैं। प्रतिदिन पाप साधना में लगे रहते हैं।^२

गृहस्थों के आगे दिखावे को स्वाध्याय कर लिया करते हैं, एक-दूसरे से झगड़ते हैं। ये लोग शिष्यों के लिये प्रायः क्लेश किया करते हैं।^३

ये पतित साधु, केवल मूर्खों को ही सुन्दर लगते हैं। सुदक्ष व्यक्तियों को तो ये साक्षात विराधक और पाप के द्रव्य प्रतीत होते हैं।^४

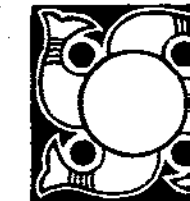
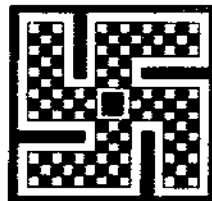
आचार्य रत्न श्री हरिभद्र को इनकी यथेच्छ प्रवृत्तियों का कितना दुःख था। यह तो पाठक उनकी इस अभिव्यक्ति से समझ सकते हैं कि उन्होंने इन्हें बिना नाथे बँल कहा।

१ संनिहिमाहाकम्मं जलफल कुसुमाइ सव्व सच्चित्तं। निच्चं दुत्तिवारं भोयणं, विगइ लवंगाइ तंबोलं ॥

२ नरय गइ हेउ जोउस, निमित्त तेगच्छ मन्त जोगाइं। मिच्छत्तराय सेवं नीयाणं पाव साहिज्जं ॥

३ गिहि पुरओ सज्जायं करंति अण्णोण्णूमेव झूझंति। सीसाइयाण कज्जे कलह विवायं उइरगेति ॥

४ किबहुणा सणिणं बालाणं ते ह्वंतिरमणिज्जा। दक्खाणं पुण ए-ए, विवाहगा छिन्न पावदहा ॥



उन्होंने कहा कि 'मूर्ख कहते हैं' यह भी तीर्थंकरों का भेष है अतः नमनीय है ! ऐसे अल्पज्ञ व्यक्तियों को क्या कहें । मेरे विचारों की यह कसक किसे कहूँ ।^१

पाठक इससे समझ सकते हैं कि उस समय श्रमण धर्म की कौसी दुरवस्था हुई होगी । यद्यपि सुविहित आचार पद्धति का कहीं न कहीं थोड़ा-बहुत संवहन ही भी रहा था किन्तु उसे हम केवल नाममात्र का कह सकते हैं ।

आचारहीनता के उस बातावरण में कोई उत्क्रान्ति का स्वर नहीं उठा ऐसा तो हम नहीं कह सकते । सविन सम्प्रदाय का उदय तथा तप-गच्छ, खरतर गच्छ आदि के उदय में भी परिष्कार की भावना निहित रही थी किन्तु बाह्य आडम्बर का मूल तथा आचार शैथिल्य का प्रमुख कारण तो अचैतन्य पूजा तथा उसके केन्द्रों के साथ लगी अनावश्यक प्रदर्शन मूलक प्रक्रियाएँ थीं, जिसे वे उत्क्रान्तिकर्ता हरा न सके परिणामस्वरूप परिस्थितियों का कुछ रूपान्तर भले ही हो गया हो, किन्तु समूल उच्छेद नहीं हो सका ।

उत्क्रान्ति युग

लौकाशाह का आलोक

लौकाशाह के तात्विक अभ्युदय का परिचय देने से पूर्व, उनके जीवन वृत्त का थोड़ा परिचय देना अनुपयुक्त नहीं होगा ।

लौकाशाह का जन्म अरहट्टवाड़ा (गुजरात) में ओसवंशीय चौधरी परिवार में विक्रम संवत् १४७२ तदनुसार वीर निर्वाण संवत् १४४२ में कार्तिक शुक्ला पूर्णिमा शुक्रवार दि. १=1७।१४१५ में हुआ । पिता का नाम हेमाशाह था तथा माता गंगाबाई थी ।

लौकाशाह बचपन से ही निविकारप्रिय सद्संस्कारों से ओतप्रोत थे उन्हें सांसारिकता का कोई मौलिक आकर्षण नहीं था किन्तु अध्ययन आदि प्रारम्भिकता संपन्न करने के बाद युवावस्था में आते-आते माता-पिता के आग्रह ने उन्हें एक कन्या के साथ विवाह करने को विवश किया । कन्या सिर्रोही के सुप्रसिद्ध सेठ ओभव जी की सुपुत्री 'सुदर्शना' थी । कालान्तर में एक पुत्र रत्न की भी प्राप्ति हुई । उसका नाम 'पूर्णचन्द्र' रखा गया । २३ वर्ष की उम्र में माता तथा २४ वर्ष की उम्र में पिता का देहावसान हो गया ।

लौकाशाह का अब वहाँ से मन हट गया । कुछ राजनैतिक बातावरण में अरहट्टवाड़ा में रहने के प्रतिकूल था । वे अहमदाबाद रहने लगे ।

अहमदाबाद के तत्कालीन शाह मुहम्मद श्री लौकाशाह के चातुर्य और बौद्धिकता से बड़े प्रभावित थे । उन्होंने लौकाशाह को कोषाधिकारी नियुक्त कर दिया ।

राज्य-कार्य का संचालन करते हुए लौकाशाह ने देखा कि सांसारिकता और लालसा के गुलाम मानव कितने पापाचार और षड्यन्त्र रचते हैं । उन्हीं दिनों कुतुबशाह ने अपने पिता मुहम्मद शाह को विष देकर मार डाला । स्वार्थ-वश पुत्र द्वारा पिता की इस तरह हत्या किये जाने पर तो लौकाशाह को बड़ी हादिक पीड़ा हुई । उन्हें सांसारिकता से बड़ी घृणा हो गई । उन्होंने राज्य-कार्य का परित्याग कर घर पर ही धर्माराधन करना प्रारम्भ कर दिया ।

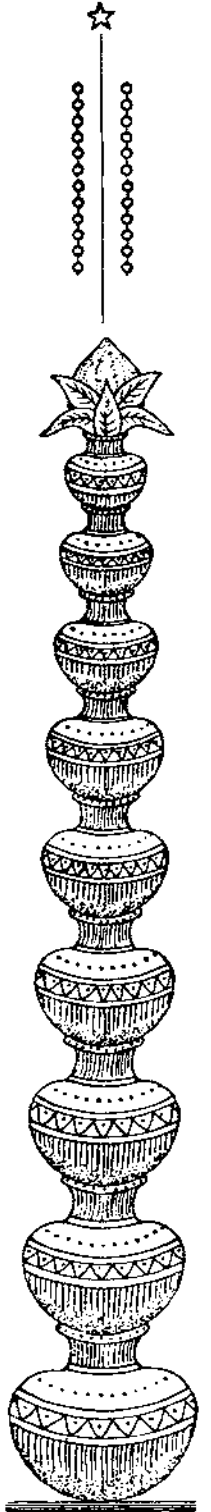
श्री लौकाशाह का मौलिक स्वभाव ही संसार के प्रति उदासीनता का था । जैन धर्म का त्याग प्रधान संदेश उनको बड़ा प्रिय था । वे जैन तत्त्वों को बड़ी गहराई तक जानना, समझना चाहते थे ।

उन्हीं दिनों एक ऐसा प्रसंग बना जिससे उनके तत्त्व-ज्ञान को विस्तृत होने का बड़ा सुन्दर अवसर मिला ।

लौकाशाह का लेखन बड़ा सुन्दर था । उससे प्रभावित हो, यति ज्ञान सुन्दर जी ने उन्हें शास्त्रों की प्रतिलिपि करने का आग्रह किया । श्रुत सेवा का अवसर देखकर श्री लौकाशाह ने भी सानन्द स्वीकार किया । सर्वप्रथम दश-वैकालिक सूत्र की प्रतिलिपि करना प्रारम्भ किया । प्रथम गाथा में ही अहिंसा, संयम, तप, रूप, धर्म स्वरूप को पाकर श्री लौकाशाह को बड़ा आकर्षण जगा । उन्होंने प्रत्येक शास्त्र की दो प्रति करना प्रारम्भ किया ।

१ बालावयंति एवं वेसो तित्थयराणं एसोवि ।

णमणिज्जो छिद्दी अहो मिर मूलकस्स पुक्करियो ।।



एक प्रति दिन में और एक रात में इस तरह दो प्रति लिखते । कहते हैं उन शास्त्रों की उन्होंने प्रतिलिपियाँ कर लीं । प्रतिलिपि के साथ गहनतत्त्व ज्ञान का अभ्यास भी होता गया ।

अभ्यास के साथ उनका चिन्तन भी चलता रहा । उन्होंने देखा, भगवान महावीर का यथार्थ आचार मार्ग तो आज विलुप्त-सा हो चुका है । चारों तरफ आडम्बर और शिथिलाचार छाया हुआ है ।

साधु अपनी मर्यादा को भूल चुके हैं, धर्म क्रियाओं से हिंसा का प्रत्यक्ष तांडव चल रहा है ।

उन्होंने अनुभव किया कि शास्त्रों में मूर्तिपूजा और मन्दिर आदि का कोई अस्तित्व और महत्व है ही नहीं किन्तु आज तो सारा जैन संघ इन्हीं को केन्द्र बनाकर लगभग सभी तरह के आस्रवों का सेवन करने में लगा हुआ है । उन्हें भगवान महावीर के मार्ग की यह हीनावस्था देखकर बड़ा दुःख हुआ । जैन धर्म और साध्वाचार के नाम पर जो चल रहा था वह श्री लोकाशाह के लिए नितान्त असह्य था ।

एक बार यति जो शास्त्र लेने आये । घर पर शाहजी की पति थी, उसने कहा—दिन वाले दू, या रात वाले ? इस तरह कहने से यति जो कुछ शास्त्र लेकर गये किन्तु उन्होंने आगे लिखाना बन्द कर दिया ।

श्री लोकाशाह को जो ३२ शास्त्र मिले, इनमें भी बहुत कुछ जैन तत्त्वों का खजाना उन्हें मिल चुका था ।

उन्होंने एक दिन व्याप्त विकारों का मुटु विरोध करने का निश्चय कर लिया ।

उत्क्रान्ति का प्राथमिक प्रयास

श्रीमद् लोकाशाह का विरोध किसी व्यक्ति का विरोध नहीं था । उनका विरोध उन आडम्बरों, विकारों और शिथिलाचारों से था जो जैन धर्म की वास्तविकता को मिटाये जा रहे थे ।

उन्होंने अपने विकारों के प्रचार के लिए कोई बड़े आयोजन नहीं किये, न प्रचार दौरे किये । उन्होंने केवल अपने सम्पर्क में आने वालों को वास्तविक तत्त्वज्ञान और आचार मार्ग बताना प्रारम्भ किया ।

श्री लोकाशाह का तत्त्व-सन्देश यथार्थ पर आधारित था । वे जो भी कहते, शास्त्र पाठों के द्वारा उसे पुष्ट करते । उनके तर्क बेजोड़ और अकाट्य होते थे । फलतः जो भी उनके सम्पर्क में आता, उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता ।

कुछ ही समय में श्री लोकाशाह के कई अनुयायी तैयार हो गये और वे श्री लोकाशाह के घर पहुँच कर तत्त्व चर्चा किया करते ।

श्री लोकाशाह अपने घर पर ही आगत व्यक्तियों को धर्मोपदेश दिया करते ।

वे अपने धर्मोपदेश में मुख्य रूप से निम्न सिद्धान्तों की पुष्टि करते ।

- (१) तीर्थंकर भगवन्तों की मूर्ति और मूर्तिपूजा का शास्त्रों में कोई आधार नहीं ।
- (२) प्रतिष्ठा आदि कार्यों में होने वाली हिंसा धर्म नहीं, अधर्म ही है ।
- (३) वर्तमान साध्वाचार, भगवान महावीर का श्रमणाचार नहीं है ।

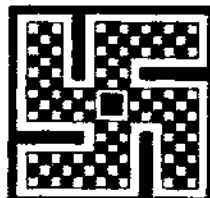
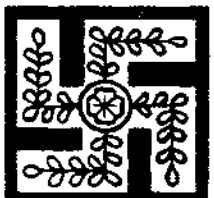
श्रमणों को एक ही स्थान पर सुविधापूर्ण होकर रहना, हिंसा के कार्यों में भाग लेना, द्रव्यादि का संग्रह करना नितान्त अकल्पनीय है ।

श्री लोकाशाह ये कुछ मुद्दे ही विकृत वाद में विप्लव मचाने को काफी थे । श्री लोकाशाह का प्रचार बड़ी तेजी से बढ़ने लगा । फलस्वरूप स्थापित सुविधा वाद में हलचल फैल गई ।

उधर से भी प्रबल विरोध चालू हो गया । श्री लोकाशाह को मिथ्यातत्त्वों और उत्सूत्र प्ररूपक कहा जाने लगा ।

यथास्थितिवादियों ने उस समय के सुप्रसिद्ध संघपति, पाटन के श्री लखमशी भाई को लोकाशाह को समझाने भेजा । श्री लखमशी भाई बड़े शास्त्र रसिक और संघ हितैषी श्रावक थे । उन्होंने श्री लोकाशाह को समझाने का प्रयास किया, किन्तु जब श्री लोकाशाह ने शास्त्र रहस्य प्रकट कर लखमशी भाई के सामने रखा और प्रचलित परिस्थितियों की विडम्बना का परिचय दिया तो वह चकित रह गया ।

श्रीमद् लोकाशाह ने कहा, लखमशी भाई ! जैन धर्म आज हिंसा और पाखण्ड के दो पाठों के बीच पिसा जा रहा है और सुविधावादी धर्मगुरु और पंथवादी उपासक उसे पीस रहे हैं । उठो! जिन शासन को इस दशा से मुक्त करो ।



श्री लखमशी भाई जो समझाने गये थे, श्री लोकाशाह से तत्त्वार्थ समझकर उनके अनुयायी हो गये। इस घटना से जैन समाज में बड़ी चर्चा फैल गई फलतः कई व्यक्ति उनके पास पहुँचने लगे, जो पहुँचते उनमें कुछ तो विग्रह-विवाद लेकर आते कुछ समझने को आते। किन्तु जो भी आते वे लोकाशाह के विचारों से अवश्य प्रभावित हो जाते।

उन्हीं दिनों अरहट्टवाड़ा, सिरौही, पाटण और सूरत के संघ यात्रार्थ निकले और अहमदाबाद आये। वह समय वर्षा का था, बड़ी भारी जीवोत्पत्ति हो रही थी।

संघ कुछ दिनों के लिए अहमदाबाद ठहरा। श्री लोकाशाह की क्रान्ति वीणा बज रही थी, चारों संघों के संघपति श्री नाग जी, श्री दलेचन्द जी, श्री मोतीचन्द जी, श्री शम्भू जी ने भी यह चर्चा सुनी तो वे भी श्री लोकाशाह के पास पहुँचे और गम्भीरतापूर्वक वार्तालाप करने लगे। श्री लोकाशाह ने शुद्ध दयाधर्म का स्वरूप शास्त्रोक्त शैली में समझाया तो चारों इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने यात्रा का विचार ही त्याग दिया। इतना ही नहीं वे शुद्ध दयाधर्म के अनुरूप श्रमण धर्म स्वीकार करने को तैयार हो गये। यात्रा में आये अन्य व्यक्ति भी इस तत्त्वोपदेश से वैराग्यवान् बने। इस तरह कुल ४५ व्यक्ति मुनि बनने को तैयार हो गये।

श्री लोकाशाह ने सोचा मैं तो गृहस्थ हूँ इन्हें श्रमण धर्म देने को कोई योग्य मुनि चाहिये।

श्री ज्ञान जी मुनि श्री लोकाशाह की श्रद्धा-प्ररूपणा के अनुरूप आचार की प्रतिपालना करने वाले, मुमुक्षु मुनि थे, उन्हें अहमदाबाद बुलाया और ४५ व्यक्तियों की दीक्षा कराई।

यह घटना संवत् १५२७ वैशाख शुक्ला ३ के दिन की है।

श्री लोकाशाह जी की आगम मान्यता का अब तेजी से विस्तार होगे लगा, उनके अनुयायियों की संख्या लाखों में होने लगी।

उपयुक्त अवसर देखकर उन्होंने भी सं० १५३६ मिंगसर शुक्ला ५ को ज्ञान जी के शिष्य श्री सोहन जी के पास दीक्षा स्वीकार कर ली।

श्री लोकाशाह का प्रचार कार्य मुनिपद आने के साथ बड़ा भारी विस्तृत हो गया, अहमदाबाद से दिल्ली तक लाखों उनके अनुयायी शुद्ध वीतराग धर्म का जयघोष कर रहे थे। ४०० शिष्य बने जो देश के कोने-कोने में पवित्र वीतराग मार्ग को फैलाने लगे।

विवाह और स्वर्गगमन

श्रीमद् धर्मवीर लोकाशाह मुनि का चैतन्यवादी उद्धोष जड़वादियों को प्रकम्पित कर रहा था। श्री लोकाशाह के क्रान्ति-अभियान से पाखण्डवाद की जड़ें हिल चुकी थीं। कहीं-कहीं तो वह लगभग समाप्त ही हो चुका था यह बात यथास्थितिवादियों के लिए बड़ी असह्य थी। वे कई षड्यन्त्र तैयार करने लगे।

एक बार श्री लोकाशाह मुनि दिल्ली से अलवर आये। वहीं किसी मिथ्यामिनिवेशी ने जहरीला आहार बहारा दिया। श्री लोकाशाह ने वह आहार लिया और तत्काल उसका असर हुआ। वस्तु स्थिति को समझते देरी नहीं लगी। उन्होंने तत्काल सलेखना संस्कारक स्वीकार कर अन्तिम क्रिया साधी और स्वर्ग लोक की ओर प्रयाण कर दिया।

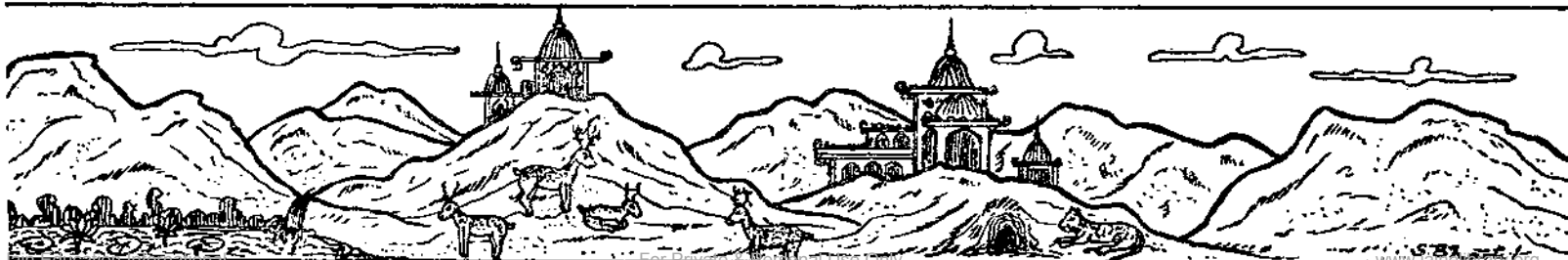
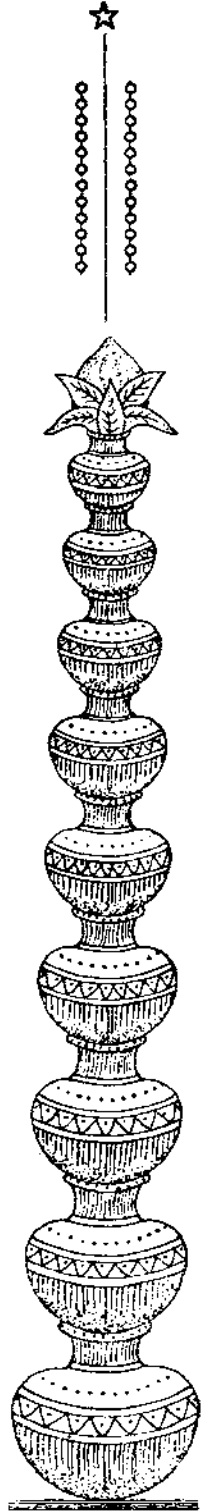
यह घटना सं० १५४६ चैत्र शुक्ला एकादशी के दिन घटी।

श्रीमद् लोकाशाह का स्वर्गवास मुमुक्षु जैन जनता के लिए गहरा धक्का था—मानों जगमगाता क्रान्तिसूर्य अस्त हो गया।

श्री लोकाशाह चले गये किन्तु वे जो प्रकाश फैला गये वह अद्भुत तथा अनेक आत्माएँ उससे अपने पथ-ज्ञान प्राप्त कर रही थीं।

लोकागच्छ की स्थापना और ह्लास

श्रीमद् लोकाशाह ने जो क्रान्ति की मशाल प्रज्वलित की उसका जगमगाता प्रकाश लगभग सारे भारतवर्ष में फैला। हजारों ही नहीं लाखों अनुयायी बने, कई सौ विदित मार्गानुगामी मुनि सद्धर्म के प्रचार में लगे। यह सारा एक विशाल समूह था बिलकुल व्यवस्थित। यह समूह 'लोकागच्छ' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।



लोकामच्छ का इतिहास धर्म क्रान्ति का इतिहास है। इसने लगभग सौ वर्ष तक यथार्थ वीर मार्ग को प्रसारित किया। कालान्तर में, यह तीन भागों में विभाजित हो गया—(१) गुजराती लोकामच्छ, (२) नागोरी लोकामच्छ, (३) उत्तरार्ध लोकामच्छ।

सामान्यतया चैत्यवासियों यतियों का प्राबल्य था ही, लोकामच्छ यद्यपि क्रांति लेकर आया था किंतु दुर्भाग्यवश ही कहिए इस पर चैत्यवास की सुविधावादी छाया पड़ने लगी। लोकामच्छ ने मूर्ति और मंदिर को तो स्वीकार नहीं किया किंतु साध्वाचार में वह श्रेष्ठता नहीं रही, जो लोकाशाह ने स्थापित की।

धर्म क्रांति का स्वर फिर मंद हो गया। जैन जनता पुनः आडम्बरों के वीहड़ में भटकने लगी। चारों ओर अज्ञानता का तमस् फैला था तभी जैन जगत में क्रियोद्धार की एक नयी लहर पैदा हुई।

स्थानकवासी (साधुमार्गी) परम्परा का अभ्युदय

श्रीमद् लोकाशाह का दिव्य संदेश उन्हीं के अनुयायियों के द्वारा लगभग मुला दिया गया था, तभी अर्थात् सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दि में कुछ ऐसे महापुरुष आये आये, जिनके क्रांतिकारी उद्बोध से चिर निद्रा में प्रसुप्त जैन जगत पुत्र जाग्रत हो, सक्रिय हो उठा।

उन महापुरुषों में पूज्य श्री जीवराज जी महाराज पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज, पूज्य श्री लवजी ऋषि पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज, पूज्य श्री हरजी ऋषि जी महाराज के नाम प्रमुख हैं।

श्री जीवराज जी महाराज

श्री जीवराज जी महाराज का जन्म सूरत में श्रावण शुक्ला १४ संवत् १५८१ में हुआ। श्री वीरजीमाई पिता तथा श्री केसरबाई माता का नाम था।

इन्होंने १६०१ में जगजी यति के पास दीक्षा ली। ज्ञानादि की आराधना के बाद सत्यार्थ का बोध होने पर संवत् १६०८ में इन्होंने सर्वप्रथम क्रियोद्धार का विगुल बजाया। पाँच मुनियों के साथ शुद्ध दीक्षा स्वीकार की और प्रचलित मुनिवेश को रखकर शेष अनावश्यक उपकरणों का परित्याग किया। श्री जीवराज जी महाराज का आगरा में समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ। इनकी उपस्थिति में ही इनके अनेक शिष्य बने। इनकी शिष्य परम्परा से कई संप्रदायों का उद्गम हुआ। आज आठ-दश संप्रदायों आपको अपना मूल-पुरुष मानती हैं।

श्री धर्मसिंह जी महाराज

क्रियोद्धारक पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज का जन्म जामनगर दशा श्रीमाली परिवार में हुआ जिनदास और शिवादेवी माता-पिता थे। १५ वर्ष की वय में लोकामच्छी देवजी ऋषि के पास संयम लिया। ये बचपन से ही तीक्ष्ण बुद्धि थे, थोड़े ही समय में गम्भीर तत्त्वज्ञान प्राप्त कर लिया। शास्त्र-ज्ञान से इनके अन्तर्चक्षु खुल गये। उन्हें प्रचलित शिथिलाचार से बड़ी घृणा हुई। उन्होंने शूद्र वीतराग मार्ग के अनुसार शुद्ध साधुत्व लेने का दृढ़ निश्चय किया। उन्होंने अपने विचार गुरु के समक्ष रखे। उन्होंने कहा—यह तलवार की धार पर चलाने के समान है, तुम यदि दरगाह (अहमदाबाद) एक रात्रि रह लो तो, मैं तुम्हें क्रियोद्धार की आज्ञा दे दूंगा।

दृढ़ निश्चयी श्री धर्मसिंह जी दरिया पीर की चमत्कारिक दरगाह में रात्रि भर ठहरे। उस दरगाह में रात्रि ठहरना उस समय बड़ा खतरनाक था। उसमें रात्रि ठहरने वाला प्रायः जीवित नहीं रहता था।

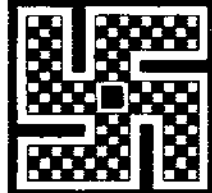
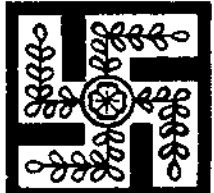
श्री धर्मसिंह जी महाराज रात्रि में तत्व-ज्ञान का चिन्तन करते रहे।

दरिया पीर उससे बड़ा प्रभावित हुआ। उसने रात्रिभर मुनि श्री की वाणी का लाभ लिया।

दूसरे दिन जीवित बाहर आने पर चारों तरफ आश्चर्य छा गया।

उनके तथाकथित गुरु भी समझ गये कि धर्मसिंह अद्भुत तेजस्वी मुनि है, इससे निश्चित ही वीर धर्म की सेवा होगी।

मुनि श्री धर्मसिंहजी क्रियोद्धार का विगुल बजाकर हजारों भटके प्राणियों को सद्बोध प्रदान किया। इनकी संप्रदाय का नाम दरियापुरी संप्रदाय प्रसिद्ध हुआ। उपर्युक्त घटना १६६२ की है। सौराष्ट्र गुजरात में अधिकतर इन्हीं महात्मा का उपकार है। १७२८ के आसोज वदी ४ को इनका स्वर्गवास हुआ।



श्री धर्मसिंह जी महाराज ने २७ सूत्रों पर 'टम्बा' (शब्दार्थ) लिखा जो अत्यधिक प्रसिद्ध और अपने ढंग की अनुपम रचना है।

पूज्य श्री लवजी ऋषिजी महाराज

श्री लवजी ऋषि जब बालक थे उनके पिता का देहावसान हो गया, अतः सूरत के वीरजी वीरा, जो लवजी के नाना थे, पालन-पोषण वहीं हुआ।

वहाँ वज्रांग लोंकागच्छी यति रहा करते थे, लवजी अपने नाना के साथ वहाँ दर्शनार्थ जाया करते। एक दिन यतिजी का ध्यान लवजी के हाथ की तरफ गया रेखाएँ देखकर वे बड़े प्रभावित हुए। उन्हें यह भी जानकर आश्चर्य हुआ कि ७ वर्ष के बच्चे को प्रतिक्रमण याद है। वे लवजी को पास बिठाकर शास्त्राभ्यास कराने लगे। लवजी बड़े बुद्धिमान और जिज्ञासु थे, उनका शास्त्राभ्यास क्रमशः गम्भीर होने लगा। ज्ञानाभ्यास से उन्हें संसार से विरक्ति होने लगी। १६६२ में उन्होंने यति दीक्षा ग्रहण की।

अब उन्हें शास्त्राभ्यास का और विशेष अवसर मिला। भगवान महावीर के शुद्ध आचार मार्ग और तत्कालीन विडम्बना को देख उन्हें बड़ा खेद हुआ। श्री धर्मसिंह जी मुनि की तरह इन्हें भी शुद्धाचार तथा सत्य-प्ररूपणा की लगन लगी। अन्ततोगत्वा १६६४ में शुद्ध मागवती दीक्षा ग्रहण कर क्रियोद्धार की नवीन ज्योति जगा दी।

श्री लवजी द्वारा क्रियोद्धार की घोषणा से यतिवर्ग में बड़ी हलचल फैल गई। उन्होंने श्री वीरजी वीरा (नाना) को भड़काया। नानाजी उनकी बातों में आकर क्रुद्ध हो गया। उसने खंभात के नबाब को पत्र लिखकर श्री लवजी को गिरफ्तार करवा दिया किन्तु नबाब और नबाब की बेगम ने जब इस अद्भुत साधु की धर्म क्रिया और शांत वृत्ति देखी तो वे बड़े प्रभावित हुए और उन्हें ससम्मान मुक्त कर दिया।

कहते हैं अहमदाबाद में यतियों ने इनके दो मुनियों को मारकर उपाश्रय में गाड़ दिया। शोध करने पर सत्य सामने आया तो तत्कालीन अधिकारी यतियों को गम्भीर दण्ड देने लगे तो श्री लवजी ऋषि ने कठुणाकर उन्हें दण्ड से मुक्त करवाकर अपनी महानता का अद्भुत परिचय दिया।

यति वर्ग कितना पतित हो चुका था और उसके भयंकर आतंक के बीच उनका विरोध कितना कठिन था पाठक उक्त घटना से यह अच्छी तरह जान सकते हैं।

इतने विरोध की उपस्थिति होते हुए भी श्री लवजी ऋषि यथार्थ मार्ग पर कदम बढ़ाते रहे, धन्य हो ! उन उत्तम पुरुषों को जिन्होंने असीम कष्ट सहकर भी सत्य की ज्योति जगाई।

बहारनपुर में एक हलवाई ने मोदक में जहर दे दिया और वहीं पूज्य लवजी ऋषि जी का समाधिपूर्वक स्वर्गवास हुआ।

श्री लवजी ऋषि की परम्परा में आज अनेक सिंघाड़े ऋषि संप्रदाय आदि हैं।

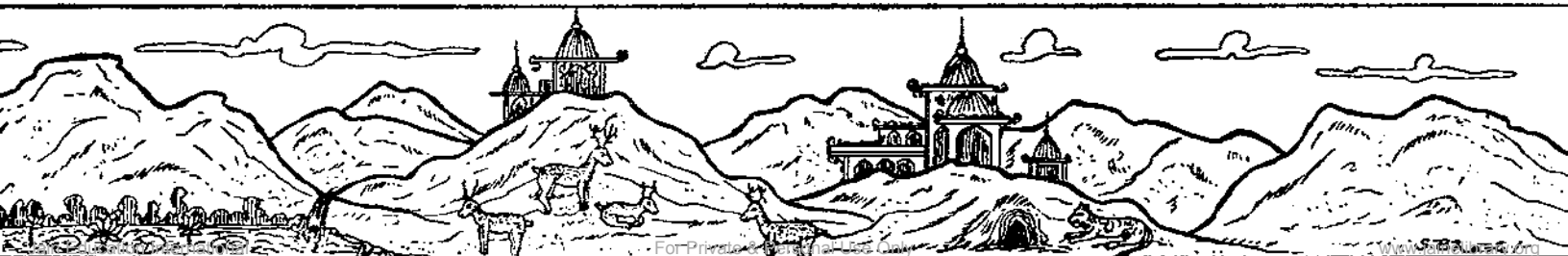
पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज

सोलहवीं और सत्रहवीं शताब्दी में उत्क्रांति की जो नई लहर आई, उसके फलस्वरूप देश के विभिन्न भागों में क्रियोद्धार कर्ता कई श्रेष्ठ सद्पुरुष सामने आये।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज भी उन सद् पुरुषों में से एक हैं।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज का जन्म सरखेज (अहमदाबाद) नामक ग्राम में वि० सं० १७०१ चैत्र शुक्ला ११ के दिन हुआ।

श्री रत्नीदास जी तथा हीराबाई इनके माता-पिता थे। ये भावसार थे। सरखेज में भावसारों के ७०० घर थे।



श्री धर्मदास जी बचपन से ही मुमुक्षुवृत्ति में रहा करते। सरखेज में श्री केशवजी यति के पक्ष के पूज्य श्री तेजसिंह जी विराजित रहते। ये लोंकागच्छी थे। श्री धर्मदास जी ने उनके पास से जानाराधना की।

शुद्ध वीतराग तत्त्व को समझकर उसके मन में वैराग्य भाव का उदय हुआ किन्तु वे सिथिलाचारियों के पास संयम लेने को तैयार नहीं थे। उन्हीं दिनों एकलपात्रिया पंथ के प्रचारक श्री कल्याणजी उधर आये। उनका क्रियानुष्ठान बहुत अच्छा था, उससे प्रभावित हो श्री धर्मदास जी ने उनके पास संयम लिया और मनोयोगपूर्वक अभ्यास करने लगे। श्री धर्मदास जी को एकल पात्रिया पंथ की श्रद्धा अशुद्ध लगी, उन्होंने एक वर्ष बाद उसका परित्याग कर सं० १७१६ में अहमदाबाद के दिल्ली दरवाजा बाहर बादशाह की बाड़ी में सर्वज्ञ भगवान तथा स्वात्मा की साक्षी से शुद्ध संयम स्वीकार किया।

कहते हैं—पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज सर्वप्रथम गोचरी गये तो, किसी ने उन्हें राख बहरा दी। इसका फलितार्थ पूज्य श्री धर्मसिंह जी महाराज जो श्री धर्मदास जी पर कृपालु थे उन्होंने कहा कि धर्मदास जी ! जैसे यह राख सारे पात्र में फैल गई उसी तरह तुम्हारे अनुयायी भी सारे भारत में फैले हुए मिलेंगे। भारत का कोई क्षेत्र ऐसा नहीं होगा जहाँ तुम्हारी आम्नाय का श्रावक न हो।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज ने १७२१ में संयम ग्रहण किया।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज, श्री धर्मसिंह जी महाराज तथा पूज्य श्री लवजी ऋषि जी से भी मिले। बड़ी गम्भीर तत्त्व चर्चाएँ हुई, किन्तु कुछेक बोलों में मतवैय नहीं हो पाया अतः परस्पर एक नेश्राय नहीं बन सका। यों इन सब में परस्पर प्रेम भाव था ही, क्योंकि सभी शुद्धाचारवादी और मोक्ष मार्ग के आराधक थे।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज उत्कृष्ट क्रियापात्र तो थे ही, उग्र विहारी सुन्दर वाचा भी थे।

कुछ ही दिनों में पूज्य श्री के नेतृत्व में चार तीर्थ की सुन्दर संरचना होने लगी। सं० १७२१ में ही उज्जैन में श्री संघ ने आपको आचार्य पद प्रदान किया।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज का संघ द्वितीया के चन्द्र की तरह बराबर प्रगति करता रहा।

किसी भी क्रियोद्धारक महात्मा की अपेक्षा पूज्य धर्मदास जी महाराज को सर्वाधिक ६६ शिष्यों की उपलब्धि हुई।

पूज्य श्री ने अपने सुयोग्य शिष्यों को विभिन्न प्रान्तों में शुद्ध वीतराग मार्ग का प्रचार करने भेजा।

६६ शिष्यों में से २२ विद्वान मुनियों को विभिन्न प्रान्तों में आचार्य पद मिले, इस तरह श्री धर्मदास जी महाराज के २२ संप्रदाय बने।

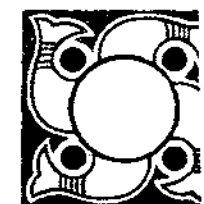
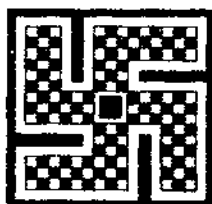
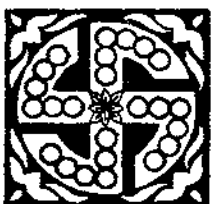
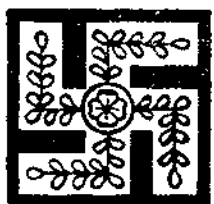
आज भी स्थानकवासी समाज में बाईस संप्रदाय के श्रावक और मुनियों का ही बाहुल्य है यही कारण है कि बाईस संप्रदाय स्थानकवासी समाज का पर्याय शब्द बनकर फैल गया।

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज का स्वर्गवास जन्म और जीवन से भी ज्यादा चमकदार सिद्ध हुआ।

धार में एक मुनि ने अपरिपक्व स्थिति में संथारा कर लिया और कुछ ही दिनों बाद वह अपनी प्रतिज्ञा से हटने लगा।

यह बात जब पूज्य श्री ने सुनी तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ, उन्होंने सोचा यदि साधु संथारे से उठ जायेगा तो जैन धर्म की बड़ी निन्दा होगी। जैन मुनियों की प्रतिज्ञा को कोई महत्त्व नहीं देगा। पूज्य श्री ने एक दृढ़ निश्चय किया और धार की तरफ विहार कर दिया। पूज्य श्री ने वहाँ पहुँचकर उस मुनि को समझाया कि स्वीकृत प्रतिज्ञा से हटना उचित नहीं, किन्तु जब वह स्थिर नहीं हुआ तो, पूज्यश्री ने तत्काल उसे उठाकर स्वयं को संथारे के अर्पण कर दिया।

संवत् १७६८ में आपका स्वर्गवास हुआ।



पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज का जीवन और मरण दोनों अतिशय क्रान्तिकारी रहे ।

जैन धर्म की कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज का यह बलिदान हजारों वर्षों तक जैन इतिहास में दमकता रहेगा ।

धर्मदासजी महाराज और मेवाड़ परम्परा

पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के शिष्यों से २२ संप्रदायों की स्थापना हुई । उनमें से छोटे पृथ्वीराज जी महाराज का सम्बन्ध मेवाड़ संप्रदाय से है ।

कहते हैं—पूज्य श्री छोटे पृथ्वीराज जी महाराज को उदयपुर में आचार्य पद प्रदान किया गया । इस तरह मेवाड़ संप्रदाय की स्थापना हुई ।

उनके पाठ पर पूज्य श्री दुर्गादास जी महाराज, पूज्य श्री हजिराज जी महाराज । पूज्य श्री गंगाराम जी महाराज, पूज्य श्री रामचन्द्र जी महाराज, श्री मनोजी महाराज, श्री नारायणदास जी महाराज, श्री पूरणमलजी महाराज श्री रोड़जी स्वामी, पूज्य श्री नृसिंहदास जी महाराज, पूज्य श्री मानजी स्वामी, पूज्य श्री एकलिंगदास जी महाराज, पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज । गुरुदेव श्री भारमल जी महाराज, गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज क्रमशः परंपरागत है ।^१

श्री रोड़जी स्वामी और उनसे उत्तरवर्ती आचार्यों का परिचय मेवाड़गौरव खंड (द्वितीय खंड पृष्ठ १२४ से १६२ तक) में उपलब्ध है । गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज का परिचय प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रारम्भ में ही उपलब्ध है ।

स्थानकवासी समाज, कोई नवीन पंथ नहीं

आज स्थानकवासी के नाम से पहचाना जाने वाला समाज, जैन धर्म में कोई नया पंथ लेकर खड़ा नहीं हुआ । भगवान महावीर द्वारा स्थापित श्रमण धर्म और जैनत्व के सिद्धान्त अपने आप में स्पष्ट और परिपूर्ण है ।

श्रीमद् देवद्विगणी क्षमाश्रमण तक जो शुद्ध परंपरा चली यदि वह चलती रहती तो जैन समाज ही नहीं वह सम्पूर्ण विश्व का एक सौभाग्य होता किन्तु वह बना नहीं । आचार शैथिल्य और विरुद्ध प्ररूपणाओं का एक ऐसा प्रवाह आया कि मौलिक वीतराग मार्ग विलुप्त-सा हो गया ।

उन्हीं कठिन परिस्थितियों में श्रीमद् लोकाशाह की क्रान्ति सामने आई और जब उस परम्परा में भी विकृतियों की हवा फैल गई तो क्रियोद्धारक महापुरुषों ने शुद्ध वीतराग मार्ग को पुनः उजागर किया ।

श्री हरिमद्र सूरि ने संबोध प्रकरण में जो अन्तर्पीड़ा व्यक्त की । क्रियोद्धारक महापुरुषों ने उसी पीड़ा का ही तो समाधान किया । स्थापित विकृतियों को निराकृत कर यथार्थ को उजागर करना, नवीन पंथ की स्थापना नहीं है ।

क्रियोद्धारक महापुरुषों ने अपना कोई पंथ नहीं चलाया । केवल वीतराग-तत्त्वों को प्रकाशित किया ।

यथार्थ श्रद्धा-प्ररूपणा के जो अनुयायी रहे उन्हें स्थानकवासी कहा जाने लगा ।

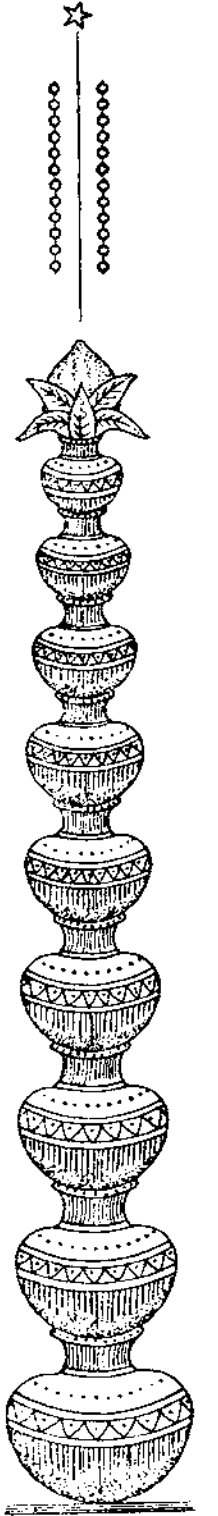
स्थानकवासी और यथार्थ

बहुत भूल करते हैं वे लोग जो स्थानकवासी का अर्थ किसी स्थान विशेष से लगाते हैं ।

हाँ, यह बात अवश्य ही सत्य है कि स्थानकवासी मन्दिर को छोड़ कर स्थानक में धर्माराधना किया करते हैं किन्तु मुनियों का न तो स्थानकों में स्थायी निवास होता है और न उनका उन स्थानों से कोई सम्बन्ध ही होता है ।

स्थानक गृहस्थ अपनी धर्माराधना के लिए निमित्त किया करते हैं और अधिकतर वे ही वहाँ धर्माराधना

१ पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज के बाद पूज्य श्री पूरणमल जी महाराज तक इन मध्यवर्ती, मुनिराजों के विषय में नामोल्लेख के अलावा और कुछ भी जानकारी उपलब्ध नहीं है ।



किया करते हैं। यदाकदा मुनि भी आ जाया करते हैं तो, वहाँ गृहस्थों की आज्ञा लेकर ठहर जाया करते हैं और उस स्थान को वापस उन्हें ही सौंप कर विहार कर देते हैं।

स्थानकवासी शब्द केवल स्थानक से धर्म ध्यानार्थ सम्बन्धित होने तक ही अर्थ रखता है। निवास या अधिकार तक उसका कोई अर्थ लगाए तो यह अनर्थ है।

स्थानकवासी शब्द भौतिक से अधिक आध्यात्मिक अर्थ रखना है।

वस्तुतः आत्मा ही यथार्थ में वास्तविक स्थान है जहाँ चेतना को टिकना चाहिये।

आत्मा में स्थित होने की प्रक्रिया ही स्थानकवासी शब्द का अन्तर्मर्म है। और यह सत्य भी है कि जड़वाद को जिसने त्याग दिया, उसके लिए केवल "आत्मा" ही चिन्तन केन्द्र रह जाता है।

मुमुक्षुओं के लिए केवल आत्मा ही वह स्थान है जहाँ टिककर वे अपना आध्यात्मिक उत्कर्ष साध पाए।

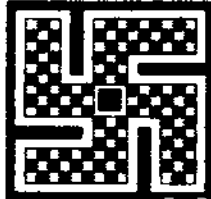
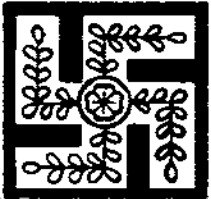
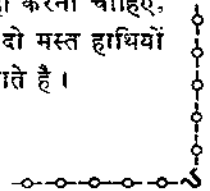
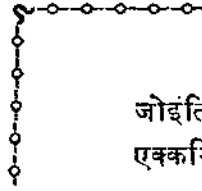
उपर्युक्त समग्र विवेचना को निम्नांकित पद्य में ठीक-ठीक अभिव्यक्ति दी गई है।

सत्य अहिंसा अनेकान्त पथ,
जीव दया विश्वासी।
आत्म स्थान में स्थित सर्वदा,
जिनमत स्थानकवासी ॥

जोइति पक्कं न उ पक्कलेणं, ठावेंति तं सूरहगस्स पासे।
एक्कमि खंभम्मि न मत्तहत्थो, वज्झंति वग्घा न य पंजरे दो।

—बृहत्कल्पभाष्य ४४१०

पक्व (झण्डालू) को पक्व (झण्डालू) के साथ नियुक्त नहीं करना चाहिए, किन्तु शान्त के साथ रखना चाहिए, जैसे कि एक खम्भे से दो मस्त हाथियों को नहीं बांधा जाता है और न एक पिंजड़े में दो सिंह रखे जाते हैं।



काव्य कुसुम

आभिनन्दनीय शुकदेव के नित्य स्मरणीय पद,
मेवाड़-सम्प्रदाय के प्रभावक आचार्यों की काव्य-
कृतियों की सरस बानगी एवं उनकी प्रशस्ति में
रचित कुछ कृति-कुसुमों की श्रेणी महक प्रस्तुत
स्वण्ड में उपलब्ध है ।

षट् खण्ड

पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज के

नित्य स्मरणीय पद



अरिहंत जप्यां से ती अष्ट कर्म विनास होय
सिद्धजी के जप्या सेथी सिद्ध पद पाइये ।
आचारज जप्या सेथी आत्मस्वरूप दीसे
उपाध्याय जप्यां सेथी उंच पद पाइये ।
साधुजी के जप्या शिव मार्ग बताय देत
इहलोक परलोक अति सुखदाई है ।
कहत विनोदीलाल जपो नवकार माल
जाके जाप जप्यां सेथी सदा सुख पाइये ॥१॥

सोले सुख

१ सुख—काया नीरोग, २ सुख—घर में नई सोग,
३ सुख—गुणवंता साथ, ४ सुख—स्त्री हात,
५ सुख—माथे नई देणो, ६ सुख—धर्मीतणो,
७ सुख—निरभय स्थान, ८ सुख—जाणे नई गाँव,
९ सुख—मीठो नीर, १० सुख—पंडित सीर,
११ सुख—पोषधशाला, १२ सुख—चित्त विसाला,
१३ सुख—पूत सपुता, १४ सुख—घर विभूता,
१५ सुख—केवलज्ञान, १६ सुख—पहुँचा निरवाण,
वा पुरुषां ने धन्य है जिन्होंने १५वां १६वां सुख
प्राप्त किया है, वो दिन मेरा धन्य हो जिस दिन
१५ वां १६ वां सुख की प्राप्ति हो ।



१२ भावना

१. पहली अनित्य भावना—माता मोरू देवी
२. अशरण भावना—अनाथी मुनि

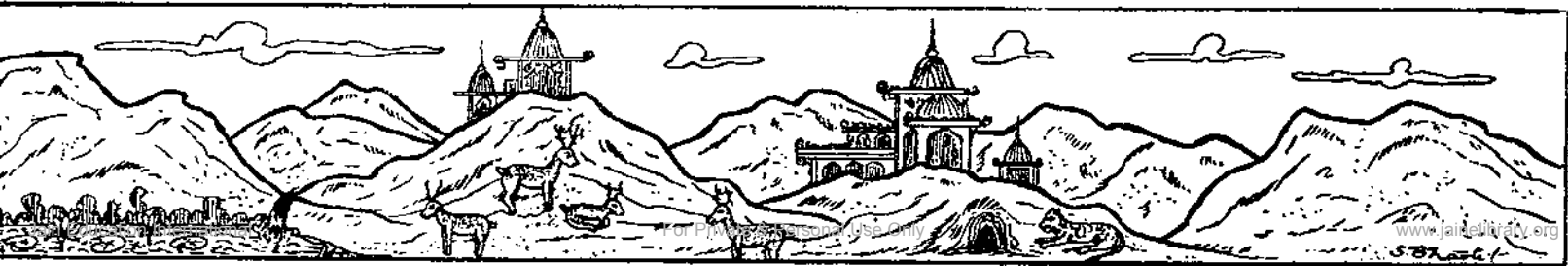
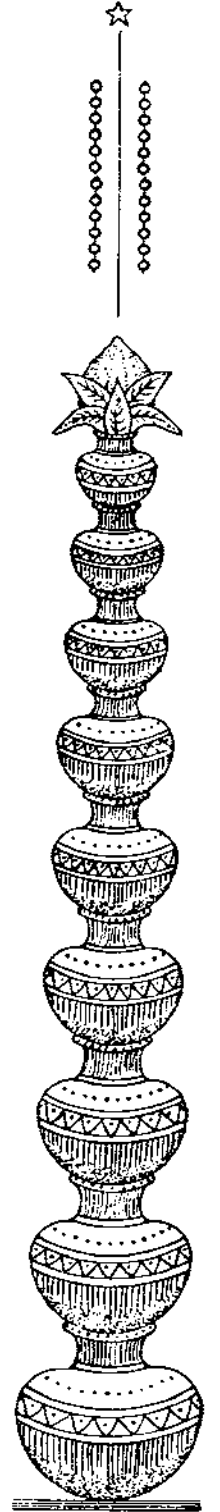
३. संसार भावना—शालभद्रजी
४. एकत्व भावना—नमीराज रिषी
५. अन्यत्व भावना—मृगापुत्र जी
६. अशुचि भावना—सनतकुमार चक्रवर्ती
७. आश्रव भावना—हरकेशी मुनि
८. संवर भावना—समुद्रपालजी
९. निर्जरा भावना—अर्जुनमाली
१०. लोक स्वरूप भावना—संयत्ती राजा
११. बोधि भावना—आदिनाथ के ६८ पुत्र
१२. धर्म भावना—धर्मरुचिजी

वह दिन मेरा कल्याणकारी होगा जिस दिन
ऐसी भावना आएगी । धन्य है उन पुरुषों को जिन्होंने
ऐसी भावना बनाई है ।



१. क्रोध क्षय हो, क्षमा गुण प्रगट हो ।
२. मान क्षय हो, विनय गुण प्रगट हो ।
३. माया क्षय हो, सरलता प्रगट हो ।
४. लोभ क्षय हो, संतोष प्रगट हो ।
५. अज्ञान क्षय हो, ज्ञान प्रगट हो ।

उन पुरुषों को धन्य है, जिन्होंने इन दुर्गुणों को
नष्ट किया । वह दिन मेरा परम कल्याणकारी हो
जिस दिन मेरे ये पाँच दुर्गुण नष्ट हों ।



स्तवन : १

साता कीजो जी,
श्री सांतीनाथ प्रभु शिव सुख दीजो जी ॥८८॥
सान्तिनाथ है नाम आपको सबने साताकारी जी ।
तीन भवन में चावा प्रभुजी मृगी नीवारी जी ॥१॥
आप सरीखा देव जगत में और नजर नहि आवे जी ।
त्यागी ने वीतरागी मोटा मुज मन भावेजी ॥२॥
शान्ति जाप मन मांही जपता चावे सो फल पावे जी ।
ताव तीजा से दुख दारीदर सब मिट जावे जी ॥३॥
विश्वसेन राजाजी के नन्दन अचलादे राणी जायाजी ।
चोथमल कहे गुरु प्रसादे म्हांने घणा सुवाया जी ॥४॥

स्तवन : २

भजो जी शान्तिनाथ ने
काया ना मिट जा दुःखो ॥८९॥
विश्वसेन राजा अचलादे माता जिनकी आया कुखो ।
था मृगी का रोग देस में सभी मिटाया दुःखो ॥१॥
चवदे सपना देखी भेट गयो सब दुःखो ।
लड़का जाया जगत रोसनी देख रहे सब मुखो ॥२॥
देवलोक में इन्द्र गावे सृष्टि पड़े मन को ।
मंगलाचार करे नर नारी बोल रहे सब मुखो ॥३॥
सतीया वरती बीच जगत में पुरा रहे सुखो ।
आदर भाव घणेर सेडु जे जे बोलो मुखो ॥४॥
दान शील तप भावना भावो जिणसे पावो सुखो ।
कर्म खपाई मोक्ष पहुता भेट गयो सब दुखो ॥५॥

स्तवन : ३

जो आनंद मंगल चावो रे मनावो महावीर ॥९०॥
प्रभु त्रीसलाजी के जाया हे कंचन वरणी काया ।
जाके चरणां शीश नमावो रे ॥१॥
प्रभु अनंत ज्ञान गुणधारी हे सूरत मोहनगारी ।
थे दर्शन कर सुख पावो रे ॥२॥
या प्रभुजी की मीठी वाणी है, अनंत सुखों की दानी ।
थे धार-धार तिर जावो रे ॥३॥

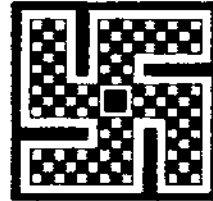
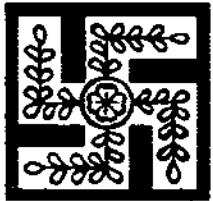
जाके शिष्य बड़ा है नाभी सदा सेवो गोतम स्वामी ।
जो रिद्ध सिद्ध थे पावो रे ॥४॥
थारा विघन सभी टल जावे मनवांछित सुख पावे ।
थारा आवागमन मिटावे रे ॥५॥
थे साल उगणीयासी भाई देवास सेर के माई ।
कहे चोथमल गुण गावो रे ॥६॥

स्तवन : ४

मती भूलो कदा रे मती भूलो कदा,
वीर प्रभु का गुण गावो सदा ॥९१॥
जो जो रे भगवंत भाव किया,
गणधर सूत्र में गूथ लिया ॥१॥
परभुजी री वाणी रो आज आधार
सुण सफल करो अवतार ॥२॥
जल सु न्हांयां रे तन मेल हटे,
प्रभुजी री वाणी सुणिया सब पाप कटे ॥३॥
तुरंत फुरंत सब विपत टले,
जिहाँ तिहाँ बंछित आस फले ॥४॥
मुनि नंदलाल जी हुकम दियो,
जद रावल पिंडी चोमास कियो ॥५॥

स्तवन : ५

सदा जय हो सदा जय हो,
श्री महावीरस्वामी की, सदा जय हो ॥९२॥
पतितपावन जिनेश्वर की,
सदा जय हो सदा जय हो ॥९३॥
तुम्हीं हो देव देवन के, तुम्हीं हो पीर पेगम्बर ।
तुम्हीं ब्रह्मा तुम्हीं विष्णु ॥१॥ सदा....
तुम्हारे ज्ञान खजाने की महिमा बहुत भारी है ।
लुटाने से बड़े हरदम ॥२॥ सदा....
तुम्हारी ध्यान मुद्रा से अलौकिक शांति झरती है ॥
सिंह भी गोद पर सोते ॥३॥ सदा...
तुम्हारा नाम लेने से जागती वीरता भारी ।
हटाते कर्म लश्कर को ॥४॥ सदा...
तुम्हारा संघ सदा जय हो मुनि मोतीलाल सदा जय हो
मुनि दल सारे की, सदा जय हो ॥५॥



स्तवन : ६

श्री श्रीमंदिर स्वामी महा विदेह अंतर्यामी ।
थारो ध्यान धरू सिर नामी,
हो जी नंद जस गामी ॥८८॥
प्रभु चोतीस अतिशय वाणी का गुण पेतीश ।
थे जीत्या राम ने रीस ॥९॥
रतन सिंहासन बैठे अशोक वृक्ष के हेठे ।
थारी ज्ञान जोत पेठे हो ॥१०॥
देव दुंदभी बाजे आकाशा अमर गाजे ।
यो मत पाखंडी लाजे हो ॥११॥
चोसठ इन्द्र सेवा और गणेश देवा ।
थारो नाम लिया नित मेवा ॥१२॥
काटो चोरासी फंदा, मैं सेवक तेरा बंदा ।
थारो नाम लिया नव नंदा ॥१३॥
अरजी सुणजो म्हारी भवसागर दीजो तारी ।
या वाणी मीठी थारी ॥१४॥

थे सुणजो बाया भाया धर्म करो सवाया ।
थे मिनक जमारो पाया ओ ॥१५॥
रतनचंदजी माहाराजा भव जीवों का सारे काजा ।
गुरु जवाहरलालजी ताजा ओ ॥१६॥
मेवाड़ देश के माई गाँव भदेसर भाई ।
हीरालाल लावणी गाई ॥१७॥

स्तवन : ७

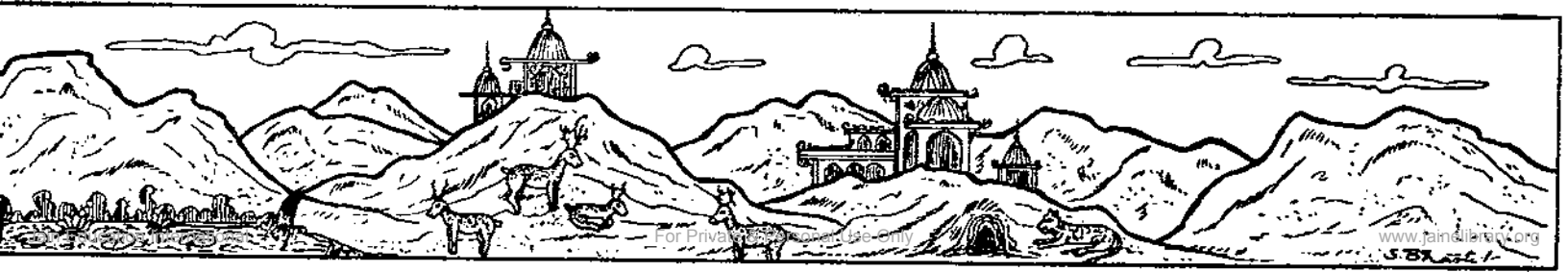
अरिहंत जय जय सिद्ध प्रभु जय जय ।
साधु जीवन जय जय जिन धर्म जय जय ॥१८॥
अरिहंत मंगलं सिद्ध प्रभु मंगलं ।
साधु जीवन मंगलं जिन धर्म मंगलं ॥१९॥
अरिहंत उत्तमं सिद्ध प्रभु उत्तमं ।
साधुजीवन उत्तमं जिन धर्म उत्तमं ॥२०॥
अरिहंत सरणं सिद्ध प्रभु सरणं ।
साधु जीवन सरणं जिन धर्म सरणं ॥२१॥
ए चार सरणं मंगल करणं और न सरण कोय ।
जो भवि प्राणी आदरे अक्षय अमर पद होय ॥२२॥

स्तवन : ८

श्री जिनराज सरणो धर्म को, सरणो धर्म को ने चलणो मुक्त को ॥८८॥
राग-द्वेष दोई मगर मोटा पाने पडिया रे गल जाय उनन को ॥८९॥
संसार सागर घोर अवस्था त्रसना नीर भरीयो रे भरम को ॥९०॥
भव सागर में भटकत धर्म जाज मिली रे तीरण को ॥९१॥
भव जीव प्राणी बेठा रे आई सतगुरु मिलिया नाव खेवण को ॥९२॥
कहे हीरालाल सुनो भव जीवा चालो रे मुक्त में ठाम आनंद को ॥९३॥

स्तवन : ९

लाल बसला को प्यारो रे गणो छे मोवनगारो रे ॥९४॥
सीधारथ राजा केवे पुत्र ने सोभागी कुवर तुमारो रे ॥९५॥
पास बैठाके माता भोजन जिमावे कर कर अति मनवारो रे ॥९६॥
कहे भोजाई सुण रे देवरिया मुखडो तो दिखा दे तुमारो रे ॥९७॥
जब मिले जब भाई यू बोले म्हारे तो तू ही प्राण अधारो रे ॥९८॥
इन्द्र इन्द्राणी आके खेलावे म्हारे तो यो ही सफल जमारो रे ॥९९॥
वार वार प्रभु ने लेवे रे गोद में मेले तो नहीं क्षण भर न्यारो रे ॥१००॥
देवीलाल कहे सरणो तुम्हारे नाथजी अब मोही तारो रे ॥१०१॥



स्तवन : १०

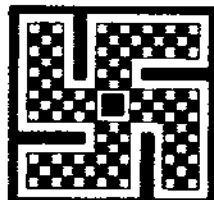
अरिहंताणं मज्झ मंगलं अरिहंताणं मज्झ देवयं ।
 अरिहंताणं गुण कित्तइत्ताणं वोसरामि पावकम्मं ॥१॥
 सिद्धाणं मज्झ मंगलं सिद्धाणं मज्झ देवयं ।
 सिद्धाणं गुणकित्तइत्ताणं वोसरामि पावकम्मं ॥२॥
 आयरियाणं मज्झ मंगलं आयरियाणं मज्झ देवयं ।
 आयरियाणं गुणकित्तइत्ताणं वोसरामि पावकम्मं ॥३॥
 उवज्झायाणं मज्झ मंगलं उवज्झायाणं मज्झ देवयं ।
 उवज्झायाणं गुणकित्तइत्ताणं वोसरामि पावकम्मं ॥४॥
 सव्व साहुणं मज्झमंगलं सव्व साहुणं मज्झ देवयं ।
 सव्व साहुणं गुणकित्तइत्ताणं वोसरामि पावकम्मं ॥५॥
 एसा पंच मज्झ मंगलं एसा पंच मज्झ देवयं ।
 एसा पंच गुणकित्तइत्ताणं वोसरामि पावकम्मं ॥६॥

स्तवन : ११

रे चेतन पोते तू पापी पर ना छिद्र चित्तारे तू ।
 निरमल होय कर्म करदम सू निज गुण नी अंबु नितारे तू ॥१॥
 सम्यक्दृष्टि नाम धरावे सेवे पाप अठारे तू ।
 नर्क नीगोद थकी किम छूटे जो पर हियो न ठारे तू ॥२॥ रे चेतन
 जिम तिम करने सोभा आपणी या जग मांहि दिखावे तू ।
 प्रकट कहावे धर्म को धोरी अंतर भरियो विकारे तू ॥३॥
 परमेश्वर साक्षी घट घट नो तेहनी शर्म न धारे तू ।
 पचसी कुंभीपाक नरक में अंतस छलना निवारे तू ॥४॥
 परनिदा अध-पिंड भरीजे आगम साख सँभाले तू ।
 विनयचंद कहे आतमनिदा भव भव दुष्कृत टाले तू ॥५॥

स्तवन : १२

शांतिनाथ प्रभु सोलमाजी जगतारण जगदीश ।
 वीनतड़ी म्हारी साँभलो मैं तो अरज करूँ कर जोड़ ॥१॥
 साता वरताई सारे देश में प्रभु पेट में पोड़िया जी आय ।
 जनमिया सायबा थें तो आया घणा के दाय ॥२॥
 चकरवती पदवी थां लई प्रभु कियो भरत में राज ।
 सुख विलसी संसार नां पछे सार्या आतम काज ॥३॥



सुर नर इन्द्र सेवा करे प्रभु वरसे अमृत वेण ।
 अमिय झरे प्रभु मुख थकी थाने देखिया ठरे दोई नैन ॥४॥
 तीर्थनाथ त्रिभुवनघणी तीरथ थाप्या चार ।
 समो सरण भेला रहे प्रभु जठे सींह ने बकरी एक ठाम ॥५॥
 देव घणा ही देखिया प्रभु गरज सरी न काय ।
 तू मारे सांचो सायबा मे तो आस घरी दिल मांय ॥६॥
 रिख चोथमलजी की वीनती प्रभु मुनियो दुतिथा चंद ।
 अविचल पदवी आपजो म्हाने अचला जीनानंद ॥७॥

☆

स्तवन : १३

प्रभुजी रो कइय न मांगूं म्हाका राज ।
 म्हारी राखीजे प्रभुजी लाज ॥८॥
 हाथी घोड़ा म्हेल नहीं मांगूं नइ मांगूं कछु राज ।
 पुत्र कलत्र धन दोलत न मांगूं मांगूं धर्म की जहाज ॥९॥
 समकित मांही क्षायक मांगूं ध्यान में सुकल ध्यान ।
 यथाख्यात चारित्र मांगूं ज्ञान में केवल ज्ञान ॥१०॥
 जिनवर गणधर रो पद जो मांगूं मांगूं मुख की रास ।
 मुनि राम कहे अक्षय पद मांगूं मांगूं सिवपुर खास ॥११॥

☆

स्तवन : १४

ढंढण रिष दर्शन री बलिहारी आपरी मूरत मोहनगारी ॥८॥
 निर्जरा करणी दोनों धारी परम श्री नेम उचारी ।
 यादव नो कुल उंचो जो लाया अद्भुत करणी थारी ॥९॥
 छ महीना लग अन्न-जल न लीदो लीदो अभिग्रह धारी ।
 म्हारी लब्धी को आहर पानी लेसु जाव जीव लग धारी ॥१०॥
 श्रीपती गाथापती प्रतिलाभ्यो आहार ने पानी ।
 आहार पानी ले प्रभु पासे आया नई वछ लबध तुम्हारी ॥११॥
 मोदक परठण काजे चाल्या दिया कर्म विदारी ।
 मुनि राम जपे जिन शासन में मुनिवर बड़े उपकारी ॥१२॥



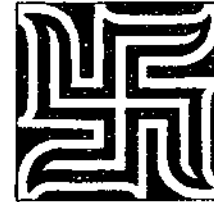
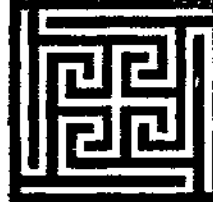
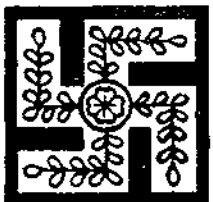
स्तवन : १५

रैवंतीबाई प्रभुजी ने पाक बेरायो ।
वीर सीयो अणगार पठायो ॥१०॥ टेरा॥
सुर नर इन्दर सेवा करते हैं कंचन वृष्टि करायो ।
थोड़ा-सा पाकर हुई मेहवाणी जिन पद मोत बंधायो रे ॥१॥
चंदन वालाजी अष्टम पारणे वीर अभिग्रह फलायो ।
उड़दा रा बाकला सुपड़ा के खूणे प्रतिलाभी मान बढ़ायो ॥२॥
साड़ी वारा वरस लग तपस्या करने करम कठोर हठायो ।
साली दरखत हेठे केवल पाया इन्द्र मोच्छव को आयो ॥३॥
इन्द्रभूति प्रभु पासे पदारिया संजम सूँ चिति लाया ।
बड़ा रे चेला वीरजी रा वांटु तो गणघर पदवी पाया ॥४॥
बोहतर वरस नो आयुस पाली भव जीवा उपकार करायो ।
आनंद घन कहे घन श्री वर्धमान भाग बड़ो यश पायो ॥५॥



स्तवन : १६

चेतन रे तूँ ध्यान आरत किम ध्यावे ।
तूँ नाहक करम बँधावे—चे० ॥टेरा॥
जो जो रे भगवंत भाव देखिया सो सो ही वरतावे ।
घटे-बढ़े नहि किंचित मात्र काहे को मन डुलावे ॥१॥
जलत काल जो चिता अग्नी उपजे सो विणशावे ।
शोकातुर बीते दिन रेणी घर्म ध्यान घट जावे ॥२॥
सुख सूँ नीद न आवे रात में अन्न उदक नई भावे ।
पेरण ओढण मन नई चावे रंग राग नई सुहावे ॥३॥
सुख नई रया तो दुख किम रहसी ऐ भी सायत गुजरावे ।
बांध्या सो भुक्त्या ही सरसी क्यूँ आतम ने डंडावे ॥४॥
बिन भुक्त्या छूटे नई असुभ उदे जो आवे ।
साहुकार सिरोमणि जो ही हंस हंस करज चुकावे ॥५॥
प्रभु समरण तपस्या करता दुष्कृत रज टल जावे ।
ज्येष्ठ कहे समता रस पीदां तुरन्त आनंद पावे ॥६॥



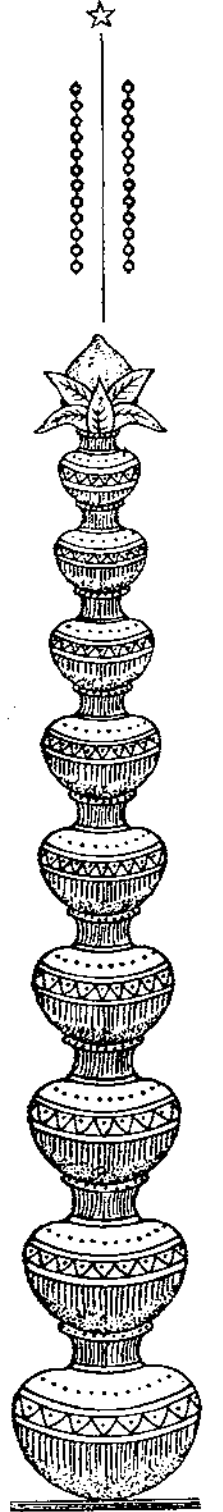
पूज्य श्री नृसिंहदास जी महाराज की कुछ रचनाएँ

[१]

तवन लषते ॥

वीर जिणेश सासण नायक सुण प्रभु अरज हमारी ।
जंबु दीपै भरत षेत्र मै कुंडणपुर सुषकारी । वी० ॥१॥
राय सिधारथ ने घर रांणी तिसला मात तुमारी ।
प्राणतलोक थकी चवीनँ आय लीयो अवतारी । वी० ॥२॥
चवदे सुपना देषनै जागी राजा पास पधारी ।
राजाजी सांभलनँ कहीयो कुमर होसे अतिभारी । वी० ॥३॥
राजा सुपन पाठक तेडीने कीधो सपन विच्यारी ।
इम घर सु तिर्यंकर होसे दान दीयो बहु भारी । वी० ॥४॥
जनम्यां पाछै जोवन वै मै परण्या छो एक नारी ।
तीस वरस घर माय रही नइ लीधो संजम भारी । वी० ॥५॥
बीस वरस छदमस्त रहीनँ कठण कर्म परजारी ।
घनघाती चउ कर्म षपावी केवल कमला धारी । वी० ॥६॥
च्यार हजार च्यार सै मुनीवर एकण दिन व्रतधारी ।
गोतम सरिषा गण घर ग्यारै लबध तणां भंडारी । वी० ॥७॥
चवद हजार मुनीसर हूवा अरजका छतीस हजारी ।
तीस वरस केवलपद पाली तार्या बहु नर-नारी । वी० ॥८॥
पावापुरी प्रभूजी पधार्या हरष हुवा नर-नारी ।
हस्तपालरा करी वीनती चौमासो रह्या धारी । वी० ॥९॥
काती बुध अमावस कै दिन पहुता मुगति मंजारी ।
कर जोडी रष नरसींघ बोलै अब प्रभूजी मोए तारी । वी० ॥१०॥
समत अठार पच्यासे मगसर दसमी मंगलवारी ।
कसन षष गंगापुर माहै तवन कह्यो हेतकारी । वी० ॥११॥

॥ इति श्री संपूर्णः ॥



[२]



सुमत जिणेंसर सुमत का दाता विसव माहे विष्याता रे ।
जयंत विमाण थकी चवी ने बतीस सागर भोगवने रे । सु० ॥१॥

कोसलपुर नगर छै नीको मेघ राजा छै ठीको रे ।
मंगला राणी माता नै आथा सपना चवद दिषाया रे । सु० ॥२॥

धनदत सेठ छै नगर में नीको सेठा सेठां सिर टीको रे ।
दोय स्त्री तो छै उ नाहो माहो मांहि उछाहो रे । सु० ॥३॥

एक स्त्री नै पुत्रज हुवो पाछे सेठजी मुवो रे ।
दोइ माता पुत्र नै पालै जतन करी रुषवालै रे । सु० ॥४॥

कर्म नै जोगै माता दोइ तांम लडाइ होइ रे ।
बडी कहै छै बेटो मारो लहोडी कहै मारो रे । सु० ॥५॥

लडती-लडती रावलै जावै राजा पासै आवै रे ।
राजा सेती न्याय न थावै अचरज सब जन पावै रे । सु० ॥६॥

रांणी सांभल ग्रभ प्रभावे दोइ नारी नै उर ही बोलावै रे ।
न्याव करै छै नारी केरो सुणतां हरष घणोरो रे । सु० ॥७॥

नारी कहै ए न्याव करीजै सुत म्हारो मुज दीजै रे ।
रांणी भाषै दो षंड करस्यां दोयां नै वांटी देस्यां रे । सु० ॥८॥

सोक कहै सुधो न्याव कीधो झगडो मेटी दीधो रे ।
माता भाषै मत मारीजे सुत एहनो इनै दीजे रे । सु० ॥९॥

म्हारो बेटो छै नही कोइ रांणी समजी सोइ रे ।
जूठी सोक नै जूठी कीजे बेटो माता नै दीजे रे । सु० ॥१०॥

सुभ वेलां रांणी सुत जायो सुमत ज नांम कहायो रे ।
कर्म षपावी मुगत सिद्धाया तिरथंकर पद पाया रे । सु० ॥११॥

समत अठारै पच्यासै चोमासो सहर राईपुर उलासो रे ।
रष नरसीचदास भाषी उदारसिध भणी सुषकार रे । सु० ॥१२॥

धर्म ध्यांन रो हुवो उपगार नर नारी सुषकार रे ।
काती सुद री चउदस सार आयो छै गुरवार रे । सु० ॥१३॥

इति संपूर्णः ॥



डुहा

[३]

श्री मित्र प्रसाध थी विध जपतां श्रीकार ।
श्री गुरदत्त प्रसाद थी नत्त जपीयां जयकार ॥१॥

सकल वांछत फल सीजसै पंच पदां प्रसाय ।
तेहनी सुर सानिध करे जिम श्रीमती सुषदाय ॥२॥

[एक दिवस लंकापती ॥ ए देसी ॥]

भरत षेत्र छै अती भलो पोतन पुर निगर तिलो
गिढ मिढ मिदर सोभा घणी ए ।
जतु सतु राजा भलो न्याव नीत कर आगलो
आ० राणी तो छै धारणी ए ॥१॥

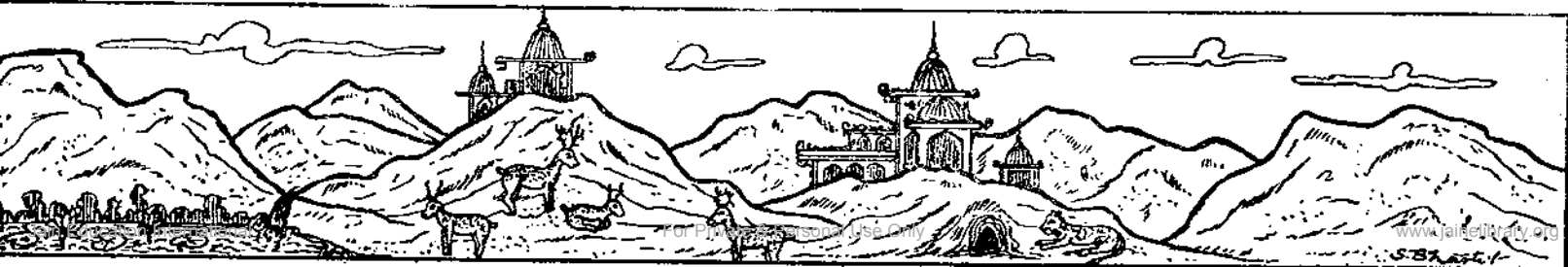
सुगुपत नामै विवहारीयो, समगत सुधो धारीयो
धा० मिथ्या मत मानै नही ए ।
श्रीमती नामै बेटी छइ गुण मणी केरी पेटी छइ
पे० सील रतन करनै सही ए ॥२॥

एक मिथ्याती वांणीयो बेटो आछो जांणीयो
जा० श्रीमती नै देखी सही ए ।
रूप देखीनै मोहीयो परणवा वांछै सोहीयो
सो० मथ्यामत भणी देवे नहीं ए ॥३॥

कपट करी श्रावक होइ श्रीमती नै परणी सोइ
प० आपणडै घर आवीयो ए ।
कटुंब सहु छै मिथ्या ती श्रीमती घर मै जाती
घ० काम काज सहु सावीयो ए ॥४॥

जैनधर्म करतां भणी सासु नणदी धीजे घणी
धी० तब बाइ चिते सही ए ।
आपणा कर्म सहीजीए केहने दोस न दीजिए
दी० धर्म थकी चुके नही ए ॥५॥

भरतार श्रीमती उपरे द्वेष वहै तो नही डरे
न० ए स्त्री ने मारीए ए ।
बीजी स्त्री परणीजे संसारी सुष विलसीजे
वि० एहवो मन माहे धारीए ए ॥६॥



एक वार तिण काले जी, सर्प घडा मै घाले जी
घा० ढाँकी घर मै मुकीयो ए।
अवसर वास भवन माहै सेज्या बैठो छै प्राहें
छै० श्रीमती नइ इम कीयो ए ॥७॥

जा घर माहै अमुलनी घडा माहै छै फुलनी
फुल० माला मुकी छै भली ए।
आणो ते माला सई तत्काल तीहां गई
ती० नवकार जपतां मन रली ए ॥८॥

उघाडीनै ढाँकणो घडा माहै तिहां घणो
ति० मंत्र प्रभावै ए धरी ए।
तुठी सासण नी देवी सर्प फीट नै तत् षेवी
सुगंध फुल माला करी ए ॥९॥

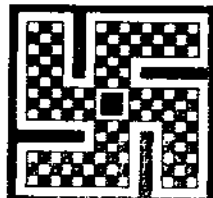
फुलां नी माला कर थापी आणी भरतार नै आपी
नै० ते देषी चमक्यो सही ए।
ए करस्यु तिहां जाइनै ते घडो जोवै आइनै
आ० देषे तो माहै नही ए ॥१०॥

एह घडो परमल भरी महकै छै महमैकरी
म० एमै जाण्यो एहवो ए।
एहनै देव सानिघ करै हूँ अभागीयां सरै
यां० जेहनै पाहु उ चितव्यो ए ॥११॥

पाछै सजन नै मली तेह आगल आयो चली
आ० ए वरतंत माता नै कीयो ए।
माताजी तब उछली नगर लोक आया मली
आ० आंग घडो उघाडीयो ए ॥१२॥

माता नै कहै संभलो एह घडा माहै न्हालो
मा० देषां माहै छै कांड ए।
देवे तो माहै साप माता पांमै संताप
सं० बेटा नै बोलै माइ ए ॥१३॥

नारी नै कहै नाथ तुम देषे सघलो साथ
स० देषतां माला काडै ए।
सुगंध सघलै वसतरी नर नारी हर्षत धरी
ह० गुणवती ना गुण वाडै ए ॥१४॥



श्रीमती नै पमावै तेहना गुण मुष सु गावै
मु० नर नारी सह सुष लहै ए।
एक वार अवसर देखी नै श्रीमती भरतार पेखीने
पे० जैन धर्म नो मर्म कहै ए ॥१५॥

कर्म विवर सुण जोगही प्रतीबोध्यो कुमर सही
कु० श्रावक धर्म ज धारीयो ए।
जाव जीव धर्म पालीनै दोषण सघला टालीनै
सुर गत माहृषधारीयो ए ॥१६॥

महाविदै है आइनै मोटा नो कुल पाइनै
पा० धिवरां पास पधारसी ए।
वाणी सुण वयराग सी संजम सुं चित्त लागसी
ला० आतम कारज सारसी ए ॥१७॥

समत अठारें पन्थासे सहर राइपुर मै सुषवासै
सु० काती सुद पुनम दनै ए।
सुकर वारज आवीयो च्यार संग सुष पावीयो
पा० रष नरसिंघ कहै हर्ष मनैए ॥१८॥

॥इति संपुर्णः ॥

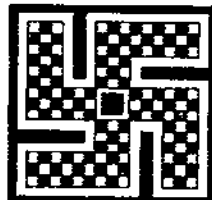
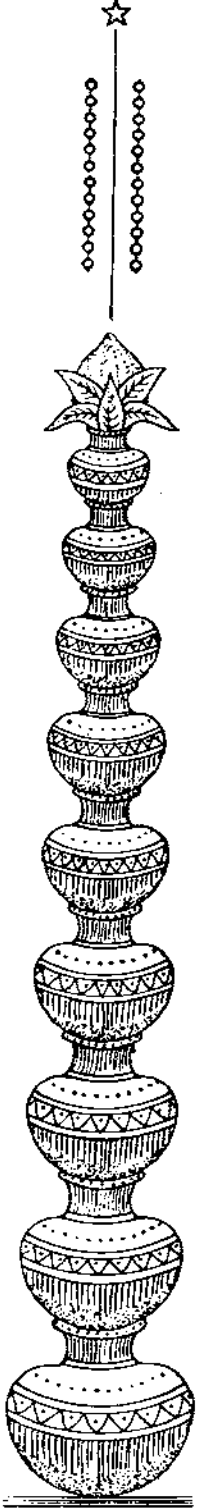


पूज्य श्री नृसिंहदास जी महाराज रचित

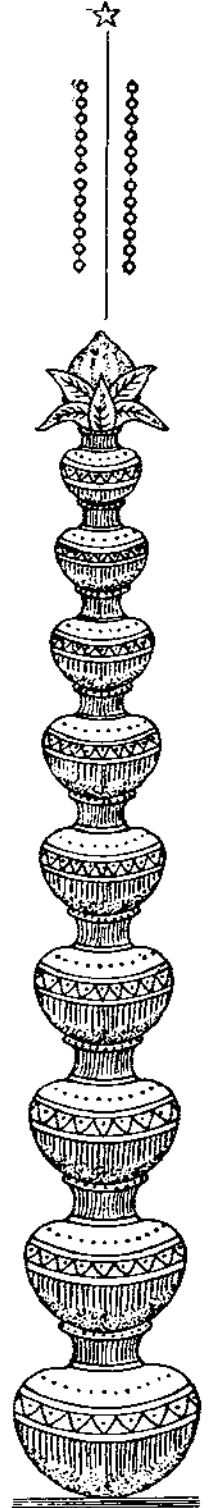
श्री रोड़जी स्वामी का गुण



श्री रोड़जी स्वामी में गुण गणा ।
म्होटा तो स्वामी रोड़जी जी तपस्यारा भंडार ।
गाम करेड़ा माय ने वांकी-दया माता की दी साय जी—
राजा जी जब यूँ कह्यो—स्वामी काजल लो महाराज ।
एक दिवस गढ़ पधारज्यो, म्हारा सफल करो काज जी ॥
स्वामी तो मन में विचारियो जी, सूज तो काजल नांय ।
यो तो काजल लेणों नहीं, म्हारे दोष लागे वर्ता मांय ।
स्वामी शहर सूँ पधारिया, गया विखमी उजाड़ ।
तेलो करी स्वामी विराजिया जी, वांकी आंख्या खुली तत्काल—
रायपुर स्वामी आवियाजी, घणां री वाली में जाय ।
तपस्या करे स्वामी रोड़जी जी, मूर्ख शिला मेली मांथे आय जी ॥
सनवाड़ स्वामी आवीयां जी तपस्या करे भरपूर ।
चरण पकड़ गवाल्या घींसिया, वां तो क्षमा आणी मनशूर ।
स्वामी बठां सूँ पधारिया, गया उदयपुर मांय ।
स्वामी तो देवे धर्म देशना, वे तो भाया करे अरदास—
आतापना लेवे स्वामी रोड़जी जी सला उपर जाय ।
सर्प निकल्यो तिण अवसरे, उतो कालो दाटक नाग जी—
प्रक्रमा दीनी तिण अवसरे जी, राजा वासग नाग ।
पगा विचे उभो रयो, उतो उभो करे अरदास—
तपस्या करे स्वामी रोड़जी जी, एकलिंगजी में जाय ।
जोगी तो आया तिण अवसरे, वे तो लिया छोरा ने बुलाय ।
भाटा सूँ मार्या तिण अवसरे जी, रोड़जी ने तिण बार ।
वे बातां राज में सुणी जब लिया जोगी ने बुलाय—
जोग्या ने दरबार बुलायने जी, रोक्का छे तिण बार ।
स्वामी रोड़ जी इम कहे याने छोड़ो जदी लेस्वूँ अहार जी ।
नाथद्वारे स्वामी पधारिया जी, प्रतिबोध्या कितना इक ग्राम ।
श्रावक श्राविका अति घणां, वे तो लुर-लुर लागे पाँव ।



सोवो वाण्यो आयने जी बोल्या वचन करुर ।
 कूड़ो आल चढ़ावियो वां तो क्षमा करी भरपूर ।
 बेले बेले स्वामी पारणा जी, मासखमण दौय वार ।
 तेला तो चोला सहेज है, वे तो तपस्या रा भंडार ।
 अभिग्रह कीनो हाथी तणों जी, आणी मन उछाय ।
 फलियो दिन गुणतीस में ज्यारो जस फेल्यो जुग मांय—
 सांड बेरावे तो लेवणो जी नहीं तर लेणों नाय ।
 फलियो दिन इगतीस में ज्यां जैन मार्ग दीपाय जी—
 सियाले एक पछेवड़ी जी, ध्यान धरे महाराय ।
 थोड़ो सी अधिक पड़े तो, वाही देवे राल—
 ज्येष्ठ तपे रवि आकरो जी धूप पड़े असराल ।
 स्वामी लेवे अतापना जी, वे तो कर-कर लम्बी बांय जी—
 कोई खोटो आहार बेरावियो जी, नाख्यो नही मुनि राय ।
 विष अमृत देई प्रगम्यो वांकी दया माता कीदी साय—
 आमेट स्वामी पधारिया जी, आज्ञा मांगी हाट मांय ।
 परीसो तो दीधो अति घणो, पारणो कीनों लावे जाय जी ।
 वाळू रेत में काउसग्ग करे जी, मानवी आयो तिण वार ।
 सला मेली माथा उपरे पापी चढ़ उभो तिण वार जी ।
 मानवी ने रावले बुलावियो जी, रोक्यो छे तिण वार ।
 स्वामी तो रोड़ जी इम कहे, इण ने छोड़ो जब लेस्यूं आहार ॥
 स्वामी जी मन में विचारियो जी, पूर्वला भवना पाप ।
 म्हारा मने सहना पड़सी, किण पे नहीं करना कोई कोप जी ॥
 काल कितना इक विचरिया जी, एकल बिहारी आप ।
 परीषा तो खम्या अति घणां ज्यांरा टल्या सर्व संताप ॥
 पंच महाव्रत पालता जी, खम्या करी भरपूर ।
 बावीस परिषह जीतिया जी दोष टाल्या बियालिस पूर ।
 सुरनर सेवा करे जी उभा करे अरदास ।
 भव्य जीवा ने तारने पाम्या, स्वर्ग गति वास जी ॥
 शहर रायपुर मांयने जी गुण गाया नरसिचदास ।
 सुगुरु प्रसाद से या तो, जोड़ करी तंतसार—
 संवत् अठारे सैतालीस मांयने जी, जोड़या तपसी गुण सार ।
 आषाढ़ वद अमावस्या मै तो लागा स्वामी जी रे चरणार जी ॥



पूज्य श्री मानजी स्वामी विरचित

पूज्य श्री नृसिंहदास जी महाराज के गुण

□

दोहा

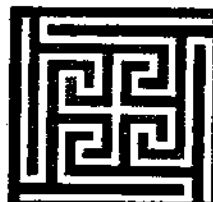
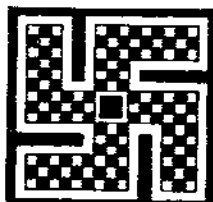
श्री अरिहंत सिद्ध नमी करी आचारज उवज्जाय ।
सर्व साधु नमी करी गुण गाऊँ चित लाय ॥
गुरु हीरा गुरु कंचणा गुरु ज्ञान दातार ।
गुरु पोरस चित्र वेल सम लीज्यो मन में धार ॥
गुरु पारस सारखा सीख लोह जिम जाण ।
कनक करे तत खिणे गुरु वचन प्रमाण ॥
गुरु कारीगर सारखा टाँकी वचन समेत ।
पत्थर थी प्रतिमा करी पूजा लहे सहेत ॥
तेह भणी गुरुदेव रा गुण वरणूँ अभिराम ।
चरण नमी मे गावस्यूँ पुजजी का गुण ग्राम ॥

ढाल-नानो र नाहलो रे ॥एदेशी॥

सकल जिनन्द नमी करी करूँ पुजजी रा गुण ग्राम ।
भविक जन साँभलो रे सजन जन चित लायके रे ।

करज्यो थे परमाण ॥भ०॥१॥

जंबूदीप ना भरत में रे बत्तीस सहस्र देश ॥भ०॥
आर्य साढ़ा पचवीस हे रे अनार्य अवशेस ॥भ०॥२॥
देश मेवाड़ मनोहर रे ग्राम दश सहस्र परमाण ॥भ०॥
राजा राज करे तिहारे भीमसिंघजी जाण ॥भ०॥३॥
सेर रायपुर सोभतो रे गढ मढ पोल प्रकार ॥भ०॥
सेठ सेनापति तिहाँ वसे रे बहुला छे सुखकार ॥भ०॥४॥
खत्री बंश में जाणिये रे गुलाबचन्द जी नाम ॥भ०॥
भारज्या गुमानावाई दीपती रे रूपवंत अभिराम ॥भ०॥५॥
सुभ सपनो अवलोकियोए उत्तम जीव अवतार ॥भ०॥
नो महिना साढ़ी सात रात में रे जनम्या पुत्र विसाल ॥भ०॥६॥
प्रथम ढाल पूरण थई रे जनम तणो अधिकार ।
रिख मानमल इण पर कहे रे लीज्यो पुण्यवंत धार ॥७॥



दुहा

भणे गुणे वृधवंत थया जोवन वय में आय ।
वेपार वणज करे घणो रह्या परम सुखमांय ॥१॥
परण्या एकज कामणी सुख विलसे संसार ।
धर्म ध्यान हिंये सीखिया जाण्यो अधिर संसार ॥२॥

ढाल—हरणी जो चरे ललणा ॥एदेशी॥

पूज श्री रोड़ीदास जी ललणां । ललणां हो ।
सकल गुणां री खान ।
पूजजी वारूँ रे ललणां जिन मारग दीपावता ल०
नर अहंकारी नर मान ॥पू०॥१॥
भव जीवां ने तारता ल० करता पर उपकार ॥पू०॥
परिसा रो अधिकार छे ल० दूजी ढाल में द्वार ॥पू०॥२॥
सखेपे कर वरणव्यो ल० गुण बहुला छे तास ॥पू०॥
एक जिभ्या किम वरणवूँ ल० गावंता सुख विसाल ॥पू०॥३॥
विचरत विचरत आविया ल० लावा ग्राम ते मांय ॥पू०॥
श्रावक श्राविका अति घणां ल० विनवे सहु नर नार ॥पू०॥४॥
चोमासो पुजजी यां करो ल० विनती करे रसाल ॥पू०॥
विनती मान तिहाँ रह्या ल० करे उपकार विसाल ॥पू०॥५॥
भीलोड़ा सूँ पदारिया ल० आया लावा ग्राम ने मांय ॥पू०॥
पोसा पड़िक्कमणां करे ल० भेट्या श्री पुजजी ना पाय ॥पू०॥६॥
उपदेश सुणियां थका ल० वेराग में चित्त लाय ॥पू०॥
दिख्या तो लेसूँ हूँ सही ल० जिम मनडो सुख पाय ॥पू०॥७॥
जिम सुख होवे तिम करो ल० बोल्या अमृत वाण ॥पू०॥
रिष मानमल इण पर कहे ल० दिख्या नो अधिकार ॥पू०॥८॥

दोहा

पाछे आवे असत्तरी क्लेश कीधो आण ।
श्रावक श्राविका समझाये तब वचन कियो परमाण ॥१॥
पाछे दीधी आगन्या हुआ हर्ष अपार ।
श्राविका थापी बेनड़ी पहुँचावण अधिकार ॥२॥
बाप भाइ आवी करी कीधो क्लेश एम ।
पाछे दीधी आगन्या राखी बहुलो प्रेम ॥३॥



ढाल—आव उरी के जा परी हे कूवेण मत

तर छावेजीव कर्तन सोनार की ॥ए देशी॥

अष्टादस बावने के भविक जन मिगसर मास वखाण ।
सुगण नर सांभलो रे भवियण पूज्य तणां गुण भारी ।
कृष्ण पक्ष.....नम कही रे भ० संजम लीधो जाण ॥१॥
आज्ञा पाले निरमली रे भ० करे वचन परमाण ।भ०।
भणे गुणे पंडित थया रे भ० बने विवेक रसाण ।सु०॥२॥
मास खमण धुरजाणिये रे भ० तेइस इकवीस जाण ।सु०।
कर्म चूर तप आदर्यो रे भ० पनरा तक तप आण ।सु०॥३॥
और तपस्या कीधी घणी रे भ० कहतां नावे पार ।सु०।
सेर उदियापुर आविया रे भ० विनति करे नर नार ।सु०॥४॥
पूज्य रोडीदासजी थाणे रह्या रे भ० नव वसो लग जोय ।
आतम कारज सारिया रे भ० उपगार विविध होय ।सु०॥५॥
छेलो अवसर आवियो रे भ० संथारो कियो उल्लास ।
दिवस साढा चार में कियो सुरग में वास ।सु०॥६॥
पुजजी पाट विराजिया रे भ० नरसिघदास जी नाम ।
लखण पढ़न उपदेश नो रे भ० और न बीजो काम ।सु०॥७॥
ढाल भणी ए तीसरी ए भ० सुणतां लागे प्रेम ।
रिख मानमल इण पर कहेरे भ० बरते कुसल न खेम ।सु०॥८॥

दुहा

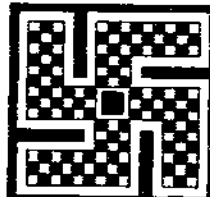
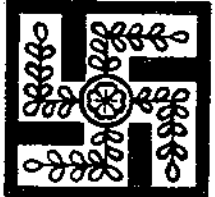
सेवा भक्ति कीधी घणी गुरु गुरु भायां री जोय ।
आतापन लीधी घणी कर लाम्बा करी दोय ॥
ग्राम नगर पुर विचरिया कीदो भव जीवां उपकार ।
अनार्थ आर्य किया धर्म दिपायो सुध सार ॥

ढाल—वामानन्द पासजिणंदजी प्रभुजी ॥ए देशी॥

सोले चोमासा उदियापुर मांय जी

पुजजी कीदा आप हर्ष उछाया ।

हे मार्ग दिपायो आप जस लियो ए ।
हां ए दर्शन आपरो ए निवारण पाप रो ए पुजजी महाराज ॥१॥
श्री जी दुवारे नव किया चोमास नर नारी हुवा हर्ष उल्लास ।
हे दर्शन करीने पाप दूरो कियो ए ।हां ॥२॥
सनवाड़ मांहे एक चोमासो जोय जी पोटलां मांहे एक हीज होय ।
हे गंगापुर मांहे एकज जाणिये हे ।हां ॥३॥



लावा मांहे दोय चोमासो कीधजी देवगढ़ मांहे एक प्रसिद्ध ।
हे रायपुर मांहे दोय वखाणिये हे । हाँ ॥४॥
कोटा मांहे चोमासो कियो एक जी भीलोड़ा मांहे पण दोय ।
हे चित्तौड़ में चोमासो कियो मन रलिये हे । हाँ ॥५॥
ए चोमासा हुआ सेत्रीसजी कीधा आप आण जगीस ।
हे मन रा मनोरथ सह फली हे । हाँ ॥६॥
चउथी ढाल कही छे रसाल जी भव्यक जन लहे अलाद ।
हे गुणकारी देही करी सली हे । हाँ ॥७॥

दोहा

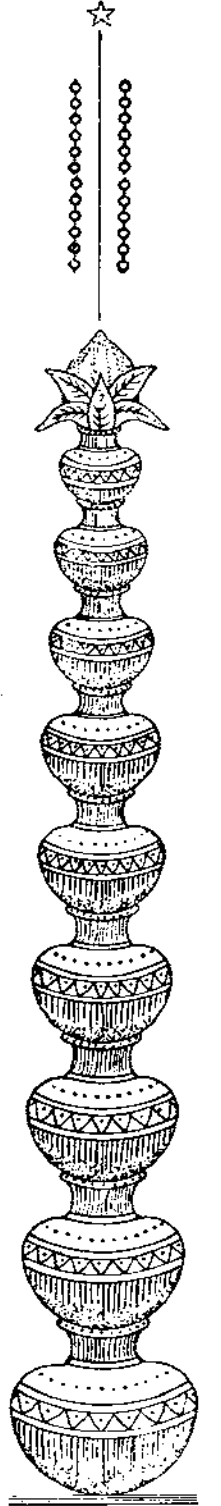
बाया भाया ने तप दियो कर्मचूर प्रधान ।
या तपस्या भारी घणी बायां लीधी मान ॥

ढाल—नक छोल्यां नींबू भावे ॥ ए देशी ॥

सेर उदियापुर पधारिया रे कीदो धर्म चोमास ।
धर्मध्यान निपजावियो रे बिहार करण री आस ।
हो सुण स्वामी ॥१॥

चउथ भक्त अणसण कियो रे आणी मन उल्लास ।
फागुण कृष्णा अष्टमी रे सुरलोक में वास हो । सु०॥२॥
सुरगलोक में विराजिया रे नाटक ना धुंकार ।
देवता देवी अति घणा रे कर जोड़ी तुरत तैयार हो । सु०॥३॥
एक मोरत नाटक मांहे रे वरस निकले दोय हजार ।
सुख संजोग विलसे घणां रे पुण्य तणां परकार हो । सु०॥४॥
अष्टादस निव्यासिए रे वसंत फागण मास ।
कृष्ण चतुर्दशी रिष मानमल कहे रे वदे थारी आस हो । सु०॥५॥
चन्द्रवार सुहावणो रे जोड़ करी प्रकास ।
शेहर उदियापुर में कही रे नर-नारी हुआ उल्लास हो । सु०॥६॥

॥ संपूर्ण ॥



ढाल—हेवर गेवर पुर तुरगम । ए देशी ।

सकल मुनीन्द्र में पुजजी सोवे जिम तारा बिच चंद रे ।
श्री श्री पुज नरसिघदासजी छोड्या संसार ना फंद ।
देखो सजन बंदो ए पुजजी माराज ॥१॥

नव पाले नव चित माहे धारे आठ नो करे परिहार ।
तेरा जी कांड्या कूं दूर निवारे दसविध जती धर्म सार । दे०॥२॥

च्यार कूं टाले च्यार कूं आदरे चार को बतावे जी ज्ञान ।
च्यार कूं ध्यान जस कूं तज्या जी सज्जाय पंच नूं ध्यान । दे०॥३॥

आप वखाण देवे जुगत सूं जी भविक जन रहे लेलीन ।
उपदेशज लागे तुरत सूं सजन जन रहे जी भीन । दे०॥४॥

गुरु देवन का देव कही जे गुरु सम अवर न कोय ।
एहवा गुरु मिले जेहने तेहना कारज सिद्ध होय । दे०॥५॥

पूज्य श्री श्री रोडीदासजी रा चेला सर्व जीवानां प्रतिपाल ।
मेवाड़ खेतर में पुजजी विचरे मोटा छो जी दीनदयाल । दे०॥६॥

रायपुर सूं आप नीसर्या दिख्या लवि लीदी आय ।
त्रिया आद कुटुम्ब प्रवारज बहु हद कीनी मांय । दे०॥७॥

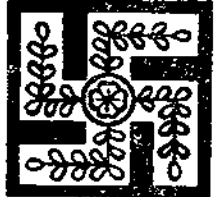
दिक्षा लेने विचरत मुनिवर सिघ जिम करो जी आवाज ।
पाखंड मत मिथ्यात निवारण समकित नो देइ साज । दे०॥८॥

जिम्या एक गुण अनेक छे विनति करूं कर जोड़ ।
एक अरज मुझ अवधारो पूरो म्हारा मनवांछित कोड़ । दे०॥९॥

आप प्रसादे कमी न रहे कांई सुणज्यो जी दीनदयाल ।
पुजजी म्हारी आही अरज छे राखज्यो म्हारी प्रतिपाल । दे०॥१०॥

अष्टादस निव्यासे फागुण वसन्त ज मास ।
मानमल कहे सुणो भविकजन गुण गावो मन उल्लास । दे०॥११॥

इति संपूर्ण संमत १९१८ पर का पौष सुद ५ चम,
लिखते गाम थामला मढें ॥



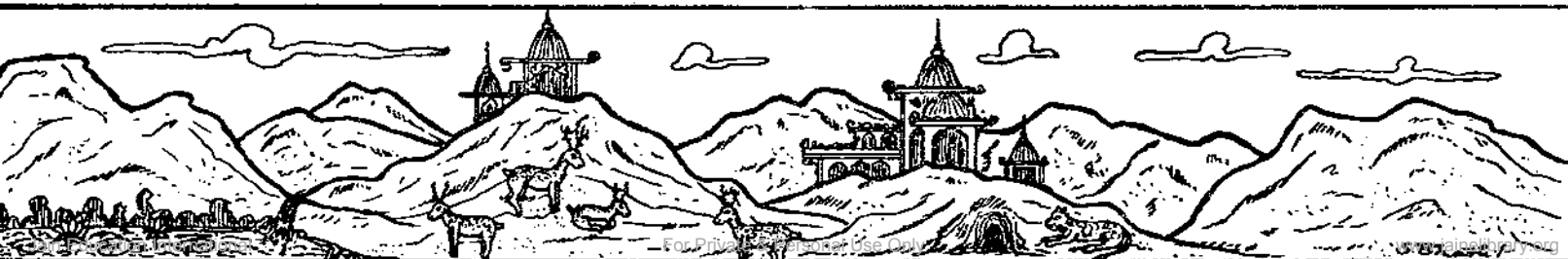
श्रावक चतुर्भुज द्वारा रचित पूज्य श्री मानजी स्वामी के गुण

पुजजी रा गुणा की लावणी

पुजजी चीत मन एक धारी ।
पुज मानमल माहाराज आपकी सुरत बलीहारी ॥ऐ आंकड़ी॥
गेर गभीर धीर सागर-सा षमावंत भारी ।
मेरु सरीषा आप ऊजागर धन धन गुणधारी ॥ पुज ॥१॥
सावण महीने ईन्द्र गाजतो जेसी आप वाणी ।
जैसे वन मे सींग धडुके बुध गणी साणी ॥ पुज ॥२॥
बुधसागर तो आप कहीजे करणी करी भारी ।
पुज पाटे तो आप सोवता बाल ब्रमचारी ॥ पुज ॥३॥
पाषंडी तो धुजे देषता ग्यान गणो भारी ।
जीवा ऊपर मय्या ज राषो में तो चीत धारी ॥ पुज ॥४॥
सुरज सरीषो तेज आपको देषे जन सारी ।
अगन्यानी कु ग्यान बतावो बुध गणी भारी ॥ पुज ॥५॥
पुज नरसींगदासजी गुरु कहीजे पाट गणो भारी ।
पुज रोडीदासजी पाट कहीजे वाणी हृद प्यारी ॥ पुज ॥६॥
पंच महाव्रत पालो सुदा दोषण टालो सारी ।
दय्यावंत तो दय्या ज राषो सुद समता धारी ॥ पुज ॥७॥
भरत षेतर में आप वीचरता ठाठ गणो भारी ।
मेवाड देस तो रडो कहीये दीप रहा भारी ॥ पुज ॥८॥
पंचमे आरे आप दीपता बंदे नर नारी ।
पाषंडी को सग बुडावौ भाव गणा भारी ॥ पुज ॥९॥
हं सावक तो कहू आपको गुण गावूं भारी ।
चत्रभुज तो नाम हमारो सरणो लीयो भारी ॥ पुज ॥१०॥
समत उगणीसे ओर तेरे ।
माहा वीदी दसमी गुण नाय्या काकडोली सेरे ॥पुज ॥११॥

॥ इति संपुरण ॥

समत १९१४ का मती आसोज सुधी दसरावा के दन
लषे पुजजी माहाराज श्री १००८ श्री मानमल जी माहाराज
तत श्री हीराचं लषते उदीआपुर मधे ॥

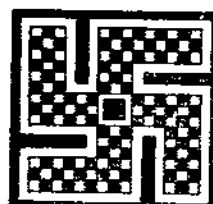
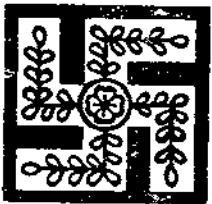


कविराज श्री रिखबदास जी महाराज के

कुछ पद

□

आवे जिनराज तोरण पर आवे ।
समुद्रविजय सेवादेवी के नंदन सावल वर्ण सुहावे । तो०॥१॥
दस धनुष तन संसनो लंछण वरस तीनस्य मे आवे । तो०॥२॥
जोवन वेस में जोर बतावे अचरज सब जन पावे । तो०॥३॥
राजमती उग्रसेन की धीया अधभुत रूप कहावे । तो०॥४॥
हरि हलधर मिल व्याह मनायो साजन हर्ष वधावे । तो०॥५॥
जबर जोर स्युं जादव कुल आवे अधीक आडंब करावे । तो०॥६॥
बहु पस्युअन पिजर माहे देशी सवारथी साथ पुछावे । तो०॥७॥
सेवगमुष सुणी कुरणा आणी श्रब जीवन कु छोडावे । तो०॥८॥
तोर्ण थी रथ पाछो वलीयो हरी हलधर समजावे । तो०॥९॥
एक न मानी संजम लीधो वरसीदान देवावे । तो०॥१०॥
तप करणी करी केवल पाम्या बहु उपगार करावे । तो०॥११॥
अंतस वांणी गुणकर सोभे पुरब पुन्य प्रभावे । तो०॥१२॥
नेम जिनेसर पाछा फरीया सुण राजुल दुष पावे । तो०॥१३॥
सषीय संघाति राजमतीजी संजम लीयो चित चावे । तो०॥१४॥
सषीया साथे गिरवर जाता घोर घटा वरसावे । तो०॥१५॥
चीर सुषावण गइ गुफा मे सील अषंड रहावे । तो०॥१६॥
मदमातो गज आण्यो ठेकाणे वचनांकुस लगावे । तो०॥१७॥
पिउ पेली सती मुगत पोहंती जामण मरण मिटावे । तो०॥१८॥
वर्स सातस्य संजम पाली सिवनगरी मे सिधावे । तो०॥१९॥
नेम जिनेश्वर राजुल केरी अवचल जोड कहावे । तो०॥२०॥
पेउ श्री नेमीस्वरजी केरा चर्णकमल चित लावे । तो०॥२१॥
रोग सोग उपद्रव मट जावे दिन-दिन दोलत प्यावे । तो०॥२२॥
सुगुर पसाए रिषब रिषेश्वर नित उठ सीस नमावे । तो०॥२३॥
बारे फागुण रतनपुरी मे, ए उपदेस सुणावे । तो०॥२४॥





राम न जाण्यौ । ए देशी ।

अग्यानी थे प्रभु न पिछाण्यौ रे ।
विषय-सुष संसारना किच माहे षुचाणो रे ।
तन घन जोवन कारमो जेस्या दुष उकाणो रे । अ०॥१॥

सजन सनेही थारो नही नही रूप नाणो रे ।
काल अवधपुरी हुइ कीयो वास मसाणो रे । अ०॥२॥

पुर्ब पुंन्ये पामीयो मानव भव टाणो रे ।
धर्म रतन चितामणी हाथ आय गमाणो रे । अ०॥३॥

इन्द्र आप बंछा करे बेठा अमर विमाणो रे ।
मनुष थइ करणी करी पावां पद निरबाणो रे । अ०॥४॥

कुगुर कुदेव कुधर्म थी भव माय भमाणो रे ।
अब ही चेत रे प्राणीया परम निध्यानो रे । अ०॥५॥

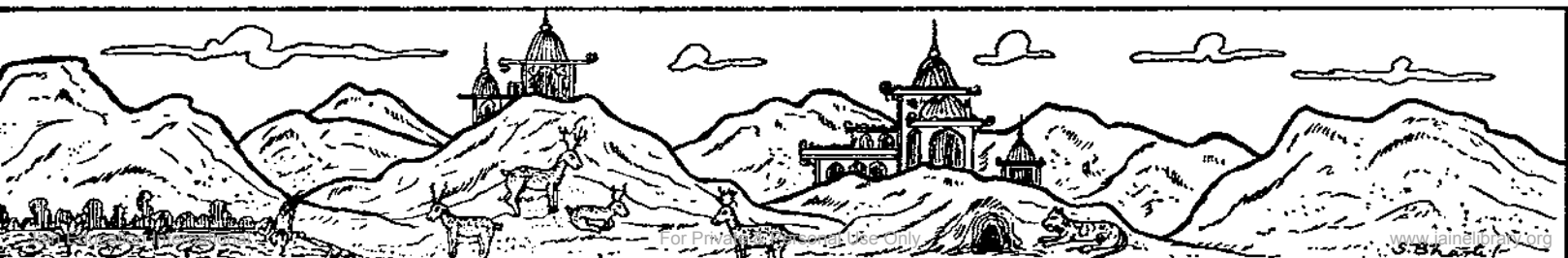
देव निरंजण भेटीयो गुर गुण री षानो रे ।
धर्म दया मे जांणीये जन्म मर्ण मिटाणो रे । अ०॥६॥

वार वार तुझने कहू मति होय अयाणो रे ।
धर्म थकी सुष पामीये एसी जनवर वांणो रे । अ०॥७॥

भव जीव हित कारणे कही सीष सु जांणो रे ।
रिषब रिषी कहे हारीया बाजी दुलभ पाणो रे । अ०॥८॥

साल गुणीस वारे हुबो षाचरोद मे आंणो रे ।
फागुण विद बीज हर्ष स्युं उपदेस सुणाणो रे । अ०॥९॥

॥इति संपुर्ण ॥





चतुर नर ले सतगुर सरणा ।
लष चोरासी मे तु भम आयो कीया जनम मरणा ॥१॥

सबद करी सतगुर समजावे सीष हीये धरणा ।
काल अनंत लयो मानव भव निरफला क्युं करणा० । च०॥२॥

मात पिता नारी सुत काजे पाप पीड भरणा ।
अंत समे तेरे कोन संघाति पर भव स्युं डरणा० । च०॥३॥

कंठी दोरा कडा पेरीया वागा ने चरणा ।
स्वयं पर काजे करम बाधने दुरगत मे फरणा० । च०॥४॥

धन जोवन रिध मे गरभाणो गोरो दष वरणा ।
धर्मधर्म न जाणी मुर्ष भव जल मे पडणा० । च०॥५॥

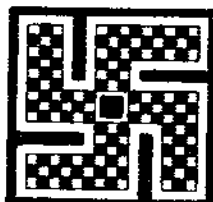
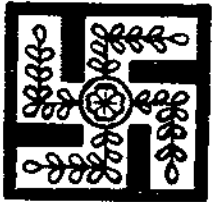
ज्यो षिण जाए स्यौ पिछी न आवे रात दिवस धरणा ।
कालचक्र को नही भरोस्यौ समज हीये करणा० । च०॥६॥

इम जाणी समजो भव प्राणी सुगर वयण मुणणा ।
तप जप समज सुध अराधो भव सायर तर्णा० । च०॥७॥

श्री गुरदेव तणे सु पसाए कीया एह वरणा ।
रिषब रिषी कहै धर्म कीया थी भव-भव दुष हरणा० । च०॥८॥

साल गुणीस बारे फागुण विध एक गुर्णा ।
षाचरोद सहेर मे हुवो समागम साध संत मिलणा० । च०॥९॥

॥ इति संपुर्ण ॥



श्री रिखबदास जी महाराज लिखित प्रस्तुत चर्चा ऐतिहासिक महत्व की दृष्टि से यहाँ दी जा रही है। समन्वय-प्रधान वर्तमान युग में इस चर्चा से कोई सज्जन अन्यथा भाव न लेकर मात्र एक ऐतिहासिक विरासत के रूप में देखें।
— संपादक

श्री रिषबदासजी महाराज कृत

तात्त्विक - चर्चा

॥तेरा पंथ्या री चरचा। आचारंग नामा सुत्तर नवमा अधीन मे। चौथे उदसे श्री भगवंत महावीर सामी। छद मस्त पणे कंचण मांत पाप कीधो नही १। भगवती रे पनर मे सतके। श्री भगवंत महावीर सामी ने। केवल उपज्यां पछे। भगवान गोतम सामी ने कह्यो। हे गोतम अणुकंपा दया रे वासते। गोसाला ने वचायो सो अणुकंपा कही। पण सावज अणुकंपा कण ही सुतर मे चाली नही २। उपासग दसारा आठमा अधिनमे। सेणक राजा जीव मार्गणा मने कराया ३। गन्याता सुतर रे पाचमे अधिन मे। थावर चा पुत्त सुषदेव सन्यासी रो। सरावग सुदरसण सेठ कह्यो। भगवान रो मारग वना मूल धर्म जी रा दौय भेद। आगार नो वनो ते श्रावग नो। अगगार नो वनो ते साधू नो। दौय प्रकार रो वनो करतो जीव। आठ कर्म षपावीने मुगत रे वीषे जाय ४। भगवती सुतर रे बारमे सत के पेले उदेस्ये। संषजी री भारज्या पोषलीजी सरावग रो वनो कीधो। सात आठ पग सामी गइ। वनणा नमसकार कीधी। पोषलीजी श्रावग संषजी ने वनणा कीधी पछे। दुजा सरावग संषजी उपरे। करोध करतां ने नंद त्ताने। श्री भगवान वनणा करता ने वरज्या। जतरे भगवान रा मुडा आगे। सगलाइ श्रावग संषजी न वनणा नमसकार कीधी। श्रावग रा वना माहे पाप हुवे तो। भगवान वरज्या क्यु नही ५। श्री भगवती रे सातमे सतके छठे उदेसे। जीव री अणुकंपा कीधा जीव रे साता वेदनी। पुन्य रा ठाट बढे पाप कह्यो नही ६। भगवती सुतर रे इग्यारमे सतके। बारमे उदसे असी भद्र पुत्त सरावग ने बीजा सरावगा वनणा कीधी ७। उवाइ सुत्तर मे अमडजीरा सात से। चेला संधारो करती वेलं। अमडजी श्रावग ने नमो थुणं कीधो ८। उवाइ सुतर मे अमडजी श्रावग सो घरा पारणो कीधो। पाप हुवे तो सोघरां पाप काने लगावता ९। दसमी कालक सुतर मे तीजा अधिन मे। ग्रहस्ती रे घरे जाय बेसो तो। अनाचार लागो छ दशमो १०। वेदकल्प सुत्त मे चौथे उदेसे। ग्रहस्ती रे घरे बेठी ने वषांण करणो नही। कदाचित काम पड़े तो। उभो थको एक गाथा मुणावणी ११। नशीतरे आठमे उदेस्ये। न्याती अन्याती सरावग असरावग। आदि रात अषी रात राषे तो प्राइछीत आवे। जणीमे अर्थ रो निरणो कीधो। असतरी सहेत। भोजन सहेत। प्रगरा सहेत होवे जणीने राषे तो चोमासा प्राइछित आवे १२। वेद कल्प सुतर मे पेले उदेसे। असतरी होवे जठे साघने न कल्पे आरज्या ने कल्पे। पुरष हुवे जठे आरज्या ने न कल्पे साघ ने कल्पे १३। भगवती रा परनरमा सतक मे। भगवान श्री महावीर सामी ने। गोसालो ग्रहस्ती थको। च्यार महीना एक जायगा मै रह्या। राज-

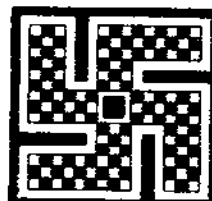
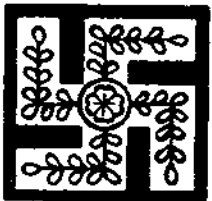


ग्रही नगरी मे १४। सुगडांग सुतर मे दुजे अधीने। दुजे उदेसे तेरमी गाथा। जण कलपीने च्यार बोल वरज्या गाथा।

णो पीहे नावयंगुणा दारु सुन्न घरस्स संजए। पुरठ न उदाहरे। वयणं समुर छणो सधरे तणं १३।

अरथ ॥ किण ही सयनादि कारणइ। सुने घर रही उ साधू ते घर नो द्वार टांके नही। उघाडे नही कीणहीक धम्म पुछिउ। तथा मारग पुछ्यौ थको। सावच्च वचन न बोले। जिन कलपी तथा अभीग्रह धारी। निरवच्च वचन पण नही बोले। उपदेश पणन्ही देवे। तरण कचरो काढे नही। चारो बछाव नही। ए आचार जणकलपी अभीग्रहे धारीनो छे। थीवरकलपी च्यार बोल करे तो दोष नही १५। उतराधीन रा पेतीसमा अधीन मे। मनोहर घर चतराम सहैत होवे फूल री माला होवे धूप होवे। कमाड होवे। द्वोलो होवें। चंदरवो होवे जणीने देष वषे विकार जागे। जणो जायगा साधू आरज्यां ने दोया ने रेणो वरज्यौ। कमाड जडवा खोलवा नो दोष नही च्यालयौ १६। वेद कलप ने पेले उदेस्ये। आरज्या ने उघाडे बारणे न कलपे। पण आडो जडणो नही। इसो पाट तो चाल्यौ नही १७। आचारंगसुत्तर में दुजे सत षधे। पेले अधिन पाचमे उदेस्ये घर रे बारणे कांटा करीने ढाक्यौ हुवे तो। साधू आग्या मागी उघाडवौ चाल्यौ १८। आचारंग दुजे सातमे अधीने। संभोगी साध आया जाणीने। आहार पांणी देणो कह्यौ। असंभोगी साध आया जांणीने। पाट पाटला देणो कह्यौ। दोइ साध चोषा आया रो संभोग जुदो-जुदो कह्यौ १९। सोले सपनां मे तीजे सपने। चंदरमा चालणी शमान देख्यौ। जण रे प्रताप पाचमा आरामे। साधां रा टोला जुदा जुदा होसी ॥२०॥ इति तेरापथ्या री चरचा संपुर्णः लिखंतु रिषवदासः देव गुरु प्रसादतुः गाम सणवड मध्ये।

□



श्री रिखवदासजी महाराज द्वारा लिखित छोटी पट्टावली ऐतिहासिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है। परंपरागत पट्टावली पत्रक की उस समय की गई प्रतिलिपि प्रतीत होती है। संक्षिप्त पट्टावली में कुछ अन्य स्थानकवासी परंपराओं की भी नामावलियां दी गई हैं जो अनुसंधान का विषय हो सकती हैं।

छोटी पट्टावली

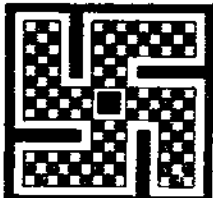
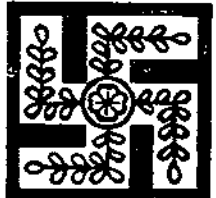
अथ छोटी पाटावली लिखते । समतः १५३१: के साल: ४५ जणा लुका महेता की साषस्यु संजम मार्ग आदर्यी: तीवार पछे फरे साध आचार थकि ढाल पड्या: समत १७०६ के साल लुका जती वजरंग जी नो गछ बोसरावीने: लवजीसाध: ४ ठाणा स्यु निकल्या: पछे सोमजी साहा: लवजी रिषजी कने दिष्या लीधी: पछे केसवजी: ताराचंदवी: जोगराजजी लुकानो गछ बेसरावी: सोमरिषजी कने तीनु ही दीष्या लीधी: अठा स्मु ढुडिया वाजीया: श्रीम्हावीर स्यु पाट चाल्या ते कहै छै: ॥

- | | |
|--------------------------------|-----------------------|
| श्री वीर पछे १२ वर्से गोतमजी | १६ आर्य रोह आचार्य |
| १ श्री सुधरमासामी २० वर्से पछे | १७ पुस्वगिरी आचार्य |
| २ श्री जंबुसामी ६४ मोष पहंता | १८ फगुमित्र आचार्य |
| ३ श्री प्रभव सामीजी | १९ धरणगिरी आचार्य |
| ४ श्री जसोभद्र सामीजी | २० सीवभुता आचार्य |
| ५ श्रीयंभव सामीजी | २१ आर्यभद्र आचार्य |
| ६ श्री संभुतविजय सामीजी | २२ आर्यनषत्र आचार्य |
| ७ श्री भद्रवाहु सामीजी | २३ आर्य रिक्षत आचार्य |
| ८ थुलभद्र सामीजी | २४ नाहा सामीजी |
| ९ माहागिरी सामीजी | २५ जेहलवीसनु आ |
| १० सुहस्ती आचारज | २६ सडील आचारज |
| ११ सुपडी बुधी आचारज | २७ दिवठी षमासाण |
| १२ इंद्र दिन आचार्य | २८ नागाजुण आचारज |
| १३ आर्य दिन आचार्य | २९ हीमंत आचार्य |
| १४ वहेर सामीजी | ३० वाचिक आचार्य |
| १५ वजरसेण आचार्य | ३१ गोवंदक आचार्य |





३२	भुतदीन आचार्य	६७	हरीसामं रिष
३३	लोहीतना आचार्य	६८	कुसल रषजी
३४	क्रम आचारज	६९	उमण रषजी
३५	सुपडीबुध आचारज	७०	जेसेण रषजी
३६	इद्रदीन आचारज	७१	वीजीया रषजी
३७	वजुसेण आचारज	७२	देवचंद्र रषजी
३८	आरजरुह आचारज	७३	सुरसेण रष
३९	पुसगिरी आ:	७४	मायसंग रष
४०	नागरष: आ:	७५	माहसण र:
४१	जेहन आचा:	७६	जयराज रष
४२	सठल आचा:	७७	गजसेण र:
४३	बलसीह आ:	७८	मंत्रस्ण रष
४४	सत आचार्य	७९	वीजयसेण
४५	सीहगिरी आ०	८०	सीवराज र:
४६	सामंत आ०	८१	लालजी रष
४७	लेतनंदी आ०	८२	ग्यानजी रष
४८	वीर भद्र आ०	८३	भानुरष
४९	सकर भद्र	८४	रूप रषजी
५०	जसभद्र आ०	८५	जीव रषजी
५१	लोहत्यागी	८६	लवजी रष
५२	वीरसेण	८७	सोम रषजी
५३	नरीयामेसेण	८८	हरिदासजी
५४	जेसेण आचार्य	८९	गोदाजी:
५५	हर्षसेण आचार्य	९०	पर्सराम जी
५६	जेवसेण आचार्य	९१	श्रीषादजी
५७	जगमाल आ०	९२	जीवोजी
५८	देवरिषजी	९३	धनजीजी
५९	भीमसार रिष	९४	केसोजी
६०	कश्मीर रिषजी	९५	धर्मदासजी
६१	राजरिषजी	९६	प्रथीराजजी
६२	देवसेणरिष	९७	दुरगदासजी
६३	संकर सेण र:	९८	हरजीजी
६४	लेषमी रषजी	९९	गांगोजी
६५	रामगिरी रष	१००	रामचन्दजी
६६	पदम रषजी	१०१	मनोजी



१०२ नाराणजी
१०३ पुरोजी
१०४ रोडीदासजी

१०५ नरसिंघदासजी
१०६ सुरजमलजी
१०७ रघवदासजी

१ जीवराजजी
२ धनरषजी
३ रामचन्दजी
४ बालचन्दजी
५ प्रथीराजजी
६ बडा पीथाजी
७ धेमरषजी
८ मूलचन्दजी
९ ताराचन्दजी
१० पदार्थजी
११ मलुकचन्दजी

१२ भवानीदासजी
१३ पुर्सातमजी
१४ मुगटरायजी
१५ मनोहरजी
१६ सांइदासजी
१७ समर्थजी
१८ वाघजी
१९ धर्मसिंहजी
२० मसतुजी
२१ धर्मदासजी
२२ गुसाइजी

॥ इति २२ ढाला ॥

१ मुगटरायजी
२ हरकसनजी
३ नैणंसुषजी
४ मनसारामजी
५ दयाचन्दजी
६ बडा प्रथीराजजी

७ देवीचन्दजी
८ सुषानन्दजी
९ हीरानन्दजी
१० रामकसनजी
११ रोडजी
१२ तुलछीदासजी

१ मनजी
२ नाथुरामजी
३ भोजराजजी

४ कल्याणजी
५ ग्यांनजी





- १ सांमजी
- २ मलुकचन्दजी
- ३ उदैभाणजी
- ४ अनोपचन्दजी

- ५ वीनेचन्दजी
- ६ वगतावरजी
- ७ सामटरामजी

☆

- १ जीवराजजी
- २ लालचन्दजी
- ३ दीपचन्दजी
- ४ सामीदासजी

- ५ उगरसेसाजी
- ६ घासीरामजी
- ७ कनीरामजी

☆

- १ धनजीजी
- २ बालचन्दजी
- ३ सीतलजी
- ४ देवीचन्दजी

- ५ हीराचन्दजी
- ६ लषमीचन्दजी
- ७ भैरूदासजी
- ८ उदैचन्दजी

☆

- १ परसरामजी
- २ लोकमनजी
- ३ म्हारांमजी

- ४ दोलतरामजी
- ५ राजारामजी
- ६ गोवीदरामजी

☆

- १ षेतसीहजी
- २ षेमसीहजी
- ३ गुलाबचन्दजी

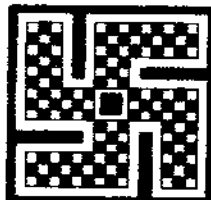
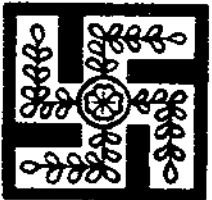
- ४ परसरामजी
- ५ बुद्धरदासजी

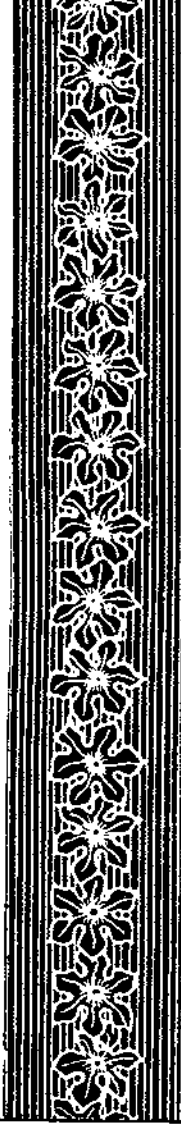
☆

- १ धर्मदासजी का
- २ रामचन्दजी
- ३ माणकचन्दजी

- ४ चमनाजी
- ५ नरोतमजी
- ६ कासीरामजी

●





परिशिष्ट



अभिनन्दन समारोह की आंखों देखी सचित्र झांकी एवं अभिनन्दन ग्रन्थ में सक्रिय योगदान देने वाले गुरुदेव श्री के भक्त, सुश्रावक, समाज एवं संस्थाओं के कार्यकर्ताओं के कतिपय चित्र

योग्य गुरु के सुयोग्य शिष्य



मेवाड संघ शिरोमणि प्रवक्तक श्री अम्बालालजी महाराज के साथ अभिनन्दन ग्रन्थ के प्रधान संपादक तरुण पीढी के प्रेरणा स्रोत, प्रवचन-भूषण श्री सौभाग्यमुनि जी 'कुमुद' अभिनन्दन समारोह स्थल की ओर अपने दृढ़ कदम बढाते हुए

कार्यक्रम की आँखों देखी झाँकी



विश्वज्योति भगवान महावीर के धर्मशासन को दैदीप्यमान करने वाले संत रत्नों की मणिमाला की दैदीप्यमान मणि स्वरूप पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज की दीक्षा स्वर्ण जयन्ति के पवित्र अवसर पर उनका सार्वजनिक अभिनन्दन करने का मेवाड़ श्रावक संघ ने एकमत होकर निश्चय किया, साथ ही मुनि श्री 'कुमुद' जी के सद्प्रयास से अभिनन्दन ग्रन्थ के निर्माण और प्रकाशन की शुभ योजना बनी।

योजना बनाना जितना आसान था, कार्य उतना ही विशाल और कठिन था।

मेवाड़ के वरिष्ठ कार्यकर्ता, बुद्धिजीवी, धनाढ्य, अग्रगण्य सभी सज्जनों ने प्रस्तुत कार्य को एक चुनौती के रूप में स्वीकार किया और सभी अपने सामर्थ्यानुसार लगन के साथ कार्य को सम्पन्न करने में जुट गये।

वर्षभर के कठिन श्रम व निष्ठा ने लक्ष्य को निकट लाकर खड़ा कर दिया।

समय का निर्णय

अभिनन्दन समारोह कब किया जाये यह एक प्रश्न था, कई पहलू से इस पर गम्भीरता से चिन्तन चला, अन्त में चैत्र शुक्ला पंचमी का निश्चय किया गया। ऋतु, मास, वार तिथ्यादि की दृष्टि से यह एक श्रेष्ठ निर्णय था जो सम्पूर्ण रूप से मान्य हुआ। चैत्र शुक्ला चतुर्थी को धर्म-ज्योति परिषद् के अधिवेशन का निश्चय हुआ, इस तरह द्विदिवसीय कार्यक्रम रखने का निर्णय किया गया।

समारोह-कोशीथल में

अभिनन्दन समारोह जैसे विशाल कार्यक्रम को अपने यहाँ सम्पन्न कराने हेतु कई श्रावक संघों के हृदय में, उमंगों की हिलोलें उठने लगीं। जो श्रावकसंघ पुर जोर आग्रह कर रहे थे, उनमें 'आमेठ और कोशीथल' मुख्य थे।

उदयपुर जहाँ पूज्य गुरुदेव श्री का चातुर्मास था, वहीं मेवाड़ के प्रमुख संघों और अभिनन्दन समारोह समिति के सदस्यों की एक सुन्दर सभा आयोजित हुई, आमेठ और कोशीथल तथा अन्य क्षेत्रों के आग्रह सामने आये, बड़ी गहराई से इस विषय को चर्चने के बाद कोशीथल के आग्रह को स्वीकार किया गया। तुमुल जयनाद के साथ कोशीथल संघ ने इस स्वीकृति का हार्दिक स्वागत किया।

बहुमुखी तैयारियाँ

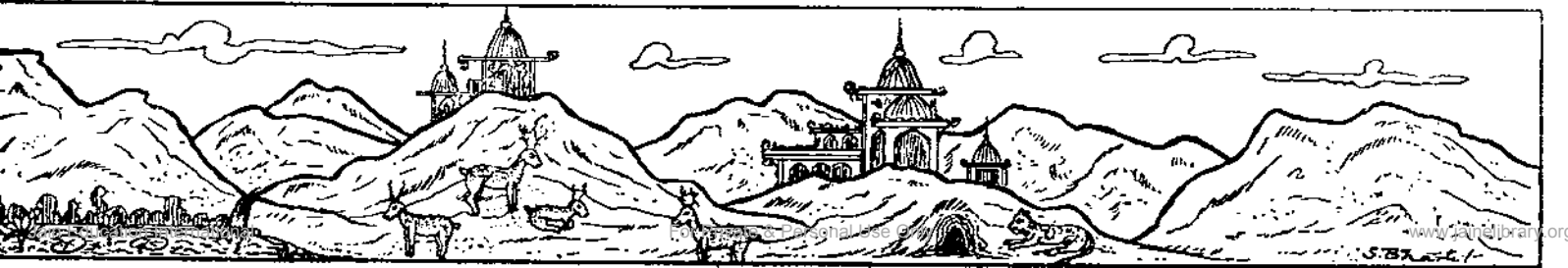
अभिनन्दन समारोह के लिए कोशीथल को स्वीकृति मिलने के साथ ही कोशीथल संघ ने अपनी तैयारियाँ प्रारम्भ कर दीं।

दूमरी तरफ अभिनन्दन समारोह समिति का विधिवत् गठन हुआ।

अध्यक्ष—श्री भूरालाल जी सूर्या, उपाध्यक्ष—श्री ऊँकारलाल जी सेठिया, संयोजक—श्री घीसूलाल जी कोठारी, मंत्री—श्री रोशनलाल जी पगारिया आदि अन्य सदस्यगण, इस तरह ५१ सदस्यों की सक्रिय कार्यकारिणी का गठन किया गया।

अभिनन्दन समारोह को सफल बनाने हेतु प्रचार, प्रसार सम्बन्धी कार्य को देखना तथा उक्त समारोह, समाज-सुधार की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध हो, इस दृष्टि से आवश्यक कार्य करना ये इस समिति के कार्य थे।

समिति ने 'कांकोरली' में अपना कार्यालय स्थापित कर अपना कार्य प्रारम्भ किया।



इसी संदर्भ में देववाड़ा में एक सभा हुई, दूसरी विशाल सभा कांकरोली में सम्पन्न हुई; इसमें कई उपयोगी सुझाव आये और कई सारपूर्ण निर्णय लिये गये। इसी अवसर पर समारोह की अध्यक्षता के लिए सनवाड़ निवासी श्रीमान् ऊँकारलाल जी सेठिया का नाम श्रीमान् भूरालाल जी सूर्या ने रक्खा जो सर्व सम्मति से स्वीकृत हुआ।

कुँवारिया में भी एक मीटिंग हुई, जिसमें प्रचार-प्रसार और समाज-सुधार सम्बन्धी विस्तृत विचार चर्चाएँ हुईं। विविध व्यक्तियों से सम्पर्क साधने, पत्र-व्यवहार करने, विविध स्थानों पर भ्रमण करने में श्रीमान् यशवन्तसिंह जी नाहर भीलवाड़ा, श्रीमान् भूरालाल जी सूर्या, कोशीथल, श्रीमान् ऊँकारलाल जी सेठिया सनवाड़, श्रीमान् धीसूलाल जी कोठारी कपासन, श्रीमान् मांगीलाल जी कोठारी कांकरोली, श्रीमान् रोशनलाल जी पगारिया कांकरोली, श्रीमान् बसन्तीलाल जी कोठारी कोशीथल, श्रीमान् जालमचन्द जी उदयपुर, श्रीमान् एकलिंगलाल जी वारी, श्रीमान् रणजीतसिंह जी उदयपुर, श्रीमान् हिम्मतलाल हिंगड़ कांकरोली, श्रीमान् मांगीलाल जी पगारिया कांकरोली।

आदि-आदि सज्जनों ने बड़ी सुन्दर सेवाएँ दीं जो सदा स्मरणीय रहेगी।

अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति

अभिनन्दन समारोह के अवसर पर पूज्य गुरुदेव श्री को एक विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का निश्चय आमेठ के ऐतिहासिक चातुर्मास में ही कर लिया गया था।

अर्थ संग्रह के लिए, अधिकतर श्री संघों को सदस्य बनाने का निर्णय हुआ। राशि एक हजार एक और पाँच सौ एक, इस तरह दो स्तर पर लेना तय किया। व्यक्तिगत सदस्य बनाने का अधिक लक्ष्य नहीं रहा। प्रतिनिधित्व की दृष्टि से, श्री संघों को प्राथमिकता दी गई।

प्रस्तुत योजना को कार्यान्वित करने के लिए श्रीमान् सोहनलाल जी सूर्या की अध्यक्षता में ग्रन्थ प्रकाशन समिति का गठन किया गया, श्री पन्नालाल जी हिरण मंत्री और श्री शंकरलाल जी सरणोत ने कोषाध्यक्ष पद का दायित्व संभाला।

श्री सोहनलाल जी सूर्या, श्री पन्नालाल जी हिरण, श्री शंकरलाल जी सरणोत कार्यकर्ताओं की इस त्रिपुटी ने ग्रन्थ के लिए अर्थ संग्रह का कार्य अपने हाथ में लिया और जिस लगन, श्रम और स्नेह से इन्होंने यह कार्य सम्पन्न किया वह सदा स्मरणीय रहेगा। अपने व्यस्त समय में से समय निकाल कर तीनों कार्यकर्ताओं ने जो हार्दिक सेवा दी वह प्रशंसा के योग्य तथा अनुकरणीय है।

ग्रन्थ निर्माण मुनि श्री कुमुद जी के दिशा निर्देश, लेखन सम्पादन में चला और प्रकाशन श्री श्रीचन्द जी सुराणा 'सरस' के निर्देशन में आगरा सम्पन्न हुआ।

मुनिराज महासतियों को आग्रह और पदार्पण

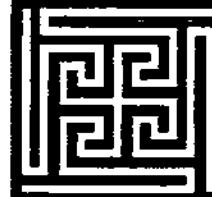
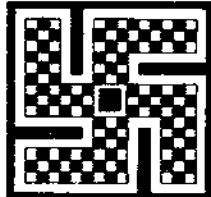
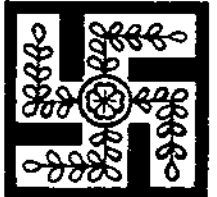
ग्रन्थ प्रकाशन और समारोह के प्रचार-प्रसार के उपरान्त भी समारोह की सर्वाधिक जिम्मेदारी, कोशीथल श्रावक संघ की थी।

संघ ने श्री भूरालाल जी सूर्या की अध्यक्षता में कार्यकारिणी का चुनाव सम्पन्न किया, स्वागताध्यक्ष श्री सोहनलाल जी भटेवरा और मंत्री श्री बसन्तीलाल जी कोठारी मनोनीत किये गये।

श्रावक संघ का एक शिष्टमंडल मेवाड़, मारवाड़, मालवा, अजमेरा में विचरने वाले सभी श्रमण संघीय संत सती जी की सेवा में बिनति लेकर पहुंचा, फलस्वरूप कई मुनिराज और महासती जी ने पधारने की स्वीकृति प्रदान की। कुछ संत सती जी स्वीकृति देने के उपरान्त भी कुछ कारणों से नहीं पधार सके।

समारोह के अवसर पर निम्नांकित पूज्य मुनिराज और महासती जी ने पधार कर समारोह को समालंकित किया।

- परमपूज्य प्रवर्तक मरुधरकेशरी श्री मिश्रीमल जी महाराज एवं घोर तपस्वी श्री रूपचन्द्र जी म० 'रजत' ठा० ६
- परमपूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज, पं० मुनि श्री हीरामुनि जी महाराज, ठा० ७
- पंडितरत्न श्री कन्हैयालाल जी म० 'कमल' ठा० ३
- पं० रत्न श्री मूल मुनि जी महाराज, ठा० ३



- परम विदुषी महासती जी श्री सीभाग्य कुँवर जी महाराज परम विदुषी महासती जी श्री रूपकुँवर जी महाराज परम विदुषी मधुरवक्तृ महासती जी श्री प्रेमवती जी महाराज ठा० १०
- परम विदुषी महासती जी श्री नानूजी महाराज ठा० ५
- परम विदुषी महासती जी श्री चतुरकुँवर जी महाराज ठा० ६
- परम विदुषी महासती जी श्री तेजकुँवर जी महाराज ठा० ३
- परम विदुषी महासती जी श्री वल्लभकुँवर जी महाराज ठा० ४

प्रखर वक्ता श्री रूप मुनि जी महाराज समारोह से ३ सप्ताह पूर्व ही प्रवर्तक श्री से आ मिले ।

चैत्र कृष्णा अष्टमी मंगलवार को पूज्यप्रवर्तक श्री और श्री रजत मुनि जी आदि मुनिराजों का कोशीथल पदार्पण हुआ । स्थानीय जनता ने हार्दिक उमंगों से गुरुदेव श्री का स्वागत किया ।

गुरुदेव श्री के पदार्पण के साथ ही कोशीथल में उत्साह की नयी लहर छा गई, श्री रजत मुनि जी के मारवाड़ी भाषा के जोशीले व्याख्यानो ने अनोखा समां बाँध दिया ।

पूज्य मरुधर, केसरी जी महाराज, श्री 'कमल' जी महाराज, श्री मूल मुनि जी महाराज आदि ज्यों-ज्यों मुनिराजों और महासतियाँ जी महाराज का पदार्पण होता गया त्यों-त्यों कोशीथल नगर की जनता हर्ष और आनन्द के वातावरण से तरंगयमान होने लगी । कार्यकर्ताओं में विजली-सी स्फूर्ति प्रवेश कर गई ।

बाहर के अतिथियों दर्शनार्थियों का आवागमन भी चालू हो गया ।

जनता ने मान्य अतिथियों का स्वागत करने हेतु नगर को दुल्हन की तरह सजाया ।

अद्भुत सेवा

कोशीथल में स्थानीय ठाकुरसाहब श्री उम्मेदसिंह जी से लेकर नगर निवासी सभी जाति और वर्ग का बच्चा-बच्चा तक समारोह हेतु सेवा में जुट गया ।

ज्यों-ज्यों समय निकट आता गया, देखते ही देखते सभी तरह की व्यवस्थाएँ जुटा ली गई ।

प्रत्येक कार्य की अलग-अलग समितियाँ बन चुकी थीं और सभी समितियाँ अपनी जिम्मेदारी को ठीक-ठीक समझकर योग्य कदम उठा रही थीं । संघ की चच्च समिति सारी व्यवस्थाओं की ठीक-ठीक देखभाल कर रही थी ।

पानी, आवास, बिजली, भोजन, विस्तर, पण्डाल आदि व्यवस्था के सारे पहलुओं पर एक साथ काम हो रहा था ।

देखते ही देखते नगर के बाहर प्राइमरीशाला के पास तीस हजार से अधिक व्यक्ति बैठ सकें ऐसा बड़ा पण्डाल निर्मित हो गया, डेढ़ सौ तम्बू कोटडियाँ अलग से तैयार हो गई ।

सारे नगर में यत्र-तत्र पानी की बड़ी सुन्दर व्यवस्था कर दी गई ।

नगर में जितने भी सम्भव हुए, स्थान (जो आवास योग्य थे) खाली करवा लिये गये । ठाकुर साहब ने गढ़ खोल दिया । स्कूल कन्याशाला आदि सार्वजनिक-स्थल भी सेवा हेतु प्रस्तुत कर दिये गये ।

दि० २-४-७६ से जनता का पदार्पण प्रारम्भ हुआ । भादसोड़ा मंगलवाड़, सनवाड़ बदनोर, मीलवाड़ा, फतहनगर, खेरोदा, करेड़ा (राज.) रायपुर, आमेट, झडौल आदि कई स्थानों के स्वयंसेवक दि० २ और ३ प्रातः पहुँच गये थे और अपने निर्धारित कार्यों में लग गये । राणावास और जैतारण छात्रावास के छात्र भी अपने बैण्ड और विशेष तैयारी के साथ उपस्थित हुए ।

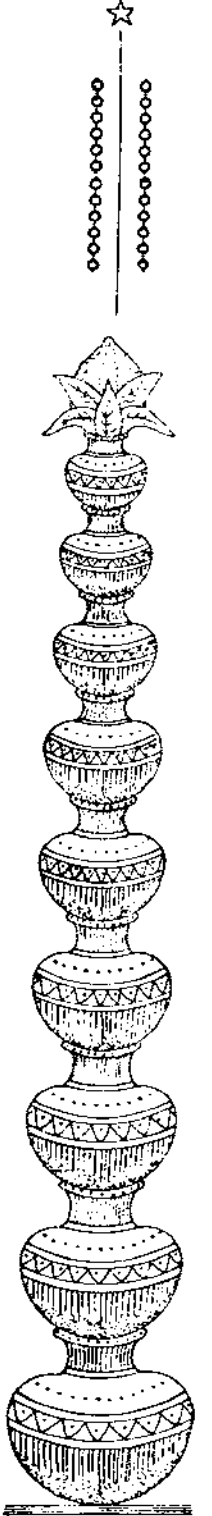
दि० २, रात्रि को, राणावास के छात्रों का सांस्कृतिक कार्यक्रम बड़ा आकर्षक और प्रभावशाली रहा । हजारों जनता ने मुक्तकंठ से सराहना की ।

दिनांक ३ अप्रैल : अधिवेशन दिवस

रवि की सर्वांगिम रश्मियों के साथ ही पवित्र प्रभु प्रार्थना के द्वारा दिनांक ३ का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ । दानवीर सेठ श्री हस्तिमल जी मुणोत ने ध्वजोत्तोलन कर कार्यक्रम का उद्घाटन किया ।

पंचरंगा जैन ध्वज नील गगन में फहराने के साथ ही स्वागत-गान द्वारा उसका स्वागत किया गया ।

आठ बजे के बाद प्रवचन कार्यक्रम रहा जो ११ बजे तक चला । पूज्य मुनिराजों और महासतियाँ जी महा-



राज के ओजस्वी प्रवचनों का रसास्वादन कर जनता घन्य हो उठी। प्रमुख प्रवक्ता पूज्य मरुधर केसरी जी महाराज ने रचनात्मक कार्य करने का प्रेरक सन्देश प्रदान किया।

मध्याह्न में धर्म-ज्योति परिषद का खुला अधिवेशन दानवीर सेठ भूरालाल जी सूर्या की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ।

विशेष अतिथि श्रीमान् ओंकारलाल जी बोहरा भू. पू. एम. पी. ने उद्घाटन करते हुए समाज में व्यापक परिवर्तन लाने और उपयोगी एकता बनाने हेतु बड़े ओजस्वी शब्दों में अपनी बात कही।

श्री बोहरा जी ने कहा— हम बहुत दुकड़ों में बँटे हुए हैं यह हमारे पिछड़ने का मूल कारण है। साम्प्रदायिक ऐक्य बनाने हेतु उन्होंने कहा—सम्प्रदायों से दुराग्रहों का त्याग कर एक-दूसरे को निकट जाना चाहिए।

छोटी-छोटी बातों पर जो साम्प्रदायिक विवाद खड़े हो जाते हैं उनकी उन्होंने कड़े शब्दों में मर्त्सना की।

श्री बोहरा ने आग्रह किया कि जैन यदि अपने महत्त्व को समझ जाए तो वह देश की वर्तमान परिस्थितियों में अपना योग्य स्थान प्राप्त कर सकता है।

अन्त में बोहरा जी ने धर्म ज्योति परिषद को उपयोगी संस्था बताते हुए, इसके विकास के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण सुझाव दिये।

अधिवेशन में मन्त्री ने संस्था की रिपोर्ट पढ़ी, कोषाध्यक्ष ने आर्थिक स्थिति पर प्रकाश डाला। कुछ महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव पारित हुए जिनमें समाज-सुधार, स्वाध्याय केन्द्रों की स्थापना, साहित्य-प्रकाशन तथा सेवायोजना को आगे बढ़ाने के प्रस्ताव मुख्य थे।

शाखा कार्यालय मोलेला ने भी अपनी रिपोर्ट रक्खी।

अन्त में नये चुनावों के साथ तथा आम वज्र की स्वीकृति के साथ कार्यक्रम सम्पन्न हुआ।

अधिवेशन के मध्य जिन प्रवक्ताओं ने अपने विशेष भाषण दिये, उनमें श्री मदनलाल जी पीतल्या (मुन्सिफ वाडमेर) श्री शंकर जी जैन, श्री तेजमल जी बाफना आदि प्रमुख थे।

स्नेह-सम्मान

धर्म ज्योति परिषद् के श्रेष्ठ कार्यक्रमों में एक कार्यक्रम “धर्म ज्योति” के प्रचार-प्रसार का भी है। विगत वर्षों में धर्म ज्योति के प्रचार-प्रसार में समाज के सैकड़ों कार्यकर्ताओं ने भाग लिया, उनमें सर्वाधिक सेवा देने वाले श्रीमान् चान्द्रमल जी सूर्या, श्रीमान् मंवरलाल जी तलेसरा, श्रीमान् भगवतीलाल जी तातेड़ को संस्था ने सम्मान-पत्र प्रदान किये। स्वर्गीय श्रीमान् फतहलाल जी जैन गंगापुर वासी को मरणोपरान्त सम्मान-पत्र अर्पित किया।

महिला सम्मेलन

लगभग ३ बजे के बाद इन्दौर निवासी श्रीमती कमला बहनजी (माता जी) की अध्यक्षता में महिला सम्मेलन प्रारम्भ हुआ। इसमें हजारों की तादाद में महिलाएँ सम्मिलित हुईं। परम विदुषी महासती जी श्री प्रेमवती जी ने अपने ओजस्वी प्रवचन द्वारा इस सम्मेलन को सम्बोधित किया। महासती श्री चन्द्रावती जी ने भी अपना सारगर्भित प्रवचन दिया। डॉ० श्रीमती शान्ता भानावत ने बड़े ओजस्वी भाषण से नारियों को, कुरीतियों का परित्याग करने का आग्रह किया।

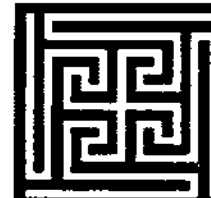
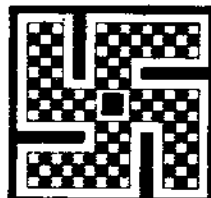
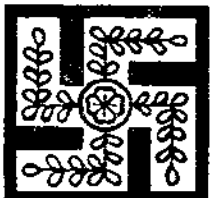
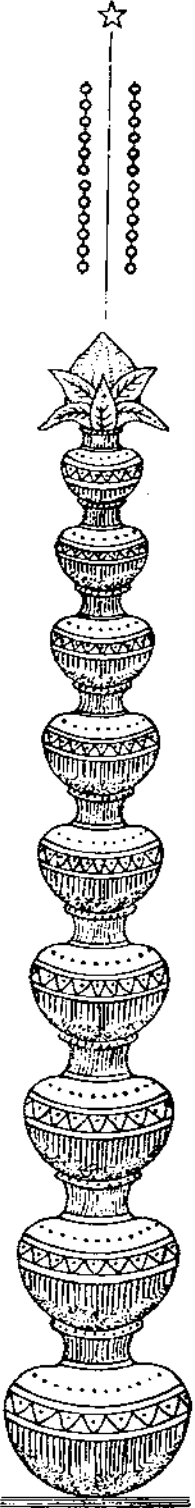
श्री कमला माताजी ने कहा कि यदि बहनें अपने जीवन में आवश्यक परिवर्तन ले आये तो समाज की काया पलट हो सकती है।

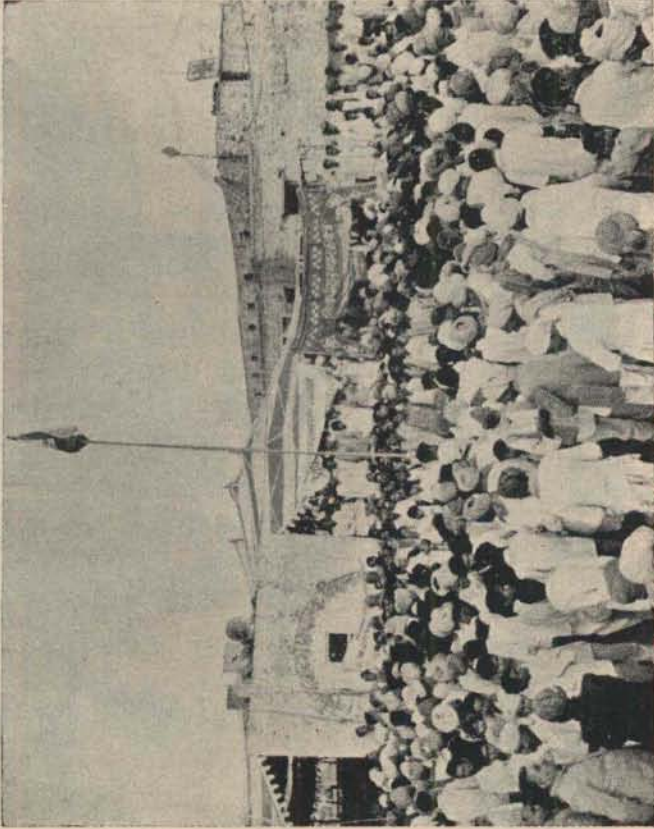
इस विशाल अधिवेशन में अनेक महिलाओं ने कुरीतियों, रुद्धियों, दहेज और दस्तूर आदि को ठुकराने का सुदृढ़ निश्चय किया।

लगभग पाँच बजे तक प्रस्तुत सम्मेलन चला। अनेकों विदुषी महिलाओं ने अपने सुन्दर प्रवचन देकर नारी समाज को जागृति के सन्देश सुनाए।

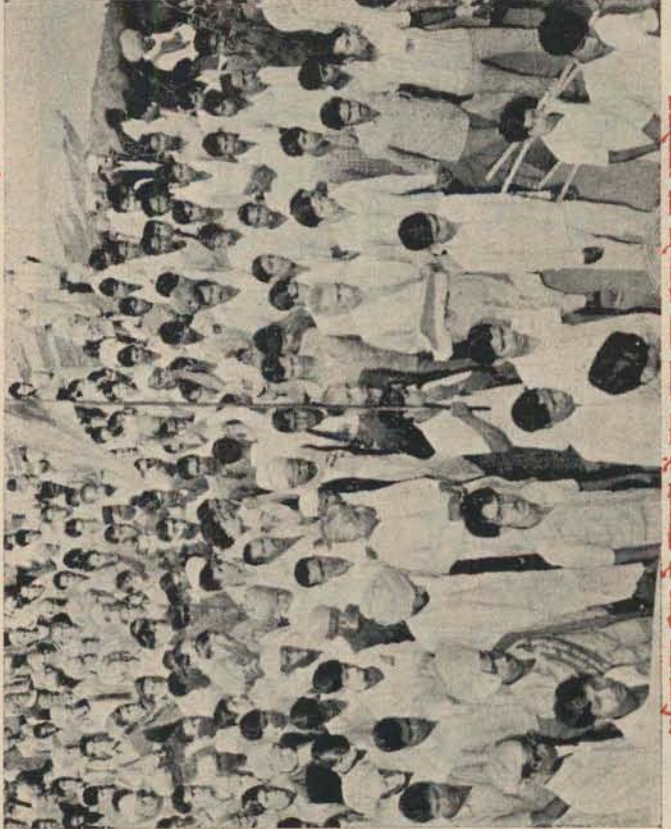
युवक सम्मेलन

दिनांक ३, रात्रि को आठ बजे से युवक सम्मेलन का कार्यक्रम था। बाहर की जनता, टैक्सियों, स्पेशल मोटरों और बसों, कारों द्वारा कोशीथल में लगातार पहुँच रही थी।

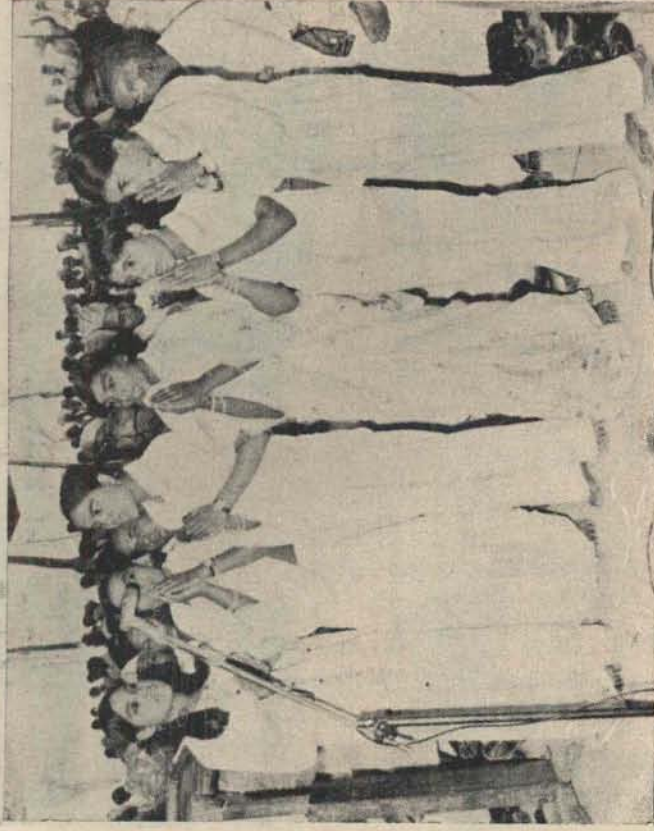




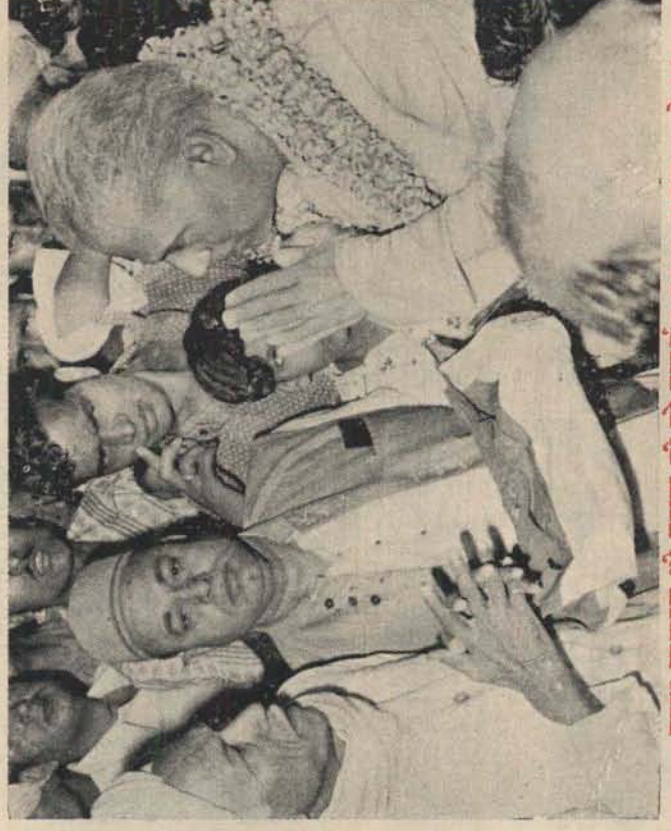
मुक्त गगन में पंवरंगा लहराये । जैन जगत की गौरव गाथा गाये ॥
श्रीमान हस्तिमल जी मुणोत ने ध्वजोत्थोलन कर कार्यक्रम का शुभारम्भ किया



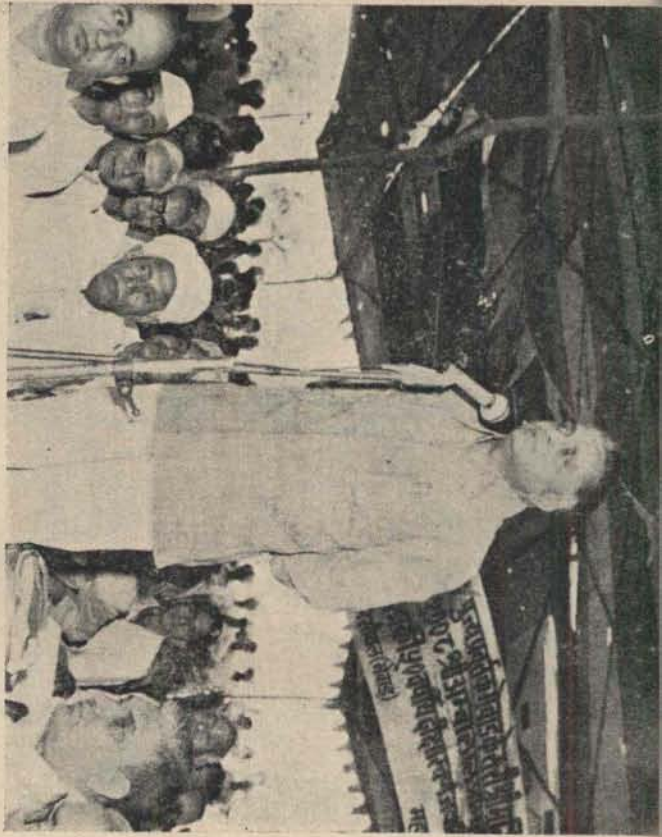
अभिनन्दन ग्रन्थ के सम्मान में एक भव्य चल समारोह का आयोजन
ग्रन्थ के प्रबन्ध सम्पादक श्रीवन्द सुराना ग्रन्थ को हाथ में धारण किये शानदार जुलूस के साथ



मंगलाचरण करती हुई कोशीथल की कुमारिकायें



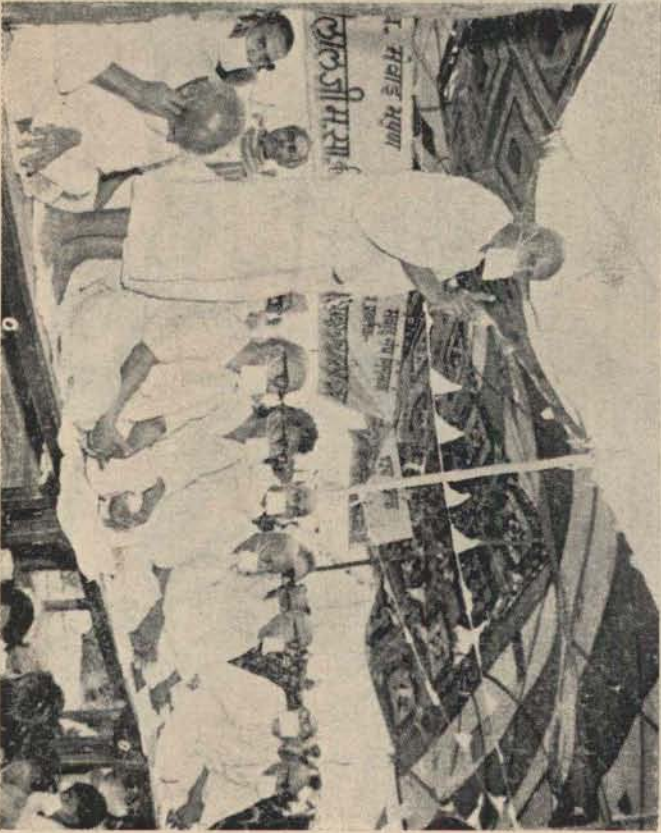
प्रबन्ध सम्पादक श्री सुराना जी को मालापण कर ग्रन्थ प्राप्त करते हुए
श्रीमान भूरालाल जी सूर्या (अध्यक्ष) तथा श्रीमान सोहनलाल जी भट्टेवरा



अभिनन्दन समारोह का उदघाटन करते हुए
श्रीयुत शिवचरण जी माथुर, खाद्यमंत्री (राजस्थान)



स्नेहाभिनन्दन एवं प्रेरक संदेश देते हुए
पूज्य प्रवर्तक श्री मरुधरकेसरी मिश्रीमल जी महाराज



पं० रत्नमणि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' अभिनन्दन उदघार प्रकट करते हुए



विशेष अतिथि श्री हीरालाल जी देवपुरा हादिक अभिनन्दन करते हुए

दिनांक ३ रात्रि के युवक सम्मेलन तक कोशीधल में लगभग बीस हजार जनता का शुभागमन हो चुका था। सारा नगर और पांडाल खचाखच जनता से भरे थे। स्वयं सेवक और नगर की जनता तन्मयता से सेवा में जुटे हुए थी। युवक सम्मेलन ठीक समय पर श्रीमान् चांदमल जी लोढ़ा (जस्टिस-हाईकोर्ट) की अध्यक्षता में प्रारम्भ हुआ। अभिनन्दन समारोह समिति के मन्त्री श्री रोशनलाल जी पगारिया ने समाज-सुधार के विषय में अब तक हुए कार्य का परिचय दिया।

बाहर से आये सुझावों का वाचन हुआ।

विशेष अतिथि गणमान्य सज्जन श्रीमान् जसवन्तसिंह जी नाहर ने अपने विशेष माषण में कुरीतियों पर तीव्र प्रहार करते हुए समाज को आगे बढ़ने का आग्रह किया।

श्रीयुत् नारहर साहब ने कहा—अब, समय आ गया है कि हम समाज में एक नयी क्रान्ति कर युगधर्म को आत्मसात् करें।

सेठ श्री हस्तिमल जी मुणोत ने कहा—मीठी बातों से कुछ होने वाला नहीं है, कार्य करना है तो, मुनियों को और कार्यकर्ताओं को कड़क कदम उठाने होंगे।

श्री मनोहर जी कोठारी एम. एल. ए. ने कहा, कि सभी तरह के भेदभावों को भुलाकर भगवान महावीर की जो देन है उसके अनुसार सात्विक समाज रचना का कार्य होना चाहिए।

श्री भंवर जी पगारिया ने २२ सूत्री कार्यक्रम प्रस्तुत करते हुए उसकी उपयोगिता पर प्रकाश डाला। श्री वीसू लाल जी कोठारी, श्री शंकर जी जैन, श्री मदनलाल जी जैन आदि विचारकों के कई सुन्दर विचारों से युवकों में समाज सुधार का एक नया वातावरण बन गया।

अन्त में, मृत्युभोज समाप्त करने, दहेज का प्रदर्शन रोकना और तिलक प्रथा समाप्त करने सम्बन्धी तथा समाज के हित साधक कुछ अन्य ऐसे महत्वपूर्ण प्रस्ताव सर्वानुमति से पास हुए।

अन्त में, श्रीमान् चांदमल जी लोढ़ा ने अपने अध्यक्षीय माषण में सामाजिक परिवर्तन की बहुत बड़ी आवश्यकता बताते हुए युवकों को नव समाज रचना में आगे आने का सन्देश दिया।

यह ऐतिहासिक युवक सम्मेलन अर्धरात्रि तक चला और कई उपलब्धियों के साथ कुछ शानदार प्रेरणाओं के साथ सम्पन्न हुआ।

दिनांक ४ अप्रैल : अभिनन्दन समारोह दिवस

रवि रहियों की मृदुल अठखेलियों के साथ मंगल प्रभात में प्रार्थना की स्वर-लहरियाँ लहराने लगी और दिनांक ४ अर्थात् चैत्र शुक्ला पंचमी का शुभ कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ।

ध्वज विमोचन और मंगल ध्वनियों से वातावरण उल्लास के नये क्षणों में प्रवेश कर गया।

अध्यक्ष का स्वागत

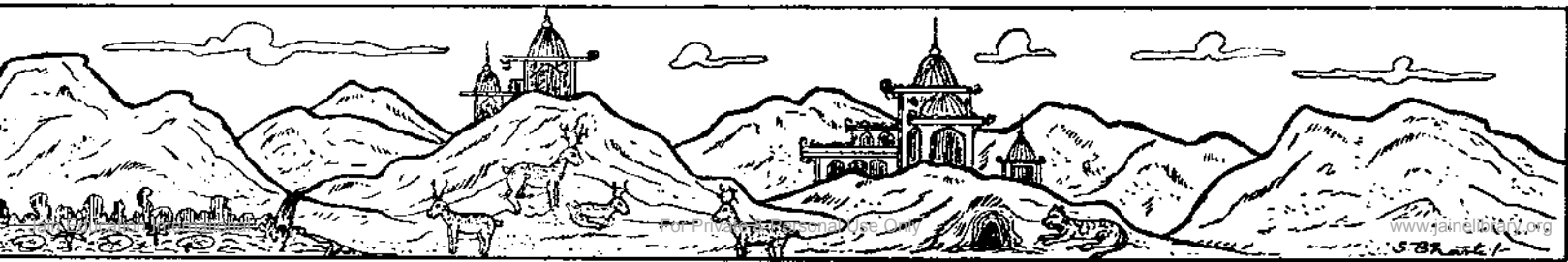
८.३० बजे अध्यक्ष महोदय श्री ऊँकारलाल जी सेठिया तथा अभिनन्दन समारोह समिति के अध्यक्ष दानवीर सेठ श्री भूरालाल जी सूर्या का स्वागताध्यक्ष श्रीमान् सोहनलाल जी भटेवरा तथा उपस्थित जनता ने मालार्पण कर हार्दिक स्वागत किया और भव्य चल समारोह का आयोजन किया।

दोनों महोदय, सजी हुई गाड़ी में समाहित थे, राणावास के छात्र बैण्ड की मधुर झंकारों और गगनभेदी जयकारों से वातावरण बड़ा उल्लासमय बन रहा था। स्वागत जुलुस कन्याशाला से प्रारम्भ हुआ और पांडाल में समाप्त हुआ; जहाँ स्वागत मन्त्री ने उनका हार्दिक स्वागत किया और विशेष सज्जा-सुसज्जित अध्यक्ष के आसन पर विराजमान किया।

मुनि मंडल का पदार्पण

श्रावक संघ के आग्रह पर मुनि मंडल और महासती वृन्द ८.३० बजे समा स्थल पर पधारे। उल्लासमय जयकारों और हार्दिक वन्दनाओं के साथ उपस्थित हजारों भाई-बहनों ने अपने गुरुवृन्द का स्वागत किया।

गुरु-वन्दना गीत द्वारा मंगलाचरण कर स्वागत गान द्वारा समागत मुनिराज और महासती जी का भाव भीना स्वागत किया गया।



विशेष अतिथियों का आगमन

स्थानीय बालिकाओं ने परमेष्ठी गान का लयात्मक समुच्चारण करते हुए कार्यक्रम की मंगल स्थापना की। प्रस्तुत मंगल उपक्रम का संयोजन अध्यापक श्री गणपतलाल जी कर रहे थे।

मंगलाचरण के तुरन्त बाद समागत विशेष अतिथि श्रीमान् चांदमल जी लोढा जस्टिस-राजस्थान हाईकोर्ट, श्रीमान् शिवचरण जी माथुर, खाद्यमंत्री राजस्थान; श्रीमान् हीरालाल जी देपुरा विद्युतमंत्री राजस्थान श्रीमान् जसवन्तसिंह जी नाहर "नाहर साहब" का स्वागत मन्त्री और समारोह समिति के मन्त्री ने माला पहना कर हार्दिक स्वागत किया।

सभी सम्मानित अतिथि विशेष मंच पर समारूढ़ थे।

पूज्य मुनिराज पट्टाभिरूढ़ तथा महासती वृन्द शाला के विशाल बरामदे में विराजमान थी सामने लगभग तीस हजार जनता से खचाखच भरा हुआ पांडाल जन समुद्र-सा लग रहा था और रंग-बिरंगी साड़ियां और पगड़ियां इन्द्र धनुषी तरंगों को चरितार्थ कर रही थीं।

यह एक विराट् और भव्य समायोजन था अद्भुत नजारा था। जिसने देखा धन्य हो गया।

मेवाड़ की धरती पर यह दृश्य अभूतपूर्व था, आनन्द उमंग और उत्साह से भरा हुआ वह दृश्य ऐसा था कि जिसने भी देखा देखता ही रहा।

उद्घाटन

श्रीयुक् शिवचरण जी माथुर ने विधिवत् उद्घाटन करते हुए इस अवसर का लाभ मिलना अपने आपके लिए अमूल्य बताया (शिवचरण जी माथुर का वक्तव्य आगे उद्धृत है)।

अभिनन्दन वक्तव्यों की शृंखला दो घण्टे तक चली।

इस बीच पूज्य मरुधरकेसरी जी महाराज पं० प्रवर श्री कन्हैया मुनि जी कमल, पं० प्रवर श्री मूल मुनि जी महाराज, श्री सौभाग्य मुनि जी कुमुद, श्री मदन मुनि जी 'पथिक' ने अपने भाव पूर्ण वक्तव्य प्रस्तुत किये। श्री सुकनमुनि जी ने मधुर गीतिका से अभिनन्दन किया श्री रूप मुनिजी रजत ने भी भाव पूर्ण ओजस्वी वक्तव्य दिया।

इन सभी मुनिराजों के वक्तव्य आगे प्रकाशित हैं। श्रावक समुदाय में से श्री चिम्मनसिंह जी लोढा ने बड़े ओजस्वी शब्दों में गुरुदेव का अभिनन्दन करते हुए समाज सुधार के लिए प्रेरणा प्रदान की। श्री हस्तिमल जी मुणोत ने भावाभिनन्दन प्रस्तुत किया। कविवर्य श्री जीतमल जी चोपड़ा ने अपनी शानदार कविता द्वारा अनोखा समां वांध दिया। इनकी काव्याञ्जली बड़ी प्रभावोत्पादक रही। श्री मदनजी तातेड़ ने मेवाड़ी भाषा में श्रद्धार्पण किया।

विशेष अतिथि श्री देपुराजी ने अपने प्रभावशाली वक्तव्य में अभिनन्दन करते हुए कहा कि बिना ही कानून समाज को दिशा बदलना चाहिए।

ग्रन्थ-समर्पण

हजारों व्यक्ति जिस कार्यक्रम की प्रतीक्षा में थे, वह कार्यक्रम था ग्रंथ समर्पण।

ग्रन्थ विमोचन के पूर्व प्रबन्ध संपादक श्री श्रीचन्द्र सुराणा 'सरस' ने ग्रन्थ का बाह्य और अन्तरंग परिचय दिया।

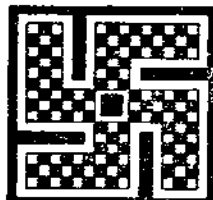
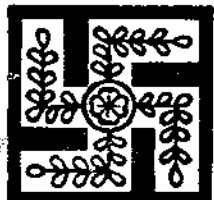
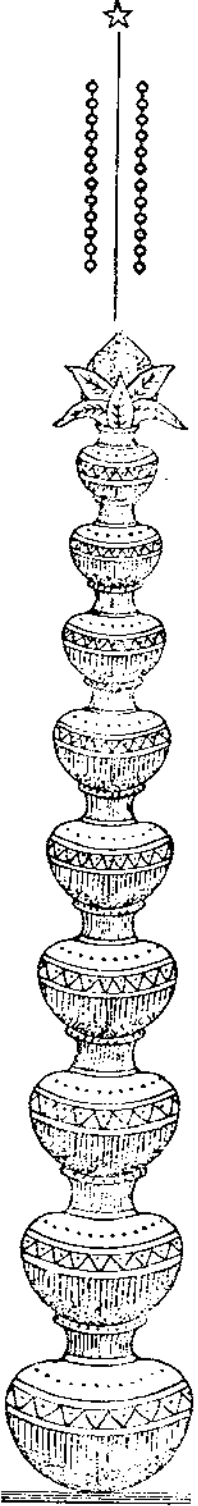
सेमा निवासी श्रीमान् गहरीलाल जी कोठारी ने ग्रन्थ विमोचन किया और साथ ही, उदयपुर में स्थापित होने वाले शोध संस्थान हेतु पाँच हजार एक रु० की घोषणा की।

श्रीमान् चांदमल जी लोढा ने बड़े भावोद्भूत के साथ ग्रन्थ पूज्य गुरुदेव श्री को समर्पित किया।

ग्रन्थ समर्पण के बाद श्रीमान् लोढा जी ने अपने भावपूर्ण वक्तव्य में पूज्य गुरुदेव श्री के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए सामाजिक परिवर्तन के लिए जोरदार आग्रह किया।

अन्त में ग्रन्थ समर्पण को स्वीकार करते हुए पूज्य गुरुदेव श्री ने मेवाड़ी भाषा में संक्षिप्त किन्तु प्रेरक वक्तव्य दिया।

मुनि गण और महासती वर्ग की तरफ से पूज्य प्रवर्तक श्री मरुधरकेसरी जी महाराज ने पूज्यश्री अम्बालाल जी म० को अभिनन्दन चदर ओढ़ाई गई।

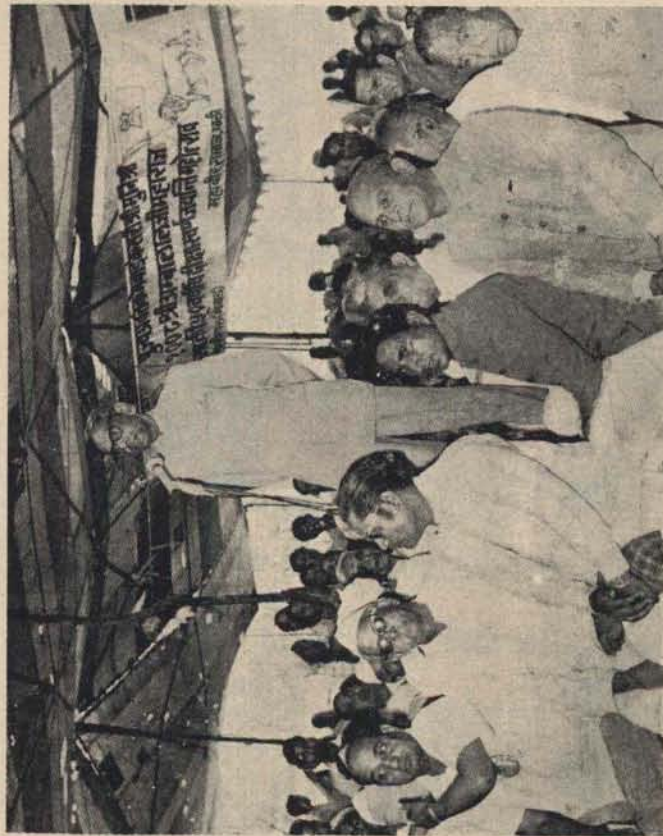




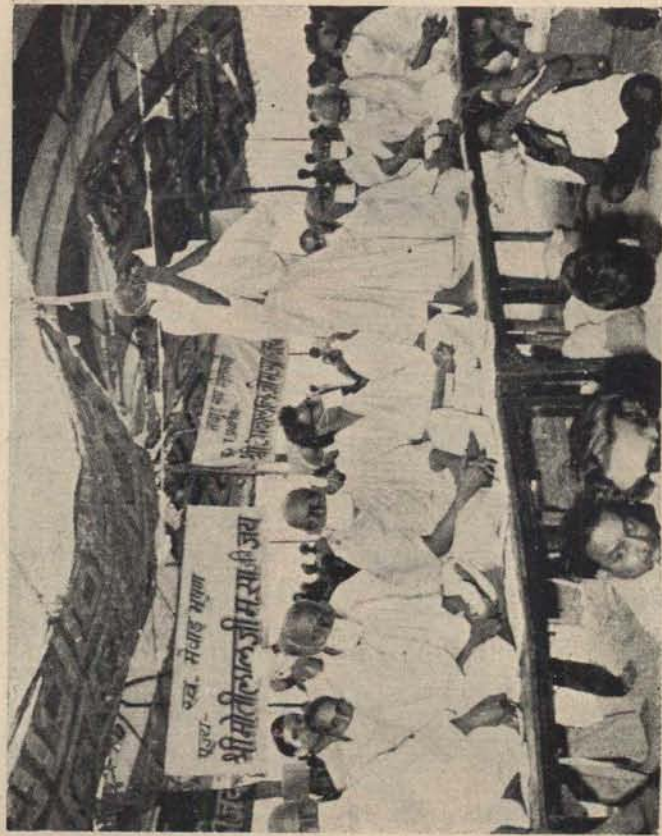
सेमा निवासी श्री गहरीलाल जी कोठारी
ग्रन्थ-विमोचन हेतु न्यायमूर्ति लोढा साहब को देते हुए ।



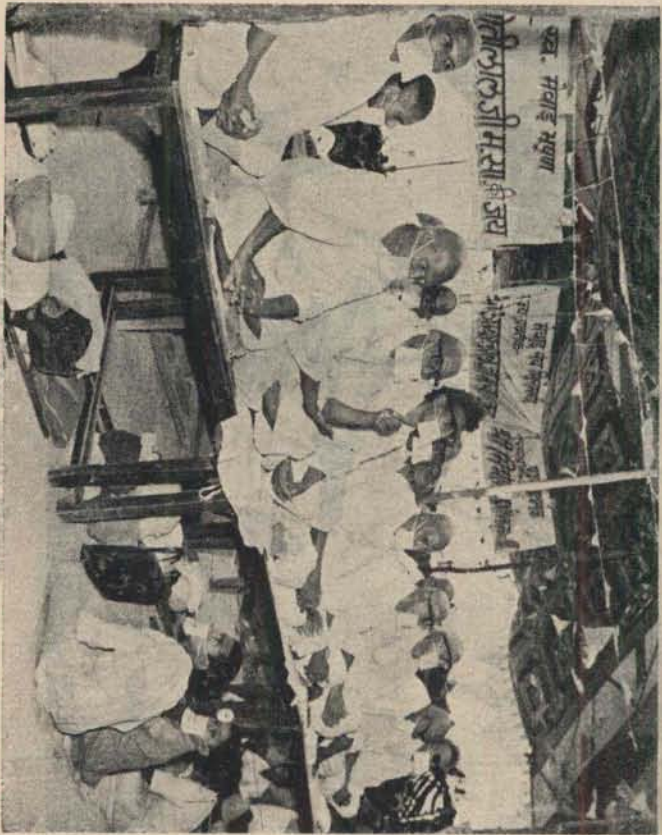
न्यायमूर्ति श्रीमान चांदमल जी लोढा
अभिनन्दन ग्रन्थ गुरुदेव श्री को सभकित समर्पण करते हुए ।



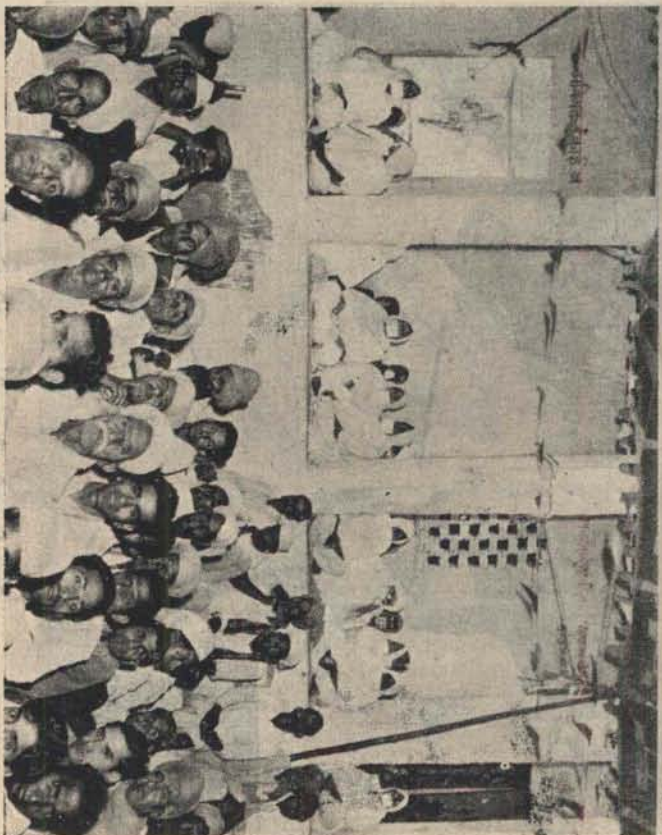
पूज्य गुरुदेव श्री के चरणों में अभिनन्दन एवं भावाऽजली प्रस्तुत करते हुए
श्रीयुत न्यायमूर्ति लोढा साहब



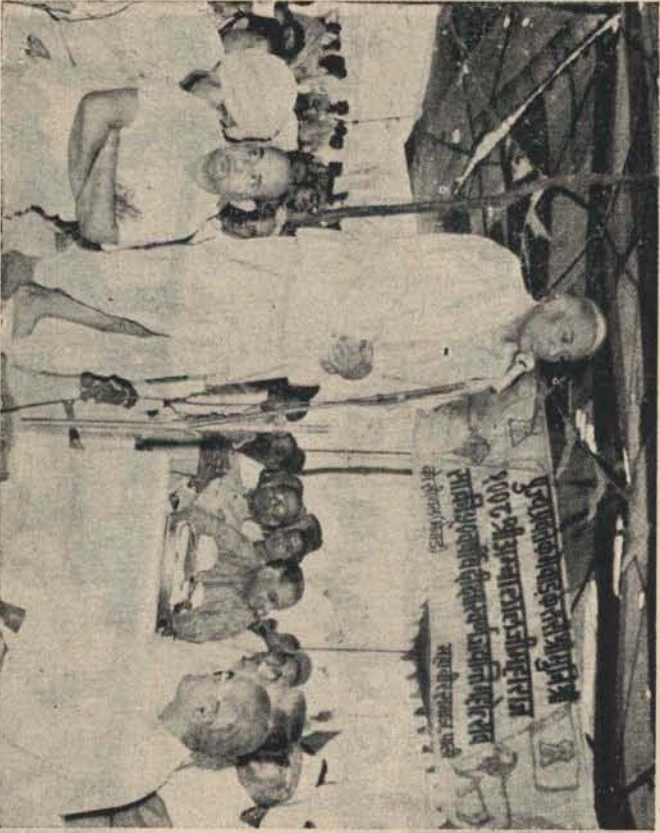
अपने महान अभिनन्दन को जिनशासन और भगवान महावीर के चरणों में अर्पित करते हुए
मेवाड़-संघ शिरोमणि पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज



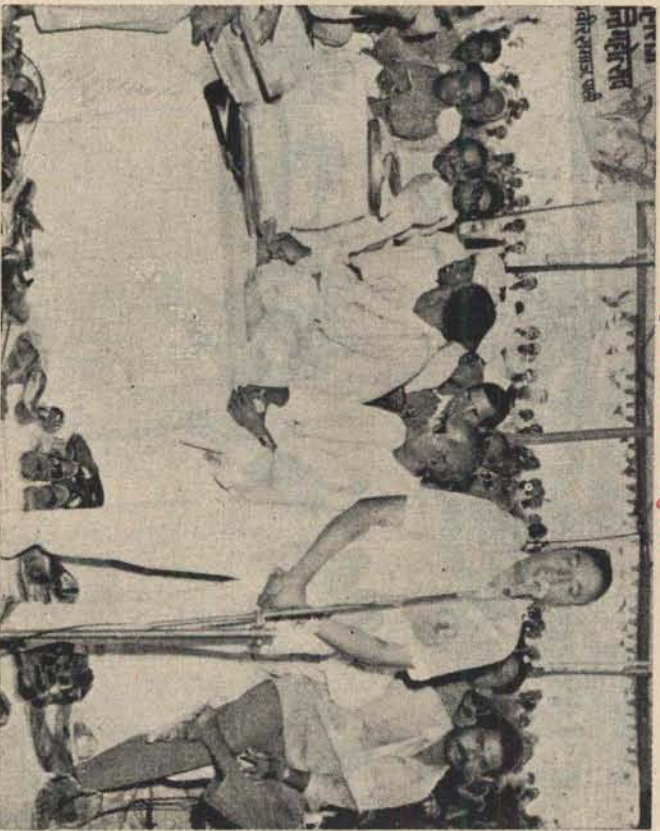
अभिनन्दन समारोह में पधारे हुए मुनिराज प्रशांत मुद्रा से मंच पर विराजमान हैं।
भावुक जनता के उमड़ते श्रद्धाभावों का अवलोकन करते हुए



समारोह में पधारी हुई महासती जी : एक सामूहिक दृश्य
सामने विशाल जन समुदाय



प्रसिद्ध साहित्यकार श्री श्रीचन्द्र सुराना 'सरस' अभिनन्दन ग्रन्थ का परिचय देते हुए।



दूर-दूर से आये हुए श्रद्धालु अतिथियों का स्वागत करते हुए कोशीधर के कमन्ठ
श्रावक, संघ के माननीय मन्त्री श्री वसन्तीलाल जी कोठारी

अपने संक्षिप्त वक्तव्य में पूज्य प्र० श्री मरुधर केसरी जी महाराज ने प्रवर्तक श्री को एक सुयोग्य संत रत्न बताते हुए हार्दिक स्नेह प्रकट किया और 'भेवाड़ संघ शिरोमणि' पद प्रदान करने का आग्रह किया। जिसका समस्त श्री संघों ने जयनाद के साथ बड़े उत्साह से स्वागत किया।

साथ ही पूज्य मरुधर केसरी जी महाराज ने प्रवर्तक श्री के सुयोग्य शिष्य विद्वदरत्न श्री सीमाय मुनि 'कुमुद' को 'प्रवचन भूषण' पद से अलंकृत करने का आग्रह किया। उपस्थित जन-समुदाय ने बड़े उल्लास से समर्थन प्रकट किया।

समापन

कार्यक्रम ८॥ बजे से प्रारम्भ होकर १२॥ बजे तक अद्भुत शान्ति के साथ चला।

कार्यक्रम का संयोजन श्री रोशनलाल जी पमारिया श्री मदनलाल जी जैन तथा श्री बसन्तीलाल जी कोठारी कर रहे थे। अन्त में दानवीर सेठ श्री ऊंकारलाल जी सेठिया का अध्यक्षीय भाषण हुआ। श्री सेठिया जी ने अपने विस्तृत प्रवचन में समाज की अनेक समस्याओं को छूते हुए उनके समाधान हेतु ठोस कार्यक्रम प्रस्तुत किया।

अध्यक्षीय भाषण पर धन्यवाद देते हुए मन्त्री महोदय ने आगत अतिथियों का हार्दिक स्वागत किया तथा शान्ति व्यवस्था बनाये रखने में जो सहयोग दिया इसके लिए धन्यवाद ज्ञापित किया।

समारोह की कुछ अद्भुत विशेषताएँ

तटस्थ दर्शकों का अनुमान है कि समारोह में २५ से ३० हजार जनता की उपस्थिति रही होगी। किन्तु इतने लम्बे कार्यक्रम में कहीं किसी भी तरह की अशान्ति का प्रसंग उपस्थित नहीं हुआ। न किसी की कोई वस्तु खोई और न कोई व्याधिग्रस्त ही हुआ और न कोई अप्रिय प्रसंग बना। यह एक सुखद आश्चर्य था।

× × × ×

हजारों व्यक्तियों ने एक साथ हाथ खड़े कर कुरीतियों के त्यागने का जो संकल्प इस समारोह में लिया, सामूहिक सुधार का यह आदर्श शताब्दियों तक प्रेरणा स्रोत बना रहेगा।

× × × ×

समारोह से पूर्व कई व्यक्ति प्रायः ऐसा कहा करते थे कि 'कोशीथल' निवासी क्या व्यवस्था कर पायेंगे? छोटा-सा गाँव है। पानी की व्यवस्था में ही थक जायेंगे किन्तु कोशीथल श्रावक संघ ने और वहाँ की जनता ने जो शानदार व्यवस्था की उसे देखकर उन्हें कहना पड़ा कि ऐसी सुन्दर व्यवस्था कोशीथल वाले कर पायेंगे, यह अद्भुत बात है।

× × × ×

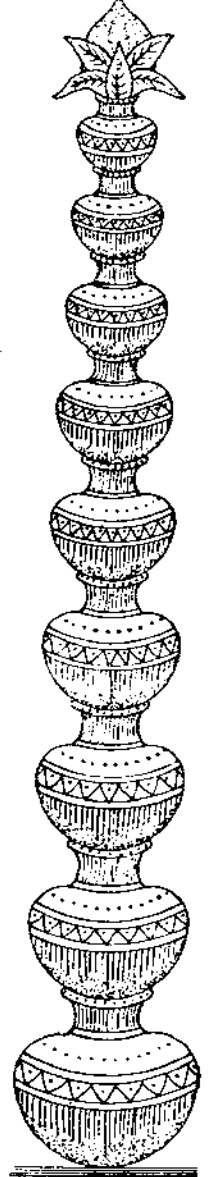
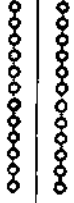
कई व्यक्तियों का अनुमान था कि विशाल जनता को देखते हुए भोजन-व्यवस्था गड़बड़ा जाएगी। किन्तु कार्यकर्ताओं की सूझ-बूझ से भोजन-व्यवस्था बड़ी सुन्दर रही, साथ ही यह भी सुनने में आया कि भोजन मण्डार में बिलकुल कमी नहीं आई, इतना ही नहीं अनुमान से अधिक व्यक्तियों के भोजन कर लेने के उपरान्त भी भोजन भारी मात्रा में बढ़ा और स्थानीय जनता ने उसका उपयोग किया।

× × × ×

विशाल पांडाल जो लगभग २५-३० हजार जनता से खचाखच भरा था, पांडाल कई बार तेज हवा के झोंके से हिला। कई बार उठा भी कार्यकर्ताओं को भय भी हुआ कि कहीं पांडाल नीचे न आ जाए किन्तु कोई दुर्घटना नहीं हुई।

संयोग की बात थी कि कार्यक्रम के सम्पन्न होने के आधा घंटे बाद जब पांडाल बिलकुल खाली था, हवा के एक तीव्र झोंके के साथ ही पांडाल भूमि पर आ गिरा।

इस पर चूटकी लेते हुए श्री हस्तिमल जी मुणोत ने कहा कि समारोह सम्पन्न होने तक पांडाल को देवता थामे हुए थे।



अभिनन्दन मय स्वर्णिम-सूत्र



परम पूज्य प्रवर्तक श्री मरुधर केशरी मिश्रीमलजी महाराज का आजस्वी वक्तव्य

जो कार्य करने रे वास्ते आप यहाँ इकट्ठे हैं, वो प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी स्वामी का अभिनन्दन है।

अम्बालाल जी स्वामी रो मेवाड़ में ही नहीं, सारा स्थानकवासी समाज में बड़ो महत्त्व है।

प्रकृति सूं सरल, साधुता में रमियोड़ा स्वामी जी सबने वड़ा प्रिय है। इणारा पचास वर्ष रा संयम में वड़ी चमक-दमक रही।

इणां रा सुयोग्य शिष्य और मेवाड़ रा श्रावक अभिनन्दन रो यो विशाल आयोजन कियो, यो अपना गुरु रे प्रति आदर और भक्ति रो एक सुन्दर परिचय है।

म्हारो एक आग्रह है इणां रा अभिनन्दन को कोई स्थायी लाभ होणो चाहिजे।

उदयपुर में शोध संस्थान री योजना बड़ी उत्तम है, पिण बाता सूं तो कीं होवे नी। काम तो करने सूं होवे। काम करने रे वास्ते आध में लगन है तो काम बणने में कीं सकावट नहीं।

तन-मन-धन सूं सहयोग करणे री भावना राख हिम्मत सूं काम आगे बढ़ाओ, सफलता मिले और मिले।

आज रो यो दृश्य देख म्हारा हिरदै में आनन्द री हिलौलां उठ रही है।

यो पंडाल रंग-बिरंगी पागडियां वाला सूं ठट्टु भरियोड़ो एड़ो सुहावणो लामे मानो रंग-बिरंगा फूलारी सैकड़ों क्यारियां एक साथ खिलगी।

मेवाड़ी आन ज्ञान में शूरा ने बात में पक्का वे आ वीर भूमि है, इण भूमि री मिट्टी में एक तेज है।

आज आपणां श्रमण संघ री एकता बणी राखणे रे वास्ते आपसूं म्हारी अपील है। आज श्रमण संघ रे सामने संवत्सरी री एकता रो म्होटो प्रश्न है। आप सब इण एकता ने बणी राखणे में हृदय सूं मददगार बणो। अपनी अपनी जिद्द राखणे में की धरियो नी है। एकता बणी रहे तो या बहुत बड़ी सिद्धि है।

अभिनन्दन री इण बेला में स्वामी जी श्री अम्बालाल जी महाराज ने 'मेवाड़ संघ शिरोमणि' पद सूं अलंकृत करणे री भावना है। सारा संघ रो इण में समर्थन मिलणो चाहिजे।^१

मरुधर केशरी—इसी तरह स्वामी जी रा सुयोग्य शिष्य सौभाग्य मुनि 'कुमुद' ने 'प्रवचन भूषण पदसू' अलंकृत किया है।

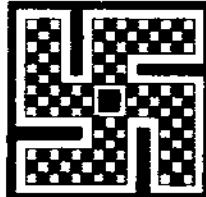
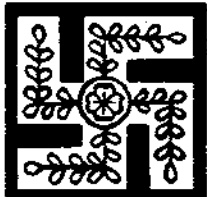
सारी जनता ने सारी समर्थन किया।

म० के०—पूज्य आचार्य श्री ये पद घोषित करे, यह हमारी सबकी भावना है।

श्री अम्बालाल जी स्वामी ने साधु समाज री तरफ सूं अभिनन्दन स्वरूप अभिनन्दन चट्टर अर्पित करते हैं।^२

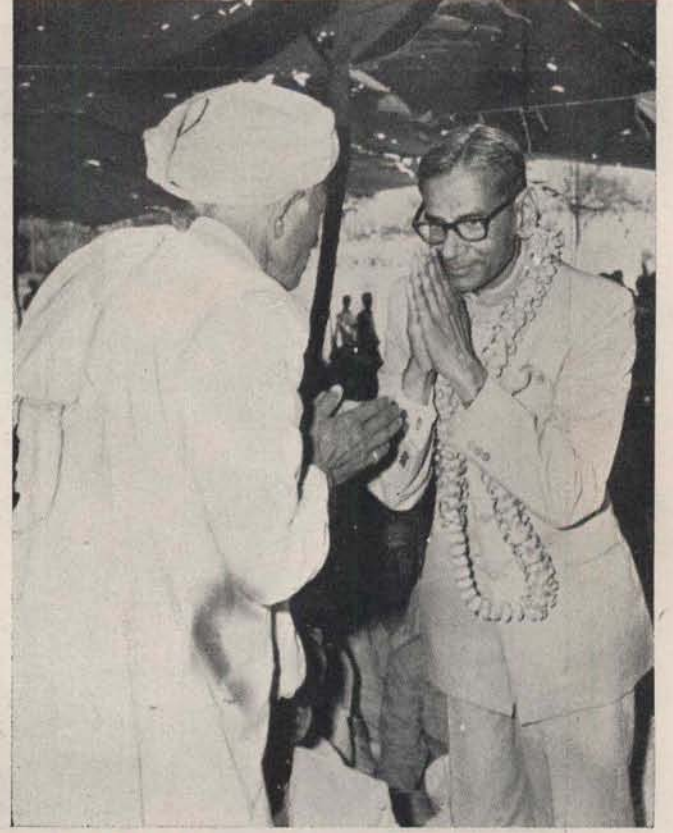
१ सारे संघ ने जबर्दस्त समर्थन कर पद समर्पण के साथ जयनाद किया।

२ पूज्य मरुधर केशरी जी ने चट्टर औड़ाई और सारे समाज ने जयनाद के साथ स्वागत और समर्थन किया।

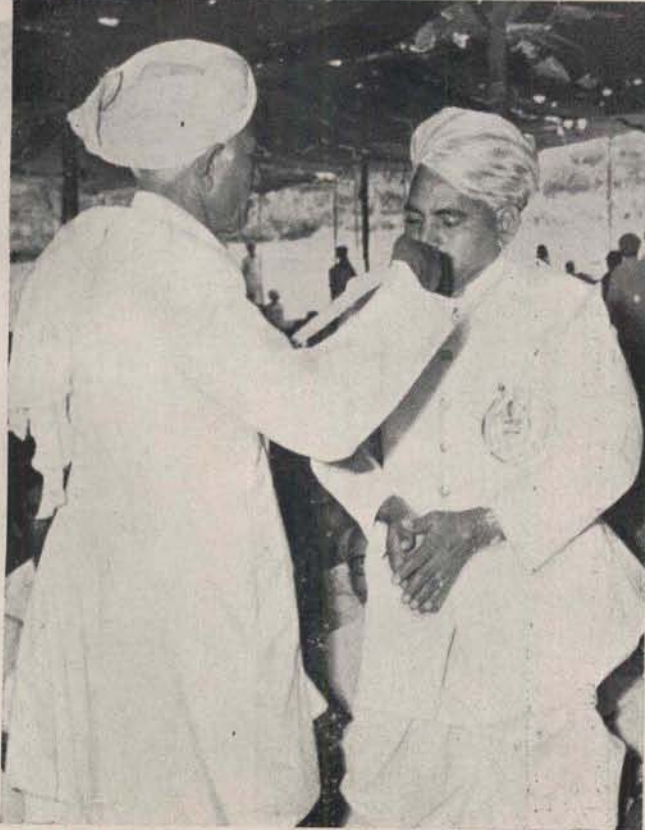




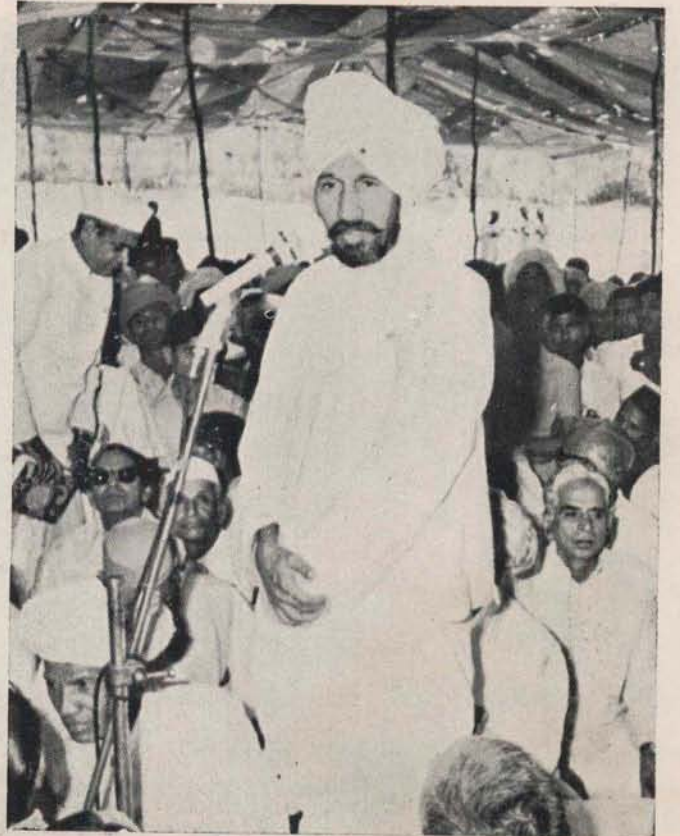
'मेवाड़ संघ शिरोमणि' के पद से अलंकृत कर पूज्य मरुधरकेसरी जी म० ने गुरुदेव श्री अम्बालाल जी म० को अभिनन्दन चादर ओढ़ाई



न्यायमूर्ति श्रीमान चांदमल जी लोढ़ा का स्वागत करते हुए श्रीमान भूरालाल जी सूर्या



समारोह के अध्यक्ष श्री ओंकारलाल जी सेठिया (सनवाड़) का स्वागत करते हुए समारोह समिति के अध्यक्ष श्री सूर्या साहब



श्रीयुत सेठ हस्तिमल जी मुणोत गुरु-अभिनन्दन पूर्वक अपना प्रेरक भाषण करते हुए ।



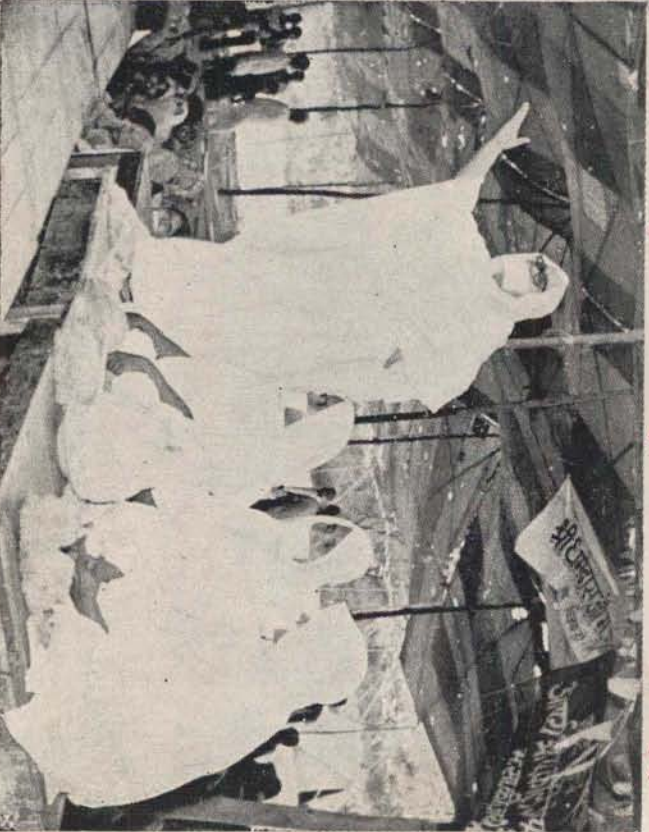
श्री मूल मुनि जी महाराज गुरुदेव श्री का हादिक अभिनन्दन करते हुए ।



गुरुदेव के चरणों में श्रद्धाभिव्यक्तन स्वरूप श्री मदन मुनि जी 'पश्चिम' ने भावांजलि भेंट की ।



समारोह के प्र रणा खेत श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' पधारे हुए मुनिराज और महासती जी का हादिक स्वागत करते हुए समाज को प्र रक सन्देश दे रहे हैं ।



विशाल महिला सम्मेलन को सम्बोधित करती हुई धर्म प्रभाविका परमविदुषी महासती श्री प्रेमवती जी ।

पं० रत्न मुनि श्री कन्हैयालाल जी 'कमल' का वक्तव्य

आप और हम आज एक महान् सन्त का अभिनन्दन कर रहे हैं। उस सन्त पुरुष का नाम है, अम्बालाल जी महाराज।

महाराज श्री के नाम में दो शब्द हैं अम्बा और लाल। अम्बा माता का सूचक है। सारे जगत की माता को जगदम्बा कहते हैं। हाँ तो, अम्बा का अर्थ माँ ही है और इसके बाद जो शब्द है लाल; यदि माँ के साथ इसे जोड़कर बोले तो "माँ का लाल" यह वाक्य बनेगा।

हमारे यहाँ एक वाक्य है, "है कोई माँ का लाल" जो यह कार्य करे। जो भी हिम्मत, बहादुरी का बड़ा कार्य होता है, उसे करने वाला कोई माँ का लाल होता है। तो हमारे प्रवर्तक श्री माँ का लाल हैं। पिछले पचास वर्षों से यह माँ का लाल संयम के पवित्र-पथ पर बड़ी दृढ़ता के साथ बढ़ता चला आया।

आप सभी यहाँ अभिनन्दन करने आये हैं किन्तु "है कोई माँ का लाल" जो इनके जैसा शुद्ध संयम धारण कर सच्चा अभिनन्दन करे।

प्रत्येक मुनि माँ का लाल होता है। कोई कहे आपने माँ का त्याग कर दिया, अब आपके कौन सी माँ है? तो इस पर भी थोड़ा विचार कर लेते हैं।

मुनि एक माँ को छोड़ता है किन्तु वह कई माताओं का लाल हो जाता है। जैन शास्त्रानुसार "अट्टपवयण-माउण" अर्थात् पाँच समिति और तीन गुप्ति इस तरह इन आठों को प्रवचन मातृ कहा है।

आप समझ गये होंगे कि मुनि के आठ माताएँ होती हैं।

हमारे प्रवर्तक श्री भी आठ माताओं के लाल हैं अतः इनका 'अम्बालाल' नाम बहुत ही सार्थक है।

अन्त में हम हार्दिक श्रद्धापूर्वक आपका अभिनन्दन करते हुए आपके चिरायु होने की मंगल कामना करते हैं।

☆

मधुरवक्ता श्री मूल मुनिजी महाराज का वक्तव्य

भाइयो! नदी का एक रूप है अपनी सीमा में बहना, मधुर-मधुर बहती नदी आसपास के किनारों को हरा-भरा कर देती है, किनारे बसे गाँवों को नवजीवन प्रदान करती है।

नदी का एक दूसरा रूप भी है, जिसे बाढ़ आना कहते हैं, जब नदी अपनी मर्यादा का उल्लंघन कर बहने लगती है तो वह अपनी सुन्दरता भी नष्ट कर देती है और आसपास के खेतों, खलिहानों को वरबाद कर दिया करती है। यह नदी का विकृत तथा भयंकर रूप है।

मानव भी अपने जीवन में दो तरह से बहते हैं, नदी की तरह। कुछ मर्यादाहीन उदंड बनकर अपने आपको और समाज को विकृत किया करते हैं। कुछ सज्जन ऐसे होते हैं जो अपने जीवन में नदी के प्रथम रूप की तरह मर्यादित रूपेण चला करते हैं। वे स्व और पर का कल्याण किया करते हैं। सत्पुरुषों का यही रूप होता है।

आज यहाँ पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज के अभिनन्दन हेतु आप और हम उपस्थित हैं। इस महा-पुरुष के जीवन में नदी का प्रथम रूप देखा जा सकता है। ये पिछले पचास वर्ष से स्व, पर के कल्याण स्वरूप, संयमी जीवन धारण कर भूमंडल पर विचरण कर रहे हैं।

सरलता, मधुरता तथा संयम के साक्षात् प्रतीक प्रवर्तक श्री का हम हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

प्रवर्तक श्री जैसे गुणवान मुनिराजों के पवित्र सानिध्य में श्रमण संघ गौरवान्वित और जयवन्त है।

प्रवर्तक श्री दीर्घायु होकर अपनी संयम की प्रभा से भव्यों के जीवन को आलोकित करें इसी शुभकामना के साथ।.....

☆



श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' का अभिभाषण

परम पूजनीय श्री मरुधर केसरी जी महाराज माहब, परम पूजनीय गुरुदेव श्री अम्बालालजी महाराज साहब, पं० रत्न श्री हीरा मुनिजी महाराज, पं० प्रवर श्री 'कमल' जी महाराज, मधुर वक्ता श्री मूल मुनिजी महाराज, घोर तपस्वी श्री रूप मुनिजी महाराज अन्य साथी मुनिराज, आदरणीय महासती वृन्द, उपस्थित भाइयों और बहनों !

आज कोशीखल नगर के इस शानदार प्रांगण में, पूज्य गुरुदेव श्री के अभिनन्दन समारोह को समलंकृत करने हेतु मेवाड़, मारवाड़ और मालवा से उग्र विहार कर पधारें हुए पूजनीय मुनिगण और आदरणीय महासती वृन्द का हार्दिक स्वागत करते हुए हम असीम हर्षानन्द का अनुभव कर रहे हैं ।

सन्त सतीजी ने पधार कर बड़ी कृपा की, हम आपके आभारी हैं ।

मेवाड़ की श्रद्धालु जनता को आपने दर्शन दिये, यह धरती धन्य हो गई ।

मेवाड़ धर्म भूमि है, वीर भूमि है, इसके कण-कण में ओज है, तेज है, इस भूमि की मिट्टी वह है जिसने दिल्ली के तख्त से सदियों तक टक्कर ली ।

मेवाड़ ने राष्ट्र और समाज को अनेक रत्न दिये । यह वीर प्रसूः है । यहाँ कर्मवीर ही नहीं धर्मवीर भी आला दर्जे के हुए हैं ।

सभी धर्म और सम्प्रदायों मेवाड़ के किसी न किसी महापुरुष से अवश्य गौरवान्वित हैं ।

जैन धर्म को ही ले लीजिये, पूज्यश्री रोड़जी स्वामी और मानजी स्वामी पर किस जैन को गर्व नहीं होगा ।

मेवाड़ का राजस्थान ही नहीं भारत में एक गौरवपूर्ण स्थान है यह गौरव निरन्तर आन धान और शान की रक्षा कर प्राप्त किया है ।

हमारा इतिहास बताता है कि हम संकटों और विपत्तियों को हँसते हुए सह गये किन्तु हमने अन्याय, अधर्म और चापलूसी के साथ कभी समझौता नहीं किया ।

आज फिर युग चेतना का आह्वान है कि हमारा समाज पुनः वही तेज लेकर खड़ा हो । हमें किसी पर न हमला करना है और न तलवार ताननी है, हमें उन कुरुड़ियों का खात्मा करना है, जिनसे समाज ध्वस्त और लोखला होता जा रहा है ।

तिलक, दहेज और मृत्यु-भोज जैसी अनावश्यक प्रथाओं से समाज को मुक्त करना है । आप यहाँ हजारों की संख्या में उपस्थित हैं यदि आप सभी बड़ी दृढ़ता के साथ कह दें कि हमने इन कुरुड़ियों का काला मुँह कर दिया है तो, मैं समझता हूँ मेवाड़ में इन बुराइयों को टिकने को कहीं जगह नहीं मिलेगी ।^१

बड़ी खुशी की बात है, आप बड़ी दृढ़ता के साथ बुराइयों के विरुद्ध खड़े हो रहे हैं ।

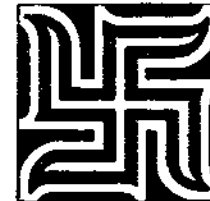
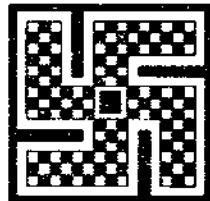
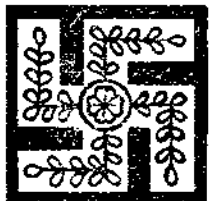
हम आज जिस महापुरुष का अभिनन्दन कर रहे हैं, इन्होंने हमें यही सिखाया कि हम बुराइयों से लड़ें । इनका स्वयं का जीवन इस विशेषता से ओत-प्रोत है ।

मैं बहुत बचपन से गुरुदेव के चरणों में पहुँचा । अब तक मैंने इन्हें जिस तरह पाया वह सब कुछ यहाँ बता दूँ ऐसा सम्भव नहीं, किन्तु संक्षिप्त में मैं यह बताना चाहूँगा कि जीवन एक कला है इसे सीखना और पाना होता है । गुरु देव श्री उस कला को पाये और बड़ी सरलता के साथ ।

त्याग, तप, संयम और शालीनता की प्रतिमूर्ति गुरुदेव लाखों के श्रद्धा केन्द्र हैं यह कहने की आवश्यकता नहीं, प्रत्येक दर्शक इसे यहाँ प्रत्यक्ष देख रहा है ।

अभिनन्दन समारोह और ग्रन्थ समर्पण की विशाल योजना जब मैंने मेवाड़ की गुरुभक्त जनता के समक्ष रखी तो, जनता ने इतने उत्साह के साथ इसे लिया कि मैं स्वयं हर्ष से ओत-प्रोत हो गया ।

१ मुनि श्री के ओजस्वी आह्वान पर हजारों हाथ खड़े हो गये और कुरुड़ियों के विरोध में पांडाल गूँज उठा ।



ग्रन्थ निर्माण और प्रकाशन से लेकर समारोह तक हजारों कार्यकर्ता जिस तरह जुटे रहे और अहनिश श्रम करते रहे यह हमारे लिए बड़े सात्विक आनन्द का विषय है।

इस अवसर पर मैं श्री रूप मुनि जी महाराज 'रजत' को हार्दिक धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता, जो समारोह के तीन सप्ताह पूर्व ही इधर हमसे आ मिले और बड़ी लगन तथा तत्परता के साथ अपनी महत्त्वपूर्ण सेवाएँ दीं।

श्रावक संघ कोशीथल की महान् सेवाओं का मैं क्या उल्लेख करूँ। आज इसने जैन संघों के इतिहास में अपना महत्त्वपूर्ण स्थान बना लिया है।

अन्त में पूज्य गुरुदेव श्री का हमें दीर्घकाल तक मंगल सानिध्य प्राप्त हो इसी शुभ भावना के साथ सभी पूज्य मुनिराज और महासती जी का एक बार और हार्दिक स्वागत करता हुआ अपनी बात पूर्ण करता हूँ।

☆

प्रखरवक्ता श्री रूप मुनि जी 'रजत' का ओजस्वी वक्तव्य

आज कोशीथल का आंगण में सारी चीजें हैं। धर्म नेता और राज नेता दोई अठे हैं। एक खाद्यमन्त्री है एक प्रकाश करने वाला है। मुनिराज भी आत्मा री खुराक दे और अन्तर रो प्रकाश करे।

बाह्य और आध्यात्मिक दोनों बातों री पूर्ति कोशीथल में है। बाह्य से सम्बन्ध संसार सूँ है अन्तर को सम्बन्ध आत्मा सूँ है। या आध्यात्मिक उत्सव है। प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज को अभिनन्दन यो संयम, तप, और साधना को अभिनन्दन है। इण अवसर पे कोई न कोई उद्योत होणो चहिजे।

पूज्य मरुधर केसरी जी महाराज भी अठे आयोड़ा है, ए सच्चा केसरी है। ये मारवाड़ सूँ आया है, मेवाड़ मारवाड़ एक है। अब तो राजस्थान बणगयो की भेद नी है। सबने एक जुट वण समाज रो उत्थान करणे रे वास्ते आगे आणो है।

म्हाणे मित्र मुनि 'श्री कुमुद' जी रे आह्वान पे अभी तिलक, दहेज और मृत्यु भोज रे खिलाफ हाथ खड़ा किया पिण, इणां में पागड़ियां वाला हाथ कम खड़ा किया है।

इणां रे आगे आया बिना काम चलेला नहीं। माल ताल रूपचन्दजी सब पागड़ियां वालां रे हाथ में है।

उगाड़ा माथा वाला रा हाथ में की नी है। सब एक साथ मिल काम करणे रे वास्ते आगे आओ तो नियम पार पड़े ला।

प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज धर्म रा धोरी, श्रमण संघ का प्यारा ने मेवाड़ रा दुल्हारा है।

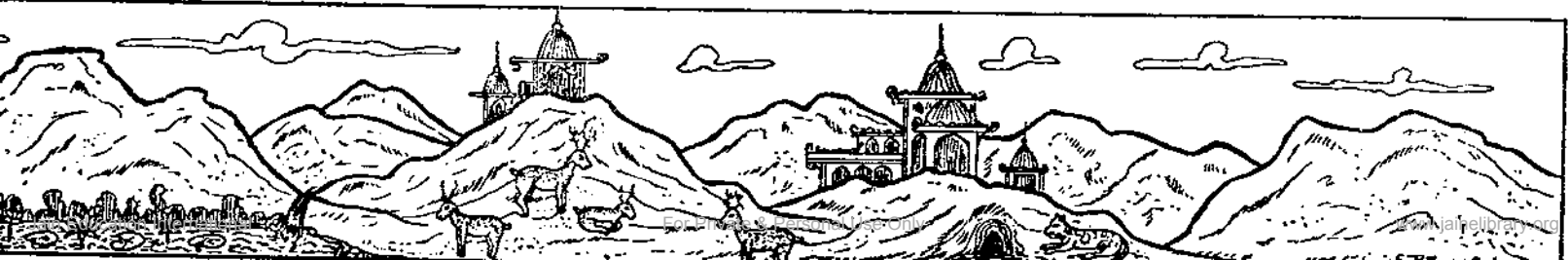
आप लोग अपने गुरु रो अभिनन्दन करियो, या श्रेष्ठ बात है। अपने गुरु रो, अपने बड़ेरा रो, अपने माता-पिता रो, आदरं करणो यो सपूत पणो है।

आज कोशीथल रा कण-कण में गुरु अभिनन्दन री चमक है। आप सब के साथ मैं भी इण महान् आत्मा रो हार्दिक अभिनन्दन करूँ।

प्रवर्तक श्री अम्बालालजी महाराज अत्यन्त सरल है, मेवाड़ तो सरल नी है पर, मेवाड़ का गुरु सरल है। इण रा नेतृत्व सूँ मेवाड़ रो नाम और ऊँचो उठियो।

अन्त में इणां रा दीर्घ-जीवन री मंगल कामना रे साथ मैं अपना प्रवचन पूरो करूँ।

☆



प्रवर्तक श्री के शिष्य रत्न श्री मदन मुनि जी 'पथिक' का श्रद्धा-समर्पण

हम आज अपने पूज्य गुरुदेव श्री का अभिनन्दन करते हुए अतीव प्रसन्नता का अनुभव कर रहे हैं। प्रस्तुत अभिनन्दन समायोजन का मूल वह श्रद्धा है, जो श्रद्धेय के चरणों में हमारे मन को समर्पित करती है। एक वाक्य है 'यो यच्छ्रद्धः सः एव सः' अर्थात् जो जिसकी श्रद्धा करता है वह वंसा ही हो जाता है। श्रद्धा वह तत्त्व है जो जीवन को तदनुरूप बना देती है।

श्रद्धा एक आन्तरिक बल है। मानव-जीवन आँधी और तूफानों का केवल श्रद्धा के बल पर सामना कर सकता है।

पूज्य गुरुदेव श्री के प्रति हमारी श्रद्धा ने हमको बदला।

गुरुदेव श्री के जीवन में एक निर्माणात्मक ऊर्जा है। ये स्वयं बने हैं, इनके निकट में आने वाले प्रत्येक को ये बनाया करते हैं इनसे हजारों बने हैं, उनमें से एक मैं भी हूँ।

कोई किसी के मन में अपने प्रति श्रद्धा खड़ी नहीं करवा सकता, श्रद्धा तो सहज बनती है।

कोई फूल भ्रमर को बुलाता नहीं है, आकर्षण होता है सुगन्ध का, भ्रमर दौड़ा जाता है।

आज आप हजारों यहाँ उपस्थित हैं आपको यहाँ कौन खींच लाया ?

गुरुदेव श्री का श्रेष्ठ ज्ञान, दर्शन, चारित्र्य यही वह तत्त्व है जो आपको यहाँ तक लाया है।

गुरुदेव श्री सरल सात्विक और साधना प्रिय जीवन के धनी हैं।

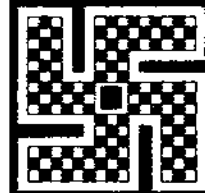
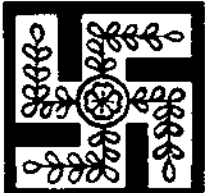
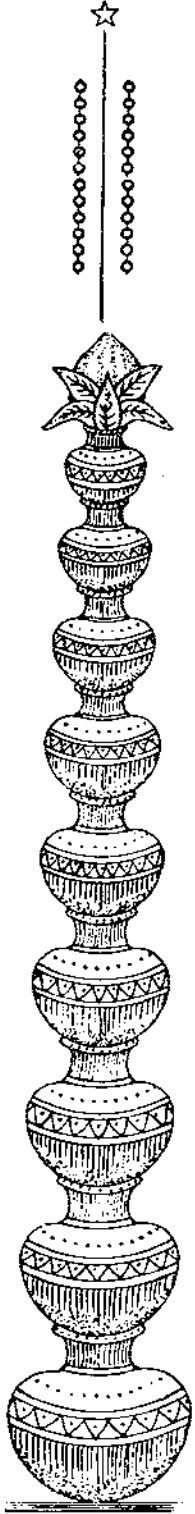
इस वार्धक्य पूर्ण वय में भी कभी बिना किसी बहुत बड़े कारण के दिन में नहीं सोते।

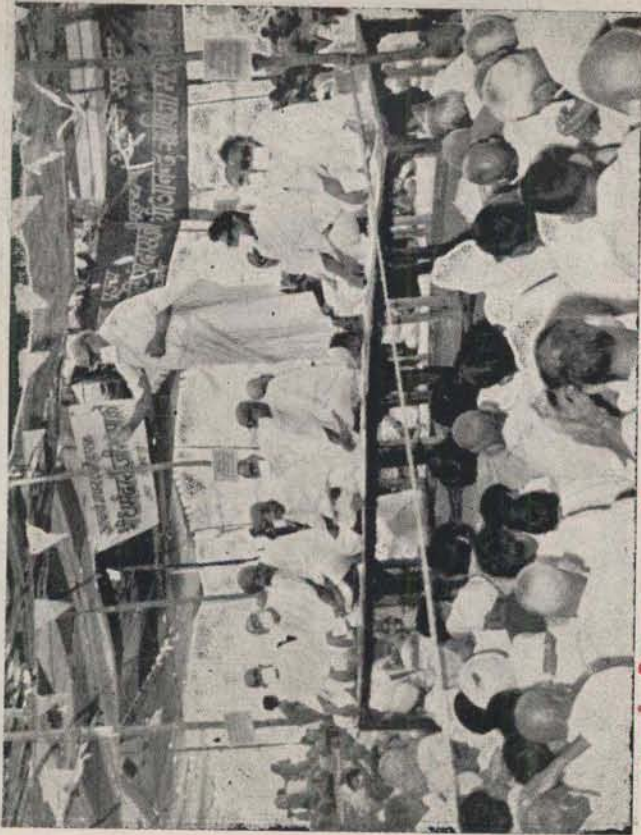
ये बड़े भजनानन्दी हैं, रात्रि को देर तक और प्रातः बहुत पहले ये स्मरण करते और ध्यान करते मिलेंगे। ऋजुता इनके जीवन के रग-रग में व्याप्त है।

आचारांग सूत्र की भाषा में "जहा पृष्णस्स कथ्यइ तथा तुच्छस्स कथ्यइ" के अनुसार ये अभेद भाव से धनिक और रंक सभी को उपदेश दिया करते हैं। इनका सभी पर समान वात्सल्य भाव है। मैं अधिक क्या कहूँ, जो भी इनके निकट आया है वह प्रत्येक व्यक्ति इनके जीवन की श्रेष्ठता से तुरन्त परिचित हो जाता है।

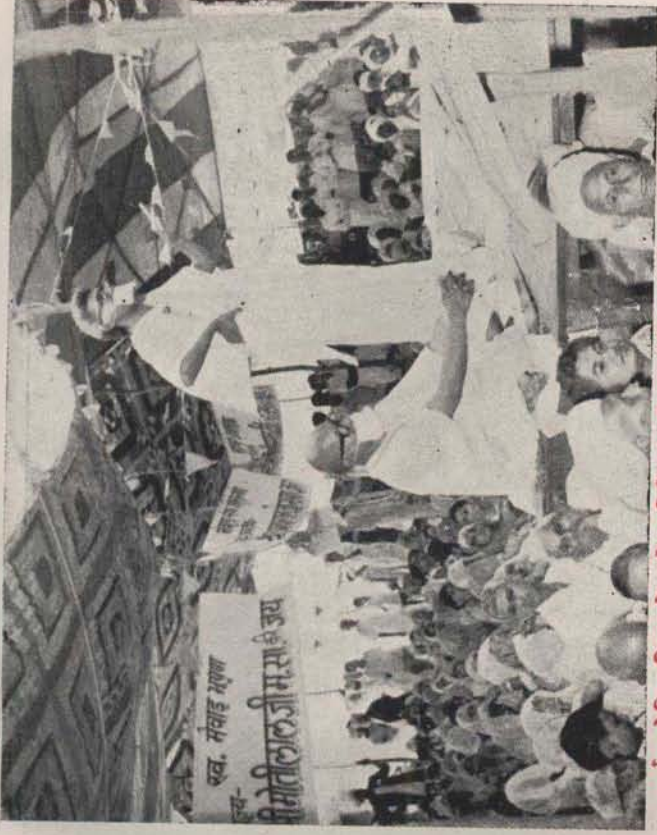
हम धन्य हैं कि हमें इन चरणों की सेवा प्राप्त है।

सम्पूर्ण हार्दिक श्रद्धा के साथ अभिनन्दन करता हुआ मैं अपना स्थान ग्रहण करता हूँ।





भावपूर्ण अभिनन्दन वस्तुव्य देते हुए घोरतपस्वी श्री रूप मुनि जी 'रजत'



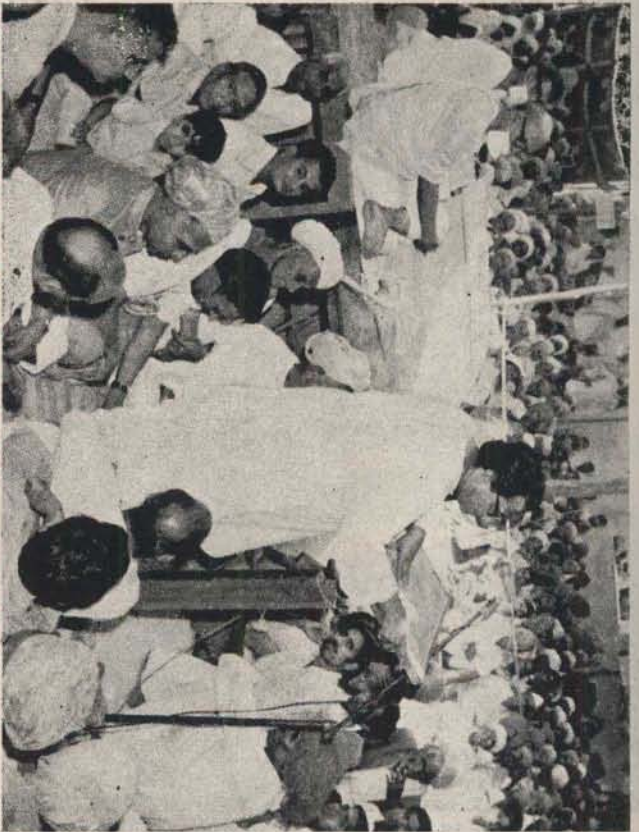
धर्म ज्योति परिषद के खुले अधिवेशन को सम्बोधित करते हुए प्रवचन-श्रवण श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' निकट में श्री रूप मुनि जी 'रजत' विराजित हैं।



महिला सम्मेलन में अपने क्रांतिकारी विचार प्रकट करती हुई उद्घाटन कर्तृ, श्रीमती कमला बहन (माता जी)



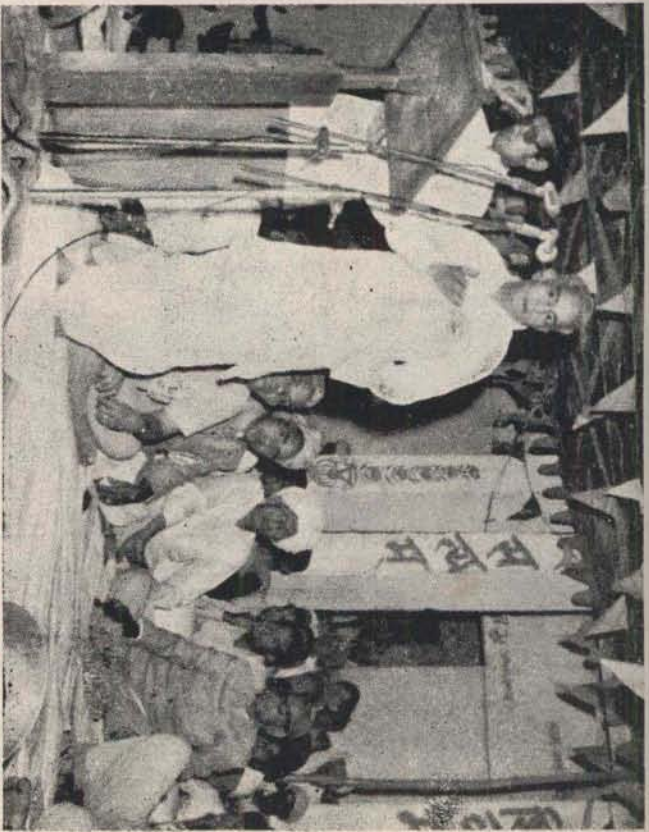
अभिनन्दन समारोह के अध्यक्ष दानवीर सेठ ओंकारलाल जी सेठिया अध्यक्षीय भाषण दे रहे हैं।



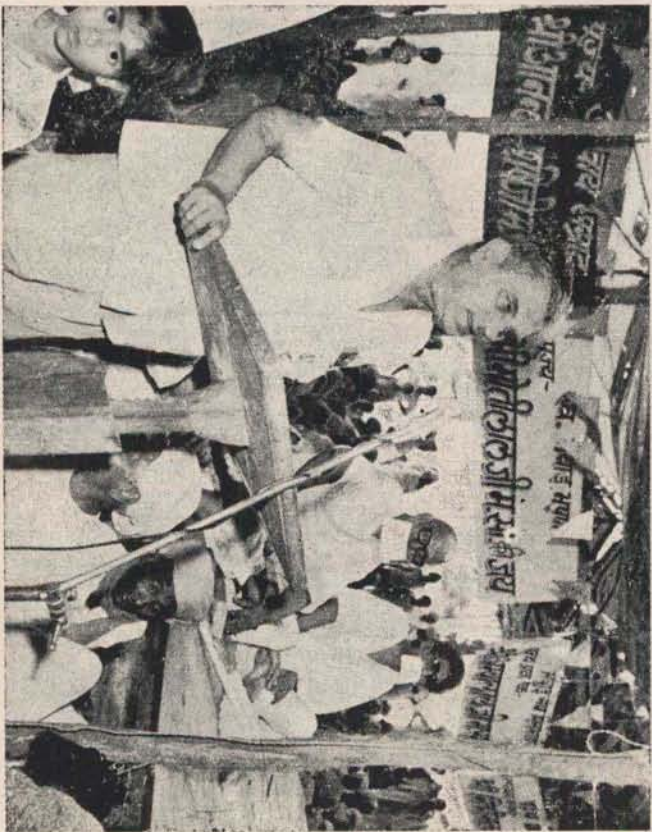
खुले अधिवेशन को अपने क्रांतिकारी विचारों से झंकृत करने वाले पू० पू० संसद सदस्य श्रीमान ओंकारलाल जी बोहरा



“धर्म ज्योति परिषद भेदाद का कल्प वृक्ष है इसमें मौचां”
खुले अधिवेशन को प्रेरित करते हुए श्रीमान मदनलाल जी पीतलया (मुनिसिफ मलिस्ट्रेट)



बारे और स्पष्टवक्ता श्रीगुरु यशवन्तसिंह जी नाहर, युवक सम्मेलन को सम्बोधित कर रहे हैं।
निकट बाड़े हैं युवक सम्मेलन के संयोजक, समारोह समिति के मंत्री श्री रोषनलाल जी पगारिया



धर्म ज्योति परिषद के खुले अधिवेशन में समाधान के स्वर में बोलते हुए श्रीमान वीसूलाल जी कोठारी

उद्घाटन कर्ता—

श्रीयुत शिवचरण जी माथुर खाद्यमंत्री, (राजस्थान) का उद्घाटन भाषण

□

उपस्थित पूज्य मुनिराज, सज्जनो और देवियों !

आज का दिन भीलवाड़ा के कोशीयल ग्राम के लिए एक ऐतिहासिक दिन है। यह सारे जैन समाज का ही नहीं सारी जनता का सौभाग्य है कि आज ऐसे पवित्र कार्य के लिए यहाँ आप और हम एकत्रित हुए हैं।

हम एक महान् संत श्री अम्बालाल जी महाराज की तपस्या के पचास वर्ष पूरे होने पर उनकी तपस्या की स्वर्ण जयन्ति मनाने के लिए यहाँ एकत्रित हुए हैं।

वैसे किसी व्यक्ति की उम्र अगर बढ़ती है तो एक तरह से ऐसा माना जाता है कि उसकी शक्ति का ह्रास होता है, लेकिन यदि कोई व्यक्ति अपने जीवन में त्याग, तपस्या और बलिदान के आधार पर समाज में पूजनीय होता है तो मैं समझता हूँ कि जीवन का महत्त्वपूर्ण अंग है।

पचास वर्ष निरन्तर तपस्या के एकनिष्ठ साधना के किसी व्यक्ति के जीवन में हो तो अपने आप में महत्त्वपूर्ण उपलब्धि कही जा सकती है। और जैन समुदाय के जो सन्त हैं, उनमें साधना और तपस्या को बड़ा महत्त्व दिया गया है। अनेकों बार इन सन्तों के दर्शन करने का सौभाग्य मुझे मिला और मैंने इस बात को पाया कि जीवन के उच्च आदर्श स्थापित करते हुए समाज को प्रभावित करने का जो उच्च आदर्श हमारे सन्त परम्परा के लोगों ने इस देश में स्थापित किया है, यह सबसे महत्त्वपूर्ण बात है।

आज कोई राजनैतिक नेता या सामाजिक नेता समाज-सुधार या परिवर्तन की कोई बात कहता है तो, वह अच्छा समझा जाता है, किन्तु एक ऐसा व्यक्ति जिसको अपना कोई मोह नहीं हो, समाज के हित के लिए कुछ कहे तो उसका बड़ा व्यापक महत्त्व होता है। मैं इस बात को महसूस करता हूँ कि समाज के उत्थान के बारे में हमारे सन्त कोई भी बात कहें, छोटी या बड़ी, उसका समाज में बड़ा व्यापक असर पड़ता है।

हमारा देश जिसने हमेशा संस्कृति के मामले में धर्म के आचरण के मामले में, व्यक्तिगत आचरण के मामले में न केवल देश के रहने वालों को बल्कि संसार को एक मार्ग-दर्शन किया है।

जब-जब भी संसार के लोग भटकते हैं, अपनी राह से रास्ता भूलते हैं उस समय सभी लोग हिन्दुस्तान की ओर देखते हैं।

हमारे जीवन-दर्शन में सम्यक्जीवन, सम्यक्वाणी और सम्यक्चारित्र्य को बड़ा महत्त्व दिया गया है।



कोई व्यक्ति चक्रवर्ति भी बन जाय, तो हमारे इतिहास में याद नहीं किया जाता, किन्तु हमारे त्यागी साधु-सन्त जिन्होंने अपने जीवन को देश व समाज के हित में दे दिया, व्रत में लगा दिया, उसे उसके जीवन के बाद भी हमारा देश और समाज याद करता है। पीढ़ी-दर-पीढ़ी हमारे यहाँ सन्त पूजा जाता है।

हमारे यहाँ सन्तों का जीवन बहुत ऊँचा होता है, किन्तु हमें उनसे जो सुनने को मिलता है, हम जो उनका चरित्र देखते हैं, हम कितना उनका अनुकरण कर पाते हैं ?

मैं एक विनम्र निवेदन करना चाहता हूँ कि हमारे सन्तों ने कहा, सभी को जीने का अधिकार है, हम भी जिएँ पड़ोसी भी जिएँ यह एक बहुत उत्तम सिद्धान्त है, किन्तु मैं समझता हूँ कि हम इसे अभी तक अपना नहीं सके।

यदि आप और हम दूसरों की जिन्दगी खराब करके आराम की जिन्दगी बिताने की कोशिश करें तो मैं मानता हूँ कि समाज में एक दिन संघर्ष उपस्थित हो जाएगा और समाज टूटेगा।

इतिहास को उठाकर देखिये, वही समाज श्रेष्ठ रहा। जहाँ व्यक्ति स्वयं अपने तक ही नहीं प्रत्येक व्यक्ति के हित को भी सोचता है, राष्ट्र के हित का चिन्तन करता है।

युग का निर्माण समाज करता है। समाज व्यक्ति बनाता है।

आज के सन्दर्भ में किसी भी पहलू से सोचें बहुत-सी विकृतियों का मूल कारण व्यक्ति का स्वयनिष्ठ होना है। स्वयनिष्ठ होना ही स्वार्थ है, स्वार्थ के परित्याग के लिए हमारे मुनि कई बार कहते हैं। मैं कई बार जैन मुनियों के प्रवचनों को सुनता हूँ, वे बहुत कुछ कहते हैं और साफ-साफ कहते हैं। किन्तु समाज कितना बदल रहा है, यह हमें गहराई से सोचना चाहिए।

एक महापुरुष की स्वर्ण जयन्ति मनाने को आप और हम यहाँ उपस्थित हैं इस अवसर पर यह प्रतिज्ञा करके उठना चाहिए कि सम्यक् भाव, सम्यक् वाणी और सम्यक् आचार बनाने का प्रयत्न करेंगे।

आज आप और हम एक स्वतन्त्र देश के नागरिक हैं। आजादी से पूर्व तो हम आजाद होने के लिए पूज्य गांधीजी के नेतृत्व में लड़ते रहे और जब आजाद हो गये तो, हमने गरीबों को ऊपर उठाने की नीति घोषित की थी गरीबी हमारे देश का अभिशाप है किन्तु गरीबी कोई पुराना कपड़ा तो नहीं, जिसे उतार दिया जाए और नया धारण कर लिया जाए।

गरीबी से समृद्धि तक की यात्रा एक कठिन यात्रा है, श्रम और सहयोग से ही हम इस यात्रा को तय कर सकेंगे। गरीब को ऊँचा उठाने के लिए बढ़े हुए लोगों को कुछ नीचे लाना होगा, तभी गरीब ऊँचा उठ सकेगा।

पिछले सत्ताइस-अट्ठाइस वर्ष से सरकार ने कई बड़े कार्य किये, फिर भी हर व्यक्ति हकूमत से बहुत कुछ चाहता है, इस पर वाद-विवाद चलता है। हमारे यहाँ प्रजातन्त्र है सभी के विचारों का महत्त्व है किन्तु साथ में यह भी सोचना आवश्यक है कि देश की वर्तमान परिस्थितियों के सन्दर्भ में हमारा क्या कर्त्तव्य है।

जब स्वतन्त्र देश का नागरिक अपनी जिम्मेदारियों को भूलने लगता है, देश और सरकार के सामने बड़ी कठिनाई पैदा हो जाती है ऐसे ही कुछ कठिन दौर से आजकल हम गुजर रहे हैं।

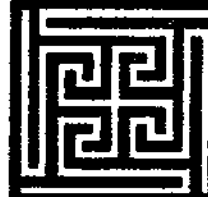
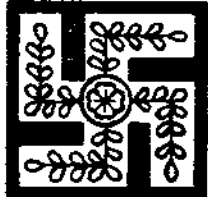
आज सबसे बड़ी आवश्यकता आत्म-निरीक्षण की है।

आप अधिकतर व्यापारी हैं और मेरा विभाग व्यापारियों से सम्बन्ध रखता है। आज फसलें अच्छी हैं सब कुछ ठीक है, किन्तु साल भर पूर्व क्या स्थिति थी ! आप सभी जानते हैं, बड़ा अभाव था किन्तु व्यापारी वर्ग ने उस समय कितना सहयोग किया ? कठिनाई की घड़ियों में देश की मदद नहीं करे वह देश का बफादार नहीं है।

मैं निश्चित रूप से कह सकता हूँ कि यदि मेरे पास एक रोटी है, उसमें से एक टुकड़ा पड़ोसी को देकर जिन्दा रख दूँ यदि ऐसी भावना बन जाए तो देश की सारी कठिनाइयाँ एक प्रकार से समाप्त हो गईं।

व्यापार करना बुरी बात नहीं, कोई पैदा करता है, कोई वितरण करता है किन्तु उसमें ईमानदारी हो, इस तरह व्यापारी कमाई भी कर सकता है और देश सेवा भी।

हमारे देश की प्रधानमन्त्री जोकि साठ करोड़ जनता की ही नहीं विकासोन्मुख सभी राष्ट्रों की नेता है,



उन्होंने देश के आत्म-सम्मान को बनाये रखने और इसे कठिनाइयों से बाहर लाने को कुछ कदम अब उठाये हैं हमें उन्हें अपने स्तर पर अपना कर उनको सफल बनाने का प्रयास करना चाहिए।

हमारे देश का आदर्श महान् है। ऐसा और कौन देश होगा जो एक अन्य प्रताड़ित देश को अपनी सेना द्वारा आजाद करा कर वहाँ की जनता को सौंप दे। भारत ने ऐसे आदर्श उपस्थित किये हैं जो अन्यत्र दुर्लभ हैं।

ऐसे देश के नागरिक संयम और जिम्मेदारी से चलें तभी वह देश अपने महत्त्व को बनाये रख सकता है।

अभी कुछ समय पूर्व देश के सामने कठिन परिस्थिति पैदा कर दी गई, जनता का मनोबल क्षीण होने लगा तो हमारी प्रधानमन्त्री ने समय पर उचित कदम उठाकर देश को अस्त-व्यस्त होने से बचा लिया। आपात स्थिति से देश में एक नयी जिम्मेदारी का वातावरण बना और आज देश में सर्वत्र शान्ति से सारे कार्य ठीक चल रहे हैं।

हमारा देश संतों और भक्तों की भूमि है, बड़े-बड़े संतों ने हमारे देश को गौरवान्वित किया है। इसमें कोई शक नहीं कि कई देश हमसे ज्यादा सम्पन्न हैं, भौतिकता की दृष्टि से, किन्तु हमारे पास जो अध्यात्मिक धन है उसकी तुलना में उनके पास कुछ भी नहीं है। सारे विश्व को सभ्यता का पहला पाठ भारत ने सिखाया।

भारत को सर्वाधिक गौरव उस महान् संत परम्परा का है, जो सब कुछ त्यागकर भक्ति में और सेवा में जुटे हुए हैं।

यहाँ जो मरुधर केसरी मिश्रीमल जी महाराज पधारे हुए हैं मैंने इनके कई बार उपदेश सुने, मैंने देखा कि ये बड़ी से बड़ी बात साफ-साफ कह देंगे और इनके इशारे मात्र से बड़े-बड़े कार्य सम्पन्न हो जाते हैं, यह संतों की आन्तरिक शक्ति है, यह संयम और साधना का बल है।

आज हम इस समारोह में संत का अभिनन्दन कर एक नयी जिम्मेदारी ले रहे हैं उनके उपदेशों पर चलने की।

इतना बड़ा समारोह तभी सफल होगा जब हम वास्तव में कुछ लेकर जाएँ ऐसी प्रतिज्ञा, जो समाज को नयी दिशा दे।

सत्य एक होता है, उसके कई रूप होते हैं, जितने भी धर्म है उनमें एक ही सत्य विविध रूप में रहा हुआ है अतः जैन, वैष्णव, बौद्ध, ईसाई, मुसलमान सभी में जो अच्छाइयाँ हैं वे एक हैं।

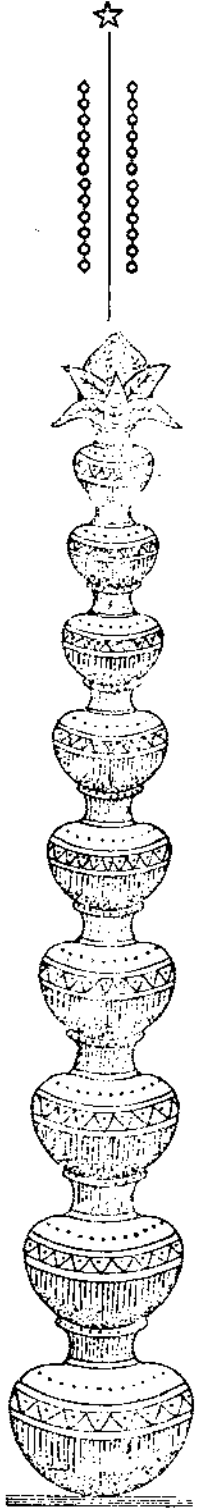
हम जिस महात्मा का सम्मान कर रहे हैं वह जैनधर्म की नहीं, मानवता की निधि है संत सभी का होता है। हमें असांभ्रदायिक रूप से सत्य और गुणों को स्वीकार करना चाहिए।

अन्त में मैं पूज्यनीय श्री अम्बालाल जी महाराज का हार्दिक अभिनन्दन करना हुआ श्रद्धाञ्जली अर्पित करता हूँ और इनके दीर्घ जीवन की मंगल कामना करता हूँ।



☆





विशिष्ट अतिथि—

श्री हीरालाल जी देपुरा, विद्युतमंत्री (राजस्थान) का अभिभाषण

पूज्य मुनिवृन्द, माइयो और बहनो !

आज के इस पावन अवसर पर आपने जो मुझे याद किया, मैं आपका बहुत आभार मानता हूँ। पूज्य श्री की तपस्या की स्वर्ण जयन्ति के अवसर पर मैं भी उपस्थित हुआ। महान संतों के जीवन का, उनकी तपस्या का अभिनन्दन तो उसी दिन हो गया जिस दिन श्री अम्बालाल जी महाराज की दीक्षा हुई।

पिछले पचास वर्ष से लगातार एक तपस्वी जीवन बिताना आप जैसे महर्षियों से ही संभव है। जो उपदेश सन्त देते हैं, उसे पहले वे अपने जीवन में उतारते हैं तभी उनके उपदेशों का समाज पर बड़ा असर होता है।

महाराज साहब श्री अम्बालाल जी समाज का मार्गदर्शन करते हुए समाज का निर्माण करते हुए आधी शताब्दी पार कर गये, यह केवल आपके लिए ही नहीं, ऐसे महान सन्त से हम और हमारा समाज भी कम गौरवान्वित नहीं होता है।

हमारे देश की जो संस्कृति है उसमें त्याग तप की ज्योतियाँ हैं यही कारण है कि सारा विश्व इस संस्कृति को महत्त्वपूर्ण स्वीकार करता है।

कोई चीज महत्त्वपूर्ण होती है तो उसकी सुरक्षा उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाती है।

हमारी जो संस्कृति है उसकी सुरक्षा करना एक बड़ा कार्य है और यह हमारा नैतिक दायित्व है कि हम उस संस्कृति के मौलिक तत्वों की सुरक्षा करें।

हमारी जो धार्मिक परम्पराएँ हैं कि उस सन्दर्भ में हमें सोचना है, हम मुनियों के पास चले जाते हैं, मन्दिरों में चले जाते हैं किन्तु हमारी क्या जिम्मेदारी है यह भी हमें सोचना चाहिए। गुरुओं के प्रवचन सुनते हैं उनके सूत्र हम पढ़ते हैं; लेकिन आज से पहले जो गलत कार्य किये, यदि उन्हें नहीं छोड़ पाये तो और जीवन में नया अध्याय प्रारम्भ नहीं कर सकें तो हमारी कितनी सार्थकता है यह सोचना चाहिए।

जीवन में परिवर्तन दृढ़ निश्चय के बिना संभव नहीं, व्यक्ति समाज का निर्माता है अतः प्रत्येक व्यक्ति दृढ़ निश्चय पूर्वक आगे बढ़े तो नव युग का निर्माण हो सकता है।

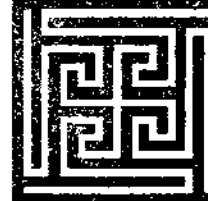
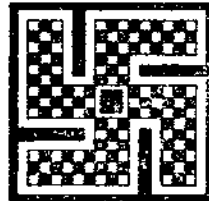
हमारे अनेक कष्टों का कारण हमारा गलत मूल्यांकन है। हमारे यहाँ जो धन की प्रतिष्ठा होती जा रही है वह अनेक पतन का मूल है। धन के स्थान पर हमें धर्म की प्रतिष्ठा देनी होगी। बड़ी प्रसन्नता है आज कि हम एक धर्म के प्रतिनिधि का अभिनन्दन कर रहे हैं। ऐसे आयोजन धन के स्थान पर गुणों की प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं।

भगवान महावीर ने पाँच महाव्रत बनाये और हम उनकी बड़ी चर्चाएँ भी करते हैं किन्तु वास्तविक जीवन में हम उन्हें कितना स्थान दे पाये यह विचारणीय है।

अनैतिकता से कमाये धन ने हममें, कई कुरीतियाँ पैदा कर दी है यदि वास्तव में स्वस्थ समाज का निर्माण करना है तो प्रत्येक व्यक्ति को अंकना होगा सिद्धांतों से कौन सत्य, अहिंसा, अचौर्य ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह का कितना पालन करता है।

ये मोटे सिद्धांत हैं, इन्हें यदि जीवन में नहीं उतार पाये तो जैनधर्म को मैं नहीं समझता कि कोई पा सकता है।

अभी दहेज मृत्यु-भोज जैसी बुराइयों को मिटाने को कई वक्ताओं ने कहा, तपस्वियों ने भी कहा, हाथ भी खड़े किये, किन्तु जब तक दृढ़तापूर्वक अपने को न बदला जाये ये बुराइयाँ नहीं जा सकतीं।



आप सब जानते हैं कि दहेज, मृत्यु भोज जैसी बुराइयों के विरुद्ध कानून बने हैं और सख्त बन रहे हैं किन्तु कोई समाज केवल कानून से बदले यह कोई अच्छी बात नहीं है।

आपका समाज एक प्रतिष्ठित समाज है, आपको धर्म गुरुओं के उपदेश से बदल जाना चाहिए।

कानून से ही बदलना आवश्यक नहीं है स्वतः बदल जाना ही श्रेष्ठ है।

आज यदि कोई यह कहे कि शिक्षा सिद्धान्त कानून के आधार पर अनिवार्य कर देना चाहिए तो सोचिए दूसरे देश क्या सोचेंगे कि भारतवासी अभी भी इतने पिछड़े हुए हैं कि शिक्षा के लिए कानून बनाना पड़ता है। जब यह कहा जाए कि दहेज को कानून से बन्द किया जाए तो कोई क्या सोचेगा कि यह देश कितना पिछड़ा हुआ है कि अपना भला-बुरा भी नहीं सोच सकता।

मेरा आग्रह है कि एक ऐसा वातावरण बना दिया जाय कि अनायास ही समाज से बुराइयाँ समाप्त हो जाएँ कानून आपकी और हमारी इज्जत नहीं बना सकता, वह तो इज्जत को खराब कर सकता है।

हमें कानून की राह नहीं देखकर जो हमारे हित में हैं उसे तुरन्त स्वीकार करना चाहिए ये।

आज महान् मुनिराज श्री अम्बालाल जी महाराज को अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट कर हम उनका अभिनन्दन कर रहे हैं ये पूरे समाज के लिए बड़े उत्साह के क्षण है। हमें इस अवसर पर सामाजिक बुराइयों का परित्याग कर मुनिवर का सच्चा अभिनन्दन करना चाहिए।

☆

साहित्य-सेवी श्री श्रीचन्द सुराणा द्वारा दिया गया ग्रन्थ-परिचय

पूज्यनीय संत सतीवर्ग, भाइयों और बहनों !

पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज साहब के दीक्षा स्वर्ण जयन्ति महोत्सव के इस महान् अवसर पर अभी पूज्य प्रवर्तक श्री को एक अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट किया जाएगा।

उपस्थित जनसमूह में एक उत्सुकता है कि यह ग्रन्थ क्या है ?

आपकी सम्पूर्ण उत्सुकता का समाधान तो ग्रन्थ को साक्षात् देखने पर ही हो सकेगा किन्तु ग्रंथ के सम्पादक मंडल से मेरा भी सम्बन्ध है एतदर्थ ग्रंथ का थोड़ा-सा परिचय दे देना मैं अपना कर्तव्य समझता हूँ।

जब गुरुदेव के अभिनन्दन की योजना बनी तो, ग्रन्थ के रूप में उसे साहित्यिक मोड़ देने का श्रेय श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' को है।

किसी भी सद्गुरु की कीर्ति को चिरस्थायी बनाने के लिए ग्रन्थ एक उपयोगी और श्रेष्ठ साधन है।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक साहित्य जगत में अनूठा स्थान बनाये ऐसी कृति है।

इसका बाह्य आवरण सर्वमान्य जैन ध्वज के पाँच रंगों से सुशोभित है। मध्य में 'विजय-स्तम्भ' अंकित है जो मेवाड़ के ओज तेज और व्यक्तित्व का शानदार प्रतीक है। एक तरफ जैन प्रतीक है जो प्रस्तुत कृति को भगवान महावीर के पञ्चवीस सौ वें निर्वाण वर्ष के सन्दर्भ में व्यक्त करता है।

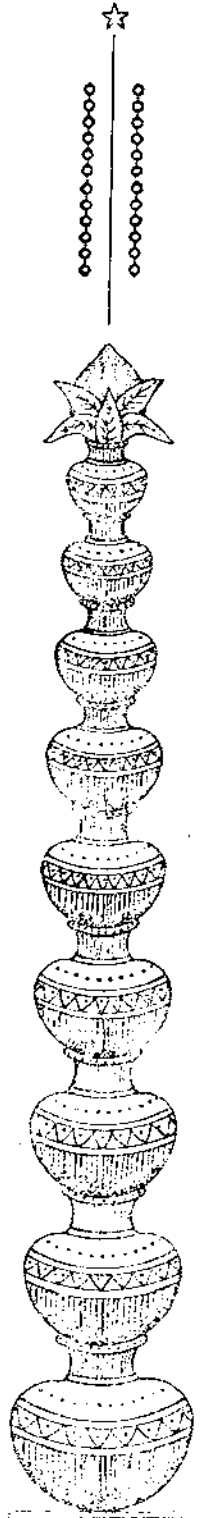
तीन रंगों में ग्रन्थ का नाम है तथा नीचे अष्टमंगल जो शास्त्रानुसार परम कल्याण के सूचक हैं, चित्रित हैं।

ग्रंथ का बाह्य आवरण जितना आकर्षक और मजबूत है, अन्तरंग उससे भी कहीं अधिक शानदार है।

ग्रन्थ कुल षट्खण्डों में विभाजित है, चक्रवर्ती भी तो छह ही खण्ड साधते हैं।

प्रथम खण्ड जीवन और श्रद्धार्चन का है, इसमें पूज्य प्रवर्तक श्री का इतिवृत्त और अनेकों भावपूर्ण श्रद्धा पुष्पों का संग्रह है।

मेवाड़ गौरव नामक ग्रन्थ का द्वितीय खण्ड है, इसमें मेवाड़ की उन विभूतियों का जीवन वृत्त आपको मिलेगा



जिन पर अभी तक बिलकुल नहीं लिखा गया या बहुत कम लिखा गया। मेवाड़ के धार्मिक, सामाजिक श्रेष्ठ तत्त्वों व सांस्कृतिक उपलब्धियों का परिचय भी इस खण्ड में है।

इसके बाद, जैन विद्या जैन साहित्य और संस्कृति के दो खण्ड हैं, जिनमें उपर्युक्त विषयों के विविध अंगों का परिपूर्ण विवेचन है।

पाँचवाँ खण्ड जैन इतिहास का है इसमें भगवान महावीर से पूज्य श्री धर्मदास जी महाराज तक की ऐतिहासिक परम्परा का संक्षिप्त किन्तु सारगर्भित विवेचन है।

छठा खण्ड 'काव्य-कुसुम' के रूप में है जिसमें गुरुदेव श्री के स्मरण-पद एवं अन्य आचार्यों, मुनियों की रचनाएँ तथा ऐतिहासिक महत्त्व की कृतियों का संकलन है।

इस तरह ग्रन्थ के छह खण्ड चक्रवर्ति सम्राट के षट्खण्ड की तरह सुशोभित हो रहे हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ जैन विद्या-साधना तथा तत्व विवेचना का एक अद्भुत कोष है। भारत के कई श्रेष्ठ विद्वानों ने अपनी श्रेष्ठतम कृतियाँ देकर इसे समलंकित किया है।

जैन जगत में ही नहीं, साहित्य के क्षेत्र में भी इसका जो महत्त्व है, वह आने वाले वर्षों में और अधिक बढ़ जायेगा। हजारों विद्या-जिज्ञासु इससे तत्त्वज्ञान-रस प्राप्त कर अपने आपको कृतार्थ समझेंगे।

ग्रन्थ आदि से अन्त तक पठनीय और मननीय है।

प्रस्तुत अभिनन्दन ग्रन्थ के लेखन और सम्पादन में सर्वाधिक श्रम यदि किसी ने किया है तो वे हैं श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद'।

ग्रन्थ में दो सौ से अधिक पृष्ठ तो स्वयं 'कुमुद' जी ने अपनी भाववाही लेखनी से लिखे हैं।

मातृ भाषा और प्रवाह का जो चमत्कार मुनि श्री की लेखनी में देखने को मिला वह अन्यत्र दुर्लभ है। इसमें कोई संदेह नहीं कि मुनि श्री ने प्रस्तुत ग्रन्थ में अथक श्रम किया।

मुनि श्री ने श्रेष्ठ निबन्ध जुटाने में जिस तरह विद्वानों से सम्पर्क साधा और अपने मधुर व्यवहार से उन्हें आकर्षित कर निबन्ध प्राप्त किये यह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है।

कुल मिलाकर प्रस्तुत ग्रन्थ मुनि श्री के एकनिष्ठ श्रम का परिणाम है, जो आज के महान् कार्यक्रम में एक महत्त्वपूर्ण भूमिका सहित आपके समक्ष पूज्य गुरुदेव श्री को समर्पित किया जायेगा।^१

१ मुनि श्री का परिचय हम ग्रन्थ के प्रारम्भिक पृष्ठों में देना चाहते थे किन्तु प्रयत्न करने पर भी नहीं मिल सका, अब हमें थोड़ा परिचय मिला है, जो संक्षिप्त में दे रहे हैं ;

प्रधान सम्पादक मुनि श्री 'कुमुद' जी का संक्षिप्त परिचय

श्री सौभाग्य मुनिजी 'कुमुद' का जन्म-स्थान अकोला (उदयपुर) है। विक्रम सं० १९६४ मृगशीर्ष शुक्ला सप्तमी शुक्रवार रात्रि को ६ बजे स्थानीय गांधी परिवार में एक बच्चे का जन्म हुआ, जिसका नाम सुजानमल रक्खा गया। श्री नाथी बाई और नाथूलाल जी इनके माता-पिता के नाम हैं।

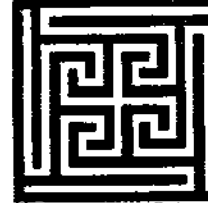
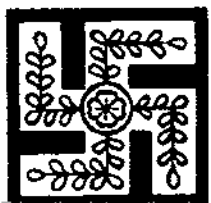
श्री नाथूलाल जी व्यवसाय से 'दाणी' थे। बालक सुजानमल, श्री नाथूलाल जी गांधी की चौथी जीवित संतान थी।

बालक सुजान से पूर्व एक भाई और दो बहनें उपस्थित थीं।

कमन्दशा की विचित्रता स्वरूप बालक सुजान को बाल्यावस्था में ही पितृ-वियोग सहना पड़ा। ऐसी स्थिति में माँ का ही वह सम्बल था जिसने बच्चे को सद्संस्कारों से ओत-प्रोत बना दिया।

बालक सुजान पाँचवीं में पढ़ता था तब तक दोनों बहनें और माई विवाहित हो चुके थे। उन्हीं दिनों एक दुर्घटना घटी, बहन उगमबाई विधवा हो गई। सारे परिवार में शोक छा गया। मृत्यु की इस अनिवार्यता और मानव की विवशता देख बालक सुजान का मन बड़ा खिन्न हो गया।

बहन उगम भी वहीं थी, वह सांसारिकता से उपराम हो रही थी। वहाँ महासती सोहनकंवर जी भी थे उनका उस स्थिति में बड़ा सहयोग रहा।



उसी वर्ष पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज का आकोला चातुर्मास था। मुनियों के सदसम्पर्क ने अन्तर की वैराग्य-भावना को और बढ़ाया और दोनों माई-बहनों ने संयम लेने का निश्चय किया।

माता को इस निश्चय का पता लगा तो वह भी अपने आत्म-कल्याण को उत्सुक हो गई। इस तरह तीनों ने जब संयम ग्रहण करने का निश्चय किया तो पारिवारिक-जनों में हलचल मच गई। उन लोगों ने कई उपद्रव खड़े कर दिये फलस्वरूप दोनों अर्थात् माँ और पुत्री ने तो यथासमय संयम स्वीकार कर लिया किन्तु बालक सुजान की दीक्षा उन लोगों ने रक्खा दी।

बालक सुजान को उनके माई गोरीलाल जी गांधी और बहनोई श्री अम्बालाल जी अहमदाबाद जहाँ वे व्यापार करते थे ले गये।

मुप्त-आगमन

बालक सुजान अहमदाबाद गया भी, उसने जो दृढ़ निश्चय कर रक्खा था उससे वह तिल मर भी नहीं डिगा, मात्र अवसर की तलाश में था। चौदह दिन बाद ही एक अवसर मिला कि सुजान वहाँ से बिना ही टिकट गाड़ी में बैठ गया और मारवाड़ जंक्शन तक बेरोक-टोक चला आया किन्तु मारवाड़ जंक्शन पर एक पुलिस ने चैक कर ही लिया। उसने बिना टिकट यात्रा करने वाला कोई जेबकतरा समझ कर पुलिस कम्पाई में विठा दिया। वहाँ जो पुलिस सुरक्षा के लिए था वह सज्जन मिला। सुजान ने अपनी सारी कहानी उसे साफ-साफ कह दी तो, उसने सहृदयता प्रकट कर अपने चंगुल से मुक्त कर दिया।

सुजान अन्य डिब्बे में जा बैठा तो वहाँ दो सज्जन सुजान को ऐसे मिले जैसे "अंधेरे में चिराग" उन्हें ज्यों ही यह ज्ञात हुआ कि इस बच्चे के पास टिकट नहीं है, उन्होंने सुजान को नीचे सुला कर बिस्तरों की ओट दे दी 'अहेतुकी कृपा करने वाले ऐसे सज्जन संसार में बिरले ही होते हैं।'

इस तरह सुजान माहोली आ पहुँचा। वहाँ से फतहनगर होकर सनवाड़ चला गया। वहाँ के धर्मप्रेमी गुरुमंत्र श्री चाँदमल जी बडाला और उनकी धर्मपत्नि दाखवाई ने बड़ा सहयोग दिया और सुजान उसी दिन शाम की गाड़ी से खेरोदा पहुँच गये जहाँ पूज्य श्री मोतीलाल जी महाराज आदि मुनि गण विराजमान थे।

खेरोदा में श्री देवीलाल जी खेरोदिया का अच्छा सहयोग रहा। वहीं श्री मोतीलाल जी चवाण देलवाड़ा वाले आये हुए थे, उन्होंने बड़ी मदद की। बालक सुजान मुप्त रूप से बापड़ा एक सुधार के वहाँ एक रात ठहर कर देलवाड़ा पहुँच गया। श्री मोतीलाल जी के यहाँ एक दिन मुप्त निवास कर बालक सुजान 'रामा' श्रीमान् सेठ रतनलाल जी मांडोत के यहाँ पहुँच गया। श्री रतनलाल जी मांडोत धर्मप्रेमी गुरुभक्त और बड़े साहसी श्रावक थे।

मुप्तवास और दीक्षा

श्री रतनलाल जी मांडोत ने बालक सुजान का बड़े प्रेम से स्वागत किया और सारी स्थिति समझकर उसे बड़ी प्रसन्नता के साथ अपने यहाँ रख लिया।

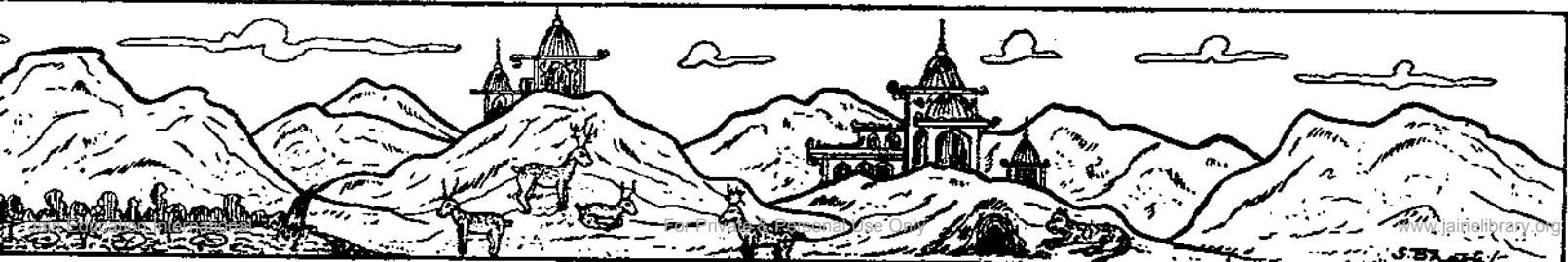
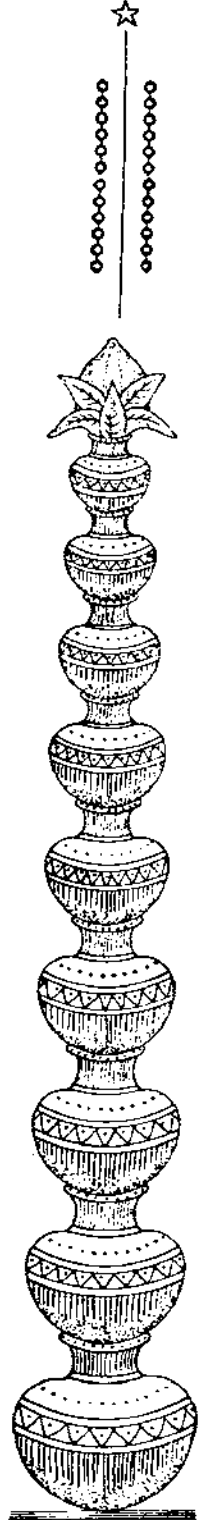
भाव दीक्षित श्री सुजानमल 'रामा' (अरावली श्रेणी में बसा एक छोटा-सा ग्राम) में लगभग तीन माह एकांतवास के रूप में रहा। श्री रतनलाल जी मांडोत और उनके सम्पूर्ण परिवार ने और रामा निवासी सज्जनों ने बड़ी आत्मीयता तथा सतर्कता पूर्वक हार्दिक सहयोग दिया।

उधर पारिवारिक-जनों ने बालक सुजान को खोजने में दिन-रात एक कर दिया किन्तु उन्हें कोई भेद नहीं मिला। तीन माह बाद परिस्थितियों में कुछ परिवर्तन आया और श्री रतनलाल जी मांडोत ने गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज आदि ठाणा को 'कडिया' ग्राम में बुलाया।

कडिया के श्रावक भी बड़े गुरुभक्त और सेवामावी थे। वे हार्दिक भावों से सेवा में तैयार थे।

मुनिराजों के कडिया पहुँचने पर श्रीगुन् मांडोत साहब श्री सुजान जी को लेकर वहाँ पहुँच गये और दूसरे ही दिन बड़ी सादगी के साथ गाँव के बाहर एक विशाल वटवृक्ष के नीचे भाव दीक्षित उत्कृष्ट वैराग्यवान श्री सुजानमल जी की दीक्षा सम्पन्न हो गई।

कुछ ही दिनों में बड़े आश्चर्य के साथ मेवाड़ में श्री सुजान की दीक्षा के समाचार सुने गये।



कई व्यक्तियों को विश्वास नहीं हो पाया था कि मुजानमल दीक्षित हो गया, किन्तु जो हो चुका था वह तो ध्रुव था। थोड़े ही समय में पारिवारिक उपद्रव भी समाप्त हो गये।

दीक्षा संवत् २००६ माघशुक्ला पूर्णिमा प्रातः १॥ बजे सम्पन्न हुई।

गुरु प्रदत्त नाम श्री सौभाग्य मुनि घोषित हुआ।

बहुमुखी विकास के पथ पर

श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' वचन से ही विनम्र, तीक्ष्णबुद्धि और विद्यानुरागी थे।

संयम से पूर्व केवल पाँचवीं कक्षा तक पढ़े थे किन्तु संयम प्राप्ति के बाद मुनि श्री ने अपनी सम्पूर्ण क्षमता का उपयोग अध्ययन की तरफ किया। फलतः जैन शास्त्रों के भग्नीय तत्त्वज्ञान के उपरान्त विभिन्न दर्शन शास्त्रों का गहराई तक अध्ययन किया। संस्कृत, हिन्दी, प्राकृत के विशिष्ट अध्येता श्री सौभाग्य मुनि जी 'कुमुद' बहुत अच्छे कवि भी हैं। आपकी कई संगीत एवं काव्य की पुस्तकें निकल चुकी हैं।

समय के साथ मुनि श्री की प्रतिभा का लगातार विकास होता गया। मुनि श्री प्रवचन मंच पर आये और बड़े ठाठ से जमे। आज मुनि जी श्रेष्ठतम वक्ताओं में से एक हैं।

मुनि श्री बहुत अच्छे रचनाकार हैं, साहित्य की दिशा में ही नहीं, समाज की दिशा में भी आपका कर्तृत्व आज मेवाड़ में दमक रहा है। धर्मज्योति परिषद् का गठन और विकास आपके श्रम का फल है, मेवाड़ में चलने वाली अनेक जैनशालाएँ, स्थापित, पुस्तकालय, गठित युवक मंडल, स्वाध्याय केन्द्र और न जाने क्या क्या इस उदीयमान मुनिरत्न की प्रेरणाओं के अमर परिणाम हैं।

प्रस्तुत अभिनन्दन समायोजन और ग्रन्थ निर्माण में भी, यदि कहीं प्राण तत्व हूँदेंगे तो उसे श्री सौभाग्य मुनि कुमुद के रूप में पायेंगे।

मुनि श्री कुमुद जैन जगत की विभूति और मेवाड़ प्रदेश के आशाकेन्द्र है।

मेवाड़ प्रदेश की धार्मिक, सामाजिक तथा संस्थागत सक्रियता के सृष्टा मुनि श्री कुमुद जी चिरायु हों समाज का निर्देशन करते रहें, इसी शुभ आशा से साथ।

☆

ग्रन्थ—समर्पण कर्ता

न्यायमूर्ति श्रीयुत चाँदमल जी लोढ़ा का भावपूर्ण वक्तव्य

मेवाड़ संघ शिरोमणि पूज्य प्रवर्तक श्री अम्बालाल जी महाराज साहब, उपस्थित गुरुजन, माथुर साहब, देपुरा साहब, नाहर साहब, सभा के अध्यक्ष, महोदय एवं धर्मप्रेमी सज्जनों!

आज के इस महान् अवसर पर आपने मुझे आमंत्रित कर मुझे इस समारोह में सम्मिलित होने का अवसर प्रदान किया इसके लिए मैं आभारी हूँ।

आज आप और हम मिलकर एक सन्त का अभिनन्दन कर रहे हैं।

त्याग, तप और संयम का अभिनन्दन करना यह हमारी संस्कृति का मौलिक तत्व है।

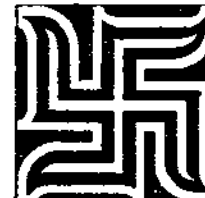
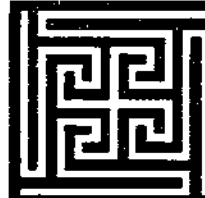
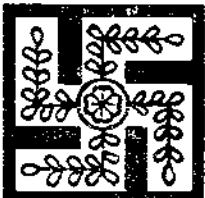
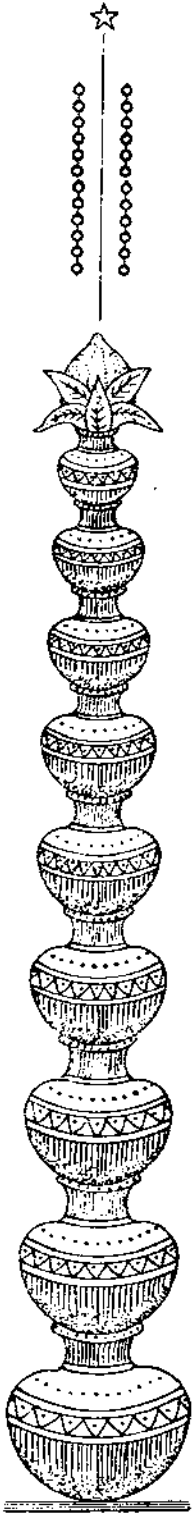
दुनिया में विभिन्न प्रकार के नेता होते हैं। आप हमारे धर्मनेता हैं। धर्मनेता हमारे यहाँ सर्वाधिक पूज्य हैं।

आज विज्ञान ने बड़ी उन्नति कर ली है, व्यक्ति चाँद पर भ्रमण कर रहा है, कई व्यक्ति वहाँ जाकर आये हैं किन्तु विश्व में अमन और शान्ति जिसे कहते हैं, वह चन्द्रयात्रा से सम्भव नहीं है। हमें शान्ति इन महापुरुषों से मिलती है।

पन्चीस सौ वर्ष पूर्व भगवान महावीर ने शान्ति का मार्ग प्रकाशित किया था, विश्व के कोने-कोने में आज उस सिद्धान्त की चर्चा है। इसकी बजह क्या है कि एक की बात सारा विश्व सुनता है! जिस सन्देश में अध्यात्मिकता, करुणा होती है, उस सन्देश को सभी चाहते हैं।

विश्व-पीड़ा का समाधान अध्यात्मिकता है।

हम बड़े-बड़े नेताओं, वैज्ञानिकों और घनाकों के चरणों में नहीं झुकते हैं, किन्तु इन संतों के चरणों में झुकते



हैं, इनके पास भौतिक समृद्धि कुछ नहीं है, ये फक्कड़ हैं, इनके पास अपने जरूरी काम की वस्तुएँ भी अधिक नहीं हैं, फिर भी हम इनका सर्वाधिक सम्मान करते हैं, इसके पीछे इनकी अध्यात्मिकता है, साधना है।

मैं आपसे आग्रह करता हूँ कि ऐसी विशाल समायोजनाओं से हमें प्रभावित और प्रेरित होना चाहिए। गुरु अभिनन्दन का असर अपने जीवन में बना रहे यह आवश्यक है।

अभी आपने सामाजिक कुरीतियों के निवारण हेतु बड़े प्रेरक सन्देश सुने। हम केवल सुने ही नहीं, इन पर अमल भी करे।

समाज का एक अंग होने के नाते भी मैं आपको सलाह दूँगा कि अब दहेज, मृत्युभोज जैसी आवश्यक बातों को समाज से हटा देना चाहिए। यदि आप मुनियों के उपदेशों पर ध्यान नहीं देते हैं तो याद रखिये, कानून की तलवार सर पर लटक रही है। वह बड़ी कठोर होती है, उससे बचना चाहिये इसका मार्ग यही है कि हम सन्तों के उपदेश से बुराइयों को मिटा दें।

हम आज पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज का अभिनन्दन कर रहे हैं ये क्षण हमारे लिए बड़े महत्वपूर्ण हैं, हमें इन्हें सम्पूर्ण रूप से सार्थक बनाना है।

आप सभी सज्जनों ने अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने हेतु मुझे चुना, इसके लिए मैं आपका बड़ा आभारी हूँ।

आप सभी की ओर से मैं विशाल अभिनन्दन ग्रन्थ पूज्य प्रवर्तक श्री को भेंट कर रहा हूँ।

ग्रंथ हमारी श्रद्धा का प्रतीक है। मुनि श्री का संयम और इनके उपकार असीम हैं, उनकी तुलना में हम जो भेंट कर रहे हैं वह तो वास्तव में हमारी श्रद्धा है, हम केवल वही चरणों में अर्पित कर सकते हैं। ग्रन्थ हमारी श्रद्धा का एक साहित्यिक संस्करण है।

मैं अपनी हार्दिक श्रद्धा के साथ पूज्य मुनिराज का अभिनन्दन करता हुआ इनके दीर्घ जीवन की मंगल कामना करता हूँ।

आप सबने मुझे यह अवसर प्रदान किया, इसके लिए एक बार और हार्दिक धन्यवाद देता हूँ।

☆

अपने महान अभिनन्दन के प्रत्युत्तर में

पूज्य प्रवर्तक श्री का भावपूर्ण वक्तव्य

भगवान महावीर रो शासन जयवन्तो है। मूँ तो, एक मामूली साधु हूँ। आप मूँने अतरो बड़ी सम्मान दी दो या तो आपकी गुण दृष्टि है, मूँ तो अस्यो नी हूँ के पूजाउँ।

मूँ तो समाज रो शासन रो कोई खास सेवा नी की दी, जो भी व्यो वो सब बड़ेरा रो प्रताप है।

आप जो मूँहरो अभिनन्दन कीदो इं ने मूँ, भगवान महावीर ने बड़ेरा रा चरणा में अर्पण करू हूँ।

मूँ तो महावीर रा शासन रो एक सिपाही हूँ। भगवान रो आज्ञा रो पालन करणो मूँहरो कर्तव्य है। कोई आपणा कर्तव्य रो पालन करे तो कई बड़ी बात नी है। बड़ी बात तो कर्तव्य के उपरान्त और काम करै जदी वे। मूँ तो कर्तव्य सूँ ज्यादा आज तक कई नी कर सकयो।

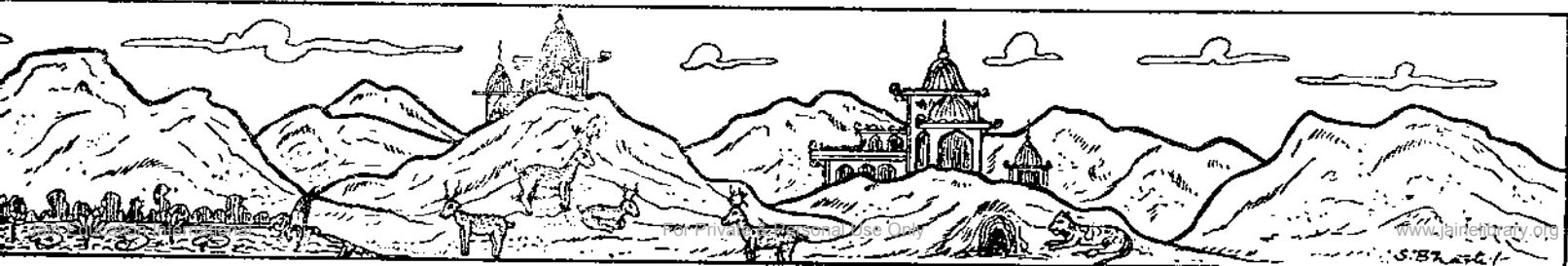
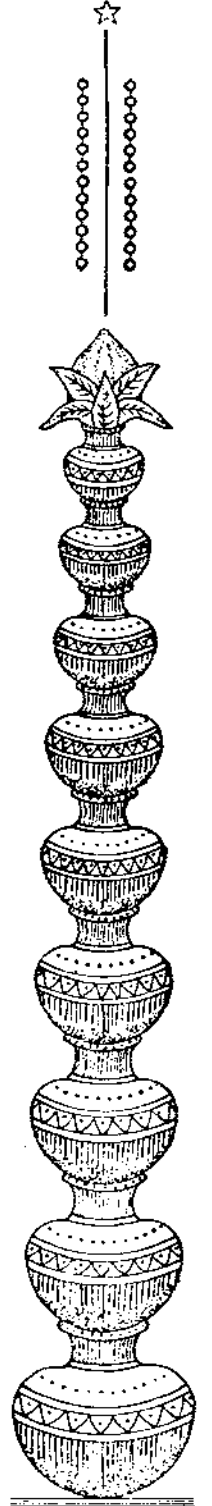
भगवान महावीर रा शासन रो काम ए कूँ नी चालै, साधु, साध्वी, श्रावक, श्राविका सब ध्यान राखे ने सेवा करे जदी शासन चमके। आप सूँ मूँहरो यो हीज के णो है के समाज में जो बुराइयाँ हैं ने जो आपने अतरा विद्वान और समाज सुधारक चेतारिया है, बणी वे ध्यान दे ने समाज रो सुधारो करो तो मूँने जरूर घणी खुशी वेला।

टेम चली जा, बात रेजा अणी वगत चेत्या तो घणी फायदा रो बात वेगा।

अतरा मुनिराज और महासतियां जी महाराज अठे पधार्या दर्शन दी दा बड़ी कृपा की दी।

आखरी बात या है के मोटो बण्यां सूँ, कल्याण नी है, आप और मूँ, चावे कोई वो भगवान रो आज्ञा पालेला वीं को कल्याण है।

☆



पूज्य गुरुदेव श्री अम्बालाल जी महाराज दीक्षा स्वर्ण जयन्ति समारोह कोशीथल
श्री ओंकारलाल जी सेठिया का
अध्यक्षीय अभिभाषण

पूज्य गुरुदेव, उपस्थित मुनिराज एवं महासती जी महाराज को वन्दन करने के पश्चात्
भाइयो और बहिनो,

प्रस्तुत विशाल अभिनन्दन समारोह की अध्यक्षता के लिए आपने मुझ जैसे साधारण व्यक्ति को जो प्रेम और
आदर दिया उसके लिए मैं आभारी हूँ।

इस पद की कठिनाई और जिम्मेदारी को समझते हुए मैं अपने को इस काबिल नहीं मानता किन्तु संघ का
आदेश मानकर मैंने आपके सहयोग से इसे स्वीकार किया।

शासनदेव की कृपा से यदि मैं समाज की सेवा में कुछ भी योगदान दे सका तो अपना सौभाग्य समझूंगा।

सर्वप्रथम और कुछ कहने के पहले मैं उन अनेक पूज्य मुनिराज और महासतियाँ जी महाराज का हार्दिक
स्वागत करता हूँ, जो बहुत दूर-दूर से पाद बिहार कर हमारे समारोह को सुशोभित करने पधारें।

गुरुदेव का अभिनन्दन करते हुए आज हम अपने जीवन के सर्वश्रेष्ठ क्षणों का अनुभव कर रहे हैं।

मेवाड़ संघ शिरोमणि पूज्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री अम्बालालजी महाराज मेवाड़ के जैन-जगत की एक दिव्य
विभूति है। पिछले ५० वर्षों से मेवाड़ में ही नहीं देश के अन्य भागों में भी पादविहार कर आपने जो जन चेतना जागृत
की है वह सचमुच आदर्श है।

गुरुदेव के शान्तिपूर्ण निर्मल व्यक्तित्व में अचूठी आभा है, चमक है।

आज हम एक ऐसे चरित्र का अभिनन्दन कर रहे हैं जिसमें 'सादा जीवन और उच्च विचार' को सर्वदा अपने
आप में चरितार्थ किया कि महाराज श्री ने अपने बाल्यकाल के १६ वर्ष की उम्र में विचार किया—संसार में अपना
कोई नहीं है, आत्मा अकेली ही संसार में आयी है और अपने शुभाशुभकर्मों का फल भोगकर अन्त में अकेले ही इस संसार
से चली जाती है। न कोई संसार में हितु है, न मित्र, क्यों न मानव देह जो हमें मिली है उसका सदुपयोग कर बार-बार
के जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति पाने का प्रयास किया जाय। इसकी विचारधारा ने आपको संसार से विरक्त बना दिया,
सांसारिक परिवार एवं सरकार का प्रबल विरोध के बावजूद भी आप अपने वैराग्य के विचार पर अटल रहे और आखिर
में अपने पूज्य गुरुदेव के पास दीक्षित बन गये।

आपका सुगठित निरोग तन, गौर वर्ण, मध्यम कद, मुस्कराता चेहरा व इस सारे देह वैभव को ज्योतिर्मय
बनाते हुए उज्ज्वल ज्ञान, दर्शन और चारित्र्य महानता का आभास देता है।

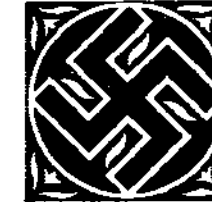
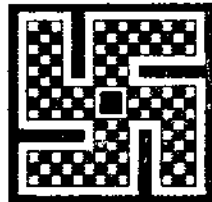
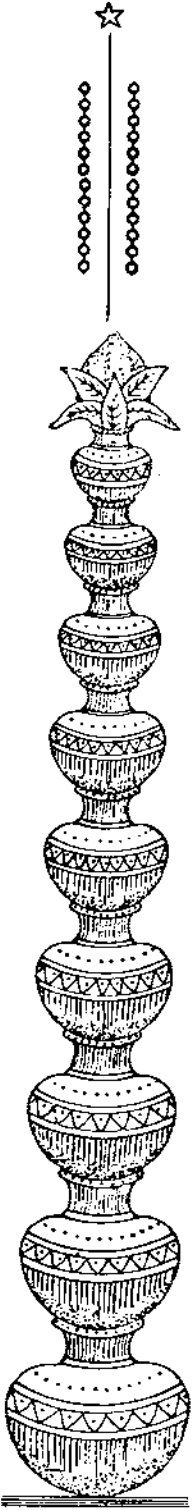
गुरुदेव अभी ७० वर्ष की वय में है किन्तु युवकों जैसा उत्साह आप में देखा जा सकता है।

कथनी और करनी की एकरूपता ही आपका जीवन दर्शन है।

आज के भौतिकता प्रधान वातावरण में आध्यात्मिकता की पवित्र ज्योति जगाने वाले गुरुदेव का आप और
हम अभिनन्दन कर रहे हैं तो यह विश्व में तेजी से फैलती जा रही है, आसुरी वृत्तियों की तुलना में देवी वृत्तियों की
श्रेष्ठता का एक प्रयत्न है।

हमारी संस्कृति व्यक्ति के स्थान पर गुणों को अधिक महत्व देती है, यही कारण है कि हमारे यहाँ उन गुण-
वान् व्यक्तियों का सर्वदा सम्मान हुआ है जिन्होंने अपने जीवन को उच्च आदर्श के लिए समर्पित कर दिया।

हमारे यहाँ मौलिक रूप से साम्प्रदायिक इकाईयों के मतभेद कुछ साधना पद्धतियों के कारण है किन्तु गुणवान्
व्यक्तित्व किसी भी सम्प्रदाय में विकसित हुआ है, उसको सभी ने एक मत होकर महत्त्व दिया है। हमारी संस्कृति का
यही वह तत्त्व है जो अनेकता में एकता का बोध देता है।



अमिनम्दन जहाँ गुणों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन करता है वहाँ जन-जीवन को एक नई प्रेरणा भी देता है। यह सत्य है कि जहाँ पाप पूजा जाता है वहाँ पाप बढ़ेगा और जहाँ सत्य पूजा जाता है वहाँ सत्य। हमारे विशाल भारतवर्ष में सत्य पूजनीय और सार स्वरूप माना जाता है।

भगवान महावीर ने कहा "सच्चं लागेम्मि सारभूयं" "सत्यमेव-जयते" यह हमारी संस्कृति का मूल सूत्र है किन्तु पिछले एक हजार वर्षों से भारतवर्ष में जो परिस्थितियाँ बनीं, गुलामी और पराजित मनोवृत्ति से जिस तरह हम जकड़े गये उससे हमने अपना बहुत कुछ सार तत्त्व खोया।

पराधीनता और पतन के उस चरमोत्कर्ष में एक दिव्य पुरुष ने हमें नई प्रेरणा देकर जागृत किया। उस महा-पुरुष का नाम महात्मा गाँधी है।

सत्य और अहिंसा के बल पर देश आजाद कराने वाले उस साबरमती के सन्त को हमारा देश कभी भी नहीं भूल सकता जिसने कठिनाई की घड़ियों में हमारा नेतृत्व किया।

बाद में पण्डित जवाहरलाल नेहरू, सरदार पटेल एवं लालबहादुर शास्त्री ने देश को पिछड़ेपन से आगे बढ़ाने के लिए बहुत प्रयत्न किया।

आज हमारी प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गाँधी देश को पिछड़ेपन, अन्धविश्वासों और गरीबी से बाहर निकालने के लिए जी-जान से प्रयत्नशील है।

जैनधर्म तोड़-फोड़, हिंसा और अराजकता में कतई विश्वास नहीं करता हम शान्ति के इच्छुक हैं।

जैनधर्म के उदात्त संस्कारों में साम्प्रदायिकता को कोई स्थान नहीं।

भगवान् महावीर से पूर्व अर्थात् पारवनाथ और उनसे पूर्व के मुनि कई रंग के वस्त्र धारण करते किन्तु महावीर के श्रमण श्वेत वस्त्र पहनते थे।

सिद्धान्त एक होते हुए भी ऊपर से बड़ा भेद था किन्तु श्रावस्ती नगरी के तिप्पुक उद्यान में केशी श्रमण और गौतम स्वामी ने बैठ कर परस्पर समाधान कर लिया और साम्प्रदायिकता को नहीं पनपने दिया। आज देश में पुनः उस वातावरण को जाग्रत करना है; साम्प्रदायिकता को कहीं प्रश्रय नहीं देना चाहिए।

जैन समाज जो कई सम्प्रदायों में विभक्त है, उसका भी उन्नति का मार्ग तभी प्रशस्त होगा जब वह साम्प्रदायिकता से बाहर आये।

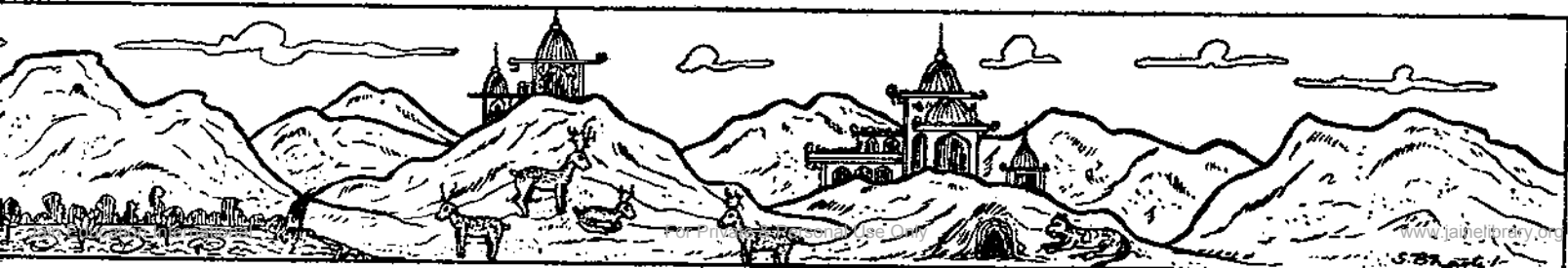
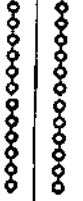
जैन समाज के सन्दर्भ में मैं एक बात अवश्य कहना चाहूँगा कि हम साम्प्रदायिक वातावरण में इतने अधिक घुलमिल गये हैं कि प्रत्येक दूसरे सम्प्रदाय वाले को हम मिथ्या दृष्टि कह देते हैं किन्तु क्या यह सत्य है? यह कितनी हास्यास्पद बात है कि दूसरे को मिथ्यादृष्टि कहने वाले अक्सर यह जानते ही नहीं कि सम्यक् दृष्टि किसे कहते हैं। और मिथ्या दृष्टि किसे। शास्त्रों में जो कुछ भी व्याख्या है उसको जहाँ तक भी हमारे मनीषियों ने समझा है और जो उन्होंने कहा, यदि मैं आधुनिक भाषा में उसे व्यक्त करूँ तो वह यह है कि नफरत ही मिथ्यादृष्टि है। किसी के प्रति घृणा लेकर चलने से अधिक और क्या पाप होगा। भगवान महावीर ने संसार में अमन और शान्ति कायम रखने हेतु कुछ अमूल्य सन्देश दिये। उनमें सत्य, अहिंसा, अनेकान्त और अपरिग्रह प्रधान हैं।

प्रभु स्वयं निस्परिग्रही थे और उन्होंने लाखों अपरिग्रही मानवों का निर्माण किया। आप और हम आज उनके अनुयायी कहलाते हैं। किन्तु हमने महावीर की शिक्षाओं में से अहिंसा को तो कुछ लिया किन्तु अपरिग्रह को हम बिल्कुल नहीं ले पाये।

एक तरफ लाखों भूखे सोते हैं। दूसरी तरफ करोड़ों की सम्पत्ति एक हाथ में है। यह न्याय नहीं है। हमें अपरिग्रह को अपना कर देश सेवा में आगे बढ़ना चाहिए।

भगवान् महावीर का एक सर्वश्रेष्ठ सन्देश अनेकान्त है। अनेकान्त का अर्थ मेरी समझ में गुण ग्राही एकता है। वस्तु को अनेक दृष्टि से देखा जा सकता है और उसमें अनेक विशेषताएँ हैं, इसे स्वीकार करना यह अनेकान्त का प्रयोग है। हम इस शिक्षा द्वारा परस्पर किसी समान योग्यता से संबद्ध होकर संगठित हो सकते हैं।

हमारा समाज छिन्न-भिन्न है, वह कई टुकड़ों में है अतः हम थोड़ी संख्या में हो गए और निरन्तर हमारा घटाव चल रहा है।



इस स्थिति से बचने के लिए हमें संगठित होने की आवश्यकता है। मैं किसी सम्प्रदाय की बुराई नहीं करता किन्तु श्रमण संघ को श्रेष्ठ समझता हूँ क्योंकि यह एकता का प्रतीक है। हमें इसे सुदृढ़ बनाना चाहिए, एक सम्बत्सरी तथा एक पर्व हों, ऐसी भूमिका बनानी चाहिए। हम असंगठित रह अपना ही नुकसान करते हैं।

देश बड़ी तेजी से आगे बढ़ रहा है, किन्तु हमारा समाज जो सदियों से कुछ कुण्डों से ग्रस्त है आज भी उन्हीं ढो रहा है। दहेज-प्रथा, मृत्यु-भोज तिलक जैसी अनावश्यक कुप्रथाएँ हमें निगलती जा रही है। समाज हमारी सुख-शान्ति और नैतिकता को ये कुप्रथाएँ भ्रष्ट कर रही हैं। इनसे समाज को छुटकारा दिलाना चाहिए। यह तभी होगा जब समाज की युवाशक्ति सामने आये।

समाज को अपने युवकों पर बड़ा भरोसा है, हमारा युवक पढ़ा-लिखा, सम्य और प्रगतिशील है इसमें कोई सन्देह नहीं, किन्तु असंगठन तथा कुशल नेतृत्व के अभाव में वह अपनी सम्पूर्ण प्रतिभा का उपयोग नहीं कर पा रहा है अतः बुद्धिमान युवाजनों को संगठित होकर आगे बढ़ने का प्रयास करना चाहिए।

हमारा युवक उस जगह घड़ी भूल करता है जब वह पश्चिम की नकल करने लगता है। मैं अपने लघु वय साथियों से हार्दिक अपील करता हूँ कि वे अपनी संस्कृति को अपना कर चले, जिससे समाज के वास्तविक उत्थान का मार्ग प्रशस्त हो।

आज विश्व, शान्ति और समता का भूखा है। हम भगवान महावीर की शिक्षा के आधार पर विश्व को शान्ति और समता का मार्ग दिखा सकते हैं। किन्तु कब जबकि हम स्वयं उन्हें अपनायें साथ ही हमारे पढ़े-लिखे विद्वान नीजवान साथी महावीर की शिक्षाओं को अन्य भाषाओं में अनुवादित कर उन्हें विदेशों तक और देश के घर-घर में पहुँचाएँ।

मैं उन युवकों को हार्दिक धन्यवाद देता हूँ। जिन्होंने जैनेलोजी में पी-एच० डी० किया है तथा जो कर रहे हैं। हमसे कुछ विद्वानों ने आग्रह किया है कि उदयपुर में जैन शोध-संस्थान स्थापित हो, मैं उनकी इस प्रेरणा का स्वागत करता हूँ। हम प्रयत्न करेंगे कि शीघ्र ही उदयपुर में ऐसा संस्थान स्थापित हो सके जहाँ शोध सुविधाएँ हों।

जैन धर्म के तत्त्व बड़े यथार्थ, उदात्त तथा उपयोगी हैं किन्तु प्रचार की कमी होने से अभी तक इन्हें विश्व में वह स्थान नहीं मिला जिसके कि वह योग्य हैं। हमें एक जुट होकर ज्ञान प्रचार की दिशा में काम करना चाहिए।

छोटे-छोटे गाँवों में जैन शाला और पुस्तकालय भी बड़े उपयोगी साबित हो सकते हैं। कुछ तो शालाएँ तथा पुस्तकालय हैं किन्तु वे बहुत ही कम हैं। हमें अधिक संख्या में उनकी स्थापना करनी है।

समाज के स्वधर्मि बन्धु और असहाय विधवा बहिनों तथा अभावग्रस्त विद्यार्थियों को वास्तविक तथा उपयोगी सहायता मिलनी चाहिए। इस दिशा में पूज्य गुरुदेव श्री की प्रेरणा से स्थापित धर्म ज्योति परिषद सेवार्त है, हमें उसे सशक्त और सफल बनाने का पूर्ण प्रयास करना चाहिए।

आप और हम सभी एक समाज और एक राष्ट्र के अंग हैं अतः हमें सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूप से वे तमाम कर्तव्य निभाने हैं जो हमें पुकार रहे हैं।

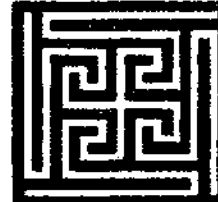
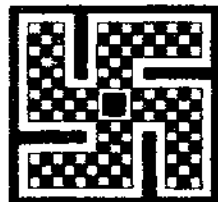
आज मैं आपके सामने जो कुछ बोल रहा हूँ वह आपको उपदेश देने की दृष्टि से नहीं। किन्तु आपका साथी होने के कारण आपके और मेरे मन की बात कह पाया हूँ, मैं भी आपके समान ही हूँ, मुझे भी वही करना है या जो मेरे द्वारा कहा गया, मैं आपसे, अलग नहीं हूँ।

अन्त में मैं प्रस्तुत समारोह में उपस्थित हुए सम्माननीय जननेता, राज्याधिकारी, प्रमुख समाज सेवी अग्रगण्य कार्यकर्ता और समस्त स्वधर्मि भाई-बहिनों का हार्दिक स्वागत करता हूँ। साथ ही पधारे हुए पूज्य मुनिराजों महासतियों को बन्दना करता हुआ आभार प्रदर्शित करता हूँ।

मैं कोशीथल श्रावकसंघ को धन्यवाद दिये बिना नहीं रह सकता जिसने समारोह को अपने यहाँ आयोजित कर सुव्यवस्था द्वारा इसे सफल बनाया।

कोशीथल संघ की महान् सेवाएँ जैन समाज के इतिहास में सर्वदा अमर रहेगी।

और अन्त में पूज्य गुरुदेव श्री के सुदीर्घ जीवन की मंगल कामना के साथ हार्दिक अभिनन्दन करता हुआ अपना स्थान ग्रहण करता हूँ। ॥ जय जिनेन्द्र ॥



अभिनन्दन स्वर लहरियाँ

जय जय गुरुवर

(राग—त्रिभंगी)

—महासती प्रेमवती जी

जय जय गुरुवर, पूज्य परमेश्वर

अम्बमुनीश्वर,

गुणधारी ।

वाणी प्यारी, अमृत धारी,
गुण शबे अति नरनारी ॥
पुन्य स्थान है, धामला महान है,
मेवाड़ शान है, सुखकारी ।
बासठ साल में, शुक्ला ज्येष्ठ में,
जन्म श्रेष्ठ है, शुभवारी ।
ओसवंश में, सोनी कुल में,
मंगलक्षण में, अवतारी ॥
प्यारानन्दन, अति सुख कन्दन,
किशोर चन्दन सुखकारी ।
सद्गुरु पाया, हर्ष भराया,
आनन्द छाया, उर भारी ॥
संसार कतारं पार उतारं,
वैराग्यधारं, सुखकारी ।
करके विचारा, संयम धारा,
चारित्र प्यारा उपकारी ॥

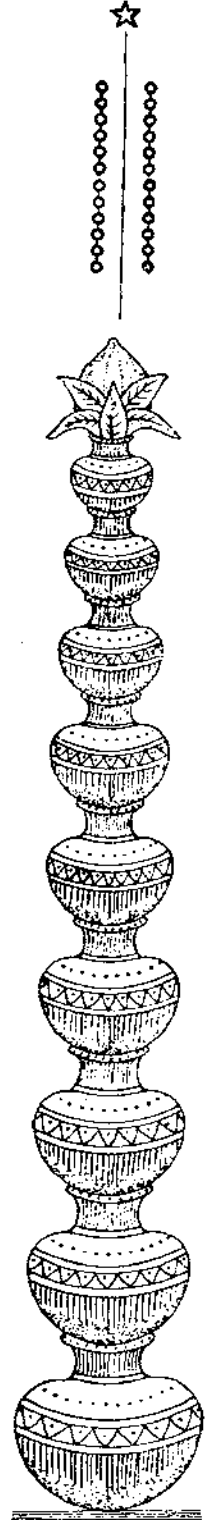
गुरुवर मोती, दीये ज्योति,
सूरत सोहृती मोहन गारी ।
भार मुनीश्वर सच्चे गुरुवर,
उनके शिष्यवर, गुणधारी ॥
शासन शृंगारा, प्यारा दुल्हारा,
भविजन तारा, जग ज्हारी ।
शिष्य सोहृता, अति पुण्यवन्ता,
है गुणवन्ता जयकारी ॥
मेवाड़ भूषण, टाले दूषण,
पाप का शोषण हितकारी ।
शम दम शूरा, संयम पूरा,
दोष से दूरा आचारी ॥
संघ संचालक, महाव्रत पालक,
आत्मा तारक, बलिहारी ।
प्रेम का बन्दन, है अभिनन्दन,
भविजन चन्दन उपकारी ॥

☆☆

आनन्द आयो रे

—मदनलाल ततिड़

मोच्छ्व को आनन्द भाया, कोशीथल में आयो रे
दीक्षा स्वर्ण जयन्ति को म्हाने आनन्द आयो रे
आनन्द आयो रे
ग्रन्थ ने भेंट करवा, भारी भीड़ लगी ओ
कोशीथल को नाम ऊँचो संघ कीघो ओ
आनन्द आयो रे
जुग जुग जीओ अम्बा, म्हां सब करां विनति हो ।
आपका म्हां दर्शन करतां, आनन्द पावां हो ॥
रंग रंगीली धरती भायां, आज कैसी सोवे हो ।
मां बहिनां रा गीता में, शुभ मंगल होवे हो ॥





स्वागत गान



साध्वी श्री प्रेमवती जी

अमोलख आया हो—

स्वागत करता मन कमल खिलाया हो
कोशीथल में मंगल वरते, घर घर आनन्द छाया हो ।
सारे संघ का माग्य सवाया, गुरुवर आया हो ।
मरुधर केहरी, मरुधरा सूँ, आया तेज सवाया हो ।
केशर कुंवर का लाड़ला, मिश्री मुनि माया हो ॥१॥
कन्हैया मुनि जी कमल खिलाया, ज्ञान सरोवर माँही हो ।
ज्ञान ध्यान में लीन रहे, ठावी पंडिताई हो ॥
मूल मुनि जी मन में भाया, रतलाम सूँ आया हो ।
मुनिराजों का ठाठ देख, जनगण हर्षाया हो ॥२॥
रूप मुनि जी व्याख्यानी है, जबरो ठाठ लगायो हो ।
कोशीथल में मुनियों रो, मेलो मनभायो हो ।
महासती सौभाग्य कुंवर जी, चतर कुंवर जी आला हो ।
तेज कुंवर जी ज्ञान तणां कर दिया उजाला हो ॥३॥
नान कुंवर जी सोहन कुंवर जी आदि ठाणा सो हे हो ।
त्यागी ने वैरागी म्होटा, मुझ मन मोहे हो ॥
सब को स्वागत करां भाव सूँ, आछा भाष पघार्या हो ।
समारोह की छबि बढाई, भविजन तार्या हो ॥
प्रेमवती कहे कोशीथल में, केशर क्यारी छाई हो ।
गुरु अभिनन्दन की ये घड़ियाँ, अनुपम आई हो ॥

☆☆

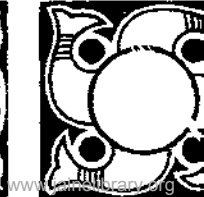
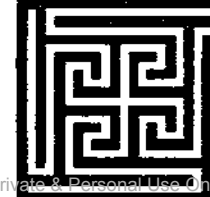
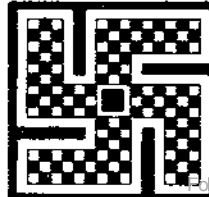
(तर्ज—यदि भला किसी का कर न सको. . .)

गुरु भ्रात, तुम्हारे चरणों में, मैं सादर शीष झुकाता हूँ ।
सद्गुरु रत्नाकर सागर हो, निश-दिन तुम गुण गाता हूँ ॥१॥
ये पूज्य प्रवर्तक स्वामी हैं, और जैन जगत के नामी हैं ।
शासन की दिव्य विभूति हैं, बलिहारी तुम पर जाता हूँ ॥१॥
इस श्रमण संघ के गरिमामय, अति उच्च पद के धारक हो ।
मेवाड़ संघ के जगमगते, भास्कर को दिल में ध्याता हूँ ॥२॥
अति स्वच्छ मुनिमंल संयम पालक, गुरुभ्रात आप यशधारी हो ।
हो सरल स्वभावी देव आपके, शरण में आनन्द पाता हूँ ॥३॥
शुभ आत्म-साधना जीवन में, दिन दिन पल-पल बढ़ती जावे ।
भूलों को मार्ग बताते रहो, मैं यही भावना भाता हूँ ॥४॥
शे मद्रिक भावी सरल स्वभावी, मुनि मारमल जी गुणधारी ।
हे शिष्य उन्हीं के कहलाते, मैं मन में अति हर्षांता हूँ ॥५॥
इस स्वर्ण जयन्ति अभिनन्दन, अवसर पर सुन्दर ठाठ लगा ।
मुनि ईन्द्र कहे कोशीथल में, श्रद्धा सुमन चढ़ाता हूँ ॥६॥
यह चार संघ का मेला है, उल्लास भरा यह झमेला है ।
सब अम्ब गुरु की जय बोली, मैं भी जयनाद सुनाता हूँ ॥७॥

भाव भरे श्रद्धा
सुमन



प्रवर्तक श्री के गुरुभ्राता
तपस्वी मुनि श्री इन्द्रमुनि जी



मुवा-हृदय श्री सुकन मुनि जी द्वारा प्रस्तुत

अभिनन्दन संगीत

कोशीथल के माँय,
कल्पतरु छाया है जी छाया है ।
यह समारोह अति खास,
सभी मन भाया है जी माया है ॥
अम्ब मुनि का है अभिनन्दन ।
शतशत शतशत करते वन्दन ॥
जैन जगत के रत्न, आप कहलाया है कहलाया है ॥
गाँव 'धामला' सेठ किशोरी ।
ता सुत है यह गुण के ओरी ॥
भारमल्ल मुनि पास, संयम धन पाया है जी पाया है ॥
नही चंचलता, बड़ी सरलता ।
बड़ी नम्रता, हृदय विशदता ॥
मुखड़ा री मुस्कान, सभी दिल भाया है जी भाया है ॥
सन्त सभी मिल करके आया ।
श्रावक जन ने ठाठ लगाया ॥
आया लोग अपार, मंडप नहीं माया है जी माया है ॥
अभिनन्दन की स्वर्णिम वेला ।
कोशीथल में लग रया मेला ॥
अद्भुत ऐसा ठाठ, नयन लख पाया है जी पाया है ॥

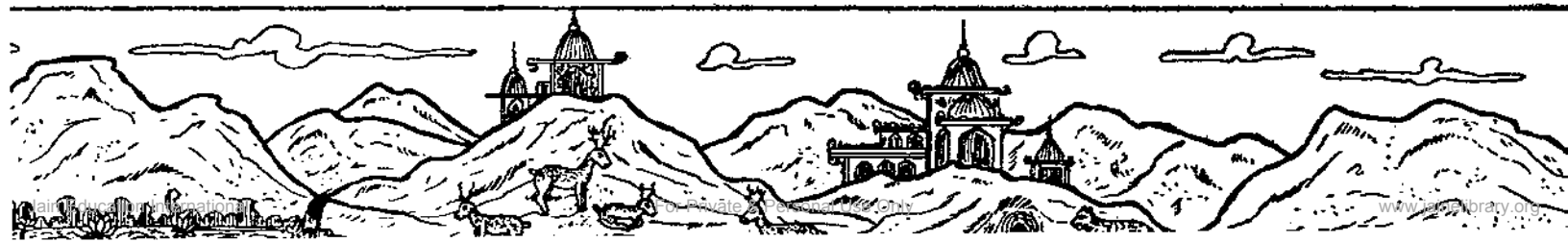
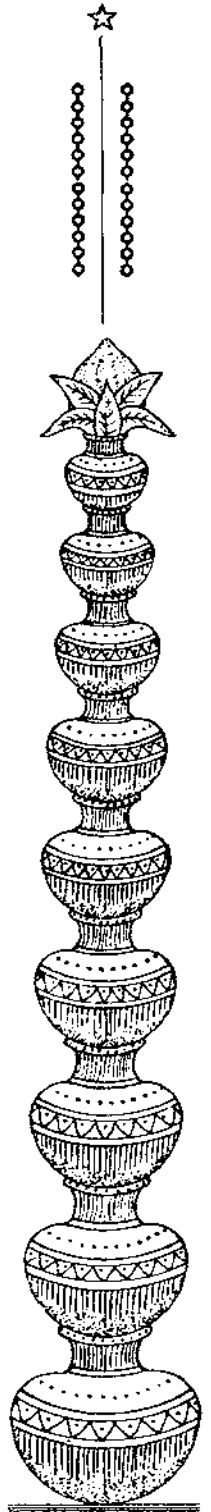
☆☆

संगीतमय श्रद्धा समर्पण

—ओजस्वी वक्ता श्री जीतमल जी चोपड़ा

जैन जगत की शान है ।
मक्ताँ रा भगवान है ॥
जन जन प्यारा रे
सत्गुरु म्हारा रे ।
भारत माँ के बाल हैं ।
मरुधर मिश्रीलाल हैं ॥
जग उजियाला रे
सत् गुरु म्हारा रे ।
श्रमण संघ की ढाल है ।
गुरुवर अम्बालाल है ॥

मेवाड़ी सितारा रे ।
सत्गुरु म्हारा रे ॥
दीक्षा स्वर्ण जयन्ति है ।
सबकी यही विनन्ति है ॥
दीपो गुरु म्हारा रे ।
सत् गुरु म्हारा रे ॥
कोशीथल आबाद है ।
संघ ने घणों धन्यवाद है ॥
स्वागत किया प्यारा रे ।
सत् गुरु म्हारा रे ॥

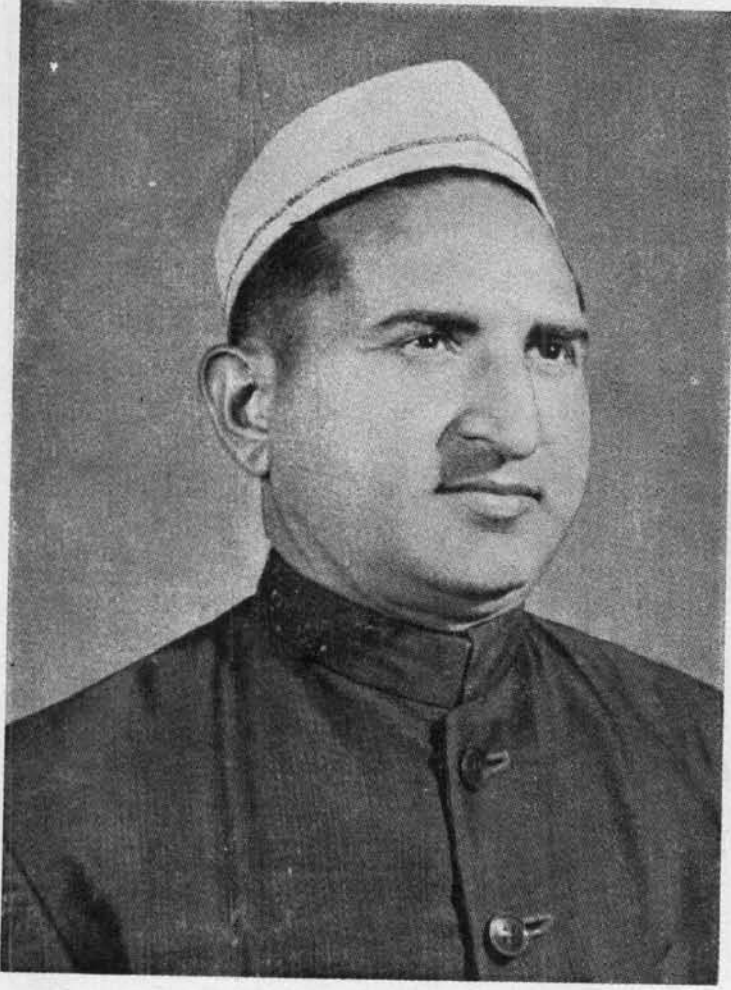




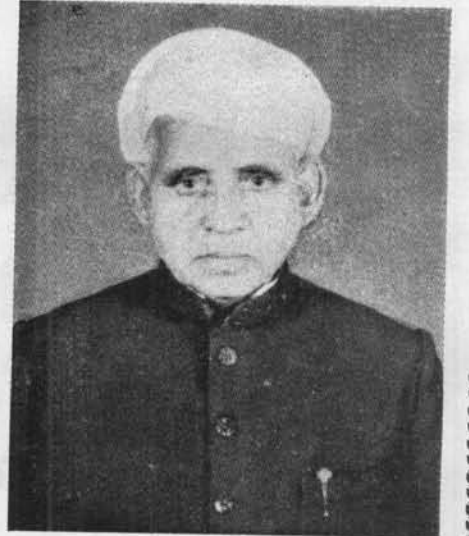
धर्मानुरागी सेवाशील
स्व० श्री तख्तमल जी भटेवरा,
कोशीथल



धर्मोत्साही समाजसेवी
स्व० श्री चुन्नीलाल जी भटेवरा,
कोशीथल

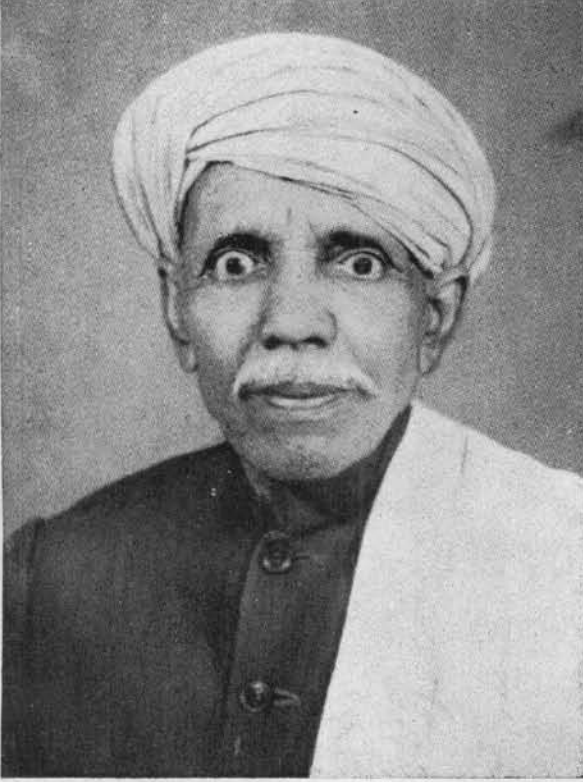


उदारमना
सेठ श्री षेरीलाल जी कोठारी
सेमा

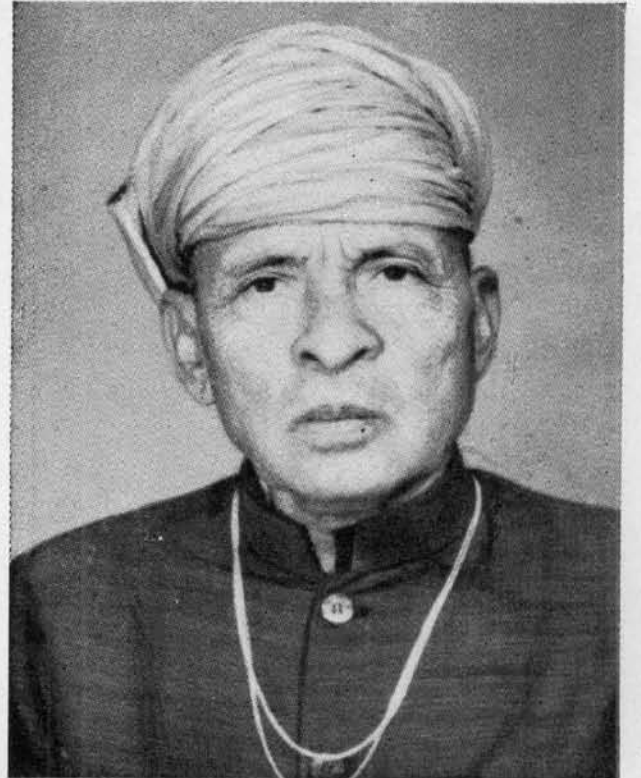
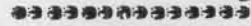


धमं प्रिय सरल हृदय
सेठ श्री भैखलाल जी सेठिया
सनवाड

३३३३३३३३३३३३३३३३३३

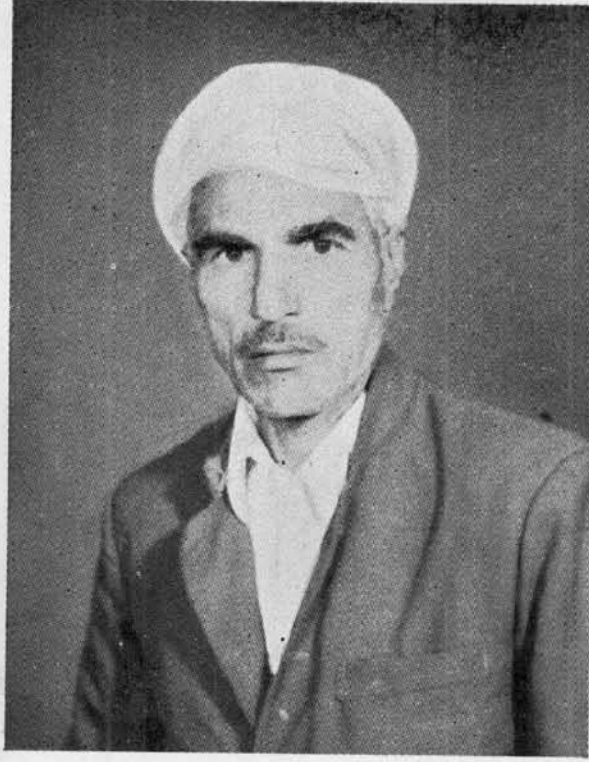


श्रीमान अर्जुनलाल जी डांगी
अध्यक्ष ; वर्धमान स्थानकवासी श्रावक संघ
भीलवाड़ा



श्रीमान सेठ खेमराज जी बोहरा
मोलेला

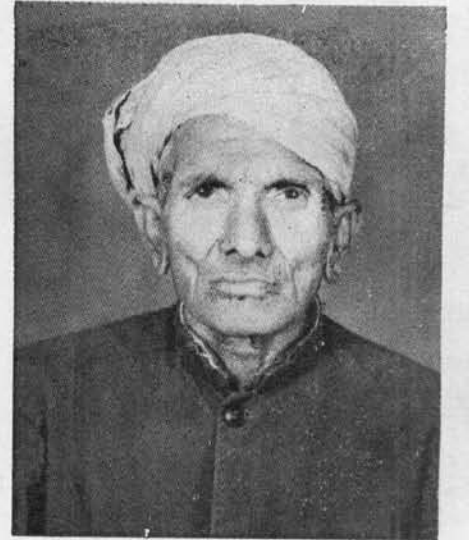




श्रीमान सेठ मोतीलाल जी कोठारी, सेमा



गुरु भक्त स्व० श्री मोतीलाल जी चोरडिया,
चक्कीवाला, इन्दोर



श्रीमान भंवरलाल जी चण्डालिया, घांसा

अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के सक्रिय कार्यकर्ता

श्रीमान सोहनलाल जी सूर्या



अध्यक्ष

अ० ग्र० प्र० समिति तथा श्रावक संघ, आमेट

श्रीमान शंकरलाल जी सरणोत



कोषाध्यक्ष

अ० ग्र० प्र० समिति, आमेट

श्रीमान पन्नालाल जी हरण



सूत्री

अ० ग्र० प्र० समिति तथा श्रावक संघ, आमेट

अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति के सक्रिय कार्यकर्ता

श्रीमान रोशनलाल जी पगारिया (एडवोकेट)



मन्त्री

अभिनन्दन समारोह समिति काँकरोली

श्रीमान सम्पतलाल जी महता



अध्यक्ष

श्री व० स्था० जैन श्रावक संघ, रेलमगरा

श्रीमान रोशनप्रकाश जी ओस्तवाल



कुँवारिया

श्रीमान तेजमल जी बापना (एडवोकेट) भूपालगंज

श्रीमान बसन्तीलाल जी कोठारी (एडवोकेट) भूपालगंज



श्री० पू० आषयक

धर्म ज्योति परिषद्

के

श्रीमान मदनलाल जी पीतल्या
(मु० मजिस्ट्रेट) गंगापूर



सकत्री



श्रीमान लक्षीलाल जी कोठारी (एडवोकेट)

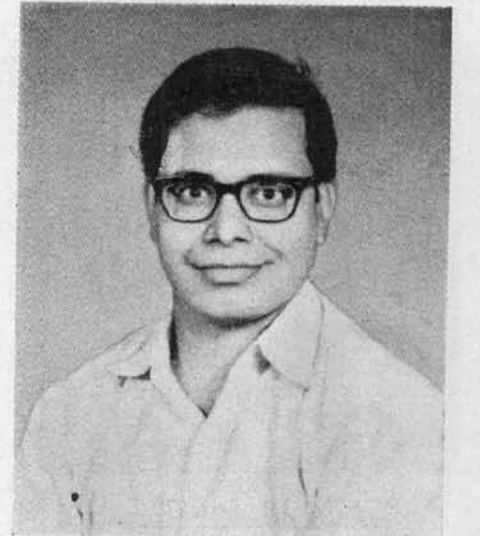
संयुक्त सकत्री

श्रीमान धनपतमल जी बोहरा (C. A.)



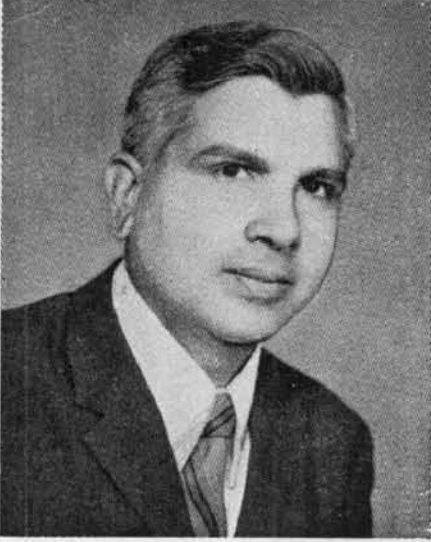
सहसकत्री
सम्पादक, धर्म ज्योति

वरिष्ठ कार्यकर्ता



कोषाध्यक्ष

श्रीमान शान्तिलाल जी पोखरणा



सह-सम्पादक 'धर्म ज्योति'

श्रीमान मोतीसिंह जी सुराना



श्री० पू० मन्त्री

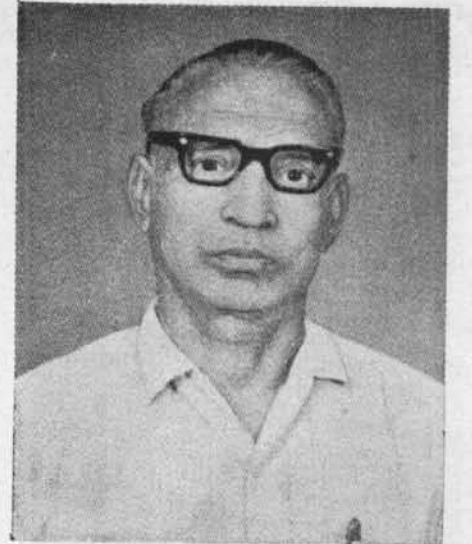
धर्म ज्योति परिषद के वरिष्ठ कार्यकर्ता

श्रीमान भूपालसिंह जी पगारिया



श्री० पू० सहमन्त्री

श्रीमान अमरसिंह जी चौधरी



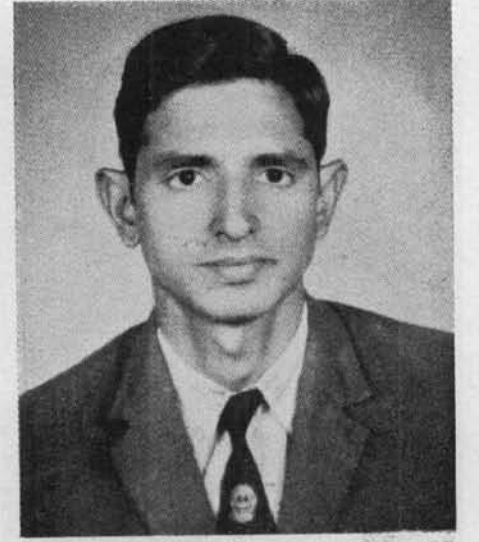
प्रचारक
धर्म ज्योति परिषद

श्रीमान अम्बालाल जी बागरेवा



उपाध्यक्ष

श्रीमान रणजीतसिंह जी सोजत्या



सचिव

सक्रिय कार्यकर्ता
मेवाड़ भूषण श्रावक समिति
(M. B. S. S.)
उदयपुर

श्रीमान सम्पतिलाल जी बोहरा (एडवोकेट)



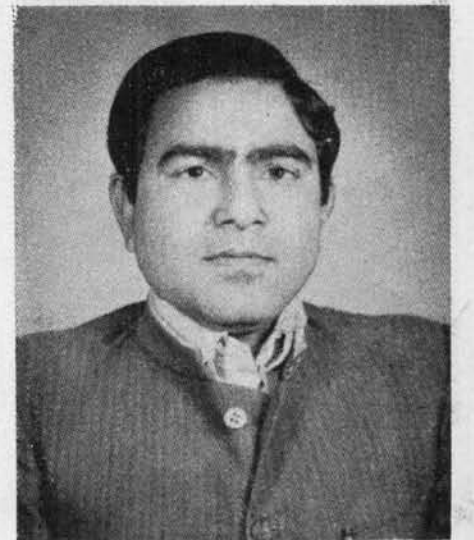
अध्यक्ष

श्रीमान जालमचन्द्र जी कोठीफोड़ा

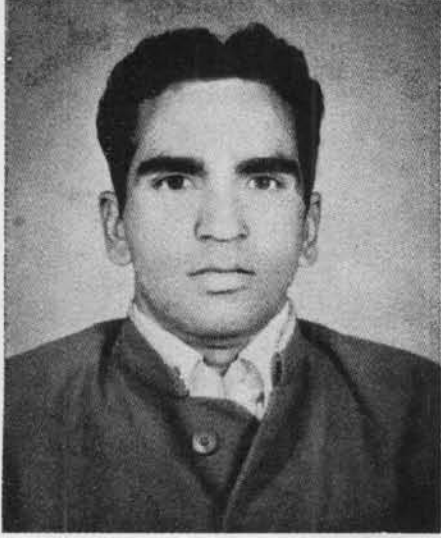


कोषाध्यक्ष

श्रीमान रोशनलाल जी चह्वाण



सहसचिव



श्रीमान रोशनलाल जी नाहर



श्रीमान अम्बालाल जी नवलखा

कर्मठ कार्यकर्ता M. B. S. S. उदयपुर



श्रीमान बसन्तीलाल जी बडाला



श्रीमान चन्दनमल जी सोलंकी

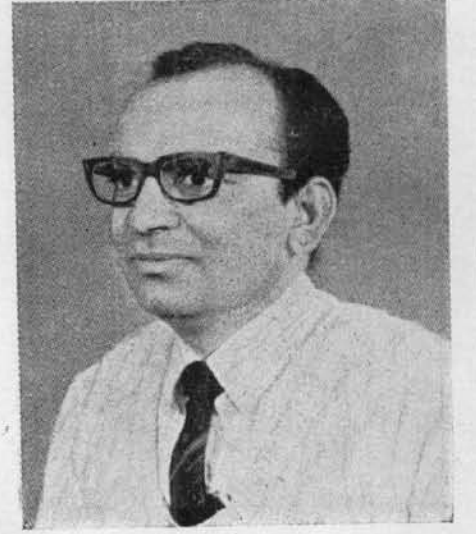
श्रीमान श्रीचन्द्र सुराना 'सरस'

श्रीमान डा० नरेन्द्र भानावत, एम.ए., पी-एच.डी.



प्रबन्ध रूपाङ्क

पू० प्र० अ० अभिनन्दन ग्रन्थ, आगरा



रूहयौगी रूपाङ्क

पू० प्र० अ० अभिनन्दन ग्रन्थ, जयपुर

श्रीमान घीसुलाल जी कोठारी, कपासन



संयोजक

अभिनन्दन समारोह समिति

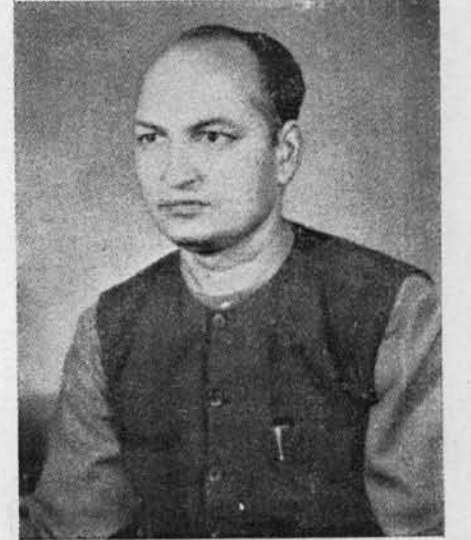
श्रीमान गोटूलाल जी मांडोत 'निर्मल'



रूहयौगी लेखक

पू० प्र० अ० अभिनन्दन ग्रन्थ

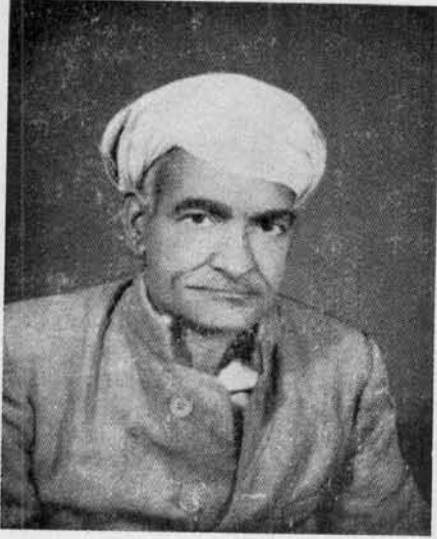
श्रीमान नाथूलाल जी चन्डालिया



सूत्रज्ञ

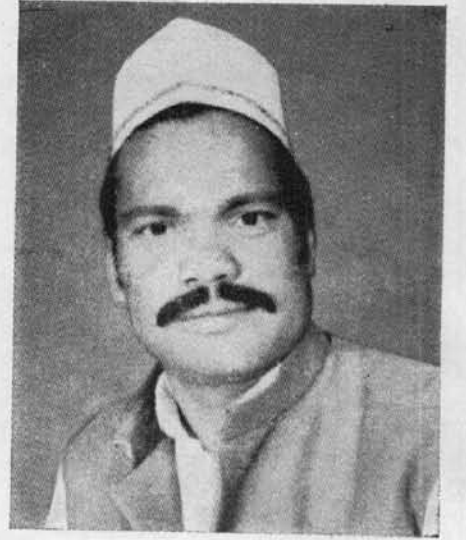
श्रावक संघ कपासन

श्रीमान मांगीलाल जी दुगड



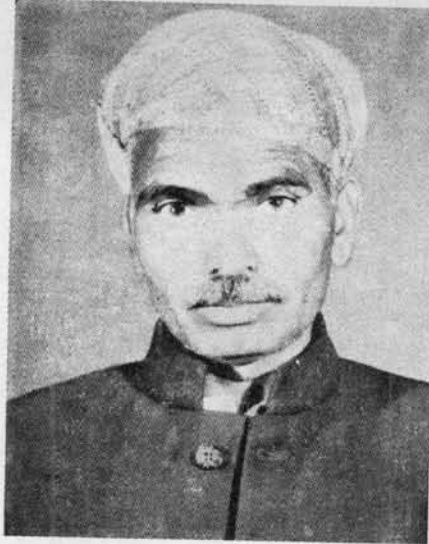
पलाणा

श्रीमान नेमीचन्द जी बोहरा



मोलेला

श्रीमान मांगीलाल जी संचेती



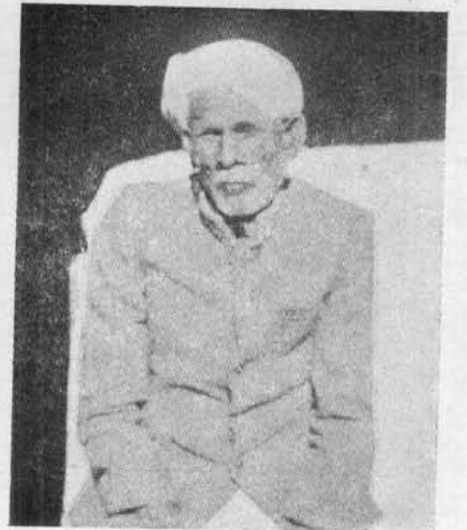
मोही

श्रीमान छगनलाल जी धनावत



फतहनगर

स्व० श्रीमान भोलीलाल जी दुगड



पलाना कला [जि० उदयपुर]

श्रीमान सेठ भैरूलाल जी बोल्या



अध्यक्ष
श्रावक संघ, कांकरोली

श्रीमान धर्मोत्साही मीठालाल जी सामर



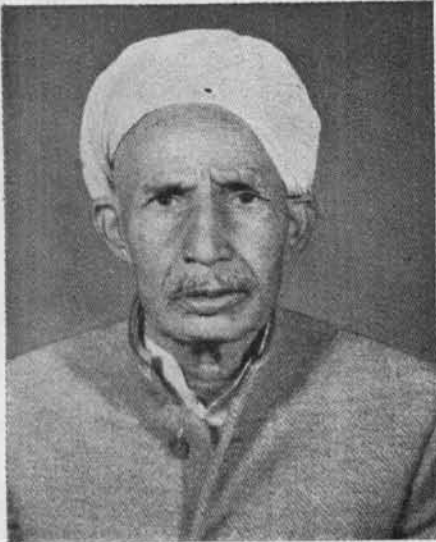
फतहनगर

श्रीमान सेवामूर्ति सेठ श्री भूरालाल जी कोठारी



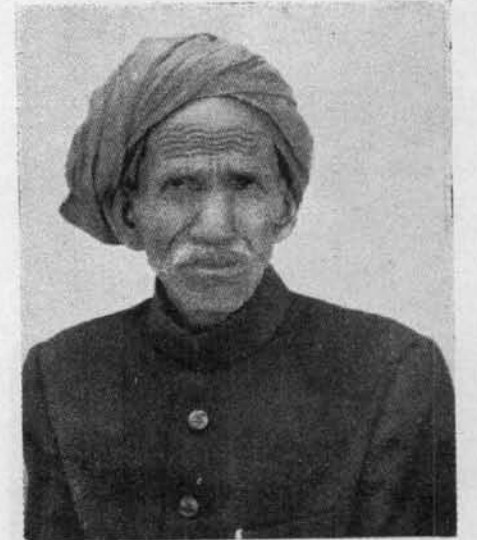
नान्दसा

गुरुदेव श्री के बालसखा परम भक्त हृदय
श्रीमान सेठ श्री तुलसीराम जी माहेश्वरी



फतहनगर

श्रीमान दानप्रोमी सेठ श्री भूरालाल जी महता



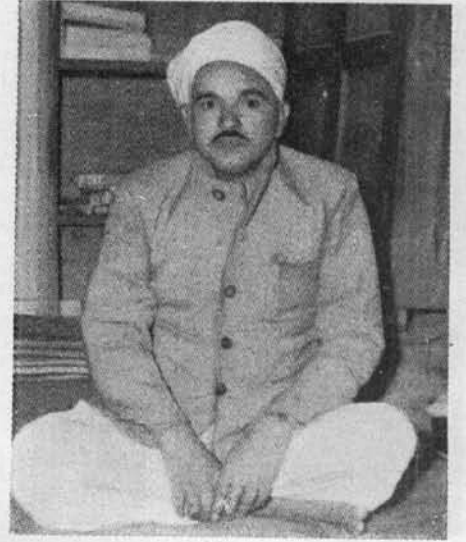
कोशीथल

श्रीमान नैमीचन्द जी बाफना



झड़ोल, प्रधान प० स० रायपुर

श्रीमान कन्हैयालाल जी चपलोट



डेलाना

धर्मानुरागी श्रीमान सेठ श्री चम्पालाल जी, कोठारी



कोशीथल

श्रीमान उदार हृदय सेठ श्री उदयराम जी देराड़िया



कोशीथल

श्रीमान शंकरलाल जी चण्डालिया



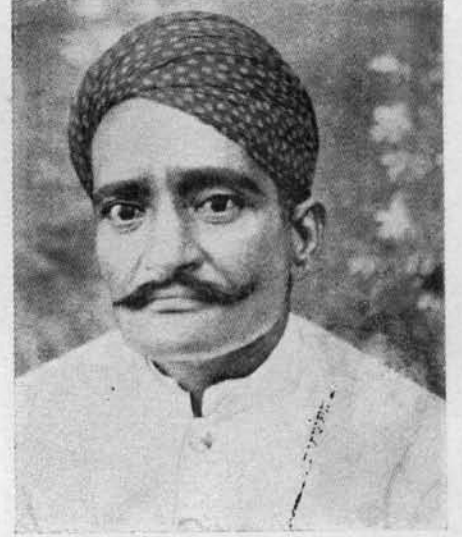
कुंवारिया

श्रीमान भंवरलाल जी कोठारी



सेमा

श्रीमान सेठ गणेशलाल जी हींगड़



मोई

श्रीमान भंवरलाल जी बदामा



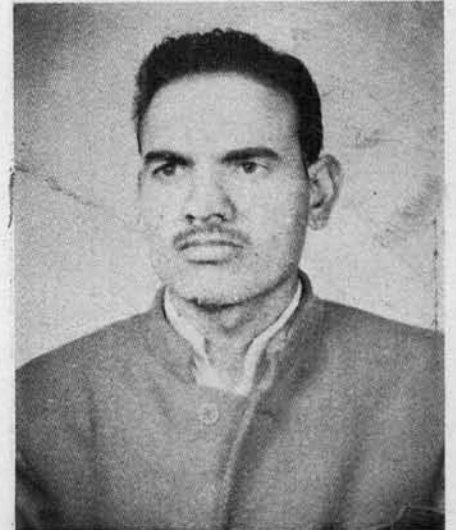
सलोदा

श्रीमान मदनलाल जी जैन (जिनगर)



कूरज

श्रीमान देवीलाल जी चण्डालिया



घासा

श्रीमान शान्तीलाल जी बापना



भोपालमागर

श्रीमान भगवतीलाल जी तातेड



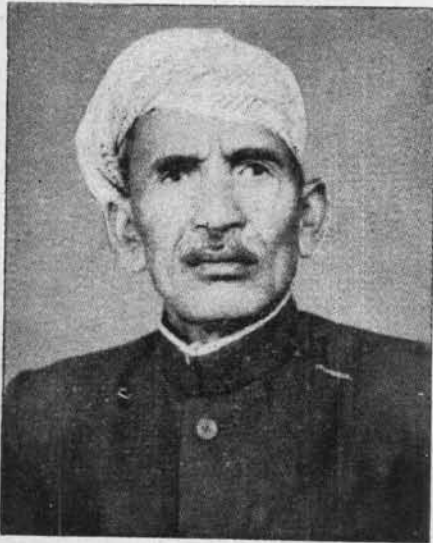
इंगला

श्रीमान शंकरलाल जी कोठारी



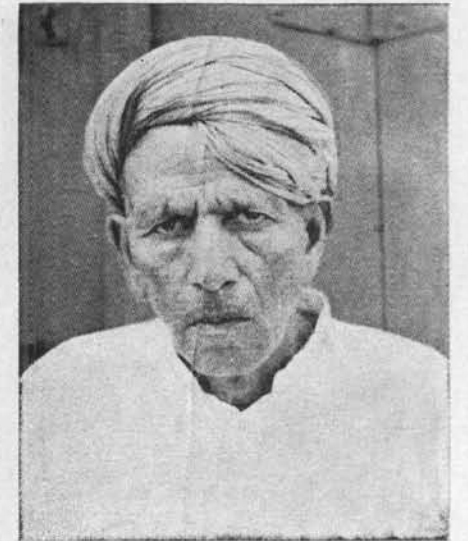
मोलेला

श्रीमान फूलचन्द जी लोढा



धोइन्दा

स्व० श्रीमान मोहनलाल जी मांडोत



खमणोर

श्रीमान नन्दलाल जी डागा



भूपालगंज, (भीलवाड़ा)

श्रीमान नवरतनमलं जी चौधरी



श्रीमान हीरालाल जी चीपड़



लाखोला

अध्यक्ष

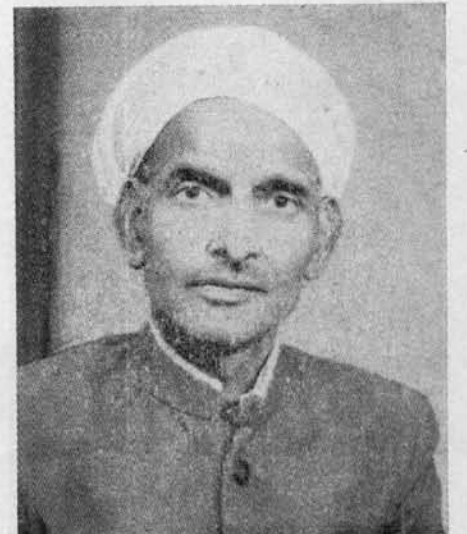
श्री व० स्था० जैन श्रावकसंघ, भूपालगंज (भीलवाड़ा)

श्रीमान शान्तिलाल जी कोठारी



वेरोदा

श्रीमान गोपीलाल जी चपलोट



मोई

श्रीमान चुनीलाल जी चपलोट



मोई

श्रीमान सोहनसिंह जी कावडिया



श्री ० पू० मन्त्री

व० स्था० जैन श्रावक संघ, भीलवाड़ा

श्रीमान लक्ष्मीलाल जी चन्डालिया



घाँसा

श्रीमान अम्बालाल जी सियाल



जेवाणा

श्रीमान पन्नालाल जी चन्डालिया



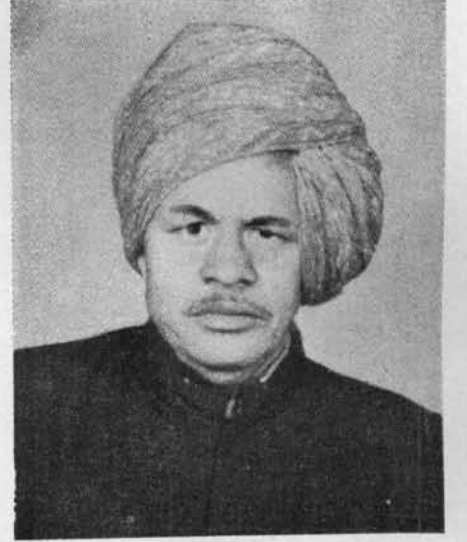
सनवाड

धर्मोत्साही सेठ श्री पूनमचन्द जी कछारा



धोइन्दा

श्रीमान सोहनलाल जी कोठारी



वरसणी

श्रीमान नाथूलाल जी कछारा



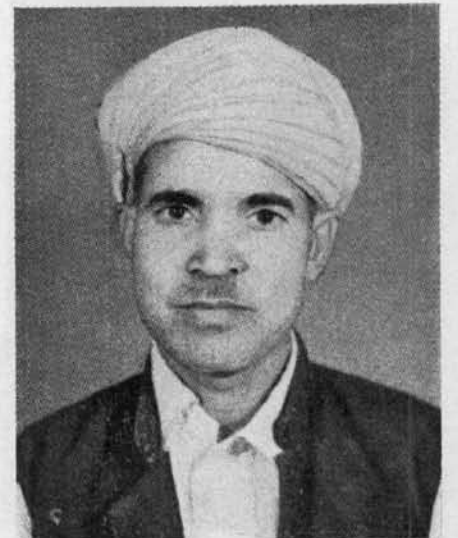
कुंवारिया

श्रीमान शंकरलाल जी ओस्तवाल



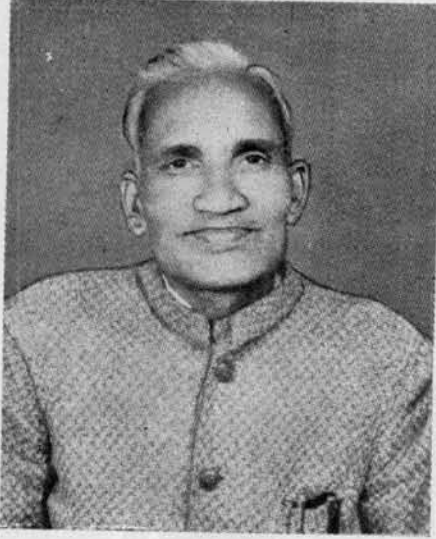
कुंवारिया

श्रीमान दीपचन्द जी दक



आमेट

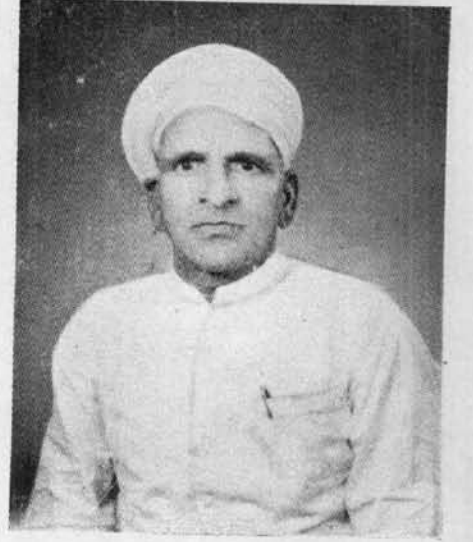
श्रीमान मांगीलाल जी पगारिया



मकत्री

श्रावक संघ, कांकरोली

धर्मोत्साही सेठ श्री छगनलाल जी हींगड़



अकोला (भूपाल सागर)

श्रीमान बाबूलाल जी पीपाड़ा



कुंवारिया

श्रीमान खुन्नीलाल जी पोखरणा

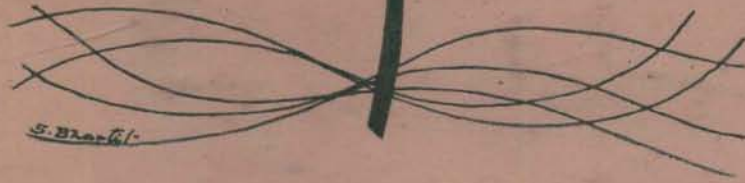


अकोला

श्रीमान भंरलाल जी



पूज्य प्रवर्तक
श्री अम्बालाल जी महाराज
अभिनन्दनग्रन्थ



प्रकाशक :-

अभिनन्दन ग्रन्थ प्रकाशन समिति,
लक्ष्मी मार्केट, आमेट, [राजस्थान]

मूल्य : पचास रुपया मात्र

आवरण पृष्ठ के मुद्रक "बोल प्रिन्टर्स" नाला भैरों, बेलतगंज, आगरा-२०२००४, फोन-६२४३६ पी. पी.